

सौनी सुधा तामहति सौम्यः देवतुल्य ।' दण्डादित्व से 'य' प्रत्यय होगा और देवतुल्य अर्थ में सौनी + य = सौम्य निष्पन्न हो जायेगा । विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग और उपमा बलकार ॥ ५७ ॥

मत्प्रीतिमाधित्ससि वा त्वदीक्षामुद मदक्षणे राप्रतिशेताम् ।

निजामृतलौचनसेचनाद्वा पृथक्किमिन्दुस्तृजति प्रजानाम् ? ॥ ५८ ॥

जीवातु—अथ यदुक्तं त्वनेत्सि किं विदधे ? अनिघेहाति, तत्रोत्तर-  
माह—मत्प्रीतिमिति । वा मत्प्रीतिं किंवा मदीप्सितमित्यर्थः । आधित्ससि  
आधातुं कर्तुं निच्छसि ? दधाते सजन्तात्त्वद् । वा प्रीतिर्नदक्ष्यो त्वदीक्षा-  
मुद त्वदीक्षणप्रीतिमतिशेतान्त्वद्दर्शनोत्सवादन्त्यत्किं मनेप्सितमित्यर्थः । तपाहि  
इन्दु प्रजाना जनाना निजामृतलौचनसेचनान् पृथक् अन्यत् 'पृथग्विने'त्यादिना  
पञ्चमी । किंवा नृजति करोति न किञ्चित् करोतीत्यर्थः । दृष्टान्ता-  
लङ्कार ॥ ५८ ॥

अन्वय—वा मत्प्रीतिम् अधित्ससि, वा मदक्षणे त्वदीक्षामुदम् अपि  
अतिशेताम् ? इन्दु निजामृतं प्रजानां लोचनसेचनान् पृथक् किं वा नृजति ?

हिन्दी—और कौन-सा मेरा प्रिय-सपादन करो, जो मेरे नेत्रों को  
तुम्हारे दर्शन से प्राप्त आनन्द को भी अतिश्राव कर जाय ? अथवा चन्द्र  
अपनी अमृत-किरणों से लोचन जना के लोचन परिरक्षित करने के अतिरिक्त और  
किस कार्य का सपादन करता है ?

टिप्पणी—अनिजात वचनों की पराकोटि । आशय यह है कि तुमने दर्शन  
देकर मुझे जलन्त प्रसन्न किया । यह प्रशंसा है । चन्द्र अमृत वर्षा करके  
लोचनानन्द ही तो दे सकता है । हंस ने बावनवें श्लोक में कहा था—'तवेप्सितं  
किं विदधेऽभिदेहि' । सो दमयन्ती उसके उत्तर में संकेत करती है कि यदि  
अन्य कुछ कर सकते हो तो तुम नक्ष-प्राप्ति के निमित्त यत्न करो । यह संकेत  
अगले श्लोक में और स्पष्ट है । मृत्तिनाथ के अनुसार दृष्टांत बलकार, विद्याधर  
के अनुसार आशय ॥ ५८ ॥

मनस्तु य नोज्झति जातु यातु मनारय नष्टय कथं स ।

का नाम वाला द्विजराजपाणिग्रहामिलाप कथयेऽभिज्ञा ॥ ५९ ॥

जीवातु—अथ सर्वथा मनोरथः कथनीय इत्यभिप्रेत्य तत्र शक्यमित्याह—

मनस्त्विति । मनो मन्चित्त कर्तुं य मनोरथ जातु कदापि नोज्जति न जहाति, स मनोरथ कण्ठपथ वाग्विषयम् उपकण्ठदेह च कथं यातु, सम्भावनाया लोट् । सम्भावनापि नास्तीत्यर्थः । केनापि प्रतिबद्धस्य मनोरथस्य कथमन्तिकेऽपि सञ्चार इति भावः । कुत ? अभिज्ञा विवेकिनी का नाम बाला का वा स्त्री द्विजराजस्य इन्दो पाणिना, ग्रहे ग्रहणे अभिलाप कथयेत् । तथा द्विज ! पक्षिन् ! राजपाणिग्रहाभिलाप नलपाणिग्रहणेच्छामिति च गम्यते तया च दुलभजनप्रार्थना द्विजराजपाणिग्रहणकल्पा परिहासास्पदीभूता कथं लज्जावत्या वक्तुं शक्या इत्यर्थः । पूर्व एवालङ्कार ॥ ५९ ॥

अन्वयः—स मनोरथ कण्ठपथ यातु, मनः य जातु न उज्जति ? का नाम अभिज्ञा बाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाप ( अथवा 'द्विज, राजपाणि-ग्रहाभिलापम्' ) कथयेत् ?

हिन्दी—वह अभिलाप ( नलेच्छा ) कठमार्ग से बाहर ( बचनगोचर ) कैसे हो, मन जिसे कभी त्यागता ही नहीं ? कौन समझदार बाला चद्रमा को हाथ में पकड़ने का अभिलाप कह सकती है ( जबकि इच्छा कर भी नहीं सकती ) अथवा वह द्विज ( पक्षी ), कौन अभिज्ञा बाला राजा नल से विवाह होने की अभिलापा कह सकती है ? नल तो दुलभ है, उसकी इच्छा करना भी 'बालता' है ।

टिप्पणी—दमयंती नल की प्राप्ति दुलभ अथवा इतनी असम्भव मानती है कि उसकी इच्छा करना ही मूर्खता है, अभिलाप कथन और भी बड़ी मूर्खता है । नल तो उस चन्द्र के समान है, जिसे हाथों पकड़ा ही नहीं जा सकता । 'अभिज्ञा' का पाठांतर 'अलज्जा' भी है । उस स्थिति में यह अर्थ भी होगा कि पाणिग्रहण के विषय में तो प्रीति भी नहीं कह सकती, क्योंकि निलम्बा कौन बनेगी ? 'बाला' तो कभी कह ही नहीं सकती । मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टान्त, विद्याधर के अनुसार अनुशास और श्लेष ॥ ५९ ॥

याच तदीया परिषीय मृद्धी मृद्धीकया तुल्यरसा स हस ।

तत्पाज तोषं परपुष्टुष्टे घृणाश्च वीणाव्वणिते वितेने ॥ ६० ॥

जीवानु—वाचमिति । स हस' मृद्धीकया दासया, 'मृद्धीरा गोस्वनी

दक्षे'त्यनरः । तुन्वरता समानस्वादा मधुरार्थमित्यर्थः । मृद्वी मधुराक्षरा  
तदीया वाच परिपीय अत्यादरादाकर्ष्य परपुष्टपुष्टे कोकिलकूजिते तोष प्रीति  
तत्प्राज, बीणाक्वचित् च घृणा जुगुप्सा 'घृणा जुगुप्सादृपमोरि'ति विश्वः ।  
वितेने ॥ ६० ॥

अन्वयः—उस हंस मृद्वीकया तुन्वरता तदीया मृद्वी वाच परिपीय परपुष्ट-  
पुष्टे तोष तस्यात्र बीणाक्वचित् च घृणा वितेने ।

हिन्दी—उस हंस ने डाक़ा रस के समान मधुररसमयी उस ( दमयन्ती )  
की कोमल बाणी का परिपान करके ( मल्लोभाति सुनकर ) कोकिल कूजन पर  
नृष्टि को त्याग दिया और बीणा के झनकार के प्रति घृणा प्रकट की ।

टिप्पणी—आशय यह कि दमयन्ती की बाणी कोकिल-स्वर और बीणा  
की मृदुति से अधिक सरस और कोमल है । अनुप्रास और प्रतीप अलकार ॥ ६० ॥

मन्दाक्षमन्दाक्षरमुद्रमुक्त्वा तस्या समानकुञ्चितवाचि हंसः ।

तच्छसिते किञ्चन सश्यालुगिरा मुखाम्मोजमयं युयोज ॥ ६१ ॥

जौवातु—मन्दाक्षेति । तस्या भैम्या मन्दाक्षेण ह्रिया मन्दा सन्दिग्धार्था  
जञ्जरमुद्रा 'द्विजराजपाणिग्रहे'त्याद्यक्षरविन्यासो यस्मिन् उत्तयोक्तमुक्त्वा  
समानकुञ्चितवाचि निममितवचनाया सरसामय हसस्तच्छसिते नैनीनापिते  
किञ्चन किञ्चित्सश्यालु सन्दिहान् सन्, 'सृष्टिही'त्यादिना जालुच्  
प्रत्ययः । मुखाम्मोज गिरा युयोज मुखेन गिरमुवाचेत्यर्थः ॥ ६१ ॥

अन्वयः—अप हंस मन्दाक्षमन्दाक्षरमुद्रम् उक्त्वा तस्या समानकुञ्चितवाचि  
तच्छसिते किञ्चन सश्यालु मुखाम्मोज गिरा युयोज ।

हिन्दी—उस हंस ने लज्जा से थोड़े शब्दों में कहकर उस ( दमयन्ती ) के  
चुप हो जाने पर उसके कपन पर कुछ सदेह करते हुए मुखकमल में बाणी की  
योजना की ( कहने के लिए मुख-कमल खोला ) ।

टिप्पणी—दमयन्ती के लज्जा के कारण राक्षस न कहने पर हंस को थोड़ा-  
सा सदेह बना रहा । विद्यावर के अनुसार अनुप्रास और समासोपना  
अलकार ॥ ६१ ॥

कण वाञ्छेव विद्यु विद्युं यमित्यभात्यादरिणी तमयंम् ।

पानु श्रुतिन्यायानपि नाधिकुर्वन् श्रुतेर्वर्णं श्वान्तिमः किम् ॥ ६२ ॥

जीवातु—करेणेति । हे भूमि ! करेण विष्णुचन्द्र विघर्तुं ग्रहीतु वाञ्छेव यमयमित्य 'द्विजराजपाणिग्रहे'त्याद्युक्तप्रकारेण आदरिणी आदरवती सती आत्थ ब्रवीषि, 'ब्रुव पञ्चानामिति ब्रुवो लटि सिपि यलादेश ब्रुवद्या-हादेश' 'आहस्य' इति हकारस्य थकार । तमर्थमन्ते भवोऽन्तिमो वर्णः पृष्ठ, 'अन्ताच्चेति वक्तव्यमिति' इमच् । श्रुतेर्वर्णं वेदाक्षरमिव श्रुतिम्या पातु श्रोतुमर्होत्यर्थः । नाधिकुर्वे नाधिकायस्मि किम् ? अस्म्येवेत्यर्थः । अतः सोऽर्थो वक्तव्य इति तात्पर्यम् ॥ ६२ ॥

अन्वयः—करेण विष्णु विघर्तुं वाञ्छा इव यम् इत्थम् आदरिणी आत्थ तम् अथम् अन्तिम वर्णः श्रुते वर्णम् इव श्रुतिम्या पातुम् अपि न अधिकुर्वे किम् ?

हिन्दी—'हाथ से चद्रमा-पकड़ने' की आकांक्षा के समान जिस ( प्रयोजन ) को तुमने इतने गोपनीय और आदर के साथ कहा, उस अर्थ को—जैसे चतुर्वर्णों में अतिप्रवण ( पृष्ठ ) वेद के अक्षर को कान में डालने का अधिकारी नहीं होता, वैसे ही मैं क्या सुनने का भी अधिकारी नहीं हूँ ?

टिप्पणी—इसपक्षी ने कहा था—'का नाम वाला द्विजराजपाणिग्रहा-मिलाप कथयेत्' । इसमें 'द्विजराज' का अर्थ चद्र है और 'द्विज + राज'—इस प्रकार पदच्छेद करके 'राज' ( नल ) भी हो जाता है । इसी अस्पष्टता पर इस का आक्षेप है । वह कहता है कि मैंने रहस्य-गोपन का विश्वास दिलाया, नल से सबथ जतलाया, पर फिर भी सलज्जता के नाम पर मुझसे दुराज छिपाव ? बाक्य से अर्थ होता है कि इस इस रहस्य का जानन का अधिकारी है । वह बताना चाहता है कि वह केवल दृष्टनीय ही नहीं है, नल-प्राप्ति में पूरा सहायक भी है । विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और उपमा ॥ ६२ ॥

अर्थाप्यते वा किमियद्भवत्या चित्तेऽप्ययमपि वर्तत य ।

यथान्धकारः खलु चेतसोऽपि जिहोतरेत्रंहा तदप्यवाप्यम् ॥ ६३ ॥

जीवातु—ननु तमवयवत्वं तदुलभत्वा द्वक्तुं जिह्वेमीत्यासक्त्याह—अर्थाप्यते इति । हे भूमि ! भवत्या भिवा इयदेतावद्यथा तथा अर्थाप्यते किमयमयमर्थो



द्विजराजपाणिग्रहवदति दुर्लभत्वेनाख्यायत इत्यर्थः । अर्थशब्दात्तदाचष्टे इत्यर्थे  
 पिच 'अयंवेदस्त्यानामापुन्येनव्य' इत्यापुताम । कृतस्त्यानाल्लेख इत्यत  
 बाह्योऽर्थः एक पादो यस्यामितेकपक्षे एवपादमन्वारयोन्वयमार्गः । 'वत्तयेक-  
 पक्षेति चे'त्यमरः । 'कुम्भीपक्षीषु चे'ति निपातनात् साधु । चित्तैकपक्षा  
 मनोमार्गेति वत्तते चक्षुराद्यविषयत्वेऽभीत्यपिशब्दार्थः । स कथं दुर्लभ इति  
 नावः । तथाहि—यत्र यस्मिन् ब्रह्मणि विषये चेतसोऽप्यन्वकारः प्रतिबन्ध तद्  
 ब्रह्म जिह्वेतरैरकुटिलं कुशलबीनिरिति यावत् । अवाप्य मुप्रापम् अननोगम्य  
 ब्रह्मापि कैश्चिद् गम्यते, किमुत मनोगतोऽयमर्थः । अत एवाव्यापितिरलङ्कारः ।  
 'कैमुत्वेनायान्तरापतनमर्यापतिरिति वचनात् ॥ ६३ ॥

अन्वयः—भवत्या किं वा इयत् अर्थाप्यते य चित्तैकपक्षाम् अपि वत्तते ?  
 यत्र चेतसः अपि अन्वकारः, तद् ब्रह्म अपि जिह्वेतरं अवाप्य खलु ।

हिन्दी—( उच्यते ) आप इतना दुप्राप्य क्यों मान रही हैं जो मन की  
 पादवी में विद्यमान है ( मन में छिपी जिसकी इच्छा है ) ? जिसके विषय में  
 चित्त का भी अवरोध है ( मन में स्पष्टता नहीं है ), वह ब्रह्म भी अल्प व्यक्तिओं  
 से भिन्न ( आलस्यहीन ) व्यक्ति द्वारा निश्चय पूर्वक प्राप्य है ।

टिप्पणी—भाव यह है कि आपके मन का भाव न तो पूर्णतः छिपा ही है  
 और न लक्ष्य अप्राप्य ही है और सत्कार में उद्योगी व्यक्ति तो ब्रह्म को भी पा-  
 लेते हैं, जो अवाङ्मनोगोचर है । अप्राप्य है, अननोगम्य ब्रह्म भी जब प्राप्त हो  
 जाता है, तब लक्ष्य ही तो मनागत अर्थ है । अतएव अस्तिनाय के अनुसार  
 यहाँ अर्थापत्ति अलङ्कार है, विद्याधर विरोधानात् मानते हैं ॥ ६३ ॥

ईशाणिर्मन्त्रव्यविवर्तमध्ये लोकेऽल्लोकेऽयल्लोकमध्ये ।

तिर्यञ्चमप्यञ्च मूपानभिज्ञरसज्ञतोपज्ञसमज्ञमज्ञम् ॥ ६४ ॥

जीवातु—अथ यदि मूपावादिस्वात्मज्ञाना वस्तु सङ्कोचस्तच्च न सङ्कित-  
 अमित्याह—ईशेत्यादिना प्रवेशः । ईशस्य यदनिर्मन्त्रव्यं तस्य विवर्तौ रूपान्तर  
 मध्ये यस्या सा तथोक्ता है इन्द्रोदरीत्ययः । लोकेऽल्लोके शेरत इति लोके-  
 ऽल्लोकेऽयल्लोके ब्रह्मलोकवासिनः 'अधिकरणे शेरति'त्यच्प्रत्ययः । 'ययवासवाति-  
 प्यकालादि'त्यलुक् तेषां लोकानां जनानां मध्ये जज्ञ मूढ तिर्यञ्च पक्षिणमपि

मामिति शेष । मृपा जनूत तस्य जनभिज्ञा रसज्ञा रसना यस्य तस्य नाव-  
स्तता सत्यवादितेत्यर्थः । उपज्ञायत इति उपज्ञा वादावुपज्ञाता, 'उपज्ञा ज्ञान-  
माद्य स्यादित्यमरः । 'आतश्चोपसर्ग' इत्यङ्प्रत्यय बहुलग्रहणात् कर्मार्थत्व  
तथात्वेन ज्ञात तदुपज्ञम् 'उपज्ञोपश्रम तदाद्याचिख्यासायामि'ति नपुसकत्वम् ।  
सम साधारण सर्वज्ञायत इति समज्ञा कीर्तिः पूर्ववदङ्प्रत्यय तदुपज्ञ तथात्वे  
नादौ ज्ञाता समज्ञा कीर्तियेन त तयोक्त नामञ्च, सत्यवादिन विद्वीत्यर्थः ।  
अञ्चतेगत्ययत्वात् ज्ञानार्थत्वम् ॥ ६४ ॥

अन्वय — ईशानिमैश्वर्यविवर्तमध्ये लोकेशलोकेश्वर्यलोकमध्ये अज्ञ  
तिर्यञ्चम् अपि मृपानमिज्ञरसज्ञतोपज्ञसमज्ञम् अच ।

हिन्दी—हे परमेश के ( अष्टविध ) ऐश्वर्य के मध्य जो जनिमानामक  
ऐश्वर्य है, उसके विवर्त ( रूपांतर )—रूप मध्यभाग वाली ( सूक्ष्मकटि ),  
लोकेश्वर ( ब्रह्मा ) के लोकवर्ती जनो के मध्य ( ब्रह्मलोकवासी प्राणियों के  
बीच ) मुख अज्ञानी पक्षी को भी तुम असत्य से अपरिचित ( सत्यवादी )  
और रसज्ञ ( सहृदय ) जनो के भावो का आध्यज्ञानी और समज्ञाता समतकर  
पूजो ( जयवा 'अज्ञम्' को केवल 'अञ्च' से पूर्व अन्वित करलेने पर सत्य-  
वादिता और सहृदयता के रसज्ञाता मुख सबल को तुम अज्ञानी समझो ) ।

टिप्पणी—पारोरिक सौन्दर्य के द्योतक संबोधन 'कृशोदरि' से दमयती  
का संबोधित कर हस उसे यह बताना चाहता है कि ब्रह्मजक के प्राणियों के  
मध्य अज्ञानी पक्षी होते हुए भी मैं सत्यवादी और रसज्ञ सहृदय हूँ, ऐसा  
समज्ञ पूजनीय हूँ, पर ऐसे मुखे तुम यदि मूर्ख समझोगी तो इसमें तुम्हारी ही  
हानि है । ब्रह्मलोक के सत्यवादी और रसज्ञ प्राणियों के बीच रह मैं मुख  
और अरसिक कैश हो सकता हूँ ? श्रीहृष ने ऐसी घण्ट योजना की है कि  
दोनों भाव मङ्गलित हो जाते हैं । विद्याधर के अनुसार यहाँ ओज गुण और  
अनुप्रास अनार है । अष्टसिद्धिगो ( ऐश्वर्य ) हैं—अणिमा, महिमा, गरिमा,  
लधिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य ( अभिलषित या लेने की क्षमता ), ईशित्व  
( सामभ्यातिजय ) और वशित्व । 'जनिमा महिमा चैव गरिमा लधिमा तथा ।  
प्राप्ति प्राकाम्यमोक्षित्व वशित्व चाष्टसिद्धयः' ॥ ६४ ॥

मध्ये श्रुतीना प्रतिवेशिनीना सरस्वती वासवती मुखे नः ।

ह्रियेय तान्यञ्चलतीपमद्धापयाश्च समगंगुणेन वद्धा ॥ ६५ ॥

जीवानु—मध्य इति । किं च, प्रतिवेशिनीना प्रतिवेशमना श्रुतीना वेदाना ब्रह्ममुखस्थाना श्रुतीना मध्ये वासवती निवसन्ती इय नोऽस्माक मुखे सरस्वती वाक् सखा एव गुणः । इहाश्रुतेन तन्मुखे तन्वद्वा चर्त्तुं तान्य श्रुतिन्यो ह्रियेवेत्युपेक्षा । अद्धापयास्त्यनागां न वद्धति सखीना दोषगुणा नवन्तीति भावः । 'इत्ये त्वद्धापयास्त्यनागान् वद्धति' ॥ ६५ ॥

अन्वय—न मुखे इय सरस्वती प्रतिवेशिनीना श्रुतीना मध्ये वासवती समगंगुणेन वद्धा तान्यः ह्रिय इव अद्धापयाश्च न चलति ।

हिन्दी—हमारे मुख में विद्यमान यह सरस्वती (वाणी) पर्वतों की श्रुतियों (वेदों) के मध्य में स्थित रहने से सम गुण से सर्वज्ञ होवे के कारण उसकी सज्जा से ही जैसे सम्पन्न से विचलित नहीं होती । (अथवा 'अद्धा अयात्' पदच्छेद करनेपर 'निश्चयपूर्वक 'अपय' अयात् कुमारी पर नहीं चलती' ) ।

टिप्पणी—श्रुतिसमस्त व्यवहार करने वाला कुपय पर चल ही नहीं सकता, वह सचनप से विचलित नहीं होता । इस की वाणी तो वेदों की प्रतिवेशनी है, वह कैसे नूती हो सकती है ? मल्लिनाथ के अनुसार उद्रेता, विद्याधर ने समासाक्ति और उपना का निर्देश किया है ॥ ६५ ॥

पर्यङ्कनापन्नसरस्वदद्धा लङ्कापुरीमप्यनिलापि चित्तम् ।

कुनापि चैट्स्मुनि ते प्रयाति तदप्यवेहि स्वशये शयालु ॥ ६६ ॥

जीवानु—तत् त्विदित्यत आह—पर्यङ्केति । कुनापि वस्तुनि द्वीपान्तर-स्थेऽपीति भावः । अनिलापि अनिलाय ते तव चित्तं कर्त्तुं पर्यङ्कना वासव-कविकास्वनापन्न सरस्वान् सारोऽङ्कुस्त्रिह्व यत्नास्तामविदुर्नानित्ययं । ता लङ्कापुरीमपि प्रयाति चेतदपि तद्दुर्गस्थमपि स्वशये स्वहस्ते शयालु स्थितमवेहि । पर्यङ्कनपि पर्यङ्कस्थमिव जानीहि ॥ ६६ ॥

अन्वय—त चित्तं पर्यङ्कनादन्तरसरस्वदद्धा लङ्कापुरीन् अनिलापि, कुन अपि वस्तुनि प्रयाति चेत् (अथवा 'कुन अपि अनिलापि ते चित्त

पर्यङ्कतापन्नसम्बद्धा लङ्कारपुरीम् प्रयाति चेत्' ) तत् अपि स्वहस्ते शयालु अवेहि ।

हिन्दी—यदि तेरा चित्त जिसके परितः ( चारों ओर ) समुद्र का वृत्त घिरा हुआ है ( अथवा समुद्र जिसका पलंग ( शय्या ) बना हुआ है ), उस लका का अभिलाषी है, अथवा वह अन्य किसी दुष्प्राप्य वस्तु की ओर जा रहा है ( अथवा किसी भी वस्तु की अभिलाष करने वाला तेरा मन समुद्र के मध्य बसी लका की ओर जा रहा है ), तो उसे भी तू अपने हाथ में विद्यमान समझ ।

टिप्पणी—दुर्गम समुद्र के मध्य में स्थित दुष्प्राप्य लका या ऐसी ही किसी अन्य वस्तु को भी दमयन्ती प्राप्त कर सकती है, अथ किसी अभिलाष को पूर्ण तो सरल ही है । विद्याधर के अनुसार समासोक्ति ॥ ६६ ॥

इतीरिता पत्ररयेन तेन ह्रीणा च हृष्टा च वभाण भेमी ।

चेतो नल कामयते मदीय नान्यत्र कुत्रापि च साभिलाषम् ॥ ६७ ॥

जीवातु—इतीति । तेन पत्ररयेन पक्षिणा हृष्टेन इतीत्यमीरिता उक्ता भेमी ह्रीणा स्वयमेव स्वाकृतकथनसङ्कोचात् लज्जिता, 'नृदविवे'त्यादिना विक्ल्वाभिष्टानत्वम् । हृष्टा उपायलाभान्मुदिता च सती वभाण । किमिति ? मदीय चेतो लङ्का नायव, किन्तु नल राजान कामयते इति श्लेषभङ्गपा वभाणेत्यर्थः । अन्यत्र कुत्रापि वस्तुनि साभिलाष न ॥ ६७ ॥

अन्वय—तेन पत्ररथेन इति ईरिता ह्रीणा हृष्टा च भेमी वभाण—मदीय चेत् लङ्काम् न अयते, कुत्र अपि अन्यत्र साभिलाषम् न ( अथवा मदीय चेत् नल कामयते कुत्र साभिलाष न, अथवा कुत्र अपि अन्यत्र न साभिलाष मदीय चेत् अनल कामयते ) ।

हिन्दी—उस हृष्ट द्वारा इस प्रकार संबोधित लज्जा और प्रसन्नता से पूर्ण भीमसुता ने कहा—'मेरा चित्त लका की ओर नहीं जाता, वही ओर भी अभिलाषी नहीं है' । अथवा मेरा चित्त नल की कामना करता है, वही ओर साभिलाष नहीं है, अथवा वही ओर अनादृष्ट मेरा मन अनल ( आग ) की कामना करता है ।

टिप्पणी—राज्य पर कवि का शक्ति अधिकार हो सकता है, किस प्रकार वह उनके कौशलपूर्ण प्रयोग से व्यर्थ-व्यय प्रकट कर सकता है, यह इस श्लोक में स्पष्ट है। एक-सी राजावली के विभिन्न पदच्छेद करके तीन अर्थ निकल आते हैं, वे अर्थ जो दमयती को इच्छा का क्रमिक रूप हैं—(१) दमयती को लका की चाह नहीं है, (२) वह नल की कामना करती है, (३) यदि पट न हो तो आय में जल मरने की इच्छा है। एक लज्जावती कुमारी के सब अनिष्टासक्तित्व हो गये। श्रीहर्ष का ही सामर्थ्य है। मल्लिनाथ की टिप्पणी है—कि श्लेष-प्रणिता से सब कुछ कह दिया गया। विद्याधर कहते हैं—‘यहाँ श्लेष है।’ दमयती का हर्ष इसलिए है कि इस कहता है कि सब कुछ प्राप्त कर सकती है जो भी कामना करे। लज्जा है कि कैसे सीधे शब्दों में अपने नलाभिलाष के प्रकट कर दे ? ॥ ६७ ॥

विविन्त्य बालाजनशीलशैल लज्जानदीमज्जदनङ्गनागम् ।

वाचष्ट विस्पष्टमनापमानेना स चक्राङ्गपतङ्गशक्र ॥ ६८ ॥

जीवातु—विविन्त्येति । विस्पष्टमनापमाना श्लेषोक्तिवशात्सदिग्धमेव नापमानमित्यर्थः । एना दमयती स चक्राङ्गपतङ्गशक्र हृत्पतिश्रेष्ठ बालाजनस्य मुखाङ्गनाजनस्य शैल स्वभावमेव शैल लज्जायामेव नद्या मज्जदनङ्गनागो यस्य त विविन्त्य विचार्य वाचष्ट, तस्य लज्जाविजितमन्मत्त्व ज्ञात्वा लज्जाविजितार्थं वाचमुवाचेत्यर्थः ॥ ६८ ॥

जन्वय—स चक्राङ्गपतङ्गशक्र विस्पष्टम् अनापमानाम् एना बालाजन-शीलशैल लज्जानदीमज्जदनङ्गनाग विविन्त्य जगद ।

हिन्दो—वह इस विहगनो का स्वामी पूर्ण स्पष्ट न कह सकने वाली उस ( दमयती ) से बालाजा के शैल ( स्वभाव ) रूप-पर्वत और लज्जा हरिणी नदी में डूबते कामरूप हाथी का विचार करते हुए बोला ।

टिप्पणी—स्पष्ट नापन के दो कारण इस ने समझ लिए—( १ ) एक तो कुमारी बालिकाओं का शैल, जो स्पष्ट नापन को दुर्लभ पर्वत-पैसा रोके खड़ा है, ( २ ) लज्जा की अतिशयता, जिनमें कामनाएँ डूब कर रह जाती हैं। भाव यह कि इन मनन गया कि कुमारी जनाचित्तशैल और

लज्जा से अभिभूत दमयती ने जो कह दिया, वही पर्याप्त है। इससे अधिक वह क्या कहती ? विद्याधर के अनुप्रास छेकानुप्रास और रूपक अलंकार ॥६८॥

नृपेण पाणिग्रहणं स्पृहेति नल मन कामयते ममेति ।

आश्लेपि न श्लेषकवेर्भवत्या श्लोकद्वयार्थस्सुविधा मया किम् ? ॥ ६९ ॥

जीवातु—नृपेणेति । श्लेषकवे श्लेषभङ्ग्या कवयिभ्याः श्लिष्टशब्द प्रयोक्तव्या इत्ययं, कवूजर्जन इति धातोरौणादिक इकारप्रत्ययः । भवत्यास्तव सम्बन्धि नृपेण कर्त्ता पाणिग्रहण पाणिपीडनम्, 'उभयप्राप्तौ कर्मणी'ति विहिताया पठ्या 'कर्मणि चे'ति समासनिषेधेऽपि क्षेपे पठ्यीतमास । तत्र स्पृहेति मन मनो नल कामयते द्विजराजपाणिग्रहेति चेत्ता नल कामयत इति श्लोकद्वयाथ सुधिया मया विदुषा नाश्लेपि नाग्राहि किं ? गृहीत एवेत्ययं ॥ ६९ ॥

अन्वयः—श्लेषकवे। भवत्या नृपेण पाणिग्रहणे स्पृहा इति मम मनो नल कामयत इति श्लोकद्वयार्थं सुधिया मया न आश्लेपि किम् ?

हिन्दी—श्लेषकविता की विदूषी आपव—'राजा (नल) के साथ पाणिग्रहण की अभिलाषा है', 'मेरा मन नल की कामना करता है', इन दोनों श्लोकों का अर्थ क्या मली बुद्धि वाला मैं न समझ पाया ? (अपितु समझ गया)

टिप्पणी—दमयती का भाव समझ कर हम ने कहा कि मैं आपको श्लेष धातुरी मली भाँति समझ गया हूँ। आपन जो दो श्लोक—'का नाम बाला' इत्यादि (३।५९) और 'बिती नल कामयते' (३।६७) में श्लेष काव्य का प्रयोग करते हुए जो कहा, वह मैंन मलीभाँति समझ लिया। अब मुझसे कुछ भी छिपाना व्यर्थ है ॥ ६९ ॥

त्वन्चेतसः स्वयंविपर्ययं तु सम्भाव्यभाव्यस्मि तदज्ञ एव ।

लक्ष्ये हि बालाहृदि लोलशीले दरापराड्येपुरपि स्मर स्यात् ॥ ७० ॥

जीवातु—तहि किमर्थं करेण वाञ्छेत्स्यादिकमनवदुस्तवदुस्तमित्यत आह—त्वन्चेतस इति । किन्तु त्वन्चेतस स्वयंविपर्ययमस्मि रत्न सनाय्य आदाङ्कष तदज्ञ यस्य श्लोकद्वयादस्य अग्न अनभिज्ञ भावी भविष्यन् 'भविष्यति गम्यादय' इति साधु अस्मि । त्वन्चितनिश्चयपर्यन्तमित्ययं । यातु सम्बन्धे प्रत्यया इति भविष्यत्ताया गुणात्पादतमानतानुरोधः । नन्वेवमनु-

रक्ताया मयि कुत इय शङ्केत्याशङ्कन जीया चित्तवान्बन्धसम्भवादिनाह-  
लम्प इति । लोलगीले चचलस्वभावो बालाहृदि चित्त एव स्मरोऽपि दरापरा-  
देपुरीषच्युतनायकः स्यात् कुशलोऽपि धन्वी चन्लक्ष्मात्कदाचिदपराध्यत इति  
भावः । 'उपरादपृथक्कोऽसौ लक्ष्माद् यरच्युतनायकः' इत्यमरः । ज्योतिर-  
न्यासोऽङ्गकारः ॥ ७० ॥

अन्वयः—तु त्वज्जैतस्य स्वयंविषयस्य समाख्यं तदस्य एव भावो अस्मि  
हि लोलगीले बालाहृदि लक्ष्मे स्मर अपि दरापरादेषु स्यात् ।

हिन्दी—किन्तु तुम्हारे चित्त की अस्थिरता की समाख्या करके उक्त  
रङ्गोपाय से जननिज ही बना रहूँगा, क्योंकि चचल स्वभाव वाला के हृदय-  
लक्ष्य पर कामदेव के बाण भी कुछ धुँक जाते हैं ।

टिप्पणी—हृदय का कथन है कि मैं न तो जानकर भी अजाना ही बना  
रहता चाहता हूँ, क्योंकि लड़कियाँ होती हैं चचल स्वभाव की । न तो उनका  
मन बदलते देर छाती है और न उन्हें काम ही तदवियों के समान व्यथा  
देता ॥ । ज्योतिरन्यासः ॥ ७० ॥

महीमहेन्द्रः खलु नैपथ्येन्दुस्नद्धोऽवनीय कथमित्यनेव ? ।

प्रयोजन साधयिकम्प्रसोदकपृथग्जनेनेव न मद्विधेन ॥ ७१ ॥

जीवातु—महीति नैपथ्य इत्युत्तरं नैपथ्येन्दुर्नलचन्द्र महीमहेन्द्रो मूढवेन्द्र  
खलु तस्मात् स नल । पृथग्जनन प्राकृतजनेनेव मद्विधेन मादृशा विदुषा  
ईदृक् साधयिक सन्देहदुःस्पम् अस्थिर प्रयोजन प्रति इत्यमेव मुग्धाकारेणैव  
कथं बोधनीयः ? अनर्हमित्यर्थः । 'मतिबुद्धी'त्यादिना अपि कर्तुं नलस्य  
कमत्वं, 'अनर्थं कर्तुं कथं' इति अनिधानात् ॥ ७१ ॥

अन्वयः—तत् महीमहेन्द्र सः नैपथ्येन्दुः मद्विधेनैव पृथग्जनेन ईदृक्  
साधयिक प्रयोजन प्रति इत्यम् एव कथं बोधनीयः ।

हिन्दी—इस पृथ्वी के महेन्द्र उस नैपथ्यचन्द्र के प्रति मेरे जैसे प्राकृत  
जन पक्षी द्वारा ( अथवा पृथग्जनेन इव मद्विधेन ) जन्म करके प्राकृतजन के  
समान मुझ जैसे विद्वान् द्वारा ) ऐसे सशयपूर्ण अस्थिर प्रयोजन का निवेदन  
किस प्रकार किया जाय ?

टिप्पणी—आशय यह है कि दमयती का भाव तो स्पष्ट कहा नहीं गया, सो बात सदेह की है । उसे हंस जैसा समझदार प्राणी एक मूल की भांति इतने बड़ राजा से कह नहीं सकता अथवा कही यह न समझ लिया जाय कि हंस तो पक्षी है, उसने न जाने क्या समझा और प्रलाप कर दिया । सो बात साफ होनी चाहिए । एक महोमहेन्द्र से वह अप्रामाणिक, सदेहास्पद सदेश नहीं कह सकता । विद्याधर के अनुसार उपमा और काव्यालिंग ॥ ७१ ॥

पितुर्नियोगेन निजेच्छया वा युवानमन्य यदि वा वृणीषे ।

त्वदर्थमपितृत्वकृतिप्रतीतिं कीदृमपि स्यान्निपधेश्वरस्य ॥ ७२ ॥

जीवातु—अथेत्यमेव बोधने को दोषस्तत्राह—पितुरिति । पितुर्नियोगेन आज्ञया निजेच्छया स्वेच्छया वा अन्य नलादय युवान यदि वृणीषे वृणीषि यदि, तदा निपधेश्वरस्य नलस्य मयि विषये त्वदर्थं तुभ्य, 'चतुर्थी तदर्थ'-त्पादिना चतुर्थी समास, 'अर्थेन सह नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्' । तदुक्तया अपितृत्वकृति अपितृत्वभजन तत्र प्रतीतिविश्वास कीदृक् स्यान्न स्यादित्यर्थः । तस्मादसदिग्ध बाध्यमिति भावः ॥ ७२ ॥

अन्वय —पितुः नियोगेन निजेच्छया वा यदि अन्य युवान वृणीषे त्वदर्थम् अपितृत्वकृति' मयि निपधेश्वरस्य कीदृक् प्रतीतिः स्यात् ।

हिन्दी—पिता की आज्ञा अथवा अपनी इच्छासे यदि तुम नलातिरिक्त मुषा का वरण करती हो, तो तुम्हारे निमित्त याञ्चा करते मेरे प्रति निपधराज का विश्वास कैसा होगा ?

टिप्पणी—हंस का तात्पर्य है कि दमयती जब तक निश्चयपूर्वक अपना निर्णय स्पष्ट न करेगी हंस की नल से उसके साथ विवाह करने की प्रार्थना ठीक नहीं होगी । यदि दमयती के पिता ने अन्यत्र कही अपनी बेटी ध्याहने का निगम ले लिया और दमयती ने उससे बाध्य हो अन्य किसी पुरुष को घर लिया अथवा उसकी ही इच्छा बदल गयी, तो नल हंस को एक लबाडिया या मूठा ही तो समझेगा । सो स्पष्ट बड़े बिना काय आगे नहीं बढ़ेगा ॥ ७२ ॥

त्वयार्पि किं शङ्कितविक्रियेऽस्मिन्निधिक्रिये वा विषये विधातुम् ।

इतं पृषक् प्रार्थयसे तु यच्चत्कुर्वे तदुर्वोपतिपुत्रि । सर्वम् ॥ ७३ ॥



जोवातु—अन्यथा तथा वक्तुं न शक्यते तर्हि ततोऽप्यशीषितं करिष्ये  
प्रतिज्ञानङ्गपरिहारायेत्याह—त्वमेति । हे उर्वीपतिपुत्रि । नैमि । त्वयापि वा  
किं विनातु किं कर्तुं शक्नुवित्किञ्चिन्सम्नादिनविनयये अस्मिन् विषये राजपानि-  
ग्रहणप्रयत्नकार्ये जहम्, जविक्रिये विनिगुण्ये, अनियोग्य इत्यर्थः । करोते  
अपि रुद्, किन्तु इतः पृथक्स्नादित्यस्य यद्यत्प्रायश्चित्तं तत्सर्वं कुर्वे करोमीत्यर्थः ॥

अन्वयः—स्वयां अपि शङ्कितविधिष्वे अस्मिन् विषये विधातुं किं वा  
जविक्रिये ? उर्वीपतिपुत्रि, इतः पृथक् यत् यत् प्रायश्चित्तं तत् सर्वं कुर्वे ।

हिन्दी—और तुम नौ जिसमें परिवर्तन की बाधका है, उस इस विवाह-  
विषय में सयोगन करने का अधिकार नुते क्यों दे रही हो ? हे पृथ्वी के  
स्वामी की पुत्री ( राजकुमारी ), इससे निम्न जो-जो नुत वे चाहोगी,  
मैं वह सब कहूँगा ।

टिप्पणी—हस एक और संज्ञना देता है—जन्ता हो कि तुम इस  
सदेहास्पद कार्य-साधन में नुते निरुक्त ही न करो । इस विवाह विषयक कार्य  
के अतिरिक्त, जो नौ कहो, मैं कर दूँगा अर्थात् या तो स्पष्ट कहो, या फिर  
इस विषय को ही छोड़ो । विद्यावर ने इस श्लोक में अनुदास अथवा 'नियत-  
दशावयवमक' का निर्देश किया है ॥ ७३ ॥

अथ प्रविष्टा इव तद्गिरन्ता विभूय वीमत्यधुतेन मूर्ध्ना ।

ऊवे हिया विस्मयितानुरोषा पुनर्धरित्रीपुरुहूतपुत्री ॥ ७४ ॥

जोवातु—अथ इति । धरित्रीपुरुहूतपुत्री भूमौन्द्रनुता भूमी अथ प्रविष्टा  
इव न तु सम्यक् प्रविष्टा तद्गिरौ हसवाच । वीमयेन जसम्भत्पा पुतेन  
कर्मितेन मूर्ध्ना विभूय प्रतिपिन्त्य हिया कर्त्त्या विस्मयितानुरोषा शिथिलित-  
वृत्तित्त्यक्त्तलम्बा ततो पुनरप्यूचे उवाच ॥ ७४ ॥

अन्वयः—धरित्रीपुरुहूतपुत्री अथ प्रविष्टा तद्गिरौ वीमत्यधुतेन मूर्ध्ना  
विभूय इव हिया विस्मयितानुरोषा पुन ऊवे ।

हिन्दी—धरती के इत्र की पुत्री ( पृथ्वीद्रनुता दमयती ) कानों में धुत्ती  
उस ( हस ) की वचनावली को अनमति में हिलते जिव से मानो निरस्त  
करती हुई लम्बा के अनुरोध को शिथिल कर ( लम्बा छाड़ ) पुन बोली ।

टिप्पणी—दमयती ने हंस के वचनों के प्रति असमति प्रकट करने के लिए सिर हिलाया, जैसे दान में प्रवेश करते किसी दुष्ट कीट को सिर के झटके से निवारित करना चाहती हो। इस आवेश में उसने लज्जा छोड़ कर निम्नांकित स्पष्ट वचन कहे। उत्प्रेक्षा ॥ ७४ ॥

मदन्यदान प्रति कल्पना वा वेदस्त्वदीये हृदि तावदेवा ।

निशोऽपि सोमेतरकान्तशङ्कामोक्षारमग्रेसरमस्य कुर्या ॥ ७५ ॥

जीवातु—मदिति । मम अन्यदानमन्यस्य दान प्रति दानमुद्दिश्य वा कल्पना पितृनियोगेनेत्यादि श्लोकस्तक । एषा कल्पना त्वदीये हृदि वेदस्तावत्सत्य एवेत्यर्थ । निशो निधाया अपि 'पद्मि'त्यादिना निधाया निधादेष्ट सोमा-  
न्वद्वादितरकान्तशङ्का पुरुषान्तरकल्पनामेव ओक्षार प्रणवम् अस्य वेदस्या-  
ग्रेसरमाद्य कुर्या कुरु सबस्यापि वेदस्य प्रणवपूर्वकत्वादिति भाव । यथा निधाया निष्ठाकरेतरप्रतिग्रहो न शङ्कनीय, तथा ममापि नलेतरप्रतिग्रहो न शङ्कनीय इत्यर्थः । लम्कालङ्कार ॥ ७५ ॥

अन्वय—मदन्यदान प्रति त्वदीये हृदि वा एषा कल्पना तावद् वेद, निश। अपि सोमेतरका तद्यङ्काम् अस्य ओक्षार कुर्या ।

हिन्दी—मेरे नलातिरिक्त पुरुष को दिये जान के विषय में तुम्हारे हृदय में जो यह कल्पना वेद' ( वेदसम प्रामाणिक ) है, तो रात्रि की भी चद्रेतर प्रियविषयकणका को इस ( मेरे धन्य दान विषयक सध्यागीकार ) का 'ओकार' कर लो ।

टिप्पणी—दमयती का कथन यह है कि उसकेअन्य किसी पुरुष से विवाह होने के विषय में जो हंस कल्पना कर रहा है, वह निर्मूल है। यदि वह इस कणका को वेद के समान सत्य और प्रामाणिक माने बैठा है, तो उसे इसे सत्य मानने के पूर्व यह भी मानना होगा कि रात्रि का चन्द्रमा के अतिरिक्त भी प्रिय होता है। यदि दमयती विषयक हंस की आज्ञाका वेद है, तो रात्रि विषयक सत्य को वेदमन्त्रों से पूर्ण उच्चारित होनेवाला आकार ( ॐ ) मानना होगा अर्थात् जैसे चन्द्रमा ही रात्रि का प्रिय है, वैसे ही नल हो दमयती का। मल्लिनाथ के अनुसार रूपक, विद्याधर के अनुसार रूपक और अतिशयोक्ति ॥ ७५ ॥

सरोजिनोमानसगवृत्तेरनर्कसम्पर्कमनर्कयित्वा ।

मदन्यपाणिग्रहणद्वितेयमहो महीयस्तव साहचिक्यम् ॥ ७६ ॥

जीवानु—सरोजिनीति । सरोजिन्या मानसरागवृत्तेर्नमोऽनुरागस्थितेर-  
मन्तरात्म्यप्रवृत्तेऽत्र अनर्कसम्पर्कनर्कतरकान्तसकान्तिनतर्कयित्वा अनूहित्वा  
तव मे मन अन्यस्य नन्तरस्य पाणिग्रहं यद्वत् इति तच्छङ्कितस्य भावमत्ता  
महीयो नहत्तर साहचिक्यं साहचिक्यत्वम् बहो असन्भावितसन्भावनाशङ्क्यम् ।  
अन्वयः—सरोजिनीमानसरागवृत्ते अनर्कसम्पर्कम् अनुकंपित्वा तव इयं  
मदन्यपाणिग्रहणद्विता बहो, महीयं साहचिक्यम् ।

हिन्दी—कमलिनी के मनोऽनुराग के होने का सूर्यातिरिक्त के साथ सबष  
की तर्कणा न करके तुम्हारी यह मेरे नलातिरिक्त के साथ विवाह की एक  
आश्चय और बड़े साहस की बात है ।

शिष्या—आज यह है कि जिस प्रकार कमलिनी का अनुराग नूर्य से  
ही होता है, अन्य से नहीं उसी प्रकार हम ती का विवाह नरु से ही समभव है,  
नलातिरिक्त से नहीं । जब कमलिनी-नूर्य के सबष में हम को यका नहीं है,  
तो बनवती-नल के विषय में उसकी यका बड़ा हुआ है । विद्याप के  
अनुसार समासोक्ति और अतिशयोक्ति ॥ ७६ ॥

साधु त्वयाश्रितं तदेकमेव स्वेनानलं यन्मिलं सधमिष्ये ।

विनाज्जुता स्वात्मनि तु प्रहर्तुं नृपागिर त्वा नृपतो न कर्तुम् ॥ ७७ ॥

जीवानु—नाश्रिति । किन्तु स्वेन स्वेच्छया अनलं नलादन्यम् अर्नि च  
सधमिष्ये प्राप्सामीति यत् त्वया अर्थात् उचित तदेकमेव साधु अर्थात्, किन्तु  
ज्जुता नलेन विना तदलाभ इत्यर्थः । स्वात्मनि प्रहर्तुं स्वात्मानं हिंसितुं  
कमणोऽपिदरपत्वविवक्षायां सतनी । 'अनेकसक्तिनुक्तस्य विवक्षितानेककर्मणः ।  
सबदा सर्वतोभावात् वदन्ति किञ्चिद्विषयते ॥' इति वचनादनलं सधमिष्ये  
इत्यनुपपन्नं नृपतो नले विषये त्वा नृपागिरनसत्यवाचं कर्तुमन एव धरणम्  
अन्यथा मरपमेव धरपमिति भावः ॥ ७७ ॥

अन्वयः—एतत् एव त्वया साधु उक्तं किं यत् स्वेन अनलम् सधमिष्ये,  
ज्जुता विना तु स्वात्मनि प्रहर्तुम्, नृपतो त्वा नृपागिर कर्तुं न ।

हिन्दी—यही तुमने ठीक विचार किया कि मैं स्वयम् ही अतल ( नल-तिरिक्त, अग्नि ) का आश्रय ले लूँगी, किन्तु ( नल ) के बिना अपने को समाप्त करने के लिए ( अग्नि-अनल का आश्रय लूँगी ) न कि तुम्हें नरराज ( नल ) के समुख झूठा सिद्ध करने के लिए ( अनल अर्थात् नल-व्यतिरिक्त का आश्रय ) ।

टिप्पणी—हस ने 'पितुनियोगेन' इत्यादि ( ७२ ) में आश्रय का प्रकट की थी कि तुम स्वेच्छया अनल ( नल व्यतिरिक्त ) को बर लो तो उसे नल झूठा समझेगे, इसी का एक प्रकार से उपहास करती दमयंती ने कहा कि वह निश्चय ही स्वेच्छया नल से विवाह न होने पर अनल ( अग्नि ) का आश्रय लेगी—आत्मदाह कर लेगी, किन्तु 'अनल' ( नल व्यतिरिक्त ) से विवाह करके हस को नल के सम्मुख झूठा नहीं सिद्ध करेगी । विद्याधर द्वारा उल्लेख्य अलंकार श्लेष ॥ ७७ ॥

मद्विप्रलम्ब्य पुनराह यस्त्वा तर्कस्त कि तत्फलवाचि मूक ? ।

अशक्यशङ्कव्यभिचारहेतुर्वाणी न वेदा यदि सन्तु के तु ? ॥ ७८ ॥

जीवातु—मदिति । किञ्च, यस्तर्क ऊह मद्विप्रलम्ब्य भया विप्रलम्बनीय 'पौरुषधादि'ति यत्प्रत्यय । आह बोधयतीत्यर्थ स तर्क तस्य विप्रलम्बस्य फलवाचि प्रयोजनाभिधाने मूक अशक्त किम् ? अतो मय्यसत्यवादित्वशङ्का न कार्येत्यर्थ । कथमेतावता सत्यवाक्यत्वनिश्चय एत आह—अशक्या शङ्का यस्य स अशक्यशङ्क सन्नितुमशक्य व्यभिचारहेतुर्विप्रलिप्तालक्षणी यस्या सा वाणी न वेदा यदि न प्रमाण चेत्तर्हि के तु वेदा सन्तु ? न केऽपीत्यर्थ सम्भावनाया लोड । वेदवाचामसत्यत्वे मद्राचोऽप्यसत्यत्वम्, नाग्यमति भाव ॥ ७८ ॥

अन्वय —पुनः य तर्क मद्विप्रलम्ब्य त्वाम् आह स तत्फलवाचि मूक किम् ? अशक्यशङ्कव्यभिचारहेतु यदि वेदा न, के तु सन्तु ?

हिन्दी—और फिर जिस तर्क ने तुम्हें यह बताया कि मैं तुम्हारी प्रतारणा न करूँगी, उसके परिणाम को बताने में क्या वह गूँगा है ? जिन ( वचना ) में व्यभिचार के ( अज्ञानादि ) कारणों की घरा की ही नहीं आ सकती, यदि वे वेद ( प्रामाणिक ) नहीं हैं तो वेद क्या है ?

टिप्पणी—७२ वें श्लोक में हस ने आशुका की थी कि वह झूठा बनेगा, दमयती द्वारा प्रचारित होगा। दमयती इसके उत्तर में कहती है कि यह वाशका भी निर्मूल है। हस ने विसर्ग से यह सोच लिया कि दमयती उसे प्रचारित करेगी, उस वक्त ने उसे यह नहीं बताया कि हस की प्रचारित करने में दमयती को शान क्या होगा? हस तो जानते है, उस अपनी प्रामाणिकता पर विश्वास होना चाहिए, अन्यथा फिर उसकी प्रामाणिकता ही क्या रहे जायेगी? अथवा दमयती यह कहना चाहती है कि वह जो कह रही है, वह पूरा सत्य और प्रामाणिक है, वेद के समान, जिसमें ठगानादि व्यभिचार-कारणों की आशंका ही नहीं की जा सकती। जो वाणी व्यभिचारिणी है—अपरिवर्तनीय। यदि वेद झूठे हैं तो दमयती की वाणी भी। विद्याधर के अनुसार काव्यालि ॥ ७८ ॥

अनैपघायेव जुहोति किं मा तात इजानो न शरीररूपां ? ।

ईष्टे तनूजन्मतनोन्तथापि मत्प्रापनापस्तु नलस्त्वं एव ॥ ७९ ॥

जीवातु—एव निजेष्वप्या नलान्दृष्ट्वा निरस्य पित्राज्ञयापि ता निरस्यति-अनैपघायेति । तातो मम जनक । 'तातस्तु जनक पिता' इत्यनर । मान-नैपघाय नैपघान्नलादन्यस्मै एव जुहोति ददातीति वाकु, तथा शरीररूपा मृता तथापि इजानो न किं न तु जीवती नान्तेरन्यत्र जुहोतीत्यर्थं तदङ्गीकृतं धर्म-वेति भावः । कुत ? स जनकः तनूजन्मतनो आत्मजशरीरस्य ईष्टे स्वामी, भवतीत्यर्थः । 'अधीगर्भदयेशा कर्मणी'ति शेषे पृष्टी । तथापि शरीरस्य पितृ-स्वानिदत्वेऽपीत्यर्थः । मत्प्रापनापस्तु नल एव प्रापनामन्तर्जन्यत्वादिति भावः । अतो नन्यविश्राय मा कुर्वित्यर्थः ॥ ७९ ॥

अन्वय — तात शरीररूपां माम् अनैपघाय जुहोति, इजानो एव किं न ? स तनूजन्मतनो ईष्टे तथापि मत्प्रापनापस्तु नल एव ।

हिन्दी—पिता शरीरमात्रावधेय ( मृत ) मुझे निपराजातिरिक्त को देते है ता जन्म को ही क्यों नहीं देते ? वे ( पिता , स्वदेह से जन्म पाने वाले देह के स्वामी है, तथापि मेरे प्राणों का स्वामी ता वह नल ही है ।

टिप्पणी—दमयती का भाव यह है कि पिता जीवित क्षण में नलातिरिक्त से उसका विवाह नहीं कर पायेगा, यदि वे ऐसा करेंगे तो दमयती शान दे

देगी और फिर उस शरीरमात्रावशेषों को पिता द्वारा अग्नि में ही समर्पित किया जा सकेगा। पिता का अधिकार शरीर मात्र पर है, क्योंकि उसे उन्होंने जन्म दिया है, उसे वे ले सकते हैं, किन्तु प्राणों के स्वामी तो नल ही हैं। अतः हंस को दमयती का विश्वास करना ही उचित है। विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग ॥ ७९ ॥

तदेकदासीत्वपदादुदये मदीप्सिते साधु विधित्सुता ते ।

अहेलिना किं नलिनी विवर्त्ते सुधाकरेणापि सुधाकरेण ॥ ८० ॥

जीवात्—फलितमाह—तदेकेति । तस्य नलस्यैकस्यैव दासीत्व तदेव पदमधिकारस्तस्मादुदये अधिके मदीप्सिते पत्नीत्वरूपे विषये तव विधित्सुता चिकीर्षुर्तव साधु साध्वी, अविचारेण मनोरथपूरणमेव ते युक्तमिति भावः । साध्विति सामान्योपक्रमान्नपु सकत्वम्, 'शक्य इवमासेनापि क्षुन्निवर्तयितुमिति' ति भाष्यकारप्रयोगात् । ननु किमनाभिनिवेशेन गुणवत्तर चेद्युक्ततरस्वीकारे को दोषस्तत्राह—अहेलिनेति । नलिनी सुधाकरेण अमृतवीधित्वनापि अहेलिना असूर्येण सुधाकरेण चन्द्रेण किं विवर्त्ते ? किं तेन तस्या इत्यर्थः । तद्वन्ममापि किं युवा तरेणेति भावः । छष्टान्तालङ्कारः ॥ ८० ॥

अन्वयः—तदेकदासीत्वपदात् उदये मदीप्सिते तव विधित्सुता साधु, नलिनी सुधाकरेण अपि अहेलिना सुधाकरेण किं विवर्त्ते ?

हिन्दी—उस ( नल ) की एक दासी होने के पद से भी उत्कृष्ट मेरे मनोरथ को पूर्ण करने की तुम्हारी मली ही इच्छा है, किन्तु कमलिनी अमृत के जागार भी अहलि ( असूर्य ) चंद्र का क्या करेगी ?

टिप्पणी—हंस न ॥३३ बें श्लोक में कहा था कि वह इस सदेहात्पद कार्य-योजना में नहीं पड़ना चाहता, किन्तु अब किसी दमयती के मनोरथ को वह पूरा करेगा। इसी का उत्तर इस श्लोक में है। दमयती हंस को साधुवाद देती बातों है कि वह और कुछ चाहती ही नहीं, केवल नल की दासी होना उसका अमोघ है। मले ही उससे उत्कृष्ट कुछ हो, होता रहे, उससे दमयती को क्या काम ? चंद्र अमृतनिधि है, पर वह मूर्ख तो नहीं है। कमलिनी का क्या इससे संवध ? दृष्टांत अलङ्कार ॥ ८० ॥

तदेकलुब्धे हृदि मेरुमिस्त लब्धु चिन्ता न चिन्तामणिमप्यनर्घम् ।

निते नमस्कस्त नलशिरोकोषारो निधि पद्ममुखस्म एव ॥ ८१ ॥

जीवातु—उदिति । तन्मिन्नेवैकस्मिन् सुखे लोलुपे मे हृदि जनघं चिन्ता-  
नमिमपि लब्धु चिन्ता विचारो नास्ति, तथा वित्ते घनविषयेऽपि मनः त नल-  
स्त्रिलोकीसारस्त्रिलोक्यथेष्ट पद्ममुखः पद्मानन एव स नल एव त्रैलोक्यसारः;  
पद्मनिमिश्च । नलादन्यत्र कुत्रापि मे स्मृता नास्ति । किमुन भुवान्तर इति  
भावः ॥ ८१ ॥

अन्वयः—तदेकलक्ष्णे मे हृदि जनघं चिन्तानमिम् अपि लब्धु चिन्ता  
नास्ति । वित्ते ( वित्ते वा ) अपि मनः स नल त्रिलोकीसारः पद्ममुखः एक एव ।

हिन्दी—उसी एक में लुब्ध मेरे मन में अनून्ध चिन्तानमि का भी पाने  
की चिन्ता नहीं है । घन के विषय में भी ( अथवा मेरे चित्त में भी ) ने-  
वह नल त्रिलोकी का सारभूत ( सर्वोत्कृष्ट ) कमलवदन बकेला ही है ।

टिप्पणी—भाव यह कि नल के अतिरिक्त किसी दुर्जनउन वस्तु की भी  
पाने की इच्छा जनघती की नहीं है । विचार के अनुसार करक और श्रेय ॥

श्रुतश्च दृष्टश्च हरितु मोहाद् ध्यातृत्वं नीरन्ध्रतद्बुद्धिधारम् ।

मनाद्य तत्प्राप्तिरसुख्यो वा हस्ते तवास्ते द्वयमेव शेषः ॥ ८२ ॥

जीवातु—श्रुतश्चेति । किं वदना स नल श्रुत दूतद्विजनन्धादिमुखादा-  
कर्णितश्च, मोहाद् भ्रान्तिवशात् हरितु इष्ट साक्षात्कृतश्च, तथापि नीरन्ध्रत-  
द्बुद्धिधार निरन्तरीकृततदेकविषयबुद्धिप्रवाह मया तथा ध्यातश्च । अथापि मन  
तत्प्राप्तिर्नलप्राप्तिर्मुष्मन् प्राणप्राप्ते वा द्वयमेव द्वयोरन्यतर एवेत्यर्थः । शेष-  
कार्यशेषः स च तव हस्ते ज्ञान्ते त्वदायत्तं विप्रीत्यर्थः । अत्र तत्प्राप्त्यर्थवचन-  
मनननिदिदिध्यासनसम्पन्नस्य ब्रह्मप्राप्तिदुःखोच्छेदरक्षणोऽपि पुनरित्यर्थः एवे-  
त्यर्थान्तरप्रतीतिर्ध्वनिरेव अभिप्राया प्रकृतार्थनियन्त्रपादि सत्तेर ॥ ८२ ॥

अन्वयः—श्रुत मोहात् हरितु च दृष्ट नीरन्ध्रतद्बुद्धिधार ध्यातृत्वं,  
अथ मन तत्प्राप्तिं अनुन्य वा द्वयम् एव शेषः तव हस्ते ज्ञान्ते ।

हिन्दी—( उन दूतद्वय से मेरे ) मुँह है, माह के कारा सब दिशाओं  
में देखा है और निरन्तर बुद्धिविचारणा में उसी का ध्यान किया है । बाव  
मुझे उसकी प्राप्ति अथवा मर प्राप्ति का भाव—दो ही तुम्हारे हाथ में मेरे  
लिए रह गया है ।

टिप्पणी—भाव यह कि इस यदि कुछ करना चाहता है तो दमयती को नल की प्राप्ति करा दे या फिर उसके प्राण निकल जाने दे। नल के अभाव में मृत्यु ही वरेण्य है। मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में अभिषा द्वारा प्रकृतार्थ का नियंत्रण हो जाने के कारण ब्रह्म के ध्वण, मनन, निदिध्यासन से संपन्न व्यक्ति ब्रह्मप्राप्ति दुःखोच्छेद रूप मोक्ष गुरु के अधीन है—यह ध्वनि है। प्रकाशकार ने भी ऐसा ही कहा है—‘तत्त्वमसि’ इति श्रुतो तच्छब्दवाच्यस्य ब्रह्मण प्राप्ति कस्यचिदेव मुकृतिना भवति, तथा मम नलप्राप्तिस्त्वत्प्रसादादेव।’ विद्याधर के अनुसार समुच्चय अलंकार ॥ ८२ ॥

सञ्चीयतामाश्रुतपालनोत्थ मत्प्राणविश्राणनञ च पुण्यम् ।

निवार्यतामार्यं । वृथा विशङ्का भद्रेऽपि मुद्रेयमये । भृश का ? ॥ ८३ ॥

जीवातु—सञ्चीयतामिति । हे इस । आश्रुतपालनोत्थ प्रतीक्षाताम्-निर्वाहणोत्पन्नम् ‘अङ्गीकृतमाश्रुत प्रतिज्ञातमि’त्यमर । मत्प्राणाना विश्राणन दान तज्जञ्च पुण्य मुकृत सञ्चीयता सगृह्यता, हे आय । वृथा विशङ्का सन्देहो निवार्यताम् । अये । अङ्ग । भद्रे पूर्वोक्तपुण्यरूपे श्रेयसि विषये भृशङ्केय मुद्रा औदासीन्य, श्रेयसि नोदासितव्यमिति भावः ॥ ८३ ॥

अन्वयः—आश्रुतपालनोत्थ मत्प्राणविश्राणनञ च पुण्य सञ्चीयताम्, आय, वृथा विशङ्का निवार्यताम्, अये भद्रे अपि भृश का इय मुद्रा ?

हिन्दी—प्रतिज्ञा पाटन से समुत्पन्न, मुझे प्राण दान करने का पुण्य-सत्त्व करो, हे आय, व्यर्थ की आशंका छोड़ो, अरे तुमने सदेह रहित (मगल) विषय में भी यह कैसी उदात्त मुद्रा बना रखी है ?

टिप्पणी—पूर्वोक्त प्रकार से अपने निश्चय और अनुराग का विश्वास दिलाती दमयती इस पक्ष में यह स्पष्ट करती है कि नल से उसका सवध करान में इस को दो पुण्य मिलेंगे—एक उसने स्वयं जो वचन दिया है, उनका पालन होगा और दो—दमयती के प्राण बचाने का ध्येय भी इस का प्राप्त होगा । इस दृष्टि से सब प्रकार की आशंका और सदेह का परित्याग कर इस को इन मगलकार्य-सिद्धि के लिए उदासीनता छोड़ प्रयत्नशील हो जाना चाहिए । विद्याधर के अनुसार उत्प्लेख्य छेकानुप्रास अलंकार ॥ ८३ ॥



अलं विरुद्धं प्रिय । विज्ञ । याच्या कृत्वापि वाक्य विविध विधेये ।

यशःपयादाश्रयतापदोत्यान् खलु स्तलित्वास्तखलोत्तिखेलात् ॥ ८४ ॥

बोवातु—अलमिति । हे प्रिय । प्रियङ्गुर विज्ञ । विज्ञेयत् । उनयन 'इत्यने'त्यादिना कप्रत्ययः । याच्या प्रार्थना विरुद्धं जल याच्यानङ्गो न काय इत्यर्थः । विधेये विनीतजने विविध वाक्य वक्ता कृत्वापि अल, तच्च न कार्यमित्यर्थः । बाधको ययोक्तहारो, 'वचने न्यित बाधक' इत्यमरः । तस्य भावास्तप्ता सर्व पद पदशेषः तदुत्थात् जस्ता निरन्ता खलात्तिखेला निष्पन्ना वादविनोदो येन तस्माच्च यशःपयात् स्तलित्वा चञ्चित्वा खनुन स्तलितव्यमित्यर्थः अन्यथा हानि स्यात् । 'निषेधवाक्यालङ्कारविज्ञानानुसारेण' इत्यमरः । 'जल खल्वो प्रतिषेधो याचा क्त्वे'ति उनयनापि क्त्वाप्रत्ययः इह 'न पादादौ खन्वाद्य' इति निषेधस्योद्देशकत्वानिप्रायत्वान्नञस्य खलशब्दस्यानुद्बज्ज-क्त्वान्नृवदेव पादादौ प्रयोगः न दूष्यत इति अनुसन्धेयम् ॥ ८४ ॥

अन्वयः—प्रियविज्ञ, ( अथवा प्रिय, विज्ञ, ) आनन्दशरदोत्थात् जस्त-खलोत्तिखेलात् यशःपयात् स्तलित्वा खलु याच्या विरुद्धं, विधेये विविध वाक्य कृत्वा अपि अलम् ।

हिन्दी—हे प्रिय को मलीनाति जाननेवाले, ( अथवा प्रिय और विज्ञ, अथवा 'प्रियेपु विष्णु ज्ञ'—प्रिय पक्षियों न जानी, ) वचन-पालन-कर्त्ताओं से पद अर्थात् श्रेष्ठ स्थान से उत्पन्न ( अथवा शरण-दाता ), खलवचनों के खेळ सरहित यश के माग से स्तलित हो ( हटकर ) मेरी याचना का लयन मत करो और करणीय कृत्य के विषय में भी नानाविध उलटा-सीधा विचार भी छोड़ दो ।

टिप्पणी—जल को विशेषतः के विशेषतः से संबोधित करती दमयती उसे वेतावनी देती है कि सज्जन वचन का पालन करते हैं, वे दुष्टों के समान वचन देने को खेळ नहीं समझते । प्रतिज्ञा-पालन ही यश का मार्ग है । यदि हृत् वचन-पालन में उलटी-सीधी बातें सोचें और दमयती की प्रार्थना पर ध्यान नहीं देगा तो वह वचन का नागी होगा । नीर और-बिबेकी हृत् तो जानी और सज्जन माने जाते हैं । विज्ञापर ने उत्प्रेक्ष्य अलङ्कार अनुमान माना है ॥ ८४ ॥

स्वजीवमप्यात्तमुदे ददद्म्यस्तव त्रपा नेदृशबद्धमुष्टेः ।

मह्य मदीयान्यदसूनदित्सोर्धर्मं कराद् भ्रश्यति कीर्तिधौत ॥ ८५ ॥

जीवात्—स्वेति । ईदृशबद्धमुष्टेरीदृक्कष्टलुब्धस्य तव आर्त्तानां मुदे प्रीत्यै स्वजीव ददद्म्य स्वप्राणभ्रयं परत्राण कृत्वद्भूयो जीमूतवाहनादिभ्य इत्ययम् । 'जीवञ्जीमूतवाहन' इति प्रसिद्धम् । त्रपा नेति काकु, त्रपाया मन प्रत्यावृत्तिरूपत्वात्तदपक्षया तेषामपादानत्वात् पञ्चमी । यद्यस्मान्मदीयानेवासूनं प्राणान् मह्यमदित्सो तव कीर्त्या धौत दुष्टो धर्मं करादस्ताद् भ्रश्यति, न चैतत्तवाहंमिति भावः ॥ ८५ ॥

अन्वयः—ईदृशबद्धमुष्टे तव आर्त्तमुदे स्वजीवम् अपि ददद्म्य त्रपा न, यत् मदीयान् असूनं मह्यम् अदित्सो तव कीर्त्तिधौत धमकरात् भ्रश्यति ?

हिन्दी—एसे मुट्ठी बांधे बैठे ( कृपण तथा अकर्मण्य ) तुम्हे दुखी जनों ( पीड़ितों ) की प्रसन्नता के लिए अपना जीवन भी दे देने वाले ( कर्मण्य दानियो ) व्यक्तियों के समुच्च लाज भी नहीं लगती क्योंकि मेरे प्राणों को मुझे ही न देने की इच्छापुष्ट तुम्हारे यद्य से धुल ( स्वच्छ ) धर्म हाथ से गिर पड़ेगा ?

टिप्पणी—दमयती कहती है कि उसके प्राण उसे ही न देने वाले हस के यद्य और धर्म—दोनों गह हो जायेंगे । इस श्लोक में 'बद्धमुष्टि' शब्द के प्रयोग से चमत्कार आया है । 'मुट्ठी बांधना' कृपणता का लक्षण भी है और अकर्मण्यता का भी । तो ये दोनों स्थितियाँ हस के लिए लज्जाजनक हैं । उसे पिबि, रतिदेव तथा हरिश्चन्द्र आदि—जैसे बचनपालक और याचकों के कल्याणहित स्वप्राण भी अर्पित कर देने वाले महाजनों का स्मरण करके अपनी अदानशीलता और अकर्मण्यता को त्यागना ही उचित है । कदाचित् वह 'मुट्ठी बांधे' इसलिए बैठा है कि यद्य और धर्म उसके खुले हाथ से गिर न जायें, पर उसे स्मरण रखना चाहिए कि धन से हटना और याचक को निगाह करने या 'बद्धमुष्टि' कृपण—अकर्मण्य के यद्य-धर्म नष्ट हो जाते हैं । 'बद्धमुष्टि ब' कर से गिर जाना' के आधार पर प्रवादकार ने यहाँ 'विरापाभास' का निर्देश किया है । वे 'बाकु' का भी निर्देश करके इस अर्थ का भी संकेत

करते हैं कि इस सब कुछ समझ रहा है कि यश धर्म इस स्थिति में नष्ट हो जायेंगे । विद्याधर ने यहाँ अतिशयोक्ति का निर्दोष किया है ॥ ८५ ॥

दत्त्वाऽऽत्मजीव त्वयि जीवदेश्यं शुष्यामि जीवाधिकदे तु केन ।

विधेहि तन्मा त्वदृणेष्वशोद्धुममूद्रदारिद्र्यसमुद्रमग्न्याम् ॥ ८६ ॥

जीवातु—दत्त्वेति । किं च जीवदे प्रापदे त्वयि विपदे आत्मजीव मत्प्राण दत्त्वापि शुष्यामि आनृण्य गनिप्यामीत्यर्थं । किन्तु जीवादधिक प्रिय उद्दे त्वयि केन शुष्यामि ? न केनापि, उत्तुन्यदेयवस्त्वभावादित्यर्थं । अन्वयः प्राणं यम तु न किञ्चिदस्तांति नाव । उत्तस्मादभावादेव मा त्वदृणेषु जशोद्धुम-  
शृणुगस्ता भवितुमेव अनुदे अपरिमिते दारिद्र्य त्वद्वयवस्त्वभावस्य तस्मिन्नेव समुद्रे । मग्ना विधेहि नलसङ्घट्टनेन नामृणगस्ता कुषित्यर्थं । जशोद्धु, मग्ना-  
मिति भग्नत्वानुवादेन जशुद्धिविधोपपत्ते दारिद्र्याणामृणमुक्तिर्नास्तीति भावः ॥ ८६ ॥

अन्वयः—जीवदे त्वयि आत्मजीव दत्त्वा अपि शुष्यामि, जीवाधिकदे तु केन ( शुष्यामि ) ? तत् मा त्वदृणेषु जशोद्धुम् अमूद्रदारिद्र्यपतमुद्रमग्ना विधेहि ।

हिन्दी—जीवन दान के ठोरे शृण का शोध तो मैं अपना जीवन देकर भी कर लूँगी, परन्तु जीवन से भी अधिक ( नल ) के दान के शृण का क्या देकर शोध कर सकती हूँ ? सो तुम शृण-परिशोधन में असमर्थ रहने के कारण मर्यादाहीन ( अपरिमित ) दारिद्र्य के समुद्र में मुझे भग्न बना दो ।

टिप्पणी—भाव यह है कि नल का महत्त्व जीवन से भी अधिक है । जीवनदान का बदला तो जीवन देकर चुकाया जा सकता है, नल दान मिलने का शृण तो चुकाया ही नहीं जा सकता । सो इस ऐसा उपकार करे कि दमयंती उसकी सदा शृणी बनी रहे । विद्याधर ने इस श्लोक में विरोधाभास का निर्दोष किया है, चन्द्रकलाकार ने रूपक का ॥ ८६ ॥

क्रीणीष्व मज्जीवितमेव पप्यमन्य न चेदस्तु तदस्तु पुण्यम् ।

जीवेशदातयदि ते न दान् यशोऽपि तावत्प्रभवामि गातुम् ॥ ८७ ॥

जीवातु—क्रीणीष्वेति । ह जीवेशदात प्रापदवरद । मज्जीवितमेव पप्य क्रेय वस्तु क्रीणीष्व, जीवेशरूपनून्यदानेन स्वीकृष्वेत्यर्थं । अन्यदेत-  
न्मून्यानुरूप यन्वन्तर नास्ति चेत्तहि पुण्य मुकृतमस्तु, किञ्चिद्यदि हि तुन्य

दातु न प्रभवामि न श्वनोमि तावत्सहि यद्योऽपि कीर्ति गातु प्रभवामि,  
स्यातिसुकृतार्थमेवोपकुर्व्वेत्यर्थं ॥ ८७ ॥ -

अन्वय — पण्य मज्जीवितम् एव क्रीणीष्व, अन्यत, वस्तु न चेत् तत्पुण्यम्  
अस्तु जीवितसदाह यदि ते दातु न प्रभवामि, तावत् यद्य गातुम् अपि  
( प्रभवामि ) ।

हिन्दी—तुम विक्रयार्थं उपस्थित मेरे जीवन का ही क्रय करलो, और  
विक्रय वस्तु न हो तो पुण्य तो है ही, हे जीवन के स्वामी के अर्पण, मैं यदि  
तुम्हें देने में समर्थ नहीं हूँ तो यद्योगान में तो समर्थ हूँ ।

टिप्पणी—जाणय है कि हस यदि दमयन्ती को नल दान में ला देगा तो  
वह उसे प्राणो का अधिकारी मान लेगी, जब चाहे वह दमयन्ती के प्राण माग  
सकता है । इससे हस को पुण्य होगा और सदा ऋणमग्न रहती दमयन्ती उसका  
यद्योगान करती रहेगी । दमयन्ती नल का संयोजन करके हस को महान् यद्य  
प्राप्त होगा । साहित्यविद्याधरो के अनुसार अतिशयोक्ति जलकार ॥ ८७ ॥

वराटिकोपक्रिययाऽपि लभ्याधेभ्याः कृतज्ञानथवाद्विपन्ते ।

प्राणैः पणै स्व निपुण भणन्त क्रीणन्ति तानेव तु हन्त सन्तः ॥ ८८ ॥

जीवातु—अथवा साधुस्वभावेनापि परोपकार कुर्वित्याह—वराटिकेति ।  
वराटिकोपक्रियया कपदिकादानेनापि लभ्यान् कृतज्ञान् तावदेव बहुमन्यमानान्  
उपकारज्ञान् इम्या धनिका, 'इम्य आढपो धनी स्वामी' इत्यमर । नाद्विपन्ते  
घनलोमानोपकुर्वन्तीत्यर्थ । सन्तो विवेकिनस्तु स्वात्मान निपुण भणन्त, सन्त  
एते वय त्वदधीना इति साधु वदन्त इत्यथ तानेव कृतज्ञान् प्राणैरेव पणै  
क्रीणन्ति आत्मसात्कुर्वन्ति, विभुत जनैरित्यथ । अतस्त्वयाऽपि सता कृतज्ञाः  
हमुपकृतव्येति भाव । हन्त ह्ये ॥ ८८ ॥

अन्वय — वराटिकोपक्रियया अपि लभ्यान् कृतज्ञान् इम्या न आद्विपन्त,  
हन्त, सन्त तु स्व निपुण भणन्त तान् एव प्राणैः पणै क्रीणन्ति ।

हिन्दी—एक कोड़ी बराबर उपकार करने से भी प्राप्य कृतज्ञ जनो का  
आदर धन के लोभी आदर नहीं करत, किन्तु आश्चर्य है कि सज्जन अपने  
का उनके अधीन रहत, उन ( कृतज्ञो ) को ही प्राणो के मूल्य से ही परो-  
स्ते है ।

टिप्पणी—तत्पर्य यह है कि धन के लोभी अमीर दृढज्ञान का मूल्य नहीं समझ पाते, उनके लिए तो जादर का कारण धन ही होता है। इसके विपरीत सज्जन दृढज्ञान के अत्यन्त आदर करते हैं और यह समझते हैं कि इनका मूल्य तो प्राणाधिक है, थोड़ा सा उपहार करके उनका क्रय बड़ा सस्ता है। इससे दमयन्ती अपने को दृढज्ञान बनाती हुई स्वोन्मत्त के लिए हृत् से आग्रह करती है। विद्याधर के अनुसार यहाँ अपना प्रसन्न-रूपक अलंकार ॥ ८८ ॥

स भूमृदष्टावपि लोकपालास्त्वेतन्मै तदेकाग्रधिय प्रसेदे ।

न ह्यनगम्मादृष्टते यदेत्य न्वय तदातिप्रतिभूतमानू ॥ ९ ॥

जीवात्—स इति । किञ्च स भूमूल अष्टावपि लोकपाला, तदात्मक इत्यर्थ । 'अष्टानिलोकपालानां मानानिनिमित्तो नृप' इति स्मरणात् । अत एव तदेकाग्रधियो नलं वनानुबुद्धे मे मन तल्लोकपाले प्रसेदे प्रसन्न भावे लिट् । देवता ध्यायत प्रसीदन्तीति भावः । कुत ? इतरस्मात् प्रसादादन्यथेत्यर्थः । स्वयं स्वयमेवागत्य नम तदातिप्रतिभू नन्वातिमानकोऽभ्युदिति यत्, तन्न घटते हि । तत्प्रसादानावे कुतो मनेद ध्येय ? इत्यर्थः ॥ ८९ ॥

जन्वय—सः भूमृत् अपि अष्टो अपि लोकपाला, तदेकाग्रधिय ये तं प्रसेदे, हि यत् स्वयम् एव मन तदातिप्रतिभू अनु (तत्) इतरस्मात् न घटते ।

हिन्दी—वह धरणीधर ( राजा नल ) की इन्द्रादि अष्ट लोकपाल रूप है, उस ( नल ) में ही एकत्रान बुद्धिवाली ( एकाग्रतया अनुरक्ता ) मेरे प्रति वे ( अष्ट लोकपाल ) प्रसन्न हो गये हैं, कारण कि जो तुम अपने आप आकर उस ( नल ) की प्राप्ति में सफल हो गये, वह और ( लोकपालातिरिक्त ) किसी प्रकार से नहीं पड़ता ।

टिप्पणी—दमयन्ती को जो नल से सञ्योगना का साधक हृत् स्वयं मिल गया, वह सामान्य बात नहीं है। यह दमयन्ती के नल के प्रति एकाग्र अनुराग का प्रमाण है। राजा अष्ट लोकपालों की मात्राओं से निर्मित होता है, सो नल के माध्यम से अष्ट लोकपाल ही दमयन्ती पर इरातु हो गये हैं। इसी से यह सब घटित हो रहा है। विद्याधर ने यहाँ रूपक और अनुमान का निर्देश किया है ॥ ८९ ॥

अकाण्डमेवात्ममुवाञ्जितस्य भूत्वाऽपि मूल मयि वीरणस्य ।

भवान्न मे किं नलदत्वमेत्य कर्ता हृदश्चन्दनलेपकृत्यम् ॥ ९० ॥

जीवानु-अकाण्डेति । हे हृत् । वि पक्षी 'विविप्त्रिरपतत्रिण' इत्यमर । 'रोरी'ति रेफलोपे 'दूलोपे शूचस्ये'ति दीर्घे । भवान् अकाण्डमनवस्तर एव 'अत्यन्तसयोये द्वितीया' आत्मभुवा कामेन मयि विषये अञ्जितस्य कृतस्य रणस्य गाढप्रहारलक्षणस्य मूल ह्मानामुद्दीपकत्वेन निदान नूरवाऽपि अन्यत्र वाण्डो दण्ड तद्वञ्जितमकाण्ड यथा तथा आत्मभुवा ब्रह्मणा अञ्जितस्य सृष्टस्य वीरणस्य वृणविशेषस्य मूल मूलावयवो भूत्वा अत एव नलदत्व नैपघदातृत्वम् । अन्यत्र उशीरत्व चेत्यर्थः । हृद चन्दनलेपकृत्य सैत्योत्पादन न कर्ता करिष्यत्येव परोपकारशीलत्वादिति भावः । 'काण्डोऽस्त्री दण्डवाणार्धवर्गवित्तरवारिपु ।' 'स्या-  
द्वीरण वीरतरमूलस्योशीरमस्त्रियाम् ।' 'अभय नलद सेव्यमि'ति चामर वीरणस्येति दण्डश्लेषः । अन्यत्राथश्लेषः । तथा च नलदत्वमेत्य चेति प्रकृता-  
प्रकृतयोर्भेदाध्यवसायेन हृत्ते आरोप्यमाणस्योशीरस्य प्रकृत्या तादात्म्येन चन्दन-  
कृत्यलक्षणप्रकृतकार्म्योपयोगात् परिणामालङ्कारः । 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोप-  
योनित्वे परिणाम' इति लक्षणात्, स चोक्तश्लेषप्रतिबिम्बोत्थापित इति सङ्करः ॥ ९० ॥

अन्वयः—अकाण्डम् एवमपि आत्मभुवा अञ्जितस्य रणस्य मूल भूत्वा अपि वि भवान् नलदत्वम् एत्य हृद चन्दनलेपकृत्य न कर्ता ? अथ च—'अकाण्ड-  
मेव अञ्जितस्य वीरणस्य मूल भूत्वा अपि भवान् न कर्ता ?'

हिन्दी—अनवस्तर ( कौमार्यवस्था में ) ही मेरे प्रति 'आत्मभू' ( काम ) द्वारा आरोपित मुख के मूलकारण होकर भी हृषविह्वल आप नल बो देने वाले हाकर मेरे हृदय पर क्या चन्दनलेप का काय नहीं करेंगे ? अथवा—  
विधाता द्वारा मेरे निमित्त सृष्ट पवरहित वीरणघास ( खस खस ) के मूल ( जड़ ) आप नलदत्व ( उशीरता — खस-खस होना ) का प्राप्त होकर मेरे ( सतप्त ) हृदय पर चन्दन का ( ठंडा ) लेप न करेंगे ? करना ही उचित है ।

टिप्पणी—वसन्ती पर अनवस्तर ही कौमार्यस्था में ही काम ने मुख आरोपित कर दिया है, जिसका कारण है नल का सवाद देने वाला हृत् ।

तो उचित यही है कि वह हृत्त ब्रह्मा द्वारा दमयन्ती के निमित्त ही विशेषतः उत्साहित पर्वरहित खस-खस घास के नाव को प्राप्त कर—घोतलता-शायक खस-खस ( उगीर ) बनकर, विरहसतत दमयन्ती के हृदय पर चन्दन-रूप के समान राजा नल की उपलब्धि कराये । जिसने पीढ़ दो, वही उपचार करे । यही उचित है । हृत्त ही इस कार्य को सम्पन्न कर सकता है, अन्य कोई नहीं । यहाँ 'बोरण' में शब्द-श्लेष है, अन्यत्र अर्थ-रूप । परिणाम अलङ्कार भी है, क्योंकि 'नन्दत्वम् एत्य'—इसमें प्रकृत और अप्रकृत के जनेनाध्यवसाय द्वारा हृत्त में आरोप्यनाम उगीर का प्रकृति के साथ सादृश्य से 'चन्दनकृत्य-रूप प्रकृत कार्य' में उपयो है और परिणाम होता ही है आरोप्यनाम की प्रकृतोन्मोक्तिता में । इस प्रकार यहाँ श्लेषोत्पादित-परिणाम होने से सकर है ॥ ९० ॥

अत विलम्ब्य त्वरितुं हि वेला कार्ये किञ्चिदयं न हं विचारः ।

गुरुपदेश प्रतिनिव नीक्ष्या प्रतीज्जं जानु न कालमाप्तिः ॥ ९१ ॥

जोवानु—अलमिति । हे हृत्त ! विलम्ब्यात् न विलम्बितव्यमित्यर्थः ।

'अलङ्कार-बोरि'त्यादिना क्वाप्रत्यये न्यबादेशः । त्वरितुं वेला हि त्वराकाल सम्भवमित्यर्थः । 'काष्ठनयवेलासु गुणु' कुत ? स्थगनहे विलम्बनहे कार्ये विचारो विमर्शः किञ्चेति प्रसिद्धौ, अन्यथा विरत्त्यत इति नाव, तथाहि लोकांशीप्रवाहिणी प्रतिना प्रज्ञा गुरुपदेशनिव जातिराधिशानु कदापि काल न प्रतीक्षते, कान्क्षेन न सह्य इत्यर्थः । उपनार्थान्तरन्यासयोः समृष्टिः ॥ ९१ ॥

अन्वयः—विलम्ब्य अलम्, हि त्वरितुं वेला, किञ्चिदयं न हं विचारः, लोकांशीप्रतिना गुरुपदेशं न क्व जाति जानु काल न प्रतीक्षते ।

हिन्दी—विलम्ब मत करो, शीघ्रता करने का समय है, जिसमें विलम्ब सह लिया जाय, उस कार्य में सोच विचार किया जाता है । दिव्य की कुलाय तुल्य जोर नवनवोन्मेषशक्तिनी प्रज्ञा जैसे गुरु के उपदेश की प्रतीक्षा नहीं करती, बड़े ही पीडा विलम्ब ( समय ) की प्रतीक्षा नहीं करती ।

टिप्पणी—नाव यह है कि दमयन्ती अब विरह पीडा सहने में अशक्त है, अब हृत्त को अब जवित सोच-विचार में ऊहापोह में समय बिताया ठीक नहीं । लोकांशीप्रवाहि कार्य करने में यह प्रतीक्षा नहीं करता कि जब कुछ भी

कार्य निर्देश करें, तब वह कुछ करे, वह तो अविलंब कार्य में लग जाता है, विलंब उसे सह्य नहीं, ऐसे ही विरह-पीड़ा भी समय की प्रतीक्षा नहीं करती। मल्लिनाथ यही उपमा-अर्थात्तरन्यास की सृष्टि मानते हैं, विद्याधर काव्य-त्रिग उपमा ॥ ९१ ॥

अभ्यर्थनीयस्स गतेन राजा त्वया न शुद्धान्तगतो मदर्थम् ।

प्रियास्यदाक्षिण्यबलात्कृतो हि तदोदयेदन्यवधूनिषेध ॥ ९२ ॥

जीवातु—अथानन्तरकृत्य सविशेषमुपदिशति—अभ्यर्थनीय इत्यादिश्लोक पञ्चकेन । गतेन इतो यातेन त्वया स राजा नलः शुद्धान्तगतः अन्तपुरस्थो मदर्थं मत्प्रयोजनं नाभ्यर्थनीयो न वाच्यः, दुहादित्वाद् द्विकमत्वम् 'अप्रधाने दुहादीनामि'ति राज्ञोऽभिहितकर्मत्वम् कुत ? हि यस्मात्तदा तस्मिन् काले प्रियाणां मास्यदाक्षिण्यं मुखावलोकनोत्थापितञ्जन्दानुवृत्तिबुद्धिरित्यर्थः । तेन बलात् कृतो बलात्प्रतिवर्तितो अन्यवधूनिषेध उच्येत् उत्पद्यते ॥ ९२ ॥

अन्वय — यातेन त्वया शुद्धान्तगतः सा राजा मदर्थम् न अभ्यर्थनीयः, हि तदा प्रियास्यदाक्षिण्यबलात्कृतः अन्यवधूनिषेध उच्येत् ।

हिन्दी—यहाँ से जाकर तुम शुद्धरनिवास में स्थित उस राजा से भेदे निमित्त प्रार्थना न करना क्योंकि उस समय प्रिय रानियों के मुख समुल होने से उत्पन्न दक्षिणभाव के अनुरोध से और एक पत्नी के विषय में नकारात्मकता उठ सकती है ।

टिप्पणी—दमयन्ती ने इस को सलाह दी कि जब राजा नल अन्तपुर में अभ्य रानियों के साथ बैठे हों तो वहाँ वह दमयन्ती-विषयक प्रस्ताव उपस्थित न करे, क्योंकि यह उचित न होगा । कारण कि नल हैं दक्षिण नायक—सब क्रियाओं में एक-सा अनुराग रखनेवाले, उनको अपनी प्रियाओं का मुख देखते अपने दक्षिणभाव के कारण एक और पत्नी लाने का प्रस्ताव अनुकूल न लयेगा । राजा के मन में दो भाव उत्पन्न होंगे—एक तो और एक पत्नी लाने के संबन्ध में लज्जा, दो—समक्ष उपस्थित प्रियाओं में अधिक सुन्दरी की कल्पना के कारण उनकी अवज्ञा समझी जाने से उनके प्रति प्रीति का अभाव प्रकट होता । उस स्थिति में इस का दमयन्ती विषयक प्रस्ताव उचित न होगा । काव्यलिंग अलंकार ॥ ९२ ॥



शुद्धगन्धमभोगनितान्ततृप्ते न नैषधे कार्यमिदं निगाद्यम् ।

अथा हि तृप्तये न वारिधारा स्वादुन्सुगन्धिः स्वदत्ते तुपारा ॥९३॥

जीवातु—शुद्धान्तेति । किञ्च शुद्धान्तसम्भोगेन बन्तपुरस्त्रीसम्भोगेन नितान्ततृप्ते अत्यन्तमन्तुष्टे नैषधे नन्विषये इदं कार्यं न निगाद्य न निगदित-  
व्यम्, 'ऋहलोप्यन्तु' 'गमदे'त्यादिना सोपसार्गाद्यतो निषेधात् । यथाहि अथा  
नृप्याय अद्भिस्तृप्यायत्यर्थः । 'पूरुषगुणे'त्यादिना पृथ्वीसमासप्रतिषेधादेव ज्ञापकात्  
पृथी 'रघ्ययाना प्रीयमाण' इति सम्प्रदानस्वाच्चतुर्यो । स्वादुर्मधुरा सुगन्धि-  
कपूर्वादिवाचना घोषनगन्धा । अत्र स्त्रीना निरङ्कुलत्वाद्गन्धस्त्येत्वे तदेकान्तत्व-  
नियमानादयः । तुपारा शीतलवारिधारा न स्वदत्ते न रोचते हि । इष्टान्ता-  
लकार ॥ ९३ ॥

अन्वयः—शुद्धान्तसम्भोगनितान्ततृप्ते नैषधे इदं कार्यं न निगाद्यम्, हि  
अथा तृप्तये स्वादु सुगन्धि तुपारा वारिधारा न स्वदत्ते ।

हिन्दी—जब निषयरात्र शुद्धान्त-पुर मे सभोग करके परितुष्ट हो, तब  
भी यह कार्य ( विवाह-प्रस्ताव ) न करना, क्योंकि जो जन जल पीकर पूर्णत  
तृप्त हो चुका है, उसे स्वादिष्ट, सुगन्धि और बति शीतल जल की धारा में भी  
स्वाद नहीं आता ।

टिप्पणी—एक दूसरे अनवरत की ओर सकेत । जो नारी भोग से तृप्त हो,  
उसे स्त्री-वर्चा वैसे ही अर्चकर लगती है, जैसे जिसकी व्यास बुझ गयी है,  
उसे स्वादिष्ट, कपूर-केवडा आदि की सुगन्ध से मुक्त अति शीतल जल भी  
नहीं रुचता । मल्लिनाथ के अनुसार इष्टात, विद्याधर ने अर्थान्तरन्यास-माना है ॥

विज्ञापनीया न गिरो मदर्याः क्रुधा कटुष्णे हृदि नैषधस्य ।

पित्तं दूने रसने नितोऽपि तिक्तायते हसकुलावतसः । ॥ ९४ ॥

जीवानु—विज्ञापनीया इति । हे हसकुलावतस ! नैषधस्य हृदि हृदये  
क्रुधा श्रोघेन कटुष्णे ईषदुष्णे चकारात्को कदादेशः । मल्लमिमा मदर्या अपेन  
सह नित्यसमास सर्वलिङ्गता च वक्तव्या, गिरो वाचो न विज्ञापनीया न  
विद्येयाः न विज्ञाप्या इत्यर्थः । यथाहि पित्तं पित्तदोषेण दूने दूषिते रसने रस-  
नेन्द्रिये तिक्ता चकारापि तिक्तायते तिक्तोन्वति लोहितादित्वात् क्यप्, 'वा क्यप्'  
इति वामनेपदम् । अथापि इष्टान्तालङ्कारः ॥ ९४ ॥

अन्वय — हसकुलवितस, नैपथस्य हृदि क्रुधा कदुष्णे त्वया मदर्या गिर-  
न विज्ञापनीया रसने पित्तेन दूने सिता अपि तिष्ठायते ।

हिन्दी—हे हसवशप्रसूत, निपथराज का हृदय क्रोध से कुछ तप्त होने पर  
तुम मेरे निमित्त वचन न कहना, जीम के पित्त विगड़ने से दूषित होने पर  
मिसरी भी तीवी लगती है ।

टिप्पणी—तीसरे अनवसर की चर्चा । क्रोध में व्यक्ति को उचितानुचित  
का भान नहीं रहता, सो जब निपथराज कुछ क्रुद्ध हा, तब भी दमयन्ती-  
विषयक चर्चा का कुफल हो सकता है । यद्यपि दमयन्ती क्षणभंगुरसपत्नी अनुपम  
रमणीयतन है, फिर भी उचित अवसर का अभाव उसे अवमानना योग्य बना  
सकता है । मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टांत अलंकार, विद्याधर ने अर्थान्तरण्यास  
माना है और 'तिष्ठायते' को उपमा कहा है ॥ ९४ ॥

धरातुरासाहि मदर्ययाच्चा कार्या न कार्यान्तरबुम्बचिते ।

तदाऽर्थितस्यानवबोधनिद्रा- विभर्त्यवज्ञाचरणस्य मुद्राम् ॥ ९५ ॥

जीवानु—धरेति । तुर त्वरित सह्यस्यभिमवत्यरीति तुरापाङ्गि-  
सहतेचोराधिकत्वात् क्विप्, 'नहिक्ती'त्यादिना पूर्वपदस्य दीर्घं, प्रकृतिग्रहणे  
प्य-तस्यापि ग्रहणात्, मुग्धभोजस्तु तुरासब्द टाबन्तमाह । तस्मिन् धरा-  
तुरासाहि भूदेवेन्द्रे नले अजादिषु असाङ्ग पत्वात् 'सहे साङ्ग स' इति पत्व  
नास्ति । कार्यान्तरबुम्बचिते व्यासक्तचित्ते मदर्ययाच्चा मत्प्रयोजनप्रार्थना  
न कार्या । तयाहि—तदा व्यासङ्गबाले अर्थितस्य अनवबोध अवोध स एव  
निद्रा सा अवज्ञाऽऽचरणस्य अनादरकणस्य मुद्रामभिज्ञान विभर्ति, अनादर-  
प्रतीतिं करोतीत्यर्थः । तच्चातिकृष्टमिति भावः ॥ ९५ ॥

अन्वय,—धरातुरासाहि कार्यान्तरबुम्बचिते मदर्ययाच्चा न कार्या, तदा  
अर्थितस्य अनवबोधनिद्रा अवज्ञाचरणस्य मुद्रा विभर्ति ।

हिन्दी—धरती के इन्द्र ( नल ) का चित्त जब अन्य कार्य में तल्लीन हो,  
तब भी मेरे निमित्त याचना न करना, उस समय याचित ( नल ) की प्रबोध  
रूप—अप्रवणरूप निद्रा अवहेलना का रूप धारण कर सकता है ।

टिप्पणी—एक चौथा अनवसर । अन्य कार्यावधत्त नल भी दमयन्ती-

विषयक प्रार्थना के लिए उपयुक्त न होगा। दूसरे काम में चित्त के आसक्त होने पर वह इस प्रार्थना पर ध्यान न दे सक्ता है और प्रस्ताव को अवज्ञा हो लम्बी है। विद्याधर के अनुसार उत्प्लेह्य अलंकार काव्यलिङ्ग। इस प्रकार चार श्लोको में दमयन्ती ने प्रस्ताव के निमित्त चार अनुपयुक्त अवसरों का निर्देश किया है ॥ ९५ ॥

निर्जितं विज्ञाप्यनिदं नरेन्द्रे तस्मात्त्वयार्जस्मिन् समय समीक्ष्य ।  
आत्यन्तिकासिद्धिविलम्बसिद्धयोः कार्यस्य काऽर्थस्य शुभा विभाति ॥९६॥  
जीवात्—विज्ञेनेति । तस्मात् करणाद् विज्ञेन विवेकिना त्वया समय समीक्ष्य इदं कार्यमस्मिन् नले विषये विज्ञाप्यम् । विलम्बः स्यादित्याद्यङ्क्याह—  
आत्यन्तिकेति । हे हम् ! कार्यस्य आत्यन्तिकासिद्धिविलम्बसिद्धयोरुभयोरप्येव कार्यस्य विदुषस्तं वा कतरा शुभा समीचीना विभाति ? जनवसरविज्ञापने काय-  
विधाताद्वर विलम्बनेनापि कायसाधनमिति भावः ॥ ९६ ॥

अन्वय—तस्मात् विज्ञेन त्वया समय समीक्ष्य इदम् अस्मिन् नरम्  
विज्ञाप्यम् । कार्यस्य आत्यन्तिकासिद्धिविलम्बसिद्धयोः कार्यस्य का शुभा  
विभाति ?

हिन्दो—अतएव विशेषज्ञ आप उचित समय की समीक्षा कर यह  
( प्रस्ताव ) इस नरराज ( नल ) के समुच्च उपस्थित करें । कार्य पूरातया  
सिद्ध ही न हो अथवा विलम्ब से सिद्ध हो—इन दोनों स्थितियों के मध्य कौन सी  
स्थिति आपको धुन ( नली ) प्रतीत होती है ?

टिप्पणी—नार्य की दो स्थितियाँ सम्भव हैं—( १ ) वह सफल न हो,  
( २ ) वह विलम्ब से सफल हो । कोई समझदार मानेगा कि पहिली का  
अपेक्षा दूसरी ही स्थिति मलाई है । जो इस की रूपना प्रस्ताव उचित अवसर पर  
ही रखना चाहिए, नले ही कुछ विलम्ब हो जाये । विद्याधर के अनुसार  
उत्प्लेह्य अलंकार छेकामुद्रास ॥ ९६ ॥

इत्युक्तवत्या यदश्रोपि लज्जा साज्जोचिती चेतसि नरचक्रास्तु ।  
स्मरस्तु साक्षी तददोषतायामुन्माद्य यस्तत्तदबोधदत्ताम् ॥ ९७ ॥

जीवातु—इतीति । इत्थमुक्तवत्या तथा लज्जा अलोपित्यक्तेति यत् । सा, विधेयप्राधान्यात् खीलज्जता, अनौचित्ये अनौचित्यज्जतमेतद् नोऽस्माकं शृङ्खला चेतसि चकास्तु । किन्तु लज्जात्यागस्य अदोपतार्या स्मर साक्षी प्रमाण, य स्मर ता भैमीमुन्माद्य उन्मादावस्था प्राप्यतत्तदनुचित वचनमवी-  
च्यत् वादयतिस्म । वदतेणी चडि 'गतिबुद्धी' त्यादिना वदेरणि कर्तुं कर्म-  
त्वम् । प्रकृतिस्थस्याय दोषो न कामोपहतचेतसि इति भाव ॥९७॥

अन्वय — इति उक्तवत्या यत् लज्जा अलोपि सा न चेतसि अनौचित्ये चकास्तु, ॥ वददोपताया स्मर साक्षी, य ताम् उन्माद्य तत् अविवदत् ।

हिन्दी—यह सब ( उपयुक्त ) कहती दमयती ने जो लज्जा का लोप कर दिया, वह भले ही हम लोगो के चित्त में अनुचित प्रतिभासित हो, किन्तु उस ( दमयती ) को निर्दोषता में काम ही प्रमाण है, जिसने उसे उन्माद से भरकर यह कहलाया ।

टिप्पणी—लज्जा त्याग कर वाला दमयन्ती जो यह सब बोल गयी, वह श्रोता, पाठक अथवा कवि को अनुचित लग सकता है, पर योप उसका नहीं उस काम का है जिसके कारण उन्माद ने उससे यह कहला डाला । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥९७॥

उन्मत्तमासाद्य हरः स्मरश्च द्वावप्यसौमा मृदमुद्वहेते ।

पूर्वस्मरस्पर्धितया प्रमून नून द्वितीयो विरहाधिदूनम् ॥ ९८ ॥

जीवातु—कामो वा किमथमेव कारयतीत्याशङ्क्य तस्याय निसर्गो यदु-  
न्मत्तेन क्रीडतीति सट्टान्तमाह—उन्मत्तमिति । हर स्मरश्च द्वावपि उन्मत्त-  
मासाद्य अभीमा दुरता मृदमुद्वहेत दधतु । वहे स्वरितेत्वादात्मनेपदम् किन्तु  
तत्र निर्देशकमात् पूर्वो हर स्मरस्पर्धितया स्मरद्वेषितया प्रमून धुत्तुरकुमुभ  
तस्यायुषतमेति भाव । अयस्तु द्वितीय स्मरस्तु विरहाधिदून विरहव्यथा-  
दु स्यमुमादावस्थापन्नमित्यर्थ । अन्यत्र विनोदलाभादित्यर्थ । 'उन्मत्त  
उन्मादवति धुत्तुरमुचुकुन्दयोरिति विश्व । उन्मयोरभेदाध्यवसाय समान-  
घर्मन्त्वविदीपणमप्रादलेपात्प्रवृत्ताप्रवृत्तगोचरत्वाच्च उभयदलेय तेन हरवत्  
स्मरोऽप्युन्मत्तप्रिय इति उपमा गम्यते ॥ ९८ ॥

अन्वय — परस्परस्पर्द्धितया नून हर स्मर च द्वौ अत्रि उन्मत्तम् जाताद्य  
बसीमा मुदम् उद्बहेते, पूर्वं प्रसूत द्वितीय विच्छाद्यिदुनम् ।

हिन्दो—जन्मोन्म के प्रतिस्पर्धी होने के कारण महादेव शिव और काम ये दोनों ही ऐसा लगता है कि उन्मादी को प्राप्त कर बसीम प्रसन्नता-धारण करते हैं । इनमें पहिले शिव उन्मत्त अर्थात् घतूर के फूल को, और दूसरा काम उन्मत्त अर्थात् बिरहोन्मादी जन को अथवा शिव के गण पिशाच को ( प्राप्त कर ) ।

टिप्पणी—पूर्व लोक में दमयन्ती के उन्मादजनित निर्लज्ज व्यवहार का कारण स्मर बताया गया था । यहाँ कवि और-एक उन्मादना करता है । उन्मत्त का अर्थ उन्मादग्रस्त तो है ही, घतूर और पिशाच भी है । इस आधार पर कवि सूचित करता है कि शिव और काम दोनों 'उन्मत्त' को प्राप्त कर प्रसन्न होते हैं । उन्मत्त-घतूरा शिव को प्रिय है और उन्मत्त पिशाच तो उसका गण ही ठहरे । सो दोनों की प्राप्ति पर उन्हें विशेष प्रसन्नता होती है । प्रतिस्पर्द्धा की बात यहाँ यह है कि शिव-काम में घतूरा है, सो उन्मत्त को प्राप्त कर दोनों में प्रसन्न होने की भी प्रतिस्पर्द्धा हो जाती है कि कौन अधिक प्रसन्न हो ? उन्मत्त 'घतूर' काम का एक वाण ही है, सो उसकी प्राप्ति उसकी प्रसन्नता का कारण होगी ही, 'उन्मत्त' व्यक्ति इसलिए उसकी प्रसन्नता का कारण बनता है कि वह अपने प्रभाव की विधि देखता है ।

अथवा शिव काम के आमुष-प्रतिस्पर्द्धा के अस्व 'घतूर' को पाकर प्रसन्न होते हैं कि बलो, शत्रु की वस्तु पर अधिकार हुआ । ऐसे ही काम भी 'उन्मत्त' अर्थात् पिशाच को पाकर प्रसन्नता से भर जाता है कि बलो, शत्रु का एक सेवक पकड़ में आया ।

अथवा दोनों ही परस्पर स्पर्द्धा में उन्मत्त को पा एक-दूसरे से अधिक प्रसन्नता व्यक्त करते हैं ।

'विरव' कोष के अनुसार 'उन्मत्त' के अर्थ हैं उन्मादी और घतूर और मुचुकुद । इस प्रकार दोनों में अनेक होने से समानधर्मत्व विशेषप्रभाव है, इस प्रकार प्रकृताप्रकृत भोचर होने से यहाँ शब्द और अर्थ श्लेष हुआ, जिससे

हर के तुल्य स्मर भी उन्मत्तप्रिय है, यह उपमा व्यंग्य होती है। यह जीवातु-  
कार मल्लिनाथ का कथन है। विद्याधर के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा व्यतिरेक  
अलंकार है ॥९८॥

तथाऽभिधात्रीमथ राजपुत्री निणाय ता नैपधवद्वरागाम् ।

अमोचि चञ्चुपुटमोनमुद्रा विहायसा तेन विहस्य भूय ॥ ९९ ॥

जीवातु—तथेति । तथाऽभिधानी ता राजपुत्री भैमी नैपधे नले वद्वरागा  
निर्णाय तेन विहायसा विहगेन विहस्य भूय चञ्चुपुटस्य मीनमुद्रा निर्वचनत्व-  
ममोचि आवादीदित्यर्थं ॥ ९९ ॥

अन्वय—अथ तथा अभिधात्री ता राजपुत्री नैपधवद्वरागा निर्णाय तेन  
'विहायसा विहस्य भूय चञ्चुपुटमोनमुद्रा अमोचि ।

हिन्दी—इसके अनंतर उस प्रकार कहनेवाली उस राजकुमारी को नैपध-  
राज के अनुराग में आवद्ध मानकर उस पक्षी ने हँसकर पुन अपनी खोच की  
मीनस्थिति का परिणाम किया, धपात् कहने के लिए खोच खोली ।

टिप्पणी—हस को दमयन्ती के नल पर अनुरक्त होने का विश्वास हो  
गया और वह कहने लगा । विद्याधर के अनुसार यहाँ ओज गुण है और  
छेकानुपास अलंकार ॥९९॥

इद यदि क्षमापतिपुत्रि । तत्त्व पश्यामि तन्न स्वविधेयमस्मिन् ।  
त्वामुच्चकैस्नापयता नलं च पञ्चेपुणैवाजनि योजनेयम् ॥ १०० ॥

जीवातु—इदमिति । हे क्षमापतिपुत्रि । इदं त्वदुक्तं तत्त्व यदि सत्यं यदि  
तत्तर्हि अस्मिन् विषये स्वविधेयं मत्कृत्य न पश्यामि, नित्तु त्वा नृप च उच्च-  
कैरत्यन्तं तापयता पञ्चेपुणैव इय योजना युवयोः सङ्घटनं अजनि जाता ।  
जने क्वचि 'क्षिणो लुक्' ॥ १०० ॥

अन्वय —क्षमापतिपुत्रि, यदि इदं तत्त्व तत् अस्मिन् स्वविधेयं न पश्यामि,  
स्व नृप च उच्चकैः तापयता पञ्चेपुणा एव इय योजना अजनि ।

हिन्दी—हे धरणी के स्वामी की बेटी, यदि यह ( तथोक्त ) सत्य है,  
तो इस सबध में मुझे कुछ करणीय नहीं दीखता, तुम्हें और राजा नल को  
अत्यधिक विरह सतप्त करते पञ्चबाण ( काम ) ने ही इस योजना की  
मृष्टि की है ।

टिप्पणी—दमयन्ती और नल के मन में एक-दूसरे को पाने की दम्य कामना है, अतः इस का कार्य अब कुछ रह ही नहीं जाता। योजना तो बनी-बनायी है। विद्याधर के अनुसार यहाँ कार्यकारण पौवपिर्वह्ना अति-उपयोक्ति है ॥ १०० ॥

त्वद्बद्धबुद्धेर्वाहिरिन्द्रियाणा तस्योपवासव्रतिना तपोनि ।

त्वामद्य लब्ध्वाऽमृततृप्तिभाजा स्व देवभूय चरितार्थमस्तु ॥ १०१ ॥

जीवानु—स्वदिति । किन्तु त्वद्बद्धबुद्धे त्वदायत्तचित्तस्य त्वामेव धामत इत्यर्थः । अत एव तस्योपवासव्रतिना त्वदात्तज्ञाद्विषयान्तरध्यावृत्ताना तपोनिस्तोपवासव्रतरूपेण त्वा लब्ध्वा मनुष्येन लब्धप्राया निश्चित्य साक्षात्कृत्येति च गम्यते, अत एव अमृतेन वा तृप्तिस्तद्भाजा बहिरिन्द्रियाणा स्व स्वकीय देवभूय देवत्वमिन्द्रियत्व सुरत्वञ्च, 'देव सुरे पति देवमाख्यात-मिन्द्रियमि'ति विश्वः । चरितार्थं सफलमस्तु । अमृतपानैकफलत्वाद्देवत्व स्यादिति नाबः । अयान्तरप्रतीतेर्ध्वनिरेवेत्यनुसन्धेयम् ॥ १०१ ॥

अन्वयः—त्वद्बद्धबुद्धे तस्य उपवासव्रतिना तपोनि अद्य त्वा लब्ध्वा अमृततृप्तिभाजा बहिरिन्द्रियाणा स्व देवभूय चरितार्थम् अस्तु ।

हिन्दी—तुम्हारे प्रति अपनी बुद्धि को प्रतिबद्ध किये उस ( नल ) को उपवास-व्रत में लगी, तपस्वरण द्वारा आज तुमको प्राप्त कर अमृतपान की परितृप्ति की नाजन बाह्य इन्द्रियों का अपना 'देवत्व' ( इन्द्रियत्व और देवता होना ) सफल हो ।

टिप्पणी—दमयन्ती के अनुराग के विषय में जानकर नल चरितार्थ हो जायेगा, उनकी नेत्रादि बाह्येन्द्रियां तृप्त हो जायेंगी, जैसे दमयन्ती के रूप में उन्हें अमृत की मन्दाकिनी मिल गयी हो । इस प्रकार उनका देवत्व अर्थात् इन्द्रिय-होना ही चरितार्थ न होगा, प्रत्युत देवत्व अर्थात् देव होना भी सफल हो जायेगा, क्योंकि यह माना जाता है कि इन्द्रियों में देवता का वास होने से वे 'देव' बनी जाती हैं । उदाहरणार्थ—मूर्ख 'बधु' होकर बालों में प्रविष्ट है—'आदित्यश्चञ्चलः स्वाश्विनी प्राविशत्' ( ऐतरेय० २।४ ) । दमयन्ती के अनुराग में नल की इन्द्रियां न तो कृतकाम हो थी और न उक्त 'देव' नाम हो

सार्यंक था, अब वे कृतकाम होगी । 'विश्व' कोप के अनुसार 'देव' शब्द सुर, राजा और इन्द्रिय अर्थों का वाचक है । व्यक्ति' उपवासादि व्रत-परिचालन म लगकर तपस्यारत हो और तल्लीन भाव से ब्रह्म में बुद्धि लगाकर ही पुण्य भाजन हो ब्रह्म को प्राप्त करता है और मोक्षानन्द रूप देवत्व प्राप्त करता है, ऐसी ही नल की बाह्येन्द्रियो की स्थिति है । मस्तिनाथ ने यहाँ अर्थात्तर प्रतीति से ध्वनि का संकेत किया है, विद्याधर समासोक्ति मानते हैं ॥ १०१ ॥

तुल्यावयोभूतिरभूमदीया दग्धा पर साऽप्य न ताप्यतेऽपि ।

इत्यभ्यसूयन्निव देहताप तस्याऽतनुस्त्वद्विरहाद्विधत्ते ॥ १०२ ॥

जीवातु—यदुक्त नृप पञ्चेपुस्तापयतीति तदाह—तुल्येति । आवयो नलस्य मम चेत्यर्थ । 'त्यदादीनि सर्वे नित्यमि'ति सबग्रहणादत्यदादिना नलेन सह त्यदाद्येक्येय । भूतिस्तनुस्तुल्या तुल्यरूपाऽभूत् । तत्र मदीया सा भूति पर नि शेष दग्धा भस्मीकृता, अस्य भूतिस्तनुर्न ताप्यते तापमपि न प्राप्यते इति हेतोरभ्यसूयन्-ईष्यन्निवेद्युत्प्रेक्षा । अतनुरनङ्गस्त्वद्विरहात्त्वद्विरहमेव रन्ध्रमन्विष्येत्यर्थ । तस्य नलस्य देहताप विधत्ते । तस्मारितद्विपदमुपतिष्ठते ते मनोरथ इति भाव ॥ १०२ ॥

अन्वय—आवयो भूतिः तुल्या अभूत्, मदीया दग्धा परम् अस्य ता ताप्यते अपि न—इति अभ्यसूयन् इव अतनु स्त्वद्विरहात् तस्य देहताप विधत्ते ।

हिन्दी—हम दोनों ( काम-नल ) का रूप समान था, मेरा ( काम का ) देह तो जल गया, किन्तु इस ( नल ) का देह तपाया भी नहीं जाता—इस प्रकार मानो ईर्ष्या करता अदेह कामदेव तेरे वियोग से उसके देह को तप्य कर रहा है ।

टिप्पणी—विरही नल की स्मरजन्य ताप दग्धा का ध्याज से वणन । विद्याधर ने यहाँ चिंता नामक स्मर दग्धा और उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है, प्रकाशकार यहाँ कामजनित विरहज्वर मानते हैं ॥ १०२ ॥

लिपि दृष्टा भित्तिविभूषण त्वा नृप पिबन्नादरनिर्निमेषम् ।

चक्षुर्नरेरपितमात्मचक्षुराग स धत्ते रचित त्वया नु ॥ १०३ ॥

जीवातु—अयास्य दग्धावस्था वणयन् चक्षु प्रीति तावत् श्लोकद्वयेनाह—



लिपिमित्यादि । हे नैनि । न नृपो नित्तिविभूषण कुड्यालङ्कारभूता लिपि चित्रमयी त्वा दृष्टा आदरेपात्यया निनिमेष पिवन् चक्षुस्तरेरधुनिर्यपित त्वया नु त्वया वा रचितनान्मचक्षुषो रागनाह्वयमनुरागञ्च घत्ते । अत्रोनयकारण-सम्भवाद्भुनयस्मिन्नपि रागे जाते स्लेयनहिम्नैकयानिधानात्कारणविशेष सन्देहः ॥

अन्वयः—स नृप नित्तिविभूषण लिपि त्वा दृष्टा आदरनिनिमेष पिवन् चक्षुस्तरे, अरित नु त्वया रचितम् ज्ञानचक्षुराय घत्ते ।

हिन्दी—वह राजा दीवार की अलंकार चित्ररूप में बनी ( दीवार पर बने चित्र रूपमें ) तुमको दृष्टि से आदर पूर्वक बिना पलक लगाये पीता हुआ ( एकटक आदर-अनुराग से देखता ) आँखों से चहती आँसू की झड़ी से जनित मानों तुम्हारे द्वारा उत्पन्न किये—अग्ने जनों में लाली को धारण कर अपनी आँखों के अनुराग प्रकट कर रहा है ।

टिप्पणी—इस श्लोक में नल के 'चक्षु-प्रेम' का वर्णन है । वह दीवार पर बने दमयन्ती के चित्र को अनुराग और आदर से एकटक निहारता रहता है, जिससे उसकी आँखों से ज़ाँबू बह जाते हैं और वे लाल हो जाती हैं, इसी पर कवि की कल्पना है कि नेत्रों का यह एकटक निहारना, आँसू बहाना और लाली उसके 'चक्षु-प्रेम' का प्रमाण है । कवि-ग्रन्थ के अनुसार अनुराग का रंग लाल माना जाता है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ सदेह अलंकार है, क्योंकि चक्षुरा का कारण एकटक निहारना अथवा अनुराग—धोना हो सकते हैं । विद्याधर नयन-प्रीति और विषय निवृत्ति स्मर-दशा मानते हुए उत्प्रेक्षा अलंकार मानते हैं । प्रकाशकार ने उत्प्रेक्षा का कारण माना है कि वाष्पजनित-आहिता मानो दमयन्ती विषयक, सद्बोध नयनानुराग है । प्रयम काम दशा । 'रतिरहस्य' के अनुसार दस काम-दशाएँ हैं—'नयनप्रीतिः प्रयम चित्ता-सङ्गन्ततोऽप्य सङ्कुलम् । निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्वपानाय । उन्मादो मूर्च्छा मृतिरित्येता स्मरदशा दशैव स्मृ' ॥ १०३ ॥

पांनुर्दृशाऽस्लेह्यमयी नृपस्य त्वामादरादस्तनिमोलयार्जति ।

मनेदमित्युश्रुजि नेत्रवृत्ते प्रीतेनिमेषच्छिदया विवादः ॥ १०४ ॥

६ नै० तृ०

जीवातु—इममेवायं भङ्गचन्तरेणाह—पातुरिति । अस्तनिमीलया निनि-  
मेपया दद्या आलेख्यमयी चित्रगता त्वामादरात्पातुर्दंष्टुरित्यर्थः पिबतेस्तृन्  
प्रत्ययः । अत एव 'न लोके'त्यादिना पृष्ठीप्रतिषेधात्वमिति द्वितीया । नृपस्य  
नेत्रवृत्ते प्रीतेश्चक्षुःप्रीतेर्निमेपस्य च्छिदया च्छेदेन सह नेत्रवृत्त्येति दोषः ।  
मिदादित्वादङ् प्रत्ययः । अश्रुणि विषये इदमश्रु ममेति मत्कृतमेवेति विवादः  
कलहः अस्ति भवतीत्यर्थः ॥ १०४ ॥

अन्वयः—अस्तनिमीलया दद्या आलेख्यमयी त्वाम् आदरात् पातुः नृपस्य  
नेत्रवृत्ते प्रीते निमेपच्छिदया विवादः अस्ति ।

हिन्दी—अपलक दृष्टि से चित्रगता ( चित्र में बनी ) तुमको आदर से  
पीते ( निहारते ) राजा के नेत्रों में वसमान अनुराग का निमिषच्छिदा ( अप-  
लक देखता ) से विवाद चल रहा है ।

टिप्पणी—नेत्रानुराग का अन्य भगिमा से वर्णन । नेत्रप्रीति और निमिष-  
च्छिदि—दोनों का दावा है कि नयनाश्रु का कारण वह है । नेत्र प्रीति कहती  
है—मे आँसू मैंने उत्पन्न किये हैं, निमिषच्छिदि कहती है मैंने । यहाँ भी 'नयन-  
प्रीति' काम दद्या का ही वर्णन है ॥ १०४ ॥

त्व हृद्गता भेमि । बहिगताऽपि प्राणायिता नासिकयाऽस्य गत्या ।

न चित्तमाक्रामति तत्र चित्रमेतन्मनो यद्भवदेकवृत्तिः ॥ १०५ ॥

जीवातु—अथ मन सङ्गमाह—त्वमिति । हे नैमि । त्व बहिर्गतापि हृद्गता  
अन्तगता, अति विरोधे तेन आभासाद्विरोधानांशोऽलङ्कारः । कया गत्या केन  
प्रकारेण अस्य नलस्य प्राणायिता प्राणवदाचरिता प्राणसमा 'उपमानादाचारे'  
कर्तुं क्यङ् प्रत्ययः । नासि अस्थेवेत्यर्थः । यत प्राणोऽपि नासिकया नासाद्वारेण  
आस्यगत्या मुखद्वारेण उच्छ्वासनिश्वासरूपेण बहिर्गतोऽप्यन्तगतो भवतीति  
शब्दश्लेषः । अत एव प्राणायितेति श्लिष्टविशेषणैयमुपमा पूर्वोक्तविरोधेन  
सञ्जीर्णा, किन्तु तत्र प्राणायितत्वे चित्रमाश्रयस्य चित्तघात्रामति न किञ्चि-  
च्चित्रमित्यर्थः । कुत यद्यस्मादेतन्मनो नलचित्तं भवती त्वमेवंका वृत्तिर्जीविका  
यस्य तद्भवदेकवृत्तिः, नवच्छब्दस्य सर्वनामत्वाद् वृत्तिमात्रे पु वद्भावः ।  
जीवितभूतस्य प्राणायितत्वं किं चित्र, जीवितस्य प्राणधारणारम्भत्वादिति भावः ॥

अन्वयः—हे नैनि, ( १ ) बहिर्गता अपि हृदयता त्व कया गत्या अत्य प्राणापिता न असि ? ( २ ) बहिर्गता त्व नासिकया आस्यगत्या अपि प्राणापिता । ( १ ) यत् भवदेकवृत्ति एतन् मन चित्रम्, न आश्रमति तत्र चित्रम् । ( २ ) चित्र तत्र चित्त न आश्रमति यत् एतत् मन भवदेकवृत्ति ।

हिन्दो—हे नोमकुमारो, ( १ ) बाहर रहती भी हृदय में बसती तुम किस प्रकार इस ( नल ) की प्राणतुल्या नहीं हो ? हो हो । ( २ ) बाहर निवास करती तुम नासिका और मुख की गति ( सौन्दर्य ) से नल के प्राणों में स्थित हो अर्थात् प्राणसमा हो, जैसे नासिका द्वारा बारह अंगुल बाहर गया वायु मुख द्वारा प्रविष्ट हो प्राणवायु की सज्ञा पाता है । ( २ ) या कि आपके प्रति एकनिष्ठ यह मन चित्रसमान अचंचल, आपके चित्र पर सपट क्यों नहीं कर देता—यह आश्चर्य है ( विरह चंचल हो आश्रमण कर देना चाहिए ) । ( २ ) तुम्हारा चित्र चित्त की नहीं छोड़ता, क्योंकि यह मन आपमें लब्धीन है ।

टिप्पणी—तृतीय चरण में 'चित्तम्' नी है और पाठान्तर 'चित्रम्' नी । वस्तुतः इसमें दूसरी स्मरदशा चित्तासम का वर्णन है, जिसने मन की दमयन्ती के प्रति उन्मयता और एकनिष्ठता का विवेचन है । विद्याधर ने यहाँ विषय-निवृत्ति और सकल्प नामक कामदशाओं का प्रतिपादन माना है तथा विरोधाभास श्लेष-उपमा की समृष्टि ॥ १०५ ॥

अजस्रमागेह्नि दूरदीर्घा सङ्कल्पसोपानतति तदीयाम् ।

श्वासान् स वर्षत्यधिक पुनर्यद्व्यानात्तव त्वन्मयतान्तदाप्य ॥ १०६ ॥

औवानु—अथ श्रान्ता सङ्कल्पावस्थामाह—अजस्रमिति । दूरदीर्घाम-त्यन्तायता तदीया सङ्कल्पा मनोरया एव सोपानानि तेषाम् तति वडि-क्तमजस्र त्वनारोहसि, श्वासान् पुन स नल अधिक वर्षति मुञ्चतीति यत् तच्छ्वासवर्षं तव ध्यानात् त्वन्मयता त्वदात्मकत्वनाप्य प्राप्य, प्राप्योत्तराद्, समासे क्तो स्पवादेश, अन्यथा कथमन्यानासादन्यस्य श्वासनोस इति भाव । अत्र श्वास सोपानारोहणो कार्यकारणयोर्बन्धविरहोत्तरसङ्कल्पलङ्कारः 'कार्यकारणयो-

भिन्नदेशत्वे स्यादसङ्गतिरिति लक्षणात् तन्मूला चेय तादात्म्योत्प्रेक्षेति सङ्कर ॥ १०६ ॥

अन्वय—दूरदीर्घा तदीया सङ्कल्पसोपानततिम् अवसम् आरोहति यत् पुन स तव ध्यानात् तदा त्वन्मयताम् अवाप्य अधिक श्वासान् वषति ।

हिन्दी—तुम उस ( नल ) के मनोरथा की बहुत बड़ी सीढ़िया पर निरन्तर खड़ी रहती हो ( नल प्रतिक्षण तुम्हारे विषय में ही विचारता रहता है ) कि वह नल तुम्हारे ध्यान में उस समय त्वत्स्वरूप हो लम्बे लम्बे साँस छोड़ता है ।

टिप्पणी—यहाँ तृतीय स्मरदशा सङ्कल्प का वर्णन है । नल दमयन्ती का प्राप्त करने के उपाय सदा सोचता रहता है और लम्बे नि श्वास छोड़ता रहता है । वह दमयन्ती का ध्यान करते-करते तत्स्वरूप ही हो जाता है भू गीरीट के समान । सीढ़ियों पर बारम्बार चढ़ता-उतरता व्यक्ति श्रम के कारण लम्बे उच्छ्वास लेता हो, सा सङ्कल्पसोपानतति पर निरन्तर आरोहण करती दमयन्ती के ध्यान में तद्रूपता के कारण मानो थका नल सदा उच्छ्वासों छोड़ता रहता है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ श्वास-सापानाराहण रूप काय-कारणों की वय-धिकरण से उक्ति के आधार पर असंगति अलंकार है, कारण कि काय कारण की भिन्न-देशता असंगति होती है—काय कहीं, कारण कहीं । नल के दमयन्ती-तादात्म्य की उत्प्रेक्षा असंगतिमूलक है, अतः सङ्कर है । विशाखर के अनुसार यहाँ असंगति अलंकार का आभास है ॥ १०६ ॥

हृत्तस्य या मन्त्रयते रहस्त्वा ता व्यक्तमामन्त्रयते मुखं यत् ।

तद्वरिषुष्पायुधमित्रचन्द्रसख्यौचित्यं सा खलु तन्मुखस्य ॥ १०७ ॥

जीवानु—हृदिति । तस्य नलस्य हृत् हृदय वृत् या त्वा रह उपायु 'रहचोपायु चालिङ्गे' इत्यमर । मन्त्रयते सम्भाषते ता त्वा तन्मुखं वृत् व्यक्त प्रकाशमामन्त्रयते । हे प्रिय ! क्व यामि ? मामनुयान्त पश्य इत्येव-मुच्चरन्चरतीति यत् सा तद्रहस्यप्रकाशन, विधेयप्राधान्यात् छोटिङ्गता । तन्मुखस्य तद्वरिषा नलदेविण पुष्पायुधस्य मित्र सखा धरन्चन्द्र । तेन यत् सख्य मंत्री साधयन्च, तस्य औचित्य औचित्य खलु । अस्मिन्प्रसङ्गाद्वरिषा-

दुश्चितमेतद्रहस्यनेशनमित्ययं । अत्र नुबद्धर्तृकस्त्वभ्योद्भेदनस्य उक्तवैरनिमित्त-  
त्वनुत्प्रेक्षण ॥ १०३ ॥

जन्मय—उभय हृदय या त्वा रह्य मन्त्रयते ता नुबद्ध व्यक्तम् अभिप्रेक्षते, ता  
दन्तुस्त्वस्य तद्वैरिण्डुज्जापुननिप्रचन्द्रस्त्वोचितो बहु ।

हिन्दी—उभय ( नर ) का हृदय जो तुमसे एकत्र न भूत बनना करता है,  
मूढ उसे स्पष्ट व्यक्त कर देता है, उभय ( नर ) के मूढ की ( स्पष्ट व्यक्ति )  
उभय ( नर ) के धनु कुतुभापुन ( काम ) के निप्र चन्द्र का निप्रजनोचित  
अवस्था ही है ।

टिप्पणी—यह भी सकल दत्ता है । नाब यह है कि नर तो नर-हो-नर  
भूत कर से दमपती-विपयक विचार करता है, परन्तु उसके मुख पर मलकते  
विषयोन्नति पीलापन, म्लानभाव आदि उसके नाब को प्रकट कर देते हैं ।  
सौन्दर्यादि-रूप श्री के कारण काम नर का प्रतिस्पर्धी और धनु है, चन्द्र काम  
का निप्र है । निप्र का धनु उन्नत होता है—इस दृष्टि से नर चन्द्र का भी धनु  
हूँगा । मूढ की प्रतिस्पर्धा ( नुबद्ध-चन्द्र ) के कारण भी चन्द्र नर और नर मूढ  
का धनु है । अथवा मूढ रस में चन्द्र ही है, जो अपने निप्र ( काम ) के धनु  
( नर ) का रहस्य प्रकाशित कर रहा है और इस प्रकार नर की कामासक्तता  
की स्पष्ट घोषणा कर रहा है । नुबद्ध चन्द्र का इस प्रकार निप्र की सहायता  
करना निप्रजनोचित व्यवहार है । दृष्टेया अन्तर्कार ॥ १०३ ॥

म्विनस्य रात्रावधिगम्य शय्या मोहे मनस्यस्य निमग्नयन्ति ।

आलिङ्गय या चुम्बति लोचने सा निद्राभ्युना न त्वद्वृत्तेऽङ्गना वा ॥

जीवातु—अथ एकेन जागरनरतिष्वाह—स्थितस्येति । रात्रौ शय्यामधि-  
गम्य शय्यायां शयित्वा 'अधिशोहस्यासाति'ति अधिकरपस्य कर्मत्वम् ।  
स्थितस्य तस्य मनो मोहे मुखनारवस्ये निमग्नयन्ती सती या आलिङ्गयलोचने  
चुम्बति, सा निद्रा त्वस्य त्वसा विना 'अन्यापशितरते' इत्यादिना पञ्चमी ।  
त्वद्विष्णुदेवोत्सवदन्त्या चेति द्रष्टव्यम् अङ्गना वा अधुना नास्ति, निद्रानिषेधा-  
ज्जागरतु अङ्गनान्तरनिषेधाद्विषयद्वेषकतना वरतिस्त्वोक्त्य अत्र निद्राङ्गनयो  
प्रस्तुतयोरेवाङ्गिङ्गनाच्चुम्बनादिधर्मनाम्नादोपपन्नप्रतीते केवल द्रष्टव्यमोचरा-

( ३ ) वर्णनप्रधान तो महाकाव्य को होना ही चाहिए, पर वर्णन रोचक और सजीव हों। इससे पृष्ठभूमि, घटनाएँ, चरित्र, उनके कार्य—सभी का उद्घाटन होता है।

( ४ ) कुछ अचार्यों की मान्यता है कि 'एपिक' में 'हीरोइक मीटर' ( दोरस्रातक छंद ) का प्रयोग उचित है, परन्तु दीररम के अतिरिक्त अन्ये-रसप्रधान काव्यों के लिए यह उपयुक्त नहीं होता, अतः अन्य मनीषी मानते हैं कि भावानुरूप छन्दोयोजना उचित है। सँजी भी भावानुरूपिणी ही होनी उचित है।

( ५ ) महाकाव्य के विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न उद्देश्य बनाये हैं। प्राचीनतम आचार्यों ने नैतिकता और धार्मिकता पर बल दिया है, जबकि अरस्तू ने आनन्द और सत्य का उद्घाटन महाकाव्य का उद्देश्य माना है। जो भी हा, महाकाव्य का उद्देश्य होना महान् ही चाहिए, उसकी व्यापकता और प्रभावशीलता स्वतः लोकरजन में समर्थ होगी।

भारतीय और पाश्चात्य—दोनों प्रकार की मान्यताओं पर ध्यान देने से एक बात अवश्य स्पष्ट हो जाती है कि कथावस्तु, चरित्र, शैली और उद्देश्य—इन चारों अंगों की दृष्टि से महाकाव्य को 'महान्' होना चाहिए। उनका महान् कलेवर ही उसे 'महाकाव्य' नहीं बनाता, प्रत्युत उसकी महत्ता के आधारभूत कथावस्तु आदि अंग ही हैं जिनकी उदात्तता उसे महाकाव्य बनाती है।

दोनों प्रकार की मान्यताओं पर ध्यान रखते हुए 'नैयधोरचरित' की समीक्षा करने पर स्पष्ट हो जाता है कि उसमें प्रायः ये सभी विशेषताएँ हैं।

( १ ) इतिवृत्त अथवा कथावस्तु—'नैयध' की कथा 'पुराणेतिहासादि-प्रसिद्ध वृत्तात्' अर्थात् सगत है। जैसा कि पहिले लिखा जा चुका है कि 'महा-भारत' के वर्णन का 'नलोपाख्यान' ( ५८-७८ अध्याय ) इसका प्रमुख आधार है। जैसा कि 'प्रकाश'-कार ने लिखा है, 'नैयध' का आरम्भ पुण्यलोक नलरूप विशिष्ट के निर्देश से हुआ है—'जत्र पुण्यलोकनलरूपविशिष्टवस्तु-निर्देशन निविन्नप्रत्युपमाति।' 'इतिवृत्त'—सघटन 'पञ्च-सन्धि ममन्वित' है। मुख्यतः है—प्रथम, द्वितीय, तृतीय सर्ग में। इन सर्गों में 'नानाथं रम-सम्भवा बीजप्रमुग्धति' हा जाती है—दमयन्ती-नल का अनुरागरूप बीज सप्रसन्न हा जाता है। अतः सप्त में प्रतिमुखप्रति है, जिनमें आरम्भ बीज का

उद्घाटन होकर उत्तरोत्तर विकास का चारुतम्य दृष्टिगोचर हो जाता है। दमयंती के पिता भीम दमयंती-स्वयंवर का निश्चय करते हैं। पञ्चम से नवम सग का कथानक 'गर्भसंधि' है। भरतमुनि के अनुसार जहाँ मुख तथा प्रतिमुख संधि की उत्पत्ति और उद्घाटन दशाओं से आविष्ट बीज का उद्भेद अथवा प्राप्ति या अप्राप्ति और पुनरन्वेषण होता है, वह गर्भसंधि है। ( नाट्य शास्त्र ११।४१ )। अभिनवगुप्त के अनुसार उद्भेद का अर्थ है 'फलजना-भिमुखता'। प्राप्ति नायकविषया होती है और अप्राप्ति प्रतिनायकविषया। प्राप्ति, अप्राप्ति और अन्वेषण—इसी बार बार होती रहती अवस्थाओं से मुक्त गर्भसंधि होती है। इन लोगों में नल देवदूत हो दमयंती से मिलते हैं। और स्वयंवर में सम्मिलित होने का वचन देते हैं। इसमें प्राप्ति है नल विषया, अप्राप्ति है देवादिप्रतिनायक विषया और अन्वेषण है वह नल का स्वयंवर में सम्मिलित होने का वचन, जिसने फल प्राप्ति की आशा बघनी है। विमलसंधि का प्रसंग आता है चतुर्दश सग के समाप्त होते होने, जब देवगण प्रकट हो नल—दमयंती की आशीर्वाद और वर देने हैं। इसमें नल—दमयंती अनुरागरूप बीज पुनः प्रकट होता है। इस संधि में विष्णो द्वारा बीजार्य बाधित होता है, विष्णु—हेतुओं का निक्षेपण होता है, पञ्च प्राप्ति में सदेह भी होता है, किन्तु नियत-फलाप्ति अवस्था ध्यास रहती है। देवगण विष्णु हैं, पर उरका उपपन्न हो, नल दमयंती पवित्र की आद्या नियत हो जाती है। पंचदश-षोडश सगों में 'निर्बंधन' संधि है। वरमाहा पड़ती है, विवाह हो जाता है और आगे के सगों में सजात नल-दमयंती मिलन की पूर्ण भूमिका बन जाती है। पूर्ववर्णित चारों संधियों के प्रारम्भादि अर्थों का समानयन हो जाता है, जैसा कि अभिनवगुप्त ने बताया है कि क्रम से उत्पत्ति, उद्घाटन, उद्भेद और गर्भ-निर्बंधन रूप बीज विचारों में मुक्त, नानाविध मुख दुःसात्मक हास, शोक, क्रोधादि भावा से चमत्कारास्पद उत्कृष्टता प्राप्त भुवादि चारों संधियों के प्रारम्भादि अर्थों का एक अपराधि में समानयन—अर्थात् फलनिष्पत्ति में भोजन निवहण है, जो फलयोगावस्था से व्याप्त रहता है। ( नाट्यशा० ११।४२ पर अभिनव भारती )। नायक नल का 'नाय' है दमयंती प्राप्ति, वह पढ़ी सम्पन्न हो जाता है।

यह कथानक आठ से अधिक अर्थात् बाइस सर्गों में व्याप्त है। कोई सर्ग ऐसा छोटा तो नहीं है, परन्तु एक दो सर्ग दीर्घ अवश्य हैं, मले ही नातिदीर्घ हो, जंमे दो सी बाइस श्लोकों का सप्तदश सर्ग। सर्गाति में भाविकथा का आभास प्राय मिल जाया करता है।

( २ ) पात्र—‘नैपथीयचरित्र’ के प्रज्ञानपात्र नल और दमयन्ती हैं। प्रति-नायक रूप में हैं इन्द्र, यम, अग्नि, वरुण, जो आगे चलकर नल के सहायक हो जाते हैं। वस्तुतः ‘नलोपाख्यान’ का प्रतिनायक तो कलि है, जिसका उपयोग ही नैपथीयचरित्र में अवाम्बुधित रहा है। केवल सत्रहवें सर्ग में उसका रोप दिखाया जासका, जिसमें चार्वाकदर्शन का दर्शन तो हो जाता है। रोप के लिए अवसर ही नहीं आया। रोप सामान्य पात्र हैं विदर्शननरेण भीम, स्वयंवर में एकत्र नरेण और देवी सरस्वती तथा दमयन्ती की सखियाँ। इन सबकी प्रसंगत चर्चा आ गयी है। भीम एक हिनचिन्तक पिता हैं, देवी सरस्वती बाग्देवी हैं, जिन्होंने स्वयंवर में दमयन्ती का दिशा-निर्देश किया। कला आदि सखियाँ राजनदिनी की उपयुक्त परिचारिकाएँ हैं, राजमर्यादा को समझने वाली। एक विशिष्ट पात्र है पक्षी हंस, जो एक कुचल दूत का कार्य करता है और जिसकी कथा के माध्यम से कह्यप्रसंग की भाविक अभिव्यक्ति हो गयी है। इस प्रकार ‘नैपथ’ में मानव मानवी, देव-देवी और मानवेतर प्राणी प्रकार के पात्र हैं, जो यद्यपि सख्या में थोड़े हैं, तथापि गुणों में प्रभूत हैं।

( ५ ) नल—परम्परा के अनुसार नल सङ्कटोत्पन्न कुलीन क्षत्रिय है, जिसे पुगणादि में पुण्यश्लोक कहा गया है, जो प्रातः स्मरणीयों में प्रथम है—पुण्यश्लोकी नली राजा पुण्यश्लोकी युधिष्ठिर। पुण्यश्लोका च वैदेही पुण्यश्लोकी जनार्दन ॥ ‘नैपथीयचरित्र’ के आरम्भ के तीस श्लोकों में नल का वर्णन किया गया है, जिनमें उसके रूप, गुण, समृद्धि, बल, चैतन्य प्रभाव, यौ, शोभा, काति, उदारता, वीरता, दानशीलता आदि का विस्तार से सङ्घाटन किया गया है। वे चतुर्दश विद्याओं के ज्ञाता हैं, कलामर्मज्ञ हैं, ‘महोज्ज्वल’ हैं और ‘महेशां राशि’ हैं। शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार वे ‘धीरोदात्त’ नायक हैं—आत्मप्रशसा की श्लाघा न करने वाले, समावाप्त, अति गम्भीर, निदा प्रशसा, हृष शोकादि से अप्रभावित, स्थिरमति, स्वानि-



जानी और बचनपालक । विश्वनाथ महापात्र के, शब्दों में—'अविकल्पना  
क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्व । स्वेयान्निगूढमानो धीरोपतो दृढवत् नयित ॥'  
( सा० द० ३।३२ ) ।

उनके अनुराग की गम्भीरता, कृष्णाद्रंता, कला-विलास प्रियता, दान-  
शीलता, दृढप्रतिज्ञता आदि के दर्शन इस काव्य में अनेक स्थलों पर हुए हैं ।  
दमयन्ती के प्रति उनका अनुराग गूढ़ ही रहा, उन्होंने उसे प्रकट न होने देने  
के लिए एकाध उद्यान-सेवन उचित समझा । उन्होंने दमयन्ती की उसके पिता  
से याचना भी नहीं की । बचननिर्वाह के लिए, देवों को दान करने के लिए  
उन्होंने ऐसा दूतकार्य किया, जो स्वयम् उनके लिए, स्वार्थ-विघातक था ।  
उनकी कृष्णाशीलता इस प्रसंग में व्यक्त हुई है । उनकी कृष्णाशीलता और  
उदार व्यवहार के कारण ही इस में उनका दूतत्व स्वीकारा । 'नीपदीयचरित'  
में क्रमशः उनके चरित का विकास दिखाया गया है, जो काव्य के नाम और  
'चरितकाव्यत्व' की प्रमाणित करता है । नरक सृष्टि परपरा के आदर्श  
नायक हैं, जिनकी उदात्तता और महत्ता का चरित-पाठकों पर व्यापक सत्प्रभाव  
पड़ता है ।

( ख ) दमयन्ती—'नाट्यशास्त्र' के रचयिता भरतमुनि के अनुसार मुख  
की मूल स्थियाँ 'नानाशोला' होती हैं, उनके भिन्न-भिन्न स्वभाव होते हैं ।  
इनके प्रकृत्यनुसारी तीन भेद होते हैं—कुलीना ( आभ्यतरा ), बाह्या ( वैश्या )  
और वृत्तशीला ( बाह्याभ्यतरा ) । आभ्यतर स्त्री पात्रों में महादेवी देवियाँ  
और उनका समस्त पारिवारिक मंडल आता है । दमयन्ती की सखियाँ भी  
इसी मंडल की आभ्यतरपात्रियाँ हैं । 'नीपदीयचरित' की प्रज्ञानपात्री दमयन्ती  
भी कुलीना नायिका है, अपने कौमार्यकाल में वह अया ( अनुठा परकीया )  
है, विवाहोपरांत वह 'स्वा' ( विवाहिता, स्वीया ) हो जाती है । नायक सव्य  
से वह आरम्भ में विरहोत्कण्ठिता है, विवाहोपरांत वह प्रिय की प्रिया है ।  
'नीपय' में दमयन्ती की रूप-गुण की दृष्टि से विदग्ध में सर्वोत्कृष्ट चित्रित किया  
गया है । उसका नाम ही 'दमयन्ती' इसलिए पड़ा है कि वह अपनी तनुओं से  
त्रिलोकी की सुन्दरियों के सीढ़ीभिमान का दमन करनेवाली है —

सुवननममुष्णामसौ दमयन्ती कमनीयतामदम् ।

उदियाय यस्तनुमिश्र दमयन्ती ततोमिश्र दधौ ॥ ( ने २।१८ ) ।

‘नैपथीयचरित’ ( २।१८-४३ ) में उसके रूप-गुणों का विस्तार से वर्णन किया गया है और उस विवरण के पदचातु हस-वाणी में यह बताया गया है कि दमयन्ती नल के बिना शोभा न पासवेगी और नल का यह रूप उसके बिना निष्फल है । ( २।४४-४५ ) । इस प्रकार नल-दमयन्ती को परस्परानु-कूलता बनायी गयी । नल नरश्रेष्ठ है और दमयन्ती त्रैलोक्यमुदरी है—

‘प्रिय’ प्रिया च विजगज्जयप्रियौ लिखाधिलीलागूहभित्तिकावापि ।

हतिरम सा कादत्तरेण लेखित मलस्य च स्वस्य च सख्यमीजते ॥

( गी० १।३८ )

वह नल के सहचर है—‘सहचरी तव दूर सा’ ( २।३९ ) । हस दूत ने इसी सब का ध्यान रखते हुए कहा था—

धन्यामि वैश्वमि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैपथोऽपि ।

इत स्तुति का सहस्र चन्द्रिका या यदन्धिमप्युत्तरलीकरोति ॥ ( २।११६ ) ।

वह विदर्भकुमारी धन्य है, जिसने वैश्वमन निपथराज को भी आकृष्ट कर लिया । जैसे चाँदनी गभीर सागर को भी उत्तरल कर देती है, वैसे ही दमयन्ती ने नल को उत्तरल कर दिया । इसमें अधिक उसके दिपय में और कहा ही क्या जा सकता है ?

अनेक स्थलों पर ‘नैपथ’ में उसके विविध स्वरूपों का तनुश्री का उपा, अङ्गसुपमा का विषाद चित्रण हुआ है, जिससे वह सर्वथा खेद आदर्श नायिका प्रमाणित होती है । आरम्भ में नलमुग्धा अनुरागिणी नायिका है । उसका नल के प्रति अनुराग इतना दृढ़ है कि विश्व में नल के आगे वह किसी को माग्यता नहीं देती, न किसी राजा-सम्राट् को, न इन्द्रादि देवताओं को । उसका चित्त तो केवल नल की कामना करता है—‘चेतो नल कामयते मदीयम् ।’ स्वर्णपुरी उसका ही भी उसे कामना नहीं है—‘चेतो नलच्छामयते मदीयम् ।’ यदि नल नहीं तो फिर ‘अनल’ (अग्नि) में जल मरना ही है—‘चेतोऽनल कामयते मदीयम् ।’ विवाह होने के बाद उसका अनुराग, पूर्णता को प्राप्त हो जाता है और वह नरराज नल को ‘तृतीय पुरुषार्थवारिधि’ में तरानेवाली ‘तरी’ ( नौका ) बन जाती है । और फिर ‘दिवानिश’ आनन्द-उन्मास-विलास का सागर उमड़ पड़ता है । हेमचन्द्र भूमि से दमकते ‘नैकवर्णमणिकोटिकुट्टिमसोऽथ भूपर’ में

मदनाराधना चलने लगती है। 'नेपथ' का अङ्गारहवाँ सर्ग इसीके शृङ्गार से आप्लावित है।

श्रुजुना, मधुरता, विनयशीलता आदि दमयन्ती के स्वामित्व गुणों का विकास 'नेपथ' में निरन्तर दीखता है। दमयन्ती विश्व काव्य की अविस्मरणी नायिका है, जिसके बाह्याभ्यन्तर शृङ्गार से 'नेपथीय-चरित' मण्डित है।

( ३ ) रस—अगीरम—'नेपथीयचरित' के रचयिता श्रीहर्ष के अनुसार उनका काव्य शृंगारामृतवर्षा सीतकर चन्द्र है—'शृङ्गारामृतशीतगी' ( १। १३० )। रति-काम के परिणयोत्सव पर सहस्रवारो में बरसते देव से तुष्टि की कामना करते हुए इस काव्य की कवि ने आशीर्वादात्मक समाप्ति की है। ये रति-काम दमयन्ती नल का और 'सहस्रवारकल्पश्री' देव श्रीहर्ष के 'मधुर्वयि' नेपथ काव्य का भी यदि सकेत बनजाते ह तो अनपेक्षित नहीं है। इसमें थोड़ी भी सन्देह करने का अवकाश नहीं है कि आर्हर्ष का 'नेपथीय-चरित' शृंगाररसप्रधान उत्कृष्ट महाकाव्य है। इस प्रकार उस शास्त्रीय परम्परा को भी आदर मिल जाता है, जिसके अनुसार महाकाव्य में शृंगार, वीर, शांत में कोई एक प्रधान रस होना चाहिए—'शृङ्गारवीरशांतानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।' लाटि से प्रतप्त एक इस महाकाव्य में शृङ्गाररस अंगी रूप में परिलक्षित होता है।

शृंगार—शृंगार के विप्रलम्भ और समोग—दोनों पक्षों का 'नेपथ' में सुन्दर चित्रण है। आरम्भ में नल-दमयन्ती विवाह तक विप्रलम्भ है और उसनंतर समोग। जहाँ तक विप्रलम्भ शृंगार का पक्ष है वह शास्त्रीय अधिक है। इसी परम्परा का पालन करके कवि ने यद्यपि वर्णन पहिले नल का किया है, पर रति नाथ का जागरण पहिले दमयन्ती में दिखाया गया है। मदन प्रवेश पहिले विदमन्ना के मन में हुआ—'विदमन्नाया मदनस्तथा मनोनलावच्छेदयस्यैव वेष्टित।' ( १० १।३२ )। नी इसोही ( १० १।३४-४२ ) में कवि ने दमयन्ती के पूर्वानुराग का वर्णन किया है। यह अनुराग नल के गुणों के ध्वनि से उत्पन्न हुआ है, बहाने से उसने नल का चित्र दृश्य पाया और नल के सपने देखने लगी। आगे चलकर यही अनुराग इतना दृढ़ हुआ कि सब

को ठूँहरा कर दमयन्ती ने नल का चरण किया । स्वयंवर-सभा में बैठे पाँच पाँच नलो को देख उसके मन में उपजे क्षणिक संदेह का उसके हठानुरागी मन ने ही क्षण में स्पष्ट कर दिया । क्या कारण है कि चार नलों को छोड़कर पाँचवें नल में ही उसकी रुचि विशेष है ? लगता है, जैसे मह पाचवाँ नल दमयन्ती के मन को मुवा-स्मान करा रहा है—'इतरनलनुगमागेषु चोप, मुषानि स्मरति मम चेतो नैष न कस्य हेतो ?' ( गी० १३:५३ ) । और यथासमय दमयन्ती ने नल के गले में दूध के जकुरों से सजी मधुसूक्त डाल दी—'दूवांश्कुण्डया नक्त्यग्राले वधू मधुसूक्तप्रमुत्तमं ।' ( गी० १४:४५ ) । इस मान्यदान-प्रथा में कवि ने दमयन्ती के लज्जन का बड़ा स्वामाजिक किन्तु पाठितपूर्व वर्गन किया है । अनुप सों में नल विरह में व्याकुल दमयन्ती की व्याधा का वर्गन है । इस वर्गन में ताप, चिंता, चिंताका अनुभाव निश्वास, अन्तर्द्वार, जम्बुगत, चका, विरह-पादुरता, विवशता, विरह की दुःसहता आदि का शास्त्रीय परम्परा के अनुरूप चित्रण हुआ है । मूर्च्छा प्राप्त दमयन्ती का चदनादि से जब उपचार हुआ, तब महिलाओं के कल-कल से आहूट, कन्या के अस्वास्थ्य से बिन्तित भीमराज ने आकर देखा और घोषणा की—'दमितम-मिमत् स्वयंकरे त्व युगयम-प्युहि वासदे, किं गच्छ ।' ( गी० १४:११९ ) ।

नल का दमयन्ती के प्रति आकर्षण बाद में बताया गया है, क्यों कि शास्त्रीय परम्परा है—'आदौ वाच्य स्त्रिय पुंस पश्चात्तद्विज्ञेयं ।' 'नैषध' ( १:४२-५४ ) में नल का यह अनुराग और तज्जनित व्याधा का वर्गन हुआ है । निधन ही इस न पाठित-प्रदशन और शास्त्र-न्याया का परिपालन विधिष्ट है । धर्म-मा, ताप, निश्वास लज्जा आदि का वर्गन इसमें है । नल अन्त में अनुप-चिह्नों को ठिगाने की इच्छा से निर्जन देश में चले गये । नल का आत्म-मिमान और वड्डन इनमें कवि ने प्रकट किया है । उन्होंने स्मरतम होने हुए भी विद्वत्पराय से उनकी तनया की याचना नहीं की, मागन से वे मरना भला समझते थे—'स्मरोरुतलोऽपि मृत्यु न स प्रभुर्वदन्नराज तनयामयाचत । त्यजन्त्य-सूनुधर्मं च मानिनो वर त्यजन्ति न त्वेकमगाचित्तवत् ॥' ( १:५० ) । उनका सिद्धांत था—'मागन से मरने भरो मत कोई मा"न जाय । ऐसा प्रीति होता है कि श्रीहर्ष को नल दमयन्ती के सामाजिक गौरव का अधिक ध्यान था, अतः बड़ी शास्त्रीयता के साथ उ हाने नारक-राजिदा के विप्रवर्ग्य शृंगार का

चित्रण किया है। फिर भी वियोगदशाओं का वर्णन बनेक स्दलों पर स्वाभाविक और सुन्दर है।

सन्तो भृगुर का वर्णन छी विवाह के पश्चात् साठ-आठ स्यों में पूर्ण मनोयोग पूर्वक विस्तार से किया ही गया है, वास्तव में आनन्द और उल्लास से ही हृयं उदज्जना है, प्रसन्नता आती है। पाठकों के मन में आनन्द-सुधासागर का उद्बलन भृगुर के सन्तो पक्ष से ही अधिक सम्भव है? सयोग भृङ्गार की भगिमा से गैपधीय चारित 'बाह' बन सता है।

गैपध' का अल्लादय सयं नल दमयन्ती के उल्लास विलास से परिपूर्ण है। कवि न नि मन्तोष भाव से इस 'विलास-वला' का चित्रण किया है। 'दिवानिशन्तो' काउं दल्लो की विविध चेष्टाओं और क्रिया-कलापों का श्रीहर्ष ने हर्षोन्माह के साथ वर्णन—विस्तृत वर्णन किया है। कवि की दृष्टि यह तृतीय पुरपायकारिणि' का सनरण पाप नहीं है, आवश्यक्ता है केवल निर्मल छन्न-करण की, 'ज्ञानयो-मनस' की। ( १८१२ )। मुमेव को लज्जाने-वाले सौधभूषण में यह धामोदोत्साव रचन ग्ग। अगर और बदन से वह सुधातिन हो रहा था, बदन की छिद्रकिर्ण थी, जिनमें आनन्द दीपममोरण सुगन्धि हो जाता था। मौरन महाकाव्य तेल के सुगन्धि दोषों की मन्द आभा सौधभूषण के धीमुन बना रही थी। 'मणिकुट्टिम' का पशु था और प्रमून-एम्मा थी। बड़े विस्तार के साथ कवि ने सौध के कलहरण का विवरण दिया है। वही समोदपर नल दमयन्ती के जोड़े को देख कर रति-रतीय भी मोह गये। 'प्रकाशकार ( १८२८ की टीका ) लिखते हैं—'नौमीनली हृद्वा रति-कामी सहातनुरतेच्छी जाती।' उस सौध-भूषण में उन दोनों की जो कामकेलि दीप्त हुई—वह महाकवियों की भी बुद्धिषोषण न हुई होगी, स्वेरिणी नारिणों की शिवा भी बंसी न हुई होगी। गी० १८१२९ )। कामशास्त्र के अनुरोध से मारी का प्रथम सयोग माश्वन, लज्जानुनाम्पूर्ण सयोग-जन रति दधि और सकोच, 'कुसुमदल-पात्रवित्' नल द्वारा दमयन्ती को सनिधि में लाना, करोल सुन्दन स पूब ललाट-भुम्बन, लज्जलस्य, रशनाकल्पमोचनार्थ बड़े प्रिय के हाथ का प्रतिरोध, दारे छोरे लज्जा-पाग और प्रथम सयोग का अनुभव कविने बड़ी उत्कृष्ट दृष्टि से किया है। आनन्द-उन्मास के विविध अनुयोगों के साथ राज बिजाने द दानो बह कर परस्पर जूझ जोड़े, अक्षर मिलादे, रतिकेलि

इसे स्वप्न देखते आलिंगन-संघट में परस्पर पीड़ित होते निद्रानुस्र का अनुभव करने लगे, उनके वार्धक्य वक्षस्पर्श और आभ्यन्तर अंतस् में कोई भेद न रह गया । ( नं० १८।१५२-१८३ ) । बगले चार सुर्गों में शृंगार की उज्ज्वलता का बाँध है, जिसमें प्रभाव है, सज्जा है, चंद्रोदय है, तारों-मती रात है । चरानना पूजा भी है, प्रातर्विमान भी है । सभी उज्ज्वल पक्ष हैं । शृंगार की उज्ज्वलता के पूरे दर्शन इन चरान सुर्गों में है । ३५५१५

आरम—शृंगारातिरिक्त का रम अङ्ग रूप में आये हैं, उनमें कल्प, वीर, हास्य, अद्भुत, रौद्र, बीभत्स और भयानक हैं । केवल शांत नहीं है ।

कथा—कथा 'नैषध' में हृद प्रसंग में आया है । नल के द्वारा पकड़े गये हृद की उस्तियों में हृदयस्पर्शी कथाता व्यजित हुई है । हृद-विलाप-प्रसंग दृष्टि छोटा है, किन्तु वह इतना प्रभावी और मनोबलानिक है कि उसे दिव्यसाहित्य में सरलता से स्थान दिया जा सकता है । विनाप करते हृद ने जो कहा, समते नल का हृदय कहनाविरचित कर दिया और निपघनति की दीनदामनुता उमर जायी और हृद मुक्त हो गया ।

हृद ने पकड़े जाने पर पहिले तो राजा के हृद कार्य का कनीचित्प सिद्ध किया और उसमें कथा आगयी । यह कथामात्र 'नैषध' ( १।१२५-१४२ ) के आठ श्लोकों में व्यक्त हुआ है । हृद ने अपनी बुद्धा माँ, नवप्रमृता परनी की निराश्रयता की दुहाई दी । किस प्रकार माँ यह दाहन कष्ट सह सकेगी ? कैसे परनी से वह क्षण व्यतीत किया जायेगा, जब वह यह मुनेगी ? निश्चय ही वह प्राण त्याग देगी और माँ बाप के न रहने पर अनाथ छोटे बच्चे मर ही जायेंगे । हृद का यह विलाप आज भी सरल पाठकों की आँखों में झलू का देता है । हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान् स्व० आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस प्रसंग को कथा-रस की अविस्मरणीय रचना माना है । वे जब भी इसे पढ़ते थे, उनका अश्रुपात होने लगता था ।

वीर—कल्प की भाँति वीर रस के प्रसंग कई स्थलों पर होते हुए भी मोटे ही हैं, किन्तु उतने प्रभावी नहीं हैं । उनमें श्रीहृष का पादित्य तो लक्षित होता है, दास्यता है, पर कथा-प्रसंग जैसी सहृदयता नहीं है ।

पद्यपि विश्वनाथ ने करुण, वीर, रौद्र, बीभत्स और भयानक की गणना शृंगार रस के विरोधी रसों में की है—'आद्य करुणबीभत्सरौद्रवीरभयानकै' ( सा० द० ३।२५४ ), तथापि आनन्दवर्द्धनाचार्य ने बाध्यबाधकभाव से केवल शृंगार बीभत्स में विरोध माना है ( ध्वन्यालोक, कारिका २४ का पूर्वपक्ष ) । उस पर भी वे ऐसा नहीं मानते कि 'नवरसरुचिर' महाकाव्य में प्रसंगत विरोधी रस का वर्णन ही न किया जाय, वे केवल विरोधी रस के प्रत्यधिक परिपोष के विरुद्ध हैं । उनके अनुसार परिपोष अङ्गी रस का ही होना चाहिए, विरोधी या अविरोधी अग रसों का नहीं—'अविरोधी विरोधी वा रसोऽङ्गिनि रसान्तरे । परिपोष न नेतव्यस्तथा स्यादविरोधिता ।' ( तदेव ) । वास्तव में रसमग अनौचित्य से होता है, औचित्य निवर्धन तो रस की परमोपनिषद् है—'अनौचित्याद्वे नान्यद् रसमङ्गस्य कारणम् । प्रसिद्धौचित्यव्यस्तु रसस्योपनिषत्परः ॥' इस दृष्टि से 'नैपथ्य' में किसी अन्य अग रस का परिपोष नहीं हुआ है, जो रस आये हैं, प्रसङ्गत, औचित्य के साथ । और फिर विवक्षित अतएव अगो रस जब लक्ष्यप्रतिष्ठ हो जाता है, लक्ष्यपरिपोष हो जाता है तो विरोधी अग रसों के बधन में दोष नहीं होता—'विवक्षिते रसे लक्ष्यप्रतिष्ठे तु विरोधिताम् । बाध्यानामङ्गभाव वा प्राप्तानामुचितरञ्जला ॥' ( ध्वन्यालोक ३।२० ) ।

वीर रस का वर्णन नल की मुढ़वीरता चित्रण प्रसंग में है, वे शताधिक-शत्रुजयी हैं, जलते हुए शत्रुपुरों की अग्नि के समान उनके प्रताप से भूमण्डल प्रकाशित था, उनकी तलवार उनके चांदनी जैसे मश का विस्तार करती थी । उनके ओज और यश के समुक्त मूर्ध्व-वन्द भी अगणनीय थे । आदि-आदि ( नं० १।९-१४ ) ।

इसके अतिरिक्त शय्यवर-प्रसंग में ( सर्ग ११-१३ ) राजाओं के परिचय में उनकी वीरता का बखान किया गया है । वस्तुतः इसमें शास्त्रीयता का परिपालन और कल्पना की उद्धान ही अधिक है, स्वाभाविक वीर भाव कम ।

दयावीरता में भी कुछ प्रसंग हैं, उदाहरणार्थ नल की विलाप करते हुए पर दीनदयाश्रुता । ( १।१४३ ) ।

दानवीरता में उदाहरण भी हैं । नल ने इतना दिया कि दरिद्रता भी

ददितुं ह्यं गयी । ( १।१५ ) । नल को यही असन्तोष था कि वे सुमेरु के टुकड़े करके दावकों को क्यों न दे पाये, दान-जल के व्यय से सागर को भी मर क्यों न बना डाला ? ( १।१६ ) । राजा नल से अनीष्ट-याचना सभी करते थे ( ३।१५ ) । नल से देवा ने भी याचना की । ( ५।७७ ) । और उन्हें 'अर्यो' पाकर नल का रोम-रोम हूयित हो उठा ( ५।७९ ) । वे मांगे जाने पर प्राप तक दे सकते थे । ( ५।८१ ) । उनका सिद्धांत था कि 'अग्निने न वृत्ता वद्धनमात्रं किन्तु जीवनमपि प्रतिपाद्यम् । ( ५।८६ ) । जो अन्न दावकों के मनोरथ पूर्ण करने के लिए नहीं हुआ, धरती का बीजा वही है, न ये वृक्ष हैं, न पर्वत, न समुद्र । ( ५।८८ ) ।

हास्य-हास्य के भी यन्त्रिकित्व प्रसंग 'नैषध' में है। पौडण सर्ग के भोजन-प्रसंग में स्वामान्वित और नवसररोषित हास्य-प्रसंग हैं। वारातियों और परोक्षनेवालिओं में अच्छा हास्य प्रसिद्ध है। वसपत्नी के माई पदम ने भोजन के बाद सुखादि के लिए 'नैषधालि' (पान का बीजा) दी, उसका रस विनोदित करता हुआ दिवाकर ने मारे वरातियों ने उसे फेंक दिया और उसके हास्य के पात्र भर्त्ता। (१६१०९)। वही ऐसा था कि मृष्टिकतां भूषण ने भी 'नननि' के रूप में इवत्तुवधर से बुराकर छा लिया, इसीलिए उसमें छिड़-हो गये। (१६११३)।

स्वयंवर में मगधराज की कौटिल्य नाम की दम्पत्यो की सखी द्वारा ऐसा शिल्प वांन किया गया है कि सभी देवदेव, सम्राज्य, हंस, पक्ष ( १२। १०६ ) । सतदय समं ने कलि की उक्ति में व्यर्थ हस्ति को कारण बन आया है । बोधिसत्त्व, अग्निहोत्र, इन्द्र, पाप-पुण्य, व्यान, गौतम आदि का व्यगमन उपहास किया गया है जो श्रद्धालुओं के रोष का कारण भी बन जाता है—  
स्वयम् इन्द्र भी उन दुर्वर्तों को सुनकर क्रुद्ध हो उठे—‘इत्येताकर्म्यं दुर्वर्णं शक्रः सक्रोधना दधे ।’ ( १७।८३ ) ।

इसमें संदेह नहीं कि 'नैयव' की हास्य-व्यंग्य-योजना सृष्टि-साहित्य में अनूठी है।

अद्वैत—अद्वैत-प्रत्यय केवल स्वयं-हस के कारण उत्पन्न हुआ है।



इसी स्वर्णह्वय को देखकर विरही नल के भी हृदय में कुतूहल उत्पन्न हुआ ।  
 सुवर्ण-मखी हम वहाँ दीखता है ? ( ११११९, १२९ ) ।

रौद्र—सप्तदश सग में कुछ कवि के श्लोचपूर्ण वचन रौद्रभाव की व्यञ्जना करते हो हैं, उसके वे वचन इन्द्र में भी रौद्रभाव उत्पन्न कर देते हैं । (यद्यपि 'सक्रोमता दधे' में 'स्वशब्दवाच्यत्व' दोष आ गया है) । वज्रधर का हाथ फड़न उठा, वे चीख उठे—कौन है यह जो उनके रहते घम ममों का कृतन कर रहा है—'अवोचदुर्चं पम्बोज्य धर्ममर्माणि कृतति । लोचत्रयी त्रयीनेत्रा वज्रवीर्यं स्फुरत्करे । न इत्थ भापते पावशासने मयि शासति?' ( १७।८३-८४ ) ।

बीभत्स—बीभत्स तो बाघ्यता के साथ शृंगार वा विरोधी रस है, अतः बीभत्स का नाममान का वर्णन 'नैपथ्य' में है । विरही नल के मन में रमणीय वस्तुओं के प्रति भी जुगुप्सा उत्पन्न हो गयी । खिला काल पलाश उसे 'पलाश' ( मासमक्षी ) लगा, झूमनी लता उसे डरावनी प्रतीत हुई, चम्पे की कल्पिया पतंगों को जलाती पापिनी सी लगी । ( १।८४ ८६ ) । वस्तुतः यह सग परम्परागत विरह-वर्णन है ।

भयानक—इसी प्रकार 'भय' के प्रसंग भी नहीं से हैं । झूमती लता—से भय छोड़ ही, स्वयंवर में नागराज वासुकि को देख दमयन्ती भी भय से भर जाती है । 'आसीविष', 'स्फुरत्कण' नागराज को देख कर कौन कामिनी भीति से न भर जाती ? ( १०।२१ ) ।

'प्रकाश'-टीकाकार के द्वारा स्वीकृत 'नैपथ्य' में काव्य को 'स्वादूत्पाद-भृति' ( टीकाकार के अनुसार सहृदयहृदयाह्लादकारक होने से अत्यन्त मधुर-मवाप्यंसहित ) कहा गया है और सगविशेष को 'रसाम्भोनिधि' ( ११। ५६ ) । श्रीहर्ष की यह उक्ति असंदिग्ध है, 'नैपथ्य' विभिन्न रसधाराओं का सागर ही है ।

( ४ ) छन्द—शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार महाकाव्य के नातिदीर्घ सगों में एक ही 'वृत्त' ( छन्द ) के पद्य होना अच्छा माना जाता है, हाँ सग के अवसान में जय छन्द का प्रयोग हा । इस दृष्टि से 'नैपथ्यवचरित' में मर्यादा का पर्वत ध्यान रखा गया है । प्रथम सग में परिषयात्मक अतिमश्लोक को छोड़कर एकसी चवालीस श्लोक हैं । परिषयात्मक श्लोक सभी सगों के अन्त

में शार्दूलविक्रीडित छन्द में है । ) इसमें सभी श्लोक वयस्य छन्द में हैं, अन्तिम श्लोक 'अन्यवृत्तः' अर्थात् वसन्ततिलका छन्द में है । इसी प्रकार द्वितीय सर्ग में आरम्भ के १०१ श्लोक 'वैताल्य' अथवा 'त्रियोगिनी' छन्द में हैं, श्लोक-संख्या १०२ और १०४ शार्दूलविक्रीडित हैं, १०३ पुष्पिताम्रा है, १०५ सगरा है, १०६, ७, ८, और १०९ मालिनी छन्द में हैं । तृतीय सर्ग में आरम्भिक १२४ श्लोक उज्जाति हैं, १२५, १२९, १३१ वसन्ततिलका हैं । शेष श्लोकों में १२६, २७, २८, ३० शार्दूलविक्रीडित हैं । १३२ वां सगरा है, १३३, १३४, १३५, वे श्लोक मालिनी छन्द में हैं । चतुर्थ सर्ग में आरम्भ के ११५ श्लोक द्रुतविलम्बित हैं, ११६ वां और १२२ वां ( अन्तिम ) शार्दूलविक्रीडित हैं, ११७ वां वसन्ततिलका है और श्लोक संख्या ११८, १९, २०, १२१ औनल्लन्दसिक अथवा बालभारिणी वृत्त में हैं । पंचम सर्ग में आरम्भिक १३३ श्लोक स्वागता वृत्त में हैं, १३४ वां द्रुतविलम्बित है, शेष अन्तिम तीन शार्दूलविक्रीडित हैं । छठे सर्ग में उज्जाति छन्द का प्रयोग है, अन्तिम ११२ वां श्लोक मालिनी छन्द है । सप्तम सर्ग के कुछ श्लोक उपेक्षया हैं, कुछ इन्द्रजाला अर्थात् उज्जाति अन्तिम श्लोक में हरिणी छन्द का प्रयोग किया गया है । आठवें सर्ग की भी यही स्थिति है आरम्भिक १०४ श्लोक उज्जाति हैं, १०५, १०६ सगरा हैं, १०७ वां पुष्पिताम्रा है और अन्तिम १०८ वां वसन्ततिलका । नवम सर्ग के आरम्भिक १५५ श्लोक वयस्य हैं, १५६ वां मन्दाक्रान्ता है, १५७ वां तोटक, १५८ वां शार्दूलविक्रीडित और अन्तिम १५९ वां मालिनी । दशम सर्ग में पुनः उज्जातिछन्द का प्रयोग है, केवल अन्तिम 'दधानिपतिरुष्यम्'-इत्यादि श्लोक मालिनी छन्द में हैं । एकादश सर्ग वसन्ततिलका वृत्त में है, केवल अन्तिम १२९ वां श्लोक सगरा में है । द्वादश सर्ग में प्रथम ९० श्लोक वयस्य हैं, ९१-९२, ९३, ९६, ९७, ९८, ९९ शार्दूलविक्रीडित हैं, और ९४, ९५, १००, १०१, १०२ सगरा हैं, १०२, १०४, १०६, १११ पुनः शार्दूलविक्रीडित हैं, १०५, १०७, १०८, १०९ पुनः वयस्य हैं, ११० वसन्ततिलका है और अन्तिम ११२ वां पुनः सगरा है । त्रयोदश सर्ग के आरम्भ से 'यः स्वादनीषु' इत्यादि श्लोक पर्यन्त वसन्ततिलका का प्रयोग है, अन्तिम दो श्लोकों में मालिनी है । चतुर्दश सर्ग के

प्रारम्भिक ( ८४ अथवा ८७ ) 'अर्थो विनैवार्थनयोपसीदन्'-इत्यादि तक श्लोक उपजाति हैं, दोष श्लोको में चार शिखरिणी हैं, दो शार्दूलविक्रीडित हैं, दो स्रग्धरा हैं, तीन वसन्ततिलका हैं, एक रघोद्वता है और एक मालिनी है । पचदश में आरम्भिक एकपासी श्लोक वशस्थ हैं, वयासीवाँ श्लोक स्रग्धरा है तथा तिरासीवाँ शिखरिणी । दोष नौ शार्दूलविक्रीडित हैं । षोडश में भी आरम्भिक श्लोक 'पुरीनिरिक्तायमना'-इत्यादि तक वशस्थ हैं, पुन दो पुष्पिताग्रा हैं, दोष पाँच मालिनी हैं । सप्तदश में अनुष्टुप् छन्द-प्रधान है, केवल अन्तिम दो श्लोको में पहिला शिखरिणी और दूसरा शार्दूलविक्रीडित है । हमी प्रकार अष्टादश सर्ग रघोद्वता प्रधान है, केवल अन्तिम श्लोक स्रग्धरा है । उन्नीसवें सर्ग के आरम्भिक पचपन श्लोक हरिणी छन्द में हैं, चार मन्दाक्राता हैं, पाँच शार्दूलविक्रीडित हैं, एक श्लोक 'जलजभिदुरी-भावम्' इत्यादि भी हरिणी छन्द में है, इसे प्रक्षिप्त भी माना जाता है । एक पृथ्वी छन्द है, एक मालिनी है और एक स्रग्धरा है । विंश सर्ग भी अनुष्टुप्-प्रधान है, अन्तिम श्लोक शार्दूलविक्रीडित है, उससे पूर्व के तीन पुष्पिताग्रा हैं । इक्कीसवाँ सर्ग रघोद्वता-प्रधान है । 'विप्रपाणिषु' इत्यादि तक ये श्लोक रघोद्वता छन्द में हैं । इसके अनन्तर इक्कीस श्लोक वसन्ततिलका हैं, दोष में सात पुष्पिताग्रा हैं, तीन स्रग्धरा हैं, ग्यारह शार्दूल-विक्रीडित हैं, एक मालिनी है । द्वाविंश ( अन्तिम ) सर्ग उपजाति-प्रधान है । 'अन्त ॥ एदमी क्रियते' इत्यादि तक श्लोक उपजाति हैं, पुन एक रघोद्वता है, सदन-उपर तीन वसन्ततिलका हैं । दोष में आठ शार्दूलविक्रीडित हैं, एक स्रग्धरा है और एक शिखरिणी और एक पुष्पिताग्रा है । प्रत्येक चरण में सर्वलघु सौलह-सौलह वर्णों का भी एक छन्द है, टीकानारो ने इसे 'सर्वलघु' संज्ञा ही दी है । इसे 'अचलघुति' नाम भी दिया जाता है । अन्त के कवि प्रशस्त संवधी चार श्लोका में एक शिखरिणी है, दो शार्दूलविक्रीडित और एक हरिणी ।

इस प्रकार थोहर्ष ने प्रत्येक सर्ग में एक छन्द को प्रधानता दी है, अन्तिम छन्द भिन्नवृत्तक अवश्य है । किन्तु यह अनवृत्तमता केवल अन्तिम श्लोक तक ही सीमित नहीं रह गयी है, कवि ने अन्त के अनेक श्लोको में

निल वृत्तो का प्रयोग कर लिए हैं। अन्तिम श्लोक ही चिन्तन में प्रयुक्त है, वे सर्ग हैं—प्रथम, दश, सप्तम, अष्टम, एकदश और अष्टादश।

जहाँ तक श्रीहर्ष के छन्दोज्ञान का प्रश्न है, कवि छन्दशास्त्र का पूर्ण ज्ञाता है, उसने विभिन्न छन्दों का प्रयोग किया है। सब मिलकर अष्टादह,—उन्नीस प्रकार के छन्दों 'नैषध' में हैं। उनजाति का प्रयोग कवि ने सबसे अधिक किया है सात सर्गों में बारह सर्गों में प्रधान छन्द ब्रह्मण्ड है। दो-दो सर्ग वसन्तविराज, स्वागत रथद्वारा और अनुष्टुप्-प्रधान हैं और एक-एक में द्रुतविराज, वृत्तालीय और हरिणी का प्रयोग है। इसी दृष्टि से कवि की छन्द विद्वता का सारस्य प्रतीत हो जाता है। महाकाव्य छन्द में पाँच ही श्लोक हैं, अत्यधिक शार्ङ्गविकीर्ण हैं। स्थान-स्थान पर सगरा, शिखरिणी, पुष्पिताम्रा, मालिनी, वियोगिनी का भी प्रयोग है, लक्ष्मधृति, पृथ्वी, ठोटक भी हैं। गानादारो ने इनकी गणना भी की है। श्री नन्दिनीनाथदास गुप्त ने श्रीहर्ष के छन्दोर्नपुष्प की प्रशंसा की है। उनकी मान्यता है कि 'नैषधीयचरित' में लगभग बीस प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है, जिनमें अष्टिकाश गीतारत्नक लघुवृत्त हैं, बड़े छन्द मदकाता, शिखरिणी, सगरा आदि का प्रयोग अपेक्षाकृत विरल है। परन्तु वाक्यावली और शब्दावली में श्रीहर्ष की रुचि क्लृप्ता और स्रष्टृता की ओर है, जिनमें कहीं-कहीं लयात्मकता और गति में बाधा पहुँची है।

( ५ ) वर्णन—श्रीहर्ष कल्पना के घनी कवि हैं। किसी विषय में कितना विचार किया जा सकता है, 'नैषधीयचरित' में इसकी इयत्ता नहीं प्रतीत होती। चाहे जो विषय हो, श्रीहर्ष उसका विस्तृत विवरण देने में समर्थ हैं। 'नैषध' में मनुष्य पशु, पक्षी, नगर, उपवन, प्रमात, रात्रि, स्वप्न आदि के विस्तृत और कवित्व-पूर्ण वर्णन हैं।

मानव वर्णन में नर और दमयन्ती के विस्तृत वर्णन हैं। प्रथमसर्ग के इकतीस श्लोकों में नर का और द्वितीय सर्ग के छब्बीस श्लोकों में दमयन्ती का वर्णन है। इनकी वियोग-कथा के भी विस्तृत काव्यमय वर्णन हैं, तृतीय सर्ग ( १००-१२८ ) में नर की वियोगदशा का और चतुर्थ ( २-१०१ ) में दमयन्ती की। अगले आठ श्लोकों ( १०२-१०९ ) में प्रतीतिर रूप में दमयन्ती और सखियों के पाण्ड्य से यह विवरण प्रस्तुत हुआ है।

- पशु वर्णन में अश्व-वर्णन है प्रथमसर्ग ( ५८-६४ ) में और हस्त तथा उसकी उठान का तो क्रमशः प्रथमसर्ग ( ११८, १२१, १२२ ) और द्वितीय सर्ग ( ६५-७२ ) में अत्यन्त स्वाभाविक विवरण उपस्थित किया गया है।

काव्यशास्त्रीय परम्परा के अनुसार उपवन ( १।७६-१०६ ) का और उसी में स्थित सरोवर ( १०७-११७ ) का वर्णन ॥ १-६४ ) में प्रभात और मृगोदय के विस्तृत विवरण हैं, इक्कीसवें ( १२५-१३४ ) में सध्या का । बाईसवें सर्ग में क्रमशः सध्या, रात्रि और चन्द्रोदय के विस्तृत वर्णन श्रीहर्ष की काव्य प्रतिभा के परिचायक हैं। कल्पना और उल्लेखों की ऊँची उठान इन वर्णनों में प्राप्त होती है।

नगर और नगर जीवन की समृद्धि तथा क्रिया कलाप तो कवि ने बड़ी स्वाभाविक दृष्टि से चित्रित किये हैं। द्वितीय सर्ग ( ७३-१०६ ) के कुठिन-पुरी तथा सप्तदश ( १६१-२०१ ) में नल की राजधानी तथा राजोद्यान ( २०६-२०८ ) का वर्णन किया गया है। राज्यसभा और स्वयंवर का इतना विस्तृत और विस्तृत वर्णन कहाँचु ही कही प्राप्त हो, पूरे पाँच सर्गों पाँच सौ के लगभग श्लोक ( १०-१४ सर्ग ) इस विवरण से पूर्ण हैं। भोज, भोग्य पदार्थ, वस्त्राभूषण आदि के वर्णन तो बड़े रमणीय और मनोरञ्जक हैं। इन सभी वर्णनों की एक बड़ी विशेषता यह है कि वे शास्त्रीय परम्परा का निर्वाह करते हुए भी कथानक के भाग ही प्रतीत होते हैं। ये वर्णन ऊपर से जोड़े गये, अलग अलग से नहीं लगते।

पुष्प, समुद्र आदि के वर्णन प्रायः नहीं हैं किन्तु क्या ये इनका अवसर भी तो नहीं है। शृङ्गार वर्णन कवि की विशेष शक्ति है। अष्टादश सर्ग तथा अथ नल दम्पती विलास के प्रसंग शृङ्गार-वेषाभूषण के प्रचुर विवरणों से परिपूर्ण है, कही कही तो इस सीमा तक पहुँच गये हैं कि आधुनिक सामान्य सामाजिक दृष्टि से वे ग्राह्य भी कठिनता से हैं। परन्तु नवदम्पती के जो रति चित्र इसमें हैं, वे कवि के कामशास्त्र की अभिरक्षा के सटीक उदाहरण हैं।

वस्तुतः कल्पना का अपार विस्तार और उसके अनुरूप महीन उद्भावनाएँ इन वर्णनों में प्रचुरता से उपलब्ध हैं। पर उनमें सरसता भी है और

हृदय को छूने की क्षमता भी। 'श्रीहर्ष' और 'नैषधीयचरित' के समान्य अध्येता और व्याख्याता डॉ० चडिकाप्रसाद शुक्ल का यह निष्कर्ष इस विषय में उचित ही है—'नैषध में जिन वस्तुओं का वर्णन उन्होंने ( श्रीहर्ष ने ) किया है, उनमें उनकी वृत्ति स्वयं रही हुई है।' प्रबल कल्पनाशक्ति और बहुज्ञता के मान सायं उन उक्तियों में हृदय को स्पर्श करने की क्षमता है। वे एक जटिल मुरझाए हुए हृदय में निकली समस्त पड़ती हैं।

( ६ ) शैली—'नैषधीयचरित' में यद्यपि कहा गया है कि 'धन्यासि वैदग्धिगुणैश्चरै' ( ३।११६ ) और इस दृष्टि से अनेक विद्वानों ने इस काव्य को वैदग्धि रीति प्रधान माना भी है और सामान्यतः यह सत्य भी है, तथापि अल्पसमासयुता पाञ्चाली और ओज प्रधाना गौडी पदरचना से 'नैषध' रहित नहीं है। ( द्रष्टव्य १।२ ) इसमें 'समस्तपञ्चपदपदबन्ध' भी हैं और आठम्बर पूर्ण समासबहुल भी ( द्रष्टव्य १९।१५३ में दो चरणों का समस्तपद ) किंतु प्रचुरता माधुर्यव्यञ्जक वर्णों की ही है और रचना लालित्य भी, ओज, प्रसाद, माधुर्य—तीनों ही गुण 'नैषध' के शृंगार हैं। यथोचित, यथावसर तीनों रीतियाँ और तीनों गुणों से युक्त पदरचना है। पदलालित्य तो 'नैषध' का उल्लेख्य ही है—'नैषधं पदलालित्यम्।' समासबहुल पद हो, या अन्यममास—साहित्य उनमें सर्वत्र है। अनुप्रास की छटा, श्लेषमय पदयोजना। पदों की ऐसी ममायोजना कि एक-एक वाक्य अनेक अर्थ देने लगे। स्वयंवर का 'पचनलीय' प्रसंग तो इस श्लिष्टपदयोजना के लिए विख्यात ही है, अथ भी अनेक प्रसंग ऐसे हैं, जिनसे कवि का पद-योजना-शौष्ठव प्रकट होता है। दमयन्ती ने कहा—'चेतो न लङ्कामयते मदीयम्'। ( ३।६७ )। इन एक वाक्य से तीन भाव प्रकट हुए—( १ ) मेरा चित्त लका की कामना नहीं करता—'चेतो न लङ्कामयते।' ( २ ) चित्त नल की कामना करता है—'चेतो नल कामयते'। ( ३ ) और यदि यह न हो सके तो जाग में जलने को जो चाहता है—'चेतोऽनलङ्कामयते'। लज्जाशीलाकुमारी की लाज भी रह गयी और हृदयगत भाव भी ( सम्पन्न होने के लिए ) स्पष्ट हो गये। 'साहित्य-विद्यापरी' के अनुसार यहाँ श्लेष भले ही हो, पर यह सामान्य श्लेष योजना ही नहीं है, कवि के 'एक शब्द सम्पत्तात् सुष्ठु प्रयुक्त' का उदाहरण है।

‘नैपथीयचरित’ के आलोचको ने श्रीहर्ष की शैली की आठ विशेषताएँ गिनायी हैं। यहाँ उनका उल्लेख करना अनुचित न होगा—( १ ) अनुप्रास की पर्याप्त योजना। ( २ ) श्लिष्ट पदरचना ( ३ ) वक्रोक्तिपूर्ण वाक्य। ( ४ ) कल्पनामयी उपमाएँ ( ५ ) विभिन्न प्रकारकी उपमाएँ। ( ६ ) व्यंग्यपूर्ण समापण। ( ७ ) नाटकीय संवाद-योजना और ( ८ ) कमणि लुङ् और भावे प्रयोग। अनुप्रास तो प्रथम श्लोक से प्रकट हो जाता है—‘क्षिति रक्षिण’ ‘सुधा सुधाम्’ ‘महसा महोज्ज्वल’ आदि। श्लिष्ट-पदयोजना की पराकाष्ठा तो ‘पचनलीय’ प्रसंग है ही। वक्रोक्ति के श्रेष्ठ उदाहरण हैं, चतुर्थ सर्ग ( १०२-१०९ ) में, जहाँ उत्तरश्रव्युत्तर रूप में सखी दमयन्ती संवाद है। उत्प्रेक्षाओं की तो इसनी प्रचुरता है कि पद पद पर उनका चमत्कार दीख जाता है। ( द्रष्टव्य १।१२३, २।३१, २।३४, २।३५ आदि )। उपमाएँ अनेक प्रकार की हैं—मालोपमा, गूढोपमा, श्लिष्टोपमा। ( श्रेष्ठ उपमाओं के लिए द्रष्टव्य १।४१, १।१४, १।१२७ आदि )। व्यंग्यपूर्ण समापण के श्रेष्ठ उदाहरण बीसवें सर्ग में हैं। ( २०।६५, ६७, ९० )। इनमें लोक-व्यवहार ज्ञान और सभाषण कुशलता का द्योतन हुआ है। नाटकीय-संवाद-योजना चतुर्थ सर्ग ( १०२-१०९ ) के प्रश्नोत्तर हैं। नाटकीयता भी यत्र-तत्र है, भोज प्रसंग में, केलि मन्दिर प्रसंग में। कमणि लुङ् और भावे प्रयोग के लिए उदाहरणीय हैं ३।१३१, ४।१७-४३ तथा ५।५०, १७ आदि।

अलङ्कार-अलङ्कार योजना की दृष्टि से श्रीहर्ष की अलङ्कार प्रियता प्रसिद्ध ही है। श्लेष, उत्प्रेक्षा, व्यक्तित्वेन, प्रतीप, वक्रोक्ति आदि का प्रचुर प्रयोग ‘नैपथ’ में मिलता है। इसी अलङ्कार प्रचुरता के कारण प्रायः संकर या समृष्टि की संभावना आ जाती है। यहाँ ध्यान देने योग्य है कि अलङ्कार-योजना कवि का स्वभाव है, वह अमसाध्य नहीं है। चित्रालङ्कार कवि को प्रिय नहीं है। कल्पना के घनी कवि के सब से प्रिय अलङ्कार उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति हैं। अनुप्रास, घमक आदि पञ्चालङ्कार तो अनायास—मानो कवि के अंतर्जने ही—आ जाते हैं। हाँ, श्लिष्ट प्रयोगों में कवि के पादित्य, श्रम, पञ्चकोप ज्ञान, व्युत्पत्ति का विशिष्ट परिचय मिलता है। इससे अतिरिक्त उनकी उपमान-योजना उपमालङ्कार की अतिरिक्त रूपक, प्रतीप,

व्यतिरेक आदि के माध्यम से भी हुई है। इनके व्यतिरिक्त विरोधानाश, विनोयोक्ति, जाति आदि का भी प्रयोग किया गया है। हनक-वन्देसा का तो अनेक स्थानों पर योग हुआ है। ( द्रष्टव्य ११५८, ११८४ आदि )। अनेक अलंकारों के मेल के तो अनेक उदाहरण हैं। द्रष्टव्य १११७ ( वचना-वन्देय सहोक्ति ), ११२० ( छेकानुदास-परिकर ), ११२१ ( अन्हनुति वन्देसा ), ११०८ ( वचना हनक-जाति ) आदि-आदि। अर्धान्तरस्यास के भी अत्यन्त माध-म्य प्रयोग 'नैपथ' में उदाहरित हैं। उदाहरणार्थ—११५०, ५४, १०२, १३१, २१४८ आदि। स्वनामोक्ति (जाति) के अच्छे मनोरम उदाहरण इस प्रसंग में हैं। (द्रष्टव्य २१२, २१० आदि)। समासोक्ति के उदाहरण के लिए तो 'नैपथ' का 'नवा लता गन्धवहेन शुम्बिता'—इत्यादि ( ११८५ ) काव्यशास्त्रियों में प्रसिद्ध है।

'नैपथ' अलंकारों का सार है। उक्त अलंकारों के व्यतिरिक्त उनकी वक्रोक्तियाँ और व्यंग्योक्तियाँ बड़ी प्रभावशालिनी हैं। पाशत यमक का तो अत्यन्त स्मरणीय और दृशनीय उदाहरण है—मयासीत् कानने तत्र विनिद्र-कल्पा लता। तदा नल्लच्छासकितविनिद्रकलिका लता ॥ ( १७१२१८ ),

श्रीहर्ष की ऐसी विद्वत्तापूर्ण है। कहा जाता है—'नैपथ त्रिद्वदोपघम् !' 'नैपथ' में यह विद्वत्ता प्रचुर मात्रा में प्रमाणित है। 'साहित्यविद्याधरी'—कर्ता ने श्रीहर्ष को विविध शास्त्रों का वेत्ता सुधी कोविद कहा है—

अष्टौ व्याकरणानि तर्कनिबहु साहित्यसारो नयो

वेदार्थावगति पुराणतटितिर्यस्यान्यशास्त्राग्यपि ।

नित्य स्मृ स्फुरितार्थदीनविहताज्ञानाग्नकाराग्नयो

ध्यात्वातु प्रभवत्पम सुविषय सर्वे सुधी कोविद ॥

'नैपथपरिशीलन' के विद्वान् रचयिता डॉ० चट्टिकाप्रसाद मुखर्जी ने अपनी इसी प्रकार की मान्यता पुष्टि में डॉ० सुशीलकुमार दे के 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' से जो उद्धरण दिया है, वह भी 'नैपथ'कार की विद्वत्ता और पौढित्य का समर्थन करता है—'नैपथचरित केवल एक वैदुष्यपूर्ण काव्य ही नहीं है, अपितु अनेक प्रकार से परस्परगत ज्ञान का माठार है।'



इसी कारण 'नैपथ' में दुरुहता भी आ गयी है। 'नैपथ' का ठीक ठीक आनन्द वही ले सकता है, जिसे अलंकारशास्त्र के साथ-साथ व्याकरण, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदांत मीमांसा ( पददर्शन ) और चार्वाक, बौद्ध, जैन आदि दार्शनिक सिद्धान्तों से अच्छा परिचय हो। इसी कारण अनेक भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों को 'नैपथीयचरित' में कलापक्ष की अपेक्षा भावपक्ष दुर्बल प्रतीत होता है, यद्यपि नैपथकार का आत्मकथन है कि ये गाँठें उसमें इसलिए डाल दी हैं कि विद्वन्मन्य स्वजन इस काव्य से खिलवाड़ न करें, यह स्वजन विद्वानों को ही आनन्द दे सके —

प्रमप्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रपन्नान्मया

प्राज्ञमयमना हठेन पत्नी मास्मिन् स्वल खेलतु।

अद्वारादयुक्त्वयोरुत्तमद्वयं च समासाद्य-

त्वेतत्काव्यरसोमिमज्जनमुत्तम्यासज्जन सज्जन ॥

**व्याकरण**—व्याकरणानुसार शब्द प्रयोग जानना तो सामान्य स्थिति है, श्रीहर्ष ने व्याकरण के सूत्रों को आधार बना व्यंग्य की सृष्टि की है। पाणिनि के सूत्र 'अवर्गे तृतीया' ( अष्टा० २।३।६ ) को लेकर कलि कर्ता है कि मोक्ष का तो स्त्री पुण्य के लिए औचित्य ही नहीं है, वह अपवग इनसे भिन्न ( मपुंसक ) के निमित्त होता है। ( १७।७० ) मुनि का मन तो स्त्रीपुंसलक्षणा प्रवृत्ति का चर्म तो काम-सज्जा है। इसी प्रकार 'नैपथ' में पाणिनि-सूत्रों को आधार बनाकर इन्पे का चर्मस्कार भी दिखाया गया है। 'स्थानिवदादेशो-ऽनन्विधो' ( अष्टा० १।१।५६ ) का आधार बनाकर इन्द्र को दोषी सिद्ध किया गया है ( १०।१३० या १३६ ), 'अस्तेभू' ( अष्टा० २।४।५२ ) के आधार पर वाशी का महत्त्व प्रतिपादन किया गया है ( ११।११७ ), 'बुहोस्तावद्भ्राजिष्ययतरस्याम्' ( अष्टा० ७।१।३५ ) का उपयोग प्रभात-वर्णन में किया गया है ( १९।६० या ६१ ), और 'अत इतिष्ठो' ( अष्टा० ५।२।११५ ) द्वारा व्याकरण नियमों की अपेक्षा लोक-व्यवहार की मान्यता प्रमाणित की गयी है ( २२।८४ )। कवि का कथन है कि जैसे 'द्योऽस्यास्ति इति राप्ती' उक्त सूत्र के नियम से 'मनुवर्ष' में निष्पन्न होता है, वैसे ही 'मृगोऽस्यास्तीति मृगी' नहीं निष्पन्न होता, अतः 'लदयमुद्दिश्य लक्षणप्रवृत्ति

मनु उज्जयिनीस्य लक्ष्मप्रवृत्तिः' इत्यादि व्याकरण प्रयोगमूल होता है, प्रयोग में 'व्याकरणान्नोक्त एव बलीयान् ।'

ऐसे ही 'मु, औ, जन्' के आश्रय पर स्वेय-चमन्सार विधाकर तल-प्रसारा की गयी है । ( द्रष्टव्य ३।३३ ) । मल्लवर्णन में 'अधोतिबोधावरण-प्रधानं' ( १।४ ) के प्रयोग का आधार है पातञ्जल 'महानाम्'—'चतुर्निष्ठ प्रकारविद्योन्मुक्ता भवति आगमकालेन, स्वाध्यायकालेन, प्रवचन-कालेन, व्यवहारकालेन (भाष्य १।१।१) । जनेक स्वर्णों पर श्रीहर्ष ने तर्कीन शब्द रचना भी की है, जैसे मृन्नायक, प्रतीनचर और क्षिणामुक्ता । ( १।८। १२४ या १२९ ) ।

यद्वदर्शन - न्यायशास्त्री गौतम को ( १७।७४ या ७५ने ) वैशेषिक-कृतां कणाद को ( २०।३५ या ३६ में ) उग्रहास का पान बनाया है । वैश्वतर्जुन पर व्या है 'स्व च'ग्रह्य च'—इत्यादिमें ( १७।७३ या ७४ ) । सादर के सत्कार्यवाद सिद्धांत ( कार्यकारणयोन्निभेदो नास्ति ५।१४ ) योगदर्शन की सप्रज्ञात समाधि ( २१।११८ ), वैशेषिक के परमाणुवाद ( ३।३७ ) और मन की अप्रकृतता ( १।५९ ) पूर्वमीमांसा की देशों की उद्योगरता ( १।१७ ) का उल्लेख भी श्रीहर्ष ने किया है । 'नैषध' ने मेमांसकों का उग्रहास भी किया गया है ( १७।६५-६२ ) । पारिभाषिक शब्द भी मिलते हैं, उदाहरणार्थ—पूर्वपक्ष उत्तरपक्ष ( १०।८० ) । उत्तरमीमांसा ( वैश्वान्त ) के 'उपस्थेष्टु हीन्द्रिमेष्टु स्वप्नान् पश्यति' ( शकुराचार्य ) सिद्धांत के उपयोग के लिए द्रष्टव्य है 'नैषध' १।४० । ब्रह्म-प्राप्ति-पद्धति के लिए द्रष्टव्य है २।३, ४; ५।८ और ९।१२१ । ब्रह्मविचार ( ७।५८ ) भी है और मोक्षदशा का वर्णन भी ( ९।१२१ ) ।

बौद्धदर्शन—बौद्धदर्शन के शून्यवाद, विज्ञानवाद और साकारवाद का ( १०।८८ ), पारमिता का ( ५।११ ), 'चतुष्कोटि' और 'पडमिता' ( २१।८८ ) का उल्लेख भी श्रीहर्ष ने किया है और चार इच्छाओं में ( २१।८८-९१ ) बुद्धमगवान् के प्रति श्रद्धा भी प्रकट की है ।

जैन-दर्शन—जैनदर्शन के 'गिरल' ( सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चरित्र ) मुख्य तत्त्व हैं । इन का उल्लेख 'नैषध' ( ९।७१ ) में है ।

**चार्वाकदर्शन**—सत्रहवें सत्र ( १७-८३ ) में कलि के वतव्य का अपार चार्वाकदर्शन ही है। प्रायः सभी दर्शन-सिद्धांतों का इसमें उपहास है। 'मत्स्य भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कृतं' का तो उद्धरण ही है ( १०।६९ )।

**सामुद्रिकशास्त्र**—सामुद्रिक ज्ञान का परिचय भी 'नैषध' में अनेक स्थलों पर मिलता है। 'सामुद्रिकसारमुद्रणा' ( २।५१ ) है, पद्म ( १।६५ ), मत्स्य ( १।१०५ ) और वज्र ( २०।७१ ) रखाएँ भी हैं, ऊर्ध्वरेखांकित चरण भी हैं ( १।१८, १३।६ )।

**तन्त्र**—श्रीहर्ष तान्त्रिक थे, मन्त्र तन्त्र के साधक। उनकी चित्-तार्तमणि मन्त्र की साधना विख्यात ही है। अनेक तन्त्र-ग्रन्थ उल्लेख 'नैषध' में हैं। तन्त्रसिद्धि की उपयुक्त अष्टमी निशा ( ७।२३ ), सवित्र सिद्धि की चौदस की रात ( ७।९७ ), चित्-तार्तमणि मन्त्र की साधना विधि और कल ( १४।८७ ) के उल्लेख इसके प्रमाण हैं।

**प्राणिविज्ञान**—जल-स्थल और आकाश तीनों के प्राणियों से सबढ ज्ञान का उल्लेख 'नैषध' में है। प्रथम सर्ग में अश्वसंधी वर्णन श्रीहर्ष में गालिहोत्र का ज्ञाता सिद्ध करता है। इसमें अश्व रुक्षण, स्वभाव, गति आदि का श्रेष्ठ चित्रण है। हम प्रथम पक्षिविज्ञान का परिचायक हैं। मयूर, कोकिल, उलूक आदि के भी उल्लेख हैं। जलचर मीन से सबढ उल्लेख नेत्रों की उपमा के लिए तो हैं ही, मीन-प्रकृति का भी निरीक्षण मिलता है ( ४।३५ )।

**अन्य शिल्प ज्ञान**—रत्नरत्ना ( १०।९४ ), चित्रकला ( २०।१३६ ), शकुनज्ञान ( ५।१६४, १०।९१ ) तथा पौडस सर्ग में पाककला का ज्ञान भी संकेतित हो जाता है। वस्तुन लोक जीवन में श्रीहर्ष की गहरी पैठ थी। लोक-जीवन के व्यवहार और रीतियों के उल्लेख 'नैषध' में प्राप्त हैं। द्रव्य-प—दीठ लगाना और उसका उपाय ( २।२६ ), बाजल बनाने की रीति ( २२।३१ )।

**वेद-वेदांग पुराणेतिहासदिका ज्ञान**—जहाँ तक इनका प्रश्न है, श्रीहर्ष इन ज्ञान के अधिकारी विद्वान् । वैदिक हिरण्यपुरुष-रूप ह्य ( १।११७ ), ब्रह्मानन्द ( २।१ ), वेदापाठ ( ३।७५, १०।६६, ११।५२ ) आदि विवरण श्रीहर्ष के वेद-सबढ ज्ञान के परिचायक हैं। श्रवण, मनन, विधि निदिध्यासन ( ३।८२ ), आनन्दरूप ब्रह्म ( ५।८ ), देवानन्द अग्नि

( १०।२१ ), शतक्रतु इन्द्र ( १७।१०४ ) आदि के उल्लेख उनके ओप-निषदिक ज्ञान का आभास कराते हैं । वैदिककर्मकाण्ड और वैदिक विधिया के अनेक उल्लेख भी 'नैषधीयचरित' में हैं । पृथ्वि, इमेन तथा कारीरीयाग के लिए द्रष्टव्य १७।९४, वैदिक विविज्ञान के लिए १७।१७७, दर्श, अग्निष्टोम, पूर्णिमास, सोमयाग ( १७।१९६ ), सौत्रामणि ( १७।१८० ), सर्वमेघ ( १७।१८६ ), महाव्रत ( १७ २०३ ) आदि के अनेक उल्लेख श्रीहर्ष ने किये हैं ।

वेदांगों में शिक्षा ( २।८९ ), निरुक्तोय व्युत्पत्ति ( दमयन्ती २।१८, न्यत्रोच ( १।१३०, पञ्चदश २२।१८ ) और ज्योतिष ( कवि, बुध १।१७ ) के उल्लेख 'नैषध' में सहजपाय्य हैं । उनका छन्दशास्त्र का ज्ञान पृथक् दिखाया ही जा चुका है ।

पुराणेतिहास-ज्ञान के परिचायक तो अनेक उल्लेख हैं । प्रथम सर्ग में बाणपुत्री तथा और श्रीकृष्ण-पौत्र अनिरुद्ध की कथा ( १।३२ ), शिवपूजा ने त्यक्त केशकपुष्प ( १।७८ ), मदन-दहन ( १।८७ ), समुद्रान्तर्गत मंनाक ( १।११३ ), और वामनावतार ( १।७२४ तथा ५।१३० ) के संकेत हैं । प्रलय काल में विष्णुवराह मार्कण्डेय का कई स्थानों पर उल्लेख है ( १।९१, १०।३०, १२।९५, २१।९४ ) राहु द्वारा चन्द्र ग्रहण भी कई स्थानों पर संकेतिक है ( १९६, ४।६४, ६५, ७१, ७२, १२।९४, २२।६६, १३६, १४८ ) । अगस्त्य द्वारा समुद्रपान ( ४।११, २२।६७ ), प्रणाम करते विग्ध्याचल का अगस्त्य की प्रतीक्षा में झुका रहना ( ५।१३० ), दधीविक्षया ( ५।१११ ), पृथुचरित ( ११।१० १२।२० ), पारिजात-हरण ( १०।२४ ) ऐरावत को दुर्वासा का शाप ( १६।३१ ), सजीवनी विद्या द्वारा कच का पुनर्जीवन ( १९।१५ ), शर्करा-गिरि और अमृत-मन्थन ( २१।१३९ ), इत्यादि पौराणिक सदृश यत्र तत्र 'नैषध' में हैं । विष्णुपूजा प्रसंग ( २१ सर्ग ) में रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत आदि के अनेक प्रसंग हैं ।

यत्र-तत्र अन्य शास्त्रों के सङ्ग भी पर्याप्त हैं । अयंशास्त्र ( ४।८१ 'पुष्परपि न षोडश्व्य किं पुनर्निघर्तं शरे' ), धर्मशास्त्र ( १।९७, ९।८१, ८२, १५१, ११।९२, १४।६८, १५।६४, २१।१२, २१।२० ) के अनेक नियमों

का सचेत हैं : आयुर्वेद ज्ञान के सूचक हैं—सांज्ञानिक रोग का चिकित्सको में प्रविष्ट हो जाना ( ३।११ ), सर्पदण्डचिकित्सा ( ४।३३ ), ताप शान्ति के निमित्त नलद ( मस ) का सुश्रुत और चरक द्वारा अनुमोदित प्रयोग ( ४।११६ ) । घनुर्वेद से ओह्य का अच्छा परिचय प्रतीत होता है, द्रष्टव्य ३।१२६, १२७, १०।११७, ११९, २१।१५८ । राजनीति शास्त्र ( १०।१३, २०।१३३ ), और संगीतविद्या ( १।५२, ११।६, १२।१६, १५।१६ १७ १८।१३, २१।१२४, १२५, १२७ में नृत्य, गान, वाद्य के सूत्र ) का सूचक है । कामदास के तो ओह्यें विज्ञाता ही थे, अष्टादश मंत्र तो इसका पूरा परिचायक है ही, कामदास ( ६।१०१, ११४ ) कामज्वर ( ४।२ ) आदि के वर्णन भी है । ऐसी कामग्रीडाओं का वर्णन उन्होंने किया है, जिनका ज्ञान न तो महाकवियों को है और न पासुलाओं—स्वर्गविहारिणियों को—महाकविभिग्न्य-वीक्षिता पासुलाभिरपि ये न विक्षिता । ( १८।२९ ) ।

सोच—इतने ज्ञानी, जगत् पांडित्य के अभिमानी महाकवि के महाकाव्य में यदि अनेक विद्वानों को दोष भी लगे तो आश्चर्य ही क्या ? आलोचकों की इस दोषदृष्टि को विद्वानों ने इस प्रकार परिणमित किया है ।—

( १ ) भावपल की अपेक्षा कलापल की प्रबलता ।

( २ ) शास्त्रीय सूत्रों का अतिशय प्रयोग ।

( ३ ) विलम्ब कल्पनाओं की पुनरुक्तिमुक्त कथावरोधिका अतिशयता ।

( ४ ) शृङ्गार की अत्यन्तता और उज्ज्वलित अमर्यादा ।

( ५ ) शीघ्रता का अतिवृद्धि । उदाहरणार्थ सभी तरुणियों द्वारा ( स्वप्न में ही सही ) नल को पति रूप से भजना ( १।३० ), शृंगु, नारद, व्यास आदि का भी समक्षता पर मोह ( ७।९५ ), स्वयंवर हो जाने पर भी चन्द्र-बिन्दु के माध्यम से उसके प्रति हृत्त्र का मोह ( १५।६४ ), हरिहरादिद्वाराओं का सर्वत्र मदन वारा में वन्दिनी रहना ( १७।७६ ) आदि ।

( ६ ) आर्वावदर्शन के कलि द्वारा प्रतिपादन से देव आह्वानादि पर लम्बे आशेष ।

( ७ ) लम्बे अनावश्यक वर्णन ।

( ८ ) अप्रचलित तथा नवगठित शब्दों के प्रयोग से उत्पन्न दुरुहता और

दुर्बोधता, उदाहरणार्थ आदकार, शून्यता, बहुपार ( अप्रतिष्ठ, अप्रचलित ), अप्रतीतचर, ह्रस्वसृज, सुननायक आदि ( नवगठित ) शब्द ।

( ९ ) महाभाष्योचित विस्तृत जीवन-दर्शन का अनाव और एकागिता ।

( १० ) रचना-दाय, जिससे जन्यमित्त अर्थ भी समव है तथा अनेक शास्त्रवर्णित दोषों की स्थिति, उदाहरणार्थ १।१० ने 'मृग' का दुष्क्रम प्रयोग, चन्द्रक पुष्प पर बैठने से अमर की मृग्य की स्थाति विरुद्धता ( १।८६ ), अमर-पक्षि का चम्पा की कच्ची पर बैठना—प्रतिष्ठितता ( १।९१ ), अनेक स्थानों पर किण्वत्त्व, नपुंसकल्पि = प्रयुक्त होने वाले पद्य का द्वितीया बहुवचन में पुल्लिङ्ग-प्रयोग 'पद्यम्' ( १०।१२० )—व्याकरणविरुद्धता आदि ।

( ११ ) शृङ्गार और हास्य इनमें परलीकता ।

'हिस्ट्री आफ् सम्बुत लिटरेचर' वाल्यून १, पृ० ३२८ में डॉ० सुशील कुमार दे न लिखा है कि आधुनिक दृष्टि के पाश्चात्य अन्वयाज समीक्षक को श्रीहृष की कृति अरुचिपूर्ण और संज्ञों की दृष्टि से प्रयत्न अनुन्दर लगे तो आश्चर्य नहीं—'इट इज नो बटर, दैट अजिय गाय मार्बल स्टैड्स, एन हर्सेट वेस्टर्न क्रिटिक शुड स्टिम्माइज दि बर्क एज ए परफेक्ट मास्टर पीज आफ् बैड टैल्ट ऐंड बैड स्टायल' ।

वस्तुतः यह दोष-दण्ड 'गुणनिर्गत' चन्द्रकिरणों में कलक के समान हैं और कुछ अतिपरपरावाद तथा आधुनिक समीक्षा दृष्टि के परिणाम भी हैं । 'नैपथीयवरित' के अनुशीलन के समय अन्वयाजी से काम नहीं चलता, उसके लिए सुस्थिरता और सुरिपर मति अपेक्षित है । श्रीहृष की कविता कामिनी की रमणीयता से सुधीजन ही प्रभावित होते हैं, 'कुमारों' (बालकों) के लिए वह नहीं है—'परमरमणीयाधि रमणी कुमारानामन्त-करणहरण नैव कुस्ते' ।

श्रीहृष की कृति सुधीजनों को आनन्दित कर सके, इसी में उसकी सार्थकता है, रसहीन जनों के अनादर से उसका कुछ विग्रहता नहीं—

'मदुक्तिश्चेदन्तर्जयति सुधीभूय सुधिय' ।

किमस्या नाम स्यादरसमुत्थानादरभरे ॥'

जहाँ तक चन्द्र-प्रयोगों में नवगठितता का प्रश्न है, वह तो श्रीहृष का स्तुत्य नवीन प्रयास है । राजा के लिए भुजानि ( १।२ ), काम के लिए सुननायक, जाननेहारी के लिए अधियामुखा, पूर्वाज्ञात के लिए अप्रतीतचर

चरितम्', अर्थात् निपथराज ( नल ) का चरित । इससे उसका उद्देश्य भी स्पष्ट हो जाता है, वह अपने इस 'राजचरित' के माध्यम से निपथराज के महनीय चरित का उज्ज्वल पक्ष दिखाना चाहता है । उसे छूत में पराजित श्रीहीन नल का चरित अभीष्ट नहीं, वह नल का वैभव, उसकी कलाविज्ञता, त्रिलोकधन्य पौरुष, उदारता, वदान्यता, दानशीलता, गम्भीरता, दृढप्रतिज्ञता, आस्तिकता, विलासकील, गम्भीर अनुराग आदि वस्तुमानवीय गुण पाठकों के समुक्त रखना चाहता है । नल-सम्बन्ध से रमणीयतन दमयन्ती का गौरव भी स्पष्ट हो जाता है । अनेक घातना के सदम न केवल कवि की बहुश्रुता के परिचायक हैं, कविसिद्धा भी उसका उद्देश्य है । यदि 'नैपथ' का साङ्गोपाङ्ग गम्भीरता से अध्ययन मनन किया जाय तो संक्षेप में भारतीय वाङ्मय और संस्कृति का अच्छा परिचय प्राप्त हो सकता है ।

पाश्चात्य दृष्टि के अनुसार इसके 'दर्शन' में व्यापकता और अपेक्षित उदात्तता मले ही न हो और इस प्रकार उनके समीक्षण में यह एक आदर्श 'एपिक' सिद्ध न हो सके, यह विचारणीय नहीं है, देखना यह है कि 'नैपथीय चरित' उन्हें कितना रिखा पाता है, जिनको ध्यान में रखकर इसका प्रणयन हुआ है, यह 'नैपथीयचरित' अपने सुधी पाठकों को 'सुधीभूय' ( अमृत बनकर ) मतवाला बना सकता है अथवा नहीं ? यदि कवि के इस कथन अथवा प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में मिलता है, तो यह कहना पूर्णतः उचित है कि अपने उद्देश्य में कृताय है—'किमस्या नाम स्यादरसपुरुषानादरभरं' ?

संक्षेप में कहा जा सकता है कि 'नैपथीयचरित' के रूप में श्रीहर्ष की 'उक्ति'—'वैशम्पयनीमति' धीरसागर के समान अमृतदायिनी है, यह पर्वत-पाषाणों से उद्भूत आहम्बरकालाहल करती नदी नहीं —

दिशि दिशि गिरिप्रावाणः स्वां वमन्तु सरस्वती

गुल्मयतु मिषस्तामापातस्फुरदध्वनिदम्बराम् ।

स परमपर क्षीरोदम्बान्यमुदीयते

मधिनुरमृत सेदञ्छेदि प्रमोदनमोदनम् ॥

गुरुगुणिमा

वि० स० २०४१

—देवीय सनादध

॥ श्री ॥

# नैपथ्यसहाकाव्यम्

मल्लिनार्थकृत 'जीवानु'सहित-  
सान्त्वय-सङ्क्षिप्तणः 'चन्द्रिका' हिन्दोद्याख्योपेतम्

## प्रथमः सर्गः

निपीय यस्य क्षितिरक्षिण कया तयोर्द्वयन्ते नृबुधाम्बुधामपि ।

नलस्सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलस्स राशिरासीन्महमा महोज्ज्वल ॥ १ ॥

जीवानु—अथ तत्रभवान् श्रीहर्षकश्च 'काव्य यश्चेऽर्पयते व्यवहारविदे  
शिवेतरक्षणे । सद्यः परनिर्गते कातासम्मिततपोपदेशयुजे ॥" इत्यालङ्कारिक-  
वचनप्रामाण्यात् काठप्रधानैकत्रेयसाधनत्वाच्च 'व्याख्यापादव वज्रयेति'ति  
सन्निपेयस्यासत्काव्यविषयता पश्यन् नैपथ्यात् महाकाव्य चिकीर्षुश्चिकीर्षितामा-  
विष्णुपरिष्मासिद्धेवो 'आसीर्नमस्त्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखमि' त्यासीरा-  
द्यन्यतमस्य प्रबन्धमुख्यलक्षणं वा कथानामकस्य राशो नलस्य इतिवृत्तरूप मङ्गल  
वस्तु निर्दिष्टति-निपीयति । यस्य क्षितिरक्षिण, क्षमापालकस्य नलस्य कथाम्  
सपाठयानम् । निपीय नितरामात्माध पीड् स्वादे क्वो त्यबादेशः न तु पिबते-  
'न त्यपो' ति प्रतिपेयादीत्वासम्भवात् । बुधास्तज्ज्ञा मुराश्च 'शानृचान्द्रिमुरा  
बुधा' इति क्षौरस्वामी । सुधामपि तथा येय कथा नद्वित्यर्थे, नाद्रियन्ते, सुधा  
मपेक्ष्य बहु मन्यन्ते इति भावः । सितच्छत्रित सितच्छत्र इव सितावलीवृत्त-  
मिन्द्रियं, तत् कृत्राविनि व्यन्तात् कर्मणि क्त । कीर्तिमण्डल येन स । महासा  
तेजसा राशिः खरिरेति भावः । महै उत्सवे उज्ज्वल दीप्यमानो नित्यमहोत्स-  
वशालीत्यर्थः । 'महै उद्वल उत्सव' इत्यमरः । स नृ ब आसीत् । अत्र नले महासा



‘क्षितिरिति कीर्तिमण्डले च सितच्छत्रत्वरूपस्यारोपात् रूपक कथायाश्च सुधापेक्षया  
 ‘क्षत्र्यान् व्यतिरेकश्चेत्यनयो समृष्टिः । तदुक्तं दर्पणे ‘रूपकं रूपितारोपाद् विषये  
 निरपह्नवे’ इति । “आधिव्यमुपमेयस्योपमानान्मूननाऽप्यत्र । व्यतिरेकः” इति  
 मियाऽपेक्षमतेषा स्थितिः समृष्टिश्च्यते इति च । अस्मिन् सर्वे वक्ष्यन्ते वृत्त, ‘जनी  
 तु वक्ष्यन्मुदीरित जरावि’ ति तत्त्वशृणु ॥ १ ॥

अन्वय — यस्य क्षितिरक्षिण कथा निधीय बुधा सुधाम् अणि तथा न  
 आद्रियन्ते सितच्छत्रितकीर्तिमण्डल महसा राशि महोज्ज्वल ता नल आसीत् ।

हिन्दी—जिस पृथ्वीपालक की कथा का पान करके विद्वज्जन अमृत का भी  
 वैसा आदर नहीं करते, ऐसा ( अपने ) श्वेत छत्र ( आतपत्र ) के समान  
 पगोनडल से युक्त, उत्सवा से देदीप्मान, तेजोराशि राजा नल था ।

टिप्पणी—‘नैषधीयचरित’ महाकाव्य के रचयिता महाकवि श्रीहर्ष ने विष्णु-  
 बिनाश के निमित्त काव्य के नायक राजा नल की कथा-रूप मंगलकारिणी वस्तु का  
 , हम श्लोक द्वारा निर्देश किया है,—“माघी कथन” और ‘नमोवाद’ के अनुरूप  
 ही कथावस्तु का निर्देश भी मंगलविधायक होता है । राजा नल की कथा  
 अमृत से भी अधिक मरस है, कवि का यह भाव है । ‘बुध’ शब्द का अर्थ  
 ‘देवता’ भी है, अतः यह भी भाव है कि सदा सुधापान करने वाले देवता भी राजा  
 नल की कथा का आस्वादन कर अमृत को पहिने जैसा आदर नहीं देते । ‘क्षितिर-  
 क्षिण’ का प्रथमा बहुवचन मानकर यह अर्थ भी हो जाता है कि धन्य धरती  
 के पालक राजा यज्ञादि द्वारा प्राप्त अमृत को भी मल-कथा का आस्वादन कर  
 भूल जाते हैं । ‘क्षितिरक्षिण’ का एक अर्थ फण पर धरती को धारण करने वाले  
 ऐश-इन्द्रादि नाग भी है और ‘सुधा’ का अर्थ ‘पुत्रज माजन’ भी । इसमें भाव  
 यह हुआ कि पातालवासी नागादि भी नल कथा में उतनी ही रूचि रखते हैं,  
 जितनी कि पृथ्वीवासी बुधजन और स्वर्ग में बसने वाले देवता । भावार्थ यह  
 कि नल का पद त्रिलोकी में ग्यात है । ‘सुधाम् + अणि’ का खण्ड करके ‘नैष-  
 धीयप्रकाश’ प्याटमाचार नारायण पट्टिन ‘अणि’ का अर्थ ‘चन्द्रमा मे’ करके  
 यह अर्थ भी करते हैं कि देवगण ‘सुधाजन्मपारा’ चन्द्र को भी राजा नल के  
 समान नहीं समझते ।

‘श्रितिरक्षि’ का अर्थ कलि के भय से भुक्ति दिलाने वाला राजा नल भी हो सकता है—अर्थात् ‘श्रि’ धातु से ‘स्त्रिया क्तिन्’ हो ‘जिति’ निष्पन्न हुआ, ‘क्षिति’ अर्थात् नाश। ‘क्षिति — अक्षिण’ ( लक्ष बासो यस्य स लक्षो अर्थात् पक्षि में वास करने वाला कलि ) अर्थात् लक्षो-कलि की क्षिति-भय में आकर नश्वर रह जाता। कहा जाता है—‘ककौटकस्य नानस्य दमयन्त्या नलस्य च । पश्य राक्षसे कीर्तनं कलिनाशनम् ।’

‘लक्षो यस्य सन्नि स लक्षो तस्य अक्षिण’ अर्थात् द्यूतव्यसनी राजा नल, उसकी भी ‘क्षिति’ अर्थात् धरती या राज्य है, यह आश्चर्यजनक भी है। सो द्यूतव्यसनी नरेश की क्या निश्चयतः मनोरञ्जक होगी, सुधा से भी तरस। श्रितना विचित्र है कि वह राजा अनन्त कीर्तियानी भी है।

राजा नल ‘महसा राशि’ अर्थात् सूर्य के तुल्य वैजम्बी है, ‘स’ अर्थात् वही नल। अर्थात् सुसोमना अथवा सुसोम्रेता श्लकार मानकर अर्थ हुआ कि सूर्यतुल्य वैजम्बी प्रतापी नल के अतिरिक्त कोई नहीं हुआ। नल की यही सूर्य से समता चद्रादि के प्रति अवज्ञा का कारण भी है। सूर्य ही क्यों करके अन्नोन्नादन है। ‘आदित्याज्जायते दृष्टिः ।’

‘महोत्सवः’ का विग्रह ‘महै उत्सवः’ करके उन्मत्तों से देदीप्यमान अर्थ हुआ। ‘महान् उत्सवः शृङ्गारो यत्र दमयन्त्या.’ विग्रह में मह अर्थ भी संकेतित होता है कि दमयन्ती का उत्सव अर्थात् शृङ्गार ( रति ) नल में ही था। ‘शृङ्गारं सुविज्ज्वल इत्यमरः ।’

इस सर्ग में प्रथम श्लोक से १४२वें श्लोक (मुखाः कयाहूय) तक वक्षस्ये छंद है। श्लोक में शब्दालंकार अनुप्रास है। जयाँलंकार उपमान ‘सुधा’ से उपमेय क्या का आधिक्य—निर्देश होने के कारण व्यतिरेक है और सूर्य और नल का अमेद होने से रूपक अथवा प्राकृतिक नल और अलंकारिक सूर्य के दिष्ट पद में अनुबन्ध होने से श्लेष। इस प्रकार व्यतिरेक और रूपक की सन्निधि तथा रूपक और श्लेष का संकर हुआ। ‘सिन्धुवर्णकीर्तिमन्त्रः’ सूर्य का भी विशेषण है—‘श्वेतावनीवृत्त नीतिमुक्त मन्त्रस्य सः’—श्वेत छत्र के समान विस्तृत मण्डल वाला सूर्य।

रसे क्या यस्य सुधावधोरिणो नलस्य भूजानिरमूढ मुणादमुता ।

सुवर्णदण्डैरक्षितानपस्त्रिज्वलन्प्रनापावलिक्कीर्तिमण्डल

॥ २ ॥

जोवातु—इममवार्थमन्यथा आह—रसरिति । यस्य नलस्य कथा रसं स्वादे ,  
'रसो गंधो रस स्वाद' इति विश्व । सुधाम् अवधोरयति तिरस्करोति तथोक्ता  
अमृतादतिरिच्यमानस्वादेति यावत्, ताञ्जेल्ये णिनि । भुज्या यस्य स भुजानि  
भूपतिरित्यथ । 'जायाया निडि'ति बहुव्रीहौ जायाशब्दस्य निडादेश । स नल  
गुणः शोभ्यदाक्षिण्यादिभि । अद्भुतः लोकातिशयमहिमेत्यर्थः । अभुत् । कथम्भुत  
सुवर्णदण्डश्च एक सितातपत्रश्च ते इवे द्वेदात् तद्वृत्ताविति ण्यत्तात् कम्मणि  
क्त । ण्यत्प्रतापावलि कीर्तिमण्डलश्च यस्य तपाभुत् । इह कीर्ते सितातपत्र-  
स्वरूपेण पूर्वोक्तमपि सुवर्णदण्डवैशिष्ट्यात् राज्ञश्च गुणाद्भुतत्वेन वैविध्यात् न  
पुनरुक्तिदोषः । अत्रापि पूर्ववद् व्यतिरेकरूपकयोः संसृष्टिः ॥ २ ॥

अन्वय — यस्य नलस्य कथा रसं सुधावधोरिणी गुणाद्भुत ( स ) भुजानि-  
सुवर्णदण्डकमितातपत्रितज्ज्वलत्प्रतापावलि कीर्तिमण्डल अभुत् ।

हिन्दी—जिस नल की कथा (शृङ्गारादि नव अथवा मधुरादि पद) रसो क  
कारण अमृत को तिरस्कारनेवाली है, गुणों के कारण अद्भुत वह भूमिपति  
ऐसा हुआ, जिसके सुवर्णदण्ड और श्वेत छत्र ही तेजोमयी प्रतापावलि और  
यशोमण्डल के सदृश थे ।

टिप्पणी—इस दलोक में कवि का यह भाव है कि अनेक गुणों से युक्त  
होने के कारण राजा नल एक अद्भुत और अनुपम पृथ्वीपति था, धरती ने  
उसके गुणों पर अनुरक्त हो नलरात्र की ही अपना स्वामी स्वीकारा  
था । कथा के अमृत तिरस्कारिणी होने में उसका नवरसमयी होना है ।  
जिससे वह मधुरादिपद रसमयी सुधा से श्रेष्ठ है । राजा नल में गुण भी  
अनेक हैं । वह 'सुधावधी' ( शोभन धावतीति सुधा पुष्पसंचारिणी धी यस्य  
स ) अर्थात् पुष्पचरित्र है ( महाभारतातमग 'नलोपस्थान' ( ८।१ ) में तदा  
अयं नल 'पुष्पदलोक' कहा गया है, तदेव ( १।१-४ में ) नल के अनेक गुणों  
का उल्लेख है ), 'रणी' ( रण अस्यास्तीति ) अर्थात् रणभूर है 'भुजानिः'  
अर्थात् पृथ्वीपति है । इस प्रकार वह मात्र, उत्साह और प्रभु धर्म से सम्पन्न  
है । 'सुवर्णदण्डक'—इत्यादि विशेषण में नल का प्रतापी और यशस्वी होना  
घोषित है । 'शोभमान व्याघ्र द्विजातिवर्णना दण्डः शासन वा यत्र तथा एक-

मित्रावपत्र मम्मिन् तादृश मण्डल राष्ट्र यस्य स' विग्रह द्वारा नल न्यायी, सुशासक वाग्म्यमन्त्रस्थापक संकेतित होता है। 'नृजानि' नल ही था, इससे 'नृ' के समान दमयती का पनि वही हुआ, यह भी व्यस्य है।

यहाँ व्यतिरेक और रूपक को समृष्टि है। 'साहित्यविद्याधरी' के अनुसार यहाँ कथा के सुधावपीरिणी होने से व्यतिरेक है और 'सुवर्णादङ्ग-सितच्छत्र' से क्रमशः 'प्रतापावलि कीर्तिसङ्ग्रह' विशेषित होने से यथासत्य है, इस प्रकार व्यतिरेक-यथासत्य का संकर है।

पवित्रमथाननुते जगद्युगे स्मृता रसक्षालनयेव तत्कथा।

कथ न सा मद्गिरमाविलामरि स्वसेविनीमेव पवित्रमिष्यति ॥ ३ ॥

जीवानु—सम्प्रति कवि स्वविनयमाविकरोति पवित्रमिति। अत्र युगे कलौ इति यावत्। मस्य नष्टस्य कथा स्मृता स्मृतिपथ नीतेत्यर्थः। सती जगत्लोकं रसक्षालनयेव जलक्षालनयेव-पुत्रप्रेक्षा, 'दिह्यात्वम्बुसारवा' इति रसपय्यपि विस्मः। पवित्र विष्णुम् आतनुते करोति, सा कथा आविला कल्पामपि सद्योयामपीति यावत्, स्वसेविनीमेव केवल स्वकीर्तनपरामेवेति नाव। मद्गिर मम वाच कथ न पवित्रमिष्यति? अयि तु पवित्रा करिष्यत्येवेत्यर्थः। तथा चोक्त 'कर्कोटकस्य नागस्य दमयत्या नष्टस्य च। ऋतुपर्णस्य राज्ञ्यै कीर्तन कलिनाशनम् ॥' इति। या स्मृतिमात्रेण घोषनी सा कीर्तनात् किमुतेति कैमुत्यन्यादेनानान्तरापस्या अर्थात्तिरलङ्कार। तदुक्तम्—'एकस्य वस्तुनो भावाद यत्र वस्त्वन्यथा भवेत्। कैमुत्यन्यायत सः स्यादपान्तिरलङ्क्रिया ॥' इति ॥ ३ ॥

अन्वय—तत्कथा स्मृता अत्र युगे जगत् पवित्रम् आतनुते, सा आविलाम् अयि स्वसेविनीम् एव मद्गिर रसक्षालनया इव कथ न पवित्रमिष्यति?

हिन्दी—वह कथा स्मरण करने पर इस युग में नी मसार को पवित्र कर देती है, वह दोयनगी किन्तु 'स्वकथैकतत्परा'—नल की ही कथा कहने में छन—मेरी वाणी को मानो शृङ्गारादि उज्ज्वल रसों से परिक्षालित करके मला क्यों न पवित्र करेगी?

टिप्पणी—दस श्लोक में कवि-विनय प्रतिपादित है, जिसकी नल चरित्र के वर्णन में ही आसक्ति है, इसी सम्भावना के कारण 'साहित्यविद्याधरी' में

यहाँ उत्प्रेक्षा मानी गयी है। रस का अथ नवरस भी है और जल भी, तो दलेप है। जो क्या स्मरणमात्र से पवित्र करती है, वर्णन से तो और भी करेगी इस अप्रतिर की आपत्ति हो जाने के कारण 'उर्ध्वपत्ति' उलझा है। 'वयं न पवित्रयिष्यति अपितु पवित्रयिष्यत्येव'—काकुवज्जीवित।

अधीतिबोधाचरणप्रचारणैर्दशश्चतस्रः प्रणयन्नुपाधिभिः ।

चतुर्दशत्वं कृतवान् कुतस्स्वयं न वेद्यं विद्यासु चतुर्दशस्वयम् ॥ ४ ॥

जीवातु—अस्य सर्वविद्यापारदक्षित्वमाह—अधीतीति । अयं नल चतुर्दशसु विद्यासु 'अज्ञानि वेदाश्चचारो मीमासा न्यायविस्तर । धर्मशास्त्र पुराण च विद्या ह्येताश्चतुर्दशे' त्पुनरासु अधीतिरध्ययनं गुरुशुन्यात् ध्वनमिदं । दोष, अपाविगति, आचरण तदर्थानुष्ठान, प्रचारणम् अध्यापनं शिष्येभ्यः प्रतिपारत-मित्यर्थः, तद्वचनं उपाधिभिः विशेषणं आचरणविशेषित्वयः । 'उपाधिधर्म-चित्ताया कृतवे च विशेषणं' इति विश्वः । चतस्रो दशा शक्या प्रणयन् कुत-निरपयं, स्वयं चतस्रो दशा यासां तासां भाग्यं चतुर्दशत्वं 'स्वतन्त्रोपाधयचनस्ये' ति पुनरुक्तो वक्तव्यः, इति स्त्रिया पुनरुक्तः । 'संगजातिव्यतिरिक्ताश्च गुणवचना' इति सम्प्रदायः । चतुर्दशस्यैकत्वं कृतं कृत्वात् कृतवान् । वेद्यं न जाने इति स्वतः सिद्धस्य स्वयङ्कुरणं कथं पिष्टपेषणवदिति चतुर्दशानां पुरा-वृत्ती पदस्थापयत्वात् कथं चतुर्दशत्वमिति च विरोधाभासद्वयम् । चतुरवय्व-मिति तन्निर्हारश्च । तदुक्तम् 'आमासत्वे विरोधस्य विरोधाभास उच्यते' इति ॥ ४ ॥

अन्वयः—अयं चतुर्दशसु विद्यासु अधीतिबोधाचरणप्रचारणैः उपाधिभिः चतस्रः दशा प्रणयन् चतुर्दशत्वं कृतं कृतवान् ( इति ) स्वयं न वेद्यं ।

हिन्दी—इस राजा नल ने अध्ययन, अध्यापन, आचरण और प्रचार—इन चार प्रकारों से क्या चीजें विद्याओं को 'चतुर्दशत्व' दीं। कनाया—चौदह को चौदह ही रहने दिया—यह मैं स्वयं नहीं समझ पाता ।

टिप्पणी—राजा नल चारों वेद, षड्वेदांग, मीमासा, न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण—इन मनु प्रतिपादित चौदह विद्याओं ( याज्ञवल्क्य के अनुसार चौदह विद्याएँ हैं—पुराणन्यायमीमासाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिता । वेदा स्थानानि

विद्याना धर्मस्य च चतुर्दश । ) के न केवञ्च ज्ञाता ही ये वे उनका स्वाध्याय भी करते थे तदनुकूल जीवन व्यवहार भी चलाने में और उनके प्रचार-प्रकाश में भी तत्पर थे । 'चतुर्दश' का अर्थ चौदह तो है ही 'चतुर्दशम्' का अर्थ चार 'कनोतिदोषावराजनात्मन' दशा भी है, सो कवि ( कान्ति से ) तो 'चतुर्दश' का 'चतुर्दशम्' क्यों है, यह समझ ही गया है । राजा नल चौदहों विद्याओं के चारों व्यवहार में तत्पर रहते थे ।

चतुर्दश के चतुर्दश हो रहने में विरोध प्रतीत होता है किन्तु पुन 'चतुर्दशम्' का अर्थ चार क्या कर लेंगे पर विरोध का परिहार हो जाता है, अतः 'विरोधानात्र' लक्ष्यकार है । 'साहित्यविद्यापरी' ने यहाँ उल्लेख बताया गया है ।

अमृत्य विद्या रत्नप्रतर्कनं त्रयो नोत्ताङ्गगुणेन विस्तरम् ।

अगाह्योद्गादशता जिगीयसा नवद्वयद्वीपनृपाद्वयश्रियाम् ॥ ५ ॥

जीवानु—अमृत्यमस्य अथ चतुर्दश विद्या सर्वाभ्याह—अनुपमेति । अमृत्यमस्य रत्नप्रतर्कनी विज्ञानस्योपरिप्रेक्ष्यम् । विद्या पूर्वोक्ता नृदविद्या चेति तस्मिन्ने, रत्नप्रतर्कितत्वधर्मादिति भावः । त्रयो नोत्ताङ्गगुणेन त्रयो नोत्ताङ्गगुणेन 'इति वेदान्तप्रत्यक्षयो' त्पत्तिर । अज्ञाना 'विज्ञा कृतो व्याकरण निरुक्त छन्दसा चिति' । त्रयोदशचेति विज्ञेय पदार्थ बुध्दुर्गमंति' स्वरूपाणां पञ्चा मधुसूक्तकृपादलवनकटुतिक्तानाञ्च रत्नानां पञ्चा गुणेन आख्या वैशिष्ट्येन च, अथ च अङ्गगुणेन शरीररामस्येन स्वकीयस्युत्पत्तिविधेरेति भावः विस्तर इति नीता प्रारिता सती नवाना द्वय नवद्वय लक्षणया उद्गादशेत्पर्यं, तेषां द्वीपानां पृथग्गुणता जनश्रिय तासां जिगीयसा व्यञ्जकाप्रयोगात् सम्योक्तेषां । त्रयोदशचेति त्रयोदश, उद्गादशताम् अगाह्यं समवन । पूर्वोक्तानु चतुर्दशानु विद्यासु विविधस्वरूपा आधुवैशदीनाननुसीलन-सीक्ष्यात् तस्यास्त्वित्त्वेन, नृदविद्यापक्षे च पञ्चा रत्नानाम् उत्स्वनानुस्वनात्मना-स्वतंत्रविधेन त्रयोदशे च एतत्तत्वेदस्य प्रत्यक्षः । अज्ञाना विज्ञादीनां पाद्विध-वैशिष्ट्येन उद्गादशत्वविधिः । प्रागुक्तास्त्वचतुर्दश विद्याः । 'आधुवैशदी चतुर्वैशदी गन्धर्वचेति ते च' । अथंशास्त्रचतुर्धनं विद्या ह्युद्गादस्य स्मृता' इति । अङ्ग-विद्यापुननेन त्रयो उद्गादशत्वमित्युक्त्याप-वित्तेत्वरत्नप्रतर्कनत्वात् तत् अज्ञा-नि वेदास्त्वचार इत्यापर्वणस्य पृथक्वेदत्वे त्रयोचहानि । त्रयोदशवि तु नाद्या-दशविद्विद्विद्वि चित्त्यम् । उपनोत्तेक्षयो समुचितः ॥ ५ ॥

हिन्दो—अष्ट दिक्-पातो ( इन्द्र, अग्नि, यम, वायु, सूर्य, वरुण, चन्द्र, बुधेर ) के अंशों से उत्पन्न ( स्मृति के अनुसार राजा अष्ट लोकापाला की मात्रा से युक्त होता है ) अष्ट दिशाओं का स्वामी वह ( राजा नल ) काम के प्रसार की अवरोधक, अपने को विनेत्र शिव के अवतार होने का बोध कराने वाली रूप से अधिक अर्थात् तीसरी शास्त्र रूप दृष्टि को धारण करता था ।

टिप्पणी—राजा सब देवों से बड़ा 'महादेव' था, यह दो तर्कों से प्रमाणित किया गया है—( १ ) इन्द्रादि लोकपाल एक एक दिशा के स्वामी हैं, नल आठा का । ( २ ) वह सामान्य नेत्र युगल के अतिरिक्त त्र्यम्बक शिव के समान काम अर्थात् स्वेच्छाधार की निरोधिका शास्त्र दृष्टि से समन्वित था । राजा नल शास्त्रानुसार आचरण करता था । और अष्टलोकपालाश था, इस प्रकार वह त्रिनेत्र शिव के अवतार सह्य था । मनुस्मृति ( ५।१६ ) के अनुसार—'सोमान्य-कान्तिलोद्भाणां वित्ताप्यत्योयमस्य च । अष्टाभिरथ सुरेन्द्राणां मात्रामितिमितो नृप ॥'

साहित्य विधाधरी के अनुसार यहाँ उपमा है । 'दृश्यं शास्त्राणि' में रूपक और नल के विभूति भेद होने पर भी अभेद कथन से अतिशयोक्ति है, इस प्रकार रूपक और अतिशयोक्ति का 'सकर' है ।

पदैश्वर्यमिस्तु कृते स्थिरोकृते कृतेऽमुना के न तप प्रपेदिरे ? ।

भुव यदेकाद्विधकनिष्ठया स्पृशन् दध्वावघर्मोऽपि वृशस्तपस्विताम् ॥७॥

जीवातु—अथास्य प्रभाव दर्शयति—पदैरिति । अमुना नलेन कृते सत्ययुगे सुहुते घम धृपुरुषत्वात् अतुमि पदै चरणै —'तप पर कृतयुगे भेदाया शान-मुष्यते । द्वारे मज्जमेवाद्दार्ढ्यमेक कली युगे ॥' दृश्युक्तचतुर्विधेरिति भावः, स्थि-रोकृते निरचलीकृत इति यावत्, के जना तप धान्द्रायणादिरप कठिन व्रत का क्या ज्ञानादोनामिति भाव, न प्रपेदिरे ? अपि तु सर्व एव तपस्चेहरित्यर्थ । यत् यत् अघर्मोऽपि का क्या अयेवामित्यपि यत्नायं, कृश, दुर्बल सन् एकया अद्भुतचरणस्य कनिष्ठया कनिष्ठयाऽङ्गुल्येत्यर्थं, भुव स्पृशन् हुतेऽपि अघर्मस्य क्षेत्रत सम्भवादयेनेति भाव तपस्विता तपसत्वं दीनत्वञ्च 'मुनिदीनो तपस्विना' इति विश्व । दधी धारयामास । अस्य धारयनादघर्मोऽपि घर्मेषु आसक्तोऽभूत् ।

किमुत अन्य इति कैमुग्न्यायादर्शितरापत्त्या अर्थापत्तिरलङ्कारः अधर्मोऽपि धार्मिक इति विरोधश्चेत्यनयो समृद्धिः ॥ ७ ॥

वृत्तवत् — वृत्तानां चतुर्भिः पदैः सुकृते स्थिरीकृते कृते के न तपः प्रपेदिरे यत् दृष्टं अधर्मं अपि एकाङ्घ्रिनिष्ठया भुवः स्पृशन् तपस्विताम् दधौ ॥

हिन्दी—इस ( नल ) के द्वारा चारों पैरों से सुकृत—धर्म के निश्चल किये जाने पर कृतयुग में कौन तपस्यारत न हो गया ( अपितु सब हो गये ), क्योंकि दुर्बल अधर्म भी एक पैर पर खड़ा धरती को छूता तपस्या करने लगा ।

टिप्पणी—राजा नल को त्रेता में उत्पन्न माना जाता है, उसने अपने पुत्र से त्रेता में भी धर्म की पूर्ण स्थापना करके कृतयुग ला दिया था, जिसमें धर्म चारों पैरों से विचरण करता है और अधर्म एक पैर से, सो जब अधर्म भी धरती पर एक पैर से खड़ा हो तपस्वी हो गया तो और कौन तपस्वी न हो जाता । इस प्रकार राजा नल का पूणधर्मात्मत्व सिद्ध किया गया है । धर्म के चार चरण हैं—सत्य, अस्तेय, दान और दम अथवा तप, दान, यज्ञ और ज्ञान । नल के राज्य में सर्वत्र यही आचार धर्म था ।

नल के शासन में अधर्म भी धर्माचारी हो गया सो अन्य कौन न हो जाता यह 'अर्थापत्ति' है और अधर्म भी धर्म हो गया यह विरोध, दान अर्थापत्ति—विरोध की समृद्धि है । साहित्य विद्याधरी के अनुसार अधर्म का धर्म हो जाना विरोध है, जिसके परिहार से 'विरोधाभास है' और सब के तपोनिष्ठ हो जाने का 'अनुमान' है । चम्पलकार अनुशास है ।

यदस्य यात्रासु बलीद्वत रजः स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिमः ।

तदेव गत्वा पतितं सुधाम्बुधौ दधाति पङ्क्रीभवदङ्कता विधौ ॥ ८ ॥

जीवातु—अथास्य सप्तभिः प्रतापः वर्णयति—यदित्यादिभिः । अस्य नलस्य यात्रासु जेतमानेषु बलीद्वत संयोरिक्षिप्त स्फुरत् ज्वलत् प्रतापानलस्य यो धूमः तस्यैव मञ्जिमा मनोहारित्वं यस्य तथोक्तं 'ससम्युपमाने' त्यादिना बहुव्रीहिः । मञ्जुशब्दादिमनिष्प्रत्ययः । यत् 'रजः' धूलिः, तदेव गत्वा उत्क्षेपवेगादिति भावः । सुधाम्बुधौ क्षीरनिधौ पतितम्, अतएव पङ्क्रीभवत् सन् विधौ चन्द्रे उद्भासिनीति ।



भाव । अङ्कता कलङ्कत्व दधाति । अत्रापि व्यञ्जकाप्रयोगात् गम्योत्प्रेक्षा तथा च कलङ्कत्व दधातीत्यर्थः ॥ ८ ॥

अन्वयः — अस्य यात्रासु बलोद्धत स्फुरत्प्रतापानलधूममग्निजम् यत् रजः तत् एव गत्वा मुषाम्बुधौ पतित पङ्कीभवत् विधौ अङ्कना दधाति ।

हिन्दी—इस ( नल ) की ( विजयार्थ ) यात्राओं में सेना के द्वारा उड़ायी गयी स्फुरित होने प्रताप रज अग्नि के धूमसम मनोहारिणी जो धूल थी, वही जाकर क्षीरसागर में गिरी और कीचड़ बनकर चन्द्रमा में वृष्णचिह्न हो गयी ।

टिप्पणी—प्रथम मातृश्लोक में नल के महिमान का वर्णन करके धीर्दृष्ट अथवा सात हो श्लोकों में उसके प्रताप का वर्णन कर रहे हैं । दिग्विजयेपिणी नल की सेना जब चलती थी तो उससे प्रचुर धूल उड़ती थी, जो स्वामाविके है । क्षीर सागर के जल से मिलकर उसके कीचड़ होकर चन्द्रकलक बन जाने की सम्भावना से सेना-बाहुन्य और समुद्र पर्यन्त उसकी गति छोटित है । 'प्रकाश'-वार में यहाँ कुप्फोत्प्रेक्षा मानी है और 'जीवातु'-कार ने व्यञ्जक का प्रयोग न होने के कारण गम्योत्प्रेक्षा । 'साहित्य विद्याधरी' कार अतिशयोक्ति मानने हैं । 'प्रतापानलधूम' से औपम्य में रूपक है ।

'तिलक'—व्याख्या में बताया गया है, यह प्रश्न उठाकर कि कीचड़ बनी धूल का चन्द्र-कलङ्क होना क्या वस्तुगति द्वारा सूचित होता है अथवा उसकी उत्प्रेक्षा होती है ? दोनों ही सम्भव नहीं है । पहला इस कारण सम्भव नहीं क्योंकि पुराणादि में ऐसी कोई कवि प्रसिद्धि नहीं है । उत्प्रेक्षा इसलिए नहीं हो सकती क्योंकि 'इव' आदि दोषक पद का अभाव है । वस्तुतः 'तदेव' में जो 'एव' है, वह प्रसिद्ध पमानर के अस्वीकारार्थ या निषेधार्थ है, जिनसे यह छोटित होता है कि चन्द्रकलङ्क प्रसिद्ध मृग, घाघक आदि नहीं है, न न मय्य द्वारा उद्धत धूल ही है ।

स्फुरद्गुनिन्म्वननद्धनानुगप्रगन्मवृष्टिव्ययितम्य सङ्गरे ।

निजस्य तेजशिविन परशता विनेनुरङ्गारमिवायत्त परे ॥ ९ ॥

जीवातु—स्फुरदिति । सङ्गरे बुद्धे सजात् परे परसज्जा सजापिका इत्यर्थः, अहम् इति यावन, पञ्चनोति योगविभागात् समासः, राजदत्तादिशत्रुरसर्जनस्य

परनिपात पारस्करादित्वात् सुडागमश्च । परे शत्रव स्फुरन्ती प्रसरन्ती धनुनि-  
स्वनो चापमोषो इन्द्रचापगजिते—यस्य यत्र वा तथोक्त स नल एव घन मेघ-  
तस्य आशुगना शरगाम् अन्यत्र आशुगा वेगगामिनी यद्वा आशुगेन वेगगामिना  
वायुना या प्रगल्भा महती वृष्टिः 'आशुगो वायुविश्विवावि' इत्यमरः । तथा  
व्ययितस्य निर्वापितस्य विपूर्वादयते कमणि क्तः । निजस्य तेज शिखिन प्रतापान्ने-  
अङ्गारमिव अयशः अपकीर्ति वितेनु विस्तारितवन्तः । पराजिता इति भावः ।  
अत्र रुनकोत्प्रेक्षयोर्ङ्गाङ्गिभावः सङ्कटः ॥ ९ ॥

अन्वयः—परस्यता परे समरे निजस्य स्फुरदधनुर्निस्वनतद्वचनाशुगप्रगल्भ-  
वृष्टिव्ययितस्य तेज शिखिन अङ्गारम् इव अयशः वितेनु ।

हिन्दी—यथाधिक अर्थात् असह्य धनु सप्राप्त में स्फुरित होते, टकारते  
धनुष से उस (नल) द्वारा छोड़े गये असह्य बाणों की असह्य वर्षा के कारण  
बुझे स्वकीय तेज रूप अग्नि के अगारों के सट्टा अयश का विस्तार करते थे ।

टिप्पणी—इस श्लोक में नल के शत्रुओं के निश्चय पराजय और नल के  
अद्भुत धनुर्धारी होने का भाव है । मल्लिनाथ ने इसमें रूपक और उत्प्रेक्षा का  
अगामिभाव सूकर अलंकार माना है । साहित्य विद्याधरी में उपमा और टपक-  
अलंकार बताये गये हैं ।

'प्रकाश' व्याख्या में 'स्फुरद्'-इत्यादि का विग्रह इस प्रकार किया गया है—  
स्फुरद् धनुर्निस्वन, यस्य एव विधत्ते स तस्य घना ये आशुगास्तेषां प्रगल्भा या  
वृष्टिस्तया व्ययितस्य । 'प्रकाश'—कार ने यह भी कहा है कि 'स्फुरदधनुर्निस्वनो  
यस्याम्' ऐसा विग्रह करके यह वृष्टि का विशेषण भी हो सकता है । उन्होंने दो  
प्रकार से और भी विग्रह किया है—'धनुर्निस्वन तनोति तयते वा धनुर्निस्वनतद्  
स्फुरत्प्रकाशमानश्चासौ धनुर्निस्वन तत्त्व तस्य । अथवा स्फुरन्ती धनुर्निस्वनो धनुः  
सिंहनादो यस्य चामो स एव घनो मेघस्तस्या शुगा शिखरगामिनी प्रौढा च या  
वृष्टिस्तया व्ययितस्य । शिखिपक्ष में—स्फुरन्ती इन्द्रधनुर्गजिते देव ते च घना  
स्तेषामाशुगा शीघ्रगामिनी प्रौढा, आशुगेन वायुना वा प्रौढा या वृष्टिस्तया  
व्ययितस्य । एक और भी सम्भावना की है—'निस्वन तवन्तीति निस्वन तत्-  
स्फुरदधनुर्मुक्ता निस्वन ततश्च मे घना मेघा इति ।'

अनल्पदग्धारिपुगनलोज्ज्वलैर्निजप्रतापैर्वलयं ज्वलद् भुवः ।

प्रदक्षिणीकृत्य जयाय सृष्ट्या रराज नीराजनया स राजघ ॥१०॥

जीवातु—अनल्पेति । राज प्रतिपक्षानिति भावः, हन्तीति राजघ घनुघाती-  
त्यर्थः 'राजघ उपसहस्रानमि'ति निपातः । नलः अनल्प दग्धानि अरिपुराणि  
घनुराष्ट्राणि यैः तथोक्ता अनलवत् उज्ज्वला तै निजप्रतापैः कोपदण्डसमुत्प-  
त्तेजोभिः । 'स प्रनाप प्रभावश्च यस्तेज कोपदण्डजमि'त्यमरः । ज्वलत् दीप्यमान  
भुवः बलय भूमण्डलः प्रदक्षिणीकृत्य प्रदक्षिण परिधाम्य इमेन सर्वदिग्गविजेतृत्वा-  
दिति भावः । जयाय सृष्ट्या सर्वभूतयनिमित्तं कृतयेत्यर्थः, पुरोहितैरिति शेषः ।  
नीराजनया धारातिकया रराज सुशुभे दिशो विजिश्य प्रस्थावृत्त विजिगीषु-  
रुधपुरोहिताः भङ्गलसन्निधानाय नीराजन्यन्तीति प्रसिद्धिः । केचित्सु निजप्रतापैरिव  
जयाय सृष्ट्या जयाययेत्यर्थः । नीराजनया धारातिकया ज्वलत् दीप्यमान भुवो  
बलय भूचक्रं प्रदक्षिणीकृत्य प्रदक्षिण परिधाम्य रराज । तत्र ज्वलत्प्रनापानलो  
जानादिजैत्रयात्राया प्राच्यादिप्राग्दिक्ष्येन भूमण्डलं परिधमन् निजप्रतापनीरा-  
जनया भूदेनता नीराजनमिव रराजेतपुरेक्षा ध्वजकाचप्रयोगादगम्या । इति  
ध्याय्यशते । तन्न मनीषोऽनम् निजप्रतापैरित्यस्य नीराजनयेत्यनेन सामानाधिक-  
रण्यासङ्गतेरिति ॥ १० ॥

अन्वयः—स राजघ अनल्पदग्धारिपुगनलोज्ज्वलैः निजप्रतापैः ज्वलद्  
भुवः बलय प्रदक्षिणीकृत्य जयाय सृष्ट्या नीराजनया रराज ।

हिन्दी—घनु राजाओं का हुता वह ( नल ) घनुओं की प्रभूत पुरियों को  
जलाइलाने वाले अग्नि से उज्ज्वल स्वकीय प्रतापपुज द्वारा जलते-दमकते  
भू-बलय ( भूचक्र ) की प्रदक्षिणा करके विजयाय प्रस्तुत धारातिक—आरती से  
सुसोमित हुआ ।

टिप्पणी—राजा नल जब भी सामान्य घनुआ को नहीं, राजाघनुओं को  
जीतकर और उनके नगरों को धार-धार कर विजयी हो लौटता था, तब  
पुरोहितादि विजयी नरेश की आरती उतारा करते थे । 'भूबलय की प्रदक्षिणा'  
-से नल का समस्त पृथ्वी मण्डल का जेता होना घोषित है ।

'नीराजना' का अर्थ आरती तो है ही, राजाओं का अभाव करना भी

हे—‘राजामनायो नीराज नीराजकरण नीराजना तया ।’ अर्थात् अनुभूति का विनाश करके नल सुधोमित होते थे । इसका अन्य अर्थ जल-सेवन भी है—‘नीरम्य शान्तुश्चन्द्रम्याजनया क्षेपया’ अर्थात् स्वपुरदक्षियों द्वारा फेंके गये शांतिमल्लि से राजा शोभित होता था । तृतीय चरण का अन्य प्रकार से पदच्छेद करके यह अर्थ भी लिया जाता है कि दिगु-रूप राजा नल की अजया—रुक्मिणी नीराजना उतारती थी—‘प्रहृष्टा दक्षिणा देया ते प्रदक्षिणा वदान्या ते मन्ति यत्न स ‘प्रदक्षिणी’ (प्रहृष्ट दान करने वाले अनुगत हैं जिसके, ऐसा राजा नल), जयषा प्रहृष्टदक्षिणा ज्योतिष्टोमादयो यस्य सम्प्रति प्रदक्षिणी ( अनेक ज्योतिष्टोमादि यज्ञों का कर्ता ), अतएव कृती ( कर्मकुशलः, पुण्यशील वा ) अजया रुक्मिणी काय दिग्गवे सृष्टया नीराजनना रेवे ।

‘साहित्य-विद्याधरी—कर्ता इसमें अनुप्रास और ह्रस्वोपमा का निर्देश करते हैं । एक यह अर्थ भी किया जाता है कि ज्वलन्प्रपापनल से उज्ज्वल नल नाना दिग्गजों के विनयनिमित्त मृगदल में परिभ्रमण करना मानों श्री देवता की नीराजना उतारता था, इस प्रकार स्वयंकादि का वनाश होने के कारण यहाँ गम्भीरप्रेक्षा है । मल्लिनाथ इसे समीचीन नहीं मानते, क्योंकि उनके अनुसार ‘निननानं’ और ‘नीराजना’ में सामानाधिकरण्या की संगति नहीं बैठती । यह कल्पना करने कि प्रपापनल द्वारा नीराजना हो रही है और अरिपुर उसकी बर्तिका है, यह उन्प्रेक्षा है कि उसी से राजा भू-वल्प की जाती उतारता है । इस प्रकार रूपक और उन्प्रेक्षा के अगाधभाव के कारण यहाँ मकर है ।

निवारितान्तेन महीनरेजिले निरोनिभाव गमितेऽतिवृष्टयः ।

न तत्पञ्चुर्नमनन्यमश्रया प्रतीपमृपालमृगीदृशा दृष्ट ॥ ११ ॥

जीवानु—निवारिता इति । तेन नलेन यस्मिन् समये महीतले न सन्ति इति न अतिवृष्ट्यादयः यत्र तत् निरीति, तस्य भाव तम् इतिराहित्यमित्यर्थः । इत्यशोक्ता मया—‘अतिवृष्टिरनावृष्टिं शान्ता मूयिका क्षयाः । प्रत्यागन्नाथ राजान पठेता इत्य स्मृता ’ ॥ इति । गमिते प्रापिते सति निवारिता स्वराष्ट्रात् निराहता इत्यर्थः । अतिवृष्ट्यं नन्वि अय सशय आश्रयं याता उपानृता ।

सत्याः प्रतीपमूपात्मना प्रतिपक्षनृपतीनां या मृगीदृश मृगनयना कान्ताः तासां दृशः नयनानि न सत्यजुः । नूनं मन्ये इत्यर्थः । उत्प्रेक्षावाचकमिदं, तदुक्तं दर्पणे 'मन्ये दृष्ट्वा ध्रुव प्रायो नूनमित्येवमादयः । उत्प्रेक्षाव्यञ्जकाः शब्दा इवशब्दोऽपि तादृशः' इति । नलनिहतमर्तृका राजपत्न्य सततं रुदुरिति भावः ॥ ११ ॥

अन्वयः—तेन असिले महीतले निरीतिभाव गमिते निवारिता अतिवृष्ट्य अनन्यसंशया नूनं प्रतीपमूपालमृगीदृशां दृशः न सत्यजुः ॥

हिन्दी—उस ( राजा नल ) के द्वारा समस्त पृथ्वीतल के निरीतिभाव ( जहाँ अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डीदल, चूह, चोने और आक्रांत घब्रुनूप—यह सब इतियाँ न रहे ) को प्राप्त करा दिया जान पर प्रतिरोध ( रोक ) प्राप्त अतिवृष्टियों ने अन्यत्र आश्रय न पाकर निश्चय ही घब्रु-राजाश्री की मृग-नयनाओं के नेत्रों को नहीं तथा ( रिपुनायियों को आँखों में सदा का बसरा कर लिया ) ।

टिप्पणी—भाव यह है कि राजा नल पुष्पात्मा सदाचरण और महान् पराक्रमी था । न तो उसके कारण इस धरती पर अतिवृष्टि आदि आपदाएँ रह गयी थी और न अन्य राजागण उस पर आक्रमण का ही साहस कर पाते थे, सभी घब्रुओं को उसने पराजित कर दिया था, अतएव अतिवृष्टि आँसुओं के रूप में सदा रिपुनायियों के नेत्रों में जा बसी थी ।

'नूनम्'—इस उत्प्रेक्षाबोधक शब्द से स्पष्ट है कि यहाँ उत्प्रेक्षा भलवार है । 'प्रकाश'-कारने प्रतीपमूपालमृगीदृशां के नेत्रों से निरंतर अधु प्रवाह के आधार पर यह भाव लेकर कि नल ने सभी दुष्ट मूपालों का विनाश कर दिया, यहाँ 'पर्यायोक्त' श्रलकार माना है, क्योंकि गम्य का अर्थ प्रकार से कथन पर्यायोक्त है—'गम्यस्यापि भङ्ग्यत्तरेणाख्यानं पर्यायोक्तम् ।' साहित्य विद्या-धरी के अनुसार 'अतिवृष्ट्या न तप्यजुः'—इस कथन के आधार पर यहाँ अतिशयोक्ति है ।

सिताशुवर्णवयसि स्म तद्गुणैर्महासिवेम्नस्महवृत्तवरी बहुम् ।

दिगङ्गनाङ्गामरण रणाङ्गणे यदा पट तद्भटचातुरी तुरी ॥ १२ ॥

जीवानु—सिताम्बिति । महान् असिरेव वेमा वायदण्ड 'पृष्टि वेमा

वायव्य' इत्यमरः । तस्य सहस्रवरी महकारिणी 'सहे चेति कर्गेते' क्वनि-  
प्रत्ययः । 'वनो र चेति डीप् रञ्ज । तस्य नञस्य नञाना संनिकाना यद्वा स  
नञ एव नञः । वीर तस्य चानुरो चतुरता ननुभ्यनिति यावत् एव तुरो वदन-  
साधन वन्तुविशेष इत्यर्थः । 'माकु' इति प्रसिद्धा, रप् एव अङ्गनं चत्वर तस्मिन्  
मित्राशुवनैः शुभ्र' रित्यर्थः, तस्य नञस्य युष्मै शोष्मादिनि तन्तुमित्र दिश एव  
अङ्गनाः तासाम् अङ्गान्तरणम् जङ्गमूयाम् । 'अङ्गावरणमिति पाठे अङ्गान्धा-  
वन बहु यम् एव पठ वसन स वयति सन वसान । साङ्गकनकनतङ्कार ।  
संश्राने तथा ननुभ्यननेन प्रकटित यथा तेन सर्वो दिशो यशसा प्रसूरीता इति  
भावः ॥ १२ ॥

अन्वयः—महासिवेन सहस्रवरी तदनन्तचतुरीतुरो मित्राशुवनैः तद्वर्ण-  
रणाङ्गनां बहुम् दिङ्गनाङ्गान्तरणम् यथा पठ वयति स्म ।

हिन्दी—महात् इनाम हन वदन काठ ( बुनने का छकड़ी का बना मक-  
विशेष ) की सहकारिनी उस नञ भोंडा ( अथवा उस नञ के सैनिकों ) की  
चतुरता रूपी तुरी ( बुनने का सूत्रा यत्र, जिसमें बाने का सूत्र भर बाठा है  
अथवा बुनकरों की कृषी ) चदना के समान शुभ्रवर्ण के उस ( नञ ) के गुण  
( शौर्य, जोशय आदि ) रूप तुरी ( सूत्र के धातों ) ने रनमूमि में दिक्-  
कुन्दरियों को सोहने बाठा प्रचुर यश रूप वस्त्र बुना करनी थी ।

टिप्पणी—माशार्थ यह है कि महत् शूर और पराक्रमी राजा नञ विशिष्ट  
हृषान प्रयोग कर्ता था, तलवार चलाते की कला द्वारा उसने अपनी सभी  
शक्तियों को चतुर्दिक् पराम्प कर दिया था और सब ओर उसकी कीर्ति का  
विस्तार हो गया था ।

कुन्दर के वदनयंत्र तुरी के नञ की 'चतुरीतुरो' विनिष्ट है, क्योंकि  
यह जनेक वस्त्र एक साथ बुनती है, जत्र नारायण पंडित के अनुसार यहाँ  
व्यतिरेक जलकार है । 'गुण' शब्द यत्र स्थित है और 'महाति' में 'वय'  
'चतुरी' में 'तुरी' और 'यश' में 'पठ' का स्वारोह है, जत्र साहित्यविदायों  
के अनुसार यहाँ इत्येय और रूपक है ॥ १२ ॥

प्रतीपनूयैरिव किं तयो मिश विन्दधर्मरपि नैनूनोजिता ।

अभिन्नजिन्निज्जिदोवज्ज अ अभिन्नारदुक्तारदुक्तादज्ज ॥ १३ ॥

जीवातु—प्रतोपेति । प्रतीक्षां प्रतिकूला भूया राजानं तं विरुद्धधर्मं  
 असमानाधिकरणधर्मं विपरीतवृत्तिभिरित्यर्थः, अपि ततः नलात् भियां मयेनेव  
 हेतुना भेत्तृता स्वाश्रयभेदकत्वं परोपजाप इत्यर्थः । उज्जिता त्यक्ता किम् ? यद्  
 यस्मान् स नलं ओजसा तेजसा अभिजात् शत्रून् जयतीति तद्योक्तं मित्रं सूर्यं  
 जयतीति तथामुत । अत्र मं खलु अभिजिजि स कथं मित्रजिदिति विरोधाभासः,  
 परिहारस्तु पूर्वमुक्तः । तथा विचारेण पश्यतीति विचारदृक् चारं गूढपुरुषं  
 पश्यतीति चारदृक् । 'राजानञ्चारचक्षुषः' इति, 'चारं पश्यन्ति राजानः' इति  
 च नीतिशास्त्रम् । अत्रापि यो विचारदृक् स कथं चारदृग् भवतीति विरोधाभासः,  
 परिहारस्तु पूर्वमुक्तः । अवर्तत आसीत् । अपि विरोधे । मूर्खतेजस चारदृगन्व  
 नलं ज्ञात्वा शत्रवो मयात् परस्परोपजातादिवैरभावः तत्पञ्चुरिति भावः । अत्र  
 विरोधोऽत्रेक्षयोर्झाङ्गिमात्रम् ॥ १३ ॥

अन्वयः—किंभिया प्रतीपमूर्खे इव विरुद्धधर्मं अपि ततः भेत्तृता उज्जिता ?  
 यत् स ओजसा अभिजिजि ( अपि ) मित्रजि, विचारदृक् अपि अविचारदृक्  
 अवर्तत ।

हिन्दी—क्या डर से शत्रुगुप्तों के सहज परस्पर विरोधी धर्मों ने भी उस  
 ( नल ) से भेद भाव छाड़ दिया था ? क्योंकि वह अपने तेज के कारण अभिज  
 जेता ( शत्रुगुप्तों और सूर्य की न जीतने वाला ) होकर भी मित्रजेता  
 ( मित्रजयी और सूर्यजयी ) था और विचारदृक् ( विवेक अथवा गुप्तधरा के  
 द्वारा सुचना पाने वाला 'चारक्षु' ) हाकर भी अविचारदृक् ( अविवेकी और  
 अविचारक्षु ) था ।

टिप्पणी—इस श्लोक में 'विरोध' अलङ्कार है । अभिजिजि ( सूर्य का  
 अजेता ) होकर भी कोई मित्रजि ( सूर्यजयी ) कैसे हो सकता है ? विरोध  
 ने परिहारार्थ अर्थ हुआ शत्रुगुप्तों को जीतने वाला होकर भी तेज से सूर्य का  
 जेता था, अर्थात् सूर्य से भी अधिक तेजस्वी था । इसी प्रकार विचारदृक्  
 ( विवेकी ) होकर भी राजा अविचारदृक् ( अविवेकी ) कैसे हो सकता है ?  
 परिहारार्थ है, राजा विवेकी था और गुप्तधरा द्वारा प्राप्त समाचारों के आधार  
 पर सारा मसारा हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष करता था । यत्किनाय के अनुसार यहाँ

विरोध—उत्प्रेक्षा का सङ्कर है। कुछ टीकाकार 'इव'—प्रयोग से उपमा—  
उत्प्रेक्षा—विरोध का सङ्कर मानते हैं ॥ १३ ॥

नदोजसस्तद्यग्मः स्थिताविमो वृथेति चित्ते कुस्ते यदा यदा ।

ननोति मानो परिवेषकैतवात्तदा विधिः कुण्डलना विधोरपि ॥१४॥

जीवानु—तदिति । लभ्य नलस्य ओज तेज प्रताप इत्यर्थ, तस्य तथा तस्य  
नलस्य यद्यतस्य स्थितौ सत्तायाम् इमो भानुविषूयया निरर्थक्ये इति चित्ते यदा यदा  
कथते विवेचयतीत्यर्थ, विधि तदा तदा परिवेष परिधि 'परिवेषस्तु परिधि-  
रुपमूर्थकमङ्गले' इत्यमरः । एव कँठव छल तस्मात् मानो, सूर्यस्य विधोरपि  
चन्द्रस्य च कुण्डलनाम् अतिरिक्ततामूषकवेष्टनमित्यर्थ, करोति अधिकाक्षर-  
वर्जितार्थ लेखकादिवदिति भाव । विजितचन्द्राकौ अस्य कीर्तिप्रतापी इति  
तात्पर्यम् । अत्र प्रकृतस्य परिवेषस्य प्रतिषेधेन अप्रकृतस्य कुण्डलनस्य स्थापनात्  
अपह्नुतिरलङ्कारः, तदुक्त दर्पणे 'प्रकृत प्रतिषिद्धान्यस्यापन स्यादपह्नुति'-  
रिति । प्राचीनास्तु परिवेषमिदं नूय्याचन्द्रमसो कुण्डलनोत्प्रेक्षायात् सापह-  
नोत्प्रेक्षा । सा च गम्या व्यञ्जकाप्रयोगादिस्थाह् ॥ १४ ॥

अन्वयः—तदोजस तद्यद्यस इमो वृथा स्थितौ इति विधि यदा चित्ते  
कुस्ते, तदा परिवेषकैतवात् मानो विधो अपि कुण्डलना ननोति ।

हिन्दी—राजा नल के तेज और यश के रहते ये दोनों ( सूर्य, चन्द्र )  
व्यर्थ हैं—बिधाता जब-जब यह मन में करता ( विचारता ) है, तब-तब परि-  
वेष ( गोलघेरा, जो कभी सूर्य-चन्द्र के चारों ओर दीख पड़ता है ) के व्याज  
से सूर्य और चन्द्र पर कुण्डलना ( व्यर्थतामूचने रेखामहल ) बना देता है ।

टिप्पणी—नल के तेज के रहते सूर्य निष्प्रयोजन है और यश के रहते  
चन्द्रमा । अर्थात् नल सूर्य से अधिक तेजस्वी है और चन्द्रिका से अधिक आह्ला-  
दिका ठसकी कीर्ति है । विधि द्वारा सूर्य-चन्द्र पर कभी-कभी दीखनेवाली  
कुण्डलना छींच देना—प्रतिपादित करके कवि ने यही उत्प्रेक्षा की है । प्रकृत  
परिवेष के अप्रकृत कुण्डलना-कथन के आधार पर यहाँ अपह्नुति अलङ्कार है,  
साहित्यविद्याधरी का भी यही स्थापना है । प्राचीन व्याख्याकारों ने यही साप-  
ह्नुता गम्या उत्प्रेक्षा मानी है ॥ १४ ॥



अयं दरिद्रो भवितेति वैधसो लिपिं ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतोम् ।

मृषा न चक्रेऽल्पितकल्पपादपं प्रणीयं दारिद्र्यदरिद्रतां नृपं ॥१५॥

जीवातु-अस्य वदान्यतां दाम्या वर्णयति-अयमिति विभज्येति च । अल्पित-  
कल्पोक्त निजित इति यावत्, दानशीलत्वादिति भावः, कल्पपादप अल्पतया  
वाञ्छितफलप्रदवृक्ष इति यावत्, येन तथाभूतं स नृप दारिद्र्यस्य अभावस्य  
निर्धनत्वस्य इति यावत्, दरिद्रताम् अभावमिति यावत्, प्रणीय कृत्वा दरिद्रस्य  
प्रभूतघनदानेन तेषां दारिद्र्यम् अपनीयेति भावः । अयं दरिद्रः अभाववानिति  
यावत्, भविता इति अर्थिजनस्य याचकजनस्य ललाटे जाग्रतो दीप्यमानामिति  
यावत्, वैधस इयं वैधमीता लिपि मृषा मिथ्या न चक्रे न कृतवान् । विधातुलिपी  
सामान्यतः दरिद्रश्चन्दस्य श्रितो दरिद्रश्चन्दस्य यथायथं घनदरिद्रः, पापदरिद्रः,  
ज्ञानदरिद्रः इत्यादिप्रयोगदशनात् अभावमानयोधकत्वमङ्गीकृत्य राजा दरिद्राणां  
घनाभावरूपं दारिद्र्यमपाचकार इति निष्कर्षः ॥ १५ ॥

अन्वयः—अल्पितकल्पपादपं नृप दारिद्र्यदरिद्रतां प्रणीय 'अयं दरिद्रः  
भविता'—इति अर्थिजनस्य ललाटे जाग्रतो वैधसो लिपिं मृषा न चक्रे ।

हिन्दी—कल्पवृक्ष को भी (स्वदानशीलताधिक्य से) छोटा बना देनेवाले  
उस राजा ने दारिद्र्य का भी दरिद्र बनाकर 'यह दरिद्र हाया'—इस याचको  
के ललाट पर जाग्रतो दीपतो विधाता की लिपि को झूठी नहीं किया ।

टिप्पणी—कल्पवृक्ष याचक को देता है, किन्तु नल याचकों को भी  
देता था, इस प्रकार उसके सम्मुख कल्पवृक्ष भी छोटा पड़ गया और इस प्रकार  
दरिद्रों के माल पर विधाता की निखी लिपि झूठी नहीं पड़ी, माल पर लिखी  
दरिद्रता ही दरिद्र बन गयी मिटकर । अथवा 'कावू' मानकर यह अर्थ भी  
हो सकता है कि विधि रीति को प्रभूतदान के द्वारा झूठा कर दिया । भाव यह है  
राजा नल इतना दानी था कि भूमण्डल पर दरिद्रता का नाम भी नहीं रह गया था ।  
इस तथा अगले पद्य में भी राजा की दानशीलता का वर्णन किया गया है ॥१५॥

विभज्य मेरुर्न यदर्थिमातृकृतो न सिन्धुस्तर्गजलव्ययेर्मदः ।

अमानि तत्तेन निज्रायशोयुगं द्विफालवद्धाशिवपुरादिदरस्स्यतम् ॥१६॥

जीवातु-विभज्येति । मेरु हेमाद्रि विभज्य विमर्त्तकृत्य अधिष्ठात् अधिम्या  
देयं न कृत अयिने देयमिति 'देयं वा चे'ति सान्निप्रत्ययः । सिन्धु समुद्रः

उत्प्राञ्जलाना व्ययं दानाम्बुप्रसेनैः नर निजलदेश न कृत इति मत्तत्तत्तन्नात्  
तेन नलेन द्विचालबद्धाः द्वयो फाल्गो शिरपास्वयो बद्धा रगिता इति भावत्,  
फलतेविशरणायै अप्रत्ययः । विनामिना पुमा सोमन्तितभिरोहत्वात् चिकु-  
रापा द्विचालबद्धत्वमिति भावः, द्विपा विमत्ता इति भावत् । चिकुरा केशा  
'चिकुरा कुन्तयो दाल् नच केश शिरोन्त' इत्यमर मिटान्धित मन्त्रकवृत्त-  
मिति भावः, निजं न्योयम् अयशोयुगम् अनकीर्तित्वं पूर्वोक्तैरविनामिभु-  
जलव्यपाकरणजनितमिति भावः । जनानि केशरूपेण द्विगन्धित स्वगिरति  
अयशोयुगमेव विगुति इति जनन्यन इत्यर्थः । जयशमः पापकर्मणात् कृष्णवर्ण  
कविममममिदम् 'तना च मालिन्य व्योम्नि पापे' इत्यादि । उद्देश्यविधेयस्य  
कर्मजनम् । केशेषु काव्यमान्यात् जयशोकगमिति व्यम्बरकम् ॥ १६ ॥

अन्वयः—अन् मेरु विमग्ग्य अयिसार् न कृतः सिधु उत्प्राञ्जलव्ययः मेरुः  
न कृत ( अयसा मेरु उत्प्राञ्जलव्ययं सिधुः न कृत ), तत् तेन द्विचालबद्धाः  
चिकुराः गिरि स्थित निजामशोनुगम् जनानि ।

हिन्दी—जो कि मुनेशगिरि को खण्ड-खण्ड करके टाचकों के अजीन नहीं  
कर दिया, और दानार्थ जल उगीचते-उलीचते समुद्र को मरम्मत नहीं बना  
दिया ( अथवा दानवत् से मरम्मत को समुद्र नहीं बना दिया ) सो उस (तल)  
ने ( बीच में जंग निकाल कर काटे गये ) दोनों ओर करके मँबारे गये अपने  
केशों को अपने शिरान्वित—शिरोनाय—ब्रह्म के प्रतीकरूप स्वीकार ।

टिप्पणी—कवि का भाव यह है कि कल्पवृक्ष से भी अधिक टाचकों की  
इच्छा पूर्ण करने पर भी नर की इच्छा नहीं होती, वह अनुत्तम दान करना  
चाहता था, जो न कर सकने के कारण अपने को असंतुष्ट मानता था ।

काले केशों की समता कविममममिदम् जयश ते होने के कारण मल्लि-  
नाथ ने यहाँ व्यम्बरक माना है । केशों की केशदा का नियोजन करके उन्हें  
अयशोन्म मानने की कल्पना के कारण साहित्यविदाधरी-कार इस श्लोक में  
अनहनुति मानते हैं ॥ १६ ॥

अज्वलनम्याननुनेपुया सम मुदेव देवः कविना वुधेन च ।

दधौ पटीमान् समग्रं नयनय दिनेश्वरयोधदय दिने दिने ॥ १७ ॥

जीवातु—अस्य विद्वज्जनसम्माननामाह—अजस्रमिति । दिनेश्वरस्येव श्रीयस्य,  
अन्यत्र दिने ईश्वरस्येव श्री यस्य तथाभूत पटीयान् समर्थतर अय देवो राजा  
सूर्यश्च 'देव सूर्ये यमे राक्षी'ति विश्व । अजस्र सततम् अभ्यास सान्निध्यम्  
उपेयुषा प्राप्तवता सहचारिणा इति यावत्, 'उपेयिवाननाश्राननुचानश्चे'ति  
निपात । कविना काव्यशास्त्रविदा पण्डितेन धुकेण न कुपेन विदुषा धर्म-  
शास्त्रादिदर्शनेति भाष, सीम्येन च सप्त सह मुदेव आन-देनैव न तु दुःखेने-  
त्येवकारार्थं समय नयम् अतिवाह्यन् दिने दिने प्रतिपादनम् उदयम् अभ्युपगतिम्  
आदिर्भावश्च दशौ धारयामास । अत्र श्लेषालङ्कार ॥ १७ ॥

अन्वय — दिनेश्वरधी परीयान् अय देव अजस्रम् अभ्यासम् उपेयुषा कविना  
बुधैव च सप्त मुद्रा एव समयं नयन् दिने दिने उदय दशौ ।

हिन्दी—दिनपति ( सूर्य ) की सोभा धारण करना, बुद्धिमान् यह राजा  
मल निरन्तर काव्याभ्यास करते कवि शुक्लाचार्य और विद्वान् वैयाकरण बुध के  
साथ सान्निध्य समय व्यतीत करते हुए प्रतिदिन उसी प्रकार अभ्युदय प्राप्त करता  
रहा, जिस प्रकार दिनेश्वर श्री सूर्य कवि धुक ग्रह और बुध ( चंद्रतमय )  
ग्रह के साथ प्रभात, मध्याह्न, संध्या आदि का विधान करता, तेज विकीर्ण  
करता, प्रतिदिन उदित होता है ।

टिप्पणी—राजा काव्य, शास्त्रादि-परिशीलनकर्ताओं के साथ समय व्यतीत  
करता था, अतएव उसका अभ्युदय हो रहा था । उपोति शास्त्र के अनुसार  
उदय होते सूर्य के साथ धुक और बुध रहा करते हैं—'बुधधुकी सदा पूर्वोत्तर-  
राधिस्यी ।

साहित्यविद्याधरो के अनुसार यही उपमा—श्लेष-उद्बोधित अलंकार हैं ।  
दिनेश्वरस्य श्रीरिव श्रीयस्य स — ऐसा विग्रह करने पर यहाँ निदर्शना अलंकार  
है और बुध, कवि द्वयार्थवाची हैं, अतः श्लेष भी है । इस प्रकार निदर्शना श्लेष  
का सकार है ॥ १७ ॥

अथो विधानात् कमलप्रवालयोश्शिरस्सु दानादखिलक्षमाभुजाम् ।

पुरेदमूर्ध्वं भवतीति वेधसा पद किमस्याङ्कितमूर्ध्वरेखया ॥ १८ ॥

जीवातु—अथ इति । कमलप्रवालयो पद्मपल्लवयो कमलमूतयो अथो-  
विधानात् अथ करणात् न्यक्करणादिति यावत् । तथा अखिलाना सर्वेषां

सनातुजा प्रतिमूलवर्तिना राज्ञा शिरसु दानात् विधानात् इदम् अस्य नलस्य पदम् ऊर्ध्वम् उत्क्षिप्यन् ऊर्ध्वस्थितश्च पुरा भवति नविष्यतीत्यर्थः । 'यावत् पुरा-  
निपातयोर्लट्' इति पुराशब्दयोगात् नविष्यदर्थे लट् । इति इदं मत्वा इति शेषः,  
गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः । वेधना विधाशा कर्त्ता ऊर्ध्वरेखया अङ्कितं चिह्नितं  
किम् ? 'ऊर्ध्वरेखाङ्कितपदं सर्वोत्कर्षं नयेत् पुमानिति सामुद्रिका । सौन्दर्य-  
सुलक्षणान्या युक्तमस्य पदमिति भावः ॥ १८ ॥

अन्वयः—कमलप्रवालयोः अधोविधानात् अखिलप्रमाभ्रवा शिरसु दानात्  
अस्य पदम् ऊर्ध्वं पुरा भवति—इति वेधना इदम् ऊर्ध्वरेखया अङ्कितं किम् ?

हिन्दी—कमल और प्रवाल को नीचा करने और समस्त पृथ्वीपटियों के  
शिरों पर स्थित होने के कारण इस ( नल ) का चरण आगे चलकर ऊँचा  
रहेगा—माग्य होगा, इसी कारण बना दिधाता ने उसके चरण को ऊर्ध्व रेखाओं  
से पहले से ही चिह्नित कर दिया था ।

टिप्पणी—सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार चक्रवर्ती के चरण में ऊर्ध्व रेखाएँ  
अङ्कित होती हैं, वे नल के चरण में भी थी, उसी पर यह कवि की कल्पना है—  
सम्भावना, अतः स्पष्टतः उत्प्रेक्षा है ॥ १८ ॥

जगज्जय तेन च कौशमक्षय प्रणीतवान् शैशवशेषवानयम् ।

सखा रतीगम्य ऋतुर्नृणां वन वपुन्मयालिङ्गदयाम्य यौवनम् ॥ १९ ॥

जीवातु—अयं अम्य यौवनागम्य ऋणेण वर्णयति—जगदित्यादिभिः । अयं  
नल शैशवशेषवान् ईषदवशिष्टशैशव एवेत्यर्थः । जगदा अयं तेन च जवनेत्यर्थः ।  
कौप घनजातम् अक्षय प्रणीतवान् कृतवान् । अयानन्तर रतीशस्य कामस्य  
सखा ऋतु वसन्त इत्यर्थः । वन यथा यौवनम् अस्य नलस्य वपुः शरीरं तथा  
जालिङ्गत्वे सदिलिङ्गत्वं । उपमात्पङ्क्तिः ॥ १९ ॥

अन्वयः—शैशवशेषवान् अयं जगज्जय तेन च कौशम् अक्षयं प्रणीतवान्,  
अयं रतीशस्य सखा ऋतु यथा वन तथा यौवनम् अस्य वपुः अलिङ्गत्वं ।

हिन्दी—अक्षय की बान्धावस्था अनो शेष है—अर्थात् दोषरूपोंय इस (नल)  
ने जगत् विजय करके अपने कोय को अक्षय बना दिया, अनन्तर जैसे रतिपति  
काम का सखा ऋतु वसन्त वन में आता है, वैसे ही यौवन ने इसके शरीर का  
अलिङ्गन किया ।

टिप्पणी—इस श्लोक में कवि यह बताना चाहता है कि नल ने यौवन आने से पूर्व ही नगद्विजय करके अपना मण्डार अक्षय बना लिया । उपमा ॥१९॥

अघारि पद्मेपु तदङ्घ्रिणा घृणा वव तच्छयच्छायलवोऽपि पल्लवे ?  
तदास्यदाम्येऽपि गताधिकारिता न शारद पाविकशर्वरीश्वर ॥ २० ॥

जीवानु—अघारोति । तस्य नलस्य अङ्घ्रिणा चरणेन पद्मेपु घृणा अवज्ञा 'घृणा जगुष्माकृपयोरिति' विश्व । अघारि घृता । पल्लवे भवकिसलये तस्य नलस्य घय पाणि 'पञ्चशाख शय पाणि' रित्यमर । तस्य छाया तच्छय-यच्छाय 'विभाषे'त्यादिना समासे छायाया नपुमनस्त्वम् । तस्य लवो लेशोऽपि वव ? नैव लेशोऽस्तीत्यर्थः । शरदि भव शारद शरत्वात्तीन इत्यर्थः । सन्धि-वेलाद्यनुनक्षत्रेभ्योऽण्प्रत्ययः । पर्वणि पूर्णमास्या भव पाविक' । 'पार्वणे'ति पाठान्तर कालाट्टम् 'नस्तद्वित' इति टिलोपः । स च अग्री शर्वरीश्वरश्चेति तयोक्तः पूर्णचन्द्र इत्यर्थः । तस्य नलस्य यत् आस्य मुख तस्य दासे कङ्कर्वोऽपि अधिकारिता न गत न प्राप्त । एतेनास्य पाणिपादवदनानामनौपम्य व्यज्यते । यत्र अङ्गनपादीना पद्मादिषु घृणाघनम्भवेऽपि सम्बन्धोक्ते अतिशयोक्ति अलङ्कार ॥ २० ॥

अन्वय —तदङ्घ्रिणा पद्मेपु घृणा अघारि, पल्लवे तच्छयच्छायलव' अपि वव ? शारद पाविकशर्वरीश्वर तदास्यदास्ये अपि अधिकारिता न गत ।

हिन्दी—उमके चरण ने पद्मों के प्रति घृणा अवज्ञा दया या उपेक्षा का भाव दिखाया और पल्लव में तो उसके हाथ की कांति का लेश भी कहा था ? नरद्विजय का निशाना उसकी आनन की दासता का भी अधिकारी न हो पाया ।

टिप्पणी—नल के अगों का वर्णन करते कवि ने उनके चरण, हस्त और मुख के सम्मुख उनके उपमानों पद्म, पल्लव और शारदी पूर्णमा के चन्द्र की हीनता प्रतिपादित की है, इस दृष्टि से यहाँ 'प्रतीप' अलङ्कार है, अनुप्रास की छत्रा भी है । माहित्यविद्याचरोत्कार छेकानुप्रास के साथ साकूठ विरोपणों से युक्त वक्ति होने के कारण परिवार भी मानते हैं और इस प्रकार अनुप्रास परिवार की समृद्धि । अङ्घ्रि आदि का पद्म आदि से घृणादि का सम्बन्ध न होने पर सम्बन्ध बड़े जाने के कारण जीवतुकार यहाँ अतिशयोक्ति मानते हैं ॥२०॥

किमस्य रोम्माङ्गुपटेन कोटिभिर्विधिर्न रेखाभिरजीगणद् गुणान् ।  
न रोमकूपोद्यमिषाञ्जान्कृता कृताश्च किं दूपाग्रन्यविन्दवः ? ॥ २१ ॥

जीवाहु—विनिनि । विदितविधाता अस्य नत्स्य गुणान् रोम्मा ऋपटेन  
व्याजेन कोटिभि कोटिसुव्यानि रेखाभि न अजीगणत् न गणितवान् किम् ?  
अतितु गणितवानेवेत्यर्थं तया जान्कृता, स्रष्टा विधिनेत्यर्थ । रोम्मा कृपा-  
विवराणि तेषाम् ओषा समन एव निव व्याज तस्मात् । दूपाणा दोषाणा  
शून्यस्य अनावस्य विन्दव आपदचिह्नमृता वस्तुलरेखा न कृता किम् ? अति  
तु कृता एवेत्यर्थ । अस्मिन् दूपा एव सन्ति, न कदाचित् दोषा इति नाव ।  
अत रोम्मा रोमकृपाणाश्च कष्टमिषाञ्जान्कृत्याम् अग्रहवे दूपागणनालेखत्वदूपा-  
शून्यविदुस्त्वरोद्वेक्षात् सापह्नवोद्वेक्षयो सृष्टिः ॥ २१ ॥

अन्वय —विधि अस्म गुणात् रोम्मा ऋपटेन कोटिभि रेखाभि न अजी-  
गात् किम् ? अगण्यता रोमकृपाणां दूपाग्रन्यविन्दव न कृता किम् ?  
( अपि तु कृता एव ) ।

हिन्दी—विनाश ने रोमों के बहाने करोड़ों रेखाओं द्वारा क्या इसके  
गुणों की गणना नहीं की ? अपितु गणना ही की । स्रष्टार बनानेवाले ने रोम-  
कृपा के व्याज से क्या दोषानावबुधक शून्य नहीं बनाये ? अपितु बनाये ।

टिप्पणी—राजा के गुण अनन्त, असह्य थे, जो विधाता उनकी गिनती में  
समर्थन हो पाया, अत मूविषा के लिए उसने नल के शरीर में गणनामूचक  
रोम बना दिम और दोषों के अनाव की मूचना के निमित्त रोमकृप रूपशून्य  
बना दिये । यहाँ 'कृपट' और 'मिष' शब्दों के प्रयोग द्वारा नियेष सूचित किया  
गया और अन्य सम्भावना की गयी, अत अग्रह-वि-उद्वेक्षा की सृष्टि है । यह  
वर्णन सामुद्रिक शास्त्रानुसारी है ॥२१॥

अमुष्य दोन्व्यामरिदुर्गलुफ्ठने ध्रुव गृहीतागलक्ष्मीर्धपोनना ।

उरध्रिया तत्र च गापूरस्फुरन्क्वाटुर्धर्षनिरप्रसारिता ॥ २२ ॥

जीवानु—अनुप्येति । अमुष्य नटस्य दोन्व्यां नृजाम्या कर्तुम्याम् अरि-  
तुर्गुण्डने अनुदुर्गमञ्जने अगलस्य क्वाटुर्धर्षमदारविशेषस्य 'तद्विधमोऽ-  
गलं न ना' इत्यमरः । दीर्घश्च पीनश्च तयोर्भावं दीर्घपीनता आयतपीवरत्व-

मित्यर्थः, किञ्चेति चार्थः । उरस वक्षस श्रिया लक्ष्म्या चर्या तत्र अरिदुर्ग-  
लुण्ठने गोपुरेषु पुरद्वारेषु 'पुरद्वारन्तु गोपुरमि'त्यमरः । स्फुरता राजता कवा-  
टाना दुर्द्वेषाणि च तानि तिरप्रसारीणि च तेषां भावः-तत्ता अप्रघृष्यत्व  
तिर्य्यक्प्रसारित्वञ्चेत्यर्थः । गृहीता ध्रुवम् अवलम्बिता किम् ? ध्रुवमित्युत्प्रे-  
क्षाव्यञ्जकम् । तदुक्तं दर्पणे 'मन्ये शङ्के ध्रुवः प्रायो नूनमित्येवमादयः । उत्प्रेक्षा-  
व्यञ्जका शब्दा इव शब्दोऽपि तादृशः' इति । दीर्घबाहुः कवाटवक्षाश्चायमिति  
भावः ॥ २२ ॥

अन्वयः—अमुष्य दोर्म्याम् अरिदुर्गलुण्ठने अगलदीर्घपीनता तत्र उर-  
ध्रिया च गोपुरस्फुरत्कपाटदुर्द्वेषतिरः प्रसारिता ध्रुवः गृहीता ।

हिन्दी—उसके बाहुयुग्म ने शत्रुओं के दुर्गों को लुण्ठित करते अगलों की  
दीर्घता और स्थूलता और वही वक्ष की थोमा ने नगरद्वारों पर छिन्ते किवाड़ों  
की दृढ़ता और बिछालता का मानो ग्रहण किया था ।

टिप्पणी—नल की भुजाएँ लम्बी और पुष्ट थी—आजानुबाहु था वह,  
और छाती दृढ़ तथा बिछाल वक्ष स्थूल था, कवि ने इसी भाव का प्रतिपादन  
करने के निमित्त यह 'उत्प्रेक्षा' की है । साहित्यविद्यापीठकार ने यहाँ उत्प्रेक्षा  
और उपमा माने हैं ॥ २२ ॥

स्वकेलिलेशम्भितनिजितेन्दुनो निजाशद्वृत्तजितपद्ममम्पदः ।

अतद्वयीजित्वरमुन्दरान्तरे न तन्मुखस्य प्रतिमा चराचरे ॥ २३ ॥

जीवातु—स्ववेलीति । स्वस्य केलिलेश विलासविन्दुर्यत् स्मित मन्दह-  
सित हेन निदिष्ट तिरस्कृत इदुश्चन्द्र ये तथोक्तस्य स्मितरूपकिरणेन  
निजितशीतागुममूक्षस्येति भावः । निजांशः स्वावयव यश्च नेत्र तथा तजिता  
निमित्तता पद्माना सम्पद् सीमाव्य येन तथाभूतस्य सन्मुखस्य नलमुखस्य  
तथोक्त्वाद्रपधयो द्वयी तस्या जित्वर जयशील ततोऽधिकमिति यावत् मुन्दरा-  
न्तर नास्ति, यत्र तथाविधे चराचरे जगति 'चराचर स्याज्जगदि'ति विश्वः ।  
प्रतिमा उपमान न आसीदिति शेषः । अत्र चन्द्रारवि-इजयविशेषणनया मुखस्य  
निरोपम्यप्रतिपादनात् पदावहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः । तदुक्तं दर्पणे—  
'हृत्तर्वावयवपदार्थरवे काव्यलिङ्ग निगद्यते' इति ॥ २३ ॥

अन्वयः—स्वकेलिलेशस्मितनिन्दितेन्दुनो निजाशद्वृत्तजितपद्ममम्पदः सन्मु-  
खस्य अतद्वयीजित्वरमुन्दरान्तरे चराचरे प्रतिमा नास्ति ।

हिन्दी — अपने झीड़ाविलास की अद्यमान मुमकान से चन्द्रमा को जीतने-  
वाले या निन्दायोग्य प्रमाणित करनेवाले तब अपने अद्यनेत्र से पद्म-शोभा के  
जैसा उनके मुख की उन दोनों ( चन्द्र और पद्म ) को जीत सरने वाले अन्य  
पदार्थ में शून्य जड़ चेतनमय समार में और कोई उपमा नहीं थी ।

टिप्पणी—नञ् के मुख नेत्र के साम्य में जगत् की दो ही वस्तुएँ रखी  
जा सकती थी—चन्द्र और पद्म । वे दोनों तो उनके सौन्दर्य में पराजित हो  
गये, अतः अन्य उपमान के अभाव में राजा नल का मुख चराचर समार में  
अप्रतिम ही रहा । अनुपम, अद्वितीय मुख के चन्द्र पद्म-विजयी होने से निरुपम  
कहे जाने के आधार पर मल्लिनाथ ने यहाँ पदार्थहेतुका वाक्यस्मि अलङ्कार  
माना है, किन्तु उपमानों के तिरस्काररूपन के आधार पर साहित्यविद्याधरो-  
कार के अनुसार यहाँ प्रतीप अलङ्कार है ॥ २३ ॥

मरोरुहस्तस्य दुर्गद तज्जितं जिता स्मितेनैव विधोरपि श्रियः ।

कुत परं भव्यमहो महीयसी तद्वाननस्योपमिनी दद्विदता ॥ २४ ॥

जीवातु—उत्तायं भङ्गमन्तरेणाह—मरोरुहमिति । तस्य नलस्य नैव  
नयनेनैव सरोरुह पद्म तजितं भव्यवृत्तम् । स्मितेनैव विधोरचन्द्रस्य श्रियः  
कान्तय अपि जिता तिरस्कुता परम् अयत् आम्नामिति शेषं भव्य रम्य  
वस्तु कुत ? न कुत्राप्यस्तीत्यने । अहो आश्चर्य तस्य नलस्य यत् जानन मुख  
तस्य उपमिनी शीलने महीयसी अतिमहती दद्विदता अभाव अत्यन्तानाव  
इत्यर्थ । सर्वथा निरुपममस्य मुखमित्याश्चर्यम् । अथ वाक्यार्थहेतुका वाक्य-  
लिङ्गमलङ्कारः ॥ २४ ॥

अन्वय — तस्य दृष्ट्या एव सरोरुह जिता स्मितेनैव एव विजो श्रिय यत्र  
जिता , परं भव्य कुत ? अहो, तद्वाननस्य उपमिनी महीयसी दद्विदता ।

हिन्दी—उसके नेत्र ने ही कमल-पद्म को जीत लिया, मलस्मित ने ही  
चन्द्र की शोभाएँ भी जीत लीं । इन दोनों से सुन्दर और कहाँ कुछ है ? हाय,  
उसके मुख की उपमा देने में ( कविगण की ) भारी दद्विदता है ।

टिप्पणी—पूर्वोक्त श्लोक के भाव को और चमत्कारी बनाते हुए कवि ने  
भङ्ग्यतर से मुख-शोभा का वर्णन किया है, मुख के उपमानस्वरूप प्रसिद्ध पद्म-  
चन्द्र मुखान्त से ही विजित हैं, मुख की तुलना कैसे हो ?



पूर्वोक्त श्लोक की भाँति मल्लिनाथ ने यहाँ भी वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलंकार माना है, साहित्यविद्याधरीकार ने क्रिया का प्रतिषेध होने पर भी फल में उसकी व्यक्ति रहने के आधार पर यहाँ विभावना स्वीकारी है—  
‘क्रियाया प्रतिषेधेऽपि फले व्यक्तिविभावना ।’ जो मुख श्रोत्रयो है, उसे दरिद्रता कैसी ? पर वह है, नले ही उपमान की दरिद्रता हो ॥ २४ ॥

स्ववालभारस्य तदुत्तमाङ्गजेस्त्वयन्ममयैव तुलाभिलाषिण ।  
अनागमे शमति बालचापल पुन पुन पुच्छविलोलनच्छलात् ॥ २५ ॥

जीवातु—स्ववालेति । शमरी मृगीविशेष तस्य नलस्य उत्तमाङ्गजं शिरो-  
रहै सम सहैव तुलाभिलाषिण माक्ष्यकाङ्क्षिण स्ववालभारस्य निजलोम-  
निषयस्य अनागमे अनपराधाय नीचस्य उनमै सह साम्याभिगमोऽपि महान्  
अपराध इति भाव । कश्चित्तदभावे नञ्समासे द्रव्यते । पुन पुन पुच्छस्य  
काङ्क्षुलस्य विलोलन विचालनम् एव छल तस्मात् बालचापल रोमचाञ्चल्यम्  
अथ च शिशुचापस्य शमति कथयति बालचापस्य सोढव्यमिति धियेति भाव ।  
अन पुच्छविलोलनप्रतिषेधेन अयस्य बालचापलस्य स्थापनादपह्नुतिरलङ्कार ।  
तदुक्त दर्पणे—‘प्रकृत प्रतिपिध्यान्यस्थापन स्यादपह्नुतिरिति’ ॥ २५ ॥

अन्वया—शमरी तदुत्तमाङ्गजं सम तुलाभिलाषिण स्ववालभारस्य अना-  
गमे पुन पुन पुच्छविलोलनच्छलान् बालचापल शमति ।

हिन्दी—मुछ गाय उस ( नल ) के सिर के केशों के साथ साम्य के अभि-  
लाषी अपने केशों के निरपराध होने पर बारम्बार पूँछ हिलाने के ब्याज से  
( स्वकेशों की ) बालकोचिन चालता को व्यक्त किया करते हैं ।

टिप्पणी—इस श्लोक में कवि ने नल के केश-सौन्दर्य का वर्णन किया है ।  
शमरी गाय के बाल उसके केशों से समता की घुँटता करते हैं, यह अपराध है,  
किन्तु शरीर सम्बन्ध से नील गाय केशों—बालों की माता तुल्य है । माता को  
बच्चे के अपराध अपराध नहीं लगा करता, और फिर बच्चा का अपराध उनका  
बालचापल ही माना जाता है । कवि कहता है कि मुरागाय इसी बालचापल्य की  
अभिव्यक्ति कर रही है निरन्तर पूँछ हिलाती, अपना अपने बालों ( बाल  
‘बबयारनेद ’ ) की चालता के निमित्त लाला चाह रही है ।

पुच्छविलोन्न-प्रतिषेध करने बालचापल की स्तान्ना होने के कारण मल्लिनाथ यही अपह्नुति मानत है, विद्याधर ( साहित्यविद्यारथी के कतां ) 'चापलनिव शसति'-ऐसी कल्पना करके प्रतीतमानोत्प्रेक्षा, और अपह्नुति भी ।

महीमृतस्तस्य च मन्मथप्रिया निजस्य चित्तस्य च त प्रतीच्छया ।

द्विधा नृपे तत्र जगत्त्रयीभुवा नतभ्रुवा मन्मथविभ्रमोऽभवत् ॥२६॥

जीवानु—महीमृत इति । तस्य महीमृतो नरस्य मन्मथस्यैव श्री कातिः तमा च निजस्य चित्तस्य च नर प्रति इच्छया रागेण च तत्र नृपे नर जगत्-त्रयीभुवा त्रिभुवनवर्तिनीना नतभ्रुवा कानिनीना द्विधा द्विप्रकारेण मन्मथ-विभ्रम अत्र मन्मथ इति विशिष्टा भ्रान्ति कामावेशश्च अभवत् । अत्र श्लेष-सङ्कीर्णो ययासस्मालङ्कारः ॥ २६ ॥

अन्वय—तस्य महीमृत मन्मथप्रिया च प्रति निजस्य चित्तस्य इच्छया च तत्र नृपे जातत्रयीभुवा नतभ्रुवा द्विधा मन्मथविभ्रम अभवत् ।

हिन्दी—उस पृथ्वीवर्ति की कामप्रमाण काति और ( अथवा उसके प्रति अपने चित्त का अनिलाप—इस प्रकार उस राजा नर में त्रिलोकी में रहने समस्त सुन्दरिया को दो प्रकार से काम का भ्रम हो गया, जिससे उनके नयन छात्र से झुक गये ।

टिप्पणी—राजा मदनमुख्य मनोहर था और त्रिलोकी की सुन्दरियाँ उसका अनिलाप करती थी—कवि का यहाँ यही भाव है । यहाँ एक भाव त्रिलोक-सुन्दरियों की सुगता का वर्णन कर कवि ने अपने तीन श्लोकों में इन्द्रा स्वर्ग, पाताल और मर्त्यसुन्दरियों का विमोहन प्रतिपादित किया है । 'विभ्रम' का अर्थ भ्रम-भ्रान्ति भी है और कामजनित कटाक्षादि विलास भी—'विभ्रमो भ्रान्तिहादयो' इति विश्व । यह 'विभ्रम' का द्वैविध्य है, एक तो राजा के 'मन्मथप्रिया' होने से उसमें मन्मथ भ्रान्ति, दूसरा अनिलाप-जनित दृग्भाषावला विलास का सूचक मोक्षों का नीचा हो जाना ।

मल्लिनाथ ने यहाँ श्लेषसङ्कीर्ण मयानस्य अङ्कार माना है, विद्याधर ने 'मन्मथप्रिया' के कारण उपमा और 'विभ्रम' के कारण श्लेष । नारायण पण्डित ने मन्मथ की व्युत्पत्ति की है—मनन मत् शास्त्राद्यन्यासिबन्ध जान मप्तातीति मन्मथ । मूलविभ्रवादित्वात्कः ॥२६॥

निमीलनम्रं गजुपा दृशा मृश निर्णीय तं यस्त्रिदशीभिरजितः ।

अमून्मन्म्यामभर विवृण्वते निमेषनि स्वेरघुनापि शोचने ॥२३॥

जीवास्तु—निमीलनेति । त्रिदशीनि मुराङ्गानानि निमीलनम्र गजुपा  
'निनिमेषेण्ययं । दृशा नयनेन त नल मृशम् अतिमात्र निर्णीय मृगणा दृष्टे-  
रपर्यं । य अम्यानभर अम्यामातिशय कृतः अपूर्वदृश्य दैव्य अपुनापि  
निमेषनिस्त्वे निमेषमूर्ते लोचने तम् अम्यामभर विवृण्वते प्रकटयन्ति ।  
तासा स्वानाविकस्य निमेषामावस्य तादृगनिरोजपाभ्यासवामनया तत्त्वमु-  
द्वेदयत ॥ २३ ॥

अन्वय—त्रिदशीनि. निमीलनम्र गजुपा दृशा ॥ मृश निर्णीय म ० जित  
अम् अपुना अपि निमेषनि स्वनं लोचने तम् अम्यामभर विवृण्वते ।

हिन्दी—मुरांगाना ने निनिमेष ( अणक ) दृष्टि से उससे रूप का पान  
करके जितका अर्जन किया था, उस निरन्तर अभ्यास को आज भी वे अपन  
अणक नेत्रों से प्रकट करती हैं ।

टिप्पणी—उस लोक में भी नल के मुरांगनाविमोहक उत्कट रूप का  
वर्णन है । जनविश्वास है कि देवता 'अणकदृष्टि' होते हैं, उनके पाप नहीं  
सकते । कवि ने यही उसक कारणविषय की 'उत्प्रेक्षा' की है । विद्याधर ने  
उसी आधार पर यही प्रतीयमानोत्प्रेक्षा माना है, वे अभ्यवसाय की सिद्धि के  
कारण हमसे प्रतिशय भी मानते हैं ॥२३॥

अदम्नदाकिं फण्डपजीविन दुःशोदंय मन्त्रद्वीक्षि चाफलम् ।

इति स्म चतुःश्रवसा प्रिया नटे म्बुवन्नि निन्दन्ति हृदा तदात्मनः ॥२४॥

जीवास्तु—अद इति । चतुःश्रवसा नागानां प्रिया पत्युः रूपं । अद  
उद नोऽन्मार्द रणोदचमुशोदंय त मन्त्रम् आकांक्षतीति तदाकिं तद्गुणधा-  
वीक्ष्य, तामा चतुःश्रवसादिति भावः । अत एव फण्डपजीविन मन्त्रद्वी-  
क्षि । न वीक्षते इदवीक्षि, अशोभनोस्ताच्छीघ्रं निनि । तस्य नलस्य  
अवीणि तदवीणि तददर्शीवर्षं । अत एव अदम्ब, इति हेतोः । तदा तस्मिन्  
वाते जायमाना स्वेन हृदा मनसा नले नवविषये स्तुवति प्रशंसति निन्दति  
शुभयति च । अतिदुःखोक्तिरह्ण्ट ॥ २४ ॥

अन्वय—अब न दृष्टो द्वय तदाकर्मि ( अत्र ) फलान्वयीवित्तम्, तद्  
अवीक्षितं च ( अत्र ) फलम्—इति चतुर्ध्वजं प्रिया तत् आत्मनः हृदा  
स्तुवन्ति स्म, निन्दन्ति स्म च ।

हिन्दी—यह हमारा नेत्रयुग्म नल के गुणों को सुनता है, अब इसका  
अंजन सफल है, उसका दर्शन नहीं पाया, इस से निष्कल है—इस प्रकार नेत्रों  
से ही सुन करने की दृष्टिवाले अनुग्रहानागों की पातालवासिनी प्रियाएँ  
उस अपने नेत्रयुगल की अपने मनमें प्रशंसा माँ करती थी और निन्दा भी ।

टिप्पणी—पाताल में नल के गुण ही तो निश्चाय थे, वह वहाँ उपस्थित  
कहाँ था ? पातालवासिनी नाम प्रियाएँ उसे न देख सकने के कारण अपने नेत्रों  
की कोसती थी, पर गुण-श्रवण तो उनसे ही हो पाता था, अब एक ओर  
प्रशंसा, दूसरी ओर निन्दा ।

जीवानुकार मलिनान ने इनमें अविश्वसति मानी है और माहिल्यविद्या-  
धरीकार विद्याधर ने शुद्धिवाचिरोपाधकार । यह दस है—‘माहिल्यविद्या-  
धरीकार विद्याधर म्याद् गुणास्त्रिभिः । क्रिया द्वाभ्यामथ द्रव्यं द्रव्यैर्गोचरि ते दश ।’

विलोक्यन्तीभिरजस्रभावनाद्वलादम् तत्र निमीलनेष्वपि ।

अलम्भि न्यर्थाभिरमुष्य दर्शने न विघ्नलेशोऽपि निनेयनिर्मित ॥२९॥

जीवातु—विलोक्यन्तीभिरिति । अजस्रभावनाद्वलाद् निरन्तरध्यान-  
प्रभावाद् अमुं नलं तत्र भावनायानिति भावः । निमीलनेषु अपि निनेया-  
व्यप्यामु अरि विलोक्यन्तीभिः समेयावस्थायामिव साक्षाद् दृवंतीमि मर्त्यानि  
मानवीमि जमुष्य नलस्य दर्शने निनेयनिर्मितं नेत्रनिमीलनजनितं विघ्नले-  
शोऽपि जन्तुयत्नोऽपि न अलम्भि न प्राप्तः । ‘विनाया चिन्तामुगे’ इति  
मुनामः । मानस्य दृष्टितोचरदृष्टा नदृष्टितोचरश्च तं भवता सततं पश्यन्ति  
स्मेति भावः । अविश्वसतिरलङ्कारः ॥ २९ ॥

अन्वय—अजस्रभावनाद्वलाद् अमुं नेत्रनिमीलनेषु अपि विलोक्यन्तीभिः  
मर्त्यानिः अनुष्य दर्शने निनेयनिर्मितं विघ्नलेशोऽपि न अलम्भि ।

हिन्दी—निरन्तर नल की भावना करते रहने के बल पर उसे नयन संप-  
कने पर ( मन में ) भी देखती हुई मर्त्यलोकासिनी मानवसुन्दरियों ने पलक  
झपकने के कारण उत्पन्न इसके दर्शन में पड़ते विघ्न का लेश भी नहीं प्राप्त किया ।

टिप्पणी—मानवसुन्दरिमां तो नल ने ऐसी रम रही थी कि वह सम्मुख हो या न हो, भावनावश वे सदा उसका दर्शन पाती ही रहती थी ।

मल्लिनाथ ने अतिशयोक्ति मानी है और कारण की सप्रशंसा में भी कार्य की अनुत्पत्ति के आधार पर विचार ने विशेषोक्ति ॥२९॥

न का निशि स्वप्नगत ददर्श त जगाद गोत्रस्थलिते च का न तम् ?

तदात्मताध्यातवया रते च का चकार वा न स्वमनोमबोद्धवम् ? ॥३०॥

जीवातु—नेति । का नारी निशि रात्रौ त नल स्वप्नगत न ददर्श ? सर्वत्र ददर्शेत्यर्थ । का च गोत्रस्थलितेषु नामस्थलनेषु त न जगाद स्वमर्तु-नाम्नि उच्चरितस्थे तन्नाम न उच्चरितवती अपि तु सर्वत्र तथा कृतवती इत्यर्थ । का च रते मुरतव्यापारे तदात्मतया नलात्मतया ध्यात चिन्तित वदा भर्ता यया समाभूता 'यव प्रिय पतिर्मत्त' इत्यमर । स्वस्य आत्मन मनोमव' काम तस्य उद्धव त वा न चकार ? अपि तु सर्वत्र तथा चकारे-त्यर्थ । अतिशयोक्तिरलङ्कार ॥ ३० ॥

अन्वय—का निशि त स्वप्नगत न ददर्श का च गोत्रस्थलिते त न जगाद, तदात्मताध्यातवया का च वा रते स्वमनोमबोद्धव न चकार ।

हिन्दी—कौन सुन्दरी उसे रात में सपने में मिली नहीं देखती थी और कौन नामोच्चारण में मटककर उसका नाम नहीं ले देती थी ? नल की भावना से पति का ध्यान करती किम रमणी ने मुरत काल में अपने काम का उद्भव नहीं किया ?

टिप्पणी—प्रत्येक सुन्दरी नल का ही स्वप्न देखती थी, उसका ही नाम लेती थी और उसकी ही भावना करके अपने पति को रमण किया करती थी ।

इस दलोक में स्वप्नदर्शन, नामस्मरण और नलभावना से रमण—इन तीन प्रकारों से यदि ने मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा नायिकाओं के नलानुशास का चित्रण किया है । बाहुव्रीहिको तो है ही, मल्लिनाथ के अनुसार अतिशयोक्ति है, क्योंकि असम्बन्ध में भी सम्बन्ध-वचन है । टीकानुशास भी है ॥३०॥

श्रियास्य योग्याहमिति स्वमीक्षितुं वरे तमालोक्य सुरूपा घृत ।

विहाय भेमीमपदर्पया क्या न दर्पण श्वाममलोमम वृत् ? ॥३१॥

जीवातु—धियेति । त नन्म आनोक्य दृष्टा धिया सौन्दर्येण बहन्त्य  
नलस्य योम्या अनुकृपा इति । धियेति धेय स्वम् बात्मान स्वावयवमित्यर्थः ।  
ईक्षितुं द्रष्टुं करे धृतः । गृहीत दर्पणं भैमी भोमनन्दिनीं दमयन्तीमित्यर्थः ।  
विहाय विनेत्यर्थं कमा मुखपद्मा सोमनस्कवती बह्नित्वनिमानवत्पा नाय्या  
अपदर्पणा दर्पणान्यया स न स्वासेन दुःखनिश्वासेन मलीनस्त मलदूषितः 'मली-  
मसन्तु मलिन कच्छर मलदूषितमि' त्तरम् । न कृतः ? अपि तु सर्वमेव कृत  
इत्यर्थः । सौन्दर्यंगविता, एवमेव नानाविधा कानिन्याः तनवलोच्य  
बहमेवास्त्य सद्दीप्तमिमांसा नानाविधरूपदर्पणे कथ्यान् निश्चिन्ता नाहमस्मयोम्येति  
निश्चयेन विषयाः कदुर्गनिश्वासेन त दर्पण मलिनमिति निश्चितं इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—तम् आलोच्य धिया 'अस्मयोम्या' इति स्मृ ईक्षितुं  
करे धृत दर्पण। भैमी विहाय कमा मुखपद्मा स्वावयवलोच्य न कृतः ?  
हिन्दो—उसे ( नल को ) देखकर 'तु सौन्दर्य के कारण इसको योम्य है'—  
ऐसा विचारते करने मुख ( अथवा सम्मुखीमुखी ) को निहारने के लिए हाथ  
में लिया दर्पण भीमसुता ( दमयन्ती ) को निहारना है कि 'नलस्वदर्पण  
सुन्दरी ने निश्वास से भैला नहीं किया ? सुनी ने किया ।

टिप्पणी—कोई सुन्दरी दर्पण में निहार कर अपने को नल के योम्य मानने  
का साहस न कर पायी और खिन्नता से निकली निश्वास से हाथ का दर्पण  
धुंधला पड़ गया—इससे कवि का भाव यह है कि नल के अनुरूप भीमसुती वैदर्भी  
दमयन्ती ही थी, अन्य कोई सुन्दरी रूप-गुण में नल के योम्य नहीं थी । अस्-  
म्बन्ध में सम्बन्ध बधन के कारण यहाँ अतिशयोक्ति है और विद्याभर के अनुसार  
व्यभिचारभाव गर्व की छान्ति ॥ ३१ ॥

ययोहमान खलु भोगभोजिना प्रमह्य वीरोचनिजन्म पत्तनम् ।

विदमर्जयाया मदनस्तथा मनोजलावरुद्ध वयमेव वेशितः ॥ ३२ ॥

जीवातु—एवमस्यालौकिकसौन्दर्यज्ञोतनाय स्त्रीनामस्य तदनुपगम्युक्त्वा  
सम्प्रति दमयन्त्यास्तवानुपगम्य प्रन्तौति—मयेति । मदन कामः प्रहृष्ट इति  
भावत् भोगभोजिना सर्वशरीराशिना वदसा पक्षिणा गच्छेनेत्यर्थः । ऊहमान  
नीपमान, वहे बर्मेणि यदि सम्प्रसारणे पूर्वस्वम् । अनलावरुद्धम् अग्निपरि-

वेष्टित विरोचनस्य अपत्यं पुमान् वैरोचनि बलि तज्जनस्य तत्पुत्रस्य  
 बाणासुरस्येत्यर्थं । पत्तनं शोणितपुरमिति यावत् । प्रसह्य सहसा यथा वेष्टित  
 सलु प्रवेशित एव, 'ततो गरुडमारुह्य स्मृतमात्रागत हरिः' । उपाहरणे विष्णु-  
 पुराणात् । तथा नलावरुद्ध नलासक्तं विदर्भजायाः 'अयमन्त्या मन भोग-  
 भोजिना मुखभोगासक्तेनेत्यर्थं, वयसा यौवनेऽऊह्यमान परैस्तत्कर्ममाण ऊहेर्वि-  
 सर्क्यात् कर्मणि यक् । वेष्टितं प्रवेशितं । 'भोगं सुखे स्थ्यादिभृतावहेश्च  
 फणकाययोरित्यमरः । पुरा उपानाम्नी बाणदुहिता स्वप्ने प्रद्युम्नपुत्रमनिरुद्ध  
 दृष्ट्वा सुप्तप्रतिबुद्धा सहचरो चित्रलेखामवदत् । सा च योगवलेन तस्यामेव रात्री  
 द्वारजाया प्रसुप्तमनिरुद्धं विहायसा समाभोज्य तथा समगमयत् । कालेन मारद-  
 मुक्तात् तदाकर्ण्य कृष्णं प्रद्युम्नवलरामाभ्यां बहुभिर्बलैश्च गत्वा बाणनगरमरौ-  
 त्मीदिति कथा अत्रानुसंधेया । अत्र यथोह्यमानो नलावरुद्धमिति क्षब्दश्लेषः ।  
 तदनुप्राणिता उपमा च सा च वयमेति वयमोरभेदाध्यवसायमूलातिशयोक्ति-  
 मूला चेत्येया सङ्करः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—यथा सलु भोगभोजिना वयसा ऊह्यमानं मदनं अनलावरुद्धं  
 वैरोचनिजस्य पत्तनं प्रसह्य वेष्टितं तथा ( वयसा ) एव विदर्भजायाः नलावरुद्धं  
 मनं ( मदनं वेष्टितं ) ।

हिन्दी—जिम प्रकार सर्पभोजी वयस् पक्षिराज गरुड ने अपनी पीठ पर  
 ले आकर मदन अर्थात् ( कृष्णपुत्र, अनिरुद्ध-जनक मदनारवतार ) प्रद्युम्न को  
 जिन से समस्त घिरे वैरोचनि—( प्रह्लादमुक्त पातालराज ) बलि के पुत्र  
 बाणासुर के नगर ( शोणितपुर ) में सटिति प्रविष्ट करा दिया था, उसी  
 प्रकार मुखासक्त वयस् अर्थात् तारुण्य ने ही वैदर्भी के नलसे व्यास मन में काम  
 को प्रविष्ट कर दिया ।

टिप्पणी—काव्यशास्त्रीय परम्परा के अनुसार पहिले मारी का अनुराग  
 दिखाया जाना उचित होता है, तत्पश्चात् नर का—'आदौ वाच्यं स्त्रिया राम  
 पुत्रं पद्मासदिङ्गितं', इस प्रकार इसमें रूप-गुण-श्रवण तथा चित्रादिदर्शन से  
 आकृष्ट दमयन्ती के पूर्वानुराग का कवि ने वर्णन किया है । इसके लिए उसने  
 उपा-अनिरुद्ध को पौराणिक कथा ( श्रीमद्भागवत, १०।६२-६३ ) का उपमान

उपस्थित किया है । विद्यापति ने इस पद्य में केवल इन्हीं और उपमा बलकारों का उल्लेख किया है, जो यहाँ अत्यन्तैव, अयंस्तैव-विशिष्टा उपमा, अर्थात् अत्यन्त-मूला प्रतिशयोक्ति और अनुप्रास का संकर है । मल्लिनाथ यही मानते हैं ॥२२॥

नृपेज्जुह्वे निजस्वसम्पदा दिदेश तस्मिन् बहुच श्रुति गते ।

विशिष्य सा भीमनरेन्द्रनन्दना मनोमवाज्ञैकवचनवदं मन ॥२३॥

जीवानु—इह विरहिणा चक्षुः प्रीत्यादमो दयावस्था सन्ति, तत्र चक्षुः प्रीति श्रवणानुरागान्माप्सुः संपन्नतन्तुर्विका मनःसङ्काशा द्वितीयामवस्था-माह—नृप इत्यादि । सा भीमनरेन्द्रनन्दना दमयन्ती नन्द्यादिनाम्पुत्रनय । निजस्वसम्पदा स्वलाभ-यसम्पत्तीनानुरूपे बहुच । 'बहुस्वाम्यांश्चत्वारका-दन्तरस्यामि'त्यादानार्थे उत्पत्त्यय । श्रुति श्रवण गते एतेन श्रवणानुराग उक्तं, तस्मिन् नृपे नले मनोमवाज्ञाया एव वचनवदम् एकस्मैव विधेये शिव-भागवतवत् समास । 'प्रियवचने वद खष्' 'अर्द्धिपदि'त्यादिना तस्य मुम् । मनो विशिष्य दिदेश अस्मैवमिति निदिशन्पातिसमवत्यर्थ, तद्गुणश्रवणात्-दासस्तचित्तासीदित्यर्थ ॥ २३ ॥

अन्वय—सा भीमनरेन्द्रनन्दना निजस्वसम्पदाम् अनुप्रासे बहुच श्रुति गते तस्मिन् नृपे विशिष्य मनोमवाज्ञैकवचनवदं मन दिदेश ।

हिन्दी—उस राजा भीम की पुत्री दमयन्ती ने अपनी संपत्ति के अनु-रूप (मोय), बहुत दार जिसका हन-मुन-जीर्जन कान में पड़ चुका था, उस राजा नल में आसक्त कर अपने मन की कामाज्ञा का ही एक मात्र वचन ही बना दिया ।

टिप्पणी—नल के प्रति दमयन्ती के एकानुराग का द्योतन । अनुप्रास अन्कार । श्रवणमात्र अनुप्रास, इसका ही अनेकें चारों ओरों में वर्णन है ॥२३॥

उपासनानेत्य निजुस्वम् रज्यते दिने दिने मावसुरेषु वन्दिनाम् ।

पठन्तु तेषु प्रति भूपतीनलं विनिद्रगेमावनि शृङ्खतो नलम् ॥२४॥

जीवानु—जयाम्ना श्रवणानुरागमेव चतुर्विधं गदति—उपासनानित्यादि । सा नैमी दिने दिने प्रतिदिन 'नित्यवीक्ष्योर्'ति वीक्ष्याया द्विर्वा । वदिना स्तुतिपाठकानामवनरेषु निजुस्वामा संवामेत्य प्राप्य तेषु वन्दियु भूपतीन् प्रति-भूपतीनुद्दिश्य पठन्तु मन्त्रिवति शेष । नल शृङ्खतो नल रज्यते स्म रज्यते



भूदित्यर्थः । रञ्जयेद्देवादिकाल्लट् । अतएव विनिद्ररोमा रोमाञ्चिता अजनीति सात्त्विकोक्तिः । जने कर्त्तरि लुट् 'दीपजने'त्यादिना च्लेद्विष्णादेशः । नलगुण-  
श्रवणजन्यो रागस्तस्य रोमाञ्चैव व्यक्तोऽभूदिति भावः ॥ ३४ ॥

अन्वयः—सा दिने दिने वन्दिनाम् अवसरेषु पितु उपासनाम् एतत्तेषु भूपतीन् प्रति (प्रतिभूपसीद्वा) पठन् नल भृष्वती विनिद्ररोमा अजनि रज्यते इमं (च) ।

हिन्दी—यह प्रतिदिन स्तुतिपाठको के स्तुतिपाठ के समय अपने पिता की सेवा में उपस्थित होकर उनसे राजाओं (अथवा अन्य राजाओं) के सम्बन्ध में वर्णन करते होने पर नल के विषय में सुनती पुलकित हो जाती थी और इस प्रकार वह (नल में) अनुरक्त हो गयी ।

टिप्पणी—यहाँ गुणश्रवण का अवसर बताया गया । विद्याधर के अनुसार यह औत्सुक्य भाषोदय का उदाहरण है, सात्त्विक रोमाञ्च का वर्णन भी है ॥३४॥

कथाप्रसङ्गेषु मिथस्सखीमुखात्तृणैऽपि सन्ध्या नलनामनि श्रुते ।

द्रुत विधूयान्यदभूयतानया मुदा तदाकर्णनसज्जकर्णया ॥३५॥

जीवातु—कथेति । मिथोऽयोज्य रहसि कथाप्रसङ्गेषु विसम्मगोष्ठीप्रस-  
ङ्गेषु सखीमुखाच्चलनामनि नलालये तृणे श्रुते सति 'नल पोटगले राती'ति विद्व । अनया सन्ध्या दमयन्त्या द्रुतमन्यत् कार्यांतर विधूय निराकृत्य मुदा हर्षेण तदावर्णने नलशब्दावर्णने सज्जकर्णया दत्तकर्णया अभूयत अभावि । 'भुवो भावे' लट् । अर्थांतरप्रयुक्तोऽपि नलशब्दो नृपस्मारकतया तदाकर्णकोऽ-  
भूदिति रागातिशयोक्तिः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—सन्ध्या अनया मिथः कथाप्रसङ्गेषु सखीमुखात् तृणैऽपि नलना-  
मनि श्रुते अथत् द्रुत विधूय मुदा तदावर्णनसज्जकर्णया प्रभूयते ।

हिन्दी—कोमलाङ्गी यह दमयती परस्पर बानचीन के अनेक रहस्यालापों में सतिषों के मुख से धावा भी नल का नाम सुनने पर अत्यन्त (विषय) तुरन्त त्यागकर प्रसन्नतया उसके सम्बन्ध में सुनने के लिए जान लगा देती थी ।

टिप्पणी—यहाँ रागानिधय दिखाया गया है । हर्ष और औत्सुक्य की 'भावज्वलता' है 'तन्वी' पद विरहद्वयता का चायक है ॥३५॥

स्मरात्परासोरनिमेषलोचनाद् विभेमि तद्भिन्नमुदाहरेति सा ।

जनेन यूनं स्तुवता तदास्पदे निदर्शनं नैषधमभ्यपेक्षयत् ॥३६॥

जीवातु—स्मरादिति । परासोर्भृतात् अत एवानिमेषलोचनाद्विचलाज्ञा-  
हृवादिति च गम्यते । उभयथापि न नहेत्किं । तस्माद्विभेनीति तद्भिन्नं ततो-  
ऽन्यमुदाहरति तत्तदृशं निदर्शयत्याह सा दमयन्ती यूनं स्तुवता जनेन प्रयोग-  
कर्त्ता तदास्पदे स्मरस्याने निदर्शनं दृष्टान्तं नैषधं निषधानां राजानं नलं 'जन-  
पदघाष्टात्क्षत्रियादन्' । अभ्यपेक्षयत् स्मरस्य स्थाने तत्तदृशं एवाभिप्रेक्ष्य युक्तं  
स च नलादभ्यो नास्तीति तस्मिन् नल उदाहृतेऽनुवप शृणोतीति रागातिरे-  
कोक्तिः । 'उपसर्गात् मुनोती'त्यादिना अह्वयवायेऽपि पत्वम् ॥ ३६ ॥

अन्वयः—परासो अनिमेषलोचनात् स्मरात् विभेमि, तद्भिन्नम् उदा-  
हर—इति सा यूनं स्तुवता जनेन नैषधं तदास्पदे निदर्शनम् अभ्यपेक्षयत् ।

हिन्दी—यउप्राप ( अउएष ) अपन्क नेत्र कामदेव से मुझे डर लगता है,  
उसके अतिरिक्त कोई उदाहरण दो—इम प्रकार वह किसी तरह की प्रशंसा  
करती सखियों आदि से निषधराज का उस ( काम ) के स्थान में उपस्थापित  
कराती थी ।

टिप्पणी—काम देवविषय होने के कारण अनिमेषलोचन है, किन्तु दम-  
यन्ती उसकी अनिमेषलोचनता उसके मृत होने के कारण मानती है और मृत  
को देखकर स्वयं डरने का बहाना करती हुई किसी तरह के सौन्दर्य में काम  
से उपमानित करने का निषेध करके अन्य उदाहरण प्रस्तुत करने का निर्देश  
करती है, क्योंकि वह जानती है कि सौन्दर्य में काम के अतिरिक्त समान उदा-  
हरण नल ही है, सो स्तोताजन काम के स्थान में नल का ही नाम लेंगे ।

यह भी रागातिरेक का वर्णन है । गुणकीर्त्तन-ध्वनिरूपा काम की दशा का  
उपपादन ॥३६॥

नलस्य पृष्टा निषधायना गुणान् भियेण दूतद्विजवन्दिचारणा ।

निषोय तत्कीर्तिकथामथानया चिराय तस्ये विमनायमानया ॥३७॥

जीवातु—नलस्येति । निषधेभ्य आगता दूता सन्देशहराः, द्विजा ब्राह्मणा,  
चन्दिन स्तावका चारणा देशभ्रमणजीविन ते सर्वे भियेण व्याजेन नलस्य

गुणान् पृष्ट्वा पृच्छतेर्दुहादित्वात् प्रधाने कर्मणि क्त । अथ प्रश्नानन्तरमनया भैम्या तत्कीर्तिकथा नलस्य यथा कथामृत निपीय नितरा श्रुत्वेत्यर्थः । चिराय विमनायमानया विमनीभवन्त्या मृशादित्वात्क्यडि सन्धोपदच 'अकृत्स्नार्वाधु-  
कयोर्दीर्घं' ततो लट् शानजादेशः । तदा तस्ये स्थित तिष्ठतेभवि लिट् ।  
अथ च दूतादिव्यवधाने गुणकीर्त्तनलक्षण प्रलापारयो रत्यनुभव ॥ ३७ ॥

अन्वय — अनया निपद्यावता दूतद्विजवन्दिचारणा मिथेन नलस्य गुणान् पृष्ट्वा, अथ तत्कीर्तिकथा निपीय चिराय विमनायमानया तस्ये ।

हिन्दी—दमयती निपवदेष्ट से नाये दूतो, ब्राह्मणों, स्तुति पाठकों और चारणों से बहाने से नल के गुण पूछा करती थी, और फिर उसकी यथोपाया को तन्मय हो सुन देरतक अनमनो बैठी रह जाया करती थी ।

टिप्पणी—इस श्लोक में व्यभिचारीभाव बिता का उदय दिखाया गया है । अनमने होने में कारण है यह बिता कि कैसे नल से मिलन होगा ? यहाँ मल्लिनाथ ने प्रलाप नामक रत्यनुभव बताया है ॥ ३७ ॥

प्रिय प्रिया च त्रिजगज्जयश्रियो लिखाधिलीलागृहभित्ति कावपि ।

इति स्म सा कास्तरेण लेखित नलस्य च स्वस्य च मधुरमीक्षते ॥ ३८ ॥

जीवात्—प्रतिकृतिस्वप्नदशनादयो विरहिणा विनोदोपाया, अथ तत्क-  
थनमुखेन दर्शनानुरागश्चास्या दशयन् प्रतिकृतिदशन तावदाह—प्रियमिति । सा  
भैमी कीर्ण जगति समाहृतानि त्रिजगत् । समाहारो द्विगुरेकवचनम् । तस्य  
जयिनो लोकत्रयजित्वरी थी शोभा ययोस्तादृशी कावपि प्रिय प्रियाश्च तौ  
अपिलीलागृहभित्ति विलासवेरमकृदपे विमलरथार्थेऽभ्ययीभावः । लिखेत्पुवती  
कास्तरेण पितृपिकाण्डेन प्रयोग्येन लेखित नलस्य च स्वस्य च सरय रूपनाम्ना-  
पादनम् ईगते स्म ॥ ३८ ॥

अन्वय — अपिलीलागृहभित्ति की अपि त्रिजगज्जयश्रियो प्रिय प्रिया क  
लिप्त—इति सा कास्तरेण लेखित नलस्य स्वस्य च सरयम् ईक्षते स्म ।

हिन्दी—श्रीहागृह की दीवार पर किन्हीं दो त्रिलोकी की शोभा में जीतने  
वाले युवक और युवती का चित्रण कर—इस प्रकार वह तिली चित्रकार द्वारा  
आलेखित नल को और अपने को सहस्रिय ( एक साथ आँका गया ) देखा  
करती थी ।

टिप्पणी—शास्त्रीय परम्परा के अनुसार इस श्लोक में चित्र दर्शन का निरूपण है। नल युग का घेष्ठ त्रिलोकजयी नर था और दमयन्ती त्रिलोक-जयिनी नारी। उस युग में जैसे यह सर्वमान्य सत्य था। लीलागृहमिति इति अधिलीलागृहमिति—स्वयंभावितमान। अन्यत्र विभक्तिसमीपमृद्विवृद्धयर्थाऽमावात्ययाऽग्रप्रतिपद्यद्वाद्भविष्यत्वाद्यनुपूर्व्ययोगपक्षसाहचर्यसम्पत्तिस्तान्त्व्या-न्तवचनेषु ( कृष्णाध्यायी २।१।६ )-द्वारा विभक्त्यर्थ में अधि का प्रयोग ॥३८॥

मनोरयेन स्वपतीकृत नल निशि क्व मा ना स्वपती स्म पश्यति ।

अदृष्टमप्ययंमदृष्टवेभवात्करोति मुक्तिर्जनदशनातिथिम् ॥ ३९ ॥

जीवातु—मनोरयेन। मनोरयेन सङ्कल्पेन स्वपतीकृत स्वमनूकृत नलम् अभूततद्भावेध्वौ दीर्घं । स्वपती निद्राती सा दमयन्ती क्व निशि कुत्र रात्रौ न पश्यति स्म ? सर्वस्यामपि रात्रौ पश्यती । तथा हि मुक्तिं स्वप्न अदृष्टम् अस्मत्ताननुभूतमप्ययं किमुत दृष्टमिति भावः । अदृष्टमवात् प्राकृतनानाम्बलात् जनदशनातिथिं लोकदृष्टिमोचर करोति, तदपि निमित्ताददृष्टात्तादृक् स्वप्नज्ञानमुत्पन्नमित्ययं । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥३९॥

अन्वय—स्वपती सा मनोरयेन स्वपतीकृत नल क्व निशि न पश्यति स्म ? मुक्तिं अदृष्टम् अपि कथं अदृष्टमवात् जनदशनातिथिं करोति ।

हिन्दी—सोती वह दमयन्ती स्वेच्छया अपने पतिरूप में स्वीकारे नल का किछ रात में नहीं देखा करती थी ? प्रत्येक रात में देखती थी । स्वप्नदशा अदृष्टे अर्थ को भी पुरातन भाष्य के सामर्थ्य से मनुष्यों के दर्शन का विषय ( देखने योग्य ) बना देती है ।

टिप्पणी—दर्शन तीन प्रकार में होता है—(१) प्रत्यक्ष, (२) स्वप्न में, (३) चित्र में—साक्षाच्चित्रे तथा स्वप्ने स्माद्दर्शनं त्रिधा ।' यहाँ स्वप्नदर्शन का वर्णन है । सामान्य ( प्रथम द्वितीय-चरण-कथन ) से यहाँ विशेष ( तृतीय चतुर्थ चरण का उक्ति ) का समर्थन है, अतएव अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है । 'स्वपती' के दो बार प्रयोग से यमक । दिवाघर के अनुसार यहाँ छेकानुप्रास और हेतु अलङ्कार है ॥३९॥

निर्मोलितादक्षिपुयाच्च निद्रया हृदोऽपि बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात् ।

अर्वाक्षि संगोप्य कदाप्यजीक्षितो रहस्यमस्यात्स महन्महीपति ॥ ४० ॥

जीवातु—निमीलितादिति । निद्रया प्रयोजिवया निमीलिता मुकुलि-  
तादुपरतव्यापारादित्यर्थः, अक्षियुगाच्च तथा बाह्येन्द्रियाणां चक्षुरादीनां मौने  
न व्यापारराहित्येन मुद्रितात्प्रतिष्ठत्वात्, मनसो बहिरस्वातन्त्र्यादिति भावः ।  
हृदो हृदयादपि मङ्गोप्य गोपयित्वेत्यर्थः, 'अतद्वीयेनादशनमिच्छती'त्यक्षियुग-  
मनसोरुपादानत्वम् । अदर्शने चान्न मनसो बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितादिति विशेष-  
णसामर्थ्यादिन्द्रियार्थसंप्रयोगजन्यज्ञानविरह एवेति ज्ञायते, स्वप्नज्ञानं तु मनो-  
जयमेव । तदजन्यज्ञानमत्रेत्याह—अदाप्यवीक्षित इति । अत्यन्तादृष्टवर इत्यर्थः,  
महद्गहस्यमतिगोप्यं वस्तु स महीपतिर्नलः । अस्या भूम्या अर्दशे दर्शया-च्चने,  
दृशेर्ण्यतान् कमणि लुङ् । तथा काचिच्छेटी कस्यचित्कामिन्य कञ्चन कातं  
सगोप्यं दशयति तद्वदिति ध्वनिः ॥ ४० ॥

अन्वयः—निद्रया निमीलितात्, अक्षियुगात् बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितान् हृद-  
अपि च सगोप्यं अदापि अवीक्षितं स महीपतिः अस्या महत् रहस्यम् अर्दशे ।

हिन्दी—नींद में मुँदे दोनों नेत्रों और बाहरी इन्द्रियों कि निष्क्रियता के  
कारण निष्क्रिय मन से भी छिपाकर भी कभी न देखा हुआ वह पृथ्वीपति, जो  
इसी कारण दमयंती के लिए एक बड़ा रहस्य था, निद्रा ने दिखा दिया ।

अन्य प्रकार से पदच्छेद करके नारायण पण्डित ने इस श्लोक का अन्य अर्थ  
भी किया है । 'निद्रया निमीलितात् अक्षियुगात् इन्द्रियमौनमुद्रितान् अहृद-  
अपि बाह्य, रहस्यम्, महत्, अर्दशेसङ्गं अवदाप्यवीक्षितं मही स पतिः स्याः ।'

हे निद्रा ( अज्ञान ) के कारण निरोद्ध, अद्य मे वास करने वाले युग  
कलि मे और इन्द्रिय वर्णान्, वाङ्मय व्यापाराभाव मौन ही जिसका स्वभाव है  
ऐसे अहत् मुख मे मित्र अर्थात् कलिदोष से मुक्त और जानी, हे अक्षिगोपनीय  
रहनी वाले रहस्यमय ( रहस्या अत्यन्तगोप्या भा लम्बोयस्य ॥ ), हे मान  
योग्य, विष्णुमङ्गल के मित्र अर्दशसग ( अ विष्णु पदयतीत्येव सीला अर्दशिन  
विष्णुमत्ता तैः सह सङ्गो यंत्री यस्य न ), दुष्टों द्वारा अदेखे ( न कम् अक  
दुःख दामयतीति अवदापिन दुष्टाः तैः अदीक्षित न दृष्ट ), उत्सवप्रिय  
। महा उत्सव अस्यास्तीति मही ) वह शुभ ( मेरे ) पति होओ—( ऐसा पूर्व-  
श्लोक मे वर्णित स्वप्न मे दृष्ट नल से दमयंती कहा करती थी ) ।

टिप्पणी—मन्त्रिनाथ ने माना है कि इस श्लोक में ऐसी ध्वनि है कि निद्रा एक ऐसी दूती है जो प्रिया को चुनकार—सबसे छिनाकर रिय का दर्शन करा देती है। विद्यावर इनमें रुक मानते हैं ॥४०॥

अहो क्होनिर्महिमा हिमागमेऽन्यनिप्रपेदे प्रनि ता स्मरादिताम् ।  
तननुपूर्णावपि मेदसा भरा विनावरीनिविनरावनूविरे ॥ ४१ ॥

जोवानु—अथास्मात्स्वितायाऽपवाह—अहो इति । हिमागमे हेनन्तेऽपि स्मरादिता ता दमयन्तीं प्रति क्होनिर्दिक्त्वं अतिमहिना अतिवृद्धिं प्रपेदे तथा तननुपूर्णावपि प्रीणान्तेऽपि विनावरीनि निशानि मेदसा भरा मासराद्यनोऽतिवृद्धिरिति यावत् । विनरावन्नुविरे वभिरे, नृत्र कर्त्तुं छिट् वायुप्रत्यय । जहो आरचयं शास्त्रविरोधादनुभवविरोधान्चेति नाव । विरहिणा तथा प्रती-यत इत्यविरोध, एतेनास्या निरतरचिन्ता जायते च गम्यते । अहोद्यत्स्य 'अंदि'ति प्रकृतत्वात् प्रकृतिभावः ॥ ४१ ॥

जन्मनः—अहो, हिमागमे अनि स्मरादितां ता प्रति क्होनिर्' महिना प्रपेदे, तननुपूर्णावपि विनावरीनि' मेदसा भरा विनरावन्नुविरे ।

हिन्दी—अचरज की बात थी कि हेनत श्रु के आजाने पर भी काम-निहिता उप ( दमयन्ती ) के सदर्म में दिनों ने अतिदीर्घता प्राप्त कर ली थी और भरपूर प्रीति श्रु में भी रात्रियों ने प्रभूत मज्जा ( स्पृष्टता-दीर्घता ) धारण कर ली ।

टिप्पणी—दमयन्ती को विरह में जाड़े के छोटे दिन भी बड़े प्रतीत होते थे और गर्मियों की छोटी रातों भी लम्बी । विद्यावर के अनुसार हिमागम कारण होने पर भी दिनों का छोटा होना कार्य और प्रीणतुं होने पर भी रात्रि की लघुता का अनिर्देश होने से विशेषोक्ति और दिन रात की दीर्घता में स्मरादिता कारण होने से विमात्रता बलकार है तथा छेकानुप्रास भी । चट्टकला-व्याख्याकार ने दो विरोधानासा की निरोधना से स्थिति होने के कारण इस श्लोक में समृद्धि बलकार का निर्देश किया है ॥४१॥

म्वकान्तिर्कोनिर्गजमौक्तिकमज श्रयन्मन्त्रार्थटनागुणश्रियम् ।

कदाचिदम्या युवधैर्यलोपित नलोऽपि लोकादभूणोद् गुणोत्तरम् ॥४२॥

जीवातु—स्वेत्यादि । अथ नलोऽपि स्वस्य कान्त्या मौ-दयेण या कीर्तय-  
तासा व्रज पुञ्ज एव भोक्तिवसक् मुक्ताहार तस्या अन्त अग्न्यतरे घटना-  
गुणश्रिय गुम्फनमूत्रलदमी अयन्त भजन्त युवधैर्यलोपिन तस्मिन्चित्तम्यैर्यपरि-  
हारिणम् अस्या दमयन्त्या गुणोत्कर सौ-दर्यसन्दोह खोवादायन्तुवजनात् अशृ-  
णोत्, अत्र कीर्त्तिव्रजगुणोत्करयोर्मुक्ताहारगुम्फनसूनत्वरूपणाद्रूपसालङ्कार ॥४२

अन्वय — कदाचित् नल अपि लोकात् स्वकान्तिकीर्त्तिव्रजमोक्तिवसज  
अन्तघटनागुणश्रिय अयन्त युवधैर्यलोपिन अस्या गुणोत्करम् अशृणोत् ।

हिन्दी—किसी समय नल ने भी लोगों के मुँह से स्व अर्थान् अपने अथवा  
दमयन्ती के सौंदर्यविषयक मुक्तामाल के मध्य गुफिन होने वाले सूत्र अथवा  
नल के अटत् मन में प्रविष्ट गुण अर्थान् सौंदर्यादि की श्री को प्राप्त करके  
तरुणा के धैर्य को विलुप्त करते उस ( दमयन्ती ) के गुणो (रूप, घोमाआदि )  
को सुना ।

टिप्पणी—गुणश्रवण से आकृष्ट नल के दमयन्ती के प्रति अनुराग का  
वर्णन । कीर्त्तिव्रज और गुणोत्कर के मुक्ताहार और गुफन सूत्र भाष में रूपण  
के कारण इस दशोक में रूपक अलङ्कार है ॥४२॥

तमेव लब्ध्वावसर तत स्मरत्तरीरशोभाजयजानमत्सर ।

अमोघशक्त्या निजयेव मूर्तया तथा विनिर्जंतुमियेप नैषधम् ॥ ४३ ॥

जीवातु—अथास्य तस्या रागोदय वर्णयति—तमेवेति । ततो गुणश्रवणान-  
न्तर शरीरसोमाया देहसौ-दम्यस्य जयेन जातमत्सर उत्पन्नबैर स्मर, तमेवा  
वसरमवकाश लब्ध्वा मूर्तया भूमिमस्या निजया अमोघशक्तयेव अनुष्ठितमाम-  
प्येनैवैषमुत्प्रेक्षा । तथा दमयन्त्या नैषध ७७ विनिर्जंतुमियेप इच्छति स्म, राधा-  
वैपिणी हि विट्टेपिण इति भाव । तेन रागादय उक्त ॥ ४३ ॥

अन्वय — तत शरीरसोमाजयजातमत्सर स्मर तस्य एव अवसर लब्ध्वा  
मूर्तया निजया अमोघशक्त्या एव तथा नैषध विनिर्जंतुम श्येप ।

हिन्दी— दमयन्ती के रूप गुण सुनने के अनन्तर अपने शरीर की घोमा  
के ( नल द्वारा ) जय के कारण जिससे ( नल के प्रति ) ईर्ष्या जाग गयी है,  
ऐसे नामने उसी अवसर को पाकर मानो देहधारिणी अपनी अमोघ शक्ति  
के सुन्य उस ( दमयन्ती ) के माध्यम से निषधपति को जीतने की इच्छा की ।

टिप्पणी—नल से कन्याओं में पराजित होनेवाले काम को दमयन्ती के माध्यम से अपनी पराजय का बदला लेने का अच्छा अवसर मिला—इस कन्या द्वारा कवि ने नल के काम नाव का वर्णन किया ॥४३॥

अकारि तेन अवगातिधिर्गुणः क्षमामुजा भीमनृपात्मजाश्रित ।

तदुच्चर्घ्यं व्ययनहितेषुणा स्मरेण च स्वात्मशरासनाश्रय ॥ ४४ ॥

जोबातु—अकारीति । तेन क्षमामुजा नलेन भीमनृपात्मजाया दमयन्त्याः श्रितं गुणं तदीयं सोन्दर्यादि अवगातिधिः श्रोत्रविषय अकारि कृत धृत इत्यर्थः । करोते कर्मणि लुङ् । तस्य नलस्य उच्चर्घ्यं व्ययनाय उच्चर्घ्यं नाशाय संहितेषुणा स्मरेण च स्वात्मन शरासनाश्रय चापनिष्ठो गुणो मीर्वा अवगातिधिरकारि जानर्णं कृष्ट इत्यर्थः । दमयन्तीगुणश्रवणान्नलमनसि महान् मदनविकारं प्रादुर्भूत इत्यर्थः । अत्रोक्तवाक्यार्थस्य पूर्ववाक्यार्थहेतुक् काव्य-लिङ्गमलङ्कारः ॥ ४४ ॥

अन्वय — तेन क्षमामुजा भीमनृपात्मजाश्रित गुण अवगातिधि अकारि तदुच्चर्घ्यं व्ययनहितेषुणा स्मरेण च स्वात्मशरासनाश्रय ( गुण अवगातिधि अकारि ) ।

हिन्दी—उस पृथ्वपति ने राजा भीम की कन्या दमयन्ती-निष्ठ रूपादि गुण को अपने कानों का अतिथि बनाया ( सुना ) और काम ने भी उस (नल) के उन्मत्त धर्म का नाश करने के निमित्त बाण को अपने शरासन ( धनुष ) पर धर कर अपने दृढ़ धनुष की प्रशस्ति को कान तक खींच लिया ।

टिप्पणी—नावाय यह है कि दमयन्ती के गुण अवगानतर नल में काम उचार हो गया । 'स्वात्मशरासन' में 'स्व' और 'काम' पर्याय शब्दों के होने से पुनरुक्ति प्रतीत होती है, पर तु — आत्म—ऐसा पदच्छेद करके सुन्दर अर्थात् दृढ़ अर्थात् धनुष ऐसा अर्थ करने पर पुनरुक्ति नहीं रह जाती है, इन प्रकार पुनरुक्तवदामास अलंकार है । 'अकारि' क्रिया के नल और स्मर—दोनों प्रस्तुत कर्ता हैं, अतः तुल्योक्ति है, फलतः पुनरुक्तवदामास—तुल्योक्ति का मनुष्य है । विद्याधर भी यहाँ ये दो अलंकार मानते हैं । मन्त्रिमान ने काव्यरिग माना है ।

अमुष्य घोरस्य जगाम साहसी तदा खलु जया विशिलेभ्यनाययन् ।

निमज्जयामास यथासि सशये स्मरस्त्रिजोकीविजयाजितान्यपि ॥४५॥



जीवातु—अमुष्येति । स स्मर साहसी साहसकार 'न साहसमनाह्य नरो भगणि पश्यतो'ति न्यायादविलम्बी सन्नित्यर्थः । अमुष्य घोरस्य अविचलितस्य नलस्य जयाय शरासनज्या निजघनुमौर्वी विशिखं शरं सनाथपन् सनाथ कुर्वन् सयोजयमित्यर्थः, त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी 'तद्विता- र्थे'त्यादिना समासः, 'अकारान्तोत्तरपदो द्विषु स्त्रियामिष्यत' इति श्रीलिङ्ग- रत्नात् 'द्विगोरि'ति ङोप् । तस्य विजयेनाजितानि सम्पादितानि यपि यथासि सशये निमज्जयामास किं पुन सम्प्रति सम्पाद्यमिष्यपि शब्दार्थः । वृद्धजपेक्षया अनुचितकर्मोत्पन्ने मूलमपि नश्येदिति सशयितवानित्यर्थः । अत्र स्मरस्योक्त- सशयाऽनम्ब-येऽपि तत्सम्ब-धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ४५ ॥

अन्वय —साहसी स्मर धारस्य अमुष्य जयाय तदा जया विशिखं सनाथपन् त्रिलोकीविजयाजितानि अपि यदासि सशये निमज्जयामास क्षलु ।

हिन्दी—साहसशील काम ने धैर्यवान् नल ( नल ) के जय के निमित्त उस काल प्रत्यक्षा को बाणों से सनाथ करते (घनुप की डोरी पर बाण चढ़ाते) हुए हीनो लोको के विजय से प्राप्त भीमश समूह को कदाचित् सशय में डाल दिया था ।

टिप्पणी—नल को जीतना जोलिम का काम था । इसकी पूरी समाधाना भी, त्रिलोकजयी काम को जा जगद्विजयी होने का यश प्राप्त था, वह नल पर आक्रमण करके असफल होने पर मिट जाता, अब उसने एक नहीं, अनेक बाण (विशिखं ) डोरी पर बंधाये । काम का अविवेकी होना और नल का अत्यन्त धैर्यवान् होना सहेनित है । अन्वय में सबब कथन के कारण यही अतिशयोक्ति है ।

अनेन भैमी घटयिष्यतस्तथा विधेरबन्धेच्छतया व्यलासि तत् ।

अभेदि तत्तादृगनङ्गमार्गणैर्यदस्य पौष्पैरपि धैर्यकञ्चुकम् ॥ ४६ ॥

जीवातु—दैवमहायास पुष्पेपोरेव पुरुषकार फलित इत्याह—अनेनेति । अनेन नलेन सह भैमी घटयिष्यत योजयिष्यतो विधेर्विधातुरबन्धेच्छतया अमोघमद्वन्द्वत्वेन यत्तस्मात्तथा तेन प्रकारेण योज्ये बध्यत इति भावः । व्यलासि विलम्बित समतेमवि लुब्धः । यत् पौष्पैरपि न तु बठिनं रनङ्गस्य न तु देहयत् मार्गैर्धैर्यमेव कञ्चुनमस्य नलस्य अभेदि मिश्र, कम्मणि लुब्धः । दम- यतीनलमार्गार्थस्य घटनाय अनङ्गमार्गणैर्नलधैर्यकञ्चुकभेदनाद्विधेरबन्धेच्छत्यर्थः

विज्ञायत इत्यर्थं, देवानुबन्धे किं दुष्करमिति भावः । तत्रानङ्गपोष्योऽवञ्चुक-  
निर्गममिति विरोधः, तस्य विज्ञातेनाभासीकरणाद्विरोधानासः, स च धैर्य-  
कञ्चनमिति स्पष्टोत्थापित इति तयोर्ङ्गाङ्गिभावेन सङ्गः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—अनेन नेमी घटमिष्यत विधे अदग्धेच्छतया तत् तथा व्यलासि  
यत् पोष्ये अनङ्गमार्गं तत् तादृक् अस्य धैर्यकञ्चुकम् अनेदि ।

हिन्दी—इस ( काम ) ने नीमजा को बनाने वाले विधाता की अमोघ  
इच्छा के कारण वह बंसा ( धैर्यनाश कार्य ) कर लिया, जो कि फूलों के नाम-  
बाणों के उस ( नल ) उतना दृढ़ वह धैर्यरूपी कवच विदीर्ण कर दिया ।

टिप्पणी—‘तत् तादृगनङ्गमार्गं’—पद-याच करने का अर्थ हो जावेगा—  
‘उस प्रकार के फूलों के कोमल बाणों से’ । ‘अनङ्ग’ शब्द के प्रयोग से यह भी  
संकेतित होता है कि दुस्राहसी होने पर भी डर कर काम अप्रत्यक्षत आघात  
कर रहा था । यह भी भाव निकलता है कि विधाता की इच्छा से असमर्थ भी  
समर्थ है, कि नल का दृढ़ धैर्य भी अदेही के कोमल बाणों से विदीर्ण हो गया ।  
दृढ़ का विदीर्ण हो जाना असमर्थ है, यह विरोध है जो विधि की ‘अदग्धे-  
च्छता’ से सम्पादित हो गया अतः विरोधानास और ‘धैर्यकञ्चुक’ के रूपक  
इस प्रकार मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ विरोधानास-रूपक का अर्थाभिभाव सकर  
है । विधातर अनुमान और विरोध श्लकार मानते हैं ॥ ४६ ॥

विमन्यदद्यापि यदश्रुतापि न पिनामहो वारिजमाश्रयत्वहो ।

स्मरतनुच्छायतया तमात्मना शयाकशङ्के स न लङ्घितुं नल ॥ ७॥

जीवातु—अथ विधिरपि जितवतः किं विध्यपेक्षयेत्याशयेनाह—विमिति ।  
विमन्यत् अयत् किमुच्यते, पितामहो विधिरपि तस्य स्मरस्याश्रयत्वापितः  
सन्तापितः अद्यापि वारिजमाश्रयति तस्य पञ्चाक्षनत्वादिति भावः । सर्वानोत्तर-  
पञ्चाक्षव गम्यते, अतो विधेरपि स्मरविषयेयत्वमाश्रयम् । पितामहतापिनं स्मर  
स नल आत्मनस्तनोः द्यायेव छाया कार्तिर्यस्य तस्य भावस्तत्ता तथा तनुच्छा-  
यतया तनोदछाया अनातपस्तनुच्छाया वृत्तयेति च गम्यते ‘छाया त्वनातनं  
कान्तादिति’ वैजयन्ती । लङ्घितुं न शयाक इत्यहं शङ्के, न हि स्वच्छाया लङ्घितुं  
शक्या इति भावः । अत्र स्मरलङ्घने पितामहोऽन्यशक्त किमुव नल इत्यर्था-

पत्तिस्तावदेकोऽङ्गुलारः । 'एकस्य यस्तुनो भावाद्यत्रवस्त्वयथा भवेत् । कमुत्प-  
न्यायत सा स्यादर्थापत्तिरलङ्घन्या' इति लक्षणात् तनोश्छायेवञ्छायेत्यु-  
पमा छाययोरभेदाध्यवसायादतिशयोक्तिः । एतत्त्रितयोपजीवनेनालङ्घनत्वे  
तनुच्छायताया हेतुत्वोत्प्रेक्षासङ्कीर्णा, सा च शङ्का इति व्यञ्जकप्रयोगाद्वाच्येति ।

अन्वयः—अहो, व्ययन् किम्, यदस्त्रतापित पितामह अद्य अपि धारिजम्  
आश्रयति । शङ्के स नञ् स्मरम् आत्मन तनुच्छायतया लङ्घनम् न शङ्का ।

हिन्दी—अरे, और क्या कहा जाय, काम के बाणो से सताये बूढ़े बाबा  
अह्मा जी आज भी जलज-जमल का आश्रय लिये रहते हैं । ऐसा लगता है कि  
वह नल काम के स्वदेह साम्य अथवा दैह की परछाई होने के कारण उसे न  
जीत सका ।

टिप्पणी—कामरुध-काम के सताये बूढ़े ब्रह्मा का भी जलजात कमल  
में आश्रय लिए रहना यह चोतित करता है कि काम तो सब को ही सताया  
करता है सो नञ् का भी सता सका । एक दूसरी समावना भी है कि नल  
काम का अपनी छाया समझ बैठे और धोखा खा बैठे ।

'अत्र पितामह भी काम अय में अशक्त रहे, तो नञ् की क्या गिनती—'  
यह अर्थापत्ति होने में अर्थापत्ति अलंकार हुआ, 'तनुच्छायतया'—तनुच्छाया  
के तुल्य, यह उपमा हुई, अतिशयोक्ति भी है, तनुच्छायता हेतु है, अतः हेतु-  
प्रेक्षा भी, जो 'शङ्के' में प्रतीत होती है, अतः अर्थापत्ति उपमा-अतिशयोक्ति-  
उप्रेक्षा की समृद्धि है । विचारर के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति, उप्रेक्षा और  
इत्ये अलंकार हैं ।

तनुच्छायतया' का तबी छाया यस्य भावस्तत्ता तया विग्रह करके यह  
अय भी होता है—बिरह-व्यथित होने से श्लान-शोभा होने के कारण, अय-  
मन्त्र नल काम की जीत सका ॥४७॥

उगभुवा युष्मद्युगमं जन्मिर्त नवोपहारेण वयस्सृतेन किम् ।

प्रपासरिदुग्ममपि प्रतीर्य सा नलस्य तन्वी हृदयं विवेश यत् ॥४८॥

जीवात्—उरोमुवेति । सा तबी भेमी अपैव सरिस् संव दुर्ग नलसम्वन्धि  
सपि प्रतीर्य नलस्य हृदयं विवेशेति यत् सत्प्रवेशन 'यत्तदोन्मत्तमन्त्रधात्'

वयस्कृतेन नवीनहारेण नूतननिष्ठांतेन उरोनुवा तज्जयेन कुम्भपुत्रेण कुचपु-  
गाह्येनेति भावः, दम्पतिशयोक्तिः । 'न लोके'त्यादिना वृद्धोपपत्तिप्रतिषेधा-  
त्कर्तारं नृतीया, 'नपुंसके भाव उपमव्याननि'ति पत्नी तु क्षेपविवक्षायां ।  
जृम्भितं जृम्भन्ता विमुग्धंशा या चोक्तातिशयोक्तिनूलेक्तिः सङ्करः । दम्पती-  
कुचकुम्भविषयश्रवणान्तरान्तरात्तस्मान्नातकप्रचितोऽनूदित्यर्थः, सैन  
मनसह उक्त ॥ ४८

अन्वय — या उक्ता नवीनहारेण नूतननिष्ठांतेन उरोनुवा तज्जयेन कुम्भपुत्रेण कुचपु-  
(तत्) वयस्कृतेन नवीनहारेण नूतननिष्ठांतेन जृम्भितं किम्?

हिन्दी—यह इत्यादि (दम्पती) स्नेहास्पी नदी में, दुर्ग (प्रतिरोध)  
अथवा लज्जातरी स्त्री दुर्ग को तो तर कर जो नदी के हृदय में प्रविष्ट हो सको,  
यह क्या साहस्य प्रस्तुत नूतन उपहार कुम्भपुत्र (दो घड़े और कुचपुत्र)  
द्वारा हो सके ?

टिप्पणी—'प्रसाध'कार नारायण ने 'नवीनहारेण' का 'नव' नूतन उप-  
सर्गोपमत्तो हारेण मुक्ताहारो मय्य उपायन तदुपेय' बिग्रह में किया है । इस  
प्रकार अर्थ हुआ 'नवीन मुक्ताहार रूपधारी उपहार से युक्त कुचकण्ठ ।'  
उन्होंने 'जम्बुध्व' जय मानकर 'जृम्भित' को 'दुर्ग' का विशेषण भी माना है ।

प्रणयजन तारममद में यहाँ की सहायता से मिलन के निमित्त दुर्गम  
नदी तैर जाया करते हैं । अनेक प्रायस्कथाओं में नर-नारी के ऐसे साहस का  
वृत्तांत मिलता है । पञ्चाषी की लोक-प्रसिद्ध प्रायस्कथा 'सोनीमहीवाल' की  
नायिका सोनी भी अपने प्रायसी 'महिवाल' से मिलने इसी प्रकार जाया  
करती थी । श्रीहर्ष ने यहाँ भी ऐसी ही कल्पना की है, जिससे नल दम्पती  
की प्रायोनष्टता प्रष्ट होती है । यह सब 'यौवन' की ही कथा है, 'कुचपुत्र'  
भी 'वयः कृत'—यौवन के उपहार हैं ।

विद्यार ने इसमें उल्लेख, स्वरक और श्लेष अलंकार माने हैं । मल्लि-  
नाथ ने यहाँ उपेक्षा व्यतिशयोक्ति आ सकर माना है ॥ ४८ ॥

अपह्वानम्य जनाय यन्निजामवीरतामस्य कृतं मनोनुवा ।

अवोधि तज्जगदनुसृष्टाक्षिणी निना च शम्भा च शशाङ्कोमला ॥ ४९ ॥

जीवातु—अथास्य जागरावस्थामाह—अपह्नुवानस्येति । निजामधीरता चपलत्व अनायापह्नुवानस्यापलपत 'इलाघह्नुदस्येति' त्यादिना सम्प्रदान त्वाच्चतुर्थी । अस्य नलस्य मनोभुवा कामेन यज्जागरप्रलापादिक कृतन्तस्तवं जागरदु सस्य साक्षिणी 'साक्षाद्दृष्टरि सञ्जायामि'ति साक्षाच्छब्दादितिप्रत्यये द्वीप् । दशाह्नेन कोमला रम्या निशा चाबोधि । 'दीपजने'त्यादिना वृत्तरि क्लेशिणादेश । तथा दशाश्वत्कोमला मृदुला शय्या अबोधि, निशामां शय्याया जागरणयोस्तत्साक्षित्वमिति भाव ॥ ४९ ॥

अन्वय — निजाम् अधीरता अपह्नुवानस्य अस्य मनोभुवा यत् कृतं तत् जागरदु ससाक्षिणी दशाश्वत्कोमला निशा शय्या च अबोधि ।

हिन्दी—अपनी अधीरता को छिपाते इस ( नल ) की मनोभव काम ने जो दुर्दशा की, उसे जागरण के कष्ट की गवाह चद्र से मनोहर चाँदनीरात और खरहे के अक के समान मुलायम अथवा चंद्रतुल्य घबल आवरण से युक्त अथवा चद्र अर्थात् वपूर छिड़क कर झीतल बनायी गयी शय्या हो जान पायी ।

टिप्पणी—इस श्लोक में नल का उत्कट विरह और लज्जाशीलता छोटित है । उसके मन की पीर की रात और शय्या के अतिरिक्त कोई न जान सका । 'साहित्यविद्याधरी' के अनुसार इसमें इलेप है और 'चञ्चला' के अनुसार तुल्ययोगिता और उपमा ॥ ४९ ॥

स्मरोपतसोऽपि भूषा न स प्रभुर्विदर्भराज तनयामयाचत ।

त्यजन्त्यमूर्च्छार्म च मानिनो वर त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम् ॥ ५० ॥

जीवातु—ननु विमनेन निबन्धनेन, याच्यताम्भीमभूषतिर्दमयतीम्, नेत्याह—स्मरेत्यादि भूषा गाढ स्मरोपतस्य कामसत्तसोऽपि प्रभु सवर्षं स नल विदर्भ-राज भीमभूषतितनया दमयती न अयाचत न याचितवान् 'दुहियाजी'त्यादिना मार्गेद्विवर्भवता । तथाहि—मानिनो मनस्विनोऽत्युच्चमनस्का प्राणान् क्षमं च मुसञ्च त्यजन्ति एतत्यागोऽपि वर मन्नाक् वरमिति मन्नागुत्कर्षं इति महा-पाप्यापवर्द्धमनि । विन्तु, एवमद्वितीयमयाचितव्रतम् अयाच्यानियमन्तु न त्यजन्ति, मानिनां प्राणत्यागदु साद् दु गहं याच्यामादु समित्यर्थं । सामान्य विरोपसमर्चनरूपोऽर्थान्तर-यास ॥ ५० ॥

अन्वय — मृत्यु स्मरीपत्र उ अपि स प्रभु विदनेराज तनया न अयाचत,  
मानित अमृतु गर्भे च त्यजन्ति, एवम् त्रयाचितव्रत न त्यजन्ति ।

हिन्दी—जन्त नाम सवतु होने पर नी उत सर्वसमय राजा नल ने  
विदनेनरेश से उनकी पुत्री ( दमयन्ती ) की याचना नहीं की । आत्मानिमानो  
पुरुष प्राणों को और मुख को तज सकते हैं किन्तु एक अयाचना ( किसी से  
कुछ न मागना ) रुपी व्रत को नहीं छोड़ सकते ।

टिप्पणी—सम्मानो कष्ट सहें हैं, पर किसी से कुछ मागते नहीं,  
नल भी ऐसे ही मानो थे—प्रभु । सामान्य से विशेष का समर्थनरूप अर्थान्तर-  
न्यास अलंकार ॥५०॥

मृपाविपादान्नितयादयं क्वचिज्जुगोप निश्वासतति वियोगजासु ।

विलेपनस्याधिकचन्द्रभागताविभावनाच्चापललाप पाण्डुताम् ॥५१॥

जीवातु—मृपेति । अय नलो वियोगजा दमयन्तीवियोगजन्मा निश्वास-  
तति निश्वासनरम्परा क्वचिद् भुवचिद्वस्त्वतरे विषये मृपाविपादस्य मिम्या-  
दुल्लस्यान्नितयात् छलेन, जुगोप सववार । तथा पाण्डुता विषयता शरीर-  
पाण्डितान्न च विलेपनस्य चन्द्रनादधिक चन्द्रभाग कर्पूरराशौ यस्मिन् विलेपने  
'धनसारअन्द्रसप्त सिताम्नो हिमवातुका' इत्यमरः । तस्य भावस्तथा तस्या  
विभावनात् कर्पूरमायाधिकतोऽप्रेततादपललाप निहृनुते स्म । अत्राङ्गाताम्या  
मृपाविपादचन्द्रभागपाण्डितम्या तद्विरहस्यासपाण्डित्योनिगूहनाग्नीलाल-  
कृत् । 'मीलनं वस्तुना यत्र वस्त्वतरनिगूहनम् ।' इति लज्जात् ॥ ५१ ॥

अन्वय —अय क्वचिद् मृपाविपादान्नितयात् वियोगजा निश्वासतति  
जुगोप, विलेपनस्य अधिकचन्द्रभागताविभावनात् च पाण्डुताम् अपललाप ।

हिन्दी—उत राजा नल ने कभी झूठे खेद-प्रकाशन का अभिनय करके  
( किसी और विषय पर खेद प्रकट करने के बहाने ) वियोग के कारण सजात  
लम्बी साँसों को छिपाया जोर ले ( अंगरा ) में कपूर की अधिकता को  
कारण बता कर वियोगजनित पाण्डुता को छिपाया ।

टिप्पणी—राजा की लज्जाशीलता और विरहदशा का वर्णन, पाण्डुता  
को लेप से छिपाना यदि होने से मन्त्रिनाथ ने यहाँ 'मीलन' अलंकार का

निर्देश किया है और छय से भिन्न वस्तु के रूप निगूहन के आधार पर विद्या-  
घर ने व्याजोक्ति ॥५१॥

शशाक निह्लोतुमनेन तत्प्रियामय वभापे यदलीकत्रीक्षिताम् ।

समाज एवालपितासु वैणिर्कैर्मुमूर्च्छ यत्पञ्चममूर्च्छनासु च ॥५२॥

जोयातु—शशाकेति । अयत्रलोऽलीकत्रीक्षिता मिथ्यादृष्टा प्रिया दमयन्ती  
समाजे सभायामेव यत् वभापे वभाण, वीणा चिपमेपा तैर्वैणिर् वीणावादै  
'सित्पमि'ति ठ् । आरुपितासु मूर्च्छरितासु व्यक्ति गतास्त्वित्यर्थ । 'राग-  
व्यञ्जक आलाप' इति लक्षणात् । पञ्चमस्य पञ्चमात्यस्य स्वरस्य मूर्च्छनासु  
'आरोहावरोहणेषु क्रमात् स्वराणां सप्तानामारोहादवरोहणम् । मूर्च्छनेत्युच्यते'  
इति लक्षणात् । पञ्चमग्रहणन्तस्य कोटि गणपकोमस्त्वेन उद्दीपकत्वात्तिशय-  
विवक्षयेत्यनुसंधेयम् । मुमूर्च्छेत्यपि यत्तदुभयम् अनेन प्रकारेण निह्लोतुमाच्छा-  
दयितुं शशाक । 'अये' इति पाठे विपादे इत्यर्थ । 'अये कोत्रे विपादे' इति  
विश्व । एतेन ह्रीत्यागोष्मादमूर्च्छावस्थाः सूचिता ॥ ५२ ॥

अन्वय —यत् अयम् अलीककोक्षिता प्रिया वभापे, यत् च वैणिर् पञ्चम-  
मूर्च्छनासु आरुपितासु समाजे एव मुमूर्च्छत यत् अनेन निह्लोतुं शशाक ।

हिन्दी—जो कि नर ने आश्रित से मिथ्या परिलक्षित प्रिया दमयन्ती ने  
प्रति कुछ कहा और वेणुवादको द्वारा पञ्चम स्वर की मूर्च्छनाश्री में आलाप लिख  
जाने पर जो समाज सभा में वे मूर्च्छित हुए, वे इसे ( इसी कारण उस  
अलपित और मूर्च्छित हो जान की वास्तविकता को ) छिपाते में समर्थ हुए ।

टिप्पणी—प्रथम चरण में 'शशाकनिह्लोतुमनेन' पाठ भी है, 'अयन निह्लो-  
तु शशाक'—वेगा पदच्छेद करने पर अर्थ हुआ कि नर का अपकृत सभा-  
मध्य मूर्च्छनालाप सुनने में 'अयन'—माध्य में अच गया । यह समझा गया  
कि वे रागालाप से मूर्च्छित हो गये हैं, अथवा सम्भव ही रागालाप के समो-  
हन में आ गये और वे नर का अपकृत न सुन सके । यह छय ईश्वर ही  
हो पाया । पद्मादि सप्तम्रो के रम में आरोह अवरोह मूर्च्छना कहे जाते हैं  
( वात्तदेव, सगीतरत्नाकर, स्वराध्याय ) । भरतराय ( पंडितमच्छरी ) के  
अनुसार 'मूर्च्छ' वातुमुत्पृष्टप्रयय हाजर करणार्थ में मूर्च्छना घरद की निवृत्ति

होती है—जितका अर्थ है मोह और उच्छ्राय अर्थात् उमरना । भरत ( नाट्य-शास्त्र २८।३२ ) के अनुसार 'क्रमयुक्त सप्तस्वर' मूच्छना हैं । तुम्बुरु 'धृति ( नाट्य के धृतिोच्चर होना ) के 'मार्दव' को मूच्छना मानते हैं । धृति का मार्दव—उत्तरो दृढ़ अवस्था कोहल ( भरतकोष ) के अनुसार अमृतसरोवर में गायक और श्रोताओं के मन का मञ्जन मूच्छना है । ( यही अर्थ यहाँ अमि-प्रेत है । ) नान्यदेव ( भरतकोष ) का कथन है कि जिस स्वर से उच्छ्राय आरोह होना है, उनी स्वर में अब समाप्ति भी होती है, तब मूच्छना होती है । जैसे पङ्कज त्रय प्रथम मूच्छना—'सा रे ग म प ध नि सा ।' सामान्यतया किन्हीं सात स्वरों का उच्चार-बटाव मूच्छना है । 'प्रकाश'-कार ने मूच्छनाओं की व्याख्या इसकीस बतायी है । 'नाट्यशास्त्र' ( २८।३१ ) में स्वर-क्रमयुक्त सम्पूर्ण पाठने, औदुवीकृता और स्वर-साधारणीकृता मूच्छनाएँ चीन्ह बतायी गयी हैं । 'वाक्यापित' कहते हैं राग के प्रकटीकरण को ।

'जयेन' का शब्द ( जये—न ) करके 'प्रकाश'-कार ने यह भी अर्थ किया है कि नल सनाजनों से तो वास्तविकता जिन सके 'इ'—काम ( इ काम तस्मै जये ) से नहीं । इस पद्य में नल का लज्जात्याग, उन्माद और मूच्छा सूचित हैं । छेकानुप्रास अन्तकार ॥५२॥

अवाप सापनता स भूपनिर्जिनेन्द्रियाणा धुरि कीर्तिनम्यति ।

असवरे शम्बरवैरिविक्रमे क्रमेण तत्र स्फुटतामुपेयुपि ॥५३॥

जीवातु—अवापेति । जितेन्द्रियाणा धुर्यंशे कीर्तितस्मिति स्तुतमपाद म भूपनि नल तत्र सनाजे जयवरे सवर्तितुमशक्त्ये सवरण सवर शमश्चेत्यपि, न विद्यते सवरो यस्य तस्मिन् शम्बरवैरिविक्रमे मनसिजविकारे क्रमेण स्फुट-तामुपेयुपि सति सापनता नरज्वताम् अवाप । धैर्यंशान्तिना तद्भङ्गलक्षणाकर इति भाव ॥ ५३ ॥

अन्वय—जितेन्द्रियाणा धुरि कीर्तितस्मिति स भूपति तत्र असवरे शम्बर-वैरिविक्रमे क्रमेण स्फुटतामुपेयुपि सापनताम् अवाप ।

हिन्दी—जितेन्द्रियों में अग्राम्य ( जिसका कथन सर्वप्रथम हो ) वह भूमि-पति सना के बीच असवरणीय ( 'रोक' जा सकने वाला ) शबरासुर के धनु-



काम का विश्रम ( विकार ) क्रमशः प्रकट हो जाने से लज्जायुक्त हो गया । प्रथम चरण में 'पकार' की आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास है, पूर्वार्द्ध में व्यत्यय और उत्तरार्द्ध में 'व, र' और 'क्रम' की आवृत्ति होने से छेकानुप्रास है । इन तीनों अनुप्रासों की निरपेक्षता से स्थिति होने के कारण सृष्टि ॥५३॥

अल नल रोद्धुममी विलाभवन् गुणा विवेकप्रभवा न चापलम् ।

स्मरं स रत्नामनिरुद्धमेव यत्सृजत्यय सर्गनिसर्ग ईदृश ॥५४॥

जीवातु—ननु विवेकिन कुत इदं चापल्यम् ? इत्यत आह—अलमिति ।

युक्तायुक्तविधारो विवेकं तत्प्रभवा ममी गुणा धैर्यादय नलमिदं स्त्रीलामरूपं चापलं निरोद्धुम् 'दुहियाची'त्यादिना रुन्धेद्विकर्मत्वम् । अलं समर्था नामवन् विलं सत्तु । तथाहि—स्मरं नाम । जनमिति शेषः । जनं रत्नां रागे अनिरुद्ध-सृजति अनीश्वरमवयं करोति रत्ना रतिदेव्यामनिरुद्धात् कुमारं सृजतीति ध्वनिः । इति यत् अयं सर्गनिसर्गं सृष्टिस्वभाव इदृशः । 'रति स्मरप्रियाया च रागेऽपि मुरतेऽपि च' । 'अनिरुद्धं कामपुत्रेऽरुद्धे चानीश्वरेऽपि चे'ति विश्वः । अत्र स्मररागदुर्वारतायाः सबसृष्टिसाधारण्येन चापलदुर्वारतासमर्थनात् सामान्येन विरोपसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—ममी विवेकप्रभवा गुणा नलं चापलं रोद्धुम् अलं न क्षमयन् विलं, अयम् ईदृशः सर्गनिसर्गं यत् स्मरं रत्नाम् अनिरुद्धम् एव सृजति ।

हिन्दी—ये विवेक से समुद्रमूढ ( 'विवेकप्रमुखा ' पाठांतर में विवेकादि ) गुण नल की अपलता का अवरोध—निवारण करने में समर्थ न हो पाये, यह ऐसी ससार की प्रवृत्ति—स्वभाव है कि काम ( अवस्थाविशेष होने पर मनुष्य को ) प्रणय में स्वच्छन्द बना ही देता है ।

टिप्पणी—भावार्थ यह है कि छांदोग्य में काम सभी को चञ्चल बनाकर प्रणय में स्वच्छन्द बना देता है । स्मर, रति, अनिरुद्ध—छन्दों के प्रयोग से कवि पौराणिक कथा का भी सकेत देता है—वामनावतार कृष्णतनय प्रद्युम्न अपनी रति-अवतारिणी प्रिया में अनिरुद्ध नामक पुत्र को ही उत्पन्न करता है । मत्स्य-नाय के अनुसार यहाँ सामान्य से विरोध का समर्थन होने से व्यर्थान्तरन्यास है, विद्याधर न इसमें उत्प्रेक्षा और हठ अलङ्कार माने हैं ॥५४॥

अनङ्गचिह्नं स विना शमाकं नो यदगितुं सन्नदि यत्नवानपि ।

क्षणं तदारामविहारकैर्नवान्निषेविनु देनमियेष निजंनम् ॥१५॥

जीवानु—अथास्य भगोरयसिद्धीपयिकदिव्यहममुवादनिदानमूत्र वन-  
विहार प्रन्तीति—अनङ्गेति । न नैपरो ननो यत्नवानप्यनङ्गचिह्नं मूर्छा-  
प्रशपादिस्मरविकार विना सन्नदि शान्त्यासिनु यदा नो दशाक, तदा  
आरामविहा—नैतवाहुनवनविहरन्याजान्निजंन देश निषेवितुम् इत्येव देगान्तर  
गन्तुमैच्छदियं । एतेन चापलाह्ये सञ्चारिणि भ्रमपलङ्गाऽनुनाद उक्त ॥

अन्वय—यत्नवान् अपि सः यदा जनङ्गचिह्नं विना सन्नदि क्षणम् आसिनुं  
नो दशाक तदा आरामविहारकैर्नवान् निजंन देश निषेवितुम् इत्येव ।

हिन्दी—प्रशपाड़ी होकर नो वह ( नल ) जब कामचिह्नों के बिना  
अप्रकट रहते ससद् में सागर नो बैठने में लक्ष्मण रहा, तब उद्यान विहार के  
बहाने निजंन स्थान का सेवन करना चाहने लगा ।

टिप्पणी—सञ्चारिमात्र अपलङ्गा और भ्रम अनुनाद का वर्णन । विद्यानर  
के अनुसार चरन्तुति अङ्गहार । उद्देशाङ्गहार वृत्त्यनुशास ॥१५॥

अथ श्रिया भस्तिनमत्स्यकेननस्तम वयस्यैस्वरहस्यवेदिभि ।

पुरोपकण्ठोपवन किञ्चित्ता दिदेश यानाय निदेशकारिण ॥१६॥

जीवानु—अयेति । अयानन्तर श्रिया सौन्दर्येण भस्तिनमत्स्यकेननस्ति-  
रहस्यत्वनर स स्वरहस्यवेदिभि निजभैमीरागमर्मज्ञैर्वन्दमा तुभ्या वयस्या  
स्तिग्मा 'स्तिग्मो वयस्य सवगा' इत्यमर । तै मह सम पुरोपकण्ठोपवन पुर-  
समीपाराममीक्षिता द्रष्टा, तृल्लभमेवैव अतएव 'न लोके' त्यादिना पट्टी-  
प्रतिषेध । किञ्चित्ता । निदेशकारिण आज्ञाकरान् यानाय यानमानेतु-  
मित्यर्थ । 'श्रियायैति' त्यादिना चतुर्थी । दिदेश आज्ञापयामास ॥ १६ ॥

अन्वय—अथ श्रिया भस्तिनमत्स्यकेन स्वरहस्यवेदिभि वयस्यै सम  
पुरोपकण्ठ वनम् ईक्षिता यानाय निदेशकारिण आदिदेश ।

हिन्दी—तदनन्तर अपनी योग्यता में मीनध्वज काम को तिरस्कृत करनेवाले  
नल ने अपने रहस्य के वेत्ता तुम्हें वयस्क मित्रों के साथ नगर के निकटवर्ती उपवन  
को देखने की इच्छा जताते हुए वाहन आने के लिए आज्ञापालक सेवक को  
आदेश दिया ।

टिप्पणी—‘अस्ति तमस्य चेतन’ से यह भी ध्वनित है कि काम नल की रोमा बढ़ाने का काम करनेवाला फर्माचारी हुआ, इस प्रकार नल के कामचिह्न-युक्त अंग भी उनके कामजयी होने का प्रमाण देने लगे । विद्याधर के अनुसार इसमें उपमा और सहोक्ति है ॥५६॥

अमी ततस्तस्य विभूषित नित्त जवेऽपि मानेऽपि च पौरपाधिकम् ।

उपाहरन्नश्वमजसचञ्चले तुराञ्चले क्षोदितमन्दुरोदरम् ॥५७॥

जीवाप्तु—अमी इति । तत आज्ञापनानन्तर अमी निदेशकारिण तस्य विभूषितमलङ्कृतजवेऽपि बेनेऽपि माने प्रमाणेऽपि च पौरपात् पुरपगतिवेगात् पुरपप्रमाणत्वाच्चिक ‘ऊर्ध्वं विस्तृतदो पाणिनुमाने पौरप त्रिपु’ इत्यमर । ‘पुरुषहस्तिभ्यामणू चे’ त्यप्प्रत्यय । अजसचञ्चलं अटुलस्वभावं तुराञ्चलं सपात्रं क्षोदित मन्दुरोदरं चूर्णोद्भूताभ्यालालाम्बन्तर ‘वाजिशाला तु मन्दुरे’त्यमर । एतेनोत्तमाश्वलक्षणयुक्तं सित श्वेतमश्वमृपाहरञ्चानि युतित्पयं ॥५७॥

अन्वय—उत्त अमी तस्य विभूषित नित्त जवे अपि माने अपि च पौरपाधिकार अजसचञ्चलं तुराञ्चलं क्षोदितमन्दुरोदरम् अश्वम् उपाहरम् ।

हिन्दी—तत्पश्चात् ये निदेशकारी उन ( नल ) के सुसज्जित, स्वतरंग के वेग में भी और परिमाण ( ऊँचाई ) में भी पुरुष प्रमाण अथवा बल में अधिक निरन्तर चञ्चल तुरो की अँगली कोरों से मन्दुरा (धुइसाल) के मध्य की विदीर्ण करनेवाले अश्व की ले आये । -

टिप्पणी—इस श्लोक से अगले सात श्लोकों तक अश्व का वर्णन है, जिस पर नल सवार हुए—‘कुल्क’ अर्थात् एक ही भाव से सबद्ध पञ्चाधिक पद्य । इत्यनुप्रास और छेकानुप्रास की समृद्धि ॥५७॥

अथान्तरेपावटुगामिनाऽध्वना निशीयिनोनाथमहत्सहोदरे ।

निगालाद् देवमणेरिवोत्थितैर्विराजित केसरवेशरश्मिभि ॥ ५८ ॥

जीवानु—अथ सप्तमि कुल्कमाह—अधेत्यादि । अथानन्तरान्तर स नलो हयमाहरोहेत्युत्तरेपावटु । वयनूतमातरेणाम्बन्तरेण अवटुगामिना वृकाटिकाव्यमन्तकपृष्ठनावा ‘अवटुर्घाटा वृकाटिवे’त्यमर, अध्वना मार्गेण निगालाद्गलोद्देशात् ‘निगालस्तु गलोद्देश’ इत्यमर । देवमणि आवसविशेष,

‘निगालजो देवमणिरि’ति स्तब्धभात् । दिव्यमामिषं च गम्यते, तस्मादुत्थित-  
रिव म्यनैरित्युपेक्षा । निशीथिनीनाथमहं नहोदरं अन्ध्रासुसदृशैरित्युपमा ।  
केसरकेशा एव रम्यथ इति रूपक तैविराजितम् ॥ ५८ ॥

अन्तर —अथ निशीथिनीनाथमहं नहोदरं निगाग्नात् देवमणे आन्तरेण  
प्रवदुषामिना गद्यना उन्निनै इव केसरकेसरदिशि विराजितम् ( ४ हनम्  
दाहरोदु—इति ( ६४ ) चत्पत्तिमेन इत्येकेन अन्वयः ) ।

हिन्दी—तत्पश्चात् निगानाप ( चद्र ) की किरणों की सहजात ( चन्द्र-  
किरणोन्नी धुन्न, उज्ज्वल ), तत्र प्रसंग में म्यित देवमणि ( धडो के कटि की  
भाति दाहिनी ओर धूमि—दक्षिणार्धतः,—धूम, धोश की गरदन पर होने  
वाली बालों की नैवरी ) से शब्दु अर्थात् गर्दन के पीछले भाग तक के आंतर  
अर्थात् मध्य से जानेवाले मार्ग से उद्भूत जैसी, बने पर फैले बालों की किरणों  
से सुशोभित धोडे पर नल आकृत हो गये ।

टिप्पणी—चौसठवें श्लोक तक अन्व का वर्णन है, जिसमें ‘धोडे पर  
आकृत हो गये—इत धार्य तक अन्व होता है । सुभजा के कारण केसर-  
रश्मियों की तुलना चद्रकिरणों से की गयी है । ‘देवमणि’ चद्र की भी कहा  
जाता है, इस प्रकार ‘देवमणे उत्थितम्’ का सादृश्य भी बैठ जाता है । ‘प्रकाश-  
कारने ‘विराजित’ का अर्थ किया है ‘पक्षिराज गरुड के तुल्य वेगवान्’—‘दीना  
पक्षिणा राजा विराजो गरुड उदरावरितम् ।’ विद्याधर के अनुसार इस पद्य  
में अनुप्रास-उत्प्रेक्षा-रूपक का सङ्गर है । ‘चद्रकला’ कर्ता ने उपमा-उत्प्रेक्षा-  
रूपक की मसृष्टि का निर्देश किया है । मन्त्रिनाथ ने भी उत्प्रेक्षा-उपमा रूपक  
अलङ्कार माने हैं ॥ ५८ ॥

अञ्जनूमीनटकुट्टनोद्गतस्थास्यमानं चरणेषु रेणुभिः ।

ग्वप्रकर्षाध्यवनायंभागेर्जनस्य चेनाभिरिवाणिमाद्भिते ॥ ५९ ॥

जीवातु—अञ्जेति । अञ्जना नूमीनटकुट्टेन उद्गते रेणुभि र्वप्रकर्ष-  
पंस्य वेगातिशयस्याध्यवनायंमन्यासावागतेरणिमाद्भितरपुत्वरिमाणविशिष्ट-  
जनस्य लोकस्य चेतोभिरित्युपेक्षा । चरणेषु पादेषु उपास्यमान सेव्यमानम् ।  
‘अनुपरिमाण मन’ इति तात्त्विका ॥ ५९ ॥

अन्वय—रसप्रकर्षाव्ययनायम् आभर्तं अणिमाङ्कितं जनस्य चेतोभि  
इव अजस्रभूमीतटकुट्टनोदगते रेणुभिः चरणेषु उपास्यमानम् इव ।

हिन्दी—वेग की प्रकृष्टता—आविषय को सोखने आये, परिमाण में अणु  
के समान लोगों के चित्तों के तुल्य निरन्तर भूमितल के कूटने से उठी घूलि में  
उपामित ( युक्त और पूनित ) घोड़े पर ।

टिप्पणी—अश्व के वेग और स्वभाव का वर्णन । रेणु की तुलना अध्ययन  
करने आये मन से करना द्योतित करना है कि अश्व 'मनोजव' ही नहीं था,  
मन से कहीं अधिक वेगवान् था, उसी कारण घूलि-कणरूप में जन-मन अश्व के  
चरणों पर सलम ही नहीं थे, शिष्यों के सदृश चरणोपासना कर रहे थे ।  
मल्लिनाथ ने इस श्लोक में उत्प्रेक्षा का ही उल्लेख किया है, विद्याधर ने उत्प्रेक्षा  
और जाति धलकार माने हैं । चद्रकलाकार ने समासोक्ति-उत्प्रेक्षा का 'एका-  
ययानुप्रवेशसकर' माना है ॥५९॥

चलाचलप्रोयतया महीभूते स्ववेगदर्पणिव वक्तुमुत्सुकम् ।

अल गिरा वेद किलायमाशय स्वयं ह्यस्येति च मीनमास्थितम् ॥६०॥

'जीवात्—चलाचलेति । पुन चलाचलप्रोयतया स्वभावतः स्फुरमाण-  
घोणतया 'चरिचलिपदीनामुपसख्याना'च्चलेद्विवंचन दीर्घञ्च । 'घोणा तु प्रोय-  
मस्त्रियामि'त्यमरः । महीभूते नशाय स्ववेगदर्पणं वेगातिरेकान् वक्तुमुत्सुक-  
मुद्युक्तमिवेत्युपप्रेक्षा । अभावचने हेतुमुत्प्रेक्षते-अलमिति । गिरा उक्त्वा अल,  
कुत, 'अयं नल स्वयं ह्यस्याश्वस्य आशयमभिप्राय वेद वेति किल ।  
'विदो लटो वे'ति णल्लदेशः । इति हेतोरिवेत्यनुपपन्नः । मीनं तूष्णी-  
म्भावञ्चास्थितं प्राप्तम् । अश्वहृदयवेदी नल इति प्रमिद्वि ॥ ६० ॥

अन्वय—चलाचलप्रोयतया स्ववेगदर्पणं महीभूते वक्तुम् उत्सुकम् इव,  
अयं स्वयं ह्यस्य आशय वेद किञ्—इति गिरा अलम् आस्थितम् ।

हिन्दी—अत्यन्त चल नासापुट ओछाप्रमाण से युक्त होने के कारण  
अने वेगाभिमान के विषय में माना राजा से निवेदन करने को उत्सुक परतु  
यह ( राजा ) स्वयं घाटक के आशय को समझता है—सो बाणों को विद्याम  
दिय—मीन घाड़े पर \* ।

टिप्पणी—‘चलचलप्रोपता’ शब्द का स्वभाव है, इसी आधार पर यह उत्प्रेक्षा है। राजा हयाशय को समझता है—यह उक्ति नल के अत्यविद्या-विशारद होने को संकेतित करती है। विशाखर ने इस श्लोक में सापह्नुवा-उत्प्रेक्षा बताया है। चन्द्रकलाकार ने पूर्वार्द्ध में दाच्या और उत्तरार्द्ध में प्रतीप-माना उत्प्रेक्षा का निर्देश कर दोनों की निरपेक्षस्थिति के आधार पर असूष्टि-रूपी माना है ॥६०॥

महारयस्याध्वनि चक्रवर्तिनः परानपेक्षोद्बहनाद्यश्मिन्तम् ।

रदावदानागुमिषादनीदृशा हनन्ममन्तर्वन्मवन्ता रवे ॥ ६१ ॥

जीवातु—महारयस्येति । महान् रयो यस्य तस्य महारयस्य । ‘आत्मानं मारयिञ्चादव रक्षन् युद्धयेत् यो नरः । न महारयस्तत्र स्यादित्याहुर्नौतिको-विदाः ।’ इत्युक्तं शास्त्रस्य रज्ज्विशेषस्येत्यर्थः । अथवा महारयो नन् तस्य महारयस्य चक्रराष्ट्रं वर्तयतीति चक्रवर्ती सार्वभौम तस्य नलस्य, ‘हृत्विन्द्रो नलो राजा पुरुः कुस्त पुरुरवाः । सागरं कार्तवीर्यञ्च पट्टेते चक्रवर्तिनः ॥’ इत्यागमात् अन्यत्र चक्रेणैकेन वर्तनशीलस्येत्यर्थः । अध्वनि मार्गे नापेक्षत इत्यनपेक्षपचाद्यच्, परेपामनपक्ष तस्मादुद्बहनादसहायोद्बहनाद्धेतोरेण नित जीतिविद्यम् अत एवानीदृशानीदृशयशोरहितानाम् । ‘सत युञ्जन्ति रथमेक-चक्रमिति सप्तानां सम्भूयोद्बहन्तश्चपादिति भावः । रवेरर्वतामश्वानामन्तर्ब-रामन्तसार रदाना दन्तानां ये अवदाताः सित्ता अश्व तेषां मिषादसन्त हसन्तमिव स्थितमित्यर्थः । अत्र मिषशब्देनायूनामसत्यत्वमापाद्य हासत्वो-त्प्रेक्षाभात्सापह्नुवोत्प्रेक्षेण गम्या च व्यञ्जकाप्रयोगात् । ‘रदना दशना दन्ता रदा’ इत्यमरः ॥६१॥

अन्वयः—महारयस्य चक्रवर्तिनः अध्वनि परानपेक्षोद्बहनात् यद्यपि सित रदावदानागुमिषात् अनीदृशा रवे अर्वता बलम् अन्त हसन्तम् ।

हिन्दा—महान् योद्धा, चक्रवर्ती राजा नल को मार्ग में अन्य अश्वों के अपेक्षा न करके उद्बहन ( चढ़ाने ) के कारण प्राप्त यश से मानो युद्ध, स्वेत दाँतों की किरणों के ध्यात्र से अन्य को अपेक्षा बिना—अकेले टीने में असमर्थ सूर्य के घोड़े के बल पर मन-ही-मन हँसते— ।

टिप्पणी—सूर्य के सात घोड़े मिलकर सूर्य का उद्बहन करते हैं और राजा नल का घोड़ा अकेला सूर्य से भी अधिक श्रेष्ठपी नल को पछा ले जाता

है। इन प्रकार यह उन सारों से श्रेष्ठ है और उन पर हँसने का अधिकारी है। थोड़ा सफेद रंग का है, जो मानो उसे प्राप्त यश की खुश्रता है, सूर्याश्वो का रंग नीला कहा जाता है, यह मानो उनकी अकीर्ति का द्योतन करता है। महारथ का अर्थ महान् रथ वाला भी है। यो महारथ उसे कहते हैं, जो दस सहस्र धनुर्धारियों से अकेला लड़ सके और शस्त्र शस्त्र प्रवीण हो। जो पुरुष अपने सारथी और रथ की रक्षा करता हुआ युद्ध कर सके, वह भी महारथ कहा जाता है। विद्याधर के अनुसार इस पद्य में अपह्नुति व्यतिरेक-श्लेष का सङ्कर है, मल्लिनाथ सापेक्षता उत्प्रेक्षा मानते हैं। भविष्योत्तरपुराण-आदित्य-स्तोत्र के अनुसार सूर्य के सात घोड़े हैं—( १ ) जय, ( २ ) अजय, ( ३ ) विजय, ( ४ ) जितप्राण, ( ५ ) जितधर्म, ( ६ ) मनोजव और ( ७ ) जित-क्रोध—‘जयोऽजयश्च विजयो जितप्राणो जितधर्म । मनोजवो जितक्रोधो गजिन सप्तकीर्तिता ॥६१॥

सितत्विपश्चञ्चलतामुपेयुषो मिषेण पुच्छस्य च केसरस्य च ।

स्फुटान्चलच्चामरयुग्मविहङ्गकैरनिहनुवान निजवाजिराजताम् ॥६२॥

जीवातु—सितेति । पुन कथम्भूतम् ? सितत्विप विशदप्रभस्य चञ्चल-तामुपेयुषा चञ्चलस्यैवार्थं । पुच्छस्य लाङ्गूलस्य केसरस्य ग्रीवास्मबाह्वस्य च मिषेण च्छलेन चलत्तच्चामरयुग्मस्य विहङ्गकै लग्नै स्फुटा प्रसिद्धा निजा वाजिराजता अश्वेश्वरत्वमनिहनुवान प्रकाशयन्तमिव । अश्वामिन कथञ्चा-मरयुग्ममिति भावः । पूर्ववदलङ्कार ॥ ६२ ॥

अन्वय —सितत्विप चञ्चलताम् उपेयुष पुच्छस्य केसरस्य च मिषेण चञ्चलच्चामरयुग्मविहङ्गकै निजवाजिराजता स्फुटम् अनिहनुवानम् ।

हिन्दी—श्वेद दीप्तिमता, चञ्चलता को प्राप्त ( चञ्चल ) पूँछ और केसर ( जयाल, गरदन के बाल ) के ध्याज से डोलने चामर युग्म-( राजोपयुक्त )-विहङ्गा द्वारा जैम अपना अश्वराज होना स्पष्टतया प्रकट करते ।

टिप्पणी—पुच्छ और केसर दो राजाओं के चिह्न हैं—छत्र और चामर राजा धारण करते हैं—इन दो चिह्नों के लिए ‘विहङ्ग’ बहुवचन ‘चलन्प्रिया पश्या’ है—यह ‘प्रकाश’ कार की भावना है। विद्याधर और मल्लिनाथ इस

श्लोक में सापह्नुवा उत्प्रेक्षा मानते हैं, चन्द्रकलाकार ने इसे अहंनुनि-उत्प्रेक्षा की समृष्टि कहा है ॥६२॥

अपि द्विजिह्वाभ्यवहारपौरुषे मुखानुपक्तायतवन्गुवलाया ।

उपेयिवान् प्रतिमल्लता रयन्मये जितम्य प्रमन गरुत्मन ॥६३॥

जोशानु—असीति । पुन वनम्भुज स्थितम् ? रयन्मये वेगप्रयुक्तादृक्कारे प्रमन प्रमह्य जितम्य प्रायेज विजितस्य गरुत्मन मुखानुपक्ता वक्त्राणां जायता दीर्घा वन्तु रम्या च या वन्ता मुखरज्जु स्या तन्मिपेनेत्यर्थ । द्विजिह्वा-  
नान्हीनानामभ्यवहारे आहारे यस् पौरुषे सर्पमक्षणपुरुषकारेऽपि प्रतिमल्लता  
प्रतिद्वन्द्वितामुपेयिवास प्राप्तम् । तथा च गम्भोत्प्रेक्षेयम् । 'उपेयिवाननास्वान-  
नूषान्मचे'ति वक्त्रमुपगमयान्तो निपात ॥ ६३ ॥

अन्वय—रयन्मय प्रमन जितस्य गरुत्मन द्विजिह्वाभ्यवहारपौरुषे अपि  
मुखानुपक्तायतवन्गुवलाया प्रतिमल्लताम् उपेयिवासम् ।

हिन्दो—वेग के रूप में बलात् विजित पक्षिराज गरुड के द्विजिह्वमर्षों के  
मक्षणरूप पुरुषार्थ में भी मुँह में लम्बी और शोनामयी लाम लगी हान से  
( गरुड की ) प्रतिमल्लता की प्राप्त होव ।

टिप्पणी—नल की सवारो का घोडा गरुड क्या, मन से भी अधिक वेग-  
वान् था, गति में तो उसने पक्षिराज को बीता ही था, इस पद्य में 'सर्पमक्षण-  
पौरुष' में उसे बीता बीजित किया गया । मुखलम्भा वन्ता ही मक्षण किये  
जाते सर्प की प्रतिमान है । बिद्याधर ने यहाँ पूर्ववत् सापह्नुवा-उत्प्रेक्षा ही मानी  
है, मल्लिनाथ ने रम्या उत्प्रेक्षा और चन्द्रकलाकार ने अतिशयोक्ति-उपमा की,  
समृष्टि ॥६३॥

स सिन्धुज शीतमहस्महोदर हरन्ममुच्चैश्रवस श्रिय ह्यम् ।

जिताखिलभ्रानृदनल्पलोचनस्तमाहरोह क्षितिपादशामन ॥६४॥

जोशानु—स इति । जिता अखिला भ्रानृतो नृणां भूयराज येन स  
अनल्पलोचनो विशालाक्ष अन्वय बहूनेज सत्प्राज्ञ इति यावत् । क्षितिपाक-  
शासन शिर्षान्तो नल देवेन्द्रश्च सिन्धुज सिन्धुदेशोद्भवश्च समुद्रोद्भवश्च  
'देशे नदविसंश्रयौ सिन्धुर्ना सरिति क्षियामि'त्यमर । शीतमह सहोदर चन्द्र-



मवणमित्यर्थं, अन्यत्र चन्द्रभ्रातरमेवयोनित्वादिति भावः । उच्चैः श्रवस इन्द्रा-  
श्वस्य श्रियं हरन्त तत्स्वरूपमित्यर्थं, तं हयमारोह । अत्रोच्चैः श्रवसः श्रियं  
हरन्तमिवेत्युपमा । सा च शिल्पविशेषणात् सङ्कीर्णैः क्षितिपाकशासन इत्य-  
तिशयोक्तिः ॥ ६४ ॥

अन्य — जितासिन्धुसाम्राज्यं अनन्पलोचनः क्षितिपाकशासनः स सिन्धुज-  
घोतमहः सहोदरम् उच्चैः श्रवसः श्रियं हरन्त तं हयम् आरोह ।

हिन्दी—समस्त क्षमा ( पृथ्वी ) को धारण करनेवाले पर्वतों के जमी-  
सहस्रनेत्रधारी ( इन्द्र के समान ) समस्त राजाओं का विजेता, विशालनेत्रधारी  
पृथ्वीमण्डल पर पाकशास्त्र का प्रणेतृ होने से क्षितिपाकशासन अर्थात् धरती का  
इन्द्र वह राजा नल सिन्धु अर्थात् समुद्र से उत्पन्न और ( अतएव ) चन्द्र के  
सहोदर उच्चैः श्रवस ( इन्द्राश्व ) की तुलना करते ( अथवा उससे भी श्रेष्ठ )  
सिन्धु देश के चन्द्रमा के समान दुग्ध अश्व पर आरोह हुवा ।

टिप्पणी—समान धर्मता के आधार पर नल को क्षितिपाकशासन अर्थात्  
महीमहेन्द्र और उसकी सवारी के अश्व को उच्चैः श्रवस की समता में रखा  
गया । 'सिन्धुजम्' सन्द अश्व के उत्तम कुल, बल और महाकायश्व का घोटक  
है । सत्तावनवें श्लोक से आरम्भ 'कुलम्' समाप्त । विद्याधर के अनुसार यहाँ  
उपमा, परिक और श्लेष अलङ्कार हैं, मल्लिनाथ ने शिल्पविशेषण होने के  
कारण सङ्कीर्ण उपमा और अतिशयोक्ति का निर्देश किया है, चद्रकलाकार यहाँ  
श्लेष-उपमा-निदर्शना की समृष्टि मानते हैं ॥ ६४ ॥

निजा मयूखा इव निग्मदीधिति स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजम् ।

तमश्ववारा जत्रनाश्रयायिर्न प्रमाशरूपा मनुजेशमन्वम् ॥ ६५ ॥

जीवातु—निजा इति । निजा आत्मीया प्रवाशरूपा उज्ज्वलाकार भास्व-  
रूपाश्च अश्वाचारय तीत्यश्ववाराः अश्वारोहा स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कज-  
पद्मरेवाङ्कितहस्तम्, अन्यत्र पद्महस्तं भवन्ती जवशील 'जुचद्गन्धे'त्यादिना  
युक् । सेनाश्वेन अन्यत्र तैरश्वैर्वर्तीति तथोक्तं मनुजा मनोजता मनुजा नरा-  
स्तेषामीना राजानञ्च तं नल तिग्मदीधितिं मूर्ध्नि मयूखा इव अन्वयु  
अवगच्छन् । यातेरङ्घ्रि क्षेर्जुमादेशः ॥ ६५ ॥

अन्वय — प्रकाशस्त्वा निजा ममूखाः इव जडवत् । स्मृतादिबद्धि-  
पादिपङ्क्त्य जवनास्वदायिन तीक्ष्णोषितम् इव स मनुजेषुम् अन्वयः ।

हिन्दी—प्रकाश-उज्ज्वला ही जिनका हज जाकार है, ऐसी स्वर्गोप  
किरणों के तुल्य सुन्दर शरीरधारी स्वकीय राजा के निजी अस्ववार-धोड़ों के  
रखवारे करकमल में खिला कमल धारते, वेगवान् अस्वों से यात्रा करते तीव्र  
किरणमाली सूर्य के समान जिसके करकमल में खिले कमल का चिह्न है और  
वेगवान् अस्वरर सवार है, उस मरनाथ नर के पीछे-पीछे चले ।

टिप्पणी—इस पद्य में नर की सूर्य से और उनके पीछे चलते अस्ववारों  
की मृगानुपायिनी किरणों से तुलना की गयी है । समुचित शब्दों के प्रयोग  
द्वारा इस साम्य की सञ्चना की गयी है, इसी आधार पर विद्याधर ने इस  
पद्य में उपमा, रूपक और रूप अलङ्कार माने हैं, चन्द्रालङ्कार ने इसे पूर्णो-  
पमा कहा है ॥६५॥

चञ्चललङ्कृत्य महारथ ह्य स बाह्वाहोचितवेपथुः ।

प्रमोदिनिभ्यन्दतराक्षिपदमभिर्व्यलोकि लोकेनंगलयनं ॥६६॥

जीवातु चञ्चलति । बाह्वाहोचितवेपथुः अस्वाहोचितपथ्यधार  
'बाही दक्षे च पथल' इत्यमरः । स नलो महारथमविजय ह्यनङ्कृत्य चलन्  
स्वय ह्यस्य भूषणीभूय गच्छन्निर्गम्य । प्रमोदेन निभ्यन्दतराणि अन्त-  
निद्वानि जक्षिपदमाणि वेपथुर्निभेयद्विनिर्गम्य । नारायणं नगर  
निवाक्षिनिर्गम्य । लोकेनंगलयनं विस्मयहर्षाभ्या विभोक्ति इत्यर्थः ।  
वृत्त्यनुप्रासोऽङ्कारः ॥ ६६ ॥

अन्वय — प्रमोदिनि भ्यन्दतराक्षिपदमभि नारायणं लोके महारथ ह्यम्  
अलङ्कृत्य चलन् बाह्वाहोचितवेपथुः स नर व्यलोकि ।

हिन्दी—प्रहृष्ट के शरण अपनकलोचन ( पलक क्षपादि दिना ) नागावासी  
प्रजाजनों ने महावेगवान् अस्व की सुचोमित कर बाते हुए अस्वारोहियों के योग्य  
वेप में सुन्दर लगे उसे नर को देखा ।

टिप्पणी—नर के अस्वाहो होकर बाते समय उसकी तेजस्विता पर मुग्ध  
नारायणियों का सानन्द अलङ्क देखना वसित कर कवि ने राजा के प्रति पुर-  
वासी प्रजाजनों का आदर व्यक्त किया है । विद्याधर के अनुसार यहाँ छेकानु-  
प्रास है और मन्त्रिवाय के अनुसार वृत्त्यनुप्रास ॥६६॥

क्षणादथैष क्षणदापतिप्रभ प्रभञ्जनाध्येयजवेन वाजिना ।

सहैव ताभिर्जनदृष्टिवृष्टिभिर्वहि पुरोऽभूत् पुरुहूतपीरप ॥६७॥

जोवातु—क्षणादिति । अथानन्तर क्षणदापतिप्रभश्चन्द्रतुल्यस्तथा पुरुहूत-  
पीरप इन्द्रस्यैव पीरप कर्म तेजो वा यस्य तादृश एव नल । प्रभञ्जनेन  
वायुना अध्येय शिक्षणीय जवो वेगो यस्य तथाविधेन वाजिना अश्वेन क्षणा-  
दिति-क्षणास्ताभिः पूर्वोक्ताभिः जनानां दृष्टिवृष्टिभिः दृष्ट्वा तं सह जनैर्दृश्य-  
मान एवेत्यर्थः । वहि पुर पुराद्वहि स्थितोऽभूदिति बहिर्योगे पञ्चमी । पूर्वं  
पुरे दृष्ट क्षणादेव पुराद्वहिर्दृष्ट इति वेगातिशयोक्तिः ॥ ६७ ॥

अन्वयः—अथ क्षणदापतिप्रभ पुरुहूतपीरप एव प्रभञ्जनाध्येयजवेन  
वाजिना क्षणात् ताभिः जनदृष्टिवृष्टिभिः सह एव पुर वहि अभूत् ॥

हिन्दी—तदनन्तर निशानाय चन्द्रमा की कातिवाला, इन्द्रसम सामर्थ्य-  
वान् वह मल छाँधी भी जिमसे तीव्रगामिता का अध्ययन करती थी, ऐसे तीव्र-  
गामी अश्व पर आरुढ़ उन ( अपलक निहारती ) पुरजनों के दृष्टिपातो के  
साथ ही नगर से बाहर हो गया ।

टिप्पणी—राजा के शीतल सौन्दर्य और सामर्थ्य और प्रजाजन का उसके  
प्रति अनुराग यहाँ छोटित है, दृष्टिपातो का राजा के साथ ही बाहर चला  
जाना, जिसे व्यक्त करता है । बिद्याधर ने यहाँ छेकानुप्रास उपमा-सहोक्ति के  
संकर का निर्देश किया है, मल्लिनाथ ने वेगातिशयोक्ति का, चन्द्रकलाका-  
न उपमा अतिशयोक्ति की समृष्टि मानते हैं ॥६७॥

तन् प्रनीच्छ प्रहरेनि भापिणी परस्परोल्लासितशल्पपल्लवे ।

मृषा मृष सादिदत्ते कुतूहलान्नलम्ब नासीरगते विनेनतु ॥६८॥

जोवातु—तत इति । ततः पुराद्वहिनमनन्तर प्रतीच्छ गृहाण प्रहर  
गृहीति भापिणी भाषमाणे इत्यर्थः । परस्परमभ्योपरि उल्लासितानि प्रसारि-  
तानि शल्पपल्लवानि तोमराशाणि गाम्यां ते तयोक्ते 'शल्प तोमरमि'त्यमर ।  
नन्त्य नासीरगते सेनापरत्तिनी 'सेनामुखतु नासीरमि'त्यमर । सादिदत्ते  
नुरङ्गसैन्ये कुतूहलात् मृषा मृष मिथ्यामुद्र मुद्रनाटकमित्यर्थः । विनेनतुचक्रतु  
'मृषमायो घन मृषमि'त्यमर ॥ ६८ ॥

अन्वय — ततः 'प्रतीच्छ, प्रहर'—इति भाषिणी परस्परौञ्छान्तिशब्दपरत्वे नन्वस्य नासीरोञ्छे सादिवले कुतूहलात् मृषा मृषा विनेनतु ।

हिन्दी—दूर से बाहर निकलने के पश्चात् भिरा सम्प्र सम्भालो, प्रहार करो, ऐसा कहती अन्योन्य पर पल्लव तुल्य शस्त्रों को उठाती ( किन्तु आघात न करती ), नल की अग्रभा में चलती दो अरब सेनाजो ने केवल कुतूहल के लिए झूठे घुड़ का प्रदर्शन किया ॥६८॥

टिप्पणी—सैनिकों के उत्साह का वर्णन । अनुप्रास और उपमा ।

प्रानुमत्समाकर्मिय कियत्पद घरा तदम्भोधिरपि स्थलायताम् ।

इतीव बाह्निजवेगदर्पितः पयोधिरौघक्षममुत्पित रजः ॥६९॥

जीवानु—प्रानुमिति । इय घरा नू समुद्रातिरिक्तेनि भाव । अम्माक प्रयातु प्रम्मानु कियत् पद गन्तव्य स्थान विश्वित्पर्याप्तमित्यर्थ । तस्मादम्भो-  
निरपि स्थलायता स्थलवदाधरतु, नूरेव नवत्वित्यर्थ । 'कर्तुं कनद् सलोप-  
श्चे'ति कचङ्प्रत्यय । इतीवेति । इतीव इति मत्वित्यर्थ । इति नैव गम्यमाना-  
यत्वादप्रयोग , जग्यया पौनरेक्यात् । क्रियानिमित्ताल्लेखा । निजवेगेन दर्पितः  
सञ्जातदर्पे बाह्नेर्लाश्वे पयोनिरोधक्षम समुद्रच्छादनपर्याप्त रज उत्पित-  
मुत्पापित तथा मान्द्रमिति भाव ॥ ६९ ॥

अन्वय — दूर था अस्माक प्रयातु कियत् पदम्, तत् पयोधि अपि  
स्थलायताम्—इति इव निजवेगदर्पितः बाह्ने पयोधिरौघक्षम रज उत्पितम् ।

हिन्दी—'यह घरती हमारे सचरण के लिए कितने पग है ? ( छोटी है ),  
हा उस पयोधि समुद्र को भी स्थल बना दिया जाय'—मानो यही सोच कर  
'पनी गति के दर्प में पूर्ण घोड़ो ने समुद्र को भी पाटने में पर्याप्त ( प्रभूत )  
घूल उठा दी ।

टिप्पणी—वस्तु से घोड़ों के एक साथ सरपट दौड़ने से उठी घूल और  
घोड़ों के उत्साह का चित्रण । क्रिया निमित्ताल्लेखा, अनुप्रास ॥६९॥

हरेर्यदक्रामि पदेककेन स पदेस्वतुभि क्रमणेऽपि यस्य न ।

त्रया हरीणामिति नम्रिताननेन्यवन्ति तैरर्धनम कृतश्रमे ॥७०॥

जीवानु—हरेरिति । यत् खमाकाश हरेर्विष्णोरेकत्वेन एवाकिना 'एका-  
दाकिनिच्चासहाये' इति चकारात् कन्प्रत्यय पदा पादेन 'पाद पदङ्घ्रिश्चर-

णोऽस्त्रियामि'त्यमर । 'पहु'त्ति'त्यादिना पदादेश । अत्रामि अलङ्घि, तस्य सस्य चतुर्भिः पदैः क्रमणे लङ्घने कृते सत्यपीति शेष । हरोणा वाजिना विष्णूना चेति गम्यते, 'यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहाशुवाजिषु । शुक्लाहिकपिभेकेषु हरिर्ना वपिले रिप्वि'त्यमर । उभयत्रापि नोऽस्माकं यपेति वेत्यर्थः । गम्यार्थ-त्वादिवदादस्याप्रयोगः । अत एव गम्यात्प्रज्ञा । नम्रितानि निम्नीकृतानि आन-नानि यन्ति हरिभिः अर्द्धं नमसि कृतक्रमे कृतलङ्घने सद्भिर्न्यवर्त्ति निवर्त्ति-तम्, भावे नुङ् । यदन्येन पुत्रा लघूपायेन साधित तस्य गुरुपायेन करण समा-नस्य लाघवाय भवेदिति भावः । एतेन प्लुतगतिरूपता, तत्र गगनलघनस्य सम्भ-वादिति भावः ॥ ७० ॥

अन्वयः—यत् एव हरे' एककेन पदा अत्रामि तस्य चतुर्भिः पदैः अपि क्रमणे न हरिणा यथा—इति नम्रितानि अर्द्धं नम कृतक्रमे सं निवर्त्ति ।

हिन्दी—जिस आकाश का हरि ( वामनावतार विष्णु ) ने एक चरण से ही क्रमण—लघन कर लिया था, उसका लघन चार पैरों से भी करने में हम बहुत से हरियो ( घोड़ों ) के लिये राजा की बात है—इसी से नीचे को मुँह करके आगे गगन के प्रति पदक्षेप करने के पीछे मानों झूट आये ।

टिप्पणी—'हरि' शब्द के चमत्कारी प्रयोग के आधार पर सूदर रचना । मल्लिनाथ के अनुसार गम्योत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार प्रतीयमानोत्प्रेक्षा और हल्ले ॥७०॥

चमूचरास्तस्य नृपस्य सादिनो जिनोक्तिषु धादतयेव सैन्धवा ।

विहारदेशं तमवाप्य मण्यलोमकारयन् भूरितुरङ्गमानपि ॥ ७१ ॥

जीवातु—चमूचरा इति । तस्य नृपस्य चमूचरा सेनाचरा चोष्टृ, सिंघु-देशमवा सैन्धवा अदवा, 'ह्यसंघवसतय' इत्यमर । 'तत्र भव' इत्यण्प्रत्यय, तत्सम्बन्धिनोऽपि सैन्धवा 'तस्येदमि'त्यणा ते सादिन अस्त्रसादि इत्यर्थः, जिनोक्तिषु धादतयेव जैनदर्शनयद्वातुतयेवेत्युत्प्रेक्षा, 'यद्वाचावृत्तिम्योऽणि'ति मत्वर्था योऽण्प्रत्यय, त विहारदेशं सञ्चारयूषि सुगतात्यञ्च 'विहारो भ्रमणे स्वार्थं लोकाया सुगतात्य' इति विश्व । अवाप्य तुरङ्गमान् भूरि बट्टल मण्ड-लीमपि मण्डलाकारं च अकारयन् अपिराज्योऽवातिसमुच्चयार्थः । अयत्र मण्डली

मण्डनान्नमन्दिरं । 'बौद्धा स्वकर्मनुष्ठाने प्रायेण मण्डलानि कुर्वन्ति' इति प्रसिद्धिः ॥ ७१ ॥

अन्वयः—उत्सव नृपस्य चमूचराः सैषवा सादिनः जिनोक्तिषु धादतया इव ॥ बिहारदेशम् अवाप्य भूरि तुरङ्गमात्रं अपि मण्डलीम् अकारयत् ।

हिन्दी—उस राजा की सेना में चमूनेवाले घुड़सवारों ने मानों 'जिन' ( जैन धर्म के उपास्य ) के बचनों में थड़ा रखने के कारण हो उस बिहार-स्थल को प्राप्त कर अनेक शत्रुओं को भी विस प्रकार जैन साधक मण्डली बनाकर अश्वस्थित होते हैं, उसी प्रकार मण्डल बनाकर बलाया ( मण्डलाकार घुमाया ) ।

टिप्पणी—अश्व मन्त्रारण के कौण्ट का वर्णन । जैन संप्रदायी स्वकर्म-अनुष्ठान में मण्डल बनाया करते हैं, ऐसी भाव्यता है । उत्प्रेक्षा ॥ ७१ ॥

द्विपद्मिरेवास्य विन्निङ्गिता दिनो यशोभिरेवाधिधरकारि गोप्पदम् ।

इतीव धारामवधाय्यं मण्डलीक्रियाधियाऽमण्डि तुरङ्गमै स्थली ॥ ७२ ॥

जीवानु—द्विपद्मिरिति । अस्य नलस्य द्विपद्मिरेव पलायमानैरिति भावः दिशो विलङ्घिता । अस्य यशोभिरेवान्नि गो पद गोप्पदमकारि गोप्पदमान इव, 'गोप्पद सेवित्तानेवित्तप्रमाणाये' इति मुद्रायमपत्वगोनिपात । इतीव इति मत्वेवेत्युपदेशा, अन्यज्ञानारण कर्म नोन्कर्षात् नवेदिति भावः । तुरङ्गमैराङ्गति जातावेत्तवचन पञ्चापि धारा इत्ययं । 'आम्बन्दिता धीरित्तव' रेचित वल्लिन प्लुतम् । गतयोऽसू पञ्च धारा इत्यमरः । अवधीयं अनादृत्य मण्डली क्रियाधिया मण्डलीकरणलक्ष्म्या मण्डलारयैवेत्ययं । स्थली जहन्निमा भू जानपदेऽस्यादिना अहन्निमाये छीप्, अमण्डि अभूयि । मण्डि भूपायामिति धातोर्न्यन्तात् कर्मणि लुङ्, इदित्त्वान्नुमागम ॥ ७२ ॥

अन्वयः—अस्य द्विपद्मि एव दिशः विलङ्घिताः अस्य यशोभिः एव अधिव गोप्पदम् अकारि—इति इव तुरङ्गमै धाराम् अवधीयं मण्डलीक्रियाधिया स्थली अमण्डि ।

हिन्दी—इस ( नल ) के अनुजों ने ही ( प्राणरक्षार्थ, नय से दिशाओं का नष्ट कर दिया है, इसके यशः समूह ने ही समुद्र को गोखुर-प्रमाण का गर्त

दना दिया है—मानो यह विचार कर ही अश्वो ने 'धारा' ( एक प्रकार घोड़ो के वेग से दौड़ने का प्रकार )—गति को छोड़कर मूठल करके दौड़ने की क्रिया ( चक्कर काटना ) की धामा से घरती को सुशोभित किया ।

टिप्पणी—नल के शत्रुओं का भय स पलायन और समुद्रपर्यंत प्रसरित उत्तमो कीर्ति का सनेत है। आस्कदित (सरपट) चाल, पौरितक (दुलकी), रेचित ( सीधे दौड़ना ), वलित ( नाबते हुए—जैसे चलना ) और प्लुत ( उछलकर दौड़ना )—ये पाँच प्रकार की घोड़ो की चाल 'धारा' कही जाती हैं । जिन विहारस्थली में घोड़ो को इन प्रकारों से न चलाकर मूठलाकार चलाया । उत्प्रेमा-अतिशयोक्ति का सकर अलकार ॥ ७१ ॥

अचीकरच्चारु ह्येन या भ्रमीनिजातपत्रस्य तलस्थले नल ।

मरुत् किमद्यापि न तामु शिखते वितत्य वात्यामयचक्रचक्रमान् ॥ ७२ ॥

जीवात्—अचीकरदिति । नलश्चाह यथा भवति तथा ह्येन प्रयोगेन कर्त्ता निजातपत्रस्य तलस्थले जघ प्रदेशे 'अथ स्वरूपयोरस्त्री तलमि'त्यमर । या भ्रमीर्मण्डलगतीरचीकरत् कारितवान्, करोतेणौ चङ् । तामु भ्रमीषु विषये मरुत् अद्यापि वाताना समूहो वात्या, 'वातादिभ्यो य' । अत्र तद्भ्रमयो लक्ष्यन्ते, तन्मयान् तद्रूपान् चक्रचक्रमान् मण्डलगतीर्वितत्य विस्तीर्य न शिखते किनाभ्यस्यते किमिष्टुत्प्रेक्षा । शिशितश्चेत् तथा सोऽपि गतिं कुर्यादित्यर्थ । वायोऽप्यसम्भविता गतीरचीकरदिति भाव ॥ ७३ ॥

अन्वय —नल निजातपत्रस्य तलस्थले ह्येन या चारु भ्रमीः अचीकरत् तामु अथ अपि मरुत् वात्यामयचक्रचङ्क्रमान् वितत्य किं ॥ शिखते (अपितु शिखाद्येव) ।

हिन्दी—नल ने अपने छत्र के नीचे घोड़े द्वारा जो मनोहर भ्रमण ( चक्कर ) कराये, आज भी क्या वायु वात्याचक्र ( बवंडर ) रूप में चक्कर खाते हुए उनके विषय में शिखा प्राप्त नहीं करता ? ( अपितु शिखा प्राप्त करता ही है, पर अभी तक सीप नहीं पाया ) ।

टिप्पणी—नल का विशिष्ट अश्वचालन-कौशल और अश्व को वायु में अधिक तीव्रगामिता और सदैव द्योतित । उत्प्रेमा । ७३ ॥

विवेच्य गत्वा स विलासकाननं ततः क्षणात् क्षोणीपतिर्धृतीच्छया ।

प्रवालरागच्छुरितं सुपुष्पया हरिर्धनच्छाद्यमिवाम्भसा निविम् ॥७४॥

जीवानु—विवेचेति । ततः स क्षोणीपतिः क्षणाद्गत्वा धृतीच्छया सन्तोष-  
काङ्क्षया प्रवाला पल्लवा अन्यत्र प्रवालाः विद्रुमा 'प्रवालो वल्लकीदृष्टे  
विद्रुमे न वपल्लवः' इत्यमरः । तेषां रागेनादन्तेन दूरितं रूपितं धनच्छाद्य  
क्षान्दानातपनलम्बं मेघकान्ति 'छाया त्वनातपे काम्पावि'ति विश्वः । विलास-  
काननं क्रीडावनम् अन्यत्र वदन्तोरमेशात् विलासकानां विलेशयानां संपात्ताम्  
शाननं प्राप्य सुपुष्पया स्वप्नुमिच्छया हरिर्विष्णुरम्भसान्निप्रिनिप्रिननिव  
विवेच्य ॥ ७४ ॥

अन्वय—तत्र सः क्षोणीपतिः यथा हरिः इव सुपुष्पया प्रवालरागच्छुरितं  
धनच्छाद्यम् विलासकाननम् अम्भसा निधिः इव (विलासकाननं) धृतीच्छया क्षणात्  
विवेच्य ।

हिन्दी—उत्सवान् बहू पृथ्वीपति चाकर मूर्खों की छाली से खचित मेघ  
की छाया के समान छायावाले ( मेघकांति ) विलों के निवासी सूर्य के आवास  
समुद्र में जैसे हरि ( विष्णु ) एगन की इच्छा से प्रविष्ट हो जाते हैं, अथवा जैसे  
भूमे—जैसे छाल विमल्यों से सुंदर धनीछायावाले, खलस्थान से युक्त सुंदर  
वन में मूल से सोने की इच्छा से सिंह धुम बाजा है, उसी प्रकार नवपल्लवों  
की छालिमा से विच्छुरित, धनीछायावाले झीहावन में मन बहलाने के लिए  
राग में प्रविष्ट हो गया ।

टिप्पणी—राजा नर को सिंह पराक्रमी और विष्णु के समान समर्थ  
प्रजानाटक संवर्धित किया गया है । तथमा श्री इत्ये ॥७४॥

वनान्तपर्यन्तमुपेत्य सम्पूह क्रमेण तन्निघ्नवनीगंदृक्नये ।

न्यवत्तदृष्टिप्रवरं पुरोक्तमनुव्रजद्वन्द्वसमाजद्वन्द्वभिः ॥ ७५ ॥

जीवानु—वनान्तेति । अनुव्रजद्वन्द्वसमाजद्वन्द्वभिः स्नेहादनुच्छिद्वन्द्व-  
सङ्घसदृशैरित्यर्थः । अत्र एवोपमास्फुरति । पुरोक्ता दृष्टिप्रवरं दृष्टिगन्तुं  
वर्तुनिर्वनान्तपर्यन्तं वाननोपान्तधीनाम् उदकप्रान्तपर्यन्तश्चेति गम्यते,  
'वने सलिलकानने' इत्यमरः । सम्पूह मानिलाप यथा तया उपेत्य गत्वा



अथ अनन्तर क्रमेण तस्मिन् नले अवतीर्णद्वयपथे अतिक्रान्तरद्विविपये सति  
न्यवर्ति निवृत्त, भावे लुङ् । यथा बन्धुमि 'उदकान्त प्रिय पाण्यमनुव्रजेदि'  
त्यागमात्प्रवमत्तमनुव्रज्य निवर्त्यत तद्वदित्यर्थ ॥ ७५ ॥

अन्वय — क्रमेण अवतीर्णद्वयपथे तस्मिन् अनुव्रजद्वयममाजबन्धुमि  
पुरोक्ता दृष्टिप्रकरं वनान्तपर्यन्त सस्पृहम् उपेत्य न्यवर्ति ।

हिन्दी—धीरे धीरे राजा के नेत्रों से अगोचर हो जाने पर अनुगमन करते  
बधुजनो का बधु-सदृश नगरवासियों का दृष्टि-समूह अभिलाष के साथ वन-  
भूमि तक जाकर लौट पड़ा ।

टिप्पणी—जब तक राजा दिखायी पड़ता रहा, तब तक नगरवासी  
बाव से देखते रहे, जब आँख ओझल हो गया, सभी लौटे,—यह कथन पुर-  
वासियों की राजा के प्रति प्रीति का घोटक है । अनुप्रास और सहोक्ति अल-  
कार । चतुर्थ चरण में उपमा ॥ ७५ ॥

तत प्रसूने च फले च मञ्जुले स सम्मुखीनाद्गुलिना जनाधिप ।

निवेद्यमान वनपालपाणिना व्यलोकयत् वाननरामणीयकम् ॥ ७६ ॥

जीवात्—तत इति । तत वनप्रवेशान्तर स जनाधिपो नल मञ्जुले  
मनोज्ञे प्रसूने फलं च विपये सम्मुखीना सदृशिनी सम्मुखवस्थितवस्तु-  
प्रकाशिनेति यावत् 'यथामुल्लसन्मुखस्य दर्शनं ख' इति उपग्रन्थयातो निपात ।  
तादृशी अद्भुतलिर्यस्य तेन वनपालपाणिना निवेद्यमानम् इदमिदमित्यद्भुतया  
पुष्पफलादिनिर्देशेन प्रदर्शयमानमित्यर्थ । वाननरामणीयक वनरामणीयक  
'योपयाद् गुरूपोत्तमाद् भुज्' इति भुज्प्रत्यय । व्यलोकयत् अपश्यदिति  
स्वभावाक्ति ॥ ७६ ॥

अन्वय — तत स जनाधिप मञ्जुले प्रसूने फले च सम्मुखानाद्गुलिना  
वनपालपाणिना निवेद्यमान वाननरामणीयक च व्यलोकयत् ।

हिन्दी—उदन्तर वह नरनाथ मनोहर फूल और फल तथा अगुलि उठा  
कर वन-पालक के हाथ से सादर विज्ञापित वन की रामणीयता का अवलोकन  
करन लगा ।

टिप्पणी—राजा का प्रहृति-प्रेम मकेतित । विद्याधर के अनुसार जात और अनुश्रुत अलंकार और मल्लिनाथ के अनुसार स्वभावोक्ति, प्रमृत्त, फल और वन में एक गुप्त मञ्जुलता व्यवहारमणीयता होने से चन्द्रकलाकार के अनुसार तुल्ययोगिता ॥७६॥

फलानि पुष्पाणि च पल्लवे करे वयोर्जितपानोद्गतवातवेपिने ।

स्मितं मनाधाय महर्षिर्वादकं काट्टने तदातिथ्यमग्निच्छिगाग्निमि ॥ ७७ ॥

जीवातु—पन्नोति । वयोर्जितपातेन पक्षिपानेन वाग्याश्रयणमेतौ बोद्धव्येना-  
रिधनेन वानेन वायुना वातशोषेण च वेपिते कम्पिते 'भगवान्वादिनोर्वन्द्य' इत्यमर ।  
पल्लव एव कर इति व्यस्तहृत्क पन्नानि पुष्पाणि च समाधाय निधाय स्मित-  
न्निष्ठुङ्गि वने शाखिनिर्बुध्ने वेदशास्त्राध्यायिमिदं च, 'शास्त्राभेदे द्रुमे शास्त्रा  
वेदोऽपी'ति वैजयन्ती । तदानिथ्य तस्य नलस्यातिथ्यम् अनिथ्यम् कर्म,  
'अतिथेज्यं' इति व्यप्रत्यय । महर्षीणां वादकाद् बृद्धसमूहात् तत्रत्यबृद्धमहर्षि-  
सङ्घादित्ययं । शिवभागवतवन्दनमास । 'बृद्धसंघे तु वादकमि'त्यमर ।  
'बृद्धाच्चेति वक्तव्यमि'ति समूहाद्यं बुद्धग्रन्थ । जशिक्षि शिक्षितमभ्यस्तम्,  
अभ्यया क्यमिदमाचरितमिति भाव । कर्मणि लुङ् उत्प्रेक्ष्य मा च व्यञ्जका-  
प्रयोगाद्गन्या पूर्वोक्तहृत्कदर्शपान्यामुत्पापिता चेति सङ्ख्य ॥ ७७ ॥

अन्वय — वयोर्जितपातोद्गतवातवेपिने पल्लवे करे फलानि पुष्पाणि च  
समाधाय स्मितं शाखिनि वने महर्षिर्वादकं काट्ट तदातिथ्यम् अग्निच्छि ।

हिन्दी—वय जयान् पक्षियों के नाकर बैठने से उत्पन्न वायु से हिलते  
पल्लव ( किसलय )—हृत् हाथ में फल-फूलों को लेकर छटे वृक्षों में वन में वय  
अर्थात् तात्पर्य के बैठ जाने से ( बुढ़ापा आ जाने पर ) उत्पन्न वात दोष से  
कांपने पल्लव मृदुल हाथ में फल-फूल लेकर खड़े विशिष्ट वेद शास्त्राओं के  
अभ्ययन से सज्ज बूढ़े महर्षिगण ने उस ( नल ) के आतिथ्य की शिक्षा ली ।

टिप्पणी—नाथ अनिधि का स्वागत हुआ ही करता है, किसी आश्रम में  
पहुँचने पर जिस प्रकार बृद्ध महर्षि राजा का आतिथ्य करते, वैसे ही वन में  
फल फूलों में सुपन्न पल्लव-करों द्वारा पुराने वृक्ष कर रहे हैं । कालिदास ने  
वन में गोचर कर रहे राजा दिलीप का बाल्यतामा द्वारा पुन-वर्षा से आतिथ्य

होना चित्रित किया है ( रघुवश २।१० ) । मल्लिनाथ के अनुसार यही मय्या उत्प्रेक्षा-श्लेष-रूपक का सकर है । विद्याधर के अनुसार प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा और श्लेष । चद्रकलाकार के अनुसार व्यस्तरूपक श्लेषप्रतीयमानोत्प्रेक्षा का सकर ।

विनिद्रपत्रालिगतालिकैतवान्मृगाङ्कुचूडामणिवर्जनाजितम् ।

दधानमाशामु चरिणु दुयंश स कौतुकी तत्र ददर्श कैतकम् ॥ ७८ ॥

जीवातु-विनिद्रेति । विनिद्रपत्रालिगतालिकैतवात् विकचदलादलिस्पित मृङ्गमिपात् मृगाङ्कुचूडामणेश्वरस्य कर्तुर्वज्रनेन परिहारेणाजित सम्पादित 'न केतक्या भदाशिवमि'ति निषेधादिति भाव । आशामु चरिणु सञ्चरणशील 'अलङ्कजि'त्यादिना चरेरिणुषूप्रत्यय । दुयंशोऽपकीति दधान कैतक केतकी-कुसुम तत्र बने स नल कौतुकी सन् ददर्श । अहस्य महापुरुषस्य बहिष्कारी दुष्कीर्तिकर इति भाव । अत्रालिकैतवादिस्त्वपह्नुवेन तेषु दुयशस्वरारोपादपह्नुत्यलङ्कार । 'निषेध्यविषये साम्यादन्यारोपेऽपह्नुति' इति लक्षणात् ॥

अन्वय — कौतुकी स तत्र विनिद्रपत्रालिगतालिकैतवात् मृगाङ्कुचूडामणिवर्जनाजितम् आशामु चरिणु दुयंश दधान कैतक ददर्श ।

हिन्दी—( अश्व पुष्पादि के दर्शन की ) उत्सुक उस ( मल ) ने वहाँ ( वन में ) विकसित दलों की पत्तियों पर बैठे भोरों के छल से चद्रचूड़ शिव से तिरस्कृत होने से प्राप्त दिग्गत में व्याप्त होते ( भोरों भी उठकर दिग्गतरों में चले जाते हैं ) अपयय को धारण किये केतकी ( केवडा ) के फूल को देखा ।

टिप्पणी—काले भोरों से आच्छादित केतक की कविसमयसिद्ध वृष्णवर्ण दुयंश-धारण-कर्त्ता के रूप में चित्रण किया गया है, इस कारण अपह्नुति है । चद्रकलाकार ने कैतवापह्नुति-प्रतीयमानोत्प्रेक्षा का सकर माना है ।

केतक के शिव द्वारा परित्यक्त होने के सम्बन्ध में दो पौराणिक प्रतिष्ठियाँ हैं—( १ ) एक बार ब्रह्मा और विष्णु में परस्पर श्रेष्ठता को लेकर विवाद हो गया । आकाशवाणी हुई कि जो शिवलिंग के उर्ध्वाधोभागों को देख सके, वही दोनों में बड़ा है । शिवलिंग की ऊँचाई नीचाई का पार तो दोनों में कोई पान सका, पर जहाँ विष्णु ने तथ्य को स्वीकारा वहाँ ब्रह्मा ने असत्य मापण

जिया कि वे शिवलिंग के उर्वारबोमग्यों को देख सके हैं । साक्षी दत्ता केतक । इस पर मिथ्यासाक्षी केतक का शिव ने त्याग किया । ( २ ) राम-सीता-लक्ष्मण पितरों के आवाहन गया पहुँचे । रामचन्द्र ने फल्गु नदी-तट पर पितरों का आवाहन किया और लक्ष्मण नगर में आदि सान्नी लेंगे गये । उन्हें जब विलम्ब हुआ तो श्रीगम भी उनकी खोज में सीता को वहीं छोड़ चले गये । वे दोनों भाई लौट भी न पाये थे कि आहत पितरों के हाथ आदिपिंड-ग्रहणार्थ प्रकट हुए । यह देव सान्नी के अनाथ में सीताजी चराने लगीं । तभी आकाशवाणी हुई कि डरो मत, बाटू के आदिपिंड बनाकर नमस्कार कर दो । सीता ने उसी प्रकार आदि-विधान कर दिया, साक्षी हुए वहाँ उपस्थित श्री, अग्नि, फल्गु नदी और केतकी का पूजा । राम-लक्ष्मण के लौटने पर वह वृत्तात वता कर सीता ने उन्हें पुनः आदि न करने की समति दी, परन्तु साक्षियों ने इस विषय में अज्ञा अज्ञान प्रकट किया । साक्षियों के इस असत्य आपण पर सीता ने इन्हें शान दिये—गौ को मुखनाग से अपवित्र हो जाने का, अग्नि को सर्वमशी होने का, फल्गु को निर्जल होने का और केतकी पुष्प को शिव से त्यक्त होने का । तभी ने केतक पुष्प सदाशिव को नहीं चढाया जाता ॥७८॥

विनोगनाजा हृदि कण्टकैः कटुर्निनीयसे कर्णिशरं स्मरेण यन् ।  
ततो दुराकर्षतया तदग्निकृद्धिगोत्रमे मन्मथदेहदाहिना ॥ ७९ ॥

जीवातु—विनोगेत्यादि । केतक । यमस्मात्स्व स्मरेण विनोगनाजा हृदि कण्टकैः निजतीक्ष्णावयवैः कटुर्निनीयसे केतकविशेषणस्यापि कर्णिशरत्वम् । विशेषणविशेषतया मुष्णिकृद्धिनिर्देशः, किन्तु देहविशेषणस्य विशेषविशेषणत्वं किञ्चम् । कर्षेवत् कर्ण प्रतिलोभशब्दं तद्वान् शरं कर्णिशरं मुष्णिकृद्धिनिधीयसे कण्टकवटो केतकस्य कर्णिशरत्वरूपगात्रूपकालङ्कारः । तत्र कर्णिशरत्वादिवद् दुराकर्षतया दुष्कारतया तदग्निकृद्धिगोत्रे विनोगिना मारकं मन्मथदेहदाहिना स्मरेण विनीयते विगृह्णते । द्वेषेवत् द्वेष्योत्कर्षात्तदग्निकृद्धिमेव, तदपि हिंस्र चेत् किमु वक्तव्यमिति भावः । अनेककर्तृकस्य केतकीविगृह्णस्य तद्वत्तविनोगिनिर्देशात्तद्वत्त्वोत्प्रेषणादेर्व्येष्टा व्यञ्जकाप्रयोगादिसम्भवा, सा चोक्तस्वरूपकोत्पापितेति सङ्कटः ॥ ७९ ॥

अन्वय—यत् स्मरेण वियोगमात्रा हृदि कण्ठके वदु कर्णशर निधीयसे  
मत् दुराकर्षतया तदन्तर्गुत् मन्मथदेहदाहिना वियोगसे ( इति क्रुधा तेन वेतवम्  
अक्रुश्यत—इति एकाक्षीकृतमेव ( ८१ ) श्लोकेनावय ) ।

हिन्दी—जो कि कामदेव द्वारा वियोगियों के हृदय में काँटों से क्रूर  
नुकीला बाण बनाकर घुसाये जाने हो, इससे बड़ी कठिनता ३ निकाल पाये  
जाने के कारण वियोगी के प्राण लेना तुम कामदेव के दह को भस्म कर डालने  
वाले शकर द्वारा विगृहीत—तिरस्कृत हो—ऐसा प्रोष में राजा ने कंतक को कोसा ।

टिप्पणी—कंतकी का फूल देखकर वियोगिया का धीरज छूट जाता है,  
ऐसा मान्यता है । उसके पत्ते काँटेदार, नोकीले होने हैं । कंतक पर कर्णशरत्व  
का आरोप होने से रुक्म और वियोगि हिंस्र होने के कारण महादेव से उसके  
त्यस्त होने की सम्भावना में गम्भीर हेतुप्रेक्षा, फलतः दोनों का सत्कर डलकार ।

त्वदप्रमूचीमचिव म कामिनोर्मनोभव सोव्यति दुर्गन्ध पटी ।

स्फुटञ्च पत्रे करपत्रमूर्तिमिवियोगिहृद्दारणि दारुणायते ॥८०॥

जीवातु—स्वदिति । तवाग्राण्येव मुख्य सचिवा सहकारिणो यस्य स  
तपोक्त स प्रसिद्धो मनोभव कामिनी च कामी च कामिनी तयो, 'पुमान्  
स्त्रिये'त्येवशेषः । दुर्गन्धासि अपकीर्तयस्ता पटाविति रूपकं तानि सोव्यति  
कण्ठकस्फुट करोतीत्यर्थः । 'विञ्चेति वाय करपत्रमूर्तिमि क्रकचामारी,  
'क्रकचोऽस्त्री करपत्रमि'त्यमरः । पत्रेस्तेवियोगिना हृद्येव दारणि दारयतीति  
दारुणो विदारका भेत्ता स इवाचरतीति दारुणायते, 'वत्' वयम् सलोपश्चे'ति  
वयङ्मातृ लट् । दारुणायत इत्युपमा, सा च हृद्दारुणातिरूपकानुप्राणितेति  
मटहर ॥ ८० ॥

अन्वय—त्वदप्रमूचीसचिव म मनोमय कामिन दुर्गन्ध पटी सोव्यति  
म पत्रमूर्तिमि पत्रे च वियोगिहृद्दारणि दारुणायते—इति स्फुटम् ।

हिन्दी—( अरे कंधे के फूल ), तरो नोच रूप सुई की सहायता से वह  
मनसिज कामिनों के अपयसरूप वस्त्रों का सिलता है और करपत्र ( आरी )  
के तुल्य रूप वाले तेज पत्तों से वियोगियों के हृदयरूपी काष्ठ का धीर डालता  
है यह स्पष्ट है ।

टिप्पणी—कंबडे की कलिका को अत्यन्त उद्दीप्त माना जाता है, मान्यता है कानाध नर-नागी उसे देखकर उचितानुचिन का मान भूत जाते हैं, कंबडे की कली देखकर उनका धैर्य भंग होता है और पन-दहन में हृदय विदीर्ण । दग्धा रूपक का संकर ॥८०॥

धनुर्मनुस्त्रितकरोऽपि भीमजापः परागंस्तत्र धूलिहस्तजम् ।

प्रमूढधन्वा शरसात्करोति मामिनि क्रुधाऽऽक्रुध्यन् तेन कंतकम् ॥८१॥

जीवातु—धनुरिति । कंतक । प्रमूढ धन्वा धनुर्दम्येति प्रमूढधन्वा पुष्पधाप । 'वा मजायामि' त्यवडादेश । अत एव धनुषो मधुना मकरन्देन स्विन्नकरं आद्रंषापि सन् अत एव परागं रजोमि धूलिहस्तजम् पुन पुन धून्धुङ्गाविहस्तमात्मानं कुर्वन् अन्यथा धनुश्च सवादिति भावः, तत्करोनेत्यन्तान्तः शब्दादेशः । अतिभीमजापरमतिमात्र दमजन्त्यामकन मा शरमात् शराधीनश्चकरोति, 'तदधीने च' इति सातिप्रत्ययः, अन्यथा सन्ध-वान् च मा किं कुर्यादिति भावः । इतीत्य इत्येकत्रयोक्तिरिति तेन राजा दूया कंतकनानुत्पत्त अपराधोद्धाटने अधोप्यनेत्यर्थः ॥ ८१ ॥

अन्वयः—धनुर्मनुस्त्रितकरोऽपि प्रमूढधन्वा तत्र परागं धूलिहस्तजम्, भीमजापर मा शरसात्करोति—इति तेन क्रुधा कंतकम् अक्रुध्यत् ।

हिन्दी—स ( नल ) ने क्रोधपूर्वक इमलिए कंबडे को बोझ कि फूला के धनुष से टपकते मनु से गीला हाथ होने पर भी पुष्पधन्वा काम ठेरे पराग की धूलि हाथ में ( चिकनापन मिटाने के लिए, जिससे बाण टिमिल न जाय ) लगा कर ही भीमपुत्री-परायण मुझे ज्वरने बाण का आखेट बना पाता है ।

टिप्पणी—इस प्रकार तीन दृष्टियों में कामोद्दीपक कंतक पुष्प का वर्णन किया गया । अतिशयोक्ति जलवार ॥८१॥

विदर्भमुभ्रुस्तननुङ्गताक्षये घटानिवापश्यदः तपस्यन् ।

कशानि धूनन्व घयानगोमुमान् म दाडिमे दोहदन्नूपिनि द्रुमे ॥८२॥

जीवातु—विदर्भेति । 'तदुन्मन्तादीनामकाले कुशले कृत्रम् । पुष्पा-दुम्पादित्र द्रव्य दोहद न्यात्तु तत्त्रिया ॥' इति शब्दाण्ये । दोहदन्नूपिनि धूपश्च

तदुक्त 'मेषामिषाम्बुसंसेकस्तत्केशामिषधूपनम् । श्रेयानम प्रयोग स्याद् दाडिमीफलवृद्धये ॥ मत्स्याज्यत्रिफलापैर्मसैराजाविरोद्धवै । लेपिता धूपिता सूने फलतालीव दाडिमी ॥ अविक्रवायेन ससिक्ता धूपिता तसरो-  
ममि । फलानि दाडिमी सूने सुगृहीनि पृथूनि च ॥' इति । तद्वति दाडिमीद्रुमे फलानि विदर्भसुभ्रुवो दमयन्त्या स्तनयोर्मा तुङ्गता तदमये तादृगीप्रत्य लाभायेत्यर्थः । अलमत्यर्थं तपस्यतस्तपस्वरत, 'वमणी रोमन्यतपोम्या वत्तिचरोरि'ति वयहप्रत्यये तपस परस्मैपदञ्च वक्तव्य, धूमस्य दोहदधूमस्य घपन्तीति घमान् पातुन्, घेद्-पाने अत्र 'आतश्चोपसर्ग' इति उपसर्गग्रह-  
णान्नानुवर्ति-पक्षत्वात् 'पाप्म'स्यादिनाऽनुपमृष्टादपि घेद् सप्रत्यय इति गति । अत एव काशिकाया केचिदुपमर्ग इति नानुवर्तयन्तीति । अघोमुखान् घटानिव अपश्यदित्युपप्रेक्षा । महाफलार्चिन इत्यमुष तपस्यन्तीति भावः ॥

अन्वय — स\* दोहदधूपिनि दाडिमे द्रुमे विदर्भसुभ्रुस्तनतुङ्गतासमे अल तपस्यत\* धूमस्य घमान् अघोमुखान् घटान् इव फलानि अपश्यत् ।

हिन्दी—उस ( नल ) ने दोहद अर्थात् अतिशय फल समृद्धि के लिए विहित सामग्री से धूपयित अनार के वृक्ष पर सु दूर झुट्टीवासी वैदर्भी ( दमयन्ती ) के स्तनो की उत्तुंगता प्राप्त करने के निमित्त मानो बठोर तपस्या करत ( दोहद का ) धूम पीते नीचे को मुँहवाले घटो के तुल्य फलो को देखा ।

टिप्पणी—पहिले कूल ( नेत्रक ) का, फिर फल ( दाडिम ) का दर्शन । उपप्रेक्षा अलंकार । समय से पूर्व ही फल पाने के निमित्त भाँति भाँति के द्रव्यों के प्रयोग को दोहद कहते हैं । कहा जाता है कि भेड़ के मांस के पानी से सीचना और उसके केश जलाकर धूप देना दाडिम फल की समृद्धि के लिए लाभदायक होता है ॥८२॥

वियोगिनीमैदान दाडिमोमसो प्रियस्मृते\* स्पष्टमुदोतकण्टकाम् ।

फलस्तनस्थानविदोर्गरागिहृद्विशच्छुकास्यस्मरकजुकाशुगाम् ॥ ८३ ॥

जीवानु—वियोगिनीमिति । अमो नल प्रियास्मृतेऽमयन्तीस्मरणादिव स्पष्ट व्यपगतमुरीनेति ई गताविति घाता कर्तरि क्त । उदीता उद्गता कण्टका स्वावयवसूचय एव कण्टका रामाख्या यस्यास्तामिति दिङ्प्रत्ययम् ।

विषां द्रुमाञ्छे रोमाञ्छे सुदृशत्री च ऋष्टके' इति वैदयन्ती । ऽन्येव  
स्तनी तादेव स्थान तत्र विदीपां रागी वस्यान्तीति रागि रक्तवर्णननुक्तञ्च  
यन्मिन् हृदि विद्यत् दीजनक्षान्त प्रविजेच्छुकात्पर्य शुक्लतुन्दनव स्मरस्य  
किमु पलायतुद्मन्नेवानुगो बापी वस्यास्ता दाहिनीनव विद्योगिनी  
विद्योगिनीनव अपश्यत् । रूपकालङ्कार । वि पक्षी उद्योगिनीमिति च  
गम्यते ॥ ८३ ॥

अन्वय—जसो विद्योगिनी प्रियन्तुते स्पष्टम् उदीतकष्टका फलस्तनस्थान-  
विदीपांगिहृदिमच्छुकास्यस्मरकिमुकापुमा दाहिनीम् ऐश्वर ।

हिन्दी—इस नल ने प्रिय को स्मृति से स्पष्ट रोमान्चित होती जिसके  
अन्तर के फलों के तुल्य स्तनम्पटी के मध्य ( विरह से ) विदीपां अनुरागी  
हृदय में मोटे की चोंच के समान काम के वाप प्रविष्ट हो रहे थे, ऐसी विरहिनी  
के, अथवा परमात्म-छायात्कार रूप फल की बोधक तुरीयावस्था से विदीपां  
अर्थात् श्रुत ( तुरीयावस्था को ज्ञात ) अथवा विषयवाचना में शानुपग  
जिसके हृदय से सुन्दर मुनि ( व्यासतुल्य ) के उपदेश प्रविष्ट हो रहे होने के  
कारण कामवाग निकालकर उके जा रहे थे, ऐसी विषयपराङ्मुख, परम-  
प्रेमानन्द मन्त्रिदानदयन परमेश्वर की स्मृति अर्थात् निरन्तरध्यान करने से  
शीन परमात्मनाति की सम्भावना से बात हृय के कारण स्पष्ट जो रोमा-  
न्चित हो रही थी उस विनोदिनी अर्थात् अद्या यो की साधिका या विधिष्ट  
योगिनी के समान 'वि' जर्थात् पक्षियों से मुक्त, प्रियस्मृति अर्थात् दोहर प्राप्ति  
के कारण, जिसमें स्पष्ट नोक शीखने लगी थी और जिसके फल रूप स्तनों  
के स्पलम्पान पर फट जाने से पक्षों की लालिमा स्पष्ट हो रही थी, जिसमें  
तोड़ों की चाब रूप काम के पलाय-वाग प्रविष्ट हो रहे थे, ऐसी दाहिनी  
( अन्तर के पेठ ) को देखा ।

टिप्पणी—वन में एक जाने के कारण जिसके फट गये पक्षों के बीच तोड़े  
चोंच मार रहे थे, ऐसी दाहिनी की तुलना एक विरहिनी अथवा योगिनी से  
की गयी है । मत्स्यनाथ ने इसमें एक अलङ्कार माना है विद्याधर ने अनुप्रास-  
रूपक-उत्प्रेसा का उकर । चन्द्रकाशकार के अनुसार यहाँ स्तिष्टकदेशविदिति  
रूपकालङ्कार है ॥८३॥



स्मराद्ध्वंचन्द्रे पुनिमे कशीयसा स्फुटे पलासेऽध्वजुषाम्पलाशनात् ।

स वृन्तमात्रोक्तं सण्डमन्वितं वियोगिहृत्खण्डिनि कालखण्डजम् ॥८४॥

जीवानु—स्मराद्ध्वंचि । नल स्मरस्य योऽद्ध्वंचन्द्र अद्ध्वंचन्द्राकार इषु-  
स्तन्निभे तत्तद्गुणे नित्यममासत्वादस्वपदविग्रह, अत आहामर—‘स्युत्तरपदे  
स्वमो । निभसट्काशनीकाशप्रतीकाशोपमादयः’ इति । वियोगिना हृत्खण्डिनि  
हृदयवेधनि कशीयसा कुशतराणामध्वजुषामध्वगामिनाम् पलाशनात्  
मामन्धणात् पत्राणे पलमश्नातीति व्युत्पत्त्या पलाशमज्ञाभाजि किणुक-  
कलिकायामित्यर्थः । अन्वितं सम्पृद्धं वृन्तं प्रसववधनं तदयं कालखण्डज  
खण्डं यद्वत्खण्डमिति व्यस्तरूपकम् । आलोकितं आलोकितवान् । ‘कालखण्ड-  
यकृत्समे’ इत्यमरः । तच्च दक्षिणपाञ्चस्य, कृष्णवर्णो मासखण्डविशेषः ॥८४॥

अन्वयः—स स्मराद्ध्वंचन्द्रेपुनिमे वियोगिहृत्खण्डिनि कशीयसाम् अध्वजुषा  
पलाशनात् स्फुटं पलाशे अन्वितं वृन्तं कालखण्डजं सण्डम् ( इव ) आलोकितं ।

हिन्दो—उसने काय के अद्ध्वंचन्द्राण के तुल्य विरहिजनो के हृदय-विदारक  
अत्यंत कुश ( कुवैल ) राहगीरो ( पथिको ) के पल ( मास ) को छानने से  
स्पष्टतः ‘पलाश’ नाम को सार्थक करते ( पल मासम् अश्नातीति पलाश )  
पलाश में लगे कृष्णवर्णं प्रसववधन ( कली के निम्नभाग में लगा बाला सोल )  
को ( पथिको के ) कालखण्ड से जात खंड ( कलेजे के टुकड़े ) के समान बता ।

टिप्पणी—अवि ने पत्राण की लाल कली में वियोगी पथिका के ‘पलाश’  
( मासाशो ) द्वारा गाये गये कलेजे के टुकड़े की कल्पना की है । कली के नीचे  
के भाग में जो ऊबरी धोल रा बाला पत्ता जमा लगा रह गया है, वह उस  
छाये गये मास के सूख जाने के कारण है । नाशयण पंडित ने यही सूक्ष्मेदृशा  
का निर्देश किया है, चन्द्रकलाकार ने उपमा-प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के पकर का  
और विधापर ने रूपक और उत्प्रेक्षा का ॥८४॥

नवा लता गन्धवहेन चुम्बिता करम्बिताङ्गी मकरन्दशोकरे ।

दृशा नृपेण स्मिनशीनिटुड्मत्रा दरादराम्या दरकम्पिनि पथे ॥ ८५ ॥

जीवानु—नवेति । गन्धवहेन वायुना चुम्बिता स्पृष्टा अथवा अनुलिप्तं  
पुमा वीक्षिता भवरन्शोकरं पुष्परसवर्णं करम्बिताङ्गीश्यामिश्रितरूपा

अन्यत्र स्विन्नाङ्गीति च गम्यते । स्मितशोभिन् विवासरम्या कुङ्कुमा-  
मुकुला रदनारच यस्यात्ता मन्दहासमधुरदन्तमुकुला च गम्यते । दरकम्पिनी  
बामुष्पशादीपत्वम्पिनी सात्त्विकवेषधूमती च नदा रत्ना बल्ली तन्मदुशी  
कान्ता च गम्यते । नृपेण कर्त्ता दृष्टा करणेन दरादराभ्या भयवृणाम्बाभुप-  
क्षिनेन सता पपे अवेशिता गाढ दृष्टा इत्यर्थः । उर्हीषकरत्वात् दरा प्रिया-  
सादृशमाशवरद्वय । 'दरोऽस्त्री शङ्खनीगर्तप्लवसार्ये त्वय्ययम्' इति वैजयन्ती ।  
अत्र प्रस्तुतविशेषणनाम्नादप्रस्तुतनामिकाप्रतीति समासोक्तिरलङ्कार । 'विशेष-  
णस्य शौन्येन यत्र प्रस्तुतवर्णनात् । अप्रस्तुतस्य गम्यत्वे सा समासोक्तिरिष्यत'  
इति लक्षणान् ॥ ८५ ॥

अन्वय — गन्धवहेन चुम्बिता मकरन्दशीकरैः करम्बिताङ्गी स्मितशोभिन्कु-  
ङ्कुमला दरकम्पिनि नया रत्ना नृपेण दरादराभ्या दृष्टा पपे ।

हिन्दी — सुगन्धिद्रव्य लगाये नायक के तुल्य गन्धवह ( सुगन्धि समीर )  
द्वारा चुम्बी जाती, दुःखस्पर्श से उत्पन्न स्वेद के समान दुःख-रस-क्षणों से  
दुःख्त बगों वाली ( सस्वेदा ), मुसकान के कारण स्पष्ट होती सुन्दर दत्तावली  
हि दुःख क्षिन्नी मनोहर कल्पायों से सम्पन्न, सात्त्विक रूप के सहस्र बामु से  
धीरे-धीरे हिलती नवीना मन्दरी के समान नयी रत्ना को राजा ने दर ( दर )  
और आदर के साथ देखा ।

टिप्पणी—यहाँ बल्ली को उस ठीकी के तुल्य माना गया है, जो 'नवा-  
रत्ना'—नयी रत्ना के समान होती है ही, उसमें 'न विद्यते बालता ( जिसमें बच-  
पन छेप नहीं रहा ) यस्या'—तद्वती भी है । रत्ना को खूमेरवाला गन्धवह  
समीरण 'नवा'—शग-गन्धवह भी ( बालतागन्धस्य यह लेश' अवि यस्मिन् न  
विद्यते )—जिसमें नाम को भी बचपन नहीं रह गया है—तद्वती है, वह चन्दन,  
कस्तूरी आदि की सुगन्ध लगाये शौकीन टैला भी है । राजा ने उस समीररत्ना  
के मिलन को कुतूहलजन्य आदर के साथ देखा, स्वयम् विरही-विद्युत् होने के  
कारण वह मिलन उसे असह्य लगा । यह दर ( दर ) का कारण हुआ ।  
दृष्ट विरोध, स्त्रिय और कार्य की समानता के आधार पर रत्ना में अप्र-  
स्तुत नामिका प्रतीति के कारण समासोक्ति ॥ ८५ ॥

विचिन्वती पान्यपतङ्गहिंसनैरपुण्यकर्माण्यलिकज्जलच्छलान् ।

व्यलोकयच्चम्पककोरकावली स शम्बरारेवलिदीपिका इव ॥८६॥

जीवातु—विचिन्वतीरिति । पन्थान गच्छन्ति नित्यमिति पान्या-  
नित्यपयिका, 'पयोऽण् नित्यमि'त्यण्प्रत्यय पन्थादेशश्च । स एव पतङ्गा  
पक्षिण 'पतङ्ग पक्षिमूर्खयो' इत्यमर । तेषां हिंसनं यद्यपि अपुण्यकर्माण्येव  
अल्प कज्जलानीचेत्पुपमिनममास । तेषां छलादित्यपह्ण्वालङ्कार ।  
विचिन्वती सगृह्णती हिंसापापकारिणीरित्यर्थः । चम्पककोरकावली  
शम्बरारेमनसिजस्य बलिदीपिका, पूजादीपिका इवेत्युत्प्रेक्षा, स न नो  
व्यलोकयतु ॥ ८६ ॥

अन्वयः—स अलिकज्जलच्छलात् पान्यपतङ्गहिंसनैः अपुण्यकर्माणि विचि-  
न्वती शम्बरारे बलिदीपिका इव चम्पककोरकावली व्यलोकयतु ।

हिन्दी—उस ( राजा ) ने भ्रमर रूप काजल के व्याज से पक्षि रूपी  
पतंगों को जला मारने के पाप को इकट्ठा करती कामपूजा में प्रयुक्त की जाने  
वाली दीप बलिकाओं ( रामा ) की भाँति प्रतीत होती चम्पे की बलियों को  
देखा ।

टिप्पणी—एव मा यता यह है कि योंरा चम्पा पुण्य पर नहीं जाता, यदि  
जाता है तो मर जाता है । सो चम्पा के पुण्य पर आसक्त हो चिपके भँरे  
दीपिका में लगे काजल—वालोंव के तुल्य हैं, कृष्णवर्ण होने से जिसे अपुण्य-  
कर्म कहा गया है । चम्पक इतना यामोदीपक माना गया है कि जिसे देख  
बिरही मर जाते हैं । विद्याधर ने इसमें रूपक अपह्णुति और उपमा अलङ्कार  
का निर्देश किया है, मल्लिनाथ ने अपह्णुति और उत्प्रेक्षा का । चन्द्रकाशकार  
के अनुसार यहाँ कौनवापह्णुति उत्प्रेक्षा उपमा का अन्वयिभाव सकर है ॥८६॥

अमन्यतामो कुसुमेपुगर्भज परागमन्धङ्कुरण विद्योगिनाम् ।

स्मरेण मुक्तेषु पुरा पुरारये तदङ्गमस्मेव शरेषु सङ्गतम् ॥ ८७ ॥

जीवातु—अमन्यतेति । यत्तौ नर कुसुमायेव इष्य वामवाणास्तेषां  
गर्भज गर्भजात विद्योगिनामिति वर्मणि पठ्यौ । अथा त्रियन्तेऽनेनेत्य-  
अङ्क-  
रण 'मादृशमृग्ये'त्यादिना व्यर्थे स्युन्प्रत्यय, 'अद्विपदि'त्यादिना मुमा-

गम । त पराग पुरा पूर्वं पुरारये पुरहराय स्मरेण मुक्तेषु शरेषु सङ्गतं  
सञ्जत तस्य पुरारेरङ्गं यद्भस्म तदिवामन्यत इति उत्प्रेक्षितवानित्यर्थः । पुरा  
पुरारये ये मुक्तास्त एवैते पुरावर्तिनः कुमुमेष्व इत्यभिमानः, अन्येषां  
नदङ्गमस्ममङ्गोन्प्रेक्षानुत्थानादिति ॥ ८७ ॥

अन्वयः—असौ कुमुमेषुगर्भजं वियोगिनाम् अन्धध्वरण पराग पुरा स्मरेण  
पुरारये मुक्तेषु शरेषु सङ्गतं तदङ्ग-नम्य इव अमन्यत ।

हिन्दी—इसे ( नल को ) फूलों के भीतर का वियोगियों की अथा बना देने  
वाला पराग प्राचीन काल में काम द्वारा जिव पर छोड़े गये कुमुम बाणों  
पर छल गयी शिव के अग की नम के समान प्रतीत हुआ ।

टिप्पणी—आखों में नम पड़ जाने पर दिखाई नहीं देता, कुमुमपराग  
भी उद्दीपक और वियोगियों को अथा कर देनेवाला है । उत्प्रेक्षा और अन्दा-  
कार अनुप्रास ॥ ८७ ॥

पिकाद्वने शृण्वति भृङ्गदृङ्कुनैर्दशामुदञ्चत्करण वियोगिनाम् ।

अनास्यया सूनकरप्रसारिणी ददर्श दूनः स्थलपथिनी नल ॥ ८८ ॥

जौवानु—निकादिति । बने उपवने आंतरि पिकाद्वक्तु सकाशात्  
भृङ्गदृङ्कुनैर्वियोगिना दशामलिङ्गद्वारकृता दुःखावस्थामित्यर्थः । उदञ्चत्करणा  
निकञ्चद्वक्तुविशेषमुपलक्ष्य यथा तथा शृण्वति सति, 'कदास्तु रते वृक्षे  
हनाया कदा मर्ते'ति विश्वः । अनास्यया श्रोतुमनिच्छया सून प्रसूनमेव कर  
प्रसारयतीति प्रसारिणी पुष्परूपहस्तविस्तारिणी तथोक्तामनिष्टकया करेण  
वारयन्तीमिव स्थितामित्यर्थः । सूनकरेति प्रसारिणीमितिरूपकानुप्राणिता  
गम्योत्प्रेक्षेणम् । स्थलपथिनी नलं दूनं परितस्तं सन् दूरे वर्तते क्तः  
'त्वादिभ्यस्ते'ति निष्ठानत्वम् । ददर्श ॥ ८८ ॥

अन्वयः—दून नल, पिकात् भृङ्गदृङ्कुनैः वियोगिना दशाम् बने उदञ्च-  
त्करणा शृण्वति सूनकरप्रसारिणीं स्थलपथिनीम् अनास्यया ददर्श ।

हिन्दी—मल नल ने कोकिल और मोरों के गुजार से बिरहिजनो की

दशा को विकसित होते करुण वृक्षों से युक्त वन में करुणा से परिप्लावित हो सुनते पुष्प रूप कर फैलाये स्थलकमलिनो को अनिच्छापूर्वक देखा ।

टिप्पणी—वन में कोकिल कूजन था, भ्रमर-गुजार था, स्थल-पद्मिनी थी, जिस पर कमल खिले हुए थे । इन सब को देखकर 'विद्योमी जन फट पाते हैं । राजा की श्रवण में अनास्था का कारण है गानों स्थल-पद्मिनी का कमल कर फैला कर निषेध कि क्या किसी को करुणकथा—दुःख की गाथा सुनते हो ? यह निवारण कूजन, गुजार, खिले कमल—सब की अनित्यता का सूचक है, इससे प्रति अनास्था ही उचित है । करुणा ही उचित है । मल्लिनाथ के अनुसार रूपकानुप्राणित गम्योत्प्रेक्षा और विद्याधर के अनुसार समासोक्ति, रूपक और प्रतीयमानोत्प्रेक्षा, जिसे चन्द्रकलाकार ने सब का अपाणिभाव सकर कहा है ।

रसालमाल समदृश्यतामुना स्फुरद्द्विरेकारवरोपट्टुङ्कति ।

समीरलोलैर्मूकुलैर्वियोगिने जनाय दिस्सन्निव तज्जनामियम् ॥ ८९ ॥

जीवातु—रसालेति । अमुना नलेन स्फुरस्तो द्विरेफास्तेषामारवो भ्रमर-शङ्कार एव रोपेण या हुङ्कतिहुङ्कारो यस्य स समीरलोलैर्वायुचलैर्मूकुलै-रङ्गुलिभिरिति भाव । वियोगिने जनाय तज्जनामिय दिस्सन् दासुमिच्छन्निव स्थित, ददाते सन् प्रत्यय 'सनिमीमे'त्यादिना इगादेश, अथ लोपोऽभ्यासस्ये'त्यभ्यासलाप, 'सस्याघघातुव' इति सकारस्य तकार । रसालसालश्चूत-वृक्ष समदृश्यत सम्पद्यते । द्विरेफेत्यादिरूपकोत्थापितेय तज्जनामयजननोत्प्रेक्षेति सङ्कर ॥ ८९ ॥

अन्वय—अमुना स्फुरद्द्विरेकारवरोपट्टुङ्कति समीरलोलै मुकुलैः वियोगिने जनाय तज्जनामिय दिस्सन् इव रसालसालः समदृश्यत ।

हिंदी—उस ( राजा नल ) ने भ्रमरों के गुजाररूप श्रोत्र की हुंकारी से युक्त समीरण में डोहते गौर द्वारा वियोगियों को उड़ते-पमकाने-कराने की इच्छा करते जैसे आस्रवृक्ष को देखा ।

टिप्पणी—वियोगियों ने सताप देने वाले उद्दीपन बीराते आम का धर्जन मल्लिनाथ के अनुगार रूपक-उत्प्रेक्षा का सकर, विद्याधर के अनुसार अनुप्रास-उत्प्रेक्षा ।

दिने दिने त्व तनुरेषि रेऽधिक पुनः पुनर्मूर्च्छं च मृत्युमूर्च्छं च ।

इतोव पान्य शपतः पिकान् द्विजान् सखेदमैक्षिष्ट स लोहितेक्षणान् ॥ ९० ॥

जीवातु—दिने दिने इति । रे इति हीनसम्बोधने । त्व दिने दिने अधिक तनु एरि अधिक कृशो भव, अस्तेलोद् निप् 'दृक्षन्म्यो हेधिरि'ति धित्वम् 'ध्वसोरेद्धावन्मासलोपश्च' इति एत्वम्, पुनः पुनः मूर्च्छं च मृत्यु मरणमूर्च्छं च इति पान्य नित्यपयिकं दुःखं उपमानानिवृत्तिरिति प्रसा, लोहित-क्षणान् रक्तदृष्टीन् एवम् अन्तर्गतोऽयम् अन्तर्लक्ष्य इति पिकान् कोकिलान् द्विजान् पक्षिणः ब्राह्मणेषु स नृत् सखेदमैक्षिष्ट । स्वस्यापि उत्तमद्वयेति भावः ॥ ९० ॥

अन्वय — रे, त्व दिने दिने अधिक तनुः एषि, पुनः पुनः मूर्च्छं च, मृत्युमूर्च्छं च—इति स पान्य शपत इव लोहितेक्षणान् (द्विजान् इव) विशोः द्विजान् सखेद ददयं ।

हिन्दो—अरे, तू दिन दिन और अधिक दुबल हो, बार-बार मूर्च्छित और मृत्यु को प्राप्त हो,—इस प्रकार राही को धाप देते लाल आँखे किये ब्राह्मणों के सुल्य कोकिलबिहगों को उस ( यश ) ने खेदसहित देखा ।

टिप्पणी—कोकिल की आँखें तो लाल हैं होती हैं, इन्हीं के आजार पर उनके शोभी ब्राह्मणसम होने की अनुना की गयी है, जो पास होकर व ने वाले को नी यों ही निष्कारण कोसता है । ऐसे लोगो को देखकर खेद होना स्वाभाविक है । कोकिला शब्द को सुनकर विपरीत परदेशी पयिक मनुष्य और मूर्च्छित होते हैं । 'द्विज' शब्द के सिद्ध प्रयोग के कारण उपमा व्यङ्ग्य है ।

अलिप्तजा कुडमल्लमुच्छशेखर निषीय चाम्पेयमधोरया दृशा ।

स घूमकेतु विपदे विनोगिनामुदीनमानद्धितवानसद्धत ॥ ९१ ॥

जीवानु—अलिप्तजेति । अलिप्तजा भ्रमरपक्ष्या उच्चशेखरमुन्नतशिरो-नूपाम् अलिमलिनाङ्गमित्यर्थः । 'शिखास्वापीडशेखरावि'त्यमरः । चाम्पेय चम्पकविकार कुडमम् 'अय चाम्पेय चम्पको हेममुण्डक' इत्यमरः । नन्वयुक्त-मिद 'न पट्पदो गन्धफलोमजिघ्रसि'त्यादावलोना चम्पकस्यसामानावप्रनिदेरिति चेत् नैव किन्तु रुद्रप्रेतत्वावर्तव्यमप्यशोक्तिः क्वचित् केपाचित् उक्तपरिहारः

अथवा चाम्पेय नागकेसर 'चाम्पेय केसरो नागकेसर काञ्चनाह्वय' इत्यमर । अधीरया दृशा निपीय विवर्णवदृष्ट्या गाढ दृष्टा आशङ्कितवान् किञ्चिदनिष्ट-  
मुत्प्रेक्षितवान् । स नल 'अनिष्टाभ्यागमोत्प्रेक्षा शङ्कामाचक्षते बुधा' इति  
लक्षणात् । विमोगिना विपदे उदीतमुत्थित धूमकेतुमशङ्कत अतर्क्यदित्यु-  
त्प्रेक्षा लङ्कार ॥ ९१ ॥

अन्वय — प्रजित्वा उच्चैर्मुखं चाम्पेय कुङ्कुमलम् अधीरया दृष्टा निपीय  
आशङ्कितवान् स विमोगिना विपदे उदीत धूमकेतुम् अशङ्कत ।

हिन्दी—भ्रमरमाल में जिसका शिरोधाम उन्नत हो रहा था, ऐसी चमत्-  
की कली को अधीर दृष्टि से देखकर आतन्त्रि उम ( नल ) ने विमोगियों  
के विनाशाय उदित धूमकेतु की आशंका की ।

टिप्पणी—लक्ष्मी चोटी के समान जिसपर भ्रमरावली लिपटी है, उस चपा-  
की कली में विनाशकारी धूमकेतु की आशंका यह चोखिन करती है कि बिर-  
हिजनो को, उसका देखना असह्य है । भौरा प्राणधानी होने से चक्रपुण्य  
पर नहीं जाता—इस माग्यता को ध्यान में रखते हुए मल्लिनाथ 'चाम्पेय-  
कुङ्कुमल' का अर्थ 'नागकेसर' किया है, जो पीले रंग का फूल होता है ।  
उत्प्रेक्षा लङ्कार ॥ ९१ ॥

गलतराग भ्रमिभङ्गिभि पतत् प्रसक्तभृङ्गावलि नागकेसरम् ।

स मारनाराचनिघर्षणस्तलज्ज्वलत्कण क्षाणमिव व्यलोकयत् ॥ ९२ ॥

जीयानु—गलदिति । स नरो गलतराग निघर्षक भ्रमिभङ्गिभि  
भ्रमणप्रकारैरुपलक्षित पतद् भ्रश्यत् प्रसक्तभृङ्गावलि मरुनालिकुल नागकेसर  
पुष्पमविशेष मारनाराचनिघर्षणै स्मरघरकणै स्तल-तः सुष्ठु ज्वलन्तश्च  
वर्णा स्फुलिङ्गा यस्य त क्षाण निवपोत्पलमिवेत्युत्प्रेक्षा व्यलोकयत्, 'क्षाणस्तु  
निवप वप' इत्यमर ॥ ९२ ॥

अन्वय — स गलतराग भ्रमिभङ्गिभि पतत्प्रसक्तभृङ्गावलि नागकेसर  
मारनाराचनिघर्षणस्तलज्ज्वलत्कण क्षाणम् इव व्यलोकयत् ।

हिन्दी—उस ( राजा ) ने त्रिशूल पराग सह रहा था और जिसपर

मँडरा-मँडरा कर गिरती नौरों की पक्ति मसकत थी, उस भागवेसर पुष्प को काम-बाणों की रगड़ से जिसमें चिनगारियाँ निकल रही हों, ऐसी सान (लोहे की बनी छुरी, चाकू, तलवार, बाग आदि रगड़कर छेद करने का यंत्र) के समान देखा ।

टिप्पणी—नागकेश्वर का पराग-सादृश फूल मालों काम-बाणों को पैदा करने का यंत्र है, उसको भारक पक्ति का सहायक । 'भार' शब्द का सार्थक प्रयोग । विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा और जानि अङ्कार, मल्लिनाथ ने ( और चन्द्रकलाकार ने भी ) केवल उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है ॥९२॥

तदङ्गमुद्दिश्य मुगन्धि पातुकाः शिलीमुखालीः कुनुमाद् गुणस्पृशः ।  
स्वचापदुर्निर्गन्तमार्गप्रमात् स्मर स्वनन्तीरवलोक्य लज्जित ॥ ९३ ॥

जीवातु—तदङ्गमिति । मुगन्धि घासनगन्ध 'गन्धस्त्वे'त्यादिना समा-  
धान्त इकार । तदङ्ग तस्य नल्ल्याङ्गमुद्दिश्य लक्ष्यीकृत्य गुणा गन्धादि-  
भौकी च, 'गुणस्वाकृतिशब्दादिभ्येन्द्रियामुच्यन्तुष्विति' वैजयन्ती । तन्स्पृश-  
स्तद्युक्ता 'स्पृशोऽनुद्वे किन्' कुनुमादपादानात् पातुका धावन्ती, 'रूपपते'  
त्यादिना उपनृप्रत्यय । स्वनन्तीर्ध्वनन्ती शिलीमुखाली जलिपक्की बाण-  
पक्कीश्चावलोक्य स्मर स्वचापात् पीम्नाद् दुर्निर्गन्ता विषमनिर्गता ये मार्गा  
बाणान्मद्भ्रमाद्धेनोर्लज्जितोऽनवत् न्यूनमिति शेष । दुर्निर्गतेष्वो ह्यधिक  
स्वनन्तीति प्रसिद्धे । जत्र स्वनच्छिन्नीमुखेषु दुर्निर्गन्तमार्गप्रमाद् भ्रांतिमद-  
लङ्कारः, न च शिलीमुनेति शेषानुप्रासिनादुत्पापिता चेष स्मरस्य लज्जित-  
त्वोन्नेक्षेयनयोरङ्गाङ्गिनावेन सङ्कर ॥ ९३ ॥

अन्वय—मुगन्धि तदङ्गम् उद्दिश्य गुणस्पृशः कुनुमात् पातुका स्वनन्ती  
शिलीमुखाली अवलोक्य स्वचापदुर्निर्गन्तमार्गप्रमात् स्मर लज्जित ।

हिन्दी—मुगन्धयुक्त नल के जगों की दिशा में मुगन्ध गुण को धारण-  
करते पुन से उटकर जाती ( अथवा 'गुणस्पृशः कुनुमात् मुगन्धि तदङ्गम्  
उद्दिश्य पातुका '—अन्वय करते 'मुगन्धित फूल से भी अधिक सुगन्धयुक्त नल के  
अगों की ओर उठी जाती ) मनचलाओं भ्रमरावलि को देखकर उसे कुनुनयु  
के गुण जगत् प्रगल्भा से उठी मद करनी शिलीमुख अर्थात् बाणों की माला



समस्त अपने धनुष से दुर्निगत अर्थात् लक्ष्य से भटके बाण की भ्रांति के कारण कामदेव लजा गया ।

टिप्पणी—हृदयघ्नता के कारण काम का ध्रम में पड़ लज्जित होता,—  
इस आधार पर भ्रांति और श्लेषानुप्राणिता उत्प्रेक्षा का संकर ॥९३॥

मरुत्पलपल्लवकण्टके क्षत समुच्चरच्चन्दनमारसौरभम् ।

स वारनारीकुचसञ्चितोपम ददश मालूरफल पचेलिमम् ॥ ९४ ॥

जीवातु—महदिति । मरुता वायुना ललपल्लवानाञ्चलत्कितलयात्र  
कण्टकैस्तीक्ष्णार्प्रवयवै क्षतमग्न्यत्र विलसद्विटनर्क्ष क्षतमिति गम्यते, समु-  
च्चरत् परितः प्रसपत् चन्दनसारस्येव सौरभ यस्य सत् अतएव वारनारीकुचेन  
वैश्यास्तनेन सञ्चितोपम सम्पादितसाध्यमित्युपमालङ्कार । 'वारस्त्री गणिका  
वैश्ये'त्यमर । कुलाङ्गनानखसताघनीचिरयाद्वारविशेषण, पचेलिम स्वतः  
पक्व कमकर्त्तरि 'केलिमर उपसम्भ्यानिमिति पचे केलिमरूपस्य । मालूरफल  
विल्वफल 'विल्वे घाण्डित्यशीलूपो मालूर धीफलावपी'त्यमरः । स नलो  
ददर्श ॥ ९४ ॥

अन्वय —स मरुत्पलपल्लवकण्टके क्षत समुच्चरच्चन्दनसारसौरभ वार-  
नारीकुचसञ्चितोपम पचेलिम मालूरफल ददर्श ।

हिन्दी—उस ( मरु ) ने वायु से झूमते पल्लवों और काँटों से कटे-फटे,  
चन्दन गन्ध से भी श्रेष्ठ सुगन्ध छलकाते, ( अतएव ) महत् देव के समान पल्लव  
घपात् बिलासी बिट के काटा के समान तीक्ष्ण नखों (अथवा बिलासी के पल्लव-  
सम हाथ के काँटे अर्थात् नखों ) के क्षत-चिह्न से युक्त, चन्दन, कपूर आदि की  
सुगन्ध छलकाते वाराणसी के कुच का सादृश्य अर्जित करनेवाले पके विल्वफल  
को देखा ।

टिप्पणी—त्रिविकल व । 'वारनारीकुचसञ्चितोपम' इस आशय से कहा  
गया कि कुलनारी व नख खाना का प्रासङ्ग्य उचित नहीं होता । उपमा अलङ्कार ।

युवद्वयोचितनिमज्जनोचितप्रमूननूयैतरगर्मगह्वरम् ।

स्मरेपुष्पोदृश्य घिया मियाप्रघया स पाटलाया स्तवक प्रकम्पित ॥ ९५ ॥

जीवातु—सुवेति । सुवा च सुवती च नरोऽनोद्वंसी मिथुन तस्याश्रितयो  
 वनंपोनिमज्जने प्यन्तान्नुट् उचिर्न क्षमं प्रहृन्तं पुष्पदापं मूयेतरदक्षान्य  
 पूर्णं तन्नाह्वर तन्नेह्वर मय्य तत् पाटलाया पाटलवृक्षस्य मन्त्रक कुमुम-  
 गुच्छमिदमन्धया नयमूढया विना मन्त्रवन्ध्यान्मन्त्रेण्ययं । मन्त्रेपुत्रीकृत्य  
 कामनुनीकृत्य तथा विभ्रम्य द्रव्यं, अथ एव मयात् प्रकम्पितदक्षकम् । अत्र  
 पाटलस्तदके मदनन्तोरभ्रमात् आन्तिनदत्तकार । 'कविप्रमत्तसादृश्याद्विषये  
 विहितात्मनि । आरोप्यनाणानुभवो न स आन्तिमान्मतः ॥' इति लज्जात् ॥

अन्वय — सुवदयो विनमिमज्जनां विनम्रमनसून्तरानाह्वर पाटलाया  
 मन्त्रक निदान्यया विना मन्त्रेपुत्रीकृत्य न प्रकम्पित ।

हिन्दी—तदप-तदानी के विषे चित्तों के मध्य डूब जाने योग्य पूर्णों से  
 जिसका भीतरी भाग परिपूर्ण है, ऐसे पाटल के गुच्छ में नय से अथी बुद्धि  
 ( विवेकहीनता ) के कारण कामवालों की आति में वह भरित होने लगा ।

टिप्पणी—राधा ने समझा कि यह पाटलस्तबक नष्ट बागों से परिपूर्ण  
 काम का तूफान है । उद्घोषन । मल्लिनाथ ने यहाँ आतिमान् बन्कार का  
 निर्देश किया है, विद्याधर ने रूपक और अनुप्रास का ॥९५॥

मुनिद्रुम कोरकित शिनिद्युतिवनिष्मुनाऽमन्यत सिद्धिबामुत् ।

तमिन्नपक्षश्रुटिकूटमक्षित कलाकलाप विल वैधव वमत् ॥ ९६ ॥

जीवातु—मुनीनि । अमुना नलेन बने कोरकित मुञ्जातन्त्रोरक शिति-  
 द्युति पत्रेषु कृष्णच्छवि मुनिद्रुमोऽगल्मवृक्ष तमिन्नपक्षे श्रुटिकूटेन क्षयप्याजेन  
 मक्षितम् मक्षितत्वे कृत क्षय ? इति नाव । अत्र कूटशब्देन क्षयोपह्वरेन  
 मक्षणात्पादपह्ववभेदः । वैधव च द्रुमवन्धि 'विषु मन्त्राणु शुभामुरि'  
 त्पमर । कलाकलापइकलामनह वमनुदिशरन् निहिबामुतो राहुरमन्यत  
 विल वनु ? अत्र कोरकितशितद्युतित्वाभ्या मुनिद्रुमहेन्दुकलाकलापवसन-  
 विशिष्टराहृत्योत्प्रेक्षा, सा चोक्तापह्ववोन्मापितेति सूङ्कर ॥ ९६ ॥

अन्वय — बने कोरकित शितिद्युति मुनिद्रुम अनेन तमिन्नपक्षश्रुटिकूट-  
 मक्षित वैधव कलाकलाप वमन् सिद्धिबामुत्, अमन्यत किम् ।

हिन्दी—वन में ( शुभ्र ) कलियों से युक्त काले रंग के अमरत्य वृक्ष को राजा ने काले पाख में हुए चन्द्रकला दण्ड के कूट ( व्याज, मिस ) से छाये विष्णु ( चद्र ) की मन्त्राओं का वमन करता सिंहिकापुत्र राहु समझा ।

टिप्पणी—अमरत्य वृक्ष के पत्ते काले होते हैं, परन्तु कलियाँ उज्ज्वल शुभ्र, इसी कारण वृक्ष में राहु की ओर कलियों में चन्द्रकलाओं की समावना की गयी है । राजा के मन में अमरत्यवृक्ष को देखकर डर सा लगा उसे कुछ पह राहु समझकर । 'प्रकाश'-कार ने सिंहिका-पुत्र का अर्थ सिंहिनी का आया सिंह करके यह भी कल्पना की है कि वन में छाये गये किसी खगोला आदि शुभ्र पशु को उमलता यह सिंह है, जिसे देख राजा को डर लगा । वस्तुतः विरही राजा को अमरत्यवृक्ष कष्टदायक लग रहा था । यह भी माना जा सकता है कि अमरत्यवृक्ष को राहु रूप में देख राजा कुछ हुआ कि अब विपयोगियों को सतप्त करनेवाला चद्रमा तो राहु के डर से सताने को नहीं रहेगा, पर जब उसने देखा कि छाये चद्र का राहु उमल रहा है, तो पुनः चद्र-मय राजा की हो गया । मल्लिनाथ ने इस पद्य में उत्प्रेक्षा-अपह्नुति के संकेत का निर्देश किया है, विद्याधर ने उत्प्रेक्षारूपक-अपह्नुति-इत्येव के संकेत का ।

पुरोहठाक्षिप्ततुषारपाण्डरच्छदा वृतेर्भीरुधि नदविभ्रमा ।

मिलनिमील विदधुर्विलोकिता नमस्वतस्त कुसुमेषु केलय ॥ ९७ ॥

जीवातु—पुर इति । पुरोऽप्ये हठात् क्षटित्वाक्षिता आवृष्टा तुषारेण हिमेन पाण्डराणां छदाना पत्राणां तुषारवत् पाण्डरस्य च्छदस्याच्छादकस्य वल्लस्य वाक्चित्रावरण येन तस्य नमस्वतो वायो भीरुधि रताया नद्धा अनुबद्धा विभ्रमा भ्रमणानि विलासादय यासान्ता कुसुमेषु विषये केलय कीडा कुसुमेषु केलय कामझीडास्य विलोकिता सत्यस्त नृर नल मिलनिमीलो मिलन यस्य त विदधुः निमीलितस्य च्छरित्यर्थः । विरहिणामुद्दीपनदर्शनस्य दुःसहदुःखहेतुत्वात् अयत्र ( 'नेक्षेतावर्कं न नग्ना स्त्री न च सस्पृष्टमेषुनामि'ति निषेधादिति भावः । ) अत्र प्रस्तुतनमस्वद्विरोधणसामर्थ्यादप्रस्तुतवामुनविरह-प्रतीते समामोचितरलङ्कारः ॥ ९७ ॥

अन्वय—पुर ( पुरा ) हठाक्षिप्ततुषारपाण्डरच्छदा वृते नमस्वत भीरुधि नदविभ्रमा कुसुमेषु केलय त मिलनिमील विदधुः ।

हिन्दी—यम्मुष ( पहिले ) बलान् तुषा ने पाहु टुए पत्ते रूप आवरा  
( बम्भ ) की सोचने वाले बायु की रता से सम्बन्ध रखनेवाले हिन्ने-होने का  
विनाश से मुक्त पूर्वो के साथ जोड़ा देव राजा ने आँखें मूंद लीं ।

टिप्पणी—‘नडविन्नमा’ का ‘वि’ अर्थात् पक्षियों के भ्रम अर्थात् इधर-  
उधर उड़ते रहने का अर्थ किया जाता है । बायु नायक है और बौद्ध-रता  
नायिका, जिसका पत्र रूप बम्भ नायक बलान् उठा रहा है, इस समीप दृश्य  
को न देखने की इच्छा के लिये अथवा विरह के कारण राजा ने आँखें मूंद  
ली । दाहवन्ध का भी इन विषय में नियम है कि नम्र अथवा रतिहीन में  
सल्लस नापी को देवता उचित नहीं है । समाप्ति स्वरूप ।

गता यदुन्मङ्गतले विनालना द्रुमा शिरोभि फल्गोरवेण ताम् ।

कथं न धात्रीमन्निमात्रनाम्निं. स वन्दमानानभिनन्दतिस्म तान् ? ॥९८॥

जीवानु—गता इति । द्रुमा यस्या धान्या उन्मङ्गतले उपरि देये च  
विनालता विबुद्धि गता ता धात्रीमनुबन्ध उपमातर दा ‘धात्री जनन्यामलङ्की  
वमुमभ्युपमातृष्वि’ति विन्ध । ‘धा वनंति पृथ्वि’ति दधाते पृथुप्रत्यय ।  
फल्गोरवेण फल्गुरेण मुहूर्ताविशेषेण च हेतुना अतिमात्र नामितं , प्रह्लादितं  
नमोमिन्विविक्त्वाद्भ्रन्वामाव । शिरोनिरा उत्तमाङ्गैश्च वन्दमानान् स्पृष्टा-  
ऽभिवाद्यमानाश्च तान् प्रकृतान् द्रुमान् अथ एव यच्छब्दानपेक्षी स नल् कथं  
नाभिनन्दति स्म जनिनन्दैर्यर्थः । वृक्षाणा क्षेत्रानुरूपफलस्य सम्पत्तिम-  
पस्याना च मातृमण्डित्त को नाम नाभिनन्दतीति भावः । अत्रापि विद्येया-  
सानध्यात् पुत्रदतीते समाप्तोक्तिस्वरूपः ॥ ९८ ॥

जन्म—स यदुन्मङ्गतले द्रुमा विनालना गता फल्गोरवेण अतिमात्र-  
नाम्निं शिरोभि ता धात्री वन्दमानान् तान् कथं न अभिनन्दतिस्म ?

हिन्दी—उह राजा जिसकी नेद में पत्कर वृक्ष बटे हुए, फल्गुर में  
अतिमात्र मात्र शिरो करके ( शिरो नुमा ) उस धरती धान्य करने-हारी धान्य-  
माँ ( धरती ) की उदना का उन्मङ्गा का अभिनन्दन क्यों न करता ?  
( अथवा यद् अन् भी कि राजा ने ( विरही होने के कारण कुछ भी मन  
न प्रतीत होने के ) अभिनन्दनाय वृक्षा का भी अभिनन्दन नहीं किया । )

टिप्पणी—कर्तव्य करने वालों का सभी अभिनन्दन करते हैं, सो राजा ने बदना करते वृक्षों की प्रशंसा की, अथवा वियोग में राजा को कुछ भी—फल, फूल, वृक्ष, लता—मिला नहीं लगता था, अतः उसने कर्तव्य पालक वृक्षों की भी उपेक्षा कर दी। समासोक्ति ॥९८॥

नृपाय तस्मै हिमिन् वनानिलैः सुधीकृतं पुष्परसेरहमंह ।

विनिर्मितं केतकरेणुभिः सितं वियोगिनेऽद्यत्तं न कीमुदी मुदः ॥९९॥

जीवानु—अत्रातपस्य चन्द्रिकान्वनिरूपणाय तद्वर्मान् सम्पादयति—नृपा-  
येति । वनानिलैः उद्यानवातैः हिम शीतलं कृतं हिमिन्, तत्करोतेर्ष्यं ताव  
वर्मणि वत । पुष्परम्वनवातानीतं मकरन्दं सुधीकृतममृतीकृतं तथा केतकरे-  
णुभिः सितं विनिर्मितं सुधीकृतम् अहो महस्तेजः अहमंह आतप 'रो  
मुदी'ति रूपादेशः । तदेव कीमुदीति व्यस्तरूपकं वियोगिने तस्मै नृपाय मुद  
पमोदान् नाभस्त न कृतवती, प्रयुतोदीपिकंवाभूदिति भावः ॥ ९९ ॥

अन्वय—वनानिलैः हिमिन् पुष्परसैः सुधीकृतं केतकरेणुभिः सितं विनिर्मितम्  
अहमंह तस्मै वियोगिने नृपाय कीमुदी मुद न अभवत् ।

हिन्दी—जानन समोरण से अतिशीतल, फूलों के रस द्वारा अमृत तुल्य  
भीर केतक-पराग-वणों से युक्त बनाया गया ( अतएव संज्ञा प्रकार से सुल  
दायक बनाया गया ) भी दिन का प्रकाश उस विरही राजा को चाँदनी—जैसा  
सुन न दे पाया ।

टिप्पणी—सावध बन करने के सभी उपाय विरही राजा को व्यर्थ लगते  
ए । 'तस्मै वियोगिने नृपाय वनानिलैः' नृपाय मुद अर्थात्, कीमुदी न', इस  
प्रकार अवयव करके यह अर्थ भी किया जाता है कि दिन के प्रकाश ने ही  
राजा को मोद दिया, चाँदनी ने नहीं, क्योंकि बिहजिनो को चाँदनी रोदा-  
दाभिनी मानी जाती है । 'मुद न अभवत् ? अपिमु अद्यत्त एव'—इस प्रकार  
बाहुव्रीहि मात्सर यह अर्थ भी किया जाता है कि क्या सुखदायक यने  
दिन के प्रकाश ने चाँदनी जैसा मोद नहीं दिया, अपिमु दिया । 'कीमुदी' के  
समान 'अहमंह' को मानने पर उपमा अथवा रूपक अलंकार । वनानिल

इत्यादि ने सुखदायक बना होने पर भी 'अहर्नह' मोद जो न दे सका—इस  
सर्ग में काग्य होने पर भी कार्य की अनुपत्ति निम्न विशेषोक्ति है, विदाघर  
ने ऐसा ही माना है ॥९२॥

त्रियोगनाजोऽपि नृस्य पश्यता तदेव नाशादमृतामृमाननम् ।

निकेन रोषादावश्रुता मुहुः कुह्नाञ्जहूयत चन्द्रवैरिणी ॥ १०० ॥

जीवानु—विद्योगेति । त्रियोगनाजोऽपि त्रियोगिनोऽपि नृस्य तद्वाननमेव  
नाशादमृताम् प्रपश्यन् च पश्यता अत एव रोषादकारि चन्द्रता न अहर्नह  
क्रोधादिवारणावश्रुता निजेन चन्द्रवैरिणी कुह्नाञ्जहूयत एव कुह्नाञ्जहूयकत्वा  
अनावास्येति शिष्टरूपक, 'कुहः स्यात् क्रोधादिवारणपट्टेन्दुञ्जहूयोरपी'ति  
विश्व । मुहुराश्रयत आहूता किमिच्छन्तेषां पूर्वोक्तवृत्तवशापेक्षेति सूक्त ।  
अस्य चन्द्रस्तेनैव कुहुराह्वानीया स्यात्तत्कान्तिराहित्यसम्भवाश्रितेति भावः ॥

अन्वय—विद्योगनाज अपि नृस्य तत् आननम् एव साक्षात् पशुताम्  
पश्यता रोषादावश्रुता निकेन कुह्ना मुहुः चन्द्रवैरिणी आहूयत ।

हिन्दी—विहरी भी राजा के न्य मुख को ही साक्षात् ( प्रत्यक्ष ) जन्तु  
दीर्घित चन्द्र के समान देखते क्रोध से अति शूल क्रिये क्रोडिल ने 'कुहू-कुहू'  
बोलकर बारम्बार चन्द्रमा की शत्रु 'कुहू' कर्मात् अनावस्था को पुकारा ।

टिप्पणी—विद्योग पीडित होने पर भी राजा का मुख रमणीय रहा,  
यह भाव है, बिसे देखकर विद्योगियों को दुःख देने वाले क्रोडिल ने क्रुद्ध हो  
चन्द्रवैरिणी अनावस्था को पुकारा । क्रोडिलव विद्योगी की पीडा को बसाता  
है । स्वर-उद्गेषा का सूक्त ॥१००॥

जगोक्तन्यान्वितनानतामना गताम् धरप्य गृह्णोविनोऽञ्जगान् ॥

अमन्यतावन्तनिवेय पल्लवैः प्रनीष्टकामज्वलदक्षजानकम् ॥ १०१ ॥

जीवानु—अशोकमिति । एष न पल्लवैः प्रनीष्टानि प्रतिहोतानि सच्छन्नानि  
कामन्य ज्वलदक्षापि तद्रूपकापि जलवानि लादकानि दाननुकुलपुच्छा येन  
न पल्लवसच्छन्नकुमुदरूपकामाश्रितित्वम् । अन्यथा तद्वर्णनादेव त्रिपेरग्निति  
भावः । जगोक्तनता एवाश्रितिनानता नाम्नि शोकोऽस्मिन्नित्यवयवज्ञा  
तमृदया आरुणा अस्मान्पयोक्तान् करिष्यतीत्यनिच्छादेन धरणे रक्षणे

साधु समर्थं शरण्यं मत्वेति वेषः । 'शरणं रक्षणे गृह' इति विश्वः । 'तत्र साधुरिति' यत्प्रत्ययः । आगतान् शरणागतानित्यर्थः । गृहान् दारान् शोचन्तीति गृहशोचिनः गृहानुद्दिश्य शोचन्त इत्ययम् । 'गृहं पत्न्या गृहे स्मृतं' इति विश्वः । अध्वगान् प्रोषितान् अवतमिव शरणागतरक्षणे महाफल-स्मरणादन्यथा महादोषस्मरणाच्च रक्षन्तमिवेत्यर्थः । अमयत ज्ञातवान् । अस्त्रभीरुणा तद्गोपामेव रक्षणाय इति भावः ॥ १०१ ॥

अन्वयः—एष पल्लवः, प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालकम् पशोकम् अर्थावित-नामताशया शरण्यं गतान् गृहशोचिनः अध्वगान् अवतम् इव अमग्यत ।

हिन्दी—उस ( राजा ) ने पल्लवरूप करों में काम के देवीप्यमान अस्त्ररूप नवकलिकाओं को ग्रहण किये अशोक वृक्ष को 'यह वृक्ष अपना 'अशोक' ( शोकरहित, शोकनाशक ) नाम साधक करेगा'—इस आशा से शरण गये घर के सोच में व्याकुल पथिकों की रक्षा करनेवाला जैसा माना । अथवा काम के आग्नेय अस्त्र पल्लव-करो में लिये शरण आये पथिकों की रक्षा करनेवाला जैसा माना ।

टिप्पणी—अशोक के रत्नवर्ण पत्रों की समता काम के देवीप्यमान आग्नेय अस्त्रों से की गयी है । कामोद्दीप्त करनेवाला अशोक उन विद्योपी पथिकों की, जो उसके 'अशोक' नाम से आकृष्ट हो उसकी शरण आये हैं काम से उनकी रक्षा के लिए अस्त्र लेकर सन्नद्ध हैं अथवा अवतम् का 'ध्यापादयत्तम्' अर्थ करने पर उनकी हत्या कर रहा है । दोनों ही सम्भावनाएँ हैं । अस्त्रपारी रक्षक भी हो सकता है, विनाशक भी, किन्तु विरहित्रय का पीडक होने में 'विनाशक'—पक्ष ही अधिक सार्थक प्रतीत होता है, जिसमें यह भाव निकलता है कि नल भी अशोक के पल्लव-कलिकाओं को देख और भी व्यथित हुए । 'गृहिणी गृह-मुच्यते'—इस न्याय से 'गृह' का अर्थ पत्नी मानकर 'गृहशोचिनः' का सात्वय 'प्रिया में शोच में डूबे समयना चाहिए । सापेक्षता उत्प्रेक्षा ।

विलासवार्पणः तद्वोचिवादनात् पिताग्निने निविलम्बमन्यायनात् ।

वनेऽपि तौम्यत्रिकमाग्राध तं यव भोगमाप्नोति न आग्न्यभाजनः ? ॥

जीवात्—विजानेति । विलासवापी विहारदीपिका तस्याग्नये दीचीनाः

वादनान्तरिकानामलीनाञ्च गीतेर्मानात् सिन्धुना मयूराणां रास्यलाघवात्  
नृत्यनन्दुमात् च वनेऽपि त नल तौर्यत्रिक नृत्यगीतवाद्यत्रय वक्तुं, आराराध  
वागधयामाम । तथा हि—नाग्यमाक् नायवान् जनः क्व भोग्यत इति  
भोग्यं नुत त नाप्नोति सर्वत्रैवाप्नोतीत्यर्थं । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽ-  
र्थान्तिगन्धाम ॥ १०२ ॥

अन्वयः--( नल ) विलासवापीसटवीचिवादनान् पिकादिगीते शिन्धि-  
लास्यलाघवान् वने अपि त तौर्यत्रिकम् आराराध, नाग्यमाक् जनः क्व भोग्यम्  
न नाप्नोति ?

हिन्दी--राजा नल ने विलास-वावलों के सट से टकगती लहरों से  
वादन, कोकिल-भ्रमरों से गीत और मयूरों के नृत्य कौशल से नर्तन—इस वन  
में भी तौर्यत्रिक ( नृत्य, गीत, वाद्य ) का आनन्द पाया, नाग्यवान् व्यक्ति  
को कहाँ भोग-ऐश्वर्य नहीं प्राप्त हो जाता ? सर्वत्र ही प्राप्त हो जाता है ।

टिप्पणी--राजा को वन में भी 'तौर्यत्रिक' प्राप्त हो जाने से यह नाव  
निकलता है कि नाग्य का लेख कहीं पीछा नहीं छोड़ता । राजा के नाग्य में  
यह सुख था, सो वन में भी मिल गया, जयवा राजा चित्त विनोदार्थं—  
मन बहलाने एकात की खोज में निकल था, पर सुख भोग ने, जो वियोग-  
दशा ने उसे माता नहीं था, उसका पीछा न छोड़ा और उसके खेद का कारण  
बना । १०४वें श्लोक ने यह स्पष्ट हो गया है । सामान्य से विशेष समर्थन  
रूप अर्थान्तिगन्धाम ॥ १०२ ॥

तदर्थमध्याप्य जनेन नटने शुका विमुक्ता पटवस्ममस्तुवन् ।

स्वरामृतनापजुश्च शारिकास्तथैव तत्प्रीत्यप्यनोदृता ॥ १०३ ॥

जीवानु--तदर्थमिति । जनेन सेवकजनेन तदर्थं न-प्रोत्थयमध्याप्य  
स्तुति पाठयित्वा तस्मिन् वने विमुक्ता विनृष्टा पटवः स्फुटगिरः शुकास्त  
नमस्तुवन् । तथैव शुक्तेषु तदर्थमध्याप्य मुक्ता तत्प्रीत्यप्यनोदृता शारिका शुक्तेषु  
स्वरामृतेन मधुर-  
स्वरेणेत्यर्थः । उपजुश्च ॥ १०३ ॥



अन्वय — जनेन तदर्थम् अध्याप्य तद्वने विमुक्ता पटव शुका तम्  
अस्तुवन्, तथैव तत्पौरुषगायनीकृता शारिका ( शारिका. ) च स्वराभूतेन  
उपजगुः ।

हिन्दी—गरिजना द्वारा नल की स्तुति के लिए सिखाकर उस वन में छोड़े  
गये, चतुर ( स्पष्ट बोलने वाले ) तोनों ने ( वहाँ नल की ) स्तुति गायी और  
उसी प्रकार नल के पराक्रम के गीत गाना सीखी मैनाओं ने अपने स्वराभूत  
( मोठे स्वर ) से गायन किया ।

टिप्पणी—वन में भी पक्षियों द्वारा राजा की विरहावली का गान ।  
कालिदास ने भी वन में गाय चराते सम्राट् दिलीप के विषय में ऐसा ही उल्लेख  
किया है—‘आलोकघट्ट इयमा विराजं ।’ ( रघुवश २।९ ) । विद्याधर के  
अनुसार जाति अलंकार ॥ १०३ ॥

इतोऽष्टगन्धाढ्यमटन्नसौ वन पिकोपगीतोऽपि शुक्रस्तुतोऽपि च ।

अविन्दतामोदभर वहिधर विदभंमुभ्रूविरहेण नान्तरम् ॥ १०४ ॥

जीरातु—इतीति । इतीत्यमिष्टगन्धाढ्यमिष्टमौगन्ध्यसम्पन्न वन  
मटन्, ‘देशकालाध्यगतध्या नमंसता ह्यहम्यनामि’ति वनस्य देशत्वात्  
व्यमत्वम् । असौ नल पितृ कौकिलैरुपगीतोऽपि शुक्रं स्तुतोऽपि च पर केवल  
‘पर स्पादुत्तमानातवैरिदूरेषु केचन’ इति विश्व । वहिरामोदभर सौरभ्याति-  
रेकमेवाविदत विदभंमुभ्रूविरहेण हेतुना आन्तरमामोदभरमान्दातिरेक-  
रूपताविदत न रज्ज्वान्, प्रत्युत दुःखमेवान्वभूदिति भाव । ‘आमोशे  
गघर्हर्षयोरिति विश्व ॥ १०४ ॥

अन्वय — इति इष्टगन्धाढ्य वनम् अटन् पिकोपगीत अपि शुक्रस्तुतः  
अपि च असौ पर वहि आमोदभरम् अविन्दत, विदभमुभ्रूविरहेण आन्तरम्  
॥ ( अविन्दन ) ।

हिन्दी—इस प्रकार अभीष्ट गन्ध से समृद्ध वनमें भ्रमण करते हुए कौकिल  
गान और शुक्र-स्तुति सुनकर भी उसने केवल बाह्य आनन्द ही प्राप्त किया,  
विदभ की सुनपना ( दमयन्ती ) से विरह के कारण ( वास्तविक ) आंतरिक  
आनन्द नहीं ।

टिप्पणी—विद्योगी को 'तुहिनदीधिति' भी 'दवदहन' प्रतीत होता है, सो सुख-साधन भी विरही नल के खेद के कारण ही बने, वास्तविक आनन्द उसे न मिल पाया । उक्तिनिमित्ता विद्येपोक्ति । १०४॥

करेण मीन निजकेतन दधद् द्रुमालवालाम्बुनिवेशशङ्कया ।

व्यतर्कि सर्वतुंगधने वने मधु स मित्रमत्रानुमरन्नव स्मरः ॥ १०५ ॥

जीवातु—करेणैति । स नल निजकेतन निजलाञ्छन मीन द्रुमाल-  
वालाम्बुपु निवेशशङ्कया प्रवेशमिया करेण दधत् तादृक् शुभरेखाव्याजेन  
दधान इत्यर्थ, सर्वतुंगधने सर्वतुंगशङ्कुले अत्र अस्मिन् वने मित्र सखाय मधु  
वसन्तमनुसरन् अन्विष्यन् स्मर इव व्यतर्कि इत्युत्प्रेक्षा । १०५ ॥

अन्वय—स निजकेतन मीन द्रुमालवालाम्बुनिवेशशङ्कया करेण दधत्  
सर्वतुंगधने अत्र वने मित्र मधुम् अनुसरन् स्मर इव व्यतर्कि ।

हिन्दी—उस (राजा) ने कहीं वृक्षों के चारों ओर बने आलबालों (पालों)  
के जलमे प्रविष्ट न हो जाय—इन भय से अपने स्वयं के मत्स्य को हाथ से  
पकड़े सब श्रुतु से परिपूर्ण ( अथवा सब श्रुतुओं में घन अर्थात् हरे-मरे रहने  
वाले ) उस वन में वसन्ततला का अनुसरण करते—जैसे कामदेव की तर्पण की ।

टिप्पणी—'सदावहार' उस वन में विरही नल को चारों ओर कामसाम्राज्य  
ही प्रतीत हुआ । मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार  
अनुप्रास—उत्प्रेक्षा ॥ १०५ ॥

एताञ्चलालास्यकलागुरुस्तत्प्रसूनगन्धोत्करपद्मतोहर ।

असेवतामु मधुगन्धवारिणि प्रणीतलीलाप्लवनो बनानिल ॥ १०६ ॥

जीवातु—तेति । एता एवावलास्तासा लास्यकलामु मधुरनृत्तविद्यासु  
गुरुरदेष्टेति भाष्योक्ति, तत्प्रसूनगन्धोत्कराणा इमकुसुमसौरभधर्मदा  
पद्मतोहर पद्म-तमनादृत्य हर प्रदद्यापहर्तृत्वर्थ । 'पद्मतो यो हरत्वर्थ स  
चौर पद्मतोहर' इति हर्गयुध, पचाद्यच् पष्ठी चानादरे' इति पष्ठी ।  
'वाग्निद्वजम्यङ्गजो युक्तिदण्डहरेष्विति वक्तव्यादलुक् । सौरभ्ययुक्त मधु-  
मकरन्द एव गन्धवारि गन्धोदक तत्र प्रणीतलीलाप्लवन । एतेन कृतलीलाव-

गाहन इति सैन्योक्तिः, ईदृश्वनानि नोऽमु नञ्मसेवत गुणवान् सेवक सेव्यश्रियो भवतीति भावः ॥ १०६ ॥

अन्वयः—लताबलात्स्यकलागुरु तदप्रपुनगन्धोत्करपश्यतोऽहं मनुगन्ध-  
वारिणि प्रणीतलीलाप्लवनः वनानि न अनुमं अयेदत् ।

हिन्दी—बनारी रूप कामिनिया दो नृत्य कला का शिक्षा देनेवाले गुरु,  
बूझो के फूलों की रस आव देखते उढानेवाले चोर, पुष्पमधु से सुगन्धित जल में  
जल-तीहा ( विहार ) करनेवाले ( इस प्रकार मद, मृगय, जीवन ) वन समीर में  
जल की अभ्यर्चना की ।

टिप्पणी—वन में भी राजा की अभ्यर्चना । सुललोप-पृक्तस्तुपारै-  
गिरिनिनिराणामनोकहाकम्पिनपुष्पमन्धो । समातपकलान्नमनानपत्रमाचारपूत  
पवन सिपेवे ॥ ( रघु० २।१३ ) । विद्यावरने अनुशास-रूपक अलङ्कारों का  
निर्देश किंवा है, चद्रकलाकार ने रूपक समासोक्तिभाव के अवागिभाव सकारण ।

अथ स्वमादाय भवेन मन्यनाच्चिरत्नरत्नाधिकमुच्चित चिरात् ।

निलीय तस्मिन्निवनन्नगानिधिवने तद्वागो ददुशेऽवनीभुजा ॥१०७॥

जीवार्—अथेति । अथ वनात्केनानन्तर य वनाद्भवेन घनाय पुनर्म-  
यिप्सतीति भयादिश्रय । चिरादुच्चित सञ्चिन्न चिरत्न चिरन्तन 'चिरत्न-  
हरादिभ्यस्तनो वषट्' इति स्तप्रत्यय । तच्च तद्रत्नाधिक श्रेष्ठवस्तु भूयिष्ठ  
अति चिरत्नरत्नाधिक 'रत्नं स्वजाती श्रेष्ठं' इति स्मर । स्व घनमादाय  
तस्मिन् वने निलीयात्तर्थात् निवसन् वर्तमानोऽपाम्निधिरित्युत्प्रेक्षा । तेन  
नतेन तदाग सरोविशेषोऽवनीभुजा राणा ददुशे दृष्ट ॥ १०७ ॥

अन्वयः—अथ अवनीभुजा मयनात् भवेन चिरात् उच्चित स्व चिरत्न-  
रत्नाधिक आदाय तस्मिन् वने निलीय निवसन् वरा निधि इव तदाग दृश्ये ।

हिन्दी—तत्पदवान् राजा ने मन्यन के डर से चिरकाल से सविष्ट ( वृद्धि  
को प्राप्त ) अपने पुरातन प्रचुर रत्नों को लेकर उस वन में छिपकर रहत हुए  
अनिधि के सहस्र सरोवर को दखा ।

टिप्पणी—मदन करते वही ये रत्न भी न निजाज निवे जाय — दम करने

वन में बाकर छिपे समुद्र के रूप में सरोवर की उन्नावना सरोवर की निर्मलता और गभीरता की झोतक है। 'प्रकाश'-कार ने यहाँ लुप्तोत्प्रेक्षा मल्लिनाथ ने उत्प्रेक्षा तथा चद्रकलाकार ने समोसोक्ति प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के रत्न का निर्देश किया है। विद्याधर के अनुसार यहाँ अनुप्रास-व्यतिशयोक्ति समासोक्ति हैं। यहाँ से ११६वें श्लोक तक सरोवर का वर्णन है ॥१०७॥

पयोनिनीनाभ्रमुकामुकावलीरदाननन्तोरगपुच्छसुच्छवीन् ।

जलाद्वंद्वस्य तटान्तभूमिदो मृणालजालस्य निभाद् वमार य ॥१०८॥

जीवानु—यदुक्तं घनमादायेति, तदवात्र सम्पादयति नवमि श्लोकं पम इत्यादिभिः । यस्तटाग जलनाद्वंद्वस्य तद्वद्वन्तस्य तटान्तभूमिदस्तट-प्रान्तनिर्गतस्यैत्यर्थः । मृणाञ्चालस्य विरुद्धस्य निभाद्वयजादित्यपह्न-माञ्छकार, 'निभो व्याजसदृशयोरिति विश्वः । अनन्तोरगस्य रोपाहे, पुच्छेन सुच्छवीन् सवपांन् तद्वद्वद्वन्तित्यर्थः, पयोनिनीनानाभ्रमुकावलीना-नैराश्रयै'तीना रदान् दन्तान् वमार । सर्वं एवैरावत्, अत्र त्वसत्त्वा इति व्यतिरेकः । अन्नमुकामुका इति द्वितीयानमासो मधुपिपातुवत्, 'न लोके'त्यादिना पट्टीप्रतिपेयात् 'अपने'त्यादिना नमस्कृत्यप्रत्ययः ॥१०८॥

अन्वय,—य जलाद्वंद्वस्य तटान्तभूमिदो मृणालजालस्य निभाद् अनन्तो-रगपुच्छसुच्छवीन् पयोनिनीनाभ्रमुकावलीरदान् वमार ।

हिन्दी—जो ( सरोवर ) जल में आधे द्वे, तीर के निकट की घाटी से बाहर आने मृणालों के व्याज से असह्य सुपों की पूछ के सहज जल में छिपे ऐरावतों के दांतों को घारे हुए था ।

टिप्पणी—जब तालाब समुद्र-सन था तो उसमें उसके अनुरूप सामग्री भी उपलब्ध है, अतः यहाँ ऐरावतों की नमावना की गयी मृणालजाल में । समुद्र से तो एक ही ऐरावत निकल था, यहाँ 'अन्नकामुकावली' है । ऐसा लगता है कि समुद्र में अनेक ऐरावत थे, मध्य में एक निकाल लिया गया, येर की रक्षा के लिए समुद्र तालाब बनकर वन में आ छिपा । मल्लिनाथ के अनुसार अपह्नव और व्यतिरेक, विद्याधर के अनुसार अपह्नवुति । चद्रकलाकार ने यहाँ उपमा-वैतदाहनुति का मकर माना है ॥१०८॥

तटान्तविश्रान्तनुरङ्गमच्छटास्फुटानुविम्बोदयचुम्बनेन य ।

वभी चलद्वाचिवशान्तशातने सहस्रमुच्चैश्चवसामिव श्रयन् ॥१०९॥

जीवातु—तटातेति । यस्तद्वागस्तटान्ते तीरप्रान्ते विश्रान्ता या तुरङ्गमच्छटा नलानीताश्चश्रेणी तस्या स्फुटानुविम्बोदयचुम्बनेन प्रकटप्रतिबिम्बाविर्भावप्रीत्या निमित्तेन च एकैकशस्तामा वीचीना कशानामन्तैः शातनैर्घृताटनैः, 'अश्वादे-स्तादनी कशे'त्यमरः, चलद्गुल्फदुर्घ्वं श्रवमा सहस्र श्रयन् प्राप्नुवन्निव वसा-विस्फुरेक्षा, व्यतिरेकश्च पूर्ववत् । एतेन नलाश्वानामुच्चैश्चव साम्य गम्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनि ॥१०९॥

अन्वयः—यः तटांतविश्रान्तनुरङ्गमच्छटास्फुटानुविम्बोदयचुम्बनेन वीचिकशान्तशातनैः चलत् उच्चैश्चवसा सहस्र श्रयन् इव वभी ।

हिन्दी—जो ( तडाग ) तीर पर विश्राम करते नल के अश्वों के स्पष्ट उमरते प्रतिबिम्बों के चुम्बन ( सघष ) से ( श्याज से ) रुहर रूपी चाबुक की मार खाकर चलते हजारों उच्चैश्चवा ( नाम के इन्द्राश्वों ) को धारण करता सुशोभित हो रहा था ।

टिप्पणी—इस श्लोक में नलाश्वों की प्रतिच्छाया से अनेक इन्द्राश्वों की सभावना की गयी । विद्याधरने यहाँ अपह्नुति, रूपक और उत्प्रेक्षा अलंकारों का निर्देश किया है, मल्लिनाथ ने उत्प्रेक्षा व्यतिरेक के साथ-साथ 'नलाश्वों का उच्चैश्चवा के सदृश होना' गम्य मानकर छलंकार से वस्तुध्वनि भी । चन्द्र-कलाकार वस्तुध्वनि के साथ रूपक और उत्प्रेक्षा का निर्देश करते हैं ॥१०९॥

सिताम्बुजानां निवहस्य यशठलाद् वभावलिश्यामलितोदरश्रियाम् ।

तमममच्छायकलङ्कसङ्कुलमुखाशोयहस्रवहन् बहू ॥११०॥

जीवातु—सितेति । यस्तद्वाग अलिमि श्यामलितोदरश्रिया श्यामीकृत-मध्यशोभानां सिताम्बुजानां पुण्डरीकाणां निवहस्य चटलात् तमममच्छाय तिमिरवण यः कलङ्क तेन सङ्कुल बहल सम्पूर्णम्बुह्वनेन सुर्घाशाश्च द्रस्य कुल वसा बहन् सन् वभी । अत्र चटलात्तदन पुण्डरीकेषु विषयापह्नवेन चन्द्रत्वाभे-दादपह्नवभेदः, व्यतिरेकस्तु पूर्ववत् ॥ ११० ॥

अन्वयः—य अलिङ्ग्याल्लतोदरश्रिया सिनाम्बुजाना निवृत्तस्य छलात् सम-  
सन्ध्यामकलङ्कसङ्कुल बहुल सुषाणो ङुल बह्वृ बहु वनो ।

हिन्दी—जो ( तालाब ) में मरो से इमामल मध्य नाग की सोमा से युक्त  
श्वेतकमल-समूह के व्याज से अधिकार सहस्र प्रतीत होते कलकविल्ल से व्याप्त  
अमृत किरण चन्द्र के विस्तृत समूह को धारण करता बड़ा भला लग रहा था ।

टिप्पणी—यहाँ अमृतगवली से शोभित श्वेतकमलों में अनेक चादों की  
कलना की गयी, जिससे सरोवर को स्वच्छता भी शोभित होती है । 'बहुलम्'  
का अर्थ हृत्पद्म-समूह भी हो सकता है । भस्मिनाथ के अनुसार यहाँ अमल्लव  
और व्यतिरेक है, चादकलाकार उभयार्थक उपहृन्नुति का अगाधिनाथ सफर  
मानते हैं और विद्याधर अनुग्राम और उपहृन्नुति का निर्देश करते हैं ॥११०॥

रयाङ्गभाजा कमलानुपङ्गिणा शिलीमुखस्तोमसखेन शार्ङ्गिणा ।

सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतवान्मृगालशेपाहिनुवाञ्चयायि य ॥ १११ ॥

जीवानु—रयाङ्गेति । यन्तङ्गागे रयाङ्ग चक्रवाक चक्रायुधश्च यद्यपि  
चक्रवाके रयाङ्गनामेति च प्रयोगो ह्ये तद्यपि प्रायेणाम्य चक्रचन्द्रपद्म्या-  
त्वनयागदर्शनात् (रयाङ्ग) पदस्याप्युभयत्र प्रयोगमन्यते ऋषि, तद्भावा 'मजो  
जि', ऋषि कमला चानुपङ्गिणा ससंबता शिलीमुखस्तोमसखेन अलिकूल-  
सदृशरेण जयन सखिसम्पद साधयवचन तत्सवर्णेनेत्यर्थ, मृगाल शेपाहिरि-  
वेत्युपमितममाम, तद्भावा तदाकरेण जयत्र मृगालमिव शेपाहि तद्भावा  
तदाकारेण शार्ङ्गिणा विलुना सरोजिनीना स्तम्बा शुम्भा, 'अप्रकाशे  
स्तम्बगुननि'त्यमर, शेपा कदम्बस्य कैतवानिमात् अन्वयायि अनुपातोऽनुभू-  
ताऽपिठित इति यावत् । अत्रापि कैतवशब्देन स्तम्बत्वमपहृत्य शार्ङ्गित्वारो-  
पादनहृन्वर्ध ॥ १११ ॥

अन्वय —य रयाङ्गभाजा कमलानुपङ्गिणा मृगालशेपाहिनुवा शिलीमुख-  
स्तोमसखेन सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतवाश्च शार्ङ्गिणा अवयायि ।

हिन्दी—जो ( सर ) चक्रवाकयुगलों से शोभित, कमलों से परिपूर्ण, मृगाल  
रूप शेपनाग पर स्थित, अमर-समूह से पूर्ण कमलिनी के शुभ्र समूह के व्याज से

चक्रपारो लम्बीपति, मृणालसदृश चोपनाग पर चयन करनेवाले, भ्रमरसमूह के तुल्य स्वामशाङ्गपाणि विष्णु के सदृश लगता था ।

टिप्पणी—द्वधर्क शब्दावली के प्रयोग द्वारा 'सरोजिनीस्तम्बकदम्ब' में विष्णु की कल्पना की गयी है, जैसे सागर में चोपशायी विष्णु हैं, वैसे ही यहाँ कमलिनी-गुल्म समूह है । विद्याधर के अनुसार यहाँ श्लेष उपमा-अहं-नुति अलंकार हैं, जिनकी निरपेक्षस्थिति के आधार पर च द्रव्यलाकार यहाँ उनकी सृष्टि मानते हैं, मल्लिनाथ ने कैतवाह-नुति का निर्देश किया है ॥१११॥

तरङ्गिणीरङ्कुजुप स्ववल्लभास्तरङ्गलेखा विभराम्बभूव य ।

दरोदगतै कोकनदीघकोरकैर्घृतप्रवालाङ्कुरसञ्चयश्च य ॥ ११२ ॥

जोवातु—तरङ्गिणीरिति । यस्तडागोऽङ्कुजुपोऽन्तिकमाज उरगङ्गसङ्गि-  
न्यश्च वा तरङ्गरेखास्तरङ्गराजिरेव स्ववल्लभास्तरङ्गिणीरिति व्यस्तरूपक  
विभराम्बभूव वमार, 'भील्लीभृहुवा इतुवन्वे'ति भृतो विकल्पादाम्प्रत्यय ।  
किञ्च यस्तडागो दरोदगतेरीपदुदुद्धं कोकनदीघकोरकै रक्तोत्पलखण्ड-  
कलिकाभि घृतप्रवालाङ्कुरसञ्चयश्च घृतविद्रुमाङ्कुरनिकरश्चेति । अत्रापि  
कोकनदकोरकाणां विद्रुमत्वे रूपेणाद्रूपकालङ्कार ॥ ११२ ॥

अन्वय—य अङ्कुजुप तरङ्गरेखा स्ववल्लभा तरङ्गिणी विभराम्बभूव,  
य च दरोदगतै कोकनदीघकोरकै घृतप्रवालाङ्कुरसञ्चय ।

हिन्दी—जो ( तालाब ) अब में उठती तरंगमाला रूप अपनी प्रिया  
नदियों की घारण कर रहा था और जो कुछ कुछ खिली रक्तकमलसमूह की  
कलियाँ ने-से मुग्धोन्मत्त होने के कारण मूर्खों के अङ्गुरों के सचय से मुक्त  
लगता था ।

टिप्पणी—समुद्रप्रिया नदियों के रूप में तडाग में उठती लहरे हैं और  
छालकमलों की कलियाँ छाल मूर्खों का ढेर, इस प्रकार भी सर-सागर में साम्य  
स्थापित विद्या गया । मल्लिनाथ ने अनुमार कोकनद कोरकों के विद्रुमभाव  
से रूप्य होने के कारण रूपक है, विद्याधर ने अनुवार अनुग्राम रूपक-अहं-नुति  
का सङ्केत ॥११२॥

महीपसः पङ्कजमण्डलस्य यष्टलेन गौरस्य च मेचकस्य च ।

नलेन मेने सलिले निलीनयोस्त्विष विमुञ्चन् विधुकालकूटयो ॥ ११३ ॥

जीवातु—महीपस इति । मस्तद्याग महीपसो महत्तरस्य गौरस्य च मेच-  
कस्य च पङ्कजमण्डलस्य सितासितसरोजयोऽल्लेन सलिले निलीनयो विधु-  
कालकूटयो सितासितयोरिति भावः । त्विष विमुञ्चन् विमृजयित्वा नलेन  
मेने । अत्रच्छलेन विमुञ्चन्निवेति सापह्नवोत्प्रेक्षा ॥ ११३ ॥

अन्वयः—नलेन य महीपस गौरस्य मेचकस्य च पङ्कजमण्डलस्य छलेन  
सलिले निलीनयो विधुकालकूटयो चिष विमुञ्चन् मेने ।

हिन्दी—नल ने जिसे अरपन्त धुँध और जलान्त नील कमलसमूह के छत  
में उन में छिपे चद्र और कालकूट विष की छटा छोड़ते हुए मारा ।

टिप्पणी—इधेच कमल चद्र के और नील कमल कालकूट के प्रतीक हैं ।  
विष से कुछ विद्राघ 'अमृत' का संकेतार्थ भी लेते हैं, क्योंकि आघार से आघेय  
का नान हो सकता है, चद्र को अमृतदीधिति कहा ही जाता है । अमृत विष  
का विरोधी युग्म भी है । सापह्नवा उत्प्रेक्षा अथवा इन दोनों का संकर ।

चलीकृता यन तरङ्गरिङ्गणैरवालशैवाललतापरम्परा ।

ध्रुवन्दुर्बाडवहव्यवाडवस्थितिप्ररोहत्तमभूमधूमताम् ॥ ११४ ॥

जीवानु—चलीकृता इति । यन यस्मिन् तडाये तरङ्गरिङ्गणैस्तरङ्ग-  
कम्पनाञ्चलीकृता चञ्चलीकृता अवालाना कठोराना शैवाललताना परम्परा  
पक्ष्य इष्य वृत्तीति ह्यवाडवानि 'वह्वे'ति द्विप्रत्ययः । तस्यच्छन्दो-  
मात्रविषयत्वाद् अनादरेण भाषाया प्रयोगः । बाडवह्व्यवाडो बाडवानैरेव  
स्थिताऽन्तरवस्थानेन प्ररोहत्तमो बहिः प्रादुर्भवत्तमो भूमा मेघान्ते च धूमाश्च  
तेषां भावन्तना तां ध्रुव । वदित्वितधूमपटलवद्भवभूरित्यर्थः । ध्रुवमित्यु-  
त्प्रेक्षायाम् ॥ ११४ ॥

अन्वयः—यत्र तरङ्गिणं चलीकृता अवालशैवाललतापरम्परा बाडवह-  
व्यवाडवस्थितिप्ररोहत्तमभूमधूमता ध्रुव ध्रुवः ।

अही लहरों के कपन से चंचल बड़ी-बड़ी शैवाल की बेलें बाडवानि की  
स्थिति के कारण ऊपर उठते प्रचुर धूम को निश्चयत धारणा बना रहो यो ।



टिप्पणी—घुए की रंग की सिवार मे सागर की आइवाग्नि के घुए की कल्पना, जिससे सर मे समुद्र के तुल्य वाइवाग्नि की समावना । उत्प्रेक्षा ।

प्रकाममादित्यमवाप्य कण्टकै करम्बितामोदभरं विवृण्वती ।

घृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा दिवा मरोजिनी यत्प्रभवाप्सरायिता ॥ ११५ ॥

जीवातु—प्रकाममिति । आदित्य सूर्यमवाप्य प्रकाम कण्टकै मालगतै तीक्ष्णार्णवयवै करम्बिता दत्तुरिता, अन्यत्रादित्यमदितिपुत्रमिन्द्रमवाप्य कण्टकै पुलकै करम्बिता अतएवामोदभर परिमलसम्पदनामन्दसम्पद क विवृण्वती प्रकटयन्ती दिवा दिवसे घृतानि स्फुटश्रीगृहाणि यन्मानि यस्य स विग्रह स्वरूप यस्या सा, अन्यत्र दिवा स्वर्गेण स्फुटश्रीगृहमुज्ज्वलद्योमास्पद विग्रहो देहो यस्या सा रवर्गलोक्वालिनीत्यर्थ । यस्तद्वग प्रभव कारण यस्या सा तज्जया सरोजिनी यन्मिनी अप्सरायिता अप्सर इवाचरिता । 'उपमानाद् कर्तुं नयद् सलोपद्वये'ति कर्तरि क, 'योजसोऽप्सरसो नित्यमि'त्यप्सरस सकारलोप । विलष्टविशेषणैयमुपमा ॥ ११५ ॥

अन्वय —यत्प्रभवा सरोजिनी आदित्यम् अवाप्य कण्टकै प्रकाम करम्बिता आमोदभर विवृण्वती दिवा घृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा अप्सरायिता ।

हिन्दी—जिस सरोवर मे उत्पन्न कमलिनी सूर्य को पाकर कटकावलि हो सुगंध भार को फैलाती दिन मे स्पष्टन कमलरूप प्राप्त करती जैसे ईंद्र को या रोमांचित हो आनदातिशय प्रकट करती उज्ज्वल सुन्दर द्योमामयी देहधारिणी अप्सरा होती है, वैसी ही प्रतीत होती है ।

टिप्पणी—द्विष्ट शब्दों के प्रयोग मे कमलिनी मे अप्सरात्व की कल्पना । विलष्टावमा ( विलिखना ) अथवा दलेय उपमा अलवार ( विद्याधर ) ॥ ११५ ॥

यदम्बूपरप्रतिबिम्बितायनिर्मस्तगङ्गा स्तरलम्नतदुम ।

निमग्ग्य मैनाकमहोभूत सतम्ननानपशान् ध्रुवत सपशताम् ॥ ११६ ॥

जीवातु—यदिति । यस्य तद्वगस्याम्बूपुरे प्रतिबिम्बितायति प्रतिफलितायाम मस्तगङ्गा वातबीजनस्तरलश्चक्षुस्तदुम निमग्ग्य सतो यत्त-

मानस्य पक्षान् ध्रुवत वम्पयतो मैनार्कमहीनृतमन्तश्चाल्यस्य पर्वतस्य सपक्षता  
साम्य ततानेत्युपना ॥ ११६ ॥

अन्वयः—यदम्बुपूरप्रतिबिम्बतामिति मस्तरङ्गं तरलं तटद्रुम निमज्ज्य  
नत पक्षान् ध्रुवत मैनार्कमहीनृतः सपक्षता ततान ।

हिन्दी—जिउ ( सरोवर ) के जल-द्रवाह में जिसकी दीर्घता प्रतिबिम्बित  
हो रही थी, ऐसा वायु-प्रकपित लहरों वाला सींगर्भा वृक्ष पानी के भीतर  
छिनकर रहते मैनार्क पर्वत की समानता का विस्तार कर रहा था ।

टिप्पणी—समुद्र के अन्तर्वर्ती मैनार्क पर्वत के साम्य में तट-वृक्ष के प्रति-  
बिम्ब की कल्पना । उपमा ॥ ११६ ॥

( युग्मम् )

पयोधिलक्ष्मीमुपि केलिपल्लवे रिरसुहस्रं कल्पनादसादरम् ।

न तत्र चित्र विचरन्तमन्तिके हिरण्मय हृषमवोधि नैपद्य ॥ ११७ ॥

प्रियासु बालामु रतिक्षमानु च द्विपत्रिन पल्लवितञ्च विभ्रनम् ।

स्मराजित रागमहीत्हाङ्कुर म्रियेण चञ्चुषोश्चराद्वयस्य च ॥ ११८ ॥

जीवानु—पयोधीति । जय च नैपद्यो निषयाना राजा नल्, 'जन्पद-  
शब्दाद् क्षत्रियादत्रि' त्यन् पयोधिलक्ष्मीमुपि तत्पक्ष इत्यर्थः । अत्र केलि-  
पल्लवे श्रीहासुरति रिरमूना रन्तुमिच्छूना हमीना वन्नादेषु मादरं ससृह  
सत्रान्तिके तत्समोपे विचरन्त चित्रमञ्जुत हिरण्मय सुवर्णमय 'दाहिनायना'-  
दिना निपातनाद् माधु । हृषमवोधि ददशैत्यर्थः । 'दीपत्रने'त्यादिना कर्त्तरि  
विष् । पुनस्तमेव विशिनष्टि-प्रियास्त्विति । बालामु अरतिक्षमानु किन्वासन्न-  
योग्यतास्त्वित्यर्थः । अन्यथा राजाङ्कुरासम्भवात् । रतिक्षमानु युवतीषु द्विवि-  
धामु प्रियासु विषये त्रमाञ्चञ्चुषोश्चराद्वयो 'चञ्चुषोश्चराद्वयो' त्रियामि'त्यमरः ।  
चरणद्वयस्य च म्रियेण द्विपत्रित मञ्जातद्विपत्र पल्लविन मञ्जातपल्लवञ्च  
चञ्चुषोश्चराद्वयो सम्पुटितत्वे साम्याद् द्विपत्रित्व चरणयोस्तु विभ्रमरागमयत्वेन  
पल्लवसाम्यात्पल्लवत्व राजहंसाना लोहितचञ्चुचरणत्वाद् तस्मिन् म्रियेणे-  
त्युक्त स्मराजित स्मरेणेव वृक्षारोपणेनोत्पादितमित्यर्थः । राग एव नहीं है-

स्तस्याङ्कुर रागमहीरहाङ्कुर विभ्रत चञ्चुपुटमिषेण द्विपत्रित वालिकागोचर-  
राग चरणमिषेण पल्लवित युवतीविषये रागञ्च विभ्रतमित्यर्थः । ईदृश हसम्  
बोधीति पूर्वणावय । 'नाम्यस्तान्छतुरिति नुम्रप्रतिषेधः, वृक्षाङ्कुरो हि  
प्रथम द्विपत्रितो भवति, पश्चात् पल्लवित इति प्रसिद्धम् । तत्र राग विभ्रतम्  
इति हसविशेषणात्, तद्वागस्य हसाधिकरणत्वोक्तिः, प्रियास्वधिकरणभूतास्वि-  
त्युपाध्यायविश्वेश्वरव्याख्यानं प्रत्याख्येयम्, जम्बुनिष्ठस्य रागस्यान्याधिकरण-  
त्वायोगात्, न चायमेक एवोभयनिष्ठ इति भ्रमितव्यम्, तस्येच्छापरतर-  
पर्यायस्य तथात्वायोगात्, बुद्ध्यादीनामपि तथात्वापत्तौ सर्वसिद्धान्तविरो-  
धात्, विषयानुरागाभावप्रसङ्गाच्च उभयोरपि रागत्वसाम्यादुभयनिष्ठभ्रम-  
केयाञ्चित्स्मात्त्वामिनोरभ्योन्याधिकरणरागयोरन्योन्यविषयत्वमेव नाधि-  
करणत्वमेवमिति सिद्धान्तः, प्रियास्त्विति विषयसप्तमी, न स्वाधारसप्तमीति  
सर्वं रमणीयम् । अत्र रागमहीरहाङ्कुरमिति रूपकं चञ्चुचरणमिषेणेत्यपह्लावा-  
नुप्राणितमिति सङ्कुरः । तेन स बाह्याभ्यन्तररागयोर्भेदे भेदेदलक्षणाति-  
शयोक्त्यापिता चञ्चुचरणव्याजेनान्तरस्येव बहिरङ्कुरितत्वोत्प्रेक्षा व्यज्यत  
इत्यलङ्कारेणालङ्कारत्वमिति ॥ ११७-११८ ॥

अन्वयः—पयोधिलक्ष्मीमुपि तत्र केलिपन्वले स नैषध रिरसुहृसीकल-  
नादसादर बालासु रतिसमासु च प्रियामु चञ्चु चरणद्वयस्य च मिषेण  
द्विपत्रित पल्लवितं च स्मरति तत्र रागमहीरहाङ्कुर विभ्रतम् अतिके विचरन्त  
चित्र हिरण्मय हसम् अबोधि ।

हिन्दी—( उपयुक्त प्रकार से ) समुद्र की धी के अपहर्ता ( सागरतुल्य )  
उस श्रीका सरोवर में उस निषधराज ने रमनेच्छुका हसियों के सम्यक्त मधुर  
स्वर में सामिलाप, बाला और रमण में समर्थ स्व प्रियाओ के मध्य बोधी  
और चरणगुल के मिस दो पतियों और पल्लवों से युक्त कामसमुत्पन्न  
अनुराग रूप वृक्ष के अंकुर को धारण कर निवृत्त हो विचरण करते विचित्र  
स्वर्णमय हस को दत्ता ।

टिप्पणी—इस 'युग्म' में विचित्र स्वर्णहस के दृष्टिपथ में आने का वर्णन  
है । 'अतिके विचरन्तम्' का अर्थ हसियों के समीप ही नहीं, श्रीकासर के

निकट भी माना गया है। 'प्रकाश'-कार ने 'हिरण्य पुष्पः', 'एको हस'—  
इमं धृति वचन को आधार मानकर 'पयोधिलम्बोमुपि नैपथ' का  
अन्य अर्थ भी सोचिन किया है। वह कहता है कि पूर्वोक्त श्लोकों में और  
यहाँ भी शिवा सर को सागर के सदृश बनाया गया है और यहाँ केलिपल्लव  
( शिवा की लघु सरसों ) कहा गया, यह उचित नहीं है। इसी के औचित्य  
में वह अर्थ करता है कि विस्तार में समुद्र तुल्य और विनश्वर होने से पल्लव  
तुल्य शरीर में विचरते जैसे कोई योगी आत्म 'रिरमुहसि'कृतसादर' ( आत्म  
शक्ति के अथर्वत प्रिय नाद में सानिधाय ) परमात्मा को देखता है, वैसे ही  
उन हिरण्य परमात्मस्वरूप हस को नैपथ ने देखा। प्रियासु— विभ्रतम्'  
का अर्थ यह भी पल्लवित किया गया है कि हस की दो प्रकार की प्रिया थी—  
बाला-अरविक्षमा किंतु आसन्नयोवना, जिनके निमित्त हस चौंच रूप पलियाँ  
निन्दे या अर्थान् उनकी धुवन मात्र से लुप्त करता था और इस प्रकार बालिका  
गोधर राग प्रकट कर रहा था। दूसरे प्रकार की प्रीता रतिसमर्पा नायिकाओं  
के निमित्त गोटरागतामृषक लाल धरण युगल थे। इस प्रकार वह हस स्मर-  
तद के अङ्कुर में धुक्त था, जो क्रमशः पलित और पल्लवित था। विद्यापति ने  
इस 'युग्म' में अनुप्रास-ययासह्य रूपक-अपह्नुति की सत्पृष्टि का निर्देश किया  
है, मल्लिनाथ के अनुसार 'रायमहीरहाङ्कुर' में रूपक है, जो 'धञ्जुवरण-  
निपेण'—अपह्नुति से अनुप्राणित है, इन प्रकार रूपक-अपह्नुति का सकर  
है। और इसके द्वारा बाह्य और आन्तर गगनों के भेद में भेद लक्षण  
अतिशयोक्ति से उत्पापित चञ्चु चञ्च के व्याज से आन्तर की बहिरङ्कुरितता—  
उन्नेक्षा व्यञ्जित हुई है। इन प्रकार अलंकार द्वारा अलंकार ध्वनि है। चन्द्र-  
बालकार ने जलकार ध्वनि मानी है और पहिले श्लोक में निदर्शना तथा  
दूसरे में ययसह्य-रूपक-अपह्नुति के मकर का निर्देश किया है।

महीमहेन्द्रोऽस्मभवेदम म हाण मकुन्ममेकातमनोविनोदिनम् ।

प्रियाविभोगाद्विधुरोर्जय निभंर कुतूहलाक्रातमना भनागभूत् ॥ ११९ ॥

जीवानु— महीनि । महीमहेन्द्रो भूदेवेन्द्र म नल एकान्त मनो विनोद-  
यतीति तथोक्त त इतुत पक्षिण रूपमवेदय प्रियाविभोगनिभंरमतिमात्र

विधुरो दुःस्थोऽपि मनागीपत्कुतूहलाक्रान्तमना कौतुकिनचित्तोऽभूत्, गृहीतश-  
मोऽभूदित्यर्थः ॥११९॥

अन्वय — स महोमहेन्द्र एकान्तमनोविनोदिन तत् सकुन्त क्षणम् अवश्य  
प्रियावियोगान् निर्भरं विधुरं, अपि मनाक् कुतूहलाक्रान्तमना अभूत् ।

हिन्दी—इस घरती को इन्द्र ( नर ) का मन यहाँ निभन में मनोविनोद  
करने वाले अथवा यहाँ एकांत मन में राजा का मन प्रसन्न करने वाले अथवा  
नियमपूर्वक अत्यन्त आह्लाददायक उस पक्षी ( स्वर्णहम ) को क्षण भर  
निहार कर प्रिया के वियोग के कारण अत्यन्त विह्वल होने पर भी थोड़ा सा  
कुतूहल से आक्रांत हो गया ।

टिप्पणी—विभिन्न पदार्थ प्रत्येक अवस्था में मन को आकृष्ट करते ही हैं ।  
ऐसा ही नल के साथ हुआ, कौतुक में उसका चित्त भर उठा । विद्याधर के  
अनुसार अनुप्रास और विशेष अलंकार ॥११९॥

अवश्यमव्येधनवग्रहग्रहा यया दिशा धावति वेधस स्पृहा ।

नृणेन वात्येव तयाऽनुगम्यते जनस्य चित्तेन भृशवशात्मना ॥ १२० ॥

जीवातु—कथमीदृशो चापत्ये प्रवृत्तिरस्य धीरोदात्तस्येत्याशङ्क्य नात्र जन्तो  
स्वातन्त्र्यं किन्तु भाव्यार्थानुसारिणी विधातुरिच्छति तथा श्रेयसीत्याहु—अवश्येति ।  
अवश्यमव्येधवत्य भाव्यार्थेषु विषये 'मव्येयो'दिना कर्तरि यत्प्रत्ययान्तो  
निपातः, 'सुस्पेदवत्यम कृत्ये' इत्यवश्यमो मकारलोपः, अवग्रहग्रहा जप्रति-  
वधनिर्बन्धा निरङ्कुशाभितिदेशेति यावत्, 'ग्रहोऽनुग्रहनिर्बन्धग्रहेषु रणोद्धम'  
इति विश्व । वेधस स्पृहा विधातुरिच्छा यया दिशा धावति यनाध्वना प्रवर्तते  
तमेव दिशा नृणावशात्मनाऽयत्परतः स्वभावेन जनस्य चित्तेन नृणेन वात्या  
यातमभू इव, 'वायादिभ्यो य' अनुगम्यते, वेधस स्पृहा कर्म ॥ १२० ॥

अन्वय — अवश्यमव्येधेषु वधसः अवग्रहग्रहा स्पृहा यया दिशा धावति तथा  
जनस्य भृशवशात्मना चित्तेन नृणेन वात्या इव अनुगम्यते ।

हिन्दी—नियम से होने वाले दुभागुन कार्यों के विषय में विधाता की  
अवाध्य—निरणल प्रसार वाणी इच्छा जिस माय से मागती जाती है, उसी

मार्ग से मनुष्य का अत्यन्त पगधीन चित्त भी उसी प्रकार अनुगमन करता है, विस प्रकार तिनका वात का अनुगमन ।

टिप्पणी—विही राजा का मन भी कुतूहलाक्रान्त क्यों हुआ, इसका उत्तर इस व्यन्तरन्यास द्वारा दिया गया । यह निघात्रा का नियत लेख था कि इस के माध्यम से नर-दमयन्ती के सपनों का आशय प्रदान हो और उनका विवाह हो, इसी कारण विह्वल राजा का मन भी विधि-विधान वगैरे स्वर्णहंस के प्रति कुतूहलाक्रान्त हुआ । उपमा ॥ १२० ॥

अथावन्मध्य क्षणमेकपादिका तदा निद्रावपपत्स्वस्र खगः ।

मनिर्व्यंगावजितकण्ठर गिर पिषाय पक्षेण रतिक्लमालस ॥ १२१ ॥

जोवानु—चिकीपितार्थे देवानुक्ष्य कार्यतो वसंयति-जयेति । अथ नरुद्धि-प्राप्त्यनन्तर रतिक्लमालस स खगो ह्यस्य तदा नरकुतूहलकाले क्षणमेकाः पादो यस्या त्रिगामानिरेकपादिका एकपादेनावम्पान मन्वर्षीपटुप्रत्यय, 'तद्वितार्थे'त्यादिना नरुद्धामनास, 'यस्येति' लोपस्य स्थानिवद्भावेन तादृष्या-नावाप्त पाद पशुदेश, तामेकपादिकामवलम्ब्य तिर्यंगावजितकण्ठर। जावनिदधीव सन् पक्षेण गिर पिषाय उपपत्स्वस्र पत्स्वले निद्रा मुष्पाप । स्वभावोक्तिरुद्धार 'स्वभावोक्तिरुद्धारो यथावद्वस्तुवर्णनम्' इति लक्षणात् ॥

अन्वय—अथ तदा रतिक्लमालसः स खगः एकपादिकाम् प्रवलस्य तिर्यंगा-वजितकण्ठर ( भूरा ) पक्षेण गिर पिषाय उपपत्स्वस्र क्षण निद्रा ।

हिन्दी—तदनन्तर उस समय मुरतबेद से घबड़ा कर वह पक्षी ( हंस ) एक पैर के सहारे खड़ा हो थोड़ी-सी देरी परदेन करके पछ से गिर टककर सरोवर के निकट का घर को नो गया ।

टिप्पणी—पक्षिस्वभाव का वर्णन । मल्लिनाथ के अनुसार स्वभावोक्ति और विद्याधर के अनुसार जाति अङ्कार ॥ १२१ ॥

मनालमारमानननिजितप्रन ह्रिया नतं वाचनमम्बुजन्म किम् ।

अबुद्ध त विद्रुमदण्डमण्डित म पीतमम्बुप्रमुचानरख किम् ? ॥ १२२ ॥

जोवानु—सनामिति । न नर न निद्राय ह्यस्य जात्माननेन निजितप्रनं

निजमुखनिराकृतशोभम् अत एव ह्रिया नत सनाल नालसहित काञ्चन सौव-  
र्णमम्बुजन्माबुज किम् ? तथा विद्रुमदण्डेन मण्डित भूषित पीतवणमम्भ प्रभो-  
रपाभ्यत्यु वरुणस्य चामर किम् ? इति सन्दोऽत्राहाम्य इति अबुद्ध बुद्धवानु-  
त्प्रेक्षितवानित्यर्थः । बुध्यतेर्बुडि सङ् 'क्षपस्तथोर्धो च' इति तकारस्य  
घकारः ॥ १२२ ॥

अन्वयः — स तम् आत्मानमनिजितप्रभं ह्रिया नत सनालम् अम्बुजम् किम्  
( इति ) अबुद्ध, ( अथ ) विद्रुमदण्डमण्डित पीतम् अम्भ प्रभुचामर च किम्—  
( इति अबुद्ध ) ।

हिन्दी—उसने उस ( हंस ) को अपने ( नल के ) मुख की काँति से  
पराजित ( अतएव ) लज्जा से झुका यह नाल सहित जलज ( कमल ) है,  
यह तकला की अथवा यह मूर्तों से जिसका दंड भड़ा हुआ है, ऐसा पीले वर्ण  
का जल के स्वामी वरुण का चामर है—यह समझा ।

टिप्पणी—हंस के प्रति दो सम्भावनाएँ । लाल चरण और पीला हंस,  
अतः वनसाम्य के आधार पर विद्रुमदण्डमण्डित वरुण चामर की कल्पना ।  
विद्याधर के अनुसार सदेह अलङ्कार, चन्द्रप्रभाकार के अनुसार काव्यलिङ्ग-  
सदृशेष्टा-शुल्ययोगिता का अङ्गागिभाव सकर ॥ १२२ ॥

कृतावरोहस्य ह्यादुपानही तत पदे रेजतुरस्य विभ्रती ।

तयोः प्रवालैर्वनयोस्तथाऽम्बुजैर्नियोद्धुकामे किमु बद्धवर्मणी ? ॥ १२३ ॥

जीवातु—इति । ततस्तन्निर्दशनान्तर ह्यादश्चाकृतावरोहस्य कृतावत-  
रुणस्यास्य नलस्योपानही बर्मणी पादत्राणे । 'पादत्राणे उपानही' इत्यमरः ।  
पदे चरणे तयोर्वनयोः सलिलकाननयोः 'वने सलिलकानने' इत्यमरः । प्रवालैः  
पर्वतैः तथाम्बुजं पर्वतैत्यर्थः, 'सहामै तृतीया' नियोद्धु कामोऽभिलाषो  
मयोस्ते नियोद्धुकामे युद्धकामे इत्यर्थः । 'तु काममनसोरपी'ति तुमुनो मका-  
रलोपः, अतो बद्धवर्मणी किमु बद्धवर्मे देव ते रेजतु किमित्युत्प्रेक्षा ॥ १२३ ॥

अन्वयः — ततः ह्यात् कृतावरोहस्य अस्य उपानही विभ्रतो पदे तयोः वनयोः  
प्रवालैः तथा अम्बुजैः नियोद्धुकामे बद्धवर्मणी रेजतु किम् ?

हिन्दी—उदनतर घोड़े में उतरे इस ( नल ) के कृता-पहिने पर दोनों

वनों ( जगन् और जल ) के पल्लव और कमलों से युद्ध करने के निमित्त कवच-धारण किये मुशोमित हो रहे थे क्या ?

टिप्पणी—नल उपानह-धारी दोनों चरणों का साम्य क्रमशः वन ( उपवन, जगन् ) के विसर्प और वन ( जल ) के रक्तोत्तरलों से किया गया है। जुता हुए कवच धारे से चरण पल्लव और रक्तोत्तरल से युद्धार्थ प्रस्तुत हैं। भाव यह है कि नल के चरण अपने दोनों उपमानों की धुनौनी स्वीकार कर उन पर अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने को उद्यत हैं। विद्याधर के अनुसार ययासहय और उत्प्रेक्षा, जिसे चद्रकलाकार ने इन दोनों, अलकारों का अगामिभाव सकर कहा है। मल्लिनाथ ने केवल उत्प्रेक्षा का ही उल्लेख किया है ॥१२३॥

विधाय मूर्ति कपटेन वामनीं स्वयं बलिष्वमिविडम्बिनीमयम् ।

उपेनपाश्वर्श्वरणेन मोनिना नृपः पतङ्गः समधत्त पाणिना ॥ १२४ ॥

जीवातु—विधायेति । अयं नृप स्वयमेव कपटेन छयना वामनीं ह्रस्वा गौरादित्वाद् झीप्, बलिष्वमिविडम्बिनीं कपटवामनबिष्णुमूर्त्यनुकारिणीमित्यर्थः, मूर्ति विधाय कायं सङ्कुच्येत्यर्थः । मोनिना नि शब्देन चरणेनोपेतपाश्वर्श्वः प्राप्तहसन्तिष्ठ पाणिना पतङ्गः पक्षिणः समधत्त, सधृतवान् जग्राहेत्यर्थः, । स्वभावोक्तिरङ्कुर ॥ १२४ ॥

अन्वयः—अयं नृप स्वयं कपटेन बलिष्वसिविडम्बिनी वामनीं मूर्ति विधाय मोनिना चरणेन उपेतपाश्वर्श्व पाणिना पतङ्गः समधत्त ।

हिन्दी—इस राजा ( नल ) ने स्वयं कपट से बलिराज का ध्वंस करने-वाले बिष्णु का अनुसरण करने वाली वामनी—छांटी देह बनाकर ( सिङ्कुठे हुए ) नि दन्त चरण धरते हुए समीप पहुँचकर हाथ से उसी प्रकार उस पतंग ( पक्षी हंस ) को हाथ से पकड़ लिया, जैसे वामन बिष्णु ने अकाशगामी नि शब्द चरण धरते हुए पास पहुँच कर सूर्य को हाथ से छू लिया था ।

टिप्पणी—पौराणिक कथा के माध्यम से वामन से राजा नल की तुलना । पक्षी को दबे पैर चुपचाप पहुँच कर ही पकड़ा जाता है । मल्लिनाथ ने यहाँ स्वभावोक्ति, चद्रकलाकार ने उपमा स्वभावोक्ति से सकर और विद्याधर ने उपमा और जाति अलङ्कारों का निर्देश किया है ॥१२४॥



तदात्तमात्मानमवेत्य स भ्रमात् पुन पुन प्रायसदुःखवाय सः ।

गतो विरह्योद्भयने निराशता करो निरोद्धुर्दशति स्म केवलम् ॥ १२१ ॥

जीवातु—तदिति । स ह्यत्र आत्मानं तदा तु तेन नलेनात्तं गृहीतमवेत्य  
ज्ञात्वा सम्भ्रमादुत्प्लवायोत्पतनाय पुन पुन प्रायसदायस्तवान् । यस्तु प्रयत्न  
इति घातोलुं टि पुष्पादिवात् च्छेरञ्ज्यदेश । उद्भयने उत्पन्नने निराशता गतो  
विरह्य विरह्य निरोद्धुं गृहीतुं करो केवलं करावेव दशति स्म दष्टवान् ।  
अत्रापि स्वभावोक्तिरेव ॥ १२५ ॥

अन्वयः—स आत्मानं तदात्तम् अवेत्य सम्भ्रमात् उत्प्लवाय पुन पुन  
प्रायसम् ( विरह्य ) उद्भयने निराशता गत विरह्य केवलं निरोद्धुं करो  
दशति स्म ।

हिन्दी—बहु ( हृष्ट ) जपने को बल के अधीन जान कर आतंकिन हो  
बारबार उठने का प्रयत्न करने लगा, किन्तु उठने में निराशा को प्राप्त हो  
केवल हीन छद्म करता हुआ पड़नेवाले बल के हाथों को काटने लगा ।

टिप्पणी—ग्रह पक्षी का स्वभाव है कि इस दशा में काफ़ी डाँटा और  
बिन्लाटा काटता है । स्वभावोक्ति ॥ १२५ ॥

समम्भ्रमोत्पातिपतकुलाकुल संगः प्रपद्योत्कतयाऽनुकम्पिताम् ।

तमूमिलोलै पतगग्रहान्नुप न्यवारयद्धारिण्यै करैरिव ॥ १२६ ॥

जीवातु—स इति । समम्भ्रमः सत्वरमुत्पातिना उद्भयमानेन पतकुलेन  
पक्षिषड्भेनाकुल सटकुल सर वत्तु उत्कतया उमनस्तया 'उत्क उमना' इति  
निपातनादिविधानाच्च साधु । अनुकम्पिता प्रपद्य कृपालुता प्राप्य त नृपभूमि-  
रौलं प्रलं धारिण्यै करैरिति व्यस्तरूपकम्, पतगग्रहान्पक्षिग्रहात् न्यवारयदिव्येषु-  
त्येता । वास्तवनिवारणामम्भवादुपेक्षा, निवारणस्य करसाध्यत्वात् तत्र  
रूपनाशयनम्, अत एव वस्तुस्य उपमावाधेनायानुसाराद्व्यपहितान्वयेनाप्यु-  
त्प्रेक्षाम्यञ्जकत्वमिति, रूपनाशेक्षयोरन्नातिमात्रेण सङ्कर ॥ १२६ ॥

अन्वयः—समभ्रमोत्पानितकुलाकुल संग उत्कतया अनुकम्पिताम् ( अनु-  
कम्पिताम् ) प्रपद्य त नृपभूमि रौलं धारिण्यै करै इव पतगग्रहात् न्यवारयत् ।

हिन्दी—सहसा आतक के कारण वह पड़ने वाले पक्षिपद से परिध्याप्त सरोवर उछलते जल के रूप में उत्सुकता प्रकट करता दयामाव को प्राप्त हो उस राधा को मानो तरंगों में चबल जलत्र रूप हाथों से हस के ग्राह से रोकने लगा ( निषेध करने लगा ) ।

टिप्पणी—हस के पकड़े जाने पर स्वानाविक रूप आतंकित पक्षी जब सहसा वह पड़े और इस कारण चल हिल गया और उसमें बनती लहरों द्वारा कमल भी चबल हो उठे, बिनकी राधा को हस पकड़ने का निषेध करते सरोवर के हाथों के रूप में समझाना की गयी है । मन्त्रिनाय ने इस श्लोक में रूपक-उत्प्रेक्षा का तथा चन्द्रकलाकार ने उपमा-उत्प्रेक्षा के अगाधमात्र के संकर का निर्देश किया है । विद्याधर के अनुसार यहाँ अनुप्रास-उत्प्रेक्षा-रूपक-स्वभावोक्ति का मकर है ॥१२६॥

पतत्रिणा तद्रुचिरं वञ्चितं त्रिजः प्रयान्त्या प्रविहाय पत्वल्म् ।

षत्पदाम्मोहन्तुरोपमां चूकूज कूले कलहसमण्डली ॥ १२७ ॥

जीवानु—पतत्रिणेति । रुचिरेष पतत्रिणा हर्षेन वञ्चित विरहित तन्मन्त्रल सर विहाय प्रयान्त्या गच्छन्त्या धियो लक्ष्म्यान्त्रकूला पदाम्मो-हन्तुराम्नाम् उपमा साम्य मस्या सा कलहसमण्डली कूले चूकूज । मयभ्रष्टे कूजननेपा स्वभावस्तत्र हनेनैव सह गच्छन्त्या सरद्योमाया श्रीदेव्या सहाभेदाध्यवसायेन कूजत्कलहसमण्डल्या तदुत्पत्त्यमुत्पत्त्ये । उपमासन्दोषि मुत्पत्त्यनुपपत्ते सम्भावनापक्षक इत्यवघेयम् ॥ १२७ ॥

अन्वय —रुचिरेष पतत्रिणा वञ्चितं तत् पत्वल् विहाय प्रयान्त्या त्रिजः षत्पदाम्मोहन्तुरोपमां कलहसमण्डली कूले चूकूज ।

हिन्दी—( उस ) मनोहर पक्षी ( स्वर्णहस ) से रहित उस सर की छोड़ कर जाती लक्ष्मी के गमन करते चरण-कमल में पहिने नूपुरों से समानता करता कलहनों की मण्डली तीर पर दण्ड करने लगी ।

टिप्पणी—मनोरम हस के न रहने से तात्पर्य की मानो श्री-द्योना ही समाप्त हो गयी । आतंकित तीरवर्ती साधो कलहस कूजने लगे । इस पर सर-ध्या के धर के बबले मजीरों की सुन्दर कल्पना की गयी है । कवि ने प्र-मा

+ शतृ + डीप् + षष्ठी = 'प्रयान्त्या' के वर्तमानकालिक प्रयोगद्वारा श्री के प्रत्यागमन का सूचन किया है। मल्लिनाथ ने यहाँ समावनालक्षक उपमा और उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है। और चन्द्रकलाकार ने अतिशयोक्ति उपमा के अगाधिभाव मकर का। विद्याधरने यहाँ अनुप्रास उपमा स्वभावोक्ति का सूचन माना है।

न वासयोग्या वसुधेयमीदृशस्त्वमङ्ग । यस्या पतिर्ऽग्नितस्थिति ।

इति प्रह्णम क्षितिमाश्रिता नम खगास्तमाचक्रुश्चरारवै खलु ॥१२८॥

जीवातु—नेति । इय वसुधा वामयोग्या निवासाहर्हा न, पुत अङ्ग भो । यस्या वसुधाया उग्नितस्थिति त्वनमय्यादि ईदृश अनपराधपक्षिधारक रथ पति' पालक, इत्य खगा क्षिति प्रह्णय नम आश्रितास्त मलमारवै-रुन्वध्वनिभिराबुक्नु खलु । उत्तरीत्या सनिन्दोपालम्भन चक्रुरिवेत्यु-त्प्रेक्षा गम्या ॥ १२८ ॥

अन्वय—'अङ्ग यस्या ईदृश उग्नितस्थिति। त्व पति ( सा ) वसुधा वामयोग्या न'—इति क्षिति प्रह्णय नम आश्रिता खगा तम् आरवै आबुक्नु खलु ।

हिन्दी—'ए राजा जिस घरती का ऐसा मर्यादा छोड़ देनेवाला तू स्वामी है, वह घरती गहन योग्य नहीं है'—इस प्रकार घरती को छोड़कर आकाश में उड़ गये सभी पक्ष करते हुए मानो राजा की निंदा करने लगे ।

टिप्पणी—जिम घरती का स्वामी मर्यादारहित आचरण करने लगे, धन-धान्य से परिपूर्ण होने पर भी उस तोपटवा घरती पर सज्जन नहीं रहते, उस भरी-भूरी घरती में मूना आकाश ही मला । स्वभावत उड़कर मँडराते चिन्ताते हस्तों के माध्यम से यह समावना की गयी है । उत्प्रेक्षा अलंकार ॥१२८॥

न जातदृष्टदजातरूपता द्विजस्य दृष्टेयमिति स्तुवन् मुहुः ।

जवादि तैनाथ स मानमौकमा जनाधिनाय करपञ्जरस्पृशा ॥१२९॥

जीवातु—नेति । इयमौदज्जातरूपदृष्टं सुवर्णपथं जातरूपता उत्पन्न-गोदपत्तं द्विजस्य पक्षिणो न दृष्टा द्विरण्य पक्षी न कुत्रापि दृष्ट इत्यर्थः । इति मुहुः स्तुवन् स जनाधिनाय अयास्मिन्नन्तरे करपञ्जरस्पृशा तद्गतेन

मानस सर ओक. स्थान यस्मेति च तेन मानसोक्ता हसेन 'हृयास्तु श्वेत-  
गष्टरत्नसङ्गा मानसोक्त' इत्यमरः । जवादि उक्त । वदे कर्मणि  
सुद् ॥ १२९ ॥

अन्वय — 'अथ इय जातिरुच्छदजातरूपता द्वित्यस्य न दृष्टा'—इति मूढः  
श्रुत्वा स जनाधिनाथ करपञ्चरत्नसृष्टा सेन मानसोक्ता जवादि ।

हिन्दी—तन्परचात्र, 'सोने के पल्ल होने से उत्पन्न ऐसी सुन्दरता मैंने पत्नी  
की नहीं देखी — इस प्रकार हंस को ( विचित्र सौंदर्य को ) बारबार प्रशंसा  
करत उस नरनाथ से हाथ के पित्रे में पकटा वह मानसरवासी हंस बोला ।

टिप्पणी—हंस को अपरूपता पर मुग्ध राजा का वर्णन । विद्याधर के  
अनुसार यहाँ अनुशास-रूपक अलंकार है, चन्द्रकलाकार ने यमक का उत्कृष्ट  
किया है ॥१२९॥

धिगस्तु तृष्णातरलं भवन्नन समीक्ष्य पक्षान्मम हेमजन्मन ।

तवारणवस्येव तुषारशीकरैर्मवेदमीनि कमलोदय कियान् ॥१३०॥

जीवातु—उद्वेग चतुर्निघट-धिगिन्यादि । हम्नो जम येषां तान् हेम-  
जन्मतो हैमान् मम पक्षान् पतन्त्राणि समीक्ष्य तृष्णातरलम् आशावशग  
भवन्ननो धिगस्त्विति निन्दा 'धिङ्निर्नत्सननिन्दयोरि' त्यमरः । 'धिपु-  
ष्पांश्चिपु त्रिष्वि'ति धिग्योगात् मन इति द्वितीया । तुषारशीकरै हिमकणै-  
रणवस्येव तव एभि पत्रं कियान् कमलाया लक्ष्म्या कमलस्य जन्मस्य बोदयो  
वृद्धिर्नवेत्, न कियानित्यर्थः ॥ १३० ॥

अन्वय—हेमजन्मन मम पक्षान् समीक्ष्य तृष्णातरलं भवन्नन' पित् अस्तु,  
तुषारशीकरै अणवस्य इव तव बमीनि कियान् कमलोदय भवेत् ।

हिन्दी—हे नल, मेरे सोने के पल्लों को देखकर तृष्णा से चञ्चल हुए तेरे  
मन को धिक्कार है, ओस-कणों के समान इन ॥ सागरतुल्य तुल्य में कितने  
जलरूप धन ( कमल = जल, कमला = लक्ष्मी, धन ) की वृद्धि हो सकेगी ?

टिप्पणी—नल ने हंस की 'जातिरुच्छदजातरूपता' (स्वर्णपक्षी के सौन्दर्य)  
को प्रशंसा की, इस पर हंस ने राजा के धन-श्रीमन् की निन्दा की । लक्ष्मीरति

राजा के लिए थोड़ा-सा स्वर्ण वैसे नगण्य है, जैसे जलनिधि समुद्र को ओस की बूँदें । विद्याधर के अनुसार उपमा, चन्द्रकलाव्याख्याकार के अनुसार उपमा श्लेष की सृष्टि ॥१३०॥

न केवल प्राणिबधो बधो मम त्वदीक्षणाद्विश्वसितान्तरात्मन ।

विगर्हित धर्मघर्नेनिबर्हण विशिष्य विश्वासजुषा द्विषामपि ॥१३१॥

जीवातु—नेनि । हे नृप ! त्वदीक्षणात् स्वभूतिदक्षिणादेव विश्वमितान्तरात्मनो विलम्बचित्तस्य विश्वस्तस्येत्यर्थं मम बध केवल प्राणिमात्रबधो न किन्तु विश्वासघातपातकमित्यर्थं । सत किमत आह—विश्वासजुषा विलम्बभाजा द्विषामपि निबर्हणं हिंसनं घमघर्नेर्घर्मपरं मन्वादिभि विशिष्यातिरिष्य विगर्हितमाप्यन्तनिन्दितमित्यर्थं ॥ १३१ ॥

अन्वयः—स्वदीक्षणात् विश्वसितान्तरात्मन मम बध केवल प्राणिबध न, विश्वासजुषा द्विषाम् अपि निबर्हणं घर्मघर्नेः विशिष्य विगर्हितम् ।

हिन्दी—तुम्हें देखकर जिसके मन में विश्वास जाग गया था, उस विश्व-स्मरणा मेरी हत्या केवल जीवाहिता नहीं है, विश्वास की प्राप्त दायुओं को भी मारने की घर्माहमाजी ने विशेष निहा की है ।

टिप्पणी—विश्वासघात तो अपराधी दायु से भी उचित नहीं ठहराया जाता, मैं तो निरीह, निरपराध पक्षी हूँ, मेरी हत्या तो अत्यन्त निन्दनीय है । विश्वादानुप्रास और काव्यमलिन का विद्याधर द्वारा उल्लेख, चन्द्रकलाकार के अनुसार अर्थान्तरास-अव्यापत्ति का सुकर ॥१३१॥

पदे पदे सन्नि भटा रणोज्झटा न तेषु हिंसारस एष पूर्यते ? ।

धिगोदृशन्ते नृपत कुविक्रम कृपाश्रये य कृपणे पतत्रिणि ॥ १३२ ॥

जीवातु—पदे पद इति । रणोज्झटा रणेषु प्रवण्डा भटा योषा पदे-पदे सन्ति सर्वत्र सतीत्यर्थं, वीणाया द्विर्वा एष हिंसारसो हिंसारशब्देषु भटपु न पूर्यते अत्र बाहु न पूर्यत निमित्त्यर्थं । नृपतेर्महाराजस्य ते तव ईश्वरमवध्यवधरूप कुविक्रम धिक् य कुविक्रम कृपाश्रये कृपाविषये अनुवन्धीये कृपणे दीने पतत्रिणि त्रियत इति विशेषः ॥ १३२ ॥

अन्वय—पदे पदे रमोद्भूता भटाः सन्ति, तेषु एष, हिसारस न ते नृपते ईदृश कुविक्रम धिक्, यः कृपाश्रमे कृपणे मतस्तिपि पूयते ।

हिन्दी—रग-रग पर रसबाँकुरे योद्धा हैं, उनमें तेरा यह हिसारस पूर्ण नहीं होता ? तुझ राजा के ऐसे कुत्सित पराक्रम को धिक्कार, ओ दयापात्र बेचारे—( निरीह ) पक्षी पर पूंगंता को पा रहा है ।

टिप्पणी—निबल निरीह पर दिखाया गया पराक्रम निन्दनीय ही होता है, पराक्रम-प्रदर्शन ही समानदल योद्धा पर किया जाना उचित है, सो निरीह पक्षी का वध निन्दनीय हो होगा । विद्याधर के अनुसार विदग्धानुप्रास ॥१३२॥

फलेन मूलेन च वारिभूरहा मुनेरिवेत्य मम यस्य वृत्तयः ।

त्वयाऽद्य तस्मिन्नपि दण्डधारिणा कथं न पत्या धरणी हूणीयते ॥१३३॥

जीवातु—फलेनेति । यस्य मम मुनेरिव वारिभूरहा जलच्छा पद्मादीनाम् अन्यत्र वारिरहा भूरहान्व फलेन मूलेन चेत्यमनेन इत्यमानप्रकारेण वृत्तयो जीविका तस्मिन् अपि अनपराधेऽपीति भावः । दण्डधारिणा दण्डधारिणा अदण्डपदण्डकेनेत्यर्थः । पत्या त्वया हेतुना अद्य धरणी कथं न हूणीयते जुगुप्सत एवेत्यर्थः, हूणीयते कण्द्वादियगन्ताल्लट् तत्र हूणीडिति डित्करण-दात्मनेपदम् । अकार्यकारिण भक्तारमनि हन्ते क्षिय इति भावः ॥ १३३ ॥

अन्वयः—मने इव यस्य मम वारिभूरहा फलेन मूलेन च इत्य वृत्तयः तस्मिन् अपि त्वया दण्डधारिणा पत्या धरणी अद्य कथं न हूणीयते ।

हिन्दी—मुनि के समान जिस मेरा जीवन-व्यापार कमलों के फलमूल-द्वारा चला है, उस मृग पर तुझ दण्डधारी पति के कारण धरती आज क्यों लज्जित नहीं होती ?

टिप्पणी—कदमूलकलासी मुनि पर दण्ड उठाने वाले व्यक्ति के कारण उसकी पत्नी या लज्जित होना ही स्वभाविक है, ऐसी ही स्थिति उस समय पृथ्वीपति की थी । विद्याधर ने यथासक्य और उपमा अलंकार का निर्देश किया है ।

इतोदृशैस्त विरचय्य बाह्मये सचित्रवेक्ष्यकृप नृप स्वगः ।

दयाममुद्रे म तदाशयेऽनियोचकार कारुण्यरसापणा गिरः ॥ १३४ ॥

जीवातु—इतीति । इतीत्य सगो ह्यमस्त नृपम् ईदृशैर्दोषालम्भैरित्यर्थः, बाहुमयैर्वाग्निधारैः 'एकाचो नित्यं भयटमिच्छती'ति विकारार्थं भयट्प्रत्ययः । पक्षिकथनात् चित्रं, परं स्वाकाव्योद्घाटनादपत्रपा वलक्ष्य, परातिदशनेन तन्निवस्तनेच्छा वा कृपा, तामि मह वस्तत इति सचित्रवैलक्षण्यवृत्त विरचय्य विधाय 'त्यपि लघुपूर्वादित्ययादेशः । दयासमुद्रे तदाशये तन्विषे कारुण्यरसापगा करुणारसनदी गिर अतिथीषकार प्रवेशयामासेत्यर्थं समुद्रे नदीप्रवेशो युक्त इति भावः ॥ १३४ ॥

अन्वयः—स सग इति ईदृशौ बाहुमयौ स नृप सचित्रवैलक्षण्यकृप विरचय्य दयासमुद्रे तदाशये कारुण्यरसापगा गिर अतिथीषकारः ।

हिंदी—उस पक्षी ( हंस ) ने इस प्रकार के उपयुक्त वचनों द्वारा उस राजा को विस्मय, दुःख और कृपा से पूरा बनाकर दया के सागर रूप उसके हृदय में करुणारस की नदी रूप वाक्समूह का प्रवेश कराया ।

टिप्पणी—नर के द्वारा पकड़े हंस ने पूर्व ( १२८-१३३ ) छ श्लोको में जो तत्कालमत्त और न्यायसिद्ध पक्षन कहे, वे प्रत्येक सज्जन को विचार करने में विवश करने के लिये पयास थे, फलस्वरूप राजा को इस प्रकार की मानवोचित शांति और विचार पर आश्चर्य, स्वाभाविक करुणा और खेद हुआ और हंस ने इस प्रकार की स्थिति देख उपयुक्त समझा कि राजा की करुणा को तीव्र बनाया जाय । विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और रूपक, चंद्रकलाकार के अनुसार शिल्पपरम्पित रूपक ॥ १३४ ॥

मदेकपुत्रा जननी जरातुरा नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी ।

गतिस्तयोरेष जनस्तमहं मग्नहो विधे । त्वां कथया रणद्धि नो ॥ १३५ ॥

जीवातु—तावद्विर प्रपञ्चयति—मदित्यादिना । तत्र तावद् देवमुपालभते हे विधे ! जननी अहमेवैव पुत्रो यस्या सा मदेकपुत्रा मम नाशे तस्या गत्यंतर नास्तीत्यर्थः । जरातुरा स्वयमप्यसमर्थत्वं, वरटा स्वभार्या ह्यस्य 'योपिद्वरटे'त्यमरः । नवप्रसूतिरचिरप्रमवा तपस्विनी शोच्या एव जन स्वयमित्यर्थस्तयोर्जायाजनन्योर्नति सारण त जन मामित्यर्थः, अदयद् पीडयन्

हे विधे ! विधात ! त्वा कस्या नो रुपादि मन्वीदनान्न निवारयतीति वाङ्,  
न रुपादि किमिच्छयं ॥ १३५ ॥

अन्वय—मदेकपुत्रा जननी जरातुरा, बरटा नवप्रभूति तपस्विनी, एषः  
जन तयो गति, अहो विधे, तम् अदंयत् त्वा कस्या न रुपादि ।

हिन्दी—मैं ही जिसका एक पुत्र हूँ, ऐसी मेरी माता बुढ़ापे से पीड़ित है,  
मेरी पत्नी को सभी निरुद्ध अश्लील में ही प्रसन्न हुआ है, वह बीना है, यह जन  
( मैं हूँ ) ही उन दोनों का जीवन साधक है, अरे विधाता, उस ( मुझे ) को  
पीड़ा देते—मारते तुझे कस्या नहीं रोकती ?

टिप्पणी—राजा के हृदय में आश्चर्य, दुःख और कष्टा जगाकर कष्टा  
को और भी शीघ्रतर बनाने के लिए विधाता को अथवा उसी मित्र राजा को  
संशोधित करते हुए हम ने इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया । अपनी माता और  
पत्नी का जीवनाश्रय एक मात्र वही था, इसे प्रमाणित करने के लिए अपनी माँ  
को विवश, बूढ़ी, पीड़िता बताया, जो उस अकेले बेटे के अभाव में निश्चय ही  
मर जायेगी । उसकी पत्नी दूरी तो नहीं है, परन्तु 'नवप्रभूति' होने से वह  
भी अच्छी स्थिति में नहीं है पतिव्रता होने से वह मेरे बाद दूसरा पति भी  
नहीं ढूँढ लेगी, सो उसकी भी दुर्गति होगी । ऐसे माँ और पत्नी के एक मात्र  
आश्रय को मारने में मारक के हृदय में कष्टा न उत्पन्न होना ही आश्चर्य है ।  
यद्यपि आगे समका सुन्दर नहीं बैठता, तथापि 'प्रकाश'—कार ने अन्य प्रकार से  
पदच्छेद करके इस श्लोक में एक अर्थ अर्थ की समावना भी दिखायी है ।  
उनके अनुसार इस ही अपने एक मात्र अवजात पुत्र और नवप्रभूता माँ का  
आसरा है—मदेकपुत्रा ( मत एक पुत्रो यस्याः सा, मुझसे ही जिसे एकमात्र  
पुत्र जन्मा है ), अजननी ( आगे वह 'जननी' न बन सकेगी ) । यह ठीक है कि  
अभी वह बूढ़ी नहीं है—'जरातुरा न' परन्तु वह 'तपस्विनी बरटा' । वह बेचारी  
दीन धरती ) मेरे न रहने में यदि कहीं शरण पासकेगी तो वप्र अर्थात् पर्वतशिखर  
पर ही—वप्र एव मुतराम् ऊतिः रक्षण यस्याः सा । विद्याधर के अनुसार परिकर  
अल्कार क्योंकि यहाँ सामिप्राय विशेषणों का प्रयोग है—उक्तैर्विशेषणं सामि-  
प्राये परिकर ॥ १३५ ॥



मुहूर्तमात्रं भवनिन्दया दयासखा\* सखायं सखदश्रवो मम ।

निवृत्तिमेष्यन्ति परं दुरत्तरस्त्वयैव मातः । सुतशोकसागर ॥ १३६ ॥

जीवातु—अयं मातरं शोचयति—मुहूर्तेति । हे मातः । सखायं सुहृदो दयासखा सदया भवनिन्दया ससारगहणेन मुहूर्तमात्रं क्षणमात्रं सखदश्रवो गलिताश्रव एव सन्तो निवृत्तिं शोकोपरतिमेष्यन्ति, किन्तु त्वयैव सुतशोक एव सागरं परमत्यन्तं दुःखेनोत्तीर्यत इति दुरत्तरो दुस्तरं तरते कृच्छ्रायं सल्लप्रत्यय ॥ १३६ ॥

अन्वय—मम दयासखा सखायं भवनिन्दया मुहूर्तमात्रं सखदश्रवं निवृत्तिम् एष्यन्ति, परं मातृ त्वया सुतशोकसागरं, दुस्तरं एव ।

हिन्दी—दयालु मेरे मित्र ससार की निन्दा करते मुहूर्त भर आँसु गिरा शोक-निवृत्त हो लेंगे, पर हे माँ, तुझ से पुत्र शोक का समुद्र दुस्तर हो होगा, अर्थात् न तरा जा सकेगा ।

टिप्पणी—माँ के दुःख की संभावना दिखाकर करुणाद्वेषन बरानेवाले वचन । अनुप्रास रूपक अलंकार ॥ १३६ ॥

मदर्यसन्देशमृणालमन्थरं प्रियं वियद्दूरं इति त्वयोदिते ।

विलोकयन्त्या रुदतोऽयं पक्षिणः प्रिये । स कीदृग्भवित्वा तव क्षणः ? ॥

जीवातु—अयं भार्यामुद्दिश्य विलपति—मदर्यस्यादिना । हे प्रिये । मया-मिमे मदर्ये 'अर्थेन सह नित्यसमाप्ती विशेष्यलिङ्गता चेति वस्तव्यम्' तयो स-देशमृणालयो वाचिकविसयो मन्थरस्तत्प्रेषणे विलम्बितप्रवृत्तिः प्रियं वियद्दूरे देशे वर्तते इति त्वया उदिते उक्ते पृष्ठे मनीष्यये । अयं प्रदत्तानन्तरं रुदतं अनिष्टोच्चारणाद्यवया मन्थूणि विमृशत पक्षिण इत्या गच्छतो गताविलास्यत्यास्तव स क्षणः स कालः कीदृग्भवित्वा भविष्यति ? वक्ष्यतावप्राय इति भावः । उत्तरं सुट् ॥ १३७ ॥

अन्वय—प्रिये, मदर्यसन्देशमृणालमन्थरं प्रियं वियद्दूरे—एति त्वया उदिते अयं रुदतः पक्षिणः विलोकयत्या तव स क्षणः कीदृक् भविता ?

हिन्दी—हे प्रिय, मेरे निमित्त मयाचार और वचननाश भेजने-काने

विलम्ब लगाने वाला मेरा प्रिय कितनी दूर है,—इस प्रकार तेरे पृष्ठने पर (उत्तर में) रोंते पक्षियों को विलोन्ती तेरा दह छा कितना कष्टकारक होगा ?

टिप्पणी—पानी के सनावित दुःख का मर्मोत्पत्ति चित्रण । दह क्षण पानी के लिए वज्रपात तुल्य हो होगा । भावोदय अलंकार ॥१३७॥

कथं विधातमपि पाणिपङ्कजात् प्रियाशीत्यमृदुस्वशिल्पिन ।

विशोभ्यसे बल्लभयेति निगन्ता लिपिलक्षराक्षरा लिपि कथं निर्गता ॥ १३८ ॥

जीवात्—कथमिति । विधातुं प्रियाया वरदोषा शीत्यमृदु शिल्पि-

नस्तात् तदङ्गसंलग्नमादं बलिमान्नात्तव पाणिपङ्कजात् अमृदुशिल्पि-

पाणेरित्यर्थः । मयि विषये बल्लभ्यसे सहविशोभ्यसे इत्येवम् अतएव

तपन्ति दहन्तीनि ललाटन्तपानि निगन्ता लिपिलक्षराक्षरा लिपि कथं निर्गता

'अरद्विपदि'त्यादिना मुमागम तानि निगन्ता लिपिलक्षराक्षरा लिपि कथं निर्गता

यस्या सा लिपिरक्षरविन्यास कथं निर्गता लिपिलक्षराक्षरा लिपि कथं निर्गता

विरहकाव्योत्पत्तिकथनाद्विपमालङ्कारभेद 'विरहकाव्योत्पत्तिर्यत्रानयस्य

भावयेत् । विरूपघटना वा स्याद्विपमालङ्कारभेद 'विरहकाव्योत्पत्तिर्यत्रानयस्य

भावयेत् । विरूपघटना वा स्याद्विपमालङ्कारभेद 'विरहकाव्योत्पत्तिर्यत्रानयस्य

भावयेत् । विरूपघटना वा स्याद्विपमालङ्कारभेद 'विरहकाव्योत्पत्तिर्यत्रानयस्य

भावयेत् । विरूपघटना वा स्याद्विपमालङ्कारभेद 'विरहकाव्योत्पत्तिर्यत्रानयस्य

भावयेत् । विरूपघटना वा स्याद्विपमालङ्कारभेद 'विरहकाव्योत्पत्तिर्यत्रानयस्य

भावयेत् । विरूपघटना वा स्याद्विपमालङ्कारभेद 'विरहकाव्योत्पत्तिर्यत्रानयस्य

भावयेत् । विरूपघटना वा स्याद्विपमालङ्कारभेद 'विरहकाव्योत्पत्तिर्यत्रानयस्य

भावयेत् । विरूपघटना वा स्याद्विपमालङ्कारभेद 'विरहकाव्योत्पत्तिर्यत्रानयस्य

भावयेत् । विरूपघटना वा स्याद्विपमालङ्कारभेद 'विरहकाव्योत्पत्तिर्यत्रानयस्य

भावयेत् । विरूपघटना वा स्याद्विपमालङ्कारभेद 'विरहकाव्योत्पत्तिर्यत्रानयस्य

भावयेत् । विरूपघटना वा स्याद्विपमालङ्कारभेद 'विरहकाव्योत्पत्तिर्यत्रानयस्य

भावयेत् । विरूपघटना वा स्याद्विपमालङ्कारभेद 'विरहकाव्योत्पत्तिर्यत्रानयस्य

भावयेत् । विरूपघटना वा स्याद्विपमालङ्कारभेद 'विरहकाव्योत्पत्तिर्यत्रानयस्य

भावयेत् । विरूपघटना वा स्याद्विपमालङ्कारभेद 'विरहकाव्योत्पत्तिर्यत्रानयस्य

भावयेत् । विरूपघटना वा स्याद्विपमालङ्कारभेद 'विरहकाव्योत्पत्तिर्यत्रानयस्य

जीवानु—अपीति । अपि चेत्यपेक्ष्यं । अद्यास्मिन् दिने 'तद्य पर्वदि'त्या-  
दिना निपातः स्वयूच्यं स्वसङ्ख्यवरं हंसं वर्तुमिरशनिशतोपम वज्रप्रहारशाय  
ममेव वृत्तान्तम् अनर्थवातां उदिता उक्ता सती वदेन्मूर्धन्यस्य दुहादित्वाद-  
प्रधाने कर्मणि क्त 'वचिस्वपी'स्यादिना सम्प्रसारण, हे लोलाक्षि । दशदिशा  
मुखानि शून्यान्यन्वयाकाराणि विनाशयिष्यमि असंशय सन्देहो नास्तीत्यर्थं ।  
अर्षामावेऽन्ययोभाव , वतेति श्रुते ॥ १३९ ॥

अन्वयः—अपि अद्य स्वयूच्यं अशनिशतोपम मम वृत्तान्तम् उदिता  
लोलाक्षि, असंशय दश अपि दिशा मुखानि शून्यानि विलोकयिष्यसि वत ।

हिन्दी—जीर आज अपने दल के साथी हंसों द्वारा बजावात के समान  
मेरा वृत्तान्त कहे जाने पर खेद है, कि हे बचल नयनो वाली, नि सन्देह दशों ही  
दिशाओं के मुख तुझे सूने दिखायी पड़ेंगे ।

टिप्पणी—वज्र का हृदय भी द्रवीभूत करने वाले और पत्थर को भी  
मोम कर देने वाले स्वाभाविक कृष्ण जागरित करनेवाले वचन । अनुप्रास  
और उपमा ॥ १३९ ॥

ममेव शोकेन विदीर्णवक्षसा स्वयाऽपि चित्राङ्गि । विपद्यते यदि ।

तदस्मि दैवेन हृतोऽपि हा हृत स्फुट यतस्ते शिशव परासव ॥ १४० ॥

जीवानु—ममैवेति । हे चित्राङ्गि । लोहितचञ्चुचरणत्वाद्विचित्रगान्त्रे ।  
मम शोकेनैव मद्विपत्तिदुःखेनैव विदीर्णवक्षसा विदलितहृश स्वया विपद्यते  
म्रियते यदि तत्तर्हि दैवेन हृतः स्फुट शब्द पुनर्हृतोऽस्मि हेति विपादे, 'हा  
विस्मयविपादयोरिति विश्व । कुत' ? यत ते शिशव परासवो भातुरभावे  
पोषकाभावान्मृता , अतः शिशुमरणभावनया द्विगुणित मे मरणदुःख प्राप्त-  
मित्यर्थं ॥ १४० ॥

अन्वयः—चित्राङ्गि, यदि मम शोकेन विदीर्णवक्षसा स्वया अपि विपद्यते,  
हा, तद्, दैवेन हृत स्फुट हृत अस्मि, यत ते शिशव परासव ।

हिन्दी—हे सुन्दर शरीर वाली, यदि मेरे शोक में वक्ष फट जाने से तू  
भी मर जायेगी, हाय, तो देव द्वारा मारा मैं और मारा जाऊँगा, क्योंकि तेरे  
बिना तेरे छाटे बच्चे भी मर जायेंगे ।

टिप्पणी—कहना को तीव्रतर करनेवाला तर्क । कहा रख, काव्यमयि  
अटकार ॥१४०॥

तवापि हाहा विरहान् क्षुधाकुला कुलायकूलेषु विवृण्व्य तेषु ते ।

चिरेण लब्धा बहूनिमनोरथैर्गता क्षणेनान्मृष्टितेक्षणा मम ॥ १४१ ॥

जीवातु—ननु ममृता कथं तेषां मृतिरस्य आह—तवापीति । हे प्रिये !  
बहूनिमनोरथैश्चिरेण लब्धा बहून्मृता इत्यर्थः, अमृष्टितेक्षणा अद्याप्यनुमी-  
लितेक्षणा मम ते पूर्वोक्ता शिथिलं तवापि न केवलं मर्नवेति भावः । विरहा-  
द्विपत्तेः क्षुधाकुला क्षुत्पीडिता तेषु स्वसम्पादितं प्वित्यर्थः, कुलायकूलेषु  
नीढान्तिवेषु, 'कुलामो नीढमस्त्रियानि'त्यमरः । विवृण्व्य परिवृत्त्य क्षणेन  
गता मृतप्रमा, हा हेति खेदे ॥ १४१ ॥

अन्वय —हा हा, बहूनि मनोरथं चिरेण लब्धा अमृष्टितेक्षणाः मम तव  
अपि विरहान् क्षुधा आकुला तेषु कुलायकूलेषु विवृण्व्य क्षणेन गता ।

हिन्दी—हाय, बहुत से मनोरथ करके विरहान् में प्राप्त जिनकी अपनी  
बाखें भी नहीं सुख पायी हैं, ऐसे मेरे और तेरे न रह जाने से मुख से व्याकुल  
( वे छोटे-छोटे बच्चे ) नाह के भीतर लोटते हाँ में मृतप्राय हो जायेंगे ।

टिप्पणी—पूर्व श्लोक के सदर्भ में यह श्लोक भी है । नवजात पशु-  
पावकों की दृष्टि ठीक से देखने योग्य नहीं होती—'जस्फुटितेक्षणा' बच्चों के  
बहुत छोटे होने का द्योतक है । 'गता' का अर्थ 'गये' होता है, पर जो  
'जस्फुटितेक्षणा' हैं, वे 'गता' कैसे हो सकते हैं ? विरोध-परिहार में 'गता'  
का अर्थ हुआ 'मृतप्राय' । कशचिद् इसी के आधार पर विद्यापर ने यहाँ  
विरोधान्नास अलंकार का उल्लेख किया है । कदन रख ॥१४१॥

मुनाः कनाह्वय चिराय बृहद्वर्तविधाय कम्प्राणि मुखानि क प्रति ? ।

कयामु शिष्यध्वमिति प्रमोन्व स स्तुतम्य सेकाद् बुध्वे नृपाश्रुण ॥१४२॥

जीवानु—मुता इति । हे मुता ! बृहद्वर्तबृहदारिचिराय क प्रति कनपि  
प्रति मुखानि कम्प्राणि चञ्चलानि विद्वान् कयामु शिष्यध्वं कयामाश्रयेया  
नवत । कुत्रापि पित्रोरदर्शनाद् शिष्यध्वं, प्राप्तकाले लोट्, मरणकाले प्राप्त

इत्यर्थं । इतीति इत्युक्त्वेत्यर्थं । गम्भमानार्थत्वादप्रयोगः । प्रमीत्य मूर्च्छां प्राप्य स हम् स्रुतस्य दयाद्राभावात्प्रवहती नृपस्याश्रुण सेकाद् बुबुधे सभा लेभे । प्रायेणात्र स्वभावोक्तिरूह्या । १४२ ॥

अन्वयः—सुता, चूड़वृत्तं चिराय कम् आहूय क प्रति मुस्तानि कम्प्राणि विधाय कषामु शिष्यध्वम्,—इति प्रमीत्य स स्रुतस्य नृपाश्रुण सेकात् बुबुधे ।

हिन्दी—पुनो, चें चें करके चिरकाल तक किसे बुलाकर और किसकी ओर चल मुक्त करके कषामानावशेष हो जाओगे ?—ऐसा कह मूर्च्छित हुआ वह हम राजा के टपकते आँसुओं के सिंचन से बीच को प्राप्त हुआ ।

टिप्पणी—अपने बच्चों की समाहित दुर्दशा पर विचार करते-करते हृत् मूर्च्छित हो गया, जिससे दयाशील नल के आँसू टपकने लगे, जो हृत् पर गिरे और उनके कारण उसकी मूर्च्छा छूटी । पतिशायक चें-चें बोलते त्वरापूर्वक अग्ने जननी जनक से खींच बढ़ाने-खोलते भोग्य ग्रहण किया करते हैं । उस दोनों के दिवगत हो जाने पर चिल्लाते चिल्लाते धक कर बच्चों का दयावशेष-मृत हो जाना ही स्वाभाविक है । कवणरमणोपिका उक्ति । जाति अथवा स्वभावाति भलकार ॥ १४२ ॥

इत्यममु विलपन्नममुश्चदीनदयालुतयाऽवनिपालः ।

रूपमदर्शित धृतोऽसि यदर्थं गच्छ यथेच्छमथेत्यभिधाय ॥ १४३ ॥

जीवात्—अत्र सर्वत्र 'मिभ्रसर्गान्निरि'ति काव्यलक्षणाद् वृत्तान्तरेण दयावद्भवमाहु-इत्यमित्यादिना । इत्य विलपत्त परिदेवमानममु हंममवनिपालो नलो दीनेष्वात्तेषु दयालुतया काव्यनिश्चयमा रूपमाकृतिरदर्शित अपूर्वत्वादव-लोकित, यस्मै यदर्थं रुदर्सनायमेव धृतो गृहीतोऽसि, अथ यथेच्छ गच्छेत्यभि-धाय अमुञ्चत् मुक्तवान् । 'दोषकवृत्तमिदमममा गावि'ति लक्षणात् ॥ १४३ ॥

अन्वयः—इत्य विलपत्तम् अमु दीनदयालुतया अवनिपालः—रूपम् अदर्शित यदर्थं गच्छ असि,—इति अभिधाय अमुञ्चत् ।

हिन्दी—इस प्रकार विचरते हुए ( हृत् ) को दोनों पर दयालु होने के कारण पृथ्वीराज ने यह कहकर कि तुम्हारा रूप दिख गया, जिसके निमित्त तुम्हें पकड़ लिया था—हृत् को छोड़ दिया ।

टिप्पणी—इत्यादि-मल्लि हो जो धरती मातृ का पालनहार था, बेचारे  
हम को कैसे बचन में रख सकता था ? अनुयाय की छटा । दोषक वृत्त,  
त्रिके प्रत्येक चरण में ग्राह्य अक्षर होते हैं, तीन अक्षर ( ॐ ) और अक्षर  
में दो गुण— नमो गौ ॥१४३॥

आनन्दजाश्रुभिरनुस्त्रिप्रमाणमार्गान् प्राक्शोकनिर्गलितनेत्रपय प्रवाहान् ।  
चक्रे स चक्रनिमचङ्क्रमणच्छन्नेन नीराजना जनयता निजबान्धवानाम् ॥

जीवातु—आनन्देति । इस चक्रनिमचङ्क्रमणस्य मण्डलाकारभ्रमणस्य  
छन्नेन नीराजनाङ्गनपता कुर्वता निजबान्धवानां 'बन्धमुक्त बान्धवा नीराज-  
यन्ती'ति समाचारः । प्राङ्मोचनात्पूर्वं शोकैर्न निर्मलितानि निसृता नेत्रपय-  
प्रवाहा दाप्यनुरास्तानानन्दजाश्रुभिरानन्दबार्ष्प्यैरनुस्त्रिप्रमाणमार्गान् अनुगम्य-  
मानमार्गाञ्चक्रे कृतवान् । अत्र पक्षिणा स्वभावसिद्ध बन्धमुक्त स्वयुध्यभ्रमा  
छन्नछन्देनापह्यन्त्य सत्र नीराजनाचारोपादयद्बन्धभेदः । अत्र चमत्कारित्वान्म-  
ङ्गलाचारस्वत्वाच्च सर्वत्र सङ्गीतश्लोकेष्वानन्दशब्दप्रयोगः, मयाह  
मावान् भाष्यकार—'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि विहितानि  
शास्त्राणि प्रपन्ते वीरपुरुषाध्यायुध्यत्पुराणि च भवन्ति अध्येतारश्च प्रवक्ष्यारो  
भवन्ती'ति । वसन्ततिष्ठावृत्तम् 'उक्ता वसन्ततिष्ठा वनजा जगौ ग' इति  
रङ्गमात्र । सर्गसिद्धत्वाद् वृत्तभेदः, मयाह दण्डी—'सर्वैरनतिविस्तीर्णं आभ्यवृत्तौ  
सुसन्धिनि' । सर्वत्र मन्त्रमार्गान्तरैरेव लोकरञ्जनम् ॥' इति ॥ १४४ ॥

अन्वयः—स चक्रनिमचङ्क्रमणच्छन्नेन नीराजना जनयता निजबान्धवानां  
प्राक्शोकनिर्मलित नेत्रपयप्रवाहात् आनन्दजाश्रुभिः अनुस्त्रिप्रमाणमार्गान् चक्रे ।

हिन्दी—उस ( मुक्त हस ) ने चक्राकार मंदिराने के व्यास से मानो  
आरती उठारते अपने बावलों ( साथी हसों ) के पहिले शोक के कारण टपकती  
अश्रुवार को हार्पणन नमनजलवार से अनुमित होती बनाया ।

टिप्पणी—साथी के द्वारा-मुक्त होने पर दन्धुअन प्राय आरती उठारा  
करते हैं । इस के बचन में पहचाने से आवाज में ( १०७६ श्लोक के अनु-  
सार ) मङ्गलाकार मंदिरात्री जो हसमहली शोक के आश्रु गिरा रही थी, वह  
अब प्रसन्न हो आनन्दाश्रु बहाने लगी, अर्थात् बचन पर कष्ट था रही थी,

साथी के मुक्त होने पर प्रमोद से भर उठी। विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में अनुप्रास अपह्नुति जाति की ससृष्टि है। 'नैपथीयचरित' के प्रत्येक कथा के समाप्ति श्लोक में 'आनन्द' शब्द आता है, जैसे इस श्लोक का आरम्भ ही 'आनन्द' शब्द से है, ऐसे ही प्रत्येक सर्गान्त श्लोक में कही न कही आयेगा, इसलिए इस महाकाव्य को 'आनन्दाद्यु' कहा जाता है। वसततिलका धृत, जिसका वा र्थाण है—तगण ( ५५ ), भगण ( ५५ ), दो जगण ( १५ ) और अठ के दो ( ५५ ) गुरु अक्षर,—१४ अक्षरों का एक चरण ॥१४४॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुत

श्रीहीरः सुपुत्रे जितेन्द्रियचय मामल्लदेवी च यम् ।

तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले शृङ्गारमङ्गला महा

काव्ये चारुणि नैपथीयचरिते सर्गोऽयमादिर्गन्तः ॥ १४५ ॥

जीवातु—अथ कवि काव्यवर्णनमाख्यातपूर्वक सर्गसमाप्ति श्लोकबोधनाह-  
श्रीहर्षमिति । कविराजराजिमुकुटानां विद्वच्छ्रेणीमुकुटानाम् अलङ्कारभूतो  
हीरो वक्ष्यमणि हीरो नाम विद्वान् श्रीहर्षनामान य सुत सुपुत्रे जनयामास, माम-  
ल्लदेवी नाम स्वमाता सा च य सुत सुपुत्रे, तस्य श्रीहर्षस्य यच्चिन्तामणिमन्त्र  
तस्य चिन्तनमुपासना तस्य फले फलभूते शृङ्गारमङ्गला शृङ्गाररमेन  
चारुणि निपथाना राजा नैपथो नल तदीयचरिते नलचरितनामके महाकाव्ये  
अयमादि प्रथम सर्गो गत समाप्त इत्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् ॥१४५॥

इति 'मल्लिनाथमूरि'विरचिताया 'जीवातु'समाख्याया नैपथीकाया

प्रथम सर्गं समाप्त ॥ १ ॥

अन्वयः—कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीर श्रीहीर मामल्लदेवी च जिते-  
न्द्रियचय य श्रीहर्षं सुत सुपुत्रे, तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले शृङ्गारमङ्गला  
चारुणि नैपथीयचरिते महाकाव्ये अयम् आदि सर्गं गतः ।

हिन्दी—कविराज समूह के मुकुट के अलङ्कार 'हीरक' के तुल्य श्रीहीर  
( पिता ) और मामल्लदेवी ( माता ) ने जिस इन्द्रियविजयी श्रीहर्ष पुत्र को  
जन्म दिया, उस श्रीहर्ष की चिन्तामणिमन्त्र के अनुष्ठान जपादि के फलरूप  
शृङ्गार की मणिमय उक्तिवा से पाठ बने नैपथीय चरित्र महाकाव्य का  
यह यादि सर्ग पूर्ण हुआ ।

टिप्पणी—यह परिचय श्लोक है, जो प्रत्येक सर्ग के अन्त में है। चित्ता-  
मणिमन्त्र के अनुष्ठान से श्रीहर्ष को कवित्व दानित प्राप्त हुई थी, जिसका उल्लेख  
'नैपथीयचरित' के 'अवामावामार्थे' ( १४८८ ) श्लोक में है। 'वैदग्ध्यनङ्गी-  
भूमिति' ही 'बक्रोचितजीवित' कार के अनुसार काव्य है। विद्याधर के अनु-  
सार यही अनुप्रास-रूपक-अलंकार हैं। शार्दूलविक्रीडित छन्द है, जिसके प्रत्येक  
चरण में सन्तीस अक्षर होते हैं, जिनका क्रम इस प्रकार है—मगण ( ५५ ),  
सगण ( ॥५ ), जगण ( ॥५ ), सगण ( ॥५ ), दो सगण ( ५५ ), अन्तिम  
गुरु ( ५ ) ॥१४५॥

नैपथीयचरित के प्रथमसर्ग में 'चन्द्रिका' हिन्दी-भाषा समाप्त ।





॥ श्री ॥

# नैषधसहाकाव्यम्

मन्त्रिनायकृन् 'जीवानु' टीकासहित-

सान्ख्य-सटिप्पण 'चन्द्रिका' हिन्दीव्याख्योपेतम्

## द्वितीयः सर्गः

अधिगत्य जगत्पथीश्वरादय मुक्तिं पुरुषोत्तमात्तन ।

वचनामपि गोचरो न यः स तमानन्दमविन्दत द्विज ॥ १ ॥

जीवानु—अधिगत्येति । अय मोचनानन्तर स द्विजः पक्षी विप्रद्वय, 'दन्त-  
विप्राण्डजा द्विजा' इत्यमर । जगत्पथीश्वरात् समापते भुवनपतेरय 'जगती  
भुवने कमायामि'ति विप्र । पुरुषोत्तमात् पुरुषश्चेष्टात् विष्णोश्च तत तस्मात्  
प्रकृतान्तरात् अन्यत्र प्रसिद्धाच्च मुक्ति माचन निर्वाणञ्च अधिगत्य प्राप्य  
जानन्दो वचनामपि न गोचर वक्तुमशक्य, 'यतो वाचो निवर्तत' इत्यादेर-  
वाङ्मनसगोचरश्च तमानन्द परमानन्दश्च अविदतालमत, विदेर्लोभायांश्च  
'कर्त्रेमिप्राये क्रियापर' इत्यात्मनेपद, 'शे मुखादीनामि'ति तुमागम । अत्रा-  
भिधाय प्रकृतार्थमात्रनियन्त्रणादुभयश्लेषानुपपत्तेर्नैदान्तरानवकाशाल्लक्षणायाश्च  
मुखायवाधमन्तरेणासम्भवात् ध्वनिरेवाय, ब्राह्मणस्य विष्णोर्भोजानन्दप्राप्ति-  
लक्षणापरान्तरप्रतीतेर्न श्लेष प्रकृताप्रकृतोभयगत । अस्मिन् सर्गे एकघटश्लो-  
कस्यैव द्विगोविनीवृत्तम् । 'विषमे ससजा गुरु समे सनरा शोभ्य गुरुविषो-  
गिनी'ति लक्षणादिति संक्षेप ॥ १ ॥

अन्वय —अय स द्विज तत जगत्पथीश्वरान् पुरुषोत्तमात् मुक्तिम् अधि-  
गम्य य वचनाम् अपि गोचर न तम् जानन्दम् अविन्दत ।

हिन्दी—तदनन्तर जिस प्रकार द्विज ( विप्र ) उस सत्तार के स्वामी  
पुरुषोत्तम हरि विष्णु से समार-भोग पाकर वाणी से नी अवर्गनीय परमानन्द  
को प्राप्त करता है, उसी प्रकार उस द्विज ( पक्षी हंस ) ने उस सत्तार के

अविपति ( राजा ) पुरुषश्रेष्ठ नर से छुटकारा पाकर जिसका वर्णन वाणी ( शब्दों ) से भी नहीं किया जा सकता, उस आनन्द को प्राप्त किया ।

टिप्पणी—आनन्द की अनुमृति की अत्यन्त सुखद प्रकट करने के निमित्त उसकी अवाङ्मनोगोचर मोक्ष के आनन्द से समता की गयी है । इस सर्ग में इस श्लोक से लेकर १०१ वें श्लोक ( अमृतघृतिलक्ष्म ) तक 'विद्योगिनी' छंद है, जिसके प्रथम तृतीय चरणों में दस अक्षर इस क्रम से होते हैं—दो सगण (115), एक जगण (151), दसवाँ अक्षर गुरु ( 5 ) तथा द्वितीय-चतुर्थ में ग्यारह अक्षर इस क्रम से रहते हैं—एक सगण (115), एक भगण (511), एक रगण (515), एक लघु, एक गुरु ( 15 ) । 'प्रकाशकार' ने इसे 'बंतालीय' छंद कहा है । विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में अनुदास और श्लेष अलंकार हैं, मल्लिनाथ इसमें श्लेष न मानकर अर्थांतर प्रतीति के कारण 'ध्वनि' ही मानते हैं । उनका कथन है कि अमिषा से प्रवृत्तार्थ मात्र का नियंत्रण होता है अतः श्लेष समझ नहीं और मुख्यार्थ-वाच के अनाथ में लक्षणा भी नहीं हो सकती, अतः व्यञ्जना के आशय से ही इष्टाय-प्रतीति होगी ॥ १ ॥

अधुनीत खग स नैकधा तनुमुत्फुल्लतनूह्रीकृताम् ।

करयन्मणदन्तुरान्तरेऽव्यलिप्तञ्चञ्चुपुटेन पक्षती ॥ २ ॥

जीवातु—अधुनीनेति । स खगो ह्य उत्फुल्लतनूह्रीकृता नृपकरपीडना-  
दुदुदुदध पतनीकृता 'पतत्र-ञ तनूह्रीमि'त्यमर । तनु शरीर नैकधा, नयर्थस्य  
मुष्मुपेति समास । नञ्समासे नलोपप्रसङ्गः । अधुनीत धृतवान् । घूर्ण त्र्या-  
दैलङिति तद्ध, 'प्वादीनां ह्रस्व' इति ह्रस्व । वि-ञ करयन्मणेन नृपकरपीडनेन  
दन्तुरे निम्नोन्नतमध्यप्रदेशे पक्षती पक्षमूत्रे 'स्त्री पक्षति, पक्षमूलमि'त्यमरः  
चञ्चुपुटेन प्रोष्ठिमम्पुटेन व्यलिप्तत् विलिप्तनेन ऋजूचकारेत्ययम् । एतदादे  
श्लोकचतुष्टयेषु स्वभावोत्तिरङ्कार ॥ २ ॥

अन्वय—स खग उत्फुल्लतनूह्रीकृता तनुम् एवधा न अधुनीत ।  
करयन्मणदन्तुरान्तरे पक्षती चञ्चुपुटेन व्यलिप्तम् ।

हिन्दी—उम बिहग ( हन ) ने अपने रोमाञ्चन शरीर को अनक  
प्रकार में नम्यन किया, राजा के डाग पकड़े जाने से ऊँचे नीचे मध्य माग  
वाले पक्षों को बाध से सहजगए बराबर किया ।

टिप्पणी—पकड़ से छूटे पक्षी की ज़िया का स्वभाविक वर्णन ।  
स्वभावोक्ति ॥ २ ॥

अयमेकतमेन पक्षतेरधिमध्योर्ध्वगजङ्घमङ्घ्रिणा ।

स्खलनक्षण एव शिथ्रिये द्रुतकण्डूयितमौलिरालयम् ॥ ३ ॥

जीवानु—अयमिति । अय हस स्खलनक्षण एव मोचनानन्तरमेवेत्यर्थ ।  
एकतमेनाङ्घ्रिणा पक्षते पक्षभूष्याधिमध्य मध्ये ऊर्ध्वगामिनी जङ्घा यस्मिन्  
कर्मणि तद्यथा तथा कण्डूयनेन तत्तथा द्रुत कण्डूयितमौलि सत्वर कपितबूड  
सन् आलस्य निशावास शिथ्रिये श्रितवान् ॥ ३ ॥

अन्वय—अय स्खलनक्षणे एव पक्षते अधिमध्योर्ध्वगजङ्घम् एकतमेन  
अङ्घ्रिणा द्रुतकण्डूयितमौलि आलस्य शिथ्रिये ।

हिन्दी—बह हस छूटे क्षण ही पक्षों के मध्य से जघा ऊर्ध्वगामिनी कर  
( पक्ष मूळ के बीच से ऊपर को जघा करके ) एक पैर से जन्दी जल्दी सिर  
सुजलाता हुआ अपने घोंसले में जा बैठा ।

टिप्पणी—यह भी पक्षिस्वभाव है । यहाँ भी स्वभावोक्ति अलंकार ॥३॥

म गरुद्वनदुर्गदुर्ग्रहान् कटु कीटान् दशतः सतः क्वचित् ।

नुनुदे तनुकण्डु पण्डित पटुचञ्चूपुटकोटिकुट्टने ॥ ४ ॥

जीवानु—स इति । पण्डित निपुण सहस्र गरुद पक्षा एव वनदुर्गं तत्र  
दुर्ग्रहान् ग्रहीतुमद्यतमान् कटुनीरुमान्दशत दन्तैस्तुदत क्वचित् कुत्रचिदेव सत  
वर्तमानान् कीटान् सुदृजन्तून् पटुचञ्चूपुटस्य समर्थत्रोटे कीटना अत्रेण कुट्टनै  
कुट्टनैस्तनुरन्था कण्डूयस्मिन् तनुकण्डु यथा तथा 'गोस्त्रिपोरुपसर्जनस्येति'  
हन्व । नुनुदे निवारितवान् 'स्वरितत्रित' इत्यात्मनेपदम् ॥४॥

अन्वय—पण्डित स क्वचित् सत गरुद्वनदुर्गदुर्ग्रहान् कटु दशत  
कीटान् पटुचञ्चूपुटकोटिकुट्टनै तनुकण्डु नुनुदे ।

हिन्दी—उम चतुर पक्षी ने यत्र-तत्र स्थित पक्ष-रूप वन दुर्ग ( अथवा  
पक्षनगृह रूप दुर्ग ) में छिने रहने में कठिनता से हाथ आने वाले पीडादायक

रूप में काटते कीड़ी को कीड़ा आदि खोदने में अत्यन्त उपयोगी चीज की नोक से मार-मार कर हटा खुजली को कुछ दूर किया ।

टिप्पणी—दुर्जयं दुर्गं में जा छिपे शत्रु को पकड़ कर उसका वध किया जाता है, तभी उपद्रव मिट पाता है । विद्याघर के अनुसार छेकानुप्रास, स्वभावोक्ति और श्लेष अलंकार, चंद्रकलाकार के अनुसार रूप, स्वभावोक्ति की सृष्टि ॥ ४ ॥

अयमेत्य तडागनीडजैलघु पर्यन्त्रियताथ शङ्कितै ।

उदडीयत वैकुण्ठात् करग्रहजादस्य विकस्वरस्वरै ॥ ५ ॥

जीवातु—अयमिति । अयं हसस्तडागनीडजै सरपक्षिमिस्तमस्यहसं 'नीडोद्भवा गहम'त' इत्यमर । लघु क्षिप्रमेत्यागत्य पर्यन्त्रियत परिवृत , वृणोते कर्मणि लट् । अथ परिवेष्टनानन्तरमस्य हसस्य करग्रहजानलकर-पीडनजग्यादिकृतादेव वैकुण्ठाद्विलुण्ठितपक्षस्वरूपादिकारदशनोदित्यर्थ , स्वार्थेऽण् प्रत्यय शङ्कितैश्वर्यै अतएव विकस्वरस्वरैरुन्वर्धयिष्यंस्तैरुदडीयतीड्डीनमु डीडो भावे लट् ॥ ५ ॥

अन्वय—तडागनीडजै लघु एतत् अयं पर्यन्त्रियत, अथ अस्य करग्रहजात् वैकुण्ठात् शङ्कितै विकस्वरस्वरै उदडीयत ।

हिन्दी—सरोवर के घोंसलो में उत्पन्न पक्षियो ( हस आदि ) ने तुरन्त आकर उस ( हस ) को चारों ओर से घेर लिया, सदनन्तर हाथ से पकड़े जाने के कारण उत्पन्न उसकी विह्वलता से आश्चर्यित हो ऊँचे स्वर में बोलाहल करत वे उड़ गये ।

टिप्पणी—'प्रकाश'—कार के अनुसार तीर्थों पर आप व्यक्ति को भी पड़े पुजारी घेर लिया करते हैं और फिर हागडा करते, बिस्लाते हट जाया करते हैं । विद्याघर ने इसमें जातिरुक्तिलेखानुप्रास अलंकार का उल्लेख किया है और 'करग्रहजात्' को दिलिप्त माना है । चंद्रकलाकार ने स्वभावोक्ति का निर्देश किया है ॥ ५ ॥

दधनो चतुर्भुजमना धृत रुद्रादामधुवत सग ।

स नलम्य यथी वरं पुनः सरम बोवनदभ्रमादिव ॥ ६ ॥

जीवातु—दधत इति । अथ स खगो हस बहुजंवल मूरिशंवल क्वा  
नूनस्य तद्बहुशंवलम् तस्य भाव तत्ता ता दधतो दधानात् सरस पन्वलात्  
बहूनि शंवलमाणि शिवनक्तचिह्नानि यस्य न बहुशंवलम्भा तस्य भाव तत्ता  
ता दधतो दधानस्य नस्य रुद्राक्षानि मधुव्रता इवेत्युपमितसमास , ते घृता  
येन त कर कोकनदभ्रमाद्रक्तोत्पलभ्रान्तेरिव पुनर्ययी, कोकनदन्तु रुद्राक्षसद-  
क्षमधुव्रत खलु । अत्र बहुशंवलेत्यादौ शब्दश्लेषस्तदनुप्राणिता रुद्राक्षमधुव्रत-  
मित्युपमा तत्तापेक्षा चेवं कोकनदभ्रमाद्रिवेत्युत्प्रेक्षेति सङ्कर ॥ ६ ॥

अन्वय —स खग बहुशंवलम्भता दधत ( बहुत ) सरस नलस्य ( बहु-  
शंवलम्भता दधत ) घृतरुद्राक्षमधुव्रत कर कोकनदभ्रमात् इव पुन ययी ।

हिन्दी—बह ( हस ) प्रचुर सिवार घास से टकी घरती को धारण करते  
मरोवर से ( अनेक शिवमक्ति-मूचक अथवा शिव अर्थात् शुभ-मूचक चिह्नों  
से युक्त ) रुद्राक्ष रूप भ्रमरों को नियमित धारण करते नल के हाथ में  
( रुद्राक्षों के तुल्य मीरों से युक्त ) भानां लाल कमल के भ्रम से पुन  
पहुँच गया ।

टिप्पणी—गङ्गा शीव होने के कारण हाथ में रुद्राक्ष धारण किये रहना  
था, वर्ण-साम्य के आधार पर उनकी समता कोकनद पर बैठे भ्रमरों से की गयी  
है । प्रकाशकार ने 'रक्ता रत्न घृता रक्तंस्ते घृतस्त सद्यश्चा , र' अग्निस्तद्व-  
दक्षीणि पिङ्गलानि नेत्राणि येषा ते राक्षा एवभूता भ्रमरा यत्र' यह विग्रह  
करके 'भन-भन करते पिङ्गल नेत्र भ्रमरों से युक्त' अर्थ भी किया है । नल के  
पक्ष में 'रुद्रस्य अक्षमात् धुनोति रुद्राक्षमधु तच्च तद्व्रत च घृत येन' यह  
विग्रह करके गङ्गा के हाथ को 'शिवद्रोही को परामर्श देने वाला' बताया है ।  
मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ शब्दश्लेष-उपमा-उत्प्रेक्षा का सङ्कर है । 'इव' के  
कारण 'भ्रम' की उत्प्रेक्षा हो गयी है, अन्यथा 'भ्रान्तिमात्' अलंकार स्पष्ट है ।

पतगश्चिरकाललान्नादतिविश्रम्भमवापिनो नु सः ।

अतुल विदधे कुतूहल भुजमेतस्य भजन्महीभुजः ॥ ७ ॥

जीवानु—अयास्य स्वयमागमनादुत्प्रेक्षते—पतग इति । पतङ्गो हसन्निच-

रवालालनादुपलालनादतिविश्रम्भमतिविश्वास 'समी विश्रम्भविश्वासावि'  
त्यमर । अवापित प्रापितो नु किमित्युत्प्रेक्षा, अन्यथा कथं पुन स्वयमागच्छे-  
दिति भाव । विश्व एतस्य महीभुजो भुजम्भजनं स्वयमाप्नुवन् अतुल कुतूहल  
विदधे कौतुक-स्कारेत्यर्थः । अत्रोत्प्रेक्षावृत्त्यनुप्रासयोः शब्दार्थालङ्कारयोस्ति-  
लपण्डुलवत् ससृष्टिः । 'एकद्विभ्यादिवर्णानां पुनरुक्तिर्मवेद्यदि सङ्ख्यानियम-  
मुल्लङ्घ्य वृत्त्यनुप्रास ईरितः ॥' इति ॥ ७ ॥

अन्वय — चिरकाललालनां नु अति विश्रम्भम् अवापित स पतग एतस्य  
महीभुज भुज मजन् अतुल कुतूहल विदधे ।

हिन्दी—निश्चयत बहुत समय तक सात्वनादि पाने से अत्यन्त विश्वास  
को प्राप्त हुआ वह पत्नी उस पृथ्वीपति की भुजा में आकर अत्यन्त कुतूहल को  
उत्पन्न कर रहा था ।

टिप्पणी—राजा द्वारा पकड़ लिये जाने पर उद्धारार्थ रुदन करता हुआ  
छूट कर फिर से उसकी पकड़ में स्वयम् आ गया है, यह निश्चय ही राजा  
के प्रति हस के विश्वास और अभय के कारण हुआ । यह कुतूहलजनक भी था  
ही । क्या कारण है स्वयं हस के लौट कर आने का ? इस श्लोक में तिल-  
तण्डुलवत् स्थित उत्प्रेक्षा-वृत्त्यनुप्रास की ससृष्टि है । कुतूहलोत्पत्ति में मुजहेतुता  
मानते हुए पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग और उत्प्रेक्षा की समृद्धि का चन्द्रकलाकार ने  
निर्देश किया है ॥ ७ ॥

नृपमानसमिष्टमानस स निमज्जत्कुतुकामृतोमिषु ।

अवलम्बितकणशप्पुलीवलसीक रचयन्नवोचत ॥ ८ ॥

जीवातु—नृपमानसमिति । इष्टमानस प्रियमानस स राजहस कृतुक  
हर्षस्तदेव अमृत मुषा तस्योमिषु निमज्जदन्तगत नृपमानस नलभन कणौ  
शप्पुलमाविव कणशप्पुल्यो ते कलस्यो ते अवलम्बिते अवघोहते मृते च देन  
तत्तपोवत् 'नमृतश्चे'ति कप् । रचयन् पुर्वन्ववोचत उत्तवान् । जले भग्जननि-  
तरणार्थं कलममवलम्बिते, तद्वत्कर्षं शप्पुली-कलस्यावित्युपमाक्यवयो ससृष्टिः ।

अन्वय — कुतुकामृतमिषु निमज्जन् नृपमानसम् अवलम्बितकणशप्पुली-  
कलसीक रचयन् इष्टमानस स अवोचत ।

हिन्दी—कुतूहलपूर्ण अमृतचहरियों में डूबते राजा के मानस को कर्णविवर  
इन कलसों का सहारा देता मानसरोवर-प्रिय वह ( हृष ) बोला ।

टिप्पणी—राजा का मन, मानस-मानसरोवर है, विचित्र है कि 'मानस'  
ही लहरियों में डूब रहा है । डूबते व्यक्ति को बचाने के लिए कलसों—घड़ों  
का सहारा अपेक्षित होता ही है । भाव यह है कि राजा के कुतूहल को शांत  
करता हनु बोझ । मल्लिनाथ के अनुसार इन श्लोक में उपमा रूपक की  
समृद्धि है, विद्याधर ने अनुप्रास-रूपक का निवेश किया है और 'अमृत' को  
'स्निग्ध' कहा है । चंद्रकलाकार ने 'मानस' की द्विवचन के आधार पर कदा-  
चित् यमक का भी उल्लेख किया है । विरोधानास भी है—'नृपमानस' में  
'मानस' का अर्थ 'ठोकर' न क-के परिहासार्थ 'मन' करने से ॥ ८ ॥

मृगया न विगीयते नृपैर्गपि धर्मांगममर्मपारगैः ।

स्मरमुन्दर ! मा यदप्यजन्तव धर्मः स दयोदयोज्ज्वलः ॥ ९ ॥

जोवातु—भृगुर्भवति । धर्मांगममर्मपारगैर्धर्मशास्त्रतत्त्वपारस्परिभिरिव 'जन्ता-  
स्मन्तान्वदरपारसर्जानन्तेषु ह' इति समेहप्रत्ययः । नृपैर्मृगाया आखेटो न  
विगीयते न गृह्यते । तथापि हे स्मरमुन्दर ! मामप्यन इति यत् स त्यागस्तव  
दयोदयनोज्ज्वलो विमलो निरपाधिक इति यावत् धर्मं सुदृढम् । न केवल-  
माकारादेव सुन्दरोऽपि किन्तु धर्मतोऽपीति भावः ॥ ९ ॥

अन्वयः—धर्मांगममर्मपारगै नृपैः अपि मृगया न विगीयते, स्मरमुन्दर !  
यत् माम् अत्यज स तव दयोदयोज्ज्वल धर्मः ।

हिन्दी—धर्मशास्त्रों के मर्म में पारगण नृप भी आखेट की निन्दा नहीं  
करते, हे कान के समान सुन्दर ( अथवा 'स्मर + सुन्दर' पदच्छेद करके 'हे  
सुन्दर, स्मर' कर ) जो तूने मुझे छोड़ दिया, वह तेरा कल्याण की उत्पत्ति  
से सज्जन धर्म है ।

टिप्पणी—छान्दोग्य के लिए मृगाया त्यागाविवेक है वह निन्दनीय नहीं  
होती, करणीय ही मानो जाती है । राजा ने जो हृष का आखेट नहीं किया,  
यह उसके कल्याणगमन होने का सूचक है । राजा उन से ही सुन्दर नहीं,  
अतः करण से भी सुन्दर । काव्यलिख बलवार ॥ ९ ॥

बबलस्वकुलाशिनो क्षपाञ्जिनोऽद्रुमपीडित खगान् ।

अनवद्यतृणाद्दिनो मृगान् मृगयाऽघाय न भूमृता घ्नताम् ॥ १० ॥

जीवानु—ननु प्राणिहिंसा कथं न विगीयते तत आह—अबलेति । अबलस्वकुलाशिनो क्षपा 'दुर्जलस्वकुलघातिनो मत्स्या' इति प्रसिद्धिः, निजनीड-द्रुमपीडिनो विष्मोक्षफलभक्षजादिना म्वाधयवृक्षापीडाकरान् खगान् अनवद्यतृणाद्दिनं अनपराधितृणहिंसकान् मृगान्, 'अतः सञ्जा भवन्त्येते सुखदुःखमम-विता' इति अनुमृत्त्या तत्तृणादीनामपि पाणिस्वात्तद्विसा पीडयेति भावः । सर्वत्रापि ताच्छील्ये निनिप्रत्ययः, घ्नता हिंसा भूमृता मृगया अपाय पापाय न भवति । तद्वयस्य दण्डरूपत्वात् प्रत्युत्पाकरणे दोष इति भावः ॥ १० ॥

अन्वयः—अबलस्वकुलाशिनः क्षपान्, निजनीडद्रुमपीडितः खगान्, अनवद्यतृणाद्दिनः मृगान् घ्नता भूमृता मृगया अघाय न ।

हिन्दी—अपने कुल के निर्वल मीनों को खा जाने वाले मारुतों, अपने ही घोंसले—वृक्ष को गंदा करनेवाले पक्षियों और निरपराध तृणाकुरों को खाने वाले पशुओं को मारने वाले पृथ्वीपालका की मृगया पापनिमित्तिका नहीं होती ।

टिप्पणी—'ह्रावत है—'छोटी मछली को बड़ी मछली खा जाती है' । पक्षी भी जिस वृक्ष पर घोंसला बनाते हैं, उसके फल फूल खा जाते हैं, बीट आदि करके गंदा करते हैं । बेचारे वृक्ष, घास आदि का क्या दोष है कि मृगादि उनका विनाश किया करते हैं । पृथ्वीपालक यदि ऐसे कुलघाती, देश-घाती और निर्दोष हुनाओं को दण्ड देता है, तो उचित करता है । ये सब राजाओं के मृगया विनाश का औचित्य प्रमाणित करते हैं, किन्तु नल ने सबसे बड़ा धर्म अपनाया—प्राणिमात्र पर दया, कृपा, दया । विद्याधर के अनुसार यही अनुशासक वाक्यार्थः, क्रियादीपक अङ्गार है । अद्वैतकार ने पदार्थ-हेतुन वाक्यार्थ और अग्रस्तुतप्रथमा का मकर माना है ॥ १० ॥

यदवादिपमप्रियन्तव प्रियमाधाय नुनुस्सुरस्मि तत् ।

हृन्मातपसञ्जर तरोरभिवृष्यामृन्मनुमानिव ॥ ११ ॥



जीवातु—तथापि किमर्थं पुनरागतन्त्वयेत्यत आह—यदिति । तव यद-  
प्रियमवादिपमवोचम् । प्रियमावाय प्रिय कृत्वा तदप्रियन्तरो कृत स्वकृतमा-  
तपसन्तापम् अमृतमुदकमभिवृष्य 'पय कीलालममृतमि'त्यमरः । अशुमानिव  
नुनुन्नुनोदितु प्रमाष्टुं विच्छु, मुद-प्रेरण इत्यम्माद्धातो मन्त्रातादुप्रत्ययः ॥११॥

अन्वयः—यत् तव अप्रियम् अवादिपम् तत् प्रियम् आवाय तरो कृतम्  
जातपमज्जरम् अमृतम् अभिवृष्य अशुमान् इव नुनुत्सु अस्मि ।

हिन्दी—जो मैंने आपको बुरा-मला कहा, उसका निराकरण मैं आपका  
प्रिय कार्य करके उसी प्रकार चाहता हूँ जैसे किरणमाली सूर्य वृक्षों पर घूप  
की रूपा से उन्हें पीड़ित करने के पश्चात् अमृत जल बरसा कर करता है ।

टिप्पणी—मविष्य मे प्रिय करने का द्योतन । विद्याधर के अनुसार दृष्टात-  
उपमा-परिवृत्ति अलंकार ॥ ११ ॥

उपनम्रमयाचितं हित परिहर्तुं न तवापि साम्प्रतम् ।

करकल्पजनान्तराद्विधेः शुचितः प्रापि स हि प्रतिग्रहः ॥ १२ ॥

जीवातु—तर्हि भवन्मोक्षत सुकृतमेव मम पर्याप्तम् किं दृष्टोपकारेणेति न  
वाच्यमित्याह-उपनम्रमिति । अयाचितमप्रायितमुपनम्रमुपनत हितम् इह  
चामुत्र चोपकारकं तवापि परिहर्तुं न साम्प्रतम् युक्तम् । 'अयाचितं हितं  
ग्राह्यमपि दुष्कृतकर्मणः' इति स्मरणादिति भावः । तदपि मादृशात् पृथग्जनान्  
कथं ग्राह्यमव आह करेति । हि यस्मात्कारणात् न प्रतिग्रहः करकल्पकूरस्या-  
नीयमित्यर्थः । ईषदनमाप्तो कल्पप्रत्ययः, यज्जनान्तरं स्वयं यस्य तस्माच्छुचे-  
शुद्धाद्विधेः प्रह्लाणः प्राप्तः न तु मत्त इति भावः । आप्नोते कर्मणि लुङ् ।  
विधिरेव ते दाता अहं तस्योपकरणमात्रम्, अतो न याच्ञालाभवन्तवेति भावः ।

अन्वयः—अयाचितम् उपनम्रं हितं तव अपि परिहर्तुं साम्प्रतं न हि स  
प्रतिग्रहः करकल्पजनान्तरात् शुचितः विधेः प्रापि ।

हिन्दी—अप्रायित, उपस्थित प्रिय ( वस्तु ) आप जैसे समयें राजा को  
भी छोड़ना उचित नहीं है, क्योंकि वह दान हस्तस्थानीय ( हाथ जैसे ) अन्य  
व्यक्ति ( मुझ हस ) के माध्यम से शुद्ध भाग्य से ही प्राप्त हुआ है ।

टिप्पणी—नल जैसे समर्थ व्यक्ति किसी से याचना नहीं करते, दान नहीं लेते, इस कारण इस जो कुछ प्रिय देना अथवा करना चाहता है, उससे उपहृत होने में सकोच हो सकता है। इस सकोच के निराकरणार्थ इस वा यह तर्क है कि समर्थ व्यक्ति को भी भाग्यवशात् विन मणि मिले अभीष्ट का ग्रहण करना अनुचित नहीं है। इसके अतिरिक्त शुभाशुभ प्राप्ति में दैव ही कारण है, उसका परिहार कोई कर ही नहीं सकता, सो राजा को भी स्वीकारने में सकोच करना तर्कसमत् नहीं है। और हम तो एक प्रकार से बहदय दैव का हाथ है, जिसके माध्यम से नल का प्रियसाधन हो रहा है। काव्यतिथि अलंकार ॥ १२ ॥

पतगेन मया जगत्पतेरुपकृत्यै तव किं प्रभूयते ? ।

इति चेद्भि, न तु त्यजन्ति मा तदपि प्रत्युपकर्तुं मर्त्तय ॥ १३ ॥

जीवातु—ननु सावभौमस्य मे तिरश्चा त्वया किमुपकरिष्यते, तत्राह—पतगेनेति । पतगेन पक्षिमात्रेण मया जगत्पते सावभौमस्य तवोपकृत्यै उपकारात् प्रभूयते क्षम्यते किं न भूयत एवेत्यर्थः, भावे लट्, इति चेद्भि अक्षमरव जातभि । तदपि तथाप्यर्त्तयो वास्तु स्वया विनिवृत्ता इति भावः । मा प्रत्युपकर्तुं न त्यजन्ति प्रत्युपकरणाय प्रेरयन्तीत्यर्थः । अत्र पतगोऽप्यहं महोपकारिणस्ते महोपकार करवाणीति भावः ॥१३॥

अन्वयः—जगत्पते तव उपकृत्यै मया पतगेन किं प्रभूयते ? इति चेद्भि, तदपि मर्त्तय न तु मां प्रत्युपकर्तुं न त्यजन्ति ।

हिन्दी—सत्तार के स्वामी तेरा उपकार मैं सामान्य पक्षी क्या कर सकती हूँ ? ( नहीं कर सकती ) यह मैं समझता हूँ, तथापि तेरा प्रत्युपकार करने की हीनतम आभुङ्गाएँ मुझे नहीं छोड़ती ।

टिप्पणी—एक चक्रवर्ती नरेण का एक सामान्य निरीह पक्षी उपकार क्या करेगा ? यह तस्य जानने वृत्तते हुए भी हम इतना विवश हैं राजा के उपकार का बदला देने के लिए कि प्रत्युपकार की उद्दाम इच्छा उसे पीडादायक प्रतीत हो रही है, इस असमर्थ-जैसे निरीह पक्षी को भी राजा के हितसाधनार्थ विवश कर रही है—प्रेरित कर रही है । हेतु और अनुप्रास ॥ १३ ॥

अचिरादुपकर्तुं राचरेदयवात्नीपयिकीमुपक्रियाम् ।

पृथुरित्यमथागुरुस्तु सा न विशेषे विदुषामिह ग्रह ॥१४॥

जीवानु—अथवा यथाशक्तिपक्षोऽन्विदित्याह—अचिरादिति । अथवा उपकर्तुं—  
चिरादविलम्बादुपाय एवोपयिक, विनयादित्यात् स्वायं टक् 'उपधाया  
ह्रस्वञ्च' इति ह्रस्व, तत आगता औपयिकी तामात्मीपयिकी स्वोपायसाध्या-  
मित्यर्थं, 'तत आगत' इत्यप् प्रत्यये 'टिड्ढापञि'त्यादिना टीप् ।  
उपक्रियानाचरेत् प्रत्युपकारं कुर्यात्, चरघातोर्विचिलिह् । इत्यमेव सति  
सोनक्रिया पृथुरयिकाऽस्तु अथ अथवा अगुरुत्वाऽस्तु विदुषा विवेकिनामिहास्मिन्  
विषये विशेषे ग्रह आग्रहो न । गुणग्राहिणो विवेकिन कृतज्ञतामेव अस्म्य  
पश्यन्ति, न दोषमन्विष्यन्तीत्यर्थं. ॥१४॥

अन्वय —अथवा अचिरान् उपकर्तुं औपयिकी क्रियाम् आचरेत्, इत्य  
सा पृथु अथ अगुरु अस्तु, इह विदुषा ग्रह न ।

हिन्दी - इसके अतिरिक्त यह भी है कि अविलम्ब उपकारक का प्रिय  
( प्रत्युपकार ) करने द्वारा साध्य उपाय से करे इस स्थिति में वह ज्ञान  
बड़ा है अथवा छोटा, इसका ममतदारो में कोई आग्रह नहीं होता ।

टिप्पणी—भाव यह है कि प्रत्युपकार तुरन्त करना उचित है, छोटे-बड़े  
की बिना किये बिना करनी शक्ति नर उपकारी का प्रिय साधन अविलम्ब  
करना विद्वज्जनानुमोदित है । अगुरुत-प्रशसा और ऐकानुशास ॥ १४ ॥

भविता न विचारचारु चेत्तदपि श्रद्धामिद मदीरितम् ।

खगवागित्यतोऽपि किं न मुद दाम्यनि कीरणीन्वि ॥ १५ ॥

जीवानु—अथ स्वशक्ते आदर याचते—भविनेति । हे नृप । इदं बक्ष्यमाण  
मदीरितं मद्बन्धु मद्बन्धु विचारे दिमर्शं चारुं युक्तं न भविता न भविष्यति  
चेत्तदपि अविचारितरमणीयमपि श्रद्धा श्रोतव्यम् । इयं खगवागित्यतोऽपि हेतोः  
कीरणीं शुद्धवागिव मुद किं न दास्यति दास्यत्येव । प्रयोजनात्तरामात्रेऽपि  
कौतुकादपि श्रोतव्यमित्यर्थं, ददाते लृट् ॥ १५ ॥

अन्वय —इदं मदीरितं विचारचारु न भविता चेत् तदपि श्रद्धाम्, इयं  
खगवाक्, इत्यत अपि कीरणी इव किं मुद न दास्यति ?

हिन्दी—यह जो मेरा कथन समझ है विचार करने पर सुन्दर न प्रतीत हो, तथापि सुनना तो उचित ही है, 'यह पक्षी की बाणी है'—इससे भी क्या तोते की बाणी के तुल्य आनन्द न देगी ? ( देगी ही ) ।

टिप्पणी—भले ही हंस का कथन मीमांसा करने पर महत्वपूर्ण न प्रतीत हो, तथापि राजा को इस कारण हो मुन लेना चाहिए कि ताते के समान वह हंस भी मनुष्य की बाणी बोल रहा है । मनुष्य-भाषा बोलते हंस को सुनना अमहत्त्व का होने पर भी एक सुन्दर आश्चर्य की नुष्टि तो करता ही है । उपमा और अनुप्रास ॥ १५ ॥

स अरिसार्यैः सार्यैः कोऽननामा किल भीमभूपति ।

यमवाप्य विदर्भं प्रभु हसति घामपि शक्रमर्तुकात् ॥ १६ ॥

जीवातु—अथ यद्वक्तव्यं तदाह—स इति । अर्थेन अभिधेयेन सह वर्तन इति सार्यकम्, 'तेन सहेति तु-ययोग' इति बहुव्रीहि, 'बोपसवनस्ये'ति मह-  
श्वरस्य विकल्पात् मभाव 'शेषाद्विभागे'ति कप् समासात्, तत्तद्विचरभूत-  
तद्भावे । अरिसार्येषु शत्रुमण्डपेषु सायकीकृतं नाम भीमं दृष्ट्वा या येन स  
सयोजितं च प्रसिद्धं विम्वर्यस्मादिति भीम 'मियो म' इत्यपादानार्थे निपात-  
नान्मप्रत्यय औणादिक, भीम इति भूपति भूपः जयति किल सर्वोत्कर्षेण  
वर्तते खलु । विदर्भं भूविदर्भदेशं यः भूपतिः प्रभुः भस्तरमवाप्य शक्रो भर्ता  
यस्यास्ता शक्रमर्तुका 'नष्टश्चे'ति कपि घाटिद्वयमपि हसति, किमुतान्यमर्तु-  
कदेशानित्यथ । लिखो हि भर्तुं कृत्वा पादासं कुर्वन्तीति भावः । अत्र विदर्भ-  
मुबोऽपि दृष्ट्वा सासत्र-घेऽपि मन्त्र-धीकृतेरतिशयोक्तिः ॥ १६ ॥

अन्वयः—अरिसार्यैः कीकृतनामा स भीमभूपतिः जयति किल, प्रभुम्  
अवाप्य विदर्भं शक्रमर्तुका घाम् अपि हसति ।

हिन्दी—राजा के दण्ड में जिनने ( भयकर युद्ध करके अपना भीम )  
नाम साधक कर दिया है, वह भीम भूपाति सबका जय प्राप्त करे, जिसको  
स्वामी पारर विदर्भ की भूमि दृष्ट कर जिसका स्वामी है, ऐसी स्वगम्भीर भी  
उपहास करती है ।

टिप्पणी—विदग्ध भूमि का स्वामी भीम पराक्रमी शासक है, वह प्रजा-  
रजक भी है, समृद्ध भी है, जिसके सम्मुख इन्द्र और उसकी स्वर्ग भूमि भी नगण्य  
है। विद्याधर ने यहाँ अनुप्रास और उपमा अलंकार का निर्देश किया है,  
मल्लिनाथ ने असम्बन्ध में सम्बन्ध कथन के आधार पर व्यतिशयोक्ति का, चन्द्र-  
कलाकार अतिशयोक्ति और अर्थापत्ति की समृद्धि मानते हैं ॥ १६ ॥

दमनादमनाक् प्रसेदुपस्तनयां तय्यगिरस्तपोधनात् ।

वरमाप स दिष्टविष्टपत्रितयानन्यसद्गुणोदयाम् ॥ १७ ॥

जीवातु—दमनादिति । स भीमभूपतिरमनामनस्य प्रसेदुपो निजोपाम-  
नया प्रसन्नात् 'मापाया सदवसथुव' इति सदर्लिट् स्वस्वादेश । दमनादम-  
नाख्यात् तय्यगिर अमोघवचनात् तपोधनाख्ये दिष्टाना कालाना विष्टपाना  
लोकानाञ्च त्रितययोरनन्यसद्गुणी गुणोदया कालत्रये लोकत्रये चानन्यसाधा-  
रणप्रकारं तनया दुहितर वरमाप । वरत्वेन लब्धवानित्ययं । 'देवाने वर-  
येते त्रिषु बलीवे मनाक्प्रिय' इत्यमरः ॥ १७ ॥

अन्वय —सः अमनाक् प्रसेदुपः तय्यगिरः तपोधनात् दमनात् दिष्टविष्टप-  
त्रितयानन्यसद्गुणोदया तनया वरम् आप ।

हिन्दी—ठस ( भीमभूपति ) ने अत्यन्त प्रसन्न, सत्यवक्ता ( जिनका बचन  
भूटा न हो ) तपस्वी दमन से कालत्रय ( भूत, भविष्यत्, वर्तमान ) और  
लोकत्रय ( स्वर्ग, मर्त्य, पाताल ) में जो असाधारण रूप-गुणवती है, ऐसी पुत्री  
का वर पाया ।

टिप्पणी—दमयन्ती अनुपम रूप गुणवती है,—यह कह कर नल की उससे  
प्रति लक्ष्मण जागरित करने की चेष्टा । विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और  
व्यतिरेक, चन्द्रकलाकार ने केवल 'दमनादमनाक्' के यमक का निर्देश किया है ॥

भुवनत्रयसुभ्रुवामभी दमयन्ती कमनीयतामदम् ।

उदियाय यनस्तनुश्रिया दमयन्तीति ततोऽभिधा दधौ ॥ १८ ॥

जीवातु—अथास्या नामधेय व्युत्पादय नेवाह—भुवनत्रयेति । असौ वर-  
प्रसादलब्धा तनया कर्त्तुतनुश्रिया निजशरीरसौ दधेण करणेन भुवनत्रयसुभ्रुवा  
त्रैलोक्यनुन्दरीणा कमनीयतामद सौन्दर्यगर्वा दमयन्ती अस्त गमयन्ती दमेर्ष्य-

न्ताद् 'न पादमि'त्यादिना कर्त्रभिप्राय आत्मनेपदापवाद परस्मैपदप्रतिषेधेऽ-  
प्यत्रभिप्रायविवक्षाया परस्मैपदे लट् घनादेश । उदियाय उदिता, इणो  
लिट्, ततस्तस्मादेव निमित्ताहमयन्तीत्यभिधामाख्या दधौ, दधातेलिट् ॥१८॥

अन्वय —यत् असौ भुवनत्रयसुभ्रूवा कमनीयतामद तनुधिया दमयन्ती  
उदियाय तत् 'दमयती' इति अभिधा दधौ ।

हिन्दो—क्योकि यह ( भीमतनया ) तीनो भुवनो की सुनयनाओ के  
मौन्दर्य गर्व को तन की शोभा से दमन करती उत्पन्न हुई, इससे ( इसका )  
'दमयती'—यह नाम रखा गया ।

टिप्पणी—पूर्व श्लोक में दमयन्ती का त्रिलोक सुन्दरियो में अप्रतिम बताया  
गया था यहाँ उसी की एक प्रकार से पुष्टि की गयी है । विद्याधर ने यहाँ  
उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है, किन्तु त्रिलोक सुन्दरियो से दमयन्ती की श्रेष्ठता  
प्रतिपादित होने के कारण चद्रकलाकार यहाँ व्यतिरेक अलंकार मानते हैं ॥१८॥

श्रियमेव पर धराधिपाद् गुणसिन्धोरुदितामवेहि ताम् ।

व्यवधावपि या विधौ कला मृडचूडानिलया न वेद क ॥ १९॥

जीवातु—अयं कविशक्तिश्लोकैश्चिकुरादारम्य दमयती वर्णयति—श्रियमिति ।  
हे नृप ! ताम् दमयन्ती गुणसिन्धो गुणसागरादधिपाद्भीमनरेद्रादुदितामुत्पन्ना  
श्रिय साक्षात्कामीमेव परं प्रवमवेहि जानीहि, अबपूर्वादिषो लोटि 'सेहिरि'ति  
ह्रादेशो हिस्वान् मार्वाधातुवगुण, महितायाम् 'याद्गुण' अत्र केवलाव-  
पूर्वस्य इणो ज्ञानार्थत्वादाङ्प्रश्लेषे तदलाभात्, प्रश्लेषेऽपि 'ओमाडोश्चे'ति  
पररूपमिति केषाञ्चित्प्रक्रियोपयासो वृथा । प्रधान्य त्याग 'अवेहीति वृद्धि-  
रवने'ति वामनमूत्रमप्यनाङ्प्रश्लेष एव भ्रान्तिप्राप्तवृद्धिप्रतिषेधपर गुण एव  
युक्त इति ध्यायानादयथा 'ओमाडोश्चे'ति, पररूपमेव युक्तमित्युच्येत इति ।  
॥ अथ दशव्यवधानानां श्रीरेवेति वाच्यमित्याह—व्यवधौ व्यवधाने सत्यपि 'उपसर्गो  
धो किरि'ति किरत्यय मृडचूडानिलया हरगिखाश्रया कला विधोरिन्दोरेव  
कला को वा न वेद ? सर्वोऽपि वेदवेत्यय, 'विदो लटो वे'ति वंकिपको  
गलादय । यथा हरगिरोगतापि वरुण चन्द्रकलैव, तथा भीमभवनोदिताऽप्येवा  
श्रीरेवेति सो दर्शयित्तयोक्ति । अत्र श्रीवल्लभो नृपमृदो वाच्यद्वये विम्बप्रति-

विम्बभावेन सानान्यधर्मवत्तया निदिष्टाविति दृष्टान्तालङ्कारः । 'यत्र वाक्यद्वये विम्बप्रतिविम्बवयोच्यते । सानान्यधर्म' काव्यज्ञैः स दृष्टान्तो निमग्नते ॥' इति लज्जात् ॥ १९ ॥

अन्वय — ता पर गुप्तित्यो घराधिसात् उदिता धियम् एव अवेहि, वा व्यवधौ जति मूढचूडानिरुप्या विधौ कला क न वेद ?

हिन्दी—हे नल, जाप उठे मूर्खों के सामर पृथ्वीपति से समुत्पन्न निरुप्य रूप से लक्ष्मी हो समझिए, अपदा अन्तराय होने पर नी महादेव के मस्तर पर त्रिज्जका आवास है, उस चद्र को कला का कीन नहीं जानता ? ( सब ही जानते हैं । )

टिप्पणी—घरती की लक्ष्मी दमयन्ती के विषय में सर्वत्र व्याप्ति है, प्रत्यक्ष अपदा अन्तराय रूप से सभी उठके विषय में जानते हैं, जैसे अन्तराय महादेव की चूडालया चद्रकला से सभी परिचित होते हैं, अतः राजा नल भी दमयन्ती के विषय में सब जानते ही होंगे । अधिक कहना व्यर्थ है । विद्याधर के अनुसार यहाँ रुक्म और आशेन अलक्षार हैं, मन्दिनाय के अनुसार अति-शयोक्ति और दृष्टात्, क्योंकि दमयन्ती को 'भीमनवनोदिता श्री' कहकर सौन्दर्यातिशय कथन है और 'भी-चद्रकला' तथा 'भीम महादेव' सामान्य धर्म होने से विम्ब प्रतिविम्ब नाव से निदिष्ट हैं । चद्रकलाकार ने रुक्म-दृष्टात् की नमृष्टि मानी है ॥ १९ ॥

चिह्नुर्यकरा जयन्ति ते विदुषो मूर्धनि सा विनक्ति मान् ।

पशुनाज्यपुरस्कृतेन तत्तुलनामिच्छतु चामरेण क. ॥ २० ॥

जोवानु—चिह्नुर्यकरा इति । चिह्नुर्यकरा केचनमूढाः जयन्ति सर्वोच्च-पौर्वा कर्तव्यं, मान् वेत्ताति विदुषी विज्ञेयता 'विदे शतुर्वमुः' 'उगितस्चे'ति ईप् 'वनो सम्प्रसाराम्' । सा दमयन्ती मूर्धनि विनक्ति, विद्वद्दृष्ट एव सर्वस्याप्युत्कर्षहेतुरिति भाव । अतएव पशुना विरक्षा चमरीमृगेणाप्युरस्कृ-तेनानासेन चामरेण चमरोपुच्छेन सह तत्तुलनान्तेया विदुराया समीकरण क इच्छतु ? न कोऽपीत्यर्थ । सम्भावनाया लोट् । अत्र तुलनानिषेधस्यापुरस्कृत-पदार्थेत्युक्तत्वादायहेतुर्न काव्यलिङ्गम्, 'हेतोर्वाक्यपदायत्वे काव्यलिङ्गमुदा-हृतमिति' लज्जात् ॥ २० ॥

अन्वय —विदुषी सा यान् मूर्धनि विभक्तिं ते विकुरप्रकरा जयन्ति, पशुना यदि अपुरस्कृतेन चापरेण सत्तुलना का इच्छु ?

हिन्दी—बुद्धिमती वह जिन्हें शिरोधार्य किये हैं, वे जयी हैं ( सर्वोत्कृष्ट ) हैं ) केस-समूह, पशु ( सुरा गाय ) ने भी जिन्हें पुरस्कृत नहीं किया ( पृष्ठ-भाग पूँछ में रखा ) उन चमरी-केशों से कौन दमयन्ती की विकुरराशि की तुलना करना चाहेगा ? ( कोई नहीं । )

टिप्पणी—चमरी के तुलनायोग्य केशों से भी दमयन्ती के विकुरजाल की श्रेष्ठता प्रमाणित करने का अदभुत तर्क । मल्लिनाथ के अनुसार पदार्थहेतुक काव्यालिंग अलंकार और विद्यापर के अनुसार अतिशयोक्ति और व्यतिरेक । काकु वज्रोक्ति ॥ २० ॥

स्वदुःशोर्जनयन्ति सान्त्वना खुरकण्डूयनकैतवान्मृगा ।

जितयोरुदयत्प्रमीलयोस्तदस्वदोषाण्योभया भयात् ॥ २१ ॥

जीवातु—स्वदुःशोरिति । मृगा हरिणास्तस्या दमयन्त्या अलक्ष्योरामत-योरीक्षणयोरुदयो, दोभया कर्ष्या जितयोरस्त एव भयादुदयत्प्रमीलयो हृत्पद्य-माननिमीलनयो स्वदुःशानिजनयनयो खुरै र्छफे 'शफ क्लीवे खुर पुमानि' त्यमर । कण्डूयनस्य कर्पणस्य कैतवाच्छलास्त्रात्त्वना जनयन्ति लालना कुर्वन्ति । यथा लोके परपराजिता निमीलिताश्च स्वजनैर्मयनिवृत्तय करत-लात्पालनादिना परितान्त्वयन्ते तद्वदिति भाव । अत्र कैतवशब्देन कण्डूयन-मपह्नुरूप सान्त्वनारोपादपल्लवभेद ॥ २१ ॥

अन्वय —मृगा तदलक्ष्योक्षणयोभया जितयो भयात् उदयत्प्रमीलयो स्वदुःशो खुरकण्डूयनकैतवात् सात्वना जनयन्ति ।

हिन्दी—हरिण उसके विद्याल नेत्रों की शोभा से विजित हो भय से मूर्द गये ( तद्वा से निमीलित अपने नेत्रों को खुर से खोजने के ध्याज से सात्वना देते हैं ।

टिप्पणी—हारे व्यक्ति को सहलाकर सात्वना दी जाती है, सो मृग भी दमयन्ती के विद्याल नयनों में पराजित अतएव प्रसन्न हो मूर्दे नेत्रों को खुर से



सहला कर सात्त्विका देते हैं । तन्द्रालु मूग को खूबलाना मूग-स्वभाव है । दश-  
नीय—‘शृङ्गेण च स्पृशेन्निमीरिताक्षौ मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः’ । ( कालि-  
दास, कुमारसम्भव ) । भस्तिनाथ के अनुसार अपह्नुति-अलकार और विद्याधर  
के अनुसार ममासोक्ति तथा अपह्नुति, चन्द्रकलाकार के अनुसार कंतवापह्नुति  
प्रतीकमानोद्देशा की ससृष्टि ॥ २१ ॥

अपि लोकयुग दृशावपि श्रुतदृष्टा रमणीगुणा अपि ।

श्रुतिगामिनया दमस्वसुख्यतिभाते सुतरा धरापते । ॥ २२ ॥

जीवानु—अतीति । हे धरापते ! दमो नाम भीमस्वैवात्मजस्तस्य  
स्वमुद्वेगमत्स्या लोकयुग मातापितृकुलपुग श्रुतिगामिनया वेदप्रसिद्धतया सुतरा  
व्यतिनाते परस्परोत्कर्षेण भाति तथा दशौ नेत्रे अपि श्रुतिगामिनया कान्त-  
विश्रान्तनया व्यतिभाते परस्परोत्कर्षेण नातस्तया श्रुता श्रुतिप्रसिद्धा. ते च  
ते दृष्टा लोकप्रसिद्धाश्च विशेषणयोरपि विशेषणविशेष्यभावविवक्षाया विशेष-  
णसमान, ते रमणीगुणा स्त्रीधर्मा अपि श्रुतिगामिनया जनं श्रूयमाणतया  
‘श्रुति श्रोत्रे तयाम्नाये वार्त्ताया श्रोत्रकर्मणी’ति विश्व । सुतरा व्यतिभाते  
व्यतिहासे भाति । ‘आत्मनेपदेश्वनत’ इति सत्त्वादादेशः, सर्वत्र ‘कर्त्तरि  
कर्मव्यनिहार’ इत्यात्मनेपदम्, अदादित्वाच्छपो लुक्, सर्वत्र टेरेत्वम् । अत्र  
लोकयुगादीनां त्रयाणामपि प्रकृतत्वात् केवलप्रकृतविषयतुल्ययोगिष्ठाभेदः ।  
‘प्रस्तुताप्रस्तुतानाञ्च केवल तुल्यधर्मिनः । जीवस्य गम्यते यत्र सा मता  
तुल्ययोगिते’ति लक्षणात् ॥ २२ ॥

अन्वयः—धरापते, दमस्वसु लोकयुग, दशौ, श्रुतदृष्टा रमणीगुणा अपि  
श्रुतिगामिनया सुतरा व्यतिभाते ।

हिन्दी—हे धरणी के स्वामी, दमस्वसा ( दमयन्ती ) के दोनों कुल  
( मातृ पितृ कुल ), दोनों नेत्र और सुने देखे रमणीजनोचित सौन्दर्यादि गुण  
भी श्रुतिगामी ( जगद्विख्यात मातृपितृकुल ), कान तक फैले ( विशाल  
नदन ) तथा लोकवर्णन-विषय ( रमणीगुण ) होने से परस्पर अत्यन्त सुसोमित  
होते हैं ।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती के मातृ-पितृकुल विस्मृत हैं, वह विशालनयना, आकर्षणविशालनेत्रा है, उसके नारीजनोचित रूप गुण की वर्णा श्लोक-जीवन का अंग है, अनेकार्थ 'श्रुति' शब्द का प्रयोग कर कवि ने पदार्थों की उत्कृष्टता का एक ही कारण निर्देश किया है—'श्रुतिगामिता' 'श्रुत' (पुराणादि, सामुद्रिक शास्त्रादि में वर्णित) तथा 'दृष्ट' (किन्हीं सुन्दरियों में देखी गयी) जो नार्मुचित विशेषताएँ हैं, वे सब दमयन्ती में हैं। इस श्लोक में 'व्यतिभाते' (वि=अति + भा) का प्रयोग चमत्कारपूर्ण है, 'प्रकाश'-कार के अनुसार यह 'वचनश्लेष' है, अर्थात् तीनों वचनों में एक सदृश रूप—व्यति + भा + लट् + त = व्यतिभाते (एकवचन)। व्यति + भा + आताम् = व्यतिभाताम्, 'दित आत्मने पदाना टेरे' (अष्टा ३।४।७९) से एत्व = व्यतिभाते (द्विवचन)। व्यति + भा + झ = अत् स्या पूर्वोक्त प्रणाली ॥ एत्व (बहुवचन)। इस प्रकार एक 'व्यतिभाते' क्रिया तीनों कर्ताओं से सम्बन्धित हो गयी—(१) लोकयुगम्—एकवचन, (२) दृष्टी—द्विवचन, (३) रमणीगुणा—बहुवचन। 'व्यतिभाते' का अर्थ है कर्म विनिमय से भासित होना। इस प्रकार पितृकुल मातृकुल से व्यतिभासित है और पितृकुल मातृकुल में, दक्षिण नेत्र की शोभा को आया नयन स्वीकारता है, वामनेत्र की दक्षिण नेत्र, जो शास्त्रों में वर्णित (श्रुत) गुण हैं, वे दमयन्ती में दृष्ट—देखे गये हैं, जो दमयन्ती में देखे जाते हैं—'दृष्ट' हैं, वे ही शास्त्रों में 'श्रुत' हैं। अथवा इन सब युगों को परस्पर-एक दूसरे से खोला है—मातृकुल पितृकुल से सुशोभित है, पितृकुल मातृकुल से, इसी प्रकार दोनों नेत्र अन्योन्यतः। शास्त्रादि में 'श्रुत'—वर्णित रमणीगुणों की सार्थकता दमयन्ती में 'दृष्ट' होने से है और जो उसमें दृष्ट हैं, वे ही शास्त्रविख्यात हैं। मल्लिनाथ ने इस श्लोक में तुल्य-योगिता अलंकार का उल्लेख किया है, विद्याधर ने अनुसार यही वचन श्लेष-त्रिमाकारक और दीपक की समृद्धि है। षट्शलाकार के अनुसार वचनश्लेष-तुल्ययोगिता का एकाग्रयानुप्रवेश सत्तर है ॥ २२ ॥

नलिन मलिन विवृष्वतो पुपतीमस्पृशती तदीशणे ।

अपि सञ्जनमञ्जनाश्विते विदधाते रुचिगर्वदुर्विषम् ॥ २३ ॥

जीवातु—नलिनमिति । नलिन पद्म मलिनमचाह विवृण्वती कुर्वाणि  
पृपती मृगीमस्पृशती जसमानत्वात् दूषणदेव परिहार इत्यर्थः, तदीक्षणं तल्लो-  
चने अञ्जनाञ्चिते कञ्जलपरिष्कृते सती खञ्जन खञ्जरीटास्य खञ्जनामकः  
पक्षिविशेष 'खञ्जरीटस्तु खञ्जन' इत्यमरः । तमपि रुचिगर्वदुर्विध चास्त्व-  
गर्वनिम्ब विदधाते कुर्वाते, सर्वथाप्यनुमेये इत्यर्थः । 'निस्वस्तु दुर्विधो दीनो  
दरिद्रो दुर्गतोऽपि स' इत्यमरः । ईक्षणयोर्नलिनादिमलिनीकरणान्नसम्बन्धे  
सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः, तथा चोपमा व्यञ्जयत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनि ॥

अन्वयः—नलिन मलिन विवृण्वती, पृपतीम् दृष्टुशती अञ्जनाञ्चिते  
तदीक्षणे खञ्जनम् अपि रुचिगर्वदुर्विध विदधाते ।

हिन्दी—कमल को मलिन बनाने वाले, हरिणी की अगणना करनेवाले  
काजल लगे उसके नेत्र खजन को भी सौन्दर्याभिमान से रहित बना देते हैं ।

टिप्पणी—नेत्रों के प्रायः तीन उपमान हैं, कमल, हरिणनयन, खजन ।  
दमयन्ती के नयनों के सम्मुख तीनों हीन हैं । अन्वय भेद से इसके अन्य अर्थ  
भी होते हैं । 'पृपती' का अर्थ हरिणी भी है और काजल लगाने की छलाका  
( छलाई ) भी । इस प्रकार एक यह अर्थ हुआ कि काजल की छलाका का  
स्पर्श किये बिना इसके विद्याल कञ्जल-रहित नयन कमलों को फीका कर देते  
हैं, अञ्जनछचित होकर तो खजन का भी सौन्दर्य-गर्व खर्च कर देते हैं । और  
भी जय हो जाते हैं—'मलिन विवृण्वती' अर्थात् स्वगत श्याम गुण का दृष्टिबध  
प्रसार करती 'नलिन' पर भी श्यामता बिखेर कर उसे मलिन बना देती है  
अथवा 'मलिन मलिन रुचिगर्वदुर्विध विदधाते', नीलोत्पल का सौन्दर्य गर्व खर्च  
कर देती है । 'अस्पृशती तदीक्षणे' विस्तार को अप्राप्त उसके नेत्र हरिणी का सौन्दर्य  
गर्व खर्च कर देते हैं, कमल को मलिन कर देते हैं, जब विस्तार पाते हैं,  
तो दृक् वृत्त, अतिनरल, अतिचञ्चल खजन का भी सौन्दर्याभिमान भग हो  
जाता है । भाव यह है कि दमयन्ती के नेत्रों के सम्मुख कोई उपमान उहरता  
नहीं । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ अनुसम्बन्ध में सम्बन्ध-वचन रूपा अतिशयोक्ति  
से उपमा व्यञ्जित होती है, अतः अलङ्कारध्वनि है, विद्याधर के अनुसार छेका-

नुप्रास और व्यतिशयोक्ति अलंकार हैं, चंद्रकलाकार ने व्यतिशयोक्ति-व्यतिरेक के अगाधभाव से सकर का उल्लेख किया है ॥ २३ ॥

अधर खलु, विम्बनामक फलमस्मादिति भव्यमन्वयम् ।

लभतेऽधरविम्बमित्यद- पदमस्या रदनच्छद वदत् ॥ २४ ॥

जीवातु—अधरमिति । अधरविम्बमित्यद पदम् अधर विम्बमित्येत्युप-  
मितसमासाश्रयणेन स्त्रीणामधरेपुंयत्पद प्रयुज्यते तदित्यथ । अस्या दमयन्त्या  
रदनच्छदम् ओष्ठमविदधत् तदभिधानाय प्रयुक्त मदित्यथ । विम्बनामक फल  
विम्बमस्मादप्यन्तीरदनच्छदाधर किलापकृष्ट सत्विति अधरशब्दस्यापकृष्टा-  
र्थत्वे अधर विम्ब यस्मात्तदिति बहुव्रीहिसमासे च सति भव्यमवाधितमन्वय  
वृत्तिपदार्थसमर्गलक्षणे लभते, अथवा समर्थसमासाश्रयणे 'समर्थ पदविधिरिति  
समर्थपरिभाषा भज्येत, तर्हि नोपमा स्यादिति भाव । अन दमयन्ती-  
दत्तच्छदस्य विम्बाधरीकरणासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्ति पूर्ववत्  
ध्वनिश्च ॥ २४ ॥

अन्वय —अधरविम्बम् इति अद पदम् अभ्या रदनच्छद वदत् विम्ब-  
नामक फलम् अस्मात् अधर खलु—इति भव्यम् अन्वय लभते ।

हिन्दी—'अधर विम्ब' ( अधर विम्ब के सदृश है ) यह पद ( छन्द ) इस  
( दमयन्ती ) के ओष्ठधर के अभिधान के निमित्त प्रयुक्त होता हुआ 'विम्ब नाम  
का फल इस ओष्ठ में निश्चयत अधर ( निम्न ) है'—समीचीन अन्वय को  
प्राप्त करता है ।

टिप्पणी—दमयन्ती के रदन छद के सम्मुख रत्नवर्ण विम्बफल भी हीन  
है, यह कह कर कवि उपमान ( विम्ब ) से उपमेय ( ओष्ठ ) की उत्कृष्टता  
सिद्ध करना चाहता है । इस भाव के लिए उसने एक अनूठी कल्पना की है ।  
सामान्यत 'अधर-विम्ब' का अर्थ 'अधर विम्ब के समान है'—बनने के लिए  
यह कर्मधारय समास से निष्पन्न शब्द माना जाता है—'अधरो विम्ब इव', किंतु  
दमयन्ती के सदर्थ में कवि के अनुसार यह समास उपयुक्त नहीं होगा क्योंकि  
उसका ओष्ठ विम्ब से श्रेष्ठ है, वहाँ बहुव्रीहि समास करने पर ही छन्दत और

अर्थतः मन्मता वा सकेंगी—‘अधर ( निम्नतरम् ) विम्ब यस्मात् तत्’—निवृष्ट है विम्बकृत विषये । इस प्रकार ही अर्थ में उपमुक्ता वा सकेंगी । विद्याधर के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा है, किन्तु मन्तिनाथ पूर्वदशोक के तुल्य हो इसमें भी व्यतिशयोक्ति और बलकार-ध्वनि नागते हैं, चन्द्रकलाकार व्यतिरेक ॥ २४ ॥

हृतभारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेषसा ।  
कृतमध्यविल विलास्यते घृतगम्भीरखनीखनीलिम ॥ २५ ॥

जीवानु-हृतभारमिति । इन्दुमण्डल दमयन्तीवदनाय तन्निर्माणयेत्यर्थः । ‘क्रियायोरपदस्वे’ति चतुर्थी, वेषसा हृतभारमुदयुतमध्याङ्गमिव, कृत ? कृतमध्यविल विहितमध्यरन्ध्रमथ एव घृतो गम्भीरखनीखनीलिम निम्नमध्य-रन्ध्राकाशस्य नीलिमा नैत्यन्तया विलोक्यते, ‘खनि’ खिगानाकर स्यादि’-त्पमर । ‘कृदिराकाशक्तिन’ इति डोप् । अत्र कलङ्कापह्नुवेन खनीलिनारो-पादपट्टनवभेदः, स च कृतमध्यविलमित्येतत्पदार्थहेतुककाल्पित्वानुशाणितः, तदपेक्षा चेय हृतभारमित्युत्प्रेक्षेति सङ्करः । तथा चापभा ध्वजत इति पूर्ववद् ध्वनि ॥ २५ ॥

अन्वय — इन्दुमण्डल दमयन्तीवदनाय वेषसा हृतभारम् इव कृतमध्यविलं घृतगम्भीरखनीखनीलिम विलोक्यते ।

हिन्दी—ऐसा प्रतीत होता है—विषादा द्वारा दमयन्ती के मुख की स्रचना के निमित्त चन्द्रविम्ब का श्रेष्ठ जल ले लिया गया, अतः उसके मध्य में छिद्र हो गया, जिससे ( कलक बिह्व रूप में ) उस गहरे गड्ढे में आकाश की नीलिमा दिखायी पड़ रही है ।

टिप्पणी—चद्रमा का कलङ्क वस्तुतः कलक-बिह्व नहीं है, यह तो दमयन्ती-मुख-रचना के लिए ले लिये गये उसके श्रेष्ठजल के अभाव में पड़े गतों के पीछे से दोसती नगमण्डल की नीलिमा है—इस उक्ति से कवि प्रतिपादित करना चाहता है कि दमयन्ती-वदन निष्कलक चद्र के श्रेष्ठजल के सदृश सम्भव है, यह चद्र उसके सम्मुख होन है । विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा और अनुप्रास, मन्तिनाथ के अनुसार कलक का अपह्नुव करके आकाश-नीलिमा का आरोप

होने से अपह्नुति है, जो 'वृत्तमध्यविलम्'—इस पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग से अनुप्राणित है। 'हृतसारम्'—इत्यादि उत्प्रेक्षा है। इस प्रकार यहाँ अपह्नुति-काव्यलिङ्ग-उत्प्रेक्षा का सकर है। उत्प्रेक्षा से उपमा व्यजित है, सो बलकारध्वनि भी है ॥ २५ ॥

घृतलाञ्छनगोमयाञ्चन विधुमालेपनपाण्डर विधि ।

भ्रमयत्युचित विदमं जानननीराजनवर्द्धमानकम् ॥ २६ ॥

जीवातु—घृतेति । विधिवद्ग्रा घृत लाञ्छनमङ्क एव गोमयाञ्चनं मध्यस्थितगोमयस्रलेपणम् एनम् आलेपनपाण्डर निजकान्तिसुधाघबलित-मित्यर्थः, विधु चन्द्रमेव विदमं जाननस्य वंदनीमुत्तस्य नीराजनवर्द्धमानक नीराजनशरावम् 'शरावो वर्द्धमानक' इत्यमरः । किरणदीपकलिकामुत्तमिति भावः । भ्रमयत्युचितम् लौकोत्तरत्वात् इति भावः, एव नीराजयतीति देशावाटः । अथ विधुतलाञ्छनादेर्नीराजनशरावगोमयादित्वेन निरूपणा-त्सावयवरूपकम् ॥ २६ ॥

अन्वयः—विधि घृतलाञ्छनगोमयाञ्चनम् आलेपनपाण्डर विधु विदमं-जानननीराजनवर्द्धमानक भ्रमयति—( इति ) उचितम् ।

हिन्दी—ग्रहा कलङ्क-चिह्न रूप गोबर के अंघना ( लेप ) से मुक्त, पिष्टो-दक ( ऐपन ) से भुरे चद्र को विदमंतनया ( दमयन्ती ) के मुख की आरातिका ( आरती ) के निमित्त मृत्पात्र ( मिट्टी का बर्तन—शराव, सरैया ) के समान जो घुमाता है, सो यह उचित ही करता है ।

टिप्पणी—सूर्य चद्र सब ईश्वरेच्छा से घूमा ही करते हैं—यह प्रकृति का नियम है । जब दमयन्ती के मुख के सम्मुख चद्र कहीं निवृष्ट है—यह प्रभाषित करने के लिए चद्र-भ्रमण का कारण बताता है कि दमयन्ती के मुख की आरती उतारने के लिए ग्रहा की चेष्टा, जिससे हम सलौने मुण्डे को नजर न लग जाय, सपूर्ण दृष्टिदोषों का निराकरण हो जाय—उद्ध-मुहावरे के अनुसार 'चन्द्रे-चन्द्रर' । चद्रमा को गोबर से लिया ऐपन से भूरा किया गया मिट्टी का पात्र बनाया गया है, जिससे यह दृष्टिदोष निराकरण हो रहा है । लोकजीवन में भी

गोबर लिने, ऐपन से विह्वित शराब से नरर उठारो जाती है। मन्त्रिनाथ के अनुसार साबद्व रूपक, विद्याधर के अनुसार रूपक और सम अलंकार—  
योष्यता के कारण यो को यदि सम्भावना हो तो सम होता है—'सम योष्यता  
योगो यदि सम्भावितः क्वचित्।' चन्द्रकलाकार ने यहाँ सागरूपक और असंबंध  
में सम्बन्ध कदम रखा अतिशयोक्ति के संकर का निर्देश किया है ॥ २६ ॥

मुपमाविपदे परीक्षणे निखिल पद्ममभात्रि तन्मुखात् ।

अधुनापि न भङ्गलक्षणां सलिलोन्मज्जनमुज्जति स्फुटम् ॥ २७ ॥

जीवानु—युग्मेति । मुपमा परमा सोना संव विषयः यस्मिन् परीक्षा  
जन्दिब्यसोनने कृते निखिल पद्म पद्मजात तन्मुखागशतात् नङ्गावनिस्वाद-  
नात्रि जन्मजि स्वमेव ममननूदिन्यं, स्फुट, कर्तरि सुट्, 'नन्वेव  
चिगी'ति वैमायिको नकारलोपः । जतएवाधुनापि नङ्गलक्षणांमरात्रयविह्व  
सलिलादुन्मज्जन क्षामपि नोज्जति न जहाति । जन्दिब्योन्मज्जनस्य  
परात्रयलिङ्गत्वमरणादिति नावः । तन्मज्जनक्रियानिमित्तेय भङ्गोपेक्षा । २७।

अन्वय—मुपमाविपदे परीक्षणे निखिल पद्म तन्मुखात् अनात्रि, अधुना  
अपि नङ्गलक्षणां सलिलोन्मज्जन न उज्जति स्फुटम् ।

हिन्दी—सौन्दर्य-विषयक परीक्षा में समग्र कमल उसके मुख से पराजित  
हो गये, सो लाता है उसी पराजय-विह्वल-स्वरूप आब भी जल से ऊपर रहना  
नहीं चाहते । अथवा 'पद्म' पराजित हो 'अनात्रि' अर्थात् टूट गये हैं, सो  
उसी 'मग' ( टूटन ) के कारण आब भी 'स्फुट' अर्थात् छिटरे हुए बल के  
ऊपर खड़े हैं ।

टिप्पणी—कवि ससार भर के कमलों से दमयन्तीमुख का सौन्दर्य श्रेष्ठ  
मिष्ट करना चाहता है, एतदर्थ यह कल्पना है । याज्ञवल्कर स्मृति के ध्वजहारा-  
ध्याय ( २।१५-११३ ) में 'दिम्ब' प्रकरण है, जिसके अनुसार 'वज्रदिम्ब' में दमयन्ती-  
मुख और 'निखिल पद्मजात' के मध्य सौन्दर्य-श्रेष्ठता का परीक्षा हुआ ।  
'समे' होता यह है कि एक धनुषद्वारा छोटे बाण को लेकर जब-तक दूसरा  
घोड़ता हुआ आता है, तब-तक जो जल में डूबा खड़ा रहता है, वही विजयो

माना जाता है। और जो बाण ले-आने के पूर्व ही जल से बाहर उमर आता है, वह पराजित माना जाता है। दमयन्ती-मुख से कमल पराजित हो गय, सो तब के उमर कर आये-आये आज भी जल के ऊपर ही रह कर मानो स्वपराजय को स्वीकारे हुए हैं। एतद्विषयक याज्ञवल्क्य का श्लोक (२।१०९) इस प्रकार है—

“समकालमिव मुक्तमानीयान्यो जयो नर ।

गते तस्मिन्निमग्नाङ्ग पश्येच्चेच्छुद्धिमाप्नुयात् ।”

मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा और विद्याधर के अनुसार अनुमान तथा अतिशयोक्ति ॥ २७ ॥

धनुषी रतिपञ्चबाणयोऽदिने विप्रवज्रयाय तद्भ्रुवी ।

नलिके न तदुच्चनासिके त्वयि नालीकविमुक्तिकामयोः ॥ २८ ॥

जीवातु—धनुषी इति । तद्भ्रुवी विश्वजयायोऽदिते उत्पन्ने रतिपञ्चबाणयोर्धनुषी नूनमित्यादिभ्यश्चकारप्रयोगादुभयोत्प्रेक्षा, किञ्च तस्या दमयन्त्या उच्चनासिके उन्नतनासापुटे त्वयि नालीकाना द्रोणिचापघराणां विमुक्तिं कामयेते इति तथोक्तयो तयो ‘क्षीलिकामिभक्ष्याचारिभ्यो ण’ इति णप्रत्यय, ‘नालीक पपछन्देऽस्त्री नालीक’ धारयत्ययोरिति विद्वत् । नलिके न द्रोणिचापे न किमिति वाकु । पूर्ववदुत्प्रेक्षा ॥ २८ ॥

अन्वय—तद्भ्रुवी विश्वजयाय उदिते रतिपञ्चबाणयो धनुषी, तदुच्चनासिके त्वयि नालीकविमुक्तिकामयो नलिके न ( नु ) ।

हिन्दी—उसकी भौंहें जगज्जय के निमित्त उद्यत रति और पञ्चबाण काम के दो धनुष हैं और उसकी उन्नत नासिका के दो छिद्र मुक्त पर उन छोटे-छोटे बाणों की छोड़ने के निमित्त बाणाधार दो नलिकाएँ नहीं हैं क्या ? ( हैं ही ) ।

टिप्पणी—उसकी भौंहें सब की विमोहित करने वाली हैं, यह भाव है। काम में पाँच बाण हैं—( १ ) अरविन्द, ( २ ) अशोक, ( ३ ) आम्र, ( ४ ) मयमल्लिका और ( ५ ) नीलकमल—“अरविन्दमशोक च वृषा च नवमल्लिका । नीलोत्पल च पञ्चने पञ्चबाणस्य सायका ॥” उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार रूपक-उत्प्रेक्षा, अथवा इन दोनों का संकर ॥ २८ ॥



सदृशी तत्र शूर । सा पर जलदुर्गस्यमृणालजिह्मुजा ।

अपि मित्रजुषा सरोरुहा गृह्याट् करलोल्या श्रिय ॥ २९ ॥

जीवातु—नक्षीति । हे शूर ! जलदुर्गस्यानि मृणालानि जयत इति तज्जितो नृजो, यस्या सा मित्रजुषामवसेदिना सुहृत्सन्निगनाच्च तहायक-सम्पन्नानामपीत्यर्थः । 'मित्र नुहृदि मित्रोऽर्कं' इति विश्व । सरोरुहा श्रिय-शोभा सम्पन्न 'न लोके'त्यादिना पट्टीप्रतिषेधः, करलील्या नृजविलासेन नृजव्यापारेण बलिहारेण च 'बलिहन्ताश्व' कया 'लीलाविलान्त्रिमयोरिति' चामर, गृह्यालु ग्रहीता गृह-ग्रहण इति घातोश्चौरादिकात् 'सृष्टिहो' त्यादिना आलुच प्रत्ययः, 'अयामन्ते'त्यादिना घोरयादेशः । सा दमयन्ती तव परमत्पन्त सदृशी अनुकूलेत्युपमाङ्कुर । शूरस्य शूरं भाषां भविषु-महंतीति भावः ॥ २९ ॥

अन्वय —शूर, जलदुर्गस्यमृणालजिह्मुजा मित्रजुषाम् अपि सरोरुहा श्रिय-करलील्या गृह्यालु सा पर तव सदृशी ।

हिन्दी—हे शूर, जल के दुर्ग में स्थित कमन्नालों के जयी मुत्रमुग्मवाली, मित्र ( सूर्य ) रूप सहायक के रहते भी ( अथवा मृणाल रूप हाथों से सूर्य की सेवा करते भी ) कमलों की शोभा संपत्ति को जैसे हस्तविलासद्वारा ग्रहणशीला वह ( दमयन्ती ) केवल आपके योग्य है ।

टिप्पणी—कमलनाल से भी श्रेष्ठ मुत्र मुग्म का वर्णन करने के साथ कवि 'जलदुर्गस्य' इत्यादि द्वारा दमयन्ती और नल की सट्टयता प्रमाणित करता है । जैसे नल जल में बसे सुरक्षित दुर्ग में जा छिने मित्रों की सहायता पाये हुए शत्रुओं का अपने बाहुप्रताप से बाहर निकाल उनकी सम्पत्ति ले लेता है, वैसे ही दमयन्ती भी 'करलील्या' 'मित्रजुट् सरोरुहा' की शोभा सम्पत्ति को छीन लेती है । इस प्रकार दमयन्ती शूर नल के ही योग्य है । शूर की भाषा शूरा ही हो सकती है, नल रणशूर, दमयन्ती सोन्दर्यशूरा । मल्लिनाथ के अनुसार उपमा और विद्याधर के अनुसार सम-रन्धेय का सकर । चंद्रकलाकार यहाँ सम-रन्धेय-वृत्तिशयोक्ति का अणायिभावसकर मानते हैं ॥ २९ ॥

वयसी शिशुतातदुत्तरे सुदृशि स्वाभिविधिं विधित्सुनी ।

विधिनापि न रोमरेखया कृतसीम्नी प्रविभज्य रज्यत ॥ ३० ॥

जीवातु—वयसी इति । सुदृशि दमयन्त्या स्वाभिविधिं स्वव्याप्तिं विधि-  
त्सुनी विधातुमिच्छती अहमहमिवया स्वयमेवाक्रमितुमिच्छती इत्यर्थं शिशु-  
तातदुत्तरे धात्ययीवने वयसी विधिना सीमाभिज्ञेन रोमरेखया सीमाविह्वेन  
प्रविभज्य रोमराजे प्रागेव अत्र शैशवेन स्यातव्यस्ततः परं यौवनेनेति  
काष्ठतो विभागं कृत्वा, कृतसीम्नी कृतसम्यदि अपि 'विभाया छिद्यो'  
रित्यल्लोपः, न रज्यत न सन्तुष्यन् । रम्यवस्तु दुस्त्यजमिति भावः । एतेन  
वयसि घटितः । अत्र प्रस्तुतवयोविशेषसाम्यादप्रस्तुतविवादप्रतीतेः समासोक्ति-  
रलङ्कारः ॥ ३० ॥

अन्वयः—सुदृशि स्वाभिविधिं विधित्सुनी शिशुता तदुत्तरे वयसी विधिना  
रोमरेखया विभज्य कृतसीम्नी अपि न रज्यत ।

हिन्दी—उस सुलोचना पर अपनी अभिव्याप्ति ( अधिकार ) रखने के  
इच्छुक बाल्य और यौवन आयु विधाता द्वारा रोमों की रेखा से विभाजन  
करके सीमाबद्ध किये जाने पर भी सन्तुष्ट नहीं है ।

टिप्पणी—वयसि का वर्णन है । शिशुता अभी पूर्णतः गयी नहीं,  
यौवन का आगमन हो रहा है, जिसके चिह्न रूप रोमराजि प्रकट हो गये हैं ।  
यही रोम-राजि जैसे शैशव-यौवन की विधि-निमित्त सीमा-रेखा ( मेढ ) है,  
पर जन्म तक शैशव यौवन 'दमयन्ती' पर जितना सम्भव हो, अधिकार बना  
'रखा जाय,' इस बात पर ( लोकजीवन की भाँति ) झगडा करते रहते हैं ।  
महिलाप ने प्रस्तुत शैशव-यौवन के साम्य से अप्रस्तुत विवाद की प्रतीति होने  
के कारण यहाँ समासोक्ति मानी है, किन्तु विद्यापरा के अनुसार यहाँ विशेषोक्ति  
है । काव्य वशोक्ति मान कर 'कृतसीम्नी अपि न रज्यत' का यह अर्थ भी  
सम्भव है कि दोनों आयु सीमा निर्धारण हो जाने पर भी दमयन्ती पर अनुरक्त  
है और सीमा सम्बन्धी झगडा करते दो व्यक्तियों की भाँति स्थित है ॥ ३० ॥

अपि तदप्यपि प्रसप्ततोरमिति कान्तिसरेरयाधताम् ।

स्मरयौवनयोः सखु द्वयोः प्लवकुम्भो भवतः कुचावुभौ ॥ ३१ ॥

जीवातु—सम्प्रति यौवनमेवाश्रित्याह — अपीति । कान्तिशरैर्लावण्यप्रवा-  
हेरगाधता दुरवगाहता गमिते तद्वपुषि दमयन्तीशरीरे प्रसर्पतोस्तरतो स्मर-  
यौवनयोर्द्वयोरपि उभौ कुचौ प्लवस्योन्मज्जनस्य कुम्भौ प्लवनार्थं कुम्भा-  
वित्पथं, प्रवृत्तिविवारभावाभावादश्रधानादिवत्तादर्थ्यं पृष्ठीसमास । लोके  
तरङ्गि अनिमज्जनाय कुम्भादिकमलम्ब्यत इति प्रसिद्धं, नवत तत्तु । अत्र  
कुचयो स्मरयौवनप्लवनकुम्भस्वोत्प्रेक्षया तयोरोत्कट्य कुचयोश्चातिवृद्धिर्व्यंग्यत  
इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनि ॥ ३१ ॥

अन्वय — कान्तिवरं अगाधता गमिते तद्वपुषि प्रसर्पतो स्मरयौवनयोः  
द्वयो अपि उभौ कुचौ प्लवकुम्भौ भवत ।

हिन्दी—लावण्य की झड़ी ( धारा-प्रवाह ) से अतलम्वर्षिणी दु सगाहना  
को प्राप्त उमके शरीर पर प्रसर्पण ( सतरण ) करते काम और यौवन-दोनों  
के ही जैसे दोनों कुच सतरण-सहायक चढे हो गये हैं ।

टिप्पणी—दमयन्ती पूर्ण लावण्यवती है, धीरे धीरे काम और यौवन का  
प्रसार उसके मरपूर सुन्दर शरीर में हो रहा है । यह भाव प्रकट करने के लिए  
सौन्दर्य धारा से उमडती गहरी देह नदी में कुच रूप सतरण-कुम्भ का सहाय  
से तरते दो व्यक्तियों के रूप में काम-यौवन की कल्पना की गयी है । इस  
दलोक में दमयन्ती-कुचों की सतरण-कुम्भों के रूप में उत्प्रेक्षा के कारण कुचों  
का उभार और विस्तार व्यक्त होन से मन्त्रिनाथ के अनुसार अलङ्कार द्वारा  
वस्तुध्वनि है । विद्याधर रूपक का निषेध कर 'तत्तु' शब्द के आधार पर  
उत्प्रेक्षा मानते हैं अथवा अतिशयोक्ति ॥ ३१ ॥

कलसे निजहेतुदण्डज किमु चक्रभ्रमकारितागुण ? ।

स तदुच्चकुचौ भवन् प्रभाझरचक्रभ्रममातनोति यन् ॥ ३२ ॥

जीवातु—कस इति । निजहेतुदण्डज स्वनिमित्तकारणजन्य चक्रभ्रम-  
कारिता कुलालभाण्डभ्रमपजनकत्व सैव गुणो धर्मो रूपादिभ्य, 'गुण प्रयाने  
रूपादावित्यमर । स । कलसे किमु ? दण्डकार्यं कलसे सक्रान्तः किमु ?  
इत्यर्थं, कुत यद्यस्मात् स कलसः तस्या दमयन्त्या उच्चकुचौ भवन् तत्तुचा-

त्मना परिणत सन् प्रमादरे लावण्यप्रवाहे चक्रभ्रम चक्रवाकभ्राति कुलाल-  
दण्डभ्रमण चातनोति, 'चक्रो गणे चक्रवाके चक्र संन्यरयाङ्गयो । ग्रामजाले  
कुलालस्य माण्डे राष्ट्रास्त्रयोरपि' इत्युभयत्रापि विश्व । अत्र 'समवायि-  
वारणगुणा रूपादयः कार्ये मरामन्ति न निमित्तगुणा' इति तार्किकाणां  
समये स्थिते गुण इति चक्रभ्रम इति चोभयत्रापि वाच्यप्रतीयमानयोरेभेदा-  
व्यवसाय एव 'स तदुच्चकुचो भवन्ति'ति कुचकलसयोरभेदातिशयोक्त्युत्था-  
पितस्तरचक्रभ्रमात्मकक्रियानिमित्ता कुचात्मनि कस्मै कार्ये चक्रभ्रमकारिता  
लक्षणनिमित्तकारणगुणसकमणलक्षणेनोत्प्रेतेति सङ्क्षेपः । तार्किकसमये विरोधाच्च  
विरोधाभासोऽलङ्कार इति कैश्चिदुक्तम् तदेतदत्यन्ताश्रुतचरमलङ्कारपार-  
श्रमानं शृण्वन्तु ॥ १२ ॥

अन्वय — निजहेतुदण्डज चक्रभ्रमकारितागुण कस्मै विमु, यत् स तदु-  
च्चकुचो भवन् प्रमाकरचक्रभ्रमम् आतनोति ।

हिन्दी—कलश में जो चक्रभ्रमरारी ( चाक का भ्रम उपनाने वाला )  
भाष-रूप गुण दीखता है, वह क्या निमित्त कारण दण्ड से सजात है, जिससे  
वह कलश उस ( दमयन्ती ) के उन्नत दोनों कुच होता हुआ दीप्ति की झड़ी  
से ( कुम्भकार के ) चक्र का भ्रम ( दर्शकों की दृष्टि में ) उत्पन्न कर रहा है ?  
अथवा लीक समूह में मदजनित मोह उत्पन्न कर रहा है अथवा वह कलश  
कुचमुग्ध होकर प्रमा प्रवाह में भ्रमते चक्रों का भ्रम उत्पन्न कर रहा है ।

टिप्पणी—दमयन्ती का चक्रवाक और कलश के समान कुचमुग्ध अत्युन्नत  
है, जो देखता है, सौन्दर्य की चकाचौंध में दृष्टि भ्रात हो जाता है, वैसे ही  
जैसे तीव्र मूर्धप्रकाश को देखकर सब विमुग्ध हो जाते हैं, जैसे उल पर मद  
चढ़ गया हो । भ्रम का अर्थ धुमना—धनकर खाना भी है । इसको लेकर  
कवि ने 'न्यायप्रदृष्टिचलितक' में अपना ज्ञान प्रदर्शन किया है । न्यायशास्त्र  
में तीन प्रकार के कारण माने जाते हैं—(१) समवायि, (२) असमवायि और  
(३) निमित्त । जिससे समवेत काय उत्पन्न होता है, वह समवायि कारण है, जैसे  
मृत्पिण्ड घट का । यह द्रव्य ही होता है । इसमें मित्र असमवायि कारण है ।  
यह गुण या बर्ण होता है, जैसे मृत्पिण्ड द्रव्य-संयोग घट का । निमित्त कारण

साधनभूत होता है, जैसे घट का कुण्डल, उसका दण्ड आदि । कारण के गुण कार्य में जाते हैं, पर बबल सनवायि कारण के, असनवायि और नितिम के नहीं । परन्तु दमयन्ती के कुण्डल चक्रभ्रमकारों कुचकलय में यह चक्रभ्रम गुण (द्रव्य नहीं) निमित्त कारण दण्ड में जाता है । यह किन्तु विविध है कि न्यायशास्त्र के नियम भी बदल गये । पूर्वजोफ में कुचपुष्प घटसम कहे गये थे, यहाँ विशिष्टता दिखाकर जैसे कवि न भूल सुधारी ।

तार्किक मान्यता का विरोध होने से कुछ विद्वान् इस पद्य में विरोधामास अलंकार मानते हैं, मन्त्रिनाम इसे उचित नहीं मानते । उनके अनुसार यहाँ कुचा में कलश-भ्रम अनेकान्तिययोक्ति है, कुचास्ना कलस कार्य में क्षरचक्र-भ्रमनात्मक किया निमित्ता उत्प्रेक्षा इस अतिशयोक्ति से उत्पन्नित है, चक्रभ्रम-कारिता रूप निमित्त कारण के गुण के सङ्गता के कारण । विद्याधर के अनुसार अनुमान रूप और भ्रान्तिमात्र अलंकार हैं । चद्रकलाकर ने हरक-उत्प्रेक्षा-अनेकमूला अतिशयोक्ति का संकर माना है ॥ ३२ ॥

भजते क्षलु पण्मुखं शिखी विकुरैर्निर्मितबहंगहंपः ।

अपि जम्भरिपुं दमस्वसुजितकुम्भ. कुचशोभयेमराट् ॥ ३३ ॥

जीवातु—भजत इति । दमस्वसुजितकुम्भः विकुरैर्निर्मितबहंगहंपः कृतपिच्छनिन्द-जितबहं शरणं । शिखी मयूर पण्मुख कातिकेय भजते क्षलु, तथा कुचशोभया जितकुम्भ इमराटैरावतोऽपि जम्भरिपुमिन्द्र भजते । पर-परिभूता प्राणनामाय प्रव-नाश्रयन्त इति प्रतिदम् । जम्भरिपुमरावतयोः पण्मुखजम्भारिभजतस्य जितबहंवितकुम्भत्वपदार्थहेतुज्ज्ञात् तद्वेतुके काव्य-तिगे तदनन्व-येऽपि सम्ब-धामिधानादतिशयोक्तिरपि ॥ ३३ ॥

अन्वयः—दमस्वनु विकुरैर्निर्मितबहंगहंपः शिखी पण्मुख, कुचशोभया जितकुम्भ इमराट् अपि जम्भरिपु भजते क्षलु ।

हिन्दी—दमयन्ती की केशराशि के द्वारा अपने पिच्छों के तिरस्कृत होने के कारण मयूर मानों छ मुखवाले स्वामिकातिकेय की सेवा में चला गया है और कुचों की शोभा में पराजित कुम्भस्थल वाला मयूरराज ऐरावत भी जैसे जम्भानुर के शत्रु इन्द्र की सेवा में ।

टिप्पणी—दमयन्ती की केशराशि मयूरविच्छ से अधिक धनी, लहरदार और धोमाशालिनी है और कुचयुग्म के सम्मुख गजराज ऐरावत की कुम्भस्थली भी निम्न है। ऐसा प्रतीत होता है कि मयूर ने इसी में पडानन ( मत-एव अधिक केशराशि वाले ) की धारण की है और ऐरावत दवराज की सेवा करके प्रसन्न करना चाहता है कि मयूर ऐरावत दमयन्ती की केशराशि और कुचयुग्म की समानता करने योग्य केश पुष्पस्थल पा सके। मल्लिनाथ की दृष्टि में काव्यलिङ्ग और अतिशयोक्ति, जिनका चद्रकलाकार सकार मानते हैं। बिद्याधर के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा और शीघ्रक अलंकार हैं ॥ ३३ ॥

उदरं नतमध्यपुष्टास्फुरदङ्गुष्ठपदेन मुष्टिना ।

चतुरङ्गुलिमध्यनिर्गन्तवलिभ्राजि कृत दमस्वसु. ॥ ३४ ॥

जीवातु—उदरमिति । दमम्बमुदरं नतमध्यं तिमिमध्यप्रदेशं पृष्ठं यस्योदरस्य तस्य भावस्तप्ता तया स्फुरत् इडफले पृष्ठफले स्फुटीभवदङ्गुष्ठ-पदमङ्गुष्ठयासत्स्थानं यस्य तेन मुष्टिना करणेन चतसृणामङ्गुलीनां समाहारश्चतुरङ्गुलि 'तद्विते'त्यादिना समाहारे द्विगुरेकवचननपुंसकत्वे । तस्य मध्येभ्योऽन्तरालेभ्यो निर्गतं तत्रिबलि पूर्ववत् समासादि कार्यं, यत्तुक्तं यामनेन 'त्रिबलिशब्दं सज्ञा चेदिति' मूत्रेण सप्तर्षेय इत्यादिवत् 'दिक् सख्ये सज्ञायामिति' सज्ञाया द्विगुरिति । तदपि चेत्करणसामर्थ्यात् त्रिबलम् इति बहुवचनप्रयोगदर्शने स्थितं यतिमात्रं न सार्वत्रिकमिति प्रतीतम् । तेन भ्राजत इति तद्भ्राजं बलिप्रयस्योमि श्रुतमित्युत्प्रेक्षा, कीदृक्वेनेति शेषः । मुष्टि-प्राह्यमध्येयमित्यर्थः । मुष्टिग्रहणादङ्गुष्ठनोदनात्पृष्ठमध्ये न भ्रंशो उदरे च चतुर-ङ्गुलिनोदनाद्वलिप्रयाविर्भावश्चेत्युत्प्रेक्षते ॥ ३४ ॥

मन्त्रः—इयस्वगु उदरं नतयध्यपृष्ठं तास्कुदङ्गुष्ठपदेन मुष्टिना चतु-  
रङ्गुलमध्यनिगतत्रिवलिभाजि कृतम् ।

हिन्दी—दमयंती का उदर पीठ का मध्यभाग मत होने के कारण जिसका अगुल स्थान प्रकट हो रहा है, उस मुठ्ठी से चार अगुलियों के बीच से निकली त्रिवली ( तीन रेखाओं ) से सुशोभित बनाया गया है ।

टिप्पणी—दमयन्ती के उदर-सौन्दर्य का वर्णन । अगुल-निवेद्य का कारण पृष्ठमध्य में निम्नत्व है और चार अगुलियों द्वारा घारण करने के कारण तीन रेखाएँ ( त्रिवली ) बन गयी हैं । मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग और रूपक अलङ्कार ॥ ३४ ॥

उदर परिमानि मुष्टिना कुतुबी कोऽपि दमम्बमु किमु ? ।

घृततच्चनुरङ्गुलीव यद्वलिभिर्मति सहेमकाञ्चिभि ॥ ३५ ॥

जीवानु—उदरमिति । कोऽपि कुतुबी दमस्त्वसुदर मुष्टिना परिमाति किमु ? परिच्छिनत्ति किमित्युत्प्रेक्षा, कुत ? यद् यस्मात् सहेमकाञ्चिभि-  
वलिभिर्हेमकाञ्चया सह चतुर्मिस्तिर्बलिभिरित्यर्थः । एतस्या कनकसावर्ण्यं  
सूचितम् घृत तस्य मातृदधतुरङ्गुनी अङ्गुलीचतुष्टयं येन तदिव नाती-  
त्युत्प्रेक्षा । अत्रोत्प्रेक्षयोर्हेतुहेतुनदभूतयोरङ्गाङ्गिभावेन सजातीयं सहृदयः ।  
पूर्वश्लोके बलीनां तिमृणा चनुरङ्गुलिमध्यनिर्गन्तव्यमुद्वेक्षितम् । इह तु  
तासामेव काञ्चीसहितानां चनुरङ्गुलित्वमुत्प्रेक्षत इति भेद प्रेक्षितुरिति  
भावः ॥ ३५ ॥

अन्वय—क अपि कुतुबी मुष्टिना दमस्वमु उदर परिमाति किमु यद्  
सहेमकाञ्चिभि बलिभि घृततच्चनुरङ्गुलि इव नाति ?

हिन्दी—जब कोई कीतुकी मुठ्ठी से दमयन्ती का उदर नापना चाहता है  
कि स्वर्ण मेखला सहित त्रिवलियों के कारण वह नापनेवाले की चार अगुलियों  
से मुक्त जैसा सुशोभित हो रहा है ?

टिप्पणी—दमयन्ती ने स्वर्णमेखला पहिन रखी है, एक वह और तीन  
त्रिवली—सब मिलकर ऐसा लग रहा है कि किसी ने नापने के लिए चार  
अगुलियों में दमयन्ती का उदर पकड़ रखा है । मल्लिनाथ के अनुसार दो  
उत्प्रेक्षाओं का सजातीय सकार, विद्याधर के मत में उत्प्रेक्षा और उपमा ॥ ३५ ॥

पृथुवनुल्लान्घ्रितम्बवृन्मिहिरम्यन्दनशिन्धुशिखाया ।

विधिरेकचक्रचारिण किमु निर्मित्सति मान्मय रघम् ॥ ३६ ॥

जीवातु—पृथ्विति । पृथु वस्तुल च तस्या नितम्ब करोतीति नितम्ब-  
कृतितम्ब कृतवान् विधि ब्रह्मा मिहिरस्यन्दनशिल्पशिक्षया रविरथनिर्माणा-  
भ्यामपाटवेन एकचक्रेण 'एकादाकिनिच्चासहाये' इति चकारात् कप्रत्यय ।  
तेन चक्रेण चरतीति तच्चारिण मामय रथ निमित्सति किमु ? सूर्यस्यैव  
मन्मथस्यापि एकचक्र रथ निर्मासुमिच्छति किमु ? इत्युत्प्रेक्षा । अग्यथा  
किमयमिदं नितम्बनिर्माणमिति भावः । माते सन्नन्तात्लट् । 'सनि मीमे'  
त्यादिना ईमादस, 'सस्याद्धंघातुक' इति सकारस्य तकार, 'अत्र लोपोऽ-  
भ्यासस्ये'त्यभ्यासलोपः ॥ ३६ ॥

अन्वय — पृथुवस्तुलता नितम्बकृत् विधि किमु मिहिरस्यन्दनशिल्पशिक्षया  
एकचक्रचारिण मामय रथ निमित्सति ?

हिन्दी—( दमयन्ती के ) विशाल और शोलाकार नितम्ब का निर्माता  
विधाता क्या सूर्य रथ के शिल्प के अभ्यास से एक ही चक्के पर चलनेवाला,  
शमदेव का रथ बनाना चाहता है ?

टिप्पणी—दमयन्ती ने बतुलाकार, विशाल नितम्बरधर को देखकर मदन  
प्राप्तुर्भाव हो जाता है इस कारण कवि ने उसे 'मा-मथरथ' बताया । विधाता  
को सूर्यरथ के निर्माण का अभ्यास होने के कारण उसने शायद 'मा-मथरथ'  
को 'एकचक्रपारी' बनाना चाहा है । उत्प्रेक्षा ॥ ३६ ॥

तद्धमूढयुगेन सुन्दरी किमु रम्भा परिणाहिना परम् ।

तरणीमपि जिष्णुरेव ता धनदापत्यतपः फलस्तनीम् ॥ ३७ ॥

जीवातु—तदमिति । सुन्दरी दमस्वसा परिणाहिना विपुलेन ऋक्षयुगेन  
रम्भा रम्भा नाम तह परतहमेव 'न लोके' त्यादिना पृष्ठीप्रतिषेधः । जिष्णु  
किमु ? किन्तु धनदापत्यस्य भल्लूवरस्य तपसः फलस्तनी फलभूतकृत्वा ता  
रम्भाप्राप्त तरणीमपि जिष्णुरेव । 'रम्भावदत्यप्सरसोरिति विश्वः । रम्भे  
इव रम्भाया इव चोक्तं यस्या सा इत्युभयथा रम्भोदरित्वयं ॥ ३७ ॥

अन्वय — सुन्दरी परिणाहिना ऋक्षयुगेन पर रम्भा तह किमु धनदापत्यतपः-  
फलस्तनी ता तरणीम् अपि जिष्णु एव ।



हिन्दी—वह सुन्दरी विशाल कमल से केवल रम्भा ( कदली ) वृक्ष की व्या, छात्रा है कि कुंवर के पुत्र ( नलकुंवर ) की तपस्या के फलस्वरूप कुच-सुमनसिणी ( कचवा नलकुंवर ने तप करके जिस रम्भा को फलस्वरूप में पाया उसे ) उदगी ( जप्तरा रमा ) को भी जीतना चाहती है ।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती का कमलमय चित्रकपता और सुशील होने में कदली वृक्ष में थोड़ा तो है ही, उसकी सुपमा स्वर्गसुन्दरी, कुंवर की पुत्रवधू जप्तरा रमा के कमलमय में भी कमनीय है । 'रम्भा' शब्द का स्थूल प्रयोग-वैशिष्ट्य । विद्याधर के अनुसार उपेक्षा, चतुर्लङ्कार ने इसी श्लोक के पूर्वार्द्ध में अपांषति तथा उत्तरार्द्ध में सुन्दरी के सम्बन्ध में कदली की अपेक्षा में अतिशयोक्ति मानकर दोनों के अगामिभाव का निर्देश किया है ॥ ३७ ॥

जलजे रविसेदये यः पदमेतद्गुणवापनु ।  
ध्रुवमेतत् स सहस्रकीकुक्षम् विधिपत्रदम्पती ॥ ३८ ॥

जीवानु—जलजे इति । यः पदमेतद्गुणवापनु । ध्रुवमेतत् स सहस्रकीकुक्षम् विधिपत्रदम्पती ॥ ३८ ॥  
एतस्या पदता चरणत्वमेव पदम्प्रतिष्ठितम् । यः पदमेतद्गुणवापनु । ध्रुवमेतत् स सहस्रकीकुक्षम् विधिपत्रदम्पती ॥ ३८ ॥  
रौते सम्पदादित्वात् त्रिविधं तुगायम् । महमकी मपादकटकी सहस्रकी च कुरुत 'अभूततद्भावे चि' । 'हमक पादकटक' इत्यमर । हमपक्षे वैभाषिक कप्रत्यय ध्रुवमिष्टुप्रेक्षायाम् । पद्महस्योरविनाभावात् कयोद्वि-  
टिप्पणयोस्तत्पदत्वमुत्प्रेक्ष्य दिव्यहस्योरेव हसपत्वञ्चोप्रेक्षये ॥ ३८ ॥

अन्वय —ये जलजे रविनेत्रया इव एतत्पदता पदम् अवापनु ते विधिपत्र-  
दम्पती एत एतः ध्रुव सहस्रकीकुक्षम् ।

हिन्दी—जिन दो कमलों ने जैसे सूर्य की सेवा द्वारा इस ( दमयन्ती ) के चरण होने का पद ( स्थान ) पाया है, वहाँ के वाहन हसदम्पती आकर अपने कलरव से निश्चय ही उन (कमल चरणों) की सहस्रक ( पादकटक-नूपुरसहित ) कर रहे हैं ।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती के कमल-सम चरण नूपुर ( ध्वनि )

युवन है। उनकी सुषमा कमल और हंस दोनों से अधिक कथनीय है। कमलों को चरण हाने का गौरव तब मिला, जब उन्होंने मुर्योपासना की और हंस-दम्पती को उन चरणों के नूपुर होने का तब, जब उन्होंने सत्कार के निर्माता विधाता की वाहन रूप में सेवा की। लगता है कि विधाता ने दम्पती के कमल-चरण बनाकर और कुछ उपयुक्त न पाने हुए अपने वाहन हंसदम्पती को ही उनके नूपुर बना दिया। उत्प्रेक्षा। चन्द्रालाकार ने इस श्लोक के पूर्वांश में गुणोत्प्रेक्षा और उत्तरांश में श्लेषाचूना अतिशयोक्ति मान कर इनकी सद्गुण का उल्लेख किया है ॥ ३८ ॥

श्रितपुण्यसर सरित्कथं न सम्मिश्रितानाखिलक्षपम् ।

जलजं गतिमेतु मञ्जुता दमयन्तीपदनाम्नि जन्मनि ॥ ३९ ॥

जीवातु—श्रितेति । श्रिता मेविता पुण्या सर सरित् मानसादीनि सरासि गङ्गाद्या सरितश्च येन तत्समाधिना ध्यानेन निमीलनेन क्षपिता-खिलक्षपं पापितसर्वरात्र जलज दमयन्तीपदमिति नाम यस्मिन् जन्मनि मञ्जु-लाङ्गति रम्यगतिमुत्तमदशाश्च, गतिमर्थे दशाया चेति विश्व । कथं नैतु एतेष्वैतत्पर्यं । पदस्य गतिसाधनत्वान्नापि दमयन्तीसम्यग्वाच्योभयगति-लाभः । तथापि जन्मान्तरेऽपि सबया तप फलितमिति भावः । सम्पादनाया एते ॥ ३९ ॥

अन्वय — श्रितपुण्यसर सरित् समाधिउपनालिकल्प जलज दमयन्तीपद-नाम्नि जन्मनि मञ्जुला गति कथं न एतु ?

हिन्दो—पुण्यसर सरोवर और उदिया का आशय लेनेवाला ( तीर्थमेवो ) और राजा भर मुँदा रम्य समाधि तथा ममय रात्रियाँ मिलाने वाला कमल दम्पती चरण नाम पाकर निमग्न जन्मा, उस जन्मातर में ऐसी रमणीय गति क्यों न प्राप्त करे ? ( प्राप्त करना ही उचित है ) ।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक में कमली के दम्पती चरण रूप पाने के जिस मोहावस्था में उत्प्रेक्षा की थी, यहाँ उसी के कारण की सम्भाषणा की गयी है। दिन रात पुण्यतीर्थों में निवास करने और राज-राज भर समाधि में लीन रह

कर यह सोनाभ्य निग है । ऐसे ही उत्तमा गति प्राप्त होती है । 'साहित्य-विद्याधरी' के अनुसार यहाँ समासोक्ति है और 'चंद्रकलाव्या' के अनुसार समासोक्ति और अर्थापत्ति का अगाधिनाम सत्कर ॥ ३९ ॥

सरसी परिशीलितु मया गमिकर्माकृतनैकनीवृता ।

जतिथित्वमनायि ना दृशो सदसत्पश्यगोचरोदरी ॥ ४० ॥

जीवातु—नम कथ त्वमेना देस्सीत्यत आह—सरसीरिति । सरसी मयापि परिशीलितु परिचेतु तत्र विहर्तुमिच्छयम् । चुरादिगेरनित्यत्वादभ्यन्तप्रयोग । गमिनांनन शब्दपरदाभेनाभौ यम्यते तस्य कर्माकृता कर्मकारकीकृता नैके जनेके नत्रयस्य नद्यन्तस्य सुष्पुपेति समास । नितरा वतन्ते जना वेम्बिति नीवृता जनपदा येन तेन श्रान्तानेकदेशेनेयम् । 'नहिबृती'त्यादिना दीर्घ । मया सदसद्वेति सहायगोचर सन्देहास्पदमुदर यस्या सा कुरादरी-त्ययम् । 'नासिकोदरे' त्यादिना झीप् । सा दमयन्ती व्योरातिथित्वमनायि स्वविषयता नीता श्लेष्मन् । नयते कर्मणि लुङ् ॥ ४० ॥

अन्वय—सरसी परिशीलितु गमिकर्माकृतनैकनीवृता मया सदसत्पश्य-गोचरोदरी सा दृशो अतिथित्वम् अनायि ।

हिन्दी—अनेक सरोवरों में अवगाहन करने की इच्छा से अनेक देशों को गमन कर्म का विषय बनाते ( अनेक दिशा-दिशान्तरों में घूमते ) मैंने जिसका उदा 'अस्ति-नास्ति' का सशय उत्पन्न कर देता है—दृष्टिपथ में आता ही नहीं—उस कुरादरी ) को नदनों का अनियि बनाया ( देखा ) ।

टिप्पणी—विचित्र है कि जिसका जय सरलतया दृष्टिगोचर ही नहीं हो पाना, उसे हम ने अपने नदनों से देखा । यह दिग्दिगंत में परिभ्रमण से ही हो सका, अर्थात् जेक देशों में वही ऐसी अकेली मुन्दरी है । अद्वितीया, अनुपना, उत्तमा और कोई नहीं । साहित्यविद्याधरी के अनुसार 'वक्षोक्ति जीवित' के आधार पर यहाँ 'अर्थ की प्रीति' अर्थात् ओज गुण जोर पर्याय-वञ्जा-प्रकार है । अनिययोक्ति ॥ ४० ॥

अदधृत्य दिवोऽपि यौवर्तनं सहाघातवनीमिमामहम् ।

कन्मस्तु विधानुगाये पतिरन्या वसनीत्यचिन्तयम् ॥ ४१ ॥

जीवातु—अवधृत्येति । अहमिमान्दमयन्ती दिव स्वर्गस्य सम्बन्धिभिर्गो-  
वतैर्मुवतिसमूहेरपि 'गार्भिण योवन गण' इत्यमर । भिक्षादित्वात्समूहायै  
अणप्रत्यय , तथाप्यस्य युवतीति स्त्रीप्रत्यान्तस्यैव प्रकृतित्वेन तदग्रहणात् तत्ता-  
मर्थादेव 'भस्यादे तद्धित' इति पुवद्भाव इति वृत्तिवार । न सहाधीतवती-  
मसरशी ततोऽप्यधिकमुदरीमित्यर्थ । 'नजयंस्य न शब्दस्य सुप्सुपेति समास'  
इति वामन । अवधृत्य निश्चित्य विधातु ब्रह्मण आशये हृदि अस्या पति-  
कतमो नु कतमो वा वसतीत्यचिन्तयम्, तदैवेति शेष ॥ ४१ ॥

अन्वय — इमा दिव यौवतं अपि सह तु न अधीतवतीम् अवधृत्य विधातु  
आशये अस्या पति कतमः वसति—इति अहम् अचिन्तयम् ।

हिन्दी—यह निश्चय करके कि यह ( दमयन्ती ) स्वर्ग सुन्दरियों के साथ  
भी तो पाठ नहीं पढ़ी है ( रूप गुण में स्वर्ग सुन्दरियाँ इसके समान नहीं हैं )  
मैं यह सोचने लगा कि विधाता के मन में कौन इसका पति है ?

टिप्पणी—भाव यह है कि असद्य सुन्दरी दमयन्ती के अनुरूप कहाँ  
त्रिलोकी में वर प्राप्त होगा ? प्रतीप अथवा व्यतिरेक अलंकार ॥ ४१ ॥

अनुरूपमिम निरूपयन्नथ सर्वेष्वपि पूर्वपदानाम् ।

युवसु व्यपनेतुमक्षमस्त्वयि सिद्धान्तधिय न्यवेक्षयम् ॥ ४२ ॥

जीवातु—अनुरूपमिति । ययेदानीमनुरूप योग्यत्वा निरूपयन् तस्या  
पतित्वेनालोचयन् सर्वेष्वपि युवसु पूर्वपदतां द्रूप्यकोटित्व व्यपनेतुमक्षम सन्  
त्वयि सिद्धान्तधिय न्यवेक्षयम् । त्वमवास्या पतिरिति निरवैपमित्यर्थ । अय-  
मेव विधेयानुरूप्याशय इति भाव ॥ ४२ ॥

अन्वय — इमम् अनुरूप निरूपयन् अथ सर्वेषु अपि युवसु पूर्वपदता व्यपनेतुम्  
क्षम त्वयि सिद्धान्तधिय न्यवेक्षयम् ।

हिन्दी—इस ( दमयन्ती ) के अनुरूप ( योग्य पति ) का विचार करते  
हुए सभी अन्य युवकों में पूर्वपदता ( अयोग्यरूपता ) का निराकरण करने में  
असमर्थ मैं आप ( राजा नल ) में सिद्धान्त बुद्धि ( भ्रम्यनुरूपता ) का  
निश्चय किया ।

टिप्पणी—‘पूर्वपक्ष’ होता है किसी ‘विचार’ का आरम्भिक, असिद्ध और सदेहान्तर पक्ष, जो उत्तरपक्ष बर्णान् सिद्धात पक्ष की अपेक्षा दुर्बल होगा ही। पूर्वपक्षमें जो समस्या उठायी जाती है, सिद्धात पक्ष में उस का समाधान होता है। पूर्वश्लोक के अनुसार हृन् को दृष्टि में लानेकी का कोई नरक-सदृशी दमयन्ती के सदृश नहीं आया। उस स्थिति में उसके मन में स्वाभाविक विचार आया कि कौन तब इतना अनुरूप पनि होगा? जनेक स्यात् युवकों पर विचार किया, पर वे ‘पूर्वपक्ष’ ही रहे, ‘समाधान’ न बन पाये, ‘समाधान’ मिला नल के रूप में। निश्चय यह निर्गत हुआ कि विष्णो के दमयन्ती के अनुरूप नल ही है। इस प्रकार अन्य तत्त्व हैं ‘पूर्वपक्ष’ और नल है ‘मिद्धान्तपक्ष’। सम अलकार ॥ ४२ ॥

अनया तव रूपमीमया कृतसंस्कारविवोधनस्य मे।

चिरमप्यलोकित्वाऽपि सा स्मृतिमास्त्ववती शुचिस्मिता ॥ ४३ ॥

जीवात्—अथ त्वद्रूपदर्शनमेव सम्प्रति तत्स्मारकमित्याह—अनयेति। चिरमप्यलोकित्वाऽपि सा शुचिस्मिता मुन्दरी अग्राधुना हस्तेन निदिशन्नाह—अनया तव रूपमीमया मौन्दर्यवापुया कृतसंस्कारविवोधनस्य उद्बुद्धसंस्कारस्य मे स्मृतिमास्त्ववती स्मृतिपयङ्गता, सद्दर्शनं स्मारकमित्यर्थः ॥ ४३ ॥

अन्वय—अथ अनया तव रूपमीमया चिरम् अवलोकित्वा अपि सा शुचि-स्मिता कृतसंस्कारविवोधनस्य मे स्मृतिम् आस्त्ववती।

हिन्दी—आन इस आपकी रूप-मीमा ( लावण्य की पराकाष्ठा ) द्वारा बहुत काल पूर्व देखी गयी थी वह शुभ्रमदहासशालिनी ( दमयन्ती ) पूर्व संस्कार के अनुद्बोध के कारण मेरी ( हृन् की ) स्मृति मे आ गयी।

टिप्पणी—मनुष्य बन्धु के दर्शन ने प्राप्तउन संस्कार उद्बुद्ध हो जाते हैं और पूर्व दृष्ट का स्मरण हो जाता है। दमयन्ती के अनुरूप नल को देख कर हृन् की पुरानी स्मृति नवीन हो गयी और दमयन्ती ध्यान मे आ गयी। स्मरण अलकार ॥ ४३ ॥

त्वयि वीर ! विगजते परं दमयन्तीकिञ्चिचित् किल।

तदानीन्तन एव दीप्यते मणिहारावलिराण्णयकम् ॥ ४४ ॥

जीवातु—तत् किमत आह—त्वयीत्यादि । हे वीर ! दमयन्त्या किल-  
किञ्चित्, 'क्रोधाश्रुत्वंभीत्यादे सङ्कुर किलकिञ्चितमि'त्युक्तलक्षणलक्षित-  
शृङ्गारचेष्टित त्वयि परन्त्वय्येव विराजते किल घोमते समु । तथाहि—मणि  
हारावलेमुक्ताहारपङ्क्तये रामणीयक रमणीयत्व 'योपाघाद गुरुपोत्तमाद् वृत्' ।  
सरणीस्तन एव दीप्यते, नाग्यधेत्यय । स्तनादीना द्वित्वविशिष्टा जाति प्राये-  
णेति प्रापग्रहणादेकवचनप्रयोगा । अत्र हारकिलकिञ्चितमयोऽपमानोपमेययो-  
र्वाक्यद्वये विम्बप्रतिविम्बतया स्तननूपयो समानधर्मत्वोक्तेर्दृष्टान्तारुद्धार,  
लक्षणन्वक्तुम् ॥ ४४ ॥

अन्वय — वीर, दमयन्ती किल किञ्चित पर त्वयि विराजते किल, मणि-  
हारावलिरामणीयक सरणीस्तने एव दीप्यते ।

हिन्दी—हे वीर, दमयन्ती का किलकिञ्चित ( शृङ्गार चेष्टा ) केवल तुम  
पर विशेषतः छाया पायेगा, मणिमाला को रमणीयता सरणी के कुक्षों पर ही  
दीपती है ।

टिप्पणी—भाव यह है कि गल और दमयन्ती की रूप सामा परस्पर प्रयुक्त  
ही सुशोभित और सार्थक होगी । प्रिय मग होने पर मद हास्य, अश्रुरहित  
छदन, हँसो, भय, क्रोध, श्रम आदि के समिश्रण से जो तरुणियों की शृङ्गार-  
चेष्टाएँ होती हैं, वे 'किलकिञ्चित' है—'स्मितशुष्करुदितहसितप्रासप्रोषध्रमादीनाम्  
साङ्ख्यं किलकिञ्चितममोष्ठमसङ्गमादिजादृषां' ( साहित्यदर्पण ३।१।१० ) ।  
मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टात और विधाधर के अनुसार प्रतिवस्तूपमा ॥ ४४ ॥

तव रूपमिदं तथा विना विकल पुष्पमिवावकेशिन ।

इयमुद्धधना वृथाश्वनी, स्ववनी सम्प्रवदत्पिकापि का ? ॥ ४५ ॥

जीवातु—उवेति । हे वीर ! तवेद रूप सौन्दर्यं तथा दमयन्त्या विना  
अवकेशिनो वध्यवृत्तस्य 'बन्धोऽश्लोऽवकेशी चे'त्यमर । पुष्पमिव विपन्न  
निरर्थकम्, उद्धधना सम्पूर्णवित्ता इयमवनी वृथा निरर्थिका । सम्प्रवदत्पिका  
बुद्धत्वोक्ता स्ववनी निजोद्यमानमपि 'झीप्' का तुच्छा निरर्थकत्वार्थः । तद्योगे  
तु सर्वं सफलमिति भावः । 'नि वितव' परिप्रदने क्षेत्रे नि'दापराधवारि'ति  
विरव । अत्र नल्रूपावनीवनीना दमयन्त्या विना रम्यतानियेषाद्विनोदितरल-

छार । 'विना सम्बन्धि पञ्चिदशाद्यत्र परा नदेत् । रम्यताञ्जिता वा  
स्यात् सा विनोक्तिरनुमृते'ति लक्षणात् । तन्मात्रं पुण्यनिवेद्युपमया तनृष्टि ।

अन्वय — अबकेदिन पुण्यम् इव तव इदं रूपं तथा विना विफलम्, इदम्  
श्रद्धापूर्णा क्वन्ती कृपा, सम्प्रवदयिका अपि स्वकन्ती का ?

हिन्दी—अैसे अबकेद्यो ( बान इत ) का फूल ( जयवा 'अबकेद्यो' जयान्  
जेश-इस व्यक्ति द्वारा सिर में लगाया फूल ) बिना जयान् फूलरहित होता है,  
वैसे ही यह आपका रूप उससे विना निष्कल है, यह धनकाम्य से समृद्ध परा व्यर्थ  
है और कौशल-कृपण से कूजित आपकी विनाश-वाटिका भी क्या है ?  
( व्यर्थ है । )

टिप्पणी—आप यह है कि नर का यह रूप सौन्दर्य, यह समृद्धराज्य,  
यह हरी-भरी विलास छाही सभी सार्थक है, जब 'यह' साथ हो । मन्त्रिणां  
के अनुसार विनोक्ति-उपमा की समृद्धि, विद्याधर न छैकानुग्रह, विनोक्ति,  
दीनक और उपमा जलकारों का निर्देश किया है ॥ ४५ ॥

अनयाभिरकाम्यमानया सह योगः सुखमन्तु न त्वया ।

धनसंवृतयाञ्जुदागमे कुमुदेनव निनाकरत्विपा ॥ ४६ ॥

जीवान्—अथान्वापेता दमयन्ति तस्या दीलम्बनाह-अनयेति । अमरैरि-  
न्द्रादिभि काम्यमानयाऽनिच्छन्मापया दनयन्त्या सह योगः अञ्जुदागमे धन-  
संवृतया मेधावृत्तया निनाकरत्विपा सह योगः कुमुदेनव त्वया न मुल्लो दुर्लभ  
इत्यर्थः । अत्र सम्प्रयोगदीलम्बस्य अमरकामनापदायहेतुकत्वात् काव्यलिङ्गभेदः,  
तन्वापेता चेतनुपमेति सङ्करः ॥ ४६ ॥

अन्वय — अमर काम्यमानया अनया सह योगः अञ्जुदागमे धनसंवृतया  
निनाकरत्विपा कुमुदेन इव त्वया न मुल्लभ ।

हिन्दी—सिन्धी कामना देवता करते हैं, ऐसी इस ( दनयन्ती ) के साथ  
वापता मिलन सभी प्रकार मुल्लभ नहीं है, जिस प्रकार दर्पण में मध्याह्निक  
चन्द्र को चन्द्र के साथ कुमुद का साथ नहीं होता ।

टिप्पणी—सर्वथा अनुपपत्ता होने पर भी नर का दनयन्ती से विवाह सरल

नहीं है, सुसाध्य नहीं, दु साध्य यथवा प्रयत्नसाध्य है, क्योंकि इत्यादि देव भी उसकी कामना करते हैं। वर्षा काः में बादला स टकी चाँदनी कुमूद को तभी लवण हो पायी है, जब देव सहायता से वायु द्वारा मेघ उड़ जाते हैं, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार देवों सहायता और प्रयत्न से ही नल दमयन्ती-योग सम्पन्न हुआ, वैसे ही नहीं। मन्त्रिनाथ के अनुसार पदायहेतुक काव्यलिंग और उपमा का सकर, विद्यापर की दृष्टि में 'द्विध्वप्रतिद्विध्वमावेन' उपमा मलकार।

तदहं विदधे तथा तथा दमयन्त्या सविधे तव स्तवम् ।

हृदये निहितस्तथा भवानपि मेन्द्रेण यथाऽऽनीयते ॥ ४७ ॥

जीवानु—अत्र का गतिरित्याह-सदिति । तत्तस्मात्कार्यस्य सप्रतिबन्ध-त्वादहं दमयन्त्या सविधे समीपे तथा तथा तव स्तव स्तोत्रं विदधे विधास्य इत्यर्थः, समीप्ये वर्तमाने प्रत्ययः । यथा तथा हृदये विहितो भवानिन्द्रेणापि नापनीयते नेतुमशक्य इत्यर्थः । यथेन्द्रादिप्रभामिताऽपि स्वभ्येव गाढानुरागा स्यात्तथा करिष्यामीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—तत् अहं दमयन्त्या सविधे तथा तथा तव स्तव विदधे यथा तथा हृदये निहित भवान् इन्द्रेण अपि न अपनीयते ।

हिन्दी—सो मैं (हम) दमयन्ती के निकट आपकी ऐसी-ऐसी प्रशंसा करूँगा, जिनमें उसके हृदय में स्थापित आप इन्द्र द्वारा भी नहीं हटाये जा सकेंगे ।

टिप्पणी—प्रयत्न शीलता का संकेत । हंस द्वारा राजा का ऐसा प्रशंसारम्ब विवरण उपस्थित किया जायेगा कि अग्निदेव क्या इन्द्र को भी दमयन्ती नल के सम्मुख न गिनेगी । साहित्य विज्ञापरी के अनुसार अनिष्टयोक्ति चन्द्रकलाख्या के अनुसार अर्थापत्ति ॥ ८७ ॥

तव सम्मतिमन् केवलामधिगतुं प्रिगिद निवेदितम् ।

द्रुवते हि फलेन भावयो न तु कष्टेन निजोपयोगिनाम् ॥ ४८ ॥

जीवानु—तत्र तथैव क्रियतां किं निवेदनेनेत्यत्र आह तत्रैति । यथास्मिन् कार्ये वैश्यामेव तत्र सम्मतिमन्नीभारमधिग तुमिद निवेदिन निवेदन विद् ।



तथा हि साधवो निशेषयोगिता स्वोपकारित्व फलेन कार्येण ब्रुवते बोधयन्ति,  
किंतु कष्टेन वाग्वृत्त्या न ब्रुवते । सामान्येन विक्षेपसमर्थनह्योऽर्थान्तरन्यास ॥

अन्वय — वर केवल तब सम्मतिम् अधिगन्तुम् इद निवेदितम् धिक्,  
हि साधव निशेषयोगिता फलेन ब्रुवते न तु कष्टेन ।

हिन्दी—इस समय केवल जापकी स्वीकृति प्राप्त करने के निमित्त जो  
यह निवेदन किया, उसे धिक्कार, क्योंकि भले व्यक्ति अपनी उपयोगिता फल  
( कार्य ) से ही बचानते हैं, कष्ट से ( मोखिक ) नहीं ।

टिप्पणी—सज्जन अपनी सार्यकता क्रिया द्वारा प्रमाणित करते हैं, केवल  
बातों से नहीं । इस ने जो इतना कहा, वह इसी कारण कि कार्य सम्मन करने  
से पूर्व वह महाराज नर को 'मन्त्रो' चाहता था । अर्थान्तरन्यास ॥ ४८ ॥

तदिदं विशद वचोऽमन परिपीयाभ्युदित द्विजाधिपात् ।

अनितृप्ततया विनिर्ममे म तदुद्गारमिव स्मित मितम् ॥ ४९ ॥

जीवातु—तदिति । स नन्वे द्विजाधिपात् हवाश्चन्द्राश्चान्युदितमावि-  
नूत विशद प्रमनमवदातश्च तत् पूर्वोक्तमिदमनुमूयमान वच एवामृतमिति  
रुच्य तदपरिपीय अत एव अतिनृततया अतिप्रोत्थितेन तस्य वचोऽमृतस्य  
उद्गारमिव सित स्मित विनिर्ममे निमित्तवान् । माह कर्त्तरि हिट् । अनितृ-  
प्तस्य किञ्चिन्नि सार उद्गार । सितत्वसाम्यात् स्मितस्य वामृतोद्गारोत्प्रेक्षा ।

अन्वय — द्विजाधिपात् उन्मुदित विशद तत् इद वचोमृत परिपीय स  
अनितृप्ततया तदुद्गारम् इव सित स्मित विनिर्ममे ।

हिन्दी—द्विजराज चद्र के समान शुभ द्विजराज ( पक्षिराज हंस ) से  
उत्पन्न ( निनृत, रुहे गये ) विशद ( उज्ज्वल, विनृत ) वचनमृत का पान  
कर अत्यन्त तृप्ति के कारण उस ( राजा नर ) ने उस ( हंस-वचन ) के  
उद्गार के सदृश मद हास्य किया ।

टिप्पणी—राजा को हंस का प्रस्ताव सुनकर अत्यन्त सन्तोष और सुख  
मिला । हंस का वचन अनृत के समान शुभ है, क्योंकि श्वेत से श्वेत ही का  
उद्भव होता है । कवित्वनयसिद्ध मद हास्य का वर्ण भी श्वेत । मन्त्रिनाय

ने स्मित के सिव-साम्य के आधार पर बागमृतोद्गार की उत्प्रेक्षा मानी है। कदाचित् कृत्त टीकाकारों ने इस दलोक में सपासोक्ति मानी है, विद्याधर ने उसका खटन करते हुए रूपकोत्प्रेक्षालंकार का निर्देश किया है। उनका कथन है कि 'यचोमृतम् मे कृतं है, वह उत्प्रेक्षा का निमित्त है। अर्थात्तर की प्रतीति का कारण रूपक ही है। इसमें यहाँ समासीकृत नहीं है। चद्रक्लाकार ने शिल्पपरपरितरूपक-उत्प्रेक्षा का अयागिमात्र सकर माना है ॥ ४९ ॥

परिमृज्य भुजाप्रजम्भना पतगङ्गोक्नदेन नैपथ ।

मृदु तस्य मुदेऽगिरद् गिरः प्रियवादामृतकूपकण्ठजा ॥ ५० ॥

जीवातु—परिमृज्येति । निपघाना राजा नैपथ नल 'जनपदशब्दाद् क्षत्रियाद्' । भुजाप्रजम्भना कोकनदेन पाणिगोणपङ्कजेनेत्यर्थ । पतग हल परिमृज्य तस्य हसस्य तथा मुदे हर्षाय प्रियवादानामेवामृताना कूप निधि कण्ठो वागिन्द्रिय तज्जग्या गिर मृदु यथा तथा अगिरद् प्रियवाक्यामृतेरभि-  
रुचदित्यर्थ । अत्र भुजाप्रजम्भना कोकनदेनति विषयस्य पापेनगरणेन विष-  
यिण काकनदस्वैवोपनिबन्धात् अतिशयोक्ति, 'विषयस्यानुपादानाद्विषय्युपनि-  
बन्धने । यत्र सातिशयातिरिक्तात्कविप्रोक्षोक्तिसम्भवा ॥' इति लल्लणात् । सा-  
थ पाणिबोक्तदयोरभेदादिति अभेदक्या तस्या प्रियवादादामृतकूपकण्ठेति रूप-  
समुष्टि ॥ ५० ॥

अन्वयः—नैपथ भुजाप्रजम्भना कोकनदेन पतग परिमृज्य तस्य मुदे प्रिय-  
वादादामृतकूपकण्ठजा, गिर मृदु अगिरत् ।

हिन्दी—नल ने भुजा के अग्रभाग में जन्मे रक्तकमल ( रज्जुगुन कर )  
से विहग का मण्डल करके उसकी मोद वृद्धि से निमित्त प्रिय वचन रूप अमृत  
के रूप स्वरूप कठ से उत्पन्न वचन धीरे धीरे कोमलता पूर्वक बोले ।

टिप्पणी—हृद्य को कमल प्रिय होता है, राजा ने जन वरकमल से हृद्य  
का स्पर्श कर उसके प्रति प्रीति प्रकट की, कमल-भाजन इतर तदनन्तर प्रिय  
वचनरूप गुण का पान कराया । अनियमितकार । अतिशयोक्ति रूपक की  
समुष्टि ॥ ५० ॥

न तुलात्रिपये तदाकृतिर्न वचो वर्त्मनि ते सुनीलता ।

त्वदुदाहरणादृशौ गुणा इति मामुद्रिकमारमुद्रणा ॥ ५१ ॥

जोबानु—न तुल्येति । हे हृन् ! तव जाकृति जाकारः तुलात्रिपये तादृश्य-  
भूमां न वरति जमदग्नीत्यर्थः । ते तव सुनीलता शौशील्य वचो वर्त्मनि न  
वर्तते वक्तुमशक्येत्यर्थः । अत एवाकृतौ गुणा 'यथाकृतिस्तत्र गुणा' इति  
सामुद्रिकाणां यः सारमुद्रणा सिद्धाप्रतिपादनं सा स्वमेवोदाहरणं यस्यां सा  
तयोक्ता आकृतिसौशील्ययोः त्वय्येव सामानाधिकरन्त्यदर्शनादित्यर्थः । अतः  
एवोक्तं वाक्यायन्य पूर्ववाक्याय हेतुत्वात् काव्यलिङ्गमलङ्कार 'हेतुर्वाक्याय-  
हेतुत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतमिति' लक्षणात् ॥ ५१ ॥

अन्वयः—नव आकृति तुलात्रिपये न, ते सुनीलता वचो वर्त्मनि न,  
आकृतौ गुणा—इति सामुद्रिकसारमुद्रणा त्वदुदाहरणा ।

हिन्दी—तुम्हारा आकार ठीक नहीं था मरुता और तुम्हारी सुनीलता  
वचन के पक्ष में नहीं जानी ( तुम्हारे रूप की तुलना नहीं की जा सकती—  
कसबसा तुम्हारा आकार और तुम्हारी सुनीलता का वर्णन मनव नहीं है ),  
अतः सामुद्रिकशास्त्र के इस रहस्य या उदाहरण कि आकृति में गुण एकाकार  
हैं, सुन्ही हो ।

टिप्पणी—हृन् के अनुपमेय आकार और सुस्वभाव की प्रशंसा । जैसा  
सुन्दर रूप, वैसा ही स्वभाव । हृन् के माध्यम से 'यथाकृतिस्तत्र गुणा वर्तन्ति'  
प्रमाणित हो रहा है । मल्लिनाथ के अनुनादस्तरवाक्याय के पूर्ववाक्याय हेतुक  
होने से काव्यलिङ्ग अलङ्कार, विद्याधर की दृष्टि में अतिशयोक्ति और काव्यलिङ्ग ।  
अश्वलाकार ने इन दोनों अलङ्कारों की निरपेक्षतया स्थिति के आधार पर समुद्रि-  
का निर्देश किया है ॥ ५१ ॥

न मुदर्पमयो तनु पर ननु कि वागपि तावकी तथा ।

न पर पयि पशुपानिताजवल्ग्वे किमु मादृशेऽपि सा ॥ ५२ ॥

जोबानु—न मुवर्पेति । ननु हे हृन् ! तवैव तावकी 'मुष्मदस्नदोरन्य-  
तरस्यां सज्जं चे'ति चकारादम् प्रत्यये ङीप् 'तदन्तर्ममकावेकवचने' इति तवका-

देश । तनु पर मूर्तिरेव सुवर्णमयी हिरण्यमयी न किन्तु वागपि तथा सुवर्णमयी शोभनाक्षरमयीत्यर्थः । अनवलम्बे निखलम्बे पथि परमाकाश एव पक्षपातिता पक्षपातित्व किम् किं वेत्यर्थः । निपातानामनेकार्थत्वात् । अनवलम्बे निराधारे मादृशेऽपि सा पक्षपातिता स्नेहवत्तेत्यर्थः । अत्र तनुवाचो प्रकृताप्रकृतयो सुवर्णमयीति शब्दश्लेष एव पथि मादृशेऽपि पक्षपातितेति सजातीयसमृष्टिः, तथा चोपमा व्यज्यते ॥ ५२ ॥

अन्वयः—तनु तावकी इय तनु पर सुवर्णमयी न किं वाक् अपि तथा अनवलम्बे पथि पर पक्षपातिता न, मादृशे अपि सा किम् ?

हिन्दी—निश्चय ही, तेरो यह देह ही सुवर्णमयी नहीं है किन्तु वाणी भी वैसी ही 'सुवर्णमयी' ( घामन वर्णों—अक्षरी, शब्दा, वाक्यों से—युक्त ) है, निराधार पथ ( आकाश ) में ही सुन्दारी 'पक्षपातिता' ( पक्षा द्वारा यात्रा ) करने है, वह पक्षपात ( अनुकूल भाव ) मुझ जैसे निगतिक्त अर्थात् पर भी है । क्यों, है न ?

टिप्पणी—पूर्वोक्त श्लोक में कथित रूप और वाणी के सौंदर्य की पुष्टि । भाव यह कि दमयन्ती प्राप्ति के विषय में आधारहीन, असह्यमान लक्ष का सशर अथवा आधार हस ही है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ 'सुवर्णमयी' और 'पक्षपातिता'—इन दो श्लेष की सजातीय समृष्टि है, जिससे उपमा व्यजित होती है, विद्याधर ने श्लेष और उत्प्रेक्षा माने हैं ॥ ५२ ॥

भुजतापमृता मया भवान्मरुदासादि तुषारमारवान् ।

घनिताभितर सता पुनर्गुणवत्सन्निधिरेव सन्निधिः ॥ ५३ ॥

जीवातु—मृतेति । भुजतापमृता अतिमत्तापमावा मया भवान्पुषारै रीरुत् मारवान्पुष्टौ मरुत् मारुत मन् आगादि सतापहरत्वादिति भावः । तथा हि—पनिना घनिकाना कुपेरादीनामितर पञ्चद्व्यादि सश्वामो निधि-द्वेति सन्निधिः, मता विदुषा पुन गुणवता सन्निधिः माभिध्यमेव सन्निधि-महानिधि । सतापहारित्वात् त्वमेव गिशिरमाकृत, अयतस्तु दहन त्वेति भावः । इष्टांताङ्गुलर लक्षणं नूतनम् ॥ ५३ ॥

अन्वय—भृशतापनृता मया तुषारसारवान् मत्सु भवान् चासादि, धनिना सन्निधि इतर पुन सता पुनवत्सन्निधि एव ।

हिन्दी—( वियोगज्वर से ) अत्यंत तृप्त मैंने हिम के श्रेष्ठ भाग से यक्त ( बरत शीतल ) वायु आपको प्राप्त कर लिया, धनवानों की उभय धनद्रव्य आदि अच्छी निधि ( कोप ) हो सकते हैं, सज्जनो की सन्निधि ( धोखे कोप ) तो फिर गुणियों से समागम ही है ।

टिप्पणी—जाद्यय यह कि बिरहज्वर से पीड़ित नल को हस की प्राप्ति शीतलतम समार के समान सुखदायिनी प्रतीत हुई, उन्हें हस क्या मिला, बहुत बड़ी निधि मिल गयी । निधियाँ नौ मानी जाती हैं—( १ ) महापद्म, ( २ ) मय, ( ३ ) शल, ( ४ ) मकर, ( ५ ) कच्छप, ( ६ ) मुकुन्द, ( ७ ) कुन्द, ( ८ ) नील और ( ९ ) खर्व—‘महापद्मश्च पद्मश्च शङ्खो मकरकच्छपी । मुकुन्दकुन्दनीलाश्च खर्वश्च निषयो नव ॥’ नान्दनाथ ने यहाँ हृष्टात अलंकार का निर्देश किया है, चन्द्रकलाकार ने रूपकद्वय की समृष्टि । किन्हीं टीकाकारों ने यहाँ समानोक्ति मानी है, बिद्यापति उसे अमान्य ठहराते हैं, क्योंकि यहाँ एक ओर जपोत्तरन्मास अलंकार है और अर्थान्तर की प्रतीति रूपक से ही होती है ॥

शतशः श्रुतिमागतैः सा त्रिजगन्मोहमहीपधिर्मम ।

अधुना तव शसितेन तु स्वदृशेवाधिगतामवेमि ताम् ॥ ५४ ॥

जीवानु—शतश इति । त्रिजगतः त्रैलोक्यस्य मोहे सम्मोहने महीपधिः सहोपधमिति रूपकम् । सा दमयन्ती शतशो मम श्रुति श्रोत्रमागतैव अधुना तव शसितेन कथनेन तु स्वदृशा मम दृश्यवाधिता दृष्टामवेमि साक्षाद् दृष्टा मन्ये । आतांक्षितप्रामाण्यादिति भावः ॥ ५४ ॥

अन्वय—त्रिजगन्मोहमहीपधिः सा शतशः मम श्रुतिम् आपता एव, अधुना तव शसितेन तु सा स्वदृशा एव अधिगताम् अवेमि ।

हिन्दी—त्रिलोकी का समोहन करने की उत्तम ओपधि ( धोखे जदी बूटी-समोहिनी विद्या ) वह ( दमयती ) सैकड़ों बार मेरे कानों में आयी हो है, इस समय तुम्हारे इस कान द्वारा तो वह मुझे अपने नेत्रों से देख रही हो प्रतीत हो रही है ।

टिप्पणी—जैसा कि पहिले प्रथम सग मे (श्लोक स ४४) कहा जा चुका है कि नल ने अनेक बार दमयन्ती को चर्चा सुनी थी, हम ने तो उसका ऐसा सजोव वादवित्र उपस्थित किया कि नल को लगा कि वह दमयन्ती को प्रत्यक्ष देख रहा है । रूपक और भाविक अलंकार अथवा दोनों की समष्टि । 'काव्यप्रकाश' के अनुसार—'प्रत्यक्षा इव यद्भावा क्रियन्ते भूतभाविनः, तद् भाविकम्' ॥ ५४ ॥

अखिल विदुषामभाविः सुहृदा च स्वहृदा च पश्यताम् ।

सविधेऽपि न सूक्ष्मसाक्षिणी वदनालङ्कृतिमात्रमाक्षिणी ॥ ५५ ॥

जीवानु—अथ स्वदृष्टेरप्याप्तदृष्टिरेव गरीयसीत्याहु—अखिलमिति । सुहृदा आत्ममुखेन स्वहृदा स्वान्तःकरणेन च सुहृद् ग्रहण तद्वत्सुहृद श्रद्धेयत्व-जापनायमखिल कृत् नमर्यभनाविलमसदिग्यम् अविपर्यस्त यथा तथा पश्यता-मकारयता विदुषा विवेकिना सविधे पुरोऽपि न सूक्ष्मसाक्षिणी असूक्ष्मार्थ-वक्षिणी 'सुप्सुपे'ति समाम । अक्षिणी वदनालङ्कृतिमात्र न तु दूरमूक्ष्मायद-शनोपयोगिनीत्यर्थ ॥ ५५ ॥

अन्वय.—सुहृदा स्वहृदा च अखिलम् जनाविलम् पश्यता विदुषा सविधे अपि न सूक्ष्मसाक्षिणी अक्षिणी वदनालङ्कृतिमात्रम् ।

हिन्दी—आप्त, मित्र और अपने मन के माध्यम से समस्त वस्तुजात को असंदिग्ध रूप से देखनेवाले विद्वज्जनों की निकटस्थ भी सूक्ष्म वस्तु को न देख सकने वाली अविमुख की अलङ्कृति मात्र है ।

टिप्पणी—आँखों के निकटतम जाना है बाजल, पर वे उसे भी नहीं देख पाती, तो दूर की वस्तु क्या देखती ? दूर की वस्तु तो आप्त, मित्रों अथवा स्वम-गोमावना के माध्यम में ही गोचर होती है, अतः विद्वज्जनों के नेत्र तो बस मुख की गोमात्र हैं । सूत्र—आप्त गहिनी के आँख नहीं हाँसी । हृष प्राप्त है, मित्र है, उगका 'गसित' विश्रसनीय होना ही चाहिए । भाव यह है कि अप्रत्यक्ष दमयन्ती को—दूरदरास्विया की ये आँखें मित्र के माध्यम से देख सकती हैं । अनियोजित ॥ ५५ ॥

अमित मधु तन्वया मम श्रवणप्राचुषकीकृता जने ।

मदनान्प्राधनेऽभनन् स्वग धाम्या विगर्धयधारिण ॥ ५६ ॥

जीवानु—अग्निमिति । हे खग ! जनें विदनांतजनें मम धवग-  
प्राधुःकीहृता कार्तिथीहृता तद्विषयीहृतेत्यर्थ । 'आवेशिक' प्राधुःक आग-  
न्तुरतिविस्तरे'ति ह्यस्युच्यते । अग्निमन्तरिमित मनु क्षौद्र तद्वदतिमन्तुरेत्यर्थ ।  
तन्मया तद्गुणितो अर्थयपारिणोच्यलायीत्यर्थ मम मदनान्नबोधने मदना-  
निप्रवृत्तये धाव्या सामिधेनी भवेत् 'ऋग्' सामिधेनी धाव्या च या स्यादग्नि-  
समिप्यने' इत्यमर । 'पाय्यमानाग्नये'त्यादिना निपात । दिक् वाक्यायौ  
निघ । अत्र तत्कथायां धाव्यात्मना प्रवृत्तमदनाग्नीन्धमोपयोगात् परिणा-  
मालङ्कारः, 'आरोचनाग्न्यै प्रवृत्तोपयोगित्वे परिणाम' इत्यलङ्कारसंबन्धकारः ।

अन्वय — खग, जनें मम अथवाप्राधुनिकीहृता अग्नि मनु तत्कथा अधैर्य-  
पाणि मम मदनान्नबोधने धाव्या अमरु- ( इति ) दिक् ।

हिन्दी—हे विहा, लोकजनों द्वारा मेरे कानों की अतिथि बनायी गयी  
( सुनायी गयी ) प्रचुर मधु सम मीठे उसकी कथा मुझ अधीर व्यक्ति के काम-  
ज्वर को दीप्त करने में सामिधेनी—अग्नि दीप्त करनेवाली ऋचा ( अग्नि-प्रवृ-  
त्तमर ) बन गयी—सो धिक्कार है मुझे ।

टिप्पणी—दमयन्ती की कथा तो अनृत समान मीठी है, पर हाथ रें हठनायक  
न, उसके निमित्त वह अग्निउत्पन्नो सामिधेनी ऋचा प्रनादित हुई । 'सुधा-  
करीरणी' कथा का ज्वलन प्रह्लादिका बन जाना दुर्भाग्य ही है । 'अलङ्कारसंबन्ध'  
के अनुसार आरोप्यमाण के प्रवृत्तोपयोगी होने पर परिणाम अलङ्कार होता है—  
'आरोचनाग्न्यै प्रवृत्तोपयोगित्वे परिणाम ।' इन जाषाण पर मन्त्रिनाथ ने  
यहाँ दमयन्ती-कथा के धाव्या रूप में प्रवृत्तमदनाग्नि के इष्टस्वरूप उपयोग से  
परिणाम अलङ्कार माना है, विद्याधर के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति रूपक-अर्था-  
निरूप्यास की समृष्टि है । पद्य के प्रथम चरण में रूपक और मदन में अमलत्व  
के आरोप का कथा में मन्त्र के आरोप में निमित्त होने से अदृष्टि शब्द-  
निबधन परसंगितरूपक मान कर चन्द्रलाकार ने दोनों रूपकों का अगाग्निनाव-  
सकर माना है ॥ ५६ ॥

विपनो मन्त्राहिमण्डलीविरफून्कारमयो मरोहिन ।

वन कालकलत्रदिग्भव पवनमन्दिरहानलैषमा ॥ ५७ ॥

जीवातु—विषम इति । विषम प्रतिकूल कालकलत्रदिग्भव यमदिग्भव प्राणहर इति भाव , पवनो दक्षिणमास्त तद्विरहानलैधमा दमयन्तीविरहाग्नि समिधा तदाहं नेत्यथ । मया मलये मलयाचले या अहिमण्डली सर्पसङ्घ तस्या विषफूत्कारमय ऊहितस्तद्रूप इति त्वित इत्यथ । लोके च 'अग्निरेधासि फूत्कारवार्तध्मायत' इति भाव । वतेति खेदे । विरहानलैधसेतिरूपकोत्थापितेय दक्षिणपवनस्य मलयाहिमण्डलीफूत्कारत्वात्वेति सकर ॥ ५७ ॥

अन्वय —कालकलत्रदिग्भव, विषम पवन तद्विरहानलैधसा मया मलयाहिमण्डली विषफूत्कारमय ऊहितः वत !

हिन्दी—खेद कि यमरात्र की भार्याका दक्षिण दिशा में उत्पन्न हुआ पवन को उस ( दमयन्ती ) के विरहानल के ईंधन मीने मलयाचल की सर्प मण्डली के विषभरे फूत्कार—सङ्घ मानने की क्लिष्ट कल्पना की ।

टिप्पणी—मलय का शीतल, मद, सुगन्ध समीर दमयन्ती को वियोगाग्नि में दग्ध होते नल को मलय-चन्दन-वृक्षों पर लिपटे नागों का फूत्कार-सङ्घ प्रतीत होता था । मल्लिनाथ के अनुसार रूपकोत्थापिता उत्प्रेक्षा होने से सकर, विद्या घर की दृष्टि में नाथ्यालिंग और रूपक जलकार और पदार्थ में नाथ्यार्थ प्रतिपादन से जोज गुण ॥ ५७ ॥

प्रतिमासमसौ निशाकर खग । सङ्गच्छति यद्दिनाधिपम् ।

किमु तीव्रतरंस्तत करैर्मम दाहाय स धैर्यतस्करे ? ॥ ५८ ॥

जीवातु—प्रतिमासमिति । असौ निशाकरो मासि मासि प्रतिमासप्रति-दर्शमित्यथ । बीप्सायामव्ययीभावः । दिनाधिप सूर्यं सङ्गच्छति प्राप्नोतीति यस्ततः प्राप्ते, स निशाकर तीव्रतरंस्त एव धैर्यतस्करैर्मम धैर्यहारिणि करे-सौरं तत आनीतं मम दाहाय सङ्गच्छतीत्यनुपङ्ग , किमुशब्द उत्प्रेक्षायाम् । अत्र सङ्गमनस्य दाहार्थत्वोत्प्रेक्षाया फलोत्प्रेक्षा ॥ ५८ ॥

अन्वय —खग, असौ निशाकर प्रतिमास यद् दिनाधिप सङ्गच्छति किमु तव स तीव्रतरं धैर्यतस्करे करने मम दाहाय ?

हिन्दी—हे आषाढचारी ( हस्त ), यह निशाकर ( चन्द्र ) प्रत्यक्ष महीने



जो सूर्य में सगमन करता है, सो क्या वह बन्धत तीक्ष्ण, धीरज की तस्कर किरणों द्वारा मृते चलाने के लिए उससे मिलता है ?

टिप्पणी—विरही का शीतल चद्र किरणें नी दाहक प्रतीत होती हैं । इसके कारण की यह संनविता की गयी है कि चद्र प्रतिमास जो सूर्य राशिस्थित होता है, सो उनसे यह दाहकता से आता है । स्वयम् तो हानि पहुँचा नहीं सकता तो अग्न की सहायता में पहुँचाता है । आकाशघाते ग्रहों का भेद आकाशघाते ही जान सकता है, 'खग' सम्बोजन को यही सार्यकता है—वे आकाश गच्छति खग । 'सङ्गमन' को 'दाहायता' में उत्प्रेक्षा के कारण फलोन्प्रेक्षा ( जीवातु ), अनुपमान ( साहित्यविद्याधर ) ॥ ५८ ॥

कुसुमानि यदि स्मरेपवो न तु वयं विपवल्जिजानि तत् ।

हृदय यदमूमुहृन्मूमं यच्चातितमामतीतपन् ॥ ५९ ॥

जीवातु—कुसुमानीति । स्मरेपव कुसुमान्येव यदि न तु वयमग्नानि सधोमरणामावादिति नाव । तत्तथा अस्तु किन्तु विपवल्जिजानि विपलतो-  
त्पनानि । यद्यस्मादमू स्मरेपव 'पत्री रोप इपुडंयोरिति' स्त्रीलिङ्गता, मम हृदयममूमुहृन् अमूहृन्मूमं मुहृन्मूमं चङ्, यद्यस्मादतितमामतिमात्रमव्ययादाम्प्र-  
त्यय । अतीतपन् तापयन्तिस्म, तपतेषां चङ् मोहतापलक्षणविषमकार्यदर्शना-  
द्विपवल्जिजत्वोत्प्रेक्षा ॥ ५९ ॥

अन्वय—स्मरेपव कुसुमानि यदि न वयं तु तत् विपवल्जिजानि (अथवा यदि स्मरेपव विपवल्जिजानि कुसुमानि न तु तत् वयम् ), यत् मम हृदयम् अमूमुहृन् यत् च अतितमाम् अतीतपन् ।

हिन्दी—यदि काम के बाण फूल हैं, वय नहीं, तो वे विपवल्जिरी से उत्पन्न हुए हैं ( अथवा यदि कामबाण विपलता से उत्पन्न फूल नहीं हैं तो वे वय हैं ), जो कि मेरे हृदय को उन्होंने मूर्च्छित कर दिया और जो कि अत्यन्त संतप्त किया ।

टिप्पणी—नाव यह कि दमयती के वियोग में नल का हृदय बेनुष और अतिसंतप्त है, पुष्पबाण विपवल्जी से जन्मे हैं, अतः विमोहित करनेवाले हैं, वे

वञ्ज्य हैं, सो दाहकता से युक्त हैं । विद्याधर के अनुसार अनुपमान और मलिनताय के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ५९ ॥

तदिहानवधो निमज्जतो मम कन्दर्पशराधिनीरधो ।

भव पोत इवावलम्बन विविनाऽकस्मिन्सृष्टसन्निधिः ॥ ६० ॥

जीवातु—तदिति । सत्तस्मादिहास्मिन्ननवधो अपारे कन्दर्पशरैर्न आधि-  
र्मनोऽप्यथा 'पुस्थाधिर्मानभो व्यये' इत्यमर । तस्मिन्नेव नीरधो समुद्रे निमज्जतो  
अतर्गतस्य मम विविना दैवेनाकस्मादकाण्डे भवमाकस्मिकमध्यात्मादित्वात्  
ठक्, अथयानानाम्यमाये टिलोप तद्यथा तथा सृष्टसन्निधि सन्निधान भाग्यादागत  
इत्यर्थः । त्व पोतो यानपात्रमिव 'यानपात्रस्तु पोत' इत्यमर । अवलम्बन भव ॥

अन्वय—तत् इह अनवधो कन्दर्पशराधिनीरधो निमज्जतः । मम विविन  
आकस्मिकसृष्टसन्निधि पोत इव अवलम्बन भव ।

हिन्दी—सो इस निमर्याद कामबाणबाणव्यथा-समुद्र में डूबते मेरे विद्याना  
द्वारा जो अकस्मात् निकट भेज दिया गया है, उस जलयान की भाँति आश्रय बने ।

टिप्पणी—विरह ध्यया सागर में डूबने नल को इस दैवादिवृष्ट जलयान के  
समान सहायक—आलवन प्रतीत हुआ । रूपक उरमा की सृष्टि ॥ ६० ॥

अथवा भवत प्रवर्तना न कथं पिष्टमिदं पिनिष्टि न ? ।

स्वत एव सता परार्थता ग्रहणाना हि यथा यथार्थता ॥ ६१ ॥

जीवातु—अथवेति । अथवा इय नोऽस्माकं सम्प्रियनी 'उभयप्राप्ती  
कर्मणी ति नियमात् कतरि वृत्तौ पक्षो नियेधेऽपि दोषपक्षोपपन्नमानात् कर्म्य-  
लाभ । भवत 'उभयप्राप्ती कर्मणी'ति पक्षो, प्रवर्तना प्रेरणा 'यथासंशयो  
युक्', कथं पिष्टं न पिनिष्टि ? स्वत प्रवृत्तिविषयत्वात् पिष्टपेयनरूपेति ।  
हि यस्माद् ग्रहणाना जानाना यथार्थता याथाव्ययं यथा प्रामाण्यमिव स्वत सर्व-  
प्रमाणाना प्राभाष्यमिव 'गृह्यता जाता मनीषा स्वत एव मानसि'ति मीमांसका ।  
सता परापत्ता परायप्रवृत्ति स्वत एव न तु परत । उरमास्तुन्दोऽर्थात्तरन्याम ।

अन्वय—अथवा न इय भवत प्रवर्तना कथं पिष्टं न पिनिष्टि, हि यथा  
ग्रहणाना यथापत्ता स्वत एव ( तथा ) सता परापत्ता ( अथ स्वत एव ) ।

हिन्दी—अथवा जो यह मैं आपको प्रवर्तित कर रहा हूँ, वह क्या पिष्ट-  
पेपन नहीं है ? ( है हो ), कारण कि जैसे ज्ञान स्वतः प्रमाण होते हैं वैसे ही  
सज्जनों की परोपकार शीलता भी स्वतः होती है ।

टिप्पणी—भीमार्जुनों के अनुसार ज्ञान स्वयम् अपना प्रमाण होता है—गृह्यता  
ज्वाता मनोया स्वत एव मानम् । इसके विपरीत नैयायिक ज्ञान को परतः प्रमाण  
मानते हैं । सज्जन अवर्तित ही परोपकाररत रहते हैं । भट्टहरी के अनुसार  
स्वार्थ त्याग कर परार्थघटक सन्तुल्य कहाते हैं—‘सन्तुल्या परार्थघटका स्वार्थ  
परित्यज्य ।’ मल्लिनाथ के अनुसार उपमासमृष्ट अर्थान्तरन्यास, विद्याधर के  
अनुसार निदर्शना वाक्यदृष्टान्तालङ्कार ॥ ६१ ॥

तव वर्त्मनि वर्त्तता शिव पुनरन्तु त्वरित समागम ।

अपि साधय साधयेष्वित स्मरणीया समये वय वय ॥ ६२ ॥

जीवातु—तवेति । हे वय ! तव वर्त्मनि शिव मङ्गल वर्त्तता, त्वरित  
क्षिप्रमेव पुनः समागमोऽस्तु, अपि साधय गच्छ, ईप्सितमिष्ट साधय सम्पादय  
समये कार्यकाले वय स्मरणीया । जनन्यागमि कार्यं कुर्या इत्यर्थः ॥ ६२ ॥

अन्वय—तव वर्त्मनि शिव वर्त्तताम्, त्वरित पुनः समागमः अस्तु, अपि  
साधय, ईप्सित साधय, वय, समये वय स्मरणीया ।

हिन्दी—मार्ग में तेरा कल्याण हो, शीघ्र ही फिर ( वरा-मेरा ) मिलन  
हो, जाओ और अभीष्ट-प्राप्तन करो, हे पक्षी, यथासमय हमारा स्मरण करना ।

टिप्पणी—राजा ने ‘शिवः सन्तु वे पन्यान्’—‘कहते हूँ से विदावचन कहे ।  
छोटे छोटे नाट्ययोगी वाक्य कवि के सवाद-कीर्तक के परिचायक ॥ ‘आशीः’  
नामक नाट्यालंकार । दही के अनुसार अभिलिखित वस्तु का आशयन आशी  
होता है—‘आशीर्नामालङ्कारेऽभिलिखिते वस्तुत्वाशयनम् । चन्द्रकलाकार के  
अनुसार यहाँ छेवार्त्तकार त्रार ओव नामक काव्य लक्षण है ॥ ६२ ॥

इति त स विसृज्य धैर्यवान्पुनः सनूतवाग्बृहस्पतिः ।

अविशद्वनवेज्ज विस्मित श्रुतिलग्नेः कलहमशमिने ॥ ६३ ॥

जीवानु—इतीति । धैर्यवानुपामानात् सधैर्यं सनूतवाक् सत्यप्रियवादिषु

बृहस्पति तथा प्रगतम् इत्ययं । 'सूनृत च प्रिये सत्यमि'त्यमर । स नृपतिरि-  
तीत्य हस विमृज्य धुतिलग्नं शोत्रप्रविष्टं कलहसस्य द्यसिर्तविस्मित सन्  
वावेशम् भोगपृहमविशत् ॥ ६३ ॥

अन्वय—धैर्यवान् सूनृतवाग्बृहस्पति स नृपति इति स विमृज्य धुति-  
लग्नं कलहसद्यसिर्तं विस्मितः वनवेशम् अविशत् ।

हिन्दी—धैर्यशाली, सत्य और प्रिय वाणी बोलने में बृहस्पतिसम प्रगतम्  
वह नरराज इतना बह हस को भेज कर कानों में लगे ( प्रिय होने के कारण  
अविस्मरणीय ) सुन्दर हस के कहे हुए ( अथवा हस के रमणीय अथवा गम्भीर  
वचनों ) पर विस्मित होना वाटिका गृह में प्रविष्ट हो गया ।

टिप्पणी—नल के धैर्य, सत्यवादिता और प्रियवादिता का विवरण । राजा  
ने हस को कार्य-साधनाय भेजकर वाटिका में ही उसके लौट आने तक प्रतीक्षा  
करने का निर्णय लिया । विद्याधर के अनुसार दीपक और अनिशयोक्ति ।  
चन्द्रकलाकार के अनुसार 'सूनृतवाग्बृहस्पति' में लुप्तोपमा ॥ ६३ ॥

अथ भीमसुतावलोकनं सफल कर्तुं महस्तदेव सः ।

क्षितिमण्डलमण्डनायित नगर कुण्डिनमण्डजो ययौ ॥ ६४ ॥

जोवातु—अथेति । अथ सोऽण्डजो हस तदहरेव भीमसुताया भैम्या  
अवलोकनं सफल कर्तुं तस्मिन्नेव दिने ता द्रष्टुमित्ययं । क्षितिमण्डलस्य  
मण्डनायितमलकारभूत कुण्डिन कुण्डिनाख्यनगर ययौ ॥ ६४ ॥

अन्वय—अथ स अण्डज तत् वह एव भीमसुतावलोकनं सफल कर्तुं  
क्षितिमण्डलमण्डनायितं कुण्डिन नगर ययौ ।

हिन्दी—तत्पश्चात् वह पक्षी उसी दिन भीमतनया ( दम्पती ) के दृष्टनो  
द्वारा ( अपने को ) सफल करने के निमित्त पृथ्वीमण्डल में अलकार धने कुण्डिनपुर  
की ओर चल दिया ।

टिप्पणी—कुण्डिन नगर समृद्धि के कारण तो रमणीय था ही, दम्पती के  
कारण वह पृथ्वीमण्डल का गृहार बन गया था । अनुप्रास और उपमा  
अलकार ॥ ६४ ॥

प्रथम पथि लोचनातिथि पथिकप्रायिनमिद्विशिनम् ।

कलस जन्मनृत पुर कल्हम कल्याम्बभूव स ॥ ६५ ॥

जीवातु—अथ श्लोकत्रयो शुभनिमित्तान्याह-प्रथममित्यादिना । स कल्हस प्रथममात्री पथि मार्गे लोचनातिथि दृष्टिप्रिय पथिकाना प्रस्थातृणा प्रायितस्य इष्टायंस्य सिद्धिसन्निधौ सिद्धिसूचक जन्मनृत जन्मपूर्णं जन्म पूर्णकुम्भ पुरोऽपे कल्याम्बभूव ददर्श ॥ ६५ ॥

अन्वय—सः कल्हस प्रथम पथि पथिकप्रायितमिद्विशिन जलसम्भृत कस पुर लोचनातिथि कल्याम्बभूव ।

हिन्दी—उस कल्हम ने पहिले मार्ग में पथिकों के अभीष्ट की सिद्धि के द्योतक जन्मपूर्ण कलस को समुख नेत्रों का अतिथि बनाया ( देखा ) ।

टिप्पणी—उद्देश्य सिद्धि के द्योतक शुभ शकुनों का तीन श्लोकों (६५-६७) में विवर्ण प्रस्तुत किया गया है, इस में जलपूर्ण कलस का विवरण है । 'साहि-रविद्याधरी' के अनुसार कनुनास और उपमा, चद्रकलास्या के अनुसार वृषभुनास और छेकानुनास का एकाग्रयानुप्रवेशसंकर ॥ ६५ ॥

अवलम्ब्य दिदृक्षयाञ्चरे क्षणमाश्रय्यरसालस गतम् ।

स विलामवनेऽवनीभूतः फल्मेक्षिष्ट रमालमगनम् ॥ ६६ ॥

जीवातु—अवलम्ब्येति । स ह्यसौ दिदृक्षया स्वगतव्यमार्गालोकेनेच्छया अम्बरे क्षणमाश्रय्यरमेन तद्वन्मुदर्शननिमित्तेन अद्भुतरमेन अलस भव गत गतिमवलम्ब्य अवनीभूतो नन्त्य विनासवने विहारवने रसालेन चूतवृक्षेण सङ्गत सम्बद्धम्, 'आम्ररक्षूतो रमालोऽना' वित्थमर, फल्मेक्षिष्ट दृष्टवान् ॥ ६६ ॥

अन्वयः—स दिदृक्षया अम्बरे क्षणम् जादव्यरसालेन गतम् अवलम्ब्य अवनीभूतो विनासवने रसालसङ्गत फलम् ऐक्षिष्ट ।

हिन्दी—उस ( हंस ) ने देखने की इच्छा से आकाश में क्षण भर विस्मय-रस से मद गति का अवलंबन कर राखा की विनासवाटिका में आम्रवृक्ष पर लगे फल को देखा ।

टिप्पणी—वृक्ष पर लगा फल दीक्षा, एक और घुमराकुन हुआ । 'आश्चर्य-रस' में स्वशब्दवाच्यत्व नामक रसदोष । विद्याधर के अनुसार असदृष्टयमक अलंकार, चन्द्रकलाकार के अनुसार प्रथम चतुर्थ-चरण में आये दो अत्ययमको की मसृष्टि ॥ ६६ ॥

नभस कलमैरुपासित जलदेभूरितरक्षुपन्नगम् ।

स ददर्श पतङ्गपुङ्गवो विटपच्छत्रतरक्षुपन्नगम् ॥ ६७ ॥

जीवातु—नभस इति । पुमान् गौ वृषभ विशेषणममास, 'गोरतद्धितलु-गि'ति समासा तट्ठश्च इव पतङ्गपुङ्गव पक्षिश्रेष्ठ उपमितसमासा, नभस कलमैः खेचरकरिकल्पैरित्यर्थः । जलदेरुपासित व्याप्त भूरय बह्वस्तरक्षवो मृगादना पन्नगा यस्य स विटपैः छायाविस्तारेण, 'विस्तारो विटपोऽस्त्रिमामि'त्यमर छन्नतरा अतिदायेन छादिता क्षुपा ह्रस्वधात्वा, 'ह्रस्वधात्वाशिक् क्षुप' इत्यमरः । नग पर्वत ददर्श 'पूर्णकुम्भादिदर्शनं पान्यक्षेमकरमि'ति निमित्तना ।

अन्वय —स पतङ्गपुङ्गव कलमैः जलदे उपासित भूरितरक्षुप विटपच्छ-न्नतरक्षुपन्नग नग ददर्श ।

हिन्दी—आकाशचारियों में श्रेष्ठ उस (हम) ने हस्तिशावकों जैसे मेघों से व्याप्त, प्रचुर छाया-बल्लरियों से युक्त छोटे-छोटे वृक्षा से परिपूर्ण वनों में छिपे तेंदुए और सर्पों से भरा पर्वत देखा ।

टिप्पणी—यात्रा में हाथी का मिलना घुम माना जाता है, अतः पर्वत-शिखरों पर छामे मेघों की 'कलम' रूप में कल्पना की गयी, हिंस्र पशु और सर्प का दीक्षानाना अशकुन माना जाता है, अतः उनके अवर्जन के निमित्त उनका वृक्षों में छिपा हो जाना बताया गया । पर्वत पर 'यह सब' होता ही है । 'साहि-त्यविद्याधरो' के अनुसार यही अतिदायोक्ति और असदृष्टयमक अलंकार है, 'चन्द्रकलाव्या' के अनुसार रूपक और अत्ययमक ॥ ६७ ॥

स ययौ घृतपक्षति क्षण क्षणमूर्ध्वायनदुर्विभावनः ।

विततीकृन्निश्चलच्छदः क्षणमालोवचदत्तकोतुकः ॥ ६८ ॥

जीवातु- स इति । स ह्य क्षण घृतपक्षति नम्पितपक्षमूत क्षणम् ऊर्ध्वा-

यनेन ऋग्वेदमनेन दुविनायनो दुष्परादधारणो दुलक्ष इत्यर्थः । पितृतीकृतो विस्तारीकृतो निश्चली छदी पक्षी अन्य च , तथा क्षपनालोकनाया द्रष्टृणा दत्तकौतुकं सन् ययौ । स्वभावोक्तिः ॥ ५८ ॥

अन्वय — स क्षप घृतपति क्षपन् ऋग्वेदमनुविनायन सा विपरी-  
कृतनिश्चलच्छदः आलोककदत्तकौतुकं सन् ययौ ।

हिन्दी—वह ( हंस ) क्षप भर पक्षमूलों को कपित करता, क्षप भर लंबे  
उड़ने के कारण दुर्लभ होता, क्षाभर निश्चल पक्षों ओ फैलाता अतएव दत्तकों  
में कौतुक उत्पन्न करता रहा ।

टिप्पणी— इस प्रकार विविध चैलियों में उड़ना यज्ञि-स्वभाव है, पल्लव  
मल्लिनाथ के अनुसार स्वभावोक्ति क्लृप्ति, 'साहित्यविद्यापरी' के अनुसार दीपक-  
जाति का सङ्कर । यहाँ से पाँच श्लोकों ( ६८-७२ ) में तीव्र गति से उड़ते हंस  
का वान है ॥ ६८ ॥

तनुदीधितिघान्या रयाद्गनया लोकविलोकनामसौ ।

छदहेम क्यप्निवालसन् क्यपापापनिभे नमस्तले ॥ ६९ ॥

जीवानु—तन्विति । असौ ह्यो रयाद्धेतो उत्पन्नयेति शेषः । लोकस्य  
आलोकित्वजनस्य परीक्षकजनस्य च विलोकना दर्शनं यतया कौतुकाद्वर्णपरिज्ञा च  
विलोकनानपेक्ष्यम् । तनोः शरीरस्य तन्वा मूक्यया च दीपितिवारया रश्मि-  
रेखया निमित्तेन क्यपापापनिभे निकषोपलम्बनिभे नमस्तले छदहेम निजनमसुवर्गं  
क्यन् क्यप्निवालसत् अशोनतत्पुत्रता ॥ ६९ ॥

अन्वय — असौ रयात् लोकविलोकना गत्या तनुदीधितिघारया क्यपापा-  
पनिभे नमस्तले छदहेम क्यन् इव क्लृप्तः ।

हिन्दी—वह ( हंस ) वेग के कारण जन-मोचरता को प्राप्त ( दीखती )  
शरीर की किरणों की धार से ( अथवा तीव्र मन्द वेग से दृश दीखती दीप्ति  
घारा में ) कमीठों के पदों के समान आकाश तल में पवनों-का स्पर्श कदवा जैसा  
मुगोन्नित हुआ ।

टिप्पणी—स्वगत्य के शरीर की चमक अब आकाश में रेखा की चित्ती

तो लगता कि कसौटी पर कसे गये सोने की लकीर है । मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, बिद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा और उपमा, जिसमें उत्प्रेक्षा की अगम्यता है । इसे चद्रकलाकार ने उपमा उत्प्रेक्षा का सकर कहा है ॥ ६९ ॥

विनमद्भिरिध स्थितैः खगेर्झटिति श्येननिपातशङ्कुभिः ।

न निरक्षि दृशंकपोपरि स्मदसावारिपतत्रिपटिति ॥ ७० ॥

जीयातु—विनमद्भिरिति । स्येन वेगेन नाकारिणी सामिति दाह्य कुर्वाणा पतत्रिपटिति पक्षसरणिर्वस्य म हस श्येननिपात शङ्कुत इति तच्छङ्कुभि अतएव विनमद्भिरिधमनैरध स्थितैः खगैः झटिति द्राक् एकया दृशा उपरि निरक्षि निरीक्षित । कमणि लुह । स्वभावोक्ति ॥ ७० ॥

अन्वय —स्मदसावारिपतत्रिपटिति स श्येननिपातशङ्कुभि विनमद्भि अथ स्थितैः खगैः झटिति एकया दृशा उपरि निरक्षि ।

हिन्दी—वेग के कारण 'साँ साँ' करते पक्षी वाला बहू ( हस ) बाजपक्षी के आक्रमण को घका कर नीचे झुकन, अतएव निम्न भाग में जाकर उड़ते आकाशचारियों ( पक्षियों ) द्वारा झटपट ऊपर एक निगाह से ही देखा गया ।

टिप्पणी—हस इतने वेग से उड़ा जा रहा था कि उसके पक्षी से 'साँ-साँ' की ध्वनि हो रही थी, अतएव अन्य उड़ते विहगों को शङ्का हुई कि कहीं यह आक्रान्ता श्येन न हो, सो वे ऊपर केवल एक दृष्टि डाल कर उससे प्राण पाने को धीरे नीचे जाकर उड़ने लगे । मल्लिनाथ के अनुसार स्वभावोक्ति, बिद्याधर के अनुसार जाति और काव्यलिंग ॥ ७० ॥

ददृशे न जज्ञेन यत्नमौ भुवि तच्छायायमवेक्ष्य तत्क्षणान् ।

दिवि दिक्षु त्रितीर्णचक्षुषा पृथुवेगद्रुतमुक्तदृक्पथ ॥ ७१ ॥

जीवानु—ददृश इति । यत् गच्छन्, इथो लट् राजादेश असौ हन भुवि तच्छाया तस्य ह्यस्य चक्षुषा 'विवाधा मेने'त्यादिना नपुमवत्वम् । अवेक्ष्य तत् क्षणात् प्रथम दिशि पश्चात् दिक्षु च त्रितीर्णचक्षुषा उत्तरीष्टना जनेन पृथुवेगेन द्रुत तीव्र मुक्कदस्त्राय खन् न ददृशे न दृष्ट । अगमावेग दृष्टायमतिक्रान्त इत्यय ॥ ७१ ॥



अन्वयः—भूवि तच्छायम् अवश्यं तन्नात् त्रिविदिषु च द्वितीयं चक्षुषा  
जननं पृथुवेगद्वुतमुत्तदृक्कथं अत्रो यन् न दृश्ये ।

हिन्दी—धरती पर पड़ती रक्तकी छाया देख कर उसी क्षण से आकाश  
और उड़ने की दिशाओं की ओर बाँधें उड़ाकर देवने वनमगूह द्वारा अत्यंत तीव्र  
गति के कारण नयनपथ से झोझल होता यह (हम) उड़कर जाता न दीज पड़ा ।

टिप्पणी—शोक जब एक ऊपर बाँध उठा कर देख सके तब एक ही तीव्र  
गति में उड़ता हुआ बाँध-जोड़ हो गया । विद्याधर ने इस श्लोक में काव्यलिंग  
और पुनरुक्तवदामास अलंकार माने हैं, चंद्रकलाकार ने केवल काव्यलिंग का  
निर्देश किया है ॥ ७१ ॥

न वनं पथि शिश्रियेऽमुना क्वचिदप्युच्चैरखुचास्तनम् ।

न मगोत्रजमन्ववादि वा गतिवेगप्रसरदुचास्तनम् ॥ ७२ ॥

जीवानु—नेति । गतिवेगेन प्रसरदुचा प्रसर्पतेजसा अनुता हनेन क्वचिदपि  
उच्चतराणामत्युन्नतानां द्रुमा द्रुमाणां चास्ता रम्यता यस्मिन्तत् वनं न  
शिश्रिये । मगोत्रजं वन्युज्ज्वलं स्रज्ज्वलितं वा नान्ववादि नानुदितम् । मध्यमार्गे  
जम्बवनापनोदनं वन्युमन्नापणादिकमपि न कृतमिति सुवृत्तार्थानुनयान-  
परोक्ति 'पलायो द्रुमागमना' इत्यमरः ॥ ७२ ॥

अन्वय — गतिवेगप्रसरदुचा अनुता पथि क्वचित्, अत्र उच्चतरद्रुमास्त  
वनं न शिश्रिये मगोत्रजं स्रज्ज्वलितं वा न वन्ववादि ।

हिन्दी—उड़े जाने के दो के कारण जिनकी शोभा का प्रसार हो रहा था,  
ऐसे इस ( इस ) में मार्ग में कहीं ऊँचे-ऊँचे द्रुमा ( वृक्षों ) की सुगन्ध से मगिष्ठ  
वन में आश्रय नहीं दिया और न अपने कूजन करते मगोत्र हस्तों के साथ सन-  
दिया ।

टिप्पणी—ऊँचे वृक्ष देख कर वन में विश्राम करना और सञ्जातीय पक्षियों  
के साथ कूजन-मनन करना पक्षि-स्वभाव है, किन्तु शीघ्रपहुँचने के आकाशी राव  
इस ने इस स्वभाव का व्यतिरिक्त किया । यमकालङ्कार ॥ ७२ ॥

अथ भीमभुजेन पालिता नगरी मञ्जुरसौ धराजिता ।

पतगस्य जगाम दृक्पथ हरशैलोपमसौधराजिता ॥ ७३ ॥

जीवानु—अथेति । धराजिता भूमिजयिना 'सत्सुद्विषे'त्यादिना विविपि तुक् भीमस्य भीमभूषस्य भुजेन पालिता हिमशैलोपमं सौधं राजिता मञ्जु-  
मनोज्ञा असौ पूर्वोक्ता नगरी कुण्डिनपुरी पतगस्य हंसस्य दृक्पथ जगाम, स तां  
ददर्शत्यर्थं । अत्र यमकाख्याप्राप्तस्य हिमशैलोपमेति, उपमापादश्च ससृष्टिः ॥

अन्वयः—अथ धराजिता भीमभुजेन पालिता हरशैलोपमसौधराजिता  
मञ्जु असौ नगरी पतगस्य हंसस्य जगाम ।

हिन्दी—उदन्नगर पृथ्वीजयो राजा भीम की भुजा द्वारा रक्षित शिव-मवत  
कैलास सदृश प्रासादों से घेरित यह कुण्डिनपुरी हंस के दृष्टिपथ को पाछे हूँद  
( पीछी ) ।

टिप्पणी—इस श्लोक से आरम्भ करके 'विद्युत्कर भैमीवनेन' ( श्लोक  
संख्या १०६ ) तक ३४ श्लोकों में कुण्डिनपुरी का वर्णन है । अतः गंगा हंस  
को कुण्डिनपुरी दिखायी दो । यह ऊँचे और भँकेरी किये—सुधाधवल प्रासादों  
से युक्त थी, यह घेरित करने के लिए 'हरशैलोपमसौधराजिता' कहा गया ।  
'भीमभुजेन' का भीमो दानूणा भयजनकी भुजा यस्य तेन—विग्रह करके पृथ्वीजयो  
राजा के दानुभयजनक भुजाओं से पालित' अर्थ भी किया गया है । 'प्रकाश—कार  
ने 'असौ धराजिता' का 'असौधराजिता' पाठ कल्पित कर 'सौधराजिता-असौध-  
राजिता' में विरोधाभास का उल्लेख किया है । विद्याधर के अनुसार इस श्लोक  
में समासापमा और यमक अलंकार हैं तथा मल्लिनाथ की दृष्टि में यमकाख्या-  
नुप्रास—उपमा' की ससृष्टि है । अदकलाकार ने विरोधाभास यमक-अनुप्रास-  
उपमा की ससृष्टि का निर्देश किया है ॥ ७३ ॥

दयित प्रति यत्र सन्तत रतिहासा इव रेजिरे भुव ।

स्फटिकोपलविग्रहा गृहा गजमृद्भित्तनिरङ्गमितय ॥ ७४ ॥

जीवानु—तां वर्णयति—दयितमिति । यत्र नगर्यां स्फटिकोपलविग्रहा  
स्फटिकमयशरीरा इत्यर्थं । अत एव गजमृद्भित्तनिरङ्गमितय गजमृद्व-  
भित्तय

शकलनिष्कलङ्कानि कृदयानि देया ते 'मित्तं नक्तं स्रष्टे वे'त्यमर', इन्दि कि-  
प्रत्यय । 'मित्तं शकलमि'त्यादि निपातनात् 'रदान्मानि'त्यादिना निष्ठान-  
त्यानाद । गृहा दयिन मीम प्रति सततं नुव नूमेनायिनाया रतिहासाः  
केलिहासा इव रेजिरे इत्युपप्रेक्षा ॥ ७४ ॥

अन्वय — यत्र स्फटिकोत्पलविग्रहा दशमृदभित्तनिरङ्कुभित्तय गृहा दयित  
प्रति सततं नुव रतिहासा इव रेजिरे ।

हिन्दी—जिस नगरी में स्फटिकरत्नमय शरीर शरी (स्फटिकरत्नों से निर्मित),  
उष्माक ( चद्र ) के लक्ष ( कला ) के सुन्दर निष्कलक दीवारों वाले घर स्वामी  
( राजा ) के प्रति श्रवत पृथ्वी के मुरतकेलिमय के हासों के समान सुसोनित्र थे ।

टिप्पणी—गृहों की सनृद्धि जनित घोना के वर्णन के साथ ही 'रतिहास' के  
साम्य द्वारा कवि यह द्योतिष्ठ करना चाहता है कि नीमनरेश पृथ्वी का प्रिय प्रति  
दयित' था, जिसके साथ वह निरन्तर रतिकेलि में निमग्न रहती थी । मल्लिनाथ  
के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर ने यहाँ अनुप्रास, उपमा उत्प्रेक्षा का सम्मिश्र  
दिया है । चन्द्रकलाकार उत्प्रेक्षा-उपमा की संसृष्टि का निर्देश करते हैं ॥ ७४ ॥

नृपनील्मगीगृहस्त्रिषामुपप्रेत्र भयेन भास्वतः ।

शरणाप्तमुवाम वासरेऽप्यनदावृत्त्युदयत्तमं तन ॥ ७५ ॥

जौवानु—नृपेति । यत्र नगरी तमोग्धकार भास्वतो भास्वत् भयेन  
मृतस्य ये नील्मगीना गृहा तेषां त्रिषां तासामुपघेऽन्नादित्पल्लवभेद ।  
'रत्नं मणिर्द्वयोरित्थमर । 'कृदिकारादत्ति' इति छीप् । शरणाप्त शरण  
गृह रक्षितारमन्वान्न 'शरणं गृहं रक्षितोरित्थमर । वासरे दिवसेऽप्यनदावृत्ति  
अपुनरावृत्ति किञ्चोदयत्तममुदयत्तमं सद्गुणम् ॥ ७५ ॥

अन्वय — यत्र भास्वत भयेन नृपनील्मगीगृहस्त्रिषाम् उपधे शरणाप्त  
तम वासरे अपि असदावृत्ति उदयत्तमम् उवाच ।

हिन्दी—जहाँ सूर्य के मय ने राजा के नील्मगि से बने गृहों की नील  
कांति के व्याज से शरण-प्राप्त अधकार दिन में भी आवृत्तिहीन उदय को प्राप्त  
होता निवास करता था ।

टिप्पणी—आशय यह है कि कुडिनपुरी में ऐसे इन्द्रनीलमणिनिर्मित प्रासाद भी थे, जिनकी नीलिमा पर सूर्य भी अग्रभावी था । जो अघकार एक बार धा गया, वह फिर उन भवनो से सूर्य से आक्रांत होने की लशका के कारण वापस हो नहीं गया, इन्द्रनीलमणियों की नीलिमा में मिलकर घरो के मोतर ही रह गया । मल्लिनाथ के अनुसार अपह्मव, विद्याघर की दृष्टि में अपह्नुति, विभावना और उदात्त अलंकार । चंद्रकलाकार की दृष्टि में ममासोक्ति और उदात्त की समृष्टि ॥ ७५ ॥

सितदीप्रमणिप्रकल्पने यदगारे ह्रमदङ्करोदसि ।

निखिलान्निशि पूर्णिमा तियोनुपतस्येऽतिथिरेकिका तिथि ॥ ७६ ॥

जीवातु—सितेति । सित दीप्रश्च मणिभिः प्रकल्पिते उज्ज्वलस्फटिक-निर्मिते ह्रमदङ्करोदसि विस्मदङ्करोदस्के छावापृथिवीव्यापिनीत्यर्थ । यद-गारे यस्या नगरी गृहेष्वित्यर्थ । जातावेकवचन, निशि निखिलान् तियोने-किका एकाकिनी एकैवेत्यर्थ । 'एवादाकिनिच्चासहाय' इति चकारात् कप्र-त्यय । 'प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्ये' लीकार । पूर्णिमा तिथी राकातिथि । 'तदाद्यास्तिथयोरि' त्यमर । अतिथि सन् उपतस्ये अतिथिभूत्वा सङ्गतेत्यर्थ 'उपाद्देवपूजे'त्यादिना सङ्गतिकरणे आत्मनेपदम् । स्फटिकभवनकातितित्यक्ती-मुदीयोगात् मर्दा अपि रात्रयो राकारात्रय इवासन्नित्यभेदोक्तेरतिशयोक्तिभेद ॥

अन्वय—सितदीप्रमणिप्रकल्पिते ह्रमदङ्करोदसि यदगारे निशि निखिलान् तिथिन् अतिथि एकिका तिथि पूर्णिमा उपतस्ये ।

हिन्दी—दीप्तिमय इवेत स्फटिकमणि निर्मित, ( अतएव ) समीपस्थ घरती-आकाश विहसित ( प्रकाशित ) करने वाले ( अथवा घरती आकाश के मध्य को प्रकाशित करनेवाले ) त्रिम नगरी के गृहों में रात्रि में सप्तम तिथियों को अतिथिभूता एक तिथि पूर्णिमा ही रहा करती थी ।

टिप्पणी—आशय यह है कि दमकती स्फटिक मणियों के बने पुष्प गृहों में वही रात्रि में मा. चन्द्रनी जैसा प्रकाश फैला रहता था, लगता था प्रत्यक्ष रात्रि पूर्णिमा ३ । स्फटिक मणियों से निकलते प्रभापटल के कारण घरो में

घोडा-सा भी बधका न रह पाता था, सो ■■■■■ निधि जो पूणिमा ही की भाँति हो जाता करता थी । मल्लिनाथ ने भेद होने पर भी अनेक-कथन के कारण यहाँ अतिशयोक्ति मानी है, विद्याधर के अनुसार यहाँ अमवध में सदधकयनरुपा अतिशयोक्ति के अतिरिक्त तिथियों में गृह-व्यवहार सनागेष से समासोक्ति और पूणिमा के अतिथिभाव के कारण रूपक भी है, शब्दालंकार अनुप्रास है ॥ ७६ ॥

सुदतीजनमञ्जनापिनैर्धुसूयैत्र कथादिताशया ।

न निशाऽखिलयापि वापिका प्रससाद ग्रहित्वेव मानिनी ॥ ७७ ॥

जीवातु—सुदतीति । यत्र नायां शोभना दन्ता यासा ता सुदत्य' स्त्रिय, अत्रापि विधानाभावाद्वादेश्चिन्त्य इति केचित् 'अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृष-वराहेभ्यस्त्वे'ति चकारात् सिद्धिरित्यन्ये, सुदरादय' स्त्रीषु योगस्ता, 'स्त्रिया सजायामि'ति दशादेशात् साधव इत्यपरे, तदेतत्सर्वमभिसन्ध्यायाह वामन— 'सुदन्पादय प्रतिविधेया' इति । ता एव जना लोका तेषा मञ्जनादवाहा-दपितं कालितं धुमृषं बुड्कुमैः कथायिताशया सुरमिताभ्यन्तरा भोगचिह्नैः कलुषितहृदया च वाप्येव वापिका दीधिका ग्रहिला, 'ग्रहोऽनुग्रहनिर्वन्धावि'ति विश्व । तद्वती दीर्घरोपा निच्छादित्वादित्श्च दिवादि । मानिनीस्त्रीणामीर्ष्या-वृत्त कोपा 'मानोऽप्यासङ्गिनि प्रिये' इत्युत्कृष्टपयो मान तद्वती नापिवेव अखिल्या निशा निधया सर्वरात्रिप्रसादनेनेत्यर्थ । न प्रससाद प्रसन्नहृदया नाभूत् तावत् सोमादिति भाव ॥ ७७ ॥

अन्वय—यत्र सुदतीजनमञ्जनापिनैर्धुसूयै कथायिताशया वापिका ग्रहिला मानिनी इव अखिल्या निशा अपि न प्रससाद ।

हिन्दी—जिस नगरी में सुन्दर दाँतों वाली सुन्दरी-समूह की जलझीझ से वितीर्ण हु कुमागरागों से घँदले जल वाली बावड़ी पूरी रात भी उसी प्रकार प्रसादित-स्वच्छ नहीं रहती थी, जैसे कि ( सपत्नीजन में प्रतिफलित प्रिय के ) हु कुमागराग को देख दूषित मन वाली, दुराग्रहयुक्ता मानवती नारी ( प्रिय के द्वारा भाँति भाँति से मनाये जाने पर भी ) अथवा ( जागी ) रहकर रात में भी प्रसन्न नहीं होती है ।

टिप्पणी—भाव यह कि स्नान और चल्कीडा इतनी अधिक हुआ करती

यो कि स्नानार्थिनी सुन्दरियो क क्षरीर से छूटकर जल को मँला बनाने वाला अगला रात दिन वादरियो मे घुला ही रहता था । दुराग्रहवती मानिनी भी निशा काल मे जागी रहकर प्रिय की मानमनोबल से प्रसन्न नहीं होती । उदमा और उदात्त बलकार ॥ ७७ ॥

क्षणनीरवया यथा निशि श्रितवप्रावलियोगपट्टया ।

मणिवेशममय स्म निर्मल किमपि ज्योतिरबाह्यमीक्ष्यते ॥ ७८ ॥

जीवातु—क्षणेति । निशि निशीथे क्षण नीरवया एकर समुजनत्वादयत्र व्यानन्तिमितत्वानि चन्द्रमाश्रित प्राप्त वप्रावलि योगपट्ट इव अयत्र वप्रावलिरेव योगपट्टो यथा मा तथोक्ता यथा नगर्या मणिवेशममय तद्रूप निमलमबाह्यमन्वर्तते किमपि अबाह्यमनमोचर ज्योति प्रभा आरमज्योतिश्च ईक्ष्यते मेव्यते स्म । अत्र प्रस्तुतनगरीविशेषसाम्यादप्रस्तुतयोगिनीप्रतीते समाप्तोक्ति ।

अन्वय —निशि क्षणनीरवया श्रितवप्रावलियोगपट्टया यथा मणिवेशममय निर्मलम् किमपि अबाह्य ज्योति ईक्ष्यते स्म ।

हिन्दी—मध्य रात्रि में क्षण भर को नि चन्द्र हो प्राकारपक्षिरूप योगपट्ट का आश्रय ले जिस ( कुडिनपुरी ) के द्वारा रत्नगुह रूप निर्मल किसी ( अबाह्य-मनोविषया ) आभ्यन्तर ज्योति ( आत्म ज्योति ) का दर्शन किया जाता था ।

टिप्पणी—आशय यह है कि दिन भर कर्मसक्रा कोलाहल से पूरा कुडिनपुरी में आधी रात का जाकर कही कुछ शांति—नि चन्दता आती थी । इसकी उद्भावना नि-चन्द्र ही, योगपट्ट का सहारा ले आत्मज्योति का साक्षात् करती ध्यानमग्ना योगिनी की ममता द्वारा की गयी है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ समाप्ताक्षित है, क्योंकि प्रस्तुत नगरी के साम्य द्वारा अप्रस्तुत योगिनी की प्रतीति होती है । विज्ञापर के अनुसार उदात्त बलकार है ॥ ७८ ॥

विश्राम जलानयोदरे वचन क्षीरनुग्रिम्बितेव या ।

परिखाकपटस्फुटस्फुरत्प्रतिविम्बनावलम्बिताम्बुनि ॥७९॥

जीवातु—विश्रामेति । या नगरी परिखाया कपटन व्याजेन स्फुट परितो षक्त तथा स्फुरता प्रतिविम्बनावलम्बित मध्य चाग्रहमाण चाम्बु

यस्मिन् तस्मिन् प्रतिविम्बानामन्तमन्बु परितः स्फुरति प्रतिविम्बदेशेन स्फुरति  
तेनैव प्रतिविम्बादिति नाव क्वचन कुत्रचिज्जाययोदरे हृदमध्यं कल्पचित्  
हृदस्य मध्यं दम्पयं । अनुविम्बिता प्रतिविम्बिता क्षीरनरावतीव विल्लाते-  
त्युत्प्रेक्षा ॥ ७९ ॥

अन्वय—या परिमाकनत्स्फुटस्फुरत्प्रतिविम्बानवलम्बितान्बुनि क्वचन  
जलाशयोदरे जनुविम्बिता क्षी इव विल्लास ।

हिन्दी—जो ( कुट्टिपुरी ) खाई के व्याज में व्यक्त, स्फुरित होते अपने  
प्रतिविम्ब से निराशर जल में कहीं जलाशय के मध्य प्रतिविम्बित होती स्वर्ग-  
पुरी जैसी विलसित होती थी ।

टिप्पणी—नारी के चारों ओर जल नरी बिजाल खाई थी, जिसमें कहीं-  
कहीं नगरी की परछाई स्पष्ट होती थी, लाता था कि स्वर्गपुरी ही जल में  
उत्तर आयी है । जहाँ-जहाँ परछाई पड़ती थी, वहाँ नारी ही दीखती थी जल  
नहीं । उत्प्रेक्षा, विद्याधर ने इसके अतिरिक्त अपह्नुति भी मानी है, क्योंकि  
'परिखा नहीं, जलाशय ही है'—ऐसी भावना भी बनती है । चंद्रकलाकार ने  
कैलाषापह्नुति-उत्प्रेक्षा को संसृष्टि का उत्प्रेक्ष किया है ॥ ७९ ॥

व्रजते दिवि यद्गूहादलीचलचेलान्वदण्डनाडना ।

व्यनरन्नरुणाय विभ्रम मृजते हेन्दिह्यालिकालनाम् ॥ ८० ॥

जीवानु—व्रजत इति । यस्या नगरी गूहावलीषु च चञ्चला चेल-  
ञ्चला पताकाप्राणि ता एव दण्डास्तै ताडना कथापाता इत्यर्थः । ता  
भूयो दिवि व्रजते ये गच्छते हेन्दिह्याले सूर्यान्वरुक्ते हिलिरान्तिहने  
रखावि'ति वक्ष्यन्ती । काना जोडना मृजते व्रजते नरुणाय सूर्यसारभये  
विभ्रम भव्य तत्कार्यरुणाद्विधायित 'नोडासोपदेशे'त्यादिना घटि वृद्धि-  
प्रतिपेय । व्यनरन् ददु । व्रजहेन्दिह्यालेचेलान्वदण्डनाडनासम्बन्धेति  
तन्मन्त्रोक्तं रतिमोक्तिनेद, तेन गूहामर्कमन्त्रं पश्यन्मनोमय व्यनरत्  
इति जलद्वारा वस्तुत्वनि ॥ ८० ॥

अन्वय—यद्गूहावलीचलचेलान्वदण्डना दिवि व्रजते हेन्दिह्यालि-  
कालना मृजत यस्याय विभ्रम व्यनरत् ।

हिन्दो—जित ( नगरी ) के प्रासादों पर फहरती चंचल पताकाओं के वस्त्र-प्रात-रूप डबों के प्रहार आकाश मंडल में दौड़ते सूर्य के घोड़ों को प्रेरणा देते सारथि अश्व का विश्राम दिया करते थे ।

टिप्पणी—कुडिनपुरी के उच्च प्रासादों पर जो पताकाएँ फहरती थी, वे सूर्याश्वों के शरीर पर लग-लग कर हँकने के दह का काम किया करती थी, जिससे सूर्य-सारथि को विश्राम मिल जाता था । मल्लिनाथ के अनुसार अश्ववध में सवध कथन के कारण अतिशयोक्ति, जिससे प्रासादों की अत्युन्नता व्यक्त होती है, अतः अलंकार द्वारा वस्तुध्वनि । विद्याधर की दृष्टि में अतिशयोक्ति और अनुप्रास ॥ ८० ॥

क्षितिगमधराम्बरालयेस्तलमध्योपरिपूरिणा पृथक् ।

जगता क्षलु याऽक्षिलादभुताऽअनि सारंनिजचिह्नधारिभि ॥८१॥

जीवातु—क्षितिगति । तलमध्योपरि अथोमध्योर्ध्वदेशान् पूरयतीति तत्पूरिणा जगता पातालभूमिस्वर्गाणां पृथगसङ्कीर्णं यानि निजानि प्रतिनिधत्तानि निजचिह्नानि निष्पन्नपानसक्चन्दनादिलिङ्गानि धारयन्तीति तद्धारिभि तथोक्तैः सारैस्तद्वृष्टं क्षितिकुहरे घराया भ्रूपृष्ठे अम्बरे आकाशे च ये आकाशा वृष्टा तैः भूम्यन्तर्वहि । शिरोऽर्हृरित्यथ । या नगरी अक्षिला वृस्ता अद्भुता चित्रा अजनि जाता । 'दीपजने' त्यादिना अने कर्त्तरि लुङ्, क्लेशिणादेशः । अत्र क्षितिगर्भादीनां तलमध्योपरि जगत्सु क्ता तच्चिह्ना-नाञ्च यथासह्यसम्बन्धात् यथासह्यालङ्कारः । एतेन त्रैलोक्यसंभव गम्यते ॥

अन्वया—तलमध्योपरिपूरिणा जगता पृथक् चिह्नधारिभि सारं क्षिति-गमधराम्बरान्यैः या अक्षिला अद्भुता अजनि क्षलु ।

हिन्दो—तल ( निम्न प्रदेश पाताल ), मध्य ( घरी ), उपरि ( आकाश ) सप्तक सृष्टियों ( पाताल, पृथ्वी और स्वर्ग ) के पृथक्-पृथक् चिह्न धारण करने वाले सार ( श्रेष्ठ ) अश्वों से निर्मित पाताल, पृथ्वी, आकाश त्रिलोकी के आकाशों से ( युक्त ) जो सपूर्ण नगरी विविध ही निर्मित हुई थी ।

टिप्पणी—कुडिनपुरी में त्रिभूमिक—वितस्तले घर थे, गृहस्थाने ( पाताल



के प्रतीक ), उनके ऊपर के खट ( क्षिति के प्रतीक ), उनके ऊपर ( आकाश के प्रतीक ), जिनमें क्रमशः इन तीनों के प्रतीकस्वरूप संपत्ति, धान्यादि और चंदनादि-भोग सामग्री रहती थी, जिससे प्रतीत होता था कि नगरी के आवास प्रियोंकी के सारमुक्त तत्त्वों से निर्मित हैं । इस प्रकार वह नगरी तीन लोक से न्यायी लाती थी । मन्त्रिनाथ के अनुसार यथातथ्य, विद्याधर के अनुसार यथासथ्य और उदात्त तथा चंद्रकलाकार के अनुसार व्यतिरेक बलकार ॥ ८१ ॥

दधदम्बुदनीलकण्ठता वहदत्यच्छनुधोग्ग्वल वपुः ।

कयमूच्छनु यत्र नाम न क्षितिर्नृन्मन्दिरमिन्दुमौलिताम् ॥ ८२ ॥

जीवातु—दधदिति । यत्र नगरीमम्बुदरम्बुदवलीला कण्ठ चित्तरोग-कण्ठ गजज्वर यस्य तस्य भावस्तत्ता 'कण्ठी गले सतिधान' इति विश्व । दधत् अच्छना सुगन्धा लेपनद्रव्येण च सुगन्धमृतवच्चोग्ग्वल वपुर्वहत् 'सुधा लेपोऽमृत सुधे'त्यमरः । क्षितिर्नृन्मन्दिर राजमवनमिन्दुमौलितामिन्दुमण्डल-पर्यन्तशिखरत्व कय नाम न मूच्छनु ? मच्छन्वेत्ययं । राजमवनस्य तादृशीत्ययमुक्तमिति भावः । अन्वयः नीलकण्ठस्य इन्दुमौलित्वमीश्वरत्व च युक्तमिति भावः । अत्र विशेषणविशेष्याणां सिद्धान्तानामभिगम्या प्रकृतार्पणान्ननियन्त्रणात् प्रकृतेऽन्तरप्रतीतेः श्वनिरेव ॥ ८२ ॥

अन्वयः—यत्र अम्बुदनीलकण्ठता दधत् अत्यच्छनुधोग्ग्वल वपुः वहत् क्षितिर्नृन्मन्दिरम् इन्दुमौलिता कय नाम न मूच्छनु ?

हिन्दी—जिस ( नगरी ) में घिरे बादलों के कारण ऊपरी भाग और धूना-मोठा होने के कारण अत्यन्त स्वच्छ सफेद शरीर ( आवास स्थल ) धारण करता धरणीनर ( राजा ) का महल मेघदयामकठ वाले और निर्मल चांदनी ( अथवा अमृत ) के समान शुद्ध देहधारी चंद्रमौलि ( शिव ) के भाव को ( मौलि अर्थात् शिखर पर चंद्रमा को ) क्यों न प्राप्त करे ? ( करे ही ) ॥

टिप्पणी—राजमहल बहुत ऊँचा है, जिससे घिरे बादलों के कारण उसका ऊपरी भाग नीला दीखा करता है और ऐसा लाटा है कि चंद्रमा जैसे उसके

शिखर पर ही टेंगा है। वह ( राजप्रासाद ) सफेदी किये जाने के कारण अत्यन्त उज्ज्वल भी है। शिव नीलकण्ठ, कपूरगौर और चन्द्रमौलि है। ये तीनों विशेषताएँ राजप्रासाद में भी उपयुक्त प्रणाली से स्पष्ट हैं, अतः उसको तुलना नीलकण्ठ, सुधोज्ज्वल, चन्द्रमौलि शिव से की गयी। समस्त गुण होने के कारण यह शिवत्व, यह उन्नतभाव प्राप्त करना उचित ही है। मल्लिनाथ के अनुसार श्लिष्ट विशेषण-विशेष्यों का प्रकृतार्थ मात्र नियन्त्रण होने से प्रवृत्त शिवप्रतीति के कारण यहाँ ध्वनि है, बिद्यापरा ने यहाँ श्लेषालंकार का निर्देश किया है, चन्द्रकलाकार असवध में सवध-कथन होने के कारण अतिशयोक्ति मानते हैं।

बहुरूपकपालमञ्जिकामुखचन्द्रेषु कलङ्करङ्कुव ।

यदनेककसौधकान्वराहरिमि कुक्षिगतोदृता इव ॥ ८३ ॥

जीवातु—वर्णित। बहुरूपका मूर्ध्निषोन्दर्या, धैयिक कप्रत्यय । तेषु पालमञ्जिकानां कृत्रिमपुत्रिकाणां मुखचन्द्रेषु कलङ्करङ्कुव चन्द्रत्वात् सम्भावित्वा कलङ्कमृगा से यस्या नगर्यामनेकेषा बहूनां सौधानां कान्वराभु कण्ठ-प्रदेशेषु ये हरयः सिंहा तं कुक्षिगतोदृता इव प्रस्ता किमित्युत्प्रेक्षा मुख-चन्द्राणां निष्कलङ्कत्वनिमित्तात्, अन्यथा कथं चन्द्रे निष्कलङ्कतेति भावः । ८३।

अन्वय—बहुरूपकपालमञ्जिकामुखचन्द्रेषु कलङ्करङ्कुव यदनेककसौध-कान्वराहरिमि कुक्षिगतोदृताः इव ( दृश्यन्ते ) ।

हिन्दी—अत्यन्त सुन्दर आकार वाली पुतलियों के मुखचद्रों पर स्थित लालनमूग जिस नगरी के बहुसंख्यक प्रासादों की कथराओं ( मध्य स्थानों ) में बने ( कृत्रिम ) सिंहों द्वारा भाने कुक्षिगत कर लिये ( खा डाले ) गये दीखते हैं ।

टिप्पणी—कुटिनपुरी के अनेक प्रासादों में स्तम्भादि पर पालमञ्जिकाएँ ( पुतलियाँ ) बनायी गयी हैं, उनके मुख अत्यन्त सुन्दर हैं, मूगबिह्वलहीन चन्द्र के समान । जब मुख चन्द्र है, तब स्वाभाविकतया उन पर कलङ्कविह्वल नमूग भी रहना उचित है, पर वेमा नहीं है। इसका कारण यह समाहित है कि प्रासादों की कथराओं में बने ( कृत्रिम ) सिंहा उन्हीं खा गये । मल्लिनाथ

ने उत्प्रेक्षाकार का उत्प्रेक्ष किया है, विद्याधर ने उत्प्रेक्षा और रूपक का, चद्रकलाकार दोनों अलंकारों की निरपेक्ष स्थिति के कारण समृष्टि मानते हैं।

वल्लभद्वन्द्वं स तथ्यवानुपरि स्नाह दिवोऽपि नारदः ।

अधराय कृता मयेव सा विपरीताज्जनि भूमिभूपया ॥ ८४ ॥

जीवातु—बलीति । स प्रसिद्ध तथ्यवाक् सत्यवचन नारद बलिसद्व-  
दिव पातालस्वर्ग दिवो मेरुस्वर्गादप्युपरिस्थितानुत्कृष्टाञ्चाह स्म उक्तवान् ।  
अपेक्षानीं भूमिभूपया यथा नायां अधरा न्यूना अवन्तान्व कृतेवेत्युत्प्रेक्षा सा  
बलिसद्वयीविपरीता नारदोक्तविपरीता जजनि । सर्वोपरिस्थिताया पुनरप  
स्थिति विपरीत्यम् ॥ ८४ ॥

अन्वयः—तथ्यवाक् स. नारद बलिसद्वदिव दिव अपि उपरि आह स्म,  
अप भूमिभूपया यथा अधरा कृता इव सा विपरीता जजनि ।

हिन्दी—सत्यवादी उन देवीय नारद ने बलिराज के आवास पाताल-स्वर्ग  
को धौ-स्वर्ग से भी ऊपर ( ऊँचा, श्रेष्ठ ) कहा था, परन्तु पृथ्वी को अङ्कित  
करनेवाली कृद्धिनपुरी द्वारा बँधे नीची ( न्यून, जबर, अधोऽङ्गी भाषा में  
'डाउन' ) कर दी गयी वह ( पातालपुरी ) विपरीत ( पुन निम्नभावास्थिता )  
हो गयी ।

टिप्पणी—नारद ने तो ठीक ही कहा था कि बलिराज का वैभव, उनका  
पाताल स्वर्ग को भी तिरस्कृत करने वाला है, पर कुद्धिनपुरी के वैभव के  
सम्मुख पातालपुरी का वैभव भी नग्न्य हो गया, तो अधस्थित पाताल पुन  
अधःस्थित हो गया । नारद के कथनानुसार पाताल स्वर्ग से समृद्ध था, कुद्धिन  
पुरी पाताल से भी समृद्ध है, इस प्रकार कुद्धिनपुरी पाताल-स्वर्ग दोनों से  
श्रेष्ठ सिद्ध हुई । 'स्वर्गैकादपि रम्यापि पातालानांति नारद । प्राह स्वर्गं सदा  
मध्ये पातालान्यो गतो दिवि ॥' ( विष्णुसुख २।५-६ ) । मल्लिनाथ ने  
उत्प्रेक्षा का उत्प्रेक्ष किया है, विद्याधर ने अनुनाद यहाँ उत्प्रेक्षा और रूपक  
अलंकार है, त्रिनका अगातिनाव 'मकर' चद्रकलाकार द्वारा निर्दिष्ट है ॥ ८४ ॥

प्रतिहृदये धरट्टजान् पयिकाह्वानदसक्तसौरनेः ।

कल्हान्न धनान् यदुत्थिनादधुनाप्युज्जति धर्मेस्वरः ॥ ८५ ॥

जीवातु—प्रतीति । पन्थान गच्छन्तीति पथिका तेषामाह्वान ददाति तथोक्तमाह्वकम् अह्वान गच्छतामाकपकमित्यथ । सक्तूना सौरभ सुगन्धो यस्मिन् प्रतिघट्टपथे प्रत्यापणपथे । ‘अध्यय विभक्तौ’त्यादिना वीप्सायाम-  
ध्ययोभाव । ‘तृतीयासप्तम्योबहुल’मिति सप्तम्या अयभाव । धरट्टा गौधूम-  
चूणप्रावाण तज्जात् यस्या नगर्या उत्थितात् कलहात् घर्घरस्वन निझर-  
स्वर कण्ठध्वनि घनान् मेधान् अघुनापि नोज्झति न त्यजति । सर्वदा सर्वहृद्रेषु  
धरट्टा मेघध्वान ध्वनन्तीति भाव । अत्र घनाना धरट्टकलहासम्बन्धेऽपि  
सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्ति । तथा च घर्घरस्वनस्य तद्धेतुवत्त्वोत्प्रेक्षा, व्यञ्जका-  
प्रयोगाद् गम्पोत्प्रेक्षेति सङ्कर ॥ ८५ ॥

अन्वय —प्रतिघट्टपथे पथिकाह्वानवसक्तुसौरभं धरट्टजात् पदुत्थितात्  
कलहात् घघरस्वर अघुना अपि घनान् न उज्झति ।

हिन्दी—प्रत्येक हाट के मार्ग में पथिक का आह्वान करने वाले ( अपनी  
ओर धींचने वाले ) सक्तुओं की सुगन्ध उड़ाती आटा-चिकियों के सघट्टन से  
जिस नगरी में उठा ‘घघर’ शब्द आज भी बादलों को नहीं छोड़ता ।

टिप्पणी—भाव यह कि प्रत्येक हाट-बाजार में सक्तुओं की विपुलता है,  
सक्तु आदि पीसती चिकियों से उड़ता सक्तु सुगन्ध पथिकों को आह्वान करता  
है । चिकियों के पत्थरों की कलह—रगड़ से जो ‘घघर’ शब्द होता है, वही  
मानों बादलों से समझा गया है, अन्यथा बादलों को गवगडाहट कहाँ से मिलती ?  
यह भी माना गया है कि कुडिनपुरी में बने सक्तु इतने सुगन्धि और रसादिष्ट  
होते थे कि पथिक सक्तु भोजन के स्वाद में वहाँ रुक जाया करते थे और  
मग्न पथिकों को घर जाने की प्रेरणा दिया करते थे, यही ‘धरट्ट मघ-  
कलह’ का कारण बराबर बना रहता था । मेघ पीड़ित करते हैं, सक्तु परि-  
मला से धरट्ट जिलात है । धरट्ट पथिकों को आह्वान देते हैं, मेघ छदन करते  
हैं । धरट्ट-मघ कलह करते ‘घघराते’ रहते हैं । हाट-बाजारों में बराबर ऐसा  
कलह रहा करता है, ग्राहकों को एक दुवानदार पुरारता है, दूसरा उसका  
प्रतिवाद करता है, दोनों सगड़ते रहते हैं । कुडिनपुरी का बाजार ऐसा ही  
व्यापार सङ्कुल हाट था । विद्याधर ने यहाँ अध्यवसाय के सिद्ध होने के आधार

पर अतिशयोक्ति का निर्देश किया है, मल्लिनाथ ने अश्वघोष में सवधन्यरूपा अतिशयोक्ति और गम्योत्प्रेक्षा के स्वर का, क्योंकि धन धरट्ट-नछट्ट का हेतु धर्मर शब्द है, जिससे उत्प्रेक्षा होती है ॥ ८५ ॥

वरागः कनकम्य मानिनीं दिवनद्धादमराद्विरागनाम् ।

धनरत्नकवाटपक्षतिः परिरन्धानुनयन्नुवाम याम् ॥ ८६ ॥

जीवानु—वरण दत्ति । कनकम्य सुम्बन्धी वरण तद्विकार प्राकार स एवानरादिर्मेव या नगरीमेव मानिनीं कोपसन्मनामत एव जङ्काप्रिजोत्सङ्गा-  
दागता नूलोक प्राप्ता दिवनरावर्त्तां घने निविडे रत्नाना कवाटे रत्ननयकवाटे  
एव पक्षती पक्षमूले मय्य स तन् परिरम्य उपगूह्य मेरो पक्षवत्त्वात्पक्षति-  
रूपत्वननुसरन् अनुवर्तमान उवाच । कामिन प्रान्यकुपिता प्रेयसीनामसाद-  
मनुगच्छन्तीति नावः । रुक्मात्प्रकार स्फुट एव, तेन चैव नगरी कुतश्चित्  
कारणादागता द्यौरेव वराग स्वर्णाद्विरेवेत्पुत्र्येक्षा व्यग्नते ॥ ८६ ॥

अन्वय—कनकम्य वरण अमरादि या मानिनीम् अद्धात् आगता दिव  
धनरत्नकवाटपक्षति परिरम्य अनुनयन् उवाच ।

हिन्दी—स्वर्ण प्राकार-रूप देवगिरि मुनेव जिस मानिनी (नगरी) को  
गोद में छिटक आयी स्वर्गपुरी के तुल्य अनेक रत्नजटित कपाट-रूप पक्षों से  
मुक्त हो आलिप्तन कर मनाता हुआ बस गया है ।

टिप्पणी—यहाँ नगरी को मानिनी नायिका स्वर्गपुरी से तुलना की है, जो  
अपने प्रिय मुनेव से छूट कर गोद में छिटक आयी है, प्राकार प्रिय मुनेव, रत्न-  
जटित किवाड उसके पक्ष और बाहु हैं, जिनसे उड़कर वह प्रिया के पास आ  
पहुँचा है और आलिप्तन करके मानिनी को मना रहा है । प्रिया वहाँ से जाती  
नहीं, सो 'पवेत्' होते हुए भी प्रिय कहीं बस गया है । अर्थात् पुरी स्वर्गपुरी  
के तुल्य है और मुनेव बिजना उन्नत और दमकीला । मल्लिनाथ के अनुसार  
रूपक द्वारा उत्प्रेक्षा व्यंग्य है, विद्यानाथ रूपक का निर्देश करते हैं और कहते  
हैं कि यहाँ समाशोक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि नायक-नायिका के व्यवहार  
की प्रतीति रूपक से ही होती है । चद्रकलाकार ने समस्तवस्तुविषय साङ्ग-

रूपक और लिंगसाम्य से नायक-नायिका-व्यवहार का समारोप मान कर समासोक्ति के अगाधिभाव सत्तर का उल्लेख किया है ॥ ८६ ॥

अनले परिवेपमेत्य या ज्वलदकोपलवप्रजन्मभि ।

उदय लयमन्तरा रवेरवहद्बाणपुरीपराद्धर्षताम् ॥ ८७ ॥

जीवातु—अनलैरिति । या नगरी रवेरदय लयमस्तमय चान्तरा तयो-  
र्मध्यकाल इत्यर्थः । 'अन्तरान्तरेण युक्त' इति द्वितीया । ज्वलतामर्काशुसम्पत्तिं  
प्रज्वलतामर्कोपलानां वप्राज्जन्म येषान्तैः सूर्यकान्तैः प्राकारजन्यं अनलं परि-  
वेपमेत्य परिवेष्टनं प्राप्य बाणपुर्यां बाणासुरनगर्यां शोणितपुरस्य पराद्धर्षतां  
श्रेष्ठतामवहत् । अत्रान्यधर्मस्यान्येन सम्बन्धासम्भवात्तादृशी पराद्धर्षतामिति  
सादृश्याक्षेपाभिधानालङ्कारः ॥ ८७ ॥

अन्वयः—या रवे उदय लयम् अन्तरा ज्वलदकोपलवप्रजन्मभि अनलं  
परिवेपम् एव बाणपुरीपराध्यताम् अवहत् ।

हिन्दी—जो नगरी सूर्य के उदय और अस्त के मध्य देदीप्यमान सूपकाठ  
मणि के प्राकारों से उत्पन्न अग्निपुञ्ज से परिवेष्टित ( आवृत ) हो बाणासुर-  
नगरी ( शोणितपुरी ) की श्रेष्ठता की शरण कर लेती थी ।

टिप्पणी—शिव कृपा से शिवभक्त बाणासुर की नगरी शोणितपुरी चारों  
ओर अग्नि से परिवेष्टित रहती थी, कुट्टिननगरी की भी वैसी श्रेष्ठता यहाँ  
प्रमाणित की गयी है । कुट्टिननगरी के प्राकार से सूर्यकाठ मणियों की पर्याप्त  
थी, सूर्योदयास्तकाल में ऊँचे प्राकार की ये मणियाँ दमकने लगती थी, जिससे  
पुरी परिवेष्टित हो, अग्निपरिवेष्टिता बाण-नगरी सी लगती थी । मल्लिनाथ के  
अनुसार अन्य के धर्म का अर्थ से संबन्ध-निरूपण होने से यहाँ निदर्शनालङ्कार  
है, विद्याधर के अनुसार उदात्त भी है ॥ ८७ ॥

बहुक्लमुर्मणिर्वराटिकागणनाटत्करककंटोत्कर ।

हिमवालुकयाञ्छवालुक पट्टदध्वानयदापणार्णव ॥ ८८ ॥

जीवातु—इति । बहवः कम्बवः शङ्खा मणयश्च यस्मिन् ॥ वराटिका-  
गणनाय कर्पाविकासस्थानाय अटन्तं तिर्यक् प्रचरन्तं करं पाणय एव कर्क-

दोस्तुता कुलीरसुधा यस्मिन् स, हिमवाल्क्या कपूरेण अञ्जवालुक स्वच्छ-  
निकन यस्या पुर आपन्नो दिनपिरेवापर्व पटु धीर दध्वान ननाद, 'कपर्दो  
वराटिने'ति ह्यलमुष । 'शङ्ख' स्मात् कम्पूरस्त्रिणामि'त्यमर । 'जितान्नो हिम-  
वानुका', 'स्मात्कुलीर कर्कटक' इति चामर ॥ ८८ ॥

अन्वयः—बहुकम्बुमणि वराटिकागगनाटत्वरककर्कटोश्च हिमवाल्क्या  
अञ्जवालुक यदापार्णिक पटु दध्वान ।

हिन्दी—जनेक शखों, मणि-मुक्तादि से परिपूर्ण, कौटिल्यों की गिनती के  
लिए धूमके हाथ रूप कर्कटसमूह ( गिरगिटों ) से व्याप्त, कपूर-रेणुका द्वारा  
स्वच्छ बालू से युक्त जिस ( नगरी ) का हाट रूप समुद्र अतिशय गर्जना करता  
रहता था ।

टिप्पणी—कर्म-सकुल कुञ्जपुरी के हाट की तुलना की गयी है गरजते  
समुद्र से । वहाँ लहरों का कोलाहल होता है, यहाँ के समुद्रसम शख-मणि  
आदि से पूर्ण, कपूर-वाल्क्यामय हाट में ऐन-देन में कौटिल्या गिनते कम्बुसमूह  
का कोलाहल है । 'पटुदध्वान'—से जन सकलता सूचित की गयी है । सा-  
रूपक अलंकार ॥ ८८ ॥

यदगारषटाट्टकुट्टिमल्लवदिन्दूपलतुन्दिलापया ।

मुमुचे न पतित्रतौचिनी प्रतिचन्द्रोदयमभ्रगङ्गाया ॥ ८९ ॥

जीवातु—यदिति । यस्या मन्त्रा अगारषटासु गृहपङ्क्तिषु अट्टानाम-  
ट्टालिकाना कुट्टिनेषु निबद्धभूमिषु, 'ट्टुट्टिने'स्त्री निबद्धा भूरित्पमर । लव-  
त्रिरिन्दुसम्पर्णात् स्पन्दनार्नरिन्दूपलैश्चन्द्रकान्तै हेतुभि तुन्दिला प्रवृद्धा  
आपो यस्या तया, तुन्दादिभ्य इत्श् 'शृङ्गूरि'त्यादिना समासान्त । अभ्रग-  
ङ्गाया मन्दाकिन्या, 'मन्दाकिनी विदग्गङ्गे'त्यमरः । चन्द्रोदये चन्द्रोदये  
प्रतिचन्द्रोदय वाप्यायामध्यमीनाव । पतिवृत्तानामोचिनी लौचिन्व ब्राह्मण-  
दित्वाद् 'पुणवचने' त्यादिना पञ्चप्रत्यय, 'पिद्गीरादिभ्यश्चे ति डीप् । स  
च 'मातरि पिच्चे'ति पित्वादेव सिद्धे मातामह्यस्य योरादिपाठेनानित्य-  
त्वज्ञापनाद्वैकल्पिक । जत एव वामन —पञ्च पित्कार्यं बहुमिति स्त्रीनपुंस-

कयोर्भावक्रिययो ह्ययम् । क्वचिच्च कुञ्ज 'ओचित्यमौचित्यी मैत्र्य मैत्री कुञ्ज प्रागुदा-  
हृतमि'त्यमरश्च । न मुमुचे न तत्पजे । अतुं समुद्रस्य चन्द्रोदये वृद्धिदर्शना-  
त्तस्य अपि तथा वृद्धिरुचिता । 'आर्तानि मुदिते हृष्टा प्रोषिते मलिना कृशा ।  
मृते हि म्रियते वा स्त्री सा स्त्री ज्ञेया पतिवृत्ता ॥' इति स्मरणादिति भावः ।  
अत्राभ्रगङ्गाया यदगारण्यादिना विशेषणार्थासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोवतेरतिश-  
योक्तिः, तथा च यदगाराणामती-दुमण्डलमौन्नत्य गम्यते तदुत्थापिना ज्ञेय-  
मस्या पतिवृत्त्यधर्मापरित्यागोत्प्रेक्षेति सङ्करः, सा च व्यञ्जकाश्रयोगाद्  
गम्या ॥ ८९ ॥

अन्वयः—यदगारणघटाट्टकुट्टिमस्रबदिन्द्रूपलतुन्दिलापया अभ्रगङ्गाया प्रतिच-  
न्द्रोदय प्रतिव्रतौचित्यी न मुमुचे ।

हिन्दी—जिसके आवासो की अटारियो की ऊपर की छत में लगी द्रवीभूत  
होती ( पिघलती ) चद्रकांतमणियों से बहते प्रचुर जल से आकाशगंगा ने प्रत्येक  
चन्द्रोदय के अवसर पर ( पूर्णिमा में ) पतिव्रताओं के लिए उचित धम को  
नहीं छोड़ा ।

टिप्पणी—कुडिनपुरी के आवास इसने ऊँचे थे कि चन्द्रोदय के अवसर  
उनकी छतों पर लगी चद्रकांत मणियाँ पिघलकर अपने प्रचुर जल से आकाश  
गंगा में जलवृद्धि कर देती थी । नदियों का पति है समुद्र, प्रत्येक चन्द्रोदयपर्व  
पूर्णिमा को समुद्र में ज्वार आ जाता है, उसके ससर्ग से समुद्र परती गंगा में  
भी ज्वार आ जाता है, इस प्रकार पति के हृय में हृषित गंगा मागीरमी पाति-  
व्रत्य का आचरण करती है । परन्तु क्या करे आकाशगंगा, कैसे उसमें ज्वार  
उत्पन्न हो ? कुडिनपुरी-प्रासादों की अटारियो की चद्रकांतमणियाँ पिघल कर  
इसमें सहायक बन जाती हैं और आकाशगंगा का पातिव्रत रह जाता है । विद्याधर  
के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति काव्यालिंग-उदात्त की सृष्टि है । मल्लिनाथ  
ने अतिशयोक्ति-उत्प्रेक्षा का सकार माना है तथा अतिशयोक्ति अलंकार में गम्य  
आगारोन्नत्य के आधार पर वस्तुस्थिति ॥ ८९ ॥

यद्यप्योन्नतमितस्य भास्वतः स्वलिना यत्र निराश्रया खलु ।

अनुसापमभुवि त्रेपनापणवश्मीरजपण्यवीथय

॥ ९० ॥



जीवातु—इक्षय इति । यत्र नगरीमनुजाय प्रतिसार्य वीष्नायामव्ययी-  
भाव । विलेपनापपेषु सुगन्धद्रव्यनिपद्यामु वस्मीरजानि कुङ्कुमा येव पश्यानि  
पपनीयद्रव्यापि तेषा वीक्षय" श्रेयस्य अस्तमितम्यास्तङ्गतस्य नात्वत सम्ब-  
न्धिन्य" स्खलिता अस्तमयसोनात् च्युता अतएव निरालया निराधया हवय  
प्रभा" अन्तु सन्तु कथञ्चित्प्रच्युता" सायन्तनार्कन्विय इव भान्ति स्मेत्ययं ।  
कुङ्कुमराशीना तदा तस्मादप्यर्पयितुं प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या । नातुल्लङ्घि  
शेर्बुसादेश ॥ ९० ॥

अन्वय—यत्र अनुजाय विलेपनापपेषु वस्मीरजानामव्ययीयया अस्तम् इतस्य  
भात्वत स्खलिता निरालया हवय" अन्तु निष्ठ ।

हिन्दी—जिस नगरी में प्रत्येक सुगन्ध-सामग्री के हाट में केसर-  
विक्रय की गलियाँ अस्ताचल की साते सूर्य से च्युत हुई ( अतएव ) निराधार  
कान्ति श्रेणियाँ जैसी आनासित होती थीं ।

टिप्पणी—केसर की गलियों के सम्मुख के आकार पुर मूर्त्युदधिपो से इनेकी/  
तुलना की गयी । यहाँ भल्लिनाथ ने गम्योत्प्रेक्षा मानी है, बिद्याधर के विरोधा-  
सकार नी, छट्ट के अनुधार जिसका लक्षण है—किञ्चिदवस्थाधेयं यस्मिन्नवधी-  
यते निराधारम् साहगुपलभ्यमान विज्ञेयोऽप्यो विरोपोऽतः ॥ अत्रकलाकार उत्प्रेक्षा  
विरोध का अभाषिभाव सकर मानते हैं ॥ ९० ॥

वितत वणिजापणेऽखिल पणितु यत्र जनेन वीक्ष्यते ।

मुनिनेव मृकण्डसूनुना जगतीवस्तु पुरोदरे हरे ॥ ९१ ॥

जीवानु—वततमिति । यत्र नगरी वणिजा वणिजनेन पणितु व्यवहन्-  
मापणे पञ्चवीम्या वितत प्रसारितमखिल अगत्या लोके स्थित वस्तु पदार्थ-  
जात पुरा पूर्वं हरेविणोदरे मृकण्डसूनुना मुनिना मार्कण्डेयेनेव जनेन लोकेन  
वीक्ष्यते विष्णुदरमिव समस्तवस्त्वाकरोऽयमवभासत इत्ययं । पुरा किञ्च मार्क-  
ण्डेयो हरेदर प्रविश्य विश्व तपाद्राक्षीदिति कथयन्ति ॥ ९१ ॥

जन्दय—यत्र वणिजा पणितुम् आपणे विततम् अखिल जगतीवस्तु पुरा  
हरे उदरे मृकण्डसूनुना मुनिना इव जनेन वीक्ष्यते ।

हिन्दी—जहाँ व्यापारियों द्वारा विक्रयार्थ हाट में फैलाये समस्त सासारिक वस्तुजात ( सामान ) को प्राचीन काल में विष्णु के उदर में ( समाया विश्व ) भृकुट्ट के पुत्र मार्कण्डेय के समान लोक-जन देखा करते हैं।

टिप्पणी—हाट में सब आवश्यक सामग्री प्राप्त होती थी, इसे पौराणिक कथा द्वारा स्पष्ट किया गया है। प्राचीन काल में मार्कण्डेय मुनि ने विष्णु के उदर में समग्र ससार देखा था। दशनीय—श्रीमदभागवत (१२-९)। विद्याधर के अनुसार उपमा और उदात्त, बलकार ॥ ९१ ॥

सममेणमदैयदापणे तुलयन् भौरभलोमनिश्चलम् ।

पणिता न जनारवेरवैदपि कूजन्तमलिं मलीमसम् ॥ ९२ ॥

जीवातु—सममिति । यस्या मधर्मा आपणे सौरभलोमनिश्चल गन्ध-प्रहणनिष्पन्व तत् क्रियया दुर्बोधमित्यर्थः । मलीमस मलीन सर्वाङ्गनील-मित्यर्थः । अन्यथा पीतमध्यस्थाले पीतिर्भवेत् व्यबच्छेदात्, अतो गुणतोऽपि दुर्बुद्धमित्यर्थः । 'उद्योत्स्नातमिह'—न्यादिना निपातः । अलिं भृङ्गमेणमदै-सम कस्तूरीमिं सह तुलयन् सोलयन् पणिता विज्ञेना कूजन्तमपि जमानामारवै-कल्बलं नावेत्, शब्दतोऽपि न ज्ञातवान् इत्यर्थः । इह निश्चलस्थाले गुञ्जन-कविना प्रोदधादेनोक्तमित्यनुसंधेयम् । अत्रालेनेत्यादेणमदोक्ते सामान्याल-ङ्कारः । 'सामान्य गुणमामान्ये यत्र वस्त्वन्तरैक्ते' ति लक्षणात् । तेन भ्रांति-मदलङ्कारो व्यज्यते ॥ ९२ ॥

अन्वयः—यदापणे सौरभलोमनिश्चल मलीमसम् अलिम् एणमदै सम तुलयन् पणिता कूजन्तम् अपि जनारवे, न अवेत् ।

हिन्दी—जिस ( नगरी ) के हाट में सुगन्ध के अभिलाष में निश्चल काले भौरे को एणमृग के मद ( कस्तूरी ) के साथ सोलता दुकानदार ( उसके ) गुजार करने पर भी जन-कोलाहल में पहिधान नहीं पाता था ।

टिप्पणी—कस्तूरी के रंग का काला भौरा सुगन्ध से प्राकृत हो निश्चल उस पर बैठता था, सो एक-सा रंग होने के कारण दुकानदार कस्तूरी के साथ भौरे को भी सोल दिया, सब भौरा मनभंगाने लगा, परन्तु जन-समूह हाट में

इतना कोलाहल हो रहा था कि व्यापारी को नौरे का भान ही नहीं हुआ। मन्दिनाथ को यहाँ यह आपत्ति है कि बैठा होने पर नौरा 'मनन' नहीं करता, उठने पर ही करता है, कबि को यह उक्ति प्रौढवाद के आधार पर ही है। उनके अनुसार 'अलि' को दर्पसाग्य के आधार पर कस्तूरी मानने के कारण यहाँ सामान्य अलंकार है, जिससे आन्तिमान् अलंकार व्यञ्जित होता है ॥९२॥

रविकान्तमयेन सेतुना सकलाह ज्वलनाहितोष्मणा ।

शिशिरे निगि गच्छता पुरा चरणौ यत्र दूनोत्ति नो हिनस् ॥ ९३ ॥

जीवानु—रविकान्तेति । यत्र नभ्यां सञ्जगद्दृश्यमह 'राजाहसस्मि-  
 ष्व' । 'रात्राह्लाहा पुसी'ति पुल्लिङ्गता, व्यत्यन्तसमो द्वितीया, योग-  
 विभागात्समासः । व्यसनेन तदनकरान्निपातात्प्रगल्बनेन आहितोष्मणा जनि-  
 तोष्मणा जनितोष्मेन रविकासमयेन सेतुना सेतुमुद्येनाष्वना सूर्यकान्तकुट्टि-  
 माश्रनेत्ययं । गच्छता सञ्चरता करणी करणानित्ययं । 'स्तनादीना द्वित्व-  
 विशिष्टा जाति प्रायेणे'ति जातौ द्विवचनम् । विशिरे विशिरतौ तत्रानि निशि  
 हिम पुरा नो दुनोति नापीडयत् । 'शायन्पुरानिपातयान्द' अत्र सेतोऽङ्मा-  
 सम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः, तनोत्तरस्या पूर्वसापेक्षत्वाद्  
 सङ्कर ॥ ९३ ॥

अन्वय — यत्र सफटाह ज्वलन्नाह्नितीयमभा रविकान्तमयेन सेतुना गच्छता  
 चरणी सिधिरं निशि हिन पृथ नो दत्तेति ।

हिन्दी—विष ( पुरी ) में समग्र दिन ( सूर्य के ) ताप से उष्ण ( गरमाये ) सूर्यकाष्ठमणिमय सेतु पर आनेवालों के चरणों की सिधिर ऋतु की ( ठंडी ) रात में शीत कष्ट नहीं दे पाता था ।

टिप्पणी—घूप से दिन में सेतु की सृजकालमयिदां श्रुती गर्म हो जाती थी कि उष्णता रात भर बनी रहती थी और जानेवाले बड़े सुख से पुल पार कर लेते थे, ठंड जाटे की श्रुति में भी नहीं ला पाती थी। मन्त्रिनाथ के बनु-सार यहाँ सेतु-उष्ण का असम्भव रहने पर भी सम्भवजन्य के कारण अति-शयोक्ति है, उसमें उत्तरवर्तिनी के धर्मसापेक्ष होने के कारण नकर है। विद्याधर

की दृष्टि में विशेषोक्ति और उदात्त अलंकार, चंद्रकलाकार ने इन दोनों अलंकारों के अगामिभाव से स्थित होने के आधार पर दोनों का सकल माना है ॥ ९३ ॥

विधुदीधितिजेन यत्पयः पयसा नैषधशीलशीतलम् ।

शशिकान्तमय तपागमे कलितीव्रस्तपनि स्म नातप ॥ ९४ ॥

जीवातु—विधिवति । विधुदीधितिजेन इन्दुकरसम्पर्कजन्येन पयसा सलिलेन नैषधस्य नलस्य शील वृत्त स्वभावो वा तद्वच्छीतल शशिकान्तमय यत्पयः यस्याः नगरी पद्मान तपागमे धीष्मप्रवेशे कलितीव्र कलिकालवच्चण्ड आतप न तपति स्म । नलकथायाः कलिनाशकत्वादिति भावः । अत्र नगरपयस्य इन्द्रूपरूपय मन्वन्धोवनेरतिशयोक्तिः, तत्सापेक्षत्वादुपमयो सङ्करः ॥ ९४ ॥

अन्वयः—विधुदीधितिजेन पयसा नैषधशीलशीतल शशिकान्तमय यत्पयः तपागमे कलितीव्र आतप न तपति स्म ।

हिन्दी—चंद्रकिरणों से सजात जल के कारण नियरराज ( नल ) के शील से शीतल चंद्रकांतमणिमय जिस ( नगरी ) के मार्ग को धीष्मर्तु के आगमन पर कलि के मुख्य छीदण घूप ताप न वे पातो थी ।

टिप्पणी—इस श्लोक में पूर्व श्लोक की शानि मार्ग के धीष्मर्तु, में भी शीतल रहने का विवरण दिया गया है, साथ ही संकेत है कि नल कथा के श्रवण में कलि प्रभाव मह होता है, जैसा कि 'नै ५' ( १।१ ) में 'सितिरक्षिण' से ( अक्षिणः क्षिति ) अक्षी—कलि का नाश बताया गया है । मल्लिनाथ ने पूर्व श्लोक के समान अतिशयोक्ति और तत्सापेक्ष होने से उपमा के संकर का निर्देश किया है, विद्याधर के अनुसार विशेषोक्ति-उदात्त-उपमा की सृष्टि है ॥ ९४ ॥

परिखावल्यच्छलेन या न परेषा ग्रहणस्य गोचरा ।

फणिभापितभाप्यफट्टिका विपमा कुण्डलनामवापिता ॥ ९५ ॥

जीवातु—परिलेति । परिखावल्यच्छलेन परिखावेष्टनव्याजेन कुण्डलना मण्डलाकाररंजितामवापिता परेषा शत्रूणां ग्रहणस्याक्रमणस्य अथवा अन्येषां ग्रहणस्य ज्ञानस्य न गोचरा अविषया या नगरी विपमा दुर्वोधा फणिभापित-भाप्यफट्टिका पतञ्जलिप्रणीतमहाभाष्यस्य कुण्डलिप्रत्य तद्वदिति शेषः । अत्र

नमयां कुण्डलिप्रन्यत्वेनोत्प्रेक्षा ॥ सा च परिखादलक्षणेन अपहृतवत्या-  
पितृत्वात् सापहृता व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्या ॥ १५ ॥

अन्वयः—परिखावल्यच्छलेन कुण्डलिनाम् अवापिता परेषा ग्रहास्य न  
मोक्षरा विषया फणिनापितनाप्यफक्किका ।

हिन्दी—चेया-मण्डल ( छाई के घेरें ) के व्याज हैं कुण्डलिना (गोलाकार)  
को घाट ( घिरी ) अतएव शत्रुघ्नों के अधीन ( पराधीन ) न हो सकने का  
विषय जो ( नारी ) अन्य छोरों के ज्ञान का अविषय बनी, कुण्डलिता  
घोषावतार महामुनि पञ्चवलिहृत महानाथ्य की फक्किका के समान थी ।

टिप्पणी—जनश्रुति है कि वररक्षि ने पातञ्जल महानाथ्य की फक्किका  
को कुण्डलित कर दिया था अर्थात् अन्य के दुर्लभ स्थलों पर घेरा बना दिया था  
कि इनका आचर्य 'घेय' ही समझ सकते हैं अन्य कोई नहीं, इसी प्रकार कुण्डिन-  
पुरी को 'कुण्डलिता' अर्थात् छाई से घिरी होने के कारण पर-शत्रु अपने अधीन  
करने की बात सांख्य भी नहीं पाते थे । मन्त्रिनाथ के अनुसार अपहृतव से उत्पा-  
पित 'सापहृता-अभ्योत्प्रेक्षा' है, विद्याधर की दृष्टि में यहाँ अपहृतुति और उपमा  
अलंकार है । चन्द्रालंकार के अनुसार प्रतीयमानोत्प्रेक्षा—कैतवानहृतुति का संकर  
है । राजशेखर के अनुसार 'आक्षिप्य भाषणाद् भाष्यम्' ( काव्यमीमांसा-  
शास्त्रनिर्देशाध्याय, अर्थात् स्वयम् उद्धृष्टों का आक्षेप करके उसका समाधान  
भाष्य है । एक और परिभाषा के अनुसार जहाँ सूत्रानुसारी पदों के द्वारा  
सूत्रार्थ किया जाता और स्वपक्षों का वर्णन होता है, वह भाष्य है—'सूत्रार्थों  
बलसे यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः । स्वपक्षानि च कथ्यन्ते भाष्य भाष्यविशेषे विदुः ॥'

मुखपाणिपदाक्षि पङ्क्त्यै रचिताञ्ज्जेष्वपरेषु चम्पकैः ।

स्वयमादित यत्र भीमजा स्मरपूजाकुमुदस्रजः श्रियम् ॥ १६ ॥

जीवातु—मुचेति । यत्र नमयां मुखस्य पापी च पदे च अग्निषो च परस्मिन्  
तस्मिन् प्राण्यङ्गत्वाद् द्वन्द्वैकवङ्काव । पङ्क्त्यै रचिता सृष्टा अपरेषु मुक्तादिव्य-  
तिरिक्तेष्वङ्गेषु चम्पकैश्चम्पकपुष्पैः, रचिता सर्वत्र साध्याद्वधपदेशः । भीमजा  
भैमी स्वयं स्मरपूजाकुमुदस्रजः श्रियं शोभामादित आत्तवती । ददातेर्लुङि

‘स्याध्वोरिच्छे’ तीव्र ‘ह्रस्वादङ्गादि’ति सलोप । अत्र अन्वयियोऽन्यस्या-  
सम्भवात् थियमिव थियमिति सादृश्यासेषान्निदर्शनाभेद । तथा तदङ्गानां  
पङ्कजाद्यभेदोन्तेरतियोक्ति । तदुत्थापिता चेय निदर्शनंति सङ्कर ॥ ९६ ॥

अन्वय — यत्र पङ्कजं मुखपाणिपदादिषु चम्पकं अपरेषु अनेषु रविता  
बीमजा स्मरपूजाकुसुमसज्ज थिय स्वयम् आदित ।

हिन्दी—जहाँ कमली द्वारा जिसके मुख, हाथ, पैर और नयन रवे गये हैं  
और चम्पक पुष्पों से अन्वय अग, ऐसी फूलों से रची गयी नीमपुत्री (दममग्री)  
ने काम पूजा की कून्माला की शोभा को स्वयम् ही स्वीकार लिया था ।

टिप्पणी—कमलवदना, कमलकरचरणा, पकजनयना, चम्पकतनु दममग्री  
जैसे फूलों की बनी थी, इस प्रकार वही मानो स्वयम् कामपूजा की पुष्पमाला थी ।  
काम भी उससे सन्तुष्ट हो जाने की स्थिति में था । जो उसे एक बार देख लेता  
था, उसकी ‘कामना’ करने लगता था । मन्त्रिनाथ के अनुसार यहाँ अति-  
शयोक्ति और तदुत्थापिता निदर्शन का सङ्कर है, विद्याधर की दृष्टि में निदर्शना  
और सङ्कर ॥ ९६ ॥

जघनस्तनभारगौरवाद्द्विदालम्ब्य विहर्तुमक्षमा ।

ध्रुवमप्सरसोऽवतीर्य या शतमध्यासत तत्सखीजन ॥ ९७ ॥

जीवातु—जघनेति । जघनानि च स्तनी च जघनस्तन, प्राण्यङ्गत्वाद् द्वै-  
ववद्भाव । तदेव भार तरय गौरवात् गुरुत्वाद्विदालम्ब्य विहर्तु मक्षमा शत  
शतमध्यासत ‘विशल्याद्या सदैकत्वे सख्या सख्येयसख्ययोरि’ श्यमर । अप्सर-  
सोऽवतीर्य स्वर्गादागत्य तत्सखीजन सख्य जातावेकवचनम् । या नगरीमध्या-  
सत अध्यातिष्ठन्, ‘अधिशीङ्स्थासा कर्मे’ति कर्मत्वं ध्रुवमित्युत्प्रेक्षा । अप्सर-  
वत्त्वा शत सख्य एतामुपासत इत्यर्थ ॥ ९७ ॥

अन्वय — जघनस्तनभारगौरवाद् विपर्यालम्ब्य विहर्तुम् अक्षमा  
घनम् अप्सरस अवतीर्य तत्सखीजन याम् अध्यासत ध्रुवम् ।

हिन्दी—जघन ( नितम्ब ) और कुच-भार गुरु (गह्रा) होने से आकाश  
या सहारा लेकर विहार करने में अक्षम ( असमर्थ ) सैकड़ों अप्सराएँ ( धरती

पर) उतर कर उस ( दमयन्ती ) की सखियां होकर लयता है, उस (नगरी) में निवास कर रही थी ।

टिप्पणी—आन्ध्र यह है कि दमयन्ती अप्सराओं की अपेक्षा अधिक सौन्दर्यशालिनी थी, अप्सराएँ तो उसकी सखी बन कर कुछ दिनपुरी में उतर आयी थीं । मल्लिनाथ ने यहाँ उत्प्रेक्षा, विद्याधर ने सापह्नुवा उत्प्रेक्षा का उल्लेख किया है ॥

स्थितिशास्त्रिसमन्वयता न कथं चित्रमयी विनतुं या ? ।

स्वर्णमन्दपुंशु या कथं कलितानल्पमुखास्वा न वा ? ॥ ९८ ॥

जीवानु—म्यतीति । चित्रमयी आश्चर्यप्रचुरा आलम्ब्यप्रचुरा च, 'आलम्ब्याश्चर्यमोदितवमि'त्यमर । या नगरी स्थित्या मयादया स्थापित्वेन च घालन्ते ये तं समन्ता वर्णा ब्राह्मणादयः शुक्लादयश्च यस्या तस्या भावस्तत्ता 'वर्णो द्विजादौ शुक्लादावि' त्यमर । कथं न विनतुं विनन्वेत्यर्थः । कलित प्रातः जनानां बहुना मुक्तानामारवो बहुमुखानां बहुमुख-पञ्चमुख-पञ्चमुखानां च आरव यज्ञो यस्या सा या पुरी स्वरम्य ध्वनेर्मेद नानात्व स्व स्वादिभेद च कथं वा नोपेतु उपन्वेत्यर्थः । उभयत्रापि सति धारणे कार्यं भवेदेवेति भावः । जत्र केवलप्रवृत्तश्लेषाङ्गहार उभयोरप्यर्थयो प्रवृत्तत्वात् । किंतु एकनाले पदप्रवदेकस्मिन्नेव ध्वने अर्थद्वयप्रतीतिर्यस्यैव प्रयत्नार्थः । द्वितीये तु अनुकाट्यदेकवद्भूताङ्गद्वयमादयद्वयप्रतीतिः ध्वनश्च ॥ ९८ ॥

अन्वय —चित्रमयी या स्थितिशास्त्रिसमन्वयता कथं न विनतुं कलितानल्पमुखास्वा या कथं वा स्वर्णमन्दपुंशु ?

हिन्दी - ( १ ) जो आलम्ब्यों ( चित्रों ) से पूर्ण है, उस नगरी में परस्पर उचित स्थिति प्राप्त करते सभी नील-पीठादि रंग क्यों न रहें ? ( रहेंगे ही ) । और जहाँ प्रचुर मात्रा में मुख ध्वन कर रहे हैं ( जनेक व्यक्ति एक साथ बोल रहे हैं ), वहाँ स्वर भेद (विभिन्न स्वरता) क्यों न हो ? (होना ही उचित है) ।

( २ ) जिस नगरी में अपने-अपने आवाज का परिपालन करते सभी ब्राह्मणादि चतुर्वर्णी संनिभ हों, ऐसा भाव धारण करती नगरी आश्चर्यमयी क्यों न हो ? ( अत्यन्त बौद्धिकता है, कृदिनपुरी में नहीं, अतः उस नगरी को

आश्चर्यरूपा होना ही चाहिए ) । और जहाँ बाधाट अतएव अनल्पमुख ब्राह्मणों द्वारा 'आरव' ( वेदपाठ ) होता है, वहाँ उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि स्वरो का भेद क्यों न हो ? ( त्रिस्वर वेद-पाठ में स्वरभेद होगा ही ) ।

( ३ ) वह नगरी आश्चर्यं विचित्र ( अनूठी ) क्यों न हो, जहाँ आठ ( उर, कण्ठ, गिर, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ, तालु ) स्थानों से उच्चरित होने वर्ण स्थित हो ? ( जहाँ सलक्षण वेदपाठ होता है, वह विचित्र है ही, क्योंकि सर्वत्र ऐसा सम्भव नहीं है ) । और वह नगरी 'स्व.' ( स्वरं ) से 'अभेद' क्यों न स्थापित करे, जहाँ अनल्पमुख ब्राह्मण 'अनल्पमुख' अर्थात् अनेक मुख वाले ( चतुर्मुख ) ब्रह्मा जैसे स्वर्ग में वेद का 'आरव' करते रहते हैं, उसी प्रकार वेद-स्वर गुंजरित करते रहने हैं ? अथवा स्वरं में अनल्पमुख-चतुर्मुख ब्रह्मा पञ्च-मुख शिव, पञ्मुख स्कन्द के स्वर जैसे हैं, वैसे ही नगरी में अनेक मुखों के शब्द रव होते हैं ।

टिप्पणी—चित्रमयी कु दिनपुरी का वर्णन विचित्र द्रिष्ट दग्धावलि में किया है, जिससे तीन अर्थ नगरी के वैचित्र्य को प्रकट करते हैं, वहाँ वर्णव्यवस्था की बर्णना है, सलक्षण सस्वर वेदपाठ होता है, अनेक आलेश्य सजे हैं, प्रचुर जन-बल है । विद्याधर के अनुसार यहाँ श्लेष छलकार है, जिसे मल्लिनाथ ने प्रकृत श्लेष कहा है, क्योंकि सभी अर्थ प्रकृत हैं । केवल दो अर्थों के उल्लेख करत मल्लिनाथ ने बताया है कि एक नाम में दो फलों के समान एक शब्द के दो अर्थ प्रतीत होने से प्रथमाद में ध्वन्यर्थ है, द्वितीयाद में चतुष्पाद्यत् एकसुत दा शब्दों से अर्थ प्रतीति होने के कारण शब्दश्लेष है । चन्द्रकलाकार के अनुसार पूर्वार्द्ध में अर्धापत्ति, शब्दश्लेष धीरे प्रकृतश्लेष का एकाग्रयानुपवेशरूप सवर है, द्वितीयाद में भी उसी प्रकार सवर है और सम्पूर्ण श्लोक में ससृष्टि है ॥

स्वच्छाश्चणया पताकया दिनमर्केण समीयुषोत्तुप ।

ललितद्वर्द्धुघा सुधाकर निशि माणिक्यमया यदालया ॥ ९९ ॥

जीवातु—स्वच्छेति । माणिक्यमया पथरागमया यदालया यस्या नगर्या शृङ्गा दिने दिने, अत्यन्तसयाने द्वितीया । समीयुषा सङ्गतेन अर्केण हेतुना उत्तुप अर्कसम्पर्कादुत्पन्नपिपासा सन्त स्वच्छा स्वप्नमया अरणया आरण्य



प्राप्तयेति तद्गुणान्द्वारः, 'तद्गुण' स्वगुणत्वाभादन्योत्कृष्टगुणाद्वृत्तिरिति लक्षणात् । पताक्या रसनायमानयेति नाव, सुधाकर बहुधाऽलिलिहृ' आत्वादया-मामुरित्यर्थः । अह्नि सन्तप्तानिचि क्षीतोपचार-श्रुवन्तीति भावः । अत्र गृहाणा सन्तापनिमित्तसुधाकरलेहनात्मकक्षीतोपचार-उत्प्रेक्ष्यते । सा ज्योत्स्वद्गुणोत्प्रेति सङ्कट, व्यञ्जकाप्रयोगादयम्या ॥ ९९ ॥

अन्वयः—माणिक्यमया यथाक्या -दिन-समीप्या-मर्कन उत्तप' निचि स्वहवा अरुमया यथाक्या सुधाकर-बहुधा-लिलिहृ' ।

हिन्दी—माणिक्य-रत्नों से बने-जिस (नगरी) के गृह समग्र दिन निकटा-गत सूर्य के कारण उहाम तृषा (प्यास) से आकूल हो रात में अपनी काठि से अहन हुई पताका रूपा जिह्वा से अमृतनिधि चद्र को अनेक प्रकार से चाहते रहते हैं ।

टिप्पणी—काठि का आशय है कि नगरी में सूर्य-चद्र को छूनेवाले अप्सुष्ण आवास हैं । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ तृषानिवारणार्थं सुधाकर-लेहनारमक क्षीतोपचार की 'उत्प्रेक्षा' (गम्या) है, जो 'तद्गुण' से उत्प्रापित है, अतः दोनों का सङ्कर है, विद्याधर के अनुसार समासोक्ति-वर्तिययोक्ति-तद्गुण-उदात्त अलङ्कारो का सङ्कर है ॥ ९९ ॥

लिलिहे स्वहवा पताक्या निचि जिह्वानिमया सुधाकरम् ।

श्रिनमर्ककरैः पिपासु यन्पसद्यामेलपद्यरागजम् ॥ १०० ॥

जीवातु—अयानयं नङ्गया राजनवन वानयति-लिलिहृ इति । अनन्त-पद्मरागज यस्या नगया नृपसद्म राजमवनम् अर्ककरैः श्रिनमरिसामी-प्यादनिन्याप्तम् । श्रयते कर्मणि क्तः, शृणाते पक्ष्याणादिति केचिद् । तदा ह्रस्वञ्चिन्त्य, प्रवृत्त्यन्तर मृष्यमित्यान्ता तत् । अत एव पिपासु तृपित सद् निवते-सन्नन्तादुप्रत्यय । स्वकीया रूपं यस्या तया स्वहवा तद्रूपितयेत्यर्थः । अत एव जिह्वानिमया पताक्या सुधाकर लिलिहे आत्वादयामास । लिहे कर्तरि लिट् । त्वरितत्वादात्मनेपदम् अलङ्कारश्च पूर्ववत्, जिह्वानिमयेत्युपमा सङ्कटश्च विशेषः ॥ १०० ॥

अन्वय —अमलपद्मरागजम् अर्ककरं - अतः पिपासु यन्नुपसदम् निधि  
स्वस्था जिह्वानिमया पताकया मुधाकर ललिते ।

हिन्दी—निर्मल पद्मराग मणियों से निर्मित, सूर्य-किरणों के समीप हुआ  
अतएव प्यासा जिस ( नगरी ) के राजा का गृह रात में अपनी कान्ति से  
जिह्वासदृश लाल बनी पताका द्वारा मुधाकर को चाटा करता है ।

टिप्पणी—पूर्वमणिमा के अनुरूप ही राजगृह की अत्युच्चता द्योतित ।  
मल्लिनाथ के अनुसार अलंकार-स्मृति पूर्वस्तोत्रवत् है, विशेषता यही है कि  
यहाँ 'जिह्वानिमया'—उपमा है और चक्र है । विद्याधर की दृष्टि में अलंकार-  
स्मृति पूर्ववत् ही है । चद्रकलाकार ने भी तदगुण—प्रनीयमानोत्प्रेक्षा-उपमा  
का अगमिभाव सकर माना है ॥१००॥

अमृतघृतिलक्ष्म पीतया मिलितं मदलभीपताकया ।

वलयायितशेषशायिनस्सखितामादित पीतवाससः ॥ १०१ ॥

जीवातु—अमृतेति । पीतया पीतवर्णया यस्या नयन्या वलय्या 'कूटागा  
रन्तु वलयमि'रित्यमर । पताकया मिलितं सामीप्यारसं कृतममृतघृतिलक्ष्म  
अद्वलाम्बुधन वलयायिते वलयीभूते शेषे शेषे इति तच्छायिन पीतवासस  
पीताम्बरस्य विष्णो सखिता सदृशतामादित अग्रहीद्विरुपमालङ्कार ॥ १०१ ॥

अन्वय —पीतया मदलभीपताकया मिलितम् अमृतघृतिलक्ष्म वलयायित  
शेषशायिन पीतवासस सखिताम् आदित ।

हिन्दी—जिस ( नगरी ) के ऊँचे कूटागार की पीले रंग की पताका से  
मिल कर अमृतघृत चद्र का शेष चिह्न कुण्डली बनाये शेषनाथ पर ध्यान करते  
पीतांबर हरि ( विष्णु ) के साम्य को प्राप्त होता था ।

टिप्पणी—ऊँची वलयी की पीली पताका चद्र के बाले चिह्न के चारों  
ओर घिर जाती है, जिससे वह चद्र कलक 'पीताम्बरो हरि' बन जाता है,  
गोल घेरे वाला चंद्रमा ही, गेदुरी मारे पटा शेषनाथ है, जिस पर शशचिह्न-  
रूप पीतांबर विष्णु साये हैं, अर्थात् यही ऊँची है वलयी ( कूटागार ) ।

उपमा । चद्रकलाभ्या के अनुसार असंबन्ध में मन्वथ-कथनके कारण अतिशयोक्ति-  
उपमा का अभावभाव सत्कर ॥ १०१ ॥

अथान्तश्चुतिपाठपूतरमनाविभक्तमूर्गिन्निवा-  
निहृग्रहामुखोघविघ्नितनवस्वर्गद्विज्याकेलिना ।  
पूर्वं गामिमुतेन सामिघटिना मुक्ता नु मन्दाकिनी  
यथासाददुकूलबल्लिरनिनान्दोलैरखेददिवि ॥ १०२ ॥

जीवानु—अथान्तेति । यस्या नायां प्राभादे दुकूल बल्लिरिव दुकूलबल्लि  
दृग्दमयी पताकेत्यर्थ । अथानेन श्रुतिपाठेन निम्नवेदपाठेन पूताभ्य पवित्राभ्य  
रमनाभ्यो जिह्वाभ्य प्राविर्न्तेषु भूगिन्निवेपु अनेकम्नोत्रेषु प्रजिह्वान् अकुण्ठेन  
ब्रह्मणो मुखानामोघेन हेतुना रिघ्निता मन्जानविघ्ना नवस्वर्गद्विज्या नूननम्बर्ग-  
सृष्टिन्ने केलि लीला यस्य तेन गामिमुतेन विश्वामित्रेण पूर्वं ब्रह्मप्रायेतात्पूर्व  
मामि घटिता अर्जमुष्टा 'मामि त्वद्वे जुगुप्सन्' इत्यमर । मुक्ता पश्चात्मुक्ता  
मन्दाकिनी नु आकाशगङ्गा किमनिलस्य कर्नुरान्दोलनैरदिवि आकाशे अनेन  
विजहान्त्युन्नता । एषा कया त्रिशङ्कूपास्थाने द्रष्टव्या । शार्दूलविक्रीडितवृत्त  
'मूर्जाश्वैर्ममजास्तता मगुरव शार्दूलविक्रीडितमि'ति लक्षणात् ॥ १०२ ॥

अन्वय,—अनिलान्दोलै यथासाददुकूलबल्लि अथान्तश्चुतिपाठपूतरमनावि-  
भूतपूरिस्त्वजिह्वमग्रहामुखोघविघ्नितनवस्वर्गद्विज्याकेलिना गामिमुतेन पूर्वं  
सामिघटिना मुक्ता मन्दाकिनी नु दिवि अखेलत् ।

हिन्दी—पवन से डोलती बिस ( नगरी ) के प्रासादों की ध्वजा-रूपा श्वेत  
चद्रिका निरन्तर वेदपाठ से पवित्र रसनाओं में प्रकट होते स्तुतिगान में अकु ठ  
ब्रह्मा के चारों मुखों द्वारा ( अर्थात् वेदपाठ से पवित्र चारों मुखों में एक साथ  
कथा जो द्वारा प्रार्थना किये जाने पर ) नवीन स्वर्ग निर्माण की जिसकी ङीठ  
में विघ्न पड़ गया है, ऐसे गामिपुत्र ( विश्वामित्र ) द्वारा अर्द्धनिमित्त कर  
छोड़ दी गयी मन्दाकिनी के समान मानो आकाश में लहराती थी ।

टिप्पणी—नवीन सृष्टि रचनेवाले विश्वामित्र की कया ( त्रिशङ्कु-उपा-  
स्थान ) के माध्यम से आकाश में लहराती प्रासाद ध्वजा के चित्रण द्वारा  
प्रासाद की अत्युन्नता छोटित । उत्प्रेषात्कार । शार्दूलविक्रीडित छद ॥ १०२ ॥

यदतिविमलनीलवेश्मरश्मिभ्रमरितभाश्शुचिसौधवस्त्रवल्लि ।

अलभत शमनस्वसुशिशुत्व दिवसकराङ्कृतले चला लुठन्ती ॥ १०३ ॥

जीवातु—यदिति । यस्या नगर्या अतिविमलनीलवेश्मन इन्द्रनीलनिकेतनस्य रश्मिभिः भ्रमरिता भ्रमरीकृता भ्रमरशब्दात् 'तत्करोती'ति प्यन्तात् कर्मणि क्त । वत्स्याश्च 'भ्रमरैर्भाव्यमिति' भावः । तथाभूता भा छाया यस्या सा इयामीकृतप्रभेत्यर्थः । अत एव तद्गुणालङ्कारः । शुचि स्वभावतः शुभा सोधस्य वस्त्रमेव वह्नि पताकेत्यर्थः । रूपकसमासः । भ्रमरितभा इति रूपकादेव साधकात् दिवसकरस्य सूर्यस्य अङ्कृतले समीपदेशे उरसङ्गप्रदेशे च चला अपक्वा लुठन्ती परिवर्तमाना सती शमनस्वसुर्ययुनाया शिशुस्त्व शैशवमलभत बाल्यमुनेव वभावित्वर्थः । बालिकाश्च पितुरङ्के लुठन्तीति भावः । अत्रान्यस्य शैशवेनान्यसम्बन्धासम्भवेऽपि तत्तद्व्यतिरिक्तं सादृश्यासौपात्तिदर्शना पूर्वोक्त-तद्गुणरूपकाभ्या मङ्गीर्णा ॥ १०३ ॥

अन्वयः—यदतिविमलनीलवेश्मरश्मिभ्रमरितभा शुचिसौधवस्त्रवल्लि-दिवसकराङ्कृतले चला लुठन्ती शमनस्वसु शिशुत्वम् अलभत् ।

हिन्दी—जिस (नगरी) के अत्यन्त निर्मल नीलमणि निमित्त गृहो की किरणों से भ्रमर-वर्ण (नीले रंग की आभावाला) प्रासाद की शुभ्र पताका सूर्य की गोद में (समीप) चञ्चलता से झींझा करती धम धमिनी (यमुना) के शाह्यकाल की प्राप्त करती थी ।

टिप्पणी—इन्द्रनीलमणि निमित्त प्रासादों की लहरती शुभ्र पताका मणि के नीले रंग के कारण नीली बन कर उस यमुना (यमुना का घण भी नीला माना जाता है) के सादृश्य की प्राप्त कर लेती थी, जो अपने शाह्य काल में पिता सूर्य की गोद में चञ्चलतापूर्वक झींझा करती है । मल्लिनाथ ने इस पद्य में तद्गुण और रूपक में सबीज निर्दर्शना का निर्देश किया है, विद्याधर ने अनु-प्रास-अतिशयोक्ति-उदात्त तद्गुण निर्दर्शना के संकेत का । चन्द्रकान्तदास ने अनु-सार यहाँ निर्दर्शना तद्गुण रूपक उपमा का संकेत है । पुष्पिताम्रा छंद है, जिसके प्रथम सृतीय चरणों में दो नगण (111), एक रगण (sis), एक घगण

(155) क्रम से बारह-बारह वर्ष होते हैं- और द्वितीय-चतुर्थ चरण में एक नगण (111), दो जगण (151), एक गगण (515) एक गुरु (5) क्रम से तेरह तेरह वर्ष—  
'अमुञ्जि नपुारेफ्तो यकारो मुञ्जि च नञौ जरमाश्च पृथिताप्रा' ॥ १०३ ॥

स्वप्राणेश्वरनमं हर्म्यं कटकातिथ्यग्रहायोत्सुक  
पायोदं निजकेलिसौधशिखरादारुह्य यत्कामिनी ।  
साक्षादप्सरसो विमानकलिनव्योमान एवामव-  
द्यन्न प्राप निमेषमभ्रनरसा यान्तो रसादध्वनि ॥ १०४ ॥

जीवातु—स्वेति । यत्कामिनी यन्नगराङ्गना विमानेन कलित क्रान्त व्योम  
यामिस्ता साक्षादप्सरसो दिव्याङ्गनं वामवत् । 'स्त्रिया बहुष्वप्सरस' इत्य-  
भिधानादेकत्वेऽपि बहुवचनप्रयोग कृत , यद्यस्मान्निजकेलिसौधशिखरादपादा-  
नात् स्वप्राणेश्वरस्य नमं हर्म्यं श्रीशसौध तस्य कटकान्नितम्बादातिथ्यग्रहात्  
स्वीकाराय तत्र त्रिथमार्थमित्यर्थः । उत्सुकमुद्युक्त गच्छन्तमित्यर्थः , पायोद  
मेघमारुह्य रसाशगाद् याती गच्छन्ती जध्वनि अभ्रतरसा मेघदेगेन हेतुना  
निमेष न प्राप । अत्र नगरामराङ्गनयोर्भेदोऽपि अनिमेषमेषारोहणव्योमयानं  
नैव इत्यभेदोक्तेरतिशयोक्तिभेदः । घादूल्विश्रीडिन वृत्तम् ॥ १०४ ॥

अन्वयः—यत्कामिनी विमानकलित-व्योमानः साक्षात् अप्सरस एव अभवत्,  
यत् निजकेलिसौधशिखरात् स्वप्राणेश्वरनमं हर्म्यं कटकातिथ्यग्रहात् उत्सुक पायो-  
दम् आरुह्य रसात् यान्तो अध्वनि अभ्रतरसा निमेष न प्राप ।

हिन्दी—जिस ( नगरी ) की कामिनी विमान द्वारा आकाश में यात्रा  
करती साक्षात् अप्सरा ही हो गयी थी, जो कि अपने क्रीडा-प्रासाद के शिखर  
से स्व-प्राणानाथ के क्रीडा गृह के मध्य आतिथ्य-ग्रहणार्थ, जाते हुए जलद पर  
आरोहण करके, अनुराग से जाती हुई, मार्ग में मेघ के वेग के कारण क्षण भर  
भी पलक न क्षपा पायी ।

टिप्पणी—केलप्रासाद की उत्सुकता द्योतित । कामिनी-सहज सौन्दर्य,  
मेघमान और अनिमेषता के कारण अप्सरानुत्पत्त्य लगती थी । प्रिय के प्रति  
उत्कटिता नादिका की शीघ्रता अपेक्षित रहती है, विलम्ब उसे छह नहीं

होता, अतः — 'अध्वनि निमेषे न प्राप'—सायं ये क्षण निमेष भर—क्षण भर को भी नहीं रुकी । मल्लिनाथ ने भेद में अनेककथन रूपा अतिशयोक्ति अलंकार का उल्लेख किया है, विद्याधर ने उत्प्रेक्षा का, चन्द्रकलाकार ने दो बार अनेक का अध्यवसाय होने से यहाँ दो अनिश्चयोक्तियों को मसूहें धीरे 'कटक', 'शितर' शब्दों से नमंद्भ्यं तथा सोथ की अत्युच्चता व्यक्त होने के कारण शब्द शक्ति-मूलवस्तु ध्वनि का निर्देश किया है । आहूँ लविक्रीडित छंद ॥ १०४ ॥

वैदर्भीकेलिशैले मरकतशिखरादुत्थितैरक्षुर्धर्म-  
ब्रह्माण्डाघातभग्नस्यदजमदतया ह्रीघृतावाङ्मुखत्वं ।  
कस्या नोत्तानगाया दिवि सुरसुरभेरास्यदेश गताग्रै-  
र्यदगोप्रासप्रदानव्रतमुकृतमविश्रान्तमुज्जृम्भते स्म ॥ १०५ ॥

जोवातु—वैदर्भीति । 'उत्ताना वै देवगवा बहुती'ति श्रुत्यर्थमाश्रित्याह—  
वैदर्भीकेलिशैले मरकतशिखरादुत्थितं अथ ब्रह्माण्डाघातेन भग्नो स्यदजमदो  
वेगगर्वा देया सत्तया ह्रिया घृतम् अवाङ्मुखत्वं यैस्तैरक्षोमुखं अतएव दिवि  
उत्तानगाया ऊर्ध्वंमूलाया इत्यर्थः । कस्या सुरसुरभे देवगव्या आस्यदेश  
गताग्रैरक्षुभिरेव धर्मयस्या नमर्मा सम्बन्धि गोप्रासप्रदानव्रतमुकृतमविश्रान्त  
नोऽजृम्भते स्म । किंतु सर्वस्य अपि प्रासदानाद्यसत्सुकृतमेवोऽजृम्भितमित्यर्थः ।  
अत्युत्तमालङ्कारोऽयमिति केचित् । अगुदर्भाणां ब्रह्माण्डाघाताद्यसम्बन्धेऽपि  
सम्बन्धोक्त्यतिशयोक्तिभेदः । अग्वरावृत्त 'अर्म्भयानां त्रयेण त्रिमुनियनिपुता  
याधरा कीर्तितैरभि'ति लक्षणात् ॥ १०५ ॥

अन्वय—वैदर्भीकेलिशैले मरकतशिखरात् उत्थितं ब्रह्माण्डाघातभग्नस्य-  
दजमदतया ह्रीघृतावाङ्मुखत्वं । दिवि उत्तानगाया कस्या सुरसुरभे आस्यदेश  
गताग्रैर्यदगोप्रासप्रदानव्रतमुकृतम् अविश्रान्तम् उज्जृम्भते स्म ।

हिन्दी—विदर्भ कुमारी ( दमयन्ती ) के श्रीरामचंद्र पर मरकतमणिनिर्मित  
शिखरों से उठी ब्रह्माण्ड के सघट्टन से वेगजात अभिमान के टूट जाने के कारण  
सज्जा से नीचे मुख चिपे स्वर्ग में ऊपर मुख करके जानेवाली किसी देवगी के  
मुखमें जिनके अधभाग चले जाते हैं, ऐसी, किरणा के अधभागों द्वारा जिसे  
( भगरी ) में गोप्रास प्रदान रूप व्रत का पुण्य अनवरत बढ़ रहा था ।

टिप्पणी—वैदर्भी के केलि-चैल को उच्चता चोतित है, जो मरकत का दना है, जिनसे निकलती किरणों के अक्षमाग उत्तानगा देवगो मे मुख के पहुँच गौ को प्राप्त खिन्नाते का पुण्य निरन्तर नगरी को दिनाते रहते हैं। केलि-चैल के मरकत रत्नों की किरणें बह्माब्द की ओर वेग से उठी, परन्तु बह्माब्द-सघट्टन से उनका वेग सब खटित हो गया और वे फिर नीचे की ओर गिरें कि उत्तानगा किसी मुरमुरभि के मुख में जा गिरें। इस प्रकार अनायास ही नगरी को गोप्राप्त देने का पुण्य मिलता रहा। मन्त्रिनाथ ने अवश्य में अवधारणरूपा अतिशयोक्ति का उल्लेख करते हुए यह भी बताया है कि कुछ टीकाकारों ने यहाँ अत्युत्तमालंकार भी माना है। बिद्याधर ने 'रुक्माश्रितयोक्ति' मानी है, चन्द्रकलाकार ('अष्टमै.' में) 'रुक्म, अतिशयोक्ति, प्रतीयमानोन्मेषा और उदात्त अलंकारों की संसृष्टि मानते हैं। सम्भरा छन्द है, जिसके प्रत्येक चरण में एक गगन (SS), एक रग (S), एक गग (S), एक गग (S), तीन गग (SS) के क्रम से इक्कीस वर्ण होते हैं। सात-सात-सात पर यति होती है—'प्रम्वयाना वयेन त्रिमुनियतिमुता सम्भरा कीर्तितेयम् ॥ १०५ ॥

विधुकरपरिरम्भादात्तनिष्यन्दपूर्णः

शशिदृपदुपकृष्टैरालवालैस्वरूपाम् ।

विकलिनजलसेकप्रक्रियागौरवेण

व्यरञ्चि स हृतचित्तमन्त्र नैमीवनेन ॥ १०६ ॥

जीवानु—विध्विति। तत्र तस्या नयमां शशिदृपदुपकृष्टैरालवालैस्वरूपान्तरि-  
कावर्द्धं अथ एव विधुकरपरिरम्भात् चन्द्रकिरणसम्पर्कात् हेतो आत्तनिष्यन्दं  
जन्मप्रसन्नवर्णरेव पूर्णैस्तरुणामालवालैर्विफलित व्यरञ्चिज्जलसेकस्य प्रक्रियाया  
प्रकारे गौरव भारो यस्य तेन नैमीवनेन स हसो हृतचित्तो व्यरञ्चि। कर्मणि  
तुङ्। अत्रात्वालाना चन्द्रकान्तनिष्यन्दासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्ति-  
भेदः। एतदारम्भ चतुर्लोकसर्वम् मालिनीवृत्त—'ननमयययुतेयं मालिनी  
मोगिलोर्करि'ति रुक्मपात् ॥ १०६ ॥

अन्वय—तत्र शशिदृपदुपकृष्टैः विधुकरपरिरम्भात् आत्तनिष्यन्दपूर्णः

तरुणाम् आलवालं विफलितजलसेकप्रक्रियागौरवेण भैमीवनेन स हृतचित्तो  
व्यरचि ।

हिन्दी—वहाँ ( नगरी में ) चद्रकातमणियों से बने अतएव चद्र किरणों  
के सम्पर्क से। पसीजने के कारण अपने ही जल प्रवाह से परिपूर्ण वृक्षों के  
आलवालों ( जलाधारों ) द्वारा जिसमें जल से सींचने की क्रिया का भार व्यर्थ  
है, ऐसे भीमगुता ( दमयन्ती ) के उपवन पर वह ( इस ) आकृष्टचित्त  
हो गया।

टिप्पणी—दमयन्ती की बाटिका में वृक्षों के आलवाल ( धाँवले ) चद्र-  
कात मणि से बनाये गये थे, चद्रमा निकलता, मणियाँ पसीजती और जल  
से आलवाल पूर्ण हो जाते । अपने आप ही सिंचाई हो जाती थी । बड़ी ही  
बिचित्र और मनोरम थी वह बाटिका कि मानव नहीं, पक्षी का भी चित्त  
उसमें रम गया । मल्लिनाथ ने यहाँ अतिशयोक्ति का निर्देश किया है और  
विद्याधर ने अतिशयोक्ति और उदात्त का । इसमें और अगले तीन ( १०७,  
१०८ १०९ वें ) श्लोकों में भी मालिनी छंद है, जिसके प्रत्येक चरण में  
दो नगण (।।।), एक मगण (SSS), दो यगण (ISS) कम से पंद्रह वर्ण होते हैं-  
आठ और सात पर वृत्ति होती है ॥ १०६ ॥

अथ कनकपत्रप्रस्तत्र ता राजपुत्री

सदसि सदृशभासा विस्फुरन्ती सखीनाम् ।

उडुपरिपदि मध्यस्यायिशीताशुलेखाऽ-

मुक्कणपटुलक्ष्मीमक्षिलक्षीचकार ॥ १०७ ॥

जीवातु—अथेति । अथ दर्शनानन्तर कनकपत्र स्वर्णवशी तत्र बने सदृश  
भासामात्मतुल्यलावण्यानां सखीनां सदसि विस्फुरन्ती 'स्फुरतिस्फुरत्योनिनिविम्य'  
इति पदवम् । उडुपरिपदि तारकासमाजे मध्यस्यायिष्या शीताशुलेखायाश्चन्द्र-  
कलाया अनुकरणे पटु समर्था लक्ष्मीं शोभा यस्या ता इत्युपमालङ्कारः । ता  
राजपुत्रीम् अक्षिलक्षीचकार अदाक्षीदित्यर्थः ॥ १०७ ॥

अन्वयः—अथ कनकपत्र तत्र सदृशभासां सखीनां सदसि विस्फुरन्तीम्  
उडुपरिपदि मध्यस्यायिषीताशुलेखानुकरणपटुलक्ष्मीम् अक्षिलक्षीचकार ।



हिन्दी—इस ( दमयन्ती-उपवन के दर्शन ) के उपरांत स्वर्णपक्षी ( हंस ) ने वहाँ ( बाटिका में ) समान वादित्वा सखियों की समामध्य विशेष रूपसे दीपती, तारों की परिपद् ने मध्यस्थिता (नेतृत्व करती) शीतकिरण (चन्द्र) की कला के अनुकरण में समर्थ शोभान्विता (दमयन्ती) को नेत्रमोचर किया ।

टिप्पणी—बाटिका में अनुपम रूपवती सखियों के मध्य विराजती दमयन्ती सुवर्णपक्षी को ऐसी प्रतीत हुई, जैसी कि तारिकाओं के मध्य चन्द्र-कला । दमयन्ती की सखियाँ भी उसी जैसी नहीं, तो उसी के समान सौंदर्य-छालिनी थी, दमयन्ती तो अनुपम सुन्दरी थी कि विचित्र पक्षी, सोने के पल-वाले राजहन् के नेत्र भी उसे देखते ही रह गये । उपमालङ्कार ॥ १०७ ॥

भ्रमणरयविकीर्णस्वर्णभासा खगेन

वदचन पतनयोग्य देशमन्विष्यताऽऽ ।

मुखविधुमदसीय सेवितु लम्बमान

शशिपरिधिरिवोर्च्चमण्डलस्तेन तेने ॥ १०८ ॥

जीवातु—भ्रमणेति । अधो भूतले वदचन कुत्रचित्पतनयोग्य देश स्थानम् अन्विष्यता गवेपमाणेन कथ एक भ्रमणरयेण विकीर्ण स्वर्णस्य भा दीक्षितस्म तेन खगेन अनुप्या अयम् अदसीयम् बृद्धाच्छ । 'त्यशदीनि चे'ति वृद्धिसज्ञा । मुखेन्दु सेवितु लम्बमान स समान शशिपरिधि चन्द्रपरिवेप इव उर्च्चमण्डलस्तेन तेने ॥ १०८ ॥

अन्वय —अधो वदचन पतनयोग्य देशम् अन्विष्यता भ्रमणरयविकीर्ण-स्वर्णभासा तेन खगेन अदसीय मुखविधु सेवितु लम्बमान शशिपरिधि-इव उर्च्च मण्डल तेने ।

हिन्दी—नीचे ( घरती पर ) कहीं उतरने योग्य स्थान को खोजते परिभ्रमण के वेग से सुवर्णदीप्ति विकीर्ण करते हुए उस पक्षी ( हंस ) ने जैसे उस ( दमयन्ती ) के मुखचन्द्र के सेवन के निमित्त सटकते चन्द्रपरिवेप के समान ऊपर महल लिया ( गोल चक्कर लगाया ) ।

टिप्पणी—घरती पर नीचे उतरते पक्षी का यह स्वभाव है कि वह गोल चक्कर लगाकर स्थान निश्चित करके तब उतरता है, राजहंसने भी ऐसा ही किया । कवि ने इसी पर यह बिम्ब-वर्णन किया है । लगा कि चन्द्र के निकट चन्द्र का घेरा 'फेम' आ रहा है दमयती का मुख चन्द्रमा है, स्वर्णाभा बिखेरता चक्कर लेता हंस उमका सुनहरी फेम है । हंस की 'सेवितुम्' क्रिया का भाव माराधन पक्षित ने 'परिधुम्बितुम्' लिया है, कुछ अन्य टीकाकार 'द्रष्टुम्' लेने हैं । वस्तुतः यह भाव अधिक स्वाभाविक लगता है कि मुख चन्द्र का प्रमामण्डल, जो पीछे छूट गया था, चन्द्र के चारो ओर लगने के लिए निकट आ रहा है—'सेवितुम्-उपमेवितुम्' । मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा-स्वभावोक्ति का सकर, विद्याधर की दृष्टि में रूपक उपमा-जाति की ममृष्टि ॥ १०८ ॥

अनुभवति सखीमि सा घृताचीमुखामि-

न सह सहचरोभिर्नन्दनानन्दमुच्चै ।

इति मतिरुदयासीत्पक्षिण प्रेक्ष्य भेमी

विपिनभुवि सखीभिर्मार्धमावद्वलेलाम् ॥ १०९ ॥

जीवात्—अनुभवतीति । विपिनभुवि वाप्रदेशे सखीमि सहचरीमि 'सत्यश्चिञ्चोति मापायामि'ति निगतनाङ् इङिप् । सार्धमावद्वलेलामुवद्वकीर्ण, 'क्रीडा खेला च कूर्दनमि'त्यमर । भेमी प्रेक्ष्य पक्षिण सा प्रसिद्धा सखी इन्द्राणी घृताचीमुखामि सहचरीमि नह इत्यमुच्चैःस्फुट्ट नन्दनानन्द नन्दनमुख नानुभवतीति मती बुद्धिरुदयासीदुत्थिता । अथ प्रेक्ष्य मतिरिति मनभक्त्यापेक्षया समानकर्तृकत्वाद् पूर्वकालत्वाच्च प्रेक्ष्येति क्त्वानिर्देशोपपत्तिः, तावन्मात्रस्यैव सत्प्रत्ययोत्पत्तौ प्रयोजकत्वात् । प्राधान्यत्वप्रयोजकमिति न चञ्चिद्विराध । यत्रोपमानादुरमेयस्याधिकयोस्तेष्वतिरेकालङ्कार 'भेदप्रधानसाधर्म्यमुपमानोपमेययो । आधिक्यादल्पकथाद्वयतिरेक स उच्यते ॥' इति रुतणात् ॥ १०९ ॥

अन्वय — विपिनभुवि सखीमि सार्धम् आवद्वलेला भेमी प्रेक्ष्य-घृताची-मुखामि सखीमि सह सा सखी इत्यम् उच्चै नन्दनानन्द न अनुभवति—पक्षिण इति मति उदयासीत् ।

हिन्दी—रूपवनप्रदेश में सखियों के साथ क्रीडाखता नीमपुत्री को देख पत्नी ( हस ) की ऐसी बुद्धि बनी कि घृताचीप्रभृति सहचरियों के साथ सन सुविख्यात इन्द्राणी यक्षी को इस प्रकार के प्रचुर आनन्द का नन्दन उपवन की क्रीडा में भी अनुभव नहीं होता ।

टिप्पणी—दमयन्ती की यक्षी, उसकी सखियों की घृताची आदि अप्सराओं और बादिका की नन्दनकानन से तुलना करते हुए दमयन्ती के क्रीडा-सुख की यक्षी के केलिमुख से अष्टेष्टता बताकर एक प्रकार से दमयन्ती-परिवेष की यक्षी परिवेष की अपेक्षा अष्टेष्टता घोषित की गयी है । मल्लिनाथ ने इसी आधार पर यहाँ व्यतिरेक अस्कार माना है, यों विद्याधर ने आतिमान का निर्देश किया है ॥ १०९ ॥

श्रीहर्ष. कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरस्सुत

श्रीहीरस्सुपुत्रे जितेन्द्रियधय मामल्देवी च यम् ।

द्वैतीयोक्तया मितोऽप्रमगमस्तस्य प्रबन्धे महा-

काव्ये चारुणि नैपथीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वल ॥ ११० ॥

जीवानु—श्रीहर्षमित्यादि । व्याख्यातम् । द्वितीय एव द्वैतीयोक्त, 'द्वैतीयादीकक् स्थायें वा वक्तव्य' इतीकक् द्वैतीयोक्तया मितो द्वितीयत्वेन गणित द्वितीय इत्यर्थ, आगतम् ॥ ११० ॥

इति मल्लिनाथसूरिविरचिताया 'जीवानु' समाख्यायां नैपथीयायां  
द्वितीय सर्ग समाप्त ॥ २ ॥

अन्वय — ( प्रथम सर्ग के समान ) कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः  
" सुपुत्रे, तस्य चारुणि प्रबन्धे महाकाव्ये नैपथीयचरिते अथ द्वैतीयोक्तया मितो निसर्गोज्ज्वल सर्ग आगतम् ।

हिन्दी—कविराजसमूह श्रीहर्ष के चारु प्रबन्ध महाकाव्य नैपथीय-चरित में यह द्वितीय रूप में परिगणित स्वभावमुन्दर-प्रकृतिचित्रो है शृङ्गारित सर्ग परिणति को प्राप्त हुआ ॥ ११० ॥

द्वितीय सर्ग समाप्त

# पद्यालुक्रमणिका

( द्वितीय सर्ग )

श्लोका	श्लोकाङ्का	श्लोका	श्लोकाङ्का
अखिल विदुषा०	२६	उवनम्रमया०	१२
अचिरादुपकर्मु०	१४	कलसे	३२
अथ कनकपटप्र	१०७	कुसुमानि यदि	२६
अथ भीमभुजेन	७३	चणनीरषया	७८
अथ भीममुखाव०	१६४	चितिगर्भधरा०	८१
अथवा भवत०	१६१	चिकुरप्रकरा०	२०
अथर किल	२४	जवनस्तनभार०	३८
अधिगत्य जगत्य०	१	जलमे रविसेवयेव	३८
अधुनीत खग	२	तदह विदधे	४७
अनया तव	४३	तदिद बिभ्रद०	४३
अनया सुरकाम्य०	४६	तदिहानवधौ	६०
अनलै	८७	तनुदीधिति०	४४
अनुभवति	१०३	तस्मृस्युगेन	३७
अनुरूपमिम०	४२	तव रूपमिद	४६
अपि तद्वपुषि	३१	तव वत्सनि	६२
अपि लोकयुग०	२२	तव संमतिमेव	४८
अवल०	१०	तवयि घोर	४४
अमित मधु	२६	दहसो न जनेव	७१
अमृतघुतिलक्ष्म	१०१	दधतो बहु०	६
अयमेकतमेन	३	दधदग्नुदनील०	८२
अपमेरय	६	हमनादमनाह्०	१७
अवष्टय	४१	दयित प्रति यत्र	७४
अवलम्ब्य	६६	घनुषी	३८
इति त स निवृज्य	६३	एतलाम्बन०	२६
उदर नवमभ्य०	३४	एताक्षपकोपा	३
उदर परिमाति	३६	न तुगविषये	२१

श्लोकाः	श्लोकाङ्काः	श्लोका	श्लोकाङ्काः
नमस्त-	६०	वयसो शिशुता०	१०
नलिनं मलिनं०	२३	वरण-कनकस्य	८६
न वभं पथि	७२	वितत नागिजापणे	६१
न सुवर्गमयी	१२	विशुद्धपरिरम्भा०	१०६
नृपनीलमणी०	७६	विशुद्धीधितित्रेन	६४
नृपमानसमिष्ट०	८	विनमद्भिरथ स्थितै०	७०
नगतश्चिरकाल०	७	विलम्बात्	७६
पतगेन भया	१६	विपमो मलया०	६७
परिस्तावत्पृच्छतेन	२६	वैजर्मन्विलिशैले	१०६
परिमृज्य	१०	मज्जते दिवि	८०
पृथुवर्तुल०	१६	शतश	६४
प्रविभासमसौ	२८	श्रितपुण्यसर०	६६
प्रविहृष्टपथे	८६	श्रियमेव	१६
प्रथमं पथि	८१	श्रीहर्षे कविराज०	११०
बलिसद्वन	८४	स गरुडनदुर्ग०	४
बहुकम्बुमणि०	८८	स जयत्परिसार्य०	१६
बहुरूपकशाल०	८३	सदृशी तव	९६
मज्जते खलु	६३	सममेममर्ष्यदा०	६३
मविता न	१६	स ययौ पुत्रपत्ति-	६८
मुवनत्रयमुमुखा०	१८	सरसी-	४०
मृशतापमृदा	२३	सितदीप्रमणि	७६
भ्रमगरयविकीर्ण०	१०२	सुदवीजन०	७७
मुन्यपाणिपदादिग	६६	मुपमाविषये	२७
मृगया न विगीयते	६	स्थितिशालिसमस्त०	६८
यद्गारघटा०	८६	स्वहृजोर्ज्वयन्ति	६१
यदतिविमलनील०	१०३	स्वप्राणेश्वरनर्म०	१०४
यद्वादिष०	११	स्वरचारणया	६६
रचयोऽस्तमितस्य	६०	हृदयदत्तसरोरुहया	२१
लिलिहे स्वरुचा०	१००		

## कथासार

( द्वितीय सर्ग )

राजैस्ती दमयन्तिकां त्वयि तथा कर्त्ताऽस्मि रक्षा यथा

शक्रादीनपि हास्यतीति नृपति हसः वृत्तज्ञोऽभ्यधात् ।

एवं चेतस्वग साधवेप्सितमिति प्रोक्तः सः राज्ञा मुदा

प्रागुड्डीय ददर्श कुण्डिनगतो भैमीभटविष्कुटे ॥

—श्री रामकृष्ण कवि

राजा द्वारा मुक्त हो जाने पर हंस नलराज के प्रति अत्यन्त कृतज्ञता का अनुभव करने लगा । उसने कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा—‘हे राजन्, मैं आपके प्रति दमयन्ती को ऐसी अनुरक्त कर सकता हूँ कि आपकी तुलना में वह देवराज इन्द्र को भी नगण्य और उपहसनीय मानने लगेगी ।’ राजा का तो यह अभीष्ट ही था, उन्होंने हंस के इस प्रस्ताव का सहर्ष अनुमोदन किया और हस उड़कर वैभवशालिनी कुण्डिनपुरी में जा उतरा । वहाँ उसने क्रीडाराम में भीमराज-मुता दमयन्ती को देखा जो अपनी अपूर्व सुदरी सखियों के मध्य ऐसी दीप्त रही थी जैसे तारिकाओं के मध्य चन्द्रकला ।

## कथासार ( तृतीय सर्ग )

मामुह्यस्मि किमेपि नैमि चतुर्विन्नालोम्यि विस्ते दधि-  
 दधेग्नम्यस्ति मर्त्तं वृषोष्य बभूव तामुक्त्वा व्यरसोद्वय ।  
 तस्मै ब्रूहि तथा यथा स नृपतिर्मानुद्वहेदिषुना-  
 दिष्टो नीमजया खगो द्रुताति सिद्धिं नलापारपत् ।

—श्रीकृष्णरामकवि

विदर्भराज के झोडोद्यान में जा उतरे स्वर्णहंस पर विमुग्ध हुई दमयंती को अपने पीछे-पीछे नटकाता वह हंस एकान्त स्थल पर ले गया और उसे अपनी और नटनरेस की म्यिष्टि इस प्रकार बताया कि नटमुग्धा दमयंती का अनु-  
 राग सीधतर हो गया और उसने उकसाये जाने पर राज छोड़ हंस से प्रार्थना की कि वह नल के साथ उसका विशाह करा देने का सफल प्रयत्न अविलंब करे । दमयंती को समझा और कार्यसिद्धि का विश्वास दिला हंस निषध-  
 देश की ओर उड़ गया और दमयंती को उसकी सखियाँ राजमहल की ओर ले गयीं । हंस ने विरही नल को सब सुसमाचार सुनाया, जिससे वह व्यत्पानवित्त हुआ ।



# पद्यानुक्रमणिका ( तृतीयसर्ग )

श्लोकाः	श्लोकाङ्काः	श्लोकाः	श्लोकाङ्काः
अकाङ्क्षमेवात्ममुवाजितम्	१०	इत्युक्तवत्या	१७
अजस्रमारोहयि	१०६	इदं यदि	१०७
अनार्यमप्याचरितम्	१०७	इष्टेन पूर्तेन नलस्य	२१
अनैपघापैव	७१	इष्टागिमैश्वर्यविवर्तमस्ये	६४
अग्येन पत्या	११	उत्वाटनीयः	७
अन्योन्यसंगमवशाः	१२१	उन्मत्तमासाद्य	१२८
अभ्यर्थनीय	१२	एक सुधाशुनं	१११
अये क्रिययावदुपैषि	१३	कथितमपि वरेन्द्र	११२
अयाप्यते	६३	करेण धान्तेव	१२
अल विलङ्घय	८४	कमीकृतामीत्	१२१
अल विलम्ब्य	११	कामिर्न	१३
अलं सन्नधर्मविधौ	१०	काम	१२६
अवारितद्वारतया	४१	किञ्चित्तिरवचीनः	१४
अस्तित्व कार्यसिद्धेः	१३७	क्रियेत चेत्	२३
अस्मत्किल	३६	क्रीणीध्व	८७
अहो तपकल्पतरु-	१२०	चेतोवन्महारप्रभून्	१३७
आकुञ्चितान्या	१	तथाभिधात्रीमय	४६
आदर्शताम्	१६	तदेकदामीन्वः	८७
आस्ताम्	१२	तदेकलुब्धे इदि	८१
इतीरयित्वा विरहाम्	१३	तन्नैपघान्दतया	४६
इतीरिता पत्रस्येन	६७	तस्या दृशो नृपतिः	१२१
इत्यालप्यय	१२४	तस्यैव वा यास्यमि	४७



श्लोका	श्लोकाङ्का	श्लोका	श्लोकाङ्का
तामिहितैरप्यनुभाय	२	परवति दमयन्ति	१३४
मुल्यावयोमूर्तिरभूत्	१०२	पर्यङ्कवापन्न०	६६
स्व हृद्गता नैमि	१०५	पातुष्टंशालेख्यमयीम्	१०४
स्वचेतस	७०	पितुर्नियोगेन	७२
स्वप्रापकारप्रस्यति	११०	पीयूषघारा०	४२
स्वदुग्धच्छावलिभौक्तिकानि	१२७	पुण्येपुत्रिपुरेषु ते	१२८
स्वद्वयद्व०	१०१	बन्धनाश्वनानारत०	१२४
स्वयापि किं	७३	बन्धाय दिश्ये न	२०
स्वया विधेया	३४	विभेति श्रुतासि	११२
स्वयि स्मरात्रे	११५	भवद्वियोगाच्छिदुरा०	११३
दादामजीव स्वयि	८३	मल्लीतिमाधित्ससि	६८
दारिद्र्यदारि०	२५	मदन्यदाव प्रति	७५
धन्यासि बौद्धिर्भि	११५	मद्विप्रत्यम्	७८
भरातुरासाहि	६५	मघ्ये भुतीनाम्	६५
धातुर्नियोगादिह	१८	मनस्तु य मोरहावि	६६
धार्य कथ	१५	मन्दर समन्दार०	६१
धिवचपले	२५	महीमहेन्द्र० खलु	७१
धिकं च विधे	३२	यदि त्रिलोकी	४०
जलाश्रयेण	४५	यतो यदस्याजनि	६३
मलेन भाया	११७	यस्ते नव पल्लवित	१२१
मिलीयते ह्रीविपुर	३३	रविकान्तमयेन	३३
निशा शशाङ्कम्	४८	राजा स यज्वा	२४
नृपेण	५६	रषा निपिशाङ्कि०	१२
नेत्राणि	३	रेग्यामिरास्ये	३५
पदे पदे भाविनि	३१	रिपि हता भित्ति०	१०३

श्लोका	श्लोकाङ्का	श्लोका	श्लोकाङ्का
वरादिकोपक्रिययापि	८८	संज्ञाप्य न स्वध्वज०	३४
वाचं तदीयाम्	६०	मन्त्रानुवस्वेदमधूत्य०	१२३
वार्तापि नामन्यपि	४४	स भूमृदष्टावपि	८६
विचिन्त्य बाला०	६८	सरमि	१३३
विधिम्	२०	मरोजिनीमानस०	७६
विधे कदाचिद्०	११	सम्पापसुष्य०	११४
विना पत्रम्	३०	सहस्रपत्रासन	१६
वृषार्पयन्तीमपथे	१४	साधु स्वया	७७
बेलातिगस्त्रैण०	४६	सापीद्वरे शृण्वति	२६
व्यर्थाकृतं पत्ररथेन	६	मुवर्णशैलादवतीर्य	२२
शस्ता न	३	स्तनद्वये तन्निद	११८
शुक्लान्तसमोण०	६३	स्थितस्य रात्रावधिसरप	१०८
शृण्वन्	२८	स्मार ज्वरम्	१११
श्रव प्रविष्टा हव	७४	स्वस्तीधमप्यार्तमुदे	८२
श्रियन्तदालिङ्गन०	३१	स्वर्गापगाहेम०	१७
श्रिया नरेन्द्रस्य	३६	स्वलोकमस्माभिरित	२७
श्रीहरं कविरात्र०	१३६	हस तनी सन्निहितम्	४
श्रुतं स दृष्टव	८२	हंमाऽप्यसौ हसगते	१०
संप्रामभूमीषु	३८	हृत्तन्म यन्मन्त्रपते	१०७
सन्धीयतामाशु	८३		

# नैषधीयचरितम्

मल्लिनाथकृत 'जीवातु' टीकासहित-

सान्ख्य-सटिप्पण 'धन्विका' हिन्दीव्याख्योपेतम्

## तृतीयः सर्गः

आकुञ्चितान्यामय पक्षतिभ्या नमोविभागात्तरसाञ्चतीयं ।

निवेशदेसात्तत्तधूनपञ्च पपान भूमावपभैमि हस ॥ १ ॥

जीवातु—आकुञ्चितान्यामिति । अय मण्डलीकरणान्तर हस । आकु-  
ञ्चितान्या पक्षतिभ्या पक्षमूलान्या नमोविभागादाकाशदेसात्तरसा बेगेनावसीर्य  
निवेशदेगे उपनिवेशम्याने आनमी विस्तारिली धूती कम्पितौ च पक्षौ येन स  
तथा सन्तुर्भैमि नैम्या समीपे, सामीप्येऽप्यमीभाव, नपुंसक, ह्रस्वत्व च ।  
भूमी पपात । स्वभावोक्तिरलङ्कार ॥ १ ॥

अन्वय—अय हस आकुञ्चितान्याम् पक्षतिभ्याम् नमोविभागात् तरसा  
अवतीर्य निवेशदेसात्तत्तधूनपञ्च भूमी उपनैमि पपात ।

हिन्दी—विदर्भराज श्री वाटिका में पहुँचने जयवा चक्कर लगाने के  
परचात् स्वनहस पक्ष सिकोह कर आकाशमटल से बेगपूर्वक उतर कर बैठने  
के स्थान पर पक्षों को फँलाता और कपित करता धरती पर भीमसुता  
दमयती के निकट बैठ गया ।

टिप्पणी—मल्लिनाथ के अनुसार स्वभावोक्ति अलङ्कार, इसी को साहित्य-  
विद्याधिकार ने जाति बताया है, उनके अनुसार इस श्लोक में जाति और  
अनुप्रास है । इस सर्ग में आरम्भिक श्लोक से १२४ वें श्लोक तक उपजाति  
छन्द है । उपाति में इन्द्रवज्रा-उपेन्द्रवज्रा का मिश्रण रहता है, जैसा कि इनमें  
( प्रथम द्वितीय चरण में इन्द्रवज्रा तथा तृतीय-चतुर्थ में उपेन्द्रवज्रा ) है ।

उपजाति का लक्षण है—'स्यादिन्द्रवच्चा यदि तौ जगौ म , उपेन्द्रवच्चा जतजास्तवो  
गौ । अनन्तरोदोरितलदमभाजो पादो यदोयावुपजानयन्ता ॥' अर्थात्  
SS, SS, IS, दो SS (१, २ चरण), IS, SS, IS, दो = (३, ४ चरण) ॥१॥

आकस्मिकः पक्षपुटाहताया क्षितेस्तदा य स्वन उच्चचार ।

द्रागन्यविन्यस्तदृश म सस्या सम्भ्रान्तमन्त करणञ्चकार ॥ २ ॥

जीवातु—आकस्मिक इति । तदा पतनसमये पक्षपुटाहताया क्षिते ।  
अकस्माद्भूय आकस्मिक अष्टहेतुको निहंतु इत्यर्थः । य स्वनो ध्वनिहव-  
चार उत्पत्ति, स स्वन अन्मविन्यस्तदृश विषयान्तरनिविष्टहृष्टेस्तस्या भैम्या  
अन्त करण द्राक् क्षटिति सम्भ्रान्त ससंभ्रम चकार । अकाण्डेऽसम्भावितशब्द-  
श्रवणाच्चमस्कृतचित्ताऽभूदित्यर्थः । स्वभावोक्तिः ॥ २ ॥

अन्वय — पक्षपुटाहताया क्षिते आकस्मिकः यः स्वन तदा उच्चचार  
स अन्मविन्यस्तदृश तस्या अन्त करण प्राक् सम्भ्रान्त चकार ।

हिन्दी—हस्त के बैठते समय उसके पक्षयुगल से गाहूँ घरती से सहसा  
जो शब्द उत्पन्न हुआ, उसने किसी झूठरी और निहारती उस दमयन्ती के  
अन्त करण को झटिति संभ्रम में परिपूर्ण कर दिया ( उस शब्द से दमयन्ती  
चीक पड़ी और उसकी दृष्टि अपने पूर्वलक्ष्य से हट गयी ) ।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक के सहसा इसमें स्वभावोक्ति ( महिलावाय ) अपना  
जाति ( विद्याधर ) अलंकार है ॥ २ ॥

नेत्राणि वैदर्भमुतामखीना विमुक्तनत्तद्विषयग्रहाणि ।

प्रापुस्तमेकं निष्पारग्रह्य ब्रह्मेव चेतासि यतत्रतानाम् ॥ ३ ॥

जीवातु—नेत्राणीति । विदर्भणा राजा वैदर्भः । तस्य मुताया भैम्या  
सखीनां नेत्राणि विमुक्तास्तत्तद्विषयग्रहा तत्तद्व्यग्रहणानि अयत्र तत्तद्विषयासङ्गो  
यैस्तानि सति एवमेव चरम् अद्वितीयञ्च नोपाशम इति निष्पारग्रह्यमवाच्य  
रूपमनार, स्व स्वरूप च यस्य त पुरोर्गतिन ह्य तत्पदार्थभूतञ्च यतत्रताना  
मोगिना चेतासि ब्रह्म परात्मानमिव प्रापु, अत्यादरणाद्राशुरित्यर्थः ॥ ३ ॥

अन्वय — विदर्भमुतामखीनां विमुक्तनत्तद्विषयग्रहाणि नेत्राणि यतत्रतानां  
चेतासि ब्रह्म एव एव निष्पारग्रह्य तं ह्य प्रापु ।

हिन्दी—विद्वान्मनरेज की पुत्री की सखियों के नेत्र अपने-अपने विषयों का देखना त्याग कर जिस प्रकार वसुधारी योगियों के चित्त समस्त सासारिक विषयों को त्याग कर जवानीयस्वरूप ब्रह्म में लीन रहते हैं, उसी प्रकार जिसके रूप का ध्यान समभव नहीं है, ऐसे उस हंस को ( हो ) देखने लगे ।

टिप्पणी—इस श्लोक में हंस को अनिर्वचनीय ब्रह्म से समीप करते हुए कवि ने उस आनन्द की प्राप्ति का संकेत किया है, जो परमानन्द है, जिसे मनादिमय जितेन्द्रिय योगिजन ही प्राप्त कर पाते हैं । हंस न केवल अपूर्व सुन्दर था, आदरणी भी उत्पन्न करता था । उरमा अन्धकार । मयनि यहाँ नेत्र और ब्रह्म के सादृश्य में निम्नवचनता और निम्नलिङ्गता है, तथा वह उड़ने का कारा नहीं बनता, अन्ध दोंप नहीं है । दही के अनुसार—'न लिङ्ग-अवने मिले न हीनाधिकतापि वा । उपमाद्रूपनायाच यत्रोद्देगी न भीमताम् ॥३॥

हम तनौ सन्निहित चरन्त मुनेर्मनोवृत्तिरिव स्वकायाम् ।

ग्रहीतुकामादरिणा दयेन यत्नादसौ निश्चलता जगाहे ॥ ४ ॥

जीवातु—हंसमिति । जसो दमयन्ती मुनेर्मनोवृत्तिरिव स्वकाया स्वकीयाया 'प्रत्यक्षम्यात्मात् पूर्वस्थे'तीकार' । तनौ धरीरान्तिके अन्यत्र तदन्त्यन्तरे सन्निहितमासन्नमाविनू'त च चरन्त सञ्चरन्त बर्तमान च हंस मराल परमात्मान च, 'हंसो विद्वङ्गमेदे च परमात्मनि मन्त्र' इति विश्व' । अदरिणा निर्भयिण दयेन पाणिना 'दरो खिया भये श्रेत्रे', 'पक्षपाख दान पागिरि'त्यमर' । अन्यत्र आदरिणा आदरवता जागयेन चित्तेन ग्रहीतुकामा साक्षात्कर्तुकामा च यत्नात् निश्चलता निश्चलान्कृत्य जगाहे जगाम ॥ ४ ॥

अन्वय — बनी सन्निहित चरन्त हंस दरिणा ( अदरिणा वा ) दयेन ( आदरिणा आदरेण वा , ग्रहीतुकामा मुने मनोवृत्ति इव स्वकाया तनौ यत्नात् निश्चलता जगाहे ।

हिन्दी—उस दमयन्ती ने निकट विचरण करते उस हंस को ढरते ढरते ( अथवा निर्भय ) हाथ से ( अथवा आदरपूर्ण भावना से ) पकड़ने की इच्छा से जिस प्रकार ( ब्रह्मज्ञान निष्ठ हो ) मुनि अपनी मनोवृत्तियों को अपने शरीर में प्रयत्नपूर्वक निश्चेष्ट कर लेते हैं, उसी प्रकार अपने शरीर में निश्चलता को ला दिया ।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक में हस-दर्शन सुख की तुलना ब्रह्मानन्द से की गयी, इस श्लोक में हस-प्राप्ति की क्रिया को मुनियो द्वारा आदरपूर्वक आचरित ब्रह्म-निष्ठसाधना से उपमित किया गया है। विद्याधर ने यहाँ उपमाभकार माना है, चन्द्रकलाकार के अनुसार यहाँ श्लेष और उपमा का अङ्गाङ्गिभाव सकर है ॥ ४ ॥

तामिङ्गितैरप्यनुमाय मायामय न धैर्याद्विदुत्पपात ।

तत्पाणिमात्मोपरिपातुक तु मोघ वितेने प्लुतिलाघवेन ॥ ५ ॥

जीवानु—तामिति । यय हसस्तां पूर्वोक्ता माया कपटमिङ्गितैरप्येष्टितैरनुमाय निश्चित्यापि धैर्यात् स्वैर्यमास्थाय स्यल्लोपे पचमी । विपदाकाश प्रति मोत्पपान मोत्पतितवान् आत्मन उपरि पातुकम्पतयात् 'लपपते'त्यादिना उक्तं प्रत्यय । तस्या पाणि तु प्लुतिलाघवेन उत्पत्तनकौशलेन मोघ वितेने विफलयत्नम् अकरोत् आशाञ्च जनयति न तु पाणी लगतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

अन्वय—अयं तं भैम्या मायाम् इङ्गितै अनुमाय अपि विदुः न सत्यपात, आत्मोपरिपातुक तत्पाणि तु प्लुतिलाघवेन माघ वितेने ।

हिन्दी—वह हस मीमसुता की उस माया ( कपटनिश्चलता ) का सकेतो से अनुमान करके भी आकाश में नहीं उड़ गया, किन्तु पकड़ने के लिए अपने ऊपर गिरते हाथ को उसने अपनी फुदक जाने की अनुरता से व्यर्थ कर दिया ।

टिप्पणी—मावार्थ यह कि हम ने इधर-उधर फुदक कर बच जाने की चेष्टा करते हुए स्वभाविकता की रक्षा की, सरलता से यह प्रकट न होने दिया कि वह दोष्य संपादन के लिए ही आया है । जाति भलकार ॥ ५ ॥

व्यर्थीकृत पत्ररयेन तेन तथाऽवसाय व्यवमायमस्या ।

परस्परामर्षितहस्तताल तत्तालमालीभिरहस्यतालम् ॥ ६ ॥

जीवानु—व्यर्थीकृतमिति । अस्या भैम्या व्यवसाय हनप्रहणोद्योग तेन पत्ररयेन पक्षिणा व्यर्थीकृत तथाऽवसाय ज्ञात्वा तत्काल तस्मिन् काले अत्यन्त-सयोगे द्वितीया । स एव कालो यस्येति बहुव्रीहौ त्रिधाविशेषण वा । परस्वरा परस्परस्यामित्यर्थः । 'बर्भन्धतिहारे भवंनाम्नो द्विर्भावि समासबच्च बहुमि'ति बहुलप्रहणादसमासबद्धावे पूर्वपदस्य प्रथमैकवचने वस्वादित्वादिमजनीयस्य

सत्त्वमुत्तरपदस्य यथायोगं द्वितीयाद्येकवचनं 'स्त्रीनपुंसकनोरुत्तरपदस्याया विनक्ते-  
राम्नावो वक्तव्य' इति विकल्पादानादेशः । अनितहस्तताल दत्तहस्तताटन  
यथा तथा आलीनि नखीनिरागम् अत्ययम् अहम्यत हसितम् । भावे लङ् ॥६॥

अन्वय—तेन पत्ररथेन अग्रा, व्यवसाय तथा व्यनीकृतम् अवसाय  
आलीनि तत्काल परस्पराम् अपितहस्तताटनम् अगम् अहम्यत ।

हिन्दी—उस हस्त के द्वारा उस ( दमयन्ती ) के हस्त-मकड़ लैने के उद्योग  
को उस प्रकार ( प्लुतिगद्यव द्वारा ) व्यय कर दिया जान कर ( दमयन्ती  
की ) सखियों उस समय हाथ पर हाथ मार कर, हाथों, बजाती हुई जोर  
से हसने लगीं ।

टिप्पणी—हिन्दी की अमरकृतियों पर हंसना मानने का सामान्य स्वभाव  
है जिसमें ईर्ष्या प्रत्यक्ष कारण नहीं होती। प्रयुक्त एक प्रकार का विनोद होना  
है, यद्यपि असफल व्यक्ति को सोम होता होता है ॥ ६ ॥

उच्चाटनीय करणात्किना दानादिदानो भवतीतिरेय ।  
यात्रवेति मा दृष्टानि महामेव नाप्रत्युत्पल्लम्भि मयाल्लिङ्गा ॥७॥

जोदानु—उच्चाटनीय इति । हे मत्स्य । भवतीतिरेय, दृष्टानि करणात्-  
काना दानादगमोपहस्तताटनकरणादुच्चाटनीय निष्काशनीय किमिति  
काहु, उच्चाटनीय एवेत्यर्थः । अत्र आमु मय्ये या माममेति सा महामेव  
दृष्टति मा त्रिधासतीत्यर्थः । 'कृषद्रहे'त्यादिना सम्प्रदानत्वात् अनुयी ।  
इतीत्य तथा भैम्या आलिङ्गनं सखीसुध उपागमि यथापि, सापेनैव निवारित  
इत्यर्थः ॥ ७ ॥

अन्वय—करणात्किना दानात् इदानीं भवतीति एव उच्चाटनीय ।  
अत्र या माम् अनेति, सा महाम दृष्टति एव—इति तथा आलिङ्गाः उपागमि ।

हिन्दी—ताली इत्यादि बजाकर इस समय आपलोगों द्वारा इस हस्त को  
उठा देना उचित है ? ( अपितु अनुचित है । ) अब आप लोगों में से जो भी मेरे  
पीछे जायेगी, वह मेरे साथ द्रोह करेगी—इस प्रकार उत्र ( दमयन्ती ) ने  
अपनी सखियों को उपागम दिया ।

टिप्पणी—सखियों द्वारा किये उपहास पर दमयन्ती की स्थानाविक  
प्रतिक्रिया । प्रदन चरण में काहु ॥ ७ ॥

धृताल्पकोपा हसिते सखीना छायेव भास्वन्तमभिप्रयातुः ।

श्यामाऽहसस्य करानवाप्तेर्मन्दाक्षलक्ष्या लगति स्म पश्चात् ॥ ८ ॥

जीवातु—धृतेति । अथ सखीनिवारणानन्तर सखीना हसिते हासनिमित्तं धृताल्पकोपा तामु ईषत्कोपा इत्यर्थः । भास्वन्तमभिप्रयातु सूर्याभिमुख गच्छत छाया अनातपरेखेव श्यामा जीवनमध्या 'श्यामा जीवनमध्यस्था' इत्युत्पल-मालायाम् । अन्यत्र श्यामा नीला, हसस्य कर्मणि पठ्ठी । करेण हस्तेन अनवा-सेरग्रहणाद्वेतोर्मन्दाक्ष ह्रीस्तेन लक्ष्या उपलक्ष्या ह्रीणा सतीत्यर्थः । अन्यत्र हसस्य सूर्यस्य करानवाप्ते अशुसस्पर्शाभावात् मन्दाक्षैरपटुदृष्टिभिलम्ब्या ग्राह्या तै छाया लक्ष्यते न प्रकाश इति भावः । पश्चात्लगति स्म पृष्ठे लग्नाऽभूत् प्राण्याशया तमन्वगात् । 'रविश्वेतच्छदौ हसौ', 'बलिहस्तांघ्रव करा' इति चामर ॥ ८ ॥

अन्वय — अथ सखीना हसिते धृताल्पकोपा भास्वन्तम् अभिप्रयातु छाया इव श्यामा करानवाप्ते मन्दाक्षलक्ष्या हसस्य पश्चात् लगति स्म ।

हिन्दी— तत्पश्चात् सखियों के उपहास पर कुछ अल्प क्रोध करती, सूर्याभिमुख जाते व्यक्ति की सूर्य किरणों की अप्राप्ति के कारण श्यामल छाया के समान हस को हाथ से न पकड़ सकने से सलज्जा वह श्यामा ( सखी दमयन्ती ) हस के पीछे लग ली ।

'टिप्पणी—सूर्याभिमुख जाते व्यक्ति की छाया उसके समुख पड़ती है, किरणों का वहाँ न पहुँच सकना इसका कारण है । यहाँ 'करानवाप्ते' में 'कर' 'हस' और 'श्यामा' द्वयार्थक शब्द हैं, जिनका अर्थ किरण-हस्त, हसपक्षी-सूर्य और श्यामलछाया-सखी होते हैं । इसी आधार पर यहाँ किरणों के न पहुँच सकने से श्यामल छाया से 'श्यामा' दमयन्ती की तुलना की गयी है । दमयन्ती हस को हाथ में न पकड़ सकने से क्षुब्ध है, सखियों के उपहास से अल्प क्रुद्ध भी है, हस ग्रहण को असुख भी है । विद्याधर ने यहाँ इसी आधार पर उपमा मान-द्यवत्तता—अलङ्कार का विधान किया है ॥ ८ ॥

शस्ता ॥ हसाभिमुखो तवेयं यात्रेति ताभिदृष्टलहस्यमाना ।

साऽह स्म नैवाशकुनीभवेन्मे माविप्रियावेदक एष हस ॥ ९ ॥



जीवातु—इति । तदेव हस्तस्य इवेच्छस्य चानिमुखी यात्रा गमन न  
इस्ता न प्रशरता श्रेयस्वी न शास्त्रविरोधात् अमसन्तापलटदोषाच्चेति  
भाव । इतीत्ये तानि दलेन व्याजोक्त्या हस्यमाना सती भाविप्रियावेदको  
मङ्गलमूक्तित्वादागामिशुभमूचक एव हसो मे मम नाशकुनीभवेदेव, किंतु  
शकुनेनैव भवेदित्यर्थ । अपक्षी न भवेदिति च गम्यते 'शकुन' तु शुभाशसा-  
निमित्ते शकुन पुमानिति विश्व । 'अमूततद्भावे चि' विध्यादिसूत्रेण प्रायने  
छिद् । इत्याह स्म अवोषत्, 'ब्रूव पचानामि'त्याह्लादेश । एतेन तदीययात्रा-  
निषेधोक्तदोष परिहृतो वेदितव्य ॥ ९ ॥

अन्वयः—ते हसामिमुखी यात्रा पुनः इति । न—इति तानि दलहस्यमाना  
सा आह स्म—भाविप्रियावेदक एव हस एव, मे न अशकुनीभवेत् ।

हिन्दी—आपकी हस (सूर्य) के अभिमुख यात्रा (गमन) प्रशसनीय  
नहीं है (शास्त्रनिषिद्ध होने से अशकुन है)—इस प्रकार उन सखियों द्वारा  
छल-उपहसित होती उस दमन्ती ने कहा—भावी प्रिय का सूचक यह हस  
हस पक्षी ही है (सूर्य नहीं, जिसके समुख गमन शास्त्रविरुद्ध है), सो यह  
'शकुन' मेरे लिए 'अशकुन' (अशुन) न होगा ।

टिप्पणी—यहाँ द्वयर्थक 'हस' के प्रयोग से चमत्कार लाया गया है और  
राजहस को भावी प्रिय-मिलन का सूचक संकेतित कर शकुन (शुन) बताया  
गया है । यह नाटकीय 'पटाकारण' तुल्य है, जिसमें भावी का इङ्गित  
दे दिया गया है । चन्द्रकलाकार ने यहाँ श्लेषालंकार माना है, साहित्य-  
विद्याधरीकार के अनुसार यहाँ अपह्नुति और वक्रोक्ति शृङ्गार हैं ॥ ९ ॥

हसोऽप्यसौ हसगतेस्सुदत्ता पुरपुञ्चारु चल्न् बभासे ।

वैल्ह्यहेतोर्गतिमेनदीयामग्रेऽनुवृत्त्योपह्यन्निबोच्चैः ॥ १० ॥

जीवातु—एव दमवन्तीव्यापारमुक्त्वा सम्प्रति हंसस्य व्यापारमाह—  
हसोऽपीति । असौ हसोऽपि हस्तस्य गतिरिव गतिर्यस्यास्तस्या सुदत्ता  
पोननदन्ताया नैन्मा, सुदती व्याख्याना । पुरपुर बोध्याया द्विर्भावि ।  
अग्रे समतात्, चारु चल्न् रम्य गच्छन् सन् वैल्ह्यमेव हेतुस्तस्य  
वैल्ह्यहेतोः, अहो मामयनतिविदम्बयतीति तस्या अपि विस्मयजननायं-

मित्यर्थं । 'विलक्षो विस्मयान्वित' इत्यमर । 'पृष्ठी हेतुप्रयोग' इति पृष्ठी । एतदीयाङ्गतिमनुकृत्य अभिनीय उच्चैरुपहसन्निवेत्युत्प्रेक्षा, यभासे बभो लोके परिहासका तच्चेष्टाद्यनुकरणेन परान् विलक्षयन्ति ॥ १० ॥

अन्वय—हसगते सुदस्या पुर पुर चारु चलन् असौ हस अपि बलक्षयहेतोः तदीया गतिम् अनुकृत्य उच्चैः उपहसन् इव यभासे ।

हिन्दी—हसगामिनी, सुन्दर दाँतो वाली ( दमयन्ती ) के आगे आगे सुन्दरता से चलता वह हस भी दमयन्ती को नदय से व्युत् करने के निमित्त उसकी गति का अनुकरण करके उच्च स्वर से जैसे उपहास करता हुआ ही घोषित हुआ ।

टिप्पणी—यहाँ दमयन्ती के दो विधेयण दिये गये हैं, एक तो वह 'हस-गति' है और दूसरे 'सुदती' है । तो जिस हस की गति दमयन्ती का उपमान बनी है, वह तो उससे श्रेष्ठ हुआ ही, उसकी सुधृता और शीघ्र्य के समुख मानो सफेद दाँत भी सर्वश्रेष्ठ नहीं है । इस प्रकार दोनों विधेयताओं के मूल्य हो जाने से दमयन्ती का लज्जित होना स्वाभाविक ही है । इसके अतिरिक्त हस उसकी चाल का अनुकरण कर रहा है और यह पकड़ में भी नहीं आ रहा है—यह भी उपहास का कारण है । उत्प्रेक्षालकार, साहित्यविद्याधरीकार ने 'हसगते' में छुत्तोपमा का भी निर्देश किया है ॥ १० ॥

पदे पदे भाविनि भाविनी त यथा करप्राप्यमवेति नूनम् ।

तथा मखेलं चलता लतासु प्रतार्य तेनाचकृपे कृशाङ्गी ॥ ११ ॥

जीवातु—पदे पद इति । भावयन्तीति भाविनि हसग्रहणमेव मनसा भावयन्ती कृशाङ्गी भैमी भाविनि भविष्यत्यनन्तर इत्यर्थः । 'भविष्यति शब्दादय' इति साधु । पदे पदे त हस यथा करप्राप्य करग्राह्यनून निश्चितमवेति प्रयेति, तथा मखेल चलता गच्छता तेन हसेन प्रतार्य वञ्चयित्वा लतासु आचकृपे आकृष्टा, एकान्त नीतेत्यर्थः ॥ ११ ॥

अन्वय—भाविनी कृशाङ्गी भाविनि पदे पदे त यथा करप्राप्य नूनम् भवेति तथा मखेल चलता तेन प्रतार्य लतासु आचकृपे ।

हिन्दी—हंस को ग्रहण करने के आव से युक्त वह कोमलांगी ( दमयन्ती )

प्रत्येक आले चरण-विन्यास में उस हंस को जैसे ही निश्चयत हाथ-आने योग्य समझती, वैसे ही डीढ़ा सहित चलता-चलना वह (हंस) उसे बबना करके लवाओ के समीप ले गया ।

टिप्पणी—भाव यह कि हंस पीछा करती दमयन्ती को स्वेच्छ चलता एकान्त स्थली में ले गया वहाँ उसे नल-संदेश सुनाया जा सके । साहित्य-विशारदी के अनुसार टेकानुनास और जाति अलंकार ॥ ११ ॥

रथा निषिद्धालिङ्गनां यदेनां छायाद्विनीयां कल्याञ्चकार ।

तदा अनाम्नःकणभूपिताङ्गी स कीरवन्मानुषवागवादीत् ॥ १२ ॥

जीवातु—इति । रथा निषिद्धालिङ्गना निवारितसखीजना यदा छाया एव द्वितीया यस्यास्तामेकाकिनी कल्याञ्चकार विवेद, तदा अनाम्नःकण-भूपिताङ्गीं स्वेशम्बुलवपरिप्लुतसरोरं विभ्रान्नाशान्ता स हंस कीरवत् शुक्र-वन्मनुष्यस्यैव वाग्यस्य स सप्तवादीत् ॥ १२ ॥

अन्वय—यदा स रथा निषिद्धालिङ्गनाम् एता छायाद्विनीया कल्याञ्चकार तदा अनाम्नःकणभूपिताङ्गी कीरवत् मानुषवाक् अवादीत् ।

हिन्दी—बद उस हंस ने क्रोध से जिसने सखियों को साथ-आने में रोक दिया था, उस ( दमयन्ती ) को केवल छायासहचरी ( जिसके साथ केवल जाया ही है ऐसी, अकेली ) समझ लिया, तब अम से सजात स्वेदकणों ने सुगोमित अगोंवाली ( दमयन्ती ) से वह तोते के सदृश मानुषी वाणी में बोला ।

टिप्पणी—विशारद के अनुसार उपमा और रूपक अलंकार ॥ १२ ॥

अये । कियद्यावदुपैषि दूर व्यर्थं परिश्राम्यसि वा किमर्थम् ? ।

उदेति ते भीरपि किन्तु बाले विलोक्यन्त्या न धना वनालीः ? ॥ १३ ॥

जीवानु—अय इति । अये बाले । व्यर्थं कियद्दूर यावदुपैषि उपैष्यसि ? 'यावत्पुरा निपातमोर्लट्' । किमर्थं परिश्राम्यसि वा ? धना सान्ना वनालीर्वन-पक्तीविलोक्यन्त्यास्ते भीरपि नोदेति किन्तु ? ॥ १३ ॥

अन्वय.—अये कियद् दूर यावत् व्यर्थम् उपैषि, किमर्थं परिश्राम्यसि वा ? बाले, धना वनाली विलोक्यन्त्या ते भीरपि न उदेति किन्तु ?

हिन्दी—अरे, कितनी दूर तक व्यर्थ चली आ रही हो, जयवा किस लिए परिश्रम कर रही हो ( थक रही हो ) ? अरी वाले, सघन वनपक्तियों को देख कर तेरे मन में भय भी नहीं उत्पन्न होता क्या ?

टिप्पणी—नारायणी टीका के संकरण में 'व्यर्थ परिधाम्यसि किमित्थम्' पाठांतर है । उसके अनुसार 'व्यथम्' का पदच्छेद है 'वि + अथम्' अर्थात् 'वये इति व्यथंम् पश्यथम्'—'वि' अर्थात् पक्षी हंस के निमित्त वयो परिधम कर रही हो ? भाव यह कि एक पक्षी के लिए इतना श्रम व्यर्थ है । विद्याधर ने इस पद्य में उल्लेख्य अलंकार अनुप्रास माना है ॥ १३ ॥

वृथाऽर्पयन्तीमपथे पद त्वा मरुल्ललप्लवपाणिकम्पे ।

आलीव पश्य प्रतिपेधतीयं कपोतहुङ्कारगिरा वनाली ॥ १४ ॥

जीवातु—वृथेति । वृथा व्यर्थमेव न पन्था अपथम्, 'ऋक्पूरि'त्यादिना समासान्त अ, 'अपथ नपुसकम्' । तस्मिन्नपथे दुर्भाग्ये अकृत्ये च पद पाद व्यवसाय च अपर्ययती 'पद व्यवसितत्राणस्यानलक्षमाद्भिवस्तुष्वि'त्यमर । मदता ललन् चलन् पल्लव एव पाणिस्तस्य कम्पे कपोतहुङ्कारगिरा च वनाली आलीव सखीव प्रतिपेधति निवारयति, पश्य इति वाक्यार्थं कर्म । यथा लोके अभागंवृत्त सुहृज्जन पाणिना वाचा च धारयति तद्वदित्यर्थं । अत एव पल्लवपाणीत्यादी रूपकाद्ययणम् तत्सङ्कीर्णा वनाल्यालीवेत्युपमा ॥ १४ ॥

अन्वय —वृथा अपथे पदम् अपर्ययन्ती त्वाम् पश्य इय वनाली मरुल्ललप्लवपाणिकम्पे कपोतहुङ्कारगिरा आली इव प्रतिपेधति ।

हिन्दी—व्यर्थ अगम्य मार्ग में पैर धरती ( अथवा निषिद्ध आचरण करती ) तुझे देख, यह वनपक्ति वायु से हिलते पल्लवरूप करों की हिलायी, वृक्षतरो की 'गुदुरगूँ'—रूप वाणी द्वारा सखी के समान बरज रही है ।

टिप्पणी—'वनाली' ( प्रकृति ) का मानवीकरण—'पर्सानिफिक्वेयन' । पल्लवपाणि में रूपक, वनाली—आली में उपमा ॥ १४ ॥

धार्यं कथंकारमह भवत्या विषद्विहारी वसुधैकगत्या ।

अहो शिशुंस्त्वैव खण्डितं न स्मरस्य सख्या वयसाऽप्यनेन ॥ १५ ॥

जीवातु—पाथ इति । एकत्रैव गतिर्यस्यास्तथा एकगत्या वसुधायामेकगत्या

नूनात्रचारिण्येत्यथ । शिवनामवतदत्समास । भवत्या विपद्दिहारी वेचरोऽह  
कयङ्कार कयमित्यर्थं । 'अन्यथैव कयनित्यनुसिद्धाप्रयोगश्चेति'ति' कयशब्दो-  
पपदात्करोतेपमुल् । धार्यो घतुं ब्रूहीतु शक्य इत्यर्थं । 'शक्ति लिङ् च'ति  
चकाराच्छक्यार्थे कृतप्रत्यय । अनेन स्मरस्य सत्त्वा सखिना तदुद्दीपकेन वयसा  
यौवनेन सखिगणस्य भाषितपुस्तत्वात् पुबङ्गाव । न खण्डिन न निवर्तितम्  
अहो विरहदयसोरेकत्र समावेशादाश्चर्यनित्यर्थं । उभाधायत्वस्य वसुधागतिविय-  
द्विहारपञ्चायहेतुकत्वादेक वाक्यलिङ्गभेदस्तथा शैशवात्तण्डनस्य पूर्ववाक्यार्थ-  
हेतुकत्वादपर इति सञ्जातीयसङ्कर ॥ १५ ॥

अन्वय — वसुधैकगत्या त्वया विपद्दिहारी अह कयङ्कार धार्य ? अहो;  
स्मरस्य सत्त्वा अनेन वयसा अपि तव शिशुत्व न खण्डितम् ।

हिन्दो—धरती पर ही बल सक्नेवाली तेरे द्वारा, आकाश में विहाद  
करने वाला मैं भला किस प्रकार पकड़ा जा सकूँ ? अरे, नाम के मित्र इस  
वयस् ( यौवन ) ने भी तेरी शिशुता को नहीं मिलाया ।

टिप्पणी—नूमानचारिणी मानुषी कही गयनविहारी हय को पकड़ सकती  
है ? फिर भी वनयन्ती का हस को पकड़ने का यत्न देखी शैशवोचित  
प्रबोधना ही है । हस इन्ही पर व्यग करता च् रहा है—'इतनी बड़ी हो गयी,  
पर तेरा बचपन अभी नहीं गया ।' 'वयन्' के दो अर्थ हैं—( १ ) यौवन की  
आयु, ( २ ) पत्नी ( हम ) । नारायण ने तृतीय चतुर्थ चरण से सरविष  
वाक्य में 'काहु' का प्रयोग कर वाक्य गठन इस प्रकार किया है—'स्मरस्य  
सत्त्वा अनेन वयसा अपि तव शिशुत्व न खण्डितम्, अपितु खण्डितमेव ।' जयांश्च  
कामसदृश नल के मित्र मुझ हस पत्नी द्वारा दत्तका प्रत्य-श्वदेस तेरा बचपन  
खण्डित हो किया गया ही समझो । वहीं मन में प्रपन्न-बाजों पड़ी कि बचपना  
गया । विद्याधर ने यहाँ विरोध जोर विशेषोक्ति अलंकार भाने हैं, मस्तिनाथ  
के अनुसार यहाँ दो वाक्यलिङ्ग-भेदों का सञ्जातीय सङ्कर है ॥ १५ ॥

सहस्रपत्रासनपत्रहमवशम्य पत्राणि पत्रत्रिण स्म ।

अस्मादृशा चादुरमामृतानि स्वर्लोक्लोकेतरदुर्लभानि ॥ १६ ॥

जीवानु—अय प्रस्तुतोपयोपितया नित्रावय निवेदयति—सहस्रेति ।

सहस्रपत्रासनस्य कमलासनस्य पत्रहना वाहनहसा तेषां वशस्य कुत्स्य वेणोश्च पत्राणि वाहनानि पर्णानि च 'वशो वेणौ कुले वर्गे', 'पत्र स्याद्वाहने पर्णे' इति च विश्व । पत्रत्रिण स्म ब्रह्मवाहनहसवश्या वयमित्यर्थ । अस्मानिव पश्यन्तीति अस्मात्सामस्मद्विधाना 'त्यदादिष्वि'त्यादिना एते विवन् चाद्रुमु मुभापितेषु ये रसा शृंगारादय त एव अमृतानि स्वर्लोके लोका जना, 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमर । तेष्व इतरर्भेनुप्यर्दुर्लभानि लघुमशक्यानीत्यर्थ ॥ १६ ॥

अन्वय — सहस्रपत्रासनपत्रहसवशस्य पत्राणि पत्रत्रिण स्म अस्मादृष्टा चाद्रुसामृतानि स्वर्लोकलोकेतरदुर्लभानि ।

हिन्दी—हस कहने लगा—हम सहस्रदल कमल के आसनपर बैठनेवाले ब्रह्मा के वाहन हस के कुल रूप वश ( वास ) के की सततिरूप पत्ते पक्षी हैं, हम—जैसों के प्रियवचनरूप रस के अमृत स्वर्ग लोक से मिल लोको ( भू पातालादि ) के वासियों को दुर्लभ हैं ।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती हस को पकड़ तो सकती ही नहीं, हस का इस प्रकार उससे मिलन भी एक दुर्लभ संयोग ही है, सो अमृतरस से हसवचन सुनना बड़े सीमाय की बात है भूलोकवासिनी दमयन्ती के लिए । कामन के अनुसार ओज होता है अर्थ की प्रीति—'अर्थस्य प्रीतिरोज ।' विद्याधर के अनुसार यही ओज गुण है, क्योंकि 'मनुष्य' पद से वाच्य अर्थ के लिए 'स्वर्लोकलोकेतर' कह कर प्रीति लायी गयी है । उ होने यहाँ उल्लेख्य अलंकार छेदानुप्रास माना है । यों सामान्यत रूपक स्पष्ट है ॥ १६ ॥

स्वर्गापगाहेममृणालिनीना नालामृणालाग्रमुजो भजाम ।

अभ्रानुरूपं तनुरूपकृद्धि कार्यं निदानाद्धि गुणामधीते ॥ १७ ॥

जीवातु—अथ स्वाकारस्य ननकमयत्वे कारणमाह—स्वर्गेति । स्वर्गापगा स्वर्गदी तस्यां हममृणालियस्तासा या नाला बाण्डा यानि मृणालानि कदाञ्च । अत्र नालामृणालशब्दस्य शब्दानुशासन वेषा शब्दानामितिवत्समासे गुणभूतेन सर्व्वे च मोदव्य 'नालो नालममृणालियामि' इत्यमरवचनाप्राप्तेति स्त्रीलिङ्गनिर्देशे न च तत्रापि सन्देहः । तद् व्याख्यानेषु देशान्तरयोरोषेषु च

स्त्रीलिङ्गपाठस्यैव दर्शनात् । तथा च दशमं सर्गं प्रतीयते 'मृदुत्वमप्रौढमृणा-  
लनालया' इति, 'नाला स्याद्विषयक' इतिविश्व, 'तेषामप्राणि नुञ्जत इति  
तदनुज' वयमिति शेष । वप्राणुरूपामाहारसदृशीन्तनो शरीरस्य रूपश्चन्द्रि  
वर्णसमृद्धिम् 'श्रुत्यक्' इति प्रकृतिनाव । मज्जाम प्राप्ता स्म इत्यर्थ । तथा हि  
कार्यं जन्य द्रव्य निदानादुपादानात्, 'आख्यातोपयोग' इत्युपादानता गुणान्  
रूपादिविशेषणगुणान् अधीते प्राप्नोतीत्यर्थ । प्राप्तिविशेषवाचिनस्तत्सामान्य-  
रूपज्ञात् प्रायेण आहारपरिणतिविशेषपूर्विका प्राणिना कायकावय इति नावः ।  
सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यास ॥ १७ ॥

अन्वयः—स्वापगाहेमृणालिनीना नालामृणालाप्रमुजः (वयम्) अप्राणुरूपा  
तदुत्पत्तिं मज्जाम, हि कार्यं निदानात् गुणान् अधीते ।

हिन्दी—स्वगङ्गा में उत्पन्न स्वर्ण कमलिनियों के नाल—मृणालों का  
अप्रभाग खाने वाले हम अपने खाद्य के अनुस्यू ही शरीर घोना रूप समृद्धि के  
भाजन हैं, क्योंकि कार्य कारण से ही गुण प्राप्त करता है ।

टिप्पणी—नैयायिकों के अनुसार—'कारणगुण, कार्ये गुणानामन्ते'—  
कारण के गुण ही कार्य में जाते हैं, जैसे निदानादिकारण मृत्पिण्डादि से कार्य  
घट आदि में गुण जाते हैं । इसी प्रकार स्वर्णकमल भोजन से हंस का स्वर्ण-  
शरीर है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ सामान्य से विशेष का समर्थनरूप  
वर्णान्तरन्यास है, विद्याधर ने अर्थान्तरन्यास के साथ अनुप्रास भी उल्लेखनीय  
माना है ॥ १७ ॥

धातुनिर्गोपादिह नैपथीय लीलासरस्सेवितुमागतेषु ।

हैमेषु हंसेष्वहमेक एव भ्रमामि भूलोकविलोकनोक्तः ॥ १८ ॥

जीवातु—अथात्मन स्थावरेष्वन्वरेण कारणमाह—धातुरिति । धातु-  
ब्रह्मणो नियोगादादेद्यादिह भूलोके नैपथीय नलीय लीलासरस्सेवितु श्रीदा-  
सरणि विहर्तुमित्यर्थ । आगतेषु हैमेषु हैमविकारेषु । विकारार्थेऽण् प्रत्यय ।  
'नस्तद्धित' इति टिलोप । हंसेषु मध्ये अहमेव एव भूलोकविलोकने सक्त वतमुक्  
तु 'दुर्मना विमना अतर्मना स्यादुक्त उन्मना' इत्यमर । उच्छब्दात्कन्  
प्रत्ययान्तो निपात भ्रमामि पर्यटामि ॥ १८ ॥

अन्वय — पातु। नियोगात् इह नैषधीय लीलासर सेवितुम् आगतेषु हैमेषु हृषेपु एकः बह्वम् एव भूलोकविलोकनोत्कः भ्रमामि ।

हिन्दी—विधाता के आदेश से यहाँ ( पृथ्वी मण्डल में ) निषधराज के श्रीडासरोवर में विहारार्थ आये सुवर्ण हंसों में से एक मैं ही भूलोक के दर्शनार्थ उत्सुक हो भ्रमण कर रहा हूँ ।

टिप्पणी—इस पद्य में स्वर्ण हंस ने ब्रह्मलोक छोड़ अपने भूमण्डल पर होने का कारण स्पष्ट किया है ॥ १८ ॥

विधे कदाचिद् भ्रमणीविलासे श्रमातुरेभ्यस्त्वमहत्तरेभ्यः ।

स्कन्धस्य विश्रान्तिमदा तदादि श्राम्प्रामि नाविश्रमविश्वगोऽपि ॥ १९ ॥

जीवातु—अनवरतभ्रमणेऽपि श्रमजये कारणमाह—विधेरिति । कदाचिद्विधे ब्रह्मणो भ्रमणीविलासे मुद्रनभ्रमणविनोदे श्रमातुरेभ्य अवसन्तेभ्यस्त्वमहत्तरेभ्यस्वकुलवृद्धेभ्यस्वघस्यासस्य, 'स्कन्धो भुजशिरोऽसोऽस्त्री'त्यमर । विश्रान्तिमदा प्रादाम् । स्वयमेव एवाहमिदमर्थः । ददातेषु 'डि' 'गातिस्थे'त्यादिना सिचो लुक् । तदादि तरप्रभृति अविश्रममनवरत 'नीवासोपदेश'त्यादिना श्रमेर्घञि वृद्धिप्रतिषेध, विश्वगो विश्व गच्छन् अपि 'अथवापि श्रयत' इति गमेडप्रत्ययः । न श्राम्यामि न लिखे ॥ १९ ॥

अन्वय.—कदाचित् विधे भ्रमणीविलासे श्रमातुरेभ्यस्त्वमहत्तरेभ्यस्त्वस्य विश्रान्तिम् अदाम् तदादि अविश्रमविश्वगो अपि न श्राम्यामि ।

हिन्दी—किसी समय ( एकबार ) विधाता के भ्रमण विनोद में ( बाह्मी भूत ) श्रम से थके अपने गुरुजनो के कचे की मैंने विश्राम दिया था, तब से बिना विश्राम किये विश्वगमन करने पर भी मैं नहीं सकता ।

टिप्पणी—बिना थके विश्वयात्रा करने का कारण यहाँ हंस ने स्पष्ट किया । अपने गुरुजनो की सहायता कर उसने उन्हें सन्तुष्ट किया था, तभी से उसे यात्रा में थकान न आने की दामना प्राप्त हुई । काव्यलिंग अलंकार ॥ १९ ॥

व वाय दिव्ये न तिग्निश्च कश्चित्ताशादिरासादितपोष्यस्स्यात् ।

एकं विना मादृगि तप्तरस्य स्वर्भोगाम्य विरलोदयस्य ॥ २० ॥

जीवातु—अथ व्यापादिबन्धनमपि न मेऽस्तीत्याह—वन्धायति । मादृशि दिव्ये निरग्नि विषये विरलोदयस्य दुर्लभजमनो नरस्य मत्पत्यस्य प्रायेणैवविधो



नास्तीत्यर्थं । अन्यत्र विरो विगतरेफ स चासौ लोदयो लोदयवाश्च मत्वर्थो-  
योञ्ज्यात् । तस्य रेफस्यानाधिष्ठितलृकारस्य नलस्येत्यर्थः । शब्दधर्मोऽर्थ उपचर्यते,  
मुच्यत इति भोगं सुखं स्वर्गभोगस्य स्वर्गमुत्तम्य नाम्न तदप्रापकादृष्टमित्यर्थः ।  
स्वभावेत्तत्प्रापनत्वादिति भावः । तदेकं विना कश्चित् पाशादि पाशाद्यु-  
पायः । वन्धाय बन्धनार्थनासादितपौरुषं प्राप्तव्यापारो न स्यात् । स्वर्गभोग-  
नार्थकमुन्मादय, नोपायान्तरसाध्या इत्यर्थः । जस्माद्भूमसांक्ष्यं को भाम  
स्वर्गपदार्थं इति भावः ॥ २० ॥

अन्वयः—मादयि दिव्ये विरलोदयस्य नरस्य एकं स्वर्गभोगमाय  
दिना ऋदिभू पाशादि वन्धाय आसादितपौरुषं न स्यात् ।

हिन्दी—मेरे ममान अन्वेकि पक्षी के सम्बन्ध में किसी विरलजन्मा  
नर के एक स्वर्ग भोगने के भाग्य के अतिरिक्त कोई पाय ( जाल ) आदि  
बाँधने में सामर्थ्यशील न होगा ।

टिप्पणी—सामान्य पक्षी को जाल में पकड़ा जा सकता है, पर हंस  
सामान्य नहीं, दिव्य पक्षी है । उसे वही पकड़ सकता है, जिस विरल मनुष्य  
का स्वर्गभोग भाग्य हो । अन्य किसी में यह सामर्थ्य नहीं । 'विरलोदय  
नरस्य' का अर्थ 'नल' भी किया जा सकता है । प्रथम सर्ग में वर्णन है कि  
नल ने हंस को पकड़ लिया था, तो नल ऐसा मर्त्य प्राणी है, जिसमें दिव्य  
हंस को पकड़ने की क्षमता है । विग्रह है—विगत रेफ यस्य स विर, तस्य  
विगतरेफस्य स्थाने रुदय यस्मिन्मलस्य अर्थात् जिस 'नर' में से  
'र' हटा कर 'ल' का उदय हो गया है, वह 'नर' अर्थात् नल ॥ २० ॥

दृष्टेन पूर्वेन नलस्य वक्ष्यास्त्वर्गभोगमापि सुनन्त्यमर्त्याः ।

मर्त्येष्टा दोहदनेकतकेराकर्णित कोरकमुद्गिरन्ति ॥ २१ ॥

जीवन्तु—तच्च भाग्य नलस्यैवास्तीत्याह—दृष्टेनेति । इष्टेन यागेन  
पूर्तेन खानादिर्मर्त्या च । 'त्रिपुण्यं त्रुर्मेष्ट पूर्तेन खानादिर्मर्त्या'त्यमरः ।  
वक्ष्या वक्ष्यता इति प्राग्दीव्यतीयो यद्वत्स्य । अमर्त्या देवा नलस्यात्रापि  
भूलोके स्वर्गभोगं सृजन्ति स्वर्गसुखं सम्पादयन्तीत्यर्थः । ननु देवाश्च कथं लोका-  
न्तरवायान्तरभोग्यं स्वर्गमिच्छन्ति सृजन्तीत्याशङ्क्य दृष्टान्तेन परिहरति ।

महीरुहो वृक्षा दोहदस्य अकालप्रसवोत्पादनद्रव्यस्य श्लेकस्य जलश्लेकस्य धवने  
सामर्थ्यात् समानकालावाधन्ती उत्पत्तिविनाशावस्थेत्यावालिक उत्पत्त्यनन्तर  
विनाशीत्यर्थः । 'आकालिकदाद्य' तवचन' इति समानकालशब्दस्यावालिकशब्दादेशे  
ठवूप्रत्ययान्तो निपाठः । प्रवृत्ते त्वकालमव कोरकमुद्दिगरन्तीत्यर्थः । 'तरुगुल्म-  
लतादीनामकाले वृक्षलं कृतम् । पुष्पाद्युत्पादकं द्रव्यं दोहदं स्यात् तत्क्रिया'  
इति शब्दाण्येव । दोहदवशाद् वृक्षा इव देवता अपि उत्कटपुण्यवशाददेशकालेऽपि  
फलं प्रयच्छन्तीत्यर्थः दृष्टान्तालङ्कारः ॥ २१ ॥

अन्वयः—दृष्टेन पूर्वैर्न वक्ष्या अमर्त्यं अत्र अपि नलस्य स्वर्गोऽपि सृजन्ति,  
महीरुहो दोहदश्लेकधवने आकालिक कोरकम् उद्दिगरन्ति ।

हिन्दी—यज्ञक्रिया और कृपादि निर्माण इत्यादि से वक्ष में किये जा  
सकने योग्य अमर्त्य ( देव ) यही ( भूलोक ) भी नल के लिए स्वर्गभोगो  
की सर्जना कर देते हैं, ( अमर्त्य अर्थात् मनुष्योत्तर ) भू में उत्पन्न होने वाले  
वृक्ष खाद और सींचने की शक्ति से असमय ( भी ) कली उत्पन्न कर देते हैं ।

टिप्पणी—'स्वर्गोऽपि भाग्य' पुण्य कृत्यों से बनता है । यज्ञ, कृपा, तडाग आदि  
के निर्माण से प्रसन्न हो देवता मनुष्य को भूलोक में ही स्वर्ग सुल-सीमाग्य  
उपलब्ध कर देते हैं । वृक्ष में असमय कोरक दशन के उदाहरण से कथन को  
पुष्ट किया गया । दृष्टांत अलङ्कार—'अपर्विवेष पूर्वं यादृ यस्तो विरक्षित-  
तरयो । तादृशमन्य यस्येद्यत्र पुन सोऽत्र दृष्टान्तः ॥'—छट्ट ॥ २१ ॥

सुवर्णशैलावतीर्णं तूर्णं स्वर्वाहिनीवारिकणावकीर्णं ।

त वीजयाम स्मरकेलिकाले पक्षेनृप चामरबद्धसस्यै ॥ २२ ॥

जीवातु—स्वर्गोऽपि भाग्य—सुवर्णंति । सुवर्णशैला मेरोस्तूर्णमवतीर्णं अव-  
दह्य स्वर्वाहिनीवारिकणावकीर्णं मन्दाकिनीज-विन्दुवमृचते चामरेषु बद्ध-  
सस्यैस्तत्सस्यै पक्षे पतने स्मरकेलिकाले त नृप वीजयाम सार्वपक्षवीजनं  
सुरतयान्तिमपनुदाम इत्यर्थः ॥ २२ ॥

अन्वयः—सुवर्णशैलात् तूर्णम् अवतीर्णं स्वर्वाहिनीवारिकणावकीर्णं ।  
चामरबद्धसस्यै पक्षे स्मरकेलिकाले त नृप वीजयाम ।

हिन्दी—स्वर्णशैल मुमेरु से छट उत्तर कर स्वर्गो के जल-वर्णो से

व्यास चेंबर के समान ( अथवा कमरों ( देवों ) से सख्य अर्थात् मंत्री रखने वाले ) पक्षों से मुरखकेलि के समय हम उक्त राजा पर पक्षा झलते हैं ।

टिप्पणी—हृत् अर्थात् पक्षों से नल पर पक्षा झलते हैं और देव स्वर्णों की सज्जना । इस प्रकार समर्पण होने के कारण अमर्गों और हृत्-पक्षों में सख्य ( मैत्री, साध्य ) हुआ । साहित्यविद्यावरी के अनुसार उन्मा ॥ २२ ॥

क्रियेत चेत्साधुविभक्तिचिन्ता व्यक्तिसन्तदा सा प्रथमाभिधेया ।

या स्वौजसा साधयितुं विलसन्तावन्तमा नामपदं बहु स्यात् ॥ २३ ॥

जीवानु—क्रियेतेति । साधुविभक्तिचिन्ता सज्जनविभागविचारः क्रियेत चेत्सा नलाभिधाना व्यक्ति मूर्ति प्रथमाभिधेया प्रथम परिगणनीया । कृत या व्यक्ति स्वौजसा विलासं व्याप्तिभि तावद्बहु तथा प्रभूत नान्ति नामो नतिर्यस्येति—अनाकननस्य पद परराष्ट्र साधयितुं स्वायत्तीकृतुं क्षमा समर्था स्यात् । अन्यत्र साधुविभक्तिचिन्ता मतविभक्तिविचारः क्रियेत चेत् दश ना प्रथमा व्यक्ति अभिधेया विचार्या, या स्वौजसा 'सु औ जम्' इत्येता प्रत्ययाना विलासः । विस्तारैस्तावद्बहु अनेक नामपदं सुबन्तपदं 'वृक्ष' इत्यादिक पद साधयितुं निष्पादयितुं क्षमा । अत्राभिधाना प्रकृत्यर्थमात्रनियन्त्रितत्वाल्लक्षणया-द्वयानुपनयनमावेनाभावादप्रकृत्यर्थप्रतीतिर्ध्वनिरेव ॥ २३ ॥

अन्वय —साधुविभक्तिचिन्ता क्रियेत चेत् दश सा व्यक्ति प्रथमाभिधेया या स्वौजसा विलासं तावद् बहु अनामपद ( पक्षान्तरे नामपदम् ) साधयितुं क्षमा स्यात् ।

हिन्दी—( १ ) ग्लान्त यदि सज्जनों के विभाग की विचारणा की जाय तो वह व्यक्ति ( नल ) प्रथम कहा जायेगा, जो कि करने बल-पराक्रम के प्रभाव से अनेक अनुशा की अपने अधीन करने में समर्थ है । ( २ ) प्रथमादि विभक्ति पक्ष—यदि विवेकपूर्वक 'सुप्' आदि विभक्तियों का विचार किया जाय तो वह 'प्रथमा' विभक्ति ही प्रथम वाच्य होगी, जो कि सु-औ-जम् ( सभी वचनों के प्रथमों ) के विस्तार ( विसर्ग-लोप-आदेश आदि ) से अनेक नामपदों ( प्रातिपदिकों ) को निष्पन्न करने में समर्थ होगी ।

टिप्पणी—भाव यह है कि जिस प्रकार व्याकरण शास्त्र में प्रथमा विभक्ति २ नं० वृ०

सबसे महत्वपूर्ण है, क्योंकि सब विभक्तियों में वही पहिली होती है और उसी के एकवचन, द्विवचन, बहुवचन के सु-ओ जस् प्रत्ययों में विसर्गलोप, वृद्धि, दीर्घ करके 'बृक्ष' आदि प्रातिपदिका को सिद्ध किया जाता है, उसी प्रकार सबको अपने शौर्य औदाय आदि से स्ववश करने में, समथ राजा नल ही पृथ्वी मण्डल के सज्जनों में अग्रगण्य है। प्रथमा विभक्ति इस कारण भी सर्वप्रधान है कि अग्य किसी विभक्ति की अप्राप्ति में प्रथमा ही होती है—'प्र'दिपदिकार्थ-लिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा' (अष्टाध्यायी ३।३।४६)। कहा भी जाता है—'एकवचनमुत्सर्गत् करिष्यते'। प्रथमा विभक्ति कर्ता कारक की विभक्ति है, कर्ता ही सब कारकों में प्रधान होता है, क्योंकि सभी व्यापार कर्ताश्रित ही होते हैं—'व्यापाराश्रय कर्ता'। ऐसे ही राजा नल भी सर्वसामर्थ्यवात् होने के कारण सज्जनों में 'प्रथमामिधेय' है।

इस पद्य में अभिधाशक्ति के प्रकृतार्थमात्रनियमित होने के कारण और अनुपपत्ति के अभाव के कारण लक्षणा को अवकाश न होने से अप्रकृत (अप्रस्तुत) प्रथमा विभक्त्यर्थ की प्रतीति ध्वनि से होती है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ ध्वनि है, बिष्णुधर ने यहाँ समासोक्ति मानी है, क्योंकि सामान्यतः प्रथमा सबत्र विहित होती है—'सामान्येन प्रथमाया सर्वत्र विहितत्वात्समासोक्तिरलङ्कार' ॥ २३ ॥

राजा स यञ्चा विबुधव्रजत्रा कृत्वाऽध्वराज्योपमयेव राज्यम् ।

भुङ्क्ते श्रितश्रोत्रियमात्कृतश्री पूर्वं त्वहो शेषमशेषमन्त्यम् ॥ २४ ॥

जीवानु—राजेति । 'यञ्चा तु विधिनेष्टवान्', 'सुयजोर्ध्वनिप्', धिता आश्रिता ये श्रोत्रिया छान्दसा अधीतवेदा इत्यर्थः । 'श्रोत्रियश्छान्दसो समाधि' त्यमरः । 'श्रोत्रियश्छन्दोऽधीत' इति निपातः । तत्सात्कृता दानेन तदधीना कृता श्री सम्पद्येन स राजा नल अध्वरेषु यशज्यन्तदुपमया तत्सात्स्येनैव तद्वेद्येत्यर्थः । राज्य विबुधा देवा विद्वांसश्च तद्ब्रजत्रा दानेन तत्सन्नाधीन कृत्वा 'देये वा चे'ति चकारादितरत्र सातिप्रत्ययश्च, 'तद्वितरणा-सर्वविभक्तिरिति'त्यव्ययत्वम्, पूर्वं पूर्वनिर्दिष्टमध्वराज्य शेष हुतशेष भुङ्क्ते अन्त्य पश्चाग्निदिष्ट राज्य त्वशेष कृत्स्नमखण्ड भुङ्क्ते, अहो उपमुक्तादयः शेष

पूर्वस्यायेयस्य तथात्वम्, अत्वस्य अयेयत्वं कथं विरोधादित्याश्चयम्, अत एव विरोधाभासोऽङ्गार, अखण्डमिति परिहारः ॥ २४ ॥

अन्वयः—अधिनोत्रियसाम्प्रतश्चो भज्वा स राजा अश्वराज्योपमया एव राज्यं विदुषन्नज्जना कृत्वा अहो, पूर्वं ऐयम् अन्त्यम् अयेयं मुद्रुक्ते ।

हिन्दी—अपने आश्रयस्थ वेदाध्यायिजनो ( श्रोत्रियो ) को संपत्तिदान करनेवाला, धनकर्ता वह राजा अश्वर ( यज्ञ ) के घृत के सहस्र ही राज्य को विदुषो ( विद्वानों-देव ) के समूह के अधीन करके पहिले ऐय का भोग करता है, पश्चात् अयेय ( सम्पूर्ण ) का भोग करता है, यह आश्चर्य है ।

टिप्पणी—भाव यह है कि राजा नल विधिपूर्वक यज्ञादि सम्पन्न करता है, विद्वानों, देवों को समान-युक्ता करता है और समस्त राज्यस्वयं का भोग करता है, अर्थात् धर्मनिष्ठ, दानी और ऐश्वर्यशाली है । 'ऐय' और 'अयेय' में विरोध है । जो राज्य पहिले 'ऐय' ( अवशिष्ट ) रह गया है, वह पश्चात् 'अयेय' ( सम्पूर्ण ) कैसे होगा ? यह विरोध है । परिहार है कि 'ऐय' अर्थात् यज्ञ में देवयज्ञादि 'घृत' और 'अयेय' अर्थात् सम्पूर्ण राज्य, अर्थात् जैसे राजा नल यज्ञ में अर्पित करके यज्ञावशिष्ट घृत का उपभोग करता है, वैसे ही देव और विद्वानों को अर्पित करके सम्पूर्ण राज्य का उपभोग करता है ।

नारायण पट्टि ने 'अश्वराज्यं' का एक और विग्रह किया है—'अश्वनि मार्गे एव यज्ञाज्यम्' अर्थात् जो राज्य मार्ग में ही है, वह 'सर्वजनोपभोग्य' है, राजा नल जो उस समस्त का उपभोग कर लेते हैं, यह विरोध है अत आश्चर्य-कारण है, परिहार यह है कि सर्व-आधारण को दानयज्ञादि से संतुष्ट कर सम्पूर्ण राज्य-भोग करते हैं । भाव यह है कि नल जनेक यज्ञों के कर्ता और आसनुद्धाधरणी के अधिराज्य का भोग करते हैं ।

'ऐय-अयेय' के विरोध-परिहार के आधार पर मन्त्रिनाथ ने यहाँ विरोधाभास अलंकार माना है, विद्यावर के अनुसार यहाँ छेकानुशास और उपमा-उत्प्रेक्षा व्यतिरेक अलंकारों का संकर है ॥ २४ ॥

दारिद्र्यदंरिद्रविणोषवर्षेऽमोघमेघव्रतमधिसार्थे ।

सन्तुष्टमिष्टानि तमिष्टदेव नायन्ति के नाम न लोकनाथम् ॥ २५ ॥

जीवातु—दारिद्र्येति । दारिद्र्य दारयति निवर्तयतीति तस्य दारिद्र्य-  
दारिणो द्रविणोषस्य घनराशेर्वर्षेऽधिसार्थे विषये अमोघमेघव्रत वपुर्वत्त्व-  
लक्षण यस्य त सन्तुष्ट दानहृष्टमिष्टदेव यज्ञाराधितसुरलोकनाथ त नल के नाम  
इष्टानि न नायन्ति ? न याचन्ते सर्वेऽपि नाचत्येवेत्यर्थः । नायतेर्मा अयस्य  
दुहादित्वाद् द्विकर्मकत्वम् ॥ २५ ॥

अन्वय—दारिद्र्यदारिद्रविणोषवर्षे अधिसार्थे अमोघमेघव्रत सन्तुष्टम्  
इष्टदेव लोकनाथ त के नाम इष्टानि न नायन्ति ?

हिन्दी—दारिद्र्य को दूर भगानेवाले घन समूह की वर्षा के द्वारा याचक-  
समूह के मध्य जिसका मेघव्रत सन्तुष्ट हो गया है ( जो राजा नल उस मेघ  
के समान सन्तुष्ट है, जो जलघार बरसा कर लोह की सुल देकर सन्तुष्ट हो  
जाता है ), इष्टदेव ( हित कर राजा ययया जो देव यज्ञ कर्ता है अथवा जिसे  
देवता प्रिय हैं ), लोको के स्वामी से कौन इष्ट, धन आदि की याचना नहीं  
करते हैं ? सभी करते हैं ।

टिप्पणी—राजा नल धारासार जल बरसाने वाले बादल-जैसा दानी है,  
जिससे दान प्राप्त कर सबकी इच्छा पूरी हो जाती है । उससे सारा जगत्  
उसी प्रकार याचना करता है, जिस प्रकार प्रसन्न ब्रह्मादि देवों से याचना की  
जाती है । काकू बक्रोक्ति, अनुप्रास और उपमालंकार ॥ २५ ॥

अस्मत्किल श्रोत्रसुधा विधाय रम्भा चिर भामतुला नलस्य ।

तन्नामगन्धान्नलकूबर सा ॥ २६ ॥

जीवातु—अस्मदिति । सा प्रसिद्धा रम्भा नलस्यातुलामनुपमा भा सोन्दय-  
मस्मत् मत्त श्रोत्रसुधा विधाय वर्षेऽमृत कृत्वा रसादाकर्ण्येत्यर्थः । तत्र  
तस्मिन्ने अनुपमा सती त नलमनाप्यअप्राप्य, आहूपूर्वादान्नोते क्त्वो ल्यबादस-  
नज्मभास । अयया त्वसमासे ल्यबादेशो न स्यात् तन्नामगन्धात्तस्य नलस्य  
नामाक्षरस्यर्थादेर्नलकूबर कूबेरात्मज भेजे किल । तादस्तस्य सो-दर्पमित  
भाव ॥ २६ ॥

अन्वय—सा रम्भा नलस्य अतुला नाम् अस्मत् चिर श्रोत्रमुवा विधाय  
तत्र अनुरक्ता तम् अनाप्य तनामगन्धात् नलकूबर भेजे ।

हिन्दी—वह रम्भा ( अप्सरा ) नल की अतुलनीय रूप-कांति को हमसे  
चिरकाल तक कर्णामृत बनाने- उनमें गुरुरक्त हो गयी, किन्तु उसको प्राप्त  
न कर उसके नाम से छोड़ी सी समानता होने के कारण कूबर पुत्र नलकूबर  
को भजने लगी ।

टिप्पणी—पौराणिक कथा का आशय बना कर नल की प्रशंसा । स्वर्ग  
मुन्दरी रम्भा ने प्रेम के कारण नलकूबर को नहीं स्वीकारा, वह तो इसलिए  
उसको स्वीकार बैठी कि उसके नाम में भी 'नल' है । नल ही नहीं उसका  
नाम भी स्वर्गमुन्दरियों की सृष्टि का वस्तु है । विद्याधर के अनुसार छेकानु-  
प्राप्त और उत्प्रेक्षा ॥ २६ ॥

स्वलोकमस्माभिरित प्रयातं केलीषु तद्गानगुणान्निपीय ।

हा हेनि गायन् यदशोचिनेन नाम्नेत्र हाहा हरिगायनोऽभूत् ॥ २७ ॥

जोवानु—स्वलोकमिति । केलीषु विनोदगोष्ठीषु तस्य नलस्य कर्तुंगानि  
गुणान्निपीय इत अस्मात्प्रेम्णास्वलोकं प्रयातेरस्माभिर्हरिगायन इदगायको  
ग-घवं 'प्युद् चे'ति गायते शिन्धिनि णुट्प्रत्ययः । गायन् यद्यस्मात् हाहेत्य-  
शोचि, ततन्तेनैव कारणेनाम्नाहाहा अभूत्, आलापाक्षरानुकारादिति भावः ।  
हाहाहृत्स्वमाद्या ग-घर्वात्त्रिवीकसामित्पमरः । 'आलापाक्षरानुकार-  
निमित्तोऽयमाकारान्तं पुंसि चे'ति केचित् । 'हा हा खेदे हू हू हूँ ग-घर्वेभू अन-  
व्यय' इति विश्वः । अव्ययमेवेति मोक्षः अत्र शोकनिमित्तासम्बन्धेऽपि सम्बन्धा-  
दतिशयोक्तिः । तथा च ग-घर्वात्तिशायि गानमस्येति वस्तु व्यञ्ज्यते ॥ २७ ॥

अन्वय—केलीषु तद्गानगुणान् निपीय इत स्वलोकं प्रयातं अस्माभि  
हरिगायन गायन् यद् हा हा इति अशोचि, तेन नाम्ना एव हाहा अभूत् ।

हिन्दी—विनोदगोष्ठियों में उस ( नल ) का जो गान होता था, उसके  
गुणों को सादर सुनकर यहाँ ( भूलोक ) से स्वर्ग लोक में पहुँचे हम ( हर्षो )  
ने इन्द्र के गायक के प्रति 'हा-हा' इस प्रकार वह जो खेद प्रकट किया, उसी  
निन्दा से उसका 'हाहा' नाम पढ़ गया ।

टिप्पणी—‘हा हा’ खेद सूचक अव्यय भी है, और ‘हाहा’, ‘हूँ’ नाम के दो गन्धर्व भी कहे जाते हैं। इसी शब्दसाम्य के आधार पर यहाँ असदय में सवध-रूपन है, अतः अतिशयोक्ति अलंकार है। भाव यह है कि नल का गान गन्धर्वों से भी अधिक मोहक है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ यह व्यंजित होता है कि नल का गान ‘गन्धर्वातिशायि’ है ॥ २७ ॥

शृण्वन् सदारस्तदुदारभाव हृष्यन्मुहुर्लोम पुलोमजाया ।

पुण्येन नालोकन नाकपाल प्रमोदवाप्पावृतनेत्रमाल ॥ २८ ॥

जीवातु—शृण्वन्मिति । नाकपाल इन्द्र सदार सवधूक तस्य नलस्य उदारभावमीदर्यं शृण्वन्त एव प्रमोदवाप्परानन्दाश्रुमिरावृतनेत्रमालस्तिरो-हितदृष्टिब्रज सन्पुलोमजाया शय्या मुहुहृष्यन्लानुरागादुल्लसत्लोमरोमाञ्च पुण्येन शय्या भाग्येन नालोकन नाकपश्यत् अथवा मानसव्यभिचारपराधाद् दण्डपैवेत्यर्थः ॥ २८ ॥

अन्वय —सदार नाकपाल तदुदारभाव शृण्वन् प्रमोदवाप्पावृतनेत्रमालः पुलोमजाया मुहु हृष्यत् लोम पुण्येन न आलोकतः ।

हिन्दी—अपनी परनी ( इन्द्राणी शची ) के सहित स्वर्ग का पालक इन्द्र उस ( नल ) के औदार्य को सुनता आनन्द अधुआ से नेत्र पूर्ण हो जाने के कारण पुलोममुता शची के बारबार होते रोमांच को उसके पुण्य के कारण ही न देख पाया ।

टिप्पणी—नल के वदाम्यभाव को सुनकर इन्द्र तो प्रसन्न होता ही था, जिससे आनन्दाश्रु उसके नेत्रों में भर जाते थे और वह कुछ भी देखने में असमर्थ रहता था, शची इन्द्राणी के मन में भी नल के प्रति अनुराग उत्पन्न हो रहा था, जिससे वह रोमांचित हो जाती थी। आनन्दाश्रुओं से नेत्र भरे होने से उस रोमांच को इन्द्र न देख पाया। यह इन्द्राणी का कोई पुण्य ही था, अन्त्या पर पुरुष में अनुरागवती पत्नी को या इन्द्र उसे मानसिक व्यभिचार की अराधिनी मानने लगता और क्रोध तथा ईर्ष्या से दग्ध हो उसे दण्ड देता। विद्याधर के अनुसार ऐकानुप्रास और भावोदय अलंकार ॥ २८ ॥



साज्जीश्वरे शृण्वति तद्गुणीधान् प्रमह्य चेतो हरतोऽङ्गम्भु ।

अभूदपणाङ्गिष्ठं निरुद्धकर्णा कदा न कण्ठ्यनकैतवेन ? ॥ २९ ॥

जीवानु—मेति । ईश्वरे हरे प्रमह्य चेतो हरता बलामनोहारिणस्तस्य नलस्य गुणीधान् शृण्वति इति सा प्रसिद्धा अर्थ शम्भोरखंडम्भु शम्भोरखंडा-  
ङ्गभूतेत्यर्थे । तथा चापत्तरपमशक्यमिति भाव । अपर्णा पार्वत्यपि कदा  
कण्ठ्यनकैतवेन कण्ठनोदनव्याभेन जडगुण्या दृष्टं पिहित कर्णो यया सा नानुसं  
अनुदेवेत्यर्थे । अन्यथा चित्तचलनादिनि भाव ॥ २९ ॥

अन्वय — ईश्वरे प्रमह्य चेत हरत तद्गुणीधान् शृण्वति सा अखंडम्भु  
अपर्णा अपि कण्ठ्यनकैतवेन कदा अङ्गुलिद्वयकर्णा न अनू ?

हिन्दी—महादेव के बलान् मनोहरण करनेवाले उस ( नल ) के गुणों का  
श्रवण करते समय उस शिव के अर्धांग अर्थात् पार्वती ने सुत्रलाने के व्याज से  
कब अँगुली से अपने कानों को नहीं मूँद लिया ? सदा ही मूँद लिया ।

टिप्पणी—इस श्लोकप्रात्र से नल के गुणों की आकर्षणशीलता का  
कथन है । पार्वती उमा शिव की अर्धाङ्गिणी है, शिव की अर्द्धनारीश्वर कहा  
जाता है । शिव-प्राप्ति के लिए उन्होंने तप करते पत्ते खाना भी छोड़ दिया  
था, इसी में उन्हें 'अर्णा' कहा गया—'पुनि परिहरे सुखानेठ परना, उमहि  
नाम तव मयठ अपरना ॥' ( रामचरितमानस, बालकांड, ७४।७ ) ।  
कालिदास ने बताया है—'स्वयं विचीर्णं द्रुमपणवृत्तिना परा हि काष्ठा तपसम्प्रया  
पुन । तदप्यनाकीर्णमतु । प्रियवदा वदन्त्यपरीति च ता पुराविद ॥' ( कुमार-  
सम्भव ५।२८ ) । वे पतिव्रताओं में अग्रगण्य हैं, किन्तु उनके पति, उनके  
अर्धांग शिव जब सटिति मनोहरण करनेवाले राजा नल के गुणों का श्रवण  
करत हैं, उस समय विवशतः पार्वती को भी नल-गुण-श्रवण करना होता है,  
जिससे पतिव्रत-भग की आशंका हो जाती है, अब अब-अब ऐसे अवसर  
आते हैं, वे कान सुत्रलाने के बहाने अँगुली से कान बंद करलेती हैं अथवा  
उनका चित्त चंचल हो सकता है । विद्याधर ने उत्पल जमिनाय के निरूहण  
के कारण इस पत्र में व्याजोक्ति अङ्कारमाना है ॥ २९ ॥

अल सजन् धर्मविधौ विधाना रगाद्धि मौनम्यमिषे वाणीम् ।

तत्कण्ठमालिङ्ग्य रमस्य तूष्ठा न वेद ता वेदजडः स वक्राम् ॥ ३० ॥

जीवात्—अत्रमिति । विधाता ब्रह्मा बलमत्यन्त धर्म्मविधौ सुवृत्ताचरणे सजन् धर्मासक्त सन्नित्यर्थ । वाणी स्वमाय्यां वाग्देवी वर्णात्मिकाञ्च मीनस्य वाग्यमनघ्नस्य मियेण रुणद्धि नलकयाप्रसङ्गाधिरुधे, तस्या उभयया अपि तदासङ्गभयादिति भाव । मन्त्रु वेदजड छान्दस्य विधाता तामुभयीमपि वाणी तस्य नलस्य कठ ग्रीवामालिङ्ग्य भूषमाधिरुध च रसस्य तृप्ता तद्वागस्य तुष्टामन्यन शृङ्गारादिरसपुष्टाञ्च । सम्बन्धसामान्ये पट्टी, 'पूरणगुणे' त्यादिना पट्टीनिषेधादेव ज्ञापकादिति केचित् । वक्रा प्रतिभूलकारिणो वक्रो-  
 दत्तमलङ्कारयुक्ताञ्च न वेद न वेत्ति, 'विदो लटो वे'ति जलादेश अशक्यरक्षा स्त्रिय इति भाव । अत्र प्रस्तुतवाग्देवीकथनादप्रस्तुतवर्णात्मकवाणीवृत्तान्त प्रतीति प्रागुक्तरीत्या ध्वनिरेवेत्यनुसन्धेयम् ॥ ३० ॥

अन्वय — धर्म्मविधौ सजन् विधाता मीनस्य मियेण अल वाणी रुणद्धि ( अथवा वाणी रुणद्धि अलम् ), वेदजड स तत्कण्ठम् आलिङ्ग्य रसस्य तृप्ता ता वक्रा न वेद ।

हिन्दी— धर्माचरण ( सध्यावदनादि ) में आसक्त ब्रह्मा मीन के मिस जल्यतता के साथ ( स्वपत्नी ) वाणी ( वर्णात्मिका वाक् और सरस्वती ) का निवारण करते रहते हैं ( अथवा वाणी का निवारण व्यर्थ ही करते हैं ), वेदाभ्यास से जड वे उस ( नल ) के कठ का आलिगन कर रस से तृप्त हुई उस वक्रा ( प्रतिभूला, वक्रोक्तिरूपा ) को नहीं जान पाते ।

टिप्पणी—आशय यह है कि नल रसध्वनियुक्ता वक्रोक्ति का पूर्ण ज्ञाता है । इसी आधार पर यह कल्पना की गयी है कि यद्यपि विधाता सध्यादि के बहाने बराबर मीन रहते हैं कि वहीं उनकी वाणी रूपा पत्नी वाक् इस प्रकार बाहर जाकर परपुरुष को न भबने लगे, पर वाक्, वाणी सरस्वती तो परम चतुरा है, वेदाभ्यासजड, बड़े ब्रह्मा जान ही नहीं पाते कि उनकी पत्नी सरस्वती उन्हें छोड़ शृंगाररसतृप्ता परपुरुष नल का कठालिगन कर आती हैं । शृंगारादि रसमयी जो वक्रोक्तियाँ नल के कठ से उद्भूत होती हैं, वे ही जैसे सरस्वती द्वारा उसके कठ का आलिगन है । प्रस्तुत वाग्देवी के कथन से अप्रस्तुत वाणी-व्यापार की प्रतीति हो जाने से

यहाँ मन्त्रिनाथ के अनुसार ध्वनि है, विद्याधर ने यहाँ छेकानुप्रास, ऊर्ध्वनुति और समासोक्ति का निर्देश किया है ॥ २० ॥

श्रियस्तदालिङ्गनभूर्नभूता व्रतस्त्रिः कार्जपि पतिव्रताया ।

समस्तभूतात्मनया न भूत तद्भर्तुरीप्सविलुपागृतापि ॥ २१ ॥

जीवानु—श्रिय इति । पतिव्रताया श्रियः श्रीदेव्या तद्भर्तुर्विष्णो नमस्तभूतात्मनया, सर्वभूतात्मन्त्वेन नलस्यापि विष्णुरूपत्वेनेत्यर्थः । तदालिङ्गनभूर्नलालेपमवा कापि व्रतव्रति पतिव्रतमङ्गो न भूता नभूत् । अत एव तद्भर्तुर्विष्णोस्तत्र ईप्सया नलालिङ्गनमुवा अक्षमया यत्कल्प कालुष्य मन क्षोभ दुःखादित्येन अन्य धर्मेवमिषचनत्वादत इव कीरस्वामी 'शस्त चाय त्रिपु श्रव्ये पाप पुन्य सुखादि चैत्यत्र आदिशब्दाच्छ्रेयकल्पसिद्धमन्त्रादय इति उभयवचनेषु सजग्राह । तस्यापुना ऐशेनापि न भूत नामावि । नपुसके भावे वत । अत्र दध्यादिषित्वाचल्योक्तेर्नलत्तोन्मर्षे तात्पर्यात्तानौचित्यदोषः ॥ २१ ॥

जन्मय —पतिव्रताया श्रियः तदनर्तुं समस्तभूतारन्तया तदालिङ्गनमुकार्जपि व्रतव्रति न भूता, तदनर्तुः ईप्साकमुपागृता अपि न भूतम् ।

हिन्दी—पतिव्रता श्री ( लक्ष्मी ) के पति विष्णु के सर्वभूतात्मा होने के कारण उनके उस ( नल ) के आश्रित से उत्पन्न किसी प्रकार के पतिव्रत जादि का क्षय नहीं हुआ और ( इसी कारण ) उनके स्वामी विष्णु के हृदय में ईप्सावृत्ति कालुष्य का अधु भी नहीं उत्पन्न हुआ ।

टिप्पणी—शोभासरगता, राजलक्ष्मी इत्यादि के कारण नल श्रीसरग है, अर्थात् श्रीद्वारा आश्रित है, परन्तु फिर भी उनका पतिव्रत-भग नहीं होना, क्योंकि उनके पति विष्णु ही सर्वभूतारमा होने में सब में व्याप्त हैं, अर्थात् सब विष्णुरूप ही हैं । नल भी विष्णुरूप है, इस प्रकार लक्ष्मी का पतिव्रत भग नहीं हुआ । विष्णु के मन में ईप्सादिव्य मलिनता भी नहीं उत्पन्न हुई, क्योंकि वे अपनी सर्वभूतात्मता से परिचित हैं । वे जानते हैं कि श्री उनका आश्रित करके एक प्रकार से उनसे विश्व का ही आश्रित करती हैं । आशय यह है कि राजा नल विष्णु के समान श्री-शोभा-नामधेय सपन्न है । मन्त्रिनाथ ने बताया है कि इन श्लोकों में कवि का आशय नल के

सौन्दर्यातिशय का निरूपण करना है, अतएव घची, उमा, सरस्वती और लक्ष्मी के पातिव्रतभग का अनौचित्य नहीं मानना चाहिए । विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग अलंकार है ॥ ३१ ॥

धिक् त विधेः पाणियजातलज्ज निर्माति ॥ पर्वणि पूर्णमिन्दुम् ।

मन्ये स विज्ञ स्मृततन्मुखश्रीः कृतार्घमौज्जद्भवमूर्ध्नि यस्तम् ॥ ३२ ॥

जीवात्—धिगिति । तमजातलज्ज निस्त्रप विधे पाणि धिक् य पाणि स्मृततन्मुखश्रीरपि पवणि जातावेकचन पर्वस्विरप्यं । पूणमिन्दु निर्माति अद्यापीति भाव । ॥ विज्ञ अमिज्ञ इति मन्ये य, पाणि स्मृततन्मुखश्री सन तमिन्दु कृत अर्घं एकदेशो यस्य त कृतार्घमर्दनिमित्तमेव भवमूर्ध्नि हरशिरसि औज्जत् । अतिसौन्दर्ययुक्तमस्यास्यमिति भाव ॥ ३२ ॥

अन्वय — स्मृततन्मुखाश्री य पर्वणि पूणम् इन्दु निर्माति अजातलज्ज स विधे पाणि धिक्, मन्ये य भवमूर्ध्नि त कृतार्घम् औज्जत् ॥ विज्ञ ।

हिन्दी—उस ( नल ) की मुख घोमा का स्मरण होते हुए भी जो पूर्णिमा को पूर्ण चन्द्र का निर्माण करता है, उस निर्लज्ज विद्याता के हाथ को धिक्कार है, मैं मानता हूँ कि जिस ( विधिहस्त ) ने शिव के मस्तक पर उस ( चन्द्र ) को आधा रचकर छोड़ दिया, वह विशेषज्ञ है ( समझदार है ) ।

टिप्पणी—एक रमणीय रचना करके उसके पश्चात् उससे उत्कृष्ट ही निर्माण करना उचित है, अथवा एक उत्तम आदर्श देखकर उससे निकृष्ट रचना तो निरात अनुचित है । विद्याता के हाथ ने ऐसा किया । नल का रमणीय मुख देखकर, उसे ध्यान में रखते हुए भी जो वह प्रति पूर्णिमा को पूर्ण चन्द्र का निर्माण करता है, वह अकुशलता ही विज्ञापित करता है, क्योंकि नल के मुख की घोमा के समुच्च, पूर्ण चन्द्र नगण्य है । हाँ, शिव के मस्तक पर जो उसने चन्द्र को आधा बना के छोड़ दिया, यह क्षतुरता दिखायी । आश्चर्य है कि नल का मुख चन्द्र से कहीं अधिक रमणीय है । उपमेय मुख से उपमान चन्द्र को हीन दिखाने के कारण यहाँ प्रतीप अलंकार है । विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में प्रतीप और प्रदीप अलंकार है ॥ ३३ ॥



तिरोहिताद्वातुर्ग्रहणो विलज्ज यथा तथा रमाया रमते । अत्र विष्णोरुक्त-  
व्यापारासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिसंयोजित ॥ ३४ ॥

अन्वय—दैत्यारि स्वध्वजभृत्यवर्गात् नः अत्यब्जनलास्यनुत्प्रे सज्ञाप्य घातु  
सत्पद्कुचन्नामिसरोजपीतात् रमाया विलज्ज रमते ।

हिन्दी—दैत्यारिपु ( विष्णु ) अपने ध्वज ( गरुड ) के तेजकागण हम  
( इसी ) को कमल को अतिक्रांत करने वाले ( जयी ) नल-मुख की स्मृति  
के निमित्त आज्ञा देकर विधाता के ( लज्जा से ) मुद गये—उस नाभि कमल में  
छिप जाने के कारण लक्ष्मी के साथ लज्जा छोड़कर रमण करते हैं ।

टिप्पणी—बूढ़े ग्रहा लज्जा से मुँदे विष्णु के कमल में छिप गये, एकांत  
हो गया, परिणामतः विष्णु की लज्जा का कारण न रहा । आशय यह कि  
विष्णु नाभि, सरोज से भी नल मुख अधिक शोभाशाली है । मल्लिनाथ के  
अनुसार असद्वध में सद्वध कथन के कारण अतिसंयोजित, विधातार के अनुसार  
प्रतीप अलंकार ॥ ३४ ॥

रेखाभिरास्ये गणनादिब्राम्य द्वात्रिंशता दन्तमयीभिरन्त ।

चतुर्दशाष्टादश चान्न विद्या द्वेषाऽपि सन्तीति शशस वेधा ॥ ३५ ॥

जीवातु—रेखाभिरिति । अस्य नलस्य आस्ये दन्तमयीभिर्दन्तरूपाभिर्द्वा-  
त्रिंशतारेखाभिर्गणनात्सख्या ॥ चतुर्दश चाष्टादश च विद्या द्वेषा अपि अत्र आस्ये  
सन्ति सम्बन्धव्यायेनेति वेधा शशसेवेत्युत्प्रेक्षा । 'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो  
भीमाना न्यायविस्तर । पुराण धर्मशास्त्रश्च विद्या होताश्चतुर्दश ॥ आयु-  
ज्येदो धनुर्वेदो नापर्वश्चेत्यनुक्रमम् । अर्थशास्त्र पर तस्माद्विद्या ह्यष्टादश  
स्मृता ॥' इति ॥ ३५ ॥

अन्वय—वेधा अस्य आस्ये द्वात्रिंशता दन्तमयीभि रेखाभि गणनात्  
चतुर्दश अष्टादश च विद्या द्वेषा अपि अत्र सन्ति—इति शशस इव ।

हिन्दी—विधाता ने इस ( नल ) के मुख में बत्तीस दाँतों की रेखाओं में  
गणना करके चौदह और अठारह विद्याएँ दोनों ही प्रकार से पढ़ाई हैं—  
मानो यह कहा ।

टिप्पणी—प्रथम सर्ग में नल को सर्वविद्याओं का ज्ञाता बताया गया है (दशमीय १।४-५), यहाँ अन्य भूमिमा से उज्जो का पुन प्रतिपादन मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार सागह्वोप्रेक्षा ॥ ३१ ॥

श्रियो नरेन्द्रस्य निरीक्ष्य तस्य स्मरामरेन्द्रादिव न स्मराम ।

वासेन सम्यक् क्षमयोश्च तस्मिन् बुद्धौ न दध्मः खलु रोपबुद्धौ ॥ ३२ ॥

जीवातु—श्रियादिति । तस्य नरेन्द्रस्य श्रियो सौन्दर्यमभ्यस्तो निरीक्ष्य, 'शोभामभ्यतिपद्यामु ल्कनी श्रीर'ति शास्वत । स्मरानरेन्द्रादपि न स्मरामः किं च तस्मिन्नरेन्द्रे क्षमयो जितिक्षान्त्यो 'जितिक्षा'त्यो क्षमे'त्यमरः । सम्यग्वासेन निवांरस्मिन्त्या रोपबुद्धौ फणिरतिबुद्धदेवो चित्ते न दध्मः न धारयान खलु । अत्र द्वयोरपि श्रियो द्वयोरपि क्षमयो प्रकृतत्वाद् केवलप्रकृत-श्लेषः । एतेन सौन्दर्यादिगुणै स्मरादिभ्योऽप्यविः इति व्यतिरेको व्यज्यते । श्लेषपदासक्षयो सङ्कुर ॥ ३१ ॥

अन्वयः—तस्य नरेन्द्रस्य श्रियो निरीक्ष्य स्मरामरेन्द्रो अनि न स्मराम-तस्मिन् क्षमयो च सम्यक् वासेन बुद्धौ रोपबुद्धौ न दध्मः खलु ।

हिन्दी—इस राजा ( नल ) की दोनों शोभाओं ( देह-सौन्दर्य और धनसम्पत्ति ) को देखकर हम कामदेव और देवराज का भी स्मरण नहीं करते और उसमें दोनों क्षमाओं ( दृष्टी तथा क्षान्ति ) की भलीभाँति स्थिति देखकर बुद्धि में रोपनाग और तयागु बुद्ध को भी नहीं धरते ।

टिप्पणी—पाण्य यह है कि राजा नल काम ने भी अधिक सुन्दर, देवराज इन्द्र से भी अधिक समृद्ध, रोपनाग से भी अधिक हमसा से धरा का धारण करने वाले और तयागु गौतम बुद्ध से भी अधिक क्षमाशील हैं । विद्याधर ने यहाँ यथार्थ का निर्देश किया है, मल्लिनाथ व्यतिरेक का व्यञ्जित होना और श्लेष-यथासक्षय का सकर मानते हैं ॥ ३१ ॥

विना पतत्र विनतातनूजैस्तमोरणैरोक्ष्यन्क्षणीये ।

मनोभिरसोदनपुप्रमाणैर्न निजिता दिङ्मन्मा तदश्वैः ॥ ३३ ॥

जीवातु—विनेति । पतत्र विना स्थितिरिति शेषः । विनतातनूजैर्दैन-तेयैः, अपसृतप्रैरिहयैः । ईक्ष्यन्क्षणीयैः मणीरमैश्चाद्युपयामुनिः कनपु-

प्रमाणं 'अणुपरिमाण मन' इति तार्किका, तद्विपरीतमहापरिमाणमनोमिर्वे-  
नतेयादिसमानवेगैरित्यर्थः । एवविधे तदर्थे वतमा दिक् न लङ्घिताऽऽसीत् ?  
सर्वापि लङ्घितवासीदित्यर्थः । अथाश्वानां विशिष्टवैनतेयादिन्वेन निरूपणा-  
द्रूपकालङ्कारः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—पक्ष विना विनतातनूजं ईक्षणलक्षणीयं समीरणं अणुप्रमाणं  
मनोभि तदर्थं कतमा दिक् न लङ्घिता आसीत् ?

हिन्दी—पक्षरहित गरडो, आँखो मे देखे जानेवाले पवन और अणु-  
प्रमाण ( विद्याल ) मन के सदृश उसके छोडो ने कौन सी दिशा को नहीं लाँघ  
ढाला ? सभी को लाँघ ढाला ।

टिप्पणी—राजा मल के अश्व वैनतेय गरड, वायु और मन के समान  
वेगशाली हैं, इस प्रकार वे विना पक्ष के गरड, लोचनगोचर पवन और  
अणुपरिमाण मन-जैसे हैं । स्पष्ट हो ह कि गरड पक्षवाला, समीरण महागोचर  
मन अणुपरिमाण माना जाता है । मल्लिनाथ के अनुसार यही रूपक और  
विद्याधर के अनुसार विभावना है ॥ ३७ ॥

सग्रामभूमीषु अग्रम्यरोणामर्त्तनदीमातृकता गतासु ।

तद्बाणधारापवनाशनानां राजव्रजोयैरसुभिस्तुभिक्षम् ॥ ३८ ॥

जीवातु—सग्रामेति । अरीणामर्त्तैरसुग्मिर्नद्येव माता याता तास्तासां  
मावस्तत्ता नदीमातृकता नद्यन्तुसम्पन्नमस्थालक्षता, 'देवो नद्यन्तुवृष्टधन्तु-  
सम्पन्नग्रीहिपालितः । स्यान्नदीमातृको देवमातृकश्च यथाक्रममित्यमरः ।  
'नद्यतश्चे'ति कपू, 'त्वतलोर्गुणवचनस्ये'ति पु वद्भावः । सा गतासु सग्रामभूमीषु  
तस्य नद्यस्य बाणधारा बाणपरम्परास्ता एव पवनाशनान्तेषां राजव्रजोयै  
राजसधमम्बधिभि, 'वृद्धाच्छ' । असुभि प्राणवायुभि सुमितम् । मिक्षानां  
समृद्धिर्भवति समृद्धावव्ययीभावः । नदीमातृकदेशेषु सुमित भवतीति भावः ।  
रूपकालङ्कारः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—अरीणाम् अर्त्तं नदीमातृकता गतासु सग्रामभूमीषु राज-  
व्रजोयै असुभि तद्बाणधारापवनाशनानां सुमित भवति ।



हिन्दां—शत्रुओं के रुधिर से 'नदीमातृक' ( नहरों, नदियों आदि से परि-  
पिप्त ) बनी रणभूमियों में राज-समूह के प्राणों से उस ( नल ) की वाण-  
घारा रूप वायुमयी सर्पों के लिए सुमिश्र दान जाता है ।

टिप्पणी—जिस प्रकार नदी-नहर आदि से सींची गयी भूमि में प्रचुर  
अन्न उत्पन्न होता है और उस 'नदीमातृक' भूमि के वासियों के लिए वहाँ  
सुकाल हो जाता है, ऐसे ही प्रभूत शत्रु नरेशों के हृत् होने से बहे रुधिर से  
रणभूमियाँ सिंच जाती हैं और राजा नल के शत्रु-प्राणहर वाणरूप सर्पों के  
लिए शत्रुओं के निर्गन्त प्राणवायु रूप खाद्य की प्रचुरता से तृप्त हो जाती है ।  
भाव यह है कि नल समग्र क्षेत्र में सभी शत्रुओं को मारकर भूमि को रुधिर  
से परिप्लावित कर देते हैं । रूपक अलंकार ॥ ३८ ॥

यदा यदस्याजनि सद्युगेषु कण्डूलभाव भजता भुजेन ।

हेनोर्गुणादेव दिगापगालीकूलकपत्व व्यसन तदीयम् ॥ ३९ ॥

जीवातु—यद्य रति । सद्युगेषु समरेषु कण्डूलभाव कण्डूलत्व, 'सिष्मा-  
दिभ्यस्त्वे'ति मत्वर्थीयो लच् । भजता अस्य भुजेन यद्यश्च अजनि जनित,  
जनेर्प्यंतात्कर्षणि लुङ् । तदीय तस्य यद्य सम्बन्धि दिश एव आपगा नद्य-  
तानाम्नि राजि तस्या कूलङ्कुपतीति कूलङ्कुप, शिवभागवतवत्समास  
'सर्वकू'त्यादिना छवि मुमागम । तस्य भावस्तत्त्व तत्र व्यसनमासक्ति हेतो  
कारणस्य भुजस्य गुणादेव कण्डूलवादायतमिति शेष । यद्यसौ दिक्कू-कपणा-  
मुनिताया कण्डूलताया उत्कारणकण्डूलभुजगुणपूर्वत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ ३९ ॥

अन्वय —कण्डूलभावं भजता अस्य भुजेन सद्युगेषु यत् यद्य अजनि तदीय  
दिगापगालीकूलकपत्व व्यसन हेतो गुणात् एव ।

हिन्द—सुजली मिटाते इन ( नल ) के बाहु ने मरामों में जो यद्य अश्रित  
हिन्दा, उस यश में दिगाह्य नदियों की पवित्रियों के किनारों को रणदकर  
छोड़ डालना रूप व्यसन कारण के गुण से ही आया है ।

टिप्पणी—भाव यह है कि नल की भुजाएँ समर में शत्रुओं को मारकर  
अपनी सुजली मिटाती रहती हैं, इस प्रकार सुखछाना भुजा का व्यसन बन  
गया है । तो इस सुखछाहट के फलस्वरूप शत्रु-विजय कर जिस यश की उत्पत्ति

होती है, कारण गुण कार्य में भी आते हैं—इस नियम से कार्य स्वरूप उस दश का भी खोजलाना ध्येय बन गया है। जो नल का यक्ष भी दिशा रूप नदियों के किनारे खूजलाहटे मिटाने को रगड़ रगड़ कर तोड़ डालता है। अर्थात् नल का दश विस्तार में असीम है, भूगोल की कोई सीमा उसे बाँध नहीं पाती। सब दिशाओं में व्याप्त है उसका यक्ष। मल्लिनाथ ने यहाँ उत्प्रेक्षा का संकेत दिया है, विद्याधर के अनुसार यही रूपक है ॥ ३९ ॥

यदि त्रिलोको गणनापरा स्यात्तस्यास्समाप्तिर्यदि नान्युप स्यात् ।

पारेपरार्द्धं गणितं यदि स्याद् गण्येयनिश्चयेपगुणोऽपि स स्यात् ॥ ४० ॥

जीवातु—यदीति । किं बहुना, जगत्त्रय लोकानां समाहारस्त्रिलोकी 'तद्वितार्थे'त्यादिना समाहारे द्विगु, अकरान्तोत्तरपदो द्विगु स्त्रिया भाष्यते, 'द्विगो'रिति डीप् । गणना परा मलगणसंख्यामतत्परा स्याद्यदि तस्या त्रिलोक्या आयुष समाप्तिर्न स्याद्यदि अमरत्व यदि स्यादित्यर्थः । परार्द्धस्य चरमसंख्यायाः । पारे पारेपरार्द्धं, 'पारे मध्ये पष्ठधा वे'ति अव्ययीभावः 'गणितं स्यात्परार्द्धात्परतोऽपि यदि संख्या स्यादित्यर्थः । तदा स नलोऽपि गण्येय गणितुं शक्या निक्षेपा निश्चिता गुणा यस्य स स्यात्, गण्येय इति जीणादिक एवप्रत्ययः । अत्र गुणानां गण्येयत्वासम्बन्धेऽपि सम्बन्धाभिधानादतिशयोक्तिः ॥ ४० ॥

अन्वयः—यदि त्रिलोकी गणनापरा स्यात् यदि तस्या आयुष समाप्ति न स्यात् यदि गणित पारेपरार्द्धं स्यात् स अपि गण्येयनिश्चयेपगुण स्यात् ।

हिन्दी—यदि तीनों लोक गणना में तत्पर हो जायें, और उन (गणना पर त्रिलोक) की आयु की समाप्ति न हो, और यदि गणित विज्ञान चरम संख्या को पार कर ले, तब भी उस (नल) के समग्र गुणों की गणना संभव नहीं है।

टिप्पणी—आशय यह है कि तीनों लोकों के प्राणी सदा जीवित रहकर भी नल के गुणों की गिनती करने बैठें और गणना करने के लिए जो गणित विज्ञान में चरम संख्या निर्धारित की गयी है, वह भी पार कर ली जाय, तब भी नल के गुण नहीं गिन जा सकते । अगणनीय हैं संख्या के । मल्लि-

नाम के अनुसार सम्बन्ध में भी वस्तुस्थिति के कारण प्रतिपादित है।  
चन्द्राष्टोत्कार उपदेव द्वारा निम्न 'सनावन' उत्कार की भी यही  
सम्भावना है ॥ ४० ॥

अवारितद्वारतया तिरश्चामन्तःपुरे तस्य निविश्य राज्ञः ।

गतेऽ रन्येष्वविक विनेपनध्यापयामः परमाजुमध्याः ॥ ४१ ॥

जीवानु—एव ननु नानुवर्ण्यं नूतानि नन्दिनाऽनन्तदन्तदुष्टेति  
परिषद दशमति—ज्वारितेत्यादि । विरक्षा पक्षिणामवारितद्वारात्तदा अत्र-  
विपिण्डप्रवेशतयेत्यर्थः । तस्य राज्ञो नत्स्यान्तपुरे निविश्य अवस्थाय परमानु-  
मज्यास्तदङ्गनाः रम्येषु गतेषु लक्ष्मणपुत्रं विदेय भेदमध्यापयान् अव्याप्तयान् ।  
दुहादित्वाद् द्विकर्मत्वम् ॥ ४१ ॥

अन्वय—तिरस्त्राम् अवारितद्वाराशया तस्य राज्ञः अन्तर्भूते निविश्य पर-  
मात्मन्य्या रम्येषु गतेषु अधिक विशेषम् अभ्यासमानः ।

हिन्दी—संक्षिप्तों के निमित्त द्वार बन्द न होने से उस राजा के अश्वपुर में प्रविष्ट हो हम परमाणु के समान कुछ कटिवाली स्थानों को रमणीय गतिपों के विषय में जोर की लोकोत्तर विद्येष्टा करने का पाठ पढ़ाया करते हैं।

टिप्पणी—भाव यह कि राजा नल के रनिवास में अपना वृद्ध कटिबाली और मनीष-वि वाली सज्जन हैं। विद्याधर के अनुसार सुयोदमा अन्धकार ॥ ४१ ॥

पीयूषधारानधराभिरन्तस्तात्ता रसोदन्वति भञ्जयामः ।

रम्भादिसौभाग्यरहःक्याभिः काव्येन काव्यं सूत्रताऽऽदुताभि ॥४२॥

अविदुः—पीडयेति । किं च पीडयन्नात्मन् अनवरान्निन्दुनान्निन्दुत-  
समानानि काव्यं सृजता स्वयं प्रवक्ष्यन्ती, नवेरपस्य पुनान् काव्यस्तेन, 'शुक्रो  
वैष्णवः काव्य' इत्यनन्तर । 'शुक्रादिभ्योऽन्त्य' इति व्युत्पत्त्य । काव्यानिर्मयानि  
विस्तारयतीतिरिन्दुर्ध्व । रम्यादीनां दिव्यस्त्रीणां मौनान् पतिवान्मन्य  
तन्मनुजानि रक्षयामी रक्षयन्तान्तराङ्गानिस्तथा नैवातपुत्रस्त्रीणा-  
मनन्तरप रक्षोऽन्वति शृङ्गाररसनारे सज्जयाम् वदयाम् ॥४८॥

अन्वयः—पीडयमानादयानि वान्य नृपता कारयेन कृतानिः  
रम्भादिभिर्नामकृ कपानि तासाम् अन्त रसोद-वति मन्वयः ।

हिन्दी—अमृतधाराओं से अमृत काव्य के कर्ता काव्य ( शुक्राचार्य ) से आहत ( शुक्राचार्य के काव्य में वर्णित ) रभादि अप्सराओं के सीमाग्य की रहस्यमयी कथाओं के द्वारा हम उन ( लज्जाओं ) के अन्तःकरण को इस-सागर में मज्जित कराते रहते हैं ।

टिप्पणी—नलातपुर-लज्जाएँ न केवल सुदेहा और हसगामिनी हैं, प्रसूत हम से अप्सरियों की रहस्यकथाएँ सुन-सुन अप्सराओं के समान मोहक और पुरुषवशीकरण में समर्थ तथा रसमयी हो गयी हैं । विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और उपमा अलंकार ॥ ४२ ॥

काभिर्न तत्राभिनवस्मराज्ञाविश्वासनिक्षेपवणिकं क्रियेऽहम् ? ।

जिह्मेति यन्नेव कुतोऽपि तिर्यक्क्षित्तिरश्चक्षपते न तेन ॥ ४३ ॥

जीवानु—काभिरिति । किञ्च यद्यस्मात् तिर्यक् पक्षी कुतोऽपि जनान् जिह्मेति न लज्जत एव ही-लज्जायामिति घातोलंङ्, 'श्लावि'ति द्विर्भाव ! तिरश्चोऽपि कश्चित् लज्जनी न भ्रपते न लज्जते, तेन कारणेन तत्रान्तपुरे काभिस्त्रीभिरहमभिनवा अपूर्वा स्मराज्ञा रतिरहस्यवृत्तान्तः सैव विश्वास-निक्षेपो विश्वासेन गोप्यार्थः । तस्य वणिकं गोप्ता न क्रिये न कुतोऽस्मि ? । सर्वासामप्यहमेव विलम्बकथापात्रमस्मीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

अन्वयः—यत् तिर्यक् कुत अपि नैव जिह्मेति, तिरश्चः कश्चित् अपि न भ्रपते तेन तत्र काभि अहम् अभिनवस्मराज्ञाविश्वासनिक्षेपवणिकं न क्रिये ?

हिन्दी—क्योंकि पक्षी वही भी लज्जा नहीं करता और पक्षियों से कोई भी लज्जा नहीं करता इससे वहाँ किन लज्जाओं ने मुझे अतिनयीन ( गोपनीय ) कामाज्ञा को रखलेने का विश्वासी व्यापारी नहीं बनाया ? सभी ने बनाया ।

टिप्पणी—पक्षी लज्जा के कारण नहीं होते, अतः नलातपुरकी लज्जाओं के नितनूतन गोपनीय कामव्यापार हस के समुह चलते रहते हैं । भाव यह कि हस नल-राज्य विषयक निगूढ़ व्यापारी का भी वेत्ता है, इससे साफ ही विश्वासनीय भी है अर्थात् दमयन्ती भी उस पर विश्वास करके अपने गूढ़ व्यापार उसे बता सकती है, वह प्रकट न होगा । विद्याधर के अनुसार रूपक और काव्यालङ्कार अलंकार ॥ ४३ ॥

वार्तां च साञ्जत्यपि नान्यथेति योगादरन्ध्रे हृदि ता निरुन्धे ।

विरञ्चिनामाननवादधौतसमाधिशास्त्रश्रुतिपूर्णकर्णं ॥ ४४ ॥

जीवात्—अयं स्वस्य एवविषयविश्वासहेतुत्वमाह—वार्तेति । विरञ्चे-  
ब्रह्मणो नानाननैर्दंष्टृमुखैर्वेदिन व्याख्यानेन धौतस्य शोधितस्य समाधिशास्त्रस्य  
सर्वमविद्याया श्रुत्या अवपेन पूर्णकर्णं वतुर्मुखान्यस्तवाङ्निमयविषय इत्यर्थः ।  
अहमिति शेषः । योगात् अरन्ध्रे निरवकाशे पूर्णं हृदि हृदये या वार्ता निरुन्धे,  
मा वार्ता लोकावार्ता किमुत्तरस्तवात्तेति भावः । अनस्यपि विमोक्षार्थं  
वदित्वापि, किमुत्त सतीति भावः । असत्यपि अन्यपुरुषान्तरं नैति न गच्छति ।  
यथा ह्यसती दुश्चरी नीररन्ध्रस्थाने निरुद्धा नान्यमेति तद्वदिति भावः ।  
अतोऽज्ञासां विश्वासस्य इति पूर्वोक्तान्वयः । अत्र वार्तानिरोधस्य विरञ्चीत्यादि-  
पदार्थहेतुत्वात् कान्यलिङ्गभेदः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—विरञ्चिनामाननवादधौतसमाधिशास्त्रश्रुतिकर्णपूर्णं योगात्  
अरन्ध्रे हृदि या निरुन्धे सा वार्ता असती अपि अन्यं न एति ।

हिन्दी—ब्रह्मा के अनेक ( चार ) मुखों के कयन द्वारा पवित्र किये गये  
योगशास्त्र के अर्थ से जिसके कान पूर्ण हैं, ऐसा मैं प्रयत्नपूर्वक नीररन्ध्र  
( अनेक, निर्दोष ) हृदय में जिसे ठिप्पा रहता है, वह बात सूझी परिहास  
कया होने पर भी अन्य व्यक्ति के पास नहीं जाती ।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक में संकेतित अपनी विश्वसनीयता को और भी दृढ़  
बनाने का प्रयत्न । ब्रह्मा के संबंध से योगवार्ता का ज्ञानी हंस निर्दोष और  
स्वबलीकृत मन का स्वामी है । उसका हृदय छिद्ररहित है, इस कारण कोई  
बात उससे बाहर जा ही नहीं सकती । जिस प्रकार 'असती' अर्थात् कृन्तना  
नारी भी रोक लिये जाने पर बाहर आकर परपुरुष से नहीं मिल सकती,  
उसी प्रकार बात 'असती' अर्थात् असत्य या परिहासपूर्ण होने पर भी हंस के  
छिद्ररहित हृदय में निरुद्ध हो किसी अन्य व्यक्ति के कान नहीं पट सकती ।  
कान्यलिङ्ग अलंकार ॥ ४४ ॥

नलाग्रयेण त्रिदिवानमोहं तवान्वाप्य लघते वतान्या ।

कुमुदनीवेन्दुपरिग्रहेण ज्योन्नोत्सव दुर्लभमम्बुजिन्या ॥ ४५ ॥

जीवातु—अथ इलोकद्वयेन अस्या नलानुरागमुदीपयति—नलेत्यादि । तवानवाप्यं नलपरिग्रहाभावात्त्वया दुराप, 'वृत्त्याना कर्तरि वे'ति षष्ठी तृतीयायै । त्रिदिव स्वर्गं पृषोदरादित्वात् साधु । तस्य उपभोग तादृग् भोगमित्यर्थः । तस्येन्द्रसदृशैश्वर्यत्वादिति भावः । अम्बुजिन्या दुर्लभमिन्दुपरिग्रहाभावात्तया दुराप ज्योत्स्नोत्सव चन्द्रिकाभोगम् इन्दो कर्तुं परिग्रहेण कुमुदायस्या सन्तीति कुमुदिनीव, 'कुमुदनहवेतसेभ्यो इमत्तुप्' 'मादुपघायाश्चे'त्यादिना मकारस्य वकारः । नलस्य कर्तु राश्रयेण नलस्वीकरणेन अस्या लभते, वतेति श्लेदे । ईदृग्भोगोपेक्षिणी त्व बुद्धिमाद्यात् न शोचसि इति भावः ॥ ४५ ॥

अन्वयः—अम्बुजिन्या दुर्लभ ज्योत्स्नोत्सवम् इन्दुपरिग्रहेण कुमुदती इव तव अनवाप्य त्रिदिवोपभोगं नलाश्रयेण मया लभते वत ।

हिन्दी—जैसे कमलिनी को दुर्लभ चाँदनी का भोग चाँद के अगीकरण से कुमुदिनी प्राप्त कर लेती है, वैसे ही तुझे अप्राप्य स्वर्गोपभोग नल का आश्रय लेकर कोई दूसरी प्राप्त कर रही है, यह श्लेद की बात है ।

टिप्पणी—नल की प्रशंसा करने के पश्चात् दमयन्ती के मन में उसके प्रति राग उत्पन्न करने की प्रयासः । दमयन्ती निश्चयतः स्वर्गानन्द के उपभोग योग्य है, पर वह समस्त नल-परिग्रह से ही है । विद्याधर के अनुसार उपमा अलंकारः ॥ ४५ ॥

तत्रैपधानूदतया दुराप शर्मं त्वयाऽस्मत्कृतचाटुजन्म ।

रसालवल्या मधुपानुविद्ध सौभाग्यमप्राप्तवसन्तमेव ॥ ४६ ॥

जीवातु—तदिति । किञ्च तत्प्रसिद्धमस्माभिः कृतम् प्रयुक्तेभ्यश्चाटुभ्यः प्रियवाक्येभ्यो अम तस्य तत्तज्जन्यमित्यर्थः । चाटुग्रहणं पूर्वोक्तनिजवक्षसीज-माधुपलक्षणं, शर्मं सुखं त्वया अप्राप्तो वसन्तो यया तया वसन्तानधिष्ठितयेत्यर्थः । रसालवल्या सहचारश्रेण्या मधुपानुविद्ध सौभाग्यं रामणीयकमिव नैपथेन नलेन अनुदतया अपरिणीतत्वेन हेतुना दुराप-तस्मात्ते नलपरिग्रहाय यत्नं वार्यम् इति भावः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—तत् अस्मत्कृतचाटुजन्म शर्मं त्वया अप्राप्तवसन्तया रसाल-वल्या मधुपानुविद्ध सौभाग्यम् इव नैपथानूदतया दुरापम् ।

हिन्दी—वह हमारे प्रिय वचनों से जनित आनन्द जैसे वस्तु जिसे प्राप्त नहीं हुआ है, उस आनन्दवन्तरी को अनरुद्ध सौभाग्य ( मकरद का आस्वादन, गुबार आदि ) नहीं प्राप्त होता है, वैसे ही नियमराज से अविवाहित पुत्र दुःप्राप है ।

टिप्पणी—आज जो हंस द्वारा निर्दिष्ट मुख-नोग दमयन्ती को प्राप्त नहीं है, वे नल से विवाह कर लेने पर प्राप्त हो सकेंगे । पूर्वश्लोक में अम्बुजिनी के उपनाम से यही सूचित किया गया था, यहाँ आनन्दवन्ती के उपनाम से सूचित है । उपमा अलंकार ॥ ४६ ॥

तस्यैव वा यास्यसि किं न हस्तदृष्ट विधे केन मन प्रविश्य ? ।

अजातपाणिग्रहाऽसि तावद्रूपस्वरूपानिगमाश्रयश्च ॥ ४७ ॥

जीवानु—अथ पुनरस्या नलप्राप्यासा अनयन्नाह तस्यैवादि । यद्वा तस्य नलस्यैव हस्त किं यास्यसि ? यास्यस्यैवेत्यर्थः । केन विधेर्मन एव प्रविश्य दृष्ट, विध्यानुकूल्यमपि सम्भावितमिति भावः । कुतस्तावदद्यापि अजातपाणिग्रहा अकृतविवाहा अनि तवाय विवाहविलम्बोऽपि नलपरिग्रहपार्थमेव किं न स्यादिति भावः । रूप सौन्दर्यं स्वरूप स्वभावः शीलमिति यावत् । तयोरेतिशयः प्रकर्षन्तस्याश्रयश्चासि । यो ननुपाश्रयस्त्वान्च तद्वस्तमेव गमिष्यसीति भावः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—तस्य एव हस्त वा किं न यास्यसि ? विधे. मन केन प्रविश्य दृष्टम् ? अजातपाणिग्रहा रूपस्वरूपानिगमाश्रयश्च तावत् असि ।

हिन्दी—तुम उस ( नल ) के ही हाथ में क्यों न जाओगी ? विधाता के मन किसे न पसन्द कर देखा है ? अविवाहिता और रूप ( सुन्दरता ) तथा स्वरूप ( स्वभाव शील ) के आश्रय की स्थिती हो । अथवा रूप-स्वरूप अर्थात् सहज सौन्दर्य की तुम आश्रय हो ।

टिप्पणी—नल से दमयन्ती का विवाह असम्भावित नहीं है । सम्भव है कदाचित् अदृष्ट विधाता की यही इच्छा हो, कौन जान सकता है ? स्थिति तो अनुरूप ही है । दमयन्ती अविवाहिता है और अदृष्ट सहज सौन्दर्य-शालिनी और शीलगुणवन्ती भी ॥ ४७ ॥

निशाशशाङ्क शिवया गिरीश श्रिया हरि योजयेत प्रतीत ।

विधेरपि स्वारसिक प्रयास परस्पर योग्यसमागमाय ॥ ४८ ॥

जीवातु—तस्य विधिसङ्कल्पस्तु दुर्ज्ञेय इत्यत आह—निरीति । निशाश-  
निशाया 'पद्मि'त्यादिना निशादेश । शशाङ्कम्, शिवया गौर्या गिरीश शिव,  
श्रिया लक्ष्म्या हरि च योजयती विधेः प्रयासो यत्नोऽपि परस्पर योग्यसमागमाय  
योग्यसङ्गठनायैव स्वारसिक स्वरसप्रवृत्त प्रतीत प्रसिद्ध ज्ञातः । निशाश-  
शाङ्कादिदृष्टान्ताद्विधिसङ्कल्पोऽपि सुज्ञेय इति भावः ॥ ४८ ॥

अन्वयः—निशाशशाङ्क शिवया गिरीश श्रिया हरि योजयत विधेः  
अपि स्वारसिकः प्रयास परस्पर योग्यसमागमाय प्रतीत ।

हिन्दी—रात्रि से चन्द्र को, शिवा ( उमा ) से कैलासपति शिव को  
और लक्ष्मी से विष्णु को संयोग देवे विधाता का भी स्वरसमय ( परमोपपुक्त )  
प्रयत्न परस्पर योग्य-समिलन के लिए ही प्रख्यात हुआ है ।

टिप्पणी—हृस यहाँ दो सभ्य प्रकट करना चाहता है—एक तो यह कि  
भाग्यविधाता ब्रह्मा सदा समान रूप गुण-शील वालों का संयोग कराने के  
लिए विख्यात है, स्वेच्छावाही होने पर भी अरसिक नहीं है, इसके प्रमाण हैं  
तीन युगल—निशाशशाङ्क शिवा गिरीश और श्री हरि । दमयन्ती नल का  
जोषा भी ऐसा ही रहेगा । दूसरा सभ्य यह है कि दमयन्ती भी नल के योग्य  
ही है, सो योग्य से योग्य संयोग होगा । विधाता ऐसा ही करता भाषा है ।  
सम अलकार—'सम स्यादानुरूप्येण श्लाघा या योग्यवस्तुनो'—साहित्य-  
दर्पण ॥ ४८ ॥

वेलातिगर्खेणगुणाद्धिवणी न योगयोग्याऽसि नलेतरेण ।

सन्दर्भ्यते दर्भगुणेन मल्त्रीमाला न मृद्वी भुशवर्कसेन ॥ ४९ ॥

जीवातु—नलान्यसम्बन्धस्वयोग्य इत्याह—वेलातिमेति । वेलामति-  
गच्छतीति वेलातिगा नि सीमा स्त्रीणामिमे स्त्रीणा गुणा 'स्त्रीषु साम्या  
नक्ष्त्रजावि'ति वचनात् नञ्प्रत्यय । त एवाग्न्यस्तस्य वेणी प्रवाहभूत,  
त्वमिति शेष । वेलाऽव्यञ्जलवर्धने । 'काले सीम्नि च वेणी तु बेशवधे  
जलधृतो' इति वक्ष्यन्ती । नलादितरेण योगयाग्या योगार्हा नामि । तथाहि



मृद्वी मल्लीमाला मृदवकंनेन दमंगुणेन न सन्दम्यते न समुष्मयते । दून-ग्रन्थ  
इति धातो कमपि लट् । व्यतिरेकेण दृष्टान्तालङ्कार ॥ ४९ ॥

अन्वयः—बेलातिगम्भीरागुणाविवेगी नल्लेखेण योगयोग्या न अस्ति,  
मृद्वी मल्लीमाला मृदवकंनेन दमंगुणेन न सन्दम्यते ।

हिन्दी—नीर का अतिव्रमण कर जाने वाले स्त्रीगुण-सागर की प्रवाह  
रुना ( निःसीन नारीगुणों से सम्पन्न ) तुम नल्लतिरिक्त पुष्प से मयुक्त करने  
योग्य नहीं हो, कोमल मल्लिनपुष्पमाला का द्रव्यन रुखन्त कर्कश कुण्डलनु से  
नहीं होता ।

टिप्पणी—नाथ यह कि समस्त नारी जनोचित गुण दमयती में हैं,  
उसका योग सर्वपुष्पगुणसम्पन्न नल से ही होगा, क्योंकि 'योग्य योग्येन  
योग्येन' । मल्लिका धर्म की कठोर डोरी से नहीं गुंती जाती । मल्लिनाथ के  
अनुसार व्यतिरेक द्वारा दृष्टात जलवार, विद्याधर ने रुक्म-सम-दृष्टात का  
निर्देश किया है ॥ ४९ ॥

विधिं वधून्मृष्टिमपृच्छमेन तद्यानयुग्यो नल्लकेलियोग्याम् ।

त्वग्रामवर्गा इव कर्पांतीना मयाऽन्य मर्कटडति चक्रचक्रे ॥ ५० ॥

जीवानु-विधिमिति । किं च, विधिं ब्रह्माण नल्लम्य केले कीटाया योग्यामहं  
वधूमृष्टि स्त्रीनिम्नां तस्य विधेयानस्य रयस्य युग्यो रयवोटा तत्र परिचित  
इत्यर्थः । 'उद्धृति रययुगप्रासङ्गमि'ति यत्प्रत्ययः । उद्धमपृच्छमेव उद्धादित्वाद्  
द्विकर्मत्वम् । मया अस्त्य तद्यानस्य चक्रचक्रे रयाङ्गप्रजे सक्रीडति कूडति सति  
'समोऽङ्गजन' इति वक्तव्येऽपि कूडनेनात्मनेपदम्, त्वग्रामवर्गा मया कर्णेन  
पीताः गृहीताः । न केवल लिङ्गात् किमवागनादपि शातोऽन्यमर्थ इत्यर्थः । ५०।

अन्वयः—उद्यानयुग्यं नल्लकेलियोग्या वधूमृष्टि विधिम् अपृच्छन् अस्य  
चक्रचक्रे सक्रीडति मया त्वग्रामवर्गा इव कर्पांतीना ।

हिन्दी—उस ( ब्रह्मा ) के दान को टोते समय नल की कीटायोग्य वधू  
की सर्जना के विषय में विचार में मैंने पूछा था, उसके दान के पहियों की  
ध्वनि में मैंने तरे नाम के अक्षर जैसे सुने थे ।

टिप्पणी—हनु एक द्विविधा-सी रखना चाहता है, इसीसे समने कहा कि

कानो मे 'दमयन्तो'—जैसे कुछ वणं पड़े, अर्थात् पहियों की छड़ छड़ में भलीभाँति तो नहीं सुना जा सकता, पर लगा ऐसा ही कि जैसे 'दमयन्तो' कहा गया। विद्याधर ने यहाँ छेकानुप्रास और उपमा का निर्देश किया है ॥५०॥

अन्येन परया त्वयि योजिताया विज्ञत्वकीर्त्या गतजन्मनो वा ।

अनापवादाणं वमुत्तरीतु विधा विधात कतमा तरी स्यात् ? ॥ ५१ ॥

जीवातु—अन्येनेति । किं च, अन्येन मलेतरेण परया त्वयि योजिताया घटिताया सस्या विज्ञत्वकीर्त्या गतजन्मन अभिज्ञत्वख्यात्यैव नीतायुषो विधा तुर्वा अनापवादाणं वमुत्तरीतु निस्तरीतु 'वृत्तो वे'ति दीर्घ । कतमा विधा क प्रकार तरी तरणि स्यात् ? न काऽपीत्यर्थ । 'स्त्रिया नीस्तरणिस्तरि' इत्यमर । अतो दैवगत्याऽपि स एव ते भर्तृति भाव ॥ ५१ ॥

अन्वय—वा त्वयि अन्येन परया योजिताया विज्ञत्वकीर्त्या गतजन्मन विधातु अनापवादाणं वमु उत्तरीतु, कतमा विधा तरी स्यात् ?

हिन्दी—अथवा तुझे नलातिरिक्त पति से सपूक्त करके, विज्ञ होने के यत्न में जिसका जन्म बीता है, उस विधाता को लोकनिन्दा के समुद्र से निस्तार पाने से कीमती नौका मिलेगी ? ।

टिप्पणी—विधाता सदा से सर्वज्ञ कहा जाता है । वह यदि नल से भिन्न किसी पुरुष से तेरा विवाह करा देगा, तो उसकी ऐसी लोकनिन्दा होगी कि निस्तार न हो सकेगा । अतः नल-दमयन्ती सयोग ही विधि विधान है । विद्याधर के अनुसार अनुप्रास रूपक ॥ ५१ ॥

आस्ता तदप्रस्तुतचिन्तयाऽलं मयाऽसि तन्वि । श्रमिताऽतिवेलम् ।

मोऽह तदाग परिमाप्टुं कामस्तवेप्सित किं विदधेऽभिधेहि ॥ ५२ ॥

जीवातु—इत्यमाशामुत्पाद्य अस्याश्चित्तवृत्तिपरिज्ञानाय प्रसङ्गातरेण निगमपति—आस्तामिति । तत्पूर्वोक्तमास्ता तिष्ठतु, अप्रस्तुतचिन्तया अल, तया साध्य नास्तीत्यर्थ । गम्यमानसाधनत्रियापेक्षया करणत्वात्तृतीया, अत एवाह 'न केवल श्रूयमाणत्रियापेक्षया कारकोत्पत्ति, किन्तु गम्यमानत्रियापेक्षयाऽपि' इति न्यासकार । किन्तु हेतन्वि, वृत्ताङ्ग ! मया अतिवेलम् अर्थात् श्रमिता रोडिताऽसि, श्रमेर्ध्वन्तात् वर्मणि कत । तत् समणरूपयागोऽपराध

परिभाष्टुं कामं परिहर्तुं कामं । 'तु काममनसोत्पी' निमकारलोप । सोऽहं किं त्वदीप्तिन तव मनोरथ विदधे कुर्वे, अनिघेहि ब्रूहि ॥ ५२ ॥

अन्वय—उत् जन्ताम्, अस्तुतचित्तया कल्म, तन्वि मया अतिवेल श्रमिता अवि, तत् आः परिभाष्टुं कामं सः अहम् अनिघेहि किं तव ईप्सित विदधे ?

हिन्दी—( अरुण ) अहं यह सब ( कर्म-वर्णन ) रहे, जो विषय प्रस्तुत नहीं है, उसको चिन्ता व्यर्थ है । हे कोमलांगी, तुम्हें बहुत समय तक श्राव किया, उस अपराध का परिमार्जन करने का इच्छुक मैं बहो, क्या तुम्हारा अनिच्छित कहे ? विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्ष्य अठकार अनुप्रास ॥ ५२ ॥

इतीरयित्वा विरराम पत्नी स राजपुत्रीहृदयं बुभुक्षुः ।

हृदे गभीरे हृदि चावगाढे शसन्ति कार्यावतरं हि सन्त ॥ ५३ ॥

ओवातु—इतीति । स पत्नी हन इति ईरयित्वा राजपुत्र्या भग्न्या हृदयं बुभुक्षुर्विज्ञासुविररामं तूष्णीं बभूव, 'व्याहपरिभ्यो रम' इति परस्मैपदम् । तथाहि—सन्त कार्यांशः । गभीरे अगाधं हृदि हृदे च अवगाढे प्रविश्य द्ये सति कार्यास्य स्नानादे रहस्योक्तेरथ अवतरं तीर्थं प्रस्ताव च शसन्ति कथयन्ति, अन्यथा जनयं स्यादिति भावः । अवतरो व्याख्यातः । अर्पान्तरण्या-सोऽहंकारः ॥ ५३ ॥

अन्वयः—इति ईरयित्वा राजपुत्रीहृदयं बुभुक्षुः स पत्नी विरराम, हि सन्त गभीरे हृदे हृदि च अवगाढे कार्यावतरं शसन्ति ।

हिन्दी—ऐसा कह कर राजकुमारी दमयन्ती के हृदय का जिज्ञासु वह पत्नी बुर हो गया, क्योंकि सज्जन गहरे सरोवर के आलोकित होने और गुप्त हृदय का ज्ञान होने पर 'कार्यावतर' ( पार जाने का मार्ग और कार्य के निमित्त प्रस्ताव ) करते हैं ।

टिप्पणी—इतना विवरण देकर इस इस कारण धुन हो गया कि वह कुछ स्पष्ट बात कहे, जब दमयन्ती के मन का भाव ज्ञात हो जाय । समस्तसार व्यक्ति तनी कोई निश्चित प्रस्ताव करते हैं, जब सबद्ध व्यक्ति का मनोभाव प्रकट हो जाय, जैसे कि गहरे जलाशय को बाह्य पत्रा चलने पर ही निरवय

किया जाना है कि मार किस मार्ग से जाया जायेगा । अर्पान्तरन्यास  
अलंकार ॥ ५३ ॥

किञ्चित्तिरश्चीनविलोलमौलिर्विचिन्त्यवाच मनमा भूहर्तम् ।

पतत्रिण सा पृथिवोन्द्रपुत्री जगाद वक्त्रेण तृणीकृतेन्दु ॥ ५४ ॥

जीवातु—विचिदिति । किञ्चित्तिरश्चीना स्वभावादीपत्साचीभूता  
विलोला आयासाद्विलुलिता मौलि केशबन्धो यस्या सा । 'मौलय समता  
कक्षा' इत्यमरः । वक्त्रेण तृणीकृतेन्दुरथ कृतचन्द्रा सा पृथिवीन्द्रपुत्री भूमी मुह-  
र्तमल्पकाल मनसा वाच्य वचनीय विचिन्त्य पर्यालोच्य पतत्रिण जगाद ॥ ५४ ॥

अन्वय—किञ्चित्तिरश्चीनविलोलमौलि वक्त्रेण तृणीकृतेन्दु सा पृथिवीन्द्र-  
पुत्री मुहर्त मनसा वाच विचिन्त्य पतत्रिण जगाद ।

हिन्दी—कुछ तिरछा चबल मस्तक किये, मुख के संमुख चन्द्र को  
तृणसमान करती वह पृथिवीपति की पुत्री क्षणभर मन में कथनीय को विचार  
कर पत्नी से बोली ।

टिप्पणी—सहजसौन्दर्य, नारी के स्वाभाविक देह अलंकार और लावण्य-  
भंगिमा की चित्रभवी प्रस्तुति । साहित्यविद्याधरी के अनुसार उल्लेख्य  
अलंकार उपमा ॥ ५४ ॥

धिवचापले वत्सिमवत्सलत्व यत्प्रेरणादुत्तरलीभवन्त्या ।

समीरसङ्गादिव नीरभङ्गघा मया तटस्थस्त्वमुपद्रुतोऽसि ॥ ५५ ॥

जीवातु—धिविति । चापले चपलकमणि, घुमादित्वादण्, 'वत्सस्य भाव'  
वत्सिमा सिद्ध्युत्वम् पृष्ठादित्वादिमणिच् । तेन निमित्तेन वत्सलत्व वात्सल्य  
वात्सल्यप्रयुक्तचापलमित्यर्थः । तद्विक् । कुत ? यस्य चापलवात्सल्यस्य  
प्रेरणादुत्तरलीभवन्त्या अपलायमानया समीरसङ्गादाताहतेत्तरलीभवन्त्या  
नीरभङ्गघा जलबीज्येव तटस्थ उदासीन कूल गतस्थ त्वमुपद्रुत पीडितो-  
ऽसि । अयमहेतुत्वाद् बालचापल सोढव्यमिति भावः ॥ ५५ ॥

अन्वय—चापले वत्सिमवत्सलत्व धिक् यत्प्रेरणात् समीरसङ्गात् नीर-  
भङ्गघा इव उत्तरलीभवन्त्या मया तटस्थ त्वम् उपद्रुत असि ।

हिन्दी—चबलता के विषय में बालभाव से जो ( मेरा ) मोह था,

उसे धिक्कार है, जिसकी प्रेरणा से सधीरज के सग से सहरी के समान उत्तरल ( अति चंचल ) होती मैंने तीर-स्थित ध्यवित समान घटस्य ( अस्थि ) तुम्हें पीड़ित किया ।

टिप्पणी—पन्द्रहवें श्लोक में हंस ने दमयन्ती के बालभाव पर बटाक्ष किया था—‘अहो शिशुस्य त्वं खण्डित न’ । दमयन्ती ने अपने हंस के प्रति प्रथम वचन में ही उस बालभाव पर क्षोभ प्रकट किया । कवि की प्रथम-कुशलता का एक श्रेष्ठ उदाहरण । विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य उपमालकार ॥

आदर्शना स्वच्छतया प्रयासि सता स तावत्सलु दर्शनीयः ।

आग पुरस्कृवंति सागस मा यम्यात्मनीद प्रतिविम्बित ते ॥ ५६ ॥

जीवात्—आदर्शतामिति । स्वच्छतया नैर्मल्यगुणेन आदृश्यते पुरोगत-वस्तुत्पमस्मिप्रति आदर्शो दर्पणस्तत्ता प्रयासि, कृतं यस्य स्वच्छस्य ते तव सम्बिम्बिनि सागस सापराधा मा पुरस्कृवंति पूजयति अपि कुर्वाणे च आत्मनि बुद्धौ स्वल्पे च, ‘पुरस्कृतं पूजिते स्मादमियुक्तेऽप्रत कृते’ । ‘आत्मा यन्नो घृतिर्बुद्धि स्वभावो ब्रह्मवध्मणी’ति चामर । इदं मदीयमागोऽपराध प्रति-विम्बित प्रतिफलितम् । पुरोवर्ति घर्माणामात्मनि मङ्गमणादादर्शोऽमीत्यर्थं, तत किमत्र आह—न आदर्शं सता साधूना तावत्प्रथम दर्शनीयं यथना पूज्यस्वेति तावच्छब्दार्थं छलु ‘रोचन चन्दन हेम मृदङ्ग वपण मणिम् । गुह्यनि तथा मूर्धं प्रात पश्येत् सदा बुध ॥’ इति शास्त्रादिति भाव ॥ ५६ ॥

अन्वय—स्वच्छतया आदर्शता प्रयासि यस्य ते सागस मा पुरस्कृवंति आत्मनि इदम् आग प्रतिविम्बितम्, स सता तावत् दर्शनीय सलु ।

हिन्दी—निर्मलता के कारण तुम आदर्शभाव ( दर्पणता ) को प्राप्त कर रहे हो, जिस तुम्हारे मुख अपराधियों को आदर देने स्वरूप में यही ( मेरा तुम्हें कष्ट देने का ) अपराध प्रतिविम्बित हो गया है, वह आदर्श सज्जनों को अवलोकनीय है ।

टिप्पणी—जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण में सब कुछ प्रतिविम्बित हो दीखने लगता है, उसी प्रकार हंस के स्वभाविक स्नेह-व्यवहार में दमयन्ती को अपनी बान्धवपत्ता के कारण हुए अपराध का स्पष्ट बोध हो गया । हंस के

व्यवहार पर तुष्ट होती दमयंती उगे सज्जनो के आदर्श—दृष्टान रूप में स्वीकारती हुई हंस की प्रशंसा करती है कि उसने सापराधा पर भी ऐसी करसलता का प्रदर्शन किया विद्याधर के अनुसार अर्थात्तर और इलेय ॥ ५६ ॥

अनायत्तप्याचरितं कुमार्या भवान्मम क्षाम्यतु सौम्य । तावत् ।

हसोऽपि देवाशतयाऽभिवन्द्य श्रीवत्सलक्ष्मेव हि मत्स्यमूर्ति ॥ ५७ ॥

‘जीवातु—अनायमिति । हे सौम्य । भवान् कुमार्या शिशोर्मम सम्बन्धि अनार्यमप्याचरितं स्वदुपद्रवरूपं दुश्चेष्टिन क्षाम्यतु सहता, हसोऽपि तिर्यगरी-  
त्यर्थ । त्वमिति शेष । भवानित्यनुपपन्ने अतीति मध्यमपुरुषायोगात् देवाशतया मत्स्यमूर्ति श्रीवत्सलक्ष्मा विष्णुरिव वन्द्योऽस्ति ॥ ५७ ॥

अन्वय—सौम्य भवान् कुमार्या मम अनार्यम् अपि आचरितं तावत् क्षाम्यतु, हस अपि देवाशतया मत्स्यमूर्ति श्रीवत्सलक्ष्मा इव वन्द्य अस्ति ।

हिन्दी—हे सौम्य ( तन-मन से सुन्दर ), तुम मुझ बालिका द्वारा हुए अनुचित भी आचरण को पहिले क्षमा करो, हंस ( पक्षी ) होते हुए भी जिस प्रकार मत्स्यरूप-धारी, श्रीवत्समणि से बलकृष्ण ( विष्णु ) देव का भग्न होने से मत्स्य भी पूजित है, उसी प्रकार देवाश ( ब्रह्मावाहन ) होने से तुम भी वन्दनीय हो ।

टिप्पणी—‘सत्सङ्गति कथय किं न करोति पुत्राव्’—सो हंस देवाश होने से पक्षी होते हुए भी मानवी सुन्दरी द्वारा पूज्य ठहराया गया । उदाहरण स्वरूप मत्स्य को लिया गया, मत्स्यरूप में विष्णु ने अवतार लिया था । इस अवतार में वे पृथ्वीरूपिणी नौका के आश्रय होकर समस्त जीवों का आधार बने—‘मत्स्यो युगात्तत्समये मनुनोपलब्ध लोभीमयो निखिलजीवनिष्कायकैत । विसृतिपानुक्रमये सलिले मत्स्यारमा आश्रय तत्र विजहार ह वेदमागोत्र ॥ ( श्रीमद्भागवत २।७।१२, दर्शनीय मत्स्यपुराण ) जैसे मत्स्यमूर्ति भगवान् का भग्न होने में जलचर मत्स्य भी वन्दनीय बन गया, ऐसे ही हंस ( पक्ष ) भी ब्रह्मावाहन होने से वन्द्य हो गया । नारायण ने ‘सौम्य’ की निन्दित पर एक आशक्ति उठायी है कि देवताधिकार में सोम ॥ ‘टप्पण’ का विधान है, सो ‘सौम्य’ की निन्दित विन्तनीय है । समाधान में उन्होंने बताया है कि इस प्रकार श्रुति होने से प्रयोग उचित हो जायेगा—‘सोमस्य चन्द्रस्येयं

सोमी मुधा तामहृति सौम्यः देवतुल्य ।' दण्डादित्व से 'य' प्रत्यय होगा और देवतुल्य अर्थ में सोमी + य = सौम्य निष्पन्न हो जायेगा । विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग और उपमा बलकार ॥ ५७ ॥

मत्प्रीतिमाधित्ससि का त्वदीक्षामुद मदक्षणीरपि यातिशेताम् ।

निजामृते लोचनसेचनाद्वा पृथक्किमिन्दुस्सृजति प्रजानाम् ? ॥ ५८ ॥

जीवात्—अथ यदुक्त त्वमेप्सित किं विदधे ? अनिघेहाति, तत्रोत्तर-माह—मत्प्रीतिमिति । का मत्प्रीतिं किंवा मदीप्सितमित्यर्थ । आधित्ससि आधातु कर्तुमिच्छसि ? दधाते सप्तन्तात्लट् । या प्रीतिर्भेदक्ष्णो त्वदीक्षा-मुद त्वदीक्षणप्रीतिमतिशेतान्त्वदर्शनोत्सवादभ्यक्ति ममेप्सितमित्यर्थ । तथाहि इन्दु प्रजाना जनाना निजामृते लोचनसेचनान् पृथक् अन्यत् 'पृथग्विने'त्यादिना पञ्चमी । किंवा सृजति करोति न किञ्चित् करोतीत्यर्थ । दृष्टान्ता-लङ्कार ॥ ५८ ॥

—अन्वय—का मदीप्सितम् अधित्ससि, या मदक्षणे त्वदीक्षामुदम् अपि अतिशेताम् ? इन्दु निजामृतं प्रजानां लोचनसेचनान् पृथक् किं वा सृजति ?

हिन्दी—और कौन-सा मेरा प्रिय सपादन करोगे, जो मेरे नेत्रों की तुम्हारे दर्शन से प्राप्त आनन्द को भी अतिश्राव्य कर जाय ? अथवा चन्द्र अपनी अमृत-किरणों में लोक जनो के लोचन परिषिक्त करने के अतिरिक्त और किछु कार्य का सपादन करता है ?

टिप्पणी—अनिजात वचनों की पराकोटि । आशय यह है कि तुमने दर्शन देकर मुझे अत्यन्त प्रसन्न किया । यह प्रशंसा है । चन्द्र अमृत वर्षा करने लोचनानन्द ही तो दे सकता है ! इस ने वाचनके श्लोक में कहा था—'तवेप्सितं किं विदधेऽभिदेहि' । सो दमयन्ती उससे उत्तर में मन्त्रित करती है कि यदि अन्य कुछ कर सकते हो तो तुम नल-प्राप्ति के निमित्त यत्न करो । यह सवेत अलंकार श्लोक में और स्पष्ट है । मुल्लिनाथ के अनुसार दृष्टांत बलकार, विद्याधर के अनुसार भाष्य ॥ ५८ ॥

मनन्तु य नोज्झनि जातु यातु मनोरथ कण्ठयं कथं स ।

का नाम बाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाष कथयेदमिता ॥ ५९ ॥

जीवात्—अत्र सर्वथा मनोरथ कथनीय इत्यभिप्रेत्य तन्न शक्यमित्याह—

मनस्त्विति । मनो भवितुं कर्तुं य मनोरथ जातु कदापि नोद्भति न जहाति, स मनोरथ कण्ठपथ वाग्विषयम् उपकण्ठदेश च कथं यातु, सम्भावनाया लोढः । सम्भावनापि नास्तीत्यर्थः । केनापि प्रतिबद्धस्य मनोरथस्य कथमन्तिकेऽपि सञ्चार इति भावः । कुत ? अभिज्ञा विवेकिनी का नाम बाला का वा स्त्री द्विजराजस्य हृदो पाणिना ग्रहे ग्रहणे अभिलाप कथयेत् । तथा द्विज । पक्षि । राजपाणिग्रहाभिलाप नलपाणिग्रहणेच्छामिति च शक्यते तथा च दुर्लभजनधार्यना द्विजराजपाणिग्रहणकल्पा परिहासास्पदीभूता कथं लज्जवित्या वक्तुं शक्यता इत्यर्थः । पूर्वं एवालच्छार ॥ ५९ ॥

अन्वयः—म मनोरथ कण्ठपथ यातु, यत् य जातु न उद्भवति ? का नाम अभिज्ञा बाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाप ( अथवा 'द्विज, राजपाणि-ग्रहाभिलापम्' ) कथयेत् ?

हिन्दी—वह अभिलाप ( मलेच्छा ) कठमार्ग से बाहर ( वचनगोचर ) कैसे हो, मन जिसे कभी त्यागता ही नहीं ? कौन समझदार बाला चद्रमा को हाथ में पकड़ने का अभिलाप कह सकती है ( जबकि इच्छा कर भी नहीं सकती ) अथवा हे द्विज ( पक्षी ), कौन अभिज्ञा बाला राजा नल से विवाह होने की अभिलापा कह सकती है ? नल तो दुर्लभ है, उसकी इच्छा करना भी 'बालता' है ।

टिप्पणी—दमयन्ती नल की प्राप्ति दुर्लभ अथवा इतनी अतन्त्र मानती है कि उसकी इच्छा करना ही भूलता है, अभिलाप कथन और भी बड़ी भूलता है । नल तो उस चन्द्र के समान है, जिसे हाथों पकड़ा ही नहीं जा सकता । 'अभिज्ञा' का पाठांतर 'अलज्जा' भी है । उस स्थिति में यह अर्थ भी होगा कि पाणिग्रहण के विषय में तो प्रोढ़ा भी नहीं कह सकती, क्योंकि मिलजुग कौन बनेगी ? 'बाला' तो कभी कह ही नहीं सकती । मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टान्त, विद्याधर के अनुसार अनुशास और श्लेष ॥ ५९ ॥

याच तदीया पग्निपीय मृद्री मृद्वीकया तुल्यरसा स हस ।

तत्याज तोष परपुष्टधुष्टे घृणाद्य वीणाक्वणिते वितेने ॥ ६० ॥

जीवानु—याचमिति । स हस मृद्वीकया दादाया, 'मृद्वीका गोस्तनी



दोशै'त्यमर । तुल्यरसा समानस्वादा मधुरार्थमित्यर्थ । मूढी मधुराक्षरा  
तदीया वाच परिपीय अत्यादरादाकर्ष्य परपुष्टघुष्टे कोकिलकूजिते तोप प्रीति  
तत्प्राज, दीनावदपिते च घृणा जुगुप्सा 'घृणा जुगुप्साहृपयोरिति विश्व' ।  
वितेने ॥ ६० ॥

अन्वय—'त' हंस मूढीक्या तुल्यरसा तदीया मूढी वाच परिपीय परपुष्ट-  
घुष्टे तोप तत्प्राज दीनावदपिते च घृणा वितेने ।

हिन्दी—उम हंस ने झाझा रस के समान मधुररसमयी उस ( दमयन्ती )  
की कोमल बाणी का परिपान करके ( बलीभांति सुनकर ) कोकिल कूजन पर  
सुधि को त्याग दिया और दीना के सनकार के प्रति घृणा प्रकट की ।

टिप्पणी—आशय यह कि दमयन्ती की बाणी कोकिल-स्वर और दीना  
की सहाति में अधिक सरस और कोमल है । अनुप्रास और प्रतीप अलकार ॥ ६० ॥

मन्दाक्षमन्दाक्षरमुद्रमुक्त्वा तस्या समकुञ्चितवाचि हसः ।

तच्छसिते किञ्चन सश्यालुगिरा मुक्ताम्भोजमयं युयोज ॥ ६१ ॥

जीवानु—मन्दाक्षेति । तस्या मैम्या मन्दाक्षेण हिया मन्दा सन्दिग्यार्था  
अक्षरमुद्रा 'द्विजराजपाणिग्रहे'त्याक्षरविभ्यासो यस्मिन् उत्तयोक्तमुक्त्वा  
मनाकुञ्चितवाचि नियमितवचनाया सत्यामय हसस्त्रच्छसिते मैमीनापिते  
किञ्चन किञ्चित्सश्यालु सन्दिहान् सन्, 'स्पृहिगृही'त्यादिना श्यालुश्च  
प्रत्यय । मुक्ताम्भोज गिरा युयोज भुक्तेन गिरमुवाचेत्यर्थ ॥ ६१ ॥

अन्वय—अयं हंस मन्दाक्षमन्दाक्षरमुद्रम् उक्त्वा तस्या समकुञ्चितवाचि  
तच्छसिते किञ्चन सश्यालु मुक्ताम्भोज गिरा युयोज ।

हिन्दी—उस हंस ने लज्जा से थोड़े शब्दों में कहकर उस ( दमयन्ती ) के  
चुप हो जाने पर उसके कथन पर कुछ सदेह करते हुए सुखकमल में बाणी की  
योजना की ( कहने के लिए मुँह ऊपर खोला ) ।

टिप्पणी—दमयन्ती के लज्जा के कारण सप्त न कहने पर हंस को थोड़ा-  
सा सदेह बना रहा । विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और समासोपमा  
अलकार ॥ ६१ ॥

करेण वाञ्छेद्विधु विधुं यमित्यभात्यादरिणी तमयम् ।

पातु श्रुतिभ्यामपि नाधिकुर्वण श्रुतेर्वर्ण इवान्तिमः त्रिम् ॥ ६२ ॥

जीवातु—करेणेति । हे भूमि ! करेण विघु च द्र विघर्तुं ग्रहीतु वाञ्छेव यमयमित्य 'द्वित्रराजपाणिग्रहे'त्याद्युक्तप्रकारेण आदरिणी आदरवती सती-  
 आत्य ब्रवीपि, 'ब्रूव पञ्चानामिति' ब्रूवो रुटि सिपि यलादेश ब्रूवश्चा-  
 ह्रादेशः । 'आहस्य' इति हकारस्य यकार । तमयमन्ते भवोऽन्तिमो वर्णः शूद्रः ।  
 'अन्ताच्चेति' दक्तव्यमिति इमच् । श्रुतेर्वर्णं वेदाक्षरमिव श्रुतिभ्या पातु  
 श्रोतुमपीत्यर्थः । नाधिकृवं नाधिकार्यस्मि किम् ? अस्म्येवेत्यर्थः । अतः सोऽर्थो  
 वक्तव्य इति तात्पर्यम् ॥ ६२ ॥

अन्वया—करेण विघु विघर्तुं वाञ्छा इव यम् इत्यम् आदरिणी  
 आत्य तम् अयम् अन्तिम वर्णः श्रुते वर्णम् इव श्रुतिभ्या पातुम् अपि न  
 अधिकृवं किम् ?

हिन्दी—'हाथ से चद्रमा पकड़ने' की आकांक्षा के समान जिस ( प्रयोजन )  
 को तुमने इतने गोपनीय और आदर के साथ कहा, उस अर्थ को—जैस  
 चतुर्वर्णों में अन्तिमवर्ण ( शूद्र ) वेद के अक्षर को कान में डालने का अधिकारी  
 नहीं होता, वैसे ही मैं क्या सुनने का भी अधिकारी नहीं हूँ ?

टिप्पणी—दसयती ने कहा था—'का नाम बाला द्विराजपाणिग्रहा-  
 मिलाप कथयेत्' । इसमें 'द्वित्रराज' का अर्थ चद्र है और 'द्विज + राज'—  
 इस प्रकार पदच्छेद करके 'राज' ( नल ) भी हो जाता है । इसी अस्पष्टता  
 पर हस का आक्षेप है । वह कहता है कि मैंने रहस्य-गोपन का विश्वास  
 दिलाया, नल से सवध जतलाया, पर फिर भी सलज्जता के नाम पर  
 मुझसे दुराव छिपाव ? बाहू से अर्थ होता है कि हस इस रहस्य का जानने  
 का अधिकारी है । वह बताता चाहता है कि वह केवल दशमीय ही नहीं है,  
 नल-प्राप्ति में पूज सहायक भी है । विद्याधर के अनुसार अनुप्राप्त और  
 उपमा ॥ ६२ ॥

अर्थाप्यते वा किमियद्भवत्या चित्तेऽपद्यामपि वर्तत यः ।

यन्नान्धकारः खलु चेतसोऽपि जिहोतरेऽर्धे तदप्यवाप्यम् ॥ ६३ ॥

जीवातु—ननु तमयमित्य तद्रुलभत्वाद्ननु जिहोमीत्यापादकाह—अर्थाप्यते  
 इति । हे भूमि ! भवत्या हि वा इयदेतावद्यथा तथा अर्थाप्यते किमयमयमयो

द्विवराजरात्रिप्रह्वदति दुर्लभत्वेनान्यायत इत्यर्थं । अर्थसम्प्राप्तदाचष्टे इत्यर्थे  
 निच 'अर्थवेदसत्त्वानामाप्तुम्वक्तव्य' इत्याप्तुमागम । कृतस्तथानाल्पेय इत्यन  
 बाह-मोक्ष्यं एक पादो दस्यामित्येकपदी एकपादमन्वाख्योग्यमार्ग । 'वर्तन्त्येक-  
 पदीति चे'त्यनर । 'कुम्भीनदीपु चे'ति निपातनात् साधु । चित्तैकपद्या  
 मनोनामैवि वर्तते चतुराद्यविषयत्वेऽपीयपिशब्दाय । स कथं दुर्लभ इति  
 भाव । तथाहि—यत्र यस्मिन् ब्रह्मणि विषये चेतसोऽप्यन्यकारः प्रतिबन्ध तद्  
 ब्रह्म जिहोतरैरकुटिलं कुशलबीभिरिति यावत् । अवाप्य सुप्रापम् अमनोगम्य  
 ब्रह्मापि वैदिषद् गम्यते, किमुत मनोऽतोऽप्यमर्थं । अत एवाप्योपतिरलङ्कारः ।  
 'कैमु वेनायान्तरापतनमर्थोपतिरिति' वचनात् ॥ ६३ ॥

अन्वयः—भवत्या किं वा इयत् अर्थाप्यते य चित्तैकपद्याम् अपि वर्तते ?  
 यत्र चेतसा अपि अन्यकार, तद् ब्रह्म अपि जिहोतरं अवाप्य स्रष्टु ।

हिन्दी—( उसे ) आप इतना दुःप्राप्य क्यों मान रही हैं जो मन की  
 पगबंदी में बिरामान है ( मन में छिपी जिसकी इच्छा है ) ? जिसके विषय में  
 चित्त का भी अंधेरा है ( मन में स्पष्टता नहीं है ), वह ब्रह्म भी अल्प व्यक्तियों  
 से भिन्न ( आलस्यहीन ) व्यक्ति द्वारा निश्चय पूर्वक प्राप्य है ।

टिप्पणी—भाव यह है कि आपके मन का भाव न तो पूर्णतः छिपा ही है  
 और न नल अप्राप्य ही है और ससार में उद्योगी व्यक्ति तो ब्रह्म को भी पा  
 सते हैं, जो अवाङ्मनोर्गाचर है । अप्राप्य है, अमनोगम्य ब्रह्म भी जब प्राप्त हो  
 जाता है, तब नलप्राप्ति तो मनोगत अर्थ है । अतएव मल्लिनाथ के अनुसार  
 यही अर्थापत्ति अलङ्कार है, विद्याधर विरोधानास मानते हैं ॥ ६३ ॥

ईशाणिमैश्वर्यं विवर्तमध्ये लोकेऽलोकेऽशुभलोकमध्ये ।

निर्यश्चमप्यञ्च मृषानभिज्ञरसज्ञनोपज्ञसमज्ञमज्ञम् ॥ ६४ ॥

जीवानु—अथ मयि मृषावादित्वाद्यङ्गुया वक्तुं सङ्कोचस्तच्च न शङ्कित-  
 यमिमाह—ईदृश्यादिना त्रयेण । ईदृश्यं यदणिमैश्वर्यं तस्य विवर्तौ रूपांतर  
 मध्ये मस्या सा तयोक्ता है कृशोदरीत्यर्थं । लोकेऽलोके शेरत इति लोके-  
 शोकेऽशुभा ब्रह्मलोकवासिन 'अन्विरणे सेतेरि'त्यच्प्रत्यय । शयवागवाति-  
 प्पवालादि'त्यनुक्तेषा लोकानां अनाना मध्ये जज्ञ मूढ तिमञ्च पक्षिणमपि

मामिति शेष । गुणा अनूत तस्य अनभिज्ञा रसज्ञा रसना यस्य तस्य भाव-  
स्तत्ता सत्यवादित्यर्थः । उपज्ञायत इति उपज्ञा आदावुपज्ञाता, 'उपज्ञा ज्ञान-  
मात्र स्यादित्यमरः । 'आतश्चोपसर्गे' इत्यङ्प्रत्यय बहुलग्रहणात् कर्मण्यत्व  
तथात्वेन ज्ञात तदुपज्ञम् 'उपज्ञोपक्रम तदाद्याचिस्थ्यासायामि'ति नपुंसकत्वम् ।  
सम साधारण सर्वज्ञायत इति समज्ञा कीर्ति पूर्ववदङ्प्रत्यय तदुपज्ञ तथात्वे-  
नादौ ज्ञाता समज्ञा कीर्तियेन त तद्योक्त मामङ्ग, सत्यवादिन विद्वीत्यर्थः ।  
अङ्गतेर्गत्यर्थत्वात् ज्ञानायत्वम् ॥ ६४ ॥

अन्वय — ईशानिर्मैश्वर्यविवर्तमध्ये लोकेशलोकेशयलोकमध्ये भक्त  
तिर्यञ्चम् अपि भूपानभिजरसज्ञतोपज्ञसमज्ञम् अन्व ।

हिंदो—हे परमेश के ( अष्टविध ) ऐश्वर्य के मध्य जो अणिमा नामक  
ऐश्वर्य है, उसके विवर्त ( रूपांतर )—रूप मध्यभाव वाली ( सूक्ष्मकटि ),  
लोकेश्वर ( ब्रह्मा ) के लोकवर्ती जनों के मध्य ( ब्रह्मलोकवासी प्राणियों के  
बीच ) मुक्त अज्ञानी पक्षी को भी तुम असत्य से अपरिवित्त ( सत्यवादी )  
और रसज्ञ ( सहृदय ) जनों के यावों का आद्यज्ञानी और समज्ञाता समझकर  
पूजा ( अथवा 'उपज्ञम्' को केवल 'अङ्ग' से पूर्ण ध्ययित करलेने पर सत्य-  
वादिता और सहृदयता के रसज्ञाता भुज सर्वज्ञ को तुम अज्ञानी समझो ) ।

टिप्पणी—धारीरिक सौन्दर्य के चोत्रक सबोधन 'हृसोदरि' से दमयंती  
को सबोधित कर हस उसे यह बताना चाहता है कि ब्रह्मणिक के प्राणियों के  
मध्य अज्ञानी पक्षी होते हुए भी मैं सत्यवादी और रसज्ञ सहृदय हूँ, ऐसा  
समझ पूजनीय हूँ, पर ऐसे मुझे तुम यदि मूर्ख समझोगी तो इससे तृप्तारी हो  
हानि है । ब्रह्मलोक के सत्यवादी और रसज्ञ प्राणियों के बीच रह मैं मूर्ख  
और वरसिक्क कैस हो सकता हूँ ? श्रीहर्ष ने ऐसी एक योजना की है कि  
दोनों भाव मङ्गलित हो जाते हैं । विद्याधर के अनुसार यहाँ जोत्र गुण और  
अनुप्रास अलंकार हैं । लक्षसिद्धियाँ ( ऐश्वर्य ) हैं—आणिमा, महिमा, गरिमा,  
लघिमा, प्राप्ति, प्राप्ताम्भ्य ( अमिलपित या लेने की क्षमता ), ईशित्व  
( सामर्थ्यातिशय ) और वशित्व । 'अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा ।  
प्राप्ति प्राप्ताम्भ्यमोशित्व वशित्व चाक्षिद्धयः' ॥ ६४ ॥

मध्ये श्रुतीना प्रतिवेशिनीना सरस्वती वासवती मुखे नः ।

ह्रियेय ताम्यश्चलतीयमद्धापयान्न ससर्गगुणेन वद्धा ॥ ६५ ॥

जीवानु—मध्य इति । किं च, प्रतिवेशिनीना प्रतिवेशिनीना श्रुतीना वेदाना ब्रह्ममुखस्याना श्रुतीना मध्ये वासवती निवसन्ती इय नोऽस्माक मुखे सरस्वती वाक् ससर्ग एव गुण इत्यादि । तन्मुखे तन्वद्धा चती, ताम्य श्रुतिन्यो ह्रियेवेत्युपदेशः । जट्टपातस्त्यमायां बलति ससर्गबा दोषगुणा चवन्तीति भावः । 'उत्तं स्वद्धा' इति अस्मिन्त्यमरः ॥ ६५ ॥

अन्वय—न मुखे इय सरस्वती प्रतिवेशिनीना श्रुतीना मध्ये वासवती ससर्गगुणेन वद्धा ताम्यः ह्रिया इव मद्धापयान्न चलति ।

हिन्दी—हमारे मुख में विद्यमान यह सरस्वती (वाणी) पशुसिनी श्रुतियों (वेदों) के मध्य में स्थित रहने से सगुण से सर्वद्वन्द्वीयों के, काष्ठ, उनकी लज्जा से ही जैसे सम्पन्न से विचलित नहीं होती । (अथवा 'मद्धा अयथा' पदच्छेद करनेपर 'निदधदुर्वकं 'अपय' अर्थात् कुमार्ग पर नहीं चलती' ) ।

टिप्पणी—श्रुतिसमस्त व्यवहार करने वाला कृपय पर चल ही नहीं सकता, वह सम्पन्न से विचलित नहीं होता । इस की वाणी तो वेदों की प्रतिवेशिनी है, वह कैसे पृथी हो सकती है ? भस्तिनाय के अनुसार उपदेश, विद्याधर ने समासोक्ति और उपमा का निर्देश किया है ॥ ६५ ॥

पर्यङ्कतापन्नमरम्बद्धा लङ्कापुरीमप्यनिलापि चित्तम् ।

कुत्रापि चेद्वस्तुनि ते प्रयानि तदप्यवेहि स्वशये शयान् ॥ ६६ ॥

जीवानु—उत किमित्यत आह—पर्यङ्केति । कुत्रापि वस्तुनि द्वीपान्तर-स्थेऽपीति भावः । अभिलापि साभिन्नाय ते तव चित्तं कर्तुं पर्यङ्कता वासम-कथित्वात्वमापन्न सरस्वान् सागरोऽङ्कुचिह्नं गम्यास्तामपि दुर्भमानित्यर्थः । ता लङ्कापुरीमपि प्रयानि चेत्तदपि तदुदुःस्थमपि स्वशये स्वहस्ते शयानु स्थितमवेहि । पर्यस्तमपि पर्यङ्कन्यनिव जानीहि ॥ ६६ ॥

अन्वय—उं चित्त पर्यङ्कतापन्नसरस्वदङ्का लङ्कापुरीम् अभिलापि, कृत्र अपि वस्तुनि प्रयानि चेत् (अथवा 'कुत्र अपि अभिलापि ते चित्त

पयंक्षुतापन्नसरस्वद्वद्धा सङ्कारपुरीम् प्रयाति चेत्' ) तत् लपि स्वहस्ते श्यालु  
अवेहि ।

हिन्दी—यदि तेरा चित्त जिनके परितः ( चारों ओर ) समुद्र का वृत्त  
घिरा हुआ है ( अथवा समुद्र जिसका पलग ( घट्टा ) बना हुआ है ), उस  
लका का अभिलाषी है, अथवा वह अन्य किसी दुष्प्राप्य वस्तु की ओर जा  
रहा है ( अथवा 'किसी भी वस्तु की अभिलाष करने वाला तेरा मन समुद्र के  
मध्य बसी लका की ओर जा रहा है ), तो उसे भी तू अपने हाथ में विद्यमान  
समस्त ।

टिप्पणी—दुग्ध समुद्र के मध्य में स्थित दुष्प्राप्य लका या ऐसी ही किसी  
अन्य वस्तु को भी दमयन्ती प्राप्त कर सकती है, अथवा किसी अभिलाष की  
पूर्ति तो सरल ही है । विद्याधर के अनुसार समासोक्ति ॥ ६६ ॥

इतीरिता पत्ररयेन तेन ह्रीणा च हृष्टा च वभाण भैमी ।

चेतो नल कामयते मदीय नान्यत्र कुत्रापि च साभिलाषम् ॥ ६७ ॥

जीवातु—इतीति । तेन पत्ररयेन पक्षिणा हृष्टेन इतीत्यमीरिता उक्ता  
भैमी ह्रीणा स्वयमेव स्वाकृतकथनसङ्कोचात् सम्मिता, 'नुदविदे'त्यादिना  
विकल्पाभिप्रायत्वम् । हृष्टा उपायलामान्मुदिता च सती वभाण । किमिति ?  
मदीय चेतो लङ्का नायते, किन्तु नल राजान कामयत इति श्लेषमङ्गुषा  
वभाणेत्यर्थः । अन्यत्र कुत्रापि वस्तुनि साभिलाष न ॥ ६७ ॥

अन्वय —तेन पत्ररयेन इति ईरिता ह्रीणा हृष्टा च भैमी वभाण—मदीय  
चेतः लङ्काम् न अयते, कुत्र अपि अन्यत्र साभिलाषम् न ( अथवा मदीय  
चेतः नल कामयते कुत्र साभिलाष न, अथवा कुत्र अपि अन्यत्र न साभिलाष  
मदीय चेतः अनल कामयते ) ।

हिन्दी—उस हंस द्वारा इस प्रकार सञ्चोचिन लज्जा और प्रतापता से  
पूरा भीममुता ने कहा—'मेरा चित्त लका की ओर नहीं जाता, वही ओर भी  
अभिलाषा नहीं है' । अथवा मेरा चित्त नल की कामना करता है, वही ओर  
साभिलाष नहीं है, अथवा कहीं और अनाइष्ट मेरा मन अनल ( भाग ) की  
कामना करता है ) ।

टिप्पणी—राज्य पर बलि का कितना अधिकार हो सकता है, किस प्रकार वह उनके कौशलपूर्ण प्रयोग से अर्थ-चक्रवर्त प्रकट कर सकता है, यह इस श्लोक में स्पष्ट है। एक-सी राजावली के विभिन्न पदच्छेद करके तीन अर्थ निकल आते हैं, वे अर्थ बड़े दमयन्ती की इच्छा का इमिक रूप हैं—(१) दमयन्ती को लका की चाह नहीं है, ( २ ) वह नर को कामना करती है, ( ३ ) यदि यह न हो तो आग में जल मरने की इच्छा है। एक लज्जावती कुमारी के सब अमिप्राय संकेतिन हो गये। और्य का ही सामर्थ्य है। मन्त्रिनाथ की टिप्पणी है—कि श्लेष-नगिमा से सब कुछ कह दिया गया। विद्याधर कहते हैं—‘यहाँ श्लेष है।’ दमयन्ती का हर्ष इसलिए है कि हस कहता है कि सब कुछ प्राप्त कर सकती है जो भी कामना करे। लज्जा है कि कैसे सीधे राज्यों में अपने नलामिच्छाप के प्रकट कर दे ? ॥ ६७ ॥

विविन्द्य बालाजनशीलर्गल लज्जानदीमज्जदनङ्गनागम् ।

आचष्ट विस्मयमभापमागानेना म चक्राङ्गपतङ्गयकम् ॥ ६८ ॥

जीवातु—विविन्देति । विस्मयमभापमागाना शैशोन्निवशान्त्रिदिग्मेव भापनागामिन्मयम् । एना दमयन्ती स चक्राङ्गपतङ्गयकम् हृत्पक्षिघेटु बालाजनस्य मुग्धाङ्गनाजनस्य शीलं स्वभावमेव शीलं लज्जाभामेव नद्या मज्जदनङ्गनागा यन्त्य स विविन्द्य विचार्य आचष्ट, तस्य लज्जाविजितमन्मयत्व ज्ञात्वा लज्जाविपज्जनार्तं वाहनमुवाचेत्यर्थः ॥ ६८ ॥

अन्वयः—स चक्राङ्गपतङ्गयकं विस्मयम् अभावमानाम् एना बालाजन-शीलर्गल लज्जानदीमज्जदनङ्गनागं विविन्द्य जगाद ।

हिन्दी—वह इस विद्वानों का स्वामी पूर्ण स्पष्ट न कह सकने वाली उस ( दमयन्ती ) से बालाजो के शील ( स्वभाव ) रूप-पर्वत और लज्जा हरिणी मर्द में दूबते कामरूप हाथी का विचार करते हुए बोला ।

टिप्पणी—म्यष्ट भाग्य के दो कारण हम ने समझ लिए—( १ ) एक तो कुमारी बालिकाओं का शील, जो स्पष्ट भाग्य की दुर्लभ्य पर्वत-जैसा गंठे लगा है, ( २ ) लज्जा की अतिशयता, जिसमें कामनाएँ दूब कर रह जाती हैं। भाव यह कि इन मनन गया कि कुमारी जलोचित्रशील और

लज्जा से अमिभूत दमयन्ती ने जो कह दिया, वही पर्याप्त है। इससे अधिक वह क्या कहती ? विद्याधर के अनुप्रास छेकानुप्रास और रूपक अलंकार ॥६८॥

नृपेण पाणिग्रहणे स्पृहेति नल मन कामयते ममेति ।

आश्लेपि न श्लेषकवेभंवत्या श्लोकद्वयार्थस्सुविधा मया किम् ? ॥ ६९ ॥

जीवातु—नृपेणेति । श्लेषकवे श्लेषभङ्गाया कवयिभ्याः श्लिष्टशब्द प्रयोक्तव्या इत्यथ, कवुवर्णन इति घातोरीणादिक इकारप्रत्यय । भवत्यास्तव सम्बन्धि नृपेण कर्ता पाणिग्रहण पाणिपीडनम्, 'उभयप्राप्ती कर्मणी'ति विहिताया पठ्या 'कर्मणि चे'ति समासनिपेक्षेऽपि दोषे पृष्ठीसमासः । तत्र स्पृहेति मन मनो नल कामयते द्विजराजपाणिग्रहेति चेतो नल कामयत इति श्लोकद्वयार्थ सुधिया मया विदुषा नाश्लेपि नाग्राहि किं ? गृहीत एवेत्यथ ॥ ६९ ॥

अन्वयः—श्लेषकवे। भवत्या नृपेण पाणिग्रहणे स्पृष्टा इति भ्रम मनो नल कामयते इति श्लोकद्वयार्थ सुधिया मया न आश्लेपि किम् ?

हिन्दी—श्लेषकविता की विदूषी आपस—'राजा ( नल ) के साथ पाणिग्रहण की अभिलाषा है', 'मेरा मन नल की कामना करता है', इन दोनों श्लोकों का अर्थ क्या भली बुद्धि वाला मैं न समझ पाया ? (अपितु समझ गया)

टिप्पणी—दमयन्ती का भाव समझ कर हम ने कहा कि मैं आपकी श्लेष चातुरी भली भाँति समझ गया हूँ। ध्यान जो दो श्लोक—'का नाम बाला' इत्यादि ( ३।५९ ) और 'चेतो नल कामयते' ( ३।६७ ) में श्लेष काव्य का प्रयोग करते हुए जो कहा, वह मैं न भली भाँति समझ लिया। अब मुझसे कुछ भी छिपाना व्यर्थ है ॥ ६९ ॥

त्वच्चेतस म्यैयविपर्यय तु सम्भाव्यभाव्यस्मि तदज्ञ एव ।

लक्ष्ये हि वालाहृदि लोलशीले दरापराद्धेपुरपि स्मर स्यात् ॥ ७० ॥

जीवानु—तर्हि किमर्थं करेण वाऽष्टेत्यादिवमनवदुक्तवदुक्तमित्यत आह—त्वच्चेतस इति । किन्तु त्वच्चेतस स्म्यैयविपर्ययमस्तिरत्व समास आसङ्ग्य तदन कस्य श्लोकद्वयार्थस्य अज्ञ अनभिज्ञ भावी भविष्यन् 'भविष्यति गम्यादय' इति साधु अस्मि । त्वन्वितनिश्चयपर्यन्तमित्यथ । यातु सम्बन्धे प्रत्यया इति भविष्यताया गुणात्कावतमानतानुरोधः । न चेदमनु-



रक्तपा मयि पुन इव शङ्केत्याशङ्कच स्त्रीणा चित्तचाञ्चल्यसम्भवादित्याह-  
रञ्ज इति । लोलसीले चक्षुस्त्वनावे बालाहृदि चित्त एव स्मरोग्नि दरापरा-  
देपुरीषच्युतमायकं स्यात् कुशलोऽपि धन्वी चरन्त्यात्पदाचिदपराध्यत इति  
भाव । 'अपरादपृथक्त्वोऽपी रक्ष्याद् यश्च्युतसायक' इत्यमर । अयान्तर-  
न्यासोऽङ्गकार ॥ ७० ॥

अन्वय — तु त्वच्चेतसः स्वैर्यं विनश्यं संभाव्य तदज्ञ एव भावी धम्मि  
हि लोलीले बालाहृदि लब्धे स्मर अपि दरापरादेषु स्यात् ।

हिन्दी—किन्तु तुम्हारे चित्त की अस्थिरता की मनावना करके उक्त  
श्लोकार्थ से अनभिज्ञ ही बना रहूँगा, क्योंकि चक्षुस्त्वनावे बाला के हृदय-  
स्थल पर कामदेव के बाण भी कुछ चुक जाते हैं ।

टिप्पणी—हम का कथन है कि मैं नञ् जानकर भी धज्जना ही बना  
रहना चाहता हूँ, क्योंकि लक्ष्मियाँ होती हैं चक्षुस्त्वनाव की । न तो उनका  
मन बदलते देर लाती है और न उन्हें काम ही तरणियों के समान व्या-  
वृत्त है । अयान्तरन्यास ॥ ७० ॥

महीमहेन्द्रं सलु नैपथ्येन्दुस्तद्वोधनीयं कथमित्यनेव ? ।

प्रयोजनं साधयिकम्प्रतीदृक्पृथग्जनेनेव न मद्भिधेन ॥ ७१ ॥

जीवानु—महीति नैपथ्ये इन्दुरिव नैपथ्येन्दुर्नैपथ्येन्द्रं महीमहेन्द्रो भूदेवेन्द्र  
सलु तस्मात् स नल । पृथग्जनेन प्राकृतजनेनेव मद्भिधेन मादृशा विदुषा  
ईदृक् साधयिकं सन्देहदुःस्यम् अस्थिरं प्रयोजनं प्रति इत्यनेव भुग्धाकारेणैव  
कथं बोधनीयं ? अनर्हमित्यर्थः । 'गतिबुद्धी'त्यादिना अपि कर्तुर्नैपथ्य  
कर्मत्व, 'पुनर्गते कर्तुश्च कर्मण' इति अभिधानाच्च ॥ ७१ ॥

अन्वय — तत् महीमहेन्द्रं स नैपथ्येन्दु मद्भिधेनेव पृथग्जनेन ईदृक्  
साधयिकं प्रयोजनं प्रति इत्यम् एव कथं बोधनीयं ।

हिन्दी—इस पृथ्वी के महेन्द्र उस नैपथ्येन्द्र के प्रति मेरे जैसे प्राकृत  
जन पक्षों द्वारा ( अथवा पृथग्जनेन इव मद्भिधेन' अन्वय करके प्राकृतजन के  
समान सुख जैसे विद्वान् द्वारा ) ऐसे सस्यग्राह अस्थिर प्रयोजन का निवेदन  
किस प्रकार किया जाय ?

टिप्पणी—आशय यह है कि दमयती का भाव तो स्पष्ट बड़ा नहीं गया, सो बात सदेह की है । उसे हस जैसा समझदार प्राणी एक मूर्ख की भांति इतने बड़े राजा से कह नहीं सकता अथवा कही यह न समझ लिया जाय कि हस तो पक्षी है, उसने न जाने क्या समझा और प्रलाप कर दिया । सो बात साफ होनी चाहिए । एक महीमहेन्द्र ॥ वह अप्रामाणिक, सदेहास्पद सदेश नहीं कह सकता । विद्याधर के अनुसार उपमा और काव्यलिंग ॥ ७१ ॥

पितुनियोगेन निजेच्छया वा युवानमन्य यदि वा वृणीषे ।

त्वदर्थमप्यित्वकृत्तिप्रतीति कीदृमपि म्यान्निषधेश्वरस्य ॥ ७२ ॥

जीवानु—अथेत्यमेव बोधने को दोषस्तनाह—पितुरिति । पितुनियोगेन आज्ञया निजेच्छया स्वेच्छया वा अथ नलादन्य युवान यदि वृणीषे वृणीषि यदि, तदा निषधेश्वरस्य नलस्य मयि विषये त्वदर्थं तुभ्य, 'चतुर्थी तदर्थे'-स्यादिना चतुर्थी समास, 'अथेन सह नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वचनव्यम्' । तद्यत्तया अप्यित्वकृति अप्यित्वभजन तत्र प्रतीतिविश्वास कीदृक् स्यान्न स्यादित्यर्थः । तस्मादसदिग्य ग्राह्यमिति भावः ॥ ७२ ॥

अवयव —पितु नियोगेन निजेच्छया वा यदि अन्य युवान वृणीषे त्वदर्थम् अप्यित्वकृति' मयि निषधेश्वरस्य कीदृक् प्रतीतिः स्यात् ।

हिन्दी—पिता की आज्ञा अथवा अपनी इच्छासे यदि तुम नलातिरिक्त युवा का वरण करती हो, तो तुम्हारे निमित्त मान्ना करते मेरे प्रति निषधराज का विश्वास कैसा होगा ?

टिप्पणी—हस वा तात्पर्य है कि दमयती जब तक निषधपूवक अपना निर्णय स्पष्ट न करेगी हस की नल से उसके साथ विवाह करने की प्रार्थना ठीक नहीं होगी । यदि दमयती के पिता ने अन्यत्र कहीं अपनी बेटी व्याहने का निर्णय ले लिया और दमयती ने उससे बाध्य हो अथ किसी पुष्य को बर लिया अथवा उसकी ही इच्छा बदल गयी, सो नल हस को एक लबाडिया या मूठा ही सो समझेंगे । सो स्पष्ट कहें बिना कार्य आगे नहीं बढ़ेगा ॥ ७२ ॥

त्वयापि किं शक्तित्विक्रियेऽस्मिन्नधिक्रिये वा विषये विधातुम् ।

इत पृथक् प्रार्थयमे तु यद्यत्तुर्वे तदुर्वोपनिपुत्रि ! सर्वम् ॥ ७३ ॥

जीवानु—अन्यथा तया दक्तु न शक्नोते तर्हि ततोऽप्यदीप्तिन करिष्ये  
प्रतिज्ञाम ह्यनहारादेः सह—त्वमेति 'हे त्वीरतिपुत्रि' 'नैमि' त्वमापि वा  
किं विद्यातु किं ननु शङ्कितविज्ञिरे सन्नाविन्दितयमे नस्मिन् विषये राजमानि-  
ग्रहणनघटनसाये जहम्, अतिश्रिये विनियुज्ये, जनिजोऽय इत्ययं । करोते  
कर्मणि लट्, किन्तु इत् पृथक्स्वादन्यत् पदप्रार्थयने उत्तरं कुत्रे करोमीत्यर्थं ॥

अन्वय — त्वया जनि शङ्कितविज्ञिरे अस्मिन् विषये विद्यातु किं वा  
अतिश्रिये ? त्वीरतिपुत्रि, इत् पृथक् यत् यत् प्रार्थयने तत् सर्वं कृते ।

हिन्दी—और तुम भी जिसने परिवर्तन की आशका है, उस इन विवाह-  
विषय में समोजन करने का अधिकार मुझे क्यों दे रही हो ? हे पृथ्वी के  
स्वामी की पुत्री ( राजकुमारी ), इसने भिन्न जो जो मुझ से चाहोगी,  
मैं वह सब करूँगा ।

टिप्पणी—इस एक और उत्तेजना देता है—जबड़ा हो कि तुम इस  
सदेहास्पद कार्य-साधन में मुझे निरुक्त ही न करो । इस विवाह विषयक कार्य  
के अतिरिक्त, जो भी कहो, मैं कर दूँगा क्यांत् या तो स्पष्ट कहो, या फिर  
इस विषय को ही छोड़ो । विद्याधर ने इस श्लोक में अनुश्राम अथवा 'निषत्त-  
वशावयवमक' का निर्देश किया है ॥ ७३ ॥

अथ प्रविष्टा इव तद्गिरन्ता विधूय वैमत्यधृतेन मूर्त्ता ।

ऊचे ह्रिया विदग्धितानुरोधा पुनर्धरित्रीपुस्तूतपुत्रो ॥ ७४ ॥

जीवानु—अथ इति । धरित्रीपुस्तूतपुत्रो मूर्त्तान्द्रमुता नैमो अथ प्रविष्टा  
एव न तु मम्यक् प्रविष्टा तद्गिरो हसवाच । वैमत्येन असम्मन्या धृतेन  
कम्पितेन मूर्त्ता विधूय प्रविष्टिभ्य ह्रिया कन्या विदग्धितानुरोधा सिधित-  
भूमिन्त्यज्जलज्वा सती पुनरप्युचे उवाच ॥ ७४ ॥

अन्वय — धरित्रीपुस्तूतपुत्रो अथ प्रविष्टा तद्गिरि वैमत्यधृतेन मूर्त्ता  
विधूय एव ह्रिया विदग्धितानुरोधा पुन ऊचे ।

हिन्दी - धरणी के इन्द्र की पुत्री ( पृथ्वीइसुता दम्पती ) कानों में धुसो  
रत ( हम ) की बचनावली को धनमति में हिलते दिव में मानो निरस्त  
करती हुई जबड़ा के अनुरोध को सिधित कर ( लज्जा छाड़ ) पुन बोली ।

टिप्पणी—दमयती ने इस के बचनो के प्रति असमति प्रकट करने के लिए सिर हिलाया, जैसे कान में प्रवेश करते किसी दुष्ट कीट को सिर के छटके से निवारित करना चाहती हो। इस लावेष में उसने लज्जा छोड़ कर निम्नांकित स्पष्ट बचन कहे। उत्प्रेक्षा ॥ ७४ ॥

मदन्यदान प्रति कल्पना वा वेदस्त्वदीये हृदि तावदेया।

निशोऽपि सोमेतरकान्तशङ्कामोङ्कारमग्रेसरमस्य कुर्या ॥ ७५ ॥

जीवातु—मदिति। मम अयदानमन्यस्य दान प्रति दानमुद्दिश्य या कल्पना पितृनियोगेनेत्यादि श्लोकस्तर्कं। एषा कल्पना स्वदीये हृदि वेदस्तावत्सत्य एवेत्यर्थः। निशो निशामा अपि 'पद्मिनि'त्यादिना निशामा निशादेश सोमा-  
श्चन्द्रादितरकान्तशङ्काम् पुर्यान्तरकल्पनामेव ओङ्कार प्रणवम् अस्य वेदस्या-  
ग्रेसरमाद्य कुर्या कुरु सर्वस्यापि वेदस्य प्रणवपूर्वकत्वादिति भावः। यथा निशामा निशाकरेतरप्रतिग्रहो न शङ्कनीय, तथा ममापि नलेतरप्रतिग्रहो न शङ्कनीय इत्यर्थः। स्मकालङ्कार ॥ ७५ ॥

अन्वय—मदन्यदान प्रति त्वदीये हृदि वा एषा कल्पना तावद् वेद निशामा अपि सोमेतरकान्तशङ्काम् अस्य ओङ्कार कुर्या।

हिन्दी—मेरे नलातिरिक्त पुरुष को दिये आन के विषय में तुम्हारे हृदय में जो यह कल्पना वेद' (वेदसम प्रामाणिक) है, सो रात्रि की भी चद्रेतर प्रियविषयकथा को इस (मेरे धन्य दान विषयक तथ्यागीकार) का 'ओकार' कर लो।

टिप्पणी—दमयती का बचन यह है कि उसके अन्य किसी पुरुष से विवाह होने के विषय में जो इस कल्पना कर रहा है, वह निर्मूल है। यदि वह इस कथा की वेद के समान सत्य और प्रामाणिक माने बैठा है, तो उसे इसे सत्य मानने के पूर्व यह भी मानना होगा कि रात्रि का चन्द्रमा के अतिरिक्त भी प्रिय होता है। यदि दमयती विषयक इस की आशङ्का वेद है, तो रात्रि विषयक तथ्य को वेदमन्त्रों से पूर्व उच्चारित होनेवाला धोकार (४५) मानना होगा अर्थात् जैसे चन्द्रमा ही रात्रि का प्रिय है, वैसे ही नल ही दमयती का। मल्लिनाथ के अनुसार एक, विद्यापर के अनुसार एक और अतिशयोक्ति ॥ ७५ ॥

सरोजिनीमानसरागवृत्तेरनसम्पर्कमनर्कयित्वा ।

मदन्यपाणिग्रहःङ्कितेयमहो महीयन्तव साहसिक्यम् ॥ ७६ ॥

जोधातु—सरोजिनीति । सरोजिन्या मानसरागवृत्तेरनसम्पर्कमनर्कयित्वा अनूहित्वा तवेन मन अन्यस्य नलेतरस्य पाणिग्रहः ङ्कृत इति तच्छङ्कितस्य नावन्तत्ता महीयो महतर साहसिक्य साहसिक्यम् अहो असम्मादितसम्भावनादाश्चर्यम् ।

अन्वयः—सरोजिनीमानसरागवृत्ते' अनर्कसम्पर्कम् अतर्कयित्वा तत इय मदन्यपाणिग्रहःङ्कितः अहो, महीय साहसिक्यम् ।

हिन्दो—कमलिनी के मनोऽनुराग के होने का सूर्यातिरिक्त के साथ सवध को तर्कणा न करके कुम्हारी यह मेरे नलातिरिक्त के साथ विवाह को शक आश्चर्य और बड़े साहस की बात है ।

टिप्पणी—आशय यह है कि जिस प्रकार कमलिनी का अनुराग सूर्य से ही होता है, अन्य से नहीं उसी प्रकार हम ती का विवाह नल से ही समव है, नलातिरिक्त से नहीं । जब कमलिनी-सूर्य के सवध में हम को शक नहीं है, तो हमयती-नल के विषय में उसकी शक बड़ा हुआ साहस है । विद्याप के अनुसार समासोक्ति और अतिशयोक्ति ॥ ७६ ॥

साधु त्वयाशक्तिं तदेनमेव स्वेनानलं यत्किल सध्रमिष्ये ।

विनाऽमुना स्वात्मनि तु प्रहर्तुं मृषागिर त्वा नृपतो न कर्तुम् ॥ ७७ ॥

जोधातु—साध्विति । किंतु स्वेन स्वेनानलं अनलं नलादयम् अग्निं च सध्रमिष्ये प्राप्स्यामीति यत् त्वया अतर्कितं तदेकमेव साधु अतर्कितं, किन्तु अमुना नलेन विना तदलाभ इत्यर्थः । स्वात्मनि प्रहर्तुं स्वात्मानं हिंसितुं कर्मणोऽधिकरणत्वविवक्षायां सप्तमी । 'अनेकशक्तिगुक्तस्य विश्वस्यानेककर्मणः । सर्वदा सर्वतोनावात् क्वचित् किञ्चिद्विवक्षते ॥' इति बचनादनल सध्रमिष्ये इत्यनुपपन्नं नृपतो नले विषये त्वा मृषागिरमसत्यवाचं कर्तुं मन एव शरणम् अथवा भरणमेव शरणमिति भावः ॥७७॥

अन्वयः—एतत् एव त्वया साधु तर्कितं किल यत् स्वेन अनलम् सध्रमिष्ये, अमुना विना तु स्वात्मनि प्रहर्तुम्, नृपतो त्वा मृषागिर कर्तुं न ।

हिन्दी—यहो तुमने ठीक विचार किया कि मैं स्वयम् ही अनल ( नल-तिरिक्त, अग्नि ) का आश्रय ले लूंगी, किन्तु ( नल ) के बिना अपने को समाप्त करने के लिए ( अग्नि अनल का आश्रय लूंगी ), न कि तुम्हें नरराज ( नल ) के सम्मुख नुछा सिद्ध करने के लिए ( अनल अर्थात् नल-व्यतिरिक्त का आश्रय ) ।

टिप्पणी—हस ने 'पितुनिर्योगेन' इत्यादि ( ७२ ) में आशका प्रकट की थी कि तुम स्वेच्छया अनल ( नल व्यतिरिक्त ) को घर लो तो उसे नल नुछा समझेंगे, इसी का एक प्रकार से उपहास करती दमयन्ती ने कहा कि वह निश्चय ही स्वेच्छया नल से विवाह न होने पर अनल ( अग्नि ) का आश्रय लेगी—आत्मदाह कर लेगी, किन्तु 'अनल' ( नल व्यतिरिक्त ) से विवाह करके हस को नल के सम्मुख नुछा नहीं सिद्ध करेगी । विद्याधर द्वारा उल्लेख्य अलंकार श्लेष ॥ ७७ ॥

मद्विप्रलम्ब्य पुनर्यह यस्त्वा तर्कस्स किं तत्फलवाचि मूक ? ।

अशक्यशङ्कव्यभिचारहेतुर्वाणी न वेदा यदि सन्तु के तु ? ॥ ७८ ॥

जीवातु—मदिति । किञ्च, यस्तर्क उह मद्विप्रलम्ब्य मया विप्रलम्बनीय 'पौरुषधादि'ति यत्प्रत्यय । आह बोधयतीत्यर्थं स तर्क तस्य विप्रलम्बस्य फलवाचि प्रयोजनाभिधाने मूक अशक्त किम् ? अतो मय्यसत्यवादित्वशङ्का न कार्येत्यर्थं । कथमेतावता सत्यवाक्यत्वनिश्चय अत आह—अशक्या शङ्का यस्य स अशक्यशङ्क्य धात्वनुमशक्य व्यभिचारहेतुविप्रलम्बालक्षणे यस्या सा वाणी न वेदा यदि न प्रमाण चेत्सहि के तु वेदा सन्तु ? न केऽपीत्यर्थं सम्भावनाया लोट् । वेदवाचामसत्यत्वे मद्वाचीऽप्यसत्यत्वम्, नान्ययेति भावः ॥ ७८ ॥

अन्वय —पुनः य तर्क मद्विप्रलम्ब्य त्वाम् आह स तत्फलवाचि मूक किम् ? अशक्यशङ्कव्यभिचारहेतु यदि वेदा न, के तु सन्तु ?

हिन्दी—और फिर जिस तर्क ने तुम्हें यह बताया कि मैं तुम्हारी प्रशंसा करूंगी, उसके परिणाम को बताने में क्या वह संगा है ? जिन ( वचना ) में व्यभिचार के ( अज्ञानादि ) कारणों की शका की ही नहीं जा सकती, यदि वे वेद ( प्रामाणिक ) नहीं हैं तो वेद क्या हैं ?

टिप्पणी—७२ वें श्लोक में हंस ने आशका की थी कि यह पुत्रा वनेगा, दमयती द्वारा प्रचारित होगा। दमयती इसके उत्तर में कहती है कि यह आशका भी निर्मूल है। हंस ने जिस तर्क से यह मोक्ष लिया कि दमयती उसे प्रचारित करेगी, उस तर्क ने उसे यह नहीं बताया कि हंस का प्रचारित करने में दमयती का स्थान क्या होगा ? हंस तो जानी है, उसे अपनी प्रामाणिकता पर विश्वास होना चाहिए, अन्यथा फिर उसकी प्रामाणिकता ही क्या रहे जायेगी ? कथवा दमयती यह कहना चाहती है कि वह जो कह रही है, वह पूर्ण सत्य और प्रामाणिक है, वेद के समान, जिसमें छद्मानादि व्यभिचार-कारणों की आशका ही नहीं की जा सकती। जो वाणी व्यभिचारिणी है—अपरिवर्तनीय। यदि वेद झूठे हैं तो दमयती की वाणी भी। विद्याधर के अनुसार काम्यलिंग ॥ ७८ ॥

अनैपघायेव जुहोति किं मा तान वृजानी न शरीरशेषाम् ? ।

ईष्टे तनूजन्मननोस्तथापि मत्प्राणनामस्तु नल्म्य एव ॥ ७९ ॥

जीवानु-एव निवेच्छया नानामस्तु निरस्य पित्राज्ञयापि ॥ निरस्यवि-  
अनैपघायेति । ततो मम जनक । 'तातस्तु जनक पिता' इत्यमर । माम-  
नैपघाय नैपघातलाभमस्मै एव जुहोति ददातीति वाहु, तदा शरीरशेषा मृता  
तत्रापि वृजानी न किं न तु जीवती नाम्नेरमत्र जुहोतीत्यर्थं तदङ्गीकृत्यमे-  
वेति भावः । कुत ? स जनकः तनूज-मत्तनो आत्मनःशरीरस्य ईष्टे स्वामी,  
भवतीत्यर्थः । 'अधीमर्थदयेष्टा कर्मणी'ति शेषे षष्ठी । तथापि शरीरस्य पितृ-  
स्वानिकत्वेऽपीत्यर्थः । मत्प्राणनामस्तु नल् एव प्राणानामतन्मयादिनि भावः ।  
अतो मय्यविश्वास मा कुर्वित्यर्थः ॥ ७९ ॥

अन्वय — तात शरीरशेषा माम् अनैपघाय जुहोति, वृजानी एव किं न ?  
स तनूज-मत्तनो ईष्टे तथापि मत्प्राणनामस्तु स नल् एव ।

हिन्दी—पिता शरीरमात्रावच्छेद ( मृत ) मुझे निपधराजातिरिक्त की  
देते हैं तो अग्नि की ही क्यों नहीं देते ? वे ( पिता ) स्वदेह से जन्म पाने वाले  
देह के स्वामी हैं, तथापि मेरे प्राणों का स्वामी तो वह नल् ही है ।

टिप्पणी—दमयती का भाव यह है कि पिता जीवित क्षण में नल्तिरिक्त  
से उसका विवाह नहीं कर पायेंगे, यदि वे ऐसा करें तो दमयती प्राण दे

देगी और फिर उस शरीरमात्रावशेषा को पिता द्वारा अग्नि में ही समर्पित किया जो सकेगा । पिता का अधिकार शरीर मात्र पर है, क्योंकि उसे उन्होंने जन्म दिया है, उसे वे ले सकते हैं, किन्तु प्राणों के स्वामी तो नल ही हैं । अतः हंस को दमयती का विश्वास करना ही उचित है । विद्यापरा के अनुसार काव्यलिङ्ग ॥ ७९ ॥

तदेकदासीत्वपदादुदग्रे मदीप्सिते साधु विधित्सुता ते ।

अहेलिना किं नलिनी विधत्ते सुधाकरेणापि सुधाकरेण ॥ ८० ॥

जीवातु—फलितमाह—तदेकेति । तस्य नलस्यैकस्यैव दासीत्व तदेव पदमधिकारस्तस्मादुदग्रे अधिके मदीप्सिते पत्नीत्वरूपे विषमे तव विधित्सुता चिकीर्षुर्तव साधु साध्वी, अविचारेण मनोरथपूरणमेव ते युक्तमिति भावः । साध्विति सामान्योपक्रमान्नपु सक्तत्वम्, 'शक्य इवमासेनापि क्षुन्निवर्तयितुमिति' भाष्यकारप्रयोगात् । ननु किमत्राभिनिवेशेन गुणवत्तर चेष्टुवान्तरस्वीकारे को दोषस्तत्राह—अहेलिनेति । नलिनी सुधाकरेण अमृतदीधितिनापि अहेलिना असूर्येण सुधाकरेण चन्द्रेण किं विधत्ते ? किं तेन तस्या इत्यर्थः । तद्वन्ममापि किं सुधाकरेणेति भावः । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ८० ॥

अन्वयः—तदेकदासीत्वपदात् उदग्रे मदीप्सिते तव विधित्सुता साधु, नलिनी सुधाकरेण अपि अहेलिना सुधाकरेण किं विधत्ते ?

हिन्दी—उस ( नल ) की एक दासी होने के पद से भी उरदृष्ट मेरे मनोरथ को पूरा करने की तुम्हारी मली ही इच्छा है, किन्तु कमलिनी अमृत के आकार भी अहेलि ( असूर्य ) चन्द्र का क्या करेगी ?

टिप्पणी—हंस न ७३ वें श्लोक में कहा था कि वह इस सदेहास्पद कार्य-योजना में नहीं पड़ना चाहता, किन्तु अन्य किसी दमयती के मनोरथ को वह पूर्ण करेगा । इसी का उत्तर इस श्लोक में है । दमयती हंस को साधुवाद देती बातों है कि वह और कुछ चाहती हो नहीं, केवल नल की दासी होना उसका अभीष्ट है । भले ही उससे उत्प्रेष्ट कुछ हो, होता रहे, उससे दमयती को क्या काम ? चन्द्र अमृतनिधि है, पर वह सूर्य तो नहीं है । कमलिनी का क्या हमसे सबध ? दृष्टान्त अलङ्कार ॥ ८० ॥

तदेकानुदग्रे हृदि मेऽस्ति लब्धुं चिन्ता न चिन्तामणिमप्यनर्घम् ।

निते समैवस्म नलस्त्रिगोत्रेणारो निधिः पद्ममुखस्तस्य एव ॥ ८१ ॥



जीवातु—तदिति । तस्मिन्नेवैकस्मिन् सुखे लोभुपे मे हृदि अनर्थं चिन्ता-  
मगिमपि लब्धु चिन्ता विचारो नास्ति, तथा वित्ते धनविषयेऽपि मम स नल-  
स्त्रिलोकीसारस्त्रैलोक्यधेयु पद्ममुख पद्मानन एव स नल एव त्रैलोक्यसार;  
प्रपन्निरिदम् । नलान्यत्र कुत्रापि मे स्पृहा नास्ति । किमुत मुवात्तर इति  
भावः ॥ ८१ ॥

अन्वयः—तदेकलब्धे मे हृदि अनर्थं चिन्तामगिमम् अपि लब्धु चिन्ता  
नास्ति । वित्ते (पित्ते वा) अपि मम स नल त्रिलोकीसारः पद्ममुख एक एव ।

हिन्दी—उसी एक में सुख मेरे मन में जम्बू चिन्तामगि का भी पाने  
की चिन्ता नहीं है । धन के विषय में भी ( अथवा मेरे वित्त में भी ) मेरा  
बहु नल त्रिलोकी का सारसूत्र ( सर्वोत्कृष्ट ) कमलवदन सकेला ही है ।

टिप्पणी—भाव यह कि नल के अतिरिक्त किसी दुर्लभतम वस्तु को भी  
पाने की इच्छा दमयन्ती की नहीं है । विचारर के अनुसार रुक और रुकैय ॥

श्रुतश्च दृष्टश्च हरितु मोहाद् ध्यानश्च नीरन्ध्रतद्वृद्धिधारम् ।

ममाद्य तत्प्राप्तिरनुनयः वा हस्ते तवास्ते द्वयमेव शेषः ॥ ८२ ॥

जीवातु—श्रुतश्चेति । किं बहुना स नल श्रुत द्रुतद्विवनद्यादिमुक्तादा-  
र्कादश्च, मोहार भ्रान्तिवशात् हरितु इष्ट साक्षात्कृतश्च, तथापि नीरन्ध्रत-  
द्वृद्धिधार निरन्तरीकृततदेकविषयबुद्धिप्रवाह यथा तथा ध्यातश्च । अथाद्य मम  
तत्प्राप्तिर्नलप्राप्तिरनुनयः प्राप्तायासौ वा द्वयमेव द्वयोरप्यन्तर एवेत्यर्थः । शेष  
कार्यतोप स च तव हस्ते आस्ते त्वशयन तिष्ठतीत्यर्थः । अत्र तत्प्राप्त्यर्थवदन-  
मनननिदिदिध्यासनसम्पन्नस्य ब्रह्मप्राप्तिदुःखोच्छेदलक्ष्णमोक्षो गुर्वपि एव-  
त्यर्थान्तरप्रतीतिर्निरन्तरेव अभिज्ञाया प्रकृतार्थनियन्त्रणादि तस्मै ॥ ८२ ॥

अन्वयः—श्रुत मोहात् हरितु च दृष्ट नीरन्ध्रतद्वृद्धिधार ध्यातश्च,  
अद्य मम तत्प्राप्ति अनुनयः वा द्वयम् एव शेषः तव हस्ते आस्ते ।

हिन्दी—( उन् इतमुत्रा से मैंने ) मुना है मोह के कारण सब दिशानों  
में देखा है और निरन्तर बुद्धिविचारणा में उसी का ध्यान किया है । आज  
मुझे उसकी प्राप्ति जवना मेरे प्राप्ति का नाश—दो ही तुम्हारे हाथ में मेरे  
लिए रह गये हैं ।

टिप्पणी—भाव यह कि इस यदि कुछ करना चाहता है तो दमयती को नल की प्राप्ति करा दे या फिर उसके प्राण निकल जाने दे। नल के अभाव में मृत्यु ही वरेण्य है। मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में अभिधा द्वारा प्रकृतार्थ का नियंत्रण हो जाने के कारण ब्रह्म के ध्वन, मनन, निदिध्यासन से सपन्न व्यक्ति ब्रह्मप्राप्ति दुःखोच्छेद रूप मोक्ष गुण के अधीन है—यह ध्वनि है। प्रकाशकार ने भी ऐसा ही कहा है—‘तत्त्वमसि’ इति श्रुती तच्छब्दवाच्यस्य ब्रह्मण प्राप्ति कस्यचिदेव सुकृतिना भवति, तथा मम नलप्राप्तिस्त्वत्प्रसादादेव।’ विद्याधर के अनुसार समुच्चय अलंकार ॥ ८२ ॥

सञ्चीयतामाश्रुतपालनोत्थ मत्प्राणविश्राणनञ च पुण्यम् ।

निवार्यतामार्यं । वृथा विशङ्का भद्रेऽपि भुद्रेऽयमये । भृश का ? ॥ ८३ ॥

जीवातु—सञ्चीयतामिति । हे इस ! आश्रुतपालनोत्थ प्रतीक्षाताथ-निर्वाहणोत्पन्नम् ‘अङ्गीकृतमाश्रुत प्रतिज्ञातमि’त्यमर । मत्प्राणाना विश्राणन वान तज्जञ्च पुण्य सुकृत सञ्चीयता सगृह्यता, हे आर्य ! वृथा विशङ्का सन्देहो निवार्यताम् । अये ! अङ्ग ! भद्रे पूर्वोक्तपुण्यरूपे थ्येयसि विषये भृशङ्क्य मुद्रा औदासीन्य, थ्येयसि नोदासितव्यमिति भावः ॥ ८३ ॥

अन्वयः—आश्रुतपालनोत्थ मत्प्राणविश्राणनञ च पुण्य सञ्चीयताम्, आय, वृथा विशङ्का निवार्यताम्, अय भद्रे अपि भृश का इय मुद्रा ?

हिन्दी—प्रतिज्ञा पालन से समुत्पन्न, मुझे प्राण दान करने का पुण्य-सचय करो, हे आर्य, ध्वय की आशंका छोड़ो, वरे तुमने सदेह रहित (मगल) विषय में भी यह कैसी उदास मुद्रा बना रखी है ?

टिप्पणी—पूर्वोक्त प्रकार से अपने निश्चय और अनुराग का विश्वास दिलाती दमयती इस पद्य में यह स्पष्ट करती है कि नल से उसका सचय करान में इस को दो पुण्य मिलेंगे—एक उसने स्वयं जो वचन दिया है, उनका पालन होगा और दो—दमयती के प्राण बचाने का थ्येय भी इस को प्राप्त होगा। इस दृष्टि से सब प्रकार की आशंका और सदेह का परित्याग कर इस को इन मगलकाय-सिद्धि के लिए उदासीनता छोड़ प्रयत्न धील हो जाना चाहिए। विद्याधर के अनुसार उत्प्लेख्य छेदानुप्रास अलंकार ॥ ८३ ॥

अलं विरङ्ग्य प्रिय । विज्ञ । याच्या कृत्वापि वाक्य विविध विधेये ।

यशःपयादाश्रयतापदोन्धान् खलु स्खलित्वास्तखलोक्तिखेलात् ॥ ८४ ॥

जोनातु—अलमिति । हे प्रिय । प्रियङ्गुर विज्ञ । विशेषतः ! उनयत्र 'इदुपरे'त्यादिना वप्रत्यय । याच्या प्रार्थना विलङ्घ्य अल याच्यामङ्गी न कार्य इत्यर्थः । विधेये विनीतजने विविध वाक्य वक्रता कृत्वापि अल, तच्च न कार्यमित्यर्थः । आश्रयो ययोक्तकारी, 'वचने स्थित आश्रय' इत्यमर । तस्य नावास्तत्ता सैव पद पदज्ञेयः सदुत्थात् अस्ता निरस्ता खलोक्तिखेला निम्न्या वादविनोदो येन तस्माद्यशःपयात् स्खलित्वा कृत्वा खलु न स्खलितम्यमित्यर्थः अथवा हानि स्यात् । 'निषेधवाक्यालङ्कारजिज्ञासानुनय' इत्यमर । 'अल खल्वो प्रतिषेधयो प्राचा कन्वे'ति उनयत्रापि क्त्वाप्रत्यय इह 'न पादादौ खन्वाद्यम्' इति निषेधस्योद्देशकत्वामिधायत्वाभ्रार्थस्य खलुशब्दस्यानुद्बेज क्त्वाननुबदेव पादादौ प्रयोगो न दूष्यत इति अनुसन्वेयम् ॥ ८४ ॥

अन्वय—प्रियविज्ञ, ( अथवा प्रिय, विज्ञ, ) आश्रयतापदोत्थात् अस्त-  
खलोक्तिखेलात् यशःपयात् स्खलित्वा खलु याच्या विरङ्ग्य, विधेये विविध  
वाक्य कृत्वा अपि अलम् ।

हिन्दी—हे प्रिय को भलीभांति जाननेवाले, ( अथवा प्रिय और विज्ञ  
अथवा 'प्रियेयु विष्णु ॥'—प्रिय पक्षियों में जानी, ) वचन-पालन-कर्त्ताओं में  
पद अर्थों श्रेष्ठ स्थान से उत्पन्न ( अथवा चरण-जात ), खल्वचनो के खेल से  
रहित यश के मार्ग से स्खलित हो ( हटकर ) मेरी याचना का लक्ष्य मत  
करो और करणीय वृत्त्य के विषय में भी मानाविन उल्टा-सीधा विचार भी  
सोच दो ।

टिप्पणी—नल को विशेषतः के विशेषण से संबोधित करती दमयंती दस  
वेतावनी देती है कि सज्जन वचन का पालन करते हैं, वे दुष्टों के समान  
वचन देने को खेप नहीं समझते । प्रतिज्ञा-पालन ही यश का मार्ग है । यदि  
हम वचन पालन में उल्टी-सीधी बातें सोचेगा और दमयंती की प्रार्थना पर  
ध्यान नहीं देगा तो वह अवश्य का नागी होगा । नीर शीर-विवेकी हस्त तो  
जानी और सज्जन माने जाते हैं । विद्याधर ने उल्लेख्य बन्धकार अनुप्रास  
माना है ॥ ८४ ॥

स्वजीवमप्यात्तमुदे ददद्भ्यस्तव त्रपा नेदृशवद्वमुष्टेः ।

मह्य मदीयान्यदसूनदित्सोर्धर्मं कराद् भ्रश्यति कीर्तिघात ॥ ८५ ॥

जीवात्—स्वेति । ईदृशवद्वमुष्टे रीदृक्कष्टानुबन्धस्य तव आत्तानां मुदे प्रीत्यै स्वजीव्य ददद्भ्य स्वप्राणव्ययेन परत्राण कृत्वद्भ्यो जीमूतवाहनादिभ्य इत्यर्थः । 'जीवञ्जीमूतवाहन' इति प्रसिद्धम् । त्रपा नेति काकु, त्रपाया मन प्रत्यावृत्ति-रूपत्वात्तदपेक्षया तेषामपादानत्वात् पञ्चमी । यद्यस्मान्मदीयानेवासून् प्राणान् मह्यमदित्सो तव कीर्त्या घातं दुदो धर्मं करादस्ताद् भ्रश्यति, न चैतत्तवाहं-मिति भावः ॥ ८५ ॥

अन्वयः—ईदृशवद्वमुष्टे तव आत्तमुदे स्वजीवम् अपि ददद्भ्य त्रपा न, यत् मदीयान् असून् मह्यम् अदित्सो तव कीर्तिघातं धर्मं कराद् भ्रश्यति ?

हिन्दी—एसे मुट्ठी बाँधे बैठे ( कृपण तथा अकर्मण्य ) तुम्हें दुखी जनो ( पीड़ितों ) की प्रसन्नता के लिए अपना जीवन भी दे देने वाले ( कर्मण्य बानियो ) व्यक्तियों के समुच्च लाज भी नहीं लगती क्योंकि मेरे प्राणों को मुझे ही न देने की इच्छा युक्त तुम्हारे यहाँ से घुला ( स्वच्छ ) धर्म हाथ से गिर पड़ेगा ?

टिप्पणी—दमयंती कहती है कि उसके प्राण उसे ही न देने वाले हस्त के यश और धर्म—दोनों नष्ट हो जायेंगे । इस श्लोक में 'वद्वमुष्टि' शब्द के प्रयोग से चमत्कार आया है । 'मुट्ठी बाँधना' कृपणता का लक्षण भी है और अकर्मण्यता का भी । तो ये दोनों स्थितियाँ हम के लिए लज्जाजनक हैं । उसे चिन्ति, रतिदेव तथा हरिदत्त आदि जैसे वचनपात्रक और याचकों के कल्याणहित स्वप्राण भी अर्पित कर देने वाले महाजना का स्मरण करके अपनी अदानशीलता और अकर्मण्यता को त्यागना ही उचित है । वदाचित् वह 'मुट्ठी बाँधे' इसलिये बैठा है कि यश और धर्म उससे खुले हाथ से गिर न जायें, पर उसे स्मरण रखना चाहिए कि वचन से हटना और याचक को निराश करने वाला 'वद्वमुष्टि' कृपण—अकर्मण्य के यश धर्म नष्ट हो जाने हैं । 'वद्वमुष्टि के काँ से गिर जाना' का आधार पर प्रसन्नताकार ने यही 'विरोधाभास' का निर्देश किया है । ये 'काकु' का भी निर्देश करके इस अर्थ का भी संकेत

करते हैं कि हृंय सब कुछ समझ रहा है कि यश-धर्म इस स्थिति में नष्ट हो जायेंगे । विद्याधर ने यहाँ अतिशयोक्ति का निर्देश किया है ॥ ८५ ॥

दत्त्वाऽऽत्मजीव त्वयि जीवदेऽपि शुद्ध्यामि जीवाधिकदे तु केन ।

विधेहि तन्मा त्वदृणेष्वशोद्धुममृद्रदारिद्र्यसमृद्रमग्नाम् ॥ ८६ ॥

जीवातु—दत्त्वेति । किं च जीवदे प्रापदे त्वयि विषये आत्मजीव मत्प्राप्त दत्त्वापि शुद्ध्यामि आनृण्य गन्निष्प्राप्तोरपर्यं । किन्तु जीवादपि च त्वयि तद्दे त्वयि केन शुद्ध्यामि ? न केनापि, तत्तुल्यदेयवस्त्वभावदित्यर्थः । नन्वपि प्राणै नम तु न किञ्चिदस्तीति भावः । तत्तस्मादभावदेव मा त्वदृणेषु अशोद्धुम-ऋणप्रस्ता नवितुमेव अमुद्रे अपरिमिते दारिद्र्य त्वदृणवस्त्वभावरूप तस्मिन्नेव समृद्रे । मग्ना विधेहि नलसङ्घट्टनेन मामृणप्रस्ता कुवित्यर्थः । अशोद्धु, मग्ना-मिति भग्नत्वानुवादेन अगुह्यविधोषते दारिद्र्यागमृगामुक्तिर्नास्तीति भावः ॥ ८६ ॥

अन्वयः—जीवदे त्वयि आत्मजीव दत्त्वा अपि शुद्ध्यामि, जीवाधिकदे तु केन ( शुद्ध्यामि ) ? तत् मा त्वदृणेषु अशोद्धुम् अमुद्रदारिद्र्यसमृद्रमग्ना विधेहि ।

हिन्दी—जीवन देने के तरे ऋण का शोध तो मैं अपना जीवन देकर भी कर लूँगी, परन्तु जीवन से भी अधिक ( नल ) के दान के ऋण का क्या देकर शोध कर सकती हूँ ? सो तुम ऋण-परिशोधन में असमर्थ रहने के कारण मर्यादाहीन ( अपरिमित ) दारिद्र्य के समुद्र में मुझे मग्न बना दो ।

टिप्पणी—भाव यह है कि नल का महत्त्व जीवन से भी अधिक है । जीवनदान का बदला तो जीवन देकर चुकाया जा सकता है, नल-दान मिलने का ऋण तो चुकाया ही नहीं जा सकता । सो इस ऐसा उपकार करे कि समझती उसकी सदा ऋणी बनी रहे । विद्याधर ने इस श्लोक में विरोधान्नास का निर्देश किया है, चद्रक्लाकार ने रूपक का ॥ ८६ ॥

क्रीणीष्व मज्जीवितमेव पश्यमन्य न चेदस्तु तदस्तु पुण्यम् ।

जीवेशदानयदि ते न दान् यजोऽपि तावत्प्रभवामि गानुन् ॥ ८७ ॥

जीवातु—क्रीणीष्वेति । हे जीवेशदात प्रापदवरद ! मज्जीवितमेव पश्य श्रेय वन्तु क्रीणीष्व, जीवेशरूपनूयदानेन स्वीकृष्वेत्यर्थः । अन्यदेत-नूयानुरूप वन्वतर नास्ति चेत्तर्हि पुण्य मुहूर्तमस्तु, किञ्चिद्यदि ते तुभ्य

दातु न प्रभवामि न शक्नोमि तावत्तहि यशोऽपि कीर्ति मातु प्रभवामि,  
स्वातिसुकृतायमेवोपकुरुष्वेत्यर्थ ॥ ८७ ॥

अन्वय — पण्य मज्जीवितम् एव क्रीणीष्व, अन्यत, वस्तु न चेत् तत्पुण्यम्  
अस्तु जीवितेश्चाह यदि ते दातु न प्रभवामि, तावत् यश मातुम् अपि  
( प्रभवामि ) ।

हिन्दी—तुम विक्रयार्थ उपस्थित मेरे जीवन का ही क्रय करलो, और  
विक्रय वस्तु न हो तो पुण्य तो है ही, हे जीवन के स्वामी के दयाता, मैं यदि  
तुम्हें देने में समर्थ नहीं हूँ तो यशोगान में तो समर्थ हूँ ।

टिप्पणी—आश्चर्य है कि इस यदि दमयंती को नल दान में ला देगा तो  
वह उसे प्राणों का अधिकारी मान लेगी, जब चाहे वह दमयंती के प्राण माग  
सकता है । इससे इस को पुण्य होगा और सदा ऋणमग रहनी दमयंती उसका  
यशोगान करती रहेगी । दमयंती नल का संयोजन करके इस को महाम् यश  
प्राप्त होगा । साहित्यविद्याधरो के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ॥ ८७ ॥

वराटिकोपक्रिययाऽपि लभ्यान्नेभ्यां कृतज्ञानमवाद्रियन्ते ।

प्राणैः पणैः स्वनिपुण भणन्तः क्रीणन्ति तानेव तु हुन्तः सन्तः ॥ ८८ ॥

जीवातु—अथवा साधुस्वभावेनापि परोपकार कुर्वित्याह—वराटिकेति ।  
वराटिकोपक्रियया कपटिकादानेनापि लभ्यान् कृतज्ञान् तावदेव बहुमन्यमानान्  
उपकारज्ञान् इभ्यां घनिका, 'इभ्य आदधो घनी स्वामी'त्यमर । नाद्रियन्ते  
घनलोभान्नोपकुर्वन्तीत्यर्थ । सन्तो विवेकिनस्तु स्वात्मान निपुण भणन्तः, सत  
एते वय त्वदपीना इति साधु वदन्त इत्यर्थ तानेव कृतज्ञान् प्राणैरेव पणैः  
क्रीणन्ति आत्मसात्कुर्वन्ति, किमुत जनैरित्यर्थ । अतस्त्वयाऽपि सता कृतज्ञाः  
हमुपवर्तयेति भाव । हत ह्येति ॥ ८८ ॥

अन्वय — वराटिकोपक्रियया अपि लभ्यान् कृतज्ञान् इभ्यां न आद्रियन्ते,  
हस्त, सन्तः तु निपुण भणन्तः तान् एव प्राणैः पणैः क्रीणन्ति ।

हिन्दी—एक कोटी बराबर उपकार करने से भी प्राप्य कृतज्ञ जनो का  
आदर धन के लोभी आदर नहीं करते, किंतु आश्चर्य है कि सज्जन अपने  
का उनके अधीन रहते, उन ( कृतज्ञो ) को ही प्राणों के मूल्य से ही मरीद  
लेते हैं ।

टिप्पणी—उक्तमें यह है कि धन के लोभी अमीर वृत्तज्ञ का मूल्य नहीं समझ पाते, उनके लिए तो धातुर का कारण धन ही होता है। इसके विपरीत समस्त वृत्तज्ञ जनों का अत्यन्त जादर करते हैं और यह समझते हैं कि इनका मूल्य तो प्राणायाम है, योद्धा का उपकार करके उनका ज्ञान बढ़ा जाता है। इसने दमयन्ती अपने को वृत्तज्ञ बनाते हुए स्वोत्कार के लिए हंस से आप्रह्व करती है। विद्याधर के अनुसार यहाँ उपमा प्रयोग-रूपक प्रयोजन ॥ ८८ ॥

स भूभृदद्यादपि लोकपालार्त्तमे तदेकाग्रधिय प्रसेदे ।

न ह्येतस्माद्वृत्ते यदेव न्वय तदासिप्रतिभूतमानू ॥ ९ ॥

जोषानु—स इति । किञ्च स भूभृन्व अद्यापि लोकपाला, तदात्मक इत्यर्थः । 'अष्टाभिर्लोकपालानां मात्राभिर्निर्मितो नृप' इति स्मरणात् । जत एव तदेकाग्रधियो नृपे कृतानबुद्धे मे मन तैर्लोकपालैः प्रसेदे प्रसन्न भावे लिट् । देवता ध्यायत प्रसीदतीति भावः । कुत्र ? इतरस्मात् प्रसादादित्येत्यर्थः । स्वयं स्वयमेवापत्य मम तदासिप्रतिभू नृपप्राप्तिर्जनकोऽभूतिरिति यत् सन्न घटते हि । सत्प्रसादाभावे कुतो मनेद धेय ? इत्यर्थः ॥ ८९ ॥

अन्वयः—मः भूभृत् अपि अष्टौ अपि लोकपाला, तदेकाग्रधिय मे तैः प्रसेदे, किं यत् स्वयम् एव मम तदासिप्रतिभू अभू (तत्) इतरस्मात् न घटते ।

हिन्दी—वह धरणीधर ( राजा नल ) भी इन्द्रादि अष्ट लोकपाल रूप हैं, उस ( नल ) में ही एकजान बुद्धिवाली ( एकाग्रधिया अनुरक्ता ) मेरे प्रति वे ( अष्ट लोकपाल ) प्रसन्न हो गये हैं, कारण कि जो तुम अपने आप आकर उस ( नल ) की प्राप्ति में सफल हो गये, वह और ( लोकपालाविरहित ) किसी प्रकार से नहीं घटता ।

टिप्पणी—दमयन्ती को जो नल से संयोजना का साधक हंस स्वयं मिल गया, वह सामान्य बात नहीं है। वह दमयन्ती के नल के प्रति एकाग्र अनुराग का प्रमाण है। राजा अष्ट लोकपालों की मात्राओं से निर्मित होता है, जो नल के माध्यम से अष्ट लोकपाल ही दमयन्ती पर उपासु हो गये हैं। इसी से यह सब घटित हो रहा है। विद्याधर ने यहाँ रूपक और अनुमान का निर्देश किया है ॥ ८९ ॥

अकाण्डमेवात्ममुवाजितस्य भूत्वाऽपि मूलं भयि वीरणस्य ।

भवान्न मे किं नलदत्वमेत्य कर्ता हृदश्चन्दनलेपकृत्यम् ॥ ९० ॥

जीवात्—अकाण्डेति । हे हृत् 'विचित्रिरपतत्रिण' इत्यमरः । 'रोरी'ति रेफलोपे 'दृलोपे पूर्वस्ये'ति दीर्घः । भवान् अकाण्डमनवसर एव 'अत्यन्तसयोगे द्वितीया' आत्ममुवा कामेन भयि विषये अजितस्य कृतस्य रणस्य गाढप्रहारलक्षणस्य मूलं हृदयानामुद्दीपकत्वेन निदानं भूत्वाऽपि अन्यत्र बाण्डो दण्डं तद्वज्रितमकाण्डं यथा तथा आत्ममुवा ब्रह्मणा अजितस्य सृष्टस्य वीरणस्य तृणविशेषस्य मूलं मूलावयवो भूत्वा अत एव नरदत्तव नैपथ्यादुत्तमम् । अयत्र उशीरत्वं चेत्यर्थः । हृदं चन्दनलेपकृत्यं शरीरोत्पादनं न कर्ता करिष्यत्येव परोपकारशीलत्वादिनि भावः । 'काण्डोऽस्त्री दण्डयाणां देवर्षिवसरवारिषु ।' 'स्या-  
ह्वीरणं वीरतरुमूलस्योशीरमस्त्रियाम् ।' 'अममं नलदं सेव्यमि'ति चामर-  
वीरणस्येति शब्दश्लेषः । अन्यत्राप्येव । तथा च नलदत्वमेत्य चेति प्रकृता-  
प्रकृतयोरभेदाध्यवसायेन हृत् आरोप्यमाणस्योशीरस्य प्रकृत्या तादात्म्येन च 'इन-  
हृत्यलक्षणप्रकृतकार्योपयोगात् परिणामालङ्कारः । 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोप-  
योगित्वे परिणाम' इति लक्षणात्, स चोक्तश्लेषप्रतिबिम्बोत्थापित इति  
सङ्करः ॥ ९० ॥

अन्वयः—अकाण्डम् एवमपि आत्ममुवा अजितस्य रणस्य मूलं भूत्वा अपि  
वि भवान् नलदत्वम् एव हृदं चन्दनलेपकृत्यं न कर्ता ? अथ च—'अकाण्ड-  
मेव 'अजितदण्डं वीरणस्य मूलं भूत्वा अपि भवान् न कर्ता ?'

हिन्दी—अनवसर ( कीमारावस्था मे ) ही मेरे प्रति 'आत्मभू' ( काम )  
द्वारा आरोपित मुद् के मूलकारण होकर भी हृदयिहम आप नल वा देने  
वाले होकर मेरे हृदय पर क्या चन्दनलेप का कार्य नहीं करेंगे ? अथवा—  
विषाता द्वारा मेरे निमित्त सृष्ट पवरहित वीरणघास ( उस लस ) के मूल  
( जड़ ) आप नलदत्व ( उशीरता — लस-लस होना ) का प्राप्त होकर मेरे  
( सतप्त ) हृदय पर चन्दन का ( ठठा ) लेप न करेंगे ? करना ही उचित है ।

टिप्पणी—चमयती पर अनवसर ही कीमारावस्था मे ही काम ने मुद्  
आरोपित कर दिया है, जिसका कारण है नल का सवाद देने वाला हृत् ।



तो उचित यही है कि वह हृष ब्रह्मा द्वारा दमयन्ती के निमित्त ही विशेषतः उन्नाशित पर्वरहित सप्त सप्त घाम के भाव को प्राप्त कर—दीर्घता-दायक सम-सप्त ( उशीर ) बनकर, विरहसतत दमयन्ती के हृदय पर चन्दन-रूप के समान राजा नल की उलझि कराये । जिसने पीडा दी, वही उपचार करे । यही उचित है । हृष ही इस कार्य को सपन्न कर सकता है, अन्य कोई नहीं । यहाँ 'वीरण' में शब्द-दलैय है, अन्यत्र अर्थ-दलैय । परिणाम अलङ्कार भी है, क्योंकि 'नलदत्तम् एव'—इसमें प्रकृत और अप्रकृत ने जनेशम्यवसाय द्वारा हृष में आरोप्यमाण उशीर को प्रकृति के साथ तादात्म्य से 'बदनकृत्य-रूप प्रकृत कार्य में उद्योग है और परिणाम होना ही ह आरोप्यमाण की प्रकृतोन्योगिता में । इस प्रकार यहाँ श्लेषोत्थापित-परिणाम होने में सफल है ॥ ९० ॥

अल विलम्ब्य त्वरितु हि वेला कार्ये विन्म्व्यग्रमहे विचारः ।

गुरुपदेश प्रतिमेव लोक्षणा प्रतीक्षने जानु न कालमार्ति ॥ ९१ ॥

जीवानु—अलमिति । हे हन । विन्म्व्याल न विलम्बितव्यमित्यर्थ ।

'अलङ्कृतोरित्यादिना क्त्वाप्रत्यये त्यदादेश । त्वरितु वेला हि त्वराकाल सन्वयमित्यर्थ । 'कालममवेलासु शुमुन्' कुत ? स्वयं-हे विन्म्वमहे कार्ये विचारो विमर्श किन्नेति प्रसिद्धी, अन्यथा विपत्त्यत इति भाव, तथाहि लोक्षणा चीत्रप्राहिणी प्रतिमा प्रज्ञा गुरुपदेशमिव आत्तिराधिजातु कदापि काल न प्रतीक्षने, कालेन न मृत इत्यर्थ । उपमार्यांतरन्यामयो मसृष्टि ॥ ९१ ॥

अन्वय—विन्म्व्य अलम्, हि त्वरितु वेला, किं स्वयंसह विचार, लोक्षणा प्रतिमा गुरुपदेशम् द्व आनि जातु काल न प्रतीक्षने ।

हिन्दी—विलम्ब मत करो, चीत्रता करने का समय है, जिसमें विलम्ब रह लागा जाय, उन कार्य में सोच विचार किया जाता है । दिव्य की कुशाग्र तुल्य तीक्ष्ण नव-ब्रह्मोन्मेषशालिनी प्रज्ञा जैसे गुरु के उपदेश की प्रतीक्षा नहीं करनी, जैसे ही पीडा विलम्ब ( समय ) की प्रतीक्षा नहीं करनी ।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती अब विरह पीडा सहने में व्यग्र है, अब हृष को अब अधिक साँच-विचार में ऊहापोह में समय बिताना ठीक नहीं । लोक्षणबुद्धि कार्य करने में यह प्रतीक्षा नहीं करता कि जब गुरु की

कार्यं निदेश करें, तब वह कुछ करे, वह तो अविलम्ब कार्य में लग जाता है, विलम्ब उसे सह्य नहीं, ऐसे ही विरह-पीड़ा भी समय की प्रतीक्षा नहीं करती। मल्लिनाथ यहाँ उपमा अर्थात्तरन्यास की सृष्टि मानते हैं, विद्याधर काव्य-विंग उपमा ॥ ९१ ॥

अभ्यर्थनीयस्स गतेन राजा त्वया न शुद्धान्तगतो मदर्थम् ।

प्रियास्पदाक्षिप्यबलात्कृता हि तदोदयेदन्यवधूनिपेध ॥ ९२ ॥

जीवानु—अथानन्तरकृत्य सविशेषमुपदिशति—अभ्यर्थनीय इत्यादिश्लोक पञ्चकेन । गतेन इतो यातेन त्वया स राजा नल शुद्धान्तगत अतपुरस्वो मदर्थे मत्प्रयोजन नाभ्यर्थनीयो न माध्य, दुहादित्वाद् ठिकर्मत्वम् 'अप्रधाने दुहात्री-नामि'ति राशोऽभिहितकर्मत्वम् कुत ? हि यस्मात्तदा तस्मिन् काले प्रियाणा-मास्पदाक्षिप्य मुक्तावलोकनोत्थापितञ्जन्दानुवृत्तिबुद्धिरित्यर्थः । तेन वजात् कृतो बलात्प्रतिवर्तितो अयवधूनिपेध उदयेत् उप्पद्यत ॥ ९२ ॥

अन्वय —यातेन स्वया शुद्धान्तगत स राजा मदर्थम् न अभ्यर्थनीय, हि तदा प्रियास्पदाक्षिप्यबलात्कृतं अयवधूनिपेध उदयेत् ।

हिन्दी—यहाँ से जाकर तुम शुद्धरिवास में स्थित उस राजा से मेरे निमित्त प्रार्थना न करना क्योंकि उस समय प्रिय रानियों के मुख समुल होने से उत्पन्न दक्षिणभाव के अनुरोध से और एक पत्नी के विषय में नकारात्मकता उठ सकती है ।

टिप्पणी—दमयन्ती ने हंस को सलाह दी कि जब राजा नल अत पुर में अन्य रानियों के साथ बैठे हों तो वहाँ वह दमयन्ती-विषयक प्रस्ताव उपस्थित न करे, क्योंकि यह उचित न होगा । कारण कि नल हैं दक्षिण नायक—सब क्रियाओं में एक-सा अनुराग रखनेवाले, उनको अपनी प्रियाओं का मुख देखते अपने दक्षिणभाव के कारण एक और पत्नी लाने का प्रस्ताव अनुकूल न लगेगा । राजा के मन में दो भाव उत्पन्न होंगे—एक तो और एक पत्नी लाने के संबंध में लज्जा, दो—समस्त उपस्थित प्रियाओं से अधिक सुन्दरी की कल्पना के कारण उनकी अवज्ञा समझी जाने से उनके प्रति प्रीति का अभाव प्रकट होना । उस स्थिति में हंस का दमयन्ती विषयक प्रस्ताव उचित न होगा । काव्यलिङ्ग अलङ्कार ॥ ९२ ॥

शुद्धननमभोगनितान्ततुष्टे न नैषधे कायमिदं निगाद्यन् ।

अपा हि तृणाय न वारिधाय न्वाहुन्मुगन्वि- स्वदते तुभारा ॥९३॥

जीवानु—शुद्धान्तेति । किञ्च शुद्धान्तसम्भोगेन अन्तःपुरस्त्रीसम्भोगेन नितान्ततृप्ते अन्तःपुरतृप्ते नैषधे नलविषये इदं कार्यं न निगाद्य न निगदित-  
व्यम्, 'ऋणोन्मत्त' 'शम्भदेत्यादिना सोपसर्गचनो निषेधात् । अनाहि अत्र  
तृप्ताय तद्विस्तृप्तयेत्यर्थः । 'पूष्पपुष्पे'त्यादिना पक्षोत्तमासुप्रतिषेधादेव ज्ञानात्  
पट्टी 'स्वयं प्रापमाना' इति सम्प्रदानतत्वाच्चतुर्थी । स्वादुर्नष्टा सुगन्धि-  
कर्त्रादिवाचना शोभनगन्धा । अत्र कवीनां निरकृतत्वादान्धम्येनैव तदेकान्तत्व-  
मियमानादरः । तुभारा धीवला वारिधाय न स्वदते न रोषते हि । इष्टान्ता-  
लचारः ॥ ९३ ॥

अन्वयः—शुद्धान्तसम्भोगनितान्ततुष्टे नैषधे इदं कार्यं न निगाद्यन्, हि  
अपा तृप्ताय स्वादु सुगन्धि तुभारा वारिधाय न स्वदते ।

हिन्दो—जब नियन्त्राय शुद्धान्त-पुर में सम्भोग करके परितुष्ट हो, तब  
भी यह कार्य ( विवाह-प्रस्ताव ) न करना, क्योंकि जो जन जल पीकर प्याँठ  
तृप्त हो चुका है, उसे स्वादिष्ट, सुगन्धि और अति शीतल जल की धारा में भी  
स्वाद नहीं आता ।

टिप्पणी—एक दूसरे अनवरत की ओर संकेत । जो नारी भी से तृप्त हो,  
उसे स्त्री-वर्षा बँसे ही जलचिह्नर लपती है, जैसे जिसकी प्यास बुझ गयी है,  
उसे स्वादिष्ट, कूँर-केवडा आदि की सुगन्ध से युक्त अति शीतल जल भी  
नहीं रुचता । मन्त्रिनाय के अनुसार इष्टात, विद्याधर ने अर्पान्तरन्यास-माना है ॥

विज्ञापनीया न गिरो मदर्याः क्रुधा कटुष्णे हृदि नैषधस्य ।

पित्तं दूने रसने मितीरपि तिक्तायते हसकुलावतसः ॥ ९४ ॥

जीवानु—विज्ञापनीया इति । हे हसकुलावतसः । नैषधस्य हृदि हृदये  
क्रुधा श्रोत्रेण कटुष्णे ईषदुष्णे चकारात्को वदामहे । मलयमिमा मदर्या अप्येन  
सह नियममास सर्वलिङ्गता च वक्तव्या, गिरो वाचो न विज्ञापनीया न  
विषेयाः न विज्ञाप्या इत्यर्थः । तथाहि पित्तं पित्तदोषेण दूने दूयिते रसने रस-  
नेन्द्रिये मिता मर्करपि तिक्तायते तिक्तोभवति लोहितादित्वात् कथम्, 'वा कथम्'  
इति आननेपदम् । अत्रानि इष्टातालङ्कारः ॥ ९४ ॥

अन्वय — हसकुलावतस, नैषधस्य हृदि कुधा कदुष्णे त्वया मदर्या गिर-  
न विज्ञापनीया रसने पित्तेन दूने सिता अपि तिक्तायते ।

हिन्दी—हे हसवशप्रसूत, निषधराज का हृदय क्रोध से कुछ तप्त होने पर  
तुम मेरे निमित्त वचन न कहना, जीभ के पित्त बिगड़ने से दूषित होने पर  
मिसरी भी सीधी लगती है ।

टिप्पणी—तीसरे अनवसर की चर्चा । क्रोध में व्यक्ति को उचितानुचित  
का भान नहीं रहता, सो जब निषधराज कुछ क्रुद्ध हो, तब भी दमयन्ती-  
विषयक चर्चा का कुफल हो सकता है । यद्यपि दमयन्ती स्वगुणसंपन्ना अनुपम  
रमणीरत्न है, फिर भी उचित अवसर का अभाव उसे अवमानना योग्य बना  
सकता है । मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टांत अलंकार, विद्याधर ने अर्थान्तरस्यास  
माना है और 'तिक्तायते' को उपमा कहा है ॥ ९४ ॥

धरातुरासाहि मदर्ययाञ्चा कार्या न कार्यान्तरचुम्बित्ति ।

तदार्जपिनस्यानवबोधनिद्रा- विभर्त्यवज्ञाचरणस्य मुद्राम् ॥ ९५ ॥

जीवानु—धरेति । तुर त्वरित सह्यत्वभिन्नवरीनिति तुरापाङ्गि-द्र-  
सहतेस्त्रीरादिकत्वात् त्विप्, 'नहिवृती'त्यादिना पूर्वपदस्य दीर्घ, प्रकृतिप्रहणे  
प्यन्तस्यापि ग्रहणात्, मुग्धभोजस्तु तुराशब्द टाबन्तमाह । तस्मिन् धरा-  
तुरासाहि भूदेवेन्द्रे नले अजादिषु असाङ्ग पत्वात् 'सहे साङ्ग स' इति पत्व  
नास्ति । कार्यान्तरचुम्बित्ते व्यासक्तचित्ते मदर्ययाञ्चा मत्प्रयोजनप्रार्थना  
न कार्या । तवाहि—तदा व्यासङ्गकाले अर्चितस्य अनवबोध अबोध ॥ एव  
निद्रा सा अवज्ञाऽऽचरणस्य अनादरकण्ठस्य मुद्रामभिज्ञान विभर्ति, अनादर-  
प्रतीतिं करोतीत्यर्थः । तच्चातिकष्टमिति भावः ॥ ९५ ॥

अन्वय,—धरातुरासाहि कार्यान्तरचुम्बित्ते मदर्ययाञ्चा न कार्या, तदा  
अर्चितस्य अनवबोधनिद्रा अवज्ञाचरणस्य मुद्रा विभर्ति ।

हिन्दी—धरती के इन्द्र ( नल ) का चित्त जब अन्य कार्य में तल्लीन हो,  
तब भी मेरे निमित्त याचना न करना, उस समय याचिन ( नल ) की प्रबोध  
रूप—अध्वन्यरूप निद्रा अवहेलना का रूप धारण कर सकती है ।

टिप्पणी—एक चौथा अनवसर । अन्य कार्याधिक नल भी दमयन्ती-

विरयक प्रायणा के लिए उपयुक्त न होगा। दूसरे काम में चित्त के आसक्त होने पर वह इस प्रायणा पर ध्यान न दे सकता है और प्रत्यावर्तकी अवस्था ही सम्पत्ती है। विद्याधर के अनुसार उल्लेखित प्रकार का व्यवहार। इस प्रकार चार स्थानों में वसन्ती ने प्रत्यावर्त के निमित्त चार अनुसूक्त अवस्थाएँ का निवेश किया है ॥ १५ ॥

विज्ञेन विज्ञाप्यनिदं नरेन्द्रे तस्मात्त्वयाम्भिनू समय समीक्ष्य ।  
कार्यन्तिकासिद्धिविस्मयसिद्धयोः कार्यस्य कार्यस्य शुभा विभाति ॥१६॥

जीवात्—विज्ञेनेति । तस्मात् तस्मात् विज्ञेन विवेकिता त्वया समय समीक्ष्य इदं कार्यमभिनू नये विषयं विज्ञाप्यम् । विस्मय स्मादिभ्यामङ्कुमाह—आम्भन्तिकेति । हे हम् ! कार्यस्य कार्यन्तिकासिद्धिविस्मयसिद्धयोर्नये कार्यस्य विदुषस्तं वा कतरा शुभा समीचीना विभाति ? जन्वहरविशदने कार्य-विभासाद्वर विस्मयनेत्यादि कार्यसामर्थ्यमिति भावः ॥ १६ ॥

अन्वय—तस्मात् विज्ञेन त्वया समय समीक्ष्य इदम् अभिनू नरेन्द्र विज्ञाप्यम् । कार्यस्य कार्यन्तिकासिद्धिविस्मयसिद्धयोः कार्यस्य का शुभा विभाति ?

हिन्दो—अत्रैव विद्येयं कार्यं तच्चित्तं समय की समीक्षा कर यह ( प्रत्यावर्त ) इस नरपञ्च ( नर ) के अनुष्ठान उपस्थित करें । कार्य पूर्णतया सिद्ध ही न हो अथवा विस्मय से सिद्ध हो—इन दोनों स्थितियों के मध्य कौन-से स्थिति आपको शुभ ( मनी ) प्रतीत होती है ?

टिप्पणी—कार्य की दो स्थितियाँ समझ हैं—( १ ) वह सफल न हो, ( २ ) वह विफल से सफल हो । कोई समझदार मानेगा कि पहिली की अपेक्षा दूसरी ही स्थिति मर्त्ता है । सो हृद को अपना प्रयत्न तच्चित्त जगह पर ही रखना चाहिए, वरन् ही कुछ विफल हो जाये । विद्याधर के अनुसार उल्लेखित प्रकार से अनुसूचित ॥ १६ ॥

इत्युत्पत्त्या यदप्यपि सज्जा साज्जीवितो चेतसि नञ्चक्रान् ।  
स्तरन्तु साक्षी तददोषतानानुन्माद्य यस्तत्तदविवदतान् ॥ १७ ॥

जीवातु—इतीति । इत्यमुक्तवत्या तथा लज्जा अलोपित्यक्तेति यत् । मा, विधेयप्राधान्यात् स्त्रीलिङ्गता, अनौचित्ये अनौचित्यङ्गतमेतत् नोऽन्माक शृङ्खला चेतसि चकास्तु । किन्तु लज्जात्यागस्य अदोषतायां स्मर साक्षी प्रमाण, य स्मर ता भंगीमुन्माद्य उन्मादावस्था प्राप्यतत्तदनुचित वचनमवी-  
च्यत् वादयतिस्म । वदतेणीं चडि 'गनिबुद्धी' त्यादिना वदेरणि कर्तुं कर्म-  
त्वम् । प्रकृतिस्वस्याय दोषो न दामोपहतचेतसि इति भाव ॥९७॥

अन्वय — इति उक्तवत्या यत् लज्जा अलापि सा न चेतसि अनौचित्ये  
चकास्तु, तु सददोषतायां स्मर साक्षी, य ताम् उन्माद्य तत् अवीवदत् ।

हिन्दी—यह सब ( उपर्युक्त ) कहती दमयती ने जो लज्जा का लोप  
कर दिया, वह भले ही हम लोगों के चित्त में अनुचित प्रतिमासि हो, किन्तु  
उस ( दमयती ) की निर्दोषता में काम ही प्रमाण है, जिसने उसे उन्माद में  
भरकर यह कहाया ।

टिप्पणी—लज्जा त्याग कर वाला दमयन्ती जो यह सब बोल गयी, वह  
श्रोता, पाठक अथवा कवि को अनुचित लग सकता है, पर दोष उसका नहीं उस  
काम का है जिसके कारण उत्पन्न उन्माद ने उससे यह कहा डाला । विद्याधर  
के अनुसार अतिशयोक्ति ॥९७॥

उन्मत्तमासाद्य हरः स्मरश्च द्वावप्यसोमा मुदमुद्वहेते ।

पूर्वस्मरस्पर्धितया प्रमूढ नून द्वितीयो विरहाधिहूनम् ॥ ९८ ॥

जीवातु—कामो वा विमर्शमेव कारयतीत्याशङ्क्य तस्याय निसर्गो यदु-  
न्मत्तेन श्रीहतीति सरष्टान्तमाह—उन्मत्तमिति । हर स्मरश्च द्वावपि उन्मत्त-  
मासाद्य अमीमा दुरता मुदमुद्वहेते दयतु । वहे स्वस्तिस्वादात्मनेपदम् किन्तु  
सत्र निर्देशमात्रात् पूर्वो हर स्मरस्पर्धितया स्मरद्वेषितया प्रमूढ धुतूरकुमुभ  
तस्यायुपतयेति भाव । अयस्तु द्वितीय स्मरस्तु विरहाधिहून विरहव्या-  
दु स्यमुन्मादावस्थापन्नमित्यर्थ । अयत्र विनोदलामादित्यर्थ । 'उन्मत्त  
उन्मादवति धुतूरभुवुद्वयोरिति विद्व । उमयोरभेदाप्यवभात् समान-  
यम्यत्वविशेषणमत्रास्तेपात्रवृत्ताप्रवृत्तगोचरत्वाच्च उमयदलेय तेन हरवत्  
स्मरोऽप्युन्मत्तप्रिय इति उपमा गम्यते ॥ ९८ ॥

अन्वय — परस्परस्पर्धितया नून हर स्मरः च द्वौ अग्नि उन्मत्तम् जासाद्य असौमा मुदम् उदबहेत्ते, पूर्वं प्रसून द्वितीय विरहाविदूतम् ।

हिन्दी—अन्वय के प्रतिस्पर्धी होने के कारण महादेव शिव और काम ये दोनों ही ऐसा लगता है कि उमादी को प्राप्त कर असीम प्रसन्नता-प्राप्त करते हैं। इनमें पहिले शिव उन्मत्त अर्थात् धनुर के दूध को, और दूसरा काम उन्मत्त अर्थात् बिरहोमादी जन को अथवा शिव के गण पिशाच को ( प्राप्त कर ) ।

टिप्पणी—पूर्व श्लोक में दमयन्ती के उन्मादजनित निर्लज्ज व्यवहार का कारण स्मर बनाया गया था। यहाँ कवि और-एक समावना करता है। उन्मत्त का अर्थ उन्मादग्रस्त तो है ही, घत्तूर और पिशाच भी है। इस आधार पर कवि सूचित करता है कि शिव और काम दोनों 'उन्मत्त' को प्राप्त कर प्रसन्न होते हैं। उन्मत्त-घत्तूर शिव को प्रिय है और उन्मत्त पिशाच तो उसका गण ही ठहरे। सो दोनों की प्राप्ति पर उन्हें विशेष प्रसन्नता होती है। प्रतिस्पर्द्धा की बात यहाँ यह है कि शिव-काम में समुभाव है, सो उन्मत्त को प्राप्त कर दोनों में प्रसन्न होने की भी प्रतिस्पर्द्धा हो जाती है कि कौन अधिक प्रसन्न हो ? उन्मत्त 'घत्तूर' काम का एक बाण ही है, सो उसकी प्राप्ति उसकी प्रसन्नता का कारण होगी ही, 'उन्मत्त' व्यक्ति इसलिए उसकी प्रसन्नता का कारण बनता है कि वह अपने प्रभाव की निधि देखता है।

अथवा शिव काम के आनुष-प्रतिस्पर्द्धा के जस्त 'घत्तूर' को पाकर प्रसन्न होते हैं कि बलो, धनु की बन्धु पर अधिकार हुआ। ऐसे ही काम भी 'उन्मत्त' अर्थात् पिशाच को पाकर प्रसन्नता में भर जाता है कि बलो, धनु का एक मेवक पकड़ में आया।

अथवा दोनों ही परस्पर स्पर्द्धा में उन्मत्त को या एक-दूसरे से अधिक प्रसन्नता व्यक्त करते हैं।

'विरह' कोष के अनुसार 'उन्मत्त' के अर्थ हैं उन्मादी और घत्तूर और मुचुकुट। इस प्रकार दोनों में जमेद होने से समानधर्मव विशेषणभाव है, इस प्रकार प्रकृतप्रकृत बोधर होने से यहाँ शब्द और अर्थ द्वैत हुआ, जिससे

हर के तुल्य स्मर भी उन्मत्तप्रिय है, यह उपमा ध्वन्य होती है। यह जीवातु-  
कार मल्लिनाथ का कथन है। विद्याधर के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा व्यतिरेक  
अलंकार है ॥९८॥

तथाऽभिधानीमथ राजपुत्री निणाय ता नैपघवद्वरागाम् ।

अमोचि चञ्चूपुटमोनमुद्रा विहायसा तेन विहस्य भूय ॥ ९९ ॥

जीवातु—तथेति । तथाऽभिधानी ता राजपुत्री भैमी नैपघे नले दद्वरागा  
निर्णीय तेन विहायसा विहगेन विहस्य भूय चञ्चूपुटस्य मीनमुद्रा निर्वचनत्व-  
ममोचि आवादीदित्यर्थं ॥ ९९ ॥

अन्वय—अथ तथा अभिधानी ता राजपुत्री नैपघद्वरागा निर्णीय तेन  
विहायसा विहस्य भूय चञ्चूपुटमोनमुद्रा अमोचि ।

हिन्दी—इसके अनंतर उस प्रकार कहनेवाली उस राजकुमारी को निपघ-  
राज के अनुराग में आवद्ध मानकर उस पक्षी ने हँसकर पुन अपनी चोंच की  
मीनस्थिति का परिचय किया, अर्थात् कहने के लिए चोंच खोली ।

टिप्पणी—हंस की दमघन्ती के मल पर अनुरक्त होने का विश्वास हो  
गया और वह कहने लगा । विद्याधर के अनुसार यहाँ ओज गुण है और  
छेकानुभास अलंकार ॥९९॥

इद यदि दम्भापतिपुत्रि । तत्त्व पश्यामि तन्न स्वविधेयमस्मिन् ।

स्थामुच्चकैस्त्वापयता नलं च पञ्चेपुणेषाजनि योजनेयम् ॥ १०० ॥

जीवातु—इदमिति । हे दम्भापतिपुत्रि । इदं त्वदुक्तं तत्त्व यदि सत्यं यदि  
तत्सहि अस्मिन् विषये स्वविधेयं मतव्यं न पश्यामि, किन्तु त्वा नृप च उच्च-  
कैरत्यस्त तापयता पञ्चेपुणैव इय योजना युक्तयो सङ्घटना अजनि जाता ।  
जने वमणि 'चिणो लुक्' ॥ १०० ॥

अन्वय—दम्भापतिपुत्रि, यदि इदं तत्त्व तत् अस्मिन् स्वविधेयं न पश्यामि,  
एव नृप च उच्चकै तापयता पञ्चेपुणा एव इय योजना अजनि ।

हिन्दी—हे धरणी के स्वामी की बेटी, यदि यह ( सचोक्त ) सत्य है,  
तो इस सबब में मुझे कुछ करणीय नहीं दीखता, तुम्हें और राजा नल को  
अत्यधिक विरह सन्तुष्ट करते पञ्चबाण ( काम ) ने ही इस योजना को  
सृष्टि की है ।



टिप्पणी—दमयन्ती और नल के मन में एक-दूसरे को पाने की अदम्य कामना है, अतः इस का कार्य बड़ा कुछ रह ही नहीं जाता । योजना तो बनो-बनायी है । विद्याधर के अनुसार यहाँ कार्यकारण पौवर्ष्यरूपा अति-जयोक्ति है ॥ १०० ॥

त्वद्ब्रह्मबुद्धेर्बहिरिन्द्रियाणां तस्योपवासव्रतिना तपोभिः ।

त्वामथ लब्ध्वाऽमृततृप्तिमाजा स्व देवभूय चरितार्यमस्तु ॥ १०१ ॥

जीवानु—त्वदिति । किन्तु त्वद्ब्रह्मबुद्धे त्वदासनाद्विषयान्तरव्यावृत्तानां तपोनिष्कतोपवासव्रतरूपेण त्वा लब्ध्वा मनुष्येन लब्धप्राया निश्चित्य साक्षात्कुर्येति च गम्यते, अत एव अमृतेन या तृप्तिस्तद्भाजा बहिरिन्द्रियाणां स्व स्वकीय देवभूय देवत्वमिन्द्रियत्व सुरत्वञ्च, 'देव सुरे राति देवमाभ्यास-मिन्द्रियमि'ति विश्व । चरितार्यं सफलमस्तु । अमृतपानैकफलत्वाद्देवत्व स्यादिति भावः । अर्यान्तरप्रतीतिर्ध्वनिरेकेत्यनुसन्धेयम् ॥ १०१ ॥

अन्वयः—त्वद्ब्रह्मबुद्धे तस्य उपवासव्रतिना तपोभिः अथ त्वा लब्ध्वा अमृततृप्तिमाजा बहिरिन्द्रियाणां स्व देवभूय चरितार्यम् अस्तु ।

हिन्दी—तुम्हारे प्रति अपनी बुद्धि को प्रतिबद्ध किये उस ( नल ) की उपवास-व्रत में लगीं, उपश्रवण द्वारा आज तुमको प्राप्त कर अमृतपान की परितृप्ति की आज्ञा बाह्य इन्द्रियों का अपना 'देवत्व' ( इन्द्रियत्व और देवता होना ) सफल हो ।

टिप्पणी—दमयन्ती के अनुराग के विषय में जानकर नल चरितार्य हो जायेगा, उसकी नेत्रादि बाह्येन्द्रियाँ तृप्त हो जायेंगी, जैसे दमयन्ती के रूप में उसे अमृत की मन्दाकिनी मिल गयी हो । इस प्रकार उनका देवत्व अर्थात् इन्द्रिय-हाना ही चरितार्य न होगा, प्रत्युत देवत्व जहाँ देव होना भी सफल हो जायेगा, क्योंकि यह माना जाता है कि इन्द्रियों में देवता का काम होने से वे 'देव' कहे जाती हैं । उदाहरणार्थ—सूर्य 'अधु' होकर आँतों में प्रविष्ट है—'आदित्यदक्षमुत्वाऽक्षिणी प्राविशत्' ( ऐतरेय ० २।४ ) । दमयन्ती के अभाव में नल की इन्द्रियाँ न तो कुत्रापि ही थी और न उक्त 'देव' नाम ही

सायंक था, जब वे कृतकाम होगी । 'विश्व' कोय के अनुसार 'देव' शब्द सुर, राजा और इन्द्रिय अर्थों का वाचक है । ध्वजि उपवासादि व्रत-परिचालन में लगकर तपस्वारत हो और तल्लीन भाव से ब्रह्म में बुद्धि लगाकर ही पुण्य भाजन हो ब्रह्म को प्राप्त करता है और मोक्षानन्द रूप देवत्व प्राप्त करता है, ऐसी ही नल की बाह्येन्द्रियो की स्थिति है । मल्लिनाथ ने यहाँ अर्थात् प्रतीति से ध्वजि का संकेत किया है, विद्याधर समासोक्ति मानते हैं ॥ १०१ ॥

तुल्यावयोमूर्तिरभून्मदीया दग्धा पर साऽप्यन ताप्यनेऽपि ।

इत्यभ्यसूयन्निव देहतापं तस्याऽननुस्त्वद्विरहाद्विधत्ते ॥ १०२ ॥

जीवातु—यदुक्तं नृप पञ्चे पुस्तापयतीति तदाह—तुन्येति । आवयो-  
नलस्य मम चेत्यर्थः । 'त्यदादीनि सर्वेन्द्रियमि'ति सर्वग्रहणादत्यदादिना मत्नेन  
सह त्यदाद्येकशेषः । मूर्तिस्तनुस्तुत्या तुन्यकृताऽभूत् । तत्र मदीया सा मूर्ति  
पर नि शेष दग्धा भस्मीकृता, अस्य मूर्तिस्तनुं ताप्यते तापमपि न प्राप्यते  
इति हेतोरभ्यसूयन् ईर्ष्यानिवेत्सुत्रेणा । अतनुरनङ्गस्त्वद्विरहात्स्वद्विरहमेव  
रन्ध्रमन्विष्येत्यर्थः । तस्य नलस्य देहताप विधत्ते । तस्मात्सिद्धिपदमुपविष्टो  
ते मनोरम इति भावः ॥ १०२ ॥

अन्वयः—आवयो मूर्तिः तुन्या अभूत्, मदीया दग्धा परम् अस्य न  
ताप्यते अपि न—इति अभ्यसूयन् इव अतनु स्त्वद्विरहात् तस्य देहताप विधत्ते ।

हिन्दी—हम दोनों ( काम-नल ) का रूप समान था, मेरा ( काम का )  
देह तो जल गया, किन्तु इस ( नल ) का देह तपाया भी नहीं जाता—इस  
प्रकार मानो ईर्ष्या करता अदेह कामदेव तेरे वियोग से उसके देह को तप्त  
कर रहा है ।

टिप्पणी—विरही नल की स्मरजन्य ताप दशा का घ्यात्र से वर्जन ।  
विद्याधर ने यहाँ चिन्ता नामक स्मर दशा और उत्प्रेषा का निर्देश किया है,  
प्रकाशकार यहाँ कामजनित विरहज्वर मानते हैं ॥ १०२ ॥

लिपि दूरा मित्तिविभूषण त्वा नृप. पिवन्नादरनिनिमेषम् ।

चक्षुर्वरेरस्मिन्मात्मचक्षुराग स घत्ते रचित त्वया नु ॥ १०३ ॥

जीवातु—अयास्य दशावस्था वर्पयन् चक्षुःप्रीति तावत् श्लोकद्वयेनाह—

निमित्तित्वादि । हे भैमि ! म नृपो मित्तिविभूषण कुड्यालङ्कारभूता निमि  
चित्रनयी त्वा दृशा आदरेणास्यया निर्निमेष पिवन् चक्षुर्गौरवधूमिरपि त्वया  
नु त्वया वा रचितमात्मचक्षुषो रागमात्मनुरागञ्च घत्ते । जत्रोनयकारण-  
सम्भवादुनयस्मिन्नपि रागे जाते इत्येवमहिम्नैकत्रानिगानात्कारणविशेष सन्देहः ।

अन्वयः—स नृप मित्तिविभूषण लिपि त्वा दृशा आदरनिर्मिष पिवन्  
चक्षुर्गौरव धूमि नु त्वया रचितम् आत्मचक्षुषो राग घत्ते ।

हिन्दी—वह राजा दीवार को अलङ्कार चित्ररूप में बनी ( दीवार पर  
बने चित्र रूपमें ) तुमको दृष्टि से आदर पूर्वक बिना पलक झपक्ये पीता हुआ  
( एकटक आदर-अनुराग से देखता ) आँखों से बहती आँसू की झड़ी से जलित  
मानों तुम्हारे द्वारा उद्भूत किया—अने नयों में लाली को धारण कर अपनी  
आँखों के अनुराग प्रकट कर रहा है ।

टिप्पणी—इस श्लोक में नल के 'चक्षु-प्रेम' का वर्णन है । वह दीवार  
पर बने वनयन्त्री के चित्र को अनुराग और आदर से एकटक निहारता रहता  
है, जिससे उसकी आँखों से ज़ाँबू बह जाते हैं और वे लाल हो जाती हैं, इसी  
पर कवि की कल्पना है कि नेत्रों का यह एकटक निहारना, आँसू बहाना और  
लाली उसके 'चक्षु-प्रेम' का प्रमाण है । कवि-सम्प्रदाय के अनुसार अनुराग का  
रग लाल माना जाता है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ सदेह अलङ्कार है,  
क्योंकि चक्षुषो का कारण एकटक निहारना अथवा अनुराग—दोनों हो सकते  
हैं । विद्याधर नयन प्रीति और विषय निवृत्ति स्मर-दशा मानते हुए उल्लेख  
अलङ्कार मानते हैं । प्रजासकार ने टाड्रेक्षा का कारण माना है कि वाप्यवर्ति-  
लोहितिमा भानी वनयन्त्री विषयक, उद्भूत नयनानुराग है । प्रथम काम  
दशा । 'रतिरहस्य' के अनुसार दस काम-दशाएँ हैं—'नयनप्रीति, प्रथम चित्ता-  
सङ्गन्ततोऽप्य सङ्कल्प । निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिश्चानाथ । उन्नादो  
मूर्च्छा मृत्रिरित्येता स्मरदशा दशैव स्युः' ॥ १०१ ॥

पानुदृशाऽऽलम्बयमयी नृपस्य त्वामादरादस्तनिमोऽप्याजन्ति ।

ममेदमित्युश्रुणि नेत्रवृत्ते प्रीतिनिमेषच्छिदया विवादः ॥ १०४ ॥

६ नै० तृ०

जीवातु—इममेवार्थं सङ्गद्यन्तरेणाह—पातुरिति । अस्तनिमीलया निनि-  
मेषया दृशा आलेख्यमयी चित्रगता त्वामादरात्पातुर्दंष्टुरित्यर्थः पिबतेस्तृन्  
प्रत्ययः । अत एव 'न लोके'त्यादिना पट्टीप्रतिषेधात्वमिति द्वितीया । नृपस्य  
नेत्रवृत्ते प्रीतेश्चक्षुःप्रीतेर्निमेषस्य च्छिदया च्छेदेन सह नेत्रवृत्त्येति शेषः ।  
भिदादित्वादङ् प्रत्ययः । अश्रुणि विषये इदमश्रु भमेति मत्कृतमेवेति विवादः  
कलहः अस्ति भवतीत्यर्थः ॥ १०४ ॥

अन्वयः—अस्तनिमीलया दृशा आलेख्यमयी त्वाम् आदरात् पातुः नृपस्य  
नेत्रवृत्ते प्रीते निमेषच्छिदया विवादः अस्ति ।

हिन्दी—अपलक दृष्टि से चित्रगता ( चित्र में बनी ) तुमको आदर से  
पीते ( मिहारते ) राजा के नेत्रों में वर्तमान अनुराग का निमिषच्छिदा ( अप-  
लक देखता ) से विवाद चल रहा है ।

टिप्पणी—नेत्रानुराग का अन्य भगिमा से वर्णन । नेत्रप्रीति और निमिष-  
च्छिदि—दोनों का दावा है कि नयनाश्रु का कारण वह है । नेत्र प्रीति कहती  
है—ये आँसू मैंने उत्पन्न किये हैं, निमिषच्छिदि कहती है मैंने । यहाँ भी 'नयन-  
प्रीति' काम दया का ही वर्णन है ॥ १०४ ॥

त्व हृद्गता भूमिः बहिर्गताऽपि प्राणायिना नासिकयाऽस्य गत्या ।

न चित्तमाक्रामसि तत्र चित्रभेतन्मनो यद्भवदेकवृत्तिः ॥ १०५ ॥

जीवातु—अथ मनःसङ्गमाह—त्वमिति । हे भूमि ! त्वं बहिर्गतापि हृद्गता  
अतर्गता, अति विरोधे तेन चाभासाद्विरोधभासासोऽङ्गुलारः । कया गत्या केन  
प्रकारेण अस्य नलस्य प्राणायिता प्राणवदावृता प्राणसमा 'उपमानादाधारे'  
वर्तुं वयङ् प्रत्ययः । नासि अस्त्येवेत्यथ । यतः प्राणोऽपि नासिक्या नासाद्वारेण  
आस्यगत्या मुतद्वारेण उच्छ्वासादिश्वासरूपेण बहिर्गतोऽप्यतर्गतो भवतीति  
शब्दश्लेषः । अत एव प्राणायितेति श्लिष्टविशेषणैयमुपमा पूर्वोक्तविरोधेन  
सङ्कीर्णा, किंतु तत्र प्राणायितत्वे चित्रमाश्रयैरस्य चित्तमाक्रामसि न किञ्चि-  
च्चित्रमित्यर्थः । पुनः अयस्मादेतन्मनो नलचित्तं भवतीत्येवैका वृत्तिर्जीविका  
यस्य तद्भवदेकवृत्तिः, भवच्छब्दस्य सवनामत्वाद् वृत्तिभावे पुनश्चाह ।  
जीवितमृतस्य प्राणायितत्वे न चित्र, जीवितस्य प्राणधारणात्मकत्वादिति भावः ॥

अन्वयः—हे नमि, ( १ ) बहिर्गता अपि हृदयता त्व कया गत्या अन्य प्राणापिता न अस्ति ? ( २ ) बहिर्गता त्व नासिकाया आस्थगत्या अपि प्राणापिता । ( १ ) यत् भवदेकवृत्ति एतत् मन चित्रम्, न आक्रामति तत्र चित्रम् । ( २ ) चित्र तत्र चित्त न आक्रामति यत् एतत् मन भवदेकवृत्ति ।

हिन्दो—हे नीमकुमारो, ( १ ) बाहर रहती भी हृदय में बसती तुम किस प्रकार इस ( मन ) को प्राप्तुं नहीं हो ? हो हो । ( २ ) बाहर निवास करती तुम नासिका और मुख को गति ( सौन्दर्य ) से मन के प्राणों में स्थित हो अर्थात् प्राणमया हो, जैसे नासिका द्वारा बाहर अगुल बाहर गया वायु मुख द्वारा प्रविष्ट हो प्राणवायु की सत्ता पाता है । ( २ ) जो कि आपके प्रति एकनिष्ठ यह मन विप्रसमान श्वचल, आपके चित्र पर झपट क्यों नहीं कर देता—यह आश्चर्य है ( विरह चषल हो आक्रमण कर देना चाहिए ) । ( २ ) तुम्हारा चित्र चित्त को नहीं छोड़ता, क्योंकि यह मन आपमें लम्बीन है ।

टिप्पणी—तृतीय वरम में 'चित्तम्' भी है और पाठान्तर 'चित्रम्' भी । वस्तुन इतमें दूसरी स्मरदशा चित्तालय का वर्णन है, जिसमें मन की सम्यग्ती के प्रति सम्यग्ता और एकनिष्ठता का निवेदन है । विद्याधर ने यही विषय—निवृत्ति और सकल्प नामक कामदशानों का प्रतिपादन माना है तथा विरोधाभास-इत्येव-उपमा को सृष्टि ॥ १०१ ॥

अजस्रमागेह्मि दृग्दीर्घा न हृन्मसोपाननति तदीयाम् ।

श्वासान् न वर्पत्यधिर्धनं पुनर्यद्व्यानात्तव त्वन्मयान्तवाप्य ॥ १०६ ॥

जीवानु—अयं शब्दाः सङ्ख्यावत्यामाह—अजस्रमिति । दृग्दीर्घान्-त्यन्मायता तदीया सङ्ख्या मनोरथा एव नोपानानि तेषाम् तत्रि षड्विंशमजस्र त्वमारोहनि, श्वासान् पुनः स नत् अन्वि वर्पति मुञ्चतीति यत् तद्व्यासवर्षं तव व्यानात् त्वमयता त्वदान्मकत्वमाप्य प्राप्य, प्राप्नोतेराह, समासे क्त्यो स्यवादेशः, अन्यथा क्यमन्यानामाह्वान्य श्वानमोक्ष इति भावः । अत्र श्वास श्वासारोहन्मो नार्थकारणयोर्ध्वनिद्वयस्योक्तेरसङ्ख्यत्वात् 'कारणकारणयो-

भिन्नदेशत्वे स्यादसङ्गतिरिति लक्षणम् तन्मूला चेयं तादात्म्योत्प्रेक्षेति सङ्कर ॥ १०६ ॥

अन्वय—दूरदीर्घां सद्वीया सङ्कल्पसोपानतत्तिम् अजसम् आरोहसि यत् पुनः स तव ध्यानात् तदा त्वमयताम् अवाप्य अधिक श्वासान् वर्पति ।

हिन्दो—तुम उस ( नल ) के मनोरथों की बहुत बड़ी सीढ़िया पर निरन्तर चढ़ी रहसो हो ( नल प्रतिक्षण तुम्हारे किय मे ही विचारता रहता है ) कि वह नल तुम्हारे ध्यान में उस समय स्वस्वरूप हो लम्बे लम्बे साँस खाता है ।

टिप्पणी—यहाँ तृतीय स्मरदशा सङ्कल्प का वर्णन है । नल दमयन्ती का प्राप्त करने के उपाय सदा सोचता रहता है और लम्बे निश्वास छोड़ता रहता है । वह दमयन्ती का ध्यान करते-करते तत्स्वरूप ही हो जाता है भू गीरीड के समान । सीढ़िया पर बारम्बार चढ़ता-उतरता व्यक्ति श्रम के कारण लम्बे उच्छ्वास लेता हो, सो सङ्कल्पसोपानतत्ति पर निरन्तर आरोहण करती दमयन्ती के ध्यान में तद्रूपता के कारण मानो यका नल सदा उच्छ्वास छोड़ता रहता है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ श्वास-सापानाराहण रूप काम-कारणों की विय-धिकरण से उक्ति के आधार पर असंगति अलंकार है, कारण कि कार्य-कारण की भिन्न-देशता असंगति होती है—कार्य कहीं, कारण वही । नल के दमयन्ती-तादात्म्य की उत्प्रेक्षा असंगतिमूलक है, अतः सङ्कर है । विद्याधर के अनुसार यहाँ असंगति अलंकार का आभास है ॥ १०६ ॥

हृत्तस्य या मन्त्रयते रहस्त्वा ता व्यक्तमामन्त्रयते मुख यत् ।

तद्वारिपुष्पायुधमित्रचन्द्रसख्योचिती सा खलु तन्मुखस्य ॥ १०७ ॥

जीवानु—हृदिति । तस्य नलस्य हृत् हृदयं वर्तुं या रत्ना रह उपायु 'रहचोपायु चालिङ्गे' इत्यमर । मन्त्रयते सम्भाषते ता त्वो तन्मुखं वर्तुं व्यक्त प्रकाशमामन्त्रयते । हे प्रिये ! क्या यामि ? मामनुमान् पश्य इत्येव-मुर्ध्वद्वचरतीति यत् सा तद्रहस्यप्रकाशन, विधेयप्राप्तायात् स्त्रीलिङ्गता । तन्मुखस्य तद्वारिणी नलद्वेषिणि पुष्पायुधस्य मित्र सखा धरच्चन्द्रः । तेन यत् सरूप मंत्री साध्यश्च, तस्य वाचिती औचित्यं खलु । अतिमित्रस्मात्परित्या-

दुचित्तमनस्रहस्यभेदनमित्यर्थ । जन नृषमृगं रूढस्योद्धेदनस्य उक्तवैरनिमित्त-  
त्वमुपेजते ॥ १०३ ॥

अन्वय —उम्ह हूँ या त्वा रू मन्त्रपते ता मुख व्यक्तम् अमन्त्रपते, ता  
तन्मुखस्य तद्वैरिपुणान्बलिप्रचन्द्रस्योचितो बहू ।

हिन्दी —उप ( नर ) का हृदय जो तुमसे एकाउ में गुप्त मन्त्रा करता है,  
मुख उसे स्पष्ट व्यक्त कर देता है, उस ( नर ) के मुख की ( स्पष्ट व्यक्ति )  
उस ( नर ) के धनु कुमुनाक्षुष ( काम ) के मित्र चन्द्र का मित्रवर्ताचिन  
व्यवहार ही है ।

टिप्पणी—यह भी सफ़्त्य देता है । भाव यह है कि नर ता मन-हो-मन  
गुप्त रूप से हमदर्दी-विषयक विचार करता है, परन्तु उसके मुख पर मन्त्रके  
विशेषगतिवि पीलावन, म्लानभाव आदि उससे भाव को प्रकट कर देते हैं ।  
सीन्दरीदि-रूप श्री के कारण काम नर का प्रतिस्पर्धी और धनु है, चन्द्र काम  
का मित्र है । मित्र ना धनु धनु होता है—उस दृष्टि से नर चन्द्र का भी शत्रु  
हूँ । मुख की प्रतिस्पर्धी ( मुख-चन्द्र ) के कारण भी चन्द्र नर और नर मुख  
का धनु है । अथवा मुख रूप में चन्द्र ही है, जो अपने मित्र ( काम ) के धनु  
( नर ) का रहस्य प्रकाशित कर रहा है और इस प्रकार नर की कामावतता  
की स्पष्ट घोषणा कर रहा है । मुखस्य चन्द्र का इस प्रकार मित्र की सहायता  
करना मित्रवर्ताचिन व्यवहार है । उत्प्रेक्षा अन्तकार ॥ १०३ ॥

म्यितस्य रात्रावधिगम्य दध्या मोहे मनस्यस्य निमग्नयन्ति ।

आलिङ्ग्य या चुम्बन्ति लोचने मा निद्राञ्जुना न त्वद्वेङ्गना वा ॥

टीका—अथ एकेन जागरमरतिश्चाह—म्यितस्येति । रात्री दध्यामपि-  
दध्या दध्यायां गमित्वा 'अपिधीहस्यासामि'ति अधिकरणस्य कर्मत्वम् ।  
रिधनस्य वस्य मनो मोहे मुखसारवस्य निमग्नयन्ती सती या आलिङ्ग्यलोचने  
चुम्बन्ति, या निद्रा त्वदो त्वतो विना 'अयारादितरते' इत्यादिना पञ्चमी ।  
त्वद्विराद्वेजोस्त्वदया चेति द्रष्टव्यम् अङ्गना वा अङ्गुना नास्ति, निद्रानिषेधा-  
ज्जागर अङ्गनान्तरनिषेधाद्विषयवैषम्येन अरतिरचोक्त्य अत्र निद्राङ्गनयोः  
प्रसृतयोरेवालिङ्गनासिचुम्बनादिधनं गम्यादौपम्यप्रतीति केवञ्च प्रकृतपोचरा-

तुल्ययोगितालङ्कार । 'प्रस्तुताप्रस्तुतानाम्ब केवल तुल्यधर्मत । भोपम्य गम्यते यत्र सा मता तुल्ययोगिता ॥' इति लक्षणात् ॥ १०८ ॥

अन्वय — रात्रौ शय्याम् अधिशय्य स्थितस्य तस्य मन मोहे निमग्जयन्ती या आलिङ्ग्य लोचने चुम्बति सा निद्रा त्वदृते अङ्गना वा अधुना नास्ति ।

हिन्दी—रात में शय्या पर लेटे उसके मन को मोह में मग्न करती जो आलिङ्गन करके नेत्रों का चुम्बन करती है, तेरे बिना वह नींद अथवा अन्य रमणी इस समय नहीं है । अथवा 'बहु नींद रूपी अगना' तेरे बिना इस समय नहीं आती ।

टिप्पणी—यहाँ 'निद्राच्छेद' नामक चतुर्थी स्मर दशा का वर्णन है । नल को आजकल दमयन्ती के वियोग में न तो नींद हो जाती है और न अय स्त्री ही आती है । रात भर परलिंग पर पड़ा नल दमयन्ती के विचार ही में डूबा जागा रह जाता है । आलिङ्गन-चुम्बनादि धर्मों के साधम्य से निद्रा और अगना में भोपम्य की प्रतीति होती है, जो दोनों प्रस्तुत हैं और प्रकृत गोचर हैं, अतः मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ तुल्ययोगिता अलङ्कार है । विद्याधर ने विकल्प अलङ्कार का निर्देश किया है ॥ १०८ ॥

स्मरेण निस्तस्य वृषैव बाणलविष्यशेषा कृशतामनायि ।

अनङ्गतामप्यमप्यमान स्पर्धा न साधं विजहाति तेन ॥ १०९ ॥

जीवातु—अथ काव्याविस्थामाह—स्मरेणेति । अयं नल स्मरेण वाणै-  
निस्तस्य निघात्य वृषैव लावण्य भान्तिविशेष, 'मुक्ताफलेषु ज्वालापास्त-  
लत्वमिवान्तरा । प्रतिभाति यदङ्गेषु तत्लावण्यमिहोप्यते ॥' इति भूपाल ।  
सदेव शेषो मस्यास्ता तनुता काव्यमनायि नीत । नयतेद्विकर्मकत्वात्प्रधाने  
कर्मणि तुद् 'प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाद्द्विकर्मणाभि'ति वचनात् । वृषारव  
प्यनवित—अनङ्गता कृशाङ्गताम् 'अनुदरे' तिवदीपदयं नव समाप्त, आप्यमानो  
आनीयमानोऽपि अत्र भुवत्प्रधाने धानच् तेन स्मरेण साधं स्पर्धा न विज-  
हाति, तथापि त्व जिगीषत्येवेत्यर्थ । अङ्गकाव्येऽपि स्पर्धाविजलावण्यस्या-  
काव्यादङ्गकथनं वृषैवेति भाव । अत एव विशेषोक्तिरलङ्कारः, 'तत्सामप्र-  
पामनुत्पत्तिविशेषोक्तिरलङ्कारः ।' इति लक्षणात् ॥ १०९ ॥



अन्वय — स्मरेण बाणैः निस्तस्य वृथा एव अथ लावण्यरोपा कृतताम् अनापि, अनङ्गताम् आप्यमान अपि तेन सार्धं स्पर्द्धा न विजहाति ।

हिन्दी—काम ने बाणों से भेद भेद कर व्यर्थ ही इस ( नल ) को, सोन्दर्य ही जिसमें अवशिष्ट रह गया है ( सोन्दर्यावशिष्ट ), उस कृतता को पहुँचाया, शरीरभाव को प्राप्त होकर भी नल ने उस ( काम ) के साथ स्पर्द्धा को नहीं छोड़ा ।

टिप्पणी—उनुता नामक पंचमी स्मरदशा । काम ने पीड़ित कर नल को इतना दुर्बल-कृत कर दिया है कि अब उसमें शरीर नाम का कुछ रह ही नहीं गया है, सोन्दर्य ही शेष है । इसमें काम का कोई लाभ तो नहीं हुआ, हाँ 'अनङ्गता' में भी नल इसको प्रतिस्पर्द्धा करने लगा । यह हानि ही हुई । अनग होकर भी नल सोन्दर्य समता में काम को पराजित कर रहा है । भाव यह है कि यद्यपि नल अत्यन्त दुर्बल हो गया है, पर उसके सोन्दर्य में रत्ती भर भी न्यूनता नहीं जायी । लावण्य रोपा-विशेष को कहते हैं—'जैसे मोती में छाप की भी एक बिशिष्ट तरलता दिखायी देती है, वैसे जो जगों में प्रतिभासित हो, उसे लावण्य कहते हैं ।' मल्लिनाथ के अनुसार यही विशेषोक्ति है, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ १०९ ॥

त्वत्प्रापकात्प्रस्यति नैनसाऽपि त्वय्येव दास्येऽपि न लज्जते यत् ।  
स्मरेण बाणैरतितस्य तीक्ष्णैर्लूनः स्वभावोऽपि क्रियात् किमस्य ॥ ११० ॥

जीजातु—अथ द्वाभ्या लज्जात्यागमाह—त्वदित्यादि । स्मरेण तीक्ष्ण-बाणैरतितस्य शरीरमिति शेष । अस्य नलस्य स्वभावोऽपि पापमीदृत्वनीचत्व-गह्वराच्छीन्मपि श्रिमानल्लोऽपि लून किमित्युत्प्रेक्षा, यद्यस्मात्त्वत्प्रापकात् त्वत्प्राप्तिस्त्राघनादेनस पापादपि न प्रस्यति, नीचायांना भयहेतुरिति अपादान-त्वात् पञ्चमी त्वय्येव दास्येऽपि त्वदधिगतदास्यविषये न लज्जते ॥ ११० ॥

अन्वय—स्मरेण तीक्ष्ण, बाणैः अतितस्य अस्य स्वभाव अपि किं क्रियात् लून, यत् त्वत्प्रापकात् एतत् अपि न प्रस्यति, त्वमि दास्ये अपि न लज्जते ?

हिन्दी—काम ने तीक्ष्ण बाणों से अत्यधिक भेद भेद कर इस ( नल ) का स्वभाव ( प्रकृति-आदत्त ) भी क्या कुछ छिन्न-भिन्न कर डाला है, जो तुझे प्राप्त

करा सकने वाले पाप ( बलपूर्वक राक्षस विवाहादि ) से भी वह नहीं डर रहा है और तेरी दासता करने में भी नहीं लज्जा रहा है ?

टिप्पणी—‘त्रपानाश’ नामक सातवीं स्मरदशा । इस समय नल की दशा ऐसी है कि वह दमयन्ती को पाने के लिए राक्षस-विवाह में प्रयुक्त बल प्रयोगादि जैसे पाप भी कर सकता है, इसमें न उसे डर है । और जहाँ तक लज्जा नाश का, नितलज्जता का प्रश्न है, नल को दमयन्ती का दास होना भी स्वीकार्य है । स्वभावतः नल पापभीरु है, लज्जाशील है, पर ऐसा लगता है कि काम ने उसका स्वभाव भी बदल डाला है । केवल शरीर ही छिन्न भिन्न नहीं किया, प्रभुत्व गहरे आघात कर स्वभाव तक छिन्न भिन्न कर डाला । विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ११० ॥

स्मार ज्वर घोरमपत्रपिष्णोस्मिद्धागदङ्गारचये चिकित्सौ ।

निदानमीनादविशद्विशाला साङ्क्रामिकी तस्य रुजैव लज्जा ॥ १११ ॥

जीवस्तु—स्मारमिति । घोर दारुण स्मार ज्वर कायसन्तप्य चिकित्सौ प्रतिकर्तारि कितनिवास इति धातो ‘गुप्तिग्विदम्य सन्निति निष्ठाक्षमाव्यापि-प्रतीकारेषु इष्यत’ इति रोगप्रतीकारे सन् प्रथम्य, ‘सनाशसभिन् उ’, ‘नलोके’ त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । सिद्धागदङ्गारचये सिद्धवैद्यस्य कर्मण्यपि ‘कारे सत्यागदस्ये’ति भुमागमः । निदानमीनाद्वागनिदानानभिधानादतोरपत्रपिष्णो-लज्जाशूलस्य ‘अलङ्कृजि’त्यादिना इष्णुश्च । तस्य नलस्य विद्याला मृत्तो लज्जा सक्रमादागता साङ्क्रामिकी रुजैव, ‘अक्षिरोगो ह्यपस्मार सप कुष्ठो मसूरिका । दसंतात् स्पशंताहानात् सक्रमति नरान्तरम् ॥ इति उक्तादयादि-रोगा इवेत्यर्थः, भिदादित्वादङ् प्रथम्य, अविशत् ॥ १११ ॥

अन्वयः,—घोर स्मार ज्वर चिकित्सौ सिद्धागदङ्गारचये निदानमीनात् अपत्रपिष्णो तस्य विशाला लज्जा साङ्क्रामिकी रुजा इव अविशत् ।

हिन्दी—दारुण काम ज्वर की चिकित्सा के निमित्त एकत्र सिद्धवैद्य समूह में निदान समय मौन रह जाने से ( निदान न कर सकने से ) लज्जाशील उस ( नल ) की विशाल लज्जाशीलता बड़े सांक्रामिक राग ( छूट की बीमारी ) की भाँति प्रविष्ट हो गयी ।

टिप्पणी—यह भी ज्ञानाद्य के सुदर्भ में ही कहा गया है। राजा की वृक्षता आदि रोग की चिकित्सा के लिए बड़े-बड़े मिद्ध वैद्य लाये, पर कोई ठीक ठीक निदान न कर सका, अतः वे देवारे बड़े रुज्जित हुए। इसी पर कल्पना की गयी है कि लज्जाशील नल की लज्जा एक छूत के रोग की भाँति वैद्यों को जा लगी। नल तो अपना रोग लज्जाशीलता से कहते नहीं, तो वैद्य कैसे बनायें ? फलतः वे रुज्जित हुए। प्रजापति ने एक और-प्रकार से भाव स्पष्ट किया है—निदान करते समय वैद्यों ने नल से ही रोग-विषय में कुछ पूछा, उस पर नल ने लज्जा छोड़ कह दिया कि यह ज्वर दमयन्ती के कारण है। इस भेद की जात कर अथवा बिना कहे रोग को समझ न सके, इस कारण वैद्य रुज्जित हो गये। इस प्रकार लज्जा-रोग का सद्व्यवस्था हुआ। कहा गया है कि अग्नि रोग, मिरगी, क्षय, कोढ़ और मयूरिका ( बेचक ) दर्शन, स्पर्श, दान से एक व्यक्ति से दूसरे को हो जाते हैं। ऐसा भी कहा गया है कि अग्नि रोग, ज्वर, कोढ़ और मिरगी महामोज आदि के कारण सक्रमिष्ठ हो जाते हैं—‘अग्निरोगो ज्वरं शुष्कं तयाज्जस्मार एव च । सह दुःस्वपादिसम्बन्धात्सङ्क्रमन्ति नरान्तरम्’ ॥ विद्याधर के अनुसार अपहृति—उपना है, क्योंकि वैद्यों में लगान्तर का आरोप हुआ है ॥ १११ ॥

विमेति रष्ट्रासि किलेत्यक्स्मात्स त्वां किल्पोपेत्य हसन्वकाण्डे ।

यान्तामिष त्वामनुयात्यहेतोश्चकस्त्वयेव प्रतिवक्ति मोघम् ॥११२॥

जीवानु—जय उन्मादावस्त्वानाह—विभेतीति । स नल अक्स्मादकाण्डे दृष्टा द्रुपितासीति विभेति, अकाण्डे अनवनरे उपेत्य किल प्राप्तेव हसति, अह्नोरक्स्माद्यान्ती गच्छन्ती किञ्च त्वामनुयाति, त्वया उक्त इव मोघं निर्विषयं प्रतिवक्ति । सर्वोप्यनुमादानुभावः । उन्मादविषयविघ्नम् ॥ ११२ ॥

अन्वय —स अक्स्मात् रष्ट्रा असि इति विमेति अकाण्डे उपेत्य हसति किल अहेता यान्तीम् त्वाम् अनुयाति इव, त्वया उक्त इव मोघं प्रतिवक्ति ।

हिन्दी—वह ( नल ) धँसे सहसा तुम रूठ हो गयी हो, इससे डर जाता है, मानों तुम्हारे निकट पहुँच कर अनवर पर हँस पड़ता है, अकारण जाती

हुई तेरे पीछे जैसे चल देता है और जैसे तुमने कुछ कहा हो, इस प्रकार व्यर्थ प्रत्युत्तर देने लगता है ।

टिप्पणी—आठवीं स्मरदशा उन्माद का वर्णन । वियोगोन्मत्त नल उलटे-सीधे कार्य करने लगता है । उन्माद में चित्त विभ्रम हो जाता है—‘उन्माद-द्विजितविभ्रम ।’ विद्याधर ने उल्लेख्य अलंकार उत्प्रेक्षा माना है ॥ ११२ ॥

भवद्वियोगाच्छिदुरातिधारायमस्वसुर्मज्जति निशरण्य ।

मूर्च्छामयद्वीपमहान्वयपङ्के हा हा महीभृद्भटकुञ्जरोऽयम् ॥ ११३ ॥

जोवातु—अथ मूर्च्छावस्थामाह—भवदिति । भवत्मा वियोगो भव-द्वियोग, ‘सर्वनाम्नो वृत्तिमान्ने पुनर्ज्ञातः’ । तस्मिन्मच्छिदुरा अविच्छिन्ना ‘विदिमिदिच्छिदे कुरष्’ । आतिधारा दुःखपरम्परा तस्या एव यमस्वसुय-मुनाया मूर्च्छामय मूर्च्छावस्थारूप यद्वीप तत्र यन्महा-व्य महामोहस्तस्मिन्नेव पङ्के महीभृद्भटो राजवीर स एव कुञ्जर निशरण्यो निरालम्बः सन् मज्जति हा हेति चेदे । रूपकालङ्कार । आतिधारायास्तमोविकारत्वेन रूप-साम्नाद्यमुना रूपणम् ॥ ११३ ॥

अन्वय—हा, हा, भवद्वियोगाच्छिदुरातिधारायमस्वसु मूर्च्छामयद्वीपमहा-न्वयपङ्के निशरण्य अथ महीभृद्भटकुञ्जर मज्जति ।

हिन्दी—हाय हाय आपके वियोग की अविच्छिन्न दुःख परम्परा रूप यम की भगिनी यमुना के मूर्च्छावस्थारूप महामोहरूप कीचड़ में निराश्रित यह बीर धरणीधर रूपी हाथी घंसा जा रहा है ।

टिप्पणी—नवीं मूर्च्छा दशा का विवरण । जैसे यम की बहिन-विनाश स्वरूपा यमुना के दलदल में कोई बड़ा हाथी फँस कर डूबता है, वैसे ही महामूर्च्छा में फँसे नल की खेदजनक दशा है । रूपक अलंकार ॥ ११३ ॥

सव्यापसव्यव्यसनाद् द्विरुक्ते पञ्चधुवाणे. पृथगर्जितासु ।

दशासु शोषा खलु तद्दशा या तया नम पुष्प्यतु कोरकेण ॥ ११४ ॥

जोवातु—दशमावस्था तु तस्य वदामि माभूदित्यत आह—सव्येति । सव्यापसव्याम्नां वामदक्षिणाम्नां व्यसनान्मोचनाद् द्विरुक्तेर्द्विगुणीकृतदंशमि-

रित्यर्थं । पञ्चपुत्राणं पृथग्जितासु प्रत्येभ्युत्पादितासु दशसु 'ह्यमनसङ्ग-  
सङ्ख्या जागर वृशताऽऽरति' । ह्योत्पाद्योन्मादमूर्च्छान्ता इत्यनङ्गदशा दश ।  
इत्युक्तानु चक्षुः प्रोत्पादिदशावन्त्यानु येषा अवशिष्टा या तद्दशा दशमावस्थे-  
त्यर्थं । तदैव कोरवेण कल्किमेति रूपकम् । नमः, पुष्प्यतु पुष्पितमस्तु । अस्म-  
त्ता दशा सपुष्पकन्यास्तु, कदापि मा भूदित्यर्थं । तच्च स्वत्प्राप्तिलानादिति  
भावः । पुष्प-विकसन इति घातोर्लोहः ॥ ११४ ॥

अन्वयः—सन्त्यापसम्बन्धसनात् द्विकर्तुं पञ्चपुत्राणं पृथक् अजितासु दशासु  
येण मा तद्दशा सया कोरवेण नमः खलु पुष्प्यतु ।

हिन्दी—सव्य ( बायें ), अरवध्व ( दक्षिण ) हाथों से छोड़े जाने के  
कारण दो जुने (  $५ \times २ = १०$  ) हुए पचबाण ( बाण ) के बाणों द्वारा पृथक्-  
पृथक् बसावित दशानों के मध्य ( उपयुक्त दशाओं के बीच ) अवशिष्ट जो  
दशा ( दसवीं मरण दशा ) है उनकी ओर रुब कली से आकाश निर्दिष्ट  
रूप से फूले ।

टिप्पणी—दशमी अवध्व मरण दशा का चित्रण । बायें के पाँच बाण हैं,  
वह कमजूर बायें हाथों-दोनों हाथों से एक-एक बाण का दाल छोड़ता है, जिससे  
दो दशानें उन्मूल होती हैं । दसवीं दशा है मरण, जो अवध्व है । इसका  
वर्णन कवि इस प्रकार करता है कि दान भी हो जाय और दसवीं अमाल-  
मयी, अमृत स्पर्शनीयता न आ सके । वह कहता है कि बायें बाणों के अतिम  
युगम की लोक आकाश में जाकर लगे, जिससे वहाँ फूल खिलें । अर्थात् जैसे  
आकाश पुष्प नहीं होता, उसी प्रकार निश्चयतः वह दसवीं मरण-दशा न है ।  
अमृत होने से कवि ने मरणदशा का नाम भी नहीं लिया, केवल 'तद्दशा'  
( वह दशा ) कहा । विद्याधर के अनुसार अर्थान्तर, यथासंख्य अठकार ॥ ११४ ॥

त्वयि स्मराद्येऽततास्मिन्नेन प्रम्यापितो भूमिभृताऽस्मि तेन ।

आगत्य भूतस्त्वयि भवत्या भावप्रतीत्या गुणलोभवत्याः ॥ ११५ ॥

जीवातु—त्वमीति । त्वयि शिष्ये स्मराद्ये स्मरणीयादु खाद्येति उतत-  
मस्मिन्नेन स्मिन्नेन स्मिन्नेन तेन भूमिभृता प्रस्थापितोऽस्मि । अयं आगत्य

गुणलोभदत्ता भवत्यास्तव भावप्रतीत्या अभिप्रायज्ञानेन सफलो भूत  
सिद्धार्थोऽस्मीत्यर्थ ॥ ११५ ॥

अन्वयः—स्मराने सतनास्मिनेन तेन भूमिमृता त्वयि प्रस्थापित आगत्य  
गुणलोभवत्या भवत्या भावप्रतीत्या सफल भूत अस्मि ।

हिन्दी—काम रोग से निरन्तर खिन्न होते उस पृथ्वीपति ( नल ) के  
द्वारा तुम्हारे पास भेजा गया मैं ( यहाँ ) आकर गुणों के प्रति लोभ शीला  
आपके भाव ( प्रेम ) के विश्वास से सफल हो गया हूँ ।

टिप्पणी—हस कहता है कि उसने नल को दमयन्ती के वियोग में अतीव  
खिन्न पाया, उसका दोष्य स्वीकार कर वह हस दमयन्ती के पास पहुँचा कि  
उसे नलानुरक्त कर सके । परन्तु वहाँ पहुँच कर उसने पाया कि दमयन्ती  
गुणों का आदर करने वाली है, वह नल पर उसके गुणों के कारण स्वयम्  
अनुरक्त है । इस प्रकार दमयन्ती का भाव जान कर हस ने अपने को कृताराम  
माना । विद्याधर के अनुसार अनियत-देशावयव यमक अलङ्कार ॥ ११५ ॥

धन्याऽसि वैदर्भि । गुणैरुदारैर्यया समाकृष्य नैपथोऽपि ।

इत स्तुतिः का खलु चन्द्रिका या यदन्धिमप्युत्तरलीकरोति ॥ ११६ ॥

जीवातु—धन्येति । हे वैदर्भि । भैमि । वैदर्भीरीतिरपि गम्यते । घन  
लब्धा धन्या असि कृतार्थासीत्यर्थ । ‘घनगण सन्धे’ति यत्प्रत्यय । कुत ?  
यया त्वया उदारैरुत्तुर्गुणैर्लावण्यादिभिरन्यत्र श्लेषे प्रसादादिभिः पार्श्वेति  
गम्यते, नैपथो नलोऽपि तादृक् धीरोऽपीति भावः । समाकृष्यत सम्यगाकृष्टो,  
बधीकृत इति भावः । एतेन वैदर्भीत्यादिविशेषणाद् गुणैर्भावुकमिवेत्युपमा-  
रुहकारो भुज्यते । तथाहि चन्द्रिका या अन्धिमपि गभीरमपीति भावः ।  
उत्तरलीकरोति क्षोभयतीति यत् इतोऽपि अन्धमपि स्तुतिर्वर्णना का खलु ?  
न कापीत्ययं दुष्टान्तालङ्कारः । एतेन नलस्य समुद्रगाम्भीर्यं दमयत्या-  
वचन्द्रिकाया इव सौन्दर्यं च व्यज्यते ॥ ११६ ॥

अन्वयः—वैदर्भि, धन्या असि, यया उदारैः गुणैः नैपथ अपि समाकृष्यत,  
चन्द्रिकाया इत स्तुति का स्यात् यत् अन्धिम अपि उत्तरली करोति ।

हिन्दी—हे विद्वन्-कृपागी, तुम बन्ध हो, जिसने लच्छट गुणों से निषध-  
राज को भी बाकूट कर दिया । चाँदनी की इससे बड़ी प्रशंसा क्या हो सकती  
है कि वह लच्छट को भी उत्तररूप ( पुत्र ) कर डालती है ?

टिप्पणी—नल-जैसे सागर-सम समीर धरणीधर को भी जो अपने लच्छट  
गुणों से आकृष्ट कर ले, वह नारी प्रशंसायोग्य होगी ही । इससे अधिक दमयन्ती  
की प्रशंसा हो ही क्या सकती है कि उसने निषधराज को आकृष्ट कर दिया ? वाय  
है वह चाँदनी, वा महासागर को भी बचल कर धपनी ओर खींचती है ।  
मन्दिनाय व अनुसार दृष्टात, विधाधर के अनुसार प्रतीय । चन्द्रकलाकार न  
प्रतिबिम्बनमा नार्ता है । इस दृष्टांत में 'धन्यामस्त वैश्वामि' कथन से यदि का  
वैदनीरितिप्रेमी होन का संकेत भी माना गया है ॥ ११६ ॥

नलेन भायात्प्राग्निना निधेव त्वया स भायान्निधया शशीव ।

पुन पुनस्तद्युष्मन्विधाता स्वम्यासमास्ते नृ युवा युयुक्षुः ॥ ११७ ॥

जोधातु—कन्ठिमाह—नन्वेति । दक्षिणा निधेव त्व नलेन भाया ।  
भातेराधिपि लिङ् । सापि निधया शशीव त्वया भायात्, भाते पूर्ववदाधिपि  
लिङ् । किं च अत्र वैदानुस्मन्पि सुनान्वनित्यप् पुन पुनस्तपोर्निधाद्यधि-  
नोर्मुग्म पुनक्ति योजनतीति तद्युक्पुक् विधाता युवा नल त्वान्ध 'त्वदासीति  
सर्वेति ननि'ति एदगप । योक्तुनिच्छताति मुसुर्भुजे सन्नन्ताद्रप्रत्यय स्व-  
न्यासमन्यासस्य समृद्धी निरन्तरान्नास इत्यय । समृद्धयर्थेऽन्यमीभावा । तत-  
परत्वा सतन्या वैर्वापिकत्वादम् भावा । आस्ते नृ ? तदाऽन्मन्येति किनि-  
त्यय । अत्र तादर्थ्यं अनुष्मन् अन्माव इति व्याख्यान अन्मातायमन्यस्यतीत्यर्थ-  
स्यात् तदामाश्रयत्वादित्यनक्षपीयम् । अत्र दमयन्तीनलधोरन्योन्ययोनावन-  
नोक्तेरर्थापाठद्वार । 'परस्परक्रियाजननन्योन्यनि'ति रूपपात् । तप-  
मात्रपानुप्रापित इति सङ्कर । तन्मूला धेय विनातु पुननिधासधियोजनाया  
दमयतीन्तरमोजनान्यासतवोन्प्रेक्षेति ॥ ११७ ॥

अन्वय—दक्षिणा निधा इव नलेन भाया, स निधया शशी इव त्वया  
भायात्, नृ पुन पुन तद्युष्मन् विधाता युवा युयुक्षु स्वम्यासम् आस्ये ।

हिन्दी—जैसे चंद्र से रात घामित होती है, वैसे ही तुम नल से शोभित

होओ और वह ( नल ) रात्रि से चन्द्र के समान तुम से योमित हो । मैं समझता हूँ कि बार-बार ( प्रतिमास ) निशा-चन्द्र के जोड़े को संयुक्त करने वाला विधाता तुम दोनों का संयोग कराने की इच्छा से अपना अभ्यास बढ़ाता रहता है ।

टिप्पणी—रमयन्ती-नल के मिलन को शुभकामना करता हंस कल्पना करता है कि बारबार निशा-चन्द्र का संघटक विधाता उन दोनों के संयोग के लिए हो एक अभ्यासरत शिल्पी के समान अपना अभ्यास किया करता है कि वह ऐसे रमणीयतम युगल की संरचना कर सके जो अनुपम हों । भाव यह कि रमयन्ती-नल का जोड़ा निशा-चन्द्र के जोड़े से भी सज्ज होना । क्योंकि यहाँ नल-रमयन्ती के परस्पर योमित होने की संक्ति है, अतः अल्लिनाथ के अनुसार यही अभ्योन्य अलंकार है । साथ ही वह दो उपमाओं से अनुप्राणित है, विधाता की अभ्यास-विषयक उत्प्रेक्षा तन्मूलक ही है, अतः अयोन्य-उपमायुगल-उत्प्रेक्षा का संकर है । विधातर यहाँ उपमा-उत्प्रेक्षा के साथ साथ आशो, अलंकार भी माफते हैं ॥ ११७ ॥

स्तनद्वये तन्वि ? पर तवेव पृथो यदि प्राप्स्यति नैपथस्य ।

अनल्पवेदगम्यविवर्धनीना पत्रावलीना रचना समाप्तिम् ॥ ११८ ॥

जीवातु—स्तनद्वय इति । हे तन्वि । किञ्च नैपथस्य नलस्य अनल्पेन महता वेदगम्येन नैपथ्येन विवर्धनीनामुज्ज्वलनीना पत्रावलीना रचना समाप्ति सम्पूर्णता प्राप्स्यति यदि, तर्हि पृथो पृथुनि मापितपु स्तत्त्वादिकल्पेन पु बद्धाव । तवेव स्तनद्वये पर प्राप्स्यति, नापस्या इत्यर्थः । अन्यस्या अयोधत्वादितिभावः ॥

अन्वय —तन्वि, नैपथस्य अनल्पवेदगम्यविवर्धनीना पत्रावलीना रचना यदि समाप्ति प्राप्स्यति, पर तब पृथो स्तनद्वये एव ।

हिन्दी—हे कृशार्जुन, निपथराज की प्रभूत कीशल की मूर्चिका पत्रध्रेणी समूह की रचना यदि समाप्ति को प्राप्त करेगी तो केवल तेरे विद्याल कुच-युगल पर ही ।

टिप्पणी—हंस रमयन्ती के कृचयुगल की विद्यालता की प्रशंसा करता करता है कि बिलास-ग्रोहा में पत्रावली बनाने का नल का संपूर्ण कीशल



उन पर समाप्त हो जायेगा, अर्थात् नल समस्त कीचल और साधनों का प्रयोग करने पर भी दमयन्ती के विशाल कुचयुगल पर समप्रतया पत्रावली-रचना न कर सकेगा । विद्यापर ने यहाँ सम अलंकार माना है—‘सम योग्यतया योगो यदि समाविज्ञा कश्चित् ॥ ११८ ॥

एकस्नुधाशुनं कथञ्चन स्यात्तृप्तिसमस्त्वनयनद्वयस्य ।

स्वल्लोचनामेवनकस्तदस्तु नलास्यशीतद्युतिसद्वितीयः ॥ ११९ ॥

जीवानु—एक इति । एक सुधाशुन्यनयनद्वयस्य कथञ्चन पद्यद्विचदपि मृत्तौ प्रीणने क्षमो न स्यात्तत्तस्मात्प्रलास्यशीतद्युतिना नलमुखचन्द्रेण सद्वितीय सन् त्वल्लोचनयोरालोचनकस्तृप्तिकरोऽस्तु । ‘तदासेवनक तृतीयांस्त्यन्तो यस्य दशनादि’त्यमरः । आभिष्यते अनेनेत्यासेवनक, करणे ल्युट्, स्वार्थे क ॥ ११९ ॥

अन्वयः—एकः सुधाशु । त्वन्नयनद्वयस्य कथञ्चन तृप्तिसम न स्यात् तत् नलास्यशीतद्युतिसद्वितीयः त्वल्लोचनासेवनक अस्तु ।

हिन्दी—एक अमृतकर चद्र ठेरे दो नयनों को किसी प्रकार तृप्त करने में समर्थ न हुआ होगा, सो वह ( चद्र ) नल के मुखरूप शीत किरण ( चद्र ) के साथ दो बनकर ठेरे नयनयुगल को ऋषत तृप्त करने वाला बने ।

टिप्पणी—दो नयनों को तृप्ति एक चद्र से संभव नहीं है, सो नलमुख-के साथ चद्रमा मिलकर दमयन्ती के दो नयनों को तृप्त कर सकेगा । दो नयन, दो चद्र । एक आकाश का चद्र, दूसरा नलमुख-चद्र । नल दमयन्ती को प्राप्त हो, अथवा इस आवश्यकतावश नल-प्राप्ति के लिए प्रयत्न होना चाहिए, यह आशय है । रूपक ॥ ११९ ॥

( युगमम् )

अहो तपवन्मनस्त्रिलोयस्त्वत्पाणिजाग्रम्फुरदङ्कुरश्रीः ।

त्वद्भ्रूयुग यस्य त्वलु द्विपत्री तवाधरा रज्याति यत्कन्दम्वः ॥ १२० ॥

यस्ते नव पन्डविन कराम्यां स्मितेन यः कोरविनस्तवाम्ते ।

जङ्गमदिम्ना नव पुष्पिनो यः स्मनश्रिया यः फलिनम्वेव ॥ १२१ ॥

जीवानु—अथ द्वाभ्यां नलतप माफन्यमाह—अहो इत्यादिना । नलस्याय नलीय, ‘वा नामधेयस्ये’ति वृद्धसंज्ञाया वृद्धाच्छ । अत एव कल्पतरु अभिनव

प्रसिद्धकल्पतरुविलक्षण इत्यर्थः । अत एव अहो इत्याश्चर्यं वैलक्षण्यमेवाह—  
 त्वदित्यादि । अत्रापि यच्छब्दो द्रष्टव्यः यः कल्पतरुः तव पाणिजाग्रैः करहृष्टाग्रै-  
 नित्यं स्फुरन्ती अट्कुरधीर्यस्य स अट्कुरवानित्यर्थः, यस्य त्वदध्रूयुगमेव  
 द्वयोः पत्रयोः समाहारो द्विपत्री प्रथमोत्पन्नद्वयं खलु, तवाधरो यत्कलम्बो  
 यस्य नालिका विसलयकाण्ड इत्यर्थः, 'अस्य तु नालिका' कलम्बश्च कडम्बश्चे-  
 त्यमरः ? रज्यति स्वयमेव रक्तो भवति, 'कुपिरजो प्राचा इयन् परस्मै-  
 पदञ्चे'ति कर्मकर्तारि रूपम् । य इति । यस्ते तव कराम्बा पल्लवितः सञ्जात-  
 पल्लवः, यस्तव स्मितेन कोरकितः सञ्जातकोरकः सन् आस्ते, यस्तवाङ्गानां  
 अविम्ना भादंवेन पुष्पितः सञ्जातपुष्पः, यस्तवैव स्तनश्रियाः स्तनसौन्दर्येण  
 फलितः सञ्जातफलः । सर्वत्र तारकादित्वादिते च प्रत्ययः । अत्र श्लोकद्वयेन  
 तपसि दमयतीनन्नादिषु च कल्पतरुतावयवत्वस्याः सावयवरूपकः तथा  
 अवयविनि कल्पतरुखयवानां नन्नाट्कुरादीनाञ्च मिथः कार्यकारणभूतानां  
 मिम्लदेशत्वादसङ्गत्प्राप्तिमिति सङ्कुरः, 'कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वे स्यादसङ्ग-  
 तिरिति' लक्षणात् ॥ १२०-१२१ ॥

अन्वयः—अहो, त्वत्पाणिजाग्रस्फुरदट्कुरधी मलीय तव कल्पतरुः, यस्य  
 द्विपत्री तद्भूयुग यत्कलम्बः तव अधरः रज्यति, यः ते कराम्बा मयः पल्लवितः,  
 यः तव स्मितेन कोरकितः आस्ते, यः तव अङ्गअविम्ना पुष्पितः, यः तव एव  
 स्तनश्रिया फलितः । ( युग्मम् ) ।

हिन्दी—तेरे नन्नाग्रभागरूप चमकते अट्कुरों से घोमाघाली नल का  
 तपारूप कल्पवृक्ष आश्चर्यमय है, जिसकी दो पत्तियाँ ठेरी दोनो भौवें हैं,  
 जिसका नाल ( डठल ) बना तेरा अधर घोमित है, तेरे कर-युगल जिने  
 पल्लवित बनाते हैं ( अर्थात् हाथ ही पत्ते हैं ), जो तेरी मद मुसकान से  
 कलिकायाम् वनता है, जो अगों की मृदुता रूप पुष्पों से युक्त है और जिसने  
 फल तेरे ही घोमा-युक्त भुचयुगल हैं ।

टिप्पणी—दो पत्तों में संपूर्ण भाव स्पष्ट होने के कारण यह 'युग्म' है ।  
 इसमें दमयती-देह को उस विचित्र कल्पवृक्ष के रूप में चित्रित किया गया है,  
 जिसकी प्राप्ति में नल का तप ही कारण है । इस विचित्र कल्पतरु की

सचरना जनेषी है । दमयन्ती की दो नौहें उनकी ऊपरी दो पत्तियाँ हैं, ठठठ राज अजर है, करघुआ पने हैं, मद मित्त कलौ है, बन्ध कौमल अग पूछ है और वृक्षपूज ८७ है । इसमें बंदिम यह भी है कि अन्य जग में पत्तियाँ, कलियाँ, पूज, पञ्च एक दिन से अनेक बार में आ पाते हैं इस कल्पतरु में सब एक साथ ही जा गये हैं । नल को यही वयस्या से यह कल्पतरु प्राप्त हो गया है । मन्दिनाथ के अनुसार इस युवक में सावयववनक और जसगति का सहर है । दमयन्ती के आ कल्पतरु के कोरक, पुष्प, फल आदि हैं जो कामकारानून जगमें भिन्न दृष्टा है ॥ १२०-१२१ ॥

कसीकृतासीरखदु मण्डरीन्दो ससुन्दरदिग्गजरा स्मरेण ।

तुला व नाराचन्ता निजेव मियोनुरागस्य समीहृती वान् ॥ १२२ ॥

जीवानु—किञ्च सनामुरागवाच्य दृक्का समान इत्यस्य दयासदेनाह-  
कसीति । स्मरेण कत्रो का सुखयोग्योऽनुरागस्य ज्योग्यरागस्य, यन्त्र  
तस्मिन्, यज्ञ तस्य त्वयि, तपोरनुरागसोरित्यर्थ । समीहृती मर्माकरणे निमित्तं  
तदर्थमिति । समस्त मयाजित रत्नीनाममृता मूषागात्र प्रकर समूहो यस्या  
हा 'किञ्चदरही रत्नी' इत्यमर । इत्येवमन्ती विम्व कसीकृता आसीत् ।  
'कसीकृती लोहनाजनि'ति शाब्दिकमर्थः । मण्डरी निजा नाराचन्ता बाग-  
वन्ती यैव तुला तुलादन्दीकृतेति शेष । तथैवमन्ती कसीकृतादेव-  
स्मरस्य कार्यकाराहस्यसिद्धिरेकदेशविवर्तितम् ॥ १२३ ॥

अन्य—स्मरेण का मियोनुरागस्य समीहृती ससुन्दरदिग्गजरा इन्दो  
मण्डरी कसीकृता आसीत् तुला व निजा नाराचन्ता एव ।

हिन्दी—काम ने तुम दाता ( न-दमयन्ती ) के परस्पर अनुराग की भाषा  
जानने के निमित्त ठाँठने के काम में शिरगसमूह्य रज्जु में बाँधकर चढ़ के  
मठन की कठि का तरानु का पण्डा बनाया और तुलादंड बनाया अन्ती ही  
दाता को ।

टिप्पणी—नल और दमयन्ती के मध्य दिये अनुराग की भाषा चित्तनी  
है, इसकी ठाँठ कामदेव ने चद्रमण्ड के पण्डे बनाकर हमने शिरगसमूह  
बाँधकर और दाता का तुलादंड बनाकर की, तब जात हुआ कि दोनों के

अनुराग की मात्रा मितनी है? एकदेशत्रितित रूप अलकार, क्योंकि इदुमण्डलादि में कसादिरूपण से ही स्मर के कार्य कारण रूप की सिद्धि होती है ॥ १२२ ॥

सत्त्वस्रुतस्वेदमधूत्यसान्द्रे तत्पाणिपद्मे मदनोत्सवेषु ।

लग्नोत्थितास्त्वत्कुचपत्ररेखास्तन्निगतास्तत् प्रविशन्तु भूय ॥ १२३ ॥

जीवातु—सत्त्रेति । किं च मदनोत्सवेषु रतिकेलिषु सत्त्वेन मनोविकारेण श्रुतो य स्वेद सात्त्विकविकारविशेषः । तेनैव मधूत्येन मधूच्छिष्टेन सान्द्रे निरन्तरे अत एव तस्य नलस्य पाणिपद्मे लग्ना सक्रान्ता । अतएव उत्थिता त्वत्कुचतटाद्विरिष्टा । मधूच्छिष्टं निकपस्यकनकरेखावदिति भावः । स्नातानुलिप्तवत्पूवकालसमाप्तः । तन्निगता । तत्पाणिपद्मोत्पन्ना त्वत्कुचपत्ररेखा भूय तत् पाणिपद्मं 'वा पुंसि पद्मं नलिनमि'त्यमरः । प्रविशन्तु । कार्यस्य कारणे लयनिमगादिति भावः । युवयो समागमोऽस्तु इति तात्पर्यम् ॥ १२३ ॥

अन्वयः—मदनोत्सवेषु सत्त्वस्रुतस्वेदमधूत्यसान्द्रे तत्पाणिपद्मे लग्नोत्थिताः त्वत्कुचपत्ररेखा भूय तत् प्रविशन्तु ।

हिन्दी—कामोत्सवों में सात्त्विक भाव से टपकते पसीनाहूँ गाढ़े मोम से समुक्त उस (नल) के करकमल में उगकर उभरीं तेरे कुचों की पत्ररेखाएँ पुनः उसी में प्रविष्ट हो जायें ।

टिप्पणी—यह मिलन सबंधी आशीर्षचन है, जिसमें उपयोग शृङ्गार का वर्णन है । बिलास-क्रीडा में नल दमयन्ती के कुचों पर अपने करकमलों में पत्रावली रचना करेगा । रतिकाल में सजात स्वेदरूप मधूत्य ( मोम ) उसके हाथों पर लग जायेगा । रतिसमय में कुचस्पर्श के कारण कुचों पर बनी पत्रावल्याँ पसीने से नल के हाथों पर उभर आयेंगी । इस ऐसे मदनोत्सव के घटित होने का आशीर्षचन कहना है । भाव यह है कि नल दमयन्ती का समागम हो । जैन कार्य का कारण में ही लय होता है, ऐसे ही पत्रावली रूप काय नल-करकमल रूप कारण में लीन हो जाये । निराधर के अनुसार रूप और आशीर्षकार ॥ १२३ ॥

वन्धाद्यनानारतमल्लुद्धप्रमोदितैः केचिन्ने मरद्भिः ।

प्रमूढवृष्टिं पुनरन्मुक्ता प्रमोच्छन्त मीनि । युवा युवानौ ॥ १०४ ॥

जीवानु—क्योंकि, कि च हे मीनि । वन्धाद्यनानादिशरणं काम्यन-  
प्रतिर्हराद्य मन्त्र नानारतनुत्तानकादिविविन्नमुरत तदेव मल्लुद्ध मेन  
प्रमोदिन सन्मोदिनै केचिन्ने मरद्भिः वामुनिदेवैश्च 'मरती पवनानरी'  
इत्यनर । पुनरन्मुक्ता मन्त्र मन्त्रा मुक्ता प्रमूढवृष्टिं बुद्धिश्च युवा च युवानौ,  
'युनायु खिने तन्त्रेण । युवा प्रतिष्ठित स्वीकृतम् । बुद्धिश्च वा हि देवै  
पुनर्वृष्टिना मन्त्राव्यत उति नाव ॥ १०४ ॥

अन्वयः—मीनि, वन्धाद्यनानारतमल्लुद्धप्रमोदितैः केचिन्ने मरद्भिः  
पुनरन्मुक्ता प्रमूढवृष्टिं युवानौ युवाम् प्रमोच्छन्तम् ।

हिन्दी—हे मीनमुत्रे, कमलायनादि से मनुष्य नानाविधमुरत रूप मल्लुद्ध  
ने प्रमोदित ( प्रकृष्ट परिमल मे मनुष्य ) श्रीहार्जन में बहते समीरानों द्वारा  
बार-बार विनशित पुष्प-वर्षा का तुम दोनों तरफ-तरफों प्रहार करा ।

टिप्पणी—दा मन्त्रों की नानाविध दक्षिण-पक्ष से मरी कुत्तों की दक्षिण  
वाले जिस प्रकार प्रचल हो उन पर फूल बरसाते हैं, वैसे ही दक्षिण के तुम्ह  
श्रीहार्जन में बहते समीरान रतमल्लुद्ध में विविध यामना का प्रमोद कण्ठ  
दपती पर जागड़ित हो पुनर्वर्षा करेंगे । यद् भी मुखद मद्यो की कानना ने  
पूरी जागीर-वन है । 'मरती' ने सामान्य मृगधि समीरण में भी लायन है और  
देवविशेष के माध्यम द्वारा देवों ने भी अर्थात् नल-दमपत्नी-निजन्त से  
देवता भी उदुष्ट हो पुनर्वर्षा करेगा । विद्याधर के अनुसार यहाँ कर्क-  
प्रमोदनामोदना इत्येव भी समृद्धि है ॥ १०४ ॥

वन्धोन्मल्लङ्घनवशादनुना विमाना तन्मयि तैर्दि मनसो विकसद्विलासे ।  
स्रष्टु पुनर्मननिर्गन्ध तनु प्रवृत्तनादायिव द्रष्टुं कृत्स्नरमातुनामन् ॥ १०५ ॥

जीवानु—क्योंकि, कि च, अनुना वन्धोन्मल्लङ्घनवशादिकमद्विनामे  
वन्धोन्मल्लङ्घनं तन्मयि तैर्दि नल्लन्ध त्व च मनसो मनसिर्गन्ध कानस्य तनु  
मरार पुन स्रष्टुनारण्य प्रवृत्तनत एवारी दाम्पानारण्य कानं द्रष्टुं कृत्स्नरमाति

तत्कृत् तदारम्भक, करोते क्विप् । तत्परमाणुयुग्ममिवेत्युत्प्रेक्षा । तार्किकमते मनसोऽणुत्वादिति भावः । विमाना कार्मारम्भकपरमाणुयुगलवदविश्लेषेण विराजतामित्यर्थः । भातेर्लोट्, 'तस्ये'ति तस्य तामादेशः ॥ १२५ ॥

अन्वयः —अधुना अन्योन्यसङ्गमवशात् विकसितिलासे तस्य अपि तं अपि मनसी मनसिजस्य तनु पुनः सप्त प्रवृत्तम् आदौ द्व्यणुककृत् परमाणुयुगलम् इव विमाताम् ।

हिन्दी—इस समय (पूर्वोक्त नल-दमयन्ती-संघ के पदचान्) परस्पर मिलन के कारण उत्लास से विकसित उस (नल) के भी और तेरे (दमयन्ती के) भी मन मनोभव (काम) के (दग्ध) देह की पुनः सर्जना के निमित्त प्रवृत्त आरम्भ में द्व्यणुक का निर्माण करनेवाले परमाणु युगल के समान सुसंमित हो ।

टिप्पणी—न्याय-सिद्धांत है कि महत्कार्य के आरम्भ में पहिले दो सक्रिय परमाणुओं द्वारा एक द्व्यणुक का निर्माण किया जाता है, इसी प्रकार क्रमशः महत् कार्य का आरम्भ किया जाता है—'सक्रियान्धा द्वाभ्यां परमाणुभ्यामेकं द्व्यणुकमारभ्यते, एव क्रमेण महाकायमारभ्यते ।' काम के दग्ध देह की पुनः स्वरूप देने के लिए सगम-विलसित उत्लसित दमयन्ती नल के मन ही सफल हो सकते हैं, जो उन दो परमाणुओं के समान हैं (मन परमाणुप्रमाणम्), जिनसे एक द्व्यणुक का निर्माण होता है । इस की कामना है कि कामदेह की पुनर्निमित्ति-रूप महत् कार्य की सम्पन्न करने में नवदम्पती के उत्लसित मन प्रवृत्त हों । काम के मनोज होने के कारण मन ही उसका देह निर्माण होगा । भाव यह है कि नल-दमयन्ती का सगम-विलास इतना अनुराग बहुल हो कि जैसे उससे अवेह काम पुनः शरीरी हो जाय । अनुराग बहुल नल-दमयन्ती द्वारा ही यह सम्भव है, अन्यथा नहीं । प्रेममय दम्पती को परिणय-फल काम जैसी स्वरूपवान् सत्ता पाने का आर्शावादि भी इससे सचेतित है ।

- उत्प्रेक्षा अलङ्कार, वसतविलका छन्दः ॥ १२५ ॥

काम को मुनचापदुर्जयममु जेतु नृप त्वा धनु-

वल्लीमत्रगवज्जामघिगुणामानाद्य माद्यन्मयी ।

ग्रीवालङ्कृतिपट्टमूत्रलया पृष्ठे कियल्लम्बया

आजिण्णु करेखेव निम्नमिन्दूरनीन्दर्या ॥ १२६ ॥

जोदानु—काम दति । जनों को नलविगीपुंगिति नाव । काम को मुनेन चापेन दुर्जय जिउेन्द्रिज्वादिदि निव । अमु नृप नत् जेतुमत्रावधया सङ्कुल-प्रमृता इत्येवञ्चान्ज, 'ह्री वशी कृष्णमकरावि'त्यमर । जनिगुणामधिकला-वन्नादिगुणामपिग्याञ्च निवमदनुवर्तमान सिन्दूरस्याङ्कुसवस्त्राद्या नागान्त-राले मितस्य सौन्दर्य धोमा दम्या तथा करेखया काष्ठान्तरे मिन्दूरसङ्क्रान्ति-परीजार्थ इतथर्पा'रेखमेवेत्युपेक्षा । पृष्ठे ग्रीवापद्माङ्गारे कियत् किञ्चिद्यया तथा लम्बया अन्निदा ग्रीवालङ्कृति ग्रीवालङ्कारभूता या पट्टमूत्रलया तथा आजिण्णु ताच्छीत्ये 'मूत्रवे'नि चकारादिण्यु । आजमाना स्वामेव धनुर्वल्ली चापलतामासाद्य माद्यति दृश्यति । इत्येवञ्चान्जोर्गो रूपकालङ्कार ॥ १२६ ॥

अन्वय —असौ काम को मुनचापदुर्जयम् अमु नृप जेतुम् अत्रावधयाम् अधिगुणा निवसन्निद्रु-सीन्दर्या करेखया इव पृष्ठे कियल्लम्बया ग्रीवाल-लङ्कृतिपट्टमूत्रलया आजिण्णु स्वाम् एव धनुर्वल्लीम् जसाद्य माद्यति ।

हिन्दी—यह कामदेव फूलों के धनुष से दुर्जय इस राजा ( नल ) को बोनने के लिए निशेध कुल में जन्मी, गुणवती, ( विवाहिता के चित्त ) को सिद्धर के सौन्दर्य से धोमित कमीटी की रेल के समान पीठ पर कुछ अम्मी ग्रीवा की अलङ्कारभूता पट्टमूत्रलया को धारती तुम को ही, बिना-धुने-कटे काम से बनी, पिछे सिद्धर से समान प्रमाणित कमीटी की रेशा से युक्त बड़ी प्रनचा को कुछ लंबी ग्रीवा की भूया मूत्रलया के लम्बे धारन किये धनुष रूप लया के हन में शल कर हथित हो रहा है ।

टिप्पणी—काम अब तों अपने सामान्य पृथचाप से नल को जीत न सका था । अब दमदन्ती रूप एक नवीन धनुर्वला को पाकर उसे विद्वान्त हो रहा है कि अब नल-विजय सम्व है । इस प्रनचा दुर्जय को चपारा से काम प्रनन हो रहा है । नाव यह है कि अरमुगालहृता दमदन्ती, नल जैसे मन्त्री

के मत में भी मनोज को सद्वृद्ध कर सकेगी । दमयंती की माँग में लगा सिद्ध मानो उसकी पवित्रता और उत्तमता का प्रमाण है । जिस की निर्दोषिता के लिए उस पर भी सिद्ध रगटा जाता है । मल्लिनाथ ने अनुसार इस श्लोक श्लेष-रसप्रेक्षा से मकीर्ण रूपक अलंकार है, विद्याधर रूपक उपमा अलंकार मानते हैं । शाङ्खलविकीर्तित छन्द ॥ १२६ ॥

त्वद्गुच्छावलिमौक्तिकानि गुटिकास्त राजहम विभो

वेध्य विद्धि मनोभुव स्वमपि ता मञ्जु धनुर्मञ्जरीम् ।

यस्मित्याङ्कनिवासलालिततमज्याभुज्यमान लम-

न्नाभोमध्यविला विलासमखिल रोमालिरालम्बते ॥ १२७ ॥

जीवातु—त्वदिति । विभोर्मनोभुव कामस्य पक्षिवेद्धुरिति शेष । तव गुच्छावलेर्मुक्ताहारविशेषस्य मुक्ता एव मौक्तिकानि, 'विनयादित्वाद् स्वार्थे ठणि'ति वामन । गुटिका गुलिका विद्धि जानीहि । स राजहम राजश्रेष्ठ तमेव राजहम कलहस श्लिष्टरूपकम् । 'राजहसो नृपथेष्ठे वादम्रकलहस्यो'-रिति विश्व । वेधितु प्रहर्तुमहं वेध्य लभ्य, विध विधाने 'ऋहलोर्ण्यत्' 'अनेकार्था घातव' एवमाह—'वेधितच्छिद्रितावि'त्यत्र स्वामी । अग्रे स्वाहु—स्वप्नेऽपि विधानार्थ एव प्रयोगाच्च विध-वेधन इत्येनाकारस्य पाठ, पाठान्तर तु प्रामादिवमन्धपरम्परायातमिति विद्धि । स्वमात्मानमपि 'स्वो ज्ञातावत्मनि स्वमि'त्यमर । ता वदयमाणप्रकारा मञ्जु मञ्जुला धनुर्मञ्जरी चापवल्ली विद्धि, यस्या नित्यमङ्कनिवासेन समीप-स्थित्या लालिततमया अत्यादना जया मीर्या भुज्यमानभनुभूयमानमखिल विलास शोभा ज्यापयतामित्यर्थ । लसन्नाभ्येव मध्य बिलङ्गुलिकास्थान यस्या सा रोमास्त्रिस्वद्वोमराजिरालम्बते भजति । अत्र मोक्षिकादौ गुटिका-शयनवरूपणादवयविनि कामे वेद्धृत्वरूपणस्य यम्यमानत्वादेकदेशविवर्तितसाव-यरूपकमलङ्कार ॥ १२७ ॥

अन्वय—विभो मनोभुव त्वद्गुच्छावलिमौक्तिकानि गुटिका स राजहम वेध्य स्वम् अपि ता मञ्जु धनुर्मञ्जरी विद्धि, यस्मित्याङ्कनिवासलालिततमज्या-भुज्यमानम् अखिल विलास लसन्नाभोमध्यविला रोमालि बालम्बते ।



हिन्दी—आन्ध्रप्रदेश आन्दोलन ( कन ) के उी पुच्छावली ( वल्लभ  
पंडी मुक्तानाथ ) के मोती मोरिया हैं वह राजा ने हथ ( नच ) देय  
( वेषने मोद लक्ष ) है और स्वयं सुम दह ( पर्वोत्सव ) महाहर अनुदली  
हो—( ऐला सननो ), दिग्वी रोनावली निम्न एक ( मय्य मात ) ने रहने  
के अतिथि दाना दीया, प्रजापति अनुमति सुनत्र नीला-विद्याम को, सुनो-  
निव नाभिरु मय्यल्लि के सुन हो दाना दह रही है ।

[illegible]

प्राप्तेभिरिच्छतेषु ते शरच्चन म्य नाभून् धनं

सौद्रे चमपि यन्निवन्दुननुआष्टु च यन्विशिपे ।

निर्विद्याश्रयदानम स विननुस्त्वा तज्ज्वादादुना

पञ्चाशत्स्वरोन्मेषां नन्वा वत्सङ्गालापने ॥ १०८ ॥

जैवान्-पुष्पपुरिति । या पुष्पं कानो मन्दितो येन नाने सां दाना-  
 त्तरान्तरं नदत्तं निवेद्य ईश्यां दानं दानं मन्त्रेण । तन्मन्त्रान्तरित्या-  
 दानं दानं निवेद्य दानं दानं दानं । ते तद्विदुः केनेषु स्व स्वकीय-  
 शरत्तमं तद्विदुः पुनः पुनः दानं दानं । नानुते नानुते ननु ब्रह्मा-  
 दानं दानं । तदा सौते दानं दानं दानं दानं दानं दानं, विनय-  
 योऽन्यथा । 'यैवेदं दानं दानं ना' दानं । तन्मन्त्रेण च विदुः

क्षिप्तवान् । पूयमेव दग्धतनुव्याजादिति भावः । स्वरितेत्वात्तद् । स पुष्पपुवित-  
नुरनङ्गः सन् अधुना तज्जयाय नलविजयार्थत्वात्त्वाभावमाश्रयत्  
आश्रितवान् तपश्चर्यार्थमिति शेषः । अन्यथा कथं तं जेप्यतीति भावः । अत एव  
त्वदुरोज एव शैलो तिलयो यस्या या तन्निष्ठेत्यर्थः । पत्रालि पत्ररचना  
पर्णचयश्च तस्य कामस्य पणशालायते मेवाश्रयति । उपमानान् कर्तुं कथम् ।  
अत्र पूर्वार्द्धे शरणापादीनां पूर्वोक्तपुष्पादिविषयनिगरणेन तदभेदाध्यवसायाङ्गदे  
अभेदलक्षणातिशयोक्तिः, तत्पणशालायत इत्युपमा चोत्थापितेन स्वमाश्रयमिति  
रूपकेण सङ्कीर्णा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या कामस्याश्रमाश्रयणोत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥

अन्वयः—यज्जितः निविद्य य पुष्पेषु ते चिकुरपु स्व शरण्या मालमूले  
धनुःरीद्रे चक्षुषि अनुभ्राष्ट तनु च चिक्षिपे, वितनु स अधुना तज्जयाय  
त्वाम् आश्रयम् आश्रयन्, त्वदुरोजशैलनिलया पत्रालि तत्पर्णशालायते ।

हिन्दी—जिस ( नल ) के द्वारा जीते जाने पर शरणाग को प्राप्त जिस  
क्रममुद्यान ( काम ) ने तेरे केशों में अपनी आभावली बो, ललाट के मूत्र ( भ्रू-  
स्थान ) में धनुष को और ( भगवान् ) रुद्र के ( तृतीय ) मैत्र रूप शरण भ्राष्ट्र  
( भाड ) में अपने देह को फेंक दिया था, तनुक्षीन ( अनग ) उसने अब उस  
( नल ) के जयार्थं तुझ ( दमयन्ती ) रूप तपोवन का आश्रय लिया है, तेरे  
उरोजात ( कुवमुग्ध ) रूप पर्वत पर होनेवाली पत्रावली रूप पत्रसमूह ( पत्ते )  
रस ( कामाश्रम ) की पर्णशाला यत रहे हैं ।

टिप्पणी—प्रत्येक दृष्टि से नल द्वारा पराजित काम विरागी हो गया था ।  
जैसे हारा व्यक्ति अपने आयुधादि त्याग कर जल भरता था, वैसे ही काम  
अपना धनुर्गण त्याग जल मरा था । अब वही दमयन्ती के आश्रय से नल  
विजयार्थ पुनः सन्नद्ध हो रहा है । अब उसे तपोवनरूपा दमयन्ती प्राप्त हो गयी  
है, जहाँ पर्णशृङ्गी बनाकर अब वह तपश्चर्य कर रहा है । तथा आश्रय, नये  
आयुषः । दमयन्ती की केशावली बाण हैं, भीर्हि धनुष हैं, अयनेत्रजन्मा वह्नि  
में वह जल मरा था । अब नये आयुष प्राप्त कर वह दमयन्ती रूप तपोवन में,  
जहाँ उच्चकुच शैल पर पत्रावलीरूप पणशाला बनी है, तप साधना कर रहा  
है । दमयन्ती की सहायता से काम नल विजय में समर्थ होगा । यदि ने यही

दमयन्ती के केश-चय और छलटमूल ( झूटाल ) की काम-दाग और धनुष से श्रेष्ठता का भी संकेत दिया है । मन्त्रिनाय के अनुसार इन्द्राक्ष के पूर्वार्द्ध में शर-बापादि के साथ पुत्रादि विषय के अनभिप्राय के कारण अनेकजन्मा अतिशयोक्ति है, 'दण्डांशालाये'—उपम है, 'त्वामाश्रयम्'—मकोपलरूप तथा व्यञ्जन का प्रयोग न होने से तम्या उपमेया है—इस प्रकार सकार है । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति-मनासोक्ति-रूपक उरमा की मृष्टि है । धातु-लक्षित छंद ।

मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में बताया है कि उपमान की जाति अथवा प्रमाण-गत न्यूनता-अधिकता का यदि प्रतिपादन हो तो वह उरमा का दोष होता है । इस दृष्टि से दमयन्ती उरोजों को घंल कहना—दोष है । परन्तु विद्याधर ने इन्द्राक्ष समाधान इस प्रकार किया है कि दोष नहीं है, क्योंकि 'दण्डांशालाये' इस रूपक का अंग है । निमित्त-पुरुष-व्यापार वर्म में क्रियमाण यह रूपक दोष नहीं गुणातिष्ठ है ॥ १०८ ॥

इत्याल्पमय पतत्रिणि तत्र भैमी सख्यशिवरात्तदनुमन्विपरा परीतु ।  
शान्तिस्तु न विमृज नामिनि सोऽप्युदीर्य वेगाज्जगाम निषदाधिपराजधानीम् ॥

जोवानु—इतीति । तत्र तस्मिन् पतत्रिणि ह्ये भैमीमिति इत्यमाल्पनि भाषमाणे नेति अयास्मिन्नवन्तरे चिरात्प्रभृति तन्मा भैम्या अनुसन्धिरन्वेयाम्, 'उपसर्गो यो जिरिति कि' । तत्परा कस्य परीतु परिवद्, इति लिट् । इतोऽपि 'ते तत्र धर्मान्मु मुलमस्तु, मा विमृज' इत्युदीर्य उक्त्वा वेगान्निषदाधिपराजधानीं जगाम ॥ १०९ ॥

जन्त्र —अथ तत्र पतत्रिणि इति भैमीम् आल्पति चिरात् तदनुमन्विपरा सख्य परीतु न अपि ते धर्म अस्तु मा विमृज इति उदीर्य वेगात् निषदाधिपराजधानीं जगाम ।

हिन्दी—तदनन्तर वहाँ पक्षी ( हन ) के इस प्रकार बातोंकार करते समय द्रुत समय से उस ( दमयन्ती ) के अनुपधान में लगी सबियाँ चारों ओर से आ गयीं । वह ( हन ) भी 'तुम्हारा बन्ध्या हो, मुझे बिदा दो'—यह कह कर वेग पूर्वक निषदराज की राजधानी की ओर चल पड़ा । ( उड़ बना ) ।

टिप्पणी—विद्याधर के अनुसार ओज गुण । वसन्ततिलका छद ॥१२९॥

चेतोजन्मशरप्रसूनमधुभिर्ज्यामिश्रितामाश्रयत्

प्रेयोदूतपतङ्गपुङ्गवगवीह्रियङ्गवीन रसात् ।

स्वाद स्वादमसीममृष्टसुरभि प्राप्ताऽपि तृप्ति न सा

ताप प्राप नितान्तमन्तरतुलामानच्छ भूच्छमपि ॥ १३० ॥

जीवातु—चेत इति । सा भैमी चेतोजन्मन कामस्य शरप्रसूनाना शरभून-  
पुष्पाणा मधुभिस्तदसं क्षौद्रं 'मधु मधे पुष्परसे क्षौद्र' इत्यमर । व्यामिश्रता-  
माश्रयत् तथा मिथ सदित्यर्थ । असीम नि सीमम् अपरिमितमित्यर्थ ।  
मकारान्तोत्तरपदो बहुवीहि । मृष्ट शुद्धम् । अयत्रामल तच्च तत् सुरभि  
सुगन्धि च, सञ्जकुञ्जवद्विशेषणसमाप्त । प्रेयसो नलस्य दूत सन्देशहरो य  
पतङ्ग पुङ्गव इव पतङ्गपुङ्गवो हसयेष्ट पुमान् गौ पुङ्गव । 'गोरतद्वितलुकी ति  
टच्, तस्य गौर्वाक् तद्गवी पूर्ववत् टचि 'टिट्ढाणजि'त्यादिना ङीप् । सैव ह्रियग-  
वीन ह्योगोदोहोद्भूत घृतमिति रूपम् । 'ह्रियङ्गवीन सज्ञायामि'ति निपात ।  
तद्गवी तद्धेनु तस्या इति च गम्यते रसाद्रागात् स्वाद स्वाद पुनरास्वाद्य  
आमीक्ष्ये णमुल्प्रत्यय । धीन पुन्यमाभीक्ष्ण्यम् 'आभीक्ष्ण्ये ङे भवत' इति  
उपसत्त्यानाद् द्विवक्ति । तृप्ति प्राप्तापि अपिर्विरोधे अत नितान्त ताप न  
प्राप अतुला भूच्छमपि नानच्छं न प्राप, 'शृच्छत्युक्तामि'ति गुण । 'अत  
आदेरि'त्यभ्यासाकारस्य दीर्घ । तस्मान्नुद् द्विह्रत् इति नृद् । मधुमिश्र-  
घृतस्य विपत्वास्तथाने तापाभावादिति विरोध । स च पूर्वाक्तपतङ्गपुगवगवी-  
ह्रियङ्गवीन इति रूपकोत्थापित इति सङ्कर । 'मधुनो विपरुपरव तुन्मादो  
मधुनर्विपी' इति वाग्मट ॥ १३० ॥

अन्वय—सा चेतोजन्म शरप्रसूनमधुमि ध्यामिधताम् आश्रयत् असीममृष्ट-  
सुरभि प्रेयोदूतपतङ्गपुङ्गवगवीह्रियङ्गवीन रसात् स्वाद स्वाद तृप्ति प्राप्ता नितान्तम्  
अन्त तापम् अपि न प्राप अतुला भूच्छम् अपि न आनच्छं । अथवा—'सा  
स्वाद स्वादम् अपि तृप्ति न प्राप्ता, नितान्तम् अत ताप प्राप, अतुला  
भूच्छम् अपि आनच्छं ।'

हिन्दी—वह ( दमयन्ती ) मनोज ( काम ) के पुष्पवाणों के मधु (शहद)  
से मिश्रित, असीम स्वादिष्ट और सुगन्धि श्रिय ( नल ) के दूत पक्षिराज ( हंस )

की बाणी रूप मानव का सम्पूर्ण निन्तर आस्वादन करके तृप्त हो न तो मृग मन सत्ताप को ही प्राप्त हुई और न बनीम मूर्च्छा को । अथवा अन्वयातर में भी तृप्त न हो, मृग मन सत्ताप और असीम मूर्च्छा को प्राप्त हुई ।

टिप्पणी—‘हैमगवीन’ में मानव अर्थ ही नहीं, घृन भी गृहीत है । एहद-यो यदि सममिश्रित छा लिये जायें तो मारक विष बन जाते हैं । इस प्रकार शत्रु का व्यामिश्रण खाने से भी दमयन्ती का सतप्त और मूर्च्छित न होना विराट् है, ‘पटङ्गपुङ्गवगोहैयङ्गवीन’ में रूपक है, जहाँ मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ सङ्कर है । विद्यापर के अनुसार भेदानेदरूपा अतिशयोक्ति, वैद्यक शास्त्रान्वयहार के समारोपण से समारोपित तथा विषमालंकार का सङ्कर है । शाङ्खलविज्ञादित् छन्द ॥ १३० ॥

तस्या दृष्टो विप्रनि बन्धुमनुव्रजन्त्यान्तद्वाप्यवारि न चिरादवधिर्वभूव ।  
पार्श्वेऽपि विप्रचकृपे तदनेन दृष्टेगारादपि व्यवदधे न नु चित्तवृत्त ॥ १३१ ॥

जीवातु—तस्या इति । वियत्याकाशे बन्धुमनुव्रजन्त्यान्तस्या दृष्टो ममी-दृष्टे तद्वाप्यवारि बन्धुजनविप्रमाजय तद्दृष्टं न चिरादविरादवधिर्वभूव, ‘ओदकात् प्रिय पान्धमनुव्रजेदि’ति शास्त्रात्तद्दृष्ट् सीमाभूदित्यर्थ । तत्र तस्माद् वाप्योपगमादेव हेतोरनेन हनेन दृष्टे पार्श्वे ममीप विप्रचकृपे विप्र-कृष्टेनानावि । वाप्यावरणात् समीपम्योऽपि नाल्प्यतेत्यर्थ । चित्तवृत्तेस्तु आराद् दूरेऽपि न व्यवदधे व्यवहितेन नानावि, स्नेहबन्धान्मनसो नापठ इत्यर्थ । उभयत्रापि नावे लिट् । समीपस्यस्य विप्रकृष्टत्वं दूरस्यस्य सन्नि-कृष्टत्वं चेति विरोधानात् ॥ १३१ ॥

अन्वय—विपति बाबुम् अनुव्रजत्या तस्या दृष्ट तद् वाप्यवारि न चिरात् अवधि बभूव, तत्र अनेन दृष्ट पार्श्वे अपि विप्रचकृपे, चित्तवृत्ते तु आरात् अपि न व्यवदधे ।

हिन्दी—आकाश में सखा ( हंस ) अनुगमन करती उस ( दमयन्ती ) की आँखों के वे अश्रुजल बहूँ शीघ्र मर्यादा बन गये । वह ( हंस ) इस ( अश्रुजल ) के कारण दृष्टि के निकट रहते हुए भी ( यद्यपि ) दूर हो गया ( तथापि ) दूर होने पर भी मनोजगत् से दूर न हुआ ।

टिप्पणी—परम्परा के अनुसार जलाशय तक जाकर वधुजन को विदा करते हैं, इस प्रकार दमयंती की दृष्टि ने अश्रुजलाशय तक पहुँचाकर विदा दे दी। भाव यह कि उड़ा जाता हूँ आँसू आ जाने के कारण शीघ्र ही आँख से ओझल हो गया। हूँ आँखों से दूर तो हो गया, पर प्रिय संदेश बाहक होने के कारण मन से दूर न हुआ, उसका स्मरण होता रहा। निकट स्थित हूँ के दूर हो जाने और दूरस्थ के निकट रहने का वर्णन होने के कारण मल्लिनाथ ने यहाँ विरोधाभास माना है, विद्याधर ने अतिशयोक्ति और विरोध का निर्देश किया है। वसततिलका छंद ॥ १३१ ॥

अस्तित्व कार्यसिद्धे स्फुटमथ कथयन् पक्षयोः कम्पभेदे-

राख्यातु वृत्तमेतन्निपधनरपती सर्वमेक प्रतस्थे ।

कान्तारे निर्गतासि प्रियसखि ! पदवी विस्मृता किन्तु मुग्धे ?

मा रोदोरेहि यामेत्युपहृतवचसो नित्युरन्या वयस्या ॥ १३२ ॥

जीवातु—अस्तित्वमिति । अथ एक अनयोरेकतरो हूँ पक्षयोः कम्प-भेदं श्रेष्ठविशेषं कार्यसिद्धेरस्तित्व सत्ताम् 'अस्ती'त्यव्यय विद्यमानपर्याय-स्तस्मात्त्वप्रत्ययः । स्फुट कथयन् वृत्त निष्पन्नमेतत्सर्वं निपधनरपती नले विषये आख्यातु तस्मै निवेदयिष्यन्नित्यर्थः, प्रतस्थे । अन्या दमयंती वयसा तुल्या वयस्या सत्य 'नौवयो' इति यत्प्रत्ययः । 'हे प्रियसखि ! मुग्धे ! कान्तारे विषमे निर्गतासि सङ्कट प्रविष्टासि, पदवी विस्मृता किम् नु ? मा रोदी, एहि, याम गच्छाम' इत्युपहृतवचसो दत्तवचना सत्य एता नित्यु ॥

अन्वय —अथ एक पक्षयोः कम्पभेदः कार्यसिद्धेः अस्तित्व स्फुट कथयन् एतत् सर्वं वृत्त निपधनरपती आख्यातु प्रतस्थे, अन्या वयस्या प्रियसखि, कान्तारे निर्गतासि, मुग्धे, किं नु पदवी विस्मृता ? मा रोदी, एहि याम—इति उपहृतवचसः नित्युः ।

हिन्दी—इसके अनंतर ( दमयंती हूँ मे से ) एक ( हूँ ) पक्षों को विशेष प्रकार से हिलाने के द्वारा काय सिद्धि के हो जाने को स्पष्टत कहता हुआ यह सब समाचार निपधनरेश को बताने के लिए चला गया, दूसरी ( दमयंती ) को सखियाँ—'हे प्यारी सखी, जंगल में निबल आयो हा, बरी

मोली-माली, क्या राह नुछ गयी ? मत रोज़ों, आजो चले —इस प्रकार के वचन कहती हुई ( राजमहल ) ले गयी ।

टिप्पणी—हस तो जैसे सफलता का वृत्तांत सुनाने के लिए पक्षों को विद्वेष प्रकार हिलाता हुआ निषेध की ओर उड़ गया । समागत सखियों ने आँखों में आँसू भरी दमयन्ती को समझा कि मोली सखी मार्ग में भटक जाने पर सहमी है, और वे उसे सान्त्वना देती हुई राजप्रासाद की ओर ले चली । विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा अलंकार । सग्वरा छंद ॥ १३२ ॥

सरसि नृपमपश्यद् यत्र तत्तीरभाजः

स्मरतरलमशोकानोकहस्योपमूलम् ।

किमलयदलनल्पग्लापिन प्राप त स

ज्वलदसमशरेपुस्पधिपुष्पधिमौले । ॥ १३३ ॥

जीव्रातु—सरसीति । इसो यत्र सरसि नृपमपश्यत् दृष्टवान् तस्य सरस-  
स्तीरभाजस्तदवहन् ज्वलद्भिरसमशरस्य पञ्चयोरिषुनि स्पष्टं इति तत्-  
स्पधिनी तत्तम्यी । पुष्पधिं पुष्पसमृद्धिं भीमि शिखर यस्य तस्याशोक-  
नोकहस्य अशोकवृक्षस्य उपमूल मूले विनश्यत् अश्वयीभाव । स्मरेण तरल  
चञ्चल किमलयदलनस्य पञ्चवपश्चयमन ग्लापयति स्वाङ्गदाहेन ग्लापयतीति  
तयोक्तं त नृप प्राप ॥ १३३ ॥

अन्वय —स यत्र सरसि नृपम् अपश्यत् तत्तीरभाजं ज्वलदसमशरेपुस्पधि-  
पुष्पधिमौले अशोकानोकहस्य उपमूल स्मरतरल किमलयदलनल्पग्लापिन  
स प्राप ।

हिन्दी—उस हस ने जिस सर के निकट राजा को देखा था, उसी के तट  
पर स्थित, देदीप्यमान विषम बाग ( काम ) के बागों से स्पर्धा करते फूलों की  
समृद्धि में मुक्त चोटी वाले अशोक वृक्ष की जड़ के निकट कामपीठा से चबल  
नव-पल्लवों की शय्या को ग्लान करते उस ( नल ) को पाया ।

टिप्पणी—जिस झींझा सरोवर के तीर पर राजा नल और हस भी प्रथम  
मेट हुई थी, उसी के तट पर फूलों से लदे अशोक वृक्ष के नीचे कामपीठित

राजा को किसलयशय्या पर लेटे दमयन्ती के समाप से, छोट हस ने पाया ।  
विद्याधर के अनुसार उपमा । मालिनी छंद ॥ १३३ ॥

परवति । दमयन्ति । त्वा न किञ्चिद्ददामि

द्रुतमुपनम किं मामाह सा शस हस । ।

इति वदति नलेऽसौ तच्छशसोपनम्रः

प्रियमनु सुकृता हि स्वस्पृहाया विलम्बः ॥ १३४ ॥

जीवातु—परवतीति । परवति । पराधीने दमयन्ति । त्वा न किञ्चिद्द-  
दामि नोपालभे किंतु हे हस । द्रुत शीघ्रमुपनम आगच्छ, सा दमयन्ती मा  
किमाह, शस कथयेति नले वदति भ्रान्त्या पुरोवर्तिनमिव सम्बोध्य आलपति  
सति । असौ हस उपनम्र पुरोगत सन् कार्यस्य तत् वृत्त शशस कथयामास ।  
तथाहि-सुकृता साधुकारिणा 'सुकर्मपापपुण्येषु कृष्ण' इति त्रिविधम् । प्रियमनु  
इष्टार्थं प्रति स्वस्पृहाया स्वेच्छाया एव विलम्बः । न त्विच्छानन्तर तत्सिद्धे-  
विलम्ब इति भावः । सामान्येन विशेषसमर्पनरूपोऽर्थान्तरमास ॥ १३४ ॥

अन्वयः—परवति दमयन्ति, त्वां किञ्चित् न ददामि, हस, द्रुतम् उपनम,  
शस—सा मा किम् आह?—इति वदति नले उपनम्र असौ तत् शशस, हि  
सुकृता प्रियम् अनु स्वस्पृहामा विलम्बः ।

हिन्दी—हे पराधीन दमयन्ती, तुमसे मैं कुछ नहीं कहता, हस शीघ्र  
। निरुट आओ, कहो—उसने मेरे प्रति क्या कहा?—ऐसा कहते नल के निरुट  
आये उस ( हस ) ने वह ( समाचार ) कहा, क्योंकि पुण्यशील जनो का अपने  
लक्ष्य के प्रति स्वेच्छाभात्र का विलंब होता है ।

टिप्पणी—उतावले राजा नल को तुरन्त पास जाकर हस ने सब सफलता  
का इतिवृत्त बता दिया, कुछ भी विलम्ब नहीं लगाया । वास्तविकता यह है  
कि नल सहस्र पुण्यश्लोक व्यक्तियों को दण्डा करते ही अमोघ की प्राप्ति हो  
ही जाती है, जो विलंब होता है वह केवल उनके इच्छा करने में होता है,  
अमोघ प्राप्ति में विलम्ब का अर्थ कारण नहीं होता । अर्थात्तरन्याय अलंकार,  
मालिनी छंद ॥ १३४ ॥



कथिनमपि नरेन्द्रशक्तयानाम हन

किमिति किमिति पृच्छन् भाषित स प्रियाया :

अधिगतमनिश्रेयानन्दभाट्टीकमस्त

स्वयमपि

शतकृत्वस्तत्तयाज्वाचचक्षे ॥ १३५ ॥

जीवानु—कथितमिति । स नरेन्द्र नल कथितमपि प्रियाया सम्यक्तया  
भाषित वचन किमिति किमिति पृच्छन् ह्य समयानाम, पुनरावृत्त्यामास,  
किं व अतिवेत् अतिमानो य आनन्द स एव भाट्टीक मृद्रीकाविकारो द्राक्षा-  
मद्य 'मृद्रीका गोस्तनी द्राक्षे'त्यनरः । तेन मत्तं सन् जमिगत्त सम्यक् गृहीत  
तद्वत् स्वयमपि शतकृत्व शतवार 'सह्याया क्रियाम्यावृत्तिगते कृत्वसुप्' ।  
तथा तदुक्तप्रकारेण ज्वाचचक्षे ज्ञुशितान् । मत्तोऽप्युक्तनेव पुन पुनर्वंस्तीति  
भावः ॥ १३५ ॥

अन्वय—स नरेन्द्र कथितम् अपि प्रियाया भाषित किम् किम् इति  
पृच्छन् ह्य समयानाम, अतिवेत्तानन्दभाट्टीकमस्त अधिगत तत् स्वयम् अपि  
शतकृत्व तथा अन्वाचचक्षे ।

हिन्दी—उस नरराज ( नल ) ने हृष द्वारा बता दिये गये भी प्रिया के  
कथन को 'कदा-कदा'—यह पृच्छा करते हुए हृष से ( बारबार ) कहाया  
और निःसीम आनन्द रूप द्राक्षामद्य से मजबूत होकर भली भाँति सुने-समझे,  
उस सब को स्वयम् भी सौ ( अनेक ) बार वही प्रकार पुन पुन कहा ।

टिप्पणी—हृष से सब समाचार बारबार राधा ने सुना और आनन्दोन्मत्त  
होकर जैसे स्वयं भी बारबार कहा । आनन्दातिथय और वसाहातिरेक  
बोद्धे । विद्यापद के अनुसार जाति अङ्कार, मालिनी छंद ॥ १३५ ॥

श्रीहं कविराजरात्रिमुकुटालङ्कारहीरम्भुन

श्रीहीरम्भुने जिनेन्द्रियचय मामल्लदेवी च यम् ।

तार्ज्योन्नता मिनाज्यमगमत्तस्य प्रवन्ते महा-

काव्ये चारुणि नैपथीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥ १३६ ॥

जीवातु—श्रीहृषमित्यादि । तृतीय एव, तार्तीयिक । 'द्वितीयतृतीयाभ्यामीकस्वार्थे वक्तव्य' अस्य भावस्तत्ता तया मितस्तृतीय इत्यर्थः ।  
 येष सुगमम् ॥ १३६ ॥

इति मल्लिनाथ-सूरिविरचिताया 'जीवातु' समाख्याया 'नैपथ'-  
 टीकाया तृतीय सर्ग ॥ ३ ॥

अन्वय — तृतीय चरण में 'द्वितीयिकतया' के स्थान में 'तार्तीयिकतया',  
 येष द्वितीय सर्ग के अन्तिम श्लोक के तुल्य ।

'तार्तीयिकतया'—तृतीय रूप से ॥ १३६ ॥

॥ नैपथीयचरित का तृतीय सर्ग समाप्त ॥

॥ श्री ॥

# नैषधीयचरितम्

मल्लिनाथकृत'जोवातु'टीकासहित-

सान्धय-सटिप्पण'चन्द्रिका'हिन्दीव्याख्योपेतम्

## चतुर्थः सर्गः

अथ नलस्य गुण गुणमात्मभू सुरभि तस्य यज्ञकुमुद धनुः ।

श्रुतिरयोपगतं सुमनस्तया तमिपुमाशु विधाय जिगाय ताम् ॥ १ ॥

जोवानु—अथ राज्ञः स्वयंवर प्रत्युपोद्घातत्वेनास्मिन्सर्गे भैम्या मदना-  
वस्था वांयितुमारभते—अथेत्यादि । अथ भैम्या प्रियसन्देशप्रवणानन्तर  
आत्मभू काम , नलस्य गुण आत्मोत्कर्षहेतुशोभंसीदृष्यादिको धर्मः, तमेव गुण  
मौर्वी, विधाय । सुरभि सुगन्धि, मनोज्ञश्च । 'सुगन्त्री च मनोने च वाध्यवद्  
सुरभि' स्मृत' इति विश्व । तस्य नलस्य, यज्ञश्च, तदेव कुमुद धनुर्विधाय ।  
तथा सुमनस्तया सुमनस्त्वेन पुष्पत्वेन च, श्रुतिरयोपगतं कर्णपथेन, पुन  
पुन नैम्या श्रुतिरित्यर्थः । आकर्षणमाकृष्ट्य, त नलमेव, इषु विधाय । ता  
नैमी जिगाय । तदेकासकतवित्ता चकारेत्यर्थः । 'सल्लिटोर्जे' इति कुत्वम् ।  
रूपकालङ्कारः । अस्मिन्सर्गे द्रुतविलम्बित द्रुतम् । 'द्रुतविलम्बितमाह नमो  
भरौ' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ आत्मभू नलस्य गुण गुण तस्य सुरभि यज्ञ कुमुद धनुः  
सुमनस्तया श्रुतिरयोपगतं तम् इषु विधाय ताम् आशु जिगाय ।

हिन्दी—तदनन्तर ( हस के चले जाने के पश्चात् ) आत्मजन्मा काम ने  
नल के ( वीरता, सौन्दर्य आदि ) गुण को गुण ( प्रत्यक्षा ), उसके सुरभि

(मुग्धि) पुष्प सदृश सुरभि (प्रसिद्ध) यश को घनुष और सुमनस्ता (सुमनस्क-मनीषी होन तथा पुत्रमाव) के कारण बारबार श्रुत (सुने गये) उस (नल) को दान तक सींचा गया बाण बनाकर उस (दमयती) को शीघ्र ही जीत लिया ।

टिप्पणी—हस से नल वार्ता जान कर उसके चले जाने के पश्चात् नल के वियोग में दमयन्ती वामन्यया से आक्रांत रहने लगी । एक मान नल का ही विचार उसके मन पर छा गया । इस समय सग में दमयती के नल सबद्ध अनुराग की पुष्टि दिखाने के लिए श्रीहर्ष ने विप्रलम्भ-शृंगार को प्रधानता दी है । बताया भी गया है कि विप्रलम्भ के बिना मयोग की पुष्टि भी नहीं होनी—‘न विना विप्रलम्भेन सयोग पुष्टिमश्नुवे ।’ विप्रलम्भ के निर्वेद आदि ध्वनि-चारिमाय तथा बालस्यादि विभावो का यत्र-सत्र इस सर्ग में विषाद वर्णन है । मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में रूपक अलङ्कार प्रधान है, विद्याधर ने रूपक-दीपक-श्लेष का गूँकर माना है । इस सर्ग में १ से ११५ सूक्त्या के श्लोक तक द्रुतविलम्बित छंद है, जिसके प्रत्येक चरण में बारह वर्ण—एक नगण ( ॥ ), दो भगण ( ॥१, ॥२ ), एक रगण ( ॥३ ) क्रम से होते हैं—‘द्रुत-विलम्बितमाह नमो भरो’ ॥ १ ॥

यदतनुज्वरभाक्तनुते स्म सा प्रियकथासरसीरसमज्जनम् ।

सपदि तस्य चिरान्तरतापिनी परिणतिर्विपमा समपद्यत ॥ २ ॥

जीवातु—यदिति । सा भैमी, अतनुज्वरमनङ्गज्वरम्, अधिक्ज्वरञ्च, भजतीति तद्भाक् सती । भजो ण्वि । प्रियकथैव सरसी मर तस्या रमो राग, जलञ्च तत्र मज्जनमासक्तिमवगात्, तनुते स्म चकारेति यत् । ‘लट् स्मे’ इति भूते लट् । तस्य मज्जनस्य, सपदि चिर दीर्घकाल, अन्तरमग्न्यन्तर, तापयतीति तत्तापिनी, विपमा उद्दीपनात्मिका, परिणतिः, परिपाक, समपद्यत सञ्जाता । अत एव ज्वरशान्त्यर्थाद्रसमज्जनात्तदुद्वेकस्थानयोत्पत्तेर्विपमा-लङ्कारभेद । ‘विद्वद्धार्यस्योत्पत्तिर्यन्त्रानर्यस्य वा भवेत् । विरूपपटना वा स्याद्विपमावृत्तिर्ज्ञा ॥’ इति लक्षणात् । एतेन द्वादशावस्थापक्षे नमो सज्वरावस्थाक्ता । तदुक्तं—‘चक्षुःशीर्षमनसश्च गन्धगोऽयं प्रलापिता ।

जागर वास्यंभरतिलंज्याभ्यागोज्य सञ्जर । उन्मादो मूर्छन चैव मरणञ्चरम  
त्रिदु' ॥ २ ॥

अन्वय — अतनुज्वग्नाक् सा यत् त्रियक्यासरसीरसमञ्जन तनुते स्म तस्य  
वपदि विरातरताग्निो विषमा परिणति समपद्यत ।

हिन्दी—कामञ्जर से पीड़िता उस दमयन्ती ने जो प्रिय ( नल ) कृपा  
रूपिणी सरसी के रस रूप रस ( जल ) में स्नान किया, उसका तुल्य दीर्घ-  
काल तक अतुम् को उपानेवाला विषम परिणाम हुआ ।

टिप्पणी—ञ्जर में तल व्यक्ति स्नान करने से विषमञ्जर में पड़ित हो  
जाता है, उसी प्रकार कामञ्जराश्रिता दमयन्ती ने जो सरोवरस्नान-मदुष्ट त्रि-  
क्या रस-स्नान किया, उसने उसकी पीड़ा और भी विषम हो गयी । भाव  
यह कि नल-वर्षा सुनने से पीड़ा बढ गयी, पण विषम-विरतीन हुआ । मन्त्रि-  
नाथ ने यहाँ विषम जटकार माना है, क्योंकि ज्वरशक्ति के निमित्त किया  
सरसी-स्नान शमन के स्थान में ताप बढाने वाला हो हुआ और इस प्रकार  
ज्वर के स्थान में अनर्थ सघटित हो गया । विद्याधर ने यहाँ रूपक मानने हुए  
कहा है कि यहाँ ज्वरान्तर की प्रकृति रूपक-द्वारा ही होती है, अतः ममामाक्ति  
की सम्भावना नहीं है । काम की शक्ति दशाएँ बतायी गयी हैं—(१) नेत्रानु-  
राग, (२) मन सग, (३) सकल, (४) प्रलाप, (५) जागरण (६) इच्छा,  
(७) अरति ( विराग ), (८) लज्जाभ्याग, (९) प्रमूतञ्जर, (१०) उन्माद,  
(११) मूर्च्छा और (१२) मरण । यहाँ नवमी दशा 'मञ्जर' ( प्रमूतञ्जर )  
का विषय है ॥ २ ॥

ध्रुवमधीतवनीयमनीरता दयिनद्वन्द्वपदङ्गतिवेगनः ।

स्थितिर्विरोधकरी द्वयभुकोदरी तद्द्विदिन म हि यो यदनन्तर ॥ ३ ॥

जीवातु—ध्रुवनिनि । द्वयभुकोदरी भूक्षमध्या, इय दमयन्ती, स्थिति-  
मर्यादा गतिनिवृत्तिश्च, तद्विरोधकरी, तद्विरोधहतुनिष्पद्य । परदुश्चतेन्-  
त्वागभावविरोधित्वादिनि भाव । 'इतो हेतु' इत्यादिना हृत्त्वये टन्तत्वे  
होन् । अनिरता चपलताम्, एकत्रानवस्थान-ज्वां, दक्षितदूरी य पठन्  
पठन्तो ह्य । 'पठत्तञ्जरपादका' इत्यमर । तस्य गतिवेगन समनवेगाद-

धीतवती, गृहीतवती, प्राप्तवतीत्यर्थः । ऐतेन चापलास्य सञ्चारी भाव उक्तः ।  
 'चापल त्वनवस्थान रागद्वेषादिसम्भवम्' इति लक्षणात् । तस्य हसपक्षवेग-  
 ज-यत्वमुत्प्रेक्षते—ध्रुवमिति । ननु कथमन्यवेगादन्यत्र क्रियोत्पत्तिरित्याशङ्क्य  
 यदनन्तरयायेन समर्थयति । योऽर्थो यस्यानन्तरस्सन्निहितः स तस्मादुदित-  
 उत्पन्न इत्युत्प्रेक्षार्थान्तरन्यासयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्कुर ॥ ३ ॥

अन्वयः—द्वघणुकोदरी इय स्थितिबिरोधकरीम् अधीरता ध्रुव दयितवृत्त-  
 पतद्गतिवेगात् अधीतवती, हि य यदनन्तर स सवुदितः ।

हिन्दो—द्वघणुक जैसे उदरेवाली ( अत्यन्त कृश उदरवती ) इस (दमयती)  
 ने स्त्रीजनोचित मर्यादा के विरुद्ध अधीरता ( चञ्चलता ) का पाठ निश्चयपूर्वक  
 प्रिय के दूठ, पक्षी हस की गति के वेग से पड़ा, कारण कि जो जिसके निकट  
 रहता है, वह उसी से उत्पन्न रहता है ।

टिप्पणी—कामपीडिता दमयन्ती का धैर्य जाता रहा, वह चञ्चल रहने लगी ।  
 अचञ्चलता स्त्रीजनोचित मर्यादा है, दमयन्ती ने चञ्चलता प्राप्त की, वह मारी  
 विरुद्ध भाव है । शीतल के अनुसार जिसने तुरन्त बाद जो दीखता है, वह  
 पूर्ववर्ती उत्तरभूत का कारण होता है—'यदनन्तरमेव यद्दृश्यते तत्तस्य  
 कारणम् ।' सो धैर्यशीला दमयन्ती में यह 'स्थितिबिरोधकरी अधीरता' नलवृत्त  
 हस से भेट हाने के अनन्तर ही दीखी, अतः पूर्वोक्त न्याय के अनुसार इस  
 अधीरता का कारण उस हस का गति वेग ही प्रणीत होता है । उसी के साहचर्य  
 से दमयन्ती में यह अस्विरता आधी है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा  
 अर्थान्तरन्यास का अगाधिभाव सकर है, पारिव्रजवर्द्धन की 'तिलक' टीका और  
 विद्याधर की 'साहित्यविद्याधरी' के अनुसार उत्प्रेक्षा और हेतु अलंकार है ॥३॥

अतितमा समपादि जडाशय स्मितलवस्मरणेऽपि तदाननम् ।

अजनि पङ्कुरपाङ्गनिजाङ्गणभ्रमिकोऽपि तदीक्षणखञ्जन ॥ ४ ॥

जीवातु—अतितमामिति । तस्या भ्रम्या आनन, स्मितलवस्य हासलेपास्य  
 स्मरणेऽपि किमुत कारण इति भावः । अतितमामतिमात्रम् । 'किमेतिह' इत्या-  
 दिना अध्ययादामृप्रत्ययः । जडाशय मूढचित्त, समपादि सम्पन्न, तदज्ञ जात-  
 मित्यर्थः । 'चिन्त पद' इति कर्तरि चिण् । तस्या ईक्षणमेव नयनभावः,

सञ्जन सञ्जरीट, जगद् एव निजज्जन, तत्र अनिर्जना तस्या को  
लेगेजि पङ्गुरसनयं, बजनि जात । 'दीनजन इत्यादिना जने करि  
वि' । ज्वरवेमात् नितवीसो लुको इति भावः ॥ ४ ॥

अन्वयः—नदानन मितव्यस्वरसे जनि अतिउना बडागद सननादि,  
सदोसःखडन बगद्गनिबाङ्गनभ्रमिको बनि पङ्गु बजनि ।

हिन्दी—उठ ( दमयन्ती ) का मुख मुष्कान के लठ ( अन्धाश ) का  
स्मरण करने में भी अन्ध विनुद्विष हो गया, उसका सदनहन सजन पक्षी  
नेत्रगात्र रूप अपने आन में छुटकने में भी पङ्गु ( लँका ) हो गया ।

टिप्पणी—धिरप्रनम रहने वाली हृषितामना दमयन्ती के मुख पर लठ  
के विरोध में छोटी सी मुष्कान भी न आ पाती, उसके बचल नदन इतने स्थिर  
हो गये कि विन्दाश की मात्रा भी उनमें न दौलती । वे बचल बज्रगिट से  
अब एक टुटही टाँप बाले पक्षी जैसे बन गये । जानम्वर ने दमयन्ती की  
मुखकन छीन ली, नदों की लँका का विरोधित कर डाला । 'टिछक' टीका  
के अनुसार वहाँ अतिमयोक्ति और रूपक है, 'साहित्यविद्वानो' के अनुसार  
विरोधोक्ति और रूपक ॥ ४ ॥

किमु तदन्तरमौ भियजौ दिव स्मरनली विगत. स विगहितुम् ।

तदमिकेन चिकित्सितुमानु ता मखमुजामधिनेन नियोजितौ ॥ ५ ॥

जीवातु—जयाम्बा स्मरन-योनिरन्तरान्त प्रवेशनाच्छोटीरूपे—  
किम्विति । तदमिकेन नैमीकामुकेन, 'अनुकामिछानीक कनिता' इति निना-  
तित । मखमुजामधिनेन देवेन्द्रेण, ता नैमीमायु चिकित्सितुनादीकृतौ,  
नियोजितौ प्रियतौ उमौ दिवो न्यजौ स्वर्गपावनिनी, स्मरनली सुगौ,  
विगहितु रोगनिदान निश्चेतुन, तस्या दमयन्त्या, जन्तरन्तरासीर प्रविशत  
स किमु । प्रविश्य मित्तावनिनावेव ती किनिपुत्रेया । तेनास्य नदना-  
शिनननसौन्दर्य व्यञ्जने । जव विनाम्य मखारी भाव म्वित । 'ध्यान-  
चिन्तेनपितानासि शुभवास्वास्तवाकृत्' इति स्मृतात् ॥ ५ ॥

अन्वयः—तदमिकेन मखमुजाम् अधिनेन ताम् वातु चिकित्सितु नियोजितौ  
उमौ दिव भियजौ स्मरनली विगहितु तदन्त विगत स किमु ?

हिन्दी—उस ( दमयन्ती ) की कामना करने वाले यज्ञभोजी देवी के राजा इन्द्र द्वारा उस ( दमयन्ती ) की शीघ्र चिकित्सा करने को नियुक्त दोनों स्वर्ण अश्विनीकुमार काम और नल वनश्चर विद्याह्न ( रोग-निदान ) करने के निमित्त क्या उसके अतस् में प्रविष्ट हो गये थे ?

टिप्पणी—उस समय दमयन्ती के अतः करण में दो का ही वास था—नल का और तद्विषयक काम ( अभिलाष ) का, जैसे उनके रूप में दमयन्ती कामी इन्द्र के भोजे स्वर्ण वैद्य रोग-परीक्षा के लिए अतः प्रविष्ट हो । तिलक और साहित्यविद्याधरी के अनुसार उत्प्रेक्षा अलंकार । चिन्ता नामक सचारी भाव ॥५॥

कुसुमचापजतापसमाकुल कमलकोमलमैक्ष्यत तन्मुखम् ।

अहरहर्वहदभ्यधिकाधिका रविरुचिर्गलपितस्य विधोर्विधाम् ॥६॥

जीवात्—अथ चिन्तानुभाव सन्ताप वर्णयति—कुसुमेत्यादि । कुसुमचापजेन स्मरसमुत्थेन, तापेन समाकुल विह्वलम्, अत एवाहरह अहन्यहनि । अत्यन्त-सयोगे वीप्साया द्विर्वचनम् । 'रो सुपि' इत्यहो नकारस्थ रेफादेश । अभ्यधिकाधिकामत्यन्ताधिकाम् । आभीष्टमे द्विर्भाव । रविरुचिर्गलपितस्य अर्कागुह-तस्य, विधोरिन्दोः, विधा प्रकार, तादृशीमवस्थामित्यर्थ । अत एव सादृश्या-लोपादसम्भववस्तुसम्यग्धाग्निदर्शनालङ्कार । बहत् प्राप्नुवत्, कमलकोमल तन्मुखमैक्ष्यत इष्ट सखीजनेनेति शेष । सकरुणमिति भाव ॥ ६ ॥

अन्वय—कुसुमचापजतापसमाकुलम् अह अह अभ्यधिकाधिका रवि-रुचिर्गलपितस्य विधो विधा बहत् कमलकोमल तन्मुखम् ऐक्ष्यत ।

हिन्दी—पुष्पधन्वा ( काम ) के कारण उत्पन्न ताप से व्याकुल, कमल सदृश कोमल उस ( दमयन्ती ) का मुख प्रतिदिन उत्तरोत्तर सूर्यकिरणों से म्लान चन्द्र की दशा की धारण करता प्रतीत होता था ।

टिप्पणी—नल-वियोग में व्यथिता दमयन्ती के मुख की शोभा प्रतिदिन उत्तरोत्तर—पहिले दिन से दूसरे दिन अधिक—भीकी पड़ती जा रही थी । उसे सूर्यकिरणों के तापकारी प्रकाश में चन्द्रमा शोभाहीन दिखायी देता है, वैसे ही दमयन्ती के कमल मुख की स्थिति थी । सूर्य से कमल का विकास होना है, परन्तु यहाँ सूर्यरश्मि से कमल मुख को म्लान कहा गया है । कमल के समान



मुकुन्दार दमयन्ती का मुख दिन-दिन नामवस्तुता से श्रीहीन होता जा रहा था, यह कवि का आशय है। यहाँ सादृश्य के आशे से असम्भव वस्तुसदृश के कारण निदर्शना बलकार है, यह जीवानुकार का मत है। हिल्क और साहित्य-विद्याधरी के अनुसार भी इस पद्य में निदर्शना है। चन्द्रमहाकार 'कमल-कोमल' में रूपमा और 'चन्द्रविद्या' को मुख द्वारा प्राप्ति रूप असम्भववस्तु-सदृशविधान का निदर्शन होने से निदर्शना—अतएव उरना-निदर्शना का अण-गिभाव कर मानते हैं। श्लोक मत्स्या ६ से १० तक पाँच श्लोकों में 'ताप' का वर्णन है। ताप चिन्ता का अनुभाव है ॥ ६ ॥

तदाज्ञानपनघुनिनिर्मितद्रष्टिम् तन्कुचकुम्भपुता तथा ।

अनलसङ्गतिनापमुपैतु नो कुमुदघातकुलालविलासजम् ॥ ७ ॥

जीवानु-तदाज्ञेति । तत्त्वा कुचादेव कुम्भौ तयोर्गु ( कर्तृ ), तद्वत्ता तादृश्यमेव, तपनघुतिरातपस्तथा निमित्त कृता द्रष्टिमा कश्चित् यत् तत्तथा, कुमुदघात एव कुलाल कुम्भकारस्तस्य विलासेन व्यापारेण जात तज्जम्, अनलसङ्गतिः नलसङ्गत्यभावः । क्वचित् प्रत्ययप्रतिपेक्षे नञ्समास इत्येते । अयानावेऽप्ययीभावे वा न्युक्तवन् । संवानलसङ्गतिरनिसमोप इति द्विष्ट-रूपकम्, तथा तापमुपैतु नो जातु, उपेयादेवेत्यं प्राप्तकाले लोड् । तथा हि—आनो घट कुलालेन दाटनीयं प्रयत्नमातनेन पक्त्वा पश्चादग्निना पच्यते । रूपकालङ्कारः ॥ ७ ॥

अन्वयः—तदाज्ञानपनघुतिनिर्मितद्रष्टिम् कुमुदघातकुलालविलासजं तन्कुच-कुम्भपुताम् अनलसङ्गतिनापं नो उपैतु ? ( उपैत्येव ) ।

हिन्दी—तदाज्ञानरूपी घाम ( घूप ) से विमन बडोरता ( कड़ाई ) दाठ कर लाई है और पुण्यधन्या ( काम ) रूपी कुम्भकार को विलास लीला के कारण जिसकी सर्वना हुई है, ऐसा उस ( दमयन्ती ) का कुचरूप घटद्वारा अनलसङ्गति ( नल विमो ) रूप अग्नि में पकाये जाने के दाप ( कामध्वर, घटपत्र से तनाया जाना ) को काम न प्राप्त करे ? करेगा ही ।

टिप्पणी—कामविलासक्रीडा के निमित्त नयाउ और तादृश्य के कारण

कठोर बना दमयन्ती का कुचयुग्म नल की संगति न होने से उसी प्रकार सतप्त हो रहा है, जैसे किसी कुम्भकार के द्वारा निर्मित घड़े घूप में सुख कर आग में तपाये जाते हैं। कुचयुग्म दो घड़े हैं, काम उनका सर्वजहार कुम्हार है, तद्वर्णाई घूप है, जिसमें वे कठार हुए हैं या मूछे हैं, 'अनल' ( नलामाव ) आग है, जिसमें वे तप रहे हैं। दृढ कुचकलशयुग यौवन की संपूर्णता के चिह्न हैं। पूर्ण-यौवना प्रिय-विमोग में सतप्त होगी ही है। कुम्हार जैसे घड़ों को बनाकर उनके सूख जाने पर उन्हें आग में तपाता है, वैसे ही काम नलामाव में दमयन्ती के अगविरोध को व्यथित कर रहा है। प्रकाशटीकाकार ने 'कुमुमचापकुलाल-विलासजम्' का 'जनलसङ्घतितापम्' का विशेषण मान कर अर्थ का संकेत दिया है कि 'तद्वर्णाई' रूप तपनचुति से द्रष्टिमा को प्राप्त उसका कुचकुम्भयुग काम कुम्भकार के विलास ( क्रीडा, कृत्य ) से अनलसंगति ( नलामाव, अग्नि-नयोन ) से जनित ताप को क्यों न प्राप्त करे ?' यह अधिक उचित प्रतीत होता है, क्योंकि कुचकलश का सर्वज काम-कुम्भकार नहीं है, हाँ, वह उन्हें ताप देने वाला अवश्य है। मल्लिनाथ न यहाँ 'अनलसङ्घति' में श्लिष्ट रूपक और काकु वक्रोक्ति का उल्लेख किया है, वैसे प्रधानतया वे रूपक ही मानते हैं। विद्याधर के अनुसार यहाँ अनुप्रास, श्लेष और रूपक हैं ॥ ७ ॥

अधून यद्विरहोष्मणि मज्जित मनसिजेन तदूर्युग तदा ।

स्पृशति तत्कदन कदलीतरुं यदि मरुज्वलदूपरदूषितः ॥ ८ ॥

जीवातु—अधूनति । तदा यतस्या ऊर्ध्वयुग मनसिजेन विरहोष्मणि विरह-दाह मज्जितम्, अधूत अवस्थितम् । घूडवस्थान इति घातोलुङि तङ् । ह्रस्वा-बङ्गात् इति मलाप । कदलीतरु, मरी मण्डेशे ज्वलता तप्यमानेन उपरेणो-परक्षेत्रेण, दूषिता यदि दूषितश्चेत् । तत्कदन, तेनोर्युग्मेन कदन कलह माम्य-मित्यर्थः । स्पृशति । अत्रोपमानस्य कदलीतरोरुपमेयत्वकल्पनात् प्रतीपा-लङ्कारभेदः । 'उपमानस्यालोप उपमेयत्वकल्पन प्रतीपम्' इति लक्षणात् । उपरप्रकृतकदलीकाण्डकस्य तदासीदित्यर्थः ॥ ८ ॥

अन्वय — तदा यत् तदूर्युग मनसिजेन विरहोष्मणि मज्जितम् अधूत, यदि कदलीतरु मरुज्वलदूपरदूषित ( स्यात् ) तत्कदन स्पृशति ।

हिन्दी—उन मम जो उस ( दमयन्ती ) का जघायुगल मनोमय (काम) ने वियोग की अग्नि में निमज्जित कर रखा था, यदि केले का वृक्ष मधूमि की जलती ऊसर में पड़ दूषित हो जाय, तब उस ( ऊरुयुग ) की समानता का स्पष्ट कर सकता है ।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती का ऊरुयुग अत्यन्त मत्तान पा रहा था, मधूमि की आग में घबकती ऊसर में पड़े कदली वृक्ष के तुल्य । कहीं स्निग्ध, विश्वज, कोमल कदलीतह, कहीं ऊसर की आग ? यहाँ उदमान कदली-तह के जलमेय रूप में कल्पित होने के कारण मल्लिनाथ 'प्रतीप' मानते हैं, ठिलक और साहित्यविद्याधरी के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति है ॥ ८ ॥

स्मरसाराहतिनिमित्तमज्वर करयुगं सहति स्म दमस्वमु ।

अनपिधानपत्तपनातप तपनिपीतसरस्मरसीरुहम् ॥ ९ ॥

जीवानु—स्मरेति । स्मरसाराहत्या निमित्तमज्वर अनितनाप, दमस्वमु करयुग ( कर्तृ ) अनपिधानादनावरणात् ( हेतोः ), पत्रन् प्रविधान, तपनातप म्र्यातप, यस्मिन् तत्तया, तपेन ग्रीष्मेण निपीते शोषिते सरसि मधुरसीरुह पत्र, तद्धमति स्म तत्पद्मानन्दित्यर्थः । 'हस्तग्रीष्ममयती'ति दण्डिना मधुर-पयसि पठितत्वात् । अत्र एवोपमालङ्कार ॥ ९ ॥

अन्वय —स्मरसाराहतिनिमित्तज्वर दमस्वसु करयुगम् अनपिधानपत्त-पनातप तपनिपीतसरस्मरसीरुहं हसति स्म ।

हिन्दी—काम बाणों के आघात से उत्पन्न ज्वरदाह से युक्त दमयिनी ( दमयन्ती ) का करयुगल जिस पर मुरज की धूप प्रतिबधिरहित पड़ रही हो, ऐसे ग्रीष्म ऋतु ने जिसे पी डाला है ( गर्मी ने सूखे ), उस सरोवर में म्रियत कमल का उपहास कर रहा था ।

टिप्पणी—गर्मी से सूखे तालाब में पड़े कमलों की जो दुरवस्था होती है, कामजनि दाह से दमयन्ती के हस्त युग्म की दशा उससे भी चितनीय थी । सूखे तालाब में सीपी पड़ती धूप से झुलसते कमलसम कोमल करयुगल अत्यन्त सत्ताप का अनुभव कर रहे थे । काव्यादर्शरचयिता दही ने 'हसति, दीप्यति, अमूयति' आदि को भी समानतावाचक माना है, इस आधार पर मल्लिनाथ

यहाँ उपमा का विधान करते हैं । तिलक और साहित्यविद्याधरी में भी उपमा-  
लकार का ही निर्देश किया गया है ॥ ९ ॥

मदनतापमरेण विदीर्य नो यदुदपाति हृदा दमनस्वसु\* ।

निबिडपीनकुचद्वयग्रन्थना तमपराधमघात्प्रतिवद्नती ॥ १० ॥

जीवातु—मदनेति । दमनस्वसु, हृदा हृदयेन कर्त्ता मदनतापस्य भरेण  
श्रीस्कटधेन ( हेतुना ) विदीर्य, नो उदपाति नात्पतितमिति यत्, भावे लुङ् ।  
तमनुत्पत्तरूपमपराध प्रतिवद्नती निरुधरी, निबिडपीनकुचद्वयेन ग्रन्थना  
ग्रन्थ ( कर्त्ता ), अघात् । हृदयकृतापराध स्वयमुवाहेत्यर्थः । अत्रातिदाहेऽ-  
प्यस्फुटन हृदयस्यायु शेषनिवधन तस्य कुचग्रन्थनानिमित्तम्बभुत्प्रेक्ष्यते । सा च,  
व्यञ्जकाप्रयोगादुगम्या ॥ १० ॥

अन्वय — दमनस्वसु हृदा मदनतापमरेण विदीर्य यत् नो उदपाति, तम्  
अपराध निबिडपीनकुचद्वयग्रन्थना प्रतिवद्नती अघात् ।

हिन्दी - दमनगिनी ( दमनगती ) का हृदय काम-सताप की प्रचुरता से  
विदीर्य होकर जो उत्पत्ति नहीं हुआ, उस अपराध को धरे पीन स्तनपुगल के  
बधन ने रोककर धारण किया ।

टिप्पणी—आशय यह है कि काम व्यथा इतनी प्रबल थी कि उसके कारण  
हृदय फट कर गिर जाता । वह उत्पत्ति नहीं हुआ, यह जैसे उस हृदय का  
अपराध था । वस्तुतः यह अपराध हृदय का नहीं था, उन धनकुचपुगल का  
था, जिनके बधन में पकड़कर हृदय बाहर नहीं जा सका । मल्लिनाथ ने दाह  
के कारण स्फुटित हो जाने योग्य हृदय के कुचनिग्रन्थना से अस्फुटित रह जाने  
के कारण गम्भीर उत्प्रेक्षा मानी है, क्योंकि व्यञ्जक का प्रयोग नहीं है । तिलक  
और साहित्यविद्याधरी के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति है ॥ १० ॥

निविशते यदि शूकशिखा पदे सृजति सा कियतीमिव न व्ययाम् ।

मृदुतनोर्विनोतु कथं न तामवनिभूतु निविश्य हृदि स्थित ॥ ११ ॥

जीवातु—निविशत इति । शूकशिखा कण्टकाग्र, पदे चरणे निविशते  
प्रविशति यदि, 'निविश' इत्यात्मनेपदम् । सा प्रविष्टा शूकशिखा । कियतीमिव  
व्यथा पीठाम्, इवशब्दो वाक्यालङ्कारः । नीदृशी व्ययामित्यर्थः । न सृजति

नोन्मादयति, महतीमेव मृद्वतीत्यर्थः । अवनिमृदाया नल, पर्वतश्च । न तु, हृदि निविश्य स्थित सन्, मृदुतनो कोमलाग्या, ता तथाविधा, व्यया कथं न विनोतु तनोत्वेत्यर्थः । सम्भावनाया लाट् । अत्र पदे सूक्ष्मकण्टकप्रवेशे दुस्महा व्यया । किमुत मृद्वग्या हृदि महत्प्रवेशेनेति कर्मुत्वायायेनार्थापत्तेरर्थापत्तिरलङ्कारः ॥ ११ ॥

अन्यत्र—यदि शूकशिला पदे निविशते सा कियतीम् इव कथं न सृजति ? मृदुतनो हृदि निविश्य स्थित अवनिमृत् तु ता कथं न विनोतु ?

हिन्दी—यदि ( अन्न के पीसो के अवशिष्ट निम्न भाग ) ढठल की नोक पैर में घुस जाती है, तो कितनी अधिक पीडा नहीं उपजाती ? ( अत्यधिक पीडा उपजाती है । ) कोमल तन दमयन्ती हृदय में स्थित अवनिमृत् ( पर्वत अर्थात् नल राजा ) मला उस ( अत्यधिक व्यया ) का विस्तार क्यों न करे ? ( कन्ना ही उचित है ) ।

टिप्पणी—‘अवनिमृत्’ द्वयबोधक शब्द है—(१) पर्वत, (२) राजा । इसी शब्द के प्रयोग से यहाँ चमत्कारवास्ता आयी है । हृदय की अपेक्षा पैर अधिक कठोर होता है । तो कठोर पैर में घुमी ढठल की छोटी नोक भी जब पीडा उत्पन्न कर देती है, फिर कोमलतर दमयन्ती के हृदय में घँसा पहाड़ ( पलान्तर में राजा नल ) और भी अधिक पीडा का कारण होगा ही । कोमल हृदय में घँसा ‘अवनिमृत्’ तो पीडा दे ही रहा है, पीडा का यह एक और कारण है कि अवनिमृत् नल हृदय में स्थित होकर भी प्राप्त नहीं होता । इन्ना निकट और इतना अप्राप्य ! कौसी बिटबना है । पैर में दना छोटा सा कटक भी व्यया देता है, कोमलागी के कोमलतन हृदय में यदि इतना बड़ा अवनिमृत् घँसा जाय तो फिर कहना ही क्या ? इस आधार पर कँनुरयन्त्राय में अर्थापत्ति होने के कारण मल्लिनाथ ने यही अर्थापत्ति अलंकार माना है । तिलककार के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति है और विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति तथा द्रव्य क्रिया विराज अलंकार । सचारीभाव चिन्ता का चित्रण ॥ ११ ॥

मर्ननि नन्तमिव त्रिप्रमोक्षितु नयनयो म्पृहयान्तरूपेनयो ।

ग्रहणशक्तिरभूदिदमोययोरपि न सम्मुलवास्तुनि वस्तुनि ॥ १२ ॥

जीवातु—मनसीति । मनसि सन्त हृदि वर्तमान प्रियमीक्षितु स्पृहया अन्तरूपेतयोरन्तः प्रविष्टशरीरिव, इदमीययोरस्या सम्बन्धिनो । इदशब्दात्प्रदादे 'वृद्धाच्च' । नयनयोः सम्मुख पुरोदेशः वास्तु स्थान यस्य तस्मिन्नपि पुरोवर्ति न्यपि वस्तुनि, ग्रहणशक्ति साक्षात्करणसामर्थ्यं नाभूत् । नलव्यासङ्गाप्र किञ्चिदन्वयादधीदित्ययम् । तद्व्यासङ्गनिमित्तस्य बाह्यादशनस्य चक्षुषोरन्तः-  
प्रवेशननिमित्तत्वमुत्प्रेक्षते । चिन्तैव सञ्चारो भावः ॥ १२ ॥

अन्वयः—मनसि सन्त प्रियम् ईक्षितुं स्पृहया अन्तः उपेतयोः इव इदमी-  
ययोः नयनयोः सम्मुखवास्तुनि अपि वस्तुनि ग्रहणशक्तिः न अभूत् ।

हिन्दो—मन मे स्थित प्रिय ( नल ) को देखने की आकांक्षा से मानो अन्तस् मे प्रविष्ट जैसे इस ( दमयंती ) के दोनों नेत्रों मे सम्मुख स्थित भी वस्तु को ग्रहण करने की शक्ति ( देख लेने की क्षमता ) नहीं थी ।

टिप्पणी—विरह से क्लान्त दमयंती को आँखें धँस-सी गयी थी, इसी पर कवि की उत्प्रेक्षा है कि वे अविविद्यमान प्रिय की दर्शनाकांक्षा से भीतर धँसी जा रही थी । फिर भी निकटस्थित प्रिय को न देख सकने के कारण व्यथा और अधिक हो जा रही थी । लगता है, विरह के कारण दमयंती के नयन इतने सामर्थ्यहीन हो गये थे कि निकटस्थित प्रिय-दर्शन भी न कर पा रहे थे । संचारी भाव बिना का वर्णन । तिलक, जीवातु, साहित्यविद्याधरी के अनुसार उत्प्रेक्षा अलंकार ॥ १२ ॥

हृदि दमस्वमुरग्युग्लग्लुते प्रतिफलद्विरहात्तमुखानते ।

हृदयभाजमराजत चुम्बितु नलमुपेत्य किलागमित मुखम् ॥ १३ ॥

जीवातु—हृदीति । विरहेणात्ता प्राप्ता मुखानतिर्यया सा तस्या नम्र-  
मुखाया दमस्वसु मुखम् । अभ्रुक्षरेणाभ्रप्रवाहेण, प्लुते सिक्ते, हृदि हृदये प्रति-  
फलम् प्रतिविम्बितं सत्, हृदयभाजं हृदि स्थित, नल चुम्बितुमुपेत्य गत्वा,  
आगमितः सञ्जातागमनं किल, प्रत्यागतमित्युत्प्रेक्षा । तारकादित्वादितम् ।  
विलेति सम्भावनायाम् । 'वार्तासम्भाव्ययोः किल' इत्यमरः । अराजत रराज ।  
सम्भावनायामुत्प्रेक्षा ॥ १३ ॥

अन्वयः—विरहात्तमुखानते दमस्वसु मुखम् अभ्रुक्षरप्लुते हृदि प्रतिफलम्  
हृदयभाजं नल चुम्बितुम् उपेत्य किल आगमितम् अराजत ।

हिन्दी—दियोग के कारण जिसका मुख झुक गया है, ऐसी दम-मयिती ( दमयती ) का मुख अश्रु-प्रवाह से सिंचे हृदय पर प्रतिबिम्बित होता हृदय में स्थित नल के चुम्बन को जाकर लौट आया जैसा सुशोभित हो रहा था ।

टिप्पणी—सम्भावनायक 'किल' के प्रयोग के आधार पर मलिनार्थ ने यहाँ उपेक्षा का निर्देश किया है, तिलक और साहित्यविद्याधरी के अनुसार यहाँ उपेक्षा और अतिशयोक्ति हैं । चिंता के अनुभाव रोदन का चित्रण । १३।

सुहृदमग्निमुदञ्चयितु स्मरं मनसि गन्धवहेन मृगीदृश ।

अकलि निःश्वसितेन विनिर्गमानुमितनिहनु तवेद्यनमायिता ॥ १४ ॥

जीवातु—सुहृदमिति । गन्धवहेन वाह्यवायुना, सुहृद सखायम् । 'रोहिताश्वो वायुसख' इत्यग्नेर्वायुसखत्वाभिधानात् । मृगीदृश भ्रम्या, मनसि, स्मर-मेवाग्निमुदञ्चयितुमुदीपयितु, निःश्वसितेन निःश्वासवातव्याजेन, विनिर्गमेन बहिर्निस्सारणेन, अनुमित निहनुत, प्राप्तात, यद्वेशनमन्त प्रवेशस्तत्र मायिता मायाबिम्बम् । तत्कल्पनापाटव वीक्ष्यादित्वादिनि अकलि कलित प्राप्तम्, नूनमिति शेष । अग्निदो हि गूढ प्रविश्य प्रकाश निर्गच्छति, तद्वद्वायुरपि यादृग्निःश्वासव्याजेन तथा कृत्वा निर्गत इत्युपेक्षा ॥ १४ ॥

अन्वय —मृगीदृश मनसि सुहृद स्मरम् अग्निम् उदञ्चयितु निःश्वसितेन गन्धवहेन विनिर्गमानुमितनिहनुतवेद्यनमायिता अकलि ।

हिन्दी—मृगनयना ( दमयती ) के मन में स्थित मित्र कामदेव रूप अग्नि को उद्दीप्त करने के निमित्त निःश्वास रूप वायु ने बाहर निकलने से जिसके गुप्त प्रवेश का अनुमान हो, वह माया स्वीकारी ।

टिप्पणी—विरहगीडिता, कामसतृप्ता दमयती लम्बी-लम्बी साँसें लेती । कवि ने इस पर कल्पना की दमयती के हृदय में जो काम रूप अग्नि है, उसे उत्तेजित करने या हृदय-कारागार से मुक्ति दिलाने के लिए अग्नि का मित्र वायु पहिले निःश्वास रूप में अतस् में प्रविष्ट हुआ और उसी कपट वेद्य में बाहर निकला । मित्र की सहायता मित्र करता ही है । कपट रूप इसलिए प्रतीत हुआ कि जब कामाग्नि का मित्र वायु निःश्वास वेद्य में बाहर निकल रहा है तो उच्छ्वास वेद्य में अन्त प्रविष्ट जो हुआ होगा । मलिनार्थ के अनुसार

उत्प्रेक्षा अलंकार । विद्याधर ने समासोक्ति और रूपक का निर्देश किया है ।  
निश्वास भी चिन्ता का अनुभाव है ॥ १४ ॥

विरहपाण्डिमरागतमोमपीडितमिदं निजपीतिमवर्णकैः ।

दश दिशः खलु तद्दृग्कल्पयत्लिपिकरी नलरूपकचित्रिताः । ॥ १५ ॥

जीवातु—विरहेति । तस्या दमयन्त्या, दृष्टिरेव, लिपिकरी चित्रकरी,  
विरहेण पाण्डिमा धरीरश्वेत्य, रागोऽनुराग स एव रागो रक्तिमा । द्रष्टृ-  
रूपकम् । तमो मोहस्तदेव मपी तस्या चित्तिमा नीलिमा । तस्या नैम्या  
निजो नैसर्गिक पीतिमा कनकवर्णं, चतुर्णां द्वन्द्वं, तैरेव वर्णकै चित्र-  
साधनं, दश दिशस्ता एव भित्तीरिति शेष । नलस्य रूपकं प्रतिकृतिभि-  
र्विचित्रिता सञ्जातचिन्ता, तारकादित्वादितच् । अकल्पयदमृजत्सन्तु । निरन्तर-  
चिन्ताजनितया भ्रान्त्या प्रतिदिश मिथ्यानलानद्राक्षीदित्यर्थः ॥ १५ ॥

अन्वयः—तद्दृक् लिपिकारी विरहपाण्डिमरागतमोमपीडितमिदं निजपीतिम-  
वर्णकै दश दिशः नलरूपकचित्रिता अकल्पयन् खलु ।

हिन्दी—उस ( दमयती ) की दृष्टि रूपिणी पितेरी ने विरह में सजात  
पादुरता रूप भूरे, अनुराग रूप लाल, मूर्च्छा रूप मसी ( स्याही ) के काने  
और अपने काञ्चन ( देह रूप ) पीत वर्णों ( रंगों ) से दसो दिशाओं में नल  
के रूपक ( चित्र ) बना दिये ।

टिप्पणी—वियोग पीडिता दमयती वियोग में पादुर हो गयी, अनुराग  
की तीव्रता में मूर्च्छित हो जाती, उसका देहरूप काञ्चनपीत था ही । सब ओर  
वियोग में उसे नल-ही नल दीखता । इसी पर यह कवि कल्पना है कि पादुरता-  
राग-मूर्च्छा-काञ्चनपीतदेह के भूरे, लाल, काले, पीले रंगों की सहायता से  
चितेरी दमयती दृष्टि ने दश दिशा रूप भित्तिर्या नल के विविध चित्रों से परि-  
पूर्ण कर दी । मल्लिनाथ ने यहाँ चिन्ताजनित भ्रांति मानी है । इसे ही नारायण  
ने उन्माद दशा माना है । उनके अनुसार दृष्टि की लिपिकरी रूप में उत्प्रेक्षा  
की गयी है । विद्याधर रूपक और विशेष अलंकार मानते हैं ॥ १५ ॥

स्मरकृति हृदयस्य मृदुर्दशा बहु वदन्निव निश्वासिनानिः ।

व्यथित चासमि कम्पमद श्रिते श्रमति क सति नाश्रयवाधने । ॥ १६ ॥



लोवानु—स्मरकृतिमिति । निश्चसितानिष्ठ, स्मरकृतिमदनकर्तृकृष्टि-  
रूपा, हृदयस्य हृत्पिण्डस्य, दशानवस्थां बहु बहुवार ( क्रियाविशेषणम् ),  
वदन्ति एव कम्पत इति व्ययनिवेत्युपेक्षा । अतो हृदय, यिते वासमि,  
कम्पच्छन्न, तन्मारुप आसन्न, मृदु व्ययित विहितवान् । दधातेलुङ्गितङ् ।  
'स्याध्वोरिच्च' इतीकार । 'ह्रस्वादङ्गात्' इति मिचो लोप । तथा हि-  
आश्रयवाधने सति, को नाम न वसति । सर्वोऽपि वसत्येवेत्यर्थः । तदापि  
तदाश्रितस्य स्वस्यापि वायादिति भावः । अयान्तरन्यासोऽन्वहारः ॥ १६ ॥

अन्वयः—निश्चसितानिष्ठ स्मरकृतिं हृदयस्य दशा बहु वदन् इव अदः  
यिते वामसि कम्प मृदु व्ययित, आश्रयवाधने सति क न वसति ?

हिन्दी—निश्वास वायु ने कम्पविहित ( दमयती के ) हृदय की अवस्था  
को अनेक बार मानो कहते हुए, उस ( हृदय-वस्त्र ) पर स्थित वस्त्रों को  
कपन देते हुए बारबार पोछा दी, आश्रयग्न्यली के बाधित ( वाया-अप्या मुक्त )  
होने पर कौन नहीं डरता ? सुनी डरते हैं ।

टिप्पणी—दीर्घ निश्वास के कारण दमयती के हृदय-वस्त्र स्थल पर पड़े  
वस्त्र बार-बार हिल उठते हैं । हृदय पर स्थित होने के कारण हृदय वस्त्रों का  
आश्रयभूत आश्रय हुआ, सो आश्रय स्थल पर विपत्ति आने पर आश्रित वस्त्र  
भी विनम्र हो जाता है । आश्रय कपित होमा सो आश्रित भी कपित  
होगा । आश्रय यह कि विरहनिश्वास के कारण हिलते वस्त्र दमयती की  
प्रबल अप्या की सूचना दे रहे थे । मल्लिनाथ के अनुसार अयान्तरन्यास  
अलंकार, निलक और साहित्यविद्याधरी के अनुसार अयान्तरन्यास और  
उल्लेख ॥ १६ ॥

करपदाननञ्जोन्ननामभिः शनदलैः सुतनोर्विरहज्वरे ।

गदिमहो बहु पीतचरं चिरादनिशनापमियादुदमूञ्जन ॥ १७ ॥

जीवानु—वरेति । करो पदे आनन लीचने इति नामानि देया तैः,  
तदाकारपरिणामात्तन्नामगारिभिः शतदलैः कुशेयै ( कर्तृभिः ) चिरात्  
चिरात्प्रभृति, पीतचर रमवशात् पूर्वपीत, नूतपूर्व चरदप्रत्ययः । बहु मूरि,  
रदिनह नूननेत्र, सुतनो दमयन्त्या, विरहज्वरे ज्वरावस्थामा, जनिग-

तापमिषाग्निरन्तरोष्णव्याजात्, उदसृज्यत उत्सृष्टम् । नूनमिति शेष । अत्र पद्याना भैमीकरचरणादिभ्यो नाममात्रभेदः । न रूपभेद इत्यभेदोक्तेरति शयोक्तिः । तन्मूला चेय पूर्वपीततेजोवमनोत्प्रेक्षा । सा च तापव्याजादित्य पल्लवानुप्राणितेति सद्भूर ॥ १७ ॥

अन्वय — करपदाननलोचननामभिः स्रनदलं चिरात् पीतचर बहु रविमह सुतनो विरहज्वरे अनिश्चतापमिषाद् उदसृज्यत ।

हिन्दी—हस्त, चरण, मुख और नेत्र नामधारी कमलों द्वारा बहुत काल से पहिले पी लिया गया प्रचुर सूर्य तेज सुन्दरी ( दमयन्ती ) वियोग ज्वर में निरन्तर ताप के भ्याज से ( जैसे ) उत्सृष्ट किया जा रहा था ।

टिप्पणी—वियोग ज्वर में दमयन्ती के कमल-सुल्य हाथ, पैर, मुँह, आँखें सभी तप रहे थे । कवि ने कल्पना की है कि कर-पदादि रूप वाले कमलों में विकसित होने के लिए पहिले सूर्य तेज अत्यधिकमात्रा में पी डाला, जो उन्हें सख्त न हुआ । इसी कारण ज्वर ताप के रूप में बार-बार उसे भीतर से बाहर निकाल रहे हैं—अधिकमात्रा में पी लिये गये को वमन करके निकाल रहे हैं । भाव यह है कि विरह व्यथिता दमयन्ती का प्रत्येक काम ज्वर से अत्यधिक सतप्त था । इस पद्य में दमयन्ती के कर-पदादि नामत ही कमल से भिन्न बहे गये हैं, रूपत नहीं, अर्थात् कलादि जगो में पूर्णतया कमल रूप सादृश्य है, भेद नाममात्र का है । इस कारण अभेदकथन होने से जीवातु टीका में यहाँ अतिशयोक्ति का निर्देश किया गया है और बनाया गया है कि 'पूर्वपीततेजोवमन' की उत्प्रेक्षा तन्मूलक ही है, और वह 'ताप-भ्याजात्' कथन होने से अपल्लव से अनुप्राणित है । इस प्रकार सकर है । तिलक और साहित्यविद्याधरी में अतिशयोक्ति, समासोक्ति और अपह्णति का निर्देश किया गया है ॥ १७ ॥

उदयति स्म तददभुतमालिभिर्घरणभृद्भुवि तत्र विमृश्य यत् ।

अनुमितोऽपि च वाष्पनिरीक्षणादर्थमिचचार न तापकरो नलः ॥ १८ ॥

जीवातु—उदयतीति । आलिभिः गल्लीभिः, तत्र तस्या, घरणिमृतो भीमभूपाद्भवतीति तद्भू भैमी तस्या पर्वतभूमौ च विमृश्य व्यातिमनुसन्धाय, वाष्पनिरीक्षणादभुलिददर्शनात् । अयत्र, धूमदर्शनात् । 'वाष्पोऽभ्रम्यनुधूमे च'

च' इति वैवर्त्तनी । जनुनिन जम्बूद्विप, जन्वय लिङ्गनामादिमास्तिताग्नि  
तापक सन्तापजनक, नानैवय, जन्वय अनन्योऽग्नि न ध्वनिवचार  
नायया वन्द्येति अतः तद्वन्तुमुदयनि स्म उदयनिन्द्य । 'जय गती' इति  
घातान्त लट् । मन्त्रिस्ताजन्मोऽय सताम इत्यथुदयनामन्त्रीनिहितमहो  
इति पद्माद । वन्द्यामन्त्रिङ्गमन्त्रादयवज्ज्ञानम् । मन्त्रान्यनिवारोति स्फुरतो  
विरोज्ज्वायुनिङ्गा सन्तापकरो नरो निश्चिव इन्द्रमासोऽकराद्विरोजानाम् ।  
स च इत्येवानुप्राणित् । सतापकरो नञ् इति सन्तप्य । अन्यनादस्येय ।  
अग्नि विरोज ॥ १८ ॥

अन्वय —आग्निनि तप धरणिमुद्बुद्धि विनृदय वाय्वनिरीक्षणार् जनुनिन  
अग्नि तापक नञ् ( अन्वय ) यद् न ध्वनिवचार, यद् अद्भुतम् उदयनि स्म ।

हिन्दो—( १ ) मन्त्रिणा द्वारा उद्य गन्तः सी अन्वया ( दम्पती ) ने  
विचार पूर्वक आनुओं को दमन म नी दिखाने देने वाले नञ् का अनुनाद औ  
ठीक कर लिया, वह आश्चर्य ही हुआ ।

( २ ) मन्त्रिणा द्वारा उद्य पर्वतभूमि ने विचार पूर्वक आद निकलनी देख  
कर भी आ ताप देने वाले अग्नि ( जन्व ) का अनुनाद ठीक स क लिया  
मह आश्चर्य की वस्तु ही है ।

टिप्पणी—जहाँ नाद-श्रुति होता है, वहाँ जन्म होता है—'यत्र यत्र ध्वन-  
स्तत्र तत्र वह्नि', यह अनुनाद-विषय है । ध्वनी—नाद देखकर छा का अनुनाद  
छा लिया जाता है, आ आश्चर्यजनक है । 'यग्निमुद्बु' पर्वत के तुल्य  
यग्निमुद्बु-राजा की बेटी दम्पती के वाय्व-नाद तुल्य ज्यु इवकर या  
जन्तु हर मल या ठीक अनुनाद कर लिया, यह अनुनाद की प्रतापी के  
समान ही आश्चर्यजनक है । जिता बनुनि श्री सुवित्री ने अम्पती का नला-  
मृताण जान लिया, यह अन्वय ही प्रता । मन्त्रिणा ने बताया है कि वाय्व-  
निरीक्षण से जन्म का ज्ञान होता है, वह जन्मनिवारि है । इत्येव विरो-  
जः अथु स्म अग्नि ने सतापकर नञ् का निषेध दिया गया । उन प्रकार का  
जानाव देने के कारण यहाँ विगमनाम न और वह इत्येवानुप्राणित है ।  
'सतापकरो नञ्'—यह उल्लेख है, जन्मय जयजन्म । 'अग्नि' विरोज-

वाचक है। तिलक और साहित्यविद्याधरी के अनुसार श्लेष-ध्वतिरेक बलकार है ॥ १८ ॥

हृदि विदभंभुव प्रहरन् शरे रतिपतिनिषाधिपते कृते ।

वृन्तदन्तरगस्वदृढव्यय फण्डनोतिरमूर्च्छदल खलु ॥ १९ ॥

जोवातु—हृदीति । निषधाधिपते कृते नलस्यार्थ, तत्प्रहारार्थमित्यर्थ । 'अर्धे कृते च शब्दो द्वौ मादर्थ्योऽप्रयसञ्ज्ञितौ' इति वचनात् । विदभंभुव दमयन्ती, शरंहृदि प्रहरन्, नलस्य सदा तद्गतत्वादिति भाव । रतिपति काम, कृता तदन्तरगस्य जैमीहृद्गतस्य स्वस्य दृढव्यया येन स, स्वयमपि तद्गतत्वात् प्रहृत सन्निव्यथ । फण्डी अनीतिर्दुर्नीतिर्यस्य सोऽलमत्यन्तममूर्च्छदवर्धत खलु । अमुह्यादिति च गम्यते । 'मूर्च्छाभाहसमूर्च्छाययो' इत्युपासनात्, तदभेदेन मूर्च्छालक्षणकार्यदशनाद्रतिपते स्मरस्यापि प्रहार उत्प्रेष्यते व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या । सा च श्लेषमूलातिशयोक्त्युत्थापितेति दाहुर । परप्रहारोऽधनस्य स्वप्रहाररूपानघोत्पत्तिविषयभेदश्च व्यज्यते ॥ १९ ॥

अन्वय—निषधाधिपते कृते विदभंभुव हृदि शरं प्रहरन् रतिपति कृत-तदन्तरगस्वदृढव्यय फलदनीति अलम् अमूर्च्छत् खलु ।

हिन्दो—निषधराज ( नल ) के निमित्त विदभंतनया ( दमयन्ती ) के हृदय पर प्रहार करता रति का स्वामी ( काम ) उस ( दमयन्ती ) के हृदय में स्थित स्वयं को प्रभूत पीडा देकर दुर्नीति के फल को प्राप्त हुआ ( स्वयम् नो ) लगाता है, गहरी मूर्च्छा को प्राप्त हुआ ।

टिप्पणी—आद्यम यह है कि दमयन्ती के हृदय में काम प्रति-प्रचुर हो गया । 'अमूर्च्छत्' का एक अर्थ 'वृद्धि को प्राप्त होना' भी है, जिससे 'काम-प्रचुरता' भाव व्यक्त होता है । इस स्थिति में यह कल्पना करने की होगी—सौन्दर्य में नल काम का प्रतिद्वन्द्वी है, नलानुरक्ता दमयन्ती भी इस कारण काम की शत्रु है, क्योंकि शत्रु का मित्र शत्रु होता है । अब दमयन्ती के हृदय पर प्रहार करने से शत्रु को व्यापक देता काम 'अलम् अमूर्च्छत्' अर्थात् बहुत गया अर्थात् उन्नति का प्राप्त हुआ और शत्रु के मित्र पर प्रहार वाली उसकी नीति फलवती ( फण्डा-नीति ) हो गयी ।

‘अमूर्च्छंश्’ के ‘मूर्च्छित हो गया’ अर्थ में इस प्रकार विचारना होगा, नल का स्थान दमयन्ती का हृदय था, उन दिना वियोगिनी दमयन्ती के हृदय में काम नो विराजमान था । उस ‘हृदय’ पर प्रहार करके काम ने फलाफल पर विचार नहीं किया, सो प्रहार उस पर नो हो गया । वह गहरे मूर्च्छा को प्राप्त हो गया और इस प्रकार अनोति फल गयो ( फलम्—अनोति ) । अथवा शत्रु तो नल था और प्रहार दमयन्ती के हृदय पर किया, वहाँ उन दिना काम स्वयं स्थित था, इस प्रकार अपनी अनोति का फल काम को स्वयं भोगना पड़ा । अथवा नल दमयन्ती के हृदय-दुःख में छिपा था, काम का उचित था कि वह छिपे दुःख-स्थित शत्रु पर प्रहार करके समय यह विचार लैता कि स्वयम् उसकी रक्षा का उचित प्रवृत्त है अथवा नहीं ? बिना विचारे किये प्रहार का वह स्वयं लक्ष्य बना और अनोति का—अविचार का फल पा गया ।

केन्द्रीय भाव यही है कि दमयन्ती की कामपीडा बढ गयी । मूर्च्छा से वृद्धि को प्राप्त काम दमयन्ती को बही पीडा दे रहा था ।

मल्लिनाथ ने इस श्लोक में श्लेषयुक्ता अतिशयोक्ति द्वारा उपासित गम्या उपदेश का निर्देश करके मुकर अलंकार माना है । तिलक और साहित्य-विद्याधरी में उपदेशा-श्लेष का निर्देश किया गया है ॥ १९ ॥

विपुरमानि तथा यदि भानुमान् कथमहो स तु तद्गुदय श्रया ।

अपि विमोगभरास्फुटनस्फुटीकृतदृपत्वमजिज्वलदंशुभिः ॥ २० ॥

श्रीवानु—विपुरिति । तथा दमयन्त्या, विपुलान्, भानुमान् सूर्यः, जमानि मने यदि विरहितान्तर्गन् वित्रम् । किन्तु, स सूर्यत्वादिनशो विपुः, विमोग एव मरी भारस्तेनापि मदस्फुटननविचारण, तेन स्फुटीकृत दृपत्व मूपोन्त्य मय्य तत् । अन्यथातिमासन्मोष्टादिविद्विगीयेति भावः । तद-  
श्रयदमनपि नैमीहृदयरूपं सूर्यकान्तमपीत्यय । कथं तथा सूर्यवत् अशुनि स्व-  
तेशानि, अजिज्वलत् ज्वलयति स्म । ज्वलतेनैव चह । अहो विद्विहहिना-  
मूहीनवत्वात्-सूर्यवत्तनु नान । तद्वदवैज्वल्यनिवृत्तं तु चित्रमित्यर्थः ॥ २० ॥

अन्वयः—तथा यदि विपुः भानुमान् जमानि, स तु विमोगभरास्फुटनस्फुटी-  
कृतदृपत्व तद्गुदयम् अपि कथं तथा अशुनि अजिज्वलत्, अहो !

हिन्दी—उस ( दमयन्ती ) ने यदि चन्द्र को सूर्य मान लिया, ( परन्तु ) वह ( सूर्य मान लिया गया चन्द्र ) तो वियोग के भार से भी विदीर्ण न होकर जिसने अपना पापाण ( सूर्यकातमणि ) होना प्रकट कर दिया है, ऐसे उसके हृदय को भी कैसे उस प्रकार जला रहा था ? यह आश्चर्यजनक है ।

टिप्पणी—आशय यह है कि विरहिणी दमयन्ती का चन्द्रमा ऐसा ताप दे रहा था कि वह उसे सूर्य मान रही थी । इसमें आश्चर्य—विषय यह है कि चन्द्र हृदय को सनस कैसे कर रहा था ? दमयन्ती के हृदय ने तो अपने को एक पत्थर ( सूर्यकातमणि ) प्रमाणित कर दिया था, क्योंकि यदि वह पत्थर न होता तो वियोग के भार से फट जाता, तो चन्द्रा पत्थर को तपा कैसे रहा था ? इसके अतिरिक्त पत्थर—सूर्यकातमणि रूप में प्रमाणित हृदय को तो सूर्य ही ज्वलित कर सकता है, चन्द्र नहीं । तो चन्द्र उसे कैसे जला रहा था ? इससे ऐसा लगता है कि या तो यह सूर्य रूप प्रमाणित चन्द्र अतीव आश्चर्य का विषय है या फिर यह चन्द्र है ही नहीं, सूर्य ही है । चन्द्र में आरोपित सूर्य की भावना नहीं है, वास्तविक सूर्य है । तिलक और साहित्य विद्याधरी के अनुसार यहाँ विरोधाभास है । यका' अयमिचारी भाव का वर्णन ॥ २० ॥

हृदयदत्तसरोरुह्या तथा क्व सद्गुस्तु वियोगनिमग्नया ।

प्रियधनु परिरम्य हृदा रतिः किमनुमर्तुमशेत चित्ताविधि ॥ २१ ॥

जीवातु—हृदयेति । वियोगनिमग्नया विरहान्निमग्नया, अत एव हृदयदत्तसरोरुह्या सन्तापशान्तये वञ्चीनिक्षिप्तपथया, तथा समाना दृश्यत इति सङ्क् सङ्गी स्त्री 'समाना'यमोश्च' इत्युपसङ्ग्यानात्समानोपपदाद्दसौ विद्वन्प्रत्ययः । 'हृदयवत्तु' इति समानशब्दस्य सभावः । क्वास्तु न क्वापी-त्यर्थः । रति वामपत्नी, हृदा वक्षसा प्रियस्य स्वनर्तुं, धनु पोष्यमित्यर्थः परिरम्य, अनुमर्तुम् अनुगमनं कर्तुं, चित्ताविधि, अशेत शयिता विम् । प्रियमनुमर्तुं चित्ताविधि शयाना साक्षादतिरेवेयमित्युत्प्रेक्षा । तज्ज्वराग्नि-स्तथा प्रज्वलतीति भावः ॥ २१ ॥

अन्वय — वियोगनिमग्नया हृदयदत्तसरोरुह्या तथा सद्गुक् क्व अस्तु ? हृदा प्रियधनु परिरम्य अनुमर्तु चित्ताविधि रतिः अशेत विम् ?

हिन्दो—विरह मे निमग्न ( अतएव ) हृदय पर बनल ज़ारोशित किन्ने उस ( दमयन्ती ) के चढ़ूय कहीं होगी ? हृदय से प्रिय ( कामदेव ) का पुष्प-धनुस् लगाये धनुमरण ( मृत पति के साथ मरना ) के लिए बिठा की लपटों में रति सोयी थी क्या ?

टिप्पणी—इस तथा अपने ( दाइसवें ) श्लोक में कामदेव मरण का सूचन है। कवि यह कहना चाहता है कि विरह से प्रचुर पीडिता, कष्टाता होने पर दमयन्ती धनुम नुन्दरी थी, विश्व में वैसे कोई दीवनी ही नहीं थी। अतः से अधिक कमल-पुष्प रूप धनुस् को बल से लगाये मृतपति काम के साथ जल मरने को उद्यत रति से उसकी समता के विषय में विचार किया जा सकता है, किन्तु विचारमात्र, वास्तविकता ऐसी नहीं है। कारण कि रति तो पति के भस्मावशेष हो जाने पर जल जाने की बिठा पर लैटी थी, दमयन्ती तो प्रिय-विमोग में ही कमल रूप धनुस् को हृदय में लगाये, प्रिय-प्रीति को हृदय पर धर कर क्षत्रांगों की मर्दाश के अक्षकल जाचरण करती ( विमोगाग्नि में ) जल में जली जा रही है। सो इस 'य'—बीती स्थिति में भी विरह की अद्वितीय मुन्दरी रति से भी दमयन्ती की समानता समव नहीं। बीबातु-तिलक-साहि-भविष्याधरी के अनुसार उन्प्रेक्षा जलकार ॥ २१ ॥

अनलभावमिव स्वनिवासिनो न विरहस्य रहस्यमबुद्धयत ।

प्रशमनाय विधाय नृगान्धनून् ज्वलति तत्र यदुज्जितुमेतद् ॥ २२ ॥

जीवानु—अनलभावमिति । इय दमयन्ती, स्वनिवासिन स्वनिष्ठस्य, विरहस्य नलविणोक्तस्य, रहस्य शमीवर्तिवन्निगूटम्, अनलभावमग्नित्व, नल-रहितत्वञ्च गम्यते । नाबुद्धयत नाज्ञानादित्यर्थः । कुतः, यद्यस्मात्, तत्र तस्मिन्-विरहे, ज्वलति इति, प्रशमनाय प्रज्वलनप्रतीकारार्थम्, जमून्, तृणानि विधाय तृणप्रापान् कृत्वा तृणान्नकानिति । उज्जितुं स्वस्तु प्रक्षेप्तुञ्च । ऐह्य ऐच्छत् । अग्नित्वज्ञाने कथं तच्छान्तये तत्र तृणप्रक्षेप इत्ययम् । विरह-दुःखान्मनुमच्छदिति तात्पर्यायं ॥ २२ ॥

अन्वय — इय स्वनिवासिन विरहस्य रहस्यम् अनलभाव न अबुध्यत, यत्र तत्र ज्वलति प्रशमनाय जमून् तृणानि विधाय उज्जितुम् ऐह्य ।

हिन्दी—यह ( दमयन्ती ) अपने में वास करते विरह को रहस्य अनलभाव ( अग्नि की सत्ता, पक्षान्तर में अ+नल भाव अर्थात् नल का अभाव ) न समझी, जो कि उस वियोगाग्नि के जलते रहने पर उसके बुझाने के लिए प्राणों को तृण बना कर छोड़ना ( डालना ) चाह रही थी ।

टिप्पणी—दमयन्ती यदि विरह को अग्नि रूप में समझती तो क्या उस अग्नि के प्रशमन ( बुझाने ) के लिए प्राण रूप तृण उसमें डालती ? तृण पड़ने से आग बुझती नहीं, जलती ही है । सो दमयन्ती ने विरहाग्नि भाव को ठीक ठीक नहीं समझा । 'प्रशमन' का अर्थ यम भी है, 'अनलभाव' का अन्य अर्थ नल की अप्राप्ति भी हुआ—अ+नल+भाव, नलभाव का निषेध । इस स्थिति में 'काकु' के आधार पर अर्थ हुआ कि दमयन्ती ने यह समझ लिया कि नल की प्राप्ति असम्भव है, अतः तृणसमान प्राणों में 'प्रशमन' ( यम ) को दे देना ही उचित है । 'अनलभाव न अबुध्यत ? अपि तु अबुध्यत एव । भाव यह कि नल की प्राप्ति असम्भव मान कर दमयन्ती प्राण देना चाह रही थी । विरह अग्नि के समान दुःसह हो रहा था । तिलक टीका के अनुसार यहाँ अनुमान-अतिशयोक्ति-विरोध का सङ्कर है, साहित्यविद्याधरी के अनुसार अनुमान और अतिशयोक्ति ॥ २२ ॥

प्रकृतिरेतु गुणस्स न योपिता कथमिमा हृदय मृदु नाम यत् ।

तदिषुभि कुसुमैरपि घुन्वता सुविवृत विबुधेन मनोभुवा ॥ २३ ॥

जीवातु—प्रकृतिरिति । योपिता हृदय मृदु नामेति यत् । नामेति प्रतिष्ठा । स इति विधेयप्राधान्यात् पुल्लिङ्गता । प्रकृति प्रकृतिसिद्ध, गुणो मादवगुण, इमां दमयन्ती कथं नैतु प्राप्नोत्वैवेत्यर्थः । कुत ? तन्मृदुत्वं कुसु-मैरपि इषुभि, घुन्वता विबुधेन देवेन विदुषा च मनोभुवा, सुविवृत सम्य-ग्व्याख्यातम्, विद्वदधिकारत्वात्सन्दिग्धार्थनिर्णयस्येत्यर्थः । कुसुमादपि सुकु-मारमस्या हृदयमित्यर्थः ॥ २३ ॥

अन्वय — योपितां हृदय मृदु नाम, यत् स प्रकृति गुण इमां कथं न एतु ? तत् कुसुमै अपि घुन्वता विबुधेन मनोभुवा सुविवृतम् ।



हिन्दी—नारियों का हृदय कोमल प्रसिद्ध है, सो वह स्वामाविक गुण इस ( दमयन्ती ) में क्यों न आता ? उसे पुष्प बाणों में भी कपित ( पीड़ित ) करते विद्वान् मनोभव ( काम ) ने मन्त्रो भाँति स्पष्ट कर दिया ।

टिप्पणी—नारी—हृदय कुसुम कोमल होता है, यह मान्य है ही । काम-देव ने दमयन्ती को फूलों के ही बाणों से प्रहार करके पीड़ित कर डाला, इससे यह सिद्ध हो गया कि नारीजनोचिन प्राकृतिक गुण कोमलता दमयन्ती में भी है । यदि वह कोमल न होती तो क्या फूलों से पीड़ित होती ? मदनबाणों से दमयन्ती पीड़ित थी, यह आशय है । तिलक टीका के अनुसार अनुमानालकार, साहित्यविद्याधरी के अनुसार अनुमान-रूपेण । 'नारी-प्रकृति' 'गुण' अर्थात् 'डोरी' है, जिसको आधार बना काम पुष्प-बाण छोड़ रहा है ॥२३॥

रिपुतरा भवनादविनियंती विधुरचिगृहजालविलैनुंताम् ।

इतरधात्मनिवारणशङ्कया ज्वलयितु विसवेषगविशत् ॥ २४ ॥

जीवातु—रिपुतरेति । रिपुतराऽलित्वेपिणी, विधुरचिञ्चन्द्रप्रमा, भवनादविनियंतीमनिर्गच्छन्ती, इणश्चरि डीप् । ता भैमी ज्वलयितु, मन्तापयितु, इतरथा निजरूपेण प्रवेष्टो आत्मनिवारणशङ्कया । स्वप्रवेशप्रतिषेधमिया, विसवेषस्य घरा सती, गृहस्य जालविलैगंवाक्षरग्नौ अविसानु प्रविष्टा किम् । शिथिरोपचारविसाङ्कुरा निरन्तरान्त स्थितभैमीवाधनाय प्रच्छन्नप्रविष्टेन्दुकरा इव प्रविभाति स्मेत्युत्प्रेक्षा ॥ २४ ॥

अन्वय—रिपुतरा विधुरचिः भवनात् अविनियंती ता ज्वलयितुम् इतरथा आत्मनिवारणशङ्कया विसवेषघरा गृहजालविलै धविशत् नु ।

हिन्दी—महावैरिन चाँदनी भवन से बाहर निकलती उस ( दमयन्ती ) को सताप देने के लिए चाँदनी के रूप में प्रवेश करने पर अपने रोक दिये जाने की आशंका से कमलनाभ का वेष धारण करके भवन के सरोवों के छिद्रों में जैसे प्रविष्ट हो गयी ।

टिप्पणी—दमयन्ती को कामसताप के उपचाराय प्रयोग में लाये जाने वाले मृगाल भी सताप देते थे । इसी पर कवि ने समावना की है कि लगता है वे 'विस' नहीं थे, अपितु विसवेषधारिणी महावैरिन चाँदनी थी, जो रूप

बदल कर चुपचाप त्रसामाय गवाक्ष माग से भीमादिनी की हत्या के लिए धुम आयी थी : वेध इसलिए बदला कि स्वरूप में वैरिण चादिनी को द्वार पर ही रोक दिया जाता—कौन धुसने देता महावैरिणी को ? गवाक्षमाग इसलिए अपनाया कि रूप बदलने पर भी कदाचिन् मुख्य द्वार पर पहिचान ली जाय, प्रमुख मार्ग हो चुपचाप प्रवेश के लिए अधिक उपयुक्त होता है । हत्यारे हत्या के लिए यही रीति अपनाया करते हैं । 'मकन से बाहर न निकलना' निर्वेद मचारी का छन्दुभाव है । दर स निम्नतर भीतर रहती दमयन्ती की हत्या के निमित्त चन्द्रप्रभा जैसे लगते थे—इस मभावना के आधार पर इस दृश्य में महिम्नाय ने उत्प्रेषालकार का निर्देश किया है, विद्याधर के अनुसार यही सद्भावोत्प्रेक्षा और समामोक्ति है ॥ २४ ॥

हृदि विदभंभुवोऽधुनृति स्फुट विनमदास्यतया प्रतिविम्बितम् ।

मुखद्रगोष्ठमरापि मनोभुवा तदुपमाकुसुमान्यखिला दारा ॥२५॥

जीवानु—हृदीति । विदभभुवो वैदव्या, विनमदास्यस्तया नम्राननत्वेन ( हेतुना ) अधुनि विमर्शित्यधुमृत्, भिक् । तस्मिन्मधुमिक्त इत्यर्थ । हृदि दक्षसि, वैमल्यात् स्फुट यथा तथा प्रतिविम्बित, मुख च दशौ च ओष्ठश्च मुख-गोष्ठम् । प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भाव । मनोभुवा कामेन, तस्य मुखादे उपमा-कुसुमानि पद्मम उत्पले बङ्गूके च पञ्चधा स्थितान्युपमानपुष्पाणि तान्येव अखिला पञ्चापि दारा सदरोपि रोपितम् । तस्यास्तथाविधे दक्षमि प्रति फलित मुखाद्यवयवपञ्चक पञ्चशरनिखातम्, तदुपमानकुसुमशरपञ्चकमिवा-लदमतेरुत्प्रेक्षाय ॥ २५ ॥

अन्वय —विदभंभुव विनमदास्यतया अधुनृति हृदि स्फुट प्रतिविम्बित मुखद्रगोष्ठ मनोभुवा तदुपमाकुसुमानि अखिला दारा अरोपि ।

हिन्दी—विदभताया ( दमयन्ती ) के मुख नीचे चूके होने का कारण आँसुओं से भरे हृदय में स्पष्ट प्रतिविम्बित होते ( झलकते ) मुख, दोनों नेत्र और दोनों अग्ररोष्ठों के रूप में जैसे मनोभव ( कामदेव ) ने उनके उपमान-भूत अपने समस्त ( पाँचों ) बाण आरोपित कर दिये ।

टिप्पणी—विह्वली, व्यथिता दमयन्ती मृदु नीचा बिन्दे जाँवू गिरावी रहती थी। ऐसा लगता था कि जैसे काम न एक साथ पाँचों बाग उनके हृदय में उँडा दिन है। पाच बाग दमयन्ती का मुख नयनमल गौर दोनों रोठ हैं, जो ज्योत घुनी उनके छाती पर स्पष्टन प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। मुख पच है दो नेत्र, दो नीच कमल हैं और दोनों अघरोष्ठ दो बध्क-पुष्प ( दाग्रहिया के पुष्प ) हैं। कमलादि मुखादि के उन्नत माने गये हैं, उन्हीं के रूप में काम ने अपने पाँचों बाग दमयन्ती के हृदय में आरोपित कर दिये। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ उद्देश्य है विद्याधर ने समाशोक्ति मानी है। प्रकाशकार ने 'मुखद्वयोष्ठम्' में व्यस्तकृत्क का निर्देश किया है ॥ २५ ॥

विरहपाण्डुकपोलने विद्युर्धौघत भीमभुव प्रनिविम्बित ।

अनुरज्यमिनाशुतया मुख निजसख सुखमङ्कमृगार्पणात् ॥ २६ ॥

जीवानु—विरहेति । विद्युः भीमभुव भँम्या, विरहेन पाण्डुनि कपोल-तले गण्डमूले, प्रतिबिम्बित सन्, अनुरज्यमिनाशुतया नादार्पात् दुर्लभ-शुभ्रकिरणया, सुखमनायामेन अङ्कमृगार्पादसितकण्डुनृगमर्पात्, मुख भीमोमुख निजसख स्वसख, व्यसित विह्वितान् । दोषिणो हि स्वशेष नि-दोषिणं स्वसखिणि सङ्कमय्य नमीकुर्वन्तीति भावः । केचिन्निवहानेनानिज निज कुर्वन्तीति भावः बाधयन्ति । जत्र चरन्त्य कपोलतावन्त्येन तदेकवक्य-नात् सामान्यालङ्कारः । 'सामान्य गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरङ्गता' इति लक्षणात् ॥ २६ ॥

अन्वय —भीमभुवः विरहादुक्तपोलने प्रतिबिम्बित विद्युः अनुरज्य-सिताशुतया मुखम् अङ्कमृगार्पात् मुख निजसख व्यसित ।

हिन्दी—भीमभुवः के विद्यो में पाण्डु कपोल-स्थल में प्रतिबिम्बित होते चन्द्र ने न लभित हो पाती शुभ्र किरणों ( अथवा अलक्षित श्वेताय ) के कारण सरलताश्रंक गोद में स्थित मृग ( काले मृग चिह्न ) को सन्तुष्ट करने ( दम-यन्ती के ) मुख को अपना सखा ( स्वसख ) बना लिया ।

टिप्पणी—भाव यह है कि सामान्यावस्था में दमयन्ती का कपोलच चन्द्र

से कहो अधिक शोभाशाली था, अतः चन्द्र उसकी सदृशता में नगण्य था । अब पीढावस्था में दमयन्ती का कपोलतल वृक्ष और पादुर हो गया है सो अब चन्द्र का जो श्वेताश है, वह दमयन्ती के कपोलतल में प्रतिबिम्बित नहीं होता, क्योंकि उसके और कपोलतल के वर्ण में कोई अन्तर नहीं रह गया है, जो दमयन्ती की स्वस्थ अवस्थायें थी और जिसमें वर्ण अमाम्य के कारण चन्द्र प्रतिबिम्बित हो जाता था । अब चन्द्र झलकता नहीं, केवल इसका कलक झलकता है, जो अब दमयन्ती का कपोलतलाश ही लगता है—ठिठोना । कवि ने कल्पना की है, इस स्थिति में अपना भूयाक उपहार स्वरूप देकर चन्द्र ने दमयन्ती के मुख को अपना मित्र (स्वसदृश) बना लिया है । मैत्री समाप्त व्यक्तियों में ही होती है और मैत्री करते समय उपहार दिया ही जाता है । इस प्रकार व्याप्राप्ता दमयन्ती अल्प शोभनीय पादुर कपोलतल की स्वसम या चन्द्र ने अक-भूत भेंट दे मैत्री स्थापित कर ली । मल्लिनाथ के अनुसार इस दलोक में कपोल सावर्ण्य के कारण चन्द्र और कपोलतल में अमैद वर्णित होने में सामा-यालकार है, विद्याधर के अनुसार उपमा । निलक व्याख्या के अनुसार यहाँ तद्गुणालकार है, रुद्रट के अनुसार जिनका लक्षण है—'यस्मिन्मैत्र-गुणानामर्पना योगलक्ष्यरूपाभास ससर्गे नानास्व न लक्ष्यते रुद्रगुण स ।' २६ ।

विरहतापिनि चन्दनपासुभिर्वपुषि सार्पितपाण्डिममण्डना ।

विषधराभक्षिसाभरणा दधे रतिपतिं प्रति शम्भुविभीषिकाम् ॥ २७ ॥

जीवातु—विरहेति । सा दमयन्ती, विरहतापिनि वपुषि, चन्दनपासुभिः, मस्मधवलरिति भावः, अपित सम्पादितः, पाण्डिमैव मण्डनं मस्या सा, विषधराभ क्षेपाद्विषयः, विषमेवाभरणं मस्या सा सती, रतिपतिं स्मरः, प्रति शम्भुरेवेयमिति विभीषिका विशेषेण भयोत्पादनः, भीषमतेर्चात्वर्थनिर्देशे ष्वल् । 'सुप्सुपा' इति समासः । न तु शम्भोविभीषिकेति कर्तरि षष्ठीसमासः 'तृज-काम्या कर्तरि' इति नियेष्टात् । दधे दधारः, नूनमिति क्षेपः । शम्भोत्प्रेक्षा ॥

अन्वयः—विरहतापिनि वपुषि चन्दनपासुभिः अपितपाण्डिममण्डना विष-धराभक्षिसाभरणा सा रतिपतिं प्रति शम्भुविभीषिका दधे ।

हिन्दी—विरह से सतस घरीर पर चन्दन-धूपें लगा होने से पादुरिमा-

रूप प्रसाधन से समृद्ध, सपों के तुल्य वस्त्रों ( कमलनाछा ) के आभरण धारती वह ( दमयन्ती ) रति के पति ( काम ) के प्रति जिव जैसी नयानकता को धारण कर रही थी ।

टिप्पणी—विरह-ज्वर से नवसा दमयन्ती के देह पर लगा चन्दन लेप तान के कारण सूख कर चन्दन-धूल बन गया था और उसका समग्र शरीर पादु-भस्म से काच्छादित्र प्रतीत हो रहा था । स्वयं मृपाल सर्ग तुल्य बीज रहे थे । इस प्रकार दमयन्ती जिव जैसी प्रतीत हो रही थी और कामदेव के भय का कारण बन रही थी । ऐसा प्रतीत हो रहा था कि दमयन्ती ने चन्दन-चूर्ण और कमलनाछ इसीलिए धारण किये थे कि उसमें शम्भु-भ्राति से आज्ञात काम कर जाय । विवोगतायाधिक्य का वर्णन । मल्लिनाथ के अनुसार उन्मेषा और विद्याधर के अनुसार उपमा ॥ २७ ॥

विनिहित परितापिनि चन्दन हृदि तथा मृतबुद्बुदमावनी ।

उपनमन् मुहद हृदयेऽथ विधुरिवाङ्गतोऽपुपरिग्रह ॥ २८ ॥

जीवानु—विनिहितमिति । तथा भैम्या, परितापिनि हृदये वज्रसि, विनिहित मृतबुद्बुदम् अन्तिक्वायन्तीटक, चन्दन मुहद सजाय, हृदये शेत इति ( त ) हृदयेऽथ मग्नयम् 'अधिरूपे गते' इत्यत्रयम् । 'उपवास-कामिष्वकालात् इत्यमुक् । उपनमन्नुपसर्जन, अङ्कतोऽपुपरिग्रह' अन्तिकल्प-तारकापरिक्ल, विधुरिवावभाषित्युपेक्षा ॥ २८ ॥

अन्वयः—परितापिनि हृदये तथा विनिहित मृतबुद्बुद चन्दन हृदयेऽथ मुहद उपनमन् अङ्कगतोऽपुपरिग्रह विधुः इव आवनी ।

हिन्दी—मृतस-हृदय पर उसके द्वारा लगाया गया ( खोलवाने के कारण ) बुल बुलों में मुक्त चन्दन हृदय में स्थित मित्र कामदेव के निकट जाते, समोपम्य शारिका समूह रूप परिग्रह से मुक्त चन्द्र के समान सुशोभित हुआ ।

टिप्पणी—दमयन्ती के विरहस वज्रस्य पर लगा शीण चन्दनलेप ताप से खोलने लगा, जिससे बुद्बुद उठने लगे । ऐसा प्रतीत हुआ कि बुलबुलों ने पूर्ण चन्दन रूप में अपने तात्कालिक परिवार के साथ चन्द्र हृदयस्थित मित्र कामदेव के पास जा रहा है । शुभ्र चन्दन चन्द्र है, उसमें उठता बुद्बुदममूह

सारिकावर्गं है, चन्द्र का प्रिय-परिवार । मल्लिनाथ और विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ २८ ॥

स्मरहृताशनदीपितया तया बहु भुहु सरस सरसीरुहम् ।

श्रयितुमर्धपथे कृतमन्नरा श्वसितनिमित्तममरमुज्जितम् ॥ २९ ॥

जीवातु—स्मरेति । स्मरहृताशनदीपितया कामाग्नितप्तया तया बहु भूरि, सरस माझे सरसीरुह सरोज, भुहु श्रयितु सैत्थाय सेवितुम्, अर्धे पथि अर्ध-पथे कृत, तत्पर्यन्तमानीत मनु, अन्तरा मध्ये, श्वसितेन भैमीनि श्वासेन, निमित्त स्मर सद्य शोपात् कृतममरशब्द सत्, उज्जित वेरस्यास्यक्तम् तथो-प्यस्तन्निश्चास इति भाव । 'अथ ममर । स्वनिते बल्लवर्णानाम्' इत्यमर । ईहायमामम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदोऽलङ्कार ॥ २९ ॥

अन्वयः—स्मरहृताशनदीपितया तया बहु सरस सरसीरुह श्रयितु भुहु अर्धपथे कृतम् अन्तरा श्वसितनिमित्तममरम् उज्जितम् ।

हिन्दी—कामाग्नि से तप्त उस ( दमयती ) के द्वारा शीतोपचार के लिए लाया जाता पर्याप्त गीला कमल बारबार आधे मार्ग में—बीच में ही निश्वास थायु द्वारा मूखे पत्ते में होनेवाली ममर ध्वनि से युक्त करके छोड़ दिया गया ।

टिप्पणी—इस श्लोक में सतापाधिक्य का वर्णन है । दमयती के शीतोप-चार के निमित्त बारबार कमल भली भाँति भिगोकर छाया जाता, पर आधे रास्ते में ही वह गीला, पानी टपकाता सरसीरुह दमयती के गरम गरम निश्वासा से सूखकर मूखे पत्ते की भाँति खटखटाने लगता, अतः व्यर्थ ही जाने में फँक दिया जाता । मल्लिनाथ के अनुसार असवध में सवधकथन के कारण अतिशयोक्ति ॥ २९ ॥

प्रियकरग्रहमेवमवाप्स्यति स्तनयुगं तव ताम्बानि किं न्विति ।

जगदतुनिहिते हृदि नीरजे दवशुकुड्मलनेन पृथुस्मनीम् ॥ ३० ॥

जीवातु—प्रियेति । हृदि बसति, निहिते न्यस्ते, नीरजे पद्मे, दवशु परितोष, दूढ़ 'टित्त्वादशुच्छयय । तेन यत्कुड्मलनं मुकुटं निषीदय ग्रहण-मिति यावत् । तेन पृथुस्तनी दमयती, तव स्तनयुगं ( वत् ) एवमनेन प्रका-

रेण, प्रियकरेण ग्रह निपीडय शृणुन् ऋषिप्यति । किं नु त्रिनयं, ताम्यतीति  
जानु उचतु । नूनमिति शेषः ॥ ३० ॥

अन्वय—हृदि निहिते गौरजे ददष्टबुद्धयः पृथुलनीम इति जानु —  
किं नु तव स्तनयुग्मम् एव प्रियकरग्रहम् ज्ञाप्यति ?

हिन्दी—( दमयंती के ) हृदय पर रखे गये कमल-सङ्कोच परितान से  
सङ्कुचित हो ( उसी सङ्कोच को संवेदित कर ) विद्याल कुचों वाली, दमयंती )  
से जैसे यह कहते थे—क्या तेरा स्तनयुग्म इसी प्रकार प्रिय के हाथों का  
सङ्कट प्राप्त करेगा और सङ्कुचित होगा ?

टिप्पणी—लानाधिक्य के कारण कमल-सङ्कोच । प्रिय-स्तन की कामना  
नी, 'प्रियकरग्रहम्' का अर्थ 'प्रिय-पानिग्रहम्' भी हुआ । 'प्रियकरग्रहम्  
एवम् ऋषिप्यति किं नु ताम्यति ?' स्तनयुग्मं प्रिय पानिग्रहण को ऐसे ही  
प्राप्त करेगा, क्या मंतीन होती हो ? विद्याल के अनुसार उल्लेख ॥ ३० ॥

त्वदिनगे न हृदपि मया धनं पतिरिति न न हृदयेनयम् ।

स्मरहविर्भुजि बोधयति स्म सा विरहपाण्डुता निजगुह्यताम् ॥ ३१ ॥

जीवानु—त्वदिति । सा मैत्री, हृदयेन हृदि स्थित नल त्वदिनर-  
स्वतोऽयं, ममानो वाञ्छ्यो वा पति, मया हृदयि न धृत मनसाग्नि न  
चिन्तित, इति निजगुह्यताम् आत्मनिर्दोषता, पाण्डुत्वञ्च । विरहपाण्डुता  
तद्व्याजेनेत्ययं स्मरहविर्भुजि बोधयति स्मेव मदनाग्निना सा कनिदिध्येत  
स्वशुद्धिं सोता रामनिव नल बोधमानासेवेत्युच्यते । 'गतिबुद्धि' इत्यादिना  
अतिवृत्तनत्स्य पी कर्मत्वम् ॥ ३१ ॥

अन्वय—त्वदितरः पति मया हृदा जनि न धृत —इति इव सा हृदये-  
न नल निजगुह्यता विरहपाण्डुता स्मरहविर्भुजि बोधयति स्म ।

हिन्दी—तेरे अतिरिक्त पति मैत्री हृदय के भी नहीं धरा,—मानो ऐसा  
बह ( दमयंती ) हृदयस्थित नल को जगती शुद्धता का विरह-पाण्डुता के  
व्याज में कामाग्नि में दग्ध होती हुई दोनों बरा रही थी ।

टिप्पणी—लका से लौटी सोता न राम से बरनी शुद्धि के प्रमाण में

जहा था—'कर्मणा मनसा वाचा यथा नातिचिराम्यहम् । राघव संबंधमंत्र  
तथा मा पातु पावक ।' ( वाल्मीकिरामायण, युद्धकाण्ड—११६।२७ ) ।  
दमयती भी मानो कामाग्नि में दग्व हो ऐसे ही सीता की भाँति प्रिय को  
अपनी शुद्धता का प्रमाण दे रही थी । मल्लिनाथ—विद्याधर के अनुसार  
उत्प्रेक्षाकार । चन्द्रप्रभाकर ने उत्प्रेक्षा रूपक की ससृष्टि मानी है ॥३१॥

विरहतसतदङ्गनिवेशिता कमलिनी निमिपद्ममुष्टिभिः ।

किमपनेतुमचेष्टत किं परामवितुमेहत तद्द्वयं पृथुम् ॥ ३२ ॥

जीवातु—विरहेति । विरहतप्ते तदङ्गे ममोसरिरे, निवेशिता निहिता,  
कमलिनी पद्मलता, निमिपद्मिरानमद्भिर्दलैः पत्रैरेव मुष्टिभिः मुष्टिवाचैः  
( करणैः ) पृथु तद्द्वयं तस्यास्तापम्, अपनेतुमपच्छेतुमचेष्टत व्याप्रियत  
किम् । परामवितुं तिरस्कर्तुंमहत किम् । अचेष्टत किमित्युत्प्रेक्षा । वस्तुतस्तु,  
न किञ्चित्कर्तुं क्षमाक । प्रत्युत स्वयमेव दग्धेत्यर्थः । सौम्य भोषकस्य भयं  
प्रवेश इति भावः । अत एवानर्षोत्पत्तिलक्षणो विपमालङ्कारः । तदुत्थापिता  
चेदमुत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ ३२ ॥

अन्वय — विरहतसतदङ्गनिवेशिता कमलिनी निमिपद्ममुष्टिभिः पृथु  
तद्द्वयं अपनेतुम् अचेष्टत किम्, परामवितुम् ऐहत किम् ?

हिन्दी—विरह मे तपते उस ( दमयती ) के अगो पर रखी कमलिनी  
सकुचित होते दल रूपी मुठ्ठीयो से क्या उसके ताप को दूर हटाने की चेष्टा  
कर रही थी, क्या उसे परामव देना चाह रही थी ?

टिप्पणी—ताप से सकुचित होती कमलिनी के माध्यम से कवि ने उसके  
शत्रु को परामव देने की इच्छा करने वाली के रूप में चित्रित किया है,  
जो मुँदते पत्ते रूप मुठ्ठी से ताप को धमका रही है । परन्तु कुछ कर न  
पायी, स्वयं ही दग्ध हो गयी । मल्लिनाथ के अनुसार विपम और उत्प्रेक्षा  
का सवर, विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ३२ ॥

इयमनङ्गशरावलिपद्मगक्षतविसारिवियोगविपावशा ।

शशिकलेव सराशुकरादिता करुणनोरनिधौ निदधौ न कम् ॥ ३३ ॥



जीवानु—इयमिति । इय मैत्री, धनं ह्युपवृत्तिरेव पत्राग तं इव  
 क्षति, ननु सके भावे च । तेन विचारिता व्यापिता, वियोगेनैव विद्या  
 जगता सती, नरागोन्मिमासो करैरपि पीडिता, शक्तिरिव क वन कदा-  
 नीरविनी जोर साध्या । 'अहम्भु रसे दृष्टे कृपाया कदाग मता' इति विन् ।  
 न निदयो निदयादेव, निमज्जमानासैवेत्यर्थ । अत्र स्वकोपममोरक्षाजि-  
 नावेन सङ्कट ॥ ३३ ॥

अन्वयः—अन ह्युपवृत्तिरेव पत्राग विचारिता विद्या विद्या इयम् कदा-  
 नीरविनी शक्तिरिव क वन कदा नीरविनी न निदयो ?

हिन्दी—जान-बाणावलि ह्य सर्गों के इतने में पँचते वियोग ह्य विष से  
 वेवस यह ( दनयती ) प्रवरकिरण ( सूर्य ) की शिरों से पीडित ( नर,  
 गरीबिहीन ) चद्र-कला की भाँति किन्तु कदा के सागर में नहीं डाल  
 रही थी ? सभी दनयती की व्यादा को देखकर कदाविचलित हो जाते थे ।

टिप्पणी—इस श्लोक में दनयती की विदग्धता सूचित की गयी है ।  
 चद्रकला के उन्मान द्वारा दनयती की कृपा सुकेवित है । नान से काटे  
 व्यक्ति का जल प्रवाह जिया जाता है, यहाँ जाहशय यह है कि कान-बाण-  
 सर्पदंष्ट्रा दनयती अन्य व्यक्तियों को कदा जलाशय में निमज्ज कर रही है ।  
 मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ रुद्र-उन्मा का अतीतिभाव सूचित है, विद्यापर  
 नी रुद्र-उन्मा न निदोष करते हैं ॥ ३३ ॥

ज्वलति मन्मथवेदनया निजे हृदि तमाद्रं नृनाल्लतापिता ।

स्वजपिनां प्रनया नविघन्यसोर्मलिनानामजद् भुजयोर्नृधम् ॥ ३४ ॥

जीवानु—उदन्ति । तथा मैत्र्या, मन्मथवेदनया नदनन्वरदुःखेन,  
 ज्वलति प्रज्वलति निजे हृदि वसति, अतिता आद्रा सरता, मृनाल्लता विन-  
 क्ती, स्वजपिनो स्वीर्जतो, 'दिदति' इत्यादिना इतिप्रत्यय । भुजयो-  
 स्तदीपनोरेव, नविघन्यसो सनीपन्यसो सतो, प्रनया प्रपदेत्यर्थ ।  
 गम्योद्रेक्षा । नृध मलिनता वैवर्नननयन् । विजो चेतुरथे उग्रया वैवर्न  
 मजतीति भाव ॥ ३४ ॥

अन्वयः—तथा मन्मथवेदनया ज्वलति निजे हृदि अतिता आद्रं नृनाल्लता

स्वजयिनो सविधस्थयो भुजयो त्रपया भृश मलिनताम् अभजत् ।

हिन्दी—उस ( दमयती ) के द्वारा काम-वेदना से जलते अपने हृदय पर रखी गयी गीली कमलनाल की वेल अपने को जीतने वाले ( हृदय के ) समीपस्थ बाहुआ से लज्जित हो अत्यन्त मलिनता को प्राप्त हुई ।

टिप्पणी—अपने से अधिक रूप-गुणशाली के समुच्च प्रायः सभी लज्जित हो जाते हैं । दमयती की भुजाएँ कमल-नाल की अपेक्षा अधिक कमनीय थीं, अतः उनको निकट पा कमल-नाल बरली मलिन हो गयी । विजयी के समीप सभी को लज्जित होना पड़ता है । विद्याधर और प्रसादकार नारायण के अनुसार प्रतीयमानोत्प्रेक्षा ॥ ३४ ॥

पिकरतश्रुतिकम्पिनि शैवल हृदि तथा निहित विचलद्बभौ ।

मतततद्गतहृच्छयकेतुना हृतमिव स्वतनूधनधर्पिणा ॥ ३५ ॥

जीवातु—पिकेति । तथा शैव्या, पिकरतश्रुत्या कोकिलकूजितश्रवणेन कम्पिनि वेपमाने, हृदि वसति, निहित शैत्यार्थं व्यस्त विचलद् आधारचलनादिति भावः । शैवल, स्वतन्त्रा शैवलशरीरिण सह, धनधर्पिणा, भृशतद्वर्पिणा, द्वयोरपि जलचरत्वादिति भावः । सतत तद्गतस्य शैवीहृद्गतस्य हृच्छयस्य कामस्य, केतुना चिह्नेन, मत्स्येन हत ताडितमिव, वभावित्युत्प्रेक्षा ॥ ३५ ॥

अन्वय — तथा पिकरतश्रुतिकम्पिनि हृदि निहित विचलद् शैवल स्वतनूधनधर्पिणा सतततद्गतहृच्छयकेतुना हृतम् इव बभौ ।

हिन्दी—उस ( दमयती ) के द्वारा कोकिल-शब्द के श्रवण में कपित हृदय पर रखी गयी ( हृत्कपन के कारण ) विचलती शैवाल अपने देह को प्रचुर रूप से धर्पित करने वाले निरन्तर उस ( दमयती ) के हृदयस्थित ( काम ) के ध्वजचिह्न ( मत्स्य ) से ताडित होती जैसी सुशोभित हुई ।

टिप्पणी—सन्नाप दामन के लिए दमयन्ती के हृदय-स्थल पर सितार घाम रखी गयी थी, वह हृदय कोकिल-रव सुनकर कपित होने लगा और अपने आधार वसस्थल के हिलन-कापने के कारण सितार भी विचलित हो गयी । कवि ने कल्पना की है, कि मानो निवार के कपन का कारण दमयन्ती के हृदय में निरन्तर वास करते काम के ध्वज चिह्न मत्स्य के द्वारा

आघात है, जिसके शरीर का निविड घर्पण सिवार के साथ हो रहा है। चौकल रखी होने पर भी कोकिल रुति दमयती के हृदय में कपन कर देती थी। घर्पण का घनत्व कपन के आधिक्य की सूचना के लिए है। उत्प्रेक्षा अन्कार ॥ ३५ ॥

न खलु मोहवशेन तदानन नलननः शशिकान्तमवोधि तत् ।

इतरथाऽभ्युदये शशिनस्ततः कथममुस्रवदश्रुमय पत्र ॥ ३६ ॥

जोधातु—नैति । नलनन ( कर्तुं ), मोहवशेन विरहप्रयुक्ता शानवशेन, तदानन भैमीमुख ( कर्म ), शशिकान्तमिन्नुन्दरम् इन्द्रपमञ्च, नावोधि खलु नाबुद्ध किमिति काहु । अश्रुव्यत एवेत्यर्थ । तच्च सत्यनिति भाव । 'दीपजन' इत्यादिना कर्तरि चिन् । इतस्या, तदसन्देहे शशिनोऽभ्युदये ततो भैमीमुखाद-श्रुमयमयुक्ता, पत्र कथं अमुस्रवत् स्मृत चन्द्रोदये पमञ्चावाञ्चन्द्रकान्तत्व सत्य-मित्यर्थ । चन्द्रोदये दाहोद्रेकाद्गुरोरेति भाव । द्रवतेर्लुङ्गिष्ठीत्यादिना ऋश्चङि धातोश्चङादेशः ॥ ३६ ॥

अन्वय —नलनन मोहवशेन तदानन शशिकान्त न अवोधि खलु, (जपितु तत्त्वत एव अवोधि) इतरथा शशिन अभ्युदये तत अश्रुमय पत्र कथम् अमुस्रवत् ?

हिन्दी—नल के मन ने मोहवश उस ( दमयती ) के मुख को चन्द्रकात ( चन्द्रकात मणि अथवा चन्द्रवत् कात ) नहीं समझा, ( जपितु तत्त्वत समझा ), अन्यथा चन्द्रोदय होने पर उस ( मुख ) से जासू-जल कैसे सवित हुआ ?

टिप्पणी—आशय यह है कि दमयती का मुख सत्य ही 'शशिकान्त' ( चन्द्रकात मणि समान अथवा चन्द्र के समान मनोहर ) था। नल का मन यद्यपि दमयती-मुख पर मग्न था, पर उस मुख को चन्द्रकात समझना मोह के कारण नहीं था, वह वस्तुतः चन्द्रकात था ही, यदि वह चन्द्रकात मणि नहीं होता तो चन्द्रोदय होने पर उससे जासू-जल कैसे टपकता ? यह अश्रु-रूपण मुख के चन्द्रकातमणि होने का प्रमाण है, क्योंकि चन्द्रोदय पर ही चन्द्रकात मणि द्रवित होती है। चन्द्रवत् कात पद में यह तर्क है कि

मुख चन्द्र समान कांत होने से चन्द्र का प्रतिपक्षी अमित्र है, अतः शत्रु चन्द्र का उदय देख कर जलन से दुःख के आँसू टपका रहा है, अथवा चन्द्र के समान कांत होने के कारण 'समानसंख्य' के न्याय से मुख चन्द्र का मित्र है, अतः मित्र का उदय—उन्नति देखकर वह आनन्द के अश्रु बहा रहा है। इस श्लोक में चन्द्रोदय देख विरहिणी दमयती के व्याप्यतिरेक का वर्णन किया गया है। विद्याधर के अनुसार अनुमान अलंकार ॥ ३६ ॥

रतिपतेर्विजयास्त्रमिपुयंथा जयति भीमसुतापि तथैव सा ।

स्वविशिष्टानिव पञ्चतया ततो नियतमैह तु योजयितुं स ताम् ॥३७॥

जीवातु—रतिपतेरिति । रतिपते कामस्य यथेष्ट विजयस्यास्त्र विजयास्त्र विजयसाधनमायुध जयति । तथैव सा भीमसुतापि विजयास्त्र सती जयति । ततस्तस्मात् ( एतौः ) स काम, स्वस्य विशिष्टानिपुनिक, तां भीमी, पञ्चतया पञ्चसङ्ख्याकत्वेन, मरणेन च । 'पञ्चतया पञ्चभावे स्यात् पञ्चतया मरणेऽपि च' इति विश्व । योजयितुमैह तु । स्वेषुवर्मविजयास्त्रवेनैव पञ्चत्वेनापि योजयितुमैह तु । नियत सत्यमित्युपदेशार्थः । अन्यथा, किमर्थमेनामित्यपीदमेदिति भावः । उपमानोत्प्रेक्षयोः सङ्करः ॥ ३७ ॥

अन्वय—रतिपते हयु यथा विजयास्त्र जयति तथा एव सा भीमसुता अपि तन स्वविशिष्टान् इव तां पञ्चतया नियत योजयितुम् ऐह तु ।

हिन्दी—रति के स्वामी ( काम ) का वाण बिग प्रणार विजयास्त्र होता हुआ सर्वोत्कृष्टता को प्राप्त है, उसी प्रकार वह भीमतनया भी ( काम का विजयास्त्र हो सर्वोत्कृष्टता को प्राप्त ) है, उस कारण ही उस ( काम ) ने उस ( भीमी ) को 'पञ्चतया'—पाँच वाणों के समान निश्चयतः प्रयोग में लाने की इच्छा की अथवा क्या काम उसकी 'पञ्चतया योजना की इच्छा' अर्थात् पञ्चतव ( मृत्यु ) योजना की इच्छा करता ?

टिप्पणी—मरणदशा का वर्णन । वस्तुतः काम की इच्छा तो यह थी कि वह विश्वसुदरी दमयती का प्रयोग अपने पाँचों वाणों के तुल्य विश्व विजयाय करता, इसी से उसने उसे पञ्चतया अर्थात् 'पाँच वाणों का भाव' दिया, जो दमयती की पचता ( पचत्व—मृत्यु ) योजना समझी गयी । आशय

यह है कि वियोजन्य कामध्या के कारण दमयन्ती मरणावन्न हो रही थी। मन्त्रिनाथ ने यहाँ अपना-उत्प्रेक्षा का मुकर माना है, विद्याधर के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति है ॥ ३७ ॥

शशिमय दहनाल्लनुदित्वर मनसिजस्य विमृश्य वियोगिनी ।

झटिति वारुणमश्रुमिपादसौ तदुचित प्रतिशस्त्रमुपाददे ॥ ३८ ॥

जीवातु—शशिमयमिति । वियोगिनीसौ मैत्री, उदेतीत्युदित्वरमुद्यत्, 'इन्नशशिसतिम्ब' क्वरप्' शशिमय शशित्व, मनसिजस्य दहनाल्लम् आग्नेयास्त्र विमृश्यालोच्य, झटिति द्राक् । अश्रुमिपाद्वाद्या वरुणदेवता, 'सास्य देवता' इत्याप्रत्यय । तन्माग्नेयस्योचित प्रतीकारक्षम, प्रतिशस्त्रमुपाददे प्रयुक्तवतीत्यर्थ । चन्द्रतापसहिंनुरशरणा केवलमरोक्षीत्यर्थ । सापह्नुवोत्प्रेक्षा ।

अन्वय—वियोगिनी अथौ मनसिजस्य शशिमय दहनाल्लम् उदित्वर विमृश्य झटिति अश्रुमिपात् तदुचित वारुण प्रतिशस्त्रम् उपाददे ।

हिन्दी—विरहिणी उस ( दमयन्ती ) ने काम के चन्द्रस्य आग्नेयाल्ल को उद्गमनशील विचार कर झट से जामुओं के बहाने उसके उपयुक्त वारुण प्रतिशस्त्र ( प्रतिरोधी शस्त्र ) ग्रहण कर लिया ।

टिप्पणी—इस श्लोक में चन्द्रोदय की देख उत्पन्न हुए दमयन्ती के जश्रु-प्रवाह का वर्णन है, चन्द्र की देख कष्ट से वियोगिनी रोती ही है । कवि ने चन्द्र की काम के आग्नेयाल्ल रूप में कल्पना की है । और उस 'दहनाल्ल' के धमनाय दमयन्ती के आँसुओं की वरुणाल्ल के रूप में, जिससे काम के दहनाल्ल का प्रतिरोध हो सके । नाव यही है कि चन्द्रोदय अवश्य होने के कारण विरहिणी रो पड़ी । मन्त्रिनाथ के अनुसार सापह्नुवोत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति-अपह्नुति ॥ ३८ ॥

अतनुना नवमम्बुदमाम्बुद सुननुरम्बमुदस्तमवेक्ष्य सा ।

उचितमायननिश्च सनच्छलाच्छवत्तनमन्त्रममुञ्चदमु प्रति ॥ ३९ ॥

जीवानु—अतनुनेति । सा मुत्तनुर्मेमी, नव नूतनम्, अम्बुद पेषमेव, अतनुना अतन्नेन, उदस्तम् उदितम्, अम्बुदसम्बन्धस्त्र पत्रंयास्त्रम् अवेक्ष्य आयननिश्चितच्छलाच्छवत्तनमन्त्रममुञ्चदमु प्रति, उचित प्रतीकारक्षम

श्वसन श्वसनात्मकमस्त्र वायव्यास्त्रममुञ्चत् प्रायुञ्जत् । मेघदक्षनात् दीप्तमदन-  
ज्वरा दीर्घमुष्ण च निशश्वाहेत्यर्थं । अत्रापि सापह्नुवोत्प्रेक्षा ॥ ३९ ॥

अन्वय —सा सुतनु अम्बुदम् अतनुना उदस्तम् बाम्बुदम् अक्षम् अवेश्य  
आयतनिश्वसच्छत्रात् अमु प्रति उचित श्वसनम् अक्षम् अमुञ्चत् ।

हिन्दी—वस सुन्दरी ( दमयन्ती ) ने बादल को अतनु ( काम ) के  
द्वारा चलाया गया पर्जन्याक्ष मान कर लवे निश्वास के ध्याज से उस  
( मेघाक्ष ) के प्रतिरोधार्थं उपयुक्त श्वसनाक्ष ( वायव्याक्ष ) छोड़ा ।

टिप्पणी—दमयन्ती की विरहव्यथा का वर्णन करते कवि ने ३७ वें  
श्लोक से ४२ वें श्लोक तक युद्ध के आघात-प्रत्याघात का चित्र उपस्थित  
किया है । पूर्व श्लोक में बताया गया कि काम ने चन्द्र रूप में दमयन्ती पर  
आग्नेयाक्ष का प्रहार किया, प्रत्युत्तर में दमयन्तीने अध्रुरूप में उसके प्रति-  
रोधाक्ष वाह्णाक्ष का प्रयोग किया । इस श्लोक में पुनः काम के पूर्वप्रहार  
का वर्णन है और दमयन्ती द्वारा उसके निवारण का । वाह्णाक्ष के उत्तर  
में काम ने उसका ध्वजन करने वाला पर्जन्याक्ष चलाया आकाश में छाये  
मेघ के रूप में, दमयन्ती ने उसे देखा और उसके निवारणार्थं दीर्घ निश्वास  
रूप में वायव्याक्ष छोड़ दिया । आकाश में छाये वर्षा के बादलों को देख  
वियोगिनी दमयन्ती लवे-लवे दुःखमरी सँभलेने लगी—यह आशय है ।  
'अतनु' ( काम के अर्थ में ) और 'सुतनु' ( दमयन्ती के विशेषण रूप में )  
का धामत्कारिक का प्रयोग दर्शनीय है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ भी  
सापह्नुवोत्प्रेक्षा है और विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति-अपह्नुति ॥ ३९ ॥

रतिपतिप्रहिन्नानिलहेतिता प्रतियती मुदती मलयानिले ।

तदुस्तापभयात्तमृणालिकामयमिय भुजगास्त्रमिवादित ॥ ४० ॥

जीवानु—रतिपतीति । सुदतीय भंमी मलयानिले विषये रतिपतिप्रहिता-  
निलहेतिता कामप्रयुक्तवासव्यास्त्रताम् । 'हेति शस्त्र प्रहरण ह्यायुधश्चास्त्रमेव  
च' इति हलायुय । प्रतियती जानती । इण शतरि ङीप् । तेनास्त्रेण य  
उरस्ताप ततो भयात्, आत्ता अङ्गीकृता या मृणालिका तन्मय विसरूप,

भुजगान्त्रम् अदितेव जातवती किन्तुत्रेक्षा । भुजगाना वाताहारत्वादिति भावः । 'स्याध्वोरिच्च' इतीकारः । 'ह्रस्वादङ्गात्' इति मलोपः ॥ ४० ॥

अन्वयः—सुदती इय मलयानिले रतिरतिप्रहितानिलहेतिता प्रतिनती तदुत्पापनपातमृषान्चिचामय भुजगाखन् इव वाशदे ।

हिन्दी—सुन्दर दाँतो दाढी बहू दमयन्ती ) मलयपवन की रति के स्वामी ( काम ) द्वारा प्रयुक्त वायव्याख ममत्त कर जैसे उसके प्रति कष्ट की जायका करते हुए मृगाल रूप भुजगाख से सज्जित हो गयी ।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक में वर्णित दमयन्ती द्वारा प्रयुक्त वायव्याख के उत्तर में कामदेव ने भी मलयपवन के व्याज से वायव्याख छोड़ा, दमयन्ती ने उसके प्रतिरोध के लिए भवान् कष्ट की आशका से मृगालरूप भुजगाख धारण कर लिया । सपें वायु को भी शाता हैं । वासती मलयपवन चलने पर दमयन्ती ने पीडा-निवृत्त्यर्थ मृगाल-धारण किये । आकारमान्य । विद्यानर के अनुसार इस श्लोक ने सापह्वोद्रेक्षा ॥ ४० ॥

न्यधिन तद्धृदि शल्पमिव द्वय विरहिता च तथापि च जीविनम् ।

किमप्य तत्र निहत्य निखानवान् रतिपति स्तनद्वित्वयुगेन तन् ॥ ४१ ॥

जीवानु—न्यधितेति । रतिरतिलक्ष्मिर्नमोहशये, विरहिता विरहित्व च तथापि विरहित्वेऽपि, जीवित चेति द्वय, शल्प शङ्कुमिव, न्यधित निखात-वानित्यर्थः । जीवतो विरहः विरहिणो जीवन च द्वे अपि शल्पप्राये इत्यर्थः । दधातेर्लुङि षड् । 'स्याध्वोरिच्च' इतीकारः । 'ह्रस्वादङ्गात्' इति मलोपः । अयं निखननान्तर, तच्छल्पद्वय स्तनावेव द्वित्वे परिपतयित्वपक्षे, तयोर्पुनः उत्र हृदि निहत्य आहत्य, निखातवान् किम् । मया लोके निखात शङ्कु दाटपाय पापागेन भवन्ति तद्वदिति भावः । पूर्वार्धे शल्पनिषेधनोद्रेक्षा । उत्तरार्धे निहत्य निखननोद्रेक्षा । निखातवानित्यनुवादः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—रतिपतिः तद्धृदि विरहिता तथा अपि जीवित च द्वय शल्पम् इदं न्यधितं यय तन् स्तनद्वित्वयुगेन तत्र निहत्य निखातवान् किम् ?

हिन्दी—रतिस्वामी ( काम ) ने उन ( दमयन्ती ) के हृदय में विषोग-नाव और जीवित रहना—जैसे ये दो शल्प गाड़ दिये थे और तदनन्तर बना उस पर स्तन रूप दो बिन्दुफल बन्नी प्रकार ठोक कर गाड़ दिये थे ?

टिप्पणी—एक विरह और दूसरे उसके साथ जीवित रहना—ये दो कष्ट दमयन्ती को भोगने पड़ रहे थे। विरही जीवन अतिपीडादायक था। कवि ने कल्पना की है कि कामदेव ने ये दो कष्ट विरह और जीवित रहना—दमयन्ती के हृदय में गाड़ दिये और वे ढीले रहकर नहीं निकल न जायें, इस धाद्यका से दो पत्थर जैसे बेल (स्तन युगल) ठोक दिये। पूर्ण जीवन में दमयन्ती को विप्रयोग कष्ट सहकर जीना पड़ रहा था, सो यह द्विगुणित दुःख था। मल्लिनाथ के अनुसार पूर्वार्द्ध में दमयन्तिस्तन उत्प्रेक्षित और उत्तरार्द्ध में निहन्त। इस प्रकार दो उपप्रेक्षाएँ हैं। विद्याघर उपप्रेक्षा और रूपक अलंकार मानते हैं ॥ ४१ ॥

अतिशरव्ययता मदनेन ता निखिलपुष्पमयस्वशरव्ययात् ।

स्फुटमकारि फलान्यपि मुञ्चता तदुरसि स्तनतालयुगार्पणा ॥ ४२ ॥

जीवातु—अतीति। ता दमयन्तीम् अतितरा, शरव्ययता शरव्य लक्ष्य कुर्वता, शरव्यशब्दात् 'तत्करोति' इति व्यन्ताल्लट शतृप्रत्यय। अत एव निखिला ये पुष्पमया स्वशरास्तेषां क्षयात् व्ययात् फलान्यपि मुञ्चता क्षिपता मदनेन तदुरसि ममीवक्षसि, स्तनावेव ताले तालफले, तयोर्युगस्पर्पणाक्षेप, अकारि। स्फुटमित्युपप्रेक्षा। शरक्षये पापाणादिनापि प्रहरन्तीति भावः ॥ ४२ ॥

अन्वयः—ताम् अतिशरव्ययता निखिलपुष्पमयस्वशरव्ययात् फलानि अपि मुञ्चता मदनेन तदुरसि स्तनतालयुगार्पणा अकारि स्फुटम् ।

हिन्दी—उस (दमयन्ती) को बारबार बाणों का लक्ष्य बनाते हुए अपने 'संपूर्ण' पुष्प बाणों का व्यय कर देने के कारण फल भी छोड़ते काम ने उस (दमयन्ती) के उर स्थल में मानो दो स्तन रूप दो तालफलों से भी प्रहार कर दिया था।

टिप्पणी—प्रहरणशील काम दमयन्ती को ध्वस्त करने के लिए एक के बाद एक प्रहार कर रहा था। उसने इसी क्रम में अपने पाँचों पुष्प बाण दमयन्ती को लक्ष्य बनाकर उस पर छोड़ दिये। जब पुष्प समाप्त हो गये, सब फलों से प्रहार किया और स्तन रूप दो तालफलों से भी प्रहार कर दिया। ये कठोर स्तन रूप ताल-फल क्या थे, जैसे कठोर पापाण थे। जब प्रहारकर्ता काम के फूल, फल भी समाप्त हो गये, तो पत्थर न फेंकता ?



मन्दिताय के अनुभार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुभार रूपक और उत्प्रेक्षा, जिनकी चद्रप्रनाकार ने सृष्टि मानी है ॥ ४० ॥

अथ मुहुर्बहूनिन्दितचन्द्रया स्तुतिविष्णुतुदया च नया बहु ।

पनिनया स्मरतापमये गदे निजगदेऽश्रुविमिश्रमुखी सुखी ॥ ४१ ॥

जीवानु—अनेति । क्यान्तरस्मरतापमये कामज्वरूपे, गदे रोगे 'रोग-  
व्याधिादामया' इत्यनर । पतिताया मत्स्या । अथ एव, मुहुः बहु बहुधा  
निन्दितचन्द्रया, तस्योद्दीपकत्वादिति भावः । मुहुः स्तुतीं विष्णु तुदतीति  
विष्णुगुहो राहूपया तथा, विष्णुतुदत्वादेवेति भावः । 'तन्स्तु राहू स्वर्मानु  
सैहिकेयो विष्णुतुद' इत्यनर । 'विष्णुगोस्तुद' इति छप्प्रत्यय 'अर्द्धपद-  
अन्तस्य मुम्' इति मुनाम् । तथा दनयन्त्या, अश्रुविमिश्र मुख यस्याः सा  
अनिष्टाच्छ्रया ददती सुखी, निजगदे निगदिता । विप्रहृतो हृषिकर्तार निन्दति  
तदपकर्तारं स्तौतीति भावः ॥ ४१ ॥

अन्वय —अथ स्मरतापमये गदे पतिताया मुहुः बहुनिन्दितचन्द्रया बहु च  
स्तुतिविष्णुतुदया तथा अश्रुविमिश्रमुखी सुखी निजगदे ।

हिन्दी—तदनंतर कामतापरूप रोग में ग्रस्त, बारबार अनेकधा चद्र की  
निन्दा करती और अनेक बार चद्र-सीढक राहू की स्तुति करती वह ( दन  
यन्त्री ), आंशुओं से जिसका मुँह बाच्छर था, ऐसी सुखी ने कहने लगी ।

टिप्पणी—अन्त में काम से पराजित, कामतापरोगग्रस्ता दमयन्ती  
चद्र को बोलती हुई तथा चद्र-पुत्र राहू की स्तुति करती हुई अपनी सहानुभूति  
से पूर्ण सुखी से कहने लगी जो कदम्ब इस सर्ग के ९९ वें श्लोक तक है । ७३ वें  
तक चद्रोपासन है, मानो कामोपासन । अपनी ध्यामिनी के दुःख का अनुभव  
करती अन्ति की आशंका से उसनी सुखी भी रो रही थी । विद्याधर के  
अनुभार उत्प्रेक्षणीय अलंकार छेकानुसंग ॥ ४२ ॥

नरमुगद्वनमृवामिव यावता भवति मम्य युग यदनेहन्ता ।

विगह्यामपि तद्रतवद्बुद्ध्यामिव न कथं गणितायमे ॥ ४४ ॥

जीवानु—नरेति । नरमुगद्वनमृवा मनुष्यदेवब्रह्मणामिव, यावता अनेहन्ता

कालेन, यस्य जन्तोर्धद्युगं भवति, गणितागमे ज्योतिश्शास्त्रे तत्सर्वं वक्तव्यं मेवेति शेषः । यथा ब्रह्मणो दिनं देवादीनां युगादिकमित्युक्तम्, तद्वदन्यस्यापि गणितशास्त्रे वक्तव्यमिति भावः ।

तत विमित्याद्यद्बुध आह । विरहिणा तद्युगं कथं किमिति रतवतान् विद्युत्तानां यूनां क्षणेन मितं गणितं न । अविद्युत्तानां क्षणो विद्युत्तानां युगमिति किमिति नोक्तमिति । तथा तस्या एकैकक्षणं एकैकयुगवत्सोभूदित्यर्थः ।

अन्वयः—नरसुराब्जमुशाम् इव यावता जनेहसा यस्य यत् युगं भवति गणितागमे विरहिणा तत् कथं रतवद्युक्त्वमिति न ?

हिन्दी—मनुष्य, देव और ब्रह्मा के तुल्य जितने काल परिमाण से जिसका जो युग होना है ज्योति शास्त्र में ( वह तो गिन लिया गया, परन्तु ) विद्योगियों का वह ( युग ) अविद्योगी तरुणों के क्षण के परिमाण का क्यों नहीं गिना गया ?

, टिप्पणी—४४, ४५, ४६ श्लोकों में विरह की दुःसहता का वर्णन किया गया है । गणितागम—ज्योति शास्त्र में नरो, देवो और ब्रह्मा के युगों में जिसका कितना काल परिमाण होता है, इसकी गणना की गयी है, जैसे ३६० दिन में मानव का एक वर्ष होता है, वह देवों का एक दिन रात होता है । देवों के बारह सहस्र वर्षों का चतुर्युग होता है । ऐसे ही एक सहस्र चतुर्युग का ब्रह्मा का एक दिन होता है और उठने में ही एक रात । ऐसे पाँच सौ वर्षों का एक पराङ्ग होता है और दो पराङ्गों की परमायु होती है । यदि की उद्भासना है कि हम रीति में मनुष्यादि के युगादि की गणना तो ज्योति शास्त्र में की गयी, परन्तु विद्योगी और सद्योगी तरुणों का जितने परिमाण का कितना युग होता है, इसकी गणना नहीं की गयी । यह उचित नहीं है । यदि गणना करने तो ज्ञात होता कि सद्योगी ( रतवन ) तरुणों का जो क्षण होना है, वह विद्योगि-जनों का एक युग होता है । गणितागम में इसका उल्लेख होना चाहिए । यह दमयन्ती का कथन है, जो यह कहना चाहती है कि उन विद्योग का एक-एक क्षण एक-एक युग के समान प्रतीत हो रहा है, जो काटे नहीं पड़ता । रतवत

तद्वर्गों के क्षण का चतुर्धातु भी वियोगियों के लिए एक यूग है । विद्याधर के अनुसार उपमा धीरे जतिशयोक्ति ॥ ४४ ॥

अनुग्धस्तमनी स्मरतापिना हिमवतो न तु नन्महिमादृता ।

ज्वलति भालनले लिखित सतीविरह एव हरस्य न लोचनम् ॥ ४५ ॥

जीवानु—अनुरिति । सती भवपूर्वपत्नी दसकन्या, स्मरतापिना विरहा-  
ग्नितता सती, हिमवतो अनुजन्माघस्त । तस्य हिमवतो महिमा जाह्नो यया  
सा तमहिमाहता, आहततन्महिमा सती तु न । आहिताभ्यादिष्वाग्निप्रियाया  
परनिपात । विरहतापशान्त्यर्थं हिमाद्रेर्जाता । न तु तत्तु परसानभ्यानु-  
रोमादिस्तुष्टेः । हरस्य भालनले लिखितो ब्रह्माग्न लिखित सतीविरह  
एव ज्वलति, लोचन नेत्यारोप्यापह्लावालङ्कारः ॥ ४५ ॥

अन्वय —स्मरतापिना सती हिमवत अनु अघत तन्महिमाहता तु न,  
हरस्य भालनले लिखित सतीविरह एव ज्वलति, लोचन न ।

हिन्दी—काम से संतापित हो सती ( दसगुनी ) ने हिमालय से जन्म  
धारण किया था, उस ( हिमालय ) के प्रति आदर भाव के कारण तो नहीं,  
शिव के मस्तक पर स्थित सती का वियोग ही दोष है, ( शिव का ) नेत्र नहीं ।

टिप्पणी—सचमुच विरह असह्य होता है । वियोग सतृप्ता सती जल  
मरी और उन्होंने उसी जल को मिटाने के लिए हिमालय ( हिम के आलस्य )  
से जन्म लिया । शिव जी के मस्तक पर तीसरा नेत्र नहीं है, वस्तुतः सती की  
वियोगाग्नि दोष है । तो जगत् के माता-पिता सती-शिव भी अब विरह से  
इतने व्यथित हैं तो सामान्य मानुषी दमयन्ती की तो गचना हो क्या ? वह तो  
और भी व्यथित होगी । भस्मिनाथ के अनुसार पूर्वार्द्ध में उपदेश और उत्तरार्द्ध  
में अपह्नुति अलङ्कार, विद्याधर ने केवल अपह्नुति को उल्लेख माना है । ४५ ।

दहनजा न पृथुर्दवयुव्या विरहज्वेव पृथुर्द्वि नेदृशम् ।

दहनमासु विशन्ति कथं स्त्रियः प्रियमपानुमुपानितुमुदधुरा ॥ ४६ ॥

जीवानु—दहनेति । दहनजा अग्निशहवया, दवयुव्या तापदुःख,  
पृथु अतिता न । किन्तु विरहज्वेव पृथु । ईदृश न यदि इदमित्य न चेत् ।

स्त्रिय, अपासुमपगतप्राण मृत, प्रियम्, उपासितुं प्राप्तम्, उत्तृष्टा धूर्मारो  
यासा ता उद्घुरा अनर्गला सत्य इत्यर्थः । 'ऋक्पू' इत्यादिना समासात्तो-  
ऽकार । कथमाशु दहनं विवर्ति । अग्निदाहाद्विरहदाह एवाधिव इत्यर्थः ।  
तस्य नत्परिहारार्थेन स्त्रीणामग्निप्रवेशकार्येण समर्थनात् कार्येण कारण-  
समर्थनरूपोऽर्थास्तरन्यासः ॥ ४६ ॥

अन्वय — दहनजा द्रव्यव्यया शून्य न विरहजा एव पृथु, यदि ईदृश न  
अपासुम् प्रियम् उपासितुम् उद्घुरा स्त्रिय आशु दहनं कथं विवर्ति ?

हिन्दी—अग्नि से उत्पन्न ताप की पीडा बड़ी नहीं होती, वियोगजन्य  
( पीडा ) ही बड़ी होती है यदि ऐसा नहीं है तो मृतप्राण ( मृत ) प्रिय की  
सेवा को उत्सुक नारियाँ झटपट आग में क्यों प्रयत्न हो जाती हैं ?

टिप्पणी—मृतप्रिय के सहमरण को नारियाँ इसीलिए उद्यत हो जाती हैं  
कि वियोगाग्नि का ताप चिताताप की अपेक्षा कहीं दुगुण है । उनका चिता-  
प्रवेश इसके पक्ष में अकाट्य तर्क है । मल्लिनाथ के अनुसार कार्य से कारण-  
समर्थनरूप, अर्थात्तरन्यास अलंकार, विद्याधर के अनुसार अनुमान ॥ ४६ ॥

हृदि लुण्ति कला नितराममूर्तिरहिणीवधपङ्कजलङ्घिता ।

कुमुदसख्यकृतस्तु बहिष्कृता सखि ! विलोक्य दुर्विनय विधौ ॥ ४७ ॥

जीवातु—हृदीति । विरहिणीवधाच्च पङ्क- पाप्मा । 'अस्त्री पङ्क पुमान्  
पाप्मा' इत्यमरः । तेन बलश्रुतिता सञ्जातकलङ्का, अमू कला, हृदि  
अभ्यन्तरे नितरा लुण्ति वर्तन्ते । कुमुदे सख्यं कुर्वन्तीति तत्कृत, विद्युदा  
इत्यर्थः । तास्तु कला बहिष्कृता । हे सखि, विधोर्दुर्विनय, दोषजन्य, विलो-  
क्य । दुजना पापिष्ठानत्त कुर्वन्ति विद्युदाम् बहिष्कुर्वन्तीति भावः ॥ ४७ ॥

अन्वय—सखि, विधो दुर्विनय विलोक्य—अमू विरहिणीवधपङ्क-  
जलङ्घिता कलाः हृदि नितरा लुण्ति कुमुदसख्यकृतस्तु बहिष्कृता ।

हिन्दी—हे सखि, चद्र की अतिनीति तो देख—य वियोगिनीयों के वध  
रूप कीचड़ से बलश्रुत कलाएँ तो हृदय पर सुतरा लोट रही हैं, कुमुदों से  
( उम्ह विकसित कर ) मित्रता करने वाली ( कलाएँ ) बहिष्कृत हैं ।

टिप्पणी—चद्रकला से अगह्य व्यथित हो दमयन्ती बह रही है कि चद्र

बड़ा दुष्ट है, वह पारियों—कलकितों का तो हृदय में बसाता है—आदर देता है, और उपकारियों को दूर भगाता है। उदाहरणार्थ—चद्र के पास दो प्रकार की कलाएँ हैं। एक तो वे हैं, जिनकी असह्यता के कारण वियोगि-नियाँ मर जाती हैं, उन हत्यारी-हत्या-कलक से युक्त कलाओं को चद्र अपने भीतर रख लेता है। कृष्ण पक्ष में, और जो कुमुद-विकासकारिणी, अतएव परोप-कारिणी कलाएँ हैं, शुक्लपक्ष में उन्हें दूर भगा देता है। यह दुश्मन का स्वभाव है। सज्जन तो उपकारी को आदर देते हैं, अनकारी को दूर रखते हैं। चद्र उसके विपरीत आचरण कर रहा है, अतः दुर्विनयी है। अथवा—चद्र दुष्ट और अविनीत है, उसने हत्यारी कलाओं को तो दमयन्ती के हृदय पर लोढ़ने—माने उसकी हत्या करने—भेज दिया है, उन उपकारिणी कलाओं को दूर भेज दिया है, जो कुमुदविकास का कारण हैं। दमयन्ती को ताप हा रहा है, अतः उसकी प्रतीति है कि चद्र की कलाएँ दो प्रकार की हैं, जो सताप कारिणी हैं, वे मूर्त हैं, विद्यमान हैं, जो उपकारिणी हैं, वे अमूर्त हैं। यही चद्र का दुर्विनय है जो उसने आनन्ददायिनी कलाओं को दमयन्ती-समकक्ष में नहीं आने दिया, उन वियोगिनी-वध-कलकितियों को भेज दिया कि जाकर दमयन्ती का भी वध करो। उस दुष्ट पर अब ये कलकितियाँ कलाएँ रह गयी हैं, उनकारिणी कलाएँ तो बहिष्कृत हैं। विद्याधर के अनुसार समासोक्ति अलंकार ॥ ४३ ॥

अयि विष्णु परिपृच्छ गुरोः कुतः स्फुटमशिष्यत दाहवदान्यता ।

ग्लपितशम्भुगलाद्गरलात्त्वया दिमुदयो जड ! वा वडवानलात् ॥ ४८ ॥

जीवातु—अपीति । अयि सखि ! विष्णु परिपृच्छ । हे जड मूढ़ ! त्वया दाहवदान्यता दाहदातृत्वं दाहकत्वमित्यर्थः । किं ग्लपितशम्भुगलाच्छोपित-शम्भुकृष्णात् गरलात् कालकृष्णात्, उदयो वडवानलाद्वा कुतः कस्माद् गुरो-स्फुटमशिष्यत शिषिता, अन्वयेत्यर्थः ॥ ४८ ॥

अन्वय—अयि, विष्णु स्फुट परिपृच्छ—जड, त्वया दाहवदान्यता कुतः गुरो अशिष्यत, किं ग्लपितशम्भुगलात् गरलात् वा उदयो वडवानलात् ?

हिन्दी—हे सखि, चद्र से स्पष्टनया पूछ—हे दुमरे, तू ने जग जानन

जिस गुरु से सीखा, क्या शिवजी के गले को जलाने वाले विष कालकूट ( वधु ) से अथवा समुद्र-स्थित बडवागल से ?

टिप्पणी—वियोगिनी दमयन्ती को चद्रमा कालकूट विष और बडवाग्नि के समान अथवा उनसे अधिक दाह दे रहा है, अतः दमयन्ती जानना चाहती है कि दाहनकला की शिक्षा उसे किससे मिली है ? चद्र, कालकूट और बडवागल सभी का समुद्र से संबंध है, सो ऐसा लगता है कि यह शिक्षा चद्र को कालकूट से मिली है, जिसने शंकर-शिव का भी गला जला डाला था फिर बडवाग्नि से, जिसने जलनिधि को भी दहन हुआ दिया ? विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार छैकानुप्रास ॥ ४८ ॥

अयमयोगिवधूवधपातकैर्भ्रमिमवाप्य दिवः खलु पात्यते ।

शितिनिशादपदि स्फुटदुत्पतत्क्षणगणाधिकतारकिताम्बरः ॥ ४९ ॥

जोवातु—अयमिति । अयं विधु, अयोगिवधूवधपातकैर्वियोगिस्त्री-हिंसापापैः, करण, भ्रमि भ्रमणम्, अवाप्य श्राप्य आप्नोतेर्ण्यन्तात् क्लो-त्यवादेशः । 'विभाषाऽऽप' इति विकल्पादयादेशाभावः । शितिनिशा कृष्ण-पक्षरात्रिस्तस्यामेव यदि शिलायां स्फुटन्त पातवेगाद्विकृतं तत उत्पतन्तश्च ये कणा खण्डा, तेषां गणैरधिक तारकिताम्बर भूम्ना तारकत्ववृत्ताकाश-सन । अत एव कृष्णपक्षे तारकवाहुल्यमिति भावः । तारकवच्छब्दात् 'तारक-रोति' इति व्यन्तात् कमणि क्त । 'विन्मतोर्लुक्' भूतुपो लुक् द्विवोऽन्तरिक्षा-न्निपात्यते खलु । उत्कटपापकारिण पुरे परिभ्राज्य धिलाया निपात्य ह्यन्त इति भावः ॥ ४९ ॥

अन्वय—अयम् अयोगिवधूवधपातकैर्भ्रमिम् अवाप्य शितिनिशादपदि स्फुटदुत्पतत्क्षणगणाधिकतारकिताम्बर दिवः पात्यते खलु ।

हिन्दी—यह ( चद्रा ) वियोगिनी नारियो के वध रूप पाप के कारण भ्रमि ( चक्कर ) को प्राप्त हो ( घुमाया जाकर ) बाली रात रूपी पत्थर पर ( पटके जाते समय ) टूटकर उछलते कणों से बहुत से तारकों से आकाश को आच्छादित करता आकाश अथवा स्वर्ग से नीचे पटक दिया जाता है ।

टिप्पणी—धार्मिकों को स्वर्ग से गिराया ही जाता है और घुमा कर पत्थर

पर जोर से पटक कर दब नी दिया जाता है, बिम्बे के चूर-चूर हो बिखर जाते हैं। कृष्णपक्ष में चंद्र तो प्रायः मंद रहता है, तारे बविक प्रकाशित दीखते हैं। इसी पर यह कल्पना है—सुकृष्णपक्ष में उदित हो चंद्र ने वियो-गिनिनों को बलाकर मार डाला, उनकी हत्या का पाप किया। इसका दंड उसे मिला कृष्णपक्ष में। उठकर काली रात रुन काले पत्थर पर धुनाकर उसे पटक दिया गया और वह खड़-खड़ हो तारों के रूप में बिखर गया। विद्याघर के अनुसार यहाँ रुनक और अनुमान हैं ॥ ४९ ॥

त्वमभिषेहि विष्णुं सखि । मद्गिरा किमिदमीदृगधिक्रियते त्वया ।

न गगिन यदि जन्म पयोनिधौ हरशिरस्त्र्यनिमूरपि विस्मृता ॥ ५० ॥

जीवानु—त्वमिति । हे सखि । त्व मद्गिरा विष्णुनभिषेहि उपाकनस्व । तत्प्रकारमेवाह—त्वया महात्मनेति भाव । किं किमयमिदमीदृक् स्त्रीवधात्मक ( वनं ), अधिक्रियते आचर्यते ? पयोनिधौ जन्म न गणित यदि मास्तु । हरशिर एव स्थितिमुनिवानमूमि सापि विस्मृता । महाकुलप्रभूतस्य शम्भु-शिरोभूतस्य तवेदमनुचितमित्यर्थ ॥ ५० ॥

अन्वयः—सखि, त्व मद्गिरा विष्णुम् अनिषेहि—त्वया ईदृक् इव किम् अधिक्रियते, यदि पयोनिधौ जन्म न गणितम् हरशिरस्थितिम् अपि विस्मृता ?

हिन्दी—हे सखि, मेरी बात चंद्र से कह कि तू ऐसा यह ( दुष्टत्व ) क्यों कर रहा है ? यदि तू ने ( अपने ) समुद्र में जन्म को नहीं गिना तो क्या शिव शिर पर स्थित रहना भी मुझा दिया ?

टिप्पणी—किसी दुष्टत्वकर्ता को उसके गौरव का स्मरण कराया जाता है कि वह अच्छे कुल में जन्मा है, सुखजनकगति निन्ही है, उच्च पद निम्न है, उसे बुरा कार्य नहीं करना चाहिए, अन्यथा गौरव समाप्त हो जायेगा। यहाँ चंद्र को भी उसके माधवध में जन्म, उच्च सुगति और उच्च पद का स्मरण करा कर दुष्टत्व न करने की शिक्षा दी जा रही है। दुष्टत्व का अनोचित बताना जा रहा है। पानी से सीपे बात नहीं की जाती, सो दमपन्दी भी सखी के माध्यम से चंद्र को उपातन दे रही ॥ ५० ॥

निपततापि न मन्दरभूनृता त्वमुदधौ शरालाञ्छन । जूनिनः ।

अपि मुनेर्जठराक्षिपि जायता वत गतोर्जसि न पीतपयोनिधि ॥ ५१ ॥

जीवातु—निपततेति । हे शशलाञ्छन सकलङ्केत्यर्थ । त्वमुदघी निप-  
तता मयनसमय इति शेष । मन्दरभूमृता मन्दराद्रिणापि न चूर्णित, पीत-  
पयोनिधे आचमितसमुद्रस्य मुदे अगस्त्यस्य, जठराचिपि जठरानलेऽपि जीणता  
न गतोऽस्ति । वातापिवदिति भाव । वतेति खेदे । मद्भाग्यविपर्यय एवाय-  
मिति भाव ॥ ५१ ॥

अन्वय — शशलाञ्छन बत त्वम् उदघी निपतता मन्दरभूमृता अपि न  
चूर्णित पीतपयोनिधे मुने जठराचिपि अपि जीणता न गत यमि ।

हिन्दो—हे शश के कलक से युक्त ( कलकी ), खेद है कि तू समुद्र में  
( मयन के निमित्त ) गिरते मदराचल से भी ( पिसकर ) चूर्ण चूर्ण नहीं हुआ,  
समुद्र को जाने वाले मुनि ( अगस्त्य ) के जठर ( उदर ) की जाग में ( पक-  
कर ) भी नष्ट नहीं हुआ ।

टिप्पणी—इमवती का चंद्र पर आक्रोश—ऐसे पापी को दो-दो बार भी मौत  
न आयी, मयन के समय न तो मदराचल के नीचे पिसा भीर न अगस्त्य  
मुनि के पेट में समुद्रपान के समय भीतर पहुँच कर घातापी राक्षस के समान  
पचा गया । कलकियों को मौत भी तो नहीं आती । कैसा दुर्भाग्य है बेचारी  
इमवती का ? विद्याधर के अनुसार विभावना बलकार ॥ ५१ ॥

किमसुभिर्निलितैर्जड । मन्यसे मयि निमज्जतु भीमसुतामन ।

मम किल श्रुतिमाह तदर्थिका नलमुखेन्दुपरा विबुधस्मरः ॥ ५२ ॥

जीवातु—किमिति । हे जड मूढ ! गलितैर्निष्क्रमितै, असुभि, प्राणै  
स्यमारणैनेत्यर्थ । भीमसुतामनो मयि चन्द्रे निमज्जतु निमज्जेत् । सम्भा-  
वनाया लोट् । इति मन्यसे विम् ? 'यत्रास्य पुरुषस्याग्निं वागस्येति वात  
प्राणश्चभुरादित्य मनश्चन्द्र दिश श्रोत्र पृथिवी क्षरीरमाकाशमात्मौषधीर्लो-  
मानि वनस्पतीन् केशा अप्सु रोहित च रेतश्च निधीयत' इति श्रुतिप्रामाण्या-  
दिति भाव । शोऽपि वृथामिमान इत्याह—स मृतमनश्चन्द्रमेतीत्येव ऋषोऽर्थोऽ  
मिधेयो यस्यास्ता तदधिना, 'शेषाद्रिभाषा' इति कप्समासान्त । 'प्रत्ययस्था-  
त्कात्पूर्वं स्मात् इदाप्यसुष' इतीकार, श्रुति पूर्वोक्तवेदवाक्यम् । विबुधो देवो  
विद्वाश्च, स्मर नलस्य मुखेन्दु, मुखचन्द्र, परो मुखपार्श्वो यस्यास्तां  
तत्पराम् । 'पर दूरान्यमस्येषु' इति वैजयन्ती । मम आह किल मूढे



मनु । विद्वदुक्त एवायं ग्राह्य इत्यर्थः । परतोऽग्निं मे नानां नल एव नान्य  
इति नाव ॥ ५२ ॥

अन्वय — उह, गलितं प्रमुनि भीमसुतामनः मयि निमग्नुः—इति  
मन्त्रे किम् ? विद्वत्स्मरः तददिगं धृतिं नलमुखेन्दुरा मम आह किल ।

हिन्दी—अरे मूर्ख ( चद्र ), प्रातः चले जाने पर मोनगन की बेटी का  
मन तुझ में निमग्न हो जायेगा—क्या तू यह माने बैठा है ? निश्चयपूर्वक  
विद्वान् देव काम ने मुझे उलझे नदह बंधवाक्य का प्रमुक्त व्यं नल-मुक्त चद्र  
बताया है ।

टिप्पणी—धृति-प्रमाणा है कि मृत व्यक्ति की वाणी अग्नि में मिल जाती  
है, शान वायु में, नेत्र आदिस्य में, मन चद्र में, कान दिशाओं में, शरीर पृथ्वी  
में, आत्मा आकाश में, छोन ज्योषिणों में, केश वनस्पतियों में और रक्त-वीर्य  
जल में । हमरती 'मनश्चन्द्रम्' के आधार पर चद्र को उपालम्भ देती है कि  
तू इसलिए कदाचित् मेरी मृत्यु चाहता है कि मर कर मेरा मन तुझ में निमग्न  
हो जायेगा, जो मेरे जीते जी तो तेरी ओर आकृष्ट भी नहीं होता । पर तू  
मूर्ख है, धृतिवाक्य का जय तूने समझा ही नहीं, इसे ठीक-ठीक समझा  
विद्वान् देव स्मरणीय ( स्मरतीति स्मर ) काम ने । उसने मुझे बताया है  
कि 'मनश्चन्द्रम्' धृतिवाक्य में 'चद्र' का प्रमुख विशिष्ट व्यं 'नलमुक्त' है, सामा-  
न्यार्थ 'चद्र' नहीं, प्रसूत 'मुखचद्र' । तू मूर्ख देव है, यदि विद्वान् देव होता  
तो विशिष्ट जय समझ पाता । मूर्ख सामान्य व्यं ही समझ पाते हैं । भाव  
यह है कि मैं मरने पर भी नलानुरागिणी ही रहूँगी, अन्य किसी के प्रति मेरा  
अनुराग मन्त्र नहीं । विद्याधर के अनुसार अथ और अतिरिक्त ॥ ५२ ॥

मुखरयन्व दग्धो नवदिण्डिम जलनिधौ कुन्मुञ्जव्याधुना ।

अपि गृहाण वधूवधनीरुह हरिणशान्छन । मुख कदर्शनान् ॥ ५३ ॥

जीवानु—मुखरयन्वेति । हे हरिणशान्छन घण्टा । यद्यपि नवदिण्डिम

कीतिप्रकाशक नृतादायविशेष मुखरयन्व मुखर, रवा कुह, अधुना जल-  
निधौस्त्वज्जनकस्य कुन्मुञ्जलय प्रकाशय, वधूवधनीरुहनि स्त्रीवधनीरुहंश्च,  
गृहाण स्त्रीकुह । किन्तु, कुन्जितोऽयं कदर्पं पीडाकर 'को कतपुस्येऽपि'  
इति कुहयस्य वशादेशः । कदर्पानिरप कदर्पना कदर्पनशब्दात् । 'तत्करोति'

इति प्यन्ताद्युच । ता मुञ्च शीघ्र भारय । न तु पीडयेत्यर्थ । अत्र वधू-  
वधस्यानिष्टत्वेनाविधेयस्य विधानात् । 'विप भुङ्क्व' इतिवर्तिनियेधपरो  
विध्याभास अनिष्टनिषेधाभासपराक्षेपालङ्कारभेद । तथा चालङ्कारसूत्रम्—  
'अनिष्ट विध्याभासश्चे'ति ॥ ५३ ॥

अन्वय —हरिणलाञ्छन, यशोनवदिण्डिम मुखरयस्व, अधुना जलनिधे  
कुलम् उज्ज्वलय, वधूवधपोष्यम् अपि गृहाण, कदर्यना मुञ्च ।

हिन्दी—अरे मृग-कलक धारने वाले ( कलकी ), कीर्ति का तवीन  
दिण्डिम घोष कर ( दिंदोरा डुंगी पिटवादे ), अब तो समुद्र का कुल उज्ज्वल  
कर ले, स्त्री-वध की वीरता भी अर्जित कर, ( पर ) यह पीडा देना छोड़ दे ।

टिप्पणी—यह स्तुति रूप में निन्दा है । स्त्री वध में कोई पोष्य तो है  
ही नहीं, न इसमें कीर्ति मिलती है और न कुल का सुनाम ही होता है ।  
इसके विपरीत नारी-हत्या, कायरता और निन्दा के कारण कुल मर्यादा-  
विधातक ही होती है । दमयन्ती को पीडा दे देकर मारने से यही सब 'कलक'  
चन्द्र को मिलेगा, और वह कलकी तो ह ही । दमयन्ती का कथन है कि  
मले ही 'सदाकलकी' चन्द्र को कलक भय न हो, पर इतना तो उसे मान ही  
लेना चाहिए कि निरपराधिनी दमयन्ती को इतनी पीडा न दे । अच्छा हो कि  
झटपट प्राण ले ले, यह पीडा असह्य है । मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक  
में अनिष्ट, अत एव अविधेय, 'वधू-वध' के विधान के कारण नियेधपरक  
विधि का आभास है—'विप भुङ्क्व' के समान । इस प्रकार अनिष्टनिषेधा-  
भासपरक आक्षेपालकार है । [ 'विप भुङ्क्व मा चास्य गृहे भुङ्क्वा'—विप  
स्त्रा, इसके घर मत खा—इसमें विधिवाचक—'विप स्त्रा'—कथन से नियेधार्थ  
ही भाग्य होता है । यहाँ विप खाने की अनुज्ञा नहीं है, इसका पूरा तात्पर्य  
दूसरे वाक्य से सबद्ध है—किसी विशिष्ट घर में भोजन करने से अच्छा है,  
विप खाना, अर्थात् इस घर में भोजन करना विप भोजन से भी अधिक  
मयावह है । व्यजना के प्रसंग में विवेचक आचार्यों ने इस वाक्य पर विचार  
किया है । ( दर्शनीय 'काव्य प्रकाश' पचम उल्लास, 'दशरूप' चतुर्थ प्रकाश । )  
'वधूवधपोष्य गृहाण' में भी ऐसी ही नियेधपरक विधि का निर्देश है । ]  
विद्याधर के अनुसार यहाँ स्तुतिनिन्दा है । 'मुखरय + सु + अयय' विच्छेद

करके 'रूप' की हुनोपीट' तथा 'उज्ज्वलय' का अन्वय 'अग्निकवल' भी किया गया है ॥ ५३ ॥

निशि शशिन् । भज केनवमानुतामसनि नास्वति तापय पाप माम् ।  
अहमहन्वलोकाग्निनाम्नि ते पुनरहर्षतिनिर्घुतदर्पणान् ॥ ५४ ॥

जीवानु—निशीति । हे शशिन् । पाप । क्रूर । 'नृससो धातुक क्रूर पापः' इत्यमरः । निशि नास्वत्यसति । केनवमानुता कपटनृत्यं नज । न तापय, किं त्वहञ्चाग्नि, अहर्षतिना सूर्येन, 'अहरादीनां पत्यादिषु' इति रेफादेशः । ते तव, निर्घुतदर्पता निरहङ्कारताम् अवलोकयिताम्नि द्रव्या भीत्यर्थः । लुटि मिपि तासिन्त्ययः । पापिष्टा स्वनायमासिन्त्ययस्य परान् हिचिन्तीति नावः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—शशिन्, निशि नास्वति असति केनवमानुता भज, पाप, मा तापय, अहम् पुनः अहनि ते अहर्षतिनिर्घुतदर्पणान् अवलोकयिताम्नि ।

हिन्दी—जरे चन्द्र, रात में नास्वत् ( सूर्य ) के न रहने पर कपट नृत्य बन ले, पापी क्रूर, सतस कर ले मुने, मैं भी दिन में दिनेय ( सूर्य ) के द्वारा तेरे दर्प को दलित होगा देखूंगी ।

टिप्पणी—रात में दमश्चै पीडाकर चन्द्र को दिन में अपने इस पातकन का दंड सूर्य के समुच्च भुगुना पड़ेगा, रात में वह पापी दमश्चै को चाहे शिना सजाले । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति शङ्कार ॥ ५४ ॥

शलकन्कु ! नज्झुर । मादृशा ज्वलसि यन्निनि भूतपति त्रिनः ।  
तदमृतस्य तवेदुशभूतनाऽद्भुतकरो परमूर्धविघ्ननी ॥ ५५ ॥

जीवानु—शलकन्कुकेति । हे शलकन्कु शयाङ्क ! मादृशा विद्यो-  
गिनामित्यर्थः । मय करोतीति मयकर उद्देशकः । 'मेषतिवयेषु इव' इति सञ्ज्ञत्ययः । 'अद्विपत्' इत्यादिना मुनामम । यद्यस्मात्, भूतपति शिव निशाचरतिष्ठ, धित सन् निशि ज्वलसि प्रदीप्यते । तत्तस्मादमृतस्यामृत-  
मस्य मृतेतरस्य च, तव परेषा द्रष्टृणा स्वाविष्टानां च, मूर्धविघ्ननी एकत्र विस्मयादन्वयावेष्टाच्च शिरकम्पकरो, ईत्यनूतता इत्यभूतत्वम् ईत्यनिशाच-  
त्वञ्च, यद्भुतकरो विस्मयकरो । हरशिरोमणेरमृतस्य इव इय प्रज्वलना-

त्मकत्वमद्भुतमिति वक्तव्यार्थः । जीवत ईदृगलातपिशाचत्वमद्भुतमिति व्यङ्ग्यार्थः ॥ ५५ ॥

अन्वय — राक्षसकलङ्क, मादृशा भयङ्कर, यत् भूतपति श्रितः निशि ज्वलति यत् अमृतमयस्य तव परमूर्धेविघ्नूनी ईदृशभूतता अमृतकरी ।

हिन्दी—अरे राक्ष का बलक धारनहारे, मुझ जैसी ( विरहिणी ) गरियों के लिए मयकारक ( चद्र ), जो सब प्राणियों के स्वामी ( शिव ) का आश्रित होकर भी तू जलाना है, वह अमृत से पूर्ण तेरा अन्य के सिर को कपित कर देने वाला स्वभाव आश्चर्यजनक है ।

टिप्पणी — चन्द्रमा 'मुधासु' ( अमृत किरण ) कहा जाता है, इसके अतिरिक्त वह सब भूतो प्राणियो अथवा गणो के स्वामी शिव अथवा 'भूताना पतिम्'—आकाश में स्थित है । ऐसी स्थिति में अन्य को पीटा देने का—पीटा से सिर हिला हिला डालने का स्वभाव चन्द्र को कहाँ से मिला ? यह आश्चर्य ही है । अमृतमय भी जला रहा है, प्राणियों के स्वामी का आश्रित होकर भी कष्ट दे रहा है । घोर आश्चर्य । यह ठीक नहीं है । अथवा महादेव का आश्रय पाकर भी और अमृत निकट रहने हुए जो रात में ऐसा आग का गोला बनकर जीवित रहते पिशाच का कार्य कर रहे हों, यह आश्चर्य है, क्योंकि भूत-पिशाच तो मर कर हुआ जाता है, मरा ही भूत बन कर सिर पर आया करता है और लोगों के सिर कँपाया करता है । चन्द्र तो जीता पिशाच बन गया है । अथवा अमृतमय अर्थात् जलपूर्ण होकर भी चन्द्र का जलाना आश्चर्य कारण है । जलाती तो आग है, जल नहीं । भाव यह है कि कलकी चद्र जीवितपिशाच 'त्रिदामृत' है । विनाश के अनुसार श्लेषालकार ॥ ५५ ॥

श्रवणपूरतमालदलाङ्कुर शशिकुरङ्गमुले सखि । निक्षिप ।

विमपि तुन्दिलत स्थगयत्वमु सपदि तेन तदुच्छ्वसिमि क्षणम् ॥ ५६ ॥

जीवातु—श्रवणेति । ह सखि । श्रवणपूर कर्णवित्त, यस्तमालदला-

ङ्कुरस्तमालपत्रवस्त, शशिकुरङ्गस्य मुखे ववने, निक्षिप । तेन दलाङ्कुरेण, सपदि, विमपि कियदपि, तुन्दिलितस्तुन्दिलीकृत, स्थूलीकृतसन्, अमु सखि, स्थगयतु छादयतु । तत्तस्मादेतो, क्षणमुच्छ्वसिमि प्राणिमि, 'हृदा-

दिम्य सावंधातुक' इतीडागम ॥ ५६ ॥

अन्वय —सखि, अथवापूरतमालदलाइकुर गणिकुरङ्गमुषे मरदि निक्षिप, तेन किमपि तुन्दिलिन अमु स्यान्नु तत् क्षणम् उच्छ्वसिमि ।

हिन्दी—अरे सुखी, कान में रखे नमान गत्र के अकुर को चन्द्र के ( वाहन ) डिरन के मुख में ( धाने को ) झटपट डाल, उसमें कुछ पट भर कर ( तोंड बड़ाकर ) वह इने ( चन्द्र को ) ढकले कि मैं क्षण भर मरि ले सकूँ ।

टिप्पणी—वाहन कुरा का खाकर पेट बड़ जायेगा, जिसमें बाद टक जायेगा और दमयन्ती के उसके मध्य जलराल हो जायेगा । क्या घटेगी और दमयन्ती को कुछ बियाम मिलेगा । अभी तो चन्द्र रात में नहीं लीने देता । विद्याधर के अनुसार 'हेतु' अङ्कार ॥ ५६ ॥

जसमये मतिरुग्मिपति ध्रुव करगनैव गता यदिप कुहू ।

पुनरुपेति निरुध्य निवास्यते सखि । मुख न विधो पुनरीक्ष्यते ॥५७॥

जीवानु—असमय इति । हे मखि ! असमये मति कार्यधी, उमिपति उदेति, ध्रुवम् । न तु योग्यकाल इत्यर्थः । कुत, यद्यस्मादिप कुहू नष्टचन्द्रा-  
मावास्या करगता स्वायत्तैव, ह्मन्तक्षत्रगता च गता । तदास्ता, पुनरुपेति पुनरागच्छति चेदित्यर्थः । निरुध्य निवास्यते स्थाप्यते । तस्म फत्रमाह—  
विधोर्मुख पुनर्नेक्ष्यते । तस्यातन्नाशकत्वादिति भावः । पापिष्ठस्य तस्यादर्शन-  
मेव फलमित्यर्थः ॥ ५७ ॥

अन्वय —मखि ध्रुवम् असमये मति उग्मिपति, यत् इय करगता एव कुहू गता, पुनः उरैनि चेत् निरुध्य निवास्यते, विधो मुख पुनः न ईदपते ।

हिन्दी—हे सुखी, निश्चय ही बुरा समय आने पर बुद्धि स्फुरित होती है । जो यह 'करगता'—हाथ में लायी ( अथवा कर अर्थात् हस्त ) नक्षत्रगता आश्रितमास की ) भी अमावस्या निकल गयी, यदि फिर आयेगी तो रोक कर रख ली जायेगी, चन्द्रमा का मुख फिर न दीखेगा ।

टिप्पणी—चन्द्र-दशन के कारण जो दुर्भाग्य—बुरा समय आया है, उसमें ही दमयन्ती को यह बुद्धि आयी कि अब जब अमावस आये तो उसे रोक लिया जाय, जिससे फिर इस थापी चन्द्रा का मुख न देखना पड़े । कोई सद्-

व्यक्ति पापी का मुख देखना नहीं चाहता । विद्याधर ने यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार माना है ॥ ५७ ॥

अयि ! ममैव चकोरशिशुर्मुनेर्व्रजति सिन्धुपिबस्य न शिष्यताम् ।

- अशितुमब्धिमधोतवतोऽस्य वा शशिकरा पिबत कति शीकरा ॥५८॥

जीवातु—अयीति । अयि सखि ! एष मम चकोरशिशुर्विषपरीभार्य गृहसर्वाधितो बालचकोर । यथाह कामन्दक —‘चकोरस्य विरज्येते नयने विषदर्शनात्’ इति । पिबतीति पिब, ‘पाघ्राध्मा’ इत्यादिना शत्रुप्रत्यये पिबा-देश । सिन्धो पिबस्य समुद्रपायिनो मुनेरगस्त्यस्य शिष्यता, न व्रजतीति काङ्क्षु । व्रजतीत्यर्थः । तथा च अयं चकोरश्चन्द्र निश्चेष पास्पतीत्याशयः, न चैतदशक्यमित्याह—अब्धिमशितुं पातुमधोतवत अभ्यस्तवत अत एव, पिबत अभिपानप्रवृत्तस्यास्य चकोरस्य, शशिकरा कति वा शीकरा कतिचित्कर्णा इत्यर्थः । अत्र समुद्रपायिनो दण्डापूपिकया शशिकरणपानसिद्धेरर्थापत्ति-रलङ्कारः ॥ ५८ ॥

अन्वया—अयि एष मम चकोरशिशुः सिन्धुपिबस्य मुने शिष्यता न व्रजति ? अब्धिमं अशितुम् अधोतवत् पिबत अस्य शशिकरा कति वा शीकरा ?

हिन्दी—अरी, यह मेरा चकोर का बच्चा क्या सागरपायी मुनि (अगस्त्य) के शिष्यत्व को नहीं खला जायेगा ? समुद्र-पीना सीधे इसको पान करते हुए चन्द्र की किरणें कितनी बूढ़ें होंगी ?

टिप्पणी—चन्द्र न दीखे—इसका दूसरा उपाय । यदि दमयंती का पाला चकोर बिहगबाल मुनि अगस्त्य का शिष्य बन उनसे सागर-पान की शिक्षा प्राप्त कर ले तो फिर इस छोटे से चन्द्रा की तो वह कुछ बूढ़ों के समान भी जायेगा । ‘दण्डापूपिकान्याय’ ( जो दण्ड खायेगा, वह अपूप भी खा लेगा ) से समुद्रपायी का चन्द्रकिरणपान सिद्ध है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार अर्थापत्ति अलंकार, विद्याधर के अनुसार विरोध ॥ ५८ ॥

कुरु करे गुरमेकमयोधन वहिरितो मुकुरश्च कुरुष्व मे ।

विशति यत्र यदेव विघ्नस्तदा सखि ! सुखादहितं यदि तं द्रुतम् ॥५९॥

जीवातु—कुर्वति । हे सखि ! एक गुरु महान्तम् अयोधनं तप्ताय पिण्ड-घट्टनमयोमुद्गरं करे कुरु विघ्नहीत्यर्थः । इतोऽस्मत्साधनाद्बहिः, मे मम मुकुर

दर्पण च कुरुष्व विद्येहि । तत्र मुकुरे यदा विभु विद्यति प्रनिपत्यति, तदैव, सुखाद-  
नायासात्, अहितं यन्, तं विष्णु, द्रव्यं जहि मारुत । हृत्तेजोऽति निमि हिरादेश ।  
'हृत्तेज' इति जादेशस्य 'अभिद्वन्द्वनात्' इत्यभिद्वत्वाच्च हेतुः । अथ  
च द्रव्यादिप्रलापा मेघनन्देशादिवन्मदनोन्मादविकारा इत्यनुशब्देन ॥१९॥

अन्वयः—सखि, करे एक मुकुट उग्रोपन कुरु मे मुकुर च इतं जहि  
कुरुष्व तत्र यदा विभु विद्यति अहितं तं सुखात् द्रव्यं जहि ।

हिन्दी—हे सखी, हाथ में एक भारी लोहे का घन ले और मेरे दर्पण को  
इधर से बाहर की ओर कर दे, उनमें जैसे ही चन्द्र प्रवेश करे, उस चैरी को  
अनायास हट से ( घन से ) मारे दे ।

टिप्पणी—भाव यह कि योशे में जब चन्द्रा की परछाही पड़े सभी तट  
से उस पर लोहे का घन पटक दिया जाय, जिससे योशे में चन्द्रा चन्द्रमा भी  
चूर-चूर हो जाये । मन्त्रिणाथ ने इसमें प्रताप मानते हुए उन्माद-विकार का  
संकेत दिया है । मेघ सदेश की नांति चन्द्रप्रहरादि भी प्रलाप ही है—कामार्त  
का चेतनाचेतनाविवेक । विद्याधर के अनुसार उन्मत्तस्य अलङ्कार अनुप्रास ॥१९॥

उदर एव धृतः किमुदन्वता न विषयो बहवानल्वद्विभुः ।

विषवदुज्जितमप्यमुना न म स्मरहरः किममु बुमुजे विभु ॥२०॥

जीवानु—उदर इति । विषमः कुरकमां, विष्णु, उदन्वता उदयिना,  
'उदन्वानुदधी च' इति निपात । बहवानल्वद्वद्वामिना तुल्य, 'तेन तुल्य क्रिया  
चेद्वति' उदरे कृष्णावेव किं न धृत । अथवा, अमुना उदन्वता उज्जितमप्यमु  
विष्णु विभु समर्थ स्मरहरः, विषवद्विषेण काल्कूटेन तुल्य, पूर्ववद्वति । किं न  
बुमुजे न प्रसतेस्म । उभययापि स्वयं जीवेम इति भावः ॥ २० ॥

अन्वयः—विषमः विष्णुः उदन्वता बहवानल्वत् उदरे एव किं न धृत ?  
अमुना उज्जितम् अपि अमुं स विभु स्मरहरः विषवत् किं न बुमुजे ?

हिन्दी—दु सह चन्द्र को समुद्र ने बहवान्नि के समान पेट में ही क्या नहीं  
रखा ? ( और फिर ) इस ( समुद्र ) के द्वारा छोड़े हुए भी इस ( चन्द्र ) को  
उस समय काम-विनाशक ( शिव ) ने विष के समान क्यों न खा डाला ?

टिप्पणी—'न बाँस रहना, न बाँसुरी बनती' । यदि समुद्र ने चन्द्र को  
पेट में ही रहने दिया होता आर ( इसके अतिरिक्त ) शिव ने ही यदि इसे

खा ढाला होता, कितना अच्छा होता ! न चद्र रहता, न उगता, न वियोगिनी पीडित होतीं । समुद्र और शिव के लिए यह कोई नया कृत्य नहीं है । समुद्र वडवाग्नि को तो उदर में रखता ही है, शिव बिप पान कर ही चुके हैं । एक दुःसह चद्र और सही । ऐसा प्रतीत हाता है कि चद्रमा वडवाग्नि और कालकूट भी अधिक असह्य है, इसी से समुद्र और शिव येन्द्र न कर सके । विद्याधर के अनुसार सदेह अलकार ॥ ६० ॥

असितमेकसुराशितमप्यभून्न पुनरेप पुनर्विशद विपम् ।

अपि निपीय सुरजनिताक्षय स्वयमुदेति पुनर्नवमाणंवम् ॥ ६१ ॥

जीवातु—असितमिति । आर्णवमणवे जात, 'तत्र जात' इत्यणप्रत्यय । अशित मेवैक विष कालकूटाख्यमेकेनैव सुरेण महादेवेन, अशित मिलितमपि, पुनर्नाभून्नाजनि । एष चन्द्रो नामाणंव विशद विप पुन सितविप तु सुरैर्वहुभिर्देवै 'प्रथमा पिबते वह्नि' रित्याद्युक्तक्रमेण, निपीय जनितक्षय कृतनाशमपि, स्वय नव सद्रूपेणैव, पुनरुदेत्यागच्छतीति व्यतिरेक ॥ ६१ ॥

अन्वय —असितम् आर्णवं विपम् एकसुराशितम् अपि पुन न बभूव, एष विशद सुरैः निपीय जनितक्षयम् अपि स्वय पुन नवम् उदेति ।

हिन्दी—काला समुद्रजात विष ( कालकूट ) एक देव ( महादेव ) द्वारा खा लिया जाने पर ही फिर न उत्पन्न हुआ, यह शुभ्र ( विष चन्द्र ) अनेक देवों द्वारा पिया जाकर नाश को प्राप्त होने पर भी अपने आप फिर नया उत्पन्न हो जाता है ।

टिप्पणी—समुद्र से एक नहीं दो प्रकार के विष जन्मे, एक काला कालकूट, दूसरा शुभ्र चन्द्रमा । कालकूट को गवेले शिव ने ही पिया था, फिर भी वह नष्ट हो गया । यह मफेद विष काले विष से अधिक प्रचंड निकला । अनेक अग्नि आदि देवता प्रतिमास ( कृष्णपक्ष में ) मिल कर इसका पान करते हैं और इसे पूजतया नष्ट कर देते हैं, परन्तु समूचा नष्ट होने पर भी—अश्चय है—यह फिर से नवीन होकर उत्पन्न हो जाता है । भाव यह कि चन्द्र रूप शुभ्र सामुद्र विष काले विष कालकूट से अधिक प्रबल, दृढ और विषम है । मल्लिनाथ के अनुसार व्यतिरेक, विद्याधर ने व्यतिरेक और विरोधालङ्कार का निर्देश किया है ॥ ६१ ॥



विरहिर्गर्वध्वज्यमनाकुल कथं पापन्जोक्ल त्रिपुन ।

मुरनिगमनुपान्मपापक ग्रहविदो विपरीतकथा कथम् ॥ ६२ ॥

जीवान्—विरहीति । हे मन्त्रि ! विरहर्वाङ्मे व्यमनेनामकथा, जाकुल सङ्कुल, सतन्द्रम् अशेषकल पूर्णकल, त्रिपु पाप कथ्य कुर विद्धि मुरनिगीता मुधा मन्त्र त क्षीणमित्यर्थ । क्षीण कथ्यमामान् । अवोऽभ्यन्तरस्याम् इति विकल्पाद् ह्रस्वभाव । अनाप एवापापकन्त मौम्य कलम् । तथा कार्यदर्शना दिति भाव । किन्तु ग्रहविदो देवज्ञास्तु कथं विपरीतकथा 'क्षीणे द्रवार्कमूपुत्रा पापान्मत्स्यपुत्रो बुध । पूर्वे च द्रवुषाचार्यशुक्रास्ते स्युः शुभग्रहा ॥' इत्येव विरुद्ध-वाच । अनुभवविरोधादग्राह्य तद्भावरमिति भाव ॥ ६२ ॥

अन्वय —विरहिर्गर्वध्वज्यमनाकुलम् अशेषकल विषु पाप कलय, मुर-निगीतमुधाकरम् अपापक, ग्रहविद कथं विपरीतकथा ?

हिन्दी—( मन्त्री, ) वियोगि-बृह के वध की आसक्ति मे अग्राकुल ( अथवा वियोगि-वध व्यसन के कारण अकुल अर्थात् नीच कुलोत्पन्न ) संपूर्ण कलावाले ( पूर्णिमाचन्द्र ) को पापी समझ और देवा द्वारा जिसका जमून भी लिया गया है, उन ( अमा-चन्द्र ) का निन्दान । ग्रहज्ञाता ( न जाने ) क्यों इसने विपरीत कहा करते हैं ।

टिप्पणी—ज्योतिःशास्त्रियों के कथनानुसार पूर्ण चंद्र शुभ ग्रह होता है और क्षीण चंद्र अशुभ । उन्होंने बताया है—'क्षीण चंद्र, सूर्य, शनि, मंगल और उनसे मयुक्त बुध पापग्रह होत हैं और पूर्ण चंद्र, बुध, बृहस्पति और शुक शुभ ग्रह ।' किन्तु पूर्णचंद्र वियोगिजनों को व्याधा देता है, अतः दमयन्ती के मतानुसार वही पापग्रह है, अमाचंद्र नहीं । वह ज्योतिःशास्त्र के वचन को इसी कारण झूठा मानती है, क्योंकि अनुभव से ग्रहवेत्ताओं का कथन सच्चा निश्चय नहीं होता । विद्याधर के अनुसार अतिसयोक्ति अलङ्कार ॥ ६२ ॥

विरहिर्भवंदुमानमवापि य स बहुल खलु पक्ष इहाजनि ।

तदमितिः सकलैरपि यत्र तैर्व्यरचि सा च तिथिः किममा कृता ॥ ६३ ॥

जीवान्—विरहिर्निरिति । य पक्षो विरहिर्नि बद्धमन सत्कारमवापि प्रापित, क्षीयमाणचन्द्रत्वादिति भाव । अवपूर्वादाप्नोतेऽप्यंतात् कर्मणि सुङ् । 'गतिबुद्धि'—इत्यादिना अपि कर्तुं कर्मत्वम् । 'अन्ते कर्तुं कर्म' इत्य-

भिधानात् । स विरहिमिवंहुकृत पक्षइहास्मिन् लोके बहुप्रकार लाति आदत्त इति व्युत्पत्त्या बहुल 'आतोऽनुपसर्गे क' न तु 'बहोऽलच्' इति भाव । अजनि जात । खल्वित्युत्प्रेक्षा । किञ्च तथापि, यत्र यस्या तिथौ सकलैरपि तैर्विरहिभि तदमितिस्तस्य बहुमानस्यामितिरपरिमितिव्यंरचि अकारि । नष्टचन्द्र-त्वादिति भाव । सा च तिथि अमा अमितिर्वहुमानस्यास्यामिति व्युत्पत्त्या अमा, अमानामिवा कृता किम् ? भातेर्भावायै सम्पदादिविपि नन्तमासे मत्वर्थीये चाकारप्रत्यये 'यस्येति चे'ति लोपे 'अजाद्यतष्टाप्' । न त्वमा सह-भावेऽस्मा सूर्यचन्द्रमसोरिति व्युत्पत्त्येत्युत्प्रेक्षा । अमेति सहायै अभ्यय, ततो भावप्रधानान्मत्वर्थीयाकाराट्पाप् ॥ ६३ ॥

अन्वय — विरहिभिः यः पक्ष बहुमानम् अवापि ॥ खलु इह बहुल अजनि, तैः सकलैः अपि यत्र तदमिति व्यंरचि किम् च सा तिथि अमा कृता ?

हिन्दी—वियोगियों ने जिस पक्ष (पक्षबारा) को अत्यन्त सम्मान दिया, वह यहाँ (जगत में) 'बहुल' (बहुमान प्राप्त करने वाला) काला पक्ष ही गया, उन सब (वियोगियों) ने ही जिस तिथि में उस (सम्मान) की अपरिमितता कही, क्या उसी तिथि को 'अमा' नाम दे दिया ?

टिप्पणी—'अमा' की सामान्यस्वीकृत व्युत्पत्ति है—'अमा सह वसतोऽस्या सूर्यचन्द्रमसोः' अर्थात् जिस तिथि में सूर्य-चन्द्र की 'अमा' अर्थात् 'सहवसति' (एक साथ वास) हो, वह अमा है । वियोगिनी दमवन्ती को चन्द्र व्या-कारक है, अतः वह 'अमा' की दूसरी व्युत्पत्ति करती है । उसका कथन है कि चन्द्र क्षपशील कृष्ण पक्ष को 'बहुल' इसलिए कहा जाता है कि वह वियोगि जन मान प्राप्त है—बहुमान लभते इति बहुल, बहु छातीति बहुल । अमावस्या को सम्मान अमित—अपरिमेय हो जाता है, अतः उस तिथि को—'अमिति बहुमानस्य यस्या सा अमा' यह विग्रह करके 'अमा' कहा जाता है । 'अमा' अर्थात् अतिमानवती तिथि । 'भानि' धातु से भावार्थ में संपदादि विप् करके नन् समास और मत्वर्थीय अकार प्रत्यय की, 'यस्य च' ( अष्टा० ६ । ४ । १४८ ) से लोप किया और 'अजाद्यतष्टाप्' ( अष्टा० ४ । १ । ४ ) से 'टाप्' करके 'अमा' निष्पन्न हो गया । विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा अलङ्कार ॥ ६३ ॥

स्वरिपुतीक्ष्णसुदर्शनविभ्रमात् किमु विधुं ग्रसते न विधुन्तुदः ।

निपतित वदने कथमन्यथा बलिकरम्भनिभ निजमुज्जति ॥ ६४ ॥

जीवानु—स्वेति । विधुन्तुदो राहु, विधु चन्द्र, स्वरिपोविष्णोस्तीक्ष्ण निशिन यत् सुदर्शनं तदिति विभ्रमात् सादृश्यमूलभ्रमात् ग्रसते किमु ? तालु-च्छेदमयादिति भावः । अन्यथा भयाभावे, वदने निपतिन वक्त्रान्तर्गतम् । अत एव, निज स्वायत्त, बलिकरम्भनिभम् उपहृतदध्युपतिक्तकनुसङ्ग, स्वाधि-प्रितमिष्यर्थः । 'करम्भा दजिसक्तव' इत्यमरः । एनमिति शेषः । कथमुज्जति उद्दिगर्तोत्तुप्रेक्षा ॥ ६४ ॥

अन्वयः—विधुन्तुद विधु स्वरिपुतीक्ष्णसुदर्शनविभ्रमात् न ग्रसते किमु, अन्यथा वदने निपतित बलिकरम्भनिभ कथम् उज्जति ?

हिन्दी—राहु चन्द्र को अपने बैरी ( विष्णु ) के तीक्ष्ण सुदर्शन चक्र के भ्रम से ठो कही नहीं ग्रस पाता है, अन्यथा मुख में पड़े बलि-पूजा के निमित्त रूप करम ( दही-भात ) के समान ( चन्द्र ) को छोड़ क्यों देता ?

टिप्पणी—राहु के द्वारा बारम्बार ग्रस्त होने पर भी चन्द्र बच क्यों गया ? कल्पना है कि राहु उसे अपना शिरच्छेद करनेवाले विष्णु का सुदर्शन चक्र समझ कर साते-साते डर कर छोड़ देता है । यदि उसे ऐसा भ्रम नहीं होता तो आकार-वर्ण साम्य से पूजार्थ उपहार में लाये करम ( दही-भात या दही-सत्तु ) के सदृश चन्द्र को वह खा नहीं खाता, मुह में रख कर भी छोड़ क्यों देता ? मस्तिनाय के अनुसार उपप्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार अनुमान ॥ ६४ ॥

वदनगर्भगत न निजेच्छया शशिनमुज्जति राहुरमंशयम् ।

अशित एव गच्छयमत्यय सखि ! विना गलनालविलाध्वना ॥ ६५ ॥

जीवानु—यदनेति । हे सखि ! यद्वा राहु वदनगर्भगतमास्यान्तःप्रविष्ट शशिन निजेच्छया स्वेच्छया, नोज्जति । असंशय सद्यो नास्ति । अर्थाभावेऽ-व्ययोभावः । किं स्वयं शशी अशितो गलित एव अत्यय विना अहृच्छेत्तेत्यर्थः । 'अन्ययोऽतिरुमे कृच्छ्रे' इति वैयाक्यनी । गलनालविलाध्वना कण्ठनालान्तं कुहर-मार्गेण, गलति निस्सरति । राहो शिरोमात्रत्वेन कण्ठनालनिस्सृतस्याशितस्य जठराग्निसंयोगविरहादस्य पापिष्ठत्वेन्दो पुनश्च इत्युपप्रेक्षार्थः ॥ ६५ ॥

अन्वय —सखि, राहु! वदनममंगत शशिनम् अमशय निजेच्छया न उज्जति, अक्षित एव अयम् प्रत्यय विना मन्नालबिलाध्वना गन्ति ।

हिन्दी—हे सखि, राहु मुंह के बीच पड़े चंद्र को नि सन्देह स्वेच्छा से नहीं त्यागता, स्याया ( निगला ) हो गया यह बिना नष्ट हुए कठनाली के छेद के भाग से निकल जाता है ।

टिप्पणी—राहुभुवन किंतु अवशिष्ट चन्द्र विषयक दूसरी सम्भावना । राहु का उदर ही नहीं है, राहु चन्द्र को खाता है, किंतु बिना गला पचा वह कण्ठनाली के छिद्र से बाहर आ जाता है । राहु के उदर न होने से चन्द्र नष्ट होने से बच जाता है । मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्यायर ने विरोधानाम माना है ॥ ६५ ॥

ऋजुदश कथयन्ति पुराविदो मधुभिद किल राहुशिरश्छिदम् ।

विरहिमूर्धभिद निगदन्ति न क्व नु शशी यदि तज्जठरानल ॥६६॥

जीवातु—ऋजुदश इति । ऋजुदश तादात्म्यकाममात्रदशिन , न त्वागामिकार्यदशिन इत्यर्थः । पुराविद पुराणज्ञा पूर्वपुरुषा , मधुभिद विष्णु, राहु-शिरश्छिद कथयन्ति किल । किलेति वार्तायाम् । विरहिमूर्धभिद वियोगिशिरश्छिद न निगदन्तीति काकु । तथैव कथनीयमित्यर्थः । कुतस्तस्य राहुर्जठरानलो यदि अस्तीति शेषः । शशी क्व नु ? न क्वापि स्यादित्यर्थः । राहुशिरश्छेदेन तदीयजठराग्निविच्छेदत्वाद्विरहिमारक शशिनमुज्जीयमनय विष्णुविरहि-शिरश्छेदीत्येव व्यपदेश्य न राहुशिरश्छेदीत्यर्थः ॥ ६६ ॥

अन्वय —ऋजुदशः पुराविद मधुभिद राहुशिरश्छिद कथयन्ति किल, विरहिमूर्धभिद ॥ निगदन्ति, यदि तज्जठरानल शशी क्व नु ?

हिन्दी—सरलदृष्टि अथवा यथादृष्ट प्राची पुराणेतिहास के वेत्ता मधु के नायक ( विष्णु ) को 'राहु का शिरश्छेता' कहते हैं, वियोगिजनों के सिरों का काटनेवाला नहीं कहते, यदि राहु के जठराग्नि ( पेट में आग ) होती, तो क्या कहाँ रह पाता ।

टिप्पणी—मधुरिपु विष्णु को राहु के सिर को काटनेवाला कहा जाता है, क्योंकि यह यथार्थ है कि उन्होंने अमृत-वितरण-काल में ऐसा किया था । किंतु वियोगिनी दमयन्ती की सम्मति में विष्णु को 'वियोगियों के सिर को

काटनेवाला' कहना अधिक उचित है, क्योंकि न वे छजन का जिरण्ड करते और न दिना उबर का 'जिरोनन-बोस' गड़गड़ाना और न चन्द्र बचन का न विजोती इन प्रकार व्यपिष्ट होना प्राप्त होते। यदि दिना गड़गड़ाने न करते तो कम्पन उत्पन्न करने वाला छजन दन्त को खोज और वह छजन को उड़ाने में सक्षम होता। विजोती को उनके कारण मर-वध न भोगनी पड़नी। कम्पन और दिना का है, इसका उत्तरदानिष्व उनके ही निम्ना चाहिए। विद्यावर के अनुसार हेतु बलकुर ॥ ६६ ॥

स्मरनवी दधिनिः स्मरवैरिणा मखनूगस्य यथा दन्ति निः ।

सुरदि मदपनूर्मयसौ दिवः सवि । तथा तनमोर्जि करोतु कः ॥६७॥

जोवानु—मखनूगस्य । दधिनि स्मरवैरिणा कायकान्तिनि स्मरनवी तनित्रे व, दिवा निदवी स्ववैरि, स्मरवैरिणा हरेण, दन्ति निम, मख एव मृग । तस्य मृगान्तरिणो नवस्तेन्य । जिरो यथा सुरदि मदपनू, संयोज-मानाननु । सो यस्य नित्र न तस्य वैरि निमोर्जिनि बुक्तम् । दिनु, हे सवि । मन्दनसो राहंरनि तथा धिरमृगान करानु । न कोनीयपं । हरस्य मखनूगस्योदे पुष्य प्रनाम्, बन्धिनो पुनस्तन्मनाते 'तस्य वै तौ यक्षस्य धिर प्रयत्नान्' इति श्रुति ॥ ६७ ॥

अन्वय—सवि, दधिनि स्मरनवी दिवा निदवी स्मरवैरिणा दन्ति मखनूगस्य निः यथा सुरदि मदपनू तथा तनमोर्जि करोतु कः करोतु ?

हिन्दी—हे सवि, देह-कान्ति से काम-सुखान्तरं स्वरं के बंधन (बन्धिनो कृमारों) ने कानारि (धिव) के द्वारा काटे गए-हरिण के छिर को जंतु दृश्य बोध दिया था, वैसे यह का छिर की कौन जोड़े ? (कोई नहीं जोड़ता) ।

टिप्पणी—धिर-वड जुड़ जाते तो राह पुनं देह बन जाता। स्वर्द्ध ऐसा कर सकते हैं क्योंकि उन्हें ऐसा किया था। श्रुति-प्रमाण है—'नव दन्त दोनों ने यक्ष-पुत्र का छिर जोड़ दिया।' दिव ने नम-नम का छिर बनाया था बन्धिनो-कृमारों ने जोड़ दिया, क्योंकि वे काम-सुख हैं। कानु-पुन के छिंद को उछटनेवा उनके लिए स्वानाविक है, इस प्रकार नित्र के पनु की बखानुवत उन्हें कर दो। यह का छिर वे क्यों जोड़ेंगे, क्योंकि उसे तो

शिव ने नहीं, विष्णु ने काटा है, जो काम के शत्रु नहीं हैं, प्रत्युत कृष्णावतार में 'कामघात' हैं। इस प्रकार राहु उदरविहीन ही रहेगा और उससे खाया चन्द्र सदा बचता रहेगा और विरही व्यथा पाते रहेंगे। खेद है। विद्याधर के अनुसार उपमा ॥ ६७ ॥

नलत्रिमस्तकिनस्य रणे रिपोर्मिलति किं न कवन्धगलेन वा ।

मृतिभियां भूषमुत्पततस्तमोग्रहशिरस्त्वदसृग्दृढबन्धनम् ॥ ६८ ॥

जीवातु—नलेति । अथवा, रणे नलेन विमस्तकितस्य तथापि मृतिभियां मरणभयेन भूषमुत्पतत उद्गच्छतो रिपो, कवन्धगलेन अपमूर्धकलेवरकण्ठेन मह तमोग्रहस्य शिर, तस्य गलस्यामृजा रक्तेन दृढबन्धन निविडसयोग स ए किं न मिलति न सङ्गच्छते ? तथा च सज्जठराग्निना चन्द्रो जीर्णदिति भावः ॥ ६८ ॥

अन्वय—वारणे मृतिभियां भूषम् उरगत नलविमस्तकितस्य रिपो कवन्धगलेन तमोग्रहशिर तदमृग्दृढबन्धन किं न मिलति ?

हिन्दी—अथवा युद्ध में मरणभय से अत्यर्थ आकाश की ओर उछलते, नल द्वारा मस्तक रहित किये शत्रु के घड़ की गरदन के साथ अघकार ग्रह ( राहु ) का शिर उस ( घड़ ) के रक्त से दृढ़ता के साथ जुड़ क्यों नहीं मिल जाता ?

टिप्पणी—राहु को उदरयुक्त करने का दूसरा प्रकार सकेतित है पूर्व श्लोक में बताया गया कि 'मस्तमृग' को दो देवर्षियों ने जोड़ दिया, पर राहु को जोड़ने वाला कोई नहीं है। यहाँ जोड़ने की संभावना इस प्रकार की गयी है कि चन्द्र है वियोगिजनों का शत्रु और राहु उसका शत्रु है। इस प्रकार राहु वियोगियों का मित्र हुआ। कोई वियोगी उसकी सहायता कर सकता है। नल बोर है, युद्ध में शत्रु बध करता है, वियोगी भी है। सप्राम में मरण—भय से आकाश की ओर उछलते शत्रु का मस्तक नल द्वारा जब कटेगा तब यह संभव है कि उसके घड़ के साथ बहते रक्त से राहु का शिर जोड़ दिया जाय, जिससे वह पूर्ण होकर चन्द्र का छा ले और वियोगियों को चैन दिने। ऐसा कोई वियोगी कर क्यों नहीं देता ? कर देना उचित है। विद्याधर द्वारा निदिष्ट अलंकार उत्प्रेक्षा ॥ ६८ ॥

सन्नि । जरा परिपृच्छ तमशिरस्सुमनो दधतापि वदन्वनाम् ।

मगधराजवपुर्दंष्ट्रमुन्मवन् किमिति न प्रतिसीव्यति केतुना ? ॥ ६९ ॥

जीवानु—ससीति । वदता, हे सखि । जरा जराव्या निशावर्ते परिपृच्छ ।

कसी जरा वदन्वनाम् अशिरस्सुमो दधतापि केतुना स्म केतुर्गहे । मह तमसो राहो शिर मानराजस्य जरावन्वस्य वपुर्दंष्ट्रां शरीरार्धभायो मुनवत् मुगलनिव, किमिति न प्रतिसीव्यति न सन्वसे ? । शिरोनात्र राहू शरीर-  
मात्र केतु तयो सज्जाने पूर्ववत्तज्जडपग्निना चन्द्रो बीर्मेदिति भाव । जरा-  
वृताङ्गवन्वना जरास्य इति भारती कथानुसन्धेया ॥ ६९ ॥

अन्वय—सखि, जरा परिपृच्छ—कसी वदन्वता दधत केतुना सम तमः  
शिर अनि मगधराजवपुर्दंष्ट्रमुन्मवन् किमिति न प्रतिसीव्यति ?

हिन्दी—हे सखी, जरा राजसी से पूछ—यह कथ ( यह ) ह्म घाते  
केतु के साम राहू का शिर भी मगध के राजा ( जरास्य ) ने शरीर के  
दोनों भागों के समान क्यों नहीं चिन्न देती ?

टिप्पणी—राहू को पूनाय करने का एक और उपाय । जरा नाम की  
राजसी ने एक शरीर के दो भागों को चिन्न दिया था, जिससे जरास्य बन्ना  
और मगध का राजा हुआ, जिसका श्रीकृष्ण ने भीमद्वारा बध कराया था ।  
जरा राजसी है, राहू भी राजसी है । यदि जरा को सदैव भेदा जाय तो वह  
राहू-केतु को जोड़कर एक कर सकती है । विद्याधर के अनुसार उपमा ॥६९॥

वद विबुल्लुदमालि । मदीरितैस्त्यजति किं द्विजराजधिया रिनुम् ।

किमु दिव पुनरेति यदीदृशः पतिन एष निरेव्य हि वासिनीम् ॥ ७० ॥

जीवानु—वदेति । हे वाञ्छि सखि । मदीरितैः मदीर्यैः विबुल्लुद राहू

वद, रिपु द्विजराजस्य चन्द्रो ब्राह्मणपेटुश्च, तद्विद्या त्यजति किम् ? तन्मानीत्याह-  
मद्यन्मादेव चन्द्रो वासिनीं प्रतीचीं सुरास्य । 'वासिनी गच्छद्वांसां प्रतीचींमूर-  
मोरनि' इति विश्व । निरेव्य मत्वा पीत्वा च । पतिर्यं चतुः पातकी च ।  
इदं पतिर्यं पुनरिवमग्निरसि स्वपंज्व एति यदि किम् । द्वोरनि  
पतिर्योरधोगतिरेव नोर्ध्वंतिरिप्यं । अत्र पतिर्यस्य कृत धैर्यं कुतन्तरा  
तद्वे दोषश्चेति भाव ॥ ७० ॥

अन्वय —आन्ति, मदीर्त्ति विष्णुन्तुद वद—रिपु द्विजराजधिया त्यजमि किम् यत् एष ईदृश पठितं हि वारुणी निपत्य दिव पुन किमु एति ?

हिन्दी—जरी सही, मेर बचन विठ्ठलीडक ( राहु ) से कहूँ—क्या यह शत्रु का ब्राह्मण समझ कर छाड़ रहा है ? जब कि यह ऐसा पठित ( गिरा हुआ, नीच ) है तो फिर वारुणी ( मदिरा तथा वरुण की दिशा पश्चिम ) का सञ्चन कर 'द्यौ' ( आकाश स्वर्ग ) में पुन भ्रजा कैसे है ?

शिष्यणी—दमयन्तां कहती है कि राहु को क्या दो यह चन्द्र को ब्राह्मण समझ कर क्षमा न कर, यह तो मद्यसेवन करनेवाला ब्राह्मण है पठित—नीच जाने कौन स्वर्ग में पहुँच गया है ? यही द्विजराज ( तारों का राजा, ब्राह्मण ), वारुणी ( मदिरा, पश्चिम दिशा ) द्यौ ( आकाश, स्वर्ग ) और पठित ( नीचे गिरा, पातकी ) शब्द अनेकार्थक हैं । द्विजराज ( ताररूपति ) इतना गिरा हुआ और निर्लज्ज है कि पश्चिम दिशा में झूब कर भी फिर फिर आकाश में आघरता है । सला आदमी अपराध करके बार-बार फिर बैसा ही करने को मुँह नहीं दिखाता । यह चन्द्र ही ऐसा नीच है । चन्द्र को ब्राह्मण मान राहु छा जाने से न चूके, यह तो मदिरापायी ब्राह्मण है, इस पियक्कड़ को न जाने क्यों स्वर्ग में घुसने दिया जाता है ? चन्द्र तो बस नाम का ही ब्राह्मण है, बस पठित है, वारुणी मेधी । विद्याधर के अनुसार समासोक्ति अलङ्कार । हिन्दी के सङ्कृत पठित, आचार्य, कवि केशवदास का ऐसा ही एक दोहा द्रष्टव्य है—'जही वारुणी की करी रचक रुचि द्विजराज । उही किया भगवन्त धिन सपति द्यौमा साज ॥'—रामचन्द्रिका—५।१४ ॥ ७० ॥

दहति कण्ठमय खलु तेन किं गृहवद् द्विजवामननोज्झित ? ।

प्रकृतिरस्य विद्युन्तुद । दाहिका मयि निरागसि का वद विप्रता ? ॥७१॥

जीवातु—दहतीति । विद्युन्तुद । अयं विद्यु द्विजवासनया द्विजत्वसामाये-  
नेत्यय । पातित्मेऽपि जातेरनपामादिनि भाव । गृहवद् गृहस्येव 'तत्र  
स्येव' इति वतिप्रत्यय । ते तव कण्ठ दहति सन्तु । विद्यु तेन दाहेनाञ्जित  
किम् ? अस्य विप्रता का वद, न वापीत्यर्थ । तथा हि, अस्य विप्रो प्रकृति  
निरागसि निरपराधाया मयि दाहिका दग्धी । अनपराधस्त्रीधातुवस्य कुतो  
ब्राह्मणत्वमियम् । 'आशोज्जराशो भानुश्च' इत्यमर । पुरा किञ्च धूमिनेन गम्भिरा



नित्रादेवेन म्लेच्छान् नक्षयता नृनिम्नि अष्टद्विजं नञ्चित् तद्गवगनेन सहस्रो-  
द्वीपं इति पौराणिकी कथा । तथा माघब्राह्म—‘विप्र पुरा पतमराद्विजं नित्रं-  
नार’ इति ॥ ७१ ॥

अन्वय —विष्णुमुद, क्या कि कल दहति तद्वत् द्विजवासनया उज्जित ?  
अन्य प्रहृति दाहिका, निगमसि मयि का विपत्ति ? इति ।

हिन्दा—हे चन्द्रपीठक ( राहो ) यह ( चन्द्र ) क्या ( खाने सम्य ठेरा )  
कल जलाना है, जिसने तद्वत् के समान ( तूने देने ) बाह्य-बुद्धि से छोड़  
दिया, जन्मना इसका स्वभाव है, अन्यथा निरपराधिनी भूमि पर यह कौन-सी  
शाहानुता दिखा रहा है ? कह ।

टिप्पणी—पुराण-कथा है कि माछा जिनका को दासता से मुक्ति दिलाने  
के लिए जमुव जाते तब ने निपादाद्विज ब्राह्मण को खा जाना चाहा था ।  
उन्हें करघर का बंधन था कि ब्राह्मणातिरिक्त सब को मारें में गरद खा  
सकते हैं । ब्राह्मण को पहिचान यह है कि उसे खाते ही गला बगने लगे ।  
सो निपादाद्विज ब्राह्मण को मूख में रखते ही तब के गले में जन्म होने लगे  
और उन्होंने उसे ब्राह्मण समझ कर छोड़ दिया । इस लोक में इसी पुण्य-  
कथा का आश्रय लिया गया है कि राह ने—गले में बाह कर रहा है, इस  
लिए चन्द्र ब्राह्मण है सो-उने गरद के समान ही छोड़ दिया । दमयन्ती  
चन्द्र के वारणी-सेवन की ओर संकेत करते कह रही है कि चन्द्र माघ का ही  
‘द्विजराज’ है, कर्म में तो यह पतिव्रता शराही है । निरपराध का सजाने वाला  
भी कहां शाहान होता है ? इसकी प्रकृति ही है—पर पीडन । विप्रावर के  
अनुसार अतिगोमति और उन्मात्कार ॥ ७१ ॥

संख्या कलया किल दष्ट्या समवधाय यमाय विनिर्मितः ।

विरहितागचर्वणमाधन निष्ठुरतो द्विजराज इति श्रुत ॥ ७२ ॥

जीवानु—मक-येति । विष्णु सकलया वया मक-यामि, कलानिरेव  
दाष्ट्या दष्टामि, दन्तविशेष प्रकृतिद्वन्द्वे । उन्मत्त या देववचनम् । यमाय  
वन्तकार्यं समवधाय सम्यावहितीमूख, विरहितागत्व चर्वणमाधन किञ्चिद्भू-  
तासानन विनिर्मित, किल ब्रह्मणेति शेष । अतोऽन्मादष्ट्याविशेषत्वाद् ‘द्विज-  
राज’ इति श्रुत न तु विप्रविशेषत्वादियर्थः । ‘दन्तविप्राञ्जला द्विज’ इत्यमरः ।

धतो नायमुपेक्ष्य इति भावः ॥ ७२ ॥

अन्वय—विष्णु सकलया कलया दष्ट्रया समवधाय किं यमाय विरहिणी-  
गण्य चर्वणसाधनं विनिर्मितं अतः द्विजराज इति श्रुतः ?

हिन्दी—चन्द्र सपूर्ण कला रूप दष्ट्राओं से भली भाँति समोजन करके  
क्या यम के लिए विरहिणियों को चबाने का साधन बनाया गया है, इसीसे  
'द्विजराज' ( दाँतो का राजा ) प्रसिद्ध है ?

टिप्पणी—चन्द्र का जो 'द्विजराज' विरह है, वह इसलिए नहीं कि वह  
ब्राह्मणभेष्ट है यह तो इसलिए 'द्विजराज' है कि दष्ट्राओं से इसका निर्माण हुआ  
है, जिससे यमराज वियोगिणियों को चबा डालता है ? हृया करने का यत्र है  
यह—दाँतों का राजा । विद्यापद ने इस लोक में अपहृवोत्प्रेक्षा का निर्देश  
किया है ॥ ७२ ॥

स्मरमुखं हरनेत्रहुताशनाज्ज्वलदिदं विधिना चकृपे विष्णुः ।

बहुविधेन वियोगिवधेनसा दशमिपादयः कालिकयाङ्कितः ॥ ७३ ॥

जीवातु—स्मरमुखमिति । अथ विष्णुश्चन्द्रो नामेदं स्मरमुखं ज्वलत् प्रज्वल-  
देव विधिना दैवेन हरनेत्रहुताशनान्चकृपे मध्ये आकृष्टः । अथवा बहुविधेन  
वियोगिवधेन यदेन पापं, तेनैव कालिकया श्यामिकया, दशमिपादङ्कितः ।  
दाहकालिमा वा, पापकालिमा वा दशमिपादं दृश्यत इति सापहृवोत्प्रेक्षा-  
द्वयम् ॥ ७३ ॥

अन्वय—अथ विष्णु इह क्वलत् स्मरमुखं विधिना हरनेत्रहुताशनान्  
चकृपे, बहुविधेन वियोगिवधेनसा कालिनया दशमिपादं अङ्कितः ।

हिन्दी—अथवा चन्द्ररूप इस दहकते काममुख को विधाता ने शिव के  
तृतीय नेत्र की आग से बनाया है, अनेक प्रकार से वियोगि जनों के वध के  
पाप की शोक कलश सख्ते के व्याज से इस पर रखा दी गयी है ।

टिप्पणी—चन्द्र की दाहकता और पातक का घातन । मल्लिनाथ के  
अनुसार दो सापहृवा उत्प्रेक्षाएँ, जिनका चन्द्रप्रमाकार ने दो प्रतीपमान  
उत्प्रेक्षाओं और अपहृनुति के अगमिभाव सत्कर रूप में निर्देश दिया है ।  
विद्यापद इस लोक में एक और अपहृनुति मानते हैं ॥ ७३ ॥

[ द्विजपतिप्रसनाहितपातकप्रभवकुष्ठमिनीकृतविग्रह- ।

विरहिणीवदनेन्दुजिघित्सया स्फुरति राहुग्न्य न निशाकर ॥ १ ॥ ]

[ अन्वय — विरहिणीवदनेन्दुजिघित्सया द्विजपतिप्रसनाहितपातकप्रभवकुष्ठ-  
मिनीकृतविग्रह अयं राहु स्फुरति, निशाकर न ।

चरित्रवर्णनकृततिलकव्याख्या—द्विजपतीति ॥ मो सखि, विरहिणीना  
वियोगिनीना वदनेन्दुजिघित्सया मुखचन्द्रमक्षणेष्वप्या राहुरेव स्फुरति न  
निशाकर । कौहय — द्विजपतिश्चन्द्रो विप्रभेदश्च तदप्रसनात्तदग्रहणादाहित  
यत्पातक तस्मात्प्रभवमुत्पन्न यत्कुष्ठं तेन मिनीकृतो घबलीकृतो विग्रहः ।  
शरीर यस्य स तथा ॥ संप्रकोऽयम् ॥

हिन्दी—वियोगिनियों के मुखचन्द्रों को खाने की इच्छा से द्विजराज  
( चन्द्र और ब्राह्मणभेद ) को प्रसने के पातक से उत्पन्न कुष्ठ के कारण घुभ्र  
शरीर वाला यह राहु ही बनकर रहा है, निशाकर ( चन्द्र ) नहीं ।

टिप्पणी—भाव यह है कि यह जो आकाश में चमक रहा है, वह वस्तुन  
घुमग्रह चन्द्र है ही नहीं, यह तो पापग्रह राहु है । इसने जो चन्द्र को ग्रस कर  
ब्रह्म हत्या की है, उसी के पाप से इसे काब हो गया है, जिससे घुभ्र होकर  
यह चन्द्रना का भ्रम उत्पन्न कर रहा है । इसी कारण तो यह इतना क्लेश  
कारक है । जिनराज की सुखावशेष व्याख्या में इस पर टिप्पणी है—‘अनेन  
ब्रह्महत्याविर्भूतं फलमनुभवतोऽपि पुनः स्त्रीहत्याकरणोद्यतम्यास्य नास्ति त्रपेत्य  
मिश्राय ।’ इमने एक बार ब्रह्महत्या-पातक का फल तो पा लिया, पुन  
स्त्रीहत्या करने को तैयार है, लाज भी नहीं जाती अपहृनुति अलंकार । ]

इति विषोर्विविधोक्तिविगर्हणं व्यवहितस्य वृथेति विमृश्य सा ।

अतितरा दधती विरहज्वर हृदयभाजमुपालभते स्मरम् ॥ ७४ ॥

जीवानु—इतीति । अतितरामतिमात्रम्, अन्ययानाम्प्रत्यय । विरहज्वर  
दधती सा दमयन्ती इतीत्य, व्यवहितस्य विप्रकृष्टस्य, विषोर्विविधोक्तिवि-  
गर्हणं निन्दा वृथेति विमृश्य, अरण्यवदितप्रायमिति विचार्य, हृदयभाज सन्नि-  
हित स्मरमुपालभत निनिन्द । पाञ्चिकफलमग्न्यावनयेति भावः ॥ ७४ ॥

अन्वय—अतितरा विरहज्वर दधती सा व्यवहितस्य विषा इति

विविधोक्तिविगर्हणं वृथा इति विमृश्य हृदयमाज स्मरम् उपालयत ।

हिन्दी—अत्यन्त वियोग-ताप से पीडिता वह ( दमयन्ती ) दूरस्थित चन्द्र को इस प्रकार अनेक कयनो से निन्दा व्यर्थ है—यह विचार कर हृदयस्थित काम को उलाहना देने लगी ।

टिप्पणी—दूर आकाश में रहते चाँद को गरियाने से क्या लाभ ? भीतर बैठे काम से कहना उचित है ॥ ७४ ॥

हृदयमाधयसे वत मामक ज्वलयसोत्थमनङ्ग । तदेव किम् ? ।

स्वयमपि क्षणदग्धनिजेन्धनं क्व भवितासि ? हुताश । हुताशवत् ॥ ७५ ॥

जीवातु—हृदयमिति । हे अनङ्ग ! ममद मामकम् । 'तवकममावेकवचने' इत्यपि मम' कादेश । हृदयमाधयसे । तदेवेत्य किं ज्वलयसि वहसि ? वत । हुताश दुर्बुद्धे ! स्वयं त्वमपि, हुतमश्नातीति हुताशोऽग्निः, कर्मण्यणु । तद्वत् क्षणदग्धनिजेन्धनो दग्धाश्रयं सुभित्यर्थः । क्व भवितासि क्व भविष्यसि ? न क्वापीत्यर्थः । अनद्यतने लुट् । परहिंसाभ्यसनेनारम्भनाशं न पश्यमीत्याशयेन हुताशोत्थामन्त्रणम् ॥ ७५ ॥

अन्वय —अनङ्ग, वत मामक हृदयम् आधयसे, तत् एव इत्य किं ज्वलयसि ? हुताश, स्वयं हुताशवत् क्षणदग्धनिजेन्धनं क्व भवितासि ?

हिन्दी—अरे अतनु काम, खेद है कि तू मेरे हृदय का आधय लिये है, उसे ही इस प्रकार क्यों जला रहा है ? अरे दुष्ट आकाशा करने वाले, स्वयम् हुत को ज्वाने वाले अग्नि के तुल्य क्षण में अपने ईंधन को जला डालकर ( तू ) कहीं होगा ?

टिप्पणी—काम को उपालयन् देती हुई दमयन्ती ने कहा कि मूल काम, तू तो वह मूर्खतामय कार्य कर रहा है कि जिस डाँठ पर बैठा है, उसे ही काट रहा है । मेरे हृदय में घर बनाये है, उसे ही जला रहा है । जब तेरा बसेरा ही जल जायेगा, तब तू रहेगा—बसेगा कहीं ? यह तो तू आग के समान कर रहा है कि जिस इन्धन पर वह आश्रित होनी है, उसे ही जलाकर राख कर देती है और स्वयं भी नष्ट हो जाती है । ऐसे ही तेरी भी दशा होगी । विद्याधर के अनुसार यहाँ उल्लेख्य अलंकार है अनुपाम और उपमा ॥ ७५ ॥

पुरभिदा गमितस्त्वमदृश्यता त्रिनयनत्वपरिप्लुतिशङ्कया ।

स्मर । निरक्षयत कस्यचनापि न त्वयि किमक्षिगते नयनैस्त्रिभिः ॥ ७६ ॥

जीवातु—पुरभिदेति । हे स्मर ? त्वम् अक्षिगत इति शेष । अनक्षि-  
मन्निवृष्टस्याक्षा दग्धमशक्त्यन्वादक्ष्यस्य च दाहायोगादिति भाव । पुरभिदा  
हरेण, त्रिनयनत्व व्यञ्जित्व, क्षुब्भादित्वाष्णत्वाभाव । तस्य परिप्लुतिशङ्कया  
तृतीयाक्षिवैयर्थ्यमयेनेतरत्वे न । अदृश्यता गमितो नाश प्रापित, 'गतिबुद्धि'—  
इत्यादिना अणिकर्तुं कर्मत्वे तत्रैव कन ! 'प्यन्ते कर्तुंश्च कर्मण' इति वचनात् ।  
किन्तु, कस्यचनापि यस्य कस्यचिदपि जनस्याक्षिगते रण्णोचरे द्वेप्ये च । 'द्वेप्ये  
त्वक्षिगतो बध्य' इत्यमर । त्वयि त्रिभिर्नयनै किं न निरक्षयत, किमिति न  
निरीक्षितम् । अनोऽस्य त्रिनयनत्व व्यर्थमेवेत्यर्थ । स्वाक्षिगत इव माह्नाक्षि-  
गतेऽपि त्वयि तृतीयाक्षिनिरीक्षणमावादपरोपकारिणस्तस्य वैयर्थ्यं, निरीक्षणञ्च  
देवस्य जिनकामत्वादप्येषा तु कामजितत्वादुत्प्रेक्ष्यत इति । त्वयि निरक्षयते-  
त्यत्र कर्मणोऽपि स्मरस्य अनेकंशक्तिनयुक्तस्येति न्यायेन मातरि प्रहृतमित्या-  
दिवदाधारत्वविवक्षायां विवक्षितकर्मकादीक्षतेर्भावे लकार । 'प्रसिद्धेरविवक्षात्  
कर्मणोऽकर्मिका क्रिया' इति वचनात् ॥ ७६ ॥

अन्वय — स्मर, त्वम् पुरभिदा त्रिनयनत्वपरिप्लुतिशङ्कया अदृश्यता  
गमित, कस्यचन अपि अक्षिगते त्वयि त्रिभि नयनैः किं न निरक्षयत ?

हिन्दी—हे काम, तुझे पुरारि ( महादेव ) ने ( अपने ) तीननेत्र होने  
की अतिव्याप्ति अथवा व्यर्थता की शका से विरुद्ध कर दिया था, परतु  
तुम्हारे किसी जन के भी अक्षिगत ( प्रत्यक्ष और शत्रु ) होने पर क्या (उसने)  
तीन नेत्रों से ( क्रोध युक्त हो ) नहीं देखा ? अपितु देखा ही । अथवा 'किम्'  
का अर्थ 'कि-तु' मानने पर तुम्हारे अक्षिगत ( प्रत्यक्ष अर्थात् शत्रुत्व ) होने  
पर किसी ने भी तीन नेत्रों ( क्रोध ) से नहीं देखा ।

टिप्पणी—'अक्षिगत' (प्रत्यक्ष और द्वेष योग्य—'आँख में सटकने वाला')  
और 'त्रिनयनत्व' ( तीन नेत्र होना और क्रोध ) अनेकाय शब्द हैं । शिव को  
त्रिनेत्र माना गया है, तीसरा नेत्र ज्ञान नेत्र भी कहा जाता है । यही कल्पना यह  
की गयी है कि शिव के समुक्त जब काम शत्रुत्व में प्रवृत्त हुआ तो उन्होंने

उसे अनग कर दिया । यह इस लिए कि यदि वे ऐसा न करते तो उनका 'त्रिनेत्रत्व' अतिव्याप्त अतएव व्यर्थ हो जाता । काम जब अन्य व्यक्तियों को 'अक्षिगत' होता तो वे भी 'त्रिनेत्र' अर्थात् क्रोधयुक्त हो जाते हैं । जब शिव ने उसे क्षार कर अप्रत्यक्ष कर दिया तो अब कोई 'त्रिनेत्र' न होगा और शिव के त्रिनेत्रत्व की अतिव्याप्ति न होगी । केवल शिव 'त्रिनेत्र' रहेगे, अन्य कोई नहीं । इसके अतिरिक्त कामदहन से पूर्व शिव का तीसरा नेत्र व्यर्थ पड़ा था, उसका उपयोग हो गया, व्यर्थता भ्रूच गयी । त्रिनेत्रधारी शिव परमज्ञानी हैं, यदि तृतीयनेत्र—ज्ञाननेत्र रहने पर भी वे कामदहन न करते तो उनका ज्ञान-नेत्र सार्थक ही नहीं होता, व्यर्थ हो जाता ।

परन्तु शिव का यह कार्य चरिताय नहीं हुआ, जब-जब नर-नारी को काम 'अक्षिगत' ( द्वेषी शत्रु ) हो व्यथित करने लगता वे त्रिनेत्र ( क्रोधयुक्त ) होते ही थे । अथवा शिव का यह कार्य इस लिए भी सार्थक नहीं हुआ कि काम के 'अक्षिगत' ( प्रत्यक्ष अर्थात् आविर्भूत ) होने पर कोई 'त्रिनेत्र' होता ही नहीं, सभी कामानन्दलीन हो जाते हैं । शिव की 'त्रिनेत्रता' अतिव्याप्त—परिप्लुत होती ही नहीं है । काम के 'अक्षिगत' होने पर किसी का 'त्रिनेत्रत्व' मिलता ही नहीं, क्रोध आता ही नहीं । कहाँ सब 'त्रिनेत्र' ( ज्ञानी ) हो सकते हैं ? अतः शिव की यह आशङ्का व्यर्थ ही थी । भाव यह है कि 'त्रिनेत्रत्व-परिप्लुतिशङ्का' दोनों स्थितियों में व्यर्थ हो गयी । यदि यह माना जाय कि कामाक्रांत होने पर सब 'त्रिनेत्र' ( क्रोधपूर्ण ) हो जाते हैं, तब भी शिव का काम को 'अक्षय' करदना साधक न हुआ, 'परिप्लुति' हो ही गयी । यदि यह माना जाय कि कामाविष्ट हो कोई 'त्रिनेत्र' ( क्रोधमय अथवा ज्ञानी ) नहीं होता तब आशङ्का ही व्यर्थ थी । विद्याधर के अनुसार उत्प्रेषालकार ॥ ७६ ॥

सहचरोऽसि रसेरिनि विश्रुतिस्त्वयि वमत्यपि मे न रतिः कुत ? ।

अयं न सम्प्रति सङ्गनिरास्त वामनुमृता न भवन्तमिय किल ॥७७॥

जीवातु—सहचर इति । हे स्मर ! रते रतिदेव्या, सन्तुष्टेऽसि सहचरोऽसीति विश्रुतिः प्रसिद्धिः त्वयि वमति हृदयस्वे सत्यपि मे कुतो रतिः ?

अथवा, सम्प्रति वा भुवयो नङ्गतिर्नान्ति । नुत, दय रनिर्भवत् नानुमृता  
किल । किमेति वार्तायाम् । अनुसरामावादनङ्गतिर्भुक्तेभ्यः । अत्र प्रीति-  
रक्षणाय रतेरेव्या न्हाभेदाध्यवनात्तादनुनाम्न । अत्र त्वातिशयोक्तिर-  
लङ्कार ॥ ७३ ॥

लम्बय—रते सहचरः इति इति विधुति, तन्मि वसति अपि ये नुत  
रति न ? अथ सम्प्रति वा सङ्गति न कस्मि, इय भवन्त न अनुमृता किल ।

हिन्दी—कान तुम रति ( स्नेही ) के सहचारी हो, ऐसा विष्पाद है,  
किन्तु तुम्हारे ( मेरे हृदय में ) बसने पर भी ( वहाँ ) रति ( प्रीति, सरोप,  
प्रियसङ्ग ) क्यों नहीं है ? अथवा ( ऐसा स्पष्ट है ) बावजूद तुम दोनों  
( रति-काम ) का साथ नहीं है, वह ( रति ) तुम्हारे दग्ध होनेपर मरी भी  
सो नहीं है ।

टिप्पणी—यह श्रुति प्रसिद्धि वेद-वाक्य दो प्रकार से दीक्ष नहीं है कि  
रति-काम सहचर हैं । एक तो दमयन्ती के हृदय में काम है, किन्तु रति  
( प्रियमा ) नहीं, दूसरे काम के साथ रति ने मरम भी नहीं स्वीकारा । दोनों  
प्रकार से 'श्रुति' प्रमाणित नहीं होती । कामाविष्ट दमयन्ती को 'रति' भी प्राप्त  
हीनी और काम के साथ रति भी अछ मरती तो 'श्रुति' सत्य सिद्ध होती ।  
और जब काम दग्ध हो गया, रति नहीं हुई तो वे साथ रहे ही नहीं, दमयन्ती  
के हृदय ने काम के साथ रति कैसे आती ? मन्दिनाय के अनुसार यहाँ प्रीति-  
रक्षण रति का कामन्ती रति के साथ रतेरेव्याव्याज होने के कारण अति-  
शयोक्ति अलङ्कार है, विदाधर के अनुसार विभावना और हेतु ॥ ७३ ॥

रतिदियुक्तमनात्मपरज । किं स्वमपि मामिव तापितवानसि ? ।

कथमन्तापमूनस्तव नङ्गमादिनरया हृदय मम दहते ? ॥ ७४ ॥

औवानु—रतीति । जान्मान परस्व न जानातीत्यनात्मपरज संबंधातुक  
भार । मामिव रतिविमुक्त स्वनात्मानमपि तापितवानमीत्युल्लेख । नुत,  
इतरथा स्वाश्रयतापने, अन्तापनृत्तापरहितस्य तव सङ्गमात् सम्पर्कामम  
हृदय कथं दहते ? तत्सम्पर्कात्तापो नातस्तत्पर्कादिभ्यः । सन्तापनादपि,  
स्वयमनुपेन त्वना परसत्तां क्रियते यथा तच्छीलैस्तप्तमुहं शिलीमुखैरिति  
भाव ॥ ७४ ॥

अन्वय — अनात्मपरज्ञ, त्व रतिवियुक्त स्वम् अपि माम् इव किं तापित-  
वान् असि, इतरथा अतापभूत तव सङ्गमात् मम हृदय वय दहते ?

हिन्दी—अरे अपना और पराया ( लाम हानि ) न समझने वाले (काम)-  
तू ने रति ( स्वप्रिया ) से विरहित अपने को भी ( रति अर्थात् प्रियसग-  
विहीना ) मेरे समान क्या मतलब कर रहा है, अन्यथा असतलब तेरे सग से मेरा  
हृदय क्यों जला जाता है ?

टिप्पणी—भर्तृहरि के अनुसार कुछ व्यक्ति स्वाथ-नाश के मूल्य पर पूष-  
का कार्य सिद्ध करते हैं, वे सत्पुरुष होते हैं, उत्तम जन । कुछ स्वाथ नाश न  
होने देकर परीपकार करते हैं, वे मध्यम जन कहाते हैं । नोब वे होते हैं,  
जो परहानि करके स्वाथ सिद्ध कर लेते हैं । एक चौथे प्रकार के व्यक्ति होते हैं—  
राजपि ने कहा है कि हम नहीं जानते वे किस कोटि में आते हैं—‘ले के न  
जानीम हे’—ऐसे व्यक्ति स्वय को पीड़ित करके भी परपीडन अपना धर्म  
समझते हैं । खुद तो हूबेंगे, भगरे यार को ले हूबेंगे ।’ इनके लिए मुख्य है—  
परपीडा, भले ही स्वय भी पीडा सहनी पड़े । दमयन्ती के अनुसार काम भी  
इसी कोटि का है, जो स्वय ताप सह रहा है और दमयन्ती को ताप दे रहा  
है । न अपनी सुध, न परायी सुध । विद्याधर ने अनुसार इस पद्य में अनुमान  
और उपमालकार हैं ॥ ७८ ॥

अनुममार न मार । कथं नु सा रतिरिति प्रथितापि पतिव्रता ।

इयदनाथवधूवधपातकी दयितयापि तथासि किमुज्झित ? ॥ ७९ ॥

जीवातु—अनुममारेति । हे मार मारक । पतिव्रतेति प्रथितापि सा रति  
कथं नानुममार कथं नानुमृता ? ‘मृते च्रियेत या नारी सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता’  
इत्यनुस्मरणादिति भाव । अथवा, इयद्भिरेतावद्भिरमरपरित्यगं । अनाथ-  
वधूना वियोगिस्त्रीणा, वधूः पातकी त्व तथा दयितयापि विरहमसहमानयापीति  
भाव । उज्झित त्यक्तोऽसि किमिष्टुःप्रेक्षा । ‘आशुद्धे सप्रतीदयो हि महा-  
पातकद्रूपित’ इति स्मरणादिति भाव ॥ ७९ ॥

अन्वय — मार, पतिव्रता इति प्रथिता अपि सा रति कथं न अनुममार,  
इयदनाथवधूवधपातकी दयितया अपि तथा किम् उज्झित असि ?



हिन्दी—अर मारक ( काम ), 'निवृत्ता'—विद्यास भी उस रति ने क्यों अनुमरण नहीं स्वीकारा ? अर, इनके अन्तर्गत ( नागरहिता प्रिय-विद्युक्ता ) वसुधा के वध का जान नूने दिया है कि 'उस दन्ति' ( दन्तायुक्ता, प्रिय पत्नी ) ने भी क्या तुझे छोड़ दिया ?

टिप्पणी—निवृत्ता रूप में प्रसिद्ध रति ज्ञान के साथ सज्जों का विद्वत् इस कारण नहीं हुई कि वह महापातकी है, अनेक वियोगिनियों की हत्या का पातक उसके सिर पर है। दयावती रति भी उस पर दया न दिखा सकी, ऐसा पापी है काम। याज्ञवल्क्यस्मृति ( आचाराध्याय ) के अनुसार महापातकी के मुँह होने की प्रतीक्षा करना ही उचित है, महमरण नहीं। विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में अतिसयोक्ति और उत्तरेक्षालकार हैं ॥ ७९ ॥

सुगत एव विजित्य जिनेन्द्रियस्त्वदुत्कीर्तितनुं यदनामयत् ।

तव तनूमवशिष्टवती तन समिति भूतमयीमहर्द्धरः ॥ ८० ॥

जोवानु—सुगत इति । जिनेन्द्रियो वशी सुगतो बुद्ध एव विजित्य, तव उक्त महती कीर्ति एव तनु शरीर, यद्यस्मादनामयत् नाशितवान् । तत कारणादवशिष्टवतीमवशिष्टा भूतमयी पाञ्चभौतिकी तव तनु समिति मुँह हर चम्पूरहरत् मम्मभीषकारेत्यर्थः । तथापि निर्लज्ज कथमित्यमस्मादज्ञानकरा व्ययमयीति विस्मिता स्म इति भावः ॥ ८० ॥

अन्वय—यत् जिनेन्द्रिय सुगत एव विजित्य त्वदुत्कीर्तितनु बनामयत्, तत अवशिष्टमयी भूतमयी तव तनु समिति हर अहम् ।

हिन्दी—क्योंकि इन्द्रियवती सुगत बुद्ध ने ही जीतकर तरे ( काम के ) महापातक शरीर को नष्ट कर दिया था, उस कारण से अवशेषमय पञ्चभौतिक तरे शरीर को मुँह में हर ( महादेव ) ने हरा ।

टिप्पणी—भाव यह है कि काम इतना दुष्ट है कि उसे सब बल्य मानते हैं। बुद्ध ने मारा, शिव ने मारा। बुद्ध ने पहिले उमका दण्ड हरा, कीर्तिहीन काम-शरीर शिव ने नष्ट कर दिया। बन्नुत यश शरीर हो तो महन्वयुक्त होता है, उसके न रहने पर तो जो रह जाता है, वह 'भूतमय' है, पिशाच-शरीर काम को पिशाचता से शिव को मुक्ति देनी ही थी। परन्तु आश्चर्य यह है

किं पूर्णतः नष्ट होने पर भी काम व्यथित करता है। विद्याधर के अनुसार रूपक अलंकार ॥ ८० ॥

फलमलभ्यत यत्कुसुमेऽस्या विषमनेत्रमनङ्ग । निगृह्यता ।

अहह नीतिरवाप्तमया ततो न कुसुमेरपि विग्रहमिच्छति ॥ ८१ ॥

जीवातु—फलमिति । हे अनङ्ग ! विषमनेत्र न्यस्य, कुसुमनिगृह्यता निगृह्यता प्रहरतेत्यर्थः । त्वया यत्फलमरणरूपमलभ्यत । ततस्तस्मात् फलादवाप्तमया-प्राप्तमया नीतिः, सर्वथा साधनान्तरेणापि वैरनिर्यातन कार्यमित्येव रूप (कथी), कुसुमेरपि विग्रहं नेच्छति । अहहेत्यद्भुते । किमुत साधनान्तरं 'युष्मेरपि न योद्धव्यं किं पुनर्निश्चितं, धारं'रिति नीत्या कुसुमान्यपि भोक्तुं विभेपीति भावः ॥ ८१ ॥

अन्वयः—अनङ्ग, विषमनेत्र कुसुमं निगृह्यता त्वया यत् फलम् अलभ्यत अहह तत् अवाप्तमया नीतिं कुसुमं अपि विग्रहं न इच्छति ।

हिन्दी—अरे अङ्गहीन ( काम ), असम ( हीन ) नेत्र वाले ( शिव ) पर फूलों से प्रहार करते तूने फल पाया, ( अथवा ज्ञानाश्रय धारीर के न होने से अज्ञानी, तूने धृष्टवाणो से विषमनेत्र ( मृत्युञ्जय अथवा तीक्ष्ण-स्वभाव नायक—विषम नेत्र नायक— ) पर प्रहार कर जो मूर्खता का फल पाया ), उससे मयप्राप्त नीति फूलों से भी युद्ध करना उचित नहीं समझती ।

टिप्पणी—युद्ध के विरोध में कहा जाता है कि युद्ध तो फूलों से भी नहीं करना चाहिए तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रों की तो बात दूर है—जगता है, यह मय की नीति मूर्ख काम ने जो शिव पर फूलों से प्रहार कर मूर्खता की, जिसके फल स्वरूप मस्म होना पड़ा, उसी के कारण बन गयी है । वहाँ मृत्युञ्जय, विषम योद्धा, पाशुपतधारी, त्रिनेत्र शिव, वहाँ कोमल, फूलों से युद्ध करनेवाला, अनग काम ? मूर्खता तो काम करता आया ही है, वह सदा का मूर्ख और दुष्ट है । विद्याधर के अनुसार प्रतीयमानोत्प्रेलालंकार ॥ ८१ ॥

अपि धयन्तिरामरवत्पुधा त्रिनयात्कथमापिष ता दशाम् ? ।

भण रतेरधरस्य रसादरादमृतमात्तपूण त्वलू नापिब ? ॥ ८२ ॥

जीवातु—अपीति । हे स्मर ! इनरामरवद् देवतान्तरवत्, मुषा धयन्

पिबन्नापि, घेंट-सुत प्रत्यय । पिबन्नादीन्वरत्, अथ ता दद्या मरणा-  
वस्थाम्, अपिप्राप्तोऽनू ? आप्नोतेऽदिति यत्किं क्रमादिनियमादिहागमः ।  
नय वेद । जयवा, रतेदेव्या, जयरम्भोष्टम्भ, नेस्वादे, आदरादास्यावगात्  
आत्तधूनः प्राप्तानुननुपुष्पः सन् । “हृता नुपुष्पाहृन्मो” इति वैजयन्ती । अनृतं  
नापिब सन्तु । अमृतमाने कयमन्वेज्जनयेषु त्वनैको मृत इति भावः ॥ ८२ ॥

अन्वयः—इतरामरवत् मुञ्चा धन्यं अपि त्रिनयनात् कय ता दद्याम् अपिप्राप्तोऽनू ?  
नय, रते देव्या रसादरात् आत्तधूनः अमृत न अपिब सन्तु ?

हिन्दी—अन्य देवों की नाँति अनृत पीने पर भी श्यबक ( शिव ) से  
कैसे तू दद्या ( मरण ) को प्राप्त हो गया ? बोल, रति ( त्रिया ) के अघररस  
के प्रति जादर के कारण धूनायुक्त हो क्या अमृत पिया नहीं था ?

टिप्पणी—अमृत तो सब देवों ने पिया था और अमर हो गये थे ।  
काम ने भी अमृत पिया होगा, फिर भी वह शिव के द्वारा क्यों दुर्दशा को  
प्राप्त हुआ ? लक्षणा है कि रति का अघरामृत अमृत को अरेजा उसे अधिक  
आनन्ददायक, आदरयोग्य लगना होगा, अतः काम ने अमृत न पिया होगा और  
दण्य हो गया । छम्पट है काम, जो उसने अघररस के आगे अमृत नग्न  
माना । महामुख और अतिचारी है वह । विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ८२ ॥

भुवनमोहनजेन किमेनसा तत्र परेत । बभूव पिशाचता ? ।

यदधुना विरहादिमलीनसामभिभवन् भ्रमसि स्मर ! मद्विधात् ॥ ८३ ॥

औवानु—भुवनेति । परेत प्रेत । तत्र भुवनाना मोहनमचेतनीकरण  
तज्जेनैनसा पानेन पिशाचता बभूव किम् ? कुत्र स्मर ! यद्यस्मादधुना विरहा-  
दिना विषादव्ययसा मलीनसा मन्त्रिणा, मद्विधा मास्मीमवलानमिभवनं पीडयन्  
भ्रमसि । पारिष्टा किं पिशाचता, गता दुर्वन्स्त्रीबालादीन् पीडयन्ति, त्वञ्च  
तादृक्कोऽपि पिशाचः उन्मुखा ॥ ८३ ॥

अन्वयः—परेत, स्मर, किं तत्र भुवनमोहनजेन एनसा पिशाचता बभूव,  
यत् अधुना विरहादिमलीनसा मद्विधाम् अभिभवत् भ्रमसि ?

हिन्दी—अरे मूढ़ काम, ( अथवा हे मूढ़, स्मरण कर ) क्या सत्रार को  
चेतना-विहीन करने से जात अने पाप के कारण तू पिशाच हो गया है कि

अब विरहगग से मलीन मुझ जैसी को पीड़ित करता डोल रहा है ?

टिप्पणी—निश्चय ही काम मर कर पिशाच हो गया है, कच्चा मांस खानेवाला 'पिशम् अस्तीति पिशाच' तभी तो वह दुर्बल दमयन्ती को सता रहा है। पिशाच ही स्त्री बालको आदि को सताया करते हैं। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ८३ ॥

बत ददासि न मृत्युमपि स्मर । स्खलति ते कृपया न धनु करात् ।

अथ मृतोऽसि । मृतेन च मुच्यते न किल मुष्टिहरोकृतबन्धन ॥ ८४ ॥

जीवातु—वतेति । हे स्मर । मृत्युमपि न ददासि । तेन दुःखान्तो भवेदिति भाव । अथवा कृपया ते करादनुरपि न स्खलति न भ्रश्यति । पूर्वं बद्धाव । अथ मृतोऽसि । तथापि न स्खलतीत्याह—मृतेन च मृतेनापि, उरीकृतबन्धन अङ्गीकृतबन्धन इवबद्ध इत्यर्थ । 'उयङ्गश्च मुररीन्यश्च करोति क्रुते पर' इति भट्टमल्ल । मुष्टिर्न मुच्यते खलु । वतेति खेदे । ततः कृतातादपि क्रूरोऽस्तीति भाव ॥ ८४ ॥

अन्वय—स्मर, बत मृत्युम् अपि न ददासि, कृपया ते करात्, धनु अपि न स्खलति, अथ मृत असि, मृतेन च उरीकृतबन्धन मुष्टि न मुच्यते किल ।

हिन्दी—रे काम, खेद है कि तू मौत भी नहीं देता अथवा दया ( या ते + अकृपया—दयाहीनता ) से तेरा हाथ से धनुष भी नहीं गिर जाता, अथवा तू मर गया है, मरा हुआ ही बांधकर मुठ्ठी नहीं खोल पाता ।

टिप्पणी—काम दमयन्ती को जो मार नहीं डाल रहा है, उसका कारण है उसका स्वयं मर जाना, तभी तो वह निश्चेष्ट पड़ा है, न धनुष उसका हाथ से गिर रहा है, न बँधी मुठ्ठी ही खुल पा रही है । य मृतक के लक्षण हैं । अथवा महाकृष्ण है काम, वह किसी को क्या देगा ? देने के लिए । उसकी मुठ्ठी खुलती ही नहीं, धनुष तक तो उसके हाथ से फिसलता नहीं कि कहीं कोई ले न ले । वह मौत भी माँगने पर नहीं देगा । काम यम में भी अधिक क्रूर है, वह मौत ही दे देता है । उत्प्रेक्षा ॥ ८४ ॥

दृग्गृह्यपमृत्युविरूपता शमयने परनिर्जरसेविता ।

अतिशयान्धवपु क्षतिपाण्डुना स्मर ! भवन्ति भवन्तमुपासिन ॥ ८५ ॥

जोवातु—इति । हे स्मर ! परनिर्जर्मेविता त्वत्तोऽन्यदेवतासेवको  
जन वृत् । दृष्टो रूप इति । आध्यम्, अमृत्युरकालमरण, विरूपता अङ्गवै-  
वर्ण्यञ्च, क्षमयते निवर्तयति । 'गिचद्व' इत्यात्मनेपदम् । मित्वाद्भ्रस्वत्वम् ।  
भवन्तमुपासितु त्वत्मेविभो जनस्य तु । ताच्छीयेतृन् । 'न लोक'—इत्यादिना  
पृथीप्रतिषेध । अतिशयेनान्य दृष्ट्युपघात, वपु क्षति शरीरविपत्ति पाण्डुता  
वैवर्ण्यञ्च, ता भवन्तीति देवतान्तरभक्तस्य उक्तदोषशान्ति फल, त्वद्भक्तस्य  
तदुद्वेक इत्यहो भवन्वास्तव्य कामदेवस्येत्युपहास । अनानर्थोपलक्षणो  
विषमालङ्कारभेद ॥ ८५ ॥

अन्वय — स्मर, परनिर्जर्मेविता शुपहृद्यपमृत्युविरूपता क्षमयते,  
भवन्तम् उपासितु जतिशयान्ध्यवपु क्षतिपाण्डुता भवन्ति ।

हिन्दो—अरे काम, अन्यदेवो की सेवा करने वाला इष्टिनाथ ( अथत्व ),  
अकालमृत्यु और निरूपता ( कुष्ठ, अपगता आदि ) का क्षमन करता है, परन्तु  
आपकी उपासना करने वाले को अतिशय रूप से अथता, देहक्षय, पीलिया  
( पादुरोग ) होते हैं ।

टिप्पणी—काम देवता तो है पर ऐसा है कि उसके उपासकों को अनेक  
रोग हो जाने हैं जब कि अन्य सूर्यादिक देवों के उपासकों के रोगों का उपशम  
होता है । धन्य है काम की भक्तभक्तलता । भाव यह कि देव होने पर काम  
प्रशस्तनीय नहीं उपहास योग्य है । मन्त्रिनाथ के अनुसार इस श्लोक में  
अनर्थोपलक्षण विषमालङ्कार भेद है विद्याधर ने व्यतिरेकालङ्कार का निर्देश  
किया है ॥ ८५ ॥

स्मर ! नृशमनमस्त्वमतो विधिः सुमनसः कृतवान् भवदायुषम् ।

यदि धनुः दृष्टमागुगमायन तव सृजेत् प्रलय त्रिजगद् व्रजेत् ॥ ८६ ॥

जीवान्—स्मरेति । स्मर ! नून् धमति हिनस्तीति नृशमो घातुक, 'सम'  
हिंसायाम्' इति घातो पचाधच् । त्वमसिनृशमतम अतो ( हेतो ) विधि  
सहा, सुमनस पुष्पाणि भवत आयुष कृतवान् । तव हृद धनुरायतमयोमयम्  
आयुग शरञ्च सृजेद्वि । त्रयाणा जगता समाहारसिजगत् ( कर्तृ ), प्रलय  
विनाश व्रजेत् । तव पाणिष्ठता इष्ट्वा विदुषा परमेष्ठिना सम्मगनुष्ठितमिति  
भाव ॥ ८६ ॥

अन्वय—स्मर, त्व नृपसप्तम अत विधि सुमनस भवदायुध कृतवाद्, यदि तव धनु दृढम् आशुग च आयस सृजेत् त्रिजगत् प्रलय वजेत् ।

हिन्दी—रे काम, तू अत्यन्त क्रूर है, इसलिए विधाता ने फूलों के तेरे अस्त्र बनाये, यदि तेरा धनुष कठिन और बाण लोहे का बनाता ( अथवा 'धनु' आशुग दृढम् आयस च सृजेत्—धनुर्बाण कठिन और लोहे का बनाता ) तो त्रिलोकी में प्रलय हो जाता ।

टिप्पणी—भाव यह है कि काम इतना क्रूर और दुर्मेना है कि यदि विधाता फूलों के कोमल धनुर्बाण के स्थान में उसके आयुध दृढ लोहे के बना देता तो वह विश्वभर में प्रलय कर डालता, इतनी मारकता तो पुष्पायुध होने पर ही है । विद्याधर के अनुसार हेतु अलंकार ॥ ८६ ॥

स्मररिपोरिव रोपशिली पुरा दहतु ते जगतामपि मा प्रयम् ।

इति विधिस्त्वदिपून् कुसुमानि किं मधुभिरन्तरसिञ्चदनिवृत् ॥ ८७ ॥

जीवातु—स्मरेति । स्मररिपोस्त्वदरेहंस्य रोपशिली बाणानि 'पत्री रोप इपुद्गयो' इत्यमर । पुरा त्रयामिव ते तव रोपशिली जगता प्रय मा दहत्विति मत्वेति शेष । गम्यमानार्थत्वादप्रयोग । विधि स्रष्टा, अनिर्वृतस्त्वा कुसुमेषु कृत्वाप्यपरितुष्टं सन्, त्वदिपून् कुसुमानि मधुभिर्मकरन्दं, अन्तर-सिञ्चत् अग्निद्यान्त्ययमोजत् किमिष्टुत्प्रेक्षा । अथवा पापिष्ठस्य ते को आरयितेति भाव ॥ ८७ ॥

अन्वय—स्मररिपो रोपशिली पुराम् इव ते जगता प्रयम् अपि मा दहतु—इति अनिर्वृत विधि त्वदिपून् कुसुमानि मधुमि किम् अन्त असिञ्चत् ?

हिन्दी—कामधनु ( शिव त्रिपुरारि ) के बाणानि ने जैसे त्रिपुरदाह किया था, वैसे ही तेरे बाणा की आग त्रिलोकी को न जला डाले—यह विचार कर चिंतित विधाता ने तेरे बाणों को फूलों के मधु से अन्न सिक्त नहीं किया था ?

टिप्पणी—शिव त्रिपुरारि हैं, उन्होंने त्रिपुरदाह किया । लगता है कि काम भी मुर नहीं खुर है । अमुररिषु शिव का धनु होने से वह त्रिपुरामुर का मित्र हुआ । शिव त्रिलोकीनाथ कहाते हैं । वदाचित् मित्रवध का बदला लेने के लिए काम त्रिलोकी को जला डालता, यह विचार कर विधाता ने

पूरा के मधु से काम-दानों को जीव दिया कि तब आद होन के कारन उनमें दाहकता न आसके । मन्त्रिनाय के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार उपमा-उत्प्रेक्षा । चन्द्रप्रभाकार के अनुसार परस्परानपेक्षो करना रुक् की सृष्टि ॥ ८३ ॥

विधिरनङ्गममेक्षमवेक्ष्य ते जनमनः खडु लक्ष्यमकल्पयत् ।

अपि स वज्रमदान्धन चेत्तदा त्वदिपुनिर्ध्यादल्पिदमावपि ॥ ८४ ॥

जीवानु—विधिरित । विधिर्ब्रह्मा अनङ्गननवयवम् । 'अङ्ग प्रतीकोऽवयव' इत्यमरः । अत एवामेक्षमवेक्ष्य, निरवयवद्रव्यत्वादविनाशय निश्चित, जनमनः, ते तव, लक्ष्यमकल्पयदित्युपप्रेक्षा । सावयवदकल्पदानपक्षे स विधि-वज्रमदाम्यत् चेद्दद्याद्यदि, तदा त्वदिपुनिरसौ वज्रोऽपि व्यदन्पिद्विधीनो भवेत् । अतो दुष्कर्तारो सहेति भावः ॥ ८४ ॥

अन्वयः—विधि अनङ्गम् अमेक्षम् अवेक्ष्य जनमनः ते लक्ष्यम् अकल्पयत् खडु, स वज्रम् अदाम्यत् चेत् तदा त्वदिपुनिः असौ अपि व्यदन्पिद्वत् ।

हिन्दी—विधाता ने ( अनुसन्धान हान के कारण ) जाहीन—निरवयव, ( अतः ) अकल्प्य ( छोटे न जाने योग ) देखकर जन-मन का तग लक्ष्य ( विधाना ) बनाया, यदि वज्र को ( नी लक्ष्य ) बनाता तो तेरे बाणों में वह भी चूँ हो जाता ।

टिप्पणी—कान इतना कठार और हिंस है कि वज्र को भी लक्ष्य पाने पर भेद हाउता, विधाता ने जान-बूझ कर, विचार कर उसे ऐसा लक्ष्य दिया, जो अगहीन है—अनुसन्धान जन-मन, वह हूट हो नहीं सकता । कान से बड़ा हिंसयि कोई नहीं । विधाधर के अनुसार विरोधाकर्तार ॥ ८४ ॥

अपि विधिः कुमुमानि तवाशुगान् स्मर । विधाय न निर्वृतिमाप्तवान् ।

अशित पञ्च हि न स नियम्य ताम् तदपि तंवनं जत्रंरिन आत् ॥ ८५ ॥

जीवानु—असीति । हे स्मर । विधि कुमुमान्देव तवाशुतन्विधानानि, निर्वृति कृतहृत्सोऽस्मीति परितोष नाप्तवानित्युपप्रेक्षा । कुतः, हि दस्माह सोऽनिर्वृत्तो विविस्तान् कुमुनान्वाशुगानानि, निदम्य इत्यन्त एवेति निदम कृत्वा । ते तव, पञ्चैवाशित दत्तवान् तदपि तयानि तं पञ्चमितेव जट

जजरित जजरीकृतम् । बतेति मेदे । विश्वनियन्ताप्येव विकल्पतन , कोऽन्योऽस्ति नियन्तेति भाव ॥ ८९ ॥

अन्वय — स्मर, विधि नुसुमानि तव आनुमान् विधाय अपि निर्वृति न आसवान्, हि स तान् नियम्य पञ्च एव ते अदित, वत, तदपि तै जगत् जजरितम् ।

हिन्दी—काम, विधाता फूलों को ही तेरे बाण बनाकर नहीं रह गया, उसने उन ( बाणों ) का नियमन करके तुझे पाँच ही दिया । पर हाय, तब नो उन ( पाँच बाणों ) से ( ही ) ससार को जजर कर डाला ।

टिप्पणी—काम की हिस्रवृत्ति का एक और प्रमाण कि पाँच बाणों से ही जग को व्याकुल कर दिया । विधाता जैसे नियन्त्रक को भी इच्छित सफलता न मिली । विद्याधर के अनुसार विरोध ॥ ८९ ॥

उपहरन्ति न कस्य सुपर्वण सुमनस कति पञ्च सुरद्रुमा ? ।

तव तु हीनतया पृथगेकिका विगियतापि न तेऽङ्गविदारणम् ॥ ९० ॥

जीवातु—उपहरतीति । स्मर । पञ्च सुरद्रुमा मन्दारादय कस्य सुपर्वण कति सुमनस कियन्ति नुसुमानि, नोपहरति नोपायनीबुवन्ति ? सर्वस्याप्यमितमुपहरतीत्यर्थ । 'उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा' इत्यमर । तव तु हीनतया नीचतया पृथक् प्रत्येकमेकिकामेकाकिनीमेकैका सुमनोभ्यक्ति-मुपहरतीत्यर्थ । अत एव पञ्चबाणत्व तवेति भाव । 'एकादाकिनिष्चासहाये' इति तत्कारणं कन्प्रत्यये पूर्वस्येकार । इयता एतावदवमाननापि ते तवाङ्ग-विदारण शरीरविपत्तिर्नास्ति । धिक् । अवमतस्य जीवनामरणमेव वरमिति भाव ॥ ९० ॥

अन्वय—पञ्च सुरद्रुमा कस्य सुपर्वण कति सुमनस न उपहरति तव तु हीनतया पृथक् एविकाम्, इयता अति ते अङ्गविदारणम् न । धिक् ।

हिन्दी—पाँच देवदूत किस देव को कितने फूल उपहार में नहीं देंट ? ( अगणित फूल प्रत्येक देव को देंट है ) किन्तु तेरे हीन होने के कारण तुझे एक वन एक ही फूल देना है, इतने पर भी तेरे अग विशेष नहीं होत ? धिक्कार है ।



टिप्पणी—काम के पाँच पुर दाग हैं, जो एक एक देवतह से एक एक के क्रम से उसे प्राप्त हुए हैं। इसी आधार पर काम की नीचता प्रमाणित की गयी है। पञ्च देवतह हैं—मन्दार, पारिजात, सुतानु, कल्पवृक्ष और हरिचन्दन—‘पञ्चैते देवतखो मन्दारः पारिजातक । मन्तान कल्पवृक्षश्च पुषि वा हरिचन्दन ॥ अमरकोष । विद्याधर के अनुसार हेतु अलंकार ॥ ९० ॥

कुमुदमप्यतिदुर्नयकारि ते किम वित्तोयं धनुर्विधिरग्रहीत् ।

किमकृतैष यदेकतशम्यदे द्वयमभूदनुनापि नलभ्रूवो ॥ ९१ ॥

जीवातु—कुमुदमिति । विधिः कुमुदमपि दुर्जनपीत्यर्थः । अतिदुर्नयकारि अमर्यकारक धनुस्ते एव वित्तोयं दत्त्वा, अग्रहीत् किमु पुनर्बंहार किमिदुश्रक्षा । पापीयसे दत्त हस्तम्यमेवेति भावः । कित्वेय विधिः, किमकृतम् अकार्यमेव कुनवानित्यर्थः । कुतः, अद्यत्मादेकस्य तस्य धनुष आस्पदे स्थाने, अधुना नलभ्रूवोर्द्वयमभूदिति । तेनैव धनुषा नलभ्रूवौ द्वे निर्मितवता तेन काटकमुद्धृत्य शन्यमारोपित यदेकासहिष्णोर्द्वयमसह्य सम्पादितमिति भावः ॥ ९१ ॥

अन्वयः—विधिः कुमुदम् अपि अतिदुर्नयकारि धनुः से वित्तोयं अग्रहीत् किमु, किन्तु एष किम् अकृत, यत् एकतशम्यदे अनुना नलभ्रूवो द्वयम् अभूत् ।

हिन्दी—विधाता ने फूल होते हुए भी अत्यन्त दुर्नीति कारक धनुष मुझे देकर क्या बापस ले लिया, किन्तु उसने यह क्या किया कि एक उसके स्थान में अब नल की भीड़ों के रूप में दाग हो गये ?

टिप्पणी—काम को विधाता ने फूल का धनुष दिया किन्तु उससे नीचे जब काम अत्यन्त दुष्टता करने लगा तो उससे वापस ले लिया । पर यह अब दो गुनी भूल कर दी कि उस एक धनुष से नल की दो भीड़ें बना दी । इससे अब काम को दो धनुष मिल गये, अर्थात् दो गुना हो गया । बात् का उपकार तो न हुआ, दाग का बरफार हो गया । विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति अलंकार ॥ ९१ ॥

पद्मवः कृपया स्वकमेकञ्च कुमुदमक्रमनन्दननन्दना ।

ददति पद्मं भवनं कुत्स नवान् धनुरिवैकमिपूनित्र पञ्च तैः ॥ ९२ ॥

जीवातु—पडिति । अक्रमेण योगपथेन, नन्दितनन्दना प्रकाशितसुरो-  
घाना, गुणपत्रिजकुसुमदानसमर्था इत्यर्थः—। पडृतवा वसन्तादय, कृपया, न तु  
प्रीत्येति भावः । स्वक स्वसम्बन्धिनम् ( चि ) एककमेकैकमेव असहाय  
कप्रत्यय । कुसुम ददाना इति शेषः । तथा चोक्तरीत्या, प्रत्येकमेकैकदाना-  
न्मिलित्वा, पद्, भवते तुम्य ददाति । तं पद्भि कुसुमैरेक धनुरिव, एकेनेति  
शेषः । पञ्चपूनिव, पञ्चभिरिति शेषः । भवान् कुरुते । अहो ! अवमानेऽपि  
निलंजस्य ते परहिमाध्यसनमिति भावः ॥ ९२ ॥

अन्वय —अक्रमनन्दितनन्दना पद् ऋतव कृपया स्वकम् एकक कुसुम  
भवते ददति, तं एक धनु इव पञ्च इपून् इव भवान् कुरुते ।

हिन्दो—क्रम का उल्लंघन करके इन्द्र के नन्दन उपवन को नन्दित  
( विकसित ) करनेवाली छ. ऋतुएँ कृपा करके अपना एक-एक फूल तुम्हें  
देती हैं, उनमें एक को तुम धनुष के तुल्य और पाँच को बाणों के तुल्य कर  
लेंगे ही ।

टिप्पणी—ससार में वसन्त आदि ऋतुएँ क्रम से आती हैं, पर नन्दन  
कानन में उनका कोई क्रम नहीं, वे एक साथ उसे विकसित कर देती हैं ।  
उन छ ऋतुओं में भी कृपा करके—प्रीति से नहीं—केवल एक-एक फूल काम  
को दिया, जिससे बेचारे ने एक धनुष और पाँच बाण बना लिये । और करता भी  
क्या वह महादरिद्र ? काम का कोई स्नेह देता ही नहीं, दरिद्र जानकर  
घोड़ी-सी भाँख दे दी जाती है । फिर भी वह स्वभावतः इतना हिंसाप्रिय है  
कि उन फूलों का उपयोग यह किया कि आमुष बना लिये । विद्याधर क  
अनुसार उपमा ॥ ९२ ॥

यदतनुस्त्वमिदं जगते हितं कस्य भुनिस्तव यः सहते क्षती ।

विशिखमाश्रयणं परिपूर्यं चेदविचलद्भुजमुज्जितुमीशिषे ॥ ९३ ॥

जीवातु—यदिति । हे मार ! त्वमतनुरक्षरीरीति यत्तद्विदमतनुत्वं जगते  
हितं 'हितयोगे च' इति चतुर्थी वक्ष्यत्या । तथा हि, विशिख बाणमविच-  
द्भुजमकम्पहस्तं यथा तथा आश्रयणं परिपूर्याकिनमाकृष्य उज्जितुमीशिषे  
पावनोपि चेत्तस्तव क्षती प्रहारान् सहते, स मुनि वक्ष, न क्वापीत्यर्थः ।

अनङ्गत्वेऽप्येव जादोहिमस्तव धानुष्कान्तरवत् कायध्यापार जगति जिज्ञेन्द्रिय-  
कर्मवास्तवमिदमित्यनङ्गत्वमेव जगद्विदमित्यय ॥ ९३ ॥

अन्वयः—यत् त्वम् अतनु इदं जाते हि त्वम्, विशिष्टम् भविवन्द्यं पुत्रम्  
आश्रयणं परिपूर्णं उज्जितुम् ईक्षिष्ये चेत् य तव क्षत्रो सहते स मुनिः क्व ?

हिन्दी—काम, जो तुम असरीरी है, यह जगत् के कल्याण में है, (सरीरी  
होने पर) बाप को अकपित बाहु कान तक खींचकर जो तुम छोड़ने की इच्छा  
करते तो जो तुम्हारे आपात सहता, वह मुनि कहीं मिलता ?

टिप्पणी—अच्छा हुआ कि काम को महादेव ने भस्म कर अतनु बना  
दिया, सरीरधारी होने पर उसके प्रहार सह सकनेवाला कोई मुनि भी नहीं  
मिलता । विद्याधर के अनुसार काव्यान्विग अलंकार ॥ ९३ ॥

सह तया स्मर । भस्म क्षटित्वभू पशुपतिं प्रति यामिषुमग्रही ।

ध्रुवममूदधुना वितनोः शरस्त्व पिकस्वर एव स पञ्चम ॥ ९४ ॥

जीवानु—सहेति । हे स्मर ! पशुरतिं प्रति यामिषुमग्रहीस्तया सह क्षटिति  
सहसा भस्माभू । अधुना वितनोरनङ्गस्य तव पिकस्वरं कोकिलालाप एव,  
स दम् पञ्चम, पञ्चमसङ्घातपूरणं शरोऽभूत् । ध्रुवम् । अत एव, पिक-  
श्रुतिं पञ्चममित्यादौ पिकस्वरं पञ्चमसङ्घातप्रवृत्तिरपेति भावः । 'पञ्चमो  
रागभेदे स्यात् पञ्चानामपि पूरणं' इति विश्वः । शरकार्यकारित्वात् पिक-  
स्वरस्य शरत्वोत्प्रेक्षा ॥ ९४ ॥

अन्वयः—स्मर, पशुपतिं प्रति याम् इषुम् अग्रही तया सह क्षटितिं भस्म  
अभू, अधुना वितनो तव ध्रुव पिकस्वर एव स पञ्चम अभूत् ।

हिन्दी—कामदेव, पशुपतिं शिव को लक्ष्य बना जो बाण तुमने ग्रहण  
किया, उसके साथ तुरत भस्म हो गये, अब अग्रहीन तैरा निश्चयतः काकिल-  
स्वर ही पक्ष बाण बन गया ।

टिप्पणी—काम तो भस्म हो अतनु हो गया, पर साथ भस्म हुए बाण  
अतनु न रहे, कोकिल-स्वर एव साथ पक्ष बाण का काम करने लगा । भद्रप  
के 'वृहद्देशी' और 'नारदीय सिन्धु' में बताया गया है—'कोकिल पञ्चमो  
वदेत् ।' कोकिल पञ्चम स्वर में बोलता है । यह गतस्वर विषयक मायता है,

इसी को आधार बनाकर शब्दच्छल से इस श्लोक में कोबिल स्वर के पच-  
बाणत्व की कल्पना की गयी है। विरहीजनों का उद्दीपन होन से इस पर  
बाणस्वारोप किया गया है। उपप्रेक्षा ॥ ९४ ॥

स्मर । सम दुरर्तरफलोक्तो भगवतोऽपि भवदहनध्रम ।

सुरहिताय हुतात्मतनु पुनर्जनु अनुदिवि तत्क्षणमापिथ ॥ ९५ ॥

जीवातु—स्मरेति । हे स्मर । भगवतो हरस्यापि, दुरितं सम भवत्पापै  
सह भगवद्दृष्टिपातस्य पापहरत्वादिति भाव । भवदहनध्रमोऽफलीकृतो निष्कली  
कृत, सुरहिताय हुतात्मतनुर्हंरकोपानले स्थितस्वदेह मनु, तत्क्षण तस्मिन्नेव  
क्षणे अत्यन्तमयोगे द्वितीया । दिवि शुलोने, पुनर्जनु पुनरुत्पत्तिमापिथ ननु  
प्राप्नोषि सतु । सुरप्राप्तिपातस्मादेवेति शेष । तच्छास्मत्पापफलमिति  
भाव ॥ ९५ ॥

अन्वय—स्मर, भगवतः अपि भवदहनध्रम दुरितं समम् अफलीकृतः  
ननु सुरहिताय हुतात्मतनु तत्क्षण दिवि पुनः अनु आपिथ ।

हिन्दी—हे काम, भगवान् धरकर का भी तुम्हे जला देने का धर्म पापा  
के साथ साथ निष्फल हो गया, क्योंकि देवताओं के हित के लिए अपने देह  
को आहुत कर देने वाले तुमने तत्क्षण स्वर्ग में पुनः जन्म पा लिया ।

टिप्पणी—काम पर उसे भस्म कर देने वाली शकर की दृष्टि जब पड़ी  
तो उसके शरीर के साथ साथ शिव दृष्टि पड़ने से उसके पाप भी अफल निष्फल  
और गह हो गये । वह भस्म तो हुआ परन्तु पुनः स्वर्ग में जन्म पाकर उसने  
अपना भस्म होना भी निष्फल कर दिया । देवताओं के हितार्थ तारकासुर  
को मारने के लिए शिव सुन की आवश्यकता थी, किन्तु सती के आत्मदाह के  
पश्चात् शिव उदासीन हो गये थे । वे पुनः उमा से विराह करें, शिव पुत्र का  
जन्म हो, तारकासुर मारा जाए और देवताओं की शांति मिले । इस कार्य-  
मिद्धि के लिए शिव समाधिभ्रम में यत्नशील काम शिवकोपजया वल्लि में जल  
कर भस्मावरोध हो गया—‘काय प्रभो महर सहरेति यावद् गिरा से मरुत-  
चरति । सारस वल्लिभवनप्रजया भस्मावरोध मदन चकार ।’—कालिदास  
( कुमारसम्भव ) । इस देवताय में काम भस्म हुआ । संभवतः द्रुपद पुण्य में

वह स्वर्ग में पुन जन्म पा पुन वियोगिजनों को पीड़ित करने लगा । 'प्रकार' टीका में 'स्मर म मदुरितैरफलीकृतो के म्यान मे 'स्मर म मदुरितैरफलीकृतो' पाठ है । इस स्थिति में अर्थ होगा—यद्दुरितं नम पातयन्' अर्थात् दमपती के पापों के कारण ही सिक्द्वारा नम्योन्मन हान पुनर्जन्म पा गया उसने देवकार्य का पुण्य जो किया था । विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में अतिशयोक्ति बलकार है ॥ ९५ ॥

विरहिणो विमुखस्य विमूढोऽगमनदिक्पवन म न दक्षिण ।

मुननेसो नमयन्नटनां धनुस्तत्र तु बाहुरसौ यदि दक्षिणः ॥ ९६ ॥

जीवानु—विरहिण इति । हे शूर ! त्वामो बाहूयदि विमूढोऽगमनोऽप्ये सहायलाभे सतीत्यर्थं मुननस्य पुण्य नाम धनु , जटती कोटी । 'कोटिरम्याट-निर्गोत्रा' इत्यमरः । नमयन् दक्षिणो विरहिज्जन्प्रहारदक्ष स्यात्, प्रहर्तुं प्रवृत्त-इचेदित्यर्थः । 'सन्वेतरञ्च' इति ध्वनि । तथा विमुखस्य विह्वलमुखस्य चन्द्रोदयपराङ्मुखस्य विरहिणो वियोगिजनस्य न दक्षिणत्वेन प्रसिद्धः गमन-दिक्पवनो याम्यदिक्षाम्, दक्षिणो वासिन्धवान् सन्वेतरञ्च न । किन्तु सोऽपि स्वगमकारिन्वानिर्दयप्रहर्तवेत्यर्थः । अतः सर्वानर्थमूत्वात् स्वमेव पापिपु इत्यर्थः । प्रपङ्गमुखस्य दक्षिणोऽपि वान इति ध्वनि । गमनदिक्पवनोऽपि न दक्षिण इति स्फुरन् द्विरोधानासाज्जट्टार ॥ ९६ ॥

अन्वय — विमूढस्य मुननस्य धनु , जटयन् तत्र असौ बाहुः, यदि दक्षिण , विमुखस्य विरहिणः स गमनदिक्पवन दक्षिणः न ।

हिन्दी—चन्द्रोः होने पर फूलों को आगे झुकाने में तुम्हाय (काम का) यह बाहु यदि 'दक्षिण' (दक्ष) है तो 'विमुख' अर्थात् चन्द्रोदय की दिशा पूर्व से पराङ्मुख अर्थात् पश्चिमदिशिमुख वियोगियों के लिए वह दमगात्र की दिशा ( दक्षिणदिशा ) का पवन ( मल्लानिल ) 'दक्षिण' ( दाहिना ) नहीं होगा, अपवा 'दक्षिण' ( अनुकूल ) न होगा ।

टिप्पणी—वियोगियों के लिए चन्द्रोदय, काम और मल्लानिल—नीनों ( अनुकूल नहीं होते, ) बदक्षिण ( प्रतिकूल ) हाव हैं । इन तीनों का दु सहज प्रतिपादन करना कवि का उद्देश्य है । चन्द्रोदय हान पर, काम अपनी भुजा से

प्रहाराय घनुष्कोटि आगे को, झुका लेता है, मलयपवन आदोलित होने लगता है, तोनो ही प्रतिकूल बन कष्ट देने लगते हैं। पुरुष मे चन्द्रोदय होने पर विरही पश्चिम की ओर मुंह करके खड़े हो जाते हैं कि चन्द्र दर्शन न हो। उस स्थिति मे मलयपवन की उद्भूत दिशा उनके 'दक्षिण' ( दाहिने ) नहीं रह जाती, बायें पड़ जाती है, अतः 'समनैदिवपवन दक्षिण न'। इस प्रकार काम-प्रहाराय भले ही अपनी भुजा को 'दक्षिण' ( दक्ष ) रखे रहे, चन्द्रोदय भी 'वाम' ( विपुल प्रतिकूल ) है, 'दक्षिण' दिशा भी 'वाम' ( बायें ) पड़ जाती है—मलयानिल भी 'वाम' ( बायी ओर से यह आनेवाला—प्रत प्रतिकूल ) है। काम की 'दक्षिणता'—दाक्षिण्य तो 'वाम' है ही। मल्लिनाथ के अनुसार विरोधाभास श्लकार—मलयपवन 'दक्षिण' ( दक्षिणदिशोद्भूत ) नहीं, वाम ( बायें हाथ की ओर से बहनेवाला—प्रतिकूल ) है प्रकाशकार ने काकु की सहायता से एक अन्य अर्थ निकाला है—जैसे फूलों की घनुष्कोटि को झुकाता काम का बाँह दक्षिण है, वैसे ही अपने समुच्च आ पड़ते फूलों की कोटि को झुकाकर मारक धम की दिशा का पवन क्या दक्षिण नहीं है ? है। भाव यहो है कि दोनो ही दु सहे हैं—चन्द्रोदय के समय काम अपनी घनुष्कोटि को झुकाता और मलयानिल फूलों की डालों को झुकाता शकजोरता। विद्याधर ने यहाँ भी अतिशयोक्ति ही मानी है ॥ ९६ ॥

किमु भवन्तमुमापातरेकक मदमुदान्धमयोगिजनान्तकम् ।

यदजयत्तन एव न गीयते स भगवान् मदनान्धकमृत्युजित् ॥ ९७ ॥

जीवातु—किम्विति । हे मदन ! उमापति मदम्ब मुच्व द्वन्द्ववद्भाव ।

तेन मदमुदाभ्या मदनान्दाभ्याम् अन्धयति व्यामोहयति कामिजनमित्यन्धम् अन्धकम् । 'अन्धदृष्टप्रतीघाते' इति यातोऽधोरादिकात् एवाद्यच् । अयोगिजनान्तक विमोगिजनमृत्युम्, एककमेकाकिन, भवन्तमेव अजयदिति । तत एक स भगवान् उमापति । मदनान्धकमृत्युजित् मदनजिदन्धकजिनमृत्युजिदिति गीयते विमु गीयत एवेत्यथ । मदनवदन्धकमृत्यु अपि त्वतोऽप्यो न स्त इति भाव । अत्र मदनादीनां मिथो भेदेऽप्यभेदोन्नेतरतिशयोक्ति ॥ ९७ ॥

अन्वय — उमापति मदमुदान्धम् अयोगिजनान्तकम् एकक भवन्तम् एव यत् अजयत्, विमु तत् एव स भगवान् मदनान्धकमृत्युजित् न गीयते ?

हिन्दी—उमा (पार्वती) के स्वामी (शिव) गवें और प्रसन्नता से अघे हुए, वियोगिजनों के अतक (मनगन) अकेले तुम्ह ही जो जीता क्या उभी में वे मगवान् (शिव) मदन, अथक और मृत्यु के जयी नहीं प्रसिद्ध हैं ? अपितु है ही ।

टिप्पणी—काम 'मद' उत्पन्न करता है, अतः वह 'मदन' है—मदयतीति मदन । काम में व्यक्ति अघा हो जाता है—विवेकहीन, जतः काम अथक भी है—अन्धीकरोति इति अथक । काम वियोगियों को मृत्युसम कष्ट देता है, अतः वह अतक भी है—अन करोति इति अतक । प्रतीत होता है कि शिव ने न तो अघकामुर को मारा और न मृत्यु को ही जीता, एक काम को भस्म कर जयी हुए । एक ही काम के ये तीन नाम हैं—मदन, अथक, अतक (मृत्यु) । इस प्रकार एक कामजित् उमापति के तीन विरुद्ध पक्ष गये—मदनजित्, अथकजित् और मृत्युजय । भाव यह है कि काम ही तीन-तीन नाम धार कर कष्ट देता है । अथवा काम अथक और अतक दोनों से अधिक कष्ट देता है । कष्ट देने की क्षमता में उसने अथक और अतक को भी जीत लिया है, इस प्रकार अथक-अतक-वित् काम के जयी शिव मदनजित् होने में ही अथकजित् और अतकजित् भी प्रसिद्ध हो गये । मन्त्रिनाथ के अनुसार भेद होने पर भी अभेद कथन होने से इस दृष्टि में अतिशयोक्ति है, विद्याधर के अनुसार सापेक्षबोत्प्रेषालकार है ॥ ९७ ॥

त्वमिव कोऽपि परापङ्क्तौ कृतौ न ददौ न च मन्मथ । शुश्रूवे ।

स्वमदहद्दह्नाज्ज्वलनात्मना ज्वलयितुं परिरम्य जगन्ति य ॥ ९८ ॥

श्रीवानु—त्वमिति । हे मन्मथ ! त्वमिव परापङ्क्तौ परापकारे कृतौ कुक्ष्य कोऽपि न ददौ न दृष्ट, न शुश्रूवे न च धृत, य अपकर्ता दहनादग्नि-भयोणात्, ज्वलता प्रव्यवता आत्मना स्वाङ्गेन जगन्ति परिरम्य दिलिप्य ज्वरयितुं दग्धु, स्वमात्मानमदहत् परिरम्य परमात्रदूषणाय स्वगान्ने पक्षुलेपवत्, परमाह्वयसनादेवात्मदाहाङ्गीकारस्तवेत्यहो दुर्व्यमनमिति भाव ॥ ९८ ॥

अन्वय—मन्मथ, त्वम् इव परापङ्क्तौ कृतौ कः अपि न ददौ न च शुश्रूवे यः दहनात् ज्वन्ता आत्मना जगन्ति परिरम्य ज्वलयितुं स्वम् अदहत् ।

हिन्दी—हे मग्मय ( मनोमधनकारी वाम ), तेर जैसा पर अपनार मे प्रवीण त कोई देखा और न सुना, जिसन कि अग्नि से जलते स्वदेह से लोको का आलिंगन कच्चे जला डालन के लिए स्वयम् को जला डाला ।

टिप्पणी—भृहृहरि के अनुसार 'ते वे' न जानीमहे—कोटिवाला व्यक्ति जो स्वयं वृष्ट उठाकर दूसरों को कष्ट देता है । ऐसा ह यह परपीडक मग्मय । ऐसा देखने मे तो नहीं ही आता, सुनायी भी कम ही पड़ता है । विद्याधर के अनुसार उपमा और अतिशयोक्ति अलंकार ॥ ९८ ॥

त्वमुचित नयनार्चिपि शम्भुना भुवनशान्तिकहोमहवि कृत ।

तव वयस्यमपास्य मधु मधु हतवता हरिणा यत किं कृतम् ? ॥ ९९ ॥

जीवातु—त्वमिति । हे वीर ! शम्भुना नयनार्चिपि नेत्राग्निशिलाया त्व भुवनानां शान्तिके शान्तिप्रयोजके : 'प्रयोजनम्' इति ठक् । होमहविराहुति उचित वयस्य वधादिति भाव । तव वयस्य सखाय, मधु वसन्तम् अपास्यो-पेक्ष्य मधु मध्वाग्न्य, दैत्य हतवता हरिणा किं कृतम् ? यत्नेति चेदे । वयस्य-धातुः साधुकारी । हरिस्तदुपक्षणादसाधुकारीत्यर्थः । समित्र स्मरो वयम् इति भावः ॥ ९९ ॥

अन्वय — त्वम् शम्भुना नयनार्चिपि उचित भुवनशान्तिकहोमहवि कृत , यत तव वयस्य मधुम् अपास्य मधु हतवता हरिणा किं कृतम् ?

हिन्दी—तुझे 'शम्' ( कल्याण ) जिससे हो, ऐसे 'शम्भु' ( शिव ) ने नयनगवाला में ठीक ही त्रिभुवनशान्ति के निमित्त आयोजित होम की हवि ( आहुति ) कर दिया । खेद है कि तेरे मित्र मधु ( वसन्त ) को छोड़कर मधु राक्षस का वध करके हरि ( विष्णु ) ने क्या किया ? उचित नहीं किया ।

टिप्पणी—शम्भु—शम् भवति अनेन - ने वाम को नेत्राग्नि में मस्म कर दिया, ठीक किया । त्रिभुवन में शान्ति होती, पर विष्णु यह क्या कर बैठे कि मधु नामक राक्षस का तो मारा, किन्तु तेरे उत्पाती मित्र, राक्षस मधु से भी अधिक पीडक मधु ( वसन्त ) को छोड़ दिया । जो प्रलयकर है, उसने तो अपना 'शम्भु ( शान्तिकर्ता ) रूप दिखाया और जो जगत् का पालक है—स्थितिकर्ता



उस किन्तु ने अपना अनयहारक रूप 'हृग्' ( अश्विकी चानर ) दिया दिया । कितना वेद जनक है यह समस्त व्यापार । विद्याधर के अनुसार रूपानिर्वाणित अलकार ॥ ९९ ॥

इति क्रियद्वयमेव भूषां प्रियाधरपिपासु तदाननमाशु तत् ।

अजनि पामुलमप्रियवाम्ज्वल्यन्मदनशोषणबाणहृत्तेजिब ॥ १०० ॥

जीवानु—इतीति । प्रियस्य नलस्याधरमोष्ठ पिपासु पातुमिच्छु मधु पिपासुप्रमृतीना गम्यादिपाठात् समाम' इति वानन । तत् प्रसिद्धम, तस्या मम्या जाननम् इतीत्य, क्रियद्वयसंब, अप्रियवाम्गिनिष्ठुरोक्तिमि, ज्वलन कृष्यतो मदनस्य य शोषणबाण तस्य हृत् प्रहारदिवेति हेतुत्प्रेक्षा । आशु भृग, पासुल पामुमद् अजनि जानम् ॥ १०० ॥

अन्वय—प्रियाधरपिपासु तत् तदाननम् इति क्रियद्वयमा एव अप्रियवाम्-ज्वल्यन्मदनशोषणबाणहृत्तेजिब इव आशु पासुलम् अजनि ।

हिन्दी—प्रिय ( नल ) के अधर का प्यासा वह उस ( दमयन्ती ) का मुख इस प्रकार ( उपर्युक्त ) कुछ वचन कहने में ही निदायुक्त कथन से ( क्रोध के कारण ) जल उठे काम के 'शोषण' ( नामक ) बाण से जैसे आहत हो धीरे ही मूख गया ।

टिप्पणी—विरहव्यथिता दमयन्ती का मुख बालते-बोकाते थक गया, इस पर दो कल्पनार्थ की गयी—माना मुख प्यास से सूख गया, प्यास तब बुझे जब प्रियाधरामृत-पान हो । मानो निम्बा सुनकर झूठ हुए काम ने शोषण नामक बाण ने धायल कर दिया, जिससे मुख मूख गया । मल्लिनाथ के अनुसार हेतुत्प्रेक्षा और लेशोक्ति ॥ १०० ॥

प्रियसखीनिवहेन सहाय सा ध्यरवयद्गिरमर्धनमस्मया ।

हृदयमर्मणि मन्मथसायकं क्षततया बहु भापितुमक्षमा ॥ १०१ ॥

जीवानु—प्रियसखीति । अथ सा दमयन्ती, मन्मथसायकं हृदयमर्मणि क्षततया गाढ प्रहृता । अत एव बहु भापितु प्रपञ्च्य वक्तुमर्हमा सती, प्रिय-सखीनिवहेन सह आप्तसखीसङ्घेन साधु, अर्द्धरूपया समस्यया सप्रहकारिका । 'समस्या तु समासार्था' इत्यमर । 'सजाया समवनिवदे'त्यत्र सपूर्वादिस्मनेर्वा

हुलक ब्यङ् इति क्षीरस्वामी । गिर व्यरचयत् । पूर्वार्धं सखीजनसमस्या,  
तदुत्तरत्वेनोत्तरार्धं स्वयमरचयदित्यर्थः ॥ १०१ ॥

अन्वय — अथ मन्मथमायव हृदयममणि क्षततमा बहु भङ्गितुम् अक्षमा  
सा प्रियमखीनिवहेन सह अर्घसमस्या गिर व्यरचयत् ।

हिन्दी — तदनंतर मन्मथ के बाणों द्वारा हृदय के मर्म में अत्यधिक विद्ध,  
अधिक बोलने में असमर्थ वह ( दमयंती ) प्यारी सखियों के साथ आधी  
समस्या से युक्त ( जिसके अर्धभाग को पूर्ति प्रत्युत्तर से हो ) बात करने लगी ।

टिप्पणी—व्यथिता, क्लृप्ता होने से दमयन्ती को अधिक बोलना कष्ट  
कर होने लगा, अतः वह इस प्रकार अपनी रहस्यवित् सखियों से बातचीत  
करने लगी कि आधी बात सखियाँ कहती, आधी दमयन्ती कहती, समस्यापूर्ति  
के सदृश । समस्या अर्थात् संक्षेपोक्ति, जिसमें अपूर्ण होने कारण विक्षिप्त—  
विस्तृत का समास—संक्षेप हो, वह समस्या । विचार के अनुसार अनुप्रास,  
हेतु और सहोक्ति । आगे के आठ श्लोको का पूर्वार्ध सखी-कथन है, उत्तरार्ध  
दमयंती का प्रतिवचन ॥ १०१ ॥

अकरुणादव सूनशरादसून् सहजयाऽऽपदि धीरतयाऽऽरमन् ।

असव एव ममाद्य विरोधिनः कथमरीन् सखि ! रक्षितुमात्थ माम् ॥ १०२ ॥

जीवातु—अकरुणादिति । हे भैमि ! आपदि सहजया धीरतया धैर्येण ।

‘विपदि धैर्ये’ति नीतेरिति भावः । अकरुणादिदेयाद् सूनशरात् कुमुमेयो,  
आरमन् स्वस्यामून् प्राणान् अव रक्ष । अघेदानीमसव एव मम विरोधिनः  
क्षत्रवः । तन्मूलत्वात् दुःखं सवेदनस्येति भावः । हे सखि ! मा कथमरीन्  
रक्षितुमात्थ ब्रवीषि ? ‘ब्रुव पञ्चानाम्’ इति साधु । सम्प्रति मे प्राणरक्षण-  
माशीविषोपपन्न पयोभिरिति भावः ॥ १०२ ॥

अन्वय — अकरुणान् सूनशरात् सहजया धीरतया आपदि आरमन् असून्  
अथ । सखि, अथ असव एव मम विरोधिनः, माम् अरीन् रक्षितुं कथम् आत्थ ।

हिन्दी—सखियो ने कहा—निर्दम्य पुष्पबाण ( नाम ) से स्वाभाविक  
धैर्यपूर्वक आपत्ति में अपने प्राणों की रक्षा करो । दमयंती ने प्रत्युत्तर दिया—  
आज प्राण ही सो मेरे विरोधी हैं जय है, मुझसे बैरियों की रक्षा करने को  
क्यों कहती हो ?

टिप्पणी—पूर्वाह्नं सखीवचन, उन्नराह्नं दमयन्ती का उत्तर । इतनी ममांतक व्यथा है दमयन्ती की प्राण ही उसे मारी और वह दायी सग रहे हैं । विद्याधर के अनुसार यहाँ मे स्टेकर आठ वाक्यों ( १०२-१०९ ) में इत्येव-वक्रोक्ति है । रूद्रट के अनुसार इत्येववक्रोक्ति का लक्षण है—“वक्त्रा यदग्ययोक व्याचष्टे वाग्यया तदुत्तरद । वचन यन्पदमङ्गनेया सा इत्येववक्रोक्ति ” ॥१०२॥

हितगिरि न शृणोषि किमाश्रवे । प्रसन्नमप्यव जीविनमात्मनः ।

सखि ! हिता यदि मे भवमीदृशो मदगिमिच्छामि या मम जीविनम् ॥१०३॥

जीवातु—हितगिरिमिति । जाशृणोषि वाक्यमिति आश्रवा । पचाद्यच् । हे आश्रवे ! वाक्यकारिणि । ‘वचने स्थित आश्रव’ इत्यमर । प्रसन्न बला-दप्यात्मनो जीविन प्राणमव रक्ष । ‘एति शोच-तमान-दो नर वर्षयतादपि’ इति न्यायादिति भावः । हितगिरिभासवाक्य किं न शृणोषि ? । हे सखि ! या त्व मदर्शित मम जीवितमिच्छस्पेक्षसे । इच्छीत्य शत्रुवृद्धिमीहमानापि मे हिता भवसि यदि । न तु भवमि । अतो न शृणोमीत्यर्थः ॥ १०३ ॥

अन्वय —आश्रवे, हितगिरि किं न शृणोषि ? प्रसन्नम् अपि आत्मन जीवितम् अव । सखि, यदि या मदर्शित मम जीविनम् इच्छसि, इच्छी मे हिता भवसि ?

हिन्दी—सखी बोली—हे आश्रवे ( वही को धुनने वाली ), हितेच्छ के वचन क्यों नहीं सुनती ? प्रसन्न करके भी अपने जीवन की रक्षा करो । दमयन्ती ने कहा—सखि, यदि जो तू मेरे शत्रु जीवन की इच्छा करती है, ऐसी मेरी हिनैषिणी है ? ( नहीं है ) ।

टिप्पणी—पूर्व श्लोक मे दमयन्ती ने प्राणों को अपना शत्रु कहा था उसी को रक्षने का आग्रह करने वाली सखी को उसने हितेच्छक मानना उचित नहीं माना । वाकु ॥ १०३ ॥

अमृतदीधितिरेष विदभञ्जे । भजमि तापममुष्य किमशुभिः ? ।

यदि भवन्ति मृताः सखि । चन्द्रिका शशभूत-वव तदा परितप्यते ॥१०४॥

जीवातु—अमृतदीधितिरिति । हे विदभञ्जे दमयन्ति । एष इति पुरोवर्तिनो हस्तेन निर्देशः । अमृतदीधिति मृतायु । अमुष्य मुषाशोरगुमि, किमिति ताप

भजसि ? अत्रामृतशब्दस्यार्थान्तराश्रयेणोत्तरमाह—यदीति । हे सखि ! शशमृत-  
 श्रद्धिका मृता भवन्ति यदि, तदा क्व परित्यज्यते ? न क्वापीत्यर्थः । अस्या  
 मृतदीधितित्वादेवेदं दुःखं, मृतदीधितिश्चेत् सर्वारिष्टशान्तिः स्यादिति भावः ।  
 अत्र अमृतेति सुधाविवक्षया प्रत्युक्तस्य मृतेतराश्रयत्वेन योजनाद्वक्तोक्तिरलङ्कारः ।  
 'अन्ययोक्तस्य वाक्यस्य कावचा श्लेषेण वा भवेत् । अथवा योजनं यत्र सा  
 वक्तोक्तिर्निगद्यते ॥' इति ॥ १०४ ॥

अन्वयः—विदमंजे, एष अमृतदीधितिः, किम् अमुष्य अमुमि ताप  
 भजसि ? सखि, यदि शशमृतं चन्द्रिका मृता भवन्ति तदा क्व परित्यज्यते ?

हिन्दी—सखी ने कहा—हे विदमंसुते, यह ( चन्द्र ) अमृत किरण है,  
 क्या इसकी किरणों से सताप होता है ? दमयन्ती ने उत्तर दिया—सखी,  
 यदि शश ( कलक ) धारी ( चन्द्र ) की किरणें 'मृत' ( मृष्ट ) हो जाती  
 तो किससे सताप मिलता ?

टिप्पणी - दमयन्ती ने कहा कि ताप का कारण तो चन्द्र किरणों ही है,  
 ये न हों तो ताप ही न हो । 'अमृत' का प्रचलित अर्थ सुधा या पीपूष है,  
 दमयन्ती ने इसका अर्थ लिया अ + मृत = न मरा, जीवित । उसने कहा कि  
 चन्दा अ + मृत किरणों ( अक्षयकिरण ) वाला न होकर 'मृत' ( नष्ट )-किरण  
 होता तो सताप का कारण ही न रह जाता । प्रचलित अर्थ से मित्राद्य  
 योजना के आधार पर मल्लिनाथ ने इस श्लोक में वक्तोक्ति अलङ्कार  
 माना है ॥ १०४ ॥

व्रज धृति त्यज भीतिमहेतुकामयमचण्डमरीचिदञ्चति ।

ज्वलयति स्फुटमातपममूर्मुरेनुभव वचसा सखि ! लुप्पसि ॥ १०५ ॥

जीवानु—व्रजेति । ( हे मुखे ! ), धृति व्रज धैर्यं भज । अहेतुका भीति  
 त्यज । अयमचण्डमरीचि शीतासुहृदञ्चत्युदेति, न चण्डासुरित्यर्थः । आतपैरेव  
 मूर्मुरेस्तुपानलं । 'मूर्मुरन्तु तुपानलं' इति वैजयन्ती । स्फुट प्रत्यक्ष यथा तथा,  
 ज्वलयति दहति । हे सखि ! अनुभव प्रत्यक्ष वचसा आगमेन लुप्पसि वाचसे ।  
 तदयुक्तं प्राक्प्लवनवाक्यवत् प्रत्यक्षेणैवावस्य बाधादित्यर्थः । अत्राचण्डकर चण्डकर  
 भ्रान्त्या भ्रातिमदलङ्कारः ॥ १०५ ॥

अन्वय—धृति द्रव्य, अहंत्वा मोति त्यज, अयम् अचञ्चलमरीचि उच्यते ।  
सखि, आनन्दमुमुंरं स्फुट ज्वलयति, अनुभव वचसा लुम्पति ?

हिन्दी—सखी—धैर्य पाँण करो, अकारण नय को त्यागो, यह अप्रचङ-  
किरण ( शीतकिरण चन्द्र ) उदित हो रहा है । दमयंती—सखी, उष्ण अगारों  
से यह प्रचण्ड जला रहा है तू ( मेरे ) अनुभव को वचनो से मिटाना चाहती है ?

टिप्पणी—उदयप्राप्त करता चन्द्रा भले ही शीताशु हो, पर दमयंती को  
तुषानल के तुल्य दग्ध कर रहा है । वह स्वानुभव को मूठा कैसे मान ले ? चन्द्र  
को शीताशु तो केवल कहा जाता है, अनुभव में तो वह प्रचंडाशु है । वचन की  
अपेक्षा अनुभव बड़ा, अतएव स्वीकार्य होता है । यहाँ 'अचञ्चल' ( चन्द्र ) में  
'चञ्चल' ( मूर्ख ) के भ्रम को आधार मान कर मन्त्रिनाथ ने भ्रान्तिमान्  
अलंकार का निर्देश किया है ॥ १०५ ॥

अयि । शपे हृदयाय तवैव यद्यदि विधान रुचेरमि गोचरः ।

रुचिफल सखि । दृश्यत एव यज्ज्वल्यति त्वचमुल्ललयत्यसून् ॥ १०६ ॥

जोवातु—यद्वत्तमयमचञ्चलमरीचिरिति तद्विश्वासयति—अपीति । अयि  
( मुझे ) मैमि । विश्वसिहीति शेष । विचोदचन्द्रस्य रुचेस्तेजसो गोचरो विषयो  
नासि यदि, त्वदङ्गमङ्गीद तेजश्चाद्र न चेदित्यर्थ । ततश्चि तवैव हृदयाय  
शपे । त्वज्जीविताय द्रष्टव्यमीत्यर्थ । 'श्लाघल्लुङ्' इत्यादिना सम्प्रदानत्वाच्च-  
तुषी । तहि, सखि । रुचिफलमेव तेजीमात्रकायमेव दस्यते । न तु चञ्चलायम् ।  
मङ्गलान्वितपरिणामिभिवनिवृत्तेरिति भाव । कृत, यद्यन्मात्त्वच ज्वलयति  
बहति । असून् प्राणान् उल्ललयति उन्मूलयति । सर्वं तेज दग्धत्वाद्वाहकमेव,  
अभिभवात्तु विपर्यय इति पदार्थतत्त्ववादिन ॥ १०६ ॥

अन्वय—अयि, यदि विषयो रुचे गोचर न असि तर्हि तव एव हृदयाय  
शपे । सखि, रुचिफल दृश्यते एव यन् त्वच ज्वलयति असून् उल्ललयति ।

हिन्दी—सखी—अरी, यदि तू चन्द्र को दमक की गोचर न होओ  
( चाँदनी में न बैठो हाँओ ) तो मैं तुम्हारे हृदय ही की शपथ लेती हूँ ।  
दमयंती—सखी, रुचि ( चाँदनी में होने ) का परिणाम तो दीव ही रहा है  
कि त्वचा को जला रही है और प्राणों का उन्मूलन कर रही है ।

टिप्पणी—गखी सौम्य खाकर चन्द्र को विद्यमानता प्रमाणित करना चाहती है, परन्तु दमयन्ती का गरीर चाँदनी में जला जा रहा है, प्राण निकले जा रहे हैं ! वह कैसे माने कि यह चन्दा है और वह चाँदनी में है ? उसे तो लग रहा है कि सूर्य की प्रचण्ड किरणें उसे अत्यन्त व्यथित कर रही हैं ॥१०६॥

विधुविरोधितियेरभिघायिनीमयि । न कि पुनरिच्छसि कोकिलाम् ।

सखि ! किमर्थं गवेपणया ? गिरं किरति मेयमनर्थमयी मयि ॥१०७॥

जीवातु—विध्विति । अयि मैमि ! विधुविरोधितिये कुह्लाख्याया नष्टे दु-  
'तियेरभिघायिनी, तदभिघायककुह्लाख्योच्चारिणी 'कुह कुह्लि'ति नामग्रह तदा-  
'ह्लायिनीमित्यर्थे । कोकिला पुन कि नेच्छसि । भा भूस्त्वम् तद्विरोधिनीमेना  
कि नेच्छसीत्यर्थं ? हे सखि ! अयं गवेपणया कुह्लाख्यस्य नष्टवद्वा तिसिर्यं  
इति विचारेण किम् ? तत्साध्य किमपि नास्तीत्यर्थं । गम्यमानमाधनक्रिया-  
पेक्षयाकरणत्वात्सूतीया । कृतः, सेष कोकिला मयि विषये गवादिशब्दवदमिधे-  
यवती न भवतीत्यर्थमयी, रघपोषादिबदर्यंशूयत्वात् । किञ्च, अनर्थमयी  
अशानिघोषवदापद्रूपा च, ताम् । अनर्थशब्दान्मयत्प्रत्यय । गिर किरति  
'विक्षिपति ॥ १०७ ॥

अन्वय —अयि, विधुविरोधितिये अभिघायिनी कोकिला पुन कि न  
इच्छसि ? सखि, अयं गवेपणया किम् ? सा इय मयि अनर्थमयी गिर किरति ।

हिंदी—सखी—अयि, ( फिर ) चन्द्र की शत्रुतिथि ( अभावस्या—'कुह' )  
का उद्घोष करने वाली कोकिला को तुम क्यों नहीं चाहती ? दमयन्ती—  
सखी, अब कुहने में क्या लाभ ? वह यह तो मेरे पक्ष में अनर्थमयी बाणी  
बूझ रही है ।

टिप्पणी—कोकिला 'कुह-कुह' बोलती है । 'कुह' का अर्थ अभावस्या भी  
है, जिसमें चन्द्र दशन नहीं होता । इस प्रकार 'कुह' अर्थात् अमा चन्द्र की शत्रु  
हुई । शत्रु का नाम रटने वाली कोकिला को दमयन्ती मित्र रूप में आदर न  
देकर उसे भी व्यथा देनेवाली मानती है । सखी को इस पर आक्षेप है । दमयन्ती  
को उचित है कि वह 'कुह कुह' बोलती कोयलिया को चाहे । इस पर दमयन्ती  
का उत्तर है कि भले ही 'कुह' का अर्थ अभाव हो, उसे तो वे 'कुह' के बोल

अनर्थकारक—पीडादायक लग रहे है, वह कैसे अनर्थदािनी कोकिला को इच्छा करे ? कोकिलम्बर की विरहिनियों को पीड़ित करनेवाले के ह्र में प्रसिद्धि है । भाव यह है कि कोकिला बोलती ही है, 'कुहू' को बुझती नहीं, बचिका है वह ॥ १०७ ॥

हृदय एव तवास्मि स वल्लभम्यदयि किं दमयन्ति । विषादसि ? ।

हृदि पर न बहिः खलु वनते सखि ! यतम्यन एव विपद्यते ॥ १०८ ॥

जीवातु—हृदय इति । हे दमयन्ति ! स ते वल्लभ नल तव हृदय एवास्ति वर्तते । तदपि तथापि किं विषादसि लिखते ? हे सखि ! यतो हृदि पर हृद्यैव वर्तते बहिनं वर्तते खलु । तत एव विपद्यते लिखते । सर्वभावे नृद । यत स्मयत एव, न तु क्षयते, अतो मे विषाद इत्यर्थे ॥ १०८ ॥

अन्वय—दमयन्ति स वल्लभ, तव हृदये एव अस्ति तदपि किं विषादसि ? सखि, हृदि पर वर्तत न खलु बहिः तत एव विपद्यते ।

हिन्दी—सखी—हे दमयन्ति, वह प्रिय ( नल ) तेरे हृदय में ही है, तो भी क्यों बिगड़ कर रहो हो ? दमयन्ती—हूँ सखि हृदय में ही विराजमान है, बाहर नहीं आता, इसीलिए तो खिन्न हूँ ।

टिप्पणी—भाव यह है कि नल मनोगोचर ही है, नयनगोचर, बहिरिन्द्रियगोचर नहीं होता, अतः प्रत्यक्षमुख न मिलने के कारण दमयन्ती, विषण्ण है ॥ १०८ ॥

स्फुटति हारमणी मदनोष्मगा हृदयमप्यनलङ्घनमय ते ।

सखि ! हृत्वास्मि तदा यदि हृद्यपि प्रियतम स मम व्यवधापितः ॥ १०९ ॥

जीवातु—स्फुटतीति । हे प्रिय ! मदनोष्मगा कामम्बरेण, हारमणी हृदया-लङ्घाररत्नं स्फुटति विदलति सखि, अद्य ते तव हृदय वक्षोऽपि अलङ्घन न भवतीत्यनलङ्घनम् आपरिप्लव जातम् । अथ हृदयमन्तरङ्गमप्यनल नलरहित कृतमित्ययान्तर भवोत्तरमाह—हे सखि ! स प्रियतम मम हृद्यपि व्यवधापितो यदि दूरीकृतश्चेत् । दधातेर्ष्यन्तात्वमंगितः । 'अतिही' इत्यादिना पुणान । तदा हृत्वास्मि । वक्षोक्तिरलङ्कार । लक्षपमुक्तम् ॥ १०९ ॥

अन्वय.—मदनोष्मगा हारमणी स्फुटति अद्य ते हृदयम् अपि अनलङ्घ-

कूटम् । सखि, यदि स मम प्रियतम हृदि अपि व्यवधापित तदा हता अस्मि ।

हिन्दी—सखी—कामजनित वियोगाग्नि से हार की मणि टूट जाने के कारण हे दमयन्ति, आज तेरा हृदय भी 'अनलकृत' (अलकारहीन) है । दमयन्ती—हे सखी, यदि मेरा वह प्रियतम हृदय मे से दूर हो गया है, तो मैं मरी ।

टिप्पणी—हार की मणि के टूट जाने से दमयन्ती का हार उतार कर रख दिया गया फलस्वरूप उसका हृदय—वक्ष स्थल 'अनलकृत' अर्थात् भूषण-रहित हो गया । सखी ने जब इसके विषय में कहा तो दमयन्ती ने 'अनलकृत' का अर्थ लिया नल से रहित ( अ + नल + कृत ) और वह ध्वरा कर मरण-पीडा का अनुभव करती मूर्च्छित हो गयी । मल्लिनाथ ने यहाँ वशोक्ति का निर्देश किया है । जैसा कि पहिले लिखा जा चुका है—विद्याधर ने इन आठो जलोकों में इत्येवशोक्ति मानी है ॥ १०९ ॥

इदमुदीय तदैव मुमूर्च्छं सा मनसि मूर्च्छितमन्मथपावका ।

यव महतामवलम्बलवच्छिदामनुपपत्तिमतीमपि दुःखिता ॥ ११० ॥

जीवातु—इदमिति । स भैमी, इद पूर्वोक्त 'सखि' 'हतास्मी'ति वाक्यम् 'उदीय' उच्चार्य, तदैव मनसि मूर्च्छितमन्मथपावका प्रबृद्धकामानला सती, मुमूर्च्छं नुमोह 'मूर्च्छा मोहममुच्छाययोरिति'त्यर्थद्वयेऽपि घातो स्मरणात् । तयाहि दुःखिता सञ्ज्ञानदुःखा, दुःखिनी सा । अनुपपत्तिमतीमनङ्गुह्यमिति इत्येवमन्मथपावकजन्यभ्रातिविषयत्वादनुपपत्तामरीत्यर्थः । अवलम्बलवस्य हृदयसङ्गतिमात्र-लक्षणस्य प्राणाधारत्वेऽप्यापि छिदामुच्छेदक यव सहता, यव सहेतेत्यर्थः । दुःखोद्विग्नस्य भ्रातृमभ्रान्त भानिष्टमवेदनमतिदुःसहमतो युक्तमस्या मूर्च्छन-मिति भावः । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥ ११० ॥

अन्वय — मनसि मूर्च्छितमन्मथपावका सा इदम् उदीय तदा एव मुमूर्च्छं, दुःखिता अनुपपत्तिमतीम् अपि अवलम्बलवच्छिदा यव सहताम् ?

हिन्दी—जिसके मन में कामानल धाव रहा था, ऐसी वह ( दमयन्ती ) इतना ( पूर्वोक्त ) बढ़कर उमो समय मूर्च्छित हो गयी । दुःखिनी अपटित ( काल्पनिक, अतथ्य ) भी आधार का लेशमात्र टूट जाने को कैसे सह पाती ?

टिप्पणी—यद्यपि विरहिणी, पीडिता दमयन्ती का प्रिय उसके निकट



नहीं था, निराधार तो वह, तथापि उसके हृदय में तो वह था । ठेठ नहीं, अल्पसंख्याधार तो था, श्रित नहीं, उसका समूह नाव तो था । 'अनन्यत' सुनकर दमयन्ती घबरा कर समझी कि नन्तु हृदय से भी यथा छोटा सा आधार भी छिन गया । यह दुःख वह दुःखिया न सह सकी और तत्क्षण मूर्च्छित हो गयी । भस्मिन्नाय के अनुसार अर्थान्तरन्यास और विद्याधर के अनुसार काव्यार्थि बलकार ॥ ११० ॥

अधिन कापि मुखे सलिलं सखी प्यधिन कापि सरोजदलैः स्तनी ।  
अधित कापि हृदि व्यजनानिल न्यधिन कापि हिन मुननोत्तर्न ॥ १११ ॥

जीवानु—अग्निनेति । कापि सखी मुननोर्भेद्या मुखे सल्लिम् अधित आहितवतीत्यर्थः । कापि स्तनी सरोजदलैः प्यधित निहितवती, 'बहिः प्रादुरितलोपमवाप्योपसर्गयो' इत्यनेकारण्ये । कापि हृदि व्यजनानिल अधित विहितवती । तालवृन्तेन बीजमानासेप्यर्थः । कापि स्तनी शरीरे हिन चन्दनम् । 'चन्दनेऽपि हिम विदुः' इति विश्वः । अधित निहितवती ॥ १११ ॥

अन्वयः—का अपि सखी मुननो मुखे सल्लिम् अधित, का अपि सरोजदलैः स्तनी प्यधित, का अपि हृदि व्यजनानिल अधित का अपि स्तनी हिनम् अधित ।

हिन्दी—( दमयन्ती को मूर्च्छित देख ) किसी सखी ने सुन्दरी (दमयन्ती) के मुख में जल डाला, किसी ने कमलपत्रों में स्तन डक दिये, किसी ने हृदय पर पञ्चाक्षर कर हवा की और किसी ने शरीर पर शीतल चन्दन का लेप किया ।

टिप्पणी—कामज्वर का उद्वेग । क्रियाओं का सुन्दर प्रयोग ॥ १११ ॥

उपवचन विर मृदुशीतलैर्जलजजालमृगाललादिभिः ।

प्रियमयीरिवहः स तथा क्रमादिमन्त्राप यथा स्मृते चेन्नान् ॥ ११२ ॥

जीवानु—उद्वेगारेति । स प्रियमयीरिवहः मृदुशीतलैर्जलजजालमृगाललादिभिः जलजालादिभिः जलजालैः पद्मसमूहैः, मृगालैः जलैः । आदिनादिपदनादि-साधनविशेषः क्रमादि र तयोपवचन, यथेय भेदी स्मृते स्मिन्ने चेन्ना सन्मवान् ॥ ११२ ॥

अन्वय—स प्रियसखीनिवह मृदुशीतलं जलज्जालमृणालजलादिभिः क्रमात् चिरम् तथा उपचचार यथा इय लघुचेतनाम् अवाप ।

हिन्दी—प्यारी सहेलियो के समूह ने कोमल-शीतल कमलदलो, मृणालो और जल आदि से क्रमपूर्वक ( यथारोति ) देर तक ऐसा उपचार किया, जिससे उस ( दमयन्ती ) को दीर्घ चेतना प्राप्त हो गयी ।

टिप्पणी—विद्याधर के अनुसार अनुशस और जाति अलकार ॥ ११२ ॥

अथ 'कले' कलय श्वसित स्फुट चलति पक्ष्म चले' परिभावय ।

अधरकम्पनमुन्नय मेनके । किमपि जल्पति कल्पलते । शृणु ॥ ११३ ॥

रचय चारुमते । स्तनयोर्वृत्ति गणय केशिनि । वेश्यमसयतम् ।

अवगृहाण तरङ्गिणि । नेत्रयोजलक्षरावि'ति शुश्रुविरे गिर' ॥ ११४ ॥

जीवातु—अथ भैरव्या कलादय सप्त सख्यस्तासा सहसापरीक्षाव्यप्राणा मिय कलकल श्लोकद्वयेनाह—अथेति । अपानन्तरम्, इति गिर शुश्रुविरे इति सम्बन्ध । ता एवाह—हे कले ! स्फुट व्यक्त, श्वसिति प्राणिति, कलय आकलय । हे चले ! पक्ष्मनेत्रलोम, चलति चक्षुश्चमिपतीत्यर्थ । परिभावय परामृश । हे मेनके ! अधरकम्पनमोष्ठचलनमुन्नय तन्नय । हे कल्पलते ! किमपि जल्पति, शृणु रचयेति । हे चारुमते । स्तनयोर्वृत्तिमावरण रचय । हे केशिनि ! असयत विस्रस्त कैश्य वेशसमूह, 'वेशाभ्याम्वा यवृथाव्यतरस्याम' इति यञ्प्रत्यय । गणय चि'तय । अधानेत्यथ । हे तरङ्गिणि ! नेत्रयोजलक्षरावधु-प्रवाही, अवगृहाण अधान । इति गिर शुश्रुविरे भूता ॥ ११३-११४ ॥

अन्वय—अथ कले, स्फुट श्वसिति, कलय, चले, पक्ष्म चलति, परिभावय, मेनके, अधरकम्पनम् उन्नय, कल्पलते, किम् अपि जल्पति, शृणु । चारुमते, स्तनयो वृत्ति रचय केशिनि, असयत कैश्य गणय, तरङ्गिणि, नेत्रयो जलक्षरो अवगृहाण—इति गिर शुश्रुविरे ।

हिन्दी—सदनन्तर हे कले, ( दमयन्ती ) ठीक से साँस ले रही है ? ध्यान से देख, मरी चले, पलक हिल रह है ? विचार कर, ए मेनके, ओठों का कंपन देख, कल्पलते, क्या कुछ बोली ? सुन । अथ चारुमते, स्तनों को टक दे, केशिनि, विसरे बाल सँवार दे और तरंगिणि, बहते आँसु पोछ—इम प्रकार की बातें सुन पड़ने लगी ।

टिप्पणी—इन श्लोकों में विद्याधर के अनुसार अनुपास और जाति झलकार है। सखी-निबट्ट के सार्थक नामों का प्रयोग जोर नाटकीय वाक्य दर्शनीय है। भर्तृदासिका के विनयस्त हो जान पर सखी-समूह के बिन्ता, कर्मठता आदि भावों का सुन्दर चित्रण है ॥ ११३-११४ ॥

कलकलं स तदालिजनाननादुदलसद्विपुलस्त्वरितेरितः ।

यमधिगम्य सुताल्यमेतवान् द्रुततरः स विदर्भपुरन्दरः ॥ ११५ ॥

जीवानु—कलकल इति । तदा तस्मिन् सखीजनव्याकुलकाले, आलिजनान-  
नात् मल्लीमुक्तास्त्वरितेरितं सम्प्रमोक्तिमि, विपुलो महान्, स कलकल  
उदलसदुत्पित । य कलकलमधिमाम्याकर्ण्य, स विदर्भपुरन्दर भीमभूपति द्रुत-  
तरोऽतित्वरित, सुताल्यमेतवान् कन्या त पुर प्राप्तवान् ॥ ११५ ॥

अन्वयः—तदा आलिजनान् स्वरितेरितं स विपुल कलकल उदलत्  
यम् अधिगम्य स विदर्भपुरन्दर द्रुततर सुताल्यम् एतवान् ।

हिन्दी—उब सखियों के समूह के शीघ्रता से उच्चरित सम्प्रमवचनों के  
कारण एक महान् कोलाहल उठ पड़ा जिसे सुनकर वह विदर्भपुर (राजा भीम)  
हरपन्त शीघ्रतापूर्वक पुनी के आवास में पहुँच गया ।

टिप्पणी—विद्याधर के अनुसार अनुपास और जाति झलकार ॥ ११५ ॥

कन्यान्त पुरबोधनाय यदधीकारान्न दोषा नृप

द्वौ मन्त्रिप्रवरश्च तुल्यमगदङ्कारश्च तामूचतु ।

देवाकर्णय सुश्रुतेन चरकस्योक्तेन जानेऽन्विल

स्यादस्या नलद विना न दलने तापस्य कोऽपि क्षमः ॥ ११६ ॥

जीवानु—कन्येति । कन्यान्त पुरस्य बोधनाय मोगक्षेमानुत्तन्वानाम, यदधीका-  
राद्ययोर्मन्त्रिवैद्ययोरधीकाराभियोगात् । ‘उपसर्गस्य षष्ठ्यमनुष्ये बहूलम्’ इति  
दीर्घ । दोषा परपुष्ट्यवेगादयो वागादमदश्च, न सन्तीति शेष । अस्तिर्भवति-  
परोऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्तीति वचनात् । तौ मन्त्रिप्रवरश्च अपदमपरोम करोती-  
त्यगदङ्कारो बंधश्च । ‘रोगहार्यमगदङ्कारो मियावैद्यश्चिक्त्स्नक’ इत्यमर ।  
‘कर्मण्यण्’ ‘कारे सन्यागदस्य’ इति भुमागम । द्वौ नृपं तुल्यमेकवाक्यमूचतु ।  
देव राजन् ! आकर्णय सुश्रुतेन सम्यक्श्रुतेन, चर एव चरको गूढवार, तस्यो-

कनेन वाक्येन । अन्यत्र सुश्रुतेन चरकस्योक्तेन चरकाचार्यप्रणीतग्रन्थेन, अखिल तापनिदान जाने । अस्यास्तापस्य दलने निवर्तने, नल राजान ददातीति नलद, तत्सघटक विना । 'आतोऽनुपसर्गे क' अयत्र, नलदमुक्षीर विना । 'मूलेऽस्यो-क्षीरमस्त्रियाम् । अमय नलद सेव्यम्' इत्यमर । कोऽपि न क्षमो न स्यात् । 'शक्ति लिङ्' इति शक्यार्थे लिङ् अत्र द्वयोरपि नलदयो प्रकृतत्वाद् केवलप्रकृत-श्लेषोऽलङ्कार ॥ ११६ ॥

अन्वय—कन्यास्त पुरबोधनाय यदधोकारात् 'दोषा न मन्त्रिप्रवर अगदङ्कारश्च द्वौ नृप तुल्यम् ऊचुः—देव, आकर्ण्य, सुश्रुतस्य चरकस्य उक्तेन अखिल जाने, अस्या तापस्य दलने नलद विना क अपि क्षम न स्यात् ।

हिन्दी—कन्या के अन्त पुर में योगक्षेम को जानने के लिए जिस अधिकरण से दोष ( सामाजिक मर्यादा दोष और वातपित्तकफ दोष ) नहीं है, मन्त्रिप्रभेद और चिकित्सक दोनों राजा से एक समान बोले—देव, सुनिए । ( १ ) मन्त्री ने कहा—सुश्रुत ( भलीभाँति सुन ) और चरक ( चरो ) द्वारा कहे ( कथन ) से मैं सब जान गया हूँ कि इस ( दमयन्ती ) के तत्ताप का दामन धरने में नलद ( नल राजा ) के अतिरिक्त कोई समर्थ न होगा । ( २ ) चिकित्सक ने कहा—सुश्रुत और चरक नामक मान्य आयुर्वेद ग्रन्था में कहे गये ( लक्षणों ) से मैं भली-भाँति जान गया हूँ कि इसका ताप मिटाने में नलद ( उशीर ) के अतिरिक्त और कोई समर्थ नहीं है ।

टिप्पणी—कन्या के अन्त पुर में पुरुष-प्रवेश मर्यादा के विरुद्ध है, परन्तु ऐसी व्यक्ति जिनसे व्यवस्था बनी रहे, पुरुष होने पर भी प्रविष्ट हो सकते हैं । मन्त्री और वैद्य ऐसे ही पुरुष होते हैं । 'मन्त्री व्यवस्था के प्रति उत्तरदायी और अधिकारी है' । किसी प्रकार का अमर्यादित और निन्दनीय, वाजित कार्य अन्त पुर में न हो, इसको व्यवस्था मन्त्री पर है । शरीर को रोगी बना देने वाले वात, पित्त, कफ—त्रिदोष की व्यवस्था चिकित्सक पर है । अतः ये जाना दमयन्ती के अन्त पुर में गये । 'सुश्रुत' ( भलीभाँति सुना, वैद्यग्रन्थ ), 'चरक' ( चर और आयुर्वेद ) और 'नलद' ( राज नल, उशीर ) अनकार्य शब्द है, जिनके प्रयोग से मन्त्रिप्रवर और अगदङ्कार के तुल्यकथन की

मोक्ष-प्राप्ति की गयी है। मन्त्रिनाथ ने इन्हीं अलंकार निर्देश किया है और विद्या-ने तुल्ययोगिता और इन्हीं का। आर्दूलविक्रीडित वृत्त ॥ ११६ ॥

तान्म्यामभूद्युगपदप्रभिधीयमान भेदव्ययाकृति मिथप्रतिधानमेव ।  
श्रोत्रे तु तस्य पपतुर्नृपतेर्न किञ्चिद्भेदव्ययमनिष्टततजङ्घितयाकुलस्य ॥११७॥

जीवानु—तान्म्यामिति । तान्म्या मन्त्रिभिर्गम्या, भेदव्ययो नामाभेद स एवाकृतिर्यस्य तद् भेदव्ययाकृति, अभिजाकारमेकरूप यथा तथा, युगपदेकदा, अभिधीयमान नलदादिवाक्यमिति शेष । मिथोऽयोन्य प्रतिधातो विरोधो यस्य तन्मिथप्रतिधात मिथोनिन्नमेवामूत् । अभिधानयोगपद्यादेकस्यैवाच्चा भिन्नार्थैकवाक्यवत् प्रतीयमानमपि तद् भिन्नार्थ वाक्यद्वयमेवासीदित्यर्थ । राजस्तु न तत्र दृष्टिरित्याह—नैम्या विषये अनिष्टततजङ्घितया अनिष्टानेक शङ्कावत्त्वेन आकुलस्य विह्वलचित्तस्य, 'प्रेम पश्यति मयान्यपदेऽपि' इति न्यायादिति भाव । तस्य नृपते भीमस्य श्रोत्रे तु किञ्चिन्न पपतु न किञ्चित्थं पपतु ॥ व्याकुलान्त-करणतया सङ्काशये नासीव कर्षं दत्तवानित्यर्थ ॥११७॥

अन्वय — तान्म्या भेदव्ययाकृति कपि युगपद अभिधीयमान मिथप्रति-  
धातम् एव अमूत्, भेदव्ययम् अनिष्टततजङ्घितया आकुलस्य तस्य नृपते श्रोत्रे तु  
किञ्चित् न पपतु ।

हिन्दी—उन ( मंत्री, और बैद्य ) दोनों के द्वारा स्वरूपत अभिन्न भी  
एक साथ कहा गया परस्पर विधातक हो हुआ, ( क्योंकि ) भीमसुता  
( दम्पती ) के अनिष्ट की शका से व्याकुल उस राजा के कानों में तो कुछ  
भी न पड़ा ।

टिप्पणी—बेटी के अनिष्ट की शका से व्याकुल राजा मंत्री और वैद्य-दोनों  
के वचनों पर ध्यान न दे सका । व्याकुल होने से उसने कुछ सुना ही नहा  
जैसे । भाव यह कि बेटी को हन्य वा राजा बन्धुवन्त व्याकुल हो गया ।  
विद्यापर के अनुसार जानि अलंकार । वसततिल्का वृत्त ॥ ११७ ॥

द्रुतविगमिनविप्रयोगविह्वलमपि तनया नृपति पदप्राम्नाम् ।

अकलरदनमाशुगविमग्ना झटिति पराशयवेदिनो हि विज्ञा ॥११८॥

जीवानु—द्रुतेति । नृपति द्रुतविगमितविप्रयोगविह्वल द्रागवसास्तिगिति-

रोपचारचिह्नमपि, पदे प्रणम्रा पादपतिताम् 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य'  
इति णत्वम् । तनयामसमाशुषाधिगम्ना मदनव्यथामग्न्याम् अकलयन्निश्चिकाय ।  
तथाहि विज्ञा प्रवीणा 'प्रवीणे निपुणाभिज्ञविज्ञनिष्णातसिधिता' इत्यमर ।  
झटित्यविलम्बेन पराशयवेदिनो हि, प्रकाशकलिङ्गमन्तरेण आकारमात्रेण परे-  
ङ्गित निश्चिन्वतीत्यर्थः । कामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥११८॥

अन्वयः—नृपति द्रुतविगमितविप्रयोगचिह्नम् अपि पदप्रणम्रा तनयाम्  
असमाशुषाधिगम्नाम् अकलयन्, हि विज्ञा झटिति पराशयवेदिनः ।

हिन्दी—राजा ने क्षीघ्रतापूर्व विरह के चिह्नों के दूर कर दिये जाने पर  
भी चरणों में प्रणत पुत्री ( दययती ) को विषमवाण ( काम ) के रोग में  
मग्न समझ लिया, क्योंकि चतुर-समझदार व्यक्ति शट से दूसरे के आघ्र्य को  
जान लेते हैं ।

टिप्पणी—राजा के जाने का समाचार जानते ही सखियों ने विरहताप  
शमनाय ए' व उशीरादि क्षीतोपचारों ( श्लोक १११ १२ ) को झटपट हटा  
दिया, किन्तु प्रवीण राजा तुरन्त समझ गया कि बेटी कामरोग-व्ययित है ।  
चतुर जनों से भेद छिना नहीं रहता । अर्थान्तर न्यास अलंकार । मल्लिनाथ ने  
चार श्लोकों ( सम्भा ११८ १२१ ) में पुष्पिताग्रा छन्द माना है, जिसका  
लक्षण है—'अयुजि न युगरेफतो यकारो युजि च नञी जरगादच' पुष्पिताग्रा ।'  
पुष्पिताग्रा के प्रथम तृतीय चरणों में इस क्रम से चारह वर्ण होते हैं—२ नगण  
( ॥, ॥ ), १ रगण ( ११५ ), - १ यगण ( १२५ ) और द्वितीय-चतुर्थ चरण में  
तेरह—१ नगण ( ॥ ), २ जगण ( १२५, १२५ ), १ रगण ( ११५ ), और  
१ अस्मि वण गु ( ५ ) । इस दृष्टि से सबद्ध श्लोक पुष्पिताग्रा है । विद्याधर  
ने दन्ती श्लोकों में क्षीपच्छन्दसिक वृत्त माना है, जिसका लक्षण उन्होंने दिया  
है—'पर्यन्ते यो तथैव शेषमोपच्छन्दसिक, सुधीमिरुक्तम् ।' इसके अनुसार चारों  
चरणों के अंत में यगण ( १२५ ) होना चाहिए ( कदाचित् - 'यो'—अर्थात्  
दो यगण ) । इन श्लोकों के चरणांत में यगण तो है, एक यगण । सामान्यतया  
छन्दःशास्त्र में क्षीपच्छन्दसिक का नाम मालमारिणी भी माना गया है,  
जिसके प्रथम तृतीय चरणों में चारह वण ( ११५, ११५, १२५, २२५ ) और द्वितीय-

चतुर्थ में बारह वर्ण ( 115, 311, 315, 155 ) होते हैं । ऐसा सबद श्लोकों में नहीं है ॥ ११८ ॥

अनरदयः पिताशिव सुतार्य ननशिरसे मृदुस्नमय्य मौलिम् ।

‘दयिनमभिमत स्वयवरे त्व गुणमयमाप्नुहीत्यासरे कियद्भिः’ ॥११९॥

जीवानु—अंतरदिति । अथ पिता भीम, ननशिरसे स्तब्धानतमुत्तार्य सुतार्य दमयन्त्यै, मौलि मुखमुग्रमय्य हे वत्से । कियद्भिः कतिपर्यंरेव वासरं स्वयवरे त्व गुणमय गुणाद्यमभिमत दयितमाप्नुहीत्याशिव मृदुर्व्यंतरत् ॥११९॥

अन्वयः—अथ पिता ननशिरसे सुतार्यं मुहु मौलिम् उन्नमय्य आशिव व्यंतरत्—स्वयवरे, त्व कियद्भि एव वासरं गुणमयम् अभिमत दयितम् आप्नुहि । ( अथवा त्व कियद्भि एव वासरं स्वयवरे गुणमयम् अभिमत दयितम् आप्नुहि ) ।

हिन्दी—उदनतर पिता ( गजा भीम ) ने सिर नीचा किये उपस्थित पुत्री ( दमयन्ती ) को—( उसका ) भस्त्र खण भर को उठाकर आशीष् दिया—हे स्वयवरण करनेवाली, तू कुछ ही दिनों में गुणवान् और मनबाह्य प्रिय पति प्राप्त करे । ( अथवा तू कुछ ही दिनों में स्वयवर मे गुणवान् प्राप्त करे ) ।

टिप्पणी—प्रिय पुत्री को राजा ने आशीष् देते हुए आश्वासन दिया कि वह व्यथित न हो, शीघ्र ही स्वयवर में उसे अभिनिषित पति प्राप्त करने का अवसर मिलेगा । राजा ने व्याधि जान ली और कहा—‘स्वयवरमह कृतास्मि ।’ विद्याधर के अनुसार आशीरलकार ॥ ११९ ॥

तदनु स तनुजानखीरवादोत्तुहिनश्रुती गत एव होदुशोनाम् ।

कुमुममपि शरायते शरीरे तदुचिनमाचरतोपचारमस्याम् ॥१२०॥

जीवानु—तदन्विति । तदनु आशीर्वादानंतरम् ‘अनुज्ञते’ इति कर्म-प्रवचनीयमज्ञा । स नृभस्तनुजासखी सुतावयस्या अजादीदूचे । कि उत्तदाह—यस्मात्, तुहिनश्रुती शिशिरकाले, ‘श्रुत्यन्’ इति प्रवृत्तिभाव । गते निपंत एव, वचन्ते पुनपरिणामात्तापस्य दुःसहत्वाच्चेति भाव । ईदृशीना कोमला-ज्जीना यौवनप्रविष्टाना शरीरे कुमुममपि शरायते शरवदाचरन्ति, तदनु दुःसह

भवति । एकत्र गात्रमार्दवादयत्र मदनबाणत्वाच्चेति भावः । तत्तस्मादस्या कोमलाङ्गया युवत्या च, उचितं योग्यमुपचारं प्रतीकारमाचरत ॥ १२० ॥

अन्वयः—तदनु स तनुजासखी अवादीत्—हि तुहिनश्रुती गते एव ईदृशीनां शरीरे कुसुमम् अपि शरायते तत् अस्याम् उचितम् उपचारम् आचरत ।

हिन्दी—तत्पश्चात् राजा ने बंटी की सखियों को आज्ञा दी—क्योंकि शिशिर आतु व्यतीत होने पर ऐसी कोमलागियों ( तात्पर्य प्राप्ताओं ) के शरीर में लगा फूल भी बाण का कार्य करता है, अतः इसका शत्रु के अनुकूल उपचार करो ।

टिप्पणी—दमयन्ती की उचित देखभाल करने का आदेश देकर राजा ने पिता के अनुकूल व्यवहार किया । 'कुसुममपि शरायते' में 'कुसुमशर' ( काम बाण ) का संकेत । वसंत में 'पुष्पबाण' व्यापक होता है, तदुचित उसीरादि उपचार आवश्यक हैं । विद्याधर के अनुसार उपमालकार ॥ १२० ॥

कतिपयदिवसैर्वयस्यया च स्वयमभिलष्य वरिष्यते वरीयान् ।

ऋषिमशमनयानया तदाप्नु रुचिरचिताय भवद्विधाभिधाभि ॥ १२१ ॥

जीवातु—कतीति । किंच, कतिपयदिवसैः अल्पदिनैरेव, वो पुष्पाक, वयस्यया सख्या भैम्या, वरीयान् श्रेष्ठ पुमान्, स्वयमभिलष्य कामयित्वा वरिष्यते । यः कामयते त वरिष्यतीत्यर्थः । तत्तस्माद् अथेदानीम्, अनया दमयत्या ( कर्म्या ), भवतीनां विधेयं विधा यासां तासां भवद्विधानां सखीनां, सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुनर्द्वाव । अभिधाभिरुक्तिभिर्या ऋषिमशमना कार्यं निर्वर्तना, तथा उपायभूतया रुचि कान्ति प्रीतिश्च, आप्तुमुचिता आसन्त्या, स्वयंवरपर्यन्तं भवदुपलालनाकथनं वेद विहाय प्रसन्नया सत्पुष्टया च स्थातव्यमित्यर्थः । द्रुतेत्यादिश्लोकचतुष्टयं पुष्पिताशानूत्तम् ॥ १२१ ॥

अन्वयः—कतिपयदिवसैः च वयस्यया स्वयम् अभिलष्य वरीयान् वरिष्यते सः अप अनया भवद्विधाभिधाभि ऋषिमशमनया रुचिं आप्तुम् उचिता ।

हिन्दी—( राजा ने और भी आज्ञा दी )—कुछ दिनों में तुम्हारी सखी ( दमयन्ती ) द्वारा अपनी इच्छानुसार वरतर ( अच्छा वर ) वरा जायेगा, अतः सप्रति इसे ( दमयन्ती को ) आज जैसी सखियों के समझाने से कृपता दूर करने का वि प्रार्थन करना उचित होगा ।



टिप्पणी—राजा ने दमयन्ती की सखियों को जादस दिया कि शीघ्र ही स्वयंवर का आयोजन होगा, जिसमें दमयन्ती का अभीष्ट वर प्राप्त करने का पूर्ण अवसर मिलेगा। सखियों को चाहिए कि दमयन्ती का साहसा देकर-समसा-बुद्धा कर व्याभाव दूर करें, जिससे वह प्रसन्न और शोभाशालिनी प्रतीत होने लगे। इस प्रकार अश्वत्थामा राजा ने पुत्री को अपना अभिलाष पूर्ण करने का सुनिश्चित दिन, जिससे वह सतुष्ट हो। दियाघर के अनुसार उन्नीसवीं बरकार छेमानुसार ॥ १२१ ॥

एव यद्वदता नृपेन तनया नापृच्छि लज्जापदं  
यन्मोहं स्मरभूरकल्पि वपुः पाण्डुत्वतापादिभिः ।

यन्वाशी कपटादवादि सदृशी स्यात्तत्र या सान्त्वना

सन्तत्वाल्लिङ्गनो मनोऽस्मिन्मनोदानन्दमन्दाक्षयोः ॥ १२२ ॥

जोबातु—एवमिति । एव वदता नृपेन, तनया दमयन्ती, लज्जापदं लज्जाहेतुं नापृच्छि न पृच्छेति यत् । राजा ने प्रत्यायोगादिति भावः । पृच्छेद्देहादिन्वादप्रयाने कर्मणि कृद् । मोहो मूर्च्छा च वपुः पाण्डुत्वतापादिभिर्निर्जितं स्मरन् कामबोद्धव्यं निश्चित इति यत् । तत्र तस्या पुन्या सख्यो अनुस्मा या सान्त्वना सान्त्वोक्तिः स्यात्, सा वाशी कपटादप्यितमाप्नुहीत्याशीर्वादिभ्यामादवादीनि च यत्, तत्सर्वं मत्वा नेष्य, आन्विषां मन स्वचित्तम् आनन्दमन्दाक्षयो जग्मिन्मनोत् । लज्जानन्दनागरीचकारेत्यर्थः । स्वेष्टनिष्ठानन्द स्वरूपप्रकाशनाल्लज्जा ॥ १२२ ॥

अन्वय — एव वदता नृपेन तनया लज्जापदं यत् न अपृच्छि, यत् वपुः पाण्डुत्वतापादिभिः स्मरन्, मोहं अकल्पि, यत् च तत्र सखी या सान्त्वना स्यात् वाशी कपटात् यथादि, तत् सर्वं आन्विष्य मन आनन्दमन्दाक्षनो जग्मिन्मनोत् ।

हिन्दी—ऐसा कहते राजा ने बेटी से लज्जा का कारण जो न पूछा, जो शरीर के पीनेन और सुताप आदि में कामबन्ध मूर्च्छां समस्त हो और जो उसके उपर्युक्त सान्त्वना हो सकती थी, वह आशीष् के ध्यात्र से दे दी, उसे समझकर मधियों ने मन को आनन्द और मन्दनेत्रता ( लज्जा ) के समुद्र में निमग्न कर दिया ।

टिप्पणी—राजा ने जो अवमरोचित ( श्लोक सं० ११९-१२१ ) वचन कहे, उससे दमयन्ती सहित सखियों को महाप्रसन्नता हुई साथ भी लज्जा भी लगी, क्योंकि उसका लज्जाका कारण प्रकट हो गया। इष्ट सिद्धि पर प्रसन्नता और रहस्य भेद के कारण लाज। विचारर के अनुसार रूपक समुच्चयमाव-शकलतालकार का सकर, शार्दूलविकीर्णित छन्द ॥ १२२ ॥

श्रीहर्षकविराजराजिमुकुटालङ्कारहीर\* सुत

श्रीहीर सुपुत्रे जितेन्द्रियचय मामल्लदेवो ध यम् ।

तुयं स्थैर्यविचारणप्रकरणभ्रातयेय तन्महा-

काव्येऽत्र व्यगलन्नलस्य चरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वल\* ॥ १२३ ॥

जीवातु—श्रीहर्षमिति । श्रीहर्षमित्यादि सुगमम् । सुयश्चतुर्थं । 'चतुर-  
श्छयतावाचक्षरलोपश्च' इति साधु । स्थैर्यविचारण नाम स्वप्नगीतप्रकरण तद्-  
भ्रातरि तत्समानकर्तृक इत्यर्थः ॥ १२३ ॥

इति मल्लिनाथविरचिते 'जीवातु'समारणाने चतुर्थं सर्गं समाप्त ॥ ४ ॥

अन्वय,—तृतीयसर्गवत्—कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीर सुपुत्रे ।  
स्थैर्यविचारणप्रकरण भ्रातरि नलस्य चरिते अथ तन्महाकाव्ये अथ निसर्गो-  
ज्ज्वल तुयं सर्गं व्यगलत् ।

हिन्दी—तृतीय सर्ग के समान—कवियों के मुकुट के हीरमणि \*  
उत्पन्न किया । 'स्थैर्यविचारण' नामक प्रकरण के सहोदर नल के चरित इस  
'नैपथीयचरित' महाकाव्य में यह प्रकृत्या उज्ज्वल चतुर्थं सर्ग पूर्ण हुआ ।

टिप्पणी—इस श्लोक में बताया गया कि 'स्थैर्यविचारण' नामक प्रकरण  
और 'नैपथीयचरितम्' सहोदर सवध है, अर्थात् दोनों के जन्म का कारण एक  
ही है । इस प्रकार महाकवि श्रीहर्ष ने यह बता दिया कि उन्होंने 'स्थैर्य  
विचारण' नामक प्रकरण भी रचा था ॥ १२३ ॥

नैपथीयचरिते चतुर्थं सर्गं समाप्त

# नैपथीयचरितम्

## कथासार

### ( चतुर्थ सर्ग )

इनामाङ्गः विरहाग्निना विदधती निःश सुषाणोर्ध्वर-  
ज्वालाभिर्द्रुतमुर्मुंरोक्तमुपाकल्पाय साम्प्रमुह्य ।  
भीमन्तस्परिचारिकाकलकलानूतलया वीक्ष्य ता  
मातो व्याधिरपि स्वयम्बरमह कर्ताम्बवादीदिति ॥

—श्रीकृष्णरामकवि

उधर मल्लानुरागिणी दमयती के पार्श्व से उठकर हस नल के निहट  
पहुँचा, उधर विदग्धदेश में दमयती नल के वियोग से संतप्त रहने लगी । जैसे  
उसे वियोग-ताप ज्वर रहने लगा, धीरे धीरे खाना रहा, हँसी उठ गयी, चेहरा पीला  
पड़ गया । कामसुतप्ता वियोगिनी विदग्धमनसा माँति माँति की कल्पनाएँ करती,  
न जाने क्या-क्या कहती, उसके आँसू आजाने । बार-बार वह चन्द्रमा को लक्ष्य कर  
जनेक विष आक्रोश प्रकट करती । चन्द्र और काम पर अदना विपाद और  
आक्रोश प्रकट करते-करते दमयन्ती मूर्च्छित हो गयी । खबरायी सखियाँ माँति-  
माँति के उपचार में लगीं । उनका कोलाहल भीमराज तक आ पहुँचा ।  
चिकित्सकों और सचिवों के साथ राजा ने पहुँच कर बेटी को देखा । बहुत  
राजा ने व्याधि समझी और धोषणा की कि तीव्र ही दमयती—स्वयम्बर होगा ।  
समक्षदार राजा लजाती बेटी से क्या पूछता ?

# पद्यानुक्रमणिका

( चतुर्थ सर्ग )

श्लोका	श्लोकाङ्काः	श्लोका	श्लोकाङ्काः
अकरणादय	१०२	उदयति स्म	१८
अतनुना	३०	उदर एव	६०
अनितमं समपादि -	४	उपवचार	१११
अतिशयव्यता	४२	उपहरन्ति न कस्य	६०
अथ कले कलय	११३	अनुदय कथयन्ति	६६
अथ नलस्य	१	एव यद्गता	१२१
अथ सुकुर्वहु०	४३	कतिपय०	१२१
अथित कापि	१११	कन्यान्त पुर०	११६
अथवयदिरहोष्मणि	८	करपदावनलोचन०	१७
अमलभाविमिषम्	२२	कलकल	११६
अनुममर	७३	किमसुभिर्गलिर्वर्ज	६२
अपि अथग्नितराभरवत्	५२	किमु तदन्तरभौ	६
अपि विधिः	८३	किमु भवन्तमुमा०	६७
अमृतादीषिभिरेप०	१०४	कुट करे	७३
अथि ममैप०	२८	कुमुचापजताप०	६
अथि विधु परि	४६	कुमुमप्यति०	३१
अथि हापे हृदया	१०६	ऊतारपु सती	४६
असमये	६०	ज्वलति	६४
असितमेक०	६१	तदनु	१२०
इति नियद्यथसैव	१०७	तरंगता०	७
इति विधोर्विधिपोति०	७४	ताम्यामभूद्	११७
एदमुदीर्य तदैव	११०	खदितरोऽपि	३१
इयमनग्नशरावलि०	३३	रामभिषेहि	६०

श्लोका	श्लोकाङ्का	श्लोका	श्लोकाङ्का
स्वमिव कोपि	१८	रक्ष्य चात्मते	११४
स्वमुचित नयनाचिपि	१९	रतिपतिप्रहिवानिल०	१०
दहति कण्ठमयम्	२०	रतिपतेर्विजयास्त्र०	१०
इह न जा न	२१	रतिविपुलकनना नपरश्च	११८
हृगुपहस्यरस्यु०	२२	रिपुतरा	२३
अभयिगमित०	११८	यदनान्मातम्	१६
द्विजपतिप्रमनाहित०	२६	यद निपुमुदमाटि	७०
प्रुधमधीठवती	३	विधिरनङ्ग०	८८
न नलुमोहवशेन	२६	विधुरमानि	२०
नरसुराभ्यमुवाभय	४४	विधुविरोधि०	१०७
नलविमस्तकितस्थ	१८	विनिहितम्	२८
निपततापि न	२१	विरहस्ततङ्ग०	३२
निविशते यदि	११	विरहजानिनि	२७
निशि शशिद् भञ्ज	२४	विरहपागिदम०	१२
न्यचित्त उद्वृष्टि	४१	विरहपागुङ्करोल०	२१
निकरत्रिभुति०	३२	विरहिणे विमुक्तस्य	३१
पुरमिद्रा	७१	विरहिनिर्बहु०	६३
महत्तरेण गुण०	२३	विरहिर्गवध०	६२
प्रियकरप्रहमेव	३०	व्यतरजय	११३
प्रियमन्त्रीनिवहेन	१०१	वय घृति स्वय	१०६
पल्लमलम्पत	८१	शशकलङ्क भयकर	२२
यत्र ददामि	८१	शशिनय दहनान०	३८
मुवनमोहनजेन	८३	यधनपूरतमाल०	२६
मदनतापमरेण	१०	श्रीहर्ष कविराज०	१२३
मनसि सन्तमिव	१२	यदनव कृपया	१२
मुग्धदम्ब यशोन्व०	२३	सन्नि जरा परिगृष्ट	६१
यदतनुज्वरमाह	७	महदरोपति	७७

श्लोका.	श्लोकाङ्का	श्लोका	श्लोकाङ्का
सह तया स्मर	१४	स्मर स मददुरितै०	१५
सुगत एव विजित्य	४०	स्मरहुताशन०	२६
सुहृदमग्निमुदब्रामितुम्	१४	स्वरिपुत्रीषण०	६४
रफुटति हारमणौ	१०६	द्वितगिर न	१०१
स्मरकृता हृदयस्य	१६	हृदय एव सचास्ति	१०८
स्मर नृर्हास०	८६	हृदयमाश्रयसे	७१
स्मरमुख हरनेत्र०	७३	हृदि दमस्वसुरभु०	१३
स्मररिपोरिष	८७	हृदि लुठन्ति	१७
स्मरशराहति०	६	हृदि विदमंभुव०	१६
स्मरसखौ रुचिभि	६७	हृदि विदमंभुवोऽभ्रभृति	२५

# नैषधीयचरितम्

## पञ्चमः सर्गः

यावदागमयतेऽथ नरेन्द्रान् स स्वयवरमहाय महोन्द्रः ।  
तावदेव ऋषिरिन्द्रदिदृक्षुर्नारदस्त्रिदशधाम जगाम ॥ १ ॥

जीवातु—अथ दमयन्तीस्वयवराय इन्द्राद्यामन वक्नु तदुपयोगितया नारदस्तेन्द्रलोकगमनमाह—यावदिति । अथ स महोन्द्रो भीमभूपति, स्वयवर-महाय स्वयवरोत्सवाय, नरेन्द्रान्, यावदागमयते आगमनेनानयनेन विलम्बत इत्यर्थः । 'आगमे क्षमायामात्मनेपद वक्तव्यम्' । 'क्षमोपेक्षा कालहरणे'ति काशिका । तावदेव ऋषिर्नारदः, 'ऋत्यक्' इति प्रवृत्तिमाव । इन्द्र दिदृक्षु-रिन्द्रदिदृक्षु सन्, मधुविषामुवत् गम्यादिशठाद् द्वितीयसमासः । त्रिदशधाम स्वर्गं प्रति जगाम । सर्गेऽत्र स्वागतावृत्तम् । 'स्वागतेति रनमाद् गुरुयन्मम्' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

अन्वय —अथ सः महोन्द्र स्वयवरमहाय यावत् नरेन्द्रान् आगमयते तावत् एव इन्द्रदिदृक्षु ऋषि नारद त्रिदशधाम जगाम ।

हिन्दी—पुत्री दमयन्ती का समाश्वासन कर वह धरती का इन्द्र (भीमराज) स्वयवरमहोत्सव ( में सम्मिलित होने ) के निमित्त जब राजाओं ( को निमन्त्रण दे ) की प्रतीक्षा कर रहा था, तब ही इन्द्र को देखने के इच्छुक ऋषि नारद देवलोक गये ।

टिप्पणी—लोक-परंपरा में कहा जाता है कि नारद कलहन्ध्रिय ऋषि हैं—'नरसमूहं कलहद्वारा क्षतीति नारदः' । प्रस्तुत प्रसंग में भी नारद की स्वर्गयात्रा सधर्ष का एक कारण बनी । विद्याधर के अनुसार उत्तरेक्ष्य अलंकार छेकानुप्रास । इस सर्ग के श्लोक संख्या १-१३३ में स्वामता छंद है, जिसके

प्रत्येक चरण में ग्यारह वर्ण इस क्रम से होते हैं—१ रगण ( S1S ), १ नगण ( 111 ), १ भगण ( 511 ), दो गुरु ( 55 ) ॥ १ ॥

नात्र चित्रमनु त प्रययौ यत्पर्वतः स खलु तस्य सपक्षः ।

नारदस्तु जगतो गुरुर्ध्वविस्मयाय गमनं विललङ्घ्ये ॥ २ ॥

जीयातु—अथ षड्भिस्तद्गमनप्रकारं वर्णयति—नेत्यादि । पर्वतो नारद-सखो मुनि शैलश्च । 'पर्वतः शैलदेवर्षो' इति विश्वः । स नारदमनु प्रययाविति यद् अत्र चित्रमाश्रयं न । कुतः, स पर्वतस्तस्य नारदस्य सपक्षः सखा खलु पक्षयाश्चेति गम्यते । उभयथाप्यनुयानं युक्तमेवेति न चित्रमित्यर्थः । किंतु, जगतो लोकस्य उर्ध्वरभ्रतः, गुरुराचार्यं तस्मादलङ्घ्य, स नारदस्तु, विस्मयाय गमनं विललङ्घ्ये लघयामास । तत्लघनं विस्मयाय भवतीत्यर्थः । गुरुद्रव्यस्य पातनार्हस्य उत्पत्तौ विरुद्धमिति श्लेषोत्थापितो विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ २ ॥

अन्वयः—यत् पर्वतः तम् अनुययौ अत्र चित्रं न, खलु स तस्य सपक्षः, जगतं गुरुं नारदः तु गमनं विललङ्घ्ये, उर्ध्वं विस्मयाय ( अथवा 'जगतं उर्ध्वं गुरुं नारदः तु गमनं विललङ्घ्ये, विस्मयाय' । अथवा 'उर्ध्वं गमनं विललङ्घ्ये, विस्मयाय ।' ) ।

हिन्दी—जो कि पर्वत ऋषि उन ( नारद ) के पीछे-पीछे गये, इसमें आश्चर्य नहीं है, क्योंकि वे उनके सपक्ष ( अर्थात् पक्षधर मित्र ) हैं, जगत् के गुरु नारद ने जो आकाश का लघन किया, यह बड़े आश्चर्य की बात है । ( अथवा 'जगत् के बड़े गुरु होकर नारद जी ने बात है ।' अथवा 'ऊँचे आकाश का लघन किया, यह बात है ।' ) ।

टिप्पणी—इस श्लोक में प्रयुक्त 'पर्वत' ( पहाड़ और पर्वत नामक ऋषि ) 'सपक्ष' ( पक्ष और मित्र ), 'नारद' ( नारः जल ददाति नारद = मेघ और देवर्षि नारद ) 'गुरु' ( भारी और पूज्य ) अनेकार्थ शब्द हैं । इस आधार पर उक्त सामान्य अर्थ के अतिरिक्त एक अर्थार्थ की कल्पना हो जाती है—पहाड़ ( पर्वत ) मेघ ( नारद ) के पीछे-पीछे गया, यह आश्चर्य नहीं है, क्योंकि यह पक्षधर है ( दृष्टि द्वारा पक्ष बाट देने से पूर्व पहाड़ों के भी पक्ष थे, यह पौराणिक मान्यता है । ), मेघ ( नार-जलयुक्त अतएव ) भारी होकर भी



जो आकाश-अधन कर गया, यह अचरज है। सबल बादल की बरस जाना चाहिए। श्लेषार्थक शब्दों के आधार पर यहाँ जो विरोध आना सिद्ध हो गया है, इस आधार पर मन्त्रिनाथ ने उस श्लोक में श्लेषोत्पादित विरोधानासलकार माना है, विद्याधर ने भी गुण और क्रिया में विरोध के कारण विरोध का निर्देश किया है। विरोध का परिहार इस प्रसंगगत अर्थ से हो जाता है कि गुरु का अर्थ भारी नहीं, पूज्य है। पूज्य होकर भी नारद जी अपने प्रकृति के अनुसार आचरण करते स्वर्ग छोड़ पहुँचे। विविधलोक-भ्रमण तो नारद का स्वभाव है। परंतु मुनि का भी इसी कारण स्वर्गमन विस्मयजनक नहीं है कि वे उनके मित्र और अनुयायी थे। बन्धु आश्चर्य का कारण कुछ भी नहीं है। प्रकाशकार ने 'अगत गुरु नारदस्तु विस्मयाय उच्चैः गगनं विस्मृष्ट्यै' उच्यते 'विस्मयाय' का अर्थ किया है, पक्षियों के स्मरण (आश्चर्य) के लिए—'वीना पक्षिणामपि स्मयाय वेगातिसयेनाद्भुताय'—वेगातिसय से पक्षियों को भी आश्चर्य में डालते—अर्थात् पक्षियों की गति से भी तीव्र गति से अगदगुरु नारद ऊँचे गगन को पार कर गये ॥ २ ॥

गच्छता पथि विनैव विमान व्योम तेन मुनिना विजगाहे।

नाघने हि नियमोज्ज्वलनाना योगिना तु तपसाऽखिलमिद्धिः ॥ ३ ॥

जीवातु—गच्छतेति। पथि विमान व्योमयान विनैव गच्छता तेन मुनिना, व्योम विजगाहे प्रविष्टम्। तथा हि, साधने उपाये नियमोज्ज्वलनाद्विद्वान् नियमेन साधनान्तरापेक्षेन्यर्थः। अग्नयनानामस्मदादीनां योगिना तु तपसा योगधर्मपराखिलमिद्धिः सर्वकार्यमिद्धिः। तस्मान्नायोगिनोऽप्ये किं विमानेनेति नारः। सामान्येन विशेषमपर्यन्तं पोष्यन्तिरन्यास्तः ॥ ३ ॥

अन्वयः—विमान बिना एव पथि गच्छता तेन मुनिना व्योम विजगाहे, हि साधने अग्नयनाना नियम योगिना तु तपसा अखिलमिद्धिः।

हिन्दी—विमान अर्थात् साधोचित वाहन के बिना ही मार्ग में यात्रा करते उस मुनि (नारद) ने आकाश जालोड़ कर टाला (आकाशयात्रा कर डाली), यद्यपि साधन (वाहन, सवारी) तो सामान्य जनों को आवश्यक है, योगियों की ता तब ही सब सिद्ध हो जाती है।

टिप्पणी—‘विमान’ को ‘व्योम’ का विशेषण मानकर और ‘विना एव’ का अर्थ ‘पक्षितुल्य’ मान कर यह अर्थ भी किया जाता है कि पक्षि के समान जाते मुनि ने ‘विमान’ अर्थात् परिभाषातीत, अतिविस्तीर्ण आकाश पार कर लिया। वस्तुतः बाह्यो से सामान्य जन यात्रा करते हैं, तपस्वी योगिब्रह्मों को बाह्योदि साधन अपेक्षित नहीं, वे तो तपोबल से समस्त काय कर डालते हैं। मल्लिनाथ के अनुसार सामान्य से विशेष का समर्थनपरक अर्थान्तरन्यास, विद्याधर के अनुसार विशेषोक्ति और काव्यालिंग अलंकार ॥ ३ ॥

खण्डितेन्द्रभवनाद्यभिमानान्लङ्घ्यते स्म मुनिरेव विमानान् ।

अर्थितोऽप्यतिथितामनुमेने नैव तत्पतिभिरघ्नविनम्रैः ॥ ४ ॥

जीवातु—खण्डितेति । एष मुनि, खण्डितो निरस्त इन्द्रभवनादीनामभिमानोऽहङ्कारो यैस्ताम्, ततोऽपि समृद्धानित्यर्थः । विमानान् देवगृहान्, लङ्घ्यते स्म अतिचक्राम । किं बहुना, अघ्नविनम्रं पादपतितं, तत्पतिभिर्विमानाध्युपितैर्देवैः अर्थितं प्रार्थितोऽपि, अतिथितामातिथ्य, नैवानुमेने । एतन्मात्रविलम्बः च नासहिष्ठेत्यर्थः ॥ ४ ॥

अन्वयः—एष मुनि खण्डितेन्द्रभवनाद्यभिमानान् विमानान् लङ्घ्यते स्म, अघ्नविनम्रं तत्पतिभिः अर्थितं अपि अतिथिता न एव अनुमेने ।

हिन्दी—ये मुनि ( नारद ) इन्द्र आदि के आवासों के अभिमान को भी खण्डित करते विमान ( देवगृहों ) को लङ्घिते जा रहे थे, चरणों में प्रणत उनके स्वामियों द्वारा प्रार्थना की जाने पर भी ( उनका ) आतिथ्य ( नारद ने ) नहीं स्वीकारा ।

टिप्पणी—‘विमान’ का अर्थ ‘सततदा घर’ ( सतमजिला मकान ) भी होता है, अर्थात् इतने ऊँचे ऊँचे थे कि बड़े-बड़े देवगृह भी उनके समुल्लसगम्य थे । ऐश्वर्य से परिपूर्ण ऊँचे-ऊँचे आवास । जाते हुए नारद जी को प्रणाम करते उन घरों के स्वामी उनसे आतिथ्य ग्रहण की प्रणत प्रार्थना करने पर नारद जी ने विलम्ब हो जाने व कारण प्रार्थना स्वीकारी नहीं । विद्याधर के अनुसार उपमा और विभावना ॥ ४ ॥

तस्य तापनभिया तपनं स्व तावदेव समकोचयदचिः ।

यावदेव दिवसेन शशीव द्रागनप्यत न तन्महमेव ॥ ५ ॥

जीवानु—तम्येति । तपनोक्त, तम्य मुने ( कर्मण ), तापनाङ्गिया, सन्तापोऽस्य भविष्यतीति मनेन स्वमात्मीयमचिन्तेजस्तावदेव प्रागेव, समकोच-  
यत् सङ्कोचिनवान् । यावदेव तपनो दिवसेन दिवा, आतपेन स्वीजना, शशोव,  
तन्महता तस्य तेजसेव, द्राक् मपदि, स्वयमेव नातायन, मुनितापनादात्महा  
नेवैरमात्मनङ्कोच इति मत्वा मन्दप्रकाश म्यिन इत्यर्थ । यदा च सूर्योऽपि  
संजिष्ठो मुनिरिति भाव ॥ ५ ॥

अन्वय —तम्य तापनश्रिया तपन स्वम् अचि तावत् एव समकोचयत्  
भावत् एषा तन्महता दिवसेन शशो एव द्राक् न अनप्यत् ।

हिन्दी—उनके द्वारा प्राप्त होने वाले सताप को आशका से अथवा उनको  
ताप न हो, इस मय से सूर्य ने अपने तेज को पहिले ही उतना सङ्कोचिन कर  
लिया, जितना कि यह उन ( नारद ) के तेज से दिन के द्वारा चन्द्र के समान  
शीघ्र तप्त न हो ।

टिप्पणी—सूर्य ने एक विशिष्ट मात्रा में—एक नियत परिमाण में अपने  
तेज अर्थात् तापनक्षमता को क्षीण कर लिया । सूर्य को दो प्रकार की जायकारें  
थी,—एक तो यह कि मुनि यदि तपन से तप्त होंगे तो क्रुद्ध हों सूर्य को ताप दे  
सकते हैं, दूसरे यह कि यदि तेज अधिक क्षीण हो जायेगा तो जैसे दिन में चन्द्र  
की अवमानना होती है, वैसे ही तेजोहीन होने से सूर्य की अवमानना होगी ।  
अतः सूर्य ने अपने तेज को उतनी ही मात्रा में क्षीण किया जितने में देवर्षि  
को ताप न व्यापे और स्वयं सूर्य भी तेजोहीन न हो जाय । भाव यह कि  
नारद भी सूर्य के समान ही अथवा उससे भी अधिक तेजस्वी थे । उनके समुच्च  
सूर्य का तेज भी क्षीण हो गया । माघकवि ने 'शिशुशालवध' ( प्रथम सर्गारम्भ )  
में नारद के तेज की सूर्य और अग्नि के तेज से समता की है—'यन तिरश्चीन-  
मनूदनाग्रे प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलन हविर्मुञ्च'—इत्यादि । विशाखर के अनुसार  
अग्नि-शक्ति और उपमा अलंकार ॥ ५ ॥

अनूद्दिनमणिद्विजराज यत्करेरह तेन मदा तम् ।

पत्रभूत् खलु करेद्विजराजः कर्म कः स्वकृतमत्र न मुद्धके ? ॥ ६ ॥

जीवानु—पयंभूदिति । दिनमणि सूर्य, द्विजराज चन्द्र ब्राह्मणोत्तमश्च,  
करेद्विजराज हस्तिदन्त, पयंभूत् परिभूतवानिति यत् । तेन परिमयेन ( हेतुना )

तदा नारदागमनकाले, त दिनमणि, द्विजराजो ब्राह्मणोत्तमश्च द्रश्च, करैरमु-  
भिर्हस्तैश्च, पर्यभूत् । अहह अदभुतम् । 'अहरेत्यदभुते चेदे' इत्यमर ।  
स्वकृतद्विजराजपरिभवदोषात् स्वयमद्य तेन परिभूत इत्यर्थः । तथा हि, अत्र  
जीवलोके न स्वकृते ( कर्म ) न भुङ्क्ते । भवेषां च स्वकर्मफलमनुभाव्यमेवे-  
त्यर्थान्तरन्यासः ॥ ६ ॥

अन्वयः—अहह यत् दिनमणि द्विजराज करं पर्यभूत् तेन खलु तदा त  
द्विजराज करं पर्यभूत्, अत्र न स्वकृत कर्म न भुङ्क्ते ।

हिन्दी—अहह, जो दिनमणि ( सूर्य ) ने द्विजराज (ब्राह्मणराज, चन्द्र)  
को अपने करो ( किरणरूप हाथों ) से परिभव दिया, उससे ही उस काल  
उस ( सूर्य ) को द्विजराज ( ब्राह्मणराज नारद अथवा उनके ही रूपमें चन्द्र )  
ने अपने हाथों परिभव दिया । ( यहाँ सप्ताह में ) कौन अपने किये कर्म को  
नहीं भोगता ? ( सभी को कर्मफल भोगना पड़ता है ) ।

टिप्पणी—सूर्य ने एक ब्राह्मण ( चन्द्र ) को अपने हाथों अपमानित  
किया, दूसरे ब्राह्मण नारद अथवा उनके ही रूप में चन्द्र के हाथों सूर्य को  
अपमानित हो अपने किये को भोगना पड़ा । कर्मफल भोगना ही पड़ता है ।  
नारद के सूर्याधिक तेजस्वी होने के विषय में प्रकारांतर से उक्ति । मल्लिनाथ  
के अनुसार अर्थान्तरन्यास, विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा और अर्थान्तर-  
न्यास ॥ ६ ॥

विष्टर तटकुशालिभिरद्भिः पाद्यमध्यमथ कच्छरुहाभिः ।

पद्मवृन्दमधुमिमंघुपकं स्वर्गसिन्धुरदितातिथयेऽस्मै ॥ ७ ॥

जीवातु—विष्टरमिति । अथ स्वर्गसिन्धुमन्दावित्री, अतिषये अस्मै नारदाय,  
तटकुशानामालिमिरावलिभिविष्टरमासन, 'वृक्षासनयोविष्टर' इति पद-  
निपातः, अद्भिः पाद्य पादार्थं जल, कच्छरुहाभिजलप्रायमभ्युत्पन्नाभिर्लताभिः  
अध्यम् अर्घ्यं पुष्पफलादि, 'पादार्घ्याच्च' इति तादर्थ्यं यत्प्रत्ययः । पद्म-  
वृन्दानां मधुमिमंकरन्दं, मधुपकञ्च अदित दत्तवती । ददातेर्लङि तद् ॥ ७ ॥

अन्वयः—अथ स्वर्गसिन्धु अतिषये अस्मै तटकुशालिभि विष्टरम् अद्भिः  
पाद्यम् कच्छरुहाभि अध्यं पद्मवृन्दमधुमि च मधुपकम् अदित ।

हिन्दी—नन्द्यास्वर्ग स्वर्गदी मन्दाकिनी ने अनिधि नारदजी को तटवर्ती कुन्दी का जासन, जल का पाय ( चरण घोंने के लिए ), जलजन्ताओं से ( फूल फल आदि ) अर्घ्य और कमल-मधु से मधुपर्क समर्पित किया ।

टिप्पणी—अनिधि-सत्कार का कार्य देवन्दी मन्दाकिनी द्वारा सपन्न । आनन, धरण प्रशालन, अर्घ्य और मधुपर्क के समर्पण से यह कार्य हुआ । विद्याधर के अनुसार दीनक बलकार ॥ ७ ॥

स व्यतीत्य विद्यदन्तरगाध नाकनायकनिकेतनमाप ।

सम्प्रतीयं भवसिन्धुमनादि ब्रह्म शर्मभरचाह यतीव ॥ ८ ॥

जीवातु—स इति । मुनि , अगाध, विद्यदन्तर्नमोऽभ्यन्तर व्यतीत्य, नाक नायकनिकेतनम् इन्द्रमवन, यती योगी, अनादि, भवसिन्धु सत्ताराग्निम्, सम्प्रतीयं शर्मभरचाह परमानन्दसुन्दर ब्रह्म परमात्मानमिव आप ॥ ८ ॥

अन्वय —अनादि भवसिन्धु सम्प्रतीयं शर्मभरचाह ब्रह्म यती इव स अत अगाध श्रियत् व्यतीत्य नाकनायकनिकेतनम् आप ।

हिन्दी—जैसे आदिरहित ( निरत्य प्रवृत्तशील ) सत्तारसागर को भली भाँति तर कर परमानन्द सुन्दर ब्रह्म की योगी प्राप्त करता है, वैसे ही य ( नारद जी ) मध्यवर्ती अगाध ( विस्तीर्ण ) आकाश को पार कर स्वर्ग के स्वामी ( इन्द्र ) के आवास पर पहुँचे ।

हिन्दी—इन्द्र का निकेतन भी 'शर्मभरचाह' है, अना ब्रह्म से उसकी तुलना की गयी । स्वर्गप्राप्ति भी पुण्य से ही सम्भव है । विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य बलकार अनुप्रास और उपमा ॥ ८ ॥

अर्चनाभिरुचितोच्चतराभिध्यात त सदकृतातिथिमिन्द्रः ।

यावदहंकरण किल साधो प्रत्यवायघ्नये न गुणाय ॥ ९ ॥

जीवातु—अर्चनाभिरिति । इन्द्र , तमतिथि मुनिम्, उचितादिहितात्, उच्चतराभिरपिकामि , अर्चनाभि पूजामि , चारु यथा तथा सदकृत सत्कृतवान्, आश्रुवानित्यर्थः । 'आदरानादरयो सदननी' इति निशतनात् प्राक् श्रयोप । अधिकाचरणे हेतुमाह यावदहं यावच्छुक्तम् 'यावदवधारणे' इत्यभ्ययीभाव । 'यावदहंस्य करणम्' इति षष्ठीतत्पुरुष । साधो अद्भुतो प्रत्यवायघ्नये

अकरणदोषनिवारणाय, गुणायोत्कर्षाय न विलिखन्तु । मामान्येन विशेषमभ्यन्तरूपोऽर्थान्तरन्यास ॥ ९ ॥

अन्वयः—इन्द्र तम् अतिथिम् उचितोच्चतराणि अर्चयामि चाह सदकृत, साधो यावदहंकरण प्रत्यवायघृतये किल, गुणाय न ।

हिन्दी—इन्द्र ने उन अतिथि ( नारद ) को उचित से भी उच्चतर पूजाविधान द्वारा श्लो-भाति सत्कारा, साधु का यथोचित सत्करण—आदर-पूजादि अकरणजन्य दोष की घुति (निवारण) के लिए ही होता है, तदतिरिक्त ( लाभ ) के लिए नहीं ।

टिप्पणी—नारद जी के इन्द्रावाप्त पहुँचने पर इन्द्र ने धर्मानियम विधि-विधान से उनका सत्कार किया । ऐसा न करने से अर्थात् पूजनीय की पूजा न करने से दोष होता है, अतः इस दोष से बचने के लिए पूज्यपूजा नितांत आवश्यक है । यह तो सामान्य विधान है, कोई अतिरिक्त उपलब्धि इससे नहीं होती । कालिदाम ने बताया है—‘प्रतिवञ्चान्ति हि येन पूज्यपूजाभ्यतिक्रमः ।’ ( रघुवश-प्रथमसर्ग ) । अर्थात्तरन्यास अलंकार ॥ ९ ॥

नामधेयसमतासखमद्रेरद्रिभिन्मुनिमयाद्रियत द्राक् ।

पर्वतोऽपि लभता कथमर्चान द्विज स विबुधाधिपलम्भी ? ॥ १० ॥

जीवातु—नामधेयेति । अथ नारदसत्कारानन्तरम्, अद्रिभिदिन्द्र, अद्रे पवतस्य, नामधेयसमतया नामसामान्येन सखाय तत्सख भुनि पर्वताख्य, द्राक् द्रुतमाद्रियत सत्कृतवान् । पर्वत पर्वतारे कथं सत्कारमलभतेत्यत्राह—पर्वतोऽपि न द्विजो विबुधाधिप देवेन्द्र पण्डितोत्तम च, लभते प्राप्नोतीति तत्लम्भी । ‘विबुध पण्डिते देवे’ इति विश्व । स भुनि, कथमर्चा पूजा, न लभताम् ? लभतामेवेत्यर्थः । द्विजोऽभ्यागतो भूतः प्रतिपसादपि विवेकिन पूजा लभत इति भावः ॥ १० ॥

अन्वयः—अथ अद्रिमित् अद्रे नामधेयसमतासख मुनि द्राक् आद्रियत विबुधाधिपलम्भी स द्विज पवत अपि कथम् अर्चा न लभताम् ?

हिन्दी—तत्पदवात् पर्वतों के भेता ( इन्द्र ) ने ‘पर्वत’ नाम के साम्य से पवत की समता रखने वाले मुनि ( पर्वत ) का तुरन्त आदर सम्मान किया ।

विबुधों के स्वामी को प्राप्त वह ब्राह्मण पर्वत ( होने पर ) क्यों न पूजा प्राप्त करता ?

टिप्पणी—इन्द्र ने पर्वतों के पक्ष काट दिये थे, वे थे पर्वतारि । इस स्थिति में आरक्षयंजनक है कि उन्होंने पर्वत का स्वागत किया । पर इन्द्र ने मुनि को पूजा इसलिए की कि वे तो नाममात्र के पर्वत थे, कोई वास्तविक पहाड़ नहीं, जो उठकर जा गिरते फलनों को चौपट कर दिया करते थे, जिससे इन्द्र ने उनकी उठने की क्षमता समाप्त कर दी । पर्वतमुनि थे, शात्रु, शौन्य, साधु, परपीडक नहीं । एक और कारण भी है—वे पर्वत नामधारी मुनि 'विबुधाग्निदत्तमी' थे अर्थात् पंडितों के राजा—विद्वच्छ्रेष्ठ नारद के साथ आये थे, मने ही वे मुनि जड़बुद्धि हों पहाड़ पथर के समान । अथवा पर्वत नाम होने पर भी उन्होंने श्रेष्ठ विद्वानों का सफलताम करके विद्या अर्जित कर ली थी, अतः वे पूजार्ह थे । अथवा 'पर्वत' विबुधाग्निप अर्थात् देवराज को प्राप्त कर क्यों न पूजा प्राप्त करते ? मञ्जन तो घर आये धनु का भी सम्मान करते हैं । नाब यह है कि 'पर्वत' मुनि नाम से ही पर्वत थे, वास्तविक पहाड़ नहीं, वे पण्डितवर थे अथवा पण्डितराज नारद के साथ आये थे, वे देवराज इन्द्र जैसे महान् व्यक्ति के निकट पहुँचे थे अथवा 'पर्वत' ( पहाड़ ) पर्वतारि के घरण आ गया था । अथवा 'पर्वतोऽग्नि द्विज' पूजा कथं न कृतवताम् ? पहाड़-पथर-सा जड़मूर्ख होने पर भी ब्राह्मण को पूजा मिलती ही है । विद्यावर के अनुसार 'भोज गुण और काम्य-नि अलकार ॥ १० ॥

तद्भूजादनिविनीर्णस्पयाद् द्योदमानपि विवेद मुनीन्द्र ।

न च महन्मिन्सुमिश्रितया तान् दानपारमिन्मयैव वदान्यान् ॥ ११ ॥

जीवानु-सदिनि । मुनीन्द्रो नारदन्तान्, प्रमिद्वान् द्योदमान् कल्पवृक्षानपि अतिवितीर्णमप्यादितिमात्रदत्तपूजात् तन्मेन्द्रस्य, भूजादन्तादेव, गुरो स्व स्वर्गे, सहस्रित्या सहवासेन, मुनिशितया स्वम्यन्तया, दानपारमिता नाम दानवर्त-व्यतादितिमादको ग्रन्थविशेष, तयैव आरणेन वदान्यान् विवेद । इन्द्रहस्तः कल्पवृक्षानामपि दानदिलोभदेष्टु-नेतिउदानि नर्थ । कल्पवृक्षप्रियाधोदाय-नत्वेति न च ॥ ११ ॥

अन्वयः—मूनीन्द्र अतिवितीणसपर्यात् उदभुजात् स्व सहस्रियतिमुशिक्षितया दानपारमितया एव तान् चोद्गमान् अपि वदान्यान् विवेद ।

हिन्दी—मूनीन्द्र नारद ने अतिशय पूजा सत्कार करने वाले उस ( इन्द्र के ) बाहु ( रूप गुरु ) से अपने साथ रहने के कारण मली भाति सीख ली गयी दान की पारमितता ( अतिशय दानशीलता ) द्वारा उन ( प्रसिद्ध ) स्वर्ग के वृक्षों ( कल्पवृक्ष आदि ) को भी दानी ( उदार ) समझा ।

टिप्पणी—विश्व में प्रसिद्ध है कि कल्पवृक्ष इच्छित वस्तु देता है—ऐसा दानी है । नारद जी ने पाया कि इन्द्र ने जो उनकी इतनी पूजा अर्चना की, उसी 'वदान्य' अर्थात् उदार इन्द्र के दानशीलता में प्रवण हाथ की संगति में रहकर कल्पवृक्ष आदि ने 'वदान्यता'—उदारता सीख ली है । यह उदारता कल्पवृक्षादि का सहज गुण नहीं है, ससर्गज गुण है—'ससर्गजा दोषगुणा भवन्ति ।' 'दानपारमिता' एक ग्रन्थ का नाम भी है, जिसमें दान-कृतव्यता का प्रतिपादन हुआ है । यहाँ यह आशय भी लिया गया है कि इन्द्र के भुजारूप गुरु से कल्पवृक्षादि ने उक्त ग्रन्थ का अध्ययन किया है । 'प्रकाश'-कार ने इसे क्लिष्ट, अतएव उपेक्ष्य व्याख्या माना है । भाव यह है कि इन्द्र ने इतनी अधिक उदारता से नारद का पूजा सम्मान किया कि उसकी 'वदान्यता' के आगे कल्पवृक्ष भी नगण्य बन गया । विद्याधर के अनुसार अतियोक्ति अलंकार ॥

मुद्रितान्यजनसकथनः सन्नारद बलरिपु समवादीत् ।

आकर स्वपरभूरिकथाना प्रायशो हि सुहृदा सहवास ॥ १२ ॥

जीवातु—मुद्रितेति । बलरिपुरिन्द्र, मुद्रितान्यजनसकथनो निवारितेतर-जनालाप सन्, नारद समवादीत्, तेन सह सल्लापमकार्यदित्यर्थः । किं सवाद्य तदाह—प्रायशः सुहृदीमित्रयो सहवास सङ्गम, स्वे आत्मीया परे च स्वपरे तेषां य भूरय कथा प्रसङ्गास्तासाम् आकर सनिहि । इष्टालापाना-मियत्ताभावात् सवादसिद्धिरित्यर्थात्तरन्यामामिप्रायः । 'क्षनि क्षियामाकरः स्यात्' इत्यमरः ॥ १२ ॥

अन्वयः—मुद्रितान्यजनसकथनं गन् बलरिपु नारद समवादीत्, हि सुहृदोः सहवास प्रायशः स्वपरभूरिकथानाम् आकर ।



हिन्दी—अन्य व्यक्तियों के साथ वातावरण रोक्ते हुए बलदेव का अनु-  
( इन्द्र ) नारद से सादर वातावरण करने लग, कारण कि दो मित्रों की एकत्र  
स्थिति प्रायः अपनी-परायी अनेक कष्टों का आकर होती है ।

टिप्पणी—अन्य व्यक्तियों से वातावरण बंद कर इन्द्र का नारद से सहाय,  
एक तो इन दोनों की घनिष्टता का धोखन करता है, दूसरे अन्य व्यक्तियों की  
अपेक्षा इन्द्र की दृष्टि में नारद को अधिक आदरणीय भी प्रभावित करता है ।  
मन्त्रिणां के अनुसार अर्थात्तरदास, विद्याधर ने अर्थात्तरन्यास और जाति  
का निर्देश किया है १२ ॥

तं कथानुकथनप्रभृताया दूरमालपनकौतुकितायाम् ।

भूभूना चिन्मनागमहेतु ज्ञानुनिच्छुरवदच्छनमन्यु ॥ १३ ॥

जीवानु-उमिति । भूभूना भूभूना । 'ननुर्दग्धे कर्ता कुत्रि' इत्यमर ।  
आन्ध्रकानुकथितमामायापनोक्त्या, दूर कथानुकथनप्रभृतायाम् उत्तर-  
प्रभुतराया दूर गताया मया, प्रसक्तानुसक्त्या च ह्यन्येभ्यः । चिर विरा-  
त्प्रभृति भूभूता राताम्, जनागमहेतु ज्ञानुनिच्छु भुन । त नारदम्, जवद-  
पृच्छदित्यर्थ ॥ १३ ॥

अन्वय—भूभूना आन्ध्रकानुकथितमामायापनोक्त्या दूर कथानुकथनप्रभृतायाम् विरा-  
त्प्रभृति भूभूता राताम्, जनागमहेतु ज्ञानुनिच्छु भुन । त नारदम्, जवद-  
पृच्छदित्यर्थ ॥

हिन्दी—श्री गुरु के कर्ता भूभूना ( इन्द्र ) ने आमाया कौतुक के  
कथन और अनुकथन में अत्यधिक हो जाने पर ( पर्याप्त वातावरण के अनन्तर )  
विराट से राजाओं के ( स्वर्ग ) में न जाने का कारण जानने का इच्छुक  
होते हुए उन ( नारद ) से कहा ।

टिप्पणी—आमाया विद्यावाग्भरक वातावरण के पर्याप्त जब अनन्तर  
वाता होने लगे तो भूभूनाकर्ता होने से इन्द्रद शाक्तता देवराज ने नारद  
को से जानना आहा कि पहिले तो युद्ध में समुत्त सज और प्रति प्राप्त करने  
वाले अनेक दुर्गति स्वर्ग आया करते थे, अब विरकाट से ऐसा नहीं हो  
रहा है, इनका क्या कारण है ? विद्याधर के अनुसार उत्प्रेष्य अन्धकार  
अनुनास ॥ १३ ॥

प्रागिव प्रसुवते नृपवंशा किन्तु सम्प्रति न वीरकरीरान् ? ।

ये परप्रहरणं परिणामे विक्षता क्षितितले निपतन्ति ॥ १४ ॥

जीवातु—प्रागिति । नृपवशा राजकुलानि, नृप एव वशा वेणवश्च ।  
'वशी वेणो कुले वगै' इति विश्व पूर्वमिव, सम्प्रति, वीरत्वेन करीरानङ्कुरान् ।  
'वशाङ्कुरे करीरोऽस्त्री' इत्यमर । न प्रसुवते न जनयन्ति । किं तु ? किं  
तैरत आह—य इति ये वीरकरीरा, परिणामे परिपक्वावस्थाया, परेषामरीणाम्  
अप्येषा च । 'परं दूनान्यमुष्येषु परोऽरिपरमात्मनो' इति वीजयन्ती ।  
प्रहरणं रायुधं दात्रादिभिश्च, विक्षताः सन्त क्षितितले निपतन्ति ॥ १४ ॥

अन्वय—नृपवशा प्राक् इव सम्प्रति किं वीरकरीरान् न प्रसुवते तु, ये  
परिणामे परप्रहरणं विक्षत क्षितितले निपतन्ति ?

हिन्दी—राजकुल रूपी बाँस पहिले की भाँति आजकल क्या वीर रूप  
अङ्कुरों को जन्म नहीं देते जो कि परिणाम ( अन्त समय ) में ( अथवा पूर्णता-  
रूप में ) शत्रुओं के प्रहारों से घायल हो ( आघात ) भूतल में गिरते हैं ?

टिप्पणी—इन्द्र का प्रश्न है कि जैसे बाँसों के 'करीर' ( अङ्कुर ) परिणत  
हो जाने पर ( पक जाने पर ) कुठारादि से आघात या धरती पर आ गिरता  
है, वैसे ही 'वीर करीर' ( करीरान् हस्तिपातनसमर्थात् )—हाथिया को  
गिरानेवाले वीर अब क्या जन्म नहीं लेते, जो युद्ध में समुक्त धाव लाकर धरती  
पर गिरें ? अर्थात् अब ऐसे रणवीर राजा उत्पन्न नहीं होते, जो युद्ध में प्राण दें,  
रोगादि से अजर हो मृत्यु न पाते हों ? विद्यापद के अनुसार उपमा रूपक इलेय  
का सकार ॥ १४ ॥

पापिव हि निजमाजिषु वीरा दूरमूर्ध्वगमनस्य विरोधि ।

गौरवाद्दपुरपास्य भजन्ते मत्कृतमतिथिगौरवश्रद्धिम् ॥ १५ ॥

जीवातु—तत विमत आह—पापिवमिति । वीरा पूर्वोक्ता रणपातिन,  
पापिव पृथिवीविकारम् अन एव गौरवान् गुरुत्वगुणयोगित्वाद्, उर्ध्वगमनस्यो-  
त्पतनवर्मण, पापिवत्वादूर्ध्वलोकप्राप्तेश्च, दूरमायन्त विरोधि निज वपु,  
आजिषु युद्धेषु अपास्य मत्कृतमतिथिसत्कारस्तस्य श्रद्धिम्, 'श्रद्धयक' इति  
प्रवृत्तिमात्र । भज ते हि । तारावीरालाभे स्वस्यातिविलामो न स्यादिति भाव ।

अन्वय—हि वीरा. पापिव गौरवात् ज्वलंगमनस्य दूर विरोधि निज वपु आजिषु अपास्य मत्तुखाम् अतिथिगौरवश्रद्धि मञ्जन्ते ।

हिन्दी—क्योंकि वीरगण पृथ्वी ( मिट्टी ) से उत्पन्न अतएव गह्वर ( भारी, पतनशील , ऊँचे ( अथवा स्वर्ग ) जाने के अतिशय विरोधी अपने शरीर को सभ्राम में त्याग कर मेरे द्वारा किये गये अतिथि-समान के गौरव-ऐश्वर्य को प्राप्त कर पाते हैं ।

टिप्पणी—जैसे मिट्टी धूल से बनी नारी वस्तु ऊँचे ऊपर न जाकर नीचे ही जा गिरती है, वैसे ही यह पापिव शरीर भी उच्च स्वर्ग-लोक नहीं जा सकता । वीर व्यक्ति मुझ में इस पापिव शरीर को छोड़ कर ही स्वर्ग में इन्द्र द्वारा सत्कार पा सकते हैं । माटी का शरीर क्षितिज में पड़ा रह जाता है, कृष्ण शरीर स्वर्गमागी होता है । योगाम्यासी और रण में समुच्च वीरगति पानेवाले व्यक्ति ही स्वर्ग प्राप्त करते हैं—‘द्वाविमौ पुरुषौ लोके सुयमंभल-भेदिनौ । परिब्राह्म योगयुक्तश्च रणे चानिमुहो हत ’ ॥ १५ ॥

सामिशापमिव नातिथयस्ते मा यदद्य भगवन्नुपयान्ति ।

तेन न श्रियमिमा बहु मन्ये स्वोदरेकमृतिकार्यकदर्याम् ॥ १६ ॥

जीवातु—ननु सदाभे तेषामेव सत्कारहानिस्तव तु न काचित् क्षति-रित्यत आह—सामिशापमिति । हे भगवन् मुने । ते वीरा अतिथयः, अमि-शापेन सह वर्तत इति सामिशाप मिथ्यामिश्रन्तमिव । ‘अथ मिथ्यामिश्रतनम् । अमिशाप ’ इत्यमरः । मामद्य नोपयान्तीति यत् । तेन हेतुना । स्वोदरस्यै-कस्यैव, मृतिकार्येण, पोषणकृत्वेन, कदर्या कृपणाम् । ‘कदर्ये कृपण क्षुद्र’ दण्ड-मर । ‘आत्मान धर्मकृत्य च पुत्रशारादय पीडयेत् । लोभाद्य नितरो भ्रातृन् स कदर्ये इति स्मृतः ॥’ इति च । इमा श्रिय न बहु मन्ये । अतिथिसत्कार-शून्यस्य शीर्षफल्यमेव क्षतिरिति भावः ॥ १६ ॥

अन्वय—भगवन्, ते अतिथयः सामिशापम् इव माम् यत् अद्य न उपयान्ति तेन स्वोदरैकमृतिकार्यकदर्याम् इमा श्रिय बहु न मन्ये ।

हिन्दी—हे भगवन्, वे अतिथि अमिश्र सदा मेरे निकट जो आज नहीं आते हैं, उसमें निज उदरमात्र नरने के कार्य में कुचित इस स्वच्छन्मी को मैं अधिक आदर नहीं देता ।

टिप्पणी—बोर स्वर्ग में आते नहीं, इन्द्र को यह मला प्रनीत नहीं होता ।  
ऐसा प्रतीत होता है कि पुण्यात्मा राजा अब नहीं होते भूलोक में ॥ १६ ॥

पूर्वपुण्यविभवव्ययलब्धा सम्पदो विपद एव विमृष्टा ।

पात्रपाणिकमलार्पणमासा तासु शान्तिकविधिर्विधिदृष्ट ॥ १७ ॥

जीवातु—पूर्वेति । पूर्वपुण्यविभवस्य ध्येन लब्धा सम्पदो विमृष्टा  
'विचारित' विपद एव । सद्यः स्वोदयेन पुराकृतसुकृतनाशकत्वादिति भाव ।  
'तासु' विपत्सु सम्पद्रूपाम्वापत्सु । आसा सम्पदा, पात्राणां विद्याजातितपोवृत्त-  
सम्पन्नानां पाणिकमलेष्वर्पणं दानमेव विधिदृष्ट शास्त्रदृष्ट, शांतिकविधि-  
'शान्तिकर्मानुष्ठानम्', नष्टसुकृतादपि अत्युत्कृष्टसुकृतोत्पादनादिति भाव ।  
अनेन बीजाङ्कुरन्याय उक्त ॥ १७ ॥

अन्वय—पूर्वपुण्यविभवव्ययलब्धा सम्पद विमृष्टा विपद एव, तासु  
आसा पात्रपाणिकमलार्पणं विधिदृष्ट शान्तिकविधिः ।

हिन्दी—पुराकृत पुण्यो के माहात्म्य के विनियोग से प्राप्त सपदाएँ विचार  
करने पर विपदाएँ ही हैं, उन ( सपद् रूप विपत्तियों ) के रहने पर उनका  
योग्य व्यक्तियों के करकर्मलों में दान ( ही ) शास्त्र समत ( अथवा विद्याया  
द्वारा निर्दिष्ट ) शांति कर्म विधान है ।

टिप्पणी—यद्यपि धन लक्ष्मी आदि वैभव पूर्वपुण्य से मिलता है तथापि  
विचार करने पर ज्ञात होता है कि उनका यदि उचित उपयोग न हो तो  
संपत्ति विपत्ति बन आती है । संपत्ति का उचित उपयोग यही है कि आवश्यक-  
कृतानुसार विद्या वयं संपन्न उपयुक्त व्यक्तियों को दान कर जन-उपकार में  
लगाया जाय । उचित उपयोग बिना संपत्ति मार ही है । पात्रता के विषय  
याज्ञवल्क्य ने कहा है कि पात्रता न केवल विद्या से आती है, न केवल तप से,  
विद्या तप—दोनों जिसमें हो, वह व्यक्ति पात्र होता है—'न विद्यया केवलया तपसा  
वाऽपि पात्रता । यत्र वृत्तमिमे चोभे तद्धि पात्र प्रवीतितम् ॥' ( याज्ञ० आचारा-  
ध्याय ) । संपत्ति मिलती है पुण्य से, पर यह है पाप, जिसके निवारण की—  
शांति घमन की—विधि उसका सत्पात्र का दान है । यही शास्त्र-विहित है ।  
विद्याधर के अनुगार द्म श्लोक में अनुप्रास रूपक अतिशयोक्ति का सवर है ॥

तद्विमृज्य मम सशयशिल्पि स्फोटितमत्र विषये सहमाधम् ।

भूयता भगवतः श्रुतिमारैरद्य वाग्भिर्गधमर्पणं ऋग्नि ॥ १८ ॥

जीवानु—तदिति । तत्तस्मात्, तत्र विषये जस्मिन्नर्थे, मम, सशयस्य शिल्पि नञ्जनक, स्फोटित, प्रभूतम्, अधमेन, तन्मूर्त्तत्वात्स्मिण्याज्ञानस्येति भावः । यद्वा, सशयः शिल्पी जनको यस्य तदध दुःख, दुःखहेतुत्वात्सशयस्येति भावः । 'दुःखेनोन्मथनेष्वधम्' इति वैजयन्ती । महता विमृज्य निवर्त्य, भगवतो वाग्भि-  
रद्य श्रुतिमारैर्वेदसारैः कर्णामृतैश्च । अधमर्पणं ऋग्नि अधमर्पणीमि ऋग्नि-  
'स्त्रियाः पुवत्' इत्यादिना पुवद्भावे । 'ऋत्यक्' इति प्रकृतिभावः । भूयताम् । भावे लोट् । राजामनाधमनकारणमसदिग्ध ब्रूहीत्यर्थः । अत्र मुनिवाक्येष्वारोप्यमाणस्य अधमर्पणत्वस्य प्रकृताधहरणोपयोगात् परिणामा-  
लङ्कारः । 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः' इति लज्जणात् ॥ १८ ॥

अन्वयः—तन् अत्र विषये मम सशयशिल्पि स्फोटितम् अध सहसा विमृज्य भगवतः वाग्भिः श्रुतिमारैः अधमर्पणं ऋग्नि भूयताम् ।

हिन्दी—सो इस विषय में मेरे मशय के जनक, बुद्धि को प्राप्त पाप को शीघ्र दूर करके आपके वचन वेद का सार अथवा कानों को अमृतसम लगनेवाली अधमर्पण ऋचाएँ ( पापनाशक मंत्र ) बनें ।

टिप्पणी—इन्द्र के मन में भूलोक के राजाओं के विषय में जो संदेह हो गया था, वह संशय उसे पाप-भूमि कष्ट प्रदायक लग रहा था । नारद से उसने निवेदन किया कि वे इस विषय में कुछ सूचनाएँ देकर उसके संदेह को दूर करें । संदेह पाप है और नारद की शायी पापनाशक ऋचाएँ । मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में परिणाम अलङ्कार है, क्योंकि मुनिवाक्यों में आरोप्यमाण अधमर्पणता का प्रकृत अधहरण में उपयोग है । विशाखर के अनुसार भक्ति शयोक्ति और श्लेष है । अधमर्पण ऋचा—'ऋषे च सत्यं वामोदा इत्यादि ( ऋक् ० ८।८।४८ ) ॥ १८ ॥

इत्युदीर्यं मधवा विन्याधि वर्ज्यन्नवहित्वभरेण ।

चक्षुषा दग्धशनीमनिमेया तस्मिन्वान्मुनिमुखे प्रणिशाय ॥ १९ ॥

जीवानु—इतीति । मधवा इन्द्र, इत्युदीर्यं, अवहित्वभरण एकाग्रता-

तिशयेन, विनयार्थि विनयातिशय, वर्धयन्ननिमेषा चक्षुषा दशशती दशाना  
शताना समाहारः। दशशती सहस्र, 'तद्वितायं—' इत्यादिना समाहारे द्विगाव-  
कारान्तोत्तरपदत्वात् स्त्रिया 'द्विगो' इति ङीप् । एतेन शतमन्त्री व्याख्याता ।  
मुनिमुखे प्रणिधाय तस्थिवान् तस्थौ । छिट. ऋसुरादेश ॥ १९ ॥

अन्वय—मधया इति उदीयं अवहितत्वभरेण विनयार्थि वर्धयन् अनिमेषा  
चक्षुषा दशशती मुनिमुखे प्रणिधाय तस्थिवान् ।

हिन्दा—इन्द्र इतना कह कर एकाग्रता की अतिशयता से विनीतभाव की  
समृद्धि को बढ़ाता हुआ एक सहस्र अपलक नेत्र मुनि के मुख की ओर स्थिर  
करके बैठ गया ।

टिप्पणी—यद्यपि देवराज होने के कारण इन्द्र के पलक-क्षपते ही नहीं थे,  
तथापि यहाँ 'अनिमेष' का प्रयोग उत्सुकता और एकाग्रता की अभिव्यक्ति के  
लिए है । भाव यह है कि अपना वक्तव्य समाप्त करके मुनि-वचन सुनने के  
लिए उत्सुक इन्द्र एकाग्रचित्त हो गया । विद्याधर के अनुसार जाति  
अलंकार ॥ १९ ॥

वीक्ष्य तस्य विनये परिपाक पाकशासनपद स्पृशतोऽपि ।

नारद प्रमदगद्गदयोक्त्या विस्मितः स्मितपुरस्सरमाख्यत् ॥ २० ॥

जीवातु—वीक्ष्येति । नारद नाकशासनपद स्पृशतोऽपीन्द्रत्वे तिष्ठतोऽपि ।  
तस्येन्द्रस्य, विनये परिपाक प्रकर्ष वीक्ष्य विस्मित सन् सविस्मय सन्, कतरि  
क्त । 'प्रमदगद्गदयोक्त्या हर्षविस्वरया वाचा स्मितपुरस्सर स्मितपूवमाख्या-  
दाध्वचक्षे । 'अस्मिन् वक्तिर्यातिभ्योऽङ्' इत्यङ्प्रत्यय ॥ २० ॥

अन्वय—पाकशासनपद स्पृशत अपि तस्य विनय परिपाक वीक्ष्य  
विस्मित नारदः प्रमदगद्गदया उक्त्या स्मितपुरस्सरम् आख्यत् ।

हिन्दी—इन्द्र-पद पर अधिष्ठित भी उसके विनय प्रकष को देख आश्चर्या-  
वश नारद-हर्षगद्गदवाक्य में मुसुराते हुए कहने लगे ।

टिप्पणी—जन-जीवम, किसी को अविनयी देखकर कहा जाता है—  
तो इन्द्र-पद पर बैठे हुए इस प्रकार इन्द्र-पद लोचमानस में अविनय का  
चोखे-दखे-दखे-दखे इन्द्र को इतना विनयी पाकर नारद को आश्चर्य और

हयें हुआ, जो उनकी मद्दह वाणी और शक्ति से प्रकट हुआ । विद्याधर की दृष्टि में दम्बेन्द्र ब्रह्मकार छेदनाश ॥ २० ॥

भिक्षिता नृपनन्दी सुकृत यत्तत्परिचयविदः स्वविनूतो ।

तद्धमे तव परं यदि हेन्य क्नेगल्लव-धिकारद त् ॥ २१ ॥

[illegible]

जन्मय—उज्जनी, यत् मृकृत निमित्तं तच्छब्दे स्वविभूतौ यदि हंसा  
तत्परिधनविश्वं तव परम्, कलौष्ठस्य तु अविद्यादरदं तु ।

हिन्दी—( नारद ने कहा )—सौ यज्ञ करके वो पुम्भार्जन आपने किया है, अपने पूरा करने ऐश्वर्य ( इन्द्रपद ) में यदि आपको भवना है तो वसु ( इन्द्रपद करके पुम्भार्जन ) के धन को समझनेवाले जानकी हो है, ( वसु किसी को नहीं ), वो वस्तु वह वडाकर प्राप्त होती है, उसके प्रति तो अधिक आदर होता है ।

टिप्पणी—यौ वस्त्र करना बड़ा कठिन कार्य है। उसने पुन्य से ही इन्द्रपद मिलता है। सामान्य जन्मों इतने कष्ट से प्राप्ति दुर्लभ पद पर बड़ा मोह और मनता होती है, बाहर होता है। बड़ा पद पाने से जब लोग कविमयी भा जाता है। इन्द्र में यह सब नहीं है। उसे न कष्टोत्पन्न इन्द्रपद पर मोह है, न जनिमान, उसमें कविमयी भी नहीं है, अतिविमलत्कार के प्रति तो वह विशेष सावधान है। नारद जी ने यही भावना व्यक्त की। इस दृष्टिकोण में

कलेय वाक्य द्वारा हेलाभाव का समर्थन होने से वाक्यार्थ हेतुक काव्यालिंग अलंकार है । मल्लिनाथ और विद्याधर-दोनों की यही मान्यता है ॥ २१ ॥

सम्पादस्तव गिरामपि दूरा यन्न नाम विनय विनयन्ते ।

श्रद्धाति क इवेह न साक्षादाह चेदनुभव परमाप्त ॥ २२ ॥

जीवातु—सम्पद इति । किं बहुना, तव सम्पदो गिरामपि दूरा अगोचरा, कृत, यद्यस्माद्विनय न विनयते नाम न सुम्पन्ति खलु । नयतेर्लट् 'स्वरित-' इत्यादिना आत्मनेपदम्, 'कर्तृ'स्ये चाक्षरीरे कर्मणि' इत्यस्मादिति केचित् । तदसत् । सम्पदा कर्तृणाम् अचेतनत्वेन कर्मणो विनयस्येन्द्रियनिष्ठत्वेन चाकर्तृ-स्यत्वादिति । अतः स्तोतुमशक्या इत्यर्थः । किं त्विह विनयोत्तरत्वे परमाप्त प्रमाणभूत साक्षादनुभव, प्रत्यक्षानुभवसिद्ध नहि चेत्क इव को वा, श्रद्धाति विश्वसिति, न कञ्चिदित्यर्थः । स्वत्सम्पदा विनयोत्तरत्वे साक्षादनुभवता मात्तमावेव श्रद्धा जायते नान्येषा, प्रायेणान्यत्र सम्पदा विनयहारित्वात् । किं बहुना, वयमपि न श्रद्धाम् इति भावः । अत्र सम्पदा वाग्योचरत्वेऽपि तदगोचरत्वोक्त्या असम्बन्धरूपातिशयोक्तिः ॥२२॥

अन्वय —तव सम्पद गिराम् अपि दूरा यद् विनय नाम न विनयन्ते, इह परम् आस साक्षाद् अनुभव न आह चेत् क इव श्रद्धाति ?

हिन्दी—तुम्हारी सपदा बाणी से भी अगोचर है, जिसने मन्नता को नामत। भी दूर नहीं किया है । इस विषय में परम विश्वसनीय प्रत्यक्ष अनुभव यदि वक्ता न होता तो कौन ( इस पर ) विश्वास करता ? ( कोई न करता ) ।

टिप्पणी—सपत्ति प्रायः मनुष्य को अविनयी बना देती है, जो घन ऐश्वर्य ऐसा फल न दे, वह विशिष्ट है, अनिर्वचनीय है । स्वर्ग के अधिपति इन्द्र को इतना विनयी देखकर नारद ने व्यक्त किया कि उसकी सपदा का वर्णन वाणी का विषय नहीं है । स्वर्ग का राजा इतना शिष्ट और विनयी होगा, इसका विश्वास वही कर सकता है, जिसने प्रत्यक्ष अनुभव किया हो, जैसा नारद ने किया । अनुमानादि ज्ञान के साधनों से उस पर श्रद्धा समभव नहीं है । मल्लिनाथ ने अनुसार यहाँ पर सपदाओं की वाग्योचर होने पर माजो अगोचर कहा गया, इस कारण असंवेद्यताविशयोक्ति है, विद्याधर का भी यही निर्देश है ॥ २२ ॥



श्रीभरानतिथिसात्करवाणि स्वोपभोगपरता न हिनेति ।

पश्यतो बहिरिबान्तरपीय दृष्टिसृष्टिरधिका तव कापि ॥ २३ ॥

जीवातु—श्रीभरानिति । श्रीभरान् सम्पदुच्छ्रयान्, अतिथिसात् दाने-  
नातिथ्यधीन, 'देयेना च' इति चकारात् सातिप्रत्यय । करवाणि कुर्याम् ।  
विध्यर्थे लोट् । 'आहुतमस्य पिब्व' इति मेनि । स्वोपभोगपरता आत्मम्मरित्व,  
न हिता न श्रेयस्करीति पश्यतो जानत प्रेक्षमाणस्य च तव बहिरिव देह इव  
अन्तरात्मन्यपि नापीय दृष्टिमृष्टि ज्ञानमृष्टिरसिमृष्टिश्च । 'दृष्टिर्ज्ञानेऽभिदशनै'  
इत्यमरः । अधिका असाधारणी, द्वयोरपि दृष्टयो रिलिख्यदोषात्तयोर्भेदाध्य-  
वसायेन बहिरिवेत्युत्तमा ॥ २३ ॥

अन्वयः—श्रीभरान् अतिथिसात्करवाणि, स्वोपभोगपरता हिता न—  
इति पश्यत तव बहि इव अन्त अत्र कापि इयम् अधिका दृष्टिमृष्टि ।

हिन्दी—लक्ष्मी के मार ( ऐश्वर्य ) को अतिथियों को दे डालूँ, ( उनको )  
अपने उपभोग में लगाना कल्याणकारक नहीं है—यह देखने वाले तुम्हारे  
बाहर ( धरीर ) की भाँति अतस्त में भी कोई यह विधिष्ट दृष्टि सरचना है ।

टिप्पणी—आद्य यह है कि इन्द्र की विचार-पद्धति श्रेष्ठ है, ऐसी वैचारिक  
दृष्टि सामान्य नहीं होती कि सपत्ति को कबल स्वोपभोग में न लगाये, उसके  
द्वारा अधिक लाभ अतिथियों को हो । अतिथय सुविचारी है इन्द्र । एक सहस्र  
नेत्रों से देखने की क्षमता रखनेवाला इन्द्र बाह्यत भी असाधारण है, साधारण  
जन तो दो नेत्रों से देखते हैं । इस प्रकार सहस्रनयन इन्द्र की जैसी असामान्य  
बाहरी दृष्टि है, वैसी ही उसकी अन्तर्दृष्टि भी असामान्य है । इन्द्र जैसे विचार  
सामान्य जन में नहीं होते । जैसे सहस्र नेत्रों से इन्द्र विश्व को देखता है, वैसे  
ही ज्ञान-दृष्टि से सब करणीय का विवेक भी उसमें है । भक्तिनाथ के अनुसार  
यहाँ रिलिख्य दृष्टों से दोनों प्रकार की दृष्टियों का कथन होने से अनेका-  
ध्यवसाय द्वारा 'बहिरिव'—यह उपमा है, विचार के अनुसार अतिथयोक्ति-  
अतिरेक-सदेह-उत्तमा का सकर है ॥ २३ ॥

आः स्वभावमधुरैरनुभावैस्तावकैरतितरा तरलाः स्मः ।

द्या प्रसाधि गलिनावधिकाल साधु साधु विजयम्ब विडोज । ॥ २४ ॥

जीवातु—आ इति । विड भेदकम् । विड भेदने । द्युपधलक्षण च,

तदोजो यस्य तस्य सम्बुद्धि हे विडोज !, स्वभावमधुरं निसर्गरमणीयं, तवेमे तावका 'सववममकावेववचने' इत्यणि तावकादेश । तैरनुभवैरैश्वर्यैरति-तरामत्यन्तम्, अव्ययादामुप्रत्यय । तरला लोला आनन्दलहरीमग्ना स्म इत्यर्थः । आ इत्यानन्दास्वादानुकार । गलितावधिकालमनन्तकालम् । अत्यन्त सयोगे द्वितीया । सा स्वर्गं साधु प्रसाधि पालय । साधु, विजयस्व सर्वोत्कृष्टो भव । 'विपराम्या जे' इत्यात्मनेपदम् ॥ २४ ॥

अन्वय—विडोज, स्वभावमधुरं तावकं अनुभावः अतितरा तरला स्म, आ, गलितावधिकाल या साधु प्रसाधि, साधु विजयस्व ।

हिन्दी—हे विशिष्ट ओजोमय इन्द्र, निसर्गरमणीय तुम्हारे भावा के प्रकाशन अथवा ऐश्वर्य-तेज से हम अत्यन्त आनन्दित हैं, अरे, अन्तकाल तक तुम स्वर्ग का सम्यक् रूपेण शासन करो और मली भाँति विजय प्राप्त करते रहो ।

टिप्पणी—इन्द्र के व्यवहार से विशेष प्रसन और आनन्दमग्न हो देवर्षि नारद ने उसे आशीर् दिया । विद्याधर के अनुसार 'आशी' अलकार ॥ २४ ॥

सहस्रविक्षततनुस्रवदक्षक्षालिताखिलनिजाधलधूनाम् ।

यत्स्विहानुपगमं शृणु राजा तज्जगद्युवमुद तमुदन्तम् ॥ २५ ॥

जीवातु—एवमिन्द्रमभिनन्द्य तत्प्रश्नोत्तरमाह—सहस्रं स्रवदक्ष, सहस्रं समरे, विक्षताभ्यः प्रहृताभ्यः तनुभ्यो गात्रेभ्यः, स्रवद्विरस्रैरमृग्भिः क्षालितानि निर्णक्तानि अखिलानि निजाभ्यधानि येषां तेषामत एव लधूनां निर्माणा राजा यद्यस्मात् कारणादिह स्वर्गेऽनुपगमो नागमः तत्कारणभूत जगत्सु ये भुवान् तेषां भुदमानन्दकारणम् असाधारणार्थम्, अभेदेन व्यपदेशः । तत्प्रसिद्धम् उदत्तं वार्ताम् । 'वार्ता प्रवृत्तिवृत्ता' त उदत्त' इत्यमरः । शृणु । अत्र क्षालिताधपदार्थस्य विशेषणगत्या लघुत्वहेतुत्वात् पदार्थहेतुर्वाक्यलिङ्गम-लङ्कारः ॥ २५ ॥

अन्वय—सहस्रविक्षततनुस्रवदक्षक्षालिताखिलनिजाधलधूनां राजा यद्दह अनुपगमः तत् जगद्युवमुद तम् उदन्तम् शृणु ।

हिन्दी—समर में घायल शरीर से टपकते खून से अपने सब पाप प्रक्षालित हो जाने के कारण छधु ( हल्के ) बने राजाओं का जो यहाँ ( स्वर्ग

में) जागमन नहीं हो रहा है, ससार के तहों को सतों का आनन्द देने वाले उस प्रसिद्ध वृत्तांत को सुनो ।

टिप्पणी—भूलोक में युद्ध में वीरगति पाकर स्वर्ग में जानेवाले राजाओं की कोई न्यूनता नहीं है, वे रथभूमि में अपने बहे रक्त से अपने सब कर्तुष्य धोकर आज भी स्वर्गाधिकारी हैं, किन्तु उनके न जाने का कारण दूसरा ही है । उन्हें भूलोक में ही आनन्द और सतों मिल रहा है । इस कथा को आगे नारद मुनि कहेंगे । इस श्लोक में मल्लिनाथ के अनुसार पदार्पणहेतुक काव्यलिपि अलंकार है, क्योंकि शालिवाहयदायं की विशेषणगति द्वारा लघुत्वहेतुता का कथन हुआ है, विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और अतिशयोक्ति है ॥ २५ ॥

सा भुवः किमपि रत्नमनर्थं भूषणं जयति तत्र कुमारी ।

भीमभूपतनया दमयन्ती नाम या मदनशस्त्रममाधम् ॥ २६ ॥

जीवानु—नेति । भुवो भूषणं किमप्यनर्थमनूय रत्नम् । असाधारण स्त्री-रत्नमित्यर्थः । कुमारी कथा, अनूडेन्वयः । सा दमयन्ती नाम भीमभूपतनया तत्र भुवि जयति । सर्वोत्कर्षेण जयति, या अमोघ मदनशस्त्रम् ॥ २६ ॥

अन्वयः—भुवः भूषणं किमपि अनर्थं रत्नं सा कुमारी दमयन्ती नाम भीमभूपतनया तत्र जयति, या अमोघ मदनशस्त्रम् ।

हिन्दी—पृथ्वी का आभूषण, एक अनिवर्धनीय अमूल्यरत्न वह कुमारिका दमयन्ती नाम की भीमराजपुत्री ( भूलोक में ) सपूर्ण उत्कृष्टता के साथ विद्यमान है, जो कामदेव का अवूक शस्त्र है ।

टिप्पणी—इस श्लोक में दमयन्ती के नाम, कुल, सौंदर्य, सौभाग्य का वर्णन कर दिया गया है अर्थात् विश्व की अनुपम सुन्दरी दमयन्ती उच्चवयसा और परम सौभाग्यशालिनी है, साथ ही उसका वय भी विवाहयोग्य है । जो उसे देख लेता है, उस पर मद चढ़ जाता है । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ॥ २६ ॥

सम्प्रति प्रतिमूहृतंमपूर्वा कापि यौवनजवेन भवन्ती ।

आशिस मृत्नसारभूने सा क्वापि यूनि भजते किल भावम् ॥ २७ ॥

जीवानु—अपेक्ष्य मात्सर्योत्पादनाय तस्यां पुरुषान्तरासन्निधौ वसिष्ठ-

सम्प्रतीति । सम्प्रतीदानो, सा दमयन्ती, यौवनस्य ज्वेनोद्भववेगेन, प्रतिश्रुतं काप्यपूर्वा लावण्यमथावयवोपविशेषेणान्वेव भवन्ती । आसिस्त शिक्षापयन्तम्, अभिविधावव्ययीभाव । सुकृतसारभृते उत्कृष्टपुण्यभृते ईदमाग्यसम्पन्न इत्यर्थः । क्वापि कस्मिन्नपि यूनि भावमनुराग भजते । किलेत्यतिहा ॥ २७ ॥

अन्वय—सम्प्रति सा यौवनज्वेन प्रतिश्रुतं कापि अपूर्वा भवन्ती आसिस्त सुकृतसारभृते क्व अपि यूनि भाव भजते किल ।

हिन्दी—सुना जाता है कि इस काल वह यौवन के वेग से प्रतिपल अनिवार्य रूप से अपूर्व सौंदर्यशालिनी होती हुई नल से शिक्षा तक पुण्य की उत्कृष्टता से परिपूर्ण किसी तरुण में अनुराग रखती है ।

टिप्पणी—क्षण-क्षण नूतन छवि धारण कर रमणीयता की सीमा बनती वह तरुणी भीमराजकुमारी एक समग्रसुन्दर तरुण ( नल ) की अनुरागिणी है—यह सूचित कर अहत्यादि-कथा से सुन्दरियो में आसक्ति रखने वाले के रूप में प्रसिद्ध इन्द्र के मात्सर्य को भी जगाने का कार्य देवर्षि ने कर दिया । वे कलहप्रिय जो कहे जाते हैं । 'किल' ( श्रूयते—सुना जाता है ) से कुछ अनिश्चयता का भी संकेत दे दिया । अर्थात् यह सुना ही जाता है, पूर्ण निश्चय नहीं है, सो इन्द्र भी भाग्य आजमा सकता है । नल नाम न लेकर कहा—'क्वापि'—किसी में । वह इन्द्र की उत्कठा जगाने के लिए है । विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और अतिशयोक्ति ॥ २७ ॥

कथ्यते न कतमः स इति त्व मा विवक्षुरसि किं चलदोष्टः ? ।

अर्धवर्त्मनि रुणत्सि न पृच्छा निर्गमेण न परिश्रमयेनान् ॥ २८ ॥

जीवातु—कथ्यत इति । किञ्च, चलदोष्टस्त्व स युवा कतम इति मां विवक्षुर्वक्षुमिच्छुरसि किम् । तर्हि अर्धवर्त्म-यर्धोक्ते पृच्छा प्रश्नम् । मिदादित्वादङ् । न रुणत्सीति कावु । एनां पृच्छा निर्गमेणोच्चारणेन न परिश्रमय मा खेदय । कुत न कथ्यते । यत् पृष्टोऽपि न कथयामि, अतो न प्रष्टव्यमेवेत्यर्थः ॥ २८ ॥

अन्वय—चलदोष्ट त्व स कतम इति मां विवक्षु असि किम् ? । अर्धवर्त्मनि पृच्छा न रुणत्सि ? एनां निर्गमेण न परिश्रमय ।

हिन्दी—तुम्हारे ओठ हिलने लगे, वह ( मागवान् तरुण ) कीन है, क्या यह तुम मुझ से कहलाना चाहते हो ? क्या आपके माग ( नीच ) में ही तुम

प्रश्न को नहीं रोक रहे हों ? ( परतु ) निर्गमन ( मुख से बाहर निकाल कर, कहकर ) से इस ( वृच्छा ) को श्रम न कराओ ।

टिप्पणी—स्वामाविक या कि इन्द्र के मनमें दमयन्ती के अनुराग के पात्र व्यक्ति का परिचय जानने की बात आती । नारद ने इन्द्र के ओठ टिलते देख यह समझा, किन्तु यह भी सूचित कर दिया कि इस वृच्छा का उत्तर वे न दे सकेंगे, अतः पूछना व्यर्थ है ॥ २८ ॥

यत्पथावधिरणु परम सा योगिधीरपि न पश्यति यस्मात् ।

बालया निजमनःपरमाणौ ह्योदरीद्यहरीकृतमेतम् ॥ २९ ॥

जीवातु—कि कपटादकथन, नेत्याह—यत्पथेति । परमो अणुर्यस्या योगिधिया पन्था, यत्पथस्तस्यावधि सीमा, सा योगिधीरपि । बालया निजमन एव परमाणु । 'अणुपरिमाण मन' इति सूत्रणात् । तस्मिन् ह्योदेव दरी गुहा तच्छयहरीकृत तद्गतसिहीकृतम् एन युवान, यस्मान्न पश्यति तस्मान्न कथ्यत इति पूर्वोक्तान्वयः । योगिबुद्धेरपि परमाणुस्वरूपग्राहित्वमेव नान्तःप्रवेष्टे शक्तिरित्यज्ञानादकथन, न कपटात् । सा तु मन्दाक्षमन्यरतया न कथयतीत्यर्थः ॥ २९ ॥

अन्वयः—परम अणुः यत्पथावधि सा योगिधीः अपि बालया निजमनः-परमाणौ ह्योदरीद्यहरीकृतम् एनं यस्मात् न पश्यति ।

हिन्दी—परमाणु जिसके पथ की सीमा है, वह योगिबुद्धि भी बाला ( दमयन्ती ) द्वारा अपने मन रूप परमाणु में स्थित लज्जारूपिणी गुहा में सिह ( के समान बंद ) किये गये इस ( नल ) को जिस कारण नहीं देख पाती है, ( इस कारण मैं भी नहीं कह सकता ) ।

टिप्पणी—नारद ने प्रश्न का उत्तर न दे सकने में कारण बताया कि दमयन्ती ने अपने अनुराग को और अपने अनुरागपात्र को लज्जा के कारण अपने मन में ऐसा छिपाया है कि परमाणु तक की बात जान लेने वाले योगियो की बुद्धि भी उसे नहीं जान सकती । दमयन्ती के मन में लज्जा है, जो उस गुहा के समान है, जिसमें नल का नाम सिह के समान छिपा है । कौन जान सकता है उसे ? मन है अपुपरिमाण । योगिधी परमाणु तक की बात तो जान

छेती है, उसके आगे की नहीं। परमाणुरूप मन में लज्जा है, मन तक की बात योगी जान सकते हैं, पर मन में बैठी लज्जा के भीतर क्या है, यह योगी नहीं जान सकते। उनके ज्ञान की सीमा तो परमाणु परिमाण मन तक ही है, आगे नहीं। दमयन्ती का प्रणयपात्र तो और भीतर छिपा है। अतः नारद भी उसको कैसे जानें? उनकी योग-साधना से भी वह अगम्य है। नारी के हृदय को कौन समझ सका है? विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और रूपक ॥ २९ ॥

सा शरस्य कुसुमस्य शरव्य सूचिता विरहवाचिभिरङ्गं ।

तातचित्तमपि धातुरघत्त स्वस्वयवरमहाय सहायम् ॥ ३० ॥

जीवातु—तहि कामुकीत्वभात्र वा कथमस्या प्रतीतमत् आह—सेति । सा मैत्री, विरहवाचिभि विरहव्यञ्जकरङ्गं काश्यपाण्डिमादिपरिविलटैरिति भात्र । कुसुमशरस्य कामवाणस्य शरव्य लक्ष्य, सूचिता । कुत्रचिद्युनि बद्धभावे-त्येतावन्मात्रमवगतोत्थयं । तहि तत्पित्रा वा बरविक्षेपज्ञान विवाहोपाय क्व चित्तितस्तत्राह—तातचित्तमपि ( कर्म ), स्वस्वयवरमहाय धातु सहायमघत्त अकरोत् । सहकारीचकारोत्थयं । तत्पित्रापि धातुप्रेरणया स्वयवर एवोपाय-द्विगित्त इति भाव ॥ ३० ॥

अन्वय—सा विरहवाचिभि अङ्गं कुसुमस्य शरस्य शरव्य सूचिता तात-चित्तम् अपि स्वस्वयवरमहाय धातु सहायम् अघत्त ।

हिन्दी—उस ( दमयन्ती ) ने ( दुर्बलता, पादुरता आदि से युक्त ) वियोग-कहने वाले ( प्रकट करने वाले ) अर्गों द्वारा फूल के बाण का लक्ष्य होना शापित कर अपने पिता के चित्त को भी अपने स्वयवर महोत्सव के निमित्त विधाता का सहायक बना दिया है ।

टिप्पणी—दमयन्ती के जनक भीमराज भी बेटे के दुर्बल, पीले अर्गों को देखकर मही जान पाये कि वह तादृश्यसुलभ व्याधि से पीडित है, कौन उसके अनुराग का पात्र है, यह नहीं । उन्होंने स्वयवर की घोषणा कर दी और इस प्रकार विधि जो लीला रचना चाहते हैं, उसमें सहायक बन बैठे । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और सहोक्ति अलंकार ॥ ३० ॥

मन्मथाय यदयादित राज्ञा हूतिदूत्यविधये विधिराज्ञाम् ।

तेन तत्परवशा पृथिवीशाः सङ्गर गरमिवाकल्पन्ति ॥ ३१ ॥

जीवानु—अस्तु राज्ञामनागमे किं कारणमुक्तं तत्राह—मन्मथायेति । अथ विधिविधाता, राज्ञा हूतिं स्वयवराह्वान, तदेव दूत्य दूतवर्नम् । ‘दूतस्य भाग-  
कर्मणि’ इति यत्प्रत्ययः । तस्य विधये करणाय मन्मथायाज्ञाभादेशमदित दत्त-  
वानिति यद् । तेनाज्ञादानेन तत्परवशा मन्मथपरतन्त्रा । शिवभागवतवत्प्रभास ।  
पृथिवीशा सङ्गर गरमिवाकल्पन्ति विषमिव मन्यन्ते । ‘विष स्याद्गरल गर’  
इति हलायुधः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—अथ विधिः राज्ञा हूतिदूत्यविधये मन्मथाय यत् आज्ञाम् अदित  
तेन तत्परवशा पृथिवीशा सङ्गर गरम् इव आकल्पन्ति ।

हिन्दी—तदनन्तर विधाता ने राजाओं को बुलाने के लिए दूतत्व करने की  
मन्मथ ( काम ) को जो आज्ञा दी, उससे उस ( मन्मथ ) की आज्ञा के  
पराधीन वे पृथिवी के स्वामी ( राजगण ) सङ्गम को गरल के समान मानने  
लगे हैं ।

टिप्पणी—आशय यह है कि भीमभृता के रूप-भुग पर विभुस्य राजगण  
अब कामाधीन हैं, वे युद्ध को विष मान कर उससे दूर रहते हैं और दमयन्ती-  
स्वयवर में सम्मिलित होने जा रहे हैं । यही कारण है कि मूतल के नृनगण  
युद्ध में वीरगति या भाजकल स्वर्ग में नहीं आ रहे हैं । ‘गर’ तो गरल  
है ही, जो पीता है मर जाता है, परन्तु ‘सगर’ तो ‘सम्यक् गर’ है, वह  
सब का नाश कर देता है । विशाखर के अनुसार छेकानुशास उपमा ॥३१॥

येषु येषु सरसा दमयन्ती भूषणेषु यदि वापि गुणेषु ।

तत्र तत्र कल्याणि विशेषो यः स हि क्षितिमृता पुरपायः ॥ ३२ ॥

जीवानु—येष्विति । किञ्च, दमयन्ती, भूषणेषु हारादिषु, यदि वा, गुणेषु  
दयादाश्रिप्तादिषु वा, येषु येषु सरसा साभिलाषा, तत्र तत्र तेषु तेषु भूषणेषु  
गुणेषु च कल्याण मात्रयापि यो विशेष क्षितिमृता स हि स एव । ‘हि हेताव-  
वधारणे’ इत्यमरः । पुरपायं प्रयोजनम्, यथाकथञ्चिद्भीमनोरुद्धनमेव  
पुरपायो न तु साधनम् सङ्गर इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

अन्वय — दमयन्ती येषु येषु भूषणेषु यदि वा गुणेषु अपि सरसा तत्र तत्र कलया अपि य विशेष स हि सितिमृता पुरुषार्थ ।

हिन्दी—दमयन्ती की जिन-जिन आभूषणों में अथवा गुणों में भी रुचि है, उन उन ( भूषणों-गुणों ) में जो थोड़ी सी भी विशेषता है, वही भूमिपतियों का पुरुषार्थ रह गया है ।

टिप्पणी—नारद ने इन्द्र को बताया कि अब उन भूमिपतियों का पौरुष युद्ध में प्रकट नहीं होता, अब तो वे इसमें अपने पौरुष को चङ्गितार्थ करते हैं कि जिन जिन हारादि आभूषणों में दमयन्ती की रुचि है अथवा कौन से उदार तादि गुण दमयन्ती को आकृष्ट करते हैं, उनमें विशिष्टता लायी जाय । परस्पर होठ लगी है दमयन्ती के रुचि के अनुकूल अपने को छालने की राजाओं में । धर्म-वर्ध-मोक्ष को छोड़ केवल तृतीय पुरुषार्थ — काम की सिद्धि में ही वे व्यस्त हैं आजकल, कैसा युद्ध, कैसा क्षान्धर्म ? विद्याधर के अनुसार अविशयोक्ति ॥

शैशवव्ययदिनावधि तस्या यौवनोदयिनि राजसमाजे ।

आदरादहरह कुसुमेपोल्ललास मृगयाभिनिवेशः ॥ ३३ ॥

जीवातु—शैशवेति । कुसुमेपो कामस्य, यौवनोदयिनि यौवनप्रादुर्भाववति, राजसमाजे राजसमूहे विषये, तस्या भैरव्या, शैशवव्ययदिन बाल्यापगमदिनम्, अवधि सीमा यस्मिन्सतत्तथा, तद्दिनमारभ्येत्यर्थः । अहरह प्रत्यहम् । वीप्साया द्विर्भावः । अत्यन्तस्योमे द्वितीया । आदरात् मृगयायामभिनिवेश आग्रहः । उल्ललास बबुधे । सर्वेषामपि यूना भैमीयौवनोद्भेदात् प्रभृति स्मरव्यसनमेव वर्तते, न समरव्यसनमित्यर्थः ॥ ३३ ॥

अन्वय — कुसुमेपोः यौवनोदयिनि राजसमाजे तस्या शैशवव्ययदिनावधि अहरह आदरात् मृगयाभिनिवेश उल्ललास ।

हिन्दी—कुसुमबाण ( काम ) का तरुणाई से पूर्ण राजाओं के विषय में उस ( दमयन्ती ) के शैशव को समाप्ति के दिन से आरम्भ करके प्रतिदिन आदर के साथ माछेट का आग्रह उल्लसित हो गया है ।

अथवा

अन्वय — तस्या शैशवव्ययदिनावधि यौवनोदयिनि राजसमाजे कुसुमेपो मृगयाभिनिवेश अहरह आदरात् उल्ललास ।



हिन्दी—उस ( दमयन्ती ) की शिशुतासमाप्ति के दिन से तदुपाई से परिपूर्ण राज-समूह में पुनर्वाण के आशेट में आग्रह दिन दिन अत्यन्त उछाह पाने लगा ।

टिप्पणी—दमयन्ती का बचपन समाप्त होकर जिस दिन जीवन आया, उसी दिन से राजागण कामवाण के आशेट बनने लगे, उसी दिन से तदुपा राजाओं में लीहयों के स्थान में फूलों के बाणों से मृगया खेलने का उन्साह उत्त्पत्ति हो गया । अब उनका पौरुष दमयन्ती-प्राप्ति में ही हो गया । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ ३३ ॥

इत्यमी वसुमतीकमितार सादरास्त्वदतिथिर्भवितु न ।

भीमभूरभुवोरभिलाषे दूरमन्तरमहो नृपतीनाम् ॥ ३४ ॥

जीवानु—इतीति । इतीत्यममी नृना वसुमत्या कमितार कामपितारा सन्त तृप् । वसुमती वा कमितार । ताच्छीन्ये तृन् । 'न लोक-'इत्यादिना पृष्टीप्रतिपेय । 'आयादय आघंषातुके वा' इति विकल्पादुभयत्रापि पित्रभाव । त्वदतिथिर्भवितु सादरा साक्षाद्ज्ञा न । तथा हि, नृपतीना भीमभू भैमी मुरभूः दौस्तयोरभिलाषे तद्विषयानुरागे दूरमन्तर महत्तारुम्यम्, अहो, स्वर्ग-प्यरचिरित्याश्रयम् । एतेन मुराङ्गनातिशायिसौन्दर्यं दमयन्त्या इति व्यज्यते । भीमदेशमुरदेशयो महान् विप्रकर्ष इत्यर्थान्तरप्रतीति । अनोत्तरवाक्यार्थेन स्वर्गाख्या पूर्ववाक्यार्थातिष्यानादरस्य समर्थनाद्वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्गम-लङ्कारः ॥ ३४ ॥

अन्वय.—इति अभी वसुमतीकमितार त्वदतिथिर्भवितु सादरा न, अहो नृपतीना भीमभूरभुवोः अभिलाषे दूरम् अन्तरम् ।

हिन्दी—इस प्रकार ये ( दमयन्तीकामी राजगण ) वसुमती ( पृथ्वी पर रहने ) की कामना करने लगे हैं, तुम्हारे अतिथि बनने के इच्छुक नहीं हैं । अरे, भीमपुत्री और देवमूमि ( स्वर्ग ) की आकांक्षा में ( राजाओं में ) बड़ा अंतर है ।

टिप्पणी—आशय यह है कि दमयन्ती की कामना में राजा अब धरती पर ही रहना चाहते हैं, स्वर्ग नहीं जाना चाहते । उनके लिए भीममुता स्वर्ग की

अपेक्षा अधिक काम्य है। उनमें स्वर्ग के प्रति कोई रुचि नहीं रह गयी है। 'मीमंभुसुरभुवो' का अर्थ यह भी है कि मीमंभू (कुण्डिननगरी) और सुरभू (स्वर्गनगरी अमरावती) में बड़ी दूरी है, और राजा हैं धरती के वासी, वे निकट की नगरी कुण्डिनपुरी में ही पहुँचना चाहते हैं, दूरस्थित अमरावती में नहीं। इसके अतिरिक्त मीमंभू (मीमंभुता दमयती) और सुरभू (देवसुता देवागना) में भी बड़ा अंतर है, देवागना की अपेक्षा धरती की बेटी दमयती कहीं अधिक कमनीय है। सो सुरसुन्दरी से कहीं रमणीय निकट कुण्डिनपुरी में प्राप्य दमयती को छोड़ किसकी इच्छा होगी कि इतनी दूर स्वर्ग जाने के लिए धीर गति प्राप्त करे? मञ्जवागादि से प्राप्य स्वर्ग की अपेक्षा अब राजाओं में दमयती की आकांक्षा प्रबल है। मल्लिनाथ के अनुसार इस लोक में वाक्यार्थ हेतुक काव्यालिंग अलंकार है, क्योंकि उत्तर वाक्यांश से स्वर्ग में अवधि प्रतिपादित होने के कारण पूर्ववाक्यार्थ में कथित आतिथ्य के अनादर का समर्थन होता है। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार है ॥ ३४ ॥

। तेन जाग्रदधृतिर्दिवमाणा सस्यसौख्यमनुकर्तुमनु त्वाम् ।

॥ येनमृध क्षितिभृता न विलोके तन्निमग्नमनसा भुवि लोके ॥ ३५ ॥

✧ जीवातु—एव राजा स्वर्गानागमने हेतुमुत्स्वाय स्वस्यागमने हेतुमाह—तेनेति । यद्यस्माद्भुवि लोके भूलोके तस्या दमयत्या, निमग्नमनसाम् आसक्तचेतसा क्षितिभृता मृध युद्ध न विलोके न पश्यामि । तेन युद्धालाभेन जाग्रदधृति समूर्च्छदसन्तोष असन्तुष्ट सन्, सङ्घसौख्य युद्धसुखम् । 'भूयमास्कन्दनं सङ्घमम्' इत्यमरः । अनुकर्तुमनुभवितु, त्वामनु त्वामुद्दिश्य, दिव स्वर्गमागाम् ॥

धन्यम् — मत् भुवि लोके तन्निमग्नमनसा क्षितिभृता मृध न विलोके तेन जाग्रदधृति त्वाम् अनु सङ्घसौख्यम् अनुसर्तुं दिवम् आगाम् ।

हिन्दी—क्योंकि भूलोक में उस (दमयती) में मन निमग्न किये हुए भूपतियों का युद्ध नहीं देखपाता, उससे अधोर होकर तुम्हारे निवट युद्ध के सुख का अनुभव करने के निमित्त स्वर्ग आया है ।

टिप्पणी—नारद ने इन्द्र से अपने स्वर्गान्गमन का कारण बताया 'सङ्घसौख्य' का 'अनुसरण', इससे उनकी कलहप्रियता प्रतीत होती है । अब इन्द्र

को उचित है कि वह कोई ऐसा कार्य करे कि मुड़-झीटा हो। विद्याधर के अनुसार अन्त्येष्ट्य अलंकार छेकानुप्रास ॥ ३५ ॥

वेद यद्यपि न कोऽपि भवन्त हन् हन्त्रकृष्ण विरुणद्धि ।

पृच्छयसे तदपि येन विवेकप्रोञ्जनाय विषये रससेक ॥ ३६ ॥

जीवातु—वेदेति । हन्तृष्वकृष्ण समूलधातु हन्तार भवन्त कोपि न विरुणद्धि न विरुह्यति । हन्तेति ह्ये । वेद यद्यपि एतावद्देहस्येव । 'विदो लटो वा' इति विदो गलादेशः । यद्यपीत्यवधारणे, तदपि तथापि पृच्छयसे । अत्रः पृच्छति न विद्वानन आह—येन कारणेन विषये भाग्ये रससेको रागानुबन्धो अलसेकश्च विवेकस्य विशेषज्ञानस्य चित्राद्यसाङ्कर्यस्य प्रोञ्जनाय प्रमाजंनाय, विषय-तृणानुमविवेकः पृच्छामीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

अन्वय—हन्त, व जपि हन्त्रकृष्ण भवन्त न विरुणद्धि—यद्यपि वेद तदपि पृच्छयसे, येन विषय रसनेक विवेकप्रोञ्जनाय ।

हिन्दी—प्रसन्नता है कि प्रहारकर्ता के प्रति निष्क्रिया तुम्हारा कोई विरोध नहीं करता है—यद्यपि यह मैं जानता हूँ, तथापि तुमसे पूछता हूँ ( कि मुठ होगा अथवा नहीं ) क्योंकि अमीष्ट वस्तु अनुपम की अधिकता ( वैसे ही ) विवेक की समाप्त करने के लिए होती है ( जैसे कि ) 'रस' ( जल ) का 'सेक' ( प्रसारण ) चित्र आदि की घो देता है ।

टिप्पणी—ज्ञानी नारद का प्रश्न उनके अज्ञानी होने का संकेत देता है, अतः वे अपनी दरकटा को इसका कारण बताते हैं । अधिक अनुराग से अविवेक हो ही आता है । इन्द्र शत्रुओं के साथ कठोर व्यवहार करता है, अतः उससे सब डरते हैं । विद्याधर के अनुसार अर्थान्तरन्यास अलंकार ॥ ३६ ॥

एवमुक्तवति देवकृषोन्त्रे द्रागभेदि मधवाननमुद्रा ।

उत्तरोत्तरगुभो हि विभूना कोऽपि मञ्जुलतम क्रमवादा ॥ ३७ ॥

जीवातु—एवमिति । देवकृषोन्त्रे नारदे । 'ऋत्यक्' इति प्रवृत्तिभाव । एवमुक्तवति सति, मधोन आननमुद्रा मौन मधवाननमुद्रा । 'मधवा बहुलम्' इति विद्वान्गान्मनुवादेशाभावात् । द्राक् शतित्वभेदि स्वयमेव निबधते स्म । 'कर्म-बन्धमंगा तुर्न्यक्रिय' इति कर्तुं कर्मवद्भावात् 'कर्मकर्तारि लुद्ध' । तडादिनाम

‘यगात्मनेपदविष्चिष्वङ्गावा प्रयोजनम्’ इति वचनात् । ‘क्रियमाण तु एत्वम् स्वयमेव प्रसिध्यति । सुकरं स्वयुर्ण्यस्मात् कर्मकर्तेति त विदुः ॥’ इति ॥ तथाहि, विभूना प्रभूणा, कोऽपि मञ्जुलतमोऽतिहृद्य क्रमवाद प्रश्नोत्तरक्रमेणोक्तिः । उत्तरोत्तरधुम उपर्युपरि सुमणो हि । अर्थान्तरन्यासः ॥ ३७ ॥

अन्वय — देवश्रीन्द्रे एवम् उक्तवति मधवाननमुद्रा द्राक् अभेदि, हि विभूना मञ्जुलतम क. अपि क्रमवाद उत्तरोत्तरधुम ।

हिन्दी—देवशिरोधर ( नारद ) के ऐसा कहने पर इन्द्र के मुख की मुद्रा ( मौन ) झट छिन्न हो गयी, क्योंकि सामर्थ्यशील व्यक्तियों का रम्यतम लोकोत्तर क्रमिक वचन उत्तरोत्तर (अथवा उत्तर-प्रत्युत्तर) धुम होता है ।

टिप्पणी—इन्द्र एक सभ्य व्यक्ति के समान नारद जी का कथन चुपचाप बिना बीच में बोले सुनता रहा, जैसे ही देवशिराज ने अपनी बात समाप्त की उसने तुरन्त उत्तर दिया । यही शिष्टाचार है, जो कल्याणप्रद और उचित होता है । अर्थान्तरन्यास ॥ ३७ ॥

कानुजे मम निजे दनुजारी जाग्रति स्वशरणे रणचर्चा ।

यद्भुजाङ्गमुपधाय जयाङ्क शर्मणा स्वपिमि वीतविशङ्कः ॥ ३८ ॥

जीवातु—कानुज इति । निजे स्वीये अनुजे दनुजारी उपेन्द्रे स्वशरणे स्वरक्षके स्वगृहे वा ‘शरण गृहरक्षितो’ इत्यमरः । जाग्रति जागरूके सति । मम रणचर्चा रणचिन्ता का ? न कापीत्यर्थः । जयोऽङ्कश्चिह्नं यस्य त तद्भुजाङ्कः, यस्यानुजस्य भुजोत्सङ्गमुपधायोपधानीकृत्य वीतविशङ्को निरातङ्कः सन् शर्मणा सुखेन स्वपिमि शय्ये । यथा रक्षिजने जाग्रति राजा शय्यागारे सुखेन भुजमुपधाय स्वपिति तद्वदिति भावः । इह निरातङ्कवृत्तिस्मृतिः अस्वप्नत्वा दमरणाम् ॥ ३८ ॥

अन्वय — स्वशरणे निजे अनुजे दनुजारी जाग्रति मम रणचर्चा वा, जयाङ्क यद्भुजाङ्गम् उपधाय वीतविशङ्कः शर्मणा स्वपिमि ।

हिन्दी—स्व शरण में ( अपने आवास में ) रहते अथवा अपने शरणदाता ) अपने अनुज दनुजरिषु (उपेन्द्र विष्णु ) के जागरूक रहते हुए मेरे (लिए) युद्ध को

क्या विचारणा, जिसके विजयी ( अथवा जय-चिह्न से युक्त, अथवा जय के चिह्न ) दक्षिण मुख का उपधान ( तकिया ) बना मैं सुख-पूर्वक सोता हूँ ।

टिप्पणी—देवायि ने पूछा था कि युद्ध समव है या नहीं ? इन्द्र ने उत्तर दिया कि जहाँ तक उसका सबब है, रण भी कोई समावना ही नहीं है । सदा जयी उपेन्द्र विष्णु उसके रक्षक हैं, वे दनुज-दैत्यों के शत्रु और सहारक हैं । विष्णु के रक्षण में इन्द्र निश्चित हो सुख चैन से दिनु-रात व्यतीत कर रहा है, वह युद्ध के विषय में विचारता ही नहीं । अतः स्वर्ग में तो नारद को 'सङ्ख्य-सौख्य' मिलेगा नहीं । विद्याधर के अनुसार उत्तरेव्य अलकार अनुप्रास ॥ ३८ ॥

विश्वरूपकलनामुपपन्न तस्य जैमिनिमुनित्वमुदीये ।

विग्रह मल्लमुजामसहिष्णुव्ययंता मदर्चनि न निनाय ॥ ३९ ॥

जांवातु-विश्वेति । तस्योपेन्द्रस्य विश्वरूपकलनात् सर्वार्थसाक्षात्करणाय, यद्वा एकत्र मस्त्वर्माद्यनन्तरूपधारणादन्यत्र विश्वारूपरूपणात्, विश्वरूपाणि सूत्राणि तत्प्रणयनात् ( हितो ), जैमिनिमुनित्वमुदीये उत्पन्नम् । इण् गतौ कर्तरि लिट् । उपपन्न तच्च युक्तमित्यर्थः । कुत, स उपेन्द्र, मल्लमुजा विग्रह विरोध-मन्त्र शरीरम्, असहिष्णुर्मदार्चनि मम बज्रायुधम्, नन्वत्र 'बज्रहस्त पुरन्दर' इत्यादिवाक्यजात, व्ययंता स्वायुधेर्नव तत्कार्यकरणान्निप्रयोजनत्वम्, अन्यत्र विग्रहवद्देवतानिरासेन अयंवादिद्वान्निप्रयोजनत्व च निनाय । अतो जैमिनि-मुनित्व युक्तमित्यर्थः । प्रकृताप्रकृतस्तेषु ॥ ३९ ॥

अन्वय — तस्य विश्वरूपकलनात् उपपन्न जैमिनिमुनित्वम् उदीये, स मल्लमुजा विग्रहम् असहिष्णु मदर्चनि व्ययंता निनाय ।

हिन्दो—उस ( विष्णु ) के विश्वरूप स्वीकृत होने के कारण घटित जैमिनिमुनि-भाव उत्पन्न हो गया, उसने यज्ञ भोक्ता ( देवों ) के साथ युद्ध होना न सहकर मेरे वज्र को व्यय कर दिया है ।

टिप्पणी—भाव यह है कि विष्णु ने दनुज दैत्यों को इतना आतंकित कर दिया है कि उससे तत्तद् हुए वे कुछ भी उपद्रव नहीं करते और यज्ञभोगी देवगण सानन्द यज्ञभोग करते हैं, इन्द्र का वज्र युद्धाभाव करके विष्णु ने व्यय बना दिया है ।

, 'जैमिनिमुनित्वम्' से कई आशय निकलते हैं। ( १ ) विष्णु को विश्व-रूप कहा जाता है—'सर्वं विष्णुमयं जगत्'। जैमिनि भी विश्व में ही हैं, अतः वे भी विष्णुमय हैं। इस प्रकार जैमिनि भी विष्णु का रूप हैं—यह सिद्ध है। उन जैमिनि रूप विष्णु को यज्ञभोगी देवों का युद्ध में लिप्त रहना भला प्रतीत नहीं हुआ, अतः उन्होंने चक्र में शत्रुओं का नाश कर दिया और इस प्रकार वज्र का कोई इतिकर्तव्य ही नहीं रह गया। ( २ ) किसी समय जैमिनि ने भी सब्रह्म इन्द्रबाहु को स्तुति कर दिया था, इस प्रकार वज्र को व्यर्थ करके जैमिनि विष्णुरूप हुए—'जैमिनिश्च सुमन्तुश्च वैशम्पायन एव च। पुलस्ति पुलहो विष्णु पठेते वज्रधारणा ॥' ( ३ ) जैमिनि ने 'विश्वरूप' नामक सूत्रग्रन्थ रचा है, इस प्रकार 'विश्वरूपकलन' से जैमिनि मुनित्व उदय हुआ। ( ४ ) विष्णु 'मलभूजा विग्रह' ( देवों का युद्धलग्न रहना ) नहीं सहते, जैमिनि भी 'मलभुजा विग्रहमसहिष्णु' ( देवों का शरीर अस्वीकारने वाले ) हैं। जैमिनि ने देवताओं की सब कर्मों में स्थिति शरीररूप में नहीं मानी, क्योंकि एक समय में शरीर अनेक स्थलों पर नहीं रह सकता, तब सबिग्रह देव अनेक स्थलों पर जाहूत होने पर कैसे सब्रह्म पहुँच सकते हैं ? जैमिनि का कथन है कि देवता 'मन्त्रमय' हैं, मन्त्र ही उनका बिग्रह है, इसीसे जहाँ मन्त्र है, वही देव है—'मन्त्रमयी देवतेति सर्वैकमंसु देवतानां सत्त्वम्।' जैमिनि वज्र आद्य भी नहीं मानते, बल्कि केवल अर्थवाद है। इस प्रकार घटमान जैमिनिमुनित्व उपपन्न है। भल्लिनाथ ने यहाँ प्रकृताप्रकृत श्लेष माना है, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति है ॥ ३९ ॥

ईदृशानि मुनये विनयान्विस्तस्थिवान् स वचनान्युपहृत्य ।

प्रादुनिश्वसितपृष्ठचरो वाङ् नारदस्य निरियाय निरोजा ॥ ४० ॥

जीवातु—ईदृशानीति । विनयान्वि स इन्द्रो मुनये ईदृशानि युद्धनिराशानि वचनानि उपहृत्य समर्थं, तस्थिवान् तूष्णीं स्थितः । अथ नारदस्य प्रादुनिश्वसितस्य पृष्ठे चरतीति पृष्ठचरो पञ्चाङ्गामिनी दीर्घनिश्वासापूर्विकेत्यर्थः । निरोजा योना वाक् निरियाय निर्जगाम ॥ ४० ॥

अन्वय — विनयान्वि मुनये ईदृशानि वचनानि उपहृत्य तस्थिवान्, नारदस्य प्रादुनिश्वसितपृष्ठचरो निरोजा वाक् निरियाय ।

हिन्दी—विनय का समुद्र ( इन्द्र ) मुनि से ऐसे ( उपर्युक्त ) वचन कह कर चुप हो गया । ( तब ) नारद की दीर्घ निश्वास के पश्चात् सचरपशील दीनवाणी निकली ।

टिप्पणी—इन्द्र युद्ध की असमावना अत्यन्त विनय पूर्वक बताने पर नारद को अच्छा न लगा और वे लंबी साँस लेकर दीन वाणी में बोले । अमीष्ट की वृत्ति न होने से नारद को कष्ट हुआ । विद्याधर के अनुसार रुद्र और जाति भ्रंशकार है ॥ ४० ॥

स्वरसातलमवाहवशङ्को निर्वृणोमि न वसन् वसुमत्याम् ।

द्या गतस्य हृदि मे दुरुदर्कं क्ष्मातलद्वयमटाजिवितर्कं ॥ ४१ ॥

जीवातु—स्वरिति । वसुमत्या भूलोके वसन् स्वप्न रसातल व स्वारसातले स्वर्गपाताल 'सो रि, इति रेफलोपे दीर्घ' । तयोर्मवमाहव शङ्कत इति तच्छङ्को सन् । न निर्वृणोमि न सन्तुष्यामि । द्या स्वां गतस्य मे हृदि क्ष्मातले भूपा-  
ताले । 'अत्र स्वस्वयोरस्त्री तलम्' इत्यमर । तयोर्द्वये भटानामाजिवितर्को युद्धशङ्का दुरुदर्को दुस्तरः । 'उदर्कं पञ्चमुत्तरम्' इत्यमरः । एव पातालगतस्य इतरलोकाजिवितर्कं इति धेय ॥ ४१ ॥

अन्वयः—वसुमत्या वसन् स्वारसातलमवाहवशङ्को न निर्वृणोमि, द्या गतस्य मे हृदि क्ष्मातलद्वयमटाजिवितर्कं दुरुदर्कः ।

हिन्दी—वसुमती ( भू ) पर निवास करता मैं स्वर्ग और, पाताल में समव युद्ध की आशंका करता हुआ सुखी नहीं रह पाता, स्वर्ग में पहुँचि मेरे हृदय में भूतल और पाताल के मोढ़ाओं में युद्ध की समावना निष्फल है ।

टिप्पणी—इस श्लोक में वर्णनवानुर्य से नारद के सवध में दो प्रकार की बातें कह दी गयीं—( १ ) उन्हें युद्ध प्रिय नहीं है, जब वे भूलोक में रहते हैं तो उन्हें स्वर्ग-पाताल में समव युद्ध की आशंका से कष्ट होना है, और अब वे स्वर्ग में रहते हैं तो उन्हें डर रहता है कि कहीं पाताल और घरती के वासी परस्पर युद्ध न कर डालें । दोनों स्थितियों में नारद आशंकित और दुःखी रहते हैं । ( २ ) उन्हें कष्ट है कि उन्हें युद्धश्रीला का सुख नहीं मिल पाता । घरती पर रहे उन्हें लाता है कि स्वर्ग और पातालवासी युद्ध कर रहे हों,

वे उसे देख नहीं पा रहे, और स्वर्ग में रहते उन्हें लगता है कि कहीं घरती और पाताल के लोगों में युद्ध न हो रहा हो, और वे अनुपस्थित हो और उस युद्ध-सौख्य का अनुभव न कर पाये। विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में काव्यलिंग अलंकार है ॥ ४१ ॥

बोधितस्त्वमसि मामथ गन्तु तन्मनुष्यजगतेऽनुमनुष्व ।

किं भुव परिवृढा न विबोढु यत्र तामुपगता विवदन्ते ॥ ४२ ॥

जीवातु—बोधित इति । त्व बोधितोऽसि । एतदेवागमनफलमित्यर्थ । तत्तस्मात्कान्तरामावात् अयानन्तर मा मनुष्यजगते गन्तु मर्त्यलोक गन्तु-मित्यर्थ । 'गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुष्यो चेष्टायामनध्वनि' इति चतुर्थी । अनुमनुष्व अनुजानीहि । तत्र मर्त्यलोके, ता दमय ती, विबोढु परिणेतुम् उपगता भुव परिवृढा, प्रभवो भूपतय 'प्रभो परिवृढ' इति निपात । न विवदन्ते न कलहादिप्यन्ते किम् ? अथि तु मर्त्वं एव विवाह करिष्यन्तीति भाव । सामीप्ये । लट् । भावनादिसूत्रेण धरेदकर्मकत्वात् विमतावात्मनेपदम् । भैमी परिणेतुमा-गतामा राज्ञा तत्सौन्यव्यमुग्यानामहमेवास्या अनुरूप इत्यादि विवादो भविष्य-तीति भाव ॥ ४२ ॥

अन्वय—त्व बोधित अथि, अथ तत् मनुष्यजगते गन्तु माम् अनुमनुष्व, तत्र ता विबोढुम् उपगता किं भुव परिवृढा न विवदन्ते ?

हिन्दी—तुम्हे देख लिया, अब फिर मनुष्यलोक में जाने की मुझे अनुमति दो, वहाँ उस ( दमयती ) से विवाह करने को एकत्र कहीं घरती के राजा कलह तो नहीं कर रहे ?

टिप्पणी—इस श्लोक में भी वैसी ही बातुरी है । ( १ ) इद्र को देख लिया, सगोप हुआ कि यहाँ युद्ध की थोड़ी भी आशका नहीं है, पर देखें, वही दमयती के लिए भूतल पर तो राजा नहीं लड़ रहे हैं । उनका कलह-निवारण करने के लिए शीघ्र वहाँ पहुँचना है । ( २ ) स्वर्ग में तो युद्ध-समावना है नहीं, दमयती विवाह प्रसंग में विवाहार्थी राजाओं में युद्ध की अच्छी समावादा है, उस युद्ध को देखने का अवसर न मिल जाय तो शीघ्र भूलोक पहुँचना चाहिए । विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार ऐरानुप्रास ॥ ४२ ॥



इत्थुदीर्य स ययौ मुनिर्ह्यर्वा स्वर्पति प्रतिनिवर्त्य जवेन ।

वारितोऽप्यनुजगाम नः यन्त तं कियन्त्यपि पदान्यपराणि ॥ ४२ ॥

जीवानु—इतीति । स मुनिरित्युदीर्यं स्वर्पतिमिन्द्रम् 'अहरादीना पन्था-  
दिषु' इति वैजयन्तिको रेषादेशः । प्रतिनिवर्त्यं जवेनोर्वी'ययौ । स इन्द्रो वारितो  
निर्वानितोऽगिरि यन्न गच्छन्तम् । इषो लुट् घनादेशः । त मुनिमपराण्यपि  
कियन्ति कतिचन पदानि । आसीनमित्यर्थः । अन्यन्तस्यो द्वितीया ।  
अनुजगाम ॥ ४२ ॥

अन्वयः—स. मुनि इति उदीर्यं स्वर्पति प्रतिनिवर्त्यं जवेन उर्वी ययौ,  
वारित अपि स यान्त तम् अगिरि अरयापि कियन्ति पदानि अनुजगाम ।

हिन्दी—हे मुनि ( नारद ) इतना कह कर स्वर्ग के स्वामी ( इन्द्र ) से  
लौटने को कहते हुए धरती की ओर चल दिये, रोके जाने पर भी वह  
(जयदा वारि-जलाशय-तक भी वह इन्द्र) जाते उन ( मुनि ) के पीछे नी कुछ  
पग चला ।

टिप्पणी—नारद जी शीघ्रतया भूमण्डल की ओर चले, शिक्षाचार बरा  
उन्होंने अनुगामी द्रुप को बापस जाने को कहा, पर इन्द्र कुछ दूर—जलाशय  
तक उनके पीछे-पीछे गया । 'वारितोऽप्यनुजगाम' के दो अर्थ हैं—'वारित'  
निवारित' अपि अनुजगाम, वारित वारिपर्यन्तम् जलाशय यावत् अनुजगाम ।  
विद्याधर के अनुसार अनिशयोक्ति ॥ ४३ ॥

पर्वतेन परिषीय गभीर नारदीयमुदित प्रतिनेदे ।

स्वन्य कश्चिदपि पर्वतपक्षच्छेदिनि स्वयमदर्शित पक्ष ॥ ४४ ॥

जीवानु—पर्वतेनेति । पर्वतेन मुनिना गिरिणा च गभीर, नारदीय-  
मुदित नारदवाक्य, परिषीय प्रतिदध्वने तदेवानुवृत्तमित्यर्थः । पर्वते । सत्रि-  
कृष्ट प्रनिनाशो युक्त इति भावः । नदेन्टि । 'अत एकहन्मध्यैनादेशादेन्टि'  
इत्येत्वान्ध्यामलोपी । स्वयं तु न किञ्चिन्निवेदिततानित्याह—पर्वतपक्षच्छेदि-  
नोद्रे स्वन्य कश्चिदपि पक्ष साध्य प्रयोजन गच्छत् । पक्ष पार्श्वोऽन्ध्याध्य-  
नहायवन्निस्तिष्ठु' इति वैजयन्ती । स्वयं मार्दङ्गि न दक्षित । उत्साहपनात्र-  
लोनाशान्द स्वस्य पृथक्शाब्दानावात्तदुक्तमेवानुवृत्तम् । नतु पृथग्विद्विन्नि-

वेदितमित्यर्थं । पवतपक्षच्छेदित्वादिन्द्रस्याग्रे पर्वतेन स्वपक्षो न प्रकाशित इति ध्वनि ॥ ४४ ॥

अन्वय—पर्वतेन गभीर नारदीयम् उदित परिपीय प्रतिनेदे, पर्वतपक्षच्छेदिनि स्वस्य कश्चित् अपि पक्षः स्वयं न अदशि ।

हिन्दी—( १ ) पर्वत ( मुनि ) ने गभीर नारद का कथन सादर सुनकर उसका अभिनन्दन किया, पहाड़ों के पक्ष काटनेवाले ( इन्द्र ) के प्रति अपना कोई भी मत स्वयं नहीं प्रकट किया ।

( २ ) पर्वत ( पहाड़ ) ने उच्च मेघ-गर्जन सुन प्रतिध्वनि की, पहाड़ों के पक्ष काटनेवाले इन्द्र को कोई अपना पक्ष स्वयं नहीं दिखाया ।

टिप्पणी—इस श्लोक में 'पर्वत' ( मुनि-पहाड़ ), 'नारद' ( देवपि तथा 'नारम्' उदक ददाति इति नारद' व्युत्पत्त्या मेघ ) और 'पक्ष' ( मत-पक्ष ) अनेकार्थवाची शब्द हैं, जिनके आधार पर श्लेषचमत्कार आ गया है । जिस प्रकार मेघ गर्जन को पहाड़ प्रतिध्वनित कर देता है, पर्वतों के पक्षच्छेदक इन्द्र के गरजते वज्र के समूह अपना पक्ष स्वयं नहीं दिखाता, उसी प्रकार पवत मुनि ने अर्पणगभीरता से पूर्ण नारद के कथन का अनुमोदनमात्र कर दिया, इन्द्र के प्रति स्वयं निजी मत प्रकट नहीं किया । मरिचिनाथ के अनुसार पर्वतपक्षच्छेदी इन्द्र के समूह पर्वत ने स्वपक्ष प्रकाशन नहीं किया—यह ध्वनि है । विद्याधर के अनुसार श्लेष है ॥ ४४ ॥

पाणये बलरिपोरथ भैमीशीलकोमलकरग्रहणार्हम् ।

भेषज चिरचिताशनिवासव्यापदामुपदिदेश रतीश ॥ ४५ ॥

जीवातु—इद्रस्तु भैम्यामनुरक्तोऽभूदित्याह—पाणय इति । अथ नारद-निर्गमनान्तर, रतीश कामो बलरिपोरिन्द्रस्य पाणये चिरचित्तानां चिरसञ्चितानाम्, अशनिवासेन वज्राग्निसम्पर्केण या व्यापदो विदाहा तासां भैमी-शीतकोमलकरस्य ग्रह ग्रहणमेवाहं योग्य, भेषजमौषधमुपदिदेश । वीराभिमयेन शृङ्गार प्रवृद्ध इति भावः । अत्र कामनिबन्धस्य भैमीपाणिग्रहणस्याशनिवा-सासतापशमनार्थत्वोत्प्रेक्षा व्यञ्जकप्रयोगाद् गम्यते ॥ ४५ ॥

अन्वय—अथ रतीश बलरिपो पाणय चिरचिताशनिवासव्यापदा भैमी-शीतकोमलकरग्रहणार्हं भेषजम् उपदिदेश ।

हिन्दी—नारद के चले जाने के पश्चात् रति के स्वामी ( काम ) ने बल के शत्रु ( इन्द्र ) के हाथ के लिए चिरकाल में बन्ध के निगल ( हाथ में रहने ) के कारण उत्पन्न दाह के उपशमनाय नीमनुता के शीतल और कोमल हाथ का ग्रहण ( पणिग्रहण-विवाह )—यह उचित औषध की व्यवस्था दी ।

टिप्पणी—बन्ध हाथ में रहने से इन्द्र का हाथ दाह से पीड़ित रहता था, उसका उपशमन किसी ठीकी, मुलायम वस्तु से सम्भव था । तदर्थ उपयुक्त औषध दम्पती का शीतल-कोमल हाथ ही था । कामदेव रूप देव ने उसी का निर्देश किया, अर्थात् दम्पती को पणिग्रहण करके पाने का काम इन्द्र के मन में जागा । मन्थिनाथ के अनुसार यहाँ कामनिवर्धक भैमीपणिग्रहण की यज्ञमपर्वजन्मतापशमन के निमित्त उत्प्रेक्षा की गयी है । व्यञ्जक का प्रयोग न होने से यह गम्या उत्प्रेक्षा है । दिष्टायर के अनुसार छेकानुप्रास और रूपक है ॥ ४५ ॥

नाकलोकमिपजो मुपमा या पुष्पचापमपि चुम्बनि मैव ।

वैधि तादृगमिपज्यदमौ तद्द्वारमक्रमिनवैद्यकविद्य ॥ ४६ ॥

जीवानु—ननु कामस्य कुतो वैद्यविद्येत्यत आह—नाकेति । नाकलोकमिप-  
ओरद्विनोर्ना मुपमा सौन्दर्यं संव पुष्पचाप काममपि चुम्बति स्पृशति, तन्मादपि ।  
छादेव मुपमानन्नाविति भाव । अत्रौ काम मा मुपमैव द्वार तेन सङ्क्रमिता  
वैद्यक वैद्यस्य नैपज्यम् । 'योपनाद् गुरुभोतमाद् वुन्' । तदेव विद्या यस्मिन्  
स । अतएव तादृक् स्ववैद्यनृश मन् अमिपज्यत् चिकित्सितवान् । मिपज्यने  
वाद्वादियगन्तान्ल्ह । वेद्मीत्युत्प्रेक्षायाम् । वाक्यार्थं कर्म ॥ ४६ ॥

अन्वय—नाकलोकमिपजो या मुपमा सा एव पुष्पचापम् अपि चुम्बति-  
वैधि, तद्द्वारसङ्क्रमितवैद्यकविद्य अत्रौ तादृक् अमिपज्यत् ।

हिन्दी—समझा जाता है कि स्वर्गलोक के वैद्यमुकुल ( अश्विनीकुमारों ) का जो सौन्दर्य है, वही पुष्पधन्वा ( काम ) का भी स्पर्श करता है, क्योंकि उसी सौन्दर्य के द्वार से सङ्क्रमित वैद्यक विद्या के वेत्ता इस ( काम ) ने उन्हीं के समान चिकित्सा की ।

टिप्पणी—पूर्व श्लोक में काम को औषध-व्यवस्थापक बताया गया,

किंतु काम तो चिकित्सक नहीं है । इस श्लोक में समावृत्ता की गयी है कि काम भी तो स्वर्वेषो के समान ही घोमाशाली देव है । कदाचिद् इसी समानता के आधार पर काम भी आयुर्वेद शास्त्र का वेत्ता हो गया हो, तभी तो उसने उन्हीं के सदृश चिकित्सा व्यवस्था की । अश्विनीकुमार भी ऐसी ही व्यवस्था देते । विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ४६ ॥

मानुषीमनुमरत्यथ पर्यो खर्वभावमवलम्ब्य मघोनी ।

खण्डित निजमसूचयदुर्च्चैर्मनिमाननसरोरुहन्त्या ॥ ४७ ॥

जीयातु—अयेन्द्राण्या ईर्ष्यानुभावमाह—मानुषीमिति । अयेन्द्रस्य भैमीरागा-  
मन्तर मघोनी स्त्री मघोनी शची । 'पुयोमादाख्यायाम्' इति ङीप् । 'श्वपुवमघो-  
नामतद्धित' इति सम्प्रसारणे गुण । पर्यो खर्वभाव नीचत्वमवलम्ब्य मानुषी  
मानुषस्त्री, 'जातेरस्त्री' इत्यादिना ङीप् । अनुसरत्यनुवर्तमाने सति आननसरो-  
रुहन्त्या शिरोरामनेन, उर्च्चैरधत निज मान सर्वोत्तरत्वाहकार खण्डित भान-  
मसूचयत् । आकरेणैव निजनिर्वेदमवेदयत् । न तु वाचा किञ्चिद्बुधे । गम्भीर-  
नामिकात्वादिति भाव ॥ ४७ ॥

अन्वय —अथ पर्यो खर्वभावम्, अवलम्ब्य मानुषीम् अनुसरति मघोनी  
आननसरोरुहन्त्या उर्च्चैर् निज मानम् खण्डितम् असूचयत् ।

हिन्दी—उदनन्तर पति ( इन्द्र ) के नीच भाव का अवलंबन कर मानुषी  
( दमयती ) का अनुसरण ( आकाशा ) करने पर इन्द्रपत्नी ( शची ) ने  
मुखकमल को झुकाकर अपने ऊँचे गर्व को खण्डित प्रकट किया ।

टिप्पणी—(१) 'मघोनी मानुषीम् अनुसरति पर्यो खर्वभावम् अवलम्ब्य'—  
इस प्रकार अन्वय करके यह अर्थ भी किया गया है—'इन्द्राणी ने दमयती का  
अनुसरण करते पति के प्रति निम्नभाव धारण कर प्रकट किया ।' ( २ )  
'आननसरोरुहन्त्या खर्वभावम्' अवलम्ब्य मानुषीम् अनुसरति पर्यो मघोनी  
उर्च्चैर् असूचयत्—ऐसा अन्वय करके यह अर्थ भी होता है—'मुखकमल  
झुकाकर नीच भाव अवलंबनकर मानुषी की इच्छा करते पति के प्रति  
इन्द्राणी ने अपने प्रकट किया ।' वास्तव यह है कि स्वर्गराज इन्द्र का  
देवांगनाओं को छोड़ एक भूलोक की मानुषी के पीछे जाना ऊँचे स्वर्ग से

नीचे घगती पर आना ही नहीं है, मानसिक और व्यावहारिक नीचता का भी सूचक है, जिस पर इन्द्राणी ने अप्रत्यक्षता प्रकट की। जिस देवायता का पति उनके रहते मानुषी कामना करे, उसे अपना मान-समान, पति स्नेह आदर सज्जित हुआ समझना स्वभाविक ही है। अप्रत्यक्षता को दोहन इन्द्राणी ने केवल मुख नीचा करके किया यह उसके गभीर नायिका भाव को सूचित करता है। विद्यावर के अनुसार इस श्लोक में निर्वेदव्यनिवारिभाव का उद्देश्य और अहंनृति अलंकार है ॥ ४७ ॥

यो मघोनि दिवमुच्चरमाणे रम्भया मलिनिमालमन्मि ।

वर्ण एव म मल्लज्ज्वलमन्या शान्तमन्तरमभाषत भङ्गा ॥ ४८ ॥

जोवानु—अयाम्पापानपि कासाचिदप्सरसामीप्यानुनावानाह—य इत्यादि। मघोनी—‘श्रयुवनयोगात्’ इत्यादिना सम्प्रसारणे युज्यते। दिवमाकाशम्, उच्चरमाणे उत्पतति सति, ‘उदञ्चर मचर्नकात्’ इत्यात्मनेपदम्। रम्भया यो मलिनिमा मालियम्, जलमत्यन्तम्, अन्मि अन्मि। ‘विनापा चिन्तामुलो’ इति वा नुमागन्। स वर्णो मलिनिर्भव, अस्या रम्भायाः, अन्तरमन्तरङ्गम्, उज्ज्वल रोपाद् उज्ज्वल प्रज्वलितं सत् नङ्गा कयाविद्वीत्या नवितथ्यताया बन्धनियेत्यर्थः। शान्त शान्ति निर्वृत्तिमित्यर्थः। ‘वा दान्त’ इत्यादिना निपातः। अभाषत क्षुब्धः। निर्वानालातमलिनिमित्त्याक्षरद्वित्यर्थः। अन्त कर्णवै-वर्ण्यमूलत्वाद्वातवैवर्ण्यस्तेति भावः ॥ ४८ ॥

अन्वयः—मघोनि दिवम् उच्चरमाणे रम्भया य मलिनिमा अन्म अन्मि स वर्ण एव अस्या उज्ज्वलम् अन्तरम् मङ्गा शान्तम् अभाषत क्षुब्धः।

हिन्दी—इन्द्र के स्वर्ग को छोड़कर जाने पर रमा अप्सरा ने जो अत्यर्थ मलिनता प्राप्त की, निश्चयतः उसके रंग ने ही उस (रमा) के उज्ज्वल हृदय को नाकार-विशेष से दुःखित प्रकट किया।

टिप्पणी—इन्द्र के चले जाने पर रमा उदास हो गयी, उदासी की मलिनता ने उसके हृदय के दुःख को प्रकट कर दिया। उसके उज्ज्वल अर्थात् शृंगार रस से पूर्ण हृदय में शान्त रस का वैराग्यभाव उत्पन्न हो गया अथवा ‘शान्तम् आन्तरम् भङ्गा उज्ज्वलम् अभाषत’—शान्त हृदय मणिमाविशेष से उज्ज्वल-दीप्त-क्रोन्मुक्त प्रतीति देने लगा। भाव यह कि रमा उदास, मलीन

और क्रुद्ध हुई । खिन्नता का श्याम रंग उसके मुख पर छा गया । यह अर्थ भी किया जाता है कि रमा का वर्ण ऊपर ऊपर में ही उजला दीखता था, वस्तुतः वह अतस् की काली थी, जो इन्द्र के मानुषी का अनुसरण करने पर प्रकट हो गयी । जैसे दीपक नभ्रक कर उज्ज्वल—दीप्त होता हुआ बुझकर श्याम हो जाता है, वैसे ही 'अस्या अन्तरम् उज्ज्वल सन् दान्तम् अमापत'—रमा का हृदय भभककर सात हो गया अर्थात् बुझ गया और मलिनता का श्याम वर्ण प्रकट हो गया । विद्याधर के अनुसार भावोदय अनुशास-उत्प्रेक्षा की सृष्टि ॥

जीवितेन कृतमप्सरसा तत्प्राणमुक्तिरिह युक्तमती न ।

इत्यनक्षरमवाचि घृताच्या दीर्घनि श्रमितनिर्गमनेन ॥ १९ ॥

जीवातु—जीवितेनेति । अप्सरसा नोऽस्माक जीवितेन कृत, कष्टत्वादिति भावः । तत्तस्मादिहास्मिन्समये प्राणमुक्ति प्राणत्याग, एव युक्तिमती युक्तेति घृताच्या नाम देव्या दीर्घनि श्रमितस्य निर्गमनेन निष्क्रमणमुखेन, अनक्षरमशब्दप्रयोग, यथा तथा अवाचि । वषेर्ज्ञो वा कर्मणि लुङ् । उक्तमिवेत्यर्थः । अत एव व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्यात्प्रेक्षा ॥ ४९ ॥

अन्वय—घृताच्या दीर्घनि श्रमितनिर्गमनेन इति अनक्षरम् अवाचि—  
'न अप्सरसा जीवितेन कृतं तत् इह प्राणमुक्ति युक्तिमती ।'

हिन्दी—घृताची ने लबी सांस लेकर यह बिना बोले ही कह दिया (अथवा 'अनक्षर'—अक्षय कहा) —'हम अप्सराओं के जीते रहने से क्या काम, सो अब प्राणों का त्याग ही युक्ति-युक्त है ।'

टिप्पणी—स्वर्ग की अप्सरियों के रहते भी इन्द्र मानुषी के पीछे बीढ़ता है, यह स्वर्गांगनाओं की घोर अवज्ञा है, अतः उनका प्राण त्याग ही उचित है—घृताची ने यह भाव प्रकट किया और, अपनी खिन्नता व्यक्त की । 'दीर्घनि श्वासनिर्गमन' 'प्राणमुक्ति' का प्रतीक है, प्राण निश्वासरूप ठी होते ही हैं । मल्लिनाथ के अनुसार गम्योत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार अनुप्रास, अपह्नुति, स्तैष और अतिशयोक्ति ॥ ४९ ॥

साधु नः पतनमेवमित स्यादित्यभ्युपगम्य तिलोत्तमयापि ।

चामरम्य पतनेन कराब्जात्तद्विलोचनवलद्भुजनालात् ॥ ५० ॥

जीवानु—साध्विति । तिलोत्तमया नि देव्या तस्य चामरस्य चित्तोलनेन  
आन्दोलनेन दन्तु दलनानो भुजो बाहुदेव नालो यस्य तस्मात्, 'दन्तोर-  
त्तनेपदमनिय जापकात्' इत्याह चामरा । चरित्तो डिप्तराम् जापकम् ।  
कराब्जात् पाणिजन्याच्चानाम्य पत्रेन, अवयवचारवन्नादिति भाव ।  
एवञ्चामरवदेव मोक्षप्राप्तये इत स्वर्गं पशुमनेव नात्र म्यादिन्यनन्तर ।  
नितितिवेति पूर्ववदुल्लेखा मुक्ताणाम् कराब्जादिति अवयवव्यक्तेः  
नमृष्टा ॥ ५० ॥

अन्वय —तिलोत्तमया अपि तद्विलोचनवत्पुष्पनालात् कराब्जात् चामरस्य  
पत्रेन इति अन्वयत—'एव न इत पत्रेन साधु म्यात् ।'

हिन्दो—तिलोत्तमा के भी चामर हुलाने से बनकर बाहु रूप मृगतदव  
युक्त कर-कमल से चामर के गिर जाने द्वारा यह कहा—'इसी प्रकार हुनारा  
यहाँ से पत्र अच्छा होगा ।'

टिप्पणी—अवमानिता और खिन्ना अप्सरा तिलोत्तमा के हाथ से चमर  
गिर गया । इस प्रकार मानों हमने अपनी चिन्मत्ता प्रकट की कि चमर के  
गिरजाने के समान अब हम अप्सराओं का भी स्वर्ग से पतित हो जाना  
टीक होगा, त्रिके रहते देवराज एक मानुषी के आकांक्षी हो गये । मन्त्रिणाप  
के अनुसार सुविषयवस्तु के सृष्टि उपदेश । विद्याधर के अनुसार प्रतीप-  
मानोत्प्रेक्षा रूप-अवहृति की सृष्टि ॥ १० ॥

मेनका मनसि नापमुदीन यत्तिविष्णुरकरोदबहिष्पाम् ।

तम्पुट निजहृद पुटपाके पङ्कलिममृजद् बहिस्स्थाम् ॥ ५१ ॥

जीवानु—मेनकेति । मेनका नाम काषिद् देवी मनमुदीतमुत्पन्न,  
सप्तमायि, निषिन्तु पिशानुनिष्कृती, अवहिगनाकाररुतिनकरोदिति यत्,  
तदाकारोपनमेव, निजहृद स्वमनस, पुटपाके पुटपाके, बहिष्पामुपिना,  
बाह्यानिर्गम्य । 'जातश्रोतसो' इति चरित् कथ्यम् । पङ्कलिमि पङ्कज्य,  
स्पृष्टममृजत् । पुटपाके बाह्य पङ्कज्योत्त पञ्चनान्नमन्मेवाकारोपनमेव  
वात् किमपि गोप्यम्यान्तस्तापस्य व्यञ्जकमनूदिष्यं ॥ ५१ ॥

अन्वय —मेनका मनसि उदीत नाप विष्णु यत् अवहिगाम् अकरोद्  
सत् निजहृद पुटके बहिः प्रया पङ्कलिमि स्पृष्टम् अमृजत् ।

हिन्दी— छप्परा मेनका ने मन में उत्पन्न ताप ( दुःख ) को छिपाने की इच्छा से जो आकारगोपन किया, वह मानो अपने हृदय के मध्य में हुए पाक-पुटपाक में बाहर पक्का स्पष्ट रूप कर दिया ।

टिप्पणी—‘पुटपाक’ करते समय पात्र को बाहर से गीली मिट्टी लगा कर बंद कर दिया जाता है, जिससे पाक-क्रिया भीतर ही भीतर चलती रहती है और पदार्थ बाहर नहीं आता । मेनका ने भी अपने प्रचुर दुःख को मन ही मन छिपा रखा, किन्तु उसमें जो ‘अवहित्वा’ अर्थात् आकार गोपन करना पड़ा, वह जैसे मन रूगी पात्र पर परकलसि कर दी । मेनका का हृदय भीतर-ही भीतर ताप से पीड़ित होने लगा, उससे उसके मुख पर आकार गुप्ति के चिह्न स्पष्ट हो गये । विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ५१ ॥

उर्वशी गुणवशीकृतविश्वा तत्क्षणस्तिमितभावनिभेन ।

शक्रसौहृदसमापनसीम्नि स्तम्भकार्यमपुपदपुपैव ॥ ५२ ॥

जीवातु—उर्वशीति । गुणै सौन्दर्यादिभिर्वशीकृतविश्वा रञ्जिताखिलप्रपञ्चा, उर्वशी नाम काचिद्देवी, तत्क्षणे तत्समये, य स्तिमितभाव स्तमित्य निष्क्रियाङ्गत्वलक्षण स्तम्भो नाम सात्त्विकस्तस्य निभेन मियेण । ‘मिप निमञ्च निदिष्टम्’ इति हलानुष । अपुपैव सुहृदयसन्दर्भादुवादिवादनप्रत्यये हृद्भावाप्तोभयपदवृद्धिः । अत एव ‘सौहृददौहृदसन्दर्भावणि हृद्भावी’ इति वामन । शक्रसौहृदस्य समापनसीम्नि समाप्तिस्थाने, स्तम्भकार्यं जाद्व्यकृत्य, स्यूणाकृत्यञ्च, अपुपत् । ‘स्तम्भ स्यूणाजडत्वयो’ इति विश्व । स्तम्भोत्थानावधिक मे शक्रसौहृदमिति निर्णयमकरोदित्यर्थः । ‘पुपादि’ इत्यादिना कृतेरङ्गादेशः ॥

अन्वय — गुणवशीकृतविश्वा उर्वशी तत्क्षणास्मितभावनिभेन वपुषा एव शक्रसौहृदसमापनसीम्नि स्तम्भकार्यम् अपुपत् ।

हिन्दी—सौन्दर्यादि गुणा से अखिल विश्व को वश में करनेवाली उर्वशी ने उस क्षण निश्चलता के व्याज से शरीर द्वारा ही इन्द्र के स्नेह की समाप्ति की सीमा पर सभे का कार्य आपित कर दिया ।

टिप्पणी—किसी प्रदेश की सीमा पर समाप्ति-सूचक समा गाढ़ दिया जाता है । इन्द्र अब मानुषी के अनुसरण में चल दिये, तभी उर्वशी का शरीर



अदम्य और दुःख से दहलकर हो गया। इस प्रकार उसने अपने तनोहृत देह से मानों यह प्रकट कर दिया कि अब इन्द्र के अनुराग की सीमा का गदी—आगे इन्द्र का अनुराग समाप्त समझना चाहिए। कुछ ही क्षण अनिद स्थिति का सूचन। जिस उर्वशी ने शिव की जीव रक्षा है, उसकी ऐसी घोर अवमानना। विद्याधर के अनुसार अर्द्धश्रुति और दैवानुशास ॥५०॥

कापि कामपि बभान बुभुक्षु शृण्वति त्रिदशर्भरिं किञ्चिन् ।

एव कश्यपमुत्तममिन्ता पश्य कश्यपमुतः शनयत ॥ ५१ ॥

जौवानु—जय काशाञ्चिदन्तरसा बाधारम्भानाह—कानीत्यादि। कानि देवी, बुभुक्षुनिन्द्र जि-मिपिन देव दिज्ञासमाना कान्ति देवी त्रिदशर्भरि-द्रष्टे शृण्वति मत्प्रेत। तच्छ्रवणार्थमेवेत्यर्थ। त्रिदशर्भरि। कि तदाह—कश्यपमुत्तममिन्ता बह्मवाजी एव इन्द्र, कश्यपमुत्तम कश्यपों, त्रिदिननिगता अनिगमिष्यति। गमंनुं। पश्य। शिव विहाय नुब गच्छतीत्याश्रयं पश्येत्यर्थ। स्वयं कश्यपमुत्तममुत्तममिन्ता भगिनीनेव यच्छ्रुतीयात्तत्त्वं व्यप्यते ॥ ५३ ॥

अन्वय—का अनि बुभुक्षु कान् अनि त्रिदशर्भरिं शृण्वति किञ्चित् बभान—'पश्य, एवः शतमन्त कश्यपमुत्तम कश्यपमुत्तमम् अभिन्ता।'।

हिन्दी—कोई देवांना जिज्ञासु किनी देवाना से स्वयं के स्वामी इन्द्र के मुने हुए कुछ ऐसा बोली—'देवी, यह शतमन्तकर्ता कश्यपमुनि का पुत्र ( इन्द्र ) कश्यप की बेटी ( धरती ) पर अभिमान करने जा रहा है।'।

टिप्पणी—इस श्लोक में इन्द्र की निन्दनीय कार्य के लिए उद्यत संकलित कर उसका उपहास किया गया है। इन्द्र स्वर्गपति है, उसने भी यह किया है, तैजोमन् कश्यप महामुनि का यह बेटा है, और वह ऐसा उदम्य रूप का रहा है कि कश्यप की बेटी अर्थात् अपनी बहिन का अभिमान कर रहा है। अथवा इतना उच्च वर्णित होकर भी इन्द्र 'कश्यप मत्त शिवशक्ति कश्यप मदन उभय सुताम्' अर्थात् मदन की बेटी का अभिमान कर रहा है। यह कार्य तो निम्नतर व्यक्ति के लिए भी निन्दा का कारण है, इन्द्र तो शतमन्त और कश्यप मुन है। अथवा इन्द्र है ही निन्दनीय, वह 'शतमन्त' अर्थात् सी कोष करने वाला—अविवेकी है ही, कश्यप अर्थात् मदन का बेटा है, अब ऐसा उदम्य

कृत्य कर रहा है। इसमें आश्चर्य ही क्या है? भाव यही है कि इन्द्र स्वभावतः जघन्य है। मत्स्य का बेटा मत्स्य की बेटो का अभिगमन करे—इसमें वैचित्र्य नहीं है। विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में अनुप्रास और विरोधाभास हैं ॥

आलिमात्मसुभगत्वमगर्वा कापि शृण्वति मघोनि वभापे ।

वीक्षणेऽपि सघृणासि नृणां किं यासि न त्वमपि सार्यगुणेन ॥ ५४ ॥

जीवातु—आत्मिति । आत्मन सुभगत्वेन सगर्वा सुभगमानिनोत्थय । कापि, मघोनि दाके शृण्वति मत्स्येव, आलि सखी वभापे । तदेवाह—नृणां मनुष्याणां वीक्षणेऽपि । किमुत सङ्गतावित्यर्थः । सघृणा सजुगुप्सासि । सा त्वमपि सार्यगुणेन दाक्षधर्मेण, गतानुगतिकत्वरूपेणाविवेकित्वेनेति यावत् । न यासि किम् ? विवेकेन चेन्न यारयेवेत्यर्थः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—आत्मसुभगत्वसगर्वा का अपि मघोनि शृण्वति आलि वभापे—  
'त्वम् सार्यगुणेन अपि न यासि किं नृणां वीक्षणे अपि सघृणा असि ?'

हिन्दी—अपने सौंदर्य पर अभिमान करने वाली किसी सुरसुन्दरी ने इन्द्र के सुनते हुए सखी से कहा—'तू सग साथ के अनुरोध से भी नहीं जा रही, क्या मनुष्यों को देखने से भी घृणा करती है ?'

टिप्पणी—इस श्लोक में भी अकारांतर में इन्द्र को सुनाते हुए उसका उपहास किया गया है। सुरसुन्दरी अपनी सखी ने कहती है कि जब इन्द्र धरती पर मानुषी की आकांक्षा से जा रहा है तो उसकी सखी भी गतानुगतिकतया अथवा 'सार्यगुणा' अर्थात् साथी इन्द्र के गुण—प्रेमरज्जु से बंध पृथ्वी पर क्यों नहीं चली जाती ? लगता है कि सखी मनुष्य को देखने से भी घृणा करती है। जिस कार्य के करने में एक सामान्य देवी को भी लज्जा अथवा घृणा लगती है, अविवेकी इन्द्र उसे भी करने जा रहा है। कंसा अविवेकी और निष्ठ है इन्द्र ! इन्द्र से समसदार तो देवागना ही हैं जो गतानुगतिकता में विवेक नहीं त्यागती । विद्याधर के अनुसार वक्रोक्ति और अनुप्रास हैं ॥ ५४ ॥

अन्वयपुष्टतिषय पितृनायास्त मुदाय हरिता कमितार ।

वर्त्म कर्पंतु पुर परमेष्ठस्तदगतानुगतिको न महार्घ ॥ ५५ ॥

जीवातु—अवगुरिति । अयेन्द्रप्रमाणानन्तर, हृग्ता कमितारो दिशा

कामरितारो दिक्वतय, इन्द्रानुयानाहां इत्ययं । व्याख्यातनेतत् । द्युतिषयः पितृपा-  
नाया वह्निवरणमा, तमिन्द्र, मुदा बोलुक्कन, बन्धनुरनुयात । 'लङः  
शकटापनत्वेव' इति ज्ञेयसाधेय । तथा हि, एकं वरमेक एव पुर, वरं  
कयंतु मार्गं करोतु । तस्य मार्गं कर्तुं तमनुतिष्यं स महाधौ महामूढः दुर्लभ  
इति यावत् । न भवति । पुरोग एव दुर्लभस्तत्पृष्ठानुपाधिनस्तु एवं तुम्हा  
एवेति न किञ्चिदत्र चित्रमित्यर्थः ॥ ५५ ॥

अन्वयः—अथ हरिता कमितारः द्युतिषयः पितृनाया, त मुदा अबपु,  
एक पर पुर वरं कयंतु तद्गतानुपतिजः महार्थः न ।

हिन्दी—इन्द्र के प्रधान के अनन्तर दिशाओं के कामुक अग्नि, वरुण और  
यम ( दिक्पाल ) ने भी उस ( इन्द्र ) का प्रसन्नतापूर्वक अनुगमन किया ।  
केवल एक मार्ग-प्रवर्तन कर दे, उसके यमन का अनुगमन करने वाला दुर्लभ  
नहीं होता ।

टिप्पणी—वर स्वर्गराज कामुक और नीच तो अन्य दिशाओं के कामुक  
दिक्पाल क्यों पीछे रहते ? अग्नि, वरुण, यम न भी इन्द्र की रीति अपनायी ।  
गवानुगतिकता तो लोक में सामान्य है । एक कोई नया काम कर डाले,  
अनुकर्ताओं की कमी नहीं रहती । विद्यापर के अनुसार वर्षान्तरव्याप्त ॥ ५५ ॥

प्रेषिता पृथग्गतो दमयन्त्य चित्तचोर्ध्वचतुरा निजदूत्या ।

तद्गुरु प्रति च तैरुपहारा सख्यसीध्यकपटेन निगूढाः ॥ ५६ ॥

जोवातु—प्रेषिता इति । अग्री अनन्तर, तैरिन्द्रादिभिः, चित्तचोर्ध्व दमय-  
न्त्यादिचिताकर्षणे, चतुरा निजदूत्याः दमयन्त्यै पृथक् प्रेषिता । तद्गुरु तत्पि-  
तर भीमश्च प्रति, सख्यसीध्यकपटेन मैत्रीगुह्यव्याजेन, निगूढाः गुप्ता, उपहारा  
उपायनानि प्रेषिता ॥ ५६ ॥

अन्वयः—अथ तै चित्तचोर्ध्वचतुरा निजदूत्या दमयन्त्यै पृथक् प्रेषिता,  
तद्गुरु प्रति च सख्यसीध्यकपटेन निगूढा उपहारा ।

हिन्दी—तदनन्तर उन सब ( इन्द्रादि ) ने चित्त को चुराने में चतुर  
अपनी-अपनी दूतियों दमयती के पाँच पृथक्-पृथक् भेजों और उसके पिता के  
पाँच मैत्रीगुह्य के व्याज से गुप्त उपहार भेजे ।

टिप्पणी—प्रत्येक दिक्पाल अपने उद्योग को दूसरे से छिपाना चाहता था, सो चुपचाप छिपा कर ही उन्होंने मन वश करनेवाली दूतियाँ दमयती के पास भेजी थीर मिनता के बहाने चुपचाप बहुमूल्य गुप्त रूप से उपहार भीमराज के निकट । 'सख्यसौख्यकपटेन' पाठ भी है, उस स्थिति में अर्थ हुआ कि भीमराज के निकट उपहार इस व्याज से भेजे कि उसे सख्य अर्थात् युद्ध में सौख्य अर्थात् विजय का सुख प्राप्त हुआ है, सो विजयी के प्रति आदर और उत्साह-वर्द्धन के निमित्त अमूल्य उपहार भेजे जा रहे हैं । वास्तविक इच्छा तो यही थी कि भीमराज अमूल्य उपहारों से चमत्कृत और प्रभावित हो भेदभाव के साथ अपनी बेटी ब्याह दें । विद्याधर के अनुसार छेशानुप्रास और अपह्नुति अलंकार ॥ ५६ ॥

चित्रमत्र विबुधैरपि यत्तैः स्वविहाय वत भूरनुसन्ने ।

द्यौर्न काचिदयवास्ति निरुद्धा सेव सा चरति यत्र हि चित्तम् ॥५७॥

जीवातु—चित्रमिति । विबुधैर्देवैः विद्वद्भिश्च, तैरिन्द्रादिभिः, स्व स्वर्गं, विहाय, वत हत, भूरनुसन्ने अनुमृतेति यत् । अत्र चित्रं वाक्, न चित्रमित्यर्थः । कुत, अथवा द्यौः स्वर्गश्च, काचिदपि निरुद्धा प्रतिष्ठा नास्ति । किन्तु यत्र चित्तं चरति रमते सैव सा द्यौः ॥ ५७ ॥

अन्वय—तैः विबुधैः अपि स्व विहाय यत् भू अनुसन्ने, वत अत्र चित्रम्, अथवा द्यौः काचित् निरुद्धा न, हि यत्र चित्तं चरति सा एव सा ।

हिन्दी—उन्होंने विबुध ( विद्वान्, देव ) होकर भी स्वर्ग छोड़कर जो पृथ्वी पर अनुसरण किया, खेद है कि यह विचित्र है, अथवा (विचित्र नहीं है), स्वर्ग कोई विशिष्ट स्थान विशेष नहीं है, क्योंकि वहाँ चित्त रमता है, यही यह ( स्वर्ग ) है ।

टिप्पणी—कोई विद्वान् जब अनुचित कार्य करता है तो अचरज होता है । स्वर्ग तो अनेक पुण्यकाय करने से प्राप्त होता है । इन्द्रस्व तो शतमन्त्रों को प्राप्त होता है, उस छोड़कर विवेकी देव अविवक का कार्य करने लगे, घरती पर जाने लगे ता आश्चर्य की बात है ही । अकारणतः से यह विचारने पर यहो लगता है कि स्वर्ग कोई विशिष्ट स्थान नहीं होता, यह तो मन की बात

है । जहाँ मन रहे, वही स्त्री है । देवों का मन धरती पर आन्दन जाने बना,  
तो धरती ही स्वर्ग है । विद्याधर के अनुसार उन्मेषा ॥ ५३ ॥

शोघ्नलघितपधैर्य बाहैर्लम्बिता भूवनमी सुरसारा ।

वञ्चितोन्नमितकन्धस्वन्वा शुश्रुदुर्ध्वनितनध्वनि दूरम् ॥ ५४ ॥

जीवानु—शोघ्रेति । शोघ्न लघितपधैर्यतिशान्ताध्वनि रसबाहै रसान्वै-  
र्भूव लम्बिता प्रापिता, अमी सुरसारा सुरसेष्टा, वञ्चिताश्चञ्चिता, उन्नमि-  
ताश्च कञ्चरा जीवा, यस्मिन् स बन्ध कायसत्पानविशेषो देया ते सन्त,  
कञ्चनि दूर ध्वनि शुश्रुदु ॥ ५४ ॥

अन्वय—अथ शोघ्नलघितपधैर्य बाहै पुन लम्बिता अमी सुरसारा  
वञ्चितोन्नमितकन्धस्वन्वा अध्वनि दूर ध्वनि शुश्रुदु ।

हिन्दी—उन्नम्य शोघ्नतया मार्ग पार करने वाले मानो ( अथवा  
'रसबाहै' रसों और घाहों ) द्वारा धरती पर लगे गये इस देव श्रेष्ठों ने जीवा  
को देती और ऊँची उठाकर मार्ग में दूर ध्वनि को सुना ।

टिप्पणी—अपने तीव्रगानी बाहनों से इन्द्र, अग्नि, वरुण और दम धरती  
पर शोघ्न पहुँचे तो उन्हें दूर एक शब्द सुनायी दिया । विद्याधर के अनुसार,  
छेजानुप्रास ॥ ५४ ॥

किं घनस्य जग्धैर्यवैव नैव नशयितुमप्यलमन्त ।

स्यन्दन परमदूरमपस्यन्निश्वनधुनिसहोपनत ते ॥ ५५ ॥

जीवानु—किमिति । ते देवा, किं घनस्य घनितम्, नैवस्तनितम्, अथवा  
जग्धे घनितम्, एव सशयितुमपि नात्मन्तैव । एतावन्नाप्रविश्वोऽपि  
नास्तीत्ययं । 'शशयुष' इत्यादिना तनुनूप्रत्यय । किन्तु, निःस्वनस्य पूर्वोक्तज-  
नितस्य, श्रुत्या श्रवणेन, सहोपनत प्राप्तम्, जङ्गमादन्व स्यन्दन पर रसमेवा-  
पश्यन्निति । रसवोऽस्ति । अत्र सन्देहसहोक्त्यो सन्निधिः ॥ ५५ ॥

अन्वय—ते किं घनस्य अथवा जग्धे एव सशयितुम् अपि न एव  
अलमन्त, पर निःस्वनधुनिसहोपनतम् अदूर स्यन्दनम् अपश्यन् ।

हिन्दी—यह व देव शेष-अर्जन है अथवा सागर की तबना—इस प्रकार  
का संदेह करने को जो तबनर न पा सके कि उस ध्वनित के सुनने के साथ  
ही प्राप्त निश्चय हो एव रस को देखा ।

टिप्पणी—पूर्व श्लोक में वर्णित ध्वनित गर्जन ऐसा प्रबल था कि लगता था बादल गरज रहा है अथवा समुद्र का कोलाहल है । देव इस पर विचार भी न पाये थे कि उस ध्वनित का स्रोत एक रथ निकट ही आया दीक्षा । रथ को ध्वनि-गभीरता का सकेत । मल्लिनाथ के अनुसार सदेहसहोक्ति की समृद्धि, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ ५९ ॥

सूतविश्रमदकौतुकिभाव भावबोधचतुरः तुरगाणाम् ।

तत्र नेत्रजनुषः फलमेतं नैपथ्यं बुबुधिरे विबुधेन्द्रा ॥ ६० ॥

जीवातु—सूतेति । एते विबुधेन्द्रास्तत्र रथे सूतस्य सारथे, विश्रमदो विश्रान्तिप्रदः, कौतुकिभावो विनोदित्वं यस्य स, विनोदार्थं स्वयं प्रतिपन्न-सारथ्यमित्यर्थः । अत्र हेतुः तुरगाणां भावबोधचतुरम् जश्वहृदयवेदिनं, नेत्रज-नुषो नेत्रदत्तायाम् फलं, लोचनासेचनकमित्यर्थः । नैपथ्यं निपथानां राजानं मलम् । जनपदशब्दात् क्षत्रियादण् । बुबुधिरे ज्ञातवन्तः ॥ ६० ॥

अन्वयः—एते विबुधेन्द्रा तत्र सूतविश्रमदकौतुकिभाव तुरगाणां भाव-बोधचतुर नेत्रजनुषः फलं नैपथ्यं बुबुधिरे ।

हिन्दी—इन देवराजों ने उस ( रथ ) में रथचालक ( सारथि ) के विश्रान्ति दायक विनोदभाव सपन्न और अस्वों के हृदय का आशय समझने में चतुर नयनों के जन्म लेने के सुफल ( सुन्दर ) निपथराज ( नल ) को जाना ( देखा ) ।

टिप्पणी—गभीरध्वनि रथ में देवों ने देखा कि निपथराजनल बैठे हैं । नल सारथि को विश्राम देकर स्वयं कुशलतापूर्वक रथ-संचालन कर रहे थे । नल क्षालिहोत्र विद्या के पूर्ण ज्ञाता थे और वे इतने मनोहर थे कि देवों को भी यह प्रतीति हुई कि नल को देखकर उनके नेत्रों का अस्तित्व सार्थक हुआ । विद्याधर के अनुसार यहाँ छेकानुप्रास और अतिशयोक्ति अलंकार हैं ॥ ६० ॥

वीक्ष्य तस्य बरुणस्तरुणत्वं यद्वभारं निविडं जडभूयम् ।

नोचिती जडपते किमु सास्यं प्राज्यविस्मयरसस्तिमितस्य ॥ ६१ ॥

जीवातु—वीक्ष्येति । बरुणस्तस्य चलस्य, तरुणत्वं तादृश्यं, तादृश्यभूषितरूप-

मित्यर्थे । वीक्ष्य यन्निविड जडभूय जडत्व स्मर्यात् नास्तिदन्निदयं । 'भुवो भावे' इति कथम् । बनार । प्राज्ञेन प्रभूतेन, विस्मयरत्नेनाद्भुतरत्नेन, जलेन च । स्तिमितस्य निरक्षलस्य, जल्पने स्तम्भपतेरिति डलयोरभेदात् सा जड-भूय, विषेयप्राधान्यात् स्त्रीलिङ्गता । औचित्यौ उचितकर्मा, न किम् ? भवत्येवे-त्यर्थे । विस्मयरसाविष्टस्य स्तम्भसत्त्वादिति भावः । जलसिक्तस्य स्वयं जड-भावस्य जाड्यनूचितमिति व्यज्यते ॥ ६१ ॥

अन्वयः—वहना तस्य तरुणत्व वीक्ष्य यत् निविड जडभूय बनार प्राज्ञ-विस्मयरसस्तिमितस्य अस्य जडपते ना किम् औचित्यं न ?

हिन्दी—वहना ने उस ( नर ) की तरुणता देखकर जो प्रचुर जडता धारण करली, प्रभूत जडभूत रस से स्तम्भ इस जल के जड स्वामी का वह ( जडभाव ) उचित कार्य नहीं था क्या ? ( उचित ही था ) ।

टिप्पणी—नेत्रजन्म के फल अर्थात् सौन्दर्यातिरेक से दृश्यनीय निपषण्डज को देखकर देकों पर जो प्रभाव पड़ा, जिस प्रकार के चक्कफा गये, यह एक-एक श्लोक में क्रमशः निदिष्ट है । इस श्लोक में वरुण का जादूचर्यान्वित हो जडीभूत रह जाना कहा गया है । कवि के अनुसार वह तो जडपति ही है, जडीभूत रह जाने वाले प्राणियों का स्वामी, जड उसका चकित रह जाना स्वाभाविक ही था, कोई नयी बात नहीं थी । वरुण जल का स्वामी है—जलपति । 'ड' और 'ल' में अभेद माना जाता है, इसी 'डलयोरभेद' के आधार पर यहाँ 'जलपति' वरुण में 'जडपति'—भाव का आरोप कर लिया गया है । वरुण जलों का ही नहीं, 'जड़ों' का भी स्वामी है । सो जड हो जाना तो उसकी प्रकृति है । भाव यही है कि वरुण जल से अभिभूत हो स्तम्भ रह गया । स्तम्भता विस्मय से उत्पन्न होती ही है, और जलसिक्त भी जड हो ही जाया करता है । विद्याधर के अनुसार हेतुानुग्राम और श्लेष अलंकार ॥ ६१ ॥

रूपमस्य विनिरूप्य तथानिम्लानिमानं रविवशादभ्यसम् ।

कौन्ते मधघुनापि स देव काल एव सकलेन जनेन ॥ ६२ ॥

जोवानु—रूपमिति । रविवशादननो मम, अस्य नन्वस्य, रूप सौन्दर्यं, विनिरूप्य विनाशम् । तथा नेन प्रकारेण, अनिम्लानिमतिर्विदग्ध्यम्, अतिवालि-

मानमित्यर्थः । आप । यद्यथा, अधुनापि स देवो यमः, सकलेन जनेन, काल एव काठ इत्येव, कीर्त्यते । तथा भ्लानिमापेति पूर्वोक्तान्वयः । तलेप्स्यानुनास-  
कालिमयोगादयः कालो न तु प्राप्यायुः कलनादिति भावः । अत्र यच्छब्दस्य  
कारणपरत्वेन व्याख्याने त्वनपेक्षितार्थाभिधानमनन्वयश्च स्यात् । प्रकारार्थत्वे  
तु न कश्चिद्विरोधः । प्रकारार्थत्वञ्च निपातानामनेकावत्वादविरुद्धमित्यर्थः ॥

अत्राप्य —रविवशवतन अस्य रूपं विनिरूप्य तयः अतिभ्लानिम् आप  
यत् स देवः अधुना अपि सकलेन जनेन काल एव कीर्त्यते ।

हिन्दी—सूर्यवश का रूपण ( मुखसुत यम ) इस ( नल ) का रूप सौंदर्य  
सादर देखकर उस प्रकार अतीव भ्रान्ति—कालिमा को प्राप्त हो गया कि  
वह देव आज भी समस्त जनो द्वारा 'काल' (काला, अतक) ही कहा जाता है ।

टिप्पणी—यहाँ सूर्यपुत्र, मृत्यु के स्वामी यम पर पड़े प्रभाव का वर्णन  
है । मृत्यु का स्वामी होने से यम को 'काल' कहा जाता है । काल का अर्थ  
कृष्णवर्ण—काला भी है । इस पर उद्भावना की गयी है कि यम को 'काल'  
सजा हा कारण मिली है कि वह नल के रूपसौंदर्य को देख इतना भ्रान्ति-  
युक्त और निराश हुआ कि काला पड़ गया और सदा के लिए लोक-जीवन  
में 'काल' कहा जाने लगा । उज्ज्वल रविवशका अवतल होने पर भी संचित  
यम काला पड़ गया, कितना अजरज है । विद्याधर के अनुसार छेकानुप्राण  
और अनिशयोक्ति ॥ ६२ ॥

यद् बभार दहनं खलु ताप रूपवेपभरमस्य विमृश्य ।

तत्र भूदतलना जनिकर्त्री मा तदप्प्रनलतैव तु हेतुः ॥ ६३ ॥

जीवानु—यदिति । दहनोऽग्निरस्य नत्स्य, रूपमेव रूपवेप सौंदर्यम् ।  
'नामरूपभागेभ्यः स्वार्थे घेयो वक्तव्यः' इति स्वार्थे घेयप्रत्ययः । तस्य भर  
समृद्धिः, विमृश्य विचार्य ताप वभार खल्विति यत् । तत्र तापभरणे, अनलता  
अग्निरव जनिकर्त्री जन्मकरी, उत्पादिता मा भूत् । नलरूपदर्शनजन्यतापे  
तस्या अप्रयोजकत्वादिति भावः । किन्तु तदपि तथापि चित्रभनलतैवाग्निरवमेव  
हेतुरिति विरोधः । नञ् सम्भावहेतुरिति परिहारः । अतएव विरोधाभासोऽ  
लङ्कारः ॥ ६३ ॥



जन्म—इहं अस्मि स्वयंभूतं विदुष्यं यत् तारं वनारसु तत्र  
अनन्ता जनिवर्गो ना भूत् तु तदपि अनन्ता एव हेतुः ।

हिन्दी—अग्नि ने इन ( वन ) के सौन्दर्य-दाहक का विचार करके जो  
'तार' ( दुखादि ) का धारण किया, उसमें जग्नि होना उत्पत्ति का कारण  
नहीं है, जग्नि ( अग्नि का ) 'न'-न होना ही कारण है ।

टिप्पणी—अग्नि ने नियन्त्राज को देखा और उसके सौन्दर्याविशय से  
जग्निभूत हो विचार किया कि यदि जग्नि नष्ट होता तो दमयन्ती उन्नी हो  
हो जाती, पर वह तो अनश्व है—नातिरिक्त । अग्नि को इसन जगत्  
जपती 'अनश्वता' ( नश्वमिलना ) के कारण ही यह कह-कह रहा हुआ, यह  
'तार' इन कारण नहीं कि वह दाहणील अग्नि है । 'जन्मता' शब्द के  
आधार पर इस श्लोक में मल्लिनाथ और विद्याधर ने विरोधमान जलकार  
का निर्देश किया है । अग्नि के दाहकत्व का कारण 'अनश्वता' ( अग्निभाव )  
कारण नहीं है, यह विरोध हुआ, 'अनश्वता' का अर्थ 'नश्व मिलना' अर्थ  
करके परिहार हो गया ॥ ६३ ॥

कामनीयकमत्र कृतकाम काममक्षिभिरवेक्ष्य तदीयम् ।

कौशिकः स्वमन्त्रितं परिपश्यन् मन्यते स्म स्रष्टुः कौशिकमेव ॥ ६४ ॥

जीवानु—कामनीयकमिति । कौशिक इन्द्र, जघ-कृतकाम तिरस्कृतजनन,  
तदीयं तदीय, कामनीयकं कामनीयत्व सौन्दर्यम् । 'योः साद् दृष्ट्या तमाद् बुद्' ।  
काम प्रकाममक्षिभिः । सहस्रेष्वेति भावः । जवेक्ष्य, अथ स्वमात्मानमक्षिभिः यथा  
सया नाकक्ष्येनेत्यर्थः । परिपश्यन् कौशिकमुन्मुखमेव । 'महेन्द्रगुणुल्लूकन्याल-  
प्राहिनु कौशिक' इत्यमरः । मन्यते स्म स्रष्टुः । नत्स्यात्मानस्वैतावदन्तरनि-  
मल्लेत्यर्थः । तथा चाम्य भैनीनिराश्रमो बभूवेति भावः ॥ ६४ ॥

अन्वयः—कौशिकः जघ कृतकाम तदीय कामनीयकम जग्निनि कामम्  
जवेक्ष्य स्वम् अक्षिभिः परिपश्यन् स्रष्टुः कौशिकम् एव मन्यते स्म ।

हिन्दी—कौशिक ( इन्द्र ) ने कामदेव को जघमानित करनेवाले उस  
( नर ) के 'कामनि' ( कामनीय के भाव—सौन्दर्य ) को अपने ( महत् )  
नेत्रों से मन्त्रीभावति निहार कर अरुण को प्राङ्मुख से देखने हुए निरवगत  
( अरुने को ) कौशिक ( स्रष्टु ) ही माना ।

टिप्पणी—कोशिक को कोशिक तो होना ही चाहिए, वह कोशिका-तिरिक्त हा हाँ कैसे सकता है ? पर नल के कामावमानी सौंदर्य का जब उसने अपने सहस्र नेत्रों से निहारा तो वह अपने को अत्यन्त हीन समझने लगा—एक अघरे में रहनेवाले, निकृष्ट, कुरूप पक्षी उत्कृष्ट के समान । भाव यह है कि नल को देखकर इन्द्र दमयन्ती-प्राप्ति के विषय में पूर्णतः निराश हो गया । विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और उत्प्रेक्षा लकार ॥ ६४ ॥

रामणीयकगुणाद्वयवाद मूर्तमुत्थितममु परिभाष्य ।

विस्मयाय हृदयानि वितेरुस्तेन तेषु न सुरा प्रवभूवुः ॥ ६५ ॥

जीवातु—रामणीयकेति । सुरा इन्द्रादयः, अमु नल, मूर्त मूर्तिमन्तम्, उत्थितमुत्पन्नं रामणीयक सौन्दर्य, कामनीयकवत्सिद्ध तदेव गुणस्तस्याद्वय मेकमेवेति वाद प्रवाद, परिभाष्य त्रिजगदेकसुन्दर मत्वेत्यर्थः । हृदयानि चित्तानि, विस्मयायाद्भुतरसाय, वितेरुदु । तेन दावेन, तेषु हृदयेषु विषये न प्रवभूवु तेषां नेशिर । दत्तद्रव्ये स्वत्वनिवृत्तेरिति भावः । विस्मयाद्दृष्टचित्ता बभूवुरिति परमाथ ॥ ६५ ॥

अन्वय—सुरा अमु मूर्तम् उत्थित रामणीयकगुणाद्वयवाद परिभाष्य हृदयानि विस्मयाय वितेरु तेन तेषु न प्रवभूवु ।

हिन्दी—( इन्द्रादि ) देवा ने इस ( नल ) को मूर्तिमान् उदित सौंदर्य गुण का अद्वैतवाद ( अद्वितीय सौंदर्यवादी ) विचार कर ( अपने ) हृदयों को आश्चर्य को दे दिया, उसी से उन ( देवों ) का उन ( हृदयों ) पर अधिकार न रह गया ।

टिप्पणी—जो वस्तु अर्थ को दे दी जाती है, उस पर दाता का अधिकार नहीं रह जाता, प्राप्तकर्ता का हो जाता है । नल को जब इन्द्रादि ने देखा तो चकपवा कर अपने चित्तों को विस्मय को दें डाला, फल स्वरूप उनके चित्त अग्न उनके अधीन न रह गये । देवों को लगा कि नल जैसा सुन्दर और कोई नहीं है विश्व में—रामणीयता अद्वैत भाव से निपधराज में आ बसी है । विस्मय में पड़े देव उस समय किर्तव्य विमूढ़ हो गये, परवश चित्तों में विचारक्षमता रह ही नहीं गयी । विद्याधर के अनुसार अतिसयाक्ति और समास ॥ ६५ ॥

प्रेयरूपकविशेषनिवेशी नवदङ्गिमगा श्रुतपूर्व ।

एष एव नल जिनितोद मन्दमन्दमितरेतरमुचु ॥ ६६ ॥

जीवानु—प्रेयरूपकमिति । अनरा उदादय श्रुतपूर्व पूर्व श्रुत, 'सुप्सुपा' इति नमास । मन्त्रनि, नवदङ्गि प्रयत्नमवाद वृजङ्गि, प्रियरूपस्य भाव प्रियरूपक सौन्दर्यम् । मनोज्ञाश्चिदाद् वृज । तस्य विशेषेण तत्तदवयवेषु । 'विशेषांशवदेव व्यक्त' इत्युत्पलनाभायाम् । निवेशैस्तस्यानैर्ज्ञैः = श्रुतपूर्वो नल एष एव किमिति ह्यननिर्देश । इतीदं वाक्ये नन्दनन्द नन्दप्रकार, 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति द्विभावं । इतरेतरमुचु ॥ ६६ ॥

अन्वय—अनरा श्रुतपूर्व नवदङ्गि प्रियरूपकविशेषनिवेशी न नल एष एव किम्—इति इदम् इतरेतर नन्दनन्दम् उचु ।

हिन्दी—देवाण पदिले मुनं, ( जब ) प्रत्यक्ष वेत्ने हुए प्रियरूप के भाव ( सौंदर्य ) की जतिगुणता के विन्यासों के कारण 'बहु न' मही है 'नरा'—उन प्रकार के वाक्य परस्पर धीरे-धीरे बोले ।

टिप्पणी—नल लोक विधुन था, उसके आतिथ्य के कारण त्रिणोकी की मुन्दरियों के 'मन्दमन्दविभ्रम' हो जाता था ( नैपथ्य १।२६ ) विश्व की रमणीय कामिनी उसकी वादना करती थी ( १।२७-३० ) । देवा ने भी पहिले नल के सौंदर्य विशेष की चर्चा सुनी थी । अब, जब नल प्रत्यक्ष हुआ, तो वे पूर्वधुत के आधार पर सीमाया करने लगे कि यही वह नल है, जिसके विषय में इतना कुछ सुना था । जैसा सुना था, वैसा ही देखा-याया । विद्याधर के अनुसार जाति अलंकार ॥ ६६ ॥

तेषु तद्विषयपूर्वरणाहं भूषण स समयः स रयाध्या ।

तस्य कृण्डितपुर प्रतिसर्पन् भ्रूनेर्व्यवमिनानि शशन् ॥ ६७ ॥

जीवातु—तद्विवृति । तस्य भ्रूनेर्व्यवमिनानि, ना प्रणिद्धा विद्या प्रकार सौन्दर्योद्योतापारणमो यस्याम्भस्या बध्वा वरणे बहंमुचित भूषण, स समय स्वयवराजाल, कृण्डितपुर प्रतिनर्पन्, तदनिमुष्ण स रयाध्या च व्यवसितानि नलोद्योगान् तेषु तानविद्वन् शशन् तेन्य द्यगुतिरत्यर्थम् । आधारत्वविवक्षया सप्तमी । एतन्निर्ज्ञेयस्य स्वप्रवरयात्रेयमिति निश्चित्युतिरत्यर्थम् ॥ ६७ ॥

अन्वय.—तस्य तद्विधवधूवरणाहं भूषणम्, स समय, कुडिनपुर प्रति-  
सपन् स रथाध्वा भूपते व्यवसितानि तेषु शशसु ।

हिन्दी—उन ( नल ) का उस ( दमयन्ती ) जैसी वधू के वरण योग्य  
अलंकृत सौंदर्य, वह समय ( स्वयवर-काल ) और कुडिनपुर की ओर जाता  
उसके रथ का मार्ग—इन सबने भूपति ( राजा नल ) के उद्योगों की  
देवताओं के सम्मुख स्पष्ट कर दिया ।

टिप्पणी—अद्वितीय राजा नल का मंडित वेष, स्वयवर की घोषणा  
और कुडिन नगरी की ओर यात्रा करता नल का रथ—इन सबको देखकर  
चारों देव स्पष्टतः समझ गये कि नल दमयन्ती को पाने के लिए स्वयवर-  
समारोह में सम्मिलित होने जा रहा है । ये सभी विद्वान् नल की स्वयवर-  
यात्रा को स्पष्ट कर रहे थे, फलस्वरूप देवों ने तथ्य अवगत कर लिया  
विद्याधर के अनुसार समुच्चय अलंकार ॥ ६७ ॥

धर्मराजसलिलेशहृताशै प्राणता श्रितममु जगतस्तै ।

प्राप्य हृष्टचलविस्तृततापेश्वेतसा निभृतमेनदचिन्ति ॥ ६८ ॥

जीवात्—धर्मेति । जगत प्राणता प्राणत्व जगज्जीवनत्व, तत्प्रियता  
वा । श्रितममु नल, प्राप्यासाद्य, हृष्टा जगत्प्राणभूतपुरुषदर्शनात्स-तुष्टा,  
चलास्तल्लावण्यदर्शनाभूम्या श्लथानुरागा, विस्तृततापा रागशैथिल्यादेव  
विस्तृतविरहतापाश्च तैस्तथोक्तैस्तैः प्रकृतैर्धर्मराजसलिलेशहृताशै चेतसा, निभृत  
निगूढम् । एतदनन्तरश्च लोकत्रये वक्ष्यमाणाचिन्ति चिन्तितम् । अत्र 'यमा हृष्टो  
वक्ष्यमाश्लो बहिर्विस्तृतताप क्रमात्प्रतिपादनपरश्चोत्तरश्लोकत्रयमिति कैश्चिद्'  
व्याख्यातम् । तदयुक्तम् । न ह्येतेषामेते धर्मा प्रतिनियता । किन्तु, त्रयाणा-  
मेकामिप्रायेणाप्येते धर्मास्साधारणा, अत एवोत्तरश्लोकत्रयमपि सवविषयम् ।  
अत एवा-त्तरश्लोके 'न' इति बहुवचनोपादानम् । यद्यपि तदनन्तरश्लोकद्वये  
एकवचनोपादानम्, तदपि प्रत्येकामिप्रायादविच्छिन्नम् । किञ्च, इत्येतेषां मन-  
सेत्याद्युपसंहारश्लोके परस्परमुखदर्शनोक्त्या त्रयाणामेकामिप्रायावगमान्च  
अस्मदुक्तमेव युक्तमुत्पश्याम ॥ ६८ ॥

अन्वय—जगत प्राणता श्रितम् अमु प्राप्य हृष्टचलविस्तृततापं तैः  
धर्मराजसलिलेशहृताशै चेतसा निभृतम् एतत् अचिन्ति ।

हिन्दी—जगत् प्रापन्नू इम ( नल ) को पाकर प्रसन्न, चबल और अत्यधिक नम्र टन धनंराज ( यम ), ज के स्वामी ( वरुण ) और दूत के मोती ( अग्नि ) ने मन में चुपचाप यह ( ६९, ७०, ७१ श्लोक में वर्णित ) विचार किया ।

टिप्पणी—विश्वप्रिय नल के सौंदर्य को देखकर ये देव स्वामाविष् रूप में पहिले प्रसन्न हुए, फिर यह सोच कर कि इसके ममसुक्ष्म दमयंती उन्हें नहीं बरेगी, चबल हो गये और उनका मनोदाह बट गया । अथवा—टीकाकार नारायण के अनुसार—नल या जगत् का प्रापन्नू, क्योंकि वह मलीमांति लोकपालन करता था, तो नल हुआ जगत् पाणवायु, उसे देखकर यम प्रसन्न हुआ कि उसे उसका आखेट मित्र ( यम प्राणापहारक है ) । वायु से जल चबल अर्थात् तरंगाकुल हो जाता है, अतः जलेंच वरुण चबल हो गया । अग्नि वायु द्वारा और दीप्त हो जाती है, अतः जनि में और दाह उत्पन्न हो गया । 'प्रकाश'कार की इस व्याख्या से मल्लिनाथ सहमत नहीं है । उसके अनुसार प्राणापहरण आदि सबद देवा के नियत धर्म नहीं हैं, ये सीनों में होने वाले साधारण धर्म हैं । सीना ही हृष्ट, चल, सतत हुए, यही अर्थ मल्लिनाथ को मान्य है । उनका यह तर्क भी है कि ६९ वें श्लोक में 'न' ( बह्वचन ) का प्रयोग सामूहिकता का द्योतन करता है ॥ ६८ ॥

नव नः प्रियतमोभयथानो यद्यमु न वृणुते वृणुते वा ।

एकतो हि धिगमुमगुणज्ञामन्यत वथमद प्राप्तलम्भ ॥ ६९ ॥

जीवातु—चिन्ताप्रकारमेवाह—नैवेत्यादिना श्लोकत्रयेण । असी दमयंती, अमु नल यदि न वृणुते, वृणुते वा । उनयथापि पक्षद्वयेऽपि नोऽस्माकं प्रियतमा न भवत्येव । कुत हि यस्मादेकत प्रथमपक्षे अगुणज्ञाममु धिक् । तत्सङ्गतेर सुखावहत्वादिति भावः । अनतो नलवरणपक्षे कथमद प्रतिलम्भ नमुप्या परिग्रह । परदारत्वादिति भावः ॥ ६९ ॥

अन्वय —असी यदि अमु न वृणुते, वृणुते वा—उनदया न प्रियतमा न, हि एकत अगुणज्ञाम् अमु धिक्, अयत्त कथम् अद प्रतिलम्भ ?

हिन्दी—( यम ने अथवा न' प्रयोग के कारण सब ने सोचा )—यह ( दमयंती ) यदि इस ( नल ) को नहीं बरती है, अथवा बरती है—दोनों

स्थितियों में हमारी प्रियतमा न हो सकती, क्योंकि प्रथम ( अवरण की ) स्थिति में इस गुणों के न पहिचाननेवाली को धिक्कारना होगा, और द्वितीय ( वरण की स्थिति ) में इस ( दमयन्ती ) की प्राप्ति कैसे होगी ?

टिप्पणी—दमयन्ती यदि नल जैसे मयगुण सपन्न नरश्रेष्ठ का वरण नहीं करती है, तो वह भूल है—गुणों का मूल्य न जानने वाली । ऐसी भूला को कौन प्रियतमा बनाना चाहेगा ? और यदि नल को दमयन्ती ने वर लिया, तो फिर कष्टानी ही समाप्त । देवों की कामना पूर्ण नहीं होगी । दोना ही स्थितियाँ भली नहीं । विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग अलङ्कार ॥६९॥

मामुर्प्यति तदा यदि मत्तो वेद नेयमियदस्य महत्त्वम् ।

ईदृशी न कथमाकलयित्री मद्विशेषमपराधपरानृपपुत्री ॥ ७० ॥

जीवातु—मामिति । इय दमयन्ती, इयदेतावदस्य नलस्य, मत्तो मत्त काशाम्महत्त्वमाधिक्य, न वेद यदि, तदा मामुर्प्यति । तर्हि त्वद्गतदेवत्वाद्युत्कर्षज्ञानात्त्वामेव वरिष्यतीत्यत आह—ईदृशीति । ईदृशी सर्वापरोक्षनलगतविशेषानभिज्ञा नृपपुत्री अपराधपरस्माद्बलादित्यर्थ । 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा' इति विकल्पात् न स्मरदेश । मद्विशेष मदीयोत्कर्ष च कथमाकलयित्री शास्त्री । तृन्तादीकार । 'न लोक—' इत्यादिना पट्टीप्रतिषेध ॥ ७० ॥

अन्वय —इयम् इयत् अस्य मत्त महत्त्व यदि न वेद तदा माम् उर्प्यति, ईदृशी नृपपुत्री अपरात् मद्विशेष च कथम् आकलयित्री ?

हिन्दी—मह ( दमयन्ती ) इतना हम ( नल ) का भूलसे महत्त्व यदि न जानेगी तो भूलसे वर लेगी, ( परतु ) ऐसी ( नल-विषयक अभिज्ञान न रखने वाली ) राजपुत्री अथ ( नल अथवा अन्यनृपों ) से मेरा वैशिष्ट्य किस प्रकार जान पायेगी ? ( न जानेगी ) ।

टिप्पणी—देवों ('प्रकाश'-कार के अनुसार वरुण) ने विचार किया कि नलराज भूल से अधिक महिमावान् है, यदि दमयन्ती को इसका ज्ञान न हो तभी वह देव-वरण करेगी, अन्यथा नहीं । पर नलानुरागिणी और नल के महिमान को दमयन्ती न जाने, यह समझ नहीं है । वह नल का देवा से वैशिष्ट्य न जाने, तभी देववरण कर सकती है, परतु यदि दमयन्ती ऐसी अजानी है कि नल का वैशिष्ट्य और महिमान नहीं जानती, तो फिर वह

अन्य प्रत्याशियों की अपेक्षा देवी का महत्त्व भी नहीं जान सकेगी। भाव यह कि यदि दमयन्ती बलिज्ञा है, तो नल को बरेगी और यदि अनलिना है तो किनो को भी बर नकती है, वह देवी का महत्त्व भी न जान सकेगी, और किनो सजातीय मन्त्रेण्यो को ही बर लेगी। दोनों स्थितियों में निराशा ही शायद लगती है। विद्याधर के अनुसार हेतु उलकार ॥ ७० ॥

नैपथ्ये वन वृत्ते दमयन्त्या ब्रौह्मिनी हि न बहिर्नवितास्मि ।

स्वा गृहेऽपि वनिता कथमान्यं ह्योनिमीलि खलु दर्शयिताहं ॥ ७१ ॥

जीवानु—नैपथ्य इति । किञ्च दमयन्त्या नैपथ्ये नरु, वृत्ते मति, ब्रौह्मिनी सन् बहिस्तावन् नवितास्मि हि । बहि क्वापि जनसमक्ष स्थानु न शक्यामी-  
त्यर्थः । नवनेलुट् । वतेति षेदे । गृहेऽपि, स्वा वनिता माया, ह्यिया निमीलि सकुचनीति ह्योनिमीलि । निनिप्रत्यय । आस्य कथ खलु दर्शयिताहं दर्शयि-  
ष्यामि । ह्येष्यन्ताङ्कारि लुट् । ‘अनिवादिह्योरात्मनेपदे वेति वाच्यम्’  
इत्यपि ऋत्या वनिताया वैकल्पिक कर्मत्वम् । अत्र ऐरपादिभूतस्यमद्रहण-  
मामर्ष्यं ऋत्याभूयमाणकर्मत्वानावेन तद्विषयत्वात् ‘विचित्र’ इत्यात्मनेपदमिति  
केचित् । अणिकर्तृकर्मत्ववर्णेऽपि तदतिरिक्तकर्मत्वत्वात्तदभूयमाणकर्मत्वमप्येवेति  
ऐरपादिभूतविषयत्वमेवेति भाष्यकारः । तदेतत्त्वम्यग्विद्वेचितनस्मानि  
किराताङ्गीपद्याख्याने घट्टापथे ‘स सन्तन दर्शयने गतस्मय’ इत्यत्र ॥ ७१ ॥

अन्वय—दमयन्त्या नैपथ्ये वृत्ते बहि हि ब्रौह्मिनी न नवितास्मि, वरु गृहे अनि स्वा वनिता ह्योनिमीलि आस्य कथ खलु दर्शयिताहं ।

हिन्दी—दमयन्ती द्वारा निपटराज के बरे जाने पर बाहर ही लज्जित न होऊँगा, षेद है कि घर में भी अपनी पत्नी को राजा सकुचित मुख कैसे दिखता पड़ेगा ।

टिप्पणी—दोनों ओर अपमान की स्थिति, बाहर भी, घर भी । यही मतान और कष्ट का कारण है । ‘प्रकाश’-वार के अनुसार यह बह्वि की चिन्ता है । विद्याधर के अनुसार हेतु उलकार ॥ ७१ ॥

इत्यवेत्य मननामविधेय किञ्चन त्रिविधो वृत्ते न ।

नागनायकमपास्य तमेक सा स्म पश्यति परस्परमान्यम् ॥ ७२ ॥

जीवातु—इतीति । त्रयाणां विबुधानां समाहारस्त्रिविबुधी यमादिदेव-  
त्रयम्, इति पृथक्लोकत्रयोक्तप्रकारेण । मनसाऽवेत्यालोक्य, किञ्च नात्मविशेष-  
स्वकर्तव्यं न बुबुधे न विवेद । किञ्च, सा त्रिविबुधी, तमेव नाकनायकमिन्द्रम्  
पास्य अपवाय परस्परमास्य पश्यति स्म । इति कृतव्यतामूढास्त्रयोऽपि केदल-  
मयोऽन्यमुत्तान्यपश्यन्तित्वर्थः ॥ ७२ ॥

अन्वयः—सा त्रिविबुधी इति मनसा अवस्थे किञ्च न आत्मविशेषं न  
बुबुधे, तम् एकं नाकनायकम् अपास्य परस्परम् आस्य पश्यति स्म ।

हिन्दी—बह देवतयो इस प्रकार मन मे समझ कर किचित् भी स्वर्क  
कर्तव्यता न समझ पायी । वे उस एक स्वर्गपति ( इन्द्र ) को छोड़कर एक  
दूसरे का मुँह देखने लगे ।

टिप्पणी—६९-७१ श्लोको मे पृथक् पृथक् अथवा सामूहिक रूप में यम,  
वरुण और अग्नि की चिन्ता का वर्णन हुआ । इन्द्र की स्थिति इन से भिन्न  
है । यह देवत्रयी पूर्णतया किकृतव्यविमूढ हो गयी । विद्याघर के अनुसार  
क्षैत्रानुप्रास और भावोदय ॥ ७२ ॥

किं विधेयमधुनेति विमुग्ध स्वानुगाननमवेक्ष्य ऋभुज्ञा ।

क्षसति स्म कपटे पटुरुच्चैर्वञ्चनं समभिलष्य नलस्य ॥ ७३ ॥

जीवातु—किमिति । कपटं परवञ्चने, पटु, ऋभुज्ञा इन्द्र । अधुना किं  
विधेयमिति विमुग्धमिति कर्तव्यतामूढम् । स्वस्यानुगानाननुयायिनां यमा-  
दीनामाननमवेक्ष्य तेषां दैन्य इद्वेत्यर्थः नलस्य वञ्चनं समभिलष्य अभिलक्ष्णाय,  
उच्चैः क्षसति स्म जगाद ॥ ७३ ॥

अन्वयः—उच्चैः कपटे पटु ऋभुज्ञा अधुना किं विधेयम् इति विमुग्ध  
स्वानुगाननम् अवक्षेप्य नलस्य वञ्चनं समभिलष्य क्षसति स्म ।

हिन्दी—कपट व्यवहार मे अत्यंत कुशल इन्द्र 'अब क्या करना चाहिए'—  
इस विषय मे विमूढ अपने अनुयायियों का मुख देखकर नल को धोखा देने  
की इच्छा करने बोला ।

टिप्पणी—इन्द्र कपटाचारियों में प्रमुख है, अतः वह अपने साधियों के  
समान किकर्तव्यविमूढ न हो नल के साथ कपटाचार कर उसे धोखा देने की  
योजना बनाने लगा और नल से बोला ॥ ७३ ॥



सर्वः नृनरमागमि कच्चित्त्वस नैपय इति प्रतिभा न ।

स्वामनाघंनुहृदन्नद रेखा वीरसेननृपतेरिव विद्या ॥ ७४ ॥

जीवानु—कवेय इति । नवेन सतस्वज्ञेयुः, वृत्तलमागमि कच्चित् ।  
'कच्चित् कानप्रवेशने' इत्यमर । न च त्वा न वेदीत्याह—त्व न प्रसिद्धो  
नैपय न च इति नोन्माक, प्रतिभा प्रतीति । कुतस्तद रेखाभाहृति स्वा-  
सनाघंनुहृदं नमोनांजनमाजो, वीरसेननृपतेरिव तत्प्रदृष्टो विद्या तत्सादृशात्-  
त्पुत्रो नत्स्वमिति प्रतीति इत्यर्थ ॥ ७४ ॥

अन्वय—नवेन सर्वतः कुशलभाक् जधि कच्चित् ? ( त्व ) स नैपय  
इति न प्रतिभा, तद रेखा स्वामनाघंनुहृद वीरसेननृपते इव विदुः ।

हिन्दी—तुम सब प्रकार से ( सत राग्याङ्गादि के सहित ) सङ्गृह्य  
हो न ? हमें ऐसा प्रतिभास होता है कि तुम निपधराज हो, हमें जान पड़  
रहा है कि तुम्हारी रूपरेखा हमारे आसन के जाने भाग पर बैठने वाले  
मित्र राजा वीरसेन के सत्त है ।

टिप्पणी—कपटाधार की भूमिका । जातीयता का प्रदर्शन । पिता के  
साथ अपनी शाही मंत्री का संकेत दिया । पिता से पुत्र की रूपरेखा प्राप्त  
मिला करती है । जालसाजियों के अनुसार उपमानों की भी उपमान, भूषणों  
की भूषण जगो की, नेत्रों की अमृत वर्षा के सत्त आनन्ददायिनी घोभा  
'रेखा' होती है—'उपमानोपमान या भूषणस्यापि भूषणम् । भाङ्गश्री  
कथ्यते रेखा कञ्चुभीभूषणपिणी ॥' विद्याधर के अनुसार हेतु और उपमा  
अलंकार ॥ ७४ ॥

कत्र प्रयाम्प्रसि नलेख्यमुक्त्वा यात्रयात्र शुभयाजनि दन्त ।

तत्तयैव फलमत्वरया त्व नाद्यनोर्धमिदमागमिन् । किम् ॥ ७५ ॥

जीवानु—कवेय । हे नल, नव प्रयाम्प्रसीत्पुत्रत्वा पृष्ट्वा अल, न प्रष्टव्य-  
मिन्त्यर्थ । 'नलेख्यो' इत्यादिना क्वाप्रत्ययः । कुत, दक्षस्मान्मोन्माकमत्र  
यात्रया इहागमनेन, शुभया त्वदृश्येन नदृष्ट्या, अत्र यमावि । भावे तुङ् ।  
तत्तस्मात्, फलैव सत्वरया फलादिन्या तया, यात्रयैव कर्त्तव्य, त्वनिश्मध्वनो-  
र्धमर्धमार्गमागमितो न किम् ? अस्मदर्थमेवेद तवागमनमित्यर्थ ॥ ७५ ॥

अन्वय—नल, कत्र प्रयाम्प्रसि—इति उक्त्वा अलम्, यत् न अत्र

यात्रया शुभया अजनि, तत् फलसत्त्वरया तया एव त्वम् इदम् अश्वन अप न  
आगमित १ किम् ?

हिन्दी—हे नल, तुम कहाँ जा रहे हो—ऐसा कहना उचित प्रश्न नहीं है, क्योंकि हमारी यज्ञों ( घरती पर ) यात्रा शुभ हुई, सो शीघ्र कलीभूत होने वाली उसी ( यात्रा ) के कारण ही तुम कहीं इस आधे भाग में ( हमें ) नहीं प्राप्त हो गये हैं ?

टिप्पणी—कपटव्यवहार का दूसरा विशिष्ट आयोजन । किसी से उनकी यात्रा जा उद्देश्य स्थान पूछना अनुमत् माना जाता है । इस लोकाचार की आड़ में यह कपट कि नल अपना दमयन्ती स्वयंवर-विषयक अभिलाष कह ही न पाये और वह इंद्र के काम में सहायता के लिए बचनबद्ध हो जाय । इसीसे व्यक्त किया गया कि नल की इस यात्रा का कोई निज प्रयोजन नहीं है, वह देवकार्य में सहायक होने के लिए भाग्यवश आधे रास्ते में इंद्र को मिल गया है । नल इंद्र के कार्य में सहायक होगा ही, क्योंकि उसके पिता इंद्र के मित्र थे । विद्याधर के अनुसार काव्यालिंग अलंकार ॥ ७५ ॥

एष नैपथ १ स दण्डभृदेष ज्वालजालजटिल स हुताश ।

यादमा स पतिरेष च शेष शासितारमवगच्छ सुराणाम् ॥ ७६ ॥

जीवातु—के सूयमत आह—एष इति । हे नैपथ । नल । एष इति पुरोवर्तिनो हस्तेन निर्देश । स प्रसिद्धी दण्डभृत्तम, एष ज्वालजालजटिलो जटावान् । ज्वालामालाबुलीत्यर्थ । 'बह्लेह्लोयोज्ज्वलकीली' इत्यमर । पिच्छा-दित्वादिलच् । ॥ हुताशोऽग्नि, एष च न यादसा पतिर्वरुण, शेष शिष्ट स्वमित्यर्थ । सुराणां शासितारम् अवगच्छ देवेन्द्र विद्धि ॥ ७६ ॥

अन्वय—नैपथ, एष स दण्डभृत् एष ज्वालजालजटिल स हुताश, एष स यादमा पति, शेष सुराणां शासितारम् अवगच्छ ।

हिन्दी—हे निपथराज, यह वह दंडधारी ( यम ) है, यह ज्वालाओं की जटाओं की धारण करता वह हुतभृत् ( अग्नि ) है, यह जलजंतुओं का स्वामी वह वरुण है, शेष रहे मुझे तुम देवों का शासक ( देवेन्द्र ) समझ लो ।

टिप्पणी—नल को आतंकित करने के लिए विशेष आदरपूर्ण विशेषणों के माध्यम से देवा का परिचय कराया गया । दंडधारी यम, जो यम की

काव्यवन्ति कर देने है । मय जल टालने की क्षमता रखने वाले अग्नि है, जल पर भी शासन करने वाले वरुण है, और इन्द्र ? वह मनुष्यों पर क्या देवों पर भी शासन करता है । इतनी महाशक्तिया का आदेश अनुत्पद्यनीय है—मानना ही होगा नन् को । न मानने पर कष्ट भोगने का मकेत । विद्याधर के अनुसार परिकरालकार ॥ ७६ ॥

अयिनो वयमसौ समुपेमन्त्वा किलेति फलितायमवेहि ।

अध्वन क्षणमपास्य च खेदं कुमहे भवति कार्यनिवेदम् ॥ ७७ ॥

जीवानु—अयिन इति । हे नल ! अमी वयमयिन न तत्त्वा समुपेम किं प्राप्नुमः खलु । समुपपूर्वादिणो लटि मस् । इति फलितायमवेहि विद्धि । क्षणमध्वन खेदमपास्य जघ्मयन नीत्वा भवति त्वयि कार्यनिवेद कार्यविशेष-निवेदनम् विद्वेग्येन्तादन्प्रत्यय । कुमहे ॥ ७७ ॥

अन्वय—अमी वयम् अयिन त्वा समुपेम किम्—इति फलितायम् अवहेहि, क्षण च अध्वन खेदम् अपास्य भवति कार्यनिवेदं कुमहे ।

हिन्दी—ये हम याचक बने तुम्हारे समुख आये हैं—यह तात्पर्य समझ लो, क्षण भर माँग की क्षिप्रता को मिटाकर आपन कार्य निवेदन करते हैं ।

टिप्पणी—इन्द्र अपना कपट-जाल एक के पदचात एक बात कहते हुए बिठाता जा रहा है । नल मित्र-भुत्र है, वह देव काय-साधन के निमित्त ही मानो उन्हें मार्ग में मिल गया है । सामर्थ्यशील देव उसके समुक्त याचक है, अतः नल को देवकार्य-निरत होना ही पड़ेगा । कोई अवसर नहीं दिया इन्द्र ने नल को कुछ कह सकने का ॥ ७७ ॥

ईदृशी गिरमुदीर्यं विडोजा जोषमाप न विशिष्य वभापे ।

नात्र चित्रमभिधाकुशलत्वे शौनवावाध गुरुर्युग्मस्य ॥ ७८ ॥

जीवानु—ईदृशीमिति । विडोजा इन्द्र, ईदृशी सामान्यनिद्रिष्टा, गिर-मुदीर्यं जोष मौनमाप । 'तूष्णीं जोष भवे-मौनम्' इति ह्यण्युच । विशिष्य विविच्य, न वभापे विशेष नाचष्टत्यर्थं, अत्रास्मिन्नभिधाकुशलत्वे उत्तिचातुये, चित्र विस्मयो न । कुत, अस्येन्द्रस्य शैशवनवविषस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा तदारम्भेत्यर्थं । गुरुराचार्यो गुरुर्बृहस्पति । वाचस्पतिशिष्यस्य वाग्वित्त्व किं चित्रमन्यर्थं । 'गुरुगोप्यतिपित्रादी' इति वैजयन्तः ॥ ७८ ॥

अन्वय — विडोजा ईक्षी मिरम् उदीर्यं जोषम् आप विनिष्य न व्रमापे,  
अन अभिधाकुशलस्त्वे चित्र न, शैशवावधि गुरु अस्य गुरु ।

हिन्दी—इन्द्र इस प्रकार ने वचन उच्चारण कर चुप हो गया, विशेष  
करके कुछ न कह, इस प्रकार की वचनचातुरी में विचित्रता नहीं है,  
वचन में लेकर ही बृहस्पति उसके गुरु है ।

टिप्पणी—साधु की विद्वत्ता दूर करने के व्याज से इन्द्र ने केवल  
उपयुक्त वचन ही कहे, दमयन्ती विषयक चर्चा नहीं की कि कही नल  
अस्वीकार न कर दे । बातें बनाने में इन्द्र परम चातुर ठहरा ही, बृहस्पति जैसे  
वाणीश्वर गुरु का शिष्य है न । वाचस्पति का शिष्य वचनचातुर हाथा ही ।  
विद्यापद के अनुसार श्लोक में छेकानुप्रास, काव्यालिंग और उपदेश  
अलङ्कार हैं ॥ ७८ ॥

अधिनामहृषिताखिललोमा स्व नृप स्फुटकदम्बकदम्बम् ।

अर्चनार्थमिव तच्चरणानां स प्रणामकरणादुपनिष्ये ॥ ७९ ॥

जीवातु—अर्थात् । अधिनाम्ना अधिनामध्वनेन, हृषिताखिललोमा  
रोमाञ्चिततनु, 'हृषेलोमसु' इति वैकल्पिक द्वागम । नृप, स्वमात्मान,  
तच्चरणानामर्चना स्फुटकदम्बकदम्ब विकसितनीपकुसुमवृन्दनिवत्युत्प्रेक्षा ।  
प्रणामकरणात्तद्व्याजादुपनिष्ये समपशामास ॥ ७९ ॥

अन्वय — अधिनामहृषिताखिललोमा स नृप प्रणामकरणात् तच्चरणा-  
नाम् अर्चनार्थं स्व स्फुटकदम्बकदम्बम् उपनिष्ये ।

हिन्दी—'याचक' नाम ( जयवा याचका के इन्द्रादि नाम ) से जिसके  
समस्त रोम हर्ष से पूण हो गये थे, ऐसे उस राजा (नल) ने प्रणाम क्रिया से  
उत्तरे चरणा की बन्दना के निमित्त मानों अपने को विकसित पद्म-पुष्पो  
के सरस समर्पित कर दिया ।

टिप्पणी—नैषधीय० (१।१५-१६) में नल की बदाम्यना बताया गया है  
कि वह 'अल्पितकपपादप' था और उसने दारिद्र्य को भी दारिद्र्य बना  
दिया था, वह चाहता था कि इतना दान कर कि सुमेध समाप्त हो जाय  
और दान-जल में व्यय होते-होते समुद्र सूख जाय । ऐसे दानशील नल ने जब  
याचका को मगुन पाया तो उसका रोम-रोम मिल उठना म्नाभाविक

ही था। उस पं देवराज जोर नहाद्यान्व्यंजी विदेवों को याचक रूप में पाकर तो वे हर्ष द्विगुणित हो जाया ही था। उसने नक्षत्रपूर्वक देवचरणों में प्रणाम पुरस्कृत करने रोनाचित्र शरीर का उमर्पण बना दिया, मानो 'मृष्टकदम्ब'—जैसे शरीर के रूप में कदम्ब के फूल जनरित कर दिये। रोनाचित्र देह को दुःखना तिले कदम्बपुष्पों से की गया है। मन्त्रिनाथ के अनुसार उपदेश, विद्याधर के अनुसार स्तव, उद्येशा और अहंनृति ॥७९॥

दुर्लभ दिग्धिपैः किममीनिष्ठादृश व्यमहो मदधीनम् ।

ईदृश मननिवृत्त्य विरोध नैपथेन सम्प्राप्य विराय ॥ ८० ॥

जीवानु—दुर्लभमिति । दिग्धिपैर्मनीनिरिन्द्रादिभिः, दुर्लभ कि तादृश दुर्लभ वस्तु कय मदधीन मदायनम् अहो, ईदृश विरोध मननिवृत्त्य निषाय । 'अन्त्याशान्तरादिनननी' इति गतिनानाये 'श्रुतिप्रादय' इति मनासे बन्धो स्पवादेश । नैपथेन अथेन, चित्तं चिर समप्राप्य सकृद्विजम् । विचारित-निन्द्यम् । नाथे सुहृ ॥ ८० ॥

अन्वयः—अहो, प्रमीनि दिग्धिपै दुर्लभ किम्, तादृश मदधीन व्यम् ? ईदृश विरोध मननिवृत्त्य नैपथेन विराय सम्प्राप्य ।

हिन्दी—बरे इस ( ज्ञानधर्मशील ) दिक्पालों के लिए दुर्लभ क्या है, जोर बैसा ( दुर्लभ कान्य ) केरे प्रमीन किन् प्रकार है ? इस प्रकार का विरोध विचारते हुए निन्दरात्र चिन्ता तक समय में पड़ा रहा ।

टिप्पणी—नल समस्त विद्या-विद्यारद था, नीतिज्ञ, भुविचारी । उसे संदेह तो हो ही गया कि वही कपट है, बचना है । य देव तो सब कुछ करने में स्वयं समर्थ है । ऐसा क्या है, जो वे नहीं कर सकते जोर में कर सकता है ? द्विविधा और संदेह में अस्त नल कुछ क्षण तक भ्रमवास विचारता रहा ॥८०॥

जीवितार्थवि वनीनरभात्रैर्पाद्यमानमदित्तैः नृप्यन् यत् ।

अर्थिने परिवृत्ताय नृराणां कि वितीर्थं परितुष्यन्नु चेत् ॥ ८१ ॥

जीवानु—विचारप्रकारमेवाह द्वादशरत्नेक्या—जीवितार्थवि । पदस्माद-विलंबनोपपन्नार्थं नैविद्याचर्क । 'वनीपको याचनको मार्गनो याचकापिनो' इत्यमर । जीवितार्थवि प्राप्त्यर्थेन, याच्यमान वस्तु मुञ्चनम् । नृराणां परिवृत्ताय प्रपदे अर्थिने कि वस्तु वितीर्थं दत्त्वा, चेत् परितुष्यन्नु कर्तव्यम् ।

प्राणात् वस्तु सर्वायिषाधारण ततोऽधिक्किमन्धाय देय किमस्तीति विचारित  
मित्यर्थं । वितरणे चेतस नतृत्वविवक्षया वितरणपरितोषयो समानकर्तृत्व  
सिद्धि ॥ ८१ ॥

अन्वय.—यत् अखिलं वनोपकमात्रे जीवितावधि याच्यमान सुख  
सुराणा परिवृद्धाय अयिने किं वितोर्यं चेत् परितुष्यतु ?

हिन्दी—जो कि समस्त (सामान्य) याचकमात्र को प्राणपर्यन्त मंगि जाने  
पर सुखम है, देवों के प्रभु के याचक होने पर क्या वितरण करने मेरा चित्त  
संतुष्ट होगा ?

टिप्पणी—नल ने विचार किया कि वह सामान्य पात्र-कुपात्र याचक को  
मंगि जाने पर प्राण तक सरलता से दे सकता है, विधिदृ इन्द्रादि याचका को  
कौन-सी ऐसी प्राणाधिक वस्तु दे, जिससे उन्हें मनस्वी हो । देव-याचको को  
प्राण से भी अधिक प्रिय पदार्थ देना उचित होगा ॥ ८१ ॥

भीमजा च हृदि मे परमास्ते जीवितादपि धनादपि गुर्वी ।

न स्वमेव मम साहति यस्या पोडशीमपि कला किल नोर्वी ॥ ८२ ॥

जीवात्—नन्वस्ति लोकोत्तर वस्तु भैमी, सा दीयतामित्यत आह—  
भीमजेति । उर्वी भूयस्या भैम्या पोडशीमपि कला नाहति पोडशाष्टसाम्यमपि  
न प्राप्नातीत्यर्थं । अत एव धनादपि । किं बहुना, जीवितादपि गुर्वी अधिक  
सा भीमजा दमयन्ती च । मे हृदि हृदये, पर सम्यगास्ते । किंतु मम स्वमेव  
न भवति । अद्याप्यस्ववर्णादस्वस्यादेयत्वात् । स्वत्वेऽपि 'देय दारसुतादने'  
इति दाराणा दाननिषेधाच्च विचारस्तदवस्थ एवेति भाव ॥ ८२ ॥

अन्वय —यस्या पोडशीम् अपि कलाम् उर्वी न अहति जीविताद् अपि  
धनाद् अपि गुर्वी भीमजा मे हृदि परम् आस्ते, सा मम स्वयम् एव न ।

हिन्दी—जिसके मोलहूँ अथ के तुल्य भी पृथ्वी नहीं है, जीवन से भी  
और धन से भी महनीय वह भीम सुता ( दमयन्ती ) मेरे हृदय में सम्पत्  
विराजमान है, पर वह तो अभी मेरी सपना (स्वत्व) नहीं है ।

टिप्पणी—विचार करते नल को प्रतीति हुई कि प्राणा से, राज्य से  
धरती से भी अधिक प्रिय और महत्त्वपूर्ण एक वस्तु है—दमयन्ती । उसे दान  
करने से चित्त संतुष्ट हो सकता है, पर इसमें कठिनता यह है कि भले ही

दमयन्ती को नल ने मन्त्रीमात्रि हृदयासन पर विराजित कर लिया हो, उस पर नल का कोई अधिकार तो नहीं है, अतः दमयन्ती का दान कैसे समभव है ? तृतीय चतुर्थ चरण का 'दस्या षोडशी कला नमः स्वम् एव स्वरूपमेव नार्हति किं पुनः समया सर्वो' ऐसा भाव भी 'प्रकाश'-कार ने दिया है—त्रिम दमयन्ती का सोलहवां भाग मुल ( नल ) का स्वरूप भी नहीं है, धरती की तो दान क्या ? यद्यपि नल का उन काल दमयन्ती पर अधिकार नहीं था, फिर भी माना जाता है कि पत्नी पुत्र को छोड़कर छेप मन्त्र दिया जा सकता है—'देव दारमुवाहते' । इस प्रकार स्वत्व होने पर नो—पत्नीत्व प्राप्त होने पर भी दमयन्ती का दान नीति-युक्त नहीं है । नाट्यशास्त्रियों के अनुसार प्रस्तुत क्या के भावी वृत्तांत का अयोक्तिमूकक वचन 'पञ्चाकास्मानक' कहा जाता है । ( दृश्य १।१४ ) यहाँ ऐसी ही स्थिति है नाटकीय 'पञ्चाकास्मानक' की योजना । विचार के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ ८२ ॥

मीयता कथमभीप्सितमेपा दीयता द्रुमयाचितमेव ।

त धिगन्तु कल्पन्नपि बाञ्छामधिवागवतर महते य ॥ ८३ ॥

जीवानु—पुनर्विचारमेवाह—मीयतामिति । एषामभीप्सित वस्तु कथं मीयता ज्ञायते । ज्ञानस्योपयोगमाह—ज्याचित् यथा तथा द्रुत कथं दीयताम्, दातव्यमित्यर्थं । तर्हि, अधिवाचैव विज्ञाय दीयतानित्यत आह—यो दाता बाञ्छामर्ष्याकांक्षा कल्पन् जानन्नपि । अधिवागवतर सहते बाञ्छाकालं प्रतीक्षते, त दातारं निगन्तु । स गच्छेन्नित्यर्थं ॥ ८३ ॥

अन्वय—एषाम् अभीप्सित कथं मीयताम् ? ज्याचितम् एव द्रुत दीयताम्, य बाञ्छा कल्पन् अपि अधिवागवतर सहते त धिक् भन्तु ।

हिन्दी—इनका अभीष्ट कैसे जाना जाय ? विनमता ही शीघ्र देना उचित है, जो ( दाता याचक की ) इच्छा को समझता हुआ भी याचको को कल्पे का अवसर देता है, उसे धिक्कार है ।

टिप्पणी—श्रेष्ठ दान बड़ी होता है, जो विनमता किया जाय । याचित दान तो आधा दान देता है किन्तु याचक को बुलाकर देना सहस्रगुण फलदायक है—'गत्वा यद् दीयते दानं तदनन्तरं स्मृतम् । सहस्रगुणमाहूय

याचिते तु तदर्थकम् ।' सो नल ने विचारा कि अजाने ही प्राणाधिक महत्व वाली कुछ देवराज को दिया जाय । विलाधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥८३॥

प्रापितेन चटुकाकुविडम्ब लम्भितेन बहुयाचनलज्जाम् ।

अर्थिना यदधमजति दाता तन्न लुम्पति विलम्ब्य ददान् ॥ ८४ ॥

जोवातु—श्रीघ्राप्रदाने दोषमाह—प्रापितेनेति । चटुकाकुम्भ्या चटुस्त्रि काकुयोगम्भा करणाम्भा, विडम्ब विडम्बना हास्यत्व, प्रापितेन, दात्रेति शेष । बल्लधिक, यथा तथा याचनेन देहोति वादेन, लज्जा लम्भितेन प्रापितेन अत्रापि दात्रेति शेष । अर्थिना करणभूतेन, उचतरूपेणाधिपीडनेनेत्यर्थ । यदध पापमजति सम्पादयति, विलम्ब्य ददानो दाता, तदध न लुम्पति न विहति । तस्य पापस्य प्रामाद्विलम्बमपि नास्तीत्यर्थ ॥ ८४ ॥

अन्वय—चटुकाकुविडम्ब प्रापितेन बहुयाचनलज्जा लम्भितेन अधिा दाता यत् अधम् अजति तत् विलम्ब्य ददान् न लुम्पति ।

हिन्दी—चाटुकारी ( खुशामद ) और दीनतापूर्ण वाक्यो ( के कथन ) से विडम्बना ( उपहास ) को प्राप्त और बहुत बार याचना करने से लज्जा को प्राप्त याचक ( को देने ) से दाता जिस पाप का अर्जन करता है, विलम्ब करके देने वाला उस ( पाप ) का परिमार्जन नहीं कर सकता ।

टिप्पणी—वस्तुतः चाटुकारी और दीन वाक्यो के उच्चारण से याचक तो विडम्बना और लज्जा को प्राप्त होता ही है, सज्जन दाता को भी ऐसी स्थिति लज्जाजनक प्रतीत होती है । सन्वे दाता तो अयाचित ही दान करते हैं । नल जैसे वदान्य पुरुष की दृष्टि में तो 'चटुकाकुवाक्य' सुन कर देना और विलम्ब से देना दोनों ही 'पाप' है । 'चटुकाकुवाक्यो' से विडम्बित और लज्जित याचको की याचना दाता को पापार्जन कराती है, जिसका मार्जन देर से देकर सम्भव नहीं है । दान अयाचित और अविलम्ब ही उचित है ॥ ८४ ॥

यत्प्रदेयमुपनीय वदान्यैर्दीयते सलिलमधिजनाय ।

याचनोक्तिविफलत्वविशङ्काश्राममूर्च्छनचिकित्सितमेतत् ॥ ८५ ॥

जोवातु—मदिति । वदान्यैर्दीयते, प्रदेय देयद्रव्यमुपनीयाधिजनाय सलिल दीयत इति यत् । एतत्सलिलदान याचनोक्तिविफलत्वविशङ्काया देहीति वादवैफल्यशङ्काया प्राप्ति नय तेन यमूर्च्छन तस्य चिकित्सितमित्युपदेशा । अथवा विमर्श तत्सलिलदानमिति भाव ॥ ८५ ॥



अन्वय—वदान्यं प्रदंयम् उपनीय अविजनाय यत् सलिल दीयते एतत्  
याचनोक्तिविफलत्वविशङ्काप्राप्तमूच्छंनचिकित्सितम् ।

हिन्दो—उधार दाताओं के द्वारा दातव्य वस्तु को समीप स्थानित कर  
याचकों को जो सकल्पोदक दिया जाता है, वह याचना वचनों की निष्फ़लता  
की आशंका से जात भय से मूच्छा की चिकित्सा है ।

टिप्पणी—दान करते समय दाता दातव्य पदार्थ को निकट रख कर  
याचक के हाथ में सकल्प-जल छोड़ता है । दान की यह प्रणाली है । नल का  
विचार है कि वस्तुन यह याचका की उस मूच्छा या अकालमृत्यु की चिकित्सा  
है जो याचना के निष्फल हो जाने की आशंका में उत्पन्न डर से समझ है ।  
'मार्तन मरणसमान' होना है, कष्ट भी गया है—'मरणे यानि चिह्नानि  
सानि चिह्नानि याचके ।' तो जिस प्रकार मूच्छा दूर करने के लिए सलिल-  
प्रक्षेप किया जाता है और मूच्छा दूर हो जाती है, उसी प्रकार सकल्पसलिल  
याचकों के मन में उठी याचना निष्फ़लता की आशंका से समझ मूच्छा को  
दूर कर देता है । उन्हें विश्वास हो जाता है कि अब उनकी याचना धर्म  
न होगी । उचित तो यह है कि याचकों के दीखते हो सकल्प-जल लाने में भी  
विलम्ब न हो । मन्त्रिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर ने अतिशयोक्ति का  
निर्देश किया है ॥ ८५ ॥

अधिने न तुगवद्धनमात्र किन्तु जीवनमपि प्रतिपाद्यम् ।

एवमाह कुशवज्जलदायी द्रव्यदानविधिरुक्तिविदग्ध ॥ ८६ ॥

जीवातु—अधिने इति । कुशवतो जलस्य दायो दानम् । ददातेषन् ।  
युगागमः । स प्रतिपाद्यतया अस्मिन्निपाद्यस्तोति कुशवज्जलदायी नकुशजल-  
दानप्रतिपादक इत्यर्थः । अत एवोक्तिविदग्ध । अभिप्राय्यापारमन्तर्गतायां-  
देवार्पान्तरप्रतिपादनचतुर इत्यर्थः । द्रव्यदानविधिर्षनदानकथासमेवमाह । किमिति  
अधिने धनमात्र धनमेव । 'मात्रं तात्पर्यं' उपधारणे इत्यमरः । तृणवत्तृणमिव  
न प्रतिपाद्य देयम् । किन्तु जीवनमपि जीवितमपि तथा देयमिति । स कुश अथ  
देयमिति च गम्यते । अर्थ्यनपेक्षितकुशजलदान विदग्धो द्रव्यदानविधेरय-  
मेवानिप्राय इति भावः ॥ ८६ ॥

अन्वय —अग्निने घनमात्र तृणवत् न प्रतिपाद्य किंतु जीवनम् अग्नि—  
कुशवज्जलदायी उक्तिविदग्ध द्रव्यदानविधि। एवम् आह ।

हिन्दी—‘याचक को घन ही तिनके के समान न देना चाहिए, अपितु जीवन ( प्राण और सकल्पजल ) भी तृणसमान दे देना चाहिए’—कुश के साथ सकल्प-सलिल प्रदायिनी, श्लेषोक्ति-पाठित्य से पूर्ण घनदान की शास्त्र-पद्धति ने भी ऐसा कहा है ।

टिप्पणी—शास्त्रीय विधान है कि कुशयुक्तसलिल के साथ सकल्प करके दान करना चाहिए—‘कुशवत्सलिलोपेत दान सकल्पपूर्वकम् ।’ दातव्य वस्तु के साथ याचक के हाथ में सकल्पोदक प्रक्षेप भी किया जाता है—यही विधि है । ‘जीवन’ शब्द अनेकार्थ है—जीवन अर्थात् प्राण और जल । शास्त्र विधान के अनुसार दान करते समय तीन वस्तुएँ याचक को दी जाती हैं—( १ ) वस्तु, ( २ ) जल, ( ३ ) जल के साथ कुश-तृण । कवि के अनुसार ( नल की दृष्टि में ) यह शास्त्रविधि का संकेत है कि तृण के समान दातव्य वस्तु ही नहीं, जीवन भी दिया जाता है । ‘जीवन’ के श्लेषार्थ से यह संकेत समझ है । इसी कारण ‘शास्त्रविधि’ का ‘उक्तिविदग्ध’ विशेषण दिया गया । भाव यह है कि याचक को यदि प्राण भी अपेक्षित हो तो निःसंकोच देने में विलंब न करना चाहिए । विद्याधर के अनुसार यहाँ प्रतीयमानोत्प्रेक्षा अथवा समासोक्ति है ॥

पद्मसङ्करविर्गहितमहं न श्रिय कमलमाश्रयणाय ।

अधिपाणिकमल विमल तद्वासवेश्म विदधीत सुधीस्तु ॥ ८७ ॥

जीवातु—पद्धति । पद्मः पाप नर्दमञ्ज । ‘पद्मोऽस्त्री कर्दमैनसो’ इति वैजयन्ती । तत्सङ्करेण विर्गहित, कमल श्रिय आश्रयणाय नाहम् । तत्तस्मात्-सुधीविमल निष्पद्ममधिपाणिकमल तद्वासवेश्म लक्ष्मीनिवासस्यान, विदधीत । सवसा घन पात्रपाणिष्वेव निक्षेप्यम् । न तु भूमाविति भाव ॥ ८७ ॥

अन्वय—‘पद्मसङ्करविर्गहितम् कमल श्रियः आश्रयणाय न अहम्, तत् सुधी तद्वासवेश्म विमलम् अधिपाणिकमल विदधीत ।

हिन्दी—कीचड़ ( और पाप ) के ससग ने कारण निदित कमल लदमी के आवास योग्य नहीं है, अतः विमलबुद्धिशाली जन को उचिन्त है कि उस ( श्री ) के आवास का स्थान स्वच्छ (निष्कलक) याचक के कर्कमल को बनाये ।

टिप्पणी—लक्ष्मी संपत्ति की अधिष्ठात्री है, उसका आवास कमल माना जाता है, किंतु कवि का कथन है कि वास्तविक कमल वह नहीं है, जो कीचड़ में उगा रहता है। लक्ष्मी कीचड़ में नहीं रह सकती, उसके लिए तो स्वच्छ आवास ही अपेक्षित है और वह है योग्य दायक का करकमल, जो सकल्प-सलिल में प्रक्षालित हो स्वच्छ हो जाना है। भाव यह है कि श्री-संपत्ति पाप-यक से कष्टपित जन के पास नहीं रहती, वह रहती है निष्पाप, योग्य व्यक्ति के पास। अतः समझदार व्यक्ति को चाहिए कि वह संपत्ति का दान दायक को करे। यह भी सूचित है कि मपदा और श्रीशोभा दानी के कर-कमल में ही वास करती है, जो सकल्पसलिलप्रसेर करते-करते पवित्र और स्वच्छ हो गया है—निष्पाप। पापी, कृपा तो श्री-संपत्तिहीन हो जाता है। विद्वान्तर के अनुसार अविशेषोक्ति-रुक्त और ऐशानुशास ॥ ८७ ॥

याचमानजनमानसवृत्ते पूरणाय न जन्म न यम्य ।

तेन भूमिरतिभारवनीय न द्रुमेनं गिरिभिर्न समुद्रै ॥ ८८ ॥

टीका—याचमानेति । यम्य धनितो जन्म याचमानजनमानसवृत्तैर्य-जनमनोरथस्य पूरणाय न भवति । इति चेदे । तर्कनैव पापीयमा । इय भूमि-तिभारवनी । न द्रुमादिनिबन्धुभिरपीर्यम् । तेन्य प्रचाना बहुपकार-रामादिति भावः ॥ ८८ ॥

अन्वयः—यस्य जन्म याचमानजनमानसवृत्ते पूरणाय न, अतः तेन इय भूमि अतिभारवती, न द्रुमैः, न गिरिभिः, न समुद्रैः ।

हिन्दी—जिस ( व्यक्ति ) का जन्म याचक जनों के मानसव्यापार ( इच्छा ) की पूर्ति के लिए नहीं हुआ, उस ( व्यक्ति ) से यह धरती अन्वयत शोषित है, न वृक्षों में है, न पर्वतों से और न समुद्रों से ।

टिप्पणी—वस्तुतः याचकों की आकांक्षा जो पूर नहीं पावे, वे व्यक्ति व्यर्थ ही नहीं, इस धरती के भारी बोध हैं। प्रत्यक्षतः बोझ प्रतीत होने वाले वृक्ष, पर्वत, समुद्र भार नहीं है, क्योंकि उनसे तो पृथ्वी के प्राणियों के अनेक कार्य नपते हैं, वे तो उपोपकारी हैं। तो धरती की छाती पर पड़े एक भारवान् पाषाण के तुल्य व्यक्ति की भी लोकोपकारक होना चाहिए। वृक्ष फूल फलों से, पर्वत समुद्र शोधित रत्नों से लोकोपकार करते हैं। याचकों की

दकर मनुष्य को अपना अस्तिस्त्व सफल बनाना चाहिए । विद्याधर के अनुसार  
असवध मे सवध कथन रूप अतिशयोक्ति ॥ ८८ ॥

मा धनानि कृपण खलु जीवन् तृष्णयार्पयतु जातु परस्मै ।

तत्र नेष कुरुते मम चित्र यत्तु नार्पयति तानि मृतोऽपि ॥ ८९ ॥

जीवातु—मेति । कृपण कष्टलुब्धो, जीवन् प्राणन्, तृष्णमा अतिगघन,  
जातु कदापि, परस्मै याचमानाय धनानि, ना ( मा ) र्पयतु न प्रयच्छतु ।  
एष कृपणस्तत्र जीवनक्षणानर्पणे, मम चित्र विस्मय न कुछते । किंतु, मृतोऽपि  
तानि धनानि, नार्पयति प्रयच्छतीति यत्तत्र चित्र कुरुते विरोधात् । नार्पति  
मृतसम्बन्धीनि कुरुत इति तदाभासीकरणाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ८९ ॥

अन्वय — कृपण जीवन् तृष्णया जातु परस्मै धनानि मा अर्पयतु, <sup>॥</sup>  
मम चित्र न कुछते, यत् एषा तु मृत अपि तानि न अर्पयति ।

हिन्दी—कजूस जीवित रहते कभी अन्य को धनार्पण न करे, इस विषय  
मे मुझे विचित्र नही लगता, क्योंकि यह तो मर जाने पर भी धन दान  
नही करता ।

टिप्पणी—जो काय मनुष्य मरने पर भी, मृत्यु मय उपस्थित होने पर भी  
नही करता, वह जीते जी तो करगा ही नही । इस दृष्टि से कृपण का जीवित  
रहते धन न देना नल को विचित्र नही लगता, क्योंकि वह मर जान पर भी  
धन दान नही करता । उसका धन तो राज्याधीन हो जाता है अथवा अन्य  
जन खाते — उछाते हैं । इसने अतिरिक्त कृपण जीते जी दान न करे, इसमे  
आश्चर्य नही, क्योंकि उसका कुछ न कुछ उपयोग तो वह करता ही है, आश्चर्य  
तो यह है कि मरते मरते भी वह दान नही करता, जब कि वह धन का कोई  
उपयोग नही कर सकता । यही आश्चर्य जनक है । आश्चर्य यह भी है कि  
जिसन जीते-जी किसी को नही दिया, मर पर राजा को दे दिया । मल्लिनाथ  
के अनुसार विरोधाभास, विद्याधर यहाँ श्लेष मानते हैं ॥ ८९ ॥

माममीभिर्हरह याचिनवद्भिर्दातृजातमवमत्य जगत्याम् ।

यद्यशो मयि निवेशितमेतन्निष्कयोऽस्तु कतमस्तु तदीय ॥ ९० ॥

जीवातु—मामिति । जगत्या भुवि भुवने वा । 'जगती भुवने भूम्भान्'  
इति विश्व । दातृजातमवमत्यावधीय, मा याचिनवद्भिर्रमीभिर्देव्यद्यशो मयि

निवेष्टितं स्यादित्यम्, एतन्निष्कृत्य एतस्य यद्वनो निष्कृत्य प्रतिनिविभूतः ।  
कतमस्तु पदार्थस्तदीयोऽस्तु इन्द्रादिसम्बन्धः स्यात् । किं वितीर्यं अनृतो  
भविष्यामीत्यर्थः ॥ ९० ॥

अन्वयः—अपरा दातृवातम् अवमस्य मा दाचित्त्ववद्भिः अनीनि यत्  
यद्य नपि निवेष्टितम्, एतन्निष्कृत्य तु कतम अस्तु ?

हिन्दी—दाता के दाताओं ( कल्पवृक्षादि ) की अवमानना करने से उत्पन्न  
याचना करते इन देवों ने जो यद्य मूल में प्रतिष्ठित किया है, उसका मोल  
क्या हो ?

टिप्पणी—मसार में कल्पवृक्ष आदि महाशायी हैं जो अभीष्ट देते हैं ।  
उनके रहते जो इन्द्रादि देव नर से याचना करने आते, स्वाभाविक रूप से  
महानर की यद्य प्रतिष्ठा का कारण था, अब नर विचारने लगा कि यह  
क्या है जिससे देकर इन यद्य प्रतिष्ठा का मूल्य दिया जाय ? बहुत बड़ा है  
देवों का यह श्रृणु । विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार छेदानुवात ॥ ९० ॥

लोक एष परलोकमुपेता हा विहाय निघने घनमेकः ।

इत्यमुं खलु यदस्य निनीपत्ययिष्वन्वुदयदयचित्तः ॥ ९१ ॥

जीवानु - लोक इति । एष लोको जल , हा कह, निघने अत्यकाले  
घन विहाय, एक एकाकी, परलोकमुपेता उपेक्ष्यति । इपी लुट । इति हेतोः-  
यद्यहममुं कल्पवृक्षं यत्स्य सोऽर्थैव, अन्तरस्य लोकस्य, तदनम् अमुं परलोकं  
निनीपति नेतुमिच्छति खलु । अन्ये तु वन्वव स्वयमेव सर्वस्व गृह्णन्ति । नैव  
प्रारयन्तीत्यमेवानुवादा मृष्टास्त इति भावः ॥ ९१ ॥

अन्वयः—हा, एष लोक निघने घन विहाय एक परलोकम् उपेता,—  
इति उदयदयचित्त अपिबन्धु अन्य सत् अमुं निनीपति खलु ।

हिन्दी—हा खेद, यह मनुष्य अन्य समय में घन छोड़कर अकेला परलोक  
पहुँचेगा, इस कारण उदयचित्त याचक-वधु इन ( दाता ) के उस ( घन )  
को वहाँ ( परलोक में ) निश्चय से जाना चाहता है ।

टिप्पणी—मृत्यु होने पर सब को घन-घान-पुत्र-मयदा यहाँ छोड़कर  
जाना पड़ता है, इसलिए उचित है कि दान-पुत्रादि में व्यय कर घन-मुपति का  
सङ्कलन करे । कहा जाता है कि जो इस लोक में दिया जाता है, परलोक में

निमज्जनमुपैति खलु सुधामज्जनसुखमनुभवतीत्यर्थं । जनदेहानामनज्जत्वे तद्वदेव युष्मद्देहानामपि तथात्वे नथमेतत्सुधाकार्यकारित्वं न स्यादित्यर्थः । युष्मद्दृशनादेव तावत्कृतार्थोऽस्मीति भावः ॥ ९४ ॥

अन्वय —जन्यजनकस्यतिभेदः न अस्ति, जनदेहः अनजनितः, सत्यम्, अमृताद्याः च तन् वीक्ष्य दृक् खलु सुधामा निमज्जन उपैति ।

हिन्दी—उत्पत्ति ( कार्यं , और उत्पादक ( कारण ) में विशेष भेद नहीं है, व्यक्ति का देह अन्न से उत्पन्न है—( ये दोनों ) सत्य हैं, अमृतमयी आप ( देवो ) का शरीर देखकर दृष्टि निश्चयतः अमृत में निमग्न हो रही है ।

टिप्पणी—नल के शिष्टाचारपूर्ण वचन । अमृतभोजी देवों को देखकर नल के नेत्रों को अमृत सरोवर में मग्न होने का सुख मिला, क्योंकि 'काय-कारणयोरभेद' न्याय से जैसा भक्ष्य, वैसा ही सज्जनित देह । देव अमृतमयी हैं, अतः उनका देह भी अमृत, जैसा कि सुवर्ण निमित्त कुण्डल भी सुवर्ण ही होते हैं । विद्याधर के अनुसार अर्थातरन्यास ॥ ९४ ॥

मत्तपः क्व नु तनुः क्व फलं वा यूयमीक्षणपथं व्रजयेति ।

ईदृशान्यपि दधन्ति पुनर्न पूर्वपुरुषतपांसि जयन्ति ॥ ९५ ॥

जीवातु—मदिति । तनुः स्वल्प मत्तपः क्व ? । यूयमीक्षणपथं व्रजयेति फलं युष्मद्दर्शनरूपं महाफलं वा क्व ? वरूण्यादिति भावः । अत एव विरूप घटनारूपो विपमालङ्कारः । अथवा ईदृशानि ईदृशमहाफलाऽपि दधन्ति पुष्पन्ति । 'वा नपुंसकस्य' इति नुमागमः । पुनः शब्दो वाक्यालङ्कारः । नोऽस्माकं पूर्वपुरुषतपांसि जयन्ति तानीदानीं फलंतीत्यर्थः ॥ ९५ ॥

अन्वय —तनु मत्तपः क्व, यूयम् ईक्षणपथं व्रजय इति फलं वा क्व ? ईदृशानि अपि दधन्ति न पूर्वपुरुषतपांसि पुनः जयन्ति ।

हिन्दी—थोड़ी सी मेरी तपस्या कहाँ, और आप नेत्रों के पथ पर यात्रा करें—ऐसा ( महान् ) फल कहाँ ? ऐसा भी विधान करते हमारे पूर्वपुरुषों ने तप ही फल रहे ( प्रतीत होते ) हैं ।

टिप्पणी—नल ने देवों से कहा कि आप देवों के दर्शन तो बड़े तप के फल स्वरूप प्राप्त पुण्यों से होते हैं, मैं तो सामान्य नियमाचरण से जीवन-यापन करने वाला व्यक्ति हूँ—थोड़ी-सी तपस्या । आपके देवों के कारण

हमारे पुरस्ताओं के रूप ही प्रतिष्ठित होते हैं । मलिनाथ ने प्रथम द्वितीयचरण-  
वाक्य में विष्णुघटनाक्षय विषय अलंकार का निदेश किया है, विद्याधर के  
अनुसार विषय और अतिशयोक्ति है ॥ ९५ ॥

प्रत्यतिष्ठिपदिला खलु देवो कर्म सर्वसहनव्रतजन्म ।

मूयमप्यहह पूजनमस्या यन्निजै सूत्रय पादपयोजै ॥ ९६ ॥

जोबातु—प्रतीति । इला देवी भूदेवता, सर्वसहन त्रिआवमानसहनमेव  
अन येन सा सर्वसहेति स्थायने । सम्माजन्म यस्य तत्तज्जन्ममिदं । कियत  
इति कर्म मुहुन ( कर्तुं ) प्रत्यतिष्ठिपत् प्रतिष्ठापयामास खलु । 'तिष्ठतेरि' इति  
णौ चङ्नुपधाया इकार । यद्यम्माद्ययमपि निजै पादरेव पयोर्जरिति रूपकम् ।  
अस्या इलाया पूजन पूजा सूत्रय कुरुष्वमित्यर्थ । अहहरेयम्भुते ॥ ९६ ॥

जन्म — सर्वसहनव्रतजन्म कर्म इला देवी प्रत्यतिष्ठिपत् खलु, अहह, मय  
मूयम् अपि निजै पादपयोजै अस्या पूजन सूत्रय ।

हिन्दी—सब कुछ सहने के व्रत से उद्भूत कर्म ( मुहुन-मुष्ण ) ने धरित्री  
देवी को निश्चयत प्रतिष्ठापना दी है, अहह, कि आप ( देव ) भी अपने चरण  
रूपी कमलों से इस ( पृथ्वी देवता ) की पूजा कर रहे हैं ।

टिप्पणी—निश्चय ही यह धरती पूजनीया देवी है, क्योंकि देवता भी  
उसकी कमला ( चरण कमला ) में पूजा कर रहे हैं । देवों की प्रसन्नता ही  
बड़ी कठिनता से प्राप्त होती है, परन्तु यहाँ तो देवता पृथ्वी को पूजा कर  
रहे हैं । इससे प्रमाणित है कि धरती ने जो सब कुछ सहन की वृत्ति ले रखी  
है, उन्ही मुहुन का यह परिणाम है । नल ने शिक्षाचार प्रदर्शन पूर्वक देवों से  
उनके मृगुत्प्रेरक में पधारने का कारण पूजा । देवा का सशरीर पृथ्वी पर  
आना आश्चर्यजनक है ही । विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा रूपक ॥ ९६ ॥

जीवितावधि किमप्यधिक यन्मनीषितमिनो नरहिम्मात् ।

तेन वक्षरणमर्चतु मोक्ष्य सून वस्तु पुनरस्तु किमोदृक् ॥ ९७ ॥

जोवानु—जीवितेति । इतो नरहिम्मा मानुषसिद्धो जीवितावधि प्राणान्  
ततोऽधिक वा किमपि मनीषितमीप्सित यद्भुतु सोऽय नरहिम्मा, तेन वस्तुना,  
वक्षरणमर्चतु पूजयतु । ईदृगन्व्य वस्तु पुन किमस्तु कि स्याद्, भूत ॥ ९७ ॥

अन्वय —अधिक्षिति क्षत भूपा आसने, तीयराशि अस्ति, ते सप्त रुचः, दिवि ते ते ग्रहा न आग्रति, भास्वत तु तुलया कतम आसने ?

हिन्दी—पृथ्वीमण्डल पर सैकड़ों पृथ्वीपाल हैं, तू जलनिधि (सागर) है और वे निश्चयत कूब । जानाश मे वे वे (प्रसिद्ध चन्द्रादि) ग्रह क्या नहीं हैं किंतु सूर्य की तुलना मे वीन ठहरता है ?

टिप्पणी—पादुकारी । अथ पृथ्वीनखियो की तुलना में नल बंसा हो है, जैसा कि कूपों की तुलना में जलनिधि समुद्र अथवा चन्द्रादि ग्रहों की तुलना में सूर्य । भाव यह है कि नल से बड़ा न तो कोई धरती पर है, न आकाश में, न भूतलोक में, न स्वर्ग में । मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टात अलकार, विद्याधर के अनुसार रूपक और ग्यात ॥ १०० ॥

विश्वदृश्वनयना वयमेते त्वद्गुणाम्बुधिमगाधमवेम ।

त्वामिहैव विनिवेश्य रहस्ये निवृत्तिं न हि लभेमहि सर्वे ? ॥ १०१ ॥

जीवातु—विद्वेति । विश्व पश्यतीति विश्वदृश्वानि, सबदर्शनी । दशोप्यन्ताद् वचनिम् । तानि नयनानि येषां ते वयमवागाध गम्भीरम्, त्वं गुणा दद्यादाक्षिण्यवसित्वसत्यमघत्वादय, तानेवाम्बुधिमवेम अवगच्छाम । इणो लटो मम् । हि घट्मात्, इहास्मिन्, रहस्ये रहस्मदृत्ये, त्वामेव विनिवेश्य नियोज्य, सर्वे वयं निवृत्तिं मुख न लभेमहीति काकु । लभेमह्येव, प्रागुक्त गुणादघत्वादिति भाव ॥ १०१ ॥

अन्वय —विश्वदृश्वनयना एते वयम् अगाध त्वद्गुणाम्बुधिम् अवेम, हि इह रहस्ये त्वाम् एव विनिवेश्य सर्वे निवृत्तिं न लभेमहि ?

हिन्दी—अतिल विश्व की देखने मे समर्थ नेशों वाले ये हम (देव) तुम्हारे अगाध गुणा के समुद्र से परिचित हैं, जिससे कि इस गोपनीय बाध में तुम्ह ही नियुक्त कर हम सब क्या परमसुख नहीं पा रहे हैं ? (पा ही रहे हैं) ।

टिप्पणी—तृतीय चरण मे पाठांतर है—'त्वामिहैवमनिवेश्य' (त्वाम् + इह + एवम् + अनिवेश्य) —अर्थ होगा कि इस रहस्य मे तुम्ह नियुक्त न करके मुख भरासा नहीं पा रहे हैं । भाव यह है कि देवा का बाध इतना गोपनीय और महत्वपूर्ण है कि नलानिरिक्त व्यस्तित नहीं कर सकता । ता



जैसे ही समय नल देवकार्य न करेगा तो वह न हो सकेगा और नल पराधी होने से शाप नाभी बनेगा । 'सर्व' के प्रयोग द्वारा पूर्वलोक में ही गई सहचरवचना का गोपन । मल्लिनाथ ने 'वाकु' का उल्लेख किया है, विद्याधर ने छेकानुप्रास और रुक् का ॥ १०१ ॥

शुद्धवशाज्जनितोऽपि गुणस्य स्यान्ननामनुभवन्नपि शक्र ।

क्षिप्नुरेरनमृजुमाशु सपक्ष सायक धनुरिवाजनि वक्र ॥ १०२ ॥

जीवानु—शुद्धेति । शुद्धे अग्रणे, वशे कुले, वेणौ च । ज्जनितोऽपि । 'वशो वेणौ कुले वशे, इति विश्व । गुणस्य शौर्यादेर्भौव्यादिच । 'सत्त्वादी हपादौ शौर्यादौ तन्तुपु प्रयोगज्ञा । गुणशब्द सिञ्जियाम्' इति हठापुन । स्यान्न-तामाश्रयत्वमनुभवन्नपि शक्र ऋजुमकुटिलबुद्धिम्, अवक्रश्च । सपक्ष सुहृद सपत्र च, एन नल, सायक धनुरक्षाप इव । 'अयास्त्रियौ धनुश्चापौ—' इत्यमरसिंहामिधानात्पुंलिङ्गप्रयोग । अयवायशब्द उकारान्तीति उपादौ भ्रमशक्यादिमूर्त्रेण धनघातो सौत्रे उपन्ययविधानात् । आशु । क्षिप्नु क्षेप्ता सन्, क्षिपे वतु । 'न लोक्—' इत्यादिना पृथीप्रतिषेधाद् द्वितीयैव । वक्रो जिह्वोऽजनि । दिष्टविशेषणैयमुपमेति केचित् । प्रकृताप्रकृतस्लेप इत्यपे ॥ १०२ ॥

अन्वय — शुद्धवशाज्जनित अपि गुणस्य स्यान्ननाम् अनुभवन् अपि ऋजु सपक्षम् मायकम् इव एनम् आशु क्षिप्नु शक्र धनु इव वन अजनि ।

हिन्दी—शुद्ध कुल ( विशिष्ट कश्यप कुल ) में उत्पन्न होकर भी और विवेकादि गुणों का आश्रय होते हुए भी सीधे, पक्षयुक्त बाण के सदृश सरल शुद्ध और मित्र इष्ट ( नल ) का शीघ्र क्षेपण ( बाण छोड़ना और प्रेरण ) करने का इच्छुक इन्द्र दस बरस से बने भी, प्रत्यक्षा चढ़े धनुष के समान वक्र ( क्रूर-कुटिल और टेढ़ा ) हो गया ।

टिप्पणी—जैसे बाण त्यागने की प्रस्तुत धनुष वशोर बरस से बना होने पर टेढ़ा हो जाता है, दसों प्रकार नल की दूतकार्य में तुरत नियुक्त करने के आकाशी इन्द्र ने कुटिलापूर्वक जपों सरल मित्र नल की वचना की । मल्लिनाथ ने कहा है कि प्रस्तुत श्लोक में कुछ विद्वान् दिष्ट उपमा का विधान करते हैं और कुछ प्रकृताप्रकृत श्लेष का, विद्याधर ने अनुमार उपमा ॥ १०२ ॥

तेन तेन वचसैव मघोन स स्म वेद कपट पटुहन्त्रे ।

आचरत्तदुचितामथ वाणीमार्जवं हि कुटिलेषु न नीति ॥ १०३ ॥

जीवातु—तेनेति । उच्चै पटुरतिकुशल, नल, तेन तेन वचसैव मघोन इद्रस्य कपट वेद स्म विवेद । अथ वेदानन्तर, तदुचिता तस्य कपटस्योचिता मनुष्या वाणीमाचरत् । स्वयमपि कपटोक्तिमेवाकरोदित्यर्थः । तथा हि—कुटिलेषु, विषये, आर्जवमकौटिल्य नीतिर्न हि । ततः कुटिलेनैव भवितव्यम् । अन्यथा महान्तमनयमृच्छेदिति भावः ॥ १०३ ॥

अन्वय — उच्चै पटु स तेन तेन वचसा एव मघोन कपट वेद स्म, अथ तदुचिता वाणीम् आचरत्, हि कुटिलेषु आर्जवं नीति न ।

हिन्दी—अत्यन्त कुशल उस ( नल ) ने उन उन ( ९९ १०१ श्लोक ) वचनो से ही इन्द्र का कपट जान लिया और तदनन्तर तदुपयुक्त ( कपट योग्य ) वाणी का व्यवहार किया, कारण कि कुटिल जनो के प्रति सरलता नीति नहीं होती ।

टिप्पणी—नल तो परम कुशल था, विद्या जिसकी 'रक्षणाग्रनर्तकी' थी, सो उसने इन्द्र का सपूर्ण कपटाधार जान लिया और वैसे ही छल-वाक्यों में उत्तर देने को उद्यत हुआ । वस्तुतः उसका यह व्यवहार उचित ही था, 'शठे शाठ्य समाचरेत्' । भारवि ( किरातार्जुनीय प्रथमस्कन्ध ) ने कहा भी है—'व्रजति ते मूढधियः पराभव भवन्ति मायाविषु येन मायिनः' । विद्याधर के अनुसार अर्थान्तर-यास ॥ ४०३ ॥

सेयमुच्चतरता दुरितानामन्यजन्मनि भयैव कृतानाम् ।

युष्मदीयमपि या महिमान जेतुमिच्छति कथापथपारम् ॥ १०४ ॥

जीवातु—सेयमिति । सेयमन्यजन्मनि जन्मान्तरे, भयैव कृतानां दुरितानामुच्चतरता महता । तथा किमपराध, तदाह—या पापमहता कथापथस्य वाग्वृत्ते, पार दूरमवाच्यमित्यर्थः । युष्मदीयमपि महिमान प्रभावमाज्ञारूप जेतुमुत्तुङ्घेतुमिच्छति । पापातिरेकाद्युष्मदाशौल्लङ्घनेच्छा मे जायते इति विनयोक्तिः । सर्वथा युष्मन्प्रयोगो न क्रियत इति परमाथ ॥ १०४ ॥

अन्वय — सा इयम् अन्यजन्मनि मया एव कृतानां दुरितानाम् उच्चतरता या कथापथपार युष्मदीयम् अपि महिमान जेतुम् इच्छति ।

हिन्दी—( नल ने कहा )—यह दूसरे ( पूर्व ) जन्म में मेरे द्वारा हो किये गये पापों की अतिशयता है, जो कि कथन-भाँ के पार ( अवर्णनीय, वागमोचर ) तुम्हारे भी माहात्म्य को जीतने की इच्छा कर रही है ।

टिप्पणी—देव तो अत्यन्त प्रतिष्ठित है, उनकी आज्ञा का पालन पुत्र बनने है । यदि कोई व्यक्ति विरुद्ध कार्य करता है तो उसका वह दुर्भाग्य ही है । न० इन्द्रादि का अनीष्ट पालन करने में जो जस्यंता दिखा रहा है, वह उसके जन्मांतर के दुष्टों का परिणाम ही माना जा सकता है । न० ने कहा कि आपकी आज्ञा का पालन मुहूर्तों से ही सभव है, वह वंसा पुण्य-भाजन नहीं है । नल ने भी छत्रगिरा का आश्रय लेते हुए एक ओर तो विनयपूर्वक अपनी अजस्यंता प्रकट की दूसरी ओर यह भी स्पष्ट कर दिया कि नीमनन्दिनी को प्राप्त करने का जो आशंका अविमान है, मैं उसका खटन करने में समर्थ हूँ—‘महीदत्तववान् य स चासी मान अहङ्कारश्च त महिमान नैमीप्राप्तमहङ्कार परान्वितु मा वाञ्छति संय मनैव सामर्थ्या-विगमता ।’ अर्थात् हो कि देवगण नीमनन्दिनी की इच्छा न करें १०४ ॥

वित्त चित्तमखिलस्य न कुर्या धुर्यकार्यपरिपन्थि तु मौनम् ।

ह्रीर्गिरान्तु वरमस्तु पुनर्मा स्वाकृतेव परवागपरास्ता ॥ १०५ ॥

जोवानु—ननु कुटिलोक्तेर्वर मौनमत आह—वित्तंति । हे देवा, अखिलस्य वनस्य, चित्त वित्त विदिन्वा कृते-पर्य । तर्हि, कीदृक् चित्त तदाह-धुर्यंति । धुर्यस्य इष्टाधनसमर्थस्य, कार्यस्वोपायप्रयोगस्य, परिपन्थि विरोधि, मौन तु कुर्याम् । किंतु गिरापरिहारोक्त्या ह्रीरस्तु । वरम्, कार्यविरोधिनो मौनात्स्वभावमपि परिहारवचनमेव साध्वित्यर्थ । तर्हि मौनादेव परिहारे कि प्रतिषेधरीत्येण तत्राह—परेति । परस्य वाक् प्रार्थनोक्तिरपरास्ता अप्रति-पिद्धा सती, स्वीकृतेव पुन । अप्रतिपिद्धमनुमतमिति ग्याप्यादङ्गीकृतेव तु भास्तु ॥ १०५ ॥

अन्वयः—अखिलस्य चित्त वित्त, धुर्यकार्यपरिपन्थि मौन तु न कुर्याम्, गिरा ह्री अस्तु वरम्, अपरास्ता परवाक् स्वीकृता एव पुन मा अस्तु ।

हिन्दी—( तुम देवगण ) सबके चित्त को जानते हो, ( अतः ) श्रेष्ठ जनों के कार्य के प्रतिवृत्त मौन धारण तो नहीं करूँगा । वचनों से लज्जित

होना अच्छा, किन्तु निषेध न किये जाने के कारण ( कही ऐसा न हो कि ) दूसरी ( तुम सबका ) का वचन स्वीकृत (मान्य) समझ लिया जाय ।

टिप्पणी—देवेन्द्र ने देवों को 'विश्वदृश्यनयना' कहा था, अतएव नल ने चुप रहना इस कारण उचित न समझा कि देव सबके मनोभाव जानते हैं । दूसरे नल उनका प्रस्ताव मानना नहीं चाहता था, और मौन रहने पर यह माना जायेगा कि नल देव प्रस्ताव से सहमत है—'मौन स्वीकारलक्षणम्' । नल का क्या है कि यह अधिक उचित है कि मनुष्य कार्य न करने की बात स्पष्ट कह दे, मले ही ऐसा कहने में लज्जित होना पड़े, पर यह अत्यन्त अनुचित है कि चुप रहने से अस्वीकृति स्वीकृति मान ली जाय । विद्याधर के अनुसार काव्यालिंग अलंकार ॥ १०५ ॥

यन्मती विमान्दर्पणिकाया सम्मुखस्यमणिल खलु तत्त्वम् ।

तेऽपि किं वितरयेद्गमनां या न यस्य सदृशी वितरीनुम् ॥ १०६ ॥

जीवानु—तत्र तावत्तानुपालयते—यदिति । येषां को भतावेव विमल-दर्पणिकाया निमग्नदर्शो, अखिल तत्त्व वस्तु सम्मुखस्य प्रत्यक्ष खलु । ते सबका अपि यूयमीदृशमुक्तप्रकाराम् । 'त्यदादिपु—' इत्यादिना इष्टे कर्तृप्रत्ययम् । आज्ञा किं वितरय दत्त । कीदृश्यत आह—येति । या यस्य मे वितरीतु, दातु, सदृशी योग्या न । तस्माद्युय ममोपालभ्या इत्यर्थम् ॥ १०६ ॥

अन्वयम्—विमलदर्पणिकाया यन्मती अखिल तत्त्व सम्मुखस्य खलु ते अपि ईदृशम् आज्ञा किं वितरय, या यस्य वितरीतु सदृशी न ।

हिन्दी—स्वच्छ दर्पण जैसी जिनकी बुद्धि में संपूर्ण तत्त्व निश्चयत समुच्च स्थित रहता है, वे ( आप ) भी ऐसा आदेश क्यों दे रहे हैं, जिसका वेना ( पूर्ण करना ) जिस ( नल ) के उपयुक्त नहीं है ।

टिप्पणी—देव जब सबके मनोभाव के ज्ञाता हैं तो वे नल के भाव भी जानते ही हैं । इस स्थिति में उनके दमयन्ती-अनुराग से देव अनभिज्ञ हा, यह समझ में आने की बात नहीं है । दमयन्ती की कामना करने वाले नल से देवों का दौत्यसबको प्रस्ताव ऐसी दशा में अत्यन्त अनुचित है । विद्याधर के अनुसार रूपक ॥ १०६ ॥

यामि यामिह वरीतुमहो तद्द्रुतता तु करवाणि कथं व. ।

ईदृशा न महता वन जाना वचने मम तूष्णस्य घृणादि ॥ १०७ ॥

जीवान्—अयाष्टनिरयोग्यतामेवाह—यामीत्यादि । इहास्मिन् समर, या नैनीं करीतुम् । 'वृत्तो वा' इति दीर्घं । यानि गच्छामि । तद्भूतता तु तस्या-  
मेव विषये इत्य तु कथं वा करवाणि । अहो ईदृशा महता व तृणस्य । तृण-  
कल्पस्य, मम, वञ्चने प्रतारणे, घृणा कृपा जुगुप्सा वापि, न जाता । वनेति  
शेदे ॥ १०७ ॥

अन्वर—अहो, इह या वरीतु यामि य तद्भूतता कथं करवाणि ?  
यन, ईदृशा महता तृणस्य मम वञ्चने घृणा अपि न जाता ।

हिन्दी—जरे, मैं इस समय जिन ( दमयन्ती ) को बरने जा रहा हूँ,  
उनके लिए तुम्हारा दूतकार्य कैसे करूँ ? खेद है कि इनने मन्त्रान देवों को  
तृण-मदश तुच्छ मेरी वचना में घृणा भी नहीं उत्पन्न हुई ।

तिष्णिणी—नल ने इस कथन से देवा के इस प्रतारणकार्य का घृणास्व-  
तां बताया ही, साथ ही अपनी घृणा भी स्पष्ट कर दी । अन्वयात्तर—  
'ईदृशा महता वञ्चने तृणस्य मम घृणापि न जाता'—मे जय हुआ कि आप  
जैसे प्रतारका को धोला देने में मुझे कोई घृणा नहीं है । अथवा 'अञ्चने  
मम घृणापि न जाना, अपि जाता एव'—प्रतारकों के पूजन में मुझे क्या घृणा  
भी नहीं जाती है, आती ही है । अथवा—'ईदृशा नमहताम् ( जमहताम् )  
तृणस्यापि अञ्चने मम घृणा जाता'—ऐसे सुदृ, निम्नजातीय आपकी तृण  
जैसा के बीच भी पूजन में मुझे घृणा होनी है । आप नीचातिनीच हैं—यह  
भाव । विद्याधर के अनुसार धेनानुग्राम-विरोध रूपक का सूकर ॥ १०७ ॥

उद्भ्रमामि विरहान्मुहुरम्या मोहमेमि च मुहूतमहं य ।

वृत्त वः प्रभवितामि रहस्य रक्षितु म कथमीदृगवम्या ॥ १०८ ॥

जीवान्—उद्भ्रमामीति । किञ्च, योऽहमस्या भैम्या विरहामूहुर-  
भ्रमामि उन्मादामि मुहूर्त्तमापन्काल, मोहमुच्छ्रं च एमि प्राप्नोमि । ईदृगवस्य  
सोऽहं वो युष्माक, रहस्य रक्षितु गोप्तु, कथं प्रभवितामि प्रभवितामि न  
शङ्कामीत्यर्थः । वृत्त । ब्रुवो सोऽहं ॥ १०८ ॥

अन्वयः—य बहम् जम्हा विरहात् मुहुः उद्भ्रमामि मुहूर्त्तं च मोहम्  
एमि इहावन्थ न वृत्त, कथं व रहस्य रक्षितु प्रभविता अस्मि ?

हिन्दी—जो मैं ( नल ) इस ( दमयन्ती ) के विरह के कारण बारबार

उत्त हो जाता हूँ और क्षण-क्षण मूर्च्छित हो जाता हूँ, ऐसी दशा में वह ( मैं ) बोलो, कैसे आपके रहस्य को छिपाने में समर्थ हो सकेगा।

टिप्पणी—दमयन्ती के त्रिरु मे नल की स्वयं बुरी अवस्था है। तो जिस दमयन्ती की उसे इतनी व्याकुल आकांक्षा है, वह देवों का गुप्त दुर्ग कार्य भला कैसे कर सकता है? कोई उन्मत्त और बेसुध रहने वाला व्यक्ति किसी के गुप्त भेद को छिपा ही नहीं सकता। नल भी ऐसी अवस्था में है। देवों के कार्य सपादनाय वह सर्वथा अयोग्य है। विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग अलङ्कार ॥ १०८ ॥

या मनोरथमयी हृदि कृत्वा य. स्वस्तिम्यय कथ म तदग्र ।

भावगुप्तिमवलम्बितुमीशे दुर्जया हि विषया विदुषापि ॥ १०९ ॥

जीवातु—यामिति । योऽह मनोरथमयी सकल्परूपा, या मैत्री, हृदि कृत्वा स्वस्तिमि पाणिमि । अथ सोऽह तदग्रे तस्या भूम्या पुरः, भावगुप्ति कामविकारगोपनमवलम्बितु, कथमीशे शक्नोमि । तथा हि, विदुषा विवेकि नापि विषया शब्दादयो दुर्जया इत्यर्था तरन्यास ॥ १०९ ॥

अन्वय—अथ य मनोरथमयी या हृदि कृत्वा स्वस्तिमि, स तदग्रे कथ भावगुप्तिम् अवलम्बितुम् ईशे ? हि विषया विदुषा अपि दुर्जया ।

हिन्दा—उसके अतिरिक्त जो ( नल ) सकल्परूपा जिस ( दमयन्ती ) को हृदय में बसा कर श्वास लेता है ( जो रहा हूँ ), वह ( मैं नल ) उसके आगे किस प्रकार ( अपने ) भावों को संभालने में समर्थ हो सकेगा, कारण कि विषयों की विद्वान् भी कठिनता से जीत पाते हैं ।

टिप्पणी—दमयन्ती नल की श्वास श्वास में, रोम रोम में, मन के प्रत्येक कान में बसी थी, वही उसका जीवन प्राण थी। तो जो मन में इस प्रकार रमी थी, उससे नल रोमांच, स्वेद आदि काम विहार कैसे छिपा सकेगा ! बड़े-बड़े समर्थ विद्वज्जन भी विषय विकारों को कठिनता से जीत पाते हैं इस प्रकार नल उक्त कार्य के लिए उपयुक्त नहीं है। 'अहम्' का पूर्वश्लोक से अन्वय किया गया है। अर्थात्तरन्यास ॥ १०९ ॥

यामिकाननुपमूल च मादृक् ता निरोक्षितुमपि शक्नोते क ।

रक्षितक्षयचण्डचरित्रे पुंसि विश्वसिद्धि कुत्र कुमारो ॥ ११० ॥

जीवानु—यानिकानिति । शिष्येति चार्थः । माहन् मद्रिय, समिप  
इत्यर्थः । कं यानान् रक्षन्तीति यानिका प्रहरणका 'रक्षती'ति टक् ।  
'ताननुमृद्य जहत्वा । ता नैनी, निरोजितुमिति श्रमते । किं पुनरयानाधितुमिति  
भावः । तथैव श्रियता तत्राह—रक्षीति । रक्षिता भ्राता तेषां अनेन मदनेन  
चरित्रे कुरकनीति, पुत्रि कुमारी कन्या, कुत्र विरदमिति, न कुत्रापी-  
त्यर्थः । स्वोद्वाहप्रसङ्गः । क्व चान्तिपुरमर्द्धमिति भावः ॥ ११० ॥

अन्वयः—माहन् कः च यानिकान् अनुमृद्य ता निरोजितुम् अनि  
क्षमते रक्षितप्रवरचरित्रे पुत्रि कुमारी कुत्र विरदमिति ?

हिन्दी—और मेरे मध्य मौन व्यक्ति पहरेदारों को बिना नरति द्विजे  
(बिना मारे) वने (दनपत्नी को) देख नी सकता है ? और जहाँ रखवालों  
के जय का क्रूर क्रम करनेवाले पुत्र्य का कुमारी कहा विश्वास करती है ?

हिन्दी—दनपत्नी के जन्तुपुर की लाखों पहरेदार रखवाली करते  
हैं । कोई व्यक्ति बिना रखवाने को मारे उसे देख भी नहीं सकता । और  
जो मनुष्य ऐसा करके क्रूर प्रभावित होगा, उन्का विश्वास मौन कुमारी  
कन्या से भवती ? वह धार्मिक दो उससे दूर भाग जायेगी या बेमुन हो  
जायेगी । विवाह की बात तो दूर, सामान्य शिष्टाचार भी न निवाह सकेगी ।  
समभव है कि ऐसा क्रूर क्रम देखकर दनपत्नी का पुत्र्यमात्र से विश्वास हट  
जाय । विद्याधर के अनुनाह काव्यमिति ॥ ११० ॥

आदधोचि किञ्च दानकृतार्थं प्राप्नोति यद्यपि यत् ।

आददे ज्यमहं प्रियया तन् प्राप्नोति जनगुणेन पतेन ॥ १११ ॥

जीवानु—आदधीचीति । प्राप्नोति जीविनमेव, पत्नीना मृत्यावधिर्-  
स्तिन् कर्त्तुमिति ठट्ठा तथा । 'पतेन मृत्युं सहे माने' इति वैजयन्ती । आदधीचि  
दधीचिनारम्य अनिविवादव्ययीभावः । किञ्चेति प्रमिद्वी । दानमिदं दान्यं  
कृतार्थं निदिर्त्तं मूलम् । 'मूल्ये पुदाविशवर्ष' इत्यमरः । पदघं पदघः  
प्राप्तो जीवाच्छत्रुणोऽपि प्रियैव, पतेन मृत्युनेन, बहु क्यमादरे स्वीकरिष्यामि ।  
होनमस्य परावर्द्धन्यादिति भावः । अत्र परिवृत्तिरङ्कारः । 'उमन्पू-  
नाधिनामन्व मया विदिमयो भवेत् । साह ननाधिकमूनः परिवृत्तिरसौ  
मता ॥' इति लक्षणात् । तत्र प्राप्नोति मूनपरिवृत्तिः, होनमृत्युत्वात् ।  
प्रियया पदसौमिकपरिवृत्तिरधिकमूल्यत्वादिति भावः ॥ १११ ॥

जीवातु—बुद्धिनेति । बुद्धिनेन्द्रमुनया दमयन्त्या । 'न लोक-' इत्यादिना निष्ठायोगे पृथीप्रतिपेक्षात् कर्त्तुं नृतीया । पूर्वमेव मा वरीतुमुररीकृतमङ्गी कृतमास्ते । तथा मद्गरणमङ्गीकृत निन्देत्यर्थः । निलेति वार्तायाम् । कर्मणि स्फ । अङ्गीकारस्य कथञ्चिद्विच्छानत्वमङ्गीकृत्य, 'समानकर्तृ'केषु तुमुन्' इति तुमुप्रत्ययः । ततो मयि दृष्टे पर ग्रीहमेप्यनि । एव च सा मुमात्र स्वीकरीष्यति खलु ॥ ११४ ॥

अन्वयः—बुद्धिनेन्द्रमुनया पूर्वं किल मा वरीतुम् उररीकृतम् आस्ते, मा मयि दृष्टे पर ग्रीहम् एप्यनि युष्मान् खलु न स्वीकरीष्यति ।

हिन्दी—कूटिनपुरी के राजा की पुत्री ( दमयन्ती ) ने पहिले ही मुझे बरना स्वीकार रखा है, वह मुझे देखकर अत्यन्त लज्जा को प्राप्त होगी, तुम्हें निश्चयपूर्वक न स्वीकारेगी ।

टिप्पणी—नञ् ने अपने सम्भावित कृत कर्म की व्यर्थता का भी मके कर दिया । जत्र वह दमयन्ती पहिले से हा नल को बरना निश्चित कर चुकी है तो फिर अन्य को बरने का प्रश्न ही नहीं है, अतः वहाँ दूत बनकर जाना व्यर्थ है । विद्याधर के अनुसार काव्याग्नि जलकार । मामान्यत 'ग्रीह' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता, लज्जापूर्वक 'ग्रीहा' का प्रयोग दीक्षता है । वामनाचार्य के अनुसार यन् प्रत्ययात् पुंलिङ्ग 'ग्रीह' भी निष्पन्न होता है । वालिदास ने 'ग्रीहमावहति' ( रघुवच ) तथा माघ ने भी 'ग्रीहा दिवाभ्यागतं' ( शिशुपालवध ) में ऐसा प्रयोग किया है ॥ ११४ ॥

तत्प्रमोदत विधत्त न खेद दूत्यमत्यमदृष्ट हि ममेदम् ।

हास्यतैव मुग्धा न तु साध्य तद्विधितुमिन्नोपयिकेन ॥ ११५ ॥

जीवातु—तदिति । तत्प्रमोदत, प्रसीदत प्रसन्ना स्य, खेद वदेत्, न विधत्त न श्रुत । ममेद दूत्यमत्यसदृशमत्यन्तायोग्य हि । कुत ? अनोपयिकेन, अनुपायेन, उपाय विनेत्यर्थः । 'उपायादधस्वत्वञ्च' इति स्वार्थे ङक् ह्रस्वत्व च । तद् दूत्य विधितुमिन्नोपयिकेनैव मुग्धा, साध्य प्रयोजनन्तु न सुलभम् । अनुचितवर्माभोजनार्थाय भवेन्न फलयेत्यर्थः ॥ ११५ ॥

अन्वयः—तत् प्रसीदत, खेद न विधत्त । मम इदं दूत्यम् अत्यन्तयोग्यम्, हि अनोपयिकेन तत् विधितुमिन्नोपयिकेन एव मुग्धा, साध्य तु न ।



हिन्दी—अतः ( हे देवान ) आप प्रसन्न हों, क्षिप्त न हों । मेरा यह दूतकर्म अत्यन्त अनुचित है, क्योंकि जो उपाय नहीं है, उस ( अनुचित माधन ) से उन ( दूतकर्म ) को करने के इच्छुओं को उपहाम ही सरलता से प्राप्य है, माध्य ( उद्देश्य ) तो मुलभ नहीं है ।

टिप्पणी—उद्देश्य प्राप्ति के लिए ठीक उपाय ही करना चाहिए, तभी सिद्धि मिलती है । यदि माधन उपयुक्त न हो तो श्रद्धा प्राप्त न होगी, प्रयत्न हेतु ही होगी, अतः नल को दूत बनाने से उद्देश्य सिद्ध न होगा । अनुचित कर्म का आरम्भ अनर्थजनक ही होता है, मुक्त नही होता । विद्याधर के अनुसार हेतु बलवार ॥ ११५ ॥

ईदृगानि गदितानि तदानीमाकलय्य स नटस्य बलारि ।

शसति स्म किमपि स्मयमानः स्वानुगाननविलोकनलोल ॥ ११६ ॥

जीवानु—ईदृशीति । न बलारि इन्द्र, तदानी नटस्येष्ट्यानि गदितानि वाक्यानि, आकलय्य आकर्ष्य । स्मयमानो मन्द हसन् । स्वानुगाना यमादीनाम्, आननविलोकने ढोलो गोलुपस्सन् । स्ववाक्यानुमोदनार्थमिति भावः । किमपि किञ्चिद्वाक्य शसति स्म शसति ॥ ११६ ॥

अन्वय—म बलारि तदानी नटस्य ईदृगानि गदितानि आकलय्य स्मयमानः स्वानुगाननविलोकनलोल किम् अपि शसति स्म ।

हिन्दी—वह बल का शत्रु ( इन्द्र ) उस समय नट के ऐसे वचन सुनकर मन्द मन्द हँसता हुआ अपने अनुगामियों ( यमादि ) के मुखों को चंचलता से निहारता हुआ कुछ वाक्य कहने लगा ।

टिप्पणी—नल ने कहा था कि वह प्राणाधिक वस्तु देखर भी देव-याचकों की अर्चना करेगा ( श्लोक ८०-९७ ), अब उक्त नल-वचन उसके विरुद्ध जा रहा है । वचन श्रवण में आनाकानी करने के कारण इन्द्र उसका उपद्रव करने के लिए अनुमोदनार्थ यमादि की ओर देखना हुआ आगे दिख गये वचन कहने लगा । विद्याधर के अनुसार उक्तस्य बलवार अनुप्रास ॥ ११६ ॥

नाभ्ययायि नृने । भवतेद रोहिणोरमणवशमयेन ।

लज्जते न रसना सत्र वाक्यादपि स्वयमुरीकृतकाम्या ॥ ११७ ॥

जीवातु—नेति । हे नृपते ? भवता इदम् । सेयमुच्चतरेत्यादि प्रतिषेध-  
वाक्यम् । रोहिणीरमणवधमवेन सोमवश्येनेव नाभ्यधायि । किं त्वमोमवश्ये-  
नेवाभिहितमित्यर्थः । प्रतिव्युत्परित्यागादिति भावः । कुत, अद्यपि विषये  
स्वयमुरीकृतकाम्या अङ्गीकृतमनोरूपपूरणा तव रसना, वाक्यात् प्रातिकूल्याप्र-  
रुज्जते । ततो न सोमवश्य इव प्रतिमासीत्यर्थः ॥ ११७ ॥

अन्वयः—नृपते, रोहिणीरमणवधमवेन भवता इदं न अभ्यधायि ?  
अद्यपि स्वयम् उररीकृतकाम्या तव रसना वाक्यात् न रुज्जते ?

हिन्दी—हे नरेन्द्र ( नल ), रोहिणी मे रमनेवाले ( चन्द्र ) के वत मे  
उत्पन्न आपके द्वारा क्या यह ( श्लोक सं० १०४-११४ ) नहीं कहा गया ?  
अपने आप पाषको का अभिलषित देना स्वीकारने वाली तुम्हारी जीम  
( अब ) प्रतिकूल कहने से लज्जित नहीं होती ?

टिप्पणी—इन्द्र ने नल के पूर्व वचनों ( ९७, १०४-११४ ) का उल्लेख  
करते हुए नल का उपहास किया और भर्त्सना की कि तब तो इतना बड़-  
बड़ कर बोलते थे, अब कथन को क्रिया में परिणत करने से क्यों पीछे हट  
रहे हो ? तुम रोहिणी अर्थात् भी के रमण अर्थात् बेल के वधन अर्थात्  
बेल—एक पशु हो । जैसा बेल भूख पशु होता है, वैसे ही तुम हो । जैसा  
बेल लाये घाम-तिनको को वमन कर देने में कोई राजा प्राप्त नहीं करता,  
वैसे ही तुम भी 'वाक्य' ( प्रतिकूल कथन अथवा वमन—'वमिरेव वाक्य'  
समात् वाक्यात्—) में लज्जित नहीं होते । तुम सोमवशी नहीं,  
बलीवन्वशः हो । विद्याधर के अनुसार उपमा और हेतु, अलङ्कार ॥ ११७ ॥

भङ्गुर च वितथ न कथं वा जीवलोकमवलोक्यमोमम् ।

येन धर्मयशसी परिहातुं धीरहो चलति धीरः । तत्रापि ॥ ११८ ॥

जीवातु—भङ्गुरमिति । हे धीर विद्वन् ! इयं जीवलोकं प्राणिजातम् ।  
भङ्गुर विनश्वर, 'भञ्जभासमिदो धुरन्' । वितथ दुःखमयत्वादिफलञ्च ।  
कथं वा नावलोकयसि न पश्यसि, न जानासीत्यर्थः । येनाशानेन तत्रापि  
धीर्मयशसी । अभङ्गुरावितथे अपीति भावः । परिहातुं चलति । अहो अस्थिर-  
विषयलोभ्यात् स्थिरसुकृतपरित्यागो भवाद्यामनुचित इत्यर्थः ॥ ११८ ॥

अन्वयः—अहो, धीर, इयं जीवलोकं भङ्गुर वितथ च कथं वा न  
अवलोकयसि येन तव अपि धीः धर्मयशसी परिहातुं चलति ?

हिन्दी—आश्चर्य है कि हे घोर ( विश्वाम् नल ), इस प्राणिजात को विनाशशून्य ( नश्वर ) और बलीक ( मृदा ) क्यों नहीं समझते, जिनके कारण तुम्हारी भी बुद्धि धर्म और यश को त्याग देने को चल रही है ?

टिप्पणी—इन्द्र ने समझाने की दृष्टि में नल की बताया कि यह जीवन क्षणमग्नुर और सूटा है, घोर, समझदार व्यक्ति इस क्षुद्र जीवन को रक्षा अथवा सामान्य सुख के लिए धर्माचरण नहीं छोड़ने और यशप्रणित नहीं होने देने । आश्चर्य तो यही है कि सुविचारी होकर भी नल एक नारी के लिए धर्म-यश छोड़ने को तैयार है यह उचित नहीं है । विषाद के अनुसार देवानुप्रास और हेतु ॥ ११८ ॥

क कुलेऽजनि जगन्मुकुटे व प्रार्थकेप्सितमपूरि न येन ।

इन्दुराणिजनिष्ट कल्ङ्को कष्टमत्र भवानपि मा नूत् ॥ ११९ ॥

जो, नू—क इति । जगन्मुकुटे जाद्वर्षणे व कुले प्रार्थकेप्सितमपूरि-मनोरथ येन नापूरि न पूरितम् । कोऽजनि जात, न कोऽपीत्यर्थ । 'दोष-जन—' इत्यादिना कतरि लुङि विद् । आदिर्मुप्याक कृतस्य इन्दु कल्ङ्को अजनिष्ट जात । कष्ट । अत्र लोके भवानपि सकलङ्को मा नूत् । अपकीर्ति मा कुरावेत्यर्थ ॥ ११९ ॥

अन्वय—जगन्मुकुटे व कुले का अजनि येन अर्पितेप्सित न अपूरि ? कष्टम् आदि इन्दु कल्ङ्को अजनिष्ट अत्र भवान् अपि मा नूत् ।

हिन्दी—जगत के मुकुट (सत्तार के सिरमोर) तुम्हारे कुल में कौन ऐसा उत्पन्न हुआ, जिसने माँगने वालों का अभीष्ट पूर्ण नहीं किया ? (अर्थात् कोई नहीं) । खेद की बात है कि ( तुम्हारा ) आदि ( पुरुष ) चन्द्र कर्णों जन्मा, इस लोक में तुम भी ऐसे न हो जाओ ।

टिप्पणी—नल के यशस्वी दश और पूर्वपुरुषों का स्मरण कराने हुए इन्द्र ने नल की नी दृष्टि के समान प्रायिजनों का अनिलपित देने वाला बने रहने की सलाह दी । उनके पूर्वपुरुष ऐसे ही थे । उपहान करते हुए इन्द्र ने चन्द्रवश के मूल चन्द्र के कल्कित्व का स्मरण कराया और ध्या किया कि नल धैर्य न बने । वही कारण था तो कार्य में नहीं आ रहा है ? नल ऐसा व्यवहार न करे, जिससे कुछ कलनि हो ॥ ११९ ॥

यापदृष्टिरपि या मुखमुद्रा याचमानमनु या च न तुष्टि ।

त्वादृशस्य सकल स कलङ्क शीतभासि शशक परमङ्क ॥ १२० ॥

जीवातु—अथ विचार्यमाणे त्वमेव कलङ्की न शशाङ्क इत्याह—येति ।  
त्वादृशस्य याचमानमनु अयिन प्रति, याप्यपदृष्टिविदूतदशन, या च मुखमुद्रा  
मीन, या न तुष्टिरसन्नोपग्र, स सन्नो विकार कलङ्क । शीतभासि चन्द्रे,  
शशक पर केवलमङ्कभीवत्सादिवत् चिह्न, न कलङ्क इत्यर्थ ॥ १२० ॥

अन्वय—याचमानम् अनु या अपदृष्टि या च मुखमुद्रा, या च न  
तुष्टि ॥ सकल त्वादृशस्य कलङ्क, शीतभासि शशक परम् अङ्क ।

हिन्दी—याचक को लक्षकरके जो अनादर की दृष्टि और जो मुख की  
मुद्रा ( मुंह-विगाडना अथवा मीन ) और जो असतोप है—वह सब तुम्हारे  
जैसे ( घोर ) व्यक्ति के लिए कलक है, शीतप्रभ ( चन्द्र ) में तो सारहा  
केवल एक चिह्न है ।

टिप्पणी—और समझाता है वह कहने लगा कि नल के आदि पुरुष चन्द्र  
का कलक वस्तुतः निदास्पद कलक नहीं है, वह तो शश का एक चिह्न ही  
है, परन्तु याचको के प्रति अनादर, मीन मुखमुद्रा, असतोप प्रदर्शन—  
यह नल जैसे व्यक्तियों के एकाधिक कलक हैं । विद्याधर के अनुसार  
अनुप्रास व्यतिरेक समुच्चय का सङ्कर ॥ १२० ॥

नाक्षराणि पठता किमपाठि प्रस्मृत किमथ वा पठितोऽपि ।

इत्थमर्थिजनमशयदोलाखेलन खलु चकार नकार ॥ १२१ ॥

जीवातु—विचेदमर्थिषु ते नास्ति वाद इत्याह—नेति । अक्षराणि  
पठता मीने मातृकाक्षराभ्यस्यता भवता, नकारो निषेधवाची नशब्दो  
नापाठि किम् । अथवा, पठितोऽपि प्रस्मृतो विस्मृत इत्यमर्थिजनस्य शय  
एव दोला तथा सेवन प्रीदाम् । नकारस्त्वनार । अत्राभिनामीदृक्संज्ञा-  
सम्बन्धेऽपि सत्तमन्मन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः । ॥ चोक्तसंज्ञायास्थापित इति  
सङ्कर ॥ १२१ ॥

अन्वय—अक्षराणि पठता न अपाठि किम् अथवा पठित अपि विस्मृत  
किम्, इत्थं मनु नकार अर्थिजनसंशयदोलाखेदन चकार ?

हिन्दी—( हे नल, तूने शंख मे ) वर्णनाला संखते हुए वना 'न'  
बग़र नहीं पटा बघवा क्यों पट कर नी भूला दिया कि निश्चयत इस प्रकार  
'नकार' ने याचकबृन्द ने संदेह रूप झूले में खेल किया ( भूला झूला ) ।

टिप्पणी—नाब यह है कि नल ने अब तक किसी याचक को देने में  
'न' नहीं कहा था, सो वे समझते थे कि बचपन में वर्णमाला सीखते नल  
ने या तो 'न' वर्ण सीखा ही नहीं या फिर सीखा तो भूला दिया । यही  
याचकों का संघ भूले की वं दो कौटियाँ-छोर दीं, जिनमें 'न' भूला करता  
था । याचक यह निश्चय ही न कर पाते थे कि इन दोनों स्थितियों में कौन-  
सी स्थिति वास्तविक है, नल ने 'न' नहीं सीखा या सीख कर भूला दिया ?  
आशय यह कि जब नल ने अपनी तक किसी की याचना को अस्वीकारा नहीं,  
तो अब वंचा क्यों करना चाहता है ? मन्त्रिनाथ ने असबब में सबब-कथन  
होने के कारण अतिशयोक्ति का निर्देश किया है, विद्याधर ने संदेह धीरे रूपक  
अलंकार का ॥ १२१ ॥

अन्नवीक्षितमन्नं क नर्तद लब्धमुज्जसि यत्त शशिकल्पम् ।

कल्पवृक्षपतिमयिनमेनं नाप कोऽपि शतमन्युमिहान्य ॥ १२२ ॥

जीवातु—अन्नवीक्षित । जयानलोऽग्निस्त नलमन्नवीत् । हे नल ! इदं  
वक्ष्यमाण, लब्ध हस्तप्राप्त शशिकल्प चन्द्रप्रतिम, यत्त, क्वोऽप्यसि कुत्र  
त्यजसि । किं तद्यत्तदाह इह लोके, अन्यस्त्वद्व्यतिरिक्त, कोऽपि कल्पवृक्ष-  
पतिमनन्यायिनमित्यर्थ । एन शतमन्युमिन्द्र, अयिन नाप । तदेतद्वन्तगत-  
मिन्द्रवाक्यत्वमर्थो वृथा भा विनाशयेत्यर्थ ॥ १२२ ॥

अन्वय—जनल तम् अन्नवीत्—नल ! इदं लब्ध शशिकल्प यत्त क्व  
उज्जसि, इह अय क अपि एन कल्पवृक्षपति शतमन्युम् अयिन न नाप ?

हिन्दी—अग्नि उस ( नल ) से बोला—नल, दस सप्राप्त चन्द्र सम  
( उज्ज्वल ) यत्त को किस कारण त्याग रहे हो, इस लोक में अब किसी  
ने इस कल्पवृक्ष के स्वामी शतकु ( इन्द्र ) को याचक ( रूप में )  
नहीं पाया ?

टिप्पणी—अग्नि ने नल को सलाह दी कि उसे ऐसा अवसर मिल रहा  
है, जो अद्यावधि किसी को नहीं मिला । जिसने सो यत्न करने का पुण्य

करके इन्द्रत्व पाया है, जो सब अभीष्ट फल के दाता कल्पवृक्ष का स्वामी है—  
अर्थात् सबकी इच्छा पूर्ण कर सकना है, वह इन्द्र आज नल के सम्मुख याचक  
रूप में खड़ा है। ऐसे याचक को अभीष्ट देने से जा उज्ज्वल कीर्ति प्राप्त होगी,  
उसे छोटना किसी प्रकार उचित नहीं है, अतः नल को इन्द्र का—देवों का  
दूत कार्य करना ही उचितमुक्त है। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-उपमा-  
काव्यलिङ्ग धलकार है ॥ १२० ॥

न व्यहृम्य न कदापि मुदय स्वमदामुपनयन्नभिलाष ।

तत्पदे त्वदभियेककृता नः ॥ त्यजत्वसमतामदमद्य ॥ १२१ ॥

जाँवातु—नेति । स्वमद स्वर्वासिनः । 'सत्सृष्टिप—' इत्यादिना किम् ।  
तेषां न सम्बन्धी योऽभिलाषो मनोरथो मुदमुपनयन् स्वसिद्धया सन्तोषमा-  
वहन्, कदापि न व्यहृम्यत न विहतः । अद्य, तत्पदे तदव्यवसिते, तत्सम्प्रादका-  
धिकार इत्यर्थः । 'पद व्यवसितप्राणस्थानलदमाघ्रिवस्तुषु' इत्यमरः । त्वद-  
भियेककृता त्वा स्थापयता, न सम्बन्धी सोऽभिलाषः । असमता असाधारण्य,  
स्वसिद्धावनग्यापेक्षत्वमिति यावत् । तमद त्यजतु । अद्य प्रभृति स्वार्थसाधने  
स्वयमेव समर्था मुरा इत्यट्टकार मुञ्चाम इत्यर्थः ॥ १२१ ॥

अन्वय —न स्वसदा य अभिलाष मुदम् 'उपनयन् कदापि न व्यहृम्यत  
अद्य तत्पदे त्वदभियेककृता नः आमतमद त्यजतु ।

टिप्पणी—हम स्वर्ग के कामियों का जो अभिलाष ( अभीष्ट ) मोद को  
धारण करता कदापि 'हृत्' ( अतृप्त ) नहीं हुआ, आज उस ( अभिलाष )  
के म्यान में तुम्हारा अनिदर करने ( हम देवों का ) वह ( अभिलाष )  
अपने अनुपम होने का अभिमान त्याग दे ।

टिप्पणी —देवों के अभिलाष को अहंकार था कि उनके समान कोई  
नहीं है, क्या कि वह अर्थ किसी के द्वारा नहीं, स्वयमर्थ से ही पूर्ण हो  
जाता था । देवों का अभिलाष तो स्वयं ही पूरा होता है । आज उस  
अभिलाष को पूर्ण करने की याचना देव नल से कर रहे हैं । इस प्रकार  
नल के द्वारा पूर्णता का आकांक्षी अभिलाष आज अनुपम नहीं रह गया,  
उसका अहंकार समाप्त हो रहा है । भाव यह कि सर्वसामर्थ्यशील देवों की  
इच्छा पूर्ण करने में आज नल ही समर्थ है । उसे यह गौरव लेना ही

चाहिए । देवों का अनिनाम सनाम हो गया । विद्याधर के अनुसार व्यक्ति-  
क और वाक्यलि ॥ १२३ ॥

अब्रवाद्य यमममहृष्ट वीरसेनकुन्दीप । तमस्त्वान् ।

यत्किमप्यभिवुभूयति तन्कि चन्द्रवशवसते. सदृशं ते ॥ १२४ ॥

जीवातु—अब्रवीदिति । यम यम अहृष्टममहृष्ट, त नल्मब्रवीत् । हे  
वीरसेनकुन्दीप ! किमपि यत्तमो मोहोऽब्रकारञ्च त्वामभिवुभूयति अनिमवितु-  
मिच्छति । तच्चन्द्रवशे वसति स्थितिर्यस्य तस्य ते सदृशं किम् । न हि चान्द्रस्य  
सेव्यस्तमसांमिवो युक्त इत्यर्थः ॥ १२४ ॥

अन्वय—यम यम अहृष्ट तम् अब्रवीत्—वीरसेनकुन्दीप ! यत् किम्  
अपि तम त्वाम् अभिवुभूयति सत् कि चन्द्रवशवसते ते सदृशम् ?

हिन्दी—तदनन्तर ( अग्नि कथन के पश्चात् ) यम दुखी नल से बोला—  
हे वीरसेन के कुन्दीपक, जो कुछ भी तम ( दमयन्ती का मोह रूप जघकार )  
तुम्हें पराजित करने को इच्छुक है, वह क्या चन्द्रकुल से सम्बद्ध तुम्हारे  
अनुकूल है ?

टिप्पणी—दमयन्ती को प्राणों के तुल्य समझने वाला नल इस प्रसंग  
से दुखी था, किन्तु यम तो दुनियाँ को और दुख देने में विख्यात ही है,  
उमने दुखी नल को और दुख देने हुए कहा कि नल को जो यह दमयन्ती  
का मोह मठा है, उसे जाबूट कर रहा है, यह उचित नहीं है । वह है  
मगधवी राजा वीरसेन के कुल का दीपक और चन्द्र से उसके कुल का संबंध  
है । दीपक भी जघकार का नायक है और चन्द्र भी । फिर क्या यह  
अनुचित नहीं है कि वह जघकार ( मोह ) से ग्रस्त हो रहा है ? दीपक  
और चन्द्र जब तमोनिजयी है तब नल को भी तमोययी रहना चाहिए ।  
चारित्रवर्धन की तिन्त्रन्यास्या और दिनराज की सुनावदीन टीका के  
अनुसार इस श्लोक में मोह में पड़े नल का यम द्वारा उपहास है । तम  
अर्थात् राहु जो नल के अनिमव का इच्छुक हो रहा है, वह क्या चन्द्रवश-  
वसति नल के अनुकूल है—‘तम राहुस्त्वा यदभिवुभूयति तच्चन्द्रवशवसतेस्ते  
कि युक्त सदृशम् ? कि प्रश्ने । राहुना चन्द्रस्यानिमवन सदृशमेवेत्युपहासः ।’  
विद्याधर के अनुसार यही स्पष्ट है ॥ १२४ ॥

रोहण किमपि य कठिनाना कामधेनुरपि या पशुरेव ।

नैनयोरपि वृथा भवदर्थो हा विधित्सुरसि वत्स । किमेतत् ॥ १२५ ॥

जीवातु—रोहण इति । यो रोहणो मणीनामाकरोऽद्रि, सोऽपि कठिनाना मध्ये किमपि कठिन । या कामधेनु सापि पशुरेव । एनयो पशुपापाणयोरपि सम्बन्धी । 'द्वितीयाटोस्वेन' इतीदंशब्दस्य एतच्छब्दस्य वा अन्वादेशविषये इनादेश । अर्थो वृथा विफली नामवत् । हे वत्स, किमेतद्विधित्सुविधातु-मिच्छुरसि । हेति विधादे । हा कष्ट पशुपापाणाम्यामपि तुच्छवृत्तिरसीत्यर्थः ॥

अन्वय—य कठिनाना किमपि रोहण, या कामधेनु अपि पशु एव, एनयो अपि अर्थो वृथा न भववत्, हा वत्स, एतत् किम् विधित्सु असि ?

हिन्दी—जो निष्ठुर कठारो मे भी कठोर गिना जाता है, वह सुमेरु पर्वत है, जो कामधेनु है, वह भी पशु ही है, इनके याचक भी अकृतकाम नहीं रहे, हाय बेटे, ( तुम ) यह क्या करने जा रहे हो ?

टिप्पणी—ससार में जो कठोर-से भी-कठार पर्वत सुमेरु है, वह भी याचको की इच्छा पूर्ण करता है, आ मुरगी कामधेनु है, वह एक पशु है, फिर भी याचका को अभीष्ट देती है । पत्थर और पशु होकर भी सुमेरु और कामधेनु तो याचका की इच्छा पूर्ण कर देते हैं, मनुष्य होकर भी नल याचक देवा को निराश कर रहा है । यह परम दुःख की बात है । नल तो कठोर भी नहीं है, मृदुचित्त विरुपाक्ष है, वह पशु नहीं, बुद्धिमान् पुरुष है । उसका यह व्यवहार अत्यन्त रोद जनक और निन्दनीय गिना जायेगा । नल तो पत्थर और पशु से भी निम्न प्रमाणित हो रहा है । वह कदाचित् अभी समझ नहीं पा रहा है, बच्चा है न—'वत्स' । विधाघर के अनुसार विरोध अलंकार ॥ १२५ ॥

याचितश्चिरयति क्व नु धीरः प्राणने क्षणमपि प्रतिभू कः ।

शर्सात द्विनयनी दुर्दानिद्रा द्वाह्निमेपमिषपूर्णंनपूर्णा ॥ १२६ ॥

जीवातु—याचित इति । क्व नु कुत्र, धीर सुधीर्याचित सन् चिरयति विलम्बते । न कुत्रापि विलम्बत इत्यर्थः । कुत्र, क्षणमपि प्राणने जीवने, प्रतिभूल्लभकः क्व, न कोऽपीत्यर्थः । द्वाह्निमेपमिषेण शीघ्रपदमपातध्याजेन, पूरणेन कतीनिकाभ्रमणेन पूर्णा द्विनयनी नयनद्वन्द्वमेव, दुर्दानिद्रा मरण क्षति । नयनपूर्णनवत्वक्षणिक जीवनमित्यर्थः ॥ १२६ ॥



अन्वय—याचित धीर कब नृ चिरयति ? क्षाम् अपि प्राप्ते प्रत्यू-  
व ? द्राघनिमेषमिषपूर्णपूर्णा द्विनयनी दृष्टिना शसति ।

हिन्दी—याचित धीर ( विद्वान् पुण्य ) कहीं विलम्ब करता है ? क्षा-  
मर भी साँस लेने में कौन मध्यस्थ ( जागिर ) होता है ? छटपट कण-  
झराने के मिम ठट्टा से पूर्ण दोनों नेत्र मृत्यु का कथन करते हैं ।

टिप्पणी—जो समझदार व्यक्ति है, वे दान श्रायना होन पर देने में  
थोड़ी-सी भी देर नहीं लगाया करते, क्योंकि जीवन का उत्तरदायित्व लेने  
में कोई समय नहीं होता । ये साँसें आती जाती कब रुक जायें, कौन कह  
सकता है, कौन इनके आने-जाने का उत्तरदायित्व ले सकता है ? कोई नहीं ।  
ये जो निरन्तर पलक क्षपा करते हैं, उनके माध्यम से जैसे ये दोनों आँखें  
निरन्तर मृत्यु की सूचना देती रहती हैं । निमिष निमिष मृत्यु मूँह फाटे  
चली आ रही है, घुन कार्य में विलम्ब अच्छा नहीं । जीवन पल भर का  
है—क्षामपुर । विनाश के अनुसार हेतु और अपह्नुति अलंकार ॥१२६॥

अभ्रपुष्पमपि दिशति शीत मायिना विमुक्ता यदभाजि ।

श्लोककस्य क्षत्र चक्षुःपुटेन ग्लानिरुन्मतिरुन्मतिरुन्मतिरुन्मति ॥ २७ ॥

जीवातु—अभ्रपुष्पमिति । शीत शीतलमभ्रपुष्पमुदकम् । 'मेषपुष्प धनरम्'  
इत्यमर । तद् धनपुष्प, तद्दुर्द्धमं वस्तिवति च गम्यते । दिशति दानुमिच्छ-  
त्यपि । न तु परिजिहीर्षतीत्यर्थः, धनसङ्घे मेषवृन्दे, अयिना माषकेन, श्लोक-  
कस्य चातकस्य । 'अय सारङ्ग श्लोककश्चातकः समौ' इत्यमर चक्षुःपुटेन सा  
प्रसिद्धा विमुक्ता । पक्षिमुत्तरं पराङ्मुखत्वञ्च । अनामीति यत् । तत्त-  
स्मादुन्मत्तमजनात् । ग्लानिर्जलमरमन्वरात्वं वैवर्ण्यं चोन्मतिरुन्मतिरुन्मतिरुन्मति ।  
अत्रायिन एव वैवर्ण्यं दातुरित्य ग्लानि किमुत दातृवैवर्ण्ये । तस्मात्तादात्म्य-  
सवेदमपि वैवर्ण्यमनुचितमिति भावः ॥ १२७ ॥

अन्वय—शीतम् अभ्रपुष्पम् दिशते अपि धनमङ्घ्रे अयिना श्लोककस्य  
चक्षुःपुटेन यत् सा विमुक्ता अभाजि तत् ग्लानिः उन्मतिरुन्मतिरुन्मतिरुन्मति ।

हिन्दी—छात्र देवे को इच्छा भी बादलों में यावच्छ चातक के  
चक्षुःपुटे ने आ पाङ्मुखता का आश्रय लिया, उसकी ही मन्त्रिणा प्रसूति  
होता है ।

टिप्पणी—याचक ने मेघो से जल की याचना की, मेघ जल देना तो चाहते थे किंतु उसमें कुछ विलम्ब हुआ, उससे चातक कुछ पराङ्मुख हुआ। इसी कारण मेघवृन्द अयश का भागी हो गया। ऐसा लगता है कि वही अयश मेघवृन्द में श्यामलता के रूप में प्रकट है। ऐसी ही दशा उस दाता की होती है, जो आकाश पुष्प जैसी दुर्लभ वस्तु को देने की इच्छा तो करता है, किन्तु उसमें विलम्ब कर देता है। जब 'स्तोकक' अर्थात् अतिनिकृष्ट याचक को विलम्ब से दान में भी अकीर्ति और तिन्दा प्राप्त होती है तो इन्द्रादि जैसे महान् याचको को अभीष्ट देने में विलम्ब करने से तो और भी अयश मिलेगा। पत्नी को भी विलम्ब से देने का कारण बादलों की अयश और ग्लानि का भाजन होना पड़ता है तो इन्द्रादि को न देन से नल को कितनी ग्लानि का भाजन होना पड़ेगा, यह अकल्पनीय है, अन दान अविलम्ब ही उचित है। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा और इल्लेष ॥ १२७ ॥

ऊचिवानुचितमक्षरमेन पाशपाणिरपि पाणिमुदस्य ।

कीर्तिरेव भवता प्रियदारा दाननीरक्षरमौक्तिकहारा ॥ १२८ ॥

जीवातु—ऊचिवानिति । पाशपाणिर्वरुणोऽपि, पाणिमुदस्य, उद्यम्य, एन मलम् उचित युक्तम्, अक्षर वाक्यम्, ऊचिवान् उक्तवान् । यदुक्तं तदाह—कीतिरिति । दाननीराणां क्षर दानजलप्रवाहः, स एव मौक्तिकहारा यस्मास्तथोक्तः कीतिरेव भवता युष्माकं प्रियदाराः प्रियकलत्रम् । 'पु भूमिं दात्रा' इत्यमरः । एतेन भार्याया अपि कीर्ति प्रियतमेति भावः । अतो दमयंतीलोभान् कीर्तिं जहीत्यर्थः । अत्र रूपशालङ्कारः ॥ १२८ ॥

अन्वय—पाशपाणि अपि पाणिम् उदस्य एनम् उचितम् अक्षरम् ऊचिवान्—दाननीरक्षरमौक्तिकहारा कीर्ति एव भवता प्रियदारा ।

हिन्दी—हाथ में पाशधारण करनेवाला (वरुण) भी (अपना) हाथ उठाकर इस (नल) से उपयुक्त शब्द बोला—दान के जल प्रवाहवाला मौक्तिकों की माला धारण करने वाली कीर्ति ही आपकी अभीष्ट पत्नी है (दमयंती नहीं) ।

टिप्पणी—अग्नि और यम के वचनों का समर्थन करते हुए याचक की भाँति हाथ फेंकाकर वरुणदेव ने भी नल को यही समझि दी कि कीर्ति और

दमयन्ती के मध्य उसे कीर्ति का ही ध्यान अधिक रखना चाहिए, मुक्तामाल-  
धारिणी दमयन्ती वस्तुतः उसकी प्रिया नहीं है, उसकी जमीष्ट प्रिया तो  
कीर्ति हो है, जो दानजलरूपमुक्ताशामशोभिता है, जिसकी प्राप्ति दान में ही  
सम्भव है। कीर्ति राजकन्याओं के समूह से भी महत्त्वपूर्ण है इसी के लिए दत्त  
उचित है। 'पादपाणि' का पादधारी हाथ उठाना नर को आतंकित करने का  
भी मन्त्र होता है, यों हाथ उठाना—उठाना मन्त्र की प्रकृति भी होती है।  
विद्यापद के अनुसार छेदानुप्रास और नरक लंकार ॥ १२८ ॥

चर्म चर्म किञ्च दन्त्र नभेद्य यस्य वज्रमज्जन्त्रि च नो चेत् ।

स्यामिनाविह न कर्णदधीची नन्व धममधरीरय धार । ॥ १२९ ॥

जीवानु—चर्मोक्ति । यस्य कर्णस्य चर्म त्वक् नभेद्यमनेद्यम् । नजपस्य न-  
रकस्य 'मुमुक्षु' इति समासः । चर्म कवच किञ्च । यस्य दधीचेरस्थि च  
वज्रमय किञ्च । किञ्चेति प्रसिद्धौ । तौ महानन्वधारिणी कर्णदधीची ।  
इह जगति, स्यामिनी न चेत् । तर्हि, हे धीर धीमन् ! धर्म नावधीरय  
नावमन्यम् । कर्णादीनामप्यित्वम तद्धर्मस्य च स्वयं दृष्ट्वा त्वमपि तर्था-  
चरेत्पर्यं ॥ १२९ ॥

अन्वयः—यस्य चर्म न भेद्य चर्म किञ्च, यस्य अस्थि च वज्रमयम्, तौ  
कर्णदधीची इह स्यामिनी न चेत् तत्, धीर, धर्म न अवधीरय ।

हिन्दी धिन ( कर्ण ) की त्वचा भेद्य कवच मुनी जाती है और धिन  
दधीचि की हड्डी वज्रमय मुनी जाती है, वे कर्ण ( कृष्णीभुज राघव ) और  
दधीचि ( श्रद्धा, धिनकी अस्थियों से वज्र बनाया ) यदि इस संसार में  
स्यामी नही रहे, तो हे धीर ( नर ), तू धर्म की उदघातना न कर ।

टिप्पणी—इतने दृढ़ ध्वनि ( जन्म से ही कवचधारी कर्ण और वज्र-  
निर्माण करने वाली हड्डियों के देहवाले दधीचि ) भी जब मायवान् हो  
प्रनलिन हुए तो नर जैसे अनुष्य को स्थिरता की बात माचना भी उचित  
नहीं है । नागवान् जीवन के नद्वार मुख के लिए धर्मच्युत होना ठीक नहीं ।  
समझना नर की धर्म की उदघातना नहीं करनी चाहिए । धर्म ही स्थिर  
रहता है, जीवन तो अस्थायी है । कर्णदधीचि के देह तो नष्ट हो जाये,

यस्य-शरीर ही मात्र जीवन ॥ विद्याधर के अनुसार विरोध और हेतु अलङ्कार ॥ १२९ ॥

अथ यावदपि येन निबद्धो न प्रभू विचलितुं बलिदिग्व्यो ।

आधुतावितयतागुणपाशस्त्वाद्भेन विदुषा दुरपातः ॥ १३० ॥

जीवातु—अद्येति । येन सत्यसचत्वपाशेन, निबद्धो बलिर्वैरोचनि स च विग्न्यस्तौ । अथ यावदेतद्दिनपर्यन्त, विचलितुमपि प्रभू समर्थो न स्तः । आधुतस्य प्रतिज्ञाकार्यस्य अवितण्णता सत्यता, संव गुण, उत्कृष्टदर्म स एव पाशो बन्ध, त्वाद्भेन विदुषा स दुरपातः दुरुद्धेदः । बलिविग्न्यादिद्वान्तेन यावज्जीवनिर्बन्धेनापि प्रतिज्ञाकार्यनिर्वाहः कार्य इत्यर्थः ॥ १३० ॥

अन्वयः—येन निबद्धो बलिर्विग्न्यो अथ यावत् विचलितुम् अपि प्रभू न, स आधुतावितयतागुणपाश त्वाद्भेन विदुषा दुरपातः ।

हिन्दी—जिस (सत्यप्रतिज्ञा रूप पाश) से बद्ध बलि (विरोचन-पुत्र पातालराज) और बिग्याचल आज तक विचल होने में समर्थ नहीं हुए उस प्रतिज्ञात निर्वाह-रूप पाश को तेरे सह्य विद्वान् द्वारा उच्छिन्न करना कठिन है ।

टिप्पणी—प्रतिज्ञा करके बलिराम ने अपना सर्वस्व और देह भी दे डाला, अगस्त्यमुनि को अपने मुँके रहने का वचन देकर बिग्याचल आज तक मुँका ही हुआ है । इनमें बलि उच्छृंखल देत्य या और बिग्याचल उड है । ये दोनों भी आजतक वचन निर्वाह कर रहे हैं, ऐसी स्थिति में विद्वान् और सत्यप्रतिज्ञ, पुष्करलोक नल की प्रतिज्ञा का पालन करता ही होगा । उसके लिए तो प्रतिज्ञा का अपरिपाक्य नितात अनुचित है । विद्याधर के अनुसार रूपक अलङ्कार ॥ १३० ॥

प्रेयसी जिनसुधागुमुखश्रीर्मा न मुञ्चति दिगन्तगतापि ।

भङ्गिसङ्गमकुरङ्गदृग्ये क कदर्ययति तामपि कीर्तिम् ॥ १३१ ॥

जीवातु—प्रेयसीति । प्रेयसी प्रियतमा, जिता सुधागुमुखानां चन्द्रादीनां श्रीर्यया सा । अयत्र, जितसुधागुमुखश्रीर्यस्या सा तपोक्ता । या कीर्तिरदिगन्तगतापि देशान्तरगतापि, न मुञ्चति । तामपि कीर्तिं भङ्गिसङ्गम मुरमङ्ग-तिर्यस्यास्तस्याः कुरङ्गराज्ये तदर्थम् । तादर्थ्येऽप्ययीभावः । कुतश्चेत्यर्थः कदर्यं । 'को कतलुस्येऽवि' इति कुसुमस्य वशादेन, स करोति कदर्ययति अर्थयतीत्यर्थः । को नामास्थिरार्थे स्थिर अह्लादिति भावः ॥ १३१ ॥

अन्वय — विनमुखाशुभययी हा प्रेम्सी निष्ठा अणि न मुखति ता कोटिम् मत्तिमन्मन्त्ररत्नद्वये अणि क कश्यपति ?

हिन्दी—जो चद्रमुख-शोभावधितो दिव्यमा ( उज्ज्वल कीर्ति ) देखा में पडूबने पर भी नहीं छोडती, उस (प्रियजन) कीर्ति को नखर समनिमृग नयना के निमित्त ( प्रपन्न कुम्भित रचनागोन नेत्रों वाली के लिए ) कौन पीडित करता है ? ( कोई नहीं ) ।

टिप्पणी—चद्रमुख को अपनी शोभा में जीउनेवाली प्रियजना जब प्रभावित हो जाती है, तो स्वभावतः पुण्य को छोड हो देती है, पर 'विन-मुखाशुभययी' कीर्ति ऐसी प्रियजना है जो विविधता में ध्यान हो जाने पर भी नहीं हरागती । ऐसी विविध प्रियजना को दिव्यमा होने पर छोड देने वाली, नखरसमिति, कुम्भित नयनों वाली प्रिया के लिए कुट्टिमान् का तो कहना ही क्या सामान्य नर भी नई छोडना न पीडा देता है । तो नल तो थोर विद्वान् है वह दमयन्ती—एक सामान्य नारी के लिए नखर-सम अजरकीर्ति प्रियजना को छोडने की सूचना करे, यह निराश अनुचित है । अतः नल को दमयन्ती का ध्यान छोड उज्ज्वल कीर्ति का वरण करना चाहिए । कीर्ति तो निम्न है, दमयन्ती अनित्य । नाट्यगत पक्षि ने 'कुरङ्गद्वय' का 'कुम्भितो रत्नो रचनाम्या एव विषा द्वा म्या तत्त्व' का कश्यपति पीडयति' यथ किया है । विद्यापार के अनुसार अतिरेक-मुनासोक्ति उन्मा-दिप्रेष का संकर है ॥ १३१ ॥

यान् वर प्रति परेनमिनार-

स्नेहिन म वदमहोन पुनम्बाम् ।

नैव न खलु मनोरथमात्र

शूर ! पूरय दिगोऽपि मशोनि ॥ १३२ ॥

आदानु-याति । परे अन्ये जना, वर प्रति दृष्टान्तमुद्दिश्य, मानसमा-नर्थयितार । तावडी-ये तृन । 'न लोक'-इत्यादिना यष्टीप्रतिशेनाद् द्वितीया । ते वनमपि म स्वामर्थयितार स्म । अहो, स त्वं पुनोऽस्मिन्, मनो-पमात्र मनोरथमेव नैव पूरय । त्रिषु, हे शूर ! यष्टीमिदितोऽपि पूरय खलु । तस्मा-दस्म-मनोरथपूरणेन ते दिग्गन्तव्यता कोऽतिर्भवति । अ-यथा, अपकीर्तिरपि तावडी नविद्यतीति भाव ॥ १३२ ॥

अन्वय —अग्ने, परे घर प्रति मातृ जर्घमितार ते वयम् अपि पुन स्वाम्, घर, स न मनोरथमात्र खलु न, यशोभिः दिश अपि पूरय ।

हिन्दो—अरे, अन्य ( जन ) घर जाने के लिए जिन ( हम देवों ) की अर्यना ( याचना ) करते हैं, वे हम भी उलटे तुम्हारी याचना कर रहे हैं । हे घीर, वह तुम हमारी इच्छामात्र की पूर्ति न करो, अथितु प्रभूत यश से दिग् दिगन्त को पूर्ण कर दा ।

टिप्पणी—सामान्यतः मनुष्य घर प्राप्ति के निमित्त देवों से याचना करता है, क्योंकि देशों में ऐसी समता है, ऐसे समर्थ देव नल के समुल्लासक हुए हैं ऐसा अलम्ब्य अवसर कहाँ प्राप्त होना है । नल को इस अवसर पर बूझना उचित न होगा । वह देशों को याचित देकर अनन्त यश का भागी होगा । विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलङ्कार छेकानुप्रास ॥ १३२ ॥

अथिता त्वयि गीषु सुरेषु म्लानदानजनिजोदयश श्रीः ।

अथ पाण्डु गगनं सुरशास्त्री केवलेन कुसुमेन विधत्ताम् ॥ १३३ ॥

जीवातु—अथितामिति । अथ गुरदास्त्री कल्पवृक्ष सुरेष्वस्मासु त्वयि त्रिपथे, अथिता गतेषु सत्सु म्लाना अर्घ्यभावक्षीणा, दानजा दानजया, निजा उत्तमं हती यश श्री कीर्तिसम्पद्यस्य स, तथा सन्, केवलेन कुसुमेन गगन पाण्डु शुभ्र, विधत्ताम् । नतु वितरणेन यशसा । स्वायिनाम्-मार्थित्वेन तन्निदान-दानकयास्तमियादिति भाव ॥ १३३ ॥

अन्वय — अथ सुरेषु त्वयि अथिता गतेषु म्लानदानजनिजोदयश श्री गुरदास्त्री केवलेन कुसुमेन गगन पाण्डु विधत्ताम् ।

हि दी—आज देवों के तुम्हारे ( नल के ) प्रति याचक बन जाने पर जिसकी दान करने से प्राप्त स्वीया महती यश गोमा मलिन हो गयी है, ऐसा देववृक्ष ( कल्पवृक्ष ) केवल ( कीर्ति रहित ) पुण्य से आकाश को उन्नत बनाये ।

टिप्पणी—देवों को अयोध देने के कारण नल जिस अद्वितीय यश श्री का अधिकारी हो जायेगा, उसके समुल्लासक कल्पवृक्ष की यशालक्ष्मी मलिन हो जायेगी । जो कल्पवृक्ष अपने शुभ्र यश और निमल कुसुमों से आकाश में पुष्पश का प्रसार करता रहा है, यश मलिन हो जाने से अब केवल पूरा से

ही आकाश को धूम्र बना सकेगा । भाव यह कि देवों को दान करके नल को जो यश मिलेगा, कन्यवृक्ष का यश भी उसके आगे मंद पड़ जायेगा, अतः नल को यही समुचित है कि देव-मनोरथ पूर्ण करें ॥ १३३ ॥

प्रवसने भरतार्जुनवैन्द्यवत्

स्मृतिधृनोऽपि नलः । त्वममीन्द्र ।

स्वगमनाफल्गता यदि नल्लुमे

तदफलं निखिलं खलु महत्फलम् ॥ १३४ ॥

जीवानु—अत्र यात्रावैक्यशङ्कया तैः सङ्कोचस्तावदनाशङ्कनीय एवेत्याहुः प्रवसन् इति । हे नल ! प्रवसने प्रयाग कुर्वन् भरत शाकुन्तलेय, मर्जुनो हैहय, वैन्द्य पृथु, तन्मनुज सद्यः । 'तेन तु यः क्रिया चेद्वति' । स्मृया धृत-स्मृतिधृनः, स्मर्यमाणोऽयमीन्द्र इष्टार्थप्रदम् स्वगमनस्य स्वयात्रायाः अफल्गता वैफल्यशङ्कया यदि, तत्तत्र, लोके निखिलं सर्वमपि महत् फलमात्रा-बालिक त्वस्मरणलक्षणं मङ्गलस्वरूपमफलं खलु । यथा च—'वैन्द्य पृथु है-हयनर्जुनश्च शाकुन्तलेय अतः नल च । एतानृषा य स्मरति प्रयागे तस्यार्थ-निधिं पुनरागमश्च ॥' इति शास्त्रनप्रमाण स्यादित्यर्थः । तथा च भक्तस्मरणा-दन्त्येकानर्थनिधिस्तस्य तथाऽर्थमिदौ च सदेह इति भावः ॥ १३४ ॥

अन्वयः—नल, भरतार्जुनवैन्द्यवत् प्रवसने अभीष्टदा स्मृतिधृन अपि एवं यदि स्वगमनाफल्गता शङ्कसे तर् निखिलं महत्फलम् अफलं खलु ।

हिन्दी—हे नलराज, (शाकुन्तला-दुष्यन्तपुत्र) भरत, (कार्तवीर्य) सहस्रार्जुन और वैष्णुन (पृथुराज) के तुल्य प्रवास जाने की तत्पर व्यक्ति को इच्छित प्रदाय करनेवाले के घर में स्मरणगोबर भी तुम यदि अरुनी यात्रा के निष्फल होने की शका करते हो तो सपूयं मगल ही निश्चयन निष्फल हो जायेगा ।

टिप्पणी—नल ने कहा था—'स्वीकृष्यमि न सा खलु युष्माव्' ( १३० ११४ ), और 'हास्यतैव मुलभा न तु साव्यम्—अर्थात् नल का दूतकार्य निष्फल होगा । इस पर नल की चद्रकारिता करते हुए वरुण ने बताया कि नल का स्मरण तो प्रवास जने समय अभीष्टनिधि के निमित्त लोग क्रिया करते हैं, कहा जाना है कि गता पृथु, हैहय मह्यार्जुन, शकुन्तारुन भरत और राजा नल का प्रयाग काल में स्मरण करने से अभीष्टनिधि होती है

और यात्री सङ्कुल वापस घर आता है। ऐसी स्थिति में अमोघदाताओं में स्मृत होने वाला नल ही जब यात्रा के निष्फल रहने की बात सोचेगा तो ससार में सब मगलकृत्य ही निष्फल हो जायेंगे, अतः धन न करके नल को देवों का दूतकार्य अविलम्ब करना चाहिए। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार छेकानुप्रास। इतिविलम्बित वृत्त ॥ १३४ ॥

इष्ट नः प्रति ते प्रतिश्रुतिरभूद्याद्य स्वराह्लादिनी

धर्मार्था मृज ता श्रुतिप्रतिभटीकृत्यान्वितास्यापदाम् ।

त्वत्कीर्तिं पुनतो पुनस्त्रिभुवन शुभ्राद्व्यादेशनाद्

द्रव्याणां शितिपीतलोहितहरिन्नामान्वयं लुम्पतु ॥१३५॥

जीवातु—इष्टमिति। अद्य नोऽस्माकम्, इष्टमिच्छा, यागञ्च प्रति। 'इष्टियनिच्छयो' इत्यमरपक्षे यजेरियेञ्च लिङ्ग क्तिम्। 'वचि स्वपि—' इत्यादिना यजे सम्प्रसारणम्। 'वञ्च—' इत्यादिना परत्वम्। इये निबन्धस्थ-पापवाद इति वाशिकायाम्। तथा प्रयोगप्राबल्यात् साधुत्व द्रष्टव्यम्। स्व-स्वर्गम्, अथन स्वरेखादातादिमिराह्लादिनी धर्मोऽर्थ प्रयोजनमभिधेय च यस्या सा धर्मार्था वा प्रतिश्रुति। 'जीवितावधि किमप्यधिक वे'ति श्लोको-क्तास्मन्मनोरथपूरणप्रतिज्ञा अभूत्, ता प्रतिश्रुति श्रुतिप्रतिभटीकृत्य वेदप्रति-निधीकृत्य, सत्यापयित्वेत्यर्थः। अन्वितास्यापदा मृज। सत्यत्वेन श्रुतिप्रति-निधीकृत्य प्रतिश्रुतिरित्यन्वर्णनामाक्षरा कुर्व। सत्यप्रतिज्ञा भवेत्यर्थः। अस्य फलमाशीर्मुखेनाह—त्वत्कीर्तिरिति। त्वत्कीर्तिं पुनस्त्वद्यसस्तु, त्रिभुवन भुवन-मन्त्रय, समाहारे द्विगुरेकवचनम्, पात्रादिस्वाप्नपुनरत्वम्। पुनती पावयन्ती। पुनते घटति डीप्। द्रव्याणां नीलरीतादिद्रव्याणां, दूध दूधगुण। 'गुणे शुक्लादयं पुति' इत्यमरः। तेनाद्व्यादेशनादभेदापादाच्छितिपीतादि-नामभिर्वाचिकपदैरवयव बाध्यत्वलक्षण सम्बन्ध, लुम्पतु निवर्तयतु। अधिमनो-रथपूर्त्या कीर्ति सम्पादयेत्यर्थः। अत्र नीलादीनां वस्तूनां स्वगुणत्यागेन कीर्ति-गुणग्रहणात्तद्गुणालङ्कारः। 'तद्गुण स्वगुणत्यागादयोऽदृष्टगुणाहति' इति लक्षणात् ॥ १३५ ॥

अन्वय—अद्य न इष्ट प्रति स्वराह्लादिनी या ते धर्मार्थां प्रतिश्रुति अभूत् ता श्रुतिप्रतिभटीकृत्य अन्वितास्यापदां मृज पुन त्वत्कीर्तिं शुभ्राद्व्या-देशनाद् त्रिभुवन पुनतो द्रव्याणां शितिपीतलोहितहरिन्नामान्वयं लुम्पतु।



हिन्दी—( हे गजा ), आज हमारे इष्टरूप इष्टि ( मनोरथ रूप यत्न ) के प्रति स्वर्ग अर्थात् स्वर्लोकवासी देवों को आह्वाहित करनेवाली-मह्य उदात्त, अनुदात्त स्वर्गिन् स्वरों से आह्वाहित जो तुम्हारी धर्मप्रयोजनवर्ती प्रतिज्ञा हुई है, तम ( प्रतिधृति ) को श्रुति अर्थात् वेद की प्रतिमूर्ति ( तुल्य ) करके ( तुल्य करके ) सार्धं कनामयदवती ( सत्य, सार्धक ) करो । और फिर तुम्हारी वं टि शुभ्र वर्णों को अस्वितता का निर्देशन करके ( शुभ्रता का प्रसार कर ) तीनों शुभ्रों को शुभ्र-मन्त्रिन्नाती पदार्थों के काले, पीले, लाल, हरे नाम के अन्वय ( वाचकत्व ) का लोप कर दे ।

टिप्पणी—आज सफल होने की शुभाशंका । नञ ने प्रारम्भ में जो दान करने की प्रतिज्ञा की थी, उसे धर्म साधन ( देवमनोरथ ) के निमित्त त्रिस्वर में पञ्चि, यज्ञ की ऋषाज्ञा के सह्य माना गया है और नञ से कहा गया है वह इष्ट-साधन रूप इष्टि ( यज्ञ ) को त्रिस्वर ऋषाज्ञा से परिपूर्ण कर देवों को आनन्दित करे । देवों को यज्ञ से आनन्द मिलता ही है । इससे नल को ऐसा यश प्राप्त होगा कि उसके यश की शुभ्रता त्रिभुवन को आच्छादित कर लेंगी और पदार्थों के जो काले पीले आदि भिन्न भिन्न वर्ण हैं, वे आच्छादित हो जायेंगे और केवल यश की शुभ्रता दृष्टिगोचर होगी । अतः नल को अबिलम्ब देव मनोरथ-पूरण में मग्न हो जाना उचित है ।

प्रकाशकार ( नारायण ) ने 'स्वस्तीति' का भाव 'ब्रह्मप्रतिभादित्वा श्रुति' अथवा 'विदात्तश्रुति' बताया है । यह श्रुति सत्त्व, रज, तम—त्रिगुण से सहज ( त्रिगुणो भूत्वा त्रिगुणैर्मयः त्रिगुणैश्च यद् यत्नं वाचस्पतिः सहस्राव्यम् ) ससार को शुभ्र अर्थात् निर्मल प्रद्वय ब्रह्म के आदेशन—उपदेश द्वारा अवन-मननादि से पवित्र करती हुई, एक मात्र श्रेष्ठता—अद्वैतमयता का प्रचार करती हुई, जगत् की द्वैतता का लोप करती हुई 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' का सद्बोध करे ।

भाव यही है कि नञ ने जो देवों को प्रतिश्रुति दी है, उसे अथन्त पुनीत कार्य मानकर त्रिगुण में परिवर्तित करे । मोक्षार्थ पदार्थों के स्वर्गुप त्याग कर कौतुहुन दृष्ट करके वे आधार पर मन्त्रिनाथ ने यहाँ सद्गुण अलंकार का निर्देश किया है, विद्याधर के अनुसार यहाँ श्रेष्ठतियोक्ति है ॥ १३५ ॥

य प्राप्नुन सहस्रपादुदभवत्पादेन खञ्जं कथं

मच्छायातनयं सुतं किञ्च पितुः सादृश्यमन्विष्यति ।

एतस्योत्तरमद्य न समजनि त्वत्तेजसा लङ्घने

साहस्रेऽपि पद्गुग्मिनिरभिव्यक्तीभवन्भानुमान् ॥ १३६ ॥

जीवातु—यमिति । य धर्नश्चर, सहस्र पादा रश्मयोऽङ्घ्रयश्च यस्य न,

सहस्रपाद सूर्य । 'पादा रश्मिद्विभुर्पादा' इत्यमरः । 'सङ्घ'यामुपूषस्य' इति समासात्तलोपः । प्राप्नुत प्रभूतवान्, स छायातनय धर्नश्चर । 'मन्ददृष्टाया-  
सुतं जनि।' इत्यमरलोपः । कथं पादेन खञ्जो विक्लं सन् । 'येनाङ्गविकार'  
इति तृतीया । उदभवदुत्पन्नं सुतं पितुः सादृश्यमन्विष्यति किल प्राप्नोति सन्तु  
एतस्य प्रश्नस्याद्य त्वत्तेजसां लङ्घने साहस्रे सहस्रसङ्ख्यैरपि । 'अणू च' इति  
मत्स्यधोऽप्रत्ययः । अङ्घ्रिभिः पद्गु लङ्घ, पूर्ववत्तृतीया । अभिव्यक्तीभवन्  
भानुमान् सूर्यं नोऽस्माकमुत्तरं समजनि सञ्जात । जने कर्तरि लुङ् । 'दीप-  
जन—' इत्यादिना जनेविक्लं । विणो लुक् । अत्रार्कस्थापज्जो पद्गुत्वोक्ते-  
रतिगोचरितभेदः । तद्धेतुत्वञ्च धर्नश्चरपद्गुत्वस्येत्युत्प्रेक्षा इति तयो  
सङ्करः ॥ १३६ ॥

अन्वयः—सहस्रपादं यं प्राप्नुत स छायातनयः कथं पादेन खञ्जं उद्भवत्  
सुतं किल पितुः सादृश्यम् अन्विष्यति ? अद्य न एतस्य त्वत्तेजसा लङ्घने साहस्रे  
अपि सङ्घिभिः पद्गु अभिव्यक्तीभवन् भानुमान् उत्तरं समजनि ।

हिन्दी—सहस्रचरणी वाले ( सहस्ररश्मि भूय ) ने किस जन्म दिया, वह  
छाया ( सूर्यपत्नी ) का पुत्र ( धर्नश्चर ) किस प्रकार चरण-विक्ल (लंगड़ा)  
जन्मा, पुत्र तो पिता पर जाना है ? आज हमारे इस प्रश्न का तुम्हारी ( नल  
की ) नेजोराशि का लघन सहस्र चरणा से भी करने में लगड़ा ( असमर्थ )  
प्रकट होता हुआ सूर्य उत्तर हा गया ।

टिप्पणी—नल की देवकार्य सम्पादन में इतना बल मिलेगा कि उसके  
तेज के समुल्लभ्य का तेज भी फीका पड़ जायगा । धर्नश्चर लगड़ा है, ऐसी  
मायता है । मामा-पत पिता के मुग पुत्र में आते हैं, पर सुवपुत्र धर्नश्चर  
के प्रसंग में ऐसा क्यों नहीं हुआ ? सहस्रचरणी वाले सूर्य का पैटा लगड़ा ?  
यह एक अनुपम प्रश्न था । देवा पर भी इस प्रश्न का उत्तर नहीं था ।

पर आज उत्तर मिल गया। तेजस्वी नल की तेजोरश्मि का अनिकलना करने में सूर्य भी पगु है, भले ही वह 'सहस्ररात्र' हो। तो लंगड़ा वान सूर्य, उमका बेठा जनैश्चर भी लंगड़ा। १३५ वें तथा इस श्लोक का छन्द शार्दूलविक्रीडित। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षा का संकर है, अपगु सूर्य की पगुता का कथन अतिशयोक्ति है और जनैश्चर के पगुत्व में उसके कारण होने की उत्प्रेक्षा की गयी है ॥ १३५ ॥

इत्याकर्ष्यं क्षिनीसखिदशपरिपदस्ता गिरक्षादुगर्भा  
वैदर्भीकामुकोऽपि प्रसमविनिहित दूत्यभार वभार।

अङ्गीकार गतेऽस्मिन्मरपरिवृद्धः संभूतानन्दमूचे

भूयादन्तर्धिसिद्धेरनुविहितमवचित्तता यत्र तत्र ॥१३७॥

जीवानु-तीति। क्षिणीयो नल, त्रिदशपरिपद सुरसदृशस्य इत्येवम्ना-  
दवादुगर्भाः त्रिपत्रामास्ता गिर आकर्ष्यं वैदर्भीकामुकं सत्रपि 'लपपत्र-' इत्या-  
दिना कमेवकद्रुप्रत्यय। अत एव 'न लौक-' इत्यादिना पट्टीप्रतिषेधात् मधु-  
निरावृब्ध द्वितीयासमासः। प्रसमविनिहित बलादारोपित दूत्यमेव भार वभार।  
अस्मिन्मले, अङ्गीकार गते मरपरिवृद्धो देवेन्द्रः। हे नरेन्द्र! यत्र कुत्रापि,  
अन्तर्धिसिद्धे अन्तर्धानशक्तेरनुविहितमवचित्तता, अनुमृतत्वग्नमनस्कता, भूयात्  
मवचित्तानुमारेण सर्वत्र तवातर्नावशक्तिरस्तु इति सुभूतानन्द सहर्षमूचे।  
तिरस्करिणीविद्या प्रादादित्यर्थः ॥ १३७ ॥

अन्वयः—त्रिदशपरिपद इति वादुगर्भा ता गिर आकर्ष्यं वैदर्भीकामुकः  
अत्र क्षिणीय प्रसमविनिहित दूत्यभार वभार, अस्मिन् अङ्गीकार गते मर-  
परिवृद्ध इति संभूतानन्दमूचे—यत्र तत्र अन्तर्धिसिद्धेः अनुविहितमवचित्तता  
भूयात्।

हिन्दी—सुरसमूह की ऐसी वादुघाति-पूजं उन बाध्यावलिओं की मुन्कर  
विदमंभुनी ( दमयन्ती ) की कामता करनेवाले भी पृथ्वीवति ( नल ) ने  
बलादारोपित ( लादे गये ) दूत्य के भार को धारण कर लिया। उसकी  
स्वीकृति हो जाने पर देवराज ( इन्द्र ) ने यह सहर्ष कहा—'सर्वत्र अवधान  
होने की शक्ति तुम्हारी इच्छा की अनुगामिनी हो।'।

टिप्पणी—राजा नल सिति का ईश या—सबका स्वामी । अन्ततोगत्वा उसन बलपूर्वक आरोपित देवा का दूत बनना स्वीकार कर लिया और दमयंती की इच्छा का दमन कर लिया । इस पर प्रसन्न हुए इंद्र ने नल को घर दिया कि वह इच्छानुसार जब चाहे अदस्य हो सकता है और जब चाहे प्रकट हो सकता है । अदस्य होने की शक्ति उसकी इच्छा के अधीन रहेगी । इस प्रकार देवेन्द्र के घर से नल को तिरस्कारिणी विद्या प्राप्त हो गयी । सायरा छंद ॥ १३७ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहोर सुत

श्रीहीर सुपुत्रे जितेन्द्रियचय मामन्लदेवी च यम् ।

तस्य श्रीविजयप्रशस्तिरचनातातस्य भग्ये महा-

काव्ये चारुणि नैपघीयचरिते सर्गोऽगमपञ्चम ॥१३८॥

जीवानु—श्रीहर्षमित्यादि । सुगमम् । श्रीमत्या विजयप्रशस्ते ग्रन्थमिशेष-  
स्य रचनातातस्य निर्माणकर्तृरित्यर्थः ॥ १३८ ॥

इति मल्लिनाथचिरचिने 'जीवानु'समान्याने पञ्चम सर्गं समाप्त ॥५॥

—०—

अन्वयः—पूज्यपदस्य पूर्ववदन्वयः । तस्य श्रीविजयप्रशस्तिरचनातातस्य  
भग्ये महाकाव्ये चारुणि नैपघीयचरिते पञ्चम सर्गं अगमत् ।

हिन्दी—पहिले दो पदों का अर्थ पूर्ववत् । उस 'श्रीविजयप्रशस्ति' के  
रचनानार ( श्रीहर्ष ) के भग्य ( प्रशसनीय ) महाकाव्य, चाहे 'नैपघीयचरित'  
में पंचम सर्ग समाप्ति को प्राप्त हुआ ।

टिप्पणी—सर्गांत में यह संकेत कि श्रीहर्ष ने 'श्रीविजयप्रशस्ति' ग्रन्थ  
का रचना भी की थी । सायरा वृत्त ॥ १३८ ॥

नैपघीयचरित पञ्चम सर्ग

—०—

# नैषधीयचरितम्

## कथासार

### ( पञ्चम सर्ग )

मात्वा नारदतः स्वयंवरविधिं मेम्या स्पृहालुर्हिर  
मार्धं दिक्पतिमि पफाण पृथिवी राष्ण्या शुभा वीक्षित ।  
बन्धुदौत्यमुपेत्य याहि नृप मो मेमोमदुष्टो भटै-  
स्तामस्मास्वनुबूलयादिवत् नलं सोऽगुञ्जत योत्ये छली ॥

—श्रीकृष्णरामकवि—

विदर्भराज ने बेटी दमयन्ती के स्वयंवर का आयोजन किया और नारद मुनि ने उसकी सूचना इन्द्रलोक पहुँचायी । दमयन्ती के रूप की चर्चा से इन्द्र भी उसकी स्मृता करने लगा और शची तथा रमा—उर्वशी आदि स्वर्गमुदरियों के अमतीप पर भी कुछ ध्यान न दे उसने विदर्भ की ओर प्रस्थान कर दिया । उसके पीछे अग्नि, यम और वरुण भी चले । इन सबने एक-दूसरे से छिपा कर अपनी-अपनी दूतियों की दमयन्ती के पास भेजा, जो अनेक बहुमूल्य उपहार लेकर विदर्भराज की सेवा में पहुँची । मार्ग में देवी की भेंट नल से हुई, जो स्वयं भी स्वयंवर में सम्मिलित होने जा रहा था । नल को देखकर वे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने दमयन्ती को पाने की आशा छोड़ दी और खिन हो गये । परन्तु इन्द्र तो कपट करने में प्रवीण है, उन्होंने नल को बचनबद्ध कर हम पर सनद कर लिया कि वह दमयन्ती के पास दैवदूत बन कर जाय और ऐसा प्रयत्न करे कि दमयन्ती देवी में किसी का वरण करे ॥ प्रतिज्ञाबद्ध नल ने उनका दौत्य कर्म स्वीकारा और इन्द्र ने नल को क्षमता दी कि वह इच्छा-नुसार अन्तर्धान हो सके ।

## पद्यानुक्रमणिका ( पञ्चम सर्ग )

श्लोका	श्लोकाङ्का	श्लोका	श्लोकाङ्का
अद्ययावदपि येन	१३०	ईदृशानि मुनये	४०
अन्वयुद्यंतिपव०	२२	ईदृशीं गिरमुदीर्य	७८
अद्यदीप्तमनसः	१३२	उद्भ्रमामि	१०८
अद्यदीप्य यम	१२४	उर्वशी	२२
अभ्रपुष्पमपि	१२७	ऊचिवानुचित०	१२८
अर्चनामिरुचि०	६	एवमादि	६३
अर्चना मयि	११२	एवमादि	६३
अधिता त्वयि	११३	एवमुक्तवति देवञ्चषीम्	३०
अर्धिता	११६	एवमुक्तवति मुक्त०	६८
अर्थिनाम०	७६	एष नैषध	७६
अर्थिने न०	८६	क कुलेऽञ्जनि	११६
अर्थिनो वयममी	७७	कथ्यते न कवम	२८
आ स्वभाव०	२४	कानुजे मम निजे	३८
आदधीषि किल	१११	कापि कामपि	२३
आलिमात्मसुभगाव०	२४	कामनीयकमथ कृतकामम्	६४
आसने	१००	किं घनस्य	२६
इ यमी	३४	किं विधेयमधुनेति	७३
इत्येवम्	७२	कुण्डनेन्द्रसुतया	११४
इत्याकर्म्य	११०	कव प्रयास्यसि	७२
इत्युदीर्य भवता	३६	स्वगितेन्द्र०	४
इत्युदीर्य स धयी	७३	गच्छता पथि	३
इष्टि न० प्रति	१३०	धर्मं धर्मं किल	१२६
ईदृशानि गदितानि	११६	चित्रमय	२७

श्लोकाः।	श्लोकाङ्काः।	श्लोकाः।	श्लोकाङ्काः।
जीवितावधि किम्०	६७	पर्यनेन परिधीय	४४
जीवितावधि मभीषक०	६८	प्राणये	४५
जीवितेन	४६	प मिपीडममदम्	६६
तं कथामुच्यते०	१३	पार्थिवं हि	१५
तन्मयीयत	११५	पूर्वगुणविम०	१७
तद्भुजाद्विदिनीर्ण०	११	प्रत्यनिष्ठिगद्विष्टम्	६६
तद्विष्टाय मम	१८	प्रत्यगने	११४
तस्य तावन्मिया	६	प्रागिव प्रगुवने	१४
तेन ज्ञानप्रवृत्तिर्दि०	३५	प्रागितेन	८४
तेन तेन चचरीय	१०३	प्रेयसी	१३
तेषु तद्वि० मधू०	६७	प्रेयसा नृपमयो	६६
दागतामममम०	६२	प्रेयसाद्विष्टो०	६६
मुलंभं दितमिष्टिः	६०	भङ्गं न	११८
ममोत्तमममिष्टिः	६८	मिष्टिता वतमली	२१
न ममममम कदापि	१२३	मीमसा न हृदि	८३
माकलो कमिष्टोः	४६	मत्तया न न तनु	६५
मापराणि पठता	१२१	मत्तममम	३१
मात्र मित्रमनु	६	मागुनीयमि	७०
मायमममि मृगने	११७	मा भमामि कृपणः	८६
मागमेयममम०	१०	मागमीमिष्टि	६०
न रिग अमममम०	६४	मीयनी कथममीमिष्टि०	८३
मीय मा मिमममो०	६६	मुद्रिताममम०	१२
मीयमे मम मृने	७१	मेमका मममि	२१
पञ्चरात्र०	८७	यं प्रागत्	११६
पममृदिममिष्टिज०	६	यं ममम मृदम	६३

श्लोका	श्लोकाङ्का	श्लोका	श्लोकाङ्का
यन्पथावरिणु	२६	वीक्षितस्त्रमसि	२०
यत्प्रदेयमुपनीय	८५	वीक्ष्य तस्य वरुणस्य स्नात्वम्	३३
यन्मदौ	१०६	वीक्ष्य तस्य विनये	३३
था मनोरथमपीम्	१०६	वेद् यद्यपि	३६
थाचमानजनमानम्०	८८	शीघ्रं ह्यधित०	२८
याचितश्चिरयति	१२६	शुद्धवत्तजनितोऽपि	१०१
याम्बर प्रति	१३०	शैशवस्यथ०	३
यापदष्टिपि	१२०	श्रीभरानतिथिसात्	३
यामिकाननुपसृष्ट	११०	श्रीहर्ष कविराज०	८
यामि यामिह	१००	मन्यविद्यत०	५
यावदागमतेऽथ	१	मपद्रस्त्वव	५
येषु येषु सरसा	३२	सप्रति	७
यो मघोनि	४८	सर्वत	४
रामणीयकगुणाद्वय०	६५	स व्यतीत्य	८
रूपमस्य विनिहप्य	६२	साधुन	४०
रोहण किमपि	१२५	साभिज्ञापमिव	१६
लोक एव परलोकमु०	३३	सा भुव किमपि	२६
वित्त चित्तमखिलस्य	१०५	सा शरस्य कुमुदस्य	३०
विरवदृष्ट०	१०१	सूतविद्यमद०	६०
विश्वरूप	३६	सेयमुच्चतरता	१०४
विष्टर तट०	७	स्वारसावल्मवाहव०	४१



# नैषधीयचरितम्

## पष्ठः सर्गः

दूत्याय दैत्यारिपतेः प्रवृत्तो द्विषा निषेद्धा निषधप्रधानः ।

स भीमभूमोपतिराजधानीं लक्ष्मीचकाराय रयस्यदस्य ॥ १ ॥

जीरातु—दूत्यायेति । अथ दूत्याङ्गीकारानन्तर, द्विषा निषेद्धा निवार-  
यिता, निषधाना जनपदाना, प्रधान मुत्थाधिपतिरित्यर्थ । स नल दैत्यारिपते  
देवेन्द्रस्य, दूतकर्मणे । 'दूतस्य भावकर्मणी' इति यत्प्रत्यय । प्रवृत्त उद्यक्त  
सन्, स रयस्यदस्य रयवेगस्य भीमभूमोपतिराजधानीं कुण्डिननगरी, लक्ष्मी-  
चकार लक्ष्यमकरोत् । गमन चकारेत्यर्थ ॥ १ ॥

अन्वय—अथ दैत्यारिपते दूत्याय प्रवृत्त द्विषा निषेद्धा स निषधप्रधान  
( निषधप्रधानम् ) भीमभूमोपतिराजधानीं रयस्यदस्य लक्ष्मीचकार ।

हिन्दी—तदनन्तर दैत्यों के शत्रु देवों के स्वामी ( इन्द्र ) के दूतकर्म में  
प्रवृत्त शत्रुओं के निवारक उस निषधदेश के अधिपति ( नल ) ने भीमराज  
की राजधानी ( कुण्डिनपुरी ) को रय के वेग का लक्ष्य बनाया ।

टिप्पणी—जैसा कि देवों का आकाशित था, निषधराज नल इन्द्रादि के  
दूतकर्मसम्पादनार्थ तीव्रगति से कुण्डिनपुरी की ओर चल पड़ा । प्रकाशकार ने  
द्वितीयचरणार्ध में 'निषधप्रधान' के स्थान में 'निषधप्रधानम्' पाठांतर को  
समीचीन माना है, क्योंकि 'प्रधान' शब्द नपुसकर्मिण्य में परिगणित है—  
'प्रधानशब्दा बलीबे ।' कुछ अन्य टीकाकार भी इसी से सहमत हैं । यद्यपि  
कुण्डिननगरी भीम अर्थात् भयकर 'भूमोपति' अथवा भीम अर्थात् दुर्गम भूमि  
के स्वामी की नगरी थी, तथापि नल को इससे न तो कोई भय लगा और  
न किसी अवरोध-प्रतिरोध की ही उस बिता व्यापी, क्योंकि वह निषधराज्य  
का प्रथम पुरुष था और साथ ही 'द्विषा निषेद्धा'—शत्रुओं का निवारक

था । भयकर राजा की दुर्गम भूमि में उसका गमन अप्रतिपिद्ध या विद्याघर के अनुसार छेकानुप्रास बलकार उल्लेख्य है । इस सर्ग में ( श्लोक १-१११ ) इन्द्रवज्रा-उपेन्द्रवज्रा के मिश्रण से सशक्त उपजाति छन्द है ॥ १ ॥

भैम्या सम नाजगणद्वियोग स दूतधर्म स्थिरधीरधीश ।

पयोधिपाने मुनिरन्तराय दुर्वारमप्यौवमिवोर्वशेय ॥ २ ॥

जीवातु—भैम्येति । अधीशो मनोनियमनसमर्थ । अत एव, दूतधर्मे दूतद्वये, स्थिरधीरचलबुद्धि, स नर, भैम्या सम सह । - 'साक सत्रा सम सह' इत्यमर । वियोगम्, और्वशेय उर्वशीपुत्री मुनिरगस्त्य 'और्वशेय कुम्भयोनिरगस्त्यो विष्ण्वकुट्टन' इति हलायुष । पयोधिपाने दुर्वारम्, उष्या अपत्यमौर्वो वरुणभयान्मातृपुत्र इति स्वामी । समीर्वं बडवानरमिव अन्तराय नाजगणदन्तरायत्वेन नामन्यत । भैमीवियोगमपि विस्महा प्रतिज्ञामङ्गमयात् दूत्यमेव दन्तरमवलम्बितवानित्यथ । अन्तरायविशेषणमुभयत्रापि योजनीयम् ॥ २ ॥

अन्वय — अधीश दूतधर्मे स्थिरधी स भैम्या सम वियोग पयोधिपाने दुर्वारम् अपि और्वम् अन्तरायम् और्वशेय मुनि इव न अजगणत् ।

हिन्दी—मनोनिग्रह में समर्थ दूत के घम में दृढमतिधाली उस ( नल ) ने भीमजुता ( दमयती ) के वियोग की जल-राशि ( समुद्र ) की पीते समय कठिना से निवारित किये जाने वाले बडवाग्नि के विघ्न की उदारी की सतान ( अगस्त्य ) मुनि के समान नहीं गिना ।

टिप्पणी—भाव यह है कि नल ने पक्ष में दमयती का वियोग उतना ही दुनियाँ का था, जैसे कि समुद्र की आग बडवाग्नि उन मुनि अगस्त्य के लिए दुनियाँ का थी, जो समुद्र पीने समय उनके कार्य में विघ्न स्वरूप उपस्थित थी । किंतु जिन प्रकार अगस्त्य ने दुनियाँ का बडवाग्नि-रूप विघ्न की गणना नहीं की, बिना उसकी चिंता किये वे समुद्र की अगाध जलराशि पी गये, उसी प्रकार नल भी दुःसह, दुनियाँ का दमयती-वियोग रूप विघ्न की गणना न करना हुआ देव-दूत-कार्य संपादन में प्रवृत्त रहा । विचार का कारण रहते हुए भी घोर नायक नल की उदात्तता में कोई अन्तर न आया, क्योंकि धीर जन तो ऐसे

होते ही हैं—'विष्कारहेतावन्नि विजिघ्रन्ते देशा न चेतासि त एव धीरा ।' 'जीवं' ( जन्मनि ) का 'दुर्वार' ( ऋद्धिप्राप्ते निवारण-योग्य ) विद्येया है, इसका 'दृष्ट्वा वा वाग्निं येन दुर्वा तम्' यह विग्रह करके 'बल को दग्ध करनेवाला' बहवाग्नि भी अर्थ 'प्रकाश'—कार ने किया है। आत्म्य उर्वशीतुन तौ ये ही—'प्रकाश'—कार ने 'तद बहु व्यप्ताति उर्वशी, तन्मृज और्वशेव'—विग्रह करके छन्दः साने वाली का बेटा अर्थ कर उनके 'पयोधिनान्' के सामर्थ्य का द्योतन किया है। विद्याधर के अनुसार श्लोक में ऐकानुदास-उपना-हेतु जकारों का मकर है ॥ २ ॥

नन्मृगातीनिन्दम्बुजाशीनवादपीनूपपिनासवत्ते ।

तदध्ववीक्षार्थनिवानिमेया देगम्य तस्यामरागीबनूवु ॥ ३ ॥

वीवानु—नलेति । तं इन्द्रादयो देवा, नल एव प्रनाली जन्निम-  
नागं, तथा निन्व प्रवहत, अम्बुजाशीनवादपीनूप दमयन्तीसवादानृत,  
निनासक पादुनिष्ठव सन्तः । मयुग्निनामुक्त द्वितीयासमाप्त । तदध्ववीक्षार्थं  
नलनाप्रतीक्षार्थमिव अनिमेया सन्त इत्युद्देशः । तस्य देगम्य नलनिमन-  
प्रवेद्यस्यामरागीबनूवु । तदात्मनपमन्त तत्रैव तस्पुरित्यर्थः ॥ ३ ॥

अन्वयः—तदध्ववीक्षार्थम् इव अनिमेयां तं नन्मृगातीनिन्दम्बुजाशी-  
नवादीनूपपिनासकं तस्य देगम्य आमरागीबनूवु ॥

हिन्दी—मानो उस ( नल ) के माँ के अवलोकनार्थं अन्तक वे ( देव )  
नलकर नाजिका ( नाली ) में बहकर आते कमलनरना ( दमयन्ती ) के  
सवाद रूप अनृत-सन्नि के ध्याने बैठे उन ( पूर्व सदस्य में कथित ) स्थान के  
आमृग बन ( प्रतीक्षा करते ) रहे ।

टिप्पणी—नाल यह कि देवान, वहाँ नल के माय उनका वातावरण हुआ  
था उन स्थान पर दमयन्ती का उत्तर लेकर नल के मीटने की प्रतीक्षा करते  
हटे रहे । नल उन नल-प्रनाली ( पाइप लाइन ) के समान है, जिसके  
माध्यम में प्रवाहित होता सवाद रूप बल आयेगा । अन्तक-प्रतीक्षा करना  
देवों की सम्पूजना का द्योतन करता है । अल्पनाय के अनुसार उद्देशः है  
और विद्याधर के अनुसार रुक्-उद्देशः का मकर ॥ ३ ॥

ता कुण्डिनाख्यापदमात्रगुप्तामिन्द्रस्य भूमेरमरावती स ।

मनोरथ सिद्धमिव क्षणेन रथस्तदीय-पुरमाससाद ॥ ४ ॥

जीवातु—तामिति । तस्याय तदीय, नलीय, स रथ, ता कुण्डिनमिति यदाख्यापद नामपद, तन्मात्रेण गुप्ता छन्नाम्, अमरावतीमिन्द्रराजधानीम्, तत्त्वत्पादित्यर्थः । भूमेरिन्द्रस्य भीमभूपते, पुर, मनोरथ सिद्धमिव क्षणेन आससाद प्राप ॥ ४ ॥

अन्वय—तदीय स रथ मनोरथस्य सिद्धिम् इव ता कुण्डिनाख्यपदमात्र-गुप्ताम् भूमे इन्द्रस्य अमरावती पुर क्षणेन आससाद ।

हिन्दी—उस ( नल ) का वह रथ, जैसे अभिलाष सिद्धि को प्राप्त करता है, वैसे ही उस कुण्डिन नामक शब्द मात्र से गुप्त धरती के इन्द्र ( भीम नरेश ) की अमरावती पुरी ( कुण्डिनपुरी ) में क्षण में पहुँच गया ।

टिप्पणी—नल जैसे तैप पूत जनों को इच्छा तुरत पूर्ण हो जाती है, वैसे ही 'मनोरथ'—सम वेगवान् रथ से क्षणमात्र में ( अतिशीघ्र ) भीमराज की राजधानी कुण्डिनपुरी पहुँच गया । कुण्डिनपुरी वस नामतः ही इन्द्र की राजधानी अमरावती स भिन्न थी, वस्तुतः वह किसी दृष्टि से स्वर्ग की राजधानी स न्यून समवती नहीं थी, उसका अधिपति तो धरती का इन्द्र ही था । विद्याधर के अनुसार व्यतिरेक-रूपन अलंकार ॥ ४ ॥

भैमीपदस्पर्शकृताथरथ्या सेय पुरीत्युत्कलिकाकुलस्ताम् ।

नृपो निपीय क्षणमीक्षणाभ्या मृग निशश्वास सुरैः क्षताश ॥ ५ ॥

जीवातु—भैमीति । नृपो नल, इय भैमीपदस्पर्शेन कृताथरथ्या सफल-मार्ग, सा श्रूयमाणा पुरी कुण्डिनपुरीत्युत्कलिकया उत्कण्ठया, आकुल क्षुभित सन् । क्षणमीक्षणाभ्या, ता पुरी, निपीय सतृष्ण दृष्ट्वा, सुरैः क्षताश भिक्षाद्य संन् भृश निशश्वास ॥ ५ ॥

अन्वय—इय भैमीपदस्पर्शकृताथरथ्या सा पुरी—इति उत्कलिकाकुल नृप क्षणम् ईक्षणम्या सा पुरी निपीय मुरैः क्षताश भृश निशश्वास ।

हिन्दी—'वह भीमपुत्री ( दमयन्ती ) के चरण स्पर्श से कृताथ गलियों वाली वह ( विख्यात ) नगरी है'—इस उत्कण्ठा से व्याकुल वह राजा ( नल ) क्षण भर उस पुरी की नेत्रों से पीकर ( अली माँति देखकर ) देवा द्वारा मग्नाश किय जान के कारण लम्बी साँसे भरने लगा ।

टिप्पणी—जिस नगरी में दमयन्ती ने जन्म लिया, ब्रौडा विनोद किये, वही हुई, वह नगरी कैसी होगी ? कैसी होंगी वे गलियाँ—वे रास्ते, जिन पर नन्ही की प्रिया के चरण पड़े हों ? एक मावुक सच्चे प्रेमी के सदृश दमयन्ती-कामी नल उस कुण्डिननगरी के अवलोकनार्थ बड़ा उत्सुक था । वह विचारता था कि दमयन्ती को पाकर इस महिमामयी नगरी के धर्मव को भोगने का मौमान्य उसे कभी प्राप्त होगा । पर हाथ रे श्वत्मान्य, उसे देवगण मिल गये । उसे छल से ऐसे कार्य में प्रवृत्त कर दिया कि सब स्वर्ग भग्न हो गये । आशा निराशा में बदल गयी । कष्ट और दुःख में लम्बी मार्ग लेने के अतिरिक्त वह करता ही क्या ? विद्याधर के अनुसार ऐकानुग्राम-काव्यलिङ्ग भावशब्दों अलङ्कारों का सङ्कर ॥ ५ ॥

स्विद्यत्प्रमोदाश्रुत्वेन वाम रोमाञ्चमृतस्मभिरम्य चक्षुः ।

अभ्यन्तु कम्प्रमपि स्फुरन्त तस्याः पुर प्राप नवोपभोगम् ॥ ६ ॥

जीवानु—नयैव विद्यमानस्य सस्वेष्टनिद्रिद्विचक्र दक्षिणाजिस्वन्दन जात-निम्ब्याह—स्विद्यदिनि । अभ्य नन्म्य, वाम चक्षुः, प्रमोदाश्रुत्वेन आनन्द-बाष्पकणैः, स्विद्यत् स्विन्न सत्, पश्चमि उमिगङ्गिरिनि द्येय । रोमाञ्च-कृश्रोमाञ्चिन सत्, तस्या पुर नगर्या, स्फुरन्त प्रकाशमान, नवोपभोग अपूर्वदर्शनमाश्रयज्ञमञ्च प्राप । अभ्यत् पुनर्दक्षिण तु कम्प्रमपि कम्प्रञ्च सत् त प्राप । वामाक्ष्य स्वेदरोमाञ्चावेव । दक्षिणस्य तु वैपथ्यद्विज सात्त्विक-मवृत्त इत्यर्थः । प्रथमनङ्गमे कम्प्रस्वेदरोमाञ्चादयो आयत्ते । पुनस्त्य दक्षिणा-निम्बदन शुभाय भवतीति निमित्तवेदिन । अत्रानन्दाश्रुपश्मोक्षेपाक्षिस्पन्देषु स्वेदादिमात्त्विकरूपणाद्रूपकम् । तदुन्मथितनवोपभोगन्द्वहारात्ममारोपात् पुरीचक्षुषो क्षीपुनस्त्वप्रतीने रूपकसङ्कीर्णा समासोक्तिरलङ्कारः ॥ ६ ॥

अन्वयः—अस्य प्रमोदाश्रुत्वेन स्विद्यत् पश्चमि रोमाञ्चमृत वाम चक्षुः तस्या पुर स्फुरन्त नवोपभोग प्राप कम्प्र तु अन्वत् प्राप ।

हिन्दी—उस ( नल ) के हर्षजनित अश्रुकण से स्वेदयुक्त जोर बरीनियों से रोमाञ्चन बायें नयन ने उस ( नगरी ) के समुक्त प्रकाशमान नये उपभोग ( प्रथम दर्शन ) को प्राप्त किया और रूपनशील हाते वामादिरिक्त ( दक्षिण नयन ) ने प्राप्त किया ।

टिप्पणी—इस श्लोक में नल के नेत्रों की एक ऐसे नायक के रूप में उद्भावना की गयी है, जो नायिका के प्रथम सपक में आया है। कुडिनपुरी को दोनों नेत्रों से निहार कर नल को प्रसन्नता हुई और आनन्दाश्रु से उड़का वामनेत्र पूर्ण हो गया और बरौनियाँ जैसे अचित्त हो गयीं तथा दाहिना नेत्र (धुम धनुन स्वरूप) फटकने लगा। नल के नेत्रों की नायिका के रूप में कुडिनपुरी की उद्भावना है, जिसके 'नवोपमोग' अर्थात् प्रथमदर्शन अथवा नूतनकामकेलि का सुख प्राप्त करते दोनों नयनों में आत अश्रु आदि नायक के भाव हैं। आनन्दाश्रु 'स्वेद' है और 'रोमाञ्च' तथा कप (बपन) 'कर' नामक सात्त्विक भाव हैं। नयनों की वह स्थिति यद्यपि प्रकृतिसिद्ध है तथापि वह यहाँ प्रिया-प्राप्ति की सूचना भी देती है। नवोपमोग के समय कामिजन की भी ऐसी स्थिति हो जाया करती है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ रूपक-मकीर्णों समाशोक्त है, क्योंकि आनन्दाश्रु आदि में स्वेदादि सात्त्विकों का रूपण है और नवोपमोग ध्वजहार के समारोप के आधार पर नयन और कुडिनपुरी में नायक-नायिका की प्रतीति होती है। विद्याधर ने केवल समाशोक्त का निर्देश किया है ॥ ६ ॥

रघादसौ सारथिना सनाथाद्राजावतीर्याशु पुर विवेश ।

निर्गत्य बिम्बादिव भानवीयात्सोधाकर मण्डलमशुसङ्ग ॥ ७ ॥

जीवातु—रघादिति । असी राजा नल सारथिना सनाथात् सहितात् रघावतीर्य अशुसङ्ग अशुसङ्ग, भानवीयात् बिम्बाभिर्गत्य सोधाकार भान्द्र मण्डलमिव आशु पुर कुडिन विवेश । 'सल्लिमये शशिति रवेदीधितयो मृच्छितास्तमो नैद्यम् । अपयन्ति दर्पणोदरनिहिता इव मन्दिरस्मात् ॥' इति शास्त्रादियमुपमा ॥ ७ ॥

अन्वय—असौ राजा सारथिना सनाथात् रघात् अवतीर्य भानवीयात् बिम्बात् निर्गत्य सोधाकर मण्डलम् अशुसङ्ग इव आशु पुर विवेश ।

हिन्दी—सारथि—युक्त रथ से उतरकर यह राजा (नल) जैसे सूर्य के बिम्ब से निकल चन्द्र के मण्डल में किरण समूह प्रविष्ट होता है, वैसे ही सोधतापूवक नगर में प्रविष्ट हो गया ।

टिप्पणी—इस श्लोक में उपमात्कार है। इसका आधार है ज्योति-  
दास्य। मल्लिमय चंद्र में सूर्य किरणें प्रविष्ट होकर रात्रि के अंधकार का  
विनाश उसी प्रकार करती है जिस प्रकार कि दर्पण में विद्यमान प्रकाश-  
किरणों मंदिर के अंधकार का। मात्र यह कि रत्न में सूर्य को छोड़कर  
नगर में एकाकी प्रवेश करता नल चंद्र के समान सुशोभित हुआ ॥ ७ ॥

चित्रं तदा कुण्डिनवेशिनन्मा नलस्य मूर्तिववृत्ते नदस्या ।

वनव तस्त्विच्छतर तथापि विद्वत्कद्वयैव यदस्य मूर्ति ॥ ८ ॥

श्रीवाङ्म—चित्रमिति । तदा तस्मिन्समये, कुण्डिनवेशिनं कुण्डिन-  
प्रविष्टस्य नलस्य सा तथा दर्शनीया मूर्तिर्नदया जयदर्शनीया । ननर्पस्य  
नद्यजस्य 'मुष्मुना' इति उपास । ववृत्ते जाता, चित्रं विरोधादिति भावः ।  
इद्वरादद्वयत्वं गतेष्वविरोधः । तथान्यद्वयानि अस्य मूर्तिर्विश्वेकद्वयैति  
यत्तच्चित्रतरं वम्व, द्वाद्वत्वाद्वयत्वयोर्विरोधादिति भावः । विश्वस्यैकस्यैव  
द्वया दृष्टिप्रियैवेत्यविरोधः । अत्र विरोधाभासयोः समृद्धिः ॥ ८ ॥

अन्वयः—तदा कुण्डिनवेशिनं नलस्य मूर्तिं नदस्या वम्वे, चित्रम्,  
तथापि यत् अस्ति मूर्तिं विश्वैकद्वयं तत् चित्रतरं वम्व ।

हिन्दी—उस काल कुण्डिनगरी में प्रविष्ट होते नल की मूर्ति दर्शनीय  
थी, वह आश्चर्य है, तथापि जो उसकी मूर्ति 'विद्वत्कद्वय' अर्थात् सबल-  
अगत् के देखे जाने योग्य ( परिहारार्थ में सबको सुन्दर लगी ) रही, वह  
और अधिक आश्चर्य हो गया ।

टिप्पणी—देव-वर के कारण नल अदृश्य था और वह दर्शनीय तो था  
ही । 'न द्रष्टा' का एक अर्थ अदृश्य है, दूसरा अर्थ है जैसी सामान्यतः देखी न  
जाती हो, अर्थात् अनुन्नत ( परिहारार्थ ) । ऐसे ही 'विद्वत्कद्वय' के दो अर्थ  
( विश्वमात्र का दृश्य और सबको सुन्दर लगने वाला ) करने विरोध और  
परिहार दिखाकर चमत्कार लाया गया है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ  
दृश्य और अदृश्यत्व में तथा 'विद्वत्कद्वय' की दृष्टिप्रियता में विरोध है,  
अतः विरोधाभासों की समृद्धि है, विद्याधर भी विरोधाभास मानते हैं ॥ ८ ॥

जनविदग्धेनवर्जश्च मुग्धं पदे पदे विस्मयकल्पवल्लीम् ।

विगाहमाना पुरमस्य दृष्टिरथाददे राजकुलातिथित्वम् ॥ ९ ॥

जीवातु—जनैरिति । अयास्य नलस्य, दृष्टिविदग्धैरभिज्ञं जनं मुग्धं सुन्दरं भवनेष्वपदे पदे विस्मयकल्पवल्ली आश्चर्यावहामित्यर्थः । पुर विगाहमाना विभाषयन्ती । राजकुलातिथित्वमादयः । क्रमादसौ राजभवनं ददर्शेत्यर्थः ।

अन्वयः—अथ अस्य दृष्टि विदग्धं जनं मुग्धं भवनेष्वपदे पदे विस्मयकल्पवल्ली पुर विगाहमाना राजकुलातिथित्वम् आदये ।

हिन्दी—तदनन्तर उस ( नल ) की दृष्टि चतुर पुरुषों और मनोहर भवनों द्वारा पग-पग पर आश्चर्य की कल्पलता पुरी का विगाहन ( भली भाँति अवलोकन ) करती राजभवन के अतिथिभाव को प्राप्त हुई ।

टिप्पणी—कुडिनपुरी में प्रविष्ट होने पर नल को स्थान-स्थान पर अनेक चतुर व्यक्ति मिले और अनेक भव्य भवन दीखे, जिससे उसे आश्चर्य हुआ । इसी प्रकार नगरी का भली भाँति अवलोकन करता नल धीरे-धीरे राजभवन तक जा पहुँचा । विदग्धं मुग्धं च जनं भवनेष्व' अन्वय करने पर विदग्ध (विद्वान्) और मुग्ध ( मूर्ख ) जनो में विरोध हुआ और विदग्ध ( जले ) और मुग्ध ( सुन्दर ) भवनों में असंगति हुई, अतः विरोध हुआ । यही आश्चर्य है । इसका परिहार होगा—विदग्ध अर्थात् विद्वान् होकर मुग्ध अर्थात् सुन्दरजन । इसी प्रकार भवन-पग में विदग्ध का अर्थ लक्षणा शक्ति के आधार पर होगा 'विदग्ध जनो से पूर्ण' अथवा 'चतुर जनो द्वारा निमित्त' ( स्थापत्य की दृष्टि से पूर्ण ) और 'मुग्ध' अर्थात् भव्य । विद्वान् के अनुसार उल्लेख अलङ्कार रूपक ॥ ९ ॥

लीनश्चरामीति हृदा ललज्जे हेला दधी रक्षिजनेऽस्त्रसज्जे ।

द्रक्ष्यामि भैमीमिति सतुतोप द्रव्य विचिन्त्य स्वमसौ सुसोच ॥ १० ॥

जीवातु—लीन इति । असौ नल, अस्त्रं सज्जे सज्जये । 'स' नदी धर्मित-स्तज्जे' इत्यमरः । रक्षिजने राजकुलरक्षावीरवर्गे, हेलामवज्ञा दयाविनिर्गवोक्तिः । लीनः ( वष्ट दूरांश्च ) गृह्यचरामीति हेतोर्हंदा ललज्जे । भैमी द्रक्ष्यामीति सतुतोप । स्व स्वकीय, द्रव्य विचिन्त्य सुसोचेति निर्वोदोक्तिः । अत्र गर्वलज्जाहर्षनिर्वेदाना बहूना भाषाना परस्पररोपमर्सेन समावेशाद्भावश-बलतोक्ता ॥ १० ॥



अन्वय.—असौ लीन चरामि—इति हृदा सज्जये, अस्त्रसज्जये रक्षिजने  
हेला दधौ भैमी द्रक्ष्यामि—इति मनुतोष, स्व दूष्य विचित्र्य सुशोच ।

हिन्दी—यह ( नर ) '( बीर होकर भी ) अदृष्ट हुआ विचरन कर  
रहा है'—यह विचार कर मन ही मन लज्जित हुआ । उसने दत्तवारी  
रक्षदालों के प्रति अपना—अनादर का भाव धारण किया भीमपुत्री को  
देखूँगा—इससे वह प्रसन्न हुआ अपने दूतभाव का विचार कर हुआ ।

टिप्पणी—दूरी में भ्रमा करके नर की भावसकुलता का यहाँ चित्रण है ।  
रज्जु, हेला ( अनादर ), तोष और शोक इत्यादि नर के हृदय में उत्पन्न  
हुए । बीर छिन्नकर प्रविष्ट हो, यह उसके लिए सज्जास्पद है । अस्त्र सज्जित  
पहरेदार बीर के लिए नग्न, उन्मत्त होठे ही हैं, ओ हेला । दम्पती  
को देख सकने की स्थिति पर सतोष हुआ, जो तुरन्त इस सोच से दब गया  
कि नर इस समय उसके प्रिय रूप में नहीं, पराये दूत के रूप में उपस्थित  
होने जा रहा है । विद्याधर के अनुसार मादयबल्ला अजङ्कार ॥ १० ॥

अयोपकार्यान्मरेन्द्रकारात्कक्ष्यामु रक्षाधिकृतैरदृष्ट ।

भैमी दिदृक्षुर्बहु दिक्षु चक्षुर्दिशन्मसौ तामविशद्विशङ्क ॥ ११ ॥

जोवानु—अयेति अपानतर, अमी नर, कक्ष्यामु गृहप्रकोठेषु । 'कक्ष्या  
प्रकोष्ठे हृदये' इत्यमर । रक्षायामधिकृतं, रक्षिजनं, अदृष्टम् भैमी,  
दिदृक्षुर्दृष्टुमिच्छु । अतएव दिक्षु चक्षुर्बहु भूयिष्ठ, दिशन् विशङ्कुस्मन्, ता  
पूर्वनिदिष्टा, उरकार्या राजनश्नम् । 'उरकार्या राजसञ्चलि' इति विश्व ।  
अमरेन्द्राणां कार्यात् प्रयोजनात् हनोरविशत् ॥ ११ ॥

अन्वय.—अय कक्ष्यामु रक्षाधिकृतं अदृष्ट भैमी दिदृक्षु दिक्षु चक्षु  
बहु दिशन् विशङ्क असी अमरेन्द्रकार्यात् ताम् उपकार्याम् अविशत् ।

हिन्दी—तदनन्तर भवन के प्रकोष्ठों में रक्षा-अधिकारियों ( प्रहारियों )  
को न दीवता, भीमपुत्री ( दम्पती ) को देखने के निमित्त चारों ओर धार-  
धार दृष्टि डालना शकाहीन यह ( नर ) देवराज ( इन्द्र ) के कार्य से उस  
राजगृह में प्रविष्ट हुआ ।

टिप्पणी—देवराज से मिले घर के कारण नर प्रहारियों को न दीव  
पट्टा पा, अतएव वह निश्च होकर दम्पती को डूँढ रहा था । चोरी से

किसी के घर में जा धुमना विसो चूर-बीर, सज्जन ध्यवित का काम नहीं होना, किन्तु नल देवेन्द्र की कार्यसिद्धि के लिए दूतोचित कार्य कर रहा था । रामकथा के हनुमान् भी ऐसे ही लघुरूप धारण करके लवा में प्रविष्ट हुए थे । विद्याधर के अनुसार उत्प्लेख्य अलङ्कार छेकानुप्रास ॥ ११ ॥

अथ क इत्यन्यनिवारकाणा गिरा विभुर्द्वारि विभुग्य कण्ठम् ।

दूश दधौ विस्मयनिस्तरङ्गा विलङ्घितायामपि राजसिंह ॥ १२ ॥

जीवानु—अयमिति । विभु समर्थ, राजा सिंह इव राजसिंह राजश्रेष्ठ, उपमितसमास । स नल, अथ क इत्यन्यस्य स्वर्ण्यतिरिक्तजनस्य, निवारकाणा, रक्षिणा गिरा वाक्येन (हेतुना) कण्ठ विभुग्य किं दृष्टोऽस्मीति शङ्कया ग्रीवा विवल्ग्व्य बक्रीहृत्प्रेत्यर्थ । विलङ्घितायामतिश्रान्तायामपि द्वारि । विस्मयेन कथमेते मामद्वाक्षुरित्याश्चर्येण । निस्तरङ्गा निश्चिन्ता, दूश दधौ । सिंहस्य ग्रीवामङ्गेन लङ्घिताध्वदर्शन युक्तमिति भावः ॥ १२ ॥

अन्वय—विभु राजसिंह—अथ क—इति अन्यनिवारकाणा गिरा कण्ठ विभुग्य विलङ्घितायामपि द्वारि विस्मयनिस्तरङ्गा इव दधौ ।

हिन्दी—सामर्थ्यशाल बहू राजसिंह ( राजश्रेष्ठ ) 'यह कौन है'—ऐसे किसी और का निवारण करते पहरेदारों के बचनों के कारण गरदन पीछे मोड़कर द्वार को लंग्रजाने पर भी आश्चर्य से निश्चल दृष्टि से देखने लगा ।

टिप्पणी—उदय्य रहकर राजमंदिर में धूमते सिंह सम गराक्रमी नल ने पहरेदारों की बाणी सुनी—'यह कौन है' ? नल को इस पर आश्चर्य हुआ कि अदृश्य रहते भी उसे पहरेदारा ने कैसे देख लिया ? वस्तुतः प्रहरीया ने किसी अन्य प्रविष्ट होते ध्यवित को टोका था, जिसे नल ने अपने प्रति समझ लिया । फिर भी राजसिंह नल डरा नहीं, 'सिंहावलोकन' करते उसने द्वाट पार करते हुए पीछे देखा, फिर आश्चर्य हो आगे बढ़ा । विद्याधर के अनुसार जाति और श्लेष का सङ्कर ॥ १२ ॥

अन्त पुरान्तस्य विलोक्य बाला कान्चित्समालम्बुमसवृतोरुम् ।

निमीलिताक्षः परया भ्रमन्त्या सङ्क्षुट्टमासाद्य चमच्चकार ॥ १३ ॥

जीवानु—अन्तरिति । स नल, अन्त पुरस्यान्तरम्यन्तरे, अध्यमेतत् ।

सनालभुदुनपिबुम् । असवृत्तोरननाच्छादितोस्तेषां, काश्चिद्वाला हिम-  
विनोक्त, निमीलिताश्चसन् पराङ्गनादर्शनपापनीत्येति भाव । जननत्या  
तत्र नखरन्त्या परया सन्त्यतरेष सङ्घट्टमभिधात आनाद्य, द्वयोरपि दृष्टि-  
प्रतिबिम्बादिति भाव । चमच्चकार उन्ञ्जति स्म । चमदित्यनुकारिसङ्घ ॥

अन्वय—अन्त पुरान्त सनालभुम् असवृत्तौह काश्चिद् बाला विनोक्त  
निमीलिताश्च स अमन्या परया सङ्घट्टम् आमाद्य चमच्चकार ।

हिन्दी—रनिवास के भय उदवर्तन ( उदहन, मालिश ) के निमित्त जाँघ  
छोले किसी बाला को देखकर भाँसे दण्ड बिदे वह (नर) घूमती अन्य स्त्री के  
टक्कर खाकर चञ्चल हो ग्या ।

टिप्पणी—नर के अदृश्य रहने के कारण रनिवास की कोई स्त्री वहाँ  
पुष्ट्य का होना सोच हो नहीं सकती थी, अतः वे स्वच्छन्दता पूर्वक अपने-अपने  
कार्य कर रही थी । एक स्त्री जाँघ पर मालिश करा रही थी उसकी धूलो  
जाँघ को देखना उचित न समझते हुए नल न भाँसे मीचनी, फल यह हुआ  
कि उसपर जाती एक अन्य स्त्री से टकरा गयी, क्योंकि वह स्त्री भी उहाँ देख  
न पायी थी । पर नल को अचरज लगा कि क्यों यह स्त्री मुत्तसे टकगयी ?  
विद्याधर के अनुसार जानि अलकार ॥ १३ ॥

अनादिमर्गसिजि वानुभूता चित्रेषु वा भीममुता नलेन ।

जातैव यदा जितशम्बरस्य सा शाम्बरीसित्पनलक्षि दिक्षु ॥ १४ ॥

जीवानु—जनाशीति । जनादी मर्गसिजि मृष्टिपरम्पराया वा, क्वचि-  
ज्जनान्तर इत्यर्थ । चित्रेषु आलेख्येषु, वानुभूता । अस्पृश्यानुभूतेभ्यो अमा-  
सम्भवादिति भाव । यदा, मास्त्वनुभव इति शेष । किन्तु, जितशम्बरस्य  
मायिनोऽपि मायिन, कामस्य शाम्बरीसित्प मायामृष्टि । 'स्थानाया  
शाम्बरी' इत्यनर । जातैव, सा भीममुता नलेन दिक्षु अस्ति प्रतिदिश-  
मन्व्यत । लक्षे कर्मणि लुङ् । अत्रालीकर्ममीसाक्षात्कारो जन्मात्तरानुभववादा  
केवलमदनमायाबलादिति हेतु प्रेषा ॥ १४ ॥

अन्वय—यनादिसर्गसिजि वा चित्रेषु अनुभूता यदा जितशम्बरस्य  
शाम्बरीसित्प जाता एव सा भीममुता नलेन दिक्षु बलक्षि ।

हिन्दी—जैसे आदि-हीन सृष्टि की परम्परा में देखी हो, अथवा चित्रों में उसका अनुमन हो, अथवा शबरजयी ( काम ) की शबर शिल्प ( माया ) ही हो, ऐसी भीमसुता ( दमयती ) को नल ने प्रत्येक दिशा में देखा ।

टिप्पणी—राजभवन में चारों ओर दमयती ही दीख रही थी, यद्यपि वह वहाँ थी नहीं । अविद्यमान् दमयती की देखो प्रत्यक्ष करने की तीन सम्भावनाएँ हैं—( १ ) कभी अनादि सृष्टि परम्पराओं में—जमातर में उसे देखा हो, परन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं है, और पूर्व जन्म का स्मरण भी प्रायः नहीं रहता । ( २ ) चित्रगत होने में प्रत्यक्ष हो, पर चित्र के जड़ होने के कारण वह ब्रह्माहीन होगी । ऐसी दमयती की कल्पना भी उचित नहीं है । ( ३ ) मायावी शबरसुरजयी काम की माया का ही वह चमत्कार हो । कदाचित् यह तीसरी स्थिति ही उपयुक्त है । दमयती काम का माया शिल्प ही थी, इसी कारण इतनी मनोहर थी । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ हेतुप्रतीक्षा है, कारण कि अतम्य दमयती के साक्षात्कार के तीन हेतु समाहित हैं । विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास रूपक-विशेष अलंकारों का संकर है ॥१४॥

अलीकभैमीमहदृशान्त्त तस्यान्यकन्याप्सरसो रसाय ।

भैमीभ्रमस्यैव तत् प्रमादाद्भैमीभ्रमस्तेन न तास्वलम्बि ॥ १५ ॥

जीवातु—जलीकेति । अन्या कन्या अप्सरस इव । उपमितसमास । अप्सरकल्पा अपि कन्या तदवस्था स्त्रिय, अलीकभैम्या महदृशनात्ते तस्य नलस्य रसाय रागाय, नाभवन । ततोऽपि तासामपकृष्टवादिति भाव । तर्हि, कि साहस्यतात्तादपि भैमीभ्रमो नाभूदत आह—भैमीति । तत् इति सावनिमित्तिकस्तति । तत् तस्य भैमीभ्रमस्यैव प्रमादात्तेन मलेन तास्वतपुरस्त्रीषु भैमीभ्रमो नालम्बि न प्राप्त । अत्यन्तासाहस्यवादिति भाव ॥ १५ ॥

अन्वय —अलीकभैमीमहदृशनात् अन्यकन्याप्सरस तस्य रसाय न, तेन सत् भैमीभ्रमस्य एव प्रमादात् तासु भैमीभ्रम न अलम्बि ।

हिन्दी—अतम्य भीमसुता के साथ देखने से दूसरी कुमारी रूप अप्सरियाँ उस ( नल ) के राग आनन्द का कारण न बनतीं, उस ( नल ) को उस श्रीमपुत्री के भ्रम के प्रमाद के कारण ही उनमें भीमपुत्री ( दमयती ) का भ्रम न हो पाया ।

टिप्पणी—राजमदन में अप्सरियों की रमणीय अन्य अनेक कुमारियाँ थीं, परन्तु नल को उनमें अनुराग उत्पन्न नहीं हुआ। यद्यपि दमयन्ती वहाँ दम्पत्यः नहीं थी, तथापि अलीक दमयन्ती तो थी, दमयन्ती न रही, दमयन्ती की भ्राति तो थी। इसी अलीक दमयन्ती के साथ भी तुलना करने से अन्य सुन्दरियाँ नल को मनोरम नहीं प्रतीत होती थी और उसका रजन न हो जाता था। विद्याधर के अनुसार रूपक और उत्प्रेक्षा अलंकार ॥ १५ ॥

भैमीनिराशे हृदि मन्मथेन दत्तस्वहस्ताद्विरहाद्विहन्त ।

स तामलोकामवलोक्य तत्र क्षणादपश्यन्व्यपदद्विबुद्धः ॥ १६ ॥

जीवानु—भैमीति। भैम्या निराशे मुरे क्षणाशे, हृदि, मन्मथेन दत्तस्व-हस्ताहस्तावलम्बाञ्जनित्वादिस्पर्शः। विरहाद्विहन्तो विह्वलः, मन्मथं अलीकं ता भैमीमवलोक्य, क्षणात् विबुद्धं निवृत्तभ्रमः, तत्र तामपश्यन् व्यपदत् विद्यतोऽभूत्। अदेमुं ह्। लुत्स्वाच्छेरङादेशः। 'सदिराशे' इत्यङ्ग्यवायेऽपि पश्यम्। भैमीशून्यविवोधात्तद्वान् भ्रम एव तस्याशान्तोऽभवदिति भावः ॥ १६ ॥

अन्वय—भैमीनिराशे हृदि मन्मथेन दत्तस्वहस्तात् विरहात् विहन्त अलीकं ताम् अवलोक्य क्षणात् विबुद्धः स तत्र अपश्यन् व्यपदत्।

हिन्दी—भौमपुत्री ( दमयन्ती ) से निराश हृदय में काम द्वारा सहारा पाने विषय से बेहाश ( विकल ), अतथ्य उस ( दमयन्ती ) को देखकर क्षण बीतते सजग हुआ वह ( नल ) वही ( उस दमयन्ती ) को न देखकर व्यथा पाने लगा।

टिप्पणी—देवों का दूत होकर नल दमयन्ती के प्रति निराश हो गया था, किंतु काम ने अपने हाथों सहारा दे विषय को उसके हृदय में फिर जगा दिया, इससे नल की व्याकुलता बढ़ गयी। जब उसने अलीक दमयन्ती को देखा तो कुछ रैन मिला, पर जब वह भ्रम हटा तो वह पुनः दिगुण्ठित रह पाने लगा। काम से 'हाथ पाने' विरह से नल का 'बेहाश' हो जाना अमंगल लगता है, यह आश्चर्य है कि 'हाथ पाना' बेहाश हो, हाथ दान करते पर तो काम को 'विह्वल' होना चाहिए। इसका परिहार हो जाता है 'हस्त' का 'सहारा—अवलम्ब' और 'विह्वल' का 'व्याकुल' अर्थ करने पर। इस प्रकार विरोधाभास अलंकार। विद्याधर के अनुसार भावोदय अलंकार ॥ १६ ॥

प्रिया विकल्पोपहृता म यावद्दिगीशसन्देशमजल्पदल्पम् ।

अदृश्यवाग्भीषितभूरिभीरुभवो रवस्तावदचेतयत्तम् ॥ १७ ॥

जीवातु—प्रियामिति । स नल, विकल्पोपहृता विभ्रमोपनीता, प्रिया दमयन्ती, यावद्दिगीशसन्देश इन्द्रादिवाचिक, अल्पमजल्पदल्पयत् । तावददृश्यया अलक्ष्यकर्तृकया, वाचा हेतुकर्म्या, भीषिता वित्रासिता । 'भियो हेतुभये पुरु' । तादृक् ता भूरयोऽनेका भीरवो भयशीला स्त्रिय ताम्यो भवतीति तद्भूयो रव कलकल, त नलमचेतयदबोधयत् । चेततेर्भावादिवत् णिच् ॥ १७ ॥

अन्वय—स विकल्पोपहृता प्रिया यावत् दिगीशसन्देशम् अल्पम् अल्पम् सावत् अदृश्यवाग्भीषितभूरिभीरुभव रव तम् अचेतयत् ।

हिन्दी—वह (अदृश्य रहता नल) भ्रम के कारण कल्पित प्रिया (दमयन्ती) से जब दिगालो का सदेश घोड़ा सा बोला तब ही न दीखती वाणी से डरी अनेक डरपोक स्त्रियो द्वारा मचाये कोलाहल ने उसे सावधान कर दिया ।

टिप्पणी—देव-वर से अपनी काया अदृश्य किये भ्रमकल्पित अलोक दमयन्ती से नल ने दिग्पालो के सदेश के कुछ घट्ट कहे ही थे कि नारी मण्डली में भीषण कोलाहल मच गया । अदृष्ट व्यक्ति के वचन सुनकर वे भीष नारियाँ समझी कि कोई भूत-प्रेत-वाया आ पड़ी है, जो गून्घ में से स्वर सुन पड़ रहा है और वे डर कर चिल्ला पड़ी । इससे नल ने अपनी भूल समझी कि वह यह क्या कर रहा है कि अदृश्य रह कर बोल रहा है ? तब नल सावधान हुआ और चुर हो गया । विचार के अनुसार छेकानुप्रास और कान्ति मावोदय अलंकार का सकर ॥ १७ ॥

पश्यन् स तस्मिन्मरुतापि तन्त्रा स्तनी परिस्पष्टमिवास्तत्रस्त्री ।

अक्षान्तपक्षान्मृगाङ्कुमास्य दधार तिर्यग्बलित विलक्ष ॥ १८ ॥

जीवातु—पश्यन्निति । स नल तस्मिन्मरुतपुरे मरुतापि अचेतनेनापीति भाव । परिस्पष्टं स्पष्टमिव । अस्तवस्त्री अपनीताशुको तस्या स्तनी पश्यन् विलक्षो विलज्जितस्मन्, अक्षान्तपक्षा तमृगाङ्कु, अक्षात् असोड पक्षात् पौर्णमास्या मृगाङ्कु चन्द्रो येन तदास्य, तिर्यग्बलित साचीकृतम् । दधार घृतवान् । यत्राचेतनस्य वायोरपि चपलता तत्राय निविहार एवेत्यहो जितेन्द्रियत्वमस्येति भाव ॥ १८ ॥

अन्वय—जम्बिन् मरुता जनि पण्डितृन् इव तन्व्याः अन्वदन्तौ मृतौ पश्यन् विदुः स अजान्तमज्ञानमृगच्छन् आम्ब निमंक् वलित दधार ।

हिन्दी—वहाँ ( अन्तपुर में ) बायु ( देव ) द्वारा भी परित्यक्त के निमित्त जैसे कोमलांगी ( सुन्दरी ) के सम्बन्ध उठा दिये जाने से उधड़ गये स्तनों को देख दुःखिने ( विनय ) सम ( नल ) ने पश्चात् ( पुनिमा ) के चद्र को सहन करते मुख को तिरछा कर लिया ।

टिप्पणी—अन्तपुर में किसी स्त्री का आवल बायु से उठ गया और उसके स्तन उधड़ गये । इस पर कवि-कल्पना है कि जपेनल पवन नहीं, मरुत देव सुन्दरी पर आकृष्ट हो उसका कुचमर्दन करना चाहते थे । नल सञ्जन था—उत्तम नायक । वह मठा किन्ही नयी स्त्री को कैसे देखता, पलम्बस्म उद्यते दपने पुनिमा के चद्र को स्मिन्व करने वाला अपना मुख मोट लिया । प्रकाशकार के अनुसार प्रच्छन्न कामुक-समाय-काल में चद्र 'तिरोधान' उचित है, यह ध्वनित होता है । नल का चद्रमुख इसी कारण 'तिर्यन्वलि' हुआ । अम्बिनाथ ने इसने नल की त्रिरेन्द्रियता का भक्ति किया है । जिस सुन्दरी-कुचमर्दन में अचेतन बायु को भी आकृष्ट कर लिया ( अथवा मरुदेव को भी चलचिन कर दिया ), उस पर भी नल के मन में जाकर्षण नहीं उत्पन्न हुआ । अस्तु त्रिरेन्द्रिय था नल । विद्याधर के अनुसार यहाँ दरदशा-उपमा-भावोदय अलंकारों का सङ्कर है ॥ १८ ॥

अन्तपुरे जिम्नवागुरोर्जि वागवलीना वलितैर्गुणौघः ।

न काञ्चनार हरिण तदक्षिद्वन्द्व प्रभुर्दग्धुमभून्मनोन् ॥ १९ ॥

जीवानु-जन्मरिति । अन्तपुरे बाणवलीना श्रीकृष्णाना, वदयोरभेदाद्रो-मत्तनूहाना च, वलितै पुन पुन प्रवृत्त आवर्तिर्जिग्म गुणाना कटाक्षविशेषादीना मृगाणा चौर्यं विस्तृतवागुर प्रनारितमृगवर्गनोकोर्जि । 'वागुरा मृगवर्गनी' इत्यमरः । मनोन् न एव मृगदुरिति शेषः । तस्य नलस्यापिद्वन्द्वमेव काल-मारम्, वृष्णानारम्, जसिद्वन्द्वु कालेन कनीनिकाकाव्येन सार श्रेष्ठ, हरिणश्च वग्धुनाकृष्ट मन्दन् च प्रन् रक्तो नानूत् । त्रिरेन्द्रियवादव्यति नाव । प्रवाग्नादिषु हरिणत्वादिरूपान्ननोनूवो मृगमुत्वं सम्पत् इत्येकदेश-वतिरुक्तम् ॥ १९ ॥

अन्वय—अतःपुनः बालावलीना ( बालावलीना ) वर्तितं गुणीषं  
विस्तृतवागुरा अपि मनोभू तदसिद्धिं कालसार हरिण वन्धु प्रभु न यमुर ।

हिन्दी—अतः पुनः मे बालाओं के बारम्बार किये जाते सविलास गुण-  
समूहों ( नृत्य, गीत, अगड़ाई आदि के सौन्दर्य ) रूप 'बाल' समूहों की बटी  
( गुण समूह ) रस्सियों का जाल बिछाये कामदेव ( आखेटक ) उस ( नल )  
के सुन्दर पुतलियों से युक्त नयनयुगलरूप कृष्णसार हिरन को फँसने में  
समर्थ न हो पाया ।

टिप्पणी—यहाँ काम को आखेटक, नल के नेत्रयुगल को आखेट हरिण  
और 'बबयोरभेद' के आधार पर बालावली के गुणसमूह (सौन्दर्यादि) को बालों  
से बटी रस्सी बताया गया है, जिसकी 'वागुरा' ( जाल ) में कामरूपी आखेटक  
नल नयनयुगल हरिण को फँसना चाहता है, पर यह हो न सका । कारण कि  
नल जितेंद्रिय था, एक दमयन्ती का अनुरागी था । उसके नेत्र अथ रमणी-  
सौन्दर्य पर आकृष्ट हो ही नहीं सकते थे । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ एक-  
देशविधिति रूपक है, यद्यपि अक्षि आदि में हरिणत्व आदि के रूपण द्वारा  
काम का आखेटकत्व गम्य बना है । विद्याधर के अनुसार यहाँ विद्येपोलि-  
रूपक की मसृष्टि है ॥ १९ ॥

दोर्मूलमालोक्य कच दस्तोस्ततः कुचो तावनुलेपयन्त्या ।

नाभीमयैष इत्यवाससोऽमुमिमाल दिक्षु ब्रमकृष्टचक्षुः ॥ २० ॥

जावानु—दोरिति । एष नरः, कच नेशपाश, दस्तो—रोद्धुं बहुमिच्छो,  
कस्याभिर्दोर्मूलं बाहुर्मूलमालोक्य । ततोऽनन्तरं, कुचावनुलेपयन्त्या तौ कुचावा-  
लोक्य, अथ इत्यवाससं अस्ताशुकाया, नाभीमालोक्य, अनन्तरं, दिक्षु  
पुरं पार्वभागेषु श्रेण कृष्टचक्षुः प्रत्याहृतदष्टिं सन्, मिमील निमीलिताशोऽ-  
भूत् । तत्र तथा यष्टेष्टेष्टे स्त्रीमण्डले तस्य पापभीरोनैव निमीलनमेव प्राप्त  
मित्यय ॥ २० ॥

अन्वय—कच दस्तो दोर्मूलम्, ततः, कुचो अनुलेपयन्त्या तौ, अथ  
इत्यवाससं नाभीम् आलोक्य दिक्षु ब्रमकृष्टचक्षुः एष अनुमिमीत् ।

हिन्दी—वेच बाँधन की दृष्टि ( किसी सुन्दरी ) के भुजमूल, तदनन्तर  
स्वना पर लेप करती वे ( स्तन ), तत्पश्चात् ढीले वस्त्र किये ( सुन्दरी )



को नाभि देखकर चारों ओर कनक दृष्टिपात करते उस ( नर ) ने तदनन्तर नेत्र नीच लिये ।

टिप्पणी—कनक नर को बन्तपुर में विभिन्न सुन्दरियों नांति-नांति के ऐसे व्यवहार करती दिखायी दी, जिन्हें वे न करती, यदि वे जानतीं कि किसी पुरुष की आँखें उन्हें देख रही हैं । विवेन्द्रिय और उत्तम नामक नर को विवशतः ऐसे दृश्य सोचने पड़े रहे थे, जिनका स्वरूप अपने में दृश्य न देखने के लिए अपने नेत्र बन्द कर लिये । नर को लगा कि यह पाप है और अतएव अनुचित है । विद्याधर के अनुसार दोनक और नाबोधय अलंकार का सङ्कर ॥ २० ॥

मीलन शोकेऽभिमुखताम्या धनुं निपीड्य स्तनशान्तराम्यान् ।

स्वाङ्गान्पेनो विजगौ स पश्चात्पुनश्चङ्गोत्प्लुके पुनन्ते ॥२१॥

जीवानु—मीलनिति । मीलननिर्गोलाश, स नरः, अभिमुखताम्या-निमुखताम्या तयानि स्तनाम्या निमित्तेन शान्तराम्या सम्यग्वाताम्या काम्याचिह्नं स्त्रीम्या निपीड्य मध्ये निदम्य धनुं ग्रहीतुं, न शोके धन्यो नाम्बु । स नरः, पश्चादपेनोऽनन्तरं स्वाङ्गानि विजगौ, परस्त्रीस्तनशोकादिबन्धनं, निनिन्द । ते स्त्रियो पुनः, पुनोत्प्लुक्कृतं पुनः धनुं के सदातरोनाम्बे जाते ॥२१॥

अन्वय—मीलनं स अभिमुखापताम्या स्तनशान्तराम्या निपीड्य धनुं न शोके, पश्चात् अनेन स्वाङ्गानि विजगौ, पुनः ते पुनश्चङ्गोत्प्लुके ।

हिन्दी—आँखें-बंद किये वह ( नर ) सम्मुख जाती, ( उच्च ) स्तनों के कारण व्यवधान रखती, दो ( सुन्दरियों ) के द्वारा ( करने मध्य में ) न दबाया जा सका, उनके मध्य से निकल कर अपने अंगों की विवेकता निदा करने लगा, ( कृत ) उन ( दोनों सुन्दरियों ) के आ पुरुषार्थों से टकरा जाने के कारण पुलकित हो गये ।

टिप्पणी—आँखें-बंद करते नर की कुछ दीक्षता नहीं था, अतएव नर को सुन्दरियों भी न देख पाती थीं । परिणाम हुआ कि दो विस्मय दिखाओं से जाती सुन्दरियों के बीच फँस कर वह उनके बगों से टकरा गया । परन्तु दो के बीच फँसा भी नर दबकर पीड़ित नहीं हुआ, क्योंकि उन दोनों के स्तन इतने सन्नत थे कि नर उनके स्तनों की नोकों के बीच ही आ पाया और

निकल गया, क्योंकि सुन्दरियों के वक्षस्थल परस्पर न मिल पाये थे। पर नल की आशंकापूर्वकता ने यह प्रतिकूल था कि वह पर स्त्रियों का (अनजाने ही सही) कुचस्पर्श करे, फलन उसने अपने उन अंगों को गहनास्पद माना, जो परस्त्री कुच-सस्पर्श के दोषी हो गये थे। उन दोनों के स्तन धूँक पड़ने के अंगों से छू गये थे, अतः वे रोमांचित हो उठी। विद्याधर के अनुसार हेतु और भावोदय अलंकार है ॥ २१ ॥

निमीलनस्पष्टविलोकनाभ्या कदर्थिनस्ता कलयन् कटाक्षैः ।

म रागदर्शीव भृश ललज्जे स्वतः सता ह्यो परतोऽपि गुर्वी ॥ २२ ॥

जीवातु—निमीलनेति । निमीलन च स्पष्टविलोकनश्च ताभ्या कदर्थित निपिटस्पर्शनदोषोद्देजित । स नल, ता स्त्रिया, कटाक्षैः कलयन् निविकल्पेन गृह्णन् । रागेण पश्यतीति रागदर्शी, स इव भृश ललज्जे । कष्ट कामुकस्पृष्टा पश्यामीति भृश परितप्तोऽभूदित्यर्थः । नन्वप्रकाशेऽप्ये का लज्जा तत्राह—सता सत्पुरुषाणा परतोऽपि स्वतः एव ह्योर्गुर्वी, अकामादप्यकार्यकरणे परस्मादपि स्वस्मादेव लज्जते सज्जन इत्यर्थान्तरन्यासः ॥ २२ ॥

अन्वयः—निमीलनस्पष्टविलोकनाभ्या कदर्थित। ता कटाक्षैः कलयन् स। रागदर्शी इव भृश ललज्जे, सता परतः अपि स्वतः ह्यो गुर्वी ।

हिन्दी—आँखें मूदना और खोलकर देखना—दोनों से पीड़ित उन (सुन्दरियों) की कटाक्षा (अर्द्ध निमीलित नेत्रों) से देखता वह (नल) अनुराग सहित देखते पुरुष की भाँति अत्यधिक लज्जित हुआ। सज्जना की अन्यजनों की अपेक्षा अपने से ही लज्जा अधिक होती है ।

टिप्पणी—लज्जाहीन व्यापार करती सुन्दरिया के दृष्टिगोचर हो जाने से नल की अनुचित रगता तो वे आँखें-मूदकर चलने लगते । इससे उनके शरीर से आती जाती सुन्दरियाँ टकरा जाती । यह और भी अनुचित लगता । दोनों स्थितियों में अचरार्थ बोध से पीड़ित नल ने यह उचित समझा कि कुछ आँखें खोलकर अथवा एक क्षण बदकर दूसरे क्षण आँखें खोलकर चला जाय । इस पर नल की प्रतीति हुआ कि यह अर्द्धनिमीलित नेत्रों से देखना तो अनुराग-व्यापार-बोधक घटान है, यह तो और भी लज्जास्पद है । फल स्वरूप वे अत्यधिक लज्जाये । प्रश्न हो सकता है कि उनकी ऐसी स्थिति को जब कोई

देव ही नहीं रहा था, तो उनको लज्जा क्यों व्यापी ? इसी के उत्तर में यह मित्रात बचन कहा गया—‘स्वतः सत्ता ह्योः परतोऽपि गुर्वी,’—सम्जनो को स्वतः ही अनौचित्य पर लज्जा लाती है, अन्य की अपेक्षा उन्हें नहीं होती । मन्त्रिणां के अनुसार अर्थान्तरादाय, विद्याधर ने काव्यलिङ्ग-उपमा-अर्थान्तर व्यास के सूत्र का निर्देश किया है ॥ २२ ॥

रोमाञ्चिनाङ्गोमनु तत्कटाक्षेत्रान्तेन कान्तेन रनेनिमृष्टः ।

मोघं शरीरं कुमुमानि नानृतदैर्घ्यपूजा प्रति पर्यवस्यन् ॥ २३ ॥

जीवातु— रोमाञ्चिनाङ्गोमनु पुनङ्गसङ्गात् पुलकित-  
गारीमुद्दिश्य, तस्य नन्व, कटाक्षं कटाक्षवीक्षणं, आतेन अपमस्यामनुरक्त  
इति मन्त्रानेन, रते वातेन कामेन, निमृष्ट प्रयुक्तं कुमुमान्येव शरीरं तस्य  
नन्व, धैर्यस्य निर्विकारचित्तत्वस्य पूजा प्रति पूजाया पर्यवस्यन् पूजात्वेन  
परिणमन् । मोघो व्यर्थो नानृत । शरीरं मुपः पूज्यो भवेदिति भाव । अत्र  
नन्वैवेमङ्गार्यं प्रयुक्तस्य कुमुमजालस्य, न केवल तदमन्त्रवन्व प्रयुक्त तत्पूज-  
कन्वमापन्नमि पनयोत्पत्तिलङ्गो विपमालङ्कारः ॥ २३ ॥

अन्वय—रोमाञ्चिनाङ्गोमनु अनु तत्कटाक्षेत्रान्तेन कान्तेन निमृष्ट-  
कुमुमानि शरीरं तदैर्घ्यपूजा प्रति पर्यवस्यन् मोघं न अनृत ।

हिन्दी—( ‘पुनङ्गसङ्गात्पुनङ्गा’—पुनरु अर्गों के समग से ) रोमाञ्चित  
सुन्दरी की ओर उसके बर्द—निमीलित दृष्टि डालने (कटाक्ष) के कारण भ्रम  
में पड़े रति-प्रिय ( काम ) द्वारा प्रयुक्त पुष्प रूप धातु-समूह उस ( नन् ) के  
धैर्य की पूजा में परिणत होता व्यर्थ न हुआ ।

टिप्पणी—जैसा कि पूर्व श्लोक में निर्दिष्ट है कि नल ‘निमीलितव्यष्ट-  
विरोधन’—झोंकों में ‘कर्शपट’ हो अर्द्ध निमीलित नेत्र करने से चरण करने  
लगे । जैसा नल ने स्वयं विचारा था, काम को भी भ्रम हुआ गया कि नल  
उस ‘रोमाञ्चिनाङ्गा’ के प्रति अनुरक्त हो गया है ( रति ( अनुर्कित ) का  
पति जो ठहरा जाना ), अतः उसने नल पर अपने पुष्प-वाण छोड़ दिये ।  
त्रितेन्द्रिय, कामजयो नल पर वे व्यर्थ हो जाते, पर हुए नहीं । अपना वास्तु-  
विक कार्य तो वे कर न सके, नल के अनुपम धैर्य की पूजा निमित्त अति पुष्पों  
के काम टट्टाने उसी सायंकता में लगे । पराजित काम ने अपने अस्त्रों

को जयी नल को समर्पित कर उसकी श्रेष्ठता स्वीकार ली। मल्लिनाथ ने इस श्लोक में विषय अलंकार माना है, क्योंकि नल के धर्म भग के हेतु प्रयुक्त 'शरीर' न केवल धर्म के अमजक प्रमाणित हुए, उलटे उसकी पूजा के उपयुक्त सिद्ध हो गये, यह अनर्थ (अनचाहा, उलटा) हुआ। विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग अलंकार। 'चद्रक्लास्या'—कार ने मल्लिनाथ के अनुसार विषमालंकार का निर्देश करते हुए 'कुसुमानि शरीर' में व्यस्त रूपक माना है और विषम रूपक के अगाधभाव सकर का निर्देश किया है ॥ २३ ॥

हित्वैव वरमैकमिह भ्रमन्त्या स्पर्शं स्त्रिया सुत्यज इत्यवेत्य ।

चतुष्पथस्याभरणं बभूव लोकावलोक्य सता स दीपः ॥२४॥

जीवातु—हित्वेति । सता स दीपं मुज्जन्त्येष्ट, सता भावानां प्रकाशकं प्रदीपञ्च स नल । इह अन्तःपुरे भ्रमन्त्यास्पर्शचरन्त्या स्त्रिया स्पर्शं एकमभिधं वरमं हित्वैव सुत्यज इत्यवेत्य निश्चित्य लोकावलोक्य सञ्चारिजनदर्शनाय । अन्यत्र, लोकानां जनानां व्यवहाराय । चतुर्णां पथा समाहारं चतुष्पथ, 'तडिताय' इत्यादिना समाहारे द्विगु 'शृङ्गपूरम्'— इत्यादिना समासान्तः । 'पथ-स्वरूपाव्ययादे' इति नपुंसकत्वम् । तस्य आभरणं बभूव । अत्र स्थित इत्यर्थः । विलट्टकमार्गे स्त्रीसंवाभादविलट्टं चतुष्पथे स्थित्वा समन्तादवलोकितवन्- नित्यर्थः । चतुष्पथस्यो दीपा लोकावलोक्या कल्पत इति ध्वनिः ॥ २४ ॥

अन्वयः—इह भ्रमन्त्या स्त्रिया स्पर्शः एक वरमं हित्वा एव सुत्यज— इति अवश्य सता दीपः स लोकावलोक्य चतुष्पथस्य आभरणं बभूव ।

हिन्दी—यहाँ ( अन्तःपुर में ) विचरण करती स्त्री का स्पर्श 'एकपदी' ( गली का सकीर्ण मार्ग ) छोड़कर ही बताया जा सकता है—यह समझ कर सज्जनों का दीपक ( श्रेष्ठ ) वह ( नल ) लोकजनों के देखने के निमित्त चौराहे का आभूषण बन गया ।

टिप्पणी—नल ने परस्त्री-स्पर्श दाप बचाने के लिए अन्तःपुर का सकीर्ण मार्ग छोड़कर बड़ा चौराहे का मार्ग अपनाया ठीक समझा और वे सकीर्ण मार्ग छोड़ चौराहे पर आ गये । कवि ने नल को यहाँ 'सता दीप' विशेषण देकर केवल सज्जन-श्रेष्ठ ही कहा, प्रत्युत उह लोकमार्ग-दर्शक ( कृतव्याकर्तव्य-निर्देशक ) भी बताया । जैसे चौराहे पर रखा दीपक सबको मार्ग दिखाता है, वैसे ही नल ने भी लोक के सम्मुख आचरण का आदर्श उपस्थित किया । वे

‘चतुष्पद’ के ‘आमरण’ बने, चौराहे बर्षातु चारों दिशाओं को बलवृत्त बनाने वाले—सब के कर्तव्य प्रेरक बने। मन्त्रिनाथ के अनुसार यहाँ यह ध्वनि है कि चौराहे पर दीपक लोकावलोकन के लिए रखा जाता है। विद्याधर के अनुसार वाक्यलिंग बलकार ॥ २४ ॥

उद्वर्तयन्त्या हृदये निपत्य नृपस्य दृष्टिर्न्यवृणद् द्रुतेव ।

वियोगिवैराग्यं कुचयोर्नखाङ्कुरैरघेन्दुलीलैर्गल्हन्ति तेव ॥ २५ ॥

जीवानु—उद्वर्तयन्त्या इति । नृपस्य दृष्टिर्न्यवृणन्त्या गान्मुग्धार्जयत्वा, हृदये वसन्ति, निपत्य अर्घेन्दुलीलैरघेन्दुनामिष्यैः, कुचयोर्नखाङ्कुरैः कर्तुमि, वियोगिषु वैराग्यिन्नुपद्रुक्ताविरोधात् । गले हस्तौ गल्हन्त तद्वती कृता गल्हन्तिना हस्तेन गले दृष्टीत्वा नुनेवेत्तुन्नेषाय । मन्त्रिनाथ करोतीति निषि पाविष्टवद्भावे विमलोलम् । उत कर्मणि क्त । ‘अर्घेन्दुश्चन्द्रशकले गल्हस्तनखाङ्कुरो’ इति विश्वः । इतः स्वरितेव न्यवृणद् न्यवर्णिष्ट । पाप-भयादिति भावः ॥ २५ ॥

यन्त्रय — नृपस्य दृष्टि उद्वर्तयन्त्या हृदये निपत्य अर्घेन्दुलीलं कुचयो नखाङ्कुरैः वियोगिवैराग्यं गल्हन्तिता एव दृष्टा एव न्यवृणत् ।

हिन्दी—राजा नन् ) की दृष्टि गान्मुग्धार्जयन् ( उद्वर्तन ) करती (सुन्दरी) के वस पर पड़कर अर्घचन्द्र ( आग चन्द्रमा—गरदनिया देना ) की लीला ( समानता ) करती ( अर्घचन्द्राकार ) नख-बिह्वों द्वारा मानो विरहिजनो से वैर के कारण गरदनिया ( गान पकड़कर निकाल देना ) दी गयी सद्यः सतिति हो वापस हो गयी ।

दिप्यन्ती—कोई स्त्री नम्र हो अपने शरीर पर उद्वर्तन कर रही थी, नन् की दृष्टि उसके वस स्थान पर जा पड़ी, जहाँ कुचयुग्म पर प्राप्ती के नख-बिह्व बने हुए थे । नन् ने उस अदृशनीय दृश्य में सद्यः अपनी दृष्टि हटा ली । नख-बिह्व अर्घचन्द्राकार थे, जिन पर पड़ी दृष्टि सद्यः हटा ली गयी थी । ‘अर्घचन्द्र’ गरदन पकड़ कर बाहर कर देने की क्रिया ‘गरदनिया’ को भी कहते हैं । इस पर कवि ने कल्पना की कि प्रतिबद्ध स्थान पर पहुँची दृष्टि का मानो गरदनिया देकर तुरन्त बाहर कर दिया गया । यहाँ कारण बताया गया है ‘वियोगि-वैर’ । स्त्रियों पर मृगत-नख बिह्व विरहोदोषक होने से

विरही के वैरी हुए, सो विरहिणी नल-दृष्टि को तुरन्त गरदन पसड़ बाहर कर दिया गया उत्प्रेक्षा अलङ्कार ॥ २५ ॥

तन्वीमुख द्रागधिगत्य चन्द्र वियोगिनस्तस्य निमीलिताभ्याम् ।

द्वय द्रवीय कृतमीक्षणाभ्या तदिन्दुता च स्वसरोजता च ॥२६॥

जीवातु—तवीति । तन्वीमुखमेव चन्द्र व्यस्तरूपकम् । द्रागधिगत्य हठाद् दृष्ट्वा निमीलिताभ्यामिति भाव । वियोगिनस्तस्येक्षणाभ्या तस्य तयोमुख स्वेन्दुता च स्वयो सरोजता चेति द्वय द्रवीयो दृढतर कृतमित्युत्प्रेक्षा । अथवा कथं तस्मिन्निधौ तयोर्निमीलनमिति भाव ॥ २६ ॥

अन्वय —तन्वीमुख चन्द्रं द्राक् अधिगृत्य वियोगिन तस्य निमीलिताभ्याम् ईक्षणाभ्या तदिन्दुता स्वसरोजता च—द्वय द्रवीय कृतम् ।

हिन्दी—कृष्णांगी ( सुंदरी ) के मुख रूख चद्र को सहसा दसकर वियोगी उस ( नल ) के मुँदे नेत्रों ने उस ( तन्वी ) के मुख का चद्र होना और अपना ( नेत्रों का ) सरोज ( कमल ) होना—दोनों को दृढतर कर दिया ।

टिप्पणी—किमी सुंदरी का चद्रमुख देख कर नल ने झट नेत्र बंद कर लिये, उसी प्रकार कि जैसे, चद्र को देखकर कमल मुंद जाते हैं । इस क्रिया से उत्प्रेक्षित हो गया कि यह कथन सत्य है कि चद्र दर्शन से कमल मुंद जाते हैं, नेत्रों तथा कथित 'कविसमय' ही नहीं है, अथवा कृष्णाङ्गी चद्र मुखा-वलोकन से नल के 'सरोजेषण' क्यों निमीलित हो जाते? मल्लिनाथ के अनुसार 'तन्वीमुखम् चन्द्रम्' में व्यस्तरूपक है और 'इन्दुता' तथा 'सरोजता' का 'दृक् करना' में उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार यही रूपक हेतु अनुमान-अतिशयोक्ति का संकर है ॥ २६ ॥

चतुष्पथे त विनिमीलिताश्च चतुर्दिगेता सुखमग्रहीष्यन् ।

सघट्य तस्मिन् भृशभीनिवृत्तास्ता एव तद्वर्त्म न चेददास्यन् । २७॥

जीवातु—नन्वस्रसघटनानन्तर तास्त विमिति न दृष्ट्वा तीक्ष्ण आह—चतुष्पथ इति । चतुष्पथे, विनिमीलिताश्च त नत्म् । चतसृभ्यो दिग्भ्य । एता आगता । आङ्पूर्वादिण कतरि वा, उत्तरपदमभास । तास्मृतमकलान्तं अग्रहीष्यन् श्लोभु तस्मिन् सघट्य अभिहत्य । आधारत्वविवक्षाया सप्तमी ।

मृगया गाटया मिया निवृत्तास्ता एव तत्स्य नलम्ब वत्सं नादास्यन् न ददु-  
द्वेत् । किंतु, स्वयमेव अस्य मृतगङ्गया मार्गं दत्त्वा नयात् पलायिताना ताता,  
मृतस्तद्ग्रहणपाष्टमिति । निवानिपत्तो लङ् ॥ २७ ॥

अन्वय — चतुर्थे विनिमीलिताः स चतुर्दिग्वा ता तस्मिन् सषट्प  
मृगमोनिवृत्ता एव तद्वत्सं न अदास्यन् चेत् सुखम् अग्रहीष्यन् ।

हिन्दी—चौराहे पर नेत्र बंद कर खड़े उस ( नल ) को चारों ओर से  
आती वे ( मुन्दरियाँ ) उससे टकराकर अगल भय में ही अलग हो जाती  
यदि उस ( नल ) को मार्ग न देती तो उसे सरलता से पकड़ लेतीं ।

टिप्पणी—अदृश्य नल चौराहे पर आखें मूढ़ खड़े थे । इधर-उधर आती-  
जाती स्त्रियाँ उनसे टकराती और डरकर भाग जाती । यदि वे ऐसा न करती  
तो नल का सरलता से ही पकड़ लेनी । पर वे डर गयी और भाग चली,  
नल को न पकड़ सकी । विद्याधर के अनुसार कान्यलिङ्ग और नावोदय  
अलङ्कार का सङ्कर है ॥ २७ ॥

सषट्पन्त्यास्तरसात्मभूपाहीराङ्कुरप्रोतदुकूलहारी ।

दिशा नितम्ब परिधाप्य तन्व्यास्तत्पापमन्तापमवाप भूप ॥ २८ ॥

जीवातु—सषट्पन्त्या इति । तरसा सषट्पन्त्या अमिध्नन्त्यास्तव्या,  
आत्मनो भूपाहीरणा भूषणवशात्, अङ्कुरेषु कोटिषु प्रोत सक्तं दुकूलं  
हरतीति तदारी भूप, नितम्ब तस्या कटि दिशा परिधाप्य स्वस्त्य दिग्म्बर  
कृत्वा । तत्पापेन वस्त्रापहरणपापेन सत्तापमवाप ॥ २८ ॥

अन्वय — तरसा सषट्पन्त्या तन्व्याः आत्मभूपाहीराङ्कुरप्रोतदुकूलहारी  
भूपः नितम्ब दिशा परिधाप्य तत्पापसत्तापम् अवाप ।

हिन्दी—वेग से टकरा जाने वाली कृपायी ( मुन्दरी ) के दुपट्टे का  
अपन ( नल के ) आभूषण में जड़े हीरे की नोक में अपहरण करते हुए  
( मुन्दरी के ) नितम्ब की दिशाभात्र से टरकर ( उछाड़ कर ) राजा ने उस  
पाप के सत्ताप को प्राप्त किया ।

टिप्पणी—राजा नल अदृष्ट तो थे, पर हीरक जटित आभूषण पहिने  
थे । कोई मुन्दरी वेग से उनसे टकरायी, उसका दुकूल उनके आभूषण में  
जड़े हीरे की नोक में उलझ कर रह गया और उसका निजब दिग्भर ( नल )

हो गया । राजा को लगा कि यह पाप हुआ और वह दुखी होकर विचारने लगा कि अच्छा होता कि मैं आमूषण न पहिने होता ऐसा पाप तो न होता । चीरहरण हो गया उससे । विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-काव्यलिङ्ग-भावोदय का सङ्कर ॥ २८ ॥

हृतं कयाचित्पथि कन्दुकेन सघट्ट्यमिन्न करजे कयापि ।

कयाचनक्ति कुचकुङ्कुमेन सभुक्तकल्पं स बभूव तामि ॥ २९ ॥

जीवातु—हृत इति । स नल, पथि कयाचित्कन्दुकेन हृत । कयापि सघट्ट्य अभिहरण करजैर्नलैर्मिन्न । कयाचन, कुचकुङ्कुमेन अक्तो लिप्त । एव तामि सम्भुक्तप्रायो बभूव ॥ २९ ॥

अन्वय—कयाचित् पथि कन्दुकेन हृत कया अपि सघट्ट्य करजं मिन्न कयाचन कुचकुङ्कुमेन अक्त स तामि समुक्तकल्प बभूव ।

हिन्दी—किसी ने मार्ग में गंद से मार दिया, किसी ने टकराकर नखों से विदीर्ण किया और किसी ने कुच कुकुम से लिप्त कर दिया । ( इस प्रकार ) वह ( नल ) उन ( सुन्दरियों ) द्वारा भोगा गया जैसा हो गया ।

टिप्पणी—ओ कुछ किया सुन्दरियों ने किया, नल ने नहीं । उसका अपराधी वह नहीं, क्योंकि वह तो अकर्ता है । कर्तृत्व सुन्दरियों में है । विद्याधर के अनुसार उपमा ॥ २९ ॥

छायामय प्रेक्षि कयापि हारे निजे स गच्छन्नय नेक्ष्यमाण ।

तच्चित्तयान्तनिरचामि चारु स्वस्यैव तन्व्या हृदय प्रविष्ट ॥ ३० ॥

जीवातु—छायामय इति । कयापि त्रिव्या निजे हारे छायामय प्रतिविम्बरूप, स नल, प्रेक्षि प्रेक्षित । ईक्षते कमणि लुङ् । अथ गच्छन् अपसरन्, अत एव नेक्ष्यमाण अनिरीक्ष्यमाण मत् । स चित्ते यस्मास्तथा तद्गमितचित्तया तन्व्या, स्वस्यैव हृदय प्रविष्ट इति अंतरगत करने चारु साधु निरचामि निश्चित । स छायानल, तद्देहातिक्रमात्तस्या हारादेवापेक्षो न चित्तादिनि सीदर्यातिगयोक्ति ॥ ३० ॥

अन्वय—स कया अपि निजे हारे छायामय प्रेक्षि अथ गच्छन् न ईक्ष्यमाण तच्चित्तया तन्व्या स्वस्यैव हृदय प्रविष्ट इति चारु अत निरचामि ।

हिन्दी—उस ( नल ) को किसी ( स्त्री ) ने अपने हार में प्रतिष्ठामित



( प्रतिबिम्बित ) देखा, तदनन्तर अन्यत्र चले जाने से न दीखने पर तराव-विता कृपायी द्वारा 'अग्ने ही हृदय में प्रविष्ट हो गया —ऐसा मन में सुन्दर निर्गम किया ।

टिप्पणी—हार में नञ का प्रतिबिम्ब देखकर ही कोई तथारी उस पर मुग्ध हो गयी और वह उसके हृदय में समा गया और तदानीं विरह-भोजिता हो गयी । मञ्जिनाय के अनुसार सौन्दर्यानुसंधान और विद्याधर के अनुसार माधोदय अलंकार ॥ ३० ॥

तच्छायमौन्दर्यानिगीतवैद्याः प्रत्येकनालिङ्गदन्तु रतीशः ।

रतिप्रतिद्वन्द्वतमानु नून नानूपु निर्गतिरतिः कथञ्चित् ॥ ३१ ॥

जीवातु-तच्छायेति । रतीशः कामः तस्य नग्न्य छाया तच्छाय, मयि-कुट्टिनादिपठ तत्प्रतिबिम्बम् । 'विनाया सेनानुरागच्छायागगानिधानान्' ननु मरत्वम् । तस्य सौन्दर्येण निर्गीतवैद्यां अनु रती प्रत्येकनेककानेशानिङ्गत् । अशोभ्यते-रते देव्या प्रतिद्वन्द्वतमानु रतिनृशीघ्रनूपु मन्दे क रतीशः, कथञ्चिदपि निर्गीतरतिनिर्विचित्रनिबन्धीको नामूत् । नूनन् अल्पया कथ प्रत्येकनालिङ्गित्वम् । सुखान्वयि मन्त्रयविकार प्रादुर्भूत दम्भम् ॥ ३१ ॥

अन्वयः—रतीशः तच्छायमौन्दर्यानिगीतवैद्याः अनु प्रत्येकम् आलिङ्गत्, रतिप्रतिद्वन्द्वतमानु अनूपु नून कथञ्चित् निर्गीतरतिः न प्रभूत् ।

हिन्दी—रतिरति ( काम ) ने उस ( नल ) के प्रतिबिम्बित सौन्दर्य से धैर्य नष्टा उन सुन्दरियों का एक-एक करके आश्रित किया, कारण कि उन रति की प्रतिद्वन्द्विता करनेवाली सुन्दरियों के मध्य निश्चयपूर्वक रति का निर्गम न कर पाया ।

टिप्पणी—चमकती दीवारों में नञ का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था, उसे ही वैसा अन्तःपुर की सुन्दरियों परमपुत्र हो वह छत्र-नञ का अवैध पुरस्कृत आश्रित करने लगी । इस पर यहाँ उल्लेखित है कि उन रति के समान सुन्दरियों के समूह में काम एक-एक करके उन सबका इस कारण आश्रित कर रहा था कि उसे पता ही नहीं चला था कि इनमें वक्तो प्रिय रति कौन-सी है ? भाव यह है कि रति के समान मनोहारी रमयिषी काम-मम नञ के प्रतिबिम्ब पर मुग्ध हो उसका ही उपावनी होकर आश्रित कर रही थी ।

मल्लिनाथ ने यहाँ उत्प्रेक्षा माना है—‘अत्रोत्प्रेक्ष्यते ।’ विज्ञाघर के अनुसार भाव शान्ति और उत्प्रेक्षा ॥ ३१ ॥

तस्माददृश्यादपि नातिबिम्बुस्तच्छायरूपाहितमोहलोला ।

मन्यन्त एवादृतमन्मथाज्ञा प्राणानपि स्वान् सुदृशस्तृणानि ॥ ३२ ॥

जीवातु—तस्मादिति । मुख्य छिन्न तच्छायास्त्वेण तत्प्रतिबिम्बसौन्दर्येणाहित उत्पादित मोह चित्तभ्रमो यासां ता अत एव लोला आसक्ता सस्य । अदृश्यादपीति भयहेतूक्तिः । तस्मान्नलान्नातिबिम्बु । शृङ्गारेण भयानकस्तिरस्कृत इत्यर्थः । तथाहि आदृतमन्मथाज्ञा मन्मथपरतन्वा सस्य, स्वान् स्वकीयान्, प्राणानपि तृणानि मन्यन्त एव । नयकमण्यनादरे चतुर्थ्या वैभाषिकवाद् द्वितीया । प्राणानपि तृणीकृत्य तदा तत्सङ्गमत्तालसाना तासां तस्माद्भयं कुत इति भावः ॥ ३२ ॥

अन्वय — तच्छायरूपाहितमोहलोला मुख्य अदृश्यात् अपि तस्मात् न अतिबिम्बु, आदृतमन्मथाज्ञा स्वान् प्राणान् अपि तृणानि एव मन्यन्त ।

हिन्दी—प्रतिबिम्बित उस ( नल ) के रूप बात मोह ( भ्रम, ममता ) से बचल वे हुनयनाएँ अदृश्य भी उस ( नल ) से अधिक नहीं डरी, कारण कि काम का आदेश माँथ करती वे अपने प्राणों को भी तृण समान मान रही थी ।

टिप्पणी—नल की छाया तो पड़ रही थी, पर दीखता नहीं था । सामान्य विश्वास यह है कि भूत जब प्रत्यक्ष होता है, तब भी उसकी छाया नहीं पड़ती । सो इस प्रकार नल उस भूत से भिन्न हुआ, क्योंकि वह अदृश्य था और उसकी छाया पड़ रही थी । इस विचित्र भूत से सहजमोह सुन्दरियों को बहुत डर लगना स्वाभाविक था, पर वे तो बिलकुल नहीं डरी । वस्तुतः नल के कामजयी रूप पर वे इतनी आसक्त हो गयी थी कि कामांध होने से कामाधीना उन सुन्दरियों को प्राण जाने का भी मय नहीं रह गया था । जब वे प्राणों को ही नगण्य मान बैठी थी, फिर डर किसका ? ॥ ३२ ॥

जागति तच्छायदृशा पुरा य स्पृष्टे च तस्मिन्विसर्प कम्प ।

दृत गते तत्प्रदशन्दभोत्या स्वहस्तितश्चारुदृशा पर स ॥ ३३ ॥

जीवातु — जागतीति । पुरा पूर्वं, तच्छायदृशा तत्प्रतिबिम्बदर्शनीनां

चाहृशा, विद् । य कर्मो जायति स्मृति । तत्तन्मिन् स्मृते च सति  
विचक्षणं प्रनसार । स कर्म द्रुत शीघ्र ते कर्मने मति तस्य पदमन्दाङ्गीना  
कर्मो पर स्वहस्त्वान कृत दत्तम्बहस्त, प्रबलीकृत दत्तम्ब, स्वहस्तद्व्या-  
न्तवत्तात् 'तत्तरोति' इति त्रिचि पादिवृद्धावे विप्लवतोरुक् । ततः  
कर्मणि क्त ॥ ३३ ॥

अन्वय—पुनः उच्छायश्या चाहृशा य कर्म जायति, तस्मिन् स्मृते  
विचक्षणं, पर द्रुत मते तन्मदन्दनीत्या स स्वहस्ति ।

हिन्दी—पहिले उस ( नल ) की प्रतिच्छाया का अवलोकन करते ही  
सुनयनाओं में जो कंप जागा, उस ( नल ) का स्पर्श करने पर ( उसका )  
और प्रसार हो गया ( बड़ गया ), किन्तु ( उसके ) शीघ्रतापूर्वक हट जाने  
पर उस ( नल ) के पैरों से उत्पन्न आहट से डर कर वह ( कर्म ) उनके अगले  
हाथ का आशय पा गया ।

टिप्पणी—नल-मुग्धा उन सुन्दरियों में 'कर्म' की मात्रा बढ़ती ही  
बली गयी । छाया देखने मात्र से सामान्य 'कर्म' हुआ, अदृश्य नल के  
स्पर्श से वह बड़ा और अदृश्य की स्थिति आने पर जैद सहाय पाकर और  
भी बड़ गया । नाथ यह कि दर्शन-स्पर्श-अन्वय 'शृंगार' का अनुभाव बाद में  
( प्रदर्शन ) 'मयानक' का अनुभाव होता बरखा चला गया । पहिले शृंगार में  
रखी सुन्दरियां बाद में नय से काँवने लगी ॥ ३३ ॥

उल्लास्यता स्पृष्टनलाङ्गनं तासां नलच्छायपिवाक्षि दृष्टिः ।

अश्मैव रत्नास्तदनेति पया छेदेऽप्यबोध मदहर्षि लोम ॥ ३४ ॥

जीवानु—उल्लास्येति । रत्ना पयाः कामेन स्पृष्ट नलाङ्ग देन तना-  
सामङ्गनल्लास्यतामृत्तास प्राप्यताम् । उल्लासयते कर्मणि लोट् । नलच्छायस्य  
नलप्रतिबिम्बस्य पिवा, तद्दर्शिनोन्वयं । 'पाधा' इत्यादिना शत्रुपद,  
निवादेशश्च । तासां दृष्टिरपि उल्लास्यताम्, तनोश्चेतनत्वादिति भाव । छेदे  
कलनेऽप्यबोध बोधरहितम्, अचेतन लोम, अहर्षि हर्षितमिति मत् । हृषेः कन्ता-  
स्वर्गणि लृङ् । तदश्मैव पाषाण एव अनति अश्मनतन्त्राव रोमहर्षणं कुर्वाणस्य  
कामस्य विनशाध्यमिति भाव । अत्र रोमहर्षणोऽश्मनतन्त्रवाक्यार्थोऽप्येतच्छब्द-  
श-

वगतसामानाधिकरण्यानुपपत्त्या सादृश्यक्षेपाद्वाक्यार्थवृत्तिनिदर्शनालङ्कार ।  
लक्षण तूक्तम् ॥ ३४ ॥

अन्वय — रत्या पत्या तासा स्पृष्टनलङ्गम् अङ्गम् नलच्छायपिवा दृष्टि  
अपि उल्लास्यताम्, छेदे अपि यत् अवोष लोम अहृषि अश्मा एव तत् अनति ।

हिन्दी—रति के पति ( काम ) द्वारा उन ( सुन्दरियो ) का नल के  
अंगों से छुआ अंग और उस ( नल ) के प्रतिबिम्ब का पान करती दृष्टि भी  
उल्लासित कर दी गयी, ( किन्तु ) काटे जाते ( समय ) भी जो अचेतन रहता  
है, वह रोम जो हर्ष को प्राप्त हो गया, वह तो जैसे परस्पर ही नचा दिया ।

टिप्पणी—नल का स्पर्श पाकर कामाधीना सुन्दरियों के अङ्ग हृष्ट हुए,  
प्रतिबिम्ब को भरपूर निहार कर नेत्र भी हर्षोत्फुल्ल हुए,—इसमें आश्चर्य की  
कोई बात नहीं है, क्योंकि अंग और दृष्टि तो चेतन हैं, और चेतन प्रभावित  
होते ही हैं । आश्चर्य तो यह है कि वे रोम, जो इतने जड़ हैं कि काटे जाने  
पर भी कुछ अनुभव नहीं कर पाते, वे जड़ रोम भी हृष्ट हो गये । यह तो  
उतना ही आश्चर्य-जनक हुआ, जितना कि परस्पर का नाचना । यह रोम हर्ष  
ही अस्वास्थ्य है । सात्त्विक रोम हर्ष का वर्णन । इस श्लोक में मल्लिनाथ ने  
रोमहर्ष और अस्मनर्तन वाक्यार्थों के 'यत् तत्' शब्दों द्वारा अवगत सामानाधि-  
करण्य को अनुपपत्ति के कारण सादृश्य के आशेष में वाक्यार्थवृत्तिनिदर्शना-  
लङ्कार माना है, विद्यापर के अनुसार काव्यलिङ्ग, क्रियाविरोध और भावोदय  
अलङ्कार हैं ॥ ३४ ॥

यस्मिन्नलस्पृष्टवमेत्य हृष्टा भूयोऽपि त देशमगान्मृगाक्षी ।

निपत्य तत्रास्य धरारजस्ये पादे प्रसीदेति जनैरवादीत् ॥ ३५ ॥

जीवातु—यस्मिन्निति । मृगाक्षी यस्मिन् देशे नलस्य स्पृष्टक आलिङ्गन-  
विशेषम् । 'यद्योपितस्सम्मुखमगतया अन्यापदेक्षात् व्रजतो नरस्य । गाम्रेण  
गात्र घटते तदेतदालिङ्गन स्पृष्टकमाहुरार्या ॥' इति रतिरहस्येऽभिधानात् ।  
एतत् प्राप्य, हृष्टा ॥ देश भूयोऽप्यगात् । पुन स्पर्शलोमादिति भाव । किन्तु  
तत्र दशे धरारजस्ये भूपरागनिष्ठे अस्य नलस्य पादे पादप्रतिवृत्तौ निपत्य,  
प्रसीद मा पुन स्पर्शानुगृह्णाणेति जनैरवादीत् । न तु स्पर्शं लेभे । तस्यापगमा-  
दिति भाव ॥ ३५ ॥

अन्वय — मृगशी यस्मिन् नलसृष्टकम् एव दृष्टं तदेव नूनं अनि  
वपात्, तत्र अन्य वस्तुस्थित्यस्य पादे निपत्य—‘प्रसीद’—इति शब्दं अवादीत् ।

हिन्दी—मृगनवना जिस स्थान पर नल का ‘सृष्टक’ ( विद्येय प्रकार का  
आतिथन ) पाकर हर्ष को प्राप्त हुई थी, उस स्थान पर पुन गयो । वहाँ  
इस ( नल ) के घरती को घुल पर हमारे चरण ( के चिह्न ) पर गिर कर  
‘दया करो’—ऐसा धीरे-से बोली ।

टिप्पणी—मृगशी नल का आतिथन-विद्येय पाकर ऐसी हर्ष विनोर हुई  
कि घुल देने नल चरण-चिह्न पर प्रक्षिप्त करके धीरे-धीरे मनावन और  
प्रायना करने लगी । धीरे-से इसलिए कि उसके भाव प्रकट न हो जायें ।  
‘रतिरहस्य’ के अनुसार सृष्टक उस आतिथन को कहते हैं, जिसमें अन्यापदेश  
से बाते पुरुष के घरीर की समुक्त बातें श्री सं टकर हो जाय । विद्याधर के  
अनुसार हर्षभावोदय कल्पाकार ॥ ३५ ॥

अनन्तमुप्यामुनकारिकायामायान्य नैमीविरहान्कशीमान् ।

असौ मृदु मौघपरम्पराणा व्यधत् विश्रान्तिमुनत्यकामु ॥ ३६ ॥

बीवानु—अनन्ति । नैमीविरहात् कशीमान् अतिहृद्योज्ञौ नल ।  
अमुप्यामुनकारिकाया राजसज्जनोत्पथं । अनन् सञ्चरन्, आयास्य परिधम्य  
मृदु मौघपरम्परायाम्, उपपकाम्बासन्नभूमिषु । अत सौमना पर्वतप्राधम्यात्  
मौलीय प्रयोगः । ‘उपपकाम्बा त्पकम्बासन्नाहृतयो’ इति त्पकन्प्रत्ययस्य  
पर्वतासन्नभूमिप्रसात्वेन विधानात् । ‘उपपकाम्बासन्ना भूमि’ रिप्यनिष्ठा-  
नात्तयैव प्रयोगाच्च । अज्ञात्वादेव कानूवन्मेकाद्यभावः । विश्रान्ति व्यसन  
विश्रान्तोऽनूदित्यर्थः ॥ ३६ ॥

अन्वय — नैमीविरहात् कशीमान् असौ जमुप्याम् उपकारिकाया अनन्  
आयास्य मृदु मौघपरम्परायाम् उपत्यकाम् विश्रान्ति व्यधत् ।

हिन्दी—नीमनुत्री ( रमयतां ) के विरह से अनन्त दुर्बल यह ( नल )  
उन ‘उपकारिका’ ( राजनवन ) में विवर्ता हुआ दृष्टकर बारबार सतसहे  
महलों की उत्पत्तियों ( सन्निकट भूमि, तरहटी ) में विश्रान्त कर लेता था ।

टिप्पणी—राजनवन के विमृष्ट होने का संकेत, जिसके कारण नल को  
सा-क्षण विश्रान्त करना पड़ता था । ‘उपत्यका’ सामान्यतः पर्वत की तरहटी

के अर्थ में प्रयुक्त होता है, यहाँ सोघपरम्पराओं की पर्वत-सदृश उच्चता के चोतनाथ 'सोघपरम्पराणाम् उपत्यकासु' कहा गया है। 'प्रकाश'-कार ने 'उपत्यकासु' के स्थान में 'अधित्यकासु' पाठांतर दिया है, यद्यपि उर्होने 'उपत्यकासु' पाठ ही उचित माना है, क्योंकि उपत्यका विश्राम-योग्य होता है—'उपत्यकासु' इति पाठ साधीयान्। उपत्यकाना विश्राण्तियोग्यत्वात्।' अधित्यका का अर्थ है, ऊपरी भूमि—ऊर्ध्वभूमि। विद्याधर के अनुसार आन्यङ्गिण अलंकार ॥ ३६ ॥

उल्लिख्य हसेन दले नलिन्यास्तस्मै ग्रयादक्षि तथैव भैमी ।

तेनाभिलिख्योपहृतस्वहारा कस्या न दृष्टाजनि विस्मयाय ॥ ३७ ॥

जीवातु—किं चात्र विश्रान्तो विनोदाय भैमीप्रतिकृतिमालिख्याद्वाक्षी दित्याह श्लोकाद्वयेन—उल्लिख्येति । नन्वदृष्टपूर्वां वा कथमलितदिति शङ्का निरस्य नाह—पूर्वं हसेन नलिनी दले भैमी यथा येन प्रकारेण उल्लिख्य तस्मै नलायादक्षि दक्षिता । तथैव तेन नलेन अभिलिख्य उपहृतस्वहारा कण्ठाभित निजमुक्ताहारा तदा विलिखतेत्यर्थः । दृष्टा सती कस्या विस्मयाम नाजनि न जाता, सवस्या अपि जातेत्यर्थः ॥ ३७ ॥

अन्वय —हमेन नलिन्या दले यथा उल्लिख्य भैमी तस्मै अक्षि तेन सथा एव अभिलिख्य उपहृतस्वहारा दृष्टा कस्या विस्मयाय न अजनि ?

हिन्दी—स्वर्ण हंस ने कमलिनी के पत्र पर जैसी आँकड़ भीमसुना उसे ( नल को ) दिखायी थी, उस ( नल ) के द्वारा वैसी ही चित्रित कर अपना ( नल का ) कठहार पहिना दी गयी दीखती किस ( अन्त पुर की सुन्दरी ) के आश्चर्य की कारण न हुई ?

टिप्पणी—नल न कभी दमयन्ती की प्रत्यक्ष तो किया नहीं था, केवल स्वर्णहंस ने कमलपत्र पर उसका एक चित्र बनाकर दिखा दिया था, किन्तु कुञ्जल बिनेरे नल ने मनोविनोदनाय उसी के आपार पर एक वैसा ही दमयन्ती का चित्र बना दिया और उपहारस्वरूप अपना कठहार उसे पहिना दिया। नल सा अहम्य था, कलस्वरूप राजनवन में सहसा कठहार धारिणी दमयन्ती का चित्र देख बढ़ी आती जाती स्त्रियों को बड़ा आश्चर्य हुआ कि किनेने यह धमिलेख यहाँ उपस्थित कर दिया ? तात्पर्य यह है कि नल न विद्याम के शर्णों

में जो दमयन्ती का चित्र बनाया, उसे देखकर उसके मन में उठा कि नयन-  
गोचर प्रिया को प्रथम नज़र में कृच्छ्र देना चाहिए, सो कठहार पहिना दिया ।  
कठहार पहिने दमयन्ती के चित्र को जो स्त्री इस प्रकार देवती आश्चर्य में  
पड़ जाती ॥ ३७ ॥

कौमारगन्धीनि निवारयन्ता वृत्तानि रोमावलित्रेव विह्वला ।

सालिख्य तेनैश्वर्यत यौवनीयद्वास्यामवस्था परिचेतुकामा ॥ ३८ ॥

जीवानु—कौमारंति । तं नलं यौवनमप्येय यौवनीयाः । वृद्धाच्छ ।  
तस्या द्वारि द्वारे, प्रनुष्ठे च तिष्ठतीति यौवनीयद्वा स्या । ‘खरवसानयोर्विसर्ज-  
नीय’ इति ऐतस्य विसर्जनीये तस्य वा सत्वम् । तानवस्था दौवारिकदद्या  
यौवनप्रवेद्यदद्या च, परिचेतुकामा अन्वष्टितुकामा । अत एव रोमावलिरेव  
वेत्र दण्डं तन्निह्वं यस्या सा । कौमारगन्ध एवामस्तीति कौमारगन्धीनि  
यौववस्त्राणि, वृत्तानि चारुणानि, निवारयन्ती सा दमयन्ती आलिख्य  
ऐश्वर्यत । ईश्वरं कर्मणि लङ् । वयस्यौ वर्तमानान्तामालिख्य अद्राक्षीदित्यर्थः ।  
रत्नकालङ्कारः ॥ ३८ ॥

अन्वय — तेन यौवनीयद्वास्याम् अवस्था परिचेतुकामा रोमावलित्रेव विह्वला  
कौमारगन्धीनि वृत्तानि निवारयन्ती सा आलिख्य ऐश्वर्यत ।

हिन्दी—उस ( नल ) ने यौवन के द्वार पर स्थित अवस्था से परिचय  
प्राप्त करने की कामना से रोमावली रूप वेत्रदण्ड-विह्वो से युक्त वचनने की गद्य  
देने वाले चपलतादि व्यापारों का निवारण करती उस (दमयन्ती) का आलेख  
बनाकर निहारता ।

टिप्पणी—हृष के आन्तर में जो दमयन्ती नल ने देखी थी, वह ‘वय-  
स्य’ की अवस्था में थी, जिसमें वचन जा रहा था और तट्टाई आने  
लगी थी । रोमावली उम्र आरंभ थी और बालोचित चरुणता जा जा रही थी ।  
ऐसी ही दमयन्ती को आलेख में बनाकर नल देखता रहा । बच्चों को शिक्षा  
देने के लिए बेंत की छड़ी का उपयोग किया जाता है । दमयन्ती यौवना-  
वस्था का अन्त्य कर रही है, रोमावली बेंत की छड़ी है, जिसका उपयोग  
शिक्षा प्राप्त करते समय वचनने के खेच-कूट, चपलता आदि के निवारण के  
लिए किया जाता रहा है और किया जा रहा है । अथवा रोमावली बेंत की

छड़ी के वे चिह्न ( निशान ) हैं, 'कीमारगन्धि वृत्तो' के निवारणार्थ जिसका उपयोग किया गया है । निवारणार्थ-प्रवेश-निषेध के लिए द्वार पर वेत्रधारिणी को नियुक्त किया ही जाता है । रूपक ॥ ३८ ॥

पश्या पुरन्ध्रोः प्रति सान्द्रचन्द्रज कृतक्रीडकुमारचक्रे ।

चित्राणि चक्रोऽध्वनि चक्रवर्तिचिह्न तदद्भिप्रतिमासु चक्रम् ॥ ३९ ॥

जीवातु—पश्या इति । सान्द्राणि चन्द्ररजसि कर्पूरपाशव । 'अथ कर्पूर-मस्त्रियाम् धनसारश्चन्द्रसज्ञ' इत्यमर । तं कृतक्रीड कुमारचक्र, बालसङ्घो यस्मिन् तस्मिन् अध्वनि चक्रवर्तिचिह्न सार्वभौमलक्षण, तस्य मलस्य, अद्भि प्रतिमासु पादन्यासेषु । चक्र चक्रेणा पश्यन्तीति पश्या पश्यन्ती, 'पाद्म' इत्यादिना दाप्रत्यय पश्यादेशश्च । पुरन्ध्री प्रति स्त्रिय उद्दिश्य चित्राणि चक्रे । तासामाश्चर्याणि जनयामासेत्यर्थ ॥ ३९ ॥

अन्वय.—सान्द्रचन्द्रज कृतक्रीडकुमारचक्रे अध्वनि तदद्भिप्रतिमासु चक्रवर्तिचिह्न चक्र पश्या पुरन्ध्रीः प्रति चित्राणि चक्रे ।

हिन्दी—जिसमें घनी कर्पूर धूलि उछाल-उछाल कर बालकों ने खेल किया है, ऐसे मार्ग में उस ( मल ) के पैरों की छापों में बना चक्रवर्ती का चिह्न चक्र देखनेवाली नागरिकाओं को आश्चर्यों में डालने लगा ।

टिप्पणी—मार्ग में चदन झूल उठा उठाकर राज भवन के बालकों ने क्रीड़ा की थी, वह चदन-धूरा वहाँ जमा था । जाते नल के चरण चिह्न उसमें उभर गये । उभर से जाती जाती स्त्रियों ने उन चिह्नों में 'चक्र' का चिह्न बना देखा, जो चक्रवर्ती के चरणों में होता है । उन्हें घोर आश्चर्य हुआ कि कौन चक्रवर्ती इसर से गया है ? विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलङ्कार छेकानुप्रास ॥ ३९ ॥

तादृश्यपुण्यामवलोक्यन्त्योग्न्योन्यमेणेक्षणयोरभिख्याम् ।

मध्ये भूतं स बभूव गच्छन्नावस्मिकाच्छादनविस्मयाय ॥ ४० ॥

जीवातु—तादृश्येति । तादृश्यपुण्या यौवनमनोज्ञाम् । 'पुण्य मनोज्ञ' इति विश्वः । अग्नौ यमभिख्या सोमामवलोक्यन्त्योरेणेक्षणयो मृगाद्योमध्ये गच्छन् भूतं, ईपत्वालम्, आकस्मिकाच्छादनेन निहेतुकव्यवधानेन विस्मयाय



बभूव । अत्र व्यवधानकारणं विना व्यवधानोक्तेरकारणे कार्योन्पत्तिशङ्को विभावनालङ्कारः ॥ ४० ॥

अन्वयः—तादृशमुक्त्याम् अन्योऽयम् अनिहताम् अवलोक्यत्यो एते-  
स्तनयो मध्य गच्छन् ॥ मुहुत्तम् आकस्मिकाच्छादनविस्मयाय बभूव ।

हिन्दी—तहाँ के पुत्र से पुन ( यौवन से शोभित ) परस्पर शोभा को  
निरखती दो मृगाशियों के मध्य में जाता वह ( नर ) क्षण भर को अकस्मात्  
इक जेने के कारण विस्मय का निमित्त हो गया ।

टिप्पणी—दो तरंगियाँ परस्पर वार्तालाप कर रही थीं, नर जब उनके  
मध्य से ( अदृश्य रूप में ) निकला तो क्षणभर को उसके द्वारा उपस्थित  
अन्तराय के कारण वे परस्पर आच्छादित हो गयीं । इस पर उन्हें आश्चर्य  
हुआ कि यह हुआ क्या ? विद्याधर के अनुसार यहाँ उत्प्लेख्य अलङ्कार केवल  
छेदानुप्रास है, जब कि मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ व्यवधान-कारण के बिना  
व्यवधान के कथन से अकारण में कार्योन्पत्ति का विभावना अलङ्कार है ।  
कदाचित् मल्लिनाथ का यह विचार है कि अदृश्य नर का शरीर आच्छादन  
नहीं कर सकता अथवा मुन्दरियों को आच्छादन का कारण न प्रतीत होना  
किन्तु, आच्छादन-कार्य हो जाना अकारण में कार्य प्रतीति है । नारायण  
पण्डित के अनुसार अदृश्य शरीर का स्पर्श, उसमें आच्छादन—दोनों सगत  
कारण हैं ॥ ४० ॥

पुर स्थितस्य क्वचिदस्य भूपारत्नेषु नायः प्रतिविम्बितानि ।

व्योमन्यदृग्मेषु निजाग्न्यपश्यन् विस्मित्य विस्मिय महल्लङ्घ्यः ॥ ४१ ॥

जीवानु—पुर इति । क्वचिद्देवे नायं पुरस्थितस्य मनस्य अदृग्मेषु  
भूपारत्नेषु निजानि प्रतिविम्बितानि प्रतिविम्बितानि, व्योमनि दृश्ये विस्मित्य  
विस्मिय पुनः पुनः विस्मिता भूत्वा । सहलङ्घ्य सहलङ्घ्यारमपश्यन् । अत्रापि  
निराश्रयप्रतिविम्बितानोक्तेरकारणे कार्योन्पत्तिशङ्को विभावनालङ्कारः ॥

अन्वयः—क्वचित् नायं पुरस्थितस्य अन्य जह्म्येषु भूपारत्नेषु निजानि  
प्रतिविम्बितानि व्योमनि विस्मित्य विस्मिय सहलङ्घ्य अगम्यन् ।

हिन्दी—वहाँ स्थितों ने समुक्त सटे इन ( नर ) के अदृश्य आभूषणों के  
३ नै० प०

रत्नो म अपने प्रतिविम्ब मूय म बार-बार विम्बित हो सहस्रवार ( अनेकश ) देखे ।

टिप्पणी—नल और उसके आभूषण तो दिसते थे नहीं, पर आभूषण के रत्नो में आती-जाती छियों के प्रतिविम्ब पढ़ जाते थे । मूने में—रक्त आकाश में पड़ती अपनी छायाएँ देख स्त्रिया को बड़ा आश्चर्य हो रहा था और वे बार-बार देखने लगती थीं । मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में भी विभावना है, क्योंकि निरालम्बन प्रतिविम्ब-दर्शन कारण बिना कार्य की उत्पत्ति है । विद्याधर ने यहाँ अतिशयोक्ति का निर्देश दिया है ॥ ४१ ॥

तस्मिन् विपज्य धूपयान्निवृत्त तदङ्गरागच्छुरितं निरीक्ष्य ।

विस्मेरतामापुरुनुस्मरन्त्यः क्षिप्त मिय वन्दुकमिन्दुमुख्य ॥ ४२ ॥

जीवातु—तस्मिन्निति । इन्दुमुख्य स्थित, मिय क्षिप्तम्, अग्न्योय प्रति प्रेरित किन्तु । तस्मिन्नेले विपज्य उन्मिषत्वा अयं पन्था अघपय विशेषण-ममासे समासात् । 'अर्थे नपुमबम्' इत्येकदेशसमाम इति केचित् । तत्र समाशनिबन्ध । तस्मान्निवृत्त प्रत्यागच्छते, तस्य न उस्याङ्गरागेण च्छुरित ऋषित, वन्दुन निरीक्ष्य अनुस्मरन्त्य कुन एतदिति पुन पुनरनुसन्दयाना विस्मेरता विस्मरतश्चमापु । 'नमिकम्पिस्मि' इत्यादिना रप्रत्यय ॥ ४२ ॥

अन्वय—इन्दुमुख्य मिय क्षिप्त तस्मिन् विपज्य अघपयात् निवृत्त तदङ्गरागच्छुरित वन्दुन निरीक्ष्य अनुस्मरन्त्य विस्मेरताम् आपु ।

हिन्दी—चन्द्रमुखियाँ एक-दूसरे की ओर फेंके, उन ( नल ) से टक्कर खाकर आधे मार्ग से वापस आते, उन ( मुन ) के अगराण से समुक्त वन्दुन को देन बार बार विचार करती विस्मय को प्राप्त हुईं ।

टिप्पणी—वन्दुन-बीड़ा का वर्णन । मुन्दरियाँ वन्दुन बीड़ा में एक दूसरे की ओर गेंद उछाल रही थीं, उधर निकलते नल के शरीर से गेंद की टक्कर हुई और वह आधे मार्ग में ही गिर पड़ा । उस पर नल के शरीर पर लगे घटनादि अगराण के चिह्न भी बन गये । वे चन्द्रमुखी नारियाँ बार बार सोचन लगी कि यह सब कैसे हो गया ? कारण समझ में न आने से उन्हें आश्चर्य हुआ । विद्याधर के अनुसार हेतु अलवार ॥ ४२ ॥

पुनि स्वमनृत्यनिरिक्तभूते भूत्वाप्यवोक्षानियमव्रतिनः ।

छायामु रूपं भुवि तस्य वीक्ष्य फलं दृशोगनगिरे महिष्यः ॥ ४३ ॥

जीवातु—पुनोति । महिष्यो राजदारा, स्वमनृत्यनिरिक्तभूते पुनि पर-  
पुरुषे विषये अवोक्षानियमेन अनिरोक्षामङ्गुल्येन, व्रतिन्यः व्रतवन्तो भूत्वा तस्य  
नञ्च्य भुवि कुट्टिमभूमौ छायामु प्रतिविम्बेषु रूपमोन्दर्यं वीक्ष्य दृशोः फलमा-  
नशिरं प्राप्नु । 'अत आदं' इत्यन्यावशीर्षं । 'जस्मोनेत्रं' इति नृडागमः ॥

अन्वयः—स्वमनृत्यनिरिक्ते पुनि अवोक्षानियमव्रतिनः भूत्वा अपि  
महिष्य भुवि छायामु तस्य रूपं वीक्ष्य दृशोः फलम् जानगिरे ।

हिन्दो—अपने स्वामी से निम्न पुरुष के दर्शन न करने का नियम  
मानने वाली होकर भी रानियाँ बरती पर पड़े छायारों में उन ( नल )  
का रूप देखकर नेत्रों की सफलता पा रही थीं ।

टिप्पणी—अमूर्त्यप्यया राजदाराओं को अपने पति से निम्न परपुरुष-  
दर्शन का निषेध था । या तो अन्य राजा उनके मुन्दर नहीं थे, या फिर  
राजदाराएँ प्रतिदिन देवते रहने के कारण अपने पति-गवाओं के रूप के  
प्रति आकर्षणहीन हो गयी थीं, बिना उन्हें वै मुन्दर नहीं लगते थे तो  
उन्होंने चमकदार फल पर उभरती नल की छवियाँ देवी, तो अमिनत्र मीदर्य  
निहार कर उनके नेत्र निहाल हो गये । नल के अनुपम मीदर्य का संकेत  
कि पतिव्रताएँ भी उन पर आकृष्ट हो गयीं । विद्याधर के अनुसार क्रिया  
विरोधानिगमोक्ति क्योंकि परपुरुषदर्शन से भी पतिव्रताया का पतिव्रत-  
भग नहीं हुआ ॥ ४३ ॥

विशोक्य तच्छ्रापमतङ्गिनामि पनि प्रति स्व वनुयानि धत्ते ।

यया वय किं मदन नयनं त्रिनेत्रनेत्रानलकोन्मीलम् ॥ ४४ ॥

जीवातु—विशोक्येति । तस्मि राजमहिषीनि, तस्य नञ्च्य, छायामु  
अनात्मरेखा तच्छ्रापम् । नीलमिति येष । विशोक्य यया वय स्व स्वकीय,  
पति भीम, प्रत्युदबुद्धम्, मदन दम्भम् । तथा वनुयानि स्व पति भीमनेत्र प्रत्युद-  
बुद्धम् । किन्तु, त्रिनेत्रस्य ईश्वरस्य, नेत्रानलकीर्णैर्नामिम्बालं, नील वृण-  
वर्णम्, एत मदन धत्ते हिनिन्द्यन्ति दम्भेक्षितम् । नञ्च्ये वनुयानि तस्मि-

विरही ) राजा पर पुर ( शरीर ) में प्रवेश करते योगी ( सिद्ध, सयोगी ) के समान सुशोभित हो रहा था,—आश्चर्य !

टिप्पणी—वियोगी ( विरही ) राजा योगी ( मयोगी ) जैसा लगा, यह आश्चर्य है विरोध भी, ऐसे ही योगी ( योग साधक तपस्वी ) का वियोगी ( योगच्युत ) होना भी विरोध है । परित्यक्त होता है वियोगी या अर्थ विरही और योगी का सिद्ध तापस लेने से । नल अदृश्य था, उसके शरीर की अनेक छाया पड़ रही थी, वह परपुर में भी प्रवेश करता था । इसके आधार पर उनकी समता योगी से की गयी, जो स्वेच्छया अदृश्य रह सकता है, अनेक शरीरों का विस्तार कर सकता है और पर पुर प्रवेश ( परकाया प्रवेश ) कर सकता है । विषया से निवृत्त हो जाने के कारण वह 'वियोगी' भी है । विद्याधर के अनुसार यहाँ विरोधामास और उपमा है ॥ ४६ ॥

पुमानिवास्पर्श मया भ्रमन्त्या छाया मया पुस्त इव व्यलोकि ।

ब्रुवन्निवातकि मयापि कश्चिदिति स्म स स्त्रैर्गिरः शृणोति ॥ ४७ ॥

जीवातु—पुमानिति । भ्रमन्त्या मया पुमानिवास्पर्श स्पृष्ट । मया पुस्त-छायेव व्यलोकि विलोकिता । मयापि कश्चित् ब्रुवन् लपन्निव, अतर्कि तर्कित । सवत्र कमणि लुह । इत्येवस्था स्त्रैर्गिरस्य स्त्रीसमूहस्य गिर । यद्वा, स्त्रीषु भवा-स्त्रैर्गा गिर । 'स्त्रीपुसाभ्या नञ्स्त्वञ्जी भवनात्' इति भवार्थे नञ्प्रत्यय । स नल , शृणोति स्म । 'लट् स्मे' इति भूते लट् ॥ ४७ ॥

अन्वय —भ्रमन्त्या मया पुमान् इव अस्पर्श, मया पुस्त छाया इव व्यलोकि, मया अपि कश्चित् ब्रुवन् इव अतर्कि—इति स स्त्रैर्गिर शृणोति स्म ।

हिन्दी—भ्रमण करती मैंने पुस्त-जैसा छुआ, मैंने पुस्त की छाया जैसी देखी, मुझे भी कोई बोलता-जैसा प्रतीत हुआ—इस प्रकार के वह ( नल ) स्त्रिया के वचन सुन रहा था ।

टिप्पणी—विद्याधर के अनुसार उपमा । अदृश्य नल के कारण उत्पन्न अतः पुर की स्त्रिया की दशा का स्वाभाविक चित्रण ॥ ४७ ॥

अभ्या पणम्योपनता ननाङ्गी नलेन भंभी पथि योगमाप ।

स भ्रातृभैमीपु न या विवेद सा त च नादृश्यतया ददर्श ॥ ४८ ॥

जीवानु—अम्बामिति । ननाङ्गी व्यानतगात्री भैमी । अम्बा मातरम् ।  
'अम्बा सवित्री जननी माता च' इति हलायुज । प्रणम्योपनता सती, नलेन  
पयि यागमाप । किन्तु स नलो आतर्भैमीषु अतीकभैमीषु मध्ये ता न विवेद  
विविच्य नाजानात्, सा च त नल्म् अद्वयतया न ददर्श । अत्र रूपसाम्याद-  
आतर्भैम्या नान्तर्भैमीमि सहाभेदामिरानात् सामान्यालङ्कार । 'सामा'य  
गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरकता' इति लक्षणात् ॥ ८८ ॥

अन्वय—अम्बा प्रणम्य उपनता ननाङ्गी भैमी पयि नलेन योगम् आप,  
स आतर्भैमीषु ता न विवेद, सा च तम् अद्वयतया न ददर्श ।

हिन्दी—माँ को प्रणाम करके जायीं विनत अगोवाली भीम-मुता मार्ग  
में नल को मिली, किंतु भ्रम से दीखनी भीममुताओं के मध्य वह उसे न पहि-  
चान सका, और वह (दमयंती) उसको अद्वय होने के कारण न देख पायी ।

टिप्पणी—गुरुजनो के प्रति आदर भावना श्वेत्करी होती है, परिणामत  
भैमी नल का योग तो हुआ, पर आन्ति के कारण प्रत्यक्षता न हो सकी ।  
भ्रम से विवेक का नाश होता ही है । 'ननाङ्गी' से तात्पर्य है मौवनवती—  
मौवनभार से झुके अगा वाली । मल्लिनाथ के अनुसार सामान्यालङ्कार,  
क्योंकि यहाँ रूपसाम्य के कारण आतर्भैमियों के मध्य अन्नात (वास्तविक)  
भैमी के साथ अविधान है । विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग ॥ ४८ ॥

प्रमूप्रसादाधिगता प्रसूनमाला नल्स्य भ्रमवीक्षितस्य ।

क्षिप्तापि कण्ठाय तयोपवष्टे स्थित तमालम्बत सत्यमेव ॥ ४९ ॥

जीवानु—प्रस्विति । प्रमूप्रसादाधिगता मातृप्रसादलब्धा । 'जनपित्री  
प्रसूनमाता जननी' इत्यमर । प्रसूनमाला पुष्पमालिका । तथा भैम्या भ्रमवी-  
क्षितस्य आन्तिष्टम्य नल्स्य कण्ठाय क्षिप्ताप्युपकण्ठे समीपे स्थित सत्यमेव  
तथ्यमेव त नलमालम्बत प्राप भणिप्रमाया भणिबुद्धिन्यायादिनि भाव ॥४९॥

अन्वयः—प्रमूप्रसादाधिगता प्रसूनमाला तथा भ्रमवीक्षितस्य नल्स्य  
कण्ठाय क्षिप्ता अपि उपकण्ठे स्थित त सत्यम् एव आलम्बत ।

हिन्दी—माता के परितोष से प्राप्त फूलों की माला उस (दमयंती) के  
द्वारा भ्रम से दृष्ट नल के कंठ के निमित्त फेंकी गयी थी निकट स्थित उस  
( नल ) के पास चली गयी ।

टिप्पणी—नलानुरागिणी दमयती को सर्वत्र नल का आभास होता रहता था । इस समय तो ( अदृश्य रूप में ही सही ) नल उसके पास था, तो उसे भ्रम-सा हुआ कि उसे नल दीख रहा है । उसने 'आतिष्ठ' नल के गले में भाँ से मिट्टी माला डाल दी, और नल तो पास था ही, माला उसके गले में पड़ गयी । भावी-कथन-संकेत रूप नाटकीय स्थिति पताकास्थानक । विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अनुप्रासालङ्कार ॥ ४९ ॥

क्षत्वांसनादृष्टजनप्रसाद सत्यैयमित्यद्भुतमाप भूप ।

क्षितामदृश्यत्वमिता च मालामालोक्य ता विस्मयते स्म बाला ॥५०॥

जीवातु-अपि । भूपो नल वासनया निरन्तरमावनेया, दृष्टम्य जनस्य, अलीकभैम्या प्रसादोऽनुग्रहभूता इय सक् सत्या सत्यभूतेति हेतोर्दृष्टुमाप । बाला भैमी च, क्षितामात्मना न्यस्ताम् । अथ अदृश्यत्वमिता प्राप्ता माला मालोक्य आलोच्य विस्मयते स्म विस्मिताभूत् ॥ ५० ॥

अन्वय—वासनादृष्टजनप्रसाद इय सक् सत्या—इति भूप. अद्भुतम् आप, बाला च अदृश्यत्वम् इता ता मालाम् आलोक्य विस्मयते स्म ।

हिन्दी—भावना के कारण दृष्ट व्यक्ति ( दमयती ) का प्रसाद रूप वह माला ( तो ) सच्ची है—इससे राजा ( नल ) को आश्चर्य हुआ, और वह बाला ( दमयती ) अदृश्यता को प्राप्त उस माला को देख कर विस्मय में पड़ गयी ।

टिप्पणी—नल और दमयती दोनों विस्मित हो गये । नल को अचरज हुआ कि भ्रम से देखी अलीक दमयती द्वारा प्रसाद रूप में दी गयी माला तो सत्य है । यह कैसे हुआ, जब आति से दृष्ट जन द्वारा दी वस्तु श्री भ्रम होती है, सत्य नहीं । दमयती को आश्चर्य हुआ कि माला गयी कहाँ ? यही तो कोई दीक्षता नहीं । माला तो नल की इच्छा से उसके गले पड़कर अदृश्य ही गयी थी ॥ ५० ॥

अन्योन्यमन्यन्नवदीक्षमाणौ परस्परैणाध्युषितेऽपि द्वेने ।

आलिङ्गितालीनपरस्परान्तस्तथ्य मिथस्तौ पण्डितस्वजाते ॥ ५१ ॥

जीवातु-अन्योन्यमिति । तौ भैमीननी परस्परैणाध्युषिते द्वेने, मिथ-य-

मिति कर्मनिर्देश । नलो नैनी मा च नलमित्यर्थ । अथत्रवद्देशान्तर इवेक्ष-  
माणी, अथत्र स्थायिनाविद पश्यतावित्यर्थ । आलङ्कितमालङ्कनम्, अलीक  
यस्य तदालङ्कितालीकम्, एतदालङ्कितं मिथ्येत्यनिमान, परस्परस्यान्तर्गत-  
करण यस्मिन् कर्मणि तद्वया भवति तथा । अथ्यगोत्तरपदो बहुव्रीहि । अथ्य  
रेफान्न क्रियाविशेषणम् । मिथ्योऽन्योऽयं तस्य यथार्थमेव । परिपञ्चजाते  
दिष्यत 'दमयतीन्नुनोति' इत्यादिना पञ्चम् । पूर्ववातनया परस्परवेष्टा  
मिथ्येति मन्वयमानावेव तथ्यमचेष्टानामित्यर्थः ॥ ५१ ॥

अन्वय — परस्परेण अध्युपिते द्वे अपि अन्यत्रवत् दलमाणी तौ  
आलङ्कितालीकपरस्परात् मियं तथ्य परिपञ्चजाते ।

हिन्दी—दोनों ( दमयती-नल ) के द्वारा अधिश्रुत स्थान में भी एक  
दूसरे को दूसरे स्थान पर स्थित जैसे देखने हुए उन दोनों ( दमयती-नल )  
ने मन में परस्पराग्नि के मिथ्या समतत्त्व भी एक-दूसरे का भवमुच  
आग्निन किया ।

टिप्पणी—नल कथ्य या और दमयती को वह पहिचानता या नहीं,  
फिर भी निरंतर भावना के बशीरूत के दोनों आग्निन हो गये । दोनों तो  
यह समतत्त्व थे उनका प्रेमास्वद वहाँ है नहीं, अतः उन्हें वह आग्निन केवल  
वल्पनामात्र लग रहा था, पर वह घटित सत्य ही रहा था । मिथ्या  
मनसने हुए भी वे वस्तुतः जाग्निमिद हुए । पूर्व-वामना के कारण जगती चेष्टा  
को मिथ्या सत्य मानने हुए दमयती-नल वास्तविक आचरण हो कर रहे थे ।  
विद्याधर के अनुसार कार्थ्या जन्कार ॥ ५१ ॥

स्पर्शं तमस्याविगतापि भैमी मेने पुनर्भ्रान्तिमदशनिन ।

नृपस्य पदगन्निपि तामुदीतस्तम्भो न धनुं सहमा शशाक ॥ ५२ ॥

जीवातु-स्पर्शमिति । भैमी त तथ्य स्वर्गम् जगिता प्राणापि । पुनरस्य  
नलस्य यदशनिनादशत्वेन, भ्रान्ति मेने । अतो नल धनुं न शशाकेति शेष ।  
नृपस्य पदगन्निप्युदीतस्तम्भो निष्क्रियान्नाल्लक्षणा नात्विको यस्य, स धनुः ।  
ता भैमी सहमा धनुं ग्रहीतु न शशाक । अथवा धरेदिति भावः । उदीतेति ईदृ  
गवाविति दीर्घेण 'ई' धातुना निष्पन्नम् । अथ स्तम्भपदार्थस्य विनोपात्त्या  
धारणाशक्तिहेतुकं दातुं पदार्थहेतुकं नाञ्जलिङ्गमलङ्कारः ॥ ५२ ॥

अन्वय—स्पर्शम् अधिगता अपि भैमी पुन अस्य मदशनेन त भ्रान्ति मेने, पश्यन् अपि उदितस्तम्भ नृप तु ता सहसा धत्तुं न शक्नुते ।

हिन्दी—( नल के ) स्पर्श को प्राप्त करके भी भीममुता ने फिर इस (नल) के न दोखने के कारण उस (स्पर्श) को भ्रम ही माना । (दमयती को) देखते हुए भी स्तम्भ (जड़ता सात्विक भाव) का उदय हो जाने के कारण राजा (नल) भी उस (दमयती) को सहसा पकड़ने में समर्थ न हो पाया ।

टिप्पणी—स्तम्भ पदार्थ के विशेषण रूप में कारण में असक्ति का हेतु हान से इस श्लोक में मलिनार्थ के अनुसार काव्यलिपि है, विद्याधर के अनुसार काव्यलिपि और भाषादम ॥ ५२ ॥

स्पर्शातिहर्षादितसत्यमत्या प्रवृत्त्य मिथ्या प्रतिलब्धबोधी ।

पुनमिथस्तथ्यमपि स्पृशन्तो न श्रद्धाते पयि तो विमुग्धौ ॥ ५३ ॥

जीबानु—स्पर्शाति । विमुग्धौ रागाधी, तो दमयतीनली, पतिस्पर्श-नातिहर्षादितमात्रानन्द, तस्माद्धेतोस्तद्व्ययानुपपत्त्या, आदृतया दृढीकृतया सत्यमत्या सत्योऽयं स्पर्श इति बुद्ध्या प्रवृत्त्य पुनर्व्यापृत्य मिथ्याप्रतिलब्धबोधी प्रवृत्तेऽपि स्पर्शात्प्रामाण्येति निश्चितबोधी, मिथ्येति बुद्धवन्ताविस्मय । पुनरित्यनुमयदर्शनान्तर, मिथ्योऽयोग्य तथ्य यथार्थमपि स्पृशन्तावपि, न श्रद्धाते न विश्वसन्तु । दधातेलिटि तद् । धृष्टशब्दस्य 'श्रद्धातरोऽपसङ्गस्या-नमि' रूपसंगतत्वादातो प्राक् प्रयोग ॥ ५३ ॥

अन्वय—स्पर्शातिहर्षादितसत्यमत्या पुन प्रवृत्त्य मिथ्याप्रतिलब्धबोधी विमुग्धौ तो पयि मिथ तथ्य स्पृशन्तो अपि न श्रद्धाते ।

हिन्दी—स्पर्श के कारण से उत्पन्न अत्यन्त हर्ष के कारण 'वह भ्रान्तिगत सत्य था'—इस बुद्धि से पुन ( भ्रान्तिगत में ) प्रवृत्त हो मिथ्यात्व का बोध पाकर भ्रम में पड़े के दोना ( नल-दमयती ) मार्ग में परस्पर सत्यत स्पर्श करते हुए भी ( उस पर ) विश्वास नहीं कर रहे थे ।

टिप्पणी—श्लोक सत्या ५१ में वर्णित नल-दमयती का परस्परालिप्त उन्हें भ्रम प्रतीत हुआ, किन्तु भ्रान्तिगत से जो अतीव हर्ष हुआ, उससे उन्होंने माना कि भ्रान्तिगत मिथ्या नहीं था, वास्तविक था, अतः वे पुन भ्रान्तिगत में प्रवृत्त हुए, पर इस बार स्पर्श न होने से उन्होंने मान लिया कि भ्रान्तिगत



वास्तविक नहीं था। मार्ग में जब उन्होंने तीसरी बार परस्पर वन्दन एक-दूसरे का स्पर्श पाया, तब भी वे उसकी वास्तविकता पर विश्वास न कर सके। पहिला आग्निन वास्तविक था, जिस पर वे पहिले विश्वास न कर सके। पर उत्पन्न हृष के कारण उन्हें लगा कि वह अन्ध नहीं था और वे पुन आग्निन करने को बड़े। इन बार स्पर्श नहीं हुआ, अत उन्होंने मान लिया कि सब अवास्तविक ही था—कल्पमात्र, अत तृतीय बार घटित स्पर्श पर भी उन्हें विश्वास नहीं हुआ। इस श्लोक में सत्य स्पर्श में श्रद्धा के कारण होने पर भी अलीकभाव से निमित्त-प्रतिपादन है, अत विद्याधर न चक्रनिमित्त-विशेषोक्ति अलंकार का निर्देश किया है ॥ ५३ ॥

सर्वत्र सवाद्यमवाधमानो रूपप्रियातिथ्यकरं पर तो ।

न शक्यते केलिरमाद्विरन्मुल्लोकमालोक्य परम्पर तु ॥ ५४ ॥

जीवानु—सर्वत्रेति । तो नैमीनली, रूपप्रिया सौन्दर्यसम्पदा, सर्वत्र सर्वावयवेषु सवाद्य मिथस्सवादाहं, परस्परानुरूपमिथ्यम् । अत एव परममन्त-मातिथ्यकर मिथः कृतकारकारि । अलीकमसत्य परस्परान्तु कर्म आलोक्य । अवाधमानो मिथ्येयमयमानो, केलिरसात् क्रीडारापाद्विरन् निवर्तिनु न शक्यते, किन्तुल्लोकेनापि परस्परेण क्रीडितुमाधकाक्षुर्गुह्यम् ॥ ५४ ॥

अन्वय — रूपप्रिया सर्वत्र सवाद्य परम् आतिथ्यकरम् अलीक परस्पर कर्म आलोक्य अवाधमानो तो केलिरसात् विरन् न शक्यते ।

हिन्दी—रूप-संपदा के कारण सब स्थानों ( सब अर्थों ) में सवादी ( एक समान वर्णनीय ), परमप्रीतिकर मिथ्याभूत परम्पर ( स्पर्शादि ) क्रिया को देखकर मिथ्या न मानते हुए वे दोनों ( नन्दमयती ) क्रीडारस से विरत न हो पाये ।

टिप्पणी—नन्दमयती—दोनों ही समान रूप-शोभा से परिपूर्ण थे, अत उनकी रसकेलि सर्वथा रमणीय और समान आनन्द देने वाली थी । इस कारण वे दोनों मिथ्या को भी मिथ्या न मानते हुए रमकेलि से विरक्त न हुए । कभी उनका कर्म अलीक रह जाता था, कभी वास्तविक भी । अत अनेक स्थानों में वास्तविक रस-केलि के आनन्द का अनुभव करते हुए नन्दमयती केलिरत रहे । विद्याधर के अनुसार काव्यमय अलंकार ॥५४॥

परस्परस्पर्शोर्मिसेकात्तयोः क्षणं चेतसि विप्रलम्भ ।

स्नेहातिदानादिव दीपिकाचिनिमिष्य किञ्चिद्द्विगुणं दिदीपे ॥ ५५ ॥

जीवातु—परस्परेति । तयोर्मयीनलयो चेतसि विप्रलम्भो विरह, परस्परस्पर्शरसस्य अन्योन्यस्पर्शसुखस्य, ऊमिभिः सेकात् क्षणं स्नेहस्य तंजादेरतिदानाद्दीपिकाचिर्दीपज्वालेन किञ्चिदीपनिमिष्य निवार्य, द्वौ गुणान्वृत्तौ यस्मिन् कर्मणि तद्यथा भवति तथा द्विगुणम्, अधिक दिदीपे प्रजग्वाल मोक्षु-हीपक एवामूदित्यर्थः ॥ ५५ ॥

अन्वय—विप्रलम्भ तयो चेतसि परस्परस्पर्शरसोर्मिसेकात् स्नेहातिदानात् दीपिकाचि इव क्षणं किञ्चित् निमिष्य द्विगुणं दिदीपे ।

हिन्दो—वियोग उन दोनों ( नल दमयन्ती ) के हृदयो में अयोग्य के स्पर्श रस की तरंगों के सिंचन से स्नेह का अत्यन्त दान होने स्वरूप स्नेह ( तेल ) के प्रचुरमात्रा में डाल देने से दीपक की लौके समान कुछ देर तक कुछ मंद होकर द्विगुण होकर दीप्त हो गया ।

टिप्पणी—नल दमयन्ती ने उपर्युक्त वर्णन के अनुसार रसकेलि का ज्ञान-द पाया । इस मिलन मुक्त में जो परस्पर स्नेह का आदान प्रदान मिला उससे प्रणयीयुगल की विरहाग्नि कुछ मंद पड़ी परन्तु वे पुनः विद्युत्त हो गये । तब जैसे तेल डाल देने से मंद पड़ी दीए की लौ भस्कर कर और तेज हो जाती है, वैसे ही प्रेम को पाकर विद्युत्त प्रेमी द्विगुणिन रूप से वियोग क्षत हो गये । विद्याधर के अनुसार उपमा ॥ ५५ ॥

वेशमाप सा धैर्यवियोगयोगाद् मोक्षश्च मोहश्च मुहुर्दधाना ।

पुनः पुनस्तत्र पुरः स पश्यत् वभ्राम ता सुभ्रुवमुदभ्रमेण ॥ ५६ ॥

जीवातु—वेशमेति । सा भैमी, धैर्यवियोगयोगात् मोक्षश्च मोहश्च दधानेति यथासम्भालङ्कारः । वेश्म निजावासमाप । नलस्तत्र ता सुभ्रुव भैमीम् उदभ्रमेण आत्मा पुनः पुरोऽग्रे पश्यन् वभ्राम । प्राप्याशयेति भावः । ऐतेन चापलास्य सञ्चारिभाव उक्तः । 'चापलं त्वनवस्थानम्' इति लक्षणात् ॥ ५६ ॥

अन्वय—धैर्यवियोगयोगात् मुहुः बोध मोह दधाना सा वेश्म आप, तत्र ता सुभ्रुवम् उदभ्रमेण पुनः पुनः पुरः पश्यन् स वभ्राम ।

हिन्दी-धीरज और विरह-दोनों के रहने में कभी ज्ञान और कभी मोह को धारण करती वह ( दमयन्ती ) घर गयी, और वहाँ उन मुन्दर भ्रुकुटि वाली ( दमयन्ती ) को उत्पन्न भ्रम के कारण बार-बार अपने समुद्र देवता वह ( नल ) भटकन लगा ।

टिप्पणी—दमयन्ती धैर्यशालिनी थी, अतः वह चित्त की ममाङ्ग लेती थी, किन्तु विमोह के कारण पुनः मोह को प्राप्त हो जाती थी । इन दोनों स्थितिओं में पड़ती वह अन्ततः घर चली गयी और विरही नर 'प्रिभुवनमपि तमपि विरहे के अनुसार सर्वत्र दमयन्ती का ही समुद्र देखने इतर-उधर भ्रमण करने लगे । यही चरन्ता सचारीभाव का ब्यपन है, चरन्ता जयांतु मात्सर्यं, द्वेष, राग आदि के कारण अनवस्थिति—'माययैर्द्वेषरागादेस्वापन्न त्वनवस्थितिः ( सा० ३।१७८ ) । विद्यारर के अनुसार यदापन्न्य और भावचरन्ता अन्वार ॥ ५६ ॥

पद्म्या नृप सञ्चरमाण एष चिरं परिभ्रम्य कथं कथञ्चित् ।

विदमराजप्रभवानिवासम् प्राणादमभ्रकूपमासमाद ॥ ५७ ॥

जीवानु—पद्म्यामिति । एष नृप पद्म्या सञ्चरमाणो गच्छन् । 'समन्तनीयामुक्तात्' इति तृतीया । चिरं परिभ्रम्य कथं कथञ्चित् पादचार-कलेशादतिवृद्धेण विदमराज प्रभव कारणमप्यास्तम्या विदम्या निवासम् । अत्र कथंतीत्यभ्रकूपमरुप्रतम् । 'मर्वकूलाभ्रकरीषेषु कथं' इति स्वप्न-प्रत्यक्षमुपागमः । प्राणाद सीधमासमाद ॥ ५७ ॥

अन्वय—पद्म्या सञ्चरमाण एष नृप चिरं परिभ्रम्य कथं कथञ्चित् विदमराजप्रभवानिवासम् अभ्रकूप प्राणादम् आसमाद ।

हिन्दी—वैदल चरन्ता-चरन्ता यह राजा ( नर ) बहुत समय तक घूम-फिर कर किसी प्रकार विदमं नरेश की पुत्री ( दमयन्ती ) के पगलम्पशी ( अयुक्त्व ) प्राणाद में पहुँचा ।

टिप्पणी—ऊँचे प्राणाद के दुर्गम और दुःखद्वेष होने का संकेत ॥ ५७ ॥

मसौशनाना सरमेविष्णुमिः म्मरावगेषभ्रमनावहर्तुम् ।

विलोकयामास सना स भैम्यामन्य प्रतोनीमपिबेदिकायाम् ॥ ५८ ॥

जीवातु-सखीति । नलस्तस्य प्रसादस्य प्रतोल्या प्राङ्गणे या मणिवेदिका तस्या सखीशताना सरसं सानुरागविलासैर्लोलामि स्मरावरोधभ्रममावहती नायान्त पुरभ्रातिकरी भैम्या समामास्यानी विलोकयामास ॥ ५८ ॥

अन्वय —म तस्य प्रतोलीमणिवेदिकाया सखीशताना सरसं बिलाम् स्मरावरोध भ्रमम् आवहती भैम्या समा विलोकयामास ।

हिन्दी-उस नल ने उस ( प्रामाद ) के आँगन में मणि जटित बेदी ( चबूतरा ) पर सैकड़ों ( अनेक ) सखियों के सरस शृंगार विलास से काम के अन पुर की भ्राति उत्पन्न करती भीमपुत्री की समा को देखा ।

टिप्पणी-दमयन्ती की सखियाँ रति के समान सुन्दरी थीं और उनकी शृंगार चेष्टाएँ भी वैसी ही मोहक थी, अतः दमयन्ती की वह समा काम की तथा जैसी प्रतीत हो रही थी । बिद्याधर के अनुसार उपमा ॥ ५८ ॥

कण्ठ किमस्या पिकवेणुवीणास्तिस्रो जिता सूचयति त्रिरक्ष ।

इत्यन्तरस्तूयत कापि यत्र नलेन बाला कलमालपन्ती ॥ ५९ ॥

जीवातु-अथ कण्ठ इत्यादिभिः चतुर्दशभिस्ता सभा वर्णयति-कण्ठ इति । यत्र समाया कल मधुरमालपन्ती कापि बाला । नलेन तिस्रो रेखा अस्य सतीति त्रिरक्ष अस्या कण्ठ पिकवेणुवीणास्तिस्र जिता सतीति सूचयति किमिति अन्तरतः करणे अस्तूयत स्तुता । अथ कण्ठरेखात्रयस्य विशेषणतया निजपिकाविषयविजयसूचत्वोत्प्रेक्षाहेतुकत्वात्काव्यलिङ्गसङ्कोचैर्यमुपेक्षा ॥ ५९ ॥

अन्वय —यत्र कलम् आलपयन्ती बाला अस्या त्रिरक्ष कण्ठ पिकवेणु-वीणा तिस्र जिता-सूचयति किम्, इति नलेन अन्तः अस्तूयत ।

हिन्दी-जहाँ ( सभा में ) मधुर आलाप करती बाला क्या यह सूचित कर रही है कि उस ( बाला ) के तीन रेखा पड़े कण्ठ द्वारा कोकिल, वेणु और वीणा-तीनों जीत ली गयी हैं?—इस प्रकार नल ने मन ही मन प्रशंसा की ।

टिप्पणी-कोई बात समा में राग आलाप रही थी । इतना मनोहर उसका स्वर था कि उसके समुक्त कोकिल, वंशी और वीणा के स्वर नगण्य प्रतीत हो रहे थे । वह सुन्दरी 'कम्बुघीरा' ( सखी सी घीरा वाली ) थी,

त्रिम पर तीन पर रेखाएँ अंकित थीं। सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार त्रिरेख-  
ग्रीवा 'कम्बुग्रीवा' कहाती है 'रेखानयाद्धिना ग्रीवा कम्बुग्रीवेति कथ्यते।' ये  
तीन रेखाएँ मानो निक-वेणु-धीणा के जयार्थ कण्ठ ने धारण की थीं।  
मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ काव्यलिङ्ग-मञ्जूषा उपमा है, क्योंकि कण्ठ के  
रेखात्रय को विशेषण यति से पितादि तीन का विब्रयमूचक होने से  
सत्यज्ञा का हेतु कहा गया है। विद्याधर के अनुसार यहाँ छेकानुग्राम और  
उत्प्रेक्षा है ॥ ५९ ॥

एन नल दमयन्ति । परम त्यजातिमित्यालिकुलप्रबोधान् ।

श्रुत्वा म नारीकरवर्तिशारीमुखान् स्वमाशङ्कन् यत्र दृष्टम् ॥ ६० ॥

जीवानु—एनमिति । स नल्लो यत्र समाया, नारीकरवर्तिशारीमुखात्  
कान्ताकरगतधारिकामुखात्, हे दमयन्ति । समेत नल पश्य । आति पीडा  
त्यज । इतिवर्णमान् आलिकुलप्रबोधान् आलिकुलस्य सखीजनस्य, प्रबोध्यते  
एमिरिति प्रबोधान् आश्रामनोक्ती करने चन्द्रत्यय । श्रुत्वा स्वकीयामान  
दृष्टमाशङ्कत । एन नल पश्येति निर्देशादेशानिर्देशोऽस्मीति शङ्कितवानित्यर्थः ।  
शारीवाक्ये नारीवाक्यनूमादिनि भावः । अत्र एव भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यत  
इति वस्तुनालकारवृत्ति ॥ ६० ॥

अन्वय—यत्र नारीकरवर्ति शारीमुखान्—दमयन्ति, तम् एत नल्ल  
पश्य, अस्ति त्यज—इति आलिकुलप्रबोधान् श्रुत्वा म स्व दृष्टम् अशङ्कत ।

हिन्दी—त्रिम (सभा) में नारियों के हाथ पर बनेमान सारिका  
(मैना) के मुख में—दमयती, उस (प्रसिद्ध) इन नल को देख, दुःख  
छोड़—इस प्रकार भविष्यों द्वारा दिये आश्रामनो को मुक्त कर वह (नल)  
जपने को देख त्रिप्रे जाने की आशंका करने लगा ।

टिप्पणी—विरहिणी दमयती को नल के चित्रादि दिवाकर उसकी  
चनियाँ जब तब आश्रामन दिया करती थी, त्रिमसे उसकी व्याधा कम हो ।  
मुन-मुन कर मैना भी ऐसा ही प्रायः बोलने लगी । जब जस्त्य नल समा में  
था, तब भी मैना ने ऐसा ही कहा । इससे नल डरने लगा कि कहीं उसकी  
जग्य रहने की शक्ति समाप्त तो नहीं हो गयी और वह अब देख निया जा  
रहा है । सारिका के बचनों में उसे नारी के बचनों का भ्रम हो गया ।

मान और क्या फिर उसकी अद्वितीयता । यहाँ तो चन्द्र ही चन्द्र है । अनव स्थिति तो हो ही जाती । भन्निनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार रूपक उपमा उत्प्रेक्षा का सकर ॥ ६२ ॥

दलोदरे काञ्चनकैतकस्य क्षणान्मयीभावुकवर्णरेखम् ।

तस्यैव यत्र स्वमनङ्गलेखलिलेखभैमीनखलेखिनीभिः ॥ ६३ ॥

जीवातु—दलेति । यत्र सभाया, भैमी, काञ्चनकैतकस्य स्वर्णकैतकी-कुसुमस्य, दलोदरे पत्रमध्ये, क्षणात् क्षणिति मयीभावुका श्यामीभवस्य वा रेखा अक्षरविन्यासा यस्मिन् तम् । तस्य नलस्यैव कृते स्वस्वकीयम्, अनङ्गलेख कामसन्देश, नलस्यैव लेखिनीभिः लेखनिकाभिः लिलेख ॥ ६३ ॥

अन्वय—यत्र भैमी काञ्चनकैतकस्य दलोदरे क्षणात् मयीभावुकवर्णरेख तस्य एव स्वम् अनङ्गलेख नखलेखिनीभिः लिलेख ।

हिन्दी—जहाँ ( सभा में ) भीमपुत्री ने सुवर्ण कैतकी के पत्र के मध्य क्षण से मसी ( स्याही ) बन जाते वर्ण विन्यासवाली, जैसे वह उसका ( नल निमिष ) ही हो, ऐसे, अनङ्गलेख ( काम पत्र ) को नखों की कनक से लिखा ।

टिप्पणी—दमयन्ती ने परपरानुसार काम सन्देश स्वर्णकैतक के पत्र पर नखों से लिखा । मान्यता यह है कि स्वर्णकैतकी पर नखों के आलेख तुरन्त काले रंग के हो जाते हैं । इसी पर कल्पना है कि दमयन्ती के द्वारा कैतकी पर बनाये गये, काले पड़े नख चिह्न, उस काम सन्देश-पत्र ने स्याही से लिखे अक्षरों के तुल्य प्रतीत होने लगे, जो उसने नल को ही लिखा । विद्याधर के अनुसार अनुप्रास रूपक का सकर ॥ ६३ ॥

विलेखितु भीमभुवो लिपीषु मर्यादतिविरूपातिभृतापि यत्र ।

असाकि लीलाकमल न पाणिमपारिकर्णोत्पलमक्षि नैव ॥ ६४ ॥

जीवानु—विलेखितुमिति । यत्र सभाया लिपीषु चित्रकर्मसु । श्रुदिवा-रादभिनयो वा डीप्यन्वयः । अतिविन्यातिभृता अतिचतुरवापीत्यर्थः । सम्प्रा भीमभुवो भैम्या लीलाकमल विलेखितुम् असाकि । भावे मुद् । सकेत्यादिना तुमुन्प्रत्ययः । पाणि तु नासाकि । तदपस्योत्पलत्वात् । तथा कर्णोत्पल

विलेखितुमपारि पर्याप्त, पूर्ववत्तुङ् । 'पर्याप्तिवचनेध्वजमर्थेऽपि'ति तुमुन् प्रत्यय । अस्ति तु नापायैव सर्वोपमानातीतत्वात्तल्लावण्यस्येति भावः ॥६४॥

अन्वयः—यत्र लिपीषु अतिवित्तातिमृता अपि सस्या भीममूव लीला-  
कमल विलेखितुम् अशक्ति, पाणि न, कर्णोत्पलम् अपारि, अक्षि न एव ।

हिन्दी—जहाँ ( समा में ) चित्र बनाने में असम्यक्त प्रसिद्धि प्राप्त भी  
सखी द्वारा भीमनुता का लीलाकमल ही अक्षित किया जा सका, हाथ नहीं,  
कान में ( जानूपण रूप ) पहिना कमल ( कर्णफूल ) ही बन सका नेत्र नहीं ।

टिप्पणी—भाष यह है कि दमयन्ती का हाथ और नेत्र कमल की जपेक्षा  
करी सुन्दर थे, इतने कि कुशल से-कुशल चित्रकरी उनके भौंदर्य को चित्रित  
नहीं कर सकती थी । सो उसकी बला की इयत्ता लीलाकमल और कर्णोत्पल  
को चित्रित करने में ही कुछ गयी, अनुपम कर-नेत्र चित्रित करने की समता  
रही हो नहीं । रमणीयता तो नित्य नव-नव रूपधारिणी होती है—सणे  
यप्रवतामूर्ति सदेव रूप रमणीयताया, जो क्षण क्षण नया रूप ले ले, उसे  
कौन चित्रित कर सकता है ? विद्याधर के अनुसार प्रतीप अलंकार ॥ ६४ ॥

भैमीमुपावीणयदेव यत्र कलिप्रियस्य प्रियशिष्यवर्गः ।

गन्धर्ववध्व स्वरमध्वरीणतत्कण्ठनालैकधुरीणवीणः ॥ ६५ ॥

जोवातु—भैमीति । यत्र समाया, गन्धर्ववध्वो गन्धर्वाङ्गना एव । कलि-  
प्रियस्य प्रियकलहस्य नारदस्य । 'वा प्रियस्य' इति बहुव्रीही प्रियशब्दस्य  
परनिपात । प्रियशिष्यवर्गः । स्वर एव मधु सौष्ट तेनारीणमारक्त पूर्ण मति  
यावत् । 'त्वादिभ्यः' इति निष्ठानत्वम् । तेन तस्या भैम्या कण्ठनालेन सह  
एकधुर बहन्तीत्येकधुरीणा समा इत्ययम् । 'एकधुराल्लुक् च' इति सूत्रप्रत्यय ।  
ता वीणा यस्य स सन्नेत्यागत्य भैमीमुपावीणयत् वीणया उपगायति स्म ।  
'सत्यापपाशे'त्यादिना निधि लङ् । गानविद्याया गन्धर्वीणामधुपास्या  
भैमीत्ययम् ॥ ६५ ॥

अन्वयः—यत्र स्वरमध्वरीणतत्कण्ठनालैकधुरीणवीण कलिप्रियस्य प्रिय-  
शिष्यवर्ग गन्धर्ववध्व एव भैमीम् उपावीणयत् ।

हिन्दी—जिस ( समा ) में स्वर मधु से पूर्ण उस ( दमयन्ती ) की  
कंठ नली की एक धुरीण ( सदृश ) दीगाधारिणी, कन्हप्रिय ( नारद ) की

प्रिय सिप्या गन्धर्वं वसुएँ जाकर भीमसुता के समुप वीणा पर गान करती थी ।

टिप्पणी—दमयंती के कमल मुख का कठनाल इतने माधुर्य से पून क कि उससे प्रवहणशील स्वर के समुह गधर्वरमणियों के कठप्पर और उनका बजायी वीणाके स्वर पीके थे, यद्यपि सहज गानप्रिय गधर्ववधुओं ने नारद क वीणा-वादन सीखा था, जो इम विद्या—गानविद्या के भी अद्वितीय आचार माने जाते हैं । ऐसी गधर्ववधुएँ भी गान और वादन में दमयंती से कुछ सीखा ही करती थीं । विद्याधर के अनुसार उपमा ॥ ६५ ॥

नावा स्मर कि हरभीनिगुप्ते पयोधरे खेलति कुम्भ एव ।

इत्यर्धचन्द्राभनगाङ्गुचुम्बिकुचा सखी यत्र सखीमिरुचे ॥ ६६ ॥

जीवानु—नावेति । यत्र समामा अर्धचन्द्राभनगाङ्गुचुम्बी अर्धचन्द्राभार-नखसतभाक्कुचो मस्या मा सखी । स्मर हरभीत्या गुप्ते, गुप्यर्थमिष्ये सख्यपमामान्ये पद्ये । पयसा क्षीराणा नीराणारूप पर पयोधर कुच । 'पय स्यात् क्षीरनीरयो' इति विश्व । तस्मिन्नेव कुम्भ इति व्यस्त रूपम् । नावा नवाङ्गु नैवेति दीप । खेलति दाह्यष्टिराम विहरति किमिति रूपकप्रदर्शनेन मृत्प्रेशा इति सखीमिरुचे उक्ता ॥ ६६ ॥

अन्वय—यत्र अर्धचन्द्राभनगाङ्गुचुम्बिकुचा सखी सखीमि, इति ऊचे किम् स्मर हरभीतिगुप्ते पयोधरे एव कुम्भे नावा खेलति ?

हिन्दी—जहाँ ( समा में ) भाषे चन्द्रमा के तुल्य नख चिह्न से चुम्बित ( मुक्त ) कुचोवाली सखी से अन्य सखियों ने कहा—'क्या काम शिव के डर से छिपने के लिए, पयोधर ( कुच ) रूप पयोधरकुम्भ ( जलमरे मरे ) पर नौका विहार कर रहा है ?

टिप्पणी—नवाङ्गन चिह्न से युक्त कुच-दर्शन कर अन्य सखियाँ द्वारा एव सखी की गुप्त कामक्रीड़ा का उपहास । काम हर-नेत्र-ज्वाग से जल गया था, अब उसे क्षीतल स्थान अर्पणित था, ता वह सखी के 'पयोधर' ( ज-पूर्ण होने से क्षीतल ) पर क्षीतलवादायी नौकाविहार कर रहा था । दाह्यगति के अतिरिक्त स्वरणा की चिता भी काम का हो सकती थी, सं



वह ऐसे स्थल पर जा पहुँचा जहाँ शिवजी की पहुँच न हो। शिव परम्प्री का कुचस्पर्श नहीं करे। एक तो योगिराज है, दूसरे पार्वती का डर भी होगा—  
‘हरे’ भीत्या मुझे पयोधरे’ (हर से हर के द्वारा मुझ-यमदित पयोधर में)।  
प्रकाशकार ने ‘हरमोतिपुष्पे’ को विदेश-वाचक मन्त्रोक्त भी माना है—  
शिवजी के द्वारा पार्वती के डर से न हुई जा सकनेवाली प्रेम्ही, तरे पयोधर  
पर निनय हो काम नोका बिहार कर रहा है। नारायण ने इस प्रकार भी  
पदच्छेद किया है—‘हरमोतिपुष्पे स्मरंते पयोधरे एव कुम्भे मेवति।’ हर  
का नय रूप ईति (परषक) हमके कारण शिव (हरमोतिपुष्पे ईति  
सम्नाशानाम योगरति) काम। यह कल्पना भी है कि काम ने सोचा कि  
उक्त मन्त्री का मन्त्रावृत्त स्तन देख कर शिव भी मुग्न हो जाये और उनका  
क्रोध शांत हो जायेगा, सो निश्चित काम पयोधर-कुम्भ पर बैठा नोका-  
बिहार कर रहा है। नल्लिनाथ ने पयोधर-कुच में अमृत रूपक और दाह-  
परिहार के निमित्त मेघन को उत्प्रेक्षा मान कर, यहाँ कदम्बकीर्ण बनना  
माना है, बिनागर के जगुमार दत्तेष्टा-उदना रूपक उच्छा है ॥ ६६ ॥

स्मरागुणीनूप विदमंमुष्मन्मो यदशोमि सन्नु प्रमूने ।

रज मृदन्त्या मदशोषि तेषु मयैक्या मूचिगिस्ता निनाय ॥ ६७ ॥

जीवानु-स्मरेति । प्रमूने कुम्भे स्मरागुणीनूप कामवागी मूचा विदमं-  
मुष्मन्मो वैदम्यां यदो हृदयनशोमि शोमिन्व सन्विति यत् । हृत्शोमनवरे पर  
सनाया, तेषु प्रमूनेषु मूचिगिस्ता मूच्यप्र, निनाय निन्दत्य, मूच माणा मूचन्त्या  
एकदा कदाचित्कान्तजा, जगोषि निर्वाटितम् । हृदयच्छेदिना हृदयच्छेद एव  
प्रतीकार इति भावः ॥ ६७ ॥

जन्वय —यत्र प्रमूने स्मरागुणीनूप विदमंमुष्मन्मो यत् जमोमि सत्  
सन्नु तेषु मूचिगिस्ता निनाय सत्र मृदन्त्या एकदा जगोषि ।

हिन्दी—जहाँ (कान में) फूलों ने काम-बाज होकर सुंदर नृकृति  
बाली बंदनी (दमन्ती) के हृदय को जो पीटित किया था, निरखन रूप से  
उन (फूलों) में सुई की नोक डाल कर माया गूथनी एक (तली) ने  
उनका प्रतीकार किया ।

टिप्पणी—फूल ने बाणरूप में विरहिणी दमयन्ती को व्यथा दी, उन्हीं मालाकारिणी ने उन फूलों के हृदय में सुई चुभाकर उसका उचित बदला ले लिया । विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास उत्प्रेक्षा का सकर ॥ ६७ ॥

यथावदत्तामतिभीय भेमी त्यज त्यजेद सखि साहसिवयम् ।

त्वमेव कृत्वा मदनाय दत्ते बाणान् प्रसूनानि गुणेन सज्जान् ॥ ६८ ॥

जीवातु—यथेति । यत्र सभाया, ता त्वसृष्टी सखी, भेमी अतिभीय भयान् भीत्वा । भीष्मातो कृत्वो त्यबादेश । अवदत् । किमिति, हे सखि । इदम् । सहसा वर्तत इति साहसिक अविमृश्यकारी 'ओजस्सहोऽमसा घतत' इति ठक् । तस्य कर्म साहसिक्य ब्रह्मणादित्वात् व्यग्रप्रत्यय । त्यज त्यज । तु त्वमेव प्रसूना यत्र बाणान् गुणेन तन्नुना जयया च । 'गुणस्त्वावृत्तिशब्दाग्निरेन्द्रियामुत्पत्तन्तुषु' इति वञ्जयन्ती । सज्जान् सक्तान् कृत्वा, मदनाय दत्ते ददासि । सदेतेत्येतत् पूर्व दहतो बह्वर्वायुना सन्धुक्षणमिति भावः ॥ ६८ ॥

अन्वयः—सखि, भेमी अतिभीय ताम् इति अवदत्—सखि, त्यज इव साहसिवयम् त्यज, त्वम् एकै मदनाय प्रसूनानि बाणान् गुणेन सज्जान् कृत्वा दत्ते ।

वृन्दो—जिस (सभा) में भीमनदिनी प्रत्यन्त डर कर उस (मालाकारिणी) ने, यह बोली—सखी, हे तू इस अकम्मात् कृत (बिना बिबादे किये) को छोड़, तू ही काम की मूर्खों के रूप में बाणों को प्रत्यक्षा से सज्जित करने के दे रही है ।

टिप्पणी—मालाकारिणी को बाणों में फूलों को गुथते देख दमयन्ती बहुत डर गयी । वह लगा कि अब तक तो य पुष्पबाण प्रत्यक्षा पर चड़े नहीं थे, काम इन्हे गुण पर रखता था, नज्जहार करता था । यह मालिन तो फूलों को गुण-खोरी में सजाकर काम की कामें सरल बना रही है, पुष्पबाणों को सगुण-प्रत्यक्षा मुक्त कर रही है । अब तो काम और शीघ्र आघात कर सकेगा । दमयन्ती ने मालिन से इसीलिए माला गुथन का निवेदन किया । 'त्यज-त्यज' की द्विरुक्ति भय की अधिकता के चोतनाथ है । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ ६८ ॥

मालिरय सख्या कुचपत्रमङ्गीमध्ये सुमध्या मकरी करेण ।

यथावदत्तामियमालि धानं मन्ये त्वदेकावलिनाकनद्या ॥ ६९ ॥

जीवानु—आमिष्येति । यत्र मन्त्राणां, सुमध्यां वापि कान्ता सख्या कुचयो  
पत्रनर्तना पत्ररचना मन्त्रे मकरी करेणालिख्य ता मन्त्रीभवदत् । किमिति, हे  
आलि सखि, इय मकरी त्वदेकादलेखेव हारविशेषमयैव । 'एकावत्येकमष्टिका'  
इत्यमर । नात्रनद्या मन्दाकिनी इति न्यक्तम् । यान वाहन, 'मकरीवाहना  
मङ्गा' इति प्रतिष्ठि । मन्त्रे अवशोत्प्रेक्षा । तस्याश्रोत्ररूपकेण सङ्कर ॥ ६९ ॥

अन्वय—यत्र सुमध्या सख्या कुचपत्रनर्तनमन्त्रे मकरी करेण जालिख्य  
भवदत्—आलि, इय त्वदेकादलिनाकनद्या यान मन्त्रे ।

हिन्दी—जहाँ ( सना में ) सुन्दर मध्मनाग ( कटि ) वाली ( सखी )  
दूसरी सखी के कुचों पर पत्रवर्णा के मध्य मकरी को हाथ से चित्रित कर  
कह रही थी—मखी, इसे तेरी मोती जो एकलडीपाला रूप देवतरी  
( मन्दाकिनी ) का वाहन समझती हूँ ।

टिप्पणी—शुभ्र पत्रावली की सुन्ता मोती की एकलडी तुल्य शुभ्र  
मन्दाकिनी से की गयी । माना जाता है कि मन्दाकिनी गंगा का वाहन  
मकरी है । पत्रावली पर देवतरी का आरोप किया गया है, अतः यह रूपक है  
और 'मन्त्रे' उत्प्रेक्षासूचक है । इस आधार पर यहाँ मन्त्रिनाय ने रूप-  
उत्प्रेक्षा के स्वर का निर्देश किया है । विद्याधर के अनुसार यहाँ द्वैकानुयास-  
रूपक का सूचक है ॥ ६९ ॥

तामेव मा यत्र जगाद भूयः परोधिमादः कुचकुम्भयोन्मे ।

सेय म्यिना तावकहृच्छयाङ्कप्रियाप्नु विस्तारयति प्रगच्छति ॥ ७० ॥

जीवानु—आमिति । यत्र सा पूर्वोक्ता प्रसाधिका तामेव सखी भूयो  
जगाद । किमिति । परोधिमादो जगाद समुद्रसम्भव इत्यर्थः । किञ्च,  
तावकस्य हृच्छयस्य मकरध्वजस्याङ्की मकरस्य प्रिया दत्तिता । ते तव,  
कुचकुम्भयो स्थिता, सेय मकरी विस्तारयन्मन्त्रयोरेव परोपाहकोत्ते प्रगच्छति  
स्तुतिवर्णावतिरस्तु ॥ ७० ॥

अन्वय—यत्र सा ताम् एव भूय जगाद—तावकहृच्छयाङ्कप्रिया  
परोधिमादः सा ते कुचकुम्भयो स्थिता सन्तु इय विस्तारयति प्रगच्छति अस्तु ।

हिन्दी—जहाँ (समा में) वह (पूर्वोक्ता सखी) उसी (पूर्वोक्ता पनावली सोभिता सखी) से फिर बोली—तेरे हृदय में स्थित (काम) के चिह्न (मकर) की प्रिया समुद्र का जन्तु यह (मकरी) तेरे कुचरूप पङ्क्तों पर बैठी निश्चयपूर्वक (कुचों की) विशालता की कीर्ति की प्रशंसा बने।

टिप्पणी—जहाँ प्रिय, वही उत्तरी प्रिया। सुन्दरी के मन में अपने बाह्यसहित काम स्थित है, सो वही उत्तरी प्रिया मकरी भी होनी उचित है। कुचों की विशालता और गहनता मकरी के प्राकृतिक आवास समुद्र से भी उत्कृष्ट है, अतः वह जलजन्तु मकरी माणर का परिस्थान कर सुन्दरी के कुचकुम्भों पर आ बैठी। इस प्रकार उसने कुचों का यशोगान किया कि ये पीवरता गहनता में समुद्र से भी उत्कृष्ट हैं। विद्याधर के अनुसार रूपक ७०।

शारी चरन्ती मन्त्रि मारयेनामित्यशदाये कथिते कयापि ।

मन्त्र स्वधातभ्रमभीरुशारीकाकृत्यसाकूतहस स जज्ञे ॥ ७१ ॥

जीवातु—शारीमिति । यत्र स नल, कयापि । कितवया इति शेष ।

हे सखि, एना चरन्ती भ्रमन्ती, शारीमक्षोपकरण दासविकार, शारिकास्यां शकुनिकामित्यर्णान्तरेण शकुनिकाया भयोत्पत्तिः । 'शारी स्वक्षोपकरणे तथा शकुनिकान्तर' इति विश्व । मारय प्रहर । इति अशदाये अशा पाठका । 'अशास्तु देवका पाशकाश्च ते' इत्यमर । तेषां मन्त्रवधो दायो दानम् । 'दायो दायो यौतकादिघने वित्ते च पैतृके' इति वैजयन्ती । तस्मिन् पथिते स्वभाते आत्ममारणे, भ्रमेण भ्रान्त्या, भीरोभीताया शार्या शारिकाया काक्वा विद्वत-स्वरेण उत्प उत्पद्यत, साकूत भावगर्भो हसो हासो यस्य स, 'स्वनहमोर्वा' इति विकल्पादम्प्रत्यय । जज्ञे ज्ञात ॥ ७१ ॥

अन्वय ~मन्त्र-मन्त्रि, एना चरन्ती शारी मारय-इति कया अपि अशदाये कथिते स स्वधातभ्रमभीरुशारीकाकृत्यसाकूतहस जज्ञे ।

हिन्दी—जहाँ (समा में)—हे सखि, इस (एक घर से दूसरे घर) विचरती (जाती) शारी (घटरज की मोट) को मार-इस प्रकार किसी (गली) द्वारा मोटियों के खेल (चोपड़ आदि) में बट जाने पर वह (नल) अपने मारे जाने के भ्रम से आनक्ति शारी (मैंना) के काटु (भय से विद्वत स्वर) से उत्पन्न भावगर्भ हास न युक्त हा गया ।

टिप्पणी—गोटियों के सेन में एक गोटी को दूसरी गोटी से पीटा जाता है, जिसे 'गोटी मारना' कहा जाता है। अनेकार्य 'शारी' ( गोटी और मैना ) के प्रयोग में यहाँ चमत्कार चाहता लायी गयी है। एक सती ने गोटी खेचती दूसरी से कहा कि 'अमुन गोटी को मारने से जीत हो सकती है, अब उस 'शारी' को मार। शारी ( मैना ) ममझी कि उसे मारने को कहा जा रहा है और वह डर कर नय मूँचक बोनी बोलने लगी। इस पर नल को हनी आ गयी। विद्याधर के अनुसार भावोदय प्रकाश ॥ ७१ ॥

भैमीसमीपे म निरीक्ष्य यत्र ताम्बूलजाम्बूनदहन-कर्माम्।

कुत्रप्रियाद्वयमहोपकारमराजमोहद्रुतिमानमूहे ॥ ७२ ॥

जीवानु-भैमीति। यत्र समाया, नलो भैमीसमीपे ताम्बूलस्य जाम्बूनदहसो हिरण्यहनाकार करव तस्य लक्ष्मी निरीक्ष्य, कुत्र प्रियाया भैम्या द्वयमेव महोपकारो येन तस्मिन् मराने हसे, मोहस्य भ्रमस्य द्रुतिमान दाहधम् 'र भूतो ह-गदेर्लघो' रित्युकारस्य रभाव। ऊहे ऊहवान्। वहे कर्नरि लिट्। 'वचित्त्वपि' इत्यादिना सम्प्रसारणम् ॥ ७१ ॥

अन्वय—यत्र म भैमीसमीपे ताम्बूलजाम्बूनदहनकर्म निरीक्ष्य कुत्र-प्रियाद्वयमहोपकारमराजमोहद्रुतिमानम् ऊहे।

हिन्दी—निम ( ममा ) में उन ( नल ) को भीमपुत्री के निकट ताबूल ( पान ) रखने के लिए बने सोने के हथ ( स्वर्ण हथ ) की घोमा को देखकर प्रिया ( दमयन्ती ) के प्रति द्रुत बनकर जिसने महान् उपकार दिया था, उस स्वर्ण हथ का रट भ्रम हो गया।

टिप्पणी—पान रखने के लिए ऐसा उट्टू स्वर्णहथ के आकार का बना पात्र दमयन्ती के पान रखा था कि उसे नल ने सचमुच का स्वर्णहथ समझ लिया, नल को भ्रम हो गया कि यह वही उपकारी स्वर्णहथ है, जिसने दमयन्ती को उसका प्रणय-सुदेश दिया था। विद्याधर के अनुसार धानिमान् अलकार ॥ ७२ ॥

तस्मिन्निय सेति सज्जोममाजे नलस्य सन्देहमय व्युद्गम्यन्।

अपृष्ट एव स्फुटमाचक्षते म कोऽपि रूपानिगयः स्वयं ताम् ॥ ७३ ॥

जीवातु—तस्मिन्निति । अथ समालोकनात्तर तस्मिन् सखीसमाजे नलस्य सन्देह का वात्र भैमीति सशय व्युदस्यन्, स प्रसिद्ध कोऽपि स्पातिघ्न सौन्दर्यविशेष । स्वयमपृष्ट इव ता भैमी, सा भैमी इयमिति स्फुटमाचक्षणे । आचक्ष्यो । विश्वातिशायिसौन्दर्यसाक्षात्कारादिय इममतीति निश्चिकायेत्यर्थः ।

अन्वय —अथ तस्मिन् सखीसमाजे नलस्य सन्देह व्युदस्यन् ॥ क अपि रूपातिशय स्वयम् अपृष्ट एव ता स्फुटम् आचक्षते ।

हिंदी—तत्पश्चात् ( समा का जबलोकना करने के अनन्तर ) जब सखियों के समाज ( समूह ) में नल का सन्देह मिटाते उस लोकोत्तर सी दय सागर ने स्वयं बिना पूछे गये ही उस ( दमयन्ती ) को स्पष्ट बता दिया ।

टिप्पणी—अब तक नल दमयन्ती को पहिचानता नहीं था, किशो सुन्दरी को देखकर वह दमयन्ती के भ्रम में पड़ जाता था । अब सखियों के मध्य बैठी अनुपम सौन्दर्यशालिनी दमयन्ती अपने रूप स्पष्ट हो गयी । उसके अद्वितीय सवंगयी सौन्दर्य ने अब सखियों के मध्य दमयन्ती को स्पष्ट कर दिया और बिना पूछे ही नल का दमयन्ती विषयक भ्रम मिट गया । अपना ताम्बूल पात्र रूप में बैठे अति सुन्दर हस्त के निकट बैठे होने से नल समझ गया कि दमयन्ती वही है, जिसके निकट प्रणय दूत हस्त बैठा है । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ॥ ७३ ॥

भैमीविनोदाय मुदा सखीभिर्मनदाकृतीना भुवि कल्पितानाम् ।

नातर्कि मध्ये स्फुटमप्युदीत यस्यानुबिम्ब मणिवेदिकायाम् ॥ ७३ ॥

जीवातु—भैमीति । भैम्या विनोदायः सुक्यापयोग्य मुदा कौतुकेन, सखीभिर्भुवि भूल्ले, कल्पिताना तस्य नलस्याकृतीना प्रतिकृतीना मध्ये मणि-वेदिकाया स्फुटमुदीतमपि तस्य नलस्य अनुबिम्ब नातर्कि न तर्कितम् । तत्रापि शक्यलितकृतिसाम्यादिति भावः । अतएव सामान्यालङ्कारः तेन न भ्रांतिमान् व्यग्रत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनि ॥ ७४ ॥

अन्वय—भैमीविनोदाय मुदा सखीभिर्भुवि कल्पिताना तदाकृतीना मध्ये मणिवेदिकाया स्फुटम् उदीतम् अपि तस्य अनुबिम्ब न अतर्कि ।

हिंदी—भैममुना के मनोविनोद के निमित्त प्रसन्नता पूर्वक सखिया

द्वारा घबरी ( पश ) पर दनी उल ( नल ) की आकृतियों के मध्य मणिवेदी पर स्पष्ट प्रकट होते नी उल ( न ) के प्रतिबिम्ब की किसी को समावना न हुई ।

टिप्पणी—अल्प नल का प्रतिबिम्ब यद्यपि मणिवेदी में स्पष्ट हो रहा था, किन्तु उससे नल के वहाँ उपस्थित होने की समावना किसी ने नहीं की, क्योंकि वहाँ मैमो का मन बहलाने के लिए पहिले से ही पश पर अनेक नल की आकृतियाँ दनी हुई थीं : वे इतनी अनुकूल थीं कि साक्षात् नल की प्रनिच्छाया भी उनसे भिन्न प्रतीत न हुई । अनेक आकृतियों के बीच नल की विशिष्ट आकृति के सामान्य ही प्रतीत होने से 'सामान्य' अलंकार हुआ, उससे भ्रम उत्पन्न हुआ और इस प्रकार 'सामान्य' से आतिमान् की व्यञ्जना हुई, अतः मन्त्रिणाथ ने अलंकार ध्वनि का निर्देश किया है । विद्यापर के अनुसार मीति जनकार है ॥ ७४ ॥

हृताशनीनाशजलेशदूनीनिगकरिणोः कृतकाकुयाच्या ।

मैम्या बघोमिः स निजा तदाशा न्यवर्तयद्दूरमपि प्रयाताम् ॥ ७५ ॥

ओवानु - हृताशेति । हृता काश्चा याच्या शायंना यामिस्ता चित्त-  
बालनचसुरोक्तेरित्यर्थ । हृताशनीनाशजलेशा वक्ष्यिमवरणा । 'ग्रंथपतिः  
पितृपनिष्ठ कीनाश' इति ह्याशुष । तेषा दूती निगकरिणो परिहृत्या ।  
'अल हृत्' इत्यादिना इप्पुचप्रत्यय । 'न लोक' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधाद्  
द्वितीया । मैम्या बघोमि स नलो दूर प्रयाताम् इत्यादिक्रमेण सुप्तप्रानामपि  
निजा स्वकीया तदाशा मैम्यीनृणा न्यवर्तयद् निदतिनवात् । पुनस्तत्प्रत्याशाम-  
कार्पोदित्यर्थ ॥ ७५ ॥

अन्वय—कृतकाकुयाच्या हृताशनीनाशजलेशद्वती निगकरिणो मैम्या  
बघोमि ॥ दूर प्रयाताम् अपि निजा तदाशा न्यवर्तयद् ।

हिन्दी—दीन स्वर में शायना करती जनि, यम और वरुण की दूतियों  
का निराकरण करनेवाले मैमो ( दमयन्ती ) के वचनों के कारण उस ( नल )  
ने दूर चली गयी थी अनन्ती उस ( दमयन्ती से संबद्ध ) की आशा कुछ  
प्रत्यावर्तन कर लिया ( लौटा लिया ) ।

अन्वय—वासव त्वा समीलम् आलिङ्गनमा उपपीडम् अनामय पृच्छति  
येप त्वदाश्लेषक्याविति द्वै तद्रोममि भवत्य सन्दिदिशे ।

हिन्दी—इंद्र तुम्हारा सविलास गाढ आलिगन कर स्वास्थ्य समाचार  
पूछते हैं, तुम्हारे आलिगन की कथा से विकसित उनके रोमों द्वारा आपकी  
येप संदेश भेजा गया है ।

टिप्पणी—शिष्टाचार मर्यादा का पालन करते इन्द्र ने पहिले दमयंती  
का 'अनामय' ( स्वास्थ्य समाचार ) पूछा । मनुस्मृति के अनुसार ब्राह्मण  
का कुशल पूछा जाता है और क्षत्रिय का अनामय, वैश्य का क्षेम तथा शूद्र  
का आरोग्य—'ब्राह्मण कुशल पृच्छेत् क्षत्र पृच्छेदनामयम् । वैश्य क्षेम  
ममागम्य शूद्रमारोग्यमेव च ।' आलिङ्गन की कल्पना मात्र से रोमांचित हो  
संदेश भेजना इन्द्र के अनुराग की अभिव्यक्ति है । आलिङ्गन क शिष्टाचार  
के रूपमें कथनमात्र से इन्द्र का रोम रोम पुलकित हो गया ॥ ७८ ॥

य प्रेयमाणोऽपि हृदा मघोनस्त्वदर्शनाया ह्रियमापदाग ।

स्वयवरस्यानजुपस्तमस्य वधान कण्ठ वरणस्रजैव ॥ ७९ ॥

जीवातु—य इति । हे भौमि, मघोन इन्द्रस्य य कण्ठस्त्वदर्शनाया विषये  
हृदा प्रेयमाणोऽपि ह्रिममेवागोऽपराधमापत् । हीनस्याधिक प्रति माञ्ज्यासङ्कोचेऽ  
अपराध एवेति भाव । स्वयवरस्यानजुप स्वयवरागतस्य अस्मेन्द्रस्य तमनराधिन  
कण्ठ वरणस्रजा भनृवरणमालिकया एव वधान । ईसापराधिनामीश्वर एव  
दण्ड इति भाव । राक्षसा लज्जा प्रविष्टाय प्रार्थना भुवंतो महेन्द्रस्य मनोरथ-  
पूरण कार्यमिति तात्पर्यार्थ ॥ ७९ ॥

अन्वय—मघान म स्त्वदर्शनाया हृदा प्रेयमाण अपि ह्रिमम् आग  
आपत्, स्वयवरस्यानजुप अस्य त कण्ठ वरणस्रजा एव वधान ।

हिन्दी—इन्द्र का जो ( कण्ठ ) तुम्हारी माधना में हृदय से प्रेरित  
होता हुआ लज्जा-रणी अपराध को प्राप्त हो गया, स्वयवर के स्थान में  
बैठे उस ( इन्द्र ) के उस कण्ठ को तो वरण माला में ही बाँध लो ।

टिप्पणी—इन्द्र का प्रणय लज्जाके कारण गदगद् कण्ठ से बाहर हो  
नहीं जाना, मरु लज्जावाप अपराध उससे हुआ । इस अपराध का शब्द यही  
है कि दमयंती उस अपराधी कण्ठ में बधन टाँक दे, निन्तु जजोरा के वधन



ने नहीं, बरन-भाए के बरन मे । जैसा अरराध, वैसा हो दड । नाव यही है कि इन्द्र दमयंती के प्रति अनौन अनुराधी है, दमयंती श्री उते ही बरना उचित होगा । प्रणयापराधी को प्रणय-बधन मे बाध कर दड दो । विद्यावर के अनुसार रूपक अलंकार ॥ ७९ ॥

नैन त्वज क्षीरघिमन्यनाद्यैरम्यानुजागोद्गमिनामरैः श्रीः ।

लम्मे विमन्येभुरनोदमन्या धाम्यन्तु नोत्थापयितुं श्रियते ॥ ८० ॥

जीवानु-नेति । हे मैमि, एतन्निद्र, न त्वज । तथा हि, यैरमरैः अम्येन्द्रस्त्व अनुजाय उदेद्राय । तादस्यै चतुर्थी । क्षीराणि क्षीयतेऽस्मिन्निति क्षीरधिः क्षीरोदधिः । 'कर्मन्वयिके च' इति क्लिप्तव्यय । तस्य मन्मनात् मयनाहुपायात्, मन्मतेर्नीवादिकल्पेदित्वान्नुभावन । श्री रया उद्गमिता उत्थापिता । ते अनरा अमरै इद्राय । पूर्ववच्चतुर्थी । इक्षुरस एवोदक यस्य तमिक्षुरसोद नामाग्निम् 'उदकस्योद' सन्नायाम्' इत्युदादेश विनध्य मपित्वा अस्या श्रियम् उत्थापयितुं न धाम्यन्तु न प्रमत्स्यन्तु । द्वितीयया श्रिया त्वयैव उदेन्द्रवदिन्द्रस्यापि लक्ष्मीपतिवै तयोरेवैषम्याय देवताया लक्ष्म्यन्तरमम्यादनप्रयासो न स्यादिति नाव । अत्रामराणां लक्ष्म्यन्तरोन्मादनप्रयत्नासम्बन्धेऽपि तत्तन्बन्धोवतेरति-बाधोक्तिभेदः ॥ ८० ॥

अन्वयः—एन न त्वज, मै अमरै अस्य अनुजाय क्षीरधिमन्यनात् श्री उद्गमिना, ते अस्मै इक्षुरसोद विनध्य अस्या श्रियम् उत्थापयितुं न धाम्यन्तु ।

हिन्दी—इस इन्द्र को = छोड़ो, जिन देवों ने इसके अनुज ( विष्णु-उदेन्द्र ) के लिए क्षीरसमुद्र के मयन मे श्री ( लक्ष्मी ) का निर्गमन किया, वे इस ( इन्द्र ) के निमित्त ईश्वर का रज-समुद्र मयकर एक जोर लक्ष्मी के निर्गमन के निमित्त श्रम न करें ।

विष्णु—छोटे माई उदेन्द्र विष्णु को लक्ष्मी जैसी पत्नी देने के लिए देवों ने क्षीरसमुद्र-मयन जैसा कठिन परिश्रम-साध्य कार्य किया, अब इन्द्र को उस लक्ष्मी से अधिक मनोह्र पत्नी मिलना आवश्यक है, क्योंकि वह उदेन्द्र है--अग्रज । अग्रज को अनुज की अपेक्षा श्रेष्ठ दन्तु मिलनी ही चाहिए । दमयंती लक्ष्मी से श्रेष्ठ है । यदि इन्द्र को वह बर से, तो बेचारे

देवों को पुनः परिश्रम नहीं करना पड़ेगा, अन्यथा रुद्रभी से अधिक मनोवृत्ति पता इन्द्र को उपलब्ध कराने के लिए देवा को फिर से इसु-रस समुद्र के मधन में खटना पड़ेगा । दमयन्ती को उचित है कि वह देवों से पुनः व्यर्थ परिश्रम न कराये । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ असबध में सबध कथन रूपा अति शयोक्ति है, क्योंकि देवों का अन्यलक्ष्मी-उत्पादन प्रयत्न असबध में सबध का कथन है ॥ ८० ॥

लोकस्रजि द्यौर्दिवि आदितेया अप्यादितेयेषु महान्महेन्द्र ।

किंकर्तुमर्षी यदि सोऽपि रागाज्जागर्ति कस्या किमतं परापि ॥ ८१ ॥

जीवातु—लोकेति । लोकस्रजि स्वर्गादिलोकपत्नी द्यौः स्वर्गो महती । दिवि च अदित्या अपत्यानि पुमांस आदितेया देवा महान्तः । कृदिकाराङ्गी यन्ताद् स्त्रीभ्यो ङक् । आदितेयेष्वपि महेन्द्रो महान् । स महेन्द्रोऽपि रागाद् किंकर्तुं सेवितुमर्षी इच्छुर्येदि । किशब्दस्यास्य सर्वादपठितस्य निपातितत्वा-दातो प्राक् प्रयोगः । अयंयतेरिच्छायत्वाद् समानकर्तृकेषु तुमुन् । अतोऽस्मादिन्द्रसेव्यत्वाद् परा कस्यापि उत्कृष्टावस्था च जागर्ति स्फुरति किम् ? न जागर्तीत्यर्थः । अत्रलोकादिषु पूर्वपूर्वापक्षयोत्तरोत्तरस्योत्कर्षोक्ते सारालङ्कारः । उत्तरोत्तरमुत्कर्षं सार इति लक्षणात् ॥ ८१ ॥

अन्वय —लोकस्रजि द्यौः, दिवि च आदितेया, आदितेयेषु अपि इन्द्र महान्, स अपि रागात् यदि किङ्कतुम् अर्षी, अतः परा अपि कस्या जागर्ति किम् ?

हिन्दी—लोक भालामे ( सब लोको मे ) स्वर्ग बड़ा है, और स्वर्ग में अदिति की सत्तान देव बड़े हैं देवा मे भी इन्द्र बड़ा है । वह ( इन्द्र ) भी अनुराग से यदि तेरा किङ्कर बनना चाहता है तो इससे भी अधिक उत्कृष्ट अवस्था की कामना जाग रही है क्या ?

टिप्पणी—आशय है कि लोका मे श्रेष्ठ स्वर्ग के श्रेष्ठ वासियों मे श्रेष्ठ इन्द्र दमयन्ती का किङ्कर बनना चाहता है । यह तो सबसे बड़ा सीमाव्य है । दमयन्ती को इससे अधिक क्या मिलेगा ? सो इन्द्र-वरण ही उचित है । मल्लिनाथ के अनुसार उत्तरोत्तर उत्कर्ष-वचन रूप सार अलङ्कार है ॥ ८१ ॥

पद शनेनाय म्हेर्गोदिन्द्रमन्मे न ने दात्रन्च दुःखार ।

कुरु प्रमाद तदत्र कुरुष्व स्वीकारकृद्भ्रूतदनक्रमेण ॥ ८२ ॥

जीवानु—पदमिति । इन्द्र शनेन मर्त्य मवशतेन मन्मदमिन्द्रतदलक्षणा  
म्याननाय प्राय स इन्द्रस्त्वस्मै पदान्म तत्पदस्वीकारादिभिर्यथै । ते तत्र माचनेन  
प्राप्त्यन्त्या चाटुकारा प्रियवद । ज्ञात इति हेतु । न शब्दस्त्वोक्त्यादिना टन्त्य-  
मन्विष्टात् वमन्त्यम् । शत्रादननुग्रह कुरु । सर्वत्र पद स्वीकारकृता जगीकार  
अनुक्रमेण भ्रूतदनक्रमेण भ्रूविशेषव्यापारेण, जत कुरुष्व ॥ ८२ ॥

अन्वय—इन्द्र शनेन मर्त्य नत् पदम् आर, स तस्मै ते माचनचाटु-  
कार, प्रमाद कुरु, तत् स्वीकारकृद्भ्रूतदनक्रमेण यत् कुरुष्व ।

हिन्दी—इन्द्र ने भी यज्ञ करके जिस पद ( इन्द्रपद ) को प्राप्त किया था  
वह ( इन्द्र ) उस ( इन्द्रपद ) के निमित्त तुम्हारी माचना और चाटुकारी  
कर रहा है, तुम प्रसन्न हो जाओ और उस ( इन्द्रपद ) को स्वीकृति-भूचक  
अनुचाल मात्र करके सुशोभित करो ।

टिप्पणी—इसी का तर्क है कि इन्द्र ने दुष्प्राप्त इन्द्रपद की प्राप्ति के  
लिए भी यज्ञ करने की दुष्कर साधना की थी, अब वह पद उसे मिल पाया ।  
इस समय इन्द्र उसी पद पर दमपत्ती को जाहीन कराने के लिए उसकी  
चाटुकारी कर रहा है । दमपत्ती को यही उचित है कि इन्द्र को स्वयंवर  
से अनुग्रहीत करे और उस दुष्कर्म पद को पाने का अवसर न छोड़े । दूसरे  
लिए उसे कुछ करना न पड़ेगा, केवल अनुचालनमात्र से, मोह का सूक्ष्म  
भर करके स्वामिनी को नीति चाटुकारी करते इन्द्र को वह अपनी स्वीकृति  
मात्र जता दे, मुँह से बोले का कष्ट करने की आवश्यकता नहीं । विद्याधर  
के अनुसार हेतु अलंकार ॥ ८२ ॥

मन्दाकिनो नन्दनयोविहारे देवे भवेद्देवर्षि माधवे च ।

श्रयस्त्रिषया यातरि मच्च सख्या तच्चेतसा भाविनि नावय त्वम् ॥ ८३ ॥

जीवानु—मन्दाकिनीति । भावयतीति भाविनि दिवारधतुरे नैनि ।  
मन्दाकिनीनन्दनयोविहारे श्रोताया माधवे देवे त्वन्त्रे देवर्षि देवरे नतृप्रातरि  
मति । 'स्वाग्ना स्तुर्नातर, पन्था, स्वामिनो देवदेवरा' इत्यमर । 'दिवेष्ट' ।  
इति ऋ ऋषय । श्रिया श्रियेभ्याम् । यत इति यातरि । देवनाथानाम् ।

भार्यास्तु भ्रातृवर्गस्य यातार स्युः परस्परम्' इत्यमरः । 'यतेर्वृद्धिश्च' इति वृत् प्रत्ययः । सत्या सत्याश्च यच्छ्रेयो महोत्कृष्टं भवेत् । उत्तम चेतसा विभाव्य विचारय । अदाचितोपनम महच्छ्रेयो न परिहर्तव्यमित्यर्थः । अत्र नन्दनविहार क्रियाया माघवदेवत्वधीयातृवत्त्वगुणयोश्च सामस्त्येन योगपद्यात् समुच्चय लङ्कारभेदः । 'गुणक्रियामोगपद्ये समुच्चय उदाहृत' इति लक्षणात् ॥ ८३ ॥

अन्वयः—मन्दाकिनीनन्दनयोः विहार देवे, माघवे च देवरि, अयो यातारि सत्या च यत् श्रेयं भवेत् भाविनि, तत् स्व चेतसा भावय ।

हिन्दी—स्वर्गज्ञा मन्दाकिनी और स्वर्गोपवन नन्दन में विहार करते समय, ( पतिरूप में ) देव ( इन्द्र ), माघव ( उपेन्द्र विष्णु ) देवर और लक्ष्मी देवरानी के मन्वी होने पर जो कन्याण-अमल होमा, है विचारणीये ( दमयती ), तुम उसको स्वचित्त में विचार लो ।

टिप्पणी—आनन्द-श्रीडा, जल उपवन-विहार यदि में आस्तबिक आनन्द तभी आता है, जब स्थल उपयुक्त हो और साथी भी अच्छे हो । इन्द्र का वरण करने पर यह सब दमयती को मिल सकेगा । पति देवराज इन्द्र और उपेन्द्र विष्णु देवर और देवरानी सखी लक्ष्मी के सान्निध्य में मन्दाकिनी में जल विहार और स्वर्गोपवन में श्रीडा में जो आनन्द मगल होगा, वह विचार करने के योग्य है । दमयती चतुर है, उसे यह विचार लेना उचित है । अग्नि, वरुण, धर्म के साथ विवाह करो पर यह सब न मिल सकेगा, और मनुष्य को करने का प्रश्न तो विचारणीय भी नहीं है । दमयती को तो इन्द्र ही उपयुक्त रहगा । यहा नन्दनविहार-क्रिया, माघव देवर, लक्ष्मी देवरानी, गुणा का समस्तता ने साथ योग्य है, जो मल्लिनाथ के अनुसार समुच्चय अलकार है । विचारपर ने छेकानुप्रास और रूपक अलकार का निर्देश दिया है ॥ ८३ ॥

रज्यस्व राज्ये जगतामितीन्द्राद्यान्वाप्रतिष्ठा लभसे त्वमेव ।

लघूकृतस्त्वं बल्लियाचनेन तत्प्राप्तये वामनमामनन्ति ॥ ८४ ॥

जीवातु—रज्यस्वेति । हे भूमि, जगतां राज्ये, जैतवेद्यधिपत्ये, रज्यस्व अनुरक्ता भव । प्राधनायां लोट् । रज्ये स्वस्तित्वादात्मनेपदम् । इत्येवरुणां

याच्चा प्रायनामेव प्रतिष्ठा गौरवमिन्द्रात्वेनैव कनसे । तथाहि तस्य त्रैलोक्य-  
राज्यस्य प्राप्तये ज्ञानाय बलेर्देवोचनस्य वाचनेन स्पृष्टुमन्वीकृत्य, स्वानात्मा  
येन न विष्णुमसीति शेषः । त वाननं हृष्य लघु वामनन्ति । यदर्थं विष्णोरपि  
याच्चा लाघव प्राप्तम् । प्रायना विना तदेव तुल्य दीयते देवेन्द्रेणैव ते  
माधेयमिष्यम् । व्यतिरेकेण स्थान्ताठह्वार ॥ ८४ ॥

अन्वयः—जगतां राज्ञे राज्यम्—इति इन्द्रात् याच्चाप्रतिष्ठा त्वम् एव  
रज्यमे, सन्तानमे बलिवाचनेन वामनं स्पृष्टुमस्त्वम् ज्ञानमिति ।

हिन्दी—त्रिलोकी के राज्य पर राजा—इस प्रकार का इन्द्र से प्रायना  
का गौरव मुझे ही मिल रहा है, उन ( बल्लोकी के राज्य ) की प्राप्ति के  
निमित्त ( दानवराज ) इति से याचना करने के कारण वामन को जने  
को छोटा कर दिया गया माना जाता है ।

टिप्पणी—इन्द्रपत्नी समुद्र इन्द्र आज प्रायना कर रहा है कि वह त्रिलोकी  
को राजा बन जाय । ऐसी प्रतिष्ठा इन्द्रजी के अतिरिक्त किसी को नहीं  
मिल सकती । विष्णु ने भी पातालराज बलि ने ऐसी याचना की थी, उसके  
लिए उन्होंने अपने को वामन बनाया, उन्हें भी 'वामन' जगत् छोटा कहा  
जाने लगा । इन्द्रजी से तो उसके विपरीत त्रिलोक्य पर सुयोगित होने  
की प्रायना की जा रही है । मल्लिनाथ ने व्यतिरेक के द्वारा स्थान  
अन्तार का यही निर्देश किया है, विद्याधर ने काव्यलिंग सनासोक्ति का ॥ ८४ ॥

यानैव देवाग्रममि त्रिकालं न तत्कृत्स्नीकृतिरौचिनी ते ।

प्रमोदतान्पनूगान्विद्यान् पन्थिपुत्रस्त्वयदयोस्त्रिभुवन्ध्वम् ॥ ८५ ॥

जीवात्—मानेति । हे भूमि, तनेव देवान्निद्रादीन् । त्रय काल  
यस्मिन् कर्मणि तत् त्रिकालं, यथा तथा । नमसि त्रिभुव नमस्करोपीत्यर्थः ।  
तेषां देवानां कृत्स्नीकृतिस्तदीयप्रत्युपकारपरिहारेण कृतघ्नकरणं, ते तव,  
औचित्यं, औचित्यं न । त्वया वा अकृतया न क्रियन्तामिति भावः । तिमृणा  
सन्ध्यानां समाहारस्त्रिभुवन्ध्वं, सन्ध्याप्रदेशोत्पत्त्यर्थः । अन्तमयो द्वितीया ।  
'वा दावन्' इति नपुंसकत्वम् । त्वत्पदयोः पठित्वत् नमस्करित्वत् तान्  
देवान्पनूगान् विद्यान् प्रतिप्रणामस्त्रोक्तारेण जनूगान् कर्तुं प्रमोदः । तान्  
बुधोप्येत्यर्थः ॥ ८५ ॥

अन्वय — याव एव देवान् त्रिकाल नमसि तत्कृतघ्नीकृति ते भोविजो न, त्रिसन्ध्य त्वत्पदयो पतिष्यत तान् अपि अनृणाम् विधातु प्रसीद ।

हिन्दी—जिन देवों की तुम तीन काल उपासना करती हो, उन्हें कृतघ्न कर देना तुम्हारे लिए उचित नहीं है, तीनों काल तुम्हारे चरणों पर गिरते उनको भी ऋणमुक्त होन का प्रसाद ( प्रसन्नता ) दो ।

टिप्पणी—प्रातः, मध्याह्न और संध्या का दमयंती पूजा करते समय देवों के चरणों में झुकती है, अतः वे उसके ऋणी बनते जा रहे हैं, दमयंती-विनमन का यह ऋण वे तभी चुका सकेंगे, जब वे देव भी दमयंती के चरणों में तीन समय प्रणाम करे। दमयंती जिनकी उपासिका है, उन्हें ऋण चुकाने का अवसर न देना तो उसके लिए उचित नहीं है। दमयंती को इस दृष्टि से भी देवा को स्वीकारना चाहिए। इन्द्र वरण करके दमयंती देवा को अपने चरणों में विनम्रता के साथ गिरता देखेगी। वह प्रणम्यों की भी प्रणम्या बन जायेगी, विद्याघर के अनुसार छेकानुप्रास ॥ ८५ ॥

इत्युक्तवत्या निहितादरेण भैमागृहीता मधवत्प्रसादः ।

स्नापारिजातस्य ऋते नलाशा वासरेपामपुपूरदाशाम् ॥ ८६ ॥

जोवातु—इतीति । इतीत्युक्तवत्या शब्दद्वया । आदरेण निहिता सम-पिता । भैम्या गृहीता स्वीकृता मधवत् प्रसादोऽनुग्रहभूता । त्वत्तत्सत्वेन अभिमतति भावः । पारिजातस्य सूक्ष्मालिका नलस्याद्या दृष्ट्या दिशः ऋते विना । तस्यान्तस्य ( नलस्य ) विपरीतशङ्काकरत्वादिति भावः । 'आद्या दृष्ट्यादिशो' इति विश्वः । यद्यपि, 'अन्यारादितरत्' इति ऋतेशब्दयोगाद् पञ्चम्येव निहिता, तथापि मतान्तरे द्वितीयाप्यस्तीत्याहुः । तथा, 'कलितपुरुषा राघवनमृत' इति प्रयोगश्च । अशेषामाद्या दिशम् । सर्वे अपीत्यर्थे जातावेक यथनम् । वार्सनिजवासनाभिरपुपूरत् पूरितवती 'पूरी पूरण' इति चोरादिकस्य घातोत्खोपित्वाच्च 'नास्त्रापिशास्वदिताम्' इत्युपयाहृत्स्वनिषेधः । अभ्यास-ह्रस्वः । द्वारप्याशयोरभेदाध्ययसायादिनोक्तिनिर्वाहः ॥ ८६ ॥

अवयव—इति उक्तवत्या आदरेण निहिता भैमीगृहीता मधवत्प्रसादः पारिजातस्य सक् नलाशाम् ऋते अशेषाम् आद्या वाह्य अपुपूरत् ।

हिन्दी—ऐसा नहीं ( इन्द्रदूती ) द्वारा आदरपूर्वक की गयी, भीमपुत्री

द्वारा स्वीकृत, इन्द्र के प्रसाद पारिजात की माला ने नल की आशा को छोड़कर समस्त दिशाओं को सुगन्ध से पूर्ण कर दिया ।

टिप्पणी—अपना निवेदन समाप्त करके इन्द्र की दूती ने इन्द्र द्वारा भेजी गयी सुगन्धित पारिजात की माला दमयन्ती को दी, शालीनतावश दमयन्ती ने भाग ग्रहण की । इनसे दूती और अन्य सखियों को यह प्रतीति हुई कि इन्द्र का प्रस्ताव दमयन्ती को स्वीकार है । नल को इससे निराश हुई । इस प्रकार सम पारिजात माला ने सर्वत्र जगती सुगन्ध का प्रसार किया पर नल को यह रचिकर नहीं लगी । दोनों भागजों के अपेक्षाध्यवसाय ने यही विनोक्ति का निर्वाह है, यह मन्त्रिणाय की मान्यता है, विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षासूचक अलंकार है ॥८६॥

आयें । विचार्योऽग्निमहेति कायि योग्य सखि न्यादिनि काचनापि ।

आकार एवोत्तरमस्तु वस्तु मङ्गल्यमत्रेति च काप्यवोचत् ॥८७॥

जीवात्—आयें इति । आयें भूमि, इहेन्द्रवरणे विचार्य जन्म । विचारो न कर्तव्य इति कापि मन्त्रा अवोचत् । सखि भूमि योग्यमिदं युक्तं स्यादिनि काचनाप्यवोचत् अत्र आकारोऽङ्गीकार एव मङ्गल्यमुत्तरमुत्तरस्य वस्वस्त्विति काप्यवोचत् ॥ ८७ ॥

अन्वय — आयें, इह विचार्य यत्नम्—इति का अपि अवोचत् सखि, योग्य स्यात्—इति काचन अपि, अत्र ओङ्कार एव मङ्गल्यम उत्तर वस्तु अस्तु—इति का जगि ( अवोचत् ) ।

हिन्दी—एक सखी ने ( दमयन्ती से ) कहा । आयें इन विषय में और विचारना व्यर्थ है, किसी और ने कहा—हे नखी, यही उचित होगा, एक और ( नखी ) बोली—इस विषय में 'ओङ्कार' (स्वीकृति) ही मङ्गलप्रद उत्तर रूप वस्तु होगा ।

टिप्पणी—इन्द्र की दूती के प्रस्ताव को दमयन्ती की सब सखियों ने प्रत्यक्ष उचित और कल्याणकर माना । तीन सखियाँ द्वारा प्रस्तुत अनुमोदन सर्वसम्मतता सूचिन करता है । विद्याधर के अनुसार यहाँ दीपक अलंकार है ।

अनाश्रवा व किमहं कदापि वक्षु विशेष परमस्ति शेष ।

इतीरिते भीमजया न दूतीमालिङ्गदालीञ्च मुदामियता ॥ ८८ ॥

जीरातु-अनाथवेति । हे सरय, अह कदापि वो मुष्माक, अनाथरा ज्ञ-  
चनकारिणी कि, पर किन्तु वक्तु विशेष शेषोऽस्ति । किन्तु, वक्तव्यशेष इति  
दस्तीत्यर्थ । इति भीमजया भैम्या, ईरिते उक्ते मति दूनीमिन्द्रशम्भलीमाली-  
भैमीसलीश्र मुदामियत्ता मितिनालिङ्गन्न आपत् । स्वोक्तमङ्गीकृत्य तत्र विशि-  
द्वरदानमपेक्षत इति भ्रान्त्या महान्तमानन्दमविन्दतेत्यर्थ ॥ ८८ ॥

अन्वय —अह कदापि न अनाथवा किम् पर वक्तु विशेष अस्ति—इति  
भीमजया ईरिते दूताम् आली च मुदाम इयत्ता न आलिङ्गत् ।

हिन्दी—( दमयन्ती बोली ) मैंने कभी तुम्हारे वचनों का पाठन नहीं  
किया क्या, परन्तु कुछ विशेष कहना है ( अथवा मैंने कभी क्या, इसमें  
विशेष कहना ही क्या है ? )—ऐसा भीमसुता के कहने पर दूती और सखियों  
का प्रसन्नता की परिमितता ने आलिंगन नहीं किया—अर्थात् अपरिमित  
प्रसन्नता ने आलिंगन किया ।

टिप्पणी— दमयन्ती ने सखियों का साधारण शिष्टाचारपूर्ण उत्तर दिया  
था, किन्तु उससे बचन का अनुमोदन समझ कर इन्द्र की दूती और दमयन्ती  
की सखियाँ को अपार प्रसन्नता हुई ॥ ८८ ॥

भैमा च दूत्य च न किञ्चिदापमिति स्वय भावयतो नल्प्य ।

आलोकमात्राद्यदि तन्मुखेन्दोरभून्न भिन्न हृदयारविन्दम् ॥ ८९ ॥

नीवातु-भैमीमिति । भैमीश्च दूत्यश्च किञ्चित्किञ्चन नयोरेकश्च । नाप न  
प्रापन् । आप्नोत्तेरडि मिप् । छीरत्नलामो मा भूत्, परोपकारोऽपि न सिद्ध  
इत्यर्थ । इति स्वयमारमणि भावयतो भैमीवित्तवल्गुभ्रान्त्या चिन्तयतो नल्प  
हृदयमेवारविन्द, तन्मुखेन्दो भैमीमुखवद्भस्याशोकमात्रात् दर्शनमात्रात् प्रकाश-  
मात्राच्च । 'आलोको दशनोद्योतो' इत्यमर । भिन्न विदीर्ण विकसितश्च  
नाभूद्यदि नाभूत् किम् । तन्मुखदशनादनया विश्वास्य हतोऽस्मीति विदीर्णहृदयोऽ-  
भूदनेत्यर्थ । इन्दुप्रकाशात् कथमारविन्दविकास इति विरोधश्च ध्वन्यते ॥ ८९ ॥

अन्वय —भैमी दूत्य च किञ्चित् न आपम्—इति स्वय भावयतो नल्प  
हृदयारविन्द यदि भिन्न न अभूत्, तन्मुखेन्दो आलोकमात्रात् ।

हिन्दी—भीमसुता और दूतकर्म-कुछ भी नहीं प्राप्त हुआ—इस प्रकार  
स्वय विचारते नल का हृदय कमल यदि विदीर्ण न हुआ, तो वह उस  
( दमयन्ती ) के मुख चन्द्र के दर्शन होने रहने के कारण ही ।



प्रियङ्गी—उपर्युक्त वृत्तान्त को देखने सुनने समझने नल को इतना दुःख हुआ कि उसका हृदय कमल के समान विदीर्ण हो जाना उचित था, क्योंकि उसे माला कि न तो वन्द्यणी ही उसे मिलने और न देवदूत-कार्य का ही सफल सम्पादन हो सका, परन्तु ऐसा इसलिए न हुआ क्योंकि उसके समुख वन्द्यती का मुख बन्द था। चन्द्र के समुख रहने से कमल मिल्न अर्थात् विकसित नहीं होता। यों सानान्द-वन्द्यन्ती का मुख देखने से नल का हृदय हर्ष से विभू जाना चाहिये था, परन्तु उपर्युक्त निराशा जनक स्थिति से वैसा भी नहीं हुआ। भाव यह है कि नल को उक्त प्रसंग के कारण दुःख तो बहुत हुआ, पर हृदय फट ही नहीं गया। यह कदाचिद् इसलिए नहीं हुआ कि प्रिया मुख समुख था। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ विरोध ध्वनित होता है कि इन्दु-प्रकाश से कहीं अरविद विकसित होता है? विद्याधर के अनुसार उपप्रेक्षा-स्वक जलकाय ॥ ८९ ॥

ईषत्स्मिन्मल्लितमृक्किभागा दूकमज्ञया वारिततत्तदालि ।

सखा नमस्कृत्य तथैव शक्र ता भीममृत्तरपावकार ॥ ९० ॥

जीवानु—ईषदिति । भीमम् भीमी, ईषत्स्मिन्नेन मन्दहासेन मल्लितौ धौता मृक्किमी औष्ट्रान्तादेव भाती यदा मा सती । 'प्रान्तावोष्ट्रस्य मृक्किमी' इत्यमरः । एकमपदेव वारिता निषिद्धान्तास्था पूर्वोक्तविद्वद्भक्त्यापिन्वा माल्यं हस्य यदा ता व सती । तथेन्द्रद्वीदत्तया मृजा नहैव । 'बृद्धो मृजा' इति सूत्रकारप्रयोगादेव आपकात् सहस्रशप्रयोगेऽपि सहाय्यं तृतीयम् । तत्र नमस्कृत्य, मृजं शक्रन् नमस्कृत्येयम् । न तु तामस्वमीकृत्य । तस्य नमस्य धौतान्नमिति भावः । तानिद्रद्वीमृत्तरपावकार उत्तरमावष्ट । 'तत्करोति तदावष्ट' इति निष् ॥ ९० ॥

अन्वयः—ईषत्स्मिन्प्रक्षालितमृक्किभागा दूकमज्ञया वारिततत्तदालि भीमम् यदा सखा एव शक्र नमस्कृत्य ताम् उत्तरपावकार ।

हिन्दी—मन्द मुसकान से मृक्किमी ( औष्ट्रान्ता ) को प्रक्षालित करती और दृष्टि के शक्ति से उन-उन अपनी ( इन्द्र-वशा का अनुमोदन करने वाली ) सन्निधौ का निद्वारण करती भीमनुता ( वन्द्यन्ती ) ने उसी माला से इन्द्र को नमस्कार करके उसे ( इन्द्रद्वी को ) उत्तर दिया ।

टिप्पणी—प्रमन्नता से उछलती सखियों को दमयन्ती ने नेत्र सकेत से रोका जोर-मद-मद मुसकाते हुए शक्र द्वारा उपहार में भेजी माला को भक्ति भाव से इन्द्र प्रणाम का साधन बना इन्द्रदूती को उत्तर दिया। भक्तिभाव प्रदर्शित करके एक प्रकार से दमयन्ती ने दूती को निषेधात्मक सकेत कर दिया। यदि इन्द्र का वरण उसे स्वीकार होता तो माला के प्रति प्रणय व्यवहार दिखा उसे हृदय से लगाती, पर उसने ऐसा नहीं किया। प्रणाम करके इन्द्र के प्रति भक्ति प्रकट की ॥ ९० ॥

स्तुनौ मघोनस्त्यज साहसिक्य वक्नु कियत्त यदि वेद वेद ।

वृधोत्तर साक्षिणि ह्यस्तु नृणामज्ञातृविज्ञापि ममापि तस्मिन् ॥ ९१ ॥

जीवातु—स्तुताविति । हे दूति मघोन इन्द्रस्य स्तुतौ विषये साहसिक्य साहसमविमृश्यकारित्वं त्यज, न स्तुत्रीत्यर्थं । कुत अधश्चत्वादित्याह—त शक्र किमदल्प वक्नु वेदयतीति वेद, श्रुतिरेव वेद वेत्ति, नाम्ब । अतः स्तुतेर्विरमति मात्र । तर्हि किमस्योत्तरं तत्राह—नृणां ह्यस्तु विषये साक्षिणि साक्षिभूते 'साक्षात् द्रष्टरि सज्जामां' इति इतिप्रत्ययः । तस्मिन्मघोनि अज्ञातृनृणाम् विज्ञापयति विबोधयतीति तथोक्तम् । मम सम्बन्धुत्तरमपि वृथा । अज्ञस्योत्तरा काक्षा न सर्वज्ञस्येति भावः ॥ ९१ ॥

अन्वय—मघोन स्तुतो साहसिक्यं त्यज, तं कियत् वक्नु वेद वेद, नृणां ह्यस्तु साक्षिणि तस्मिन् अज्ञातृविज्ञापि मम उत्तरं वृथा ।

हिन्दी—( दमयन्ती ने दूती से कहा )—इन्द्र की स्तुति करने का साहस न करो, उसके विषय में कुछ कहना वेद ही जानता है ( अन्य कोई नहीं ) । मनुष्यों के हृदय में साक्षीभूत उस ( इन्द्र ) के प्रति न जाननेवालों का सूचित करने वाला मेरा उत्तर व्यर्थ है ।

टिप्पणी—अत्यन्त चतुरता के साथ दमयन्ती ने इन्द्र की दूती को उत्तर दिया । उसने प्रकट कर दिया कि इन्द्र का महिमान गान दूती व्यर्थ ही कर रही है, क्योंकि वह तो अवगन्नीय है, अतिरिक्त । सर्व वचन राम वेद ही यदि कर सके तो कर सकता है । इसने अतिरिक्त दमयन्ती इन्द्र-सामर्थ्य से पूर्णतया परिचित है । दमयन्ती ने कहा कि इन्द्र तो सब की हृदय का माध

जानते हैं। बताया तो उसे जाता है, जो हृद्गत न समजता हो। इदं तो सब के हृदय में विराजमान है, उनसे कुछ छिपा नहीं है, उन्हें क्या बताना ? भाव यह है कि दमयन्ती का अनुराग किस पर है, यह इन्द्र को विदित है। उन्हें कुछ बताना व्यर्थ है। विद्याधर के अनुसार वाच्यत्विग्न अलंकार ॥९१॥

आज्ञा तदीयामनु कस्य नाम नकारपाठ्यमुपेनु जिह्वा ।

प्रह्ला तु न मूर्ध्नि निधाय माला बालपराध्यामि विरोधवाग्निम् ॥९२॥

जीवानु—तथाप्रविनयनरिहाय चिच्छिद्रिज्ञापनानीत्याह—जानामिति ।

तदीयामन्दीमाज्ञामनु तानुद्दिश्य कस्य नाम जिह्वा नकारो ननुपाठ्यमेव पाठ्यमुपेनु प्रोपेयरोप्य नवेत् । न कोऽपि तदाज्ञोन्मृष्यनसाहसिनोऽन्वीत्यर्थः । किन्तु आज्ञा सिधुरह प्रह्ला नम्राऽप्यौ तामाज्ञायेव माला मूर्ध्नि निधाय, विरोधवाग्निमरतिवाग्निमपराध्यामि अरुणं ज्योतिः । स च बालवापणात् भोऽप्य इत्यर्थः ॥ ९२ ॥

मन्वयः—तदीयाम् आज्ञाम् अनु कस्य नाम जिह्वा नकारपाठ्यम् उपेनु, बाला प्रह्ला ता माया मूर्ध्नि निधाय विरोधवाग्निं अपराध्यामि ।

हिन्दी—उस ( इदं ) के आदेश को प्रति किसी ने जिह्वा अस्वीकृति की झटोरता प्राप्त कर सकता है ? ( किसी की नहीं ) । मैं ( अज्ञान ) बाला विनम्रतापूर्वक उस ( आज्ञा-श्रुति ) माला को शिरोधार्य कर अधिक बचन कह कर जराय पर रही हूँ ।

टिप्पणी—महामहिमशाली इन्द्र का आदेश अनुम्लयनीय है। दमयन्ती जो कुछ विनम्रतापूर्वक उनकी आज्ञा के विषय में कहने की बृहत्ता कर रही है, विशेष बालिका समझ कर वह सम्म माना जाना चाहिए। विद्याधर के अनुसार वाच्यत्विग्न ॥ ९२ ॥

तपफलत्वेन हरे कृपेऽग्निम तपस्येव जन नियुङ्क्षते ।

नवत्युपाय प्रति हि प्रवृत्तावुपेयभाष्युयंनघयंमज्जि ॥ ९३ ॥

जीवानु—तप इति । तपफलत्वेन इन्द्रोपासनरूपस्य तपस्य फलत्वेनोपलभिता फलभूतेत्यर्थः । इय मत्सरिजिष्ठशास्त्रा कृता हरेरिन्द्रस्य । इन जन मा तपस्येव पुनरुपोन्द्रोपासनापानेव नियुङ्क्षते प्रेरयति । 'स्वरयत् तोषमृष्टादिति वसतन्म' इत्यात्मनेपदम् । ननु यहदेवज्ज श्रात किं तपसेत्याशङ्क्य, तप्यम्,

टिप्पणी—प्रसन्नता से उछलती सखियों को दमयंती ने नेत्र संकेत से रोका और मद-मद मुसकाते हुए शक्र द्वारा उपहार में भेजी माला को भक्ति-भाव से इन्द्र प्रणाम का साधन बना इन्द्रदूती को उत्तर दिया। भक्तिभाव प्रदर्शित करके एक प्रकार से दमयंती ने दूती को निषेधात्मक संकेत कर दिया। यदि इन्द्र का वरण उसे स्वीकार होता तो माला के प्रति प्रणय-व्यवहार दिखा उसे हृदय से लगाती, पर उसने ऐसा नहीं किया। प्रणाम करके इन्द्र के प्रति भक्ति प्रकट की ॥ ९० ॥

स्तुतौ मघोनस्त्यज साहसिक्य वचनु कियत्त यदि वेद वेद ।

वृथोत्तर साक्षिणि हृत्सु नृणामज्ञातृविज्ञापि ममापि तस्मिन् ॥ ९१ ॥

जीवातु—स्तुताविति । हे दूति, मघोन इन्द्रस्य स्तुतौ विषये साहसिक्य साहसमविमृश्यकारित्वं त्यज, न स्तुहीत्यर्थः । कुत अशक्यत्वादित्याह—त शक कियदल्प वक्तु वेदयतीति वेद, श्रुतिरेव वेद वेत्ति, माय्य । अतः स्तुतेविरमेति भावः । तर्हि किमस्योत्तरं तत्राह—नृणां हृत्सु विषये साक्षिणि साक्षिभूते 'साक्षात् द्रष्टरि सज्जामाम्' इति इतिप्रत्ययः । तस्मिन्मघोनि अज्ञातृनज्ञानं विज्ञापयति विबोधयतीति तथोक्तम् । मम सम्बन्धुत्तरमपि वृथा । अतस्योत्तरा-काक्षा न सर्वज्ञस्येति भावः ॥ ९१ ॥

अन्वयः—मघोन स्तुतौ साहसिक्यं त्यज, तं कियत्त वस्तु वेद वेद, नृणां हृत्सु साक्षिणि तस्मिन् अज्ञातृविज्ञापि मम उत्तरं वृथा ।

हिन्दी—( दमयंती ने दूती से कहा )—इन्द्र की स्तुति करने का साहस न करो, उसके विषय में कुछ कहना वेद ही जानता है ( अन्य कोई नहीं ) । मनुष्यों के हृदय में साक्षीभूत उन ( इन्द्र ) के प्रति न जाननेवालों को सूचित करने वाला मेरा उत्तर व्यर्थ है ।

टिप्पणी—अत्यन्त चतुरता के साथ दमयंती ने इन्द्र की दूती को उत्तर दिया । उसने प्रकट कर दिया कि इन्द्र का महिमान गान दूती व्यर्थ ही कर रही है, क्योंकि वह तो अवगनीय है, अपरिमित । सर्वे वर्णन क्षम वेद ही यदि कर सके तो कर सक्ता है । इसके अतिरिक्त दमयंती इन्द्र-सामर्थ्य से पूर्णतया परिचित है । दमयंती ने कहा कि इन्द्र तो सब के हृदय का भाव

जानते हैं। बताया तो उसे जाता है, जो हृदय न समनता हो। इन्द्र तो सब के हृदय में विराजमान हैं, उनसे कुछ छिपा नहीं है, उन्हें क्या बताना ? नाब यह है कि दनयन्ती का अनुराग किस पर है, यह इन्द्र को विदित है। उन्हें कुछ बताना व्यर्थ है। विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग ॥९१॥

आज्ञा तदीयामनु कस्य नाम नकारपादप्यमुपैतु जिह्वा ।

प्रह्ला तु ना मूर्ध्नि निजात्र माया बाजापराध्यामि विशेषवाग्नि ॥९२॥

जीवानु—तथाप्यविनयपरिहाराय विच्छिद्विज्ञापयानीत्याह—आज्ञामिति । तदीयामैन्द्रोमाज्ञामनु तानुद्दिश्य कस्य नाम जिह्वा नकारो न्यूनवारणमेव पादप्यमुपैतु प्रतिपेक्षरौघेन मन्त्रे । न कोऽपि तदाज्ञोऽभूथनसाहसिनोऽस्तीत्यर्थः । किन्तु बाजा सिधुरह प्रह्ला नम्रा कृती तामाज्ञामेव माला मूर्ध्नि निधाय, विशेषवाग्निरतिवाग्निरपराध्यामि अराधय करोमि । स च बाजापरात् मोदप्य इत्यर्थः ॥ ९२ ॥

अन्वय—तदीयाम् आज्ञाम् अनु कस्य नाम जिह्वा नकारपादप्यम् उपैतु, बाजा प्रह्ला ता माया मूर्ध्नि निजात्र विशेषवाग्नि अराध्यामि ।

हिन्दी—उस ( इन्द्र ) के आदेश के प्रति किसी की जिह्वा अस्वीकृति की कठोरता प्राप्त कर सकती है ? ( किसी की नहीं ) । मैं ( अज्ञान ) बाजा विनम्रतापूर्वक उस ( आज्ञा-हरिणी ) माया को सिरोधार्य कर अधिक वचन कह कर अराधय कर रही हूँ ।

टिप्पणी—महामहिमशाली इन्द्र का आदेश अनुल्लघनीय है। दनयन्ती जो कुछ विनम्रतापूर्वक उनकी आज्ञा के विषय में कहने की धृष्टता कर रही है, अगोचर वाक्का समझ कर वह सत्य नाना जाना चाहिए। विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग ॥ ९२ ॥

तपःफलत्वेन हरे कृमेयमिम तपस्येव जन नियुङ्क्ते ।

भवत्युपाय प्रति हि प्रवृत्तावुपेयमाधुर्यमर्धयमज्जि ॥ ९३ ॥

जीवानु—तप इति । तपःफलत्वेन इन्द्रोपासनायामेव तपस्य फलत्वेनोपलब्धिता फलभूतेत्यर्थः । इय मत्परिनिष्ठमाख्या कृपा हरेरिन्द्रस्य । इम जन मा तपस्येव पुनरपीन्द्रोपासनायामेव नियुङ्क्ते प्रेरयति । 'स्वराक्षन्तोपमृष्टादिति वस्तव्यम्' इत्यात्मनेपदम् । ननु महदेतच्छ प्राप्त किं तपमेत्याशयः, तपम्,

तदेव स्वादु कृतमित्याह—भवतीति । हि यस्मादुपाय प्रति प्रवृत्ती साधनगोचर-  
प्रवृत्ती विषये उपेयस्य साध्यस्य माधुर्यं स्वादुत्वमेव, अर्धयंमर्धयं सज्जयति  
कारयतीत्यर्धयंसज्जि भवति । पुन साधनप्रवृत्तिचापल कारयतीत्यर्थः ।  
सिद्धा—तस्योपस्कार=( उपदेश ) प्रवृत्तिपक्षेय प्रवृत्तिरिति भावः ॥ ९३ ॥

अन्यय —हरे इय कृपा तप फलत्वेन इम जन तपसि एव नियुङ्क्ते,  
हि उपाय प्रति प्रवृत्ती उपेयमाधुयम अर्धयंसज्जि भवति ।

हि दी—इन्द्र को यह कृपा तप का फल होने के कारण इस जन  
( दमयन्ती ) को तप में ही नियुक्त कर रही है, कारण कि उपाय के प्रति  
प्रवृत्ति होने में उपेय ( फल ) का माधुर्य ( स्वाद ) अर्धयं-कारिणी होती है ।

टिप्पणी—दमयन्ती के बचन का भाव है कि इन्द्र जो कृपापूर्वक उससे  
विवाह करना चाहते हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि वह उसके अब तक किये  
तप का फल है । अब वह तुरन्त पुन तपत्यारत होना चाहती है, क्योंकि  
उससे उसे और भी बड़ा फल प्राप्त हो सकेगा अर्थात् नल की उपलब्धि हो  
सकेगी । नल की प्राप्ति रूप फल देना मधुर है कि उसके लिए साधनारत  
होने में दमयन्ती को अब विलम्ब असह्य है ॥ ९३ ॥

शुश्रूपिताहे तदह तमेव पति मुदेऽपि व्रतसम्पदेऽपि ।

विशेषलेशोऽयमदेवदेहमशागम तु क्षितिभृतयेह ॥ ९४ ॥

जीपातु-कलितमाह-शुश्रूपिताह इति । तत्तस्माद्विस्थादह तमिन्द्रमेव पति  
शुश्रूपिताह सेषिष्ये । 'शुश्रूपा श्रोतुमिच्छाया परिवर्णवधानयो' इति विश्व ।  
'माधुस्मृदया सन' इति शृणाते सन्नितात्तडि सुट् । तास सकारस्य हकारः ।  
किंतु मुदेऽपि सन्तोषाम च व्रतसम्पदेऽपि पातिव्रत्यसम्पत्त्यनेच क्षितिभृतया  
राजत्वेन इह कस्मिंश्चिन्नरे अद्येन भागया आगतमवतीर्णम् । 'अष्टाभिध्र  
सुरे द्राणा मात्राभिर्निमितो नृप' इति स्मरणात् । अत एव, अदेवदेह देवदेह-  
हित मानुषविघ्नं सन्तम् । न तु मातादिति शेष ( त शुश्रूपिताह इति पूर्व-  
पाच्यम् ) । अथ विशेषलेशोऽपीमान् भेः । स च सोऽध्य अन्यथा मे व्रतलोप  
स्यादिति भावः ॥ ९४ ॥

अन्यय —तत् अह मुदे अपि व्रतसम्पदे अपि क्षितिभृतया इह अशापतम्  
देवदेह तम् एव पति शुश्रूपिताह—अथ विशेषलेशः ।

हिन्दी—( दमयन्ती ने जागे कहा ) सो मैं प्रमन्नता और पातिव्रत-सपदा दोनों ही के निमित्त राजा के रूप ने यहाँ ( पृथ्वी पर ) अन्न रूप में जाये मनुष्य देहगरी उग्र ( इन्द्र ) की ही पति रूप में सेवा करना चाहती हूँ—यही पादो सी विशिष्टता है ।

टिप्पणी—दमयन्ती ने कहा कि वह इन्द्र को ही बरना चाहती है, इनमें ही उसे श्रेष्ठ होगा और एकपति की ही सेवा करने का व्रत-परिपालन भी सिद्ध होगा, किन्तु थोड़ी-सी विवेचना यह होगी कि वह देव इन्द्र को नहीं, नर रूप में इस धरती पर आये इन्द्राय राजा नल का बरेगी । राजा लोक-पालन का अंग होता है, अतः राजा नल भी इन्द्र रूप ही है । मानुषी दमयन्ती मानुष इन्द्र को बरेगी—यही उचित होगा । इन्द्र की आज्ञा का पालन तो होगा, पर धाड़े-से, अतएव क्षम्य, पण्डितों के साथ । विद्याधर के अनुसार हेतु अक्षर ॥ ९४ ॥

अथोपमिन्द्रादरिणी गिरम्ये सतीव्रताति प्रतिलोमतीव्रा ।

स्व प्रागह प्रादिपि नामराय कि नाम तस्मै मनसा नराय ॥ ९५ ॥

श्रीवानु—कथं व्रतलोपस्तदाह—अथोपमिति । हे इन्द्रदूति ! सतीव्रतस्य पतिव्रताधर्मस्य अतिप्रतिलोमा जन्म-तत्प्रतिमूला । अत एव तीव्रा दुःखबाध । ते हि इन्द्रे आदरिणी आदरवती अथोपम्, इन्द्रो महती दंष्ट्रेति भयमकिन-म्यामथोपम् न तु, रागादिति नाथ । कथं तर्हि तमेव पतिं मज्जिष्यामीत्युक्तं तत्राह—प्राक् पूर्वमह स्वनाम्नान्, अमराय देवायने तस्मै इन्द्राय न प्रादिपि न प्रादा नाम । किन्तु नराय नररूपिणी रत्नयोर्भेदात्—स्वाय च तस्मै मनसा प्रादिपि । ददातेर्लुटि । 'म्याध्वोरिच्छ' इतीकार । अतः साक्षादिन्द्रभक्तने मम व्रतलोपं स्यादेवेत्यर्थः ॥ ९५ ॥

अन्वय—इन्द्रादरिणी सतीव्रतातिप्रतिलोमतीव्रा ते हि अथोपम्, प्राक् अहं अमराय तस्मै न प्रादिपि, किं नाम मनसा नराय ।

हिन्दी—इन्द्र के प्रति जादर रखने वाली मैं सतीव्रत के अत्यन्त विरुद्ध ( अतएव ) दुःसह ऐसी बाणी सुनती रही । पहिले मैंने उस देव ( इन्द्र ) को ( स्वयम् ) को नहीं दिया था, किन्तु मन से नर को दिया ।

टिप्पणी—कोई प्रतिव्रता ऐं वचन नहीं सुन सकती, जो उसके प्रतिद्वन्द्व

हो । दमयन्ती ने कहा कि इन्द्रदूती के बचन जो वह सुनती रही, वह केवल इन्द्र के प्रति सम्मान रखने के कारण । वास्तविकता यह है कि दमयन्ती पहिले ही इन्द्रास नर ( र-ल में अभेद से नल ) को मन में बर चुकी है । अब वह अन्य को प्रतिरूप में बरने की बात सुन भी नहीं सकती । उनका पनि मानवरूप में उपस्थित इन्द्र नल है, अमर देवेन्द्र नहीं ॥ ९५ ॥

तस्मिन्विमृश्येव वृते हृदया नैन्द्री दया मामनुतापिकाभूत् ।

निर्वाणुकाम भवसम्भवाना धीर सुखानामवधीरणेव ॥ ९६ ॥

जीवानु—तस्मिन्निति । तस्मिन् नरे हृदा हृदयेन, विमृश्यैव वृते सति इदमेव साध्विति सम्यङ्निश्चित्यैव प्रवृत्तेरित्यर्थ । एषा ऐन्द्री, दया परिजि पृथालक्षणा कृपा । निर्वाणुकाम मोक्षुकामम्, इदमेव साध्विति निश्चित्य मोक्षे प्रवृत्तमि-यथ । 'मुक्तिं कैवल्यनिर्वाण' इत्यमर । धीर निर्विकारचित्तं विद्वान् । भवसम्भवाना सुखानाम्, अवधीरणा सासारिकसुखसत्यास एव भवानुतापिका ह्य कष्टमनाघृतामनि मम पश्चात्तापकारिणी भाभूत् । 'अकैवल्यविष्यदाद्य-मर्त्ययो' इति पृष्ठीप्रतिषेधात् कर्मणि द्वितीया ॥ ९६ ॥

अन्वय—तस्मिन् हृदा विमृश्य एव वृते एषा ऐन्द्री दया निर्वाणुकाम धीर-भवसम्भवाना सुखानाम् अवधीरणा इव माम् अनुतापिका न अभूत् ।

हिन्दी—उस ( नल ) को मन से ठीक से विचार कर बर लेने पर यह इन्द्र की दया निर्वाण ( मोक्ष ) की कामना करते निर्विकारचित्त ( विद्वान् ) को ससार में उत्पन्न सुखों की अवशा सदृश भुञ्ज ( दमयती ) को सन्तुष्ट-कारिणी न हुई ।

टिप्पणी—दमयती ने कहा कि अब जो इन्द्र महाराज का विवाह प्रस्ताव आया है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और स्वीकार्य है और किसी विवाहाधिकारी तरणी को इस पर मोह हो सकता है, किन्तु मैंने तो विचार पूर्वक नल को हृदय से बर लिया है । मुझे अपने इस कृत्य पर कोई पश्चात्ताप नहीं है । मेरी स्थिति तो बँधी ही है, जैसी मोक्ष कामना करने वाले व्यक्ति की सासारिक मोक्ष पदार्थों के प्रति होती है । जैसे मोक्षार्थों की सत्ता के सुख का त्याग करने में कोई अनुताप नहीं होता, वैसे ही मुझ दमयती को भी नल के समुल्लेखी का मोह नहीं है—न इन्द्र राज्य का, न नन्दन कानन का, न रदमी के



साहचर्य है। मैंने विवेकी व्यक्ति के समान बहुत सोच विचार कर नल वर वरन स्वीकारा है ॥ ९६ ॥

वर्षेषु यद्भारतमायंघुर्वाः स्तुवन्ति गार्हस्थ्यमिवाध्रमेपु ।

तत्रास्मि पयुर्वग्विस्वयाहं शर्मोमि किमोरितधर्मलिप्सु ॥ ९७ ॥

जीवानु—विमृश्य कृतमित्युक्तमयं विमर्शप्रकारमेव श्लोकचतुष्टयेनाह—  
वर्षेष्वित्यादि। आयंघुर्वां श्रेष्ठा आध्रमेपु ब्रह्मवर्मादिषु चतुर्षु गार्हस्थ्य गृहस्था-  
ध्रममिव। वर्षेष्विच्छावृत्तादिषु नवसु यद्भारतवर्षे स्तुवन्ति प्रशंसन्ति। तत्र  
भारतवर्षे जह पयुर्वग्विस्वया शुश्रूषया। 'वरिवस्मा तु शुश्रूषा' इत्यमरः।  
वरिवस्वते वयजन्ताह 'ज प्रययात्' इति आकारप्रचये टाप्। शर्मोमिनि सुख-  
परम्परामि, किमोरित विप्रित तत्तद्दृष्टवर्षं लिप्सुर्लभ्युमिच्छुरस्मि। 'धर्मं शात-  
सुमानि च'। 'वित्र किमोरितस्मापचवर्षेतरात् कबु' इति वामरः ॥९७॥

अन्वय—आयंघुर्वां आध्रमेपु गार्हस्थ्यम् इव वर्षेषु यद् भारत स्तुवन्ति,  
तत्र बहु पत्यु वरिवस्वया शर्मोमि किमोरितधर्मलिप्सु जस्मि।

हिन्दी—आयों मे श्रेष्ठ (विचारक) आध्रमो मे गृहस्थाध्रम के समान वर्षों  
के मध्य त्रिषु भारत की स्तुति करते हैं, उस (भारतवर्ष) में मैं पति (नल)  
की शुश्रूषा द्वारा मुख की तरफों (परम्पराओं) से मिश्रित धर्म का अमिलाप  
करती हूँ।

टिप्पणी—दमयन्ती ने स्पष्ट कर दिया कि वह इलाकुडादि सखों के मध्य  
श्रेष्ठ अम्बुदीप के नवमास भारत सख भ ही रहना चाहती है, जिसे मनु आदि  
विचारकों ने सब वर्षों के मध्य उसी प्रकार उत्तम बनाया है, जिस प्रकार  
कि चारों (ब्रह्मवर्ष, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास) आध्रमों के मध्य गृहस्थाध्रम  
को। दमयन्ती की कामना है कि वह सब दशों में श्रेष्ठ भारत में ही रहकर  
श्रेष्ठ गृहस्थाध्रम का परिपालन करती हुई सुख और धर्म का भोग करे।  
विद्याधर के अनुसार उपमा बलकार।

गृहस्थाध्रम की श्रेष्ठता के विषय में मनु का कथन है—'यथा वायु समा  
धिन्य दत्तन्ते सर्वजन्तवः। तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः।  
यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमाः ज्ञानेनान्तेन चान्वहम्। गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माच्छ्रेष्ठ-  
तमो गृही ॥'

—मनुस्मृति (३।७३-७८)

हमचन्द्राचार्य ने भारत को प्रथम वर्ष बताया है—

‘भारत प्रथम वर्षं तत्र द्विमुद्यम स्मृतम् । हरिवर्षं तथैवाग्न्यन्तरोर्द्विपत्रा  
द्विषा ॥ रम्यक चोत्तर वर्षं तत्सर्ववानु हिरण्यमम् । उत्तरा कुरदश्चैव मया  
वै भारत तथा ॥ चन्द्रास्व पूर्वत्रो मरो वेतुमाल तु पश्चिमे । नवमाहस-  
मेर्वर्गमेतेषा द्विषत्तम’ ॥ ( अमि० चिन्ता० ६।१३ ) ॥ ९७ ॥

स्वर्गो मना ज्ञानं पर न धर्मा भवन्ति भूमाविह तत्त्व ते च ।

इष्टापाणि तुष्टि सुकरा मुराणा कथ विहाय त्रयमेकमीदे ॥ ९८ ॥

जीवानु—ननु स्वर्गोऽपि सुधर्मो न्न इत्यहम् आह—स्वर्ग इति । स्वर्गं सत्ता  
स्वर्गदासिनामिमयं । धर्मं परमुच्येव ( अस्ति ) । धर्मां मुहूर्तानि न भवन्ति ।  
इहास्या भूमौ तच्छर्नं च त धर्माश्च भवन्ति मम्मभन्ति । किञ्चैह इष्टापा मायन  
मुराणा तुष्टिरिति सुकरा सुवम्पाद्या । एव सति कथ तय धर्मधर्मं तुष्टिरुच  
विहारैक सुधर्मोहे । न चैतत् प्रस्तावहृत्यमिति भावः । तस्मात् स्वांदिपि  
भूलो एव इत्यर्थः ॥ ९८ ॥

अन्वय —स्वर्ग सत्ता पर धर्म धर्मां न, इह भूमौ तत् च ते च भवन्ति,  
इष्टापा मुराणा तुष्टि अति सुकरा, कथम् त्रय विहाय एकम् ईहे ?

हिन्दी—स्वर्ग दासियों को केवल सुख मिलता है, धर्म नहीं । इस  
धरती ( मृत्युलोक-भारतवर्ष ) में वह ( सुख ) और वे ( धर्म ) भी होते  
हैं । यज्ञ द्वारा दोनों को अनुष्ठान करना भी सरल है । ( ऐसी स्थिति में ) क्यों  
मैं तीन ( सुख, धर्म, यज्ञ द्वारा देव तुष्टि ) को छोड़ एक ( सुख ) को  
कामना करूँ ?

टिप्पणी—धीमद् भावत में इसी कारण भारत की श्रेष्ठता का मान  
जिया गया है कि यद् सुख-भूमि होने के साथ साथ धर्मभूमि भी है, जो स्वर्ग  
नहीं है । स्वर्ग तो केवल पुण्य-सुख भोगने का स्थान है, धर्माभास करके  
पुण्यजन का स्थान तो वह भारत भूमि ही है । यज्ञ करने यही देवा को  
प्रमत्त भी किया जाता है । दमयन्ती इसी लक्ष्य का आश्रय लेकर इन्द्र को  
अपेशा नष्ट को करने का औचित्य स्थापित करती है । इन्द्र को करने से  
केवल सुख मिले लक्ष्य, नष्ट का करने से तीनों—सुख, धर्म, देवतुष्टि ।  
विद्याधर के अनुसार अनुचय छत्रधार ॥ ९८ ॥

साधोऽपि स्व स्रु गान्धितोऽगामी म तु स्वर्गमिति प्रमाने ।

इत्यायानि चिन्तयतो हृदि द्वे द्वयोस्दर्शनं किमु शक्यं न ॥ ९९ ॥

जीवानु-द्वयानि कारणात् नूनमेक एव श्रयान्तित्याह-जाधोरिति । किंच, जाधोऽमुद्विगोऽपि स्व स्वार्थोऽगान्तिता गमिष्यता स्रु । (साधुरपि कदाचि-  
दप्यवनेदंत्पयं ।) न साधुरित्येव नूनमेकात् प्रमाने तु स्वर्गगामी गमि-  
ष्यति । 'ते तं नुक्त्वा स्वर्गलोके विजायन्तीने पुन्यं मर्त्यलोके विजान्ति'  
इति गीतावाक्यात् । 'नविष्यति मम्यादय' इति गमिष्यन्त्यस्य नविष्य-  
व्यंता । 'नकेनो' इति पृथीप्रतिपेक्षात् नमपि द्वितीया । इतीत्यनामतिमुत्तर-  
कात् । 'उत्तर कात् आयति' इत्यन । हृदि चिन्तयतो विवेकिनो द्वयो-  
स्वर्गलोको । उदकं नूनं प्लवम् । 'उदकं प्लवदुनरम्' इत्यनर । द्वे शक्यं  
न किमु, शक्यं एवेत्यनं । एका शक्यं ( इत्युक्तमवा ) शिवायक-  
मृगाया जरायुशुविचार । तत्र क्वाद्वावप्युदको द्वे शक्यं, तन्मना-  
विषयं । जत एव निदर्शनान्द्वारमेव । 'दर्शनं स्रुविद्विद्यावृत्ती दर्शन-  
रूपे' इति किञ्च ॥ ९९ ॥

अन्वय-साधो इति स्व श्रयोऽगान्तिता स्रु स्रु प्रमाने तु स्वर्ग गामी-  
इति आपति चिन्तयतो हृदि द्वयोः दर्शनं द्वे शक्यं न किमु ?

हिन्दी-साधु-धार्मिक का भी स्वर्ग से लोके जाना निश्चित है और  
बहु ( पुण्यात्मा ) यही ( परती ) जाने पर स्वर्ग जाता है । इस प्रकार अतिम  
परिणाम विचारनेवाले के हृदय में दोनों ( स्वर्ग और मृत्युलोक ) के उत्तरवर्ती  
परिणाम क्या दो दर्कराएँ ( कष्ट और शक्य ) नहीं हैं ?

टिप्पणी-स्वर्ग में निवास की अपेक्षा पृथ्वी पर रहना अच्छा और  
उपयुक्त है-इस तथ्य की अन्य एक से प्रुष्टि की गयी । पुण्यात्मा स्रुजन  
स्वर्ग में रहकर पुन्य सीम होने पर पुन निम्न लोक में निरवयव जाता है ।  
श्रीमद् भगवद् गीता ( १।२१ ) में बताया गया है कि पुण्यात्मा जन विशाल  
स्वर्गलोक भोग कर पुन्य सीम होने पर मर्त्यलोक में जाते हैं । इनके विपरीत  
मृत्युलोक से जाने पर पुन्यसात्री स्वर्ग जाता है । स्वर्ग प्राप्त का उत्तरप्लव है  
व्यथावत-कष्ट के समान कष्ट और कष्टदायी, और पृथ्वी-वास का प्लव  
है, स्वर्ग-प्राप्ति, ऊपर उठना । शक्य के समान कोनल और सीधा । इस प्रकार

सिद्ध हुआ कि पृथ्वी वास का परिणाम अच्छा होता है। सो पृथ्वी वास ही उचित है। इस दलोक में क्रम से दो उदकों ( उत्तरफलों ) को दो शकंरा—  
द्विशकंराकृत्य कहा गया है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार निदसंनो अलवार है,  
विद्याधर के अनुसार उत्प्रेञ्जालकार का सकर है ॥ ९९ ॥

प्रक्षीण एवायुषि कर्मकृष्टे नरान् उपतिष्ठते य ।

बुभुक्षते नाकमपथ्यकल्प धीरस्तमापातसुखोन्मुख क ॥ १०० ॥

जोवातु—प्रक्षीण इति । किंच यो नाक कर्मकृष्टे कर्माजिते आयुषि प्रक्षीणे  
सत्येव नरान् मनुष्यानुपतिष्ठते सङ्गच्छते । तिष्ठति सति नोपतिष्ठते 'उपाद्देव-  
पूजा' इत्यादिना सङ्गतिकरणे तद् । आपाते प्रारम्भे, सुखोन्मुख सुखप्रवण,  
न तु परिणाम इत्यर्थ । अत एव अपथ्यकल्प अपध्यान्नसंज्ञा, त नाक, स्वर्ग  
धीरो धीमान्, क बुभुक्षते भोक्तुमिच्छति । अपध्यान्नभोजनवदासन्नमरणाधिकार  
नाकभोग कस्मै नाम रोचत इत्यर्थ ॥ १०० ॥

अन्वयः—य कर्मकृष्टे आयुषि प्रक्षीणे एव नरान् उपतिष्ठते तिष्ठति न,  
क धीर आपातसुखोन्मुख अपथ्यकल्प त नाक बुभुक्षते ?

हिन्दी—जो ( स्वर्ग ) कर्मों से प्राप्त आयु के क्षीण होने पर ही मनुष्यों  
को मिलता है, ( आयु ) वर्तमान होने पर नहीं, ( अथवा 'यः कर्मकृष्टे  
आयुषि तिष्ठति एव नरान् उपतिष्ठते, प्रक्षीणेन' अवयव करने पर—'तो पुण्य-  
कर्माजित आयु के विद्यमान रहने पर ही प्राप्त रहता है, पुण्य क्षीण होने पर  
नहीं ), कौन विवेकी ( व्यक्ति ) अविचारित सुखकारी, अपथ्य भोग्य के  
समान उस स्वर्ग को भोगना चाहेगा ? ( कोई नहीं ) ।

टिप्पणी—स्वर्ग वास, आयु के क्षीण होने पर—मरने पर ही मिलता है,  
जीते जी नहीं, अत एव वह अविचारित सुख है—कल्पनामात्र वा, जब कि  
धरती पर रहने वा सुख समझा हुआ अर्थात् वास्तविक है। इसके अतिरिक्त  
स्वर्ग-वास स्थिर भी नहीं है, पुण्य समाप्त हुए नि वहाँ से हटना ही होगा।  
दोनों दृष्टियों से पृथ्वी वास ही उपयुक्त है। यहाँ का सुख भी वास्तविक है  
और पुण्यक्षीणता का भी भय नहीं। अतः देवेन्द्र के वरण की अपेक्षा पृथ्वी-  
वास वा वरण ही अच्छा है। स्वर्गवास तो अपथ्य-भोजन के तुल्य है, जिसकी  
परिणति ब्रह्म होती है। विद्याधर के अनुसार उपमा ॥ १०० ॥

इतीन्द्रदूत्या प्रतिवाचमर्थे प्रयुह्य संपादिदधे वयस्याः ।

किञ्चिद्विशोल्लसदोऽप्यन्धमोजितापनिद्रदृक्पङ्कजास्या ॥ १०१ ॥

जोवातु—इतीति । संपा मंत्री, इतीत्यमिन्द्रदूत्या विषये, प्रतिवाच प्रत्युत्तरम् । अर्थे प्रत्युह्य मध्ये मध्ये निरुध्य, असमाप्येवेत्यर्थः । 'उपसर्गाद्घृस्व ऊहते' इति ह्रस्व । किञ्चिद्विशेषया यत्किञ्चिद्वक्त्रमुमिच्छया, उल्लसत स्फुरत, ओष्ठस्य लक्ष्म्या शोभया वितमनिद्रदृक्ल विक्रमत्पत्र यस्य तत् । अपनिपूर्वाद् ज्ञाने चतृप्रत्ययः । तच्च तत्पङ्कजञ्च तदिव आस्य यासा ता वयस्या सखी अमिदधे उवाच । दधाते कर्तरि लिटि लङ् ॥ १०१ ॥

अन्वयः—इति इन्द्रदूत्या प्रतिवाचम् अर्थे प्रयुह्य सा एषा किञ्चिद्विशोल्लसदोऽप्यन्धमोजितापनिद्रदृक्पङ्कजास्या वयस्या अमिदधे ।

हिन्दी—इन्द्र की दूती को दिये जाते प्रत्युत्तर को आधे म रोककर वह यह ( दमयती ) कुछ कहने की इच्छा से स्फुरित होते ओष्ठों की शोभा से विकसित पत्रा वाले कमलों के जमी मुझों वाली सखियों से बोली ।

टिप्पणी—दमयती इन्द्रदूती के प्रस्ताव को अमान्य करने के कारण बता रही थी कि उसकी कमलमुखी मखियों ने इन्द्र के पक्ष में कुछ कहने की इच्छा की । दमयती ने यह समझा और सखियाँ कुछ कहने को ओठ हिलाये कि वह उनसे उनका मनोभाव समझ कर कहने लगी । विद्याधर के अनुसार उपमा ॥

अनादिषाविस्वपरम्पराया हेतुस्रजस्रोतमि वेश्वरे वा ।

आयत्तधीरेष जनमनदार्याः । किमोदृश पर्यनुयुज्य कार्यं ॥ १०२ ॥

जोवानु—अनादीति । हे आर्या, एष जन अनादि यथा तथा, षाविन्या प्रवहत्या स्वपरम्पराया स्वदेहपरम्पराया इत्यर्थः । तत्सम्बन्धिन्या हेतुस्रज हेतुस्रजकर्मपरम्पराया स्रोतसि प्रवाहे वा । 'बुद्धिः कर्मानुसारिणी'ति वचनात्, ईश्वरे वा । 'एष एव कारयिते'ति श्रुते । आयत्तधी । न तु स्वाधीनबुद्धिरित्यर्थः । निरीश्वरतेश्वरमतभेदात् पक्षद्वयोक्तिः, तत्तस्मात्, ईश्वर परतन्त्र एष जनः, पर्यनुयुज्योपाज्जम् । किं कार्यं कारयितुं शक्यः । कारयतेरचो यत् । यत स्वयमपि देवपरतन्त्रा न पर्यनुयुज्येति भावः ॥ १०२ ॥

अन्वयः—आर्या, एष जन अनादिषाविस्वपरम्पराया हेतुस्रजस्रोतसि ईश्वरे वा आयत्तधी तद् ईदृश पर्यनुयुज्य किं कार्यं ?

हिन्दी—हे श्रेष्ठ सखियो, यह व्यक्ति ( दमयन्ती ) अनादि रूप से पुनः पुन आवर्तमान जीव-परम्परा के कारणों की माला के प्रवाह के अथवा ईश्वर के प्रति अधीनबुद्धि है, तो ऐसी ( मुन ) को उपालम्भ दे कर क्या कार्य होगा ?

टिप्पणी—दमयन्ती ने अपनी सखियो को बताया कि वह तो कर्माधीन अथवा ईश्वराधीन हो सब कुछ कर रही है । देवों को छोड़ जो मर को वरण करने की उसकी इच्छा है, वह भी कर्माधीन या ईश्वराधीन है, दमयन्ती की स्वतन्त्र इच्छा नहीं है । ऐसी स्थिति में समझदार 'आर्या' सभी निरर्थक उसे कुछ समझाने का प्रयत्न करना चाहती है । इसका कुछ फल न होगा । निरीश्वरवादी के अनुसार जीव कम-परम्पराधीन है, ईश्वरवादियों के अनुसार ईश्वराधीन । जा हाता है, वह स्वेच्छा में नहीं, कमफल अथवा ईश्वरेच्छा के अनुसार । विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग अलङ्कार ॥ १०२ ॥

नित्य नियत्या परवत्यशेषे चः सविदानोऽप्यनुयोगयोग्यः ।

अचेतना सा च न वाचमर्हद्वक्ता तु वक्त्रथमकम् भुङ्क्ते ॥ १०३ ॥

जीवातु—ननु दैवपारतन्त्र्येऽपि मा भूदप्यनुयोग्यः । विद्यास्तु पर्यनुयोग्य एवेत्याशङ्क्य आह—नित्यमिति । अशेषे जन नित्य सर्वदा नियत्या दैवेन परवति परतन्त्रे सति सविदानो विद्वानपि । 'समो गम्बूजिष्ठ' इत्यादिना विदेरात्मनेपदम् । न अनुयोगयोग्य उपालम्भाह । विदुषापि नियतेरलङ्घ्यत्वादिति भावः । तर्हि नियतिरेव पर्यनुयोग्यताम् तत्राह—अचेतना सा नियतिश्च वाच पर्यनुयोगनाह । अचेतनोपालम्भस्याख्यरूपदितवत्परवदिति भावः । तथाप्युपालम्भे दोषमाह—वक्ता अचेतनोपालम्भा तु वक्त्रस्य अथ श्रुतिरेव त्रियत इति कर्म बाध्यापारफल तद् भुङ्क्ते । वाग्विज्ञापनादयत्फल न किञ्चिदस्तीत्यर्थः ॥ १०३ ॥

अन्वय —अशेषे नित्य नियत्या परवति सविदान अपि का अनुयोग-योग्य, अचेतना सा च वाचम न अर्हत्, वक्ता तु वक्त्रथमकम् भुङ्क्ते ।

हिन्दी—समस्तजनो के नित्य रूप से ( मदा ) नियति ( भाग्य ) के अधीन होन पर विद्वान् भी किस उपालम्भ के योग्य है ? ( नहीं है ) । और अचेतन ( जड़ ) वह ( नियति ) भी वागनुयोग ( उपालम्भ—कहने-मुनन ) के

योग्य नहीं है, कहनेवाला ( उपात्मकर्ता व्यक्ति ) हो मुख को धम देने का कर्म माना है ।

टिप्पणी—दमयन्ती ने सन्तियों को कुछ न कहने, उपात्मन देने, सममाने-बुझाने का धम करने की निरर्थकता पूर्व श्लोक में सूचित की। इस श्लोक में तमो जन में यह बताया कि सब कुछ साम्याधीन ही है, अतः इस विषय में किसी समतलार का भी सममाना-बुझाना व्यर्थ है । और यदि यह कहा जाय कि सब सब कुछ करनेवाली नियति को ही सममाना-बुझाना उचित होगा तो यह भी ठीक न जाय, क्योंकि नियति तो कुछ बोल्सी-कहती नहीं, बड़ है । नियति को उपात्मन देने वाले व्यक्ति का कथन केवल उसका मुख बुझाया, और कुछ नहीं । भाव यह कि वरुण के विषय में सृष्टियों द्वारा दमयन्ती का सममाना निरर्थक प्रयत्न है, अतः ऐसा परिश्रम करना उचित नहीं । विद्याधर के अनुसार काव्यार्णव प्रकाश ॥ १०३ ॥

क्रमेण निन्दति कोमलेच्छु क्रमेण कष्टकलम्यटस्तम् ।

प्रीती तयोरेष्टमुजो नमाया मध्यम्यना नैकरोपहान ॥ १०४ ॥

जीवानु—ननु मुरेण विहाय नल्म्बीकां आभ्युपगम्यता न्यातवाह—क्रमेणमिति । कानकमिच्छु कोमलेच्छु मृदाहारी यवाभादि । 'न लोच' इत्यादिना पृथीप्रतिपेक्षान्मृगिणामुवद् द्वितीयात्मनाम् । क्रमेणमुष्टुलिन्दति । 'उष्टु क्रमेणममहाङ्गा' इत्यमरः । कष्टकेषु लम्पटो लोचुः क्रमेण । 'लोचुष लोचुष लोच लम्पट गन्ध विदु' इति हजानुन । त कोमलेच्छु निन्दति । इष्टमुजोमयोर्द्वयो प्रीती तुष्टी नमाया तत्र एकतम्योपहानो मध्यम्यता । भावस्थ न । अन्य यदिष्टतुष्टिश्च तन्म तत्र प्रवृत्तौ सर्वस्याप्यात्मदृष्टान्तेन सन्तोषधेःपुरहस्य तत्त्वनेवोपशम्या नवन्तीति भावः ॥

अन्वय —कोमलेच्छु क्रमेण निन्दति, कष्टकलम्यट क्रमेणः तम्, इष्टमुजोः तयो प्रीती समाया एकरोपहान मध्यम्यता न ।

हिन्दी—कोमल ( मुलायम ) खाद्य का अनिच्छाशी ( जन्तु ) जट की निंदा करता है और कटि ( खाने ) का लोचन जट उस ( कोमलाशी ) की । इच्छानुसार खानेवाले उन दोनों ( कोमलपदार्थनशी और काटे खानेवाला

ऊँट) की सतुष्टि एक समान होने पर किसी एक का उपहास मध्यस्थता नहीं है।

टिप्पणी—‘मिथरुचिह्नं लोक’ के अनुसार प्राणियों की विभिन्न दृष्टियाँ होती हैं, और वे परस्पर-विरोध भी हो सकती हैं। उदाहरणार्थ मनुष्य और अनेक पशु भी मुलायम, कोमल वस्तुएँ खाते हैं और ऊँट कठोर बाँटो का प्रेमी है। दोनों एक दूसरे का उपहास करते हैं। मध्यस्थ समनदार व्यक्ति दोनों पक्षों को अपनी रुचि के अनुसार मोचन कर समान रूप से सतुष्ट पाने के कारण किसी की हँसी नहीं उठाता। यदि वह किसी एक का उपहास करे और एक की प्रशंसा, तो यह उचित न होगा। वह मध्यस्थ नहीं, पक्षपाती समझा जायेगा। ऐसी स्थिति में देव-वरण की अपेक्षा नर-वरण के कारण दमयन्ती का उपहास करनेवाला सत्तार मध्यस्थ नहीं, पक्षपाती समझा जायेगा। और पक्षपाती स्वयम् उपहास का पात्र होता है। यह समय कर दमयन्ती की सल्लियों द्वारा दमयन्ती की इच्छा का उपहास अथवा उपालम्भ उचित न होगा। विद्यापार के अनुसार हनु अलंकार ॥ १०४ ॥

गुणा हरन्तोऽपि हरेर्नर मे न रोचमान परिहारयन्ति ।

न लोकमालोक्यथापवर्गास्त्रिवर्गमर्वाश्चममुच्चमानम् ॥ १०५ ॥

जीवातु-ननु नलादपि गुणाधिके हरी कथमश्चरित आह-गुणा इति । सत्य हरन्तोऽपि मनोहरन्तोऽपि हरेरिन्द्रस्य गुणा मे मह्य, ‘दृश्यमाना प्रीय-माण’ इति चतुर्थी । रोचमान मनोहर । नर न परिहारयन्ति न त्याज-यन्ति । कुत, अपवर्गा-मोक्षादवाश्चमपकृष्ट, त्रिवर्ग धर्मार्थकामानमुच्चमान-मत्यजन्त, लोक नालोक्यथ ? न पश्यथेति वाकु । न गुणमपेक्षते रागवृत्तिरिति भाव । श्रुत्यान्तालंकार ॥ १०५ ॥

अन्वय—हरन्त-अपि हरे गुणा मे रोचमान नर न परिहारयन्ति, अपवर्गात् अर्वाञ्च त्रिवर्गम् अमुच्चमान लोक न आलोक्यथ ?

हिन्दी—मन हरनेवाले भी इन्द्र के गुण गुणों इच्छते नर का त्याग (मुझसे) नहीं करवा पाते । मोक्ष से अपकृष्ट त्रिवर्ग ( धर्म, अर्थ, काम ) को न छोड़ते सत्तार को नहीं देखती ?



टिप्पणी—‘सुष्यद्भुवनं याव’ से दमयन्ती एक बार यह मानकर भी कि इन्द्र में अनेक आकर्षक गुण हैं और वह नर की अपेक्षा वरुण-योग्य है, अपने द्वारा मनुष्य-वरण के विषय में तर्क देती है कि जिस पर रूचि होती है, उसी को ऊँचे-नीचे का विचार छोड़ अपनाया जाता है। ससार में सभी ऐसा करते हैं। यह स्पष्ट है कि पुरुषार्थ-चतुष्टय में मोक्ष श्रेष्ठ तीन धर्मार्थकाम की अपेक्षा उच्च और वरेष्ठ है, फिर भी लोग मोक्ष को छोड़ त्रिवर्ग-साधना में ही लगे रहते हैं। इस दृष्टि से दमयन्ती का चुनाव भी लोक-परम्परा के अनुसार ही है। वह भी देवों को छोड़ नर को वर कुछ विचित्र नहीं कर रही है। अनुराग गुणवगुण का विवेचन नहीं करता। मन्त्रिणां के अनुसार इष्टात अलङ्कार, विद्याधर के अनुसार विभावना और उभयन्यास ॥ १०१ ॥

आकीटमाकैटमत्रैरि तुल्य स्वाभीष्टानात् कृतकृत्यभावः ।

भिन्नसृहाणां प्रति चार्यमर्थं द्विष्टत्वमिष्टत्वमप्यवस्यम् ॥ १०६ ॥

जोवानु-ननु मरेंद्र प्राप्य कृतकृत्या नव, निन्-प्रार्थनया, दुःखायसेऽत आह-आकीटमिति । आकीट कीटादारम्य, आकैटमत्रैरि तत्पर्यन्तम् । उभय-प्राप्यभिविधावर्थाभावः । स्वानीष्टानात् कृतकृत्यभावः, कृतार्थत्वानिमान-स्तुल्य साधारण ममाप्यभीष्टानात् कृतकृत्यता नेन्द्रलाभादित्यर्थः । तर्हीन्द्र एषेऽप्युत्तमिदं आह-निन्सृहाणां निन्दस्वीना जनानामर्थमर्थं प्रत्यर्थम् । द्विष्टत्वमिष्टत्वञ्च द्वयमभाता व्यवस्था घटवपटत्वादिवत् प्रतिनियमो यस्य तदप्यवस्यमप्यवस्यमप्यवस्यमप्यवस्यम् । अपि स्वापेक्षिकम् । तस्मादिन्द्रोऽपि मया नेष्यने को दोष इत्यर्थः ॥ १०६ ॥

अन्वयः—आकीटम् आकैटमत्रैरि स्वानीष्टानात् कृतकृत्यभावः तुल्य, भिन्नसृहाणाम् अर्थम् अर्थं प्रति द्विष्टत्वम् इष्टत्व च अपव्यवस्यम् ।

हिन्दी—कीड़े से लेकर कैंटन के घनु ( विष्णु ) तक अपना अभीष्ट प्राप्त करके कृतार्थता समान होती है। भिन्न-भिन्न वस्तुओं की इच्छा करने वालों के विषय विषय के प्रति द्वेष और इच्छा के विषय में कोई निश्चित व्यवस्था नहीं है।

टिप्पणी—दमयन्ती ने अपनी रूचि के अनुकूल आचरण के विषय में तर्क दिया कि क्या अच्छा है और क्या बुरा—यह निश्चित नियम से निर्णित नहीं

होता । सब स्वरुचि के अनुकूल, अभीष्ट पाकर स्वयम् को कृतार्थ मानते हैं, चाहे छोटा हो, चाहे बड़ा । धुद कीट से लेकर जगत् के परिपालक विष्णु तक सभी स्वेच्छया किसी पदार्थ को अच्छा बुरा मानते हैं । तुष्ट और कृतकाम अभीष्ट से ही होते हैं । अतः दमयन्ती को देव नहीं, सर नल अभीष्ट है तो इसमें भूल क्या है ? विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलंकार ॥ १०६ ॥

अग्राध्वजाग्रनिभृतापदन्धुबन्धुयदि स्यात् प्रतिबन्धुमहं ।

जोप जन कायचिदस्तु वस्तु प्रच्छया निजेच्छा पदवी मुदस्तु ॥ १०७ ॥

जीवात्-अग्राध्वेति । अग्रचासाध्व्या चेति समानाधिकरणसमाप्त । अत एव 'अग्रहस्ताग्रहादयो गुणगुणिनोर्मोदामावादि'ति वामन । तस्मिन्नाध्वनि पुरोमार्यो, आग्रत् स्फुरत् आसन्न इति यावत् । स चामी निभृता नियता आप-देवान्धु रूप । 'पुस्पेवान्धु प्रहि रूप' इत्यमर । स प्रतिबन्धुमहो निवारितु शक्तो बन्धु स्याद्यदि, स जनो बन्धुजन कायवित् कार्यमोऽपि । प्रश्नपर्यं त जोपमस्तु तूष्णीमास्ताम् । न तु मा निवारयेदित्यय । कुतस्तर्हि ते कार्यविज्ञान तदाह-मुद श्रेयस । पदवीं तु, निजेच्छैव प्रच्छया प्रष्टव्या । यैव मे प्रयत्निका नाग्य कयचिदस्तीत्यर्थ । वस्तु सत्यमयमेव परमार्थ इत्यय । प्रच्छेद्विषमं कत्वादप्रधाने कर्मणि 'ऋहलोर्ण्यत्' ॥ १०७ ॥

अन्वय,—अग्राध्वजाग्रनिभृतापदन्धु प्रतिबन्धुम् अहं य धु यदि स्यात्, जन कायवित् जापम् अस्तु, मुद पदवीं तु निजेच्छा एव प्रच्छया वस्तु ।

हिन्दी—समुत्तमार्ग में बतमान, ढके आपनिरूप रूप में गिरजाने से रोक सकने की क्षमतावाला यदि बधु ( मित्र ) हो तो भी जन ( बधु ) को कार्य का ज्ञाता होने पर भी चुप रहना उचित है ( अथवा—बधु अग्राध्वजाग्रनिभृतापदन्धु यदि स्यात् प्रतिबन्धुम् अहं, कायवित् जन जोपम् अस्तु । यदि मित्र समुत्तम मार्ग में विद्यमान आपनिरूप रूप में गिरता हो तो उसे रोकना उचित है, अथवा कार्यवेत्ता बधु चुप रहे ) । हय के मार्ग पर तो अपनी इच्छा ही पूछने की वस्तु है ।

टिप्पणी—अच्छे मित्रों को—यदि उनका मित्र विपत्ति की ओर जा रहा हो और निषेध करनेवाले मित्रों में प्रतिरोध की क्षमता हो तो—अपनिरूप की

ओर जाते मित्र को रोकना उचित है। यदि मित्र विपद् के अवकूप में नहीं गिर रहा है अथवा रोकने की स्वयं में क्षमता नहीं है तो उस स्थिति में चुप ही रहना उचित है। दमयन्ती न तो विपत्ति के रूप की ओर जा रही है और न उसे रोकने की क्षमता ही सखियों में है, सो उन्हें कुछ न बोलना ही उचित है। स्वयंवर में मनचाहे का वरण प्रसन्नना की वस्तु है स्वयंवरा को जो दहे, तबमें उसकी इच्छानुसार आचरण ही कर्म्याणकर होता है। इस दृष्टि में दमयन्ती की सखियों को भी दमयन्ती की प्रसन्नता के अनुकूल आचरण उचित है। जो उसकी इच्छा समझने वाली सखियाँ हैं, वे तदनुकूल आचरण करें, रोप चुप रह। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास, करक, काव्यलिङ्ग, अलंकारों का मकर ॥ १०७ ॥

इत्य प्रतीपोक्तिमति सखीना विलुप्य पाण्डित्यबलेन बाला ।

अपि श्रुतस्वपतिमन्त्रिमूर्तिम् दूती बभाषेऽद्भुतलोलमौलिम् ॥ १०८ ॥

जीवातु—इत्यमिति । बाला भेमी, इत्य सखीना प्रतीपोक्तिमति प्रति-  
दूतीकितबुद्धिमित्य पाण्डित्यबलेन प्रागन्भ्यावस्त्वेन विलुप्य निपिष्य श्रुता  
स्वपतिमन्त्रिण शर्ममधिवस्य बृहस्पते सुवतयो वाचो यया तामपि 'जह्रा-  
शीना पत्यादिषु' उति रेफादेश । अद्भुतेन बहो बृहस्पतेरपि प्रागन्भेत्याश्चर्येण  
लोलमौलि कम्पशिरस शिर कम्पयन्तीमित्यर्थ । दूती बभाषे ॥ १०८ ॥

अन्वय — बाला दाय सखीना प्रतीपोक्तिमति पाण्डित्यबलेन विलुप्य  
श्रुतस्वपतिमन्त्रिमूर्तिम् अपि अद्भुतलोलमौलि दूती बभाषे ।

हिन्दी — बाणा ( दमयन्ती ) इस प्रकार ( सखियों को ) प्रतिदूत वचन  
विषयक बुद्धि का पाण्डित्य के बल से विलुप्त करके स्वर्गराज ( इन्द्र ) के  
मन्त्री ( बृहस्पति ) की मूर्तियों की सुननेवाणी होकर भी आश्चर्य में गिर  
झिताती दूती में बोलती ।

टिप्पणी—इन्द्रवरण के विषय में दमयन्ती ने उन्हें तर्क देकर समझा  
दिया ( श्लोक स० १०१-१०७ ) कि वह जो कुछ करने जा रही है, वह  
उचित है। इन्द्र को दूती को दमयन्ती की तर्क क्षमता पर बड़ा आश्चर्य हुआ,  
यद्यपि वह इन्द्र-मन्त्री गुह्य बृहस्पति की पाण्डित्यपूर्ण बाणी अनेक बार सुन  
चुकी थी। दूती को लगा कि दमयन्ती की विचारशक्ति और स्वयं प्रति-

पादन-सामर्थ्यं अदुक्त है । जैसा कि श्लोक सख्या १०१ में कहा गया, दमयंती इन्द्र-दूती से कहते कहते बीच में अपना कपन अधूरा छोड़कर सक्षियों की ओर उन्मुख हो गयी थी । अब वह पुनः उस अर्द्धोक्ति को पूरा करने को उद्यत हुई । विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अतकार छेकानुप्रास ॥ १०८ ॥

परेतभर्तुर्मनमेव दूती नभस्वतेवानिलसख्यभाज ।  
त्रिस्रोतवसेवाम्बुपतेस्तदाशु स्थिरास्थमायातवती निरास्थम् ॥ १०९ ॥

जीवातु—परेतेति । मनसैव आनयकेनेति शेष । आगमनसाधनेनेत्यर्थ । एव वायुगन्धयोरपि द्रष्टव्यम् । परेतभर्तुं यमस्य दूती, नभस्वता वायुर्नैव अनिलसख्यभाजोऽनेर्दूती त्रिस्रोतसा गन्धयैव अम्बुपतेर्वदणस्य दूती स्थिरास्य श्टाभिनिवेश यथा तथा आशु शीघ्रमायातवती, सती, तदा अगमनक्षण एव निरास्थ पर्यहापम् । 'अस्यतिवक्तिव्यातिभ्योऽङ्' इत्यस्थतेतु डि चलेरडा-देश । 'अस्यतेस्धुक्' इति धुक् । यमादिदूत्यो दूरादेव निरस्ता इन्द्रगौरवा-त्त्वया एतावत् कालं समभाषीत्यर्थः । अत्र मनोवायुगन्धानां क्रमाद्यमादि-विधेयत्वेन तत्प्रियार्थं तानिरेवातिवेगवतीभिरन आनीता ( यमादीनां दूत्यः ) इत्युत्प्रेक्षार्थः ॥ १०९ ॥

अन्वय — स्थिरास्थम् आपु आयातवती परेतभर्तुं दूती मनसा एव, अनिलसख्यभाज नभस्वता एव, अम्बुपते त्रिस्रोतसा एव तदा निरास्थम् ।

हिन्दी—( इन्द्रदूती से दमयंती बोली ) मैंने विश्वस्तता के साथ शीघ्रतया आयी गतप्राणों के स्वामी ( यमराज ) की दूती की मन से ही, वायु के मित्र ( अनिल ) की दूती की वायु से ही, जल के स्वामी ( वदण ) की दूती की गंगा से ही तभी निराकृत कर दिया ।

टिप्पणी—दमयंती का भाव यह है कि शीघ्रता से दमयंती ने निष्कट पहुँचने के निमित्त प्राणों के स्वामी यम ने अपनी दूती को मन के वाहन पर, अनिल ने वायु के वाहन पर और वदण ने गंगा वाहन पर भेजा था । उन दूतियों के प्रस्ताव को दमयंती ने तुरन्त अस्वीकार कर शीघ्र ही वापस भेज दिया । वे अपने अपने वाहनों से बिना उतरे ही वापस चली गयी । एक प्रकार से उनका प्रस्ताव ठीक से सुना ही नहीं गया । इन्द्र के प्रति दमयंती

को विधेय आस्था है, अतः उसका कथन सुना और निवेदन किया यदि ऐसी आस्था न होती तो उसके साथ भी वैसा ही व्यवहार हो सकता था, जैसा कि यमादि की दूतियों के साथ हुआ। प्राणों के स्वामी यम के अधीन भन के होने से, वायु के अग्नि का मित्र होने से और गया के वरुणाधीन होने से इनका यमादि-विधेयत्व क्षम से है और यमादि की दूतियों का उनके बाह्य मन-वायु गया से वेगपूर्वक आना भी, मस्तिष्काय के अनुसार यह उत्प्रेक्षाएँ हैं। विद्याधर के अनुसार यहाँ हेतु, अनुप्रास और कृतिशयोक्ति अलंकार हैं।

‘स्थिरात्मन’ को दमयन्ती के साथ जोड़कर यह अर्थ भी किया जाता है कि उसकी तल के प्रति आस्था दृढ़ थी, अतः ‘आप्तु’ आयी यमादि की दूतियों को उसने ‘आप्तु’ विदा कर दिया ॥ १०९ ॥

भूयोऽग्निमेव यदि मा त्वमात्य नदा पदावालभमे मघोनः ।

मतीव्रतैर्मोदमिमं तु मन्नुमन्त पर वज्रिणि मार्जिताम्मि ॥ ११० ॥

जीवातु—भूय इति । हे शक्र इति । त्व भूय पुनरेतमर्थमिन्द्र वृणीष्वेत्य-  
मुमर्थं मामास्य ब्रूये यदि । ‘ब्रुव पञ्चानाम्’ इत्यादिना विपत्त्यादेशो ब्रुव  
आह्वयः । ‘जाह्व्य’ इति ह्कारस्य यकारादेशः तदा मघोन पदावङ्गी ।  
‘पद्भ्यश्चरणाञ्छिनयाम्’ इत्यमरः । आत्मनसे हितस्मि स्पृससि वा । वज्रिणि  
इन्द्रे विषये अन्तरन्तरङ्गे पर श्रेष्ठ, गुणत्वेन गृह्यमाणमित्यर्थः । इमं तीव्रं  
दुस्त्रहं मन्तु निजाशोऽन्तर्हनापराधम् । ‘आगोऽपराधो मन्तुश्च’ इत्यमरः ।  
सतीव्रतैः पतिव्रतानियमैः मार्जिताम्मि मार्जितप्यामि । मृजेलुटि मिप् । पति-  
व्रताधर्मज्ञ सर्वज्ञो भगवान् मघवा मामस्मादपराधात्त्रास्पृशीत्यर्थः ॥ ११० ॥

अन्वयः—यदि त्व भूय एतम् अर्थं माम् आस्य तदा मघोन पदौ आत्मनसे,  
वज्रिणि अन्तः परम् इमं तीव्रं मन्तु सतीव्रतैः मार्जिता अस्मि ।

हिन्दी—( हे दूति, ) यदि तू पुनः इस विषय को मुझसे कहे तो तुझे मघवा  
( इन्द्र ) के चरणों की सौगंध । वज्रधारी ( इन्द्र ) के प्रति अन्तः स्थित इस  
परम तीव्र अपराध का मार्जन मैं पातिव्रतनियमों द्वारा करूँगी ।

टिप्पणी—इमयतो को बार बार यह वरण विषयक बातें मली नहीं लग  
रही थीं, अतः उसने इन्द्र की दूती को इन्द्र के चरणों की ह्रीं सौगंध देकर पुनः  
कुछ कहने से निवारित किया । इन्द्र वज्रधारी है, दंड देने वाला । वह

अपनी अवज्ञा करने वालों पर क्रुद्ध हो उन्हें बज्र से प्रताडित कर सकता है 'वज्रिणि' शब्द का प्रयोग यही द्योतन करता है। किंतु इस परम दुःसह अपराध को करती दमयंती निर्भय है। उसे विश्वास है कि वह अपने पातिव्रत के बल पर इंद्र को दण्ड देने से विरत कर सकेगी।

नारायण ने चतुर्थ चरण का पाठांतर 'अन्तर्वरं वज्रिणि माजितामि' दिया है। उनकी 'प्रकाश'—व्याख्या है—'अन्तर्वरं वरस्य नलस्य अतमध्ये वज्रिणि राज्ञो लोकपालाद्यत्वेन नले स्थित इन्द्र इति।' अर्थात् दमयंती के घर नल के मध्य उस राजा के लोकपालाद्य होने के कारण स्थित इन्द्र को वह सतीव्रत से मना लेगी। विद्याधर के अनुसार छेजानुप्राप ॥ ११० ॥

इत्थं पुनर्वागवकाशनाशाग्महेन्द्रद्रूत्यामवयातवत्याम् ।

विवेश लाल हृदय नलस्य जीव पुनः क्षीबमिव प्रबोध ॥ १११ ॥

जीवातु—इत्यमिति । द्रव्यमुक्तप्रकारेण पुनर्वागवकाशनागात् भूयोवचनावकाशनिवृत्ते । इन्द्रद्रूत्यामवयातवत्या गताया नलस्य जीवाऽन्तरात्मा रोल चलाचला हृदय क्षीव मत्तम् । 'मत्ते क्षीणोत्कटक्षीवा' इत्यमरः । 'क्षीवु मद' इति बायो कर्तरि क्त । 'अनुपमगात् फुल्लक्षीववृक्षोम्लाघा' इति निपातनात् साधु । प्रबोधो विवेक इव पुनर्विवेश पुनर्जन इवाभूत् । तदा विशाश्वास उच्छ्वासो वेत्यर्थः ॥ १११ ॥

अन्वय — इत्थं पुन वागवकाशनाशात् इन्द्रद्रूत्याम् अवयातवत्या नलस्य जीव रोल हृदय क्षीव प्रबोध इव पुन विवेश ।

हिन्दी—इस प्रकार पुन कुछ कहने का अवसर समाप्त हो जाने से इंद्र की दूती के चले जाने पर नल का प्राण उसके चंचल चित्त में पुन प्रविष्ट हुआ जैसे कि मत्तवाले पुरुष में विवेक लौट आता है ।

टिप्पणी—देव दूतियों के प्रस्ताव और उन पर विवेचन नल के हृदय का मत्त पुरुष के चित्त के सदृश चंचल कर रहे थे । जब निराश हो सब दूतियाँ चली गयी—विशेषतः इंद्रदूती, सब नल की वह चंचलता दूर हुई । उसे लगा कि उसके प्राण पुन लौट आये । उसकी विनष्टशय विचारणाशक्ति पुन लौटी । विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और उपमा ॥ १११ ॥

श्रवणपुटयुगेन स्वेन साधूपनीतं दिग्धिपकृपयात्तादीदृश सन्निधानात् ।  
अलभत मधुबालारागवानुत्थमित्य निषधजनपदेन्द्र पातुमानन्दसान्द्रः ॥

जीवानु—श्रवणेति । निषधाना वनपदानाम्, इन्द्रो नन्वे दिग्धिनानाम्, इन्द्रादीना कृपया तिरोधानशक्तमनुग्रहस्य वा अत्तात् प्राप्तादीदृश सन्निधानाद-  
प्रकाशनादिभ्याम् स्वेन स्वकीयेन श्रवणमुदमुनेन साधुसनीतिनपितमिष्यमुत्त-  
रोन्मा वाग्या नैम्या रागवाग्य अनुग्राहचनेन्य उन्मा यम्य उत्तमुय नमु  
द्यौः, श्रवामृतमिष्यम् । आनन्दसान्द्र सुननय ननु पानुमलमत तन्मार्गं तन्म-  
वानिष्यम् । 'शक्ररूप' इत्यादिना तुमुन् प्रत्यय ॥ ११० ॥

अन्वयः—निषधवनपदेष्ट दिग्विहृत्या अत्तात् ईदृश सन्निधानान्  
स्वेन श्रवणमुदमुनेन साधु उन्नोतम् इष्य बाह्यरागवाग्य मधु आनन्दसान्द्र  
पानुम् नलनत ।

हिन्दी—निषध नामक जंगल के टुकड़े ( राधा नन् ) ने दिग्बालों को  
कृपा में प्राप्त इस प्रकार के ( अदृष्ट रहने के कारण प्राप्त ) सन्निध्य के कारण  
अपने कृपा-पान-धुआँ-द्वारा भली भाँति लाया गया । इस प्रकार के ( अतुल्य )  
वाग्य ( दमयन्ती ) के प्रभावचक्रों में उन्मत्त मधु आनन्द से परिपूर्ण होकर  
पीने को मिला ।

टिप्पणी—कह की स्थिति भी कभी हृदय का कारण बन जाती है । नन्  
को अपनी प्रिया के प्रति अन्ध का प्रेम-नद-हर बनने का निहृष्ट, अपमाना-  
स्पद और कहकर कार्य मिला था, किन्तु उसी के निमित्त उसे स्वेच्छया अदृश्य  
होने की समझ मिली थी, जिससे अदृश्य रहते हुए उसने सब-कुछ देखा-  
सुना । मृगा, वाग्य प्राप्ति के अनुराग-वचन—प्रमदस्वीकृति उसी के मुख  
से कीर्त प्रेमी मुन सके, यह प्रेमी के लिए किस मधु से न्यून है ? नल ने  
अपने कृपाशत्रुओं में टाक कर लाया ऐसा मनु आनन्द से छककर पीने का अवसर  
पाया । विद्याकर के अनुसार जनुप्राप्त-रूपक का चक्र । मात्तिनी छद ॥ १११ ॥

श्रीहर्ष कविगजरात्रिमुकुटान्दुहाहोर मुन

श्रीहर्षः मुपुवे जितेन्द्रियधम मामल्यदेवो च यम् ।

पष्ट खण्डनखण्डनोर्जि मृज्जान् क्षोदसमे तन्महा-

कात्र्ये चार्धजि नैषधीयचरिते सर्गोऽगमद् भान्वरः ॥ ११२ ॥

जीवानु—श्रीहर्षेति । श्रीहर्षमिष्यादि मुषमम् । सहजान् क्षोदरान्,  
समानवर्तुतादिष्यम् । खण्डनखण्डन खण्डनखण्डनान् प्रथात् । यद्वा खण्डन

नाम ग्रन्थ । तदेव खण्ड इक्षुविकार । 'स्यात् खण्डश्चकले चेषुविकारमणि-  
दोषयो.' इति विश्व । ततस्तस्मादपि शोदक्षमे सघर्षणसहे ॥ सर्गं अगमत्  
समाप्त इत्यर्थं ॥ ११३ ॥

इति मल्लिनाथसूरिविरचिते 'जीवातु'समाख्याने षष्ठ सर्गं समाप्त ॥६॥

—०—

अन्वय — श्रीहर्षं च यम् ( पुत्रवत् ) । सहजात खण्डन-  
खण्डत अपि शोदक्षमे तन्महाकाव्ये धारणि नैपघोषचरिते भास्वर षष्ठ सर्ग  
अगमत् ।

हिन्दी—पूजाई का अर्थ पहिले के समान । सहजात ( सोदर, एक ही  
द्वारा रचित, समानकृतक ) 'खण्डन खण्ड' ( ग्रन्थ ) से भी उसी प्रकार सरस  
और विचारयोग्य ( जैसी कि इसु विकार घिसी धर्करा सरस होती है ) उस  
( श्रीहर्ष ) के महाकाव्य, मनोरम 'नैपघोषचरित' मे उज्ज्वल छठा सर्ग समाप्त ।

टिप्पणी—श्रीहर्ष ने 'खण्डनखण्डताय' नामक ग्रन्थ रचा था, इसका  
संकेत । नारायण पंडित के अनुसार इस सर्ग मे धर्मशास्त्रानुसारी दूतगुण  
कहे गये हैं ॥ ११३ ॥

'नैपघोषचरित' का षष्ठ सर्ग समाप्त ।

—०—



# नैषवीयचरितम्

## सप्तमः सर्गः

अथ प्रियासादनसौलगादी मनोरथः पल्लवितरिवर यः ।

विलोकनेनैव स राजपुत्र्याः परमा मय पूर्णवदभ्यमानि ॥ १ ॥

जौवानु-अपेति । अथ इन्द्रहरीचननानन्तरम् । नृपः परमा मलेन, 'पति-  
स्नानात् एव' इति निननावनमासे विलुप्राप्तावात् विकार्यडिमाव, प्रियाया  
दनपन्त्या, आलाइनं प्राप्ति, शीघ्रन परिषिति, तदादी विषये जादिरुन्दा-  
दास्तेषादिसङ्ग्रहः । ओ मनोरथः चिर चिरात्प्रवृत्ति पल्लवित- सुञ्जातपल्लवः,  
स मनोरथो राजपुत्र्या विलोकनेनैव पूर्णवत् पल्लववदभ्यमानि अभिमेने । तथा  
मनन्देत्थयं । मन्यतेः कर्मणि लुङ् ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ प्रियासादनसौलगादी य मनोरथः चिर पल्लवितः । मुख-  
परमा स राजपुत्र्या विलोकनेन एव पूर्णवत् अभ्यमानि ।

हिन्दी—इनके ( दूतियों के निराकरण के ) अनन्तर प्रिया ( दनपन्ती )  
की प्राप्ति और परिषय आदि के विषय में ओ आकाश चिरकाय से पल्लवित  
हुई थी ( मन में उठ रही थी ), बरती के स्वामी ( नर ) द्वारा वह राजपुत्री  
( दनपन्ती ) को देख लेने से ही पूर्ण-वैसी मान ली गयी ।

टिप्पणी—राजा नर ने बहुत दिनों से सोचा-विचार था कि दनपन्ती  
कैसी होगी, कैसे वह प्राप्त हो सकेगी, उसका निष्ठन कितना आनन्द-दायक  
होगा—आदि-आदि ? अब जब उसने प्रसन्न राज दनपन्ती को निहार, तो  
उसे लगा कि जैसे उसका चिर पल्लवित ऊनीह छानमय पूर्ण हो गया । नाव  
यह कि दनपन्ती को प्रसन्न कर लेने मात्र से नर को प्राप्ति सरल आनन्द  
मित्र गया । नर दर्शनमात्र से हृयं से पूर्ण हो गया, इससे मनोरथ ( कार्य )  
के महत्त्व तथा दनपन्ती-अवलोकन ( कारण ) के अन्वय में विरोध का हर्षा-  
धिकन के कारण समाधान हो गया—अतः विद्याधर ने इस श्लोक में विष-

मोपमालकार का निर्देश किया है। विद्याधर ने यह भी बताया है कि इस सर्ग में कुछ श्लोको में उपेन्द्रवज्रा और कुछ में इन्द्रवज्रा छंद है। इस श्लोक में उज्जाति छंद है ॥ १ ॥

प्रतिप्रतीकं प्रथमं प्रियायामथान्तरानन्दसुधासमुद्रे ।

तत्र प्रमोदाश्रुपरम्पराया ममज्जतस्नस्य दृशी नृपस्य ॥ २ ॥

जीवातु—प्रतीति । तस्य नृपस्य दृशी नेत्रे प्रथमं प्रियाया भूम्या, तत्रापि प्रतिप्रतीकं प्रत्यक्षं ममज्जतुं सामवयवसो दक्षिण्यर्थं । अथ तदनन्तरं अन्तःप्रतीकं य आनन्दसुधासमुद्रं तस्मिन् ममज्जतुं दर्शनफलमानन्दं अनुबभूव तु रित्यर्थं । करणे कर्तृत्वोपधार । तत्र प्रमोदाश्रुपरम्परायामानन्दवाप्सप्रवाहे ममज्जतु । अत्र द्रूपस्यैकस्याधेयस्य क्मातिप्रभावयथाद्यनेकाधारवृत्तित्वव्यपत्तात् पर्यायालङ्कारभेदः । 'क्रमेणैकमनेकस्मिन्नाधारे वर्तते यदि । एकस्मिन्नर्थवानेक पर्यायालङ्कृतिर्दिष्टा' । इति लक्षणात् ॥ २ ॥

अन्वयः—तस्य नृपस्य दृशी प्रथमं प्रियाया प्रतिप्रतीकम्, अथ आन्तरानन्दसुधासमुद्रे ( अन्तः आनन्दसुधासमुद्रे वा ), तत्र प्रमोदाश्रुपरम्पराया ममज्जतु ।

हिन्दी—उस राजा ( नल ) के नेत्र पहिले प्रिया के प्रत्यक्ष, तदनन्तर अन्तस् में उत्पन्न आनन्दामृत के समुद्र में और तरङ्गचातुर्हर्ष के आसुओं में मग्न हो गये ।

टिप्पणी—भाव यह कि दमयती के सर्वांगमुन्दर रूप को देख कर नल को क्षीम आनन्द प्राप्त हुआ । पहिले नल के नेत्र अग अग के शौच्य में निमग्न हुए, उससे उत्पन्न आनन्द के सुधा सागर में मग्न हुए और उससे हर्षासुओं ॥ पूरा हो गये । त्रिक विवरण । इस श्लोक में आधेय एक है—नेत्र और उसकी प्रियावयवादि अनेक आधारों में स्थिति वर्णित है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार यही पर्याय अलङ्कार का एक भेद है । पर्याय दो प्रकार का होता है—( १ ) वही एक आधेय की अनेक आधारों में स्थिति, ( २ ) वही अनेक आधेयों की एक आधार में स्थिति । यही उपेन्द्रवज्रा छंद है—एक जगण ( १५ ), एक सगण ( ५५ ), एक जगण ( १५ ), दो गुरु ( ५५ ) ॥ २ ॥

ब्रह्माद्वयन्यान्वभवत्प्रमाद रोमाग्र एवाग्रनिरीक्षितेऽप्या ।

ययोचिनीन्य नदस्येदृष्ट्यावय स्मराद्वैतमुद तथासौ ॥ ३ ॥

जीवानु—ब्रह्मेति । असौ नर , अस्या नैम्या , रोमाग्र एव रोमाग्रमात्रे  
अग्रे प्रथम निरीक्षिते दृष्टे सति यथा ब्रह्मवाङ्मयमद्वितीय वस्तु तस्य प्रमोद  
रूपानन्दमन्वभवदियम् । आनन्दस्य ब्रह्मभेदेऽप्युपचारादभेदव्यपदेश । अथाऽ-  
ग्रदर्शनान्तर तस्य रोमाग्र जमेयदृष्टौ दृष्टमदर्थने सति, द्वयोर्भावो द्वितीया, द्वित्व  
द्वैतम् । प्रनादित्वात् स्वायेंगु प्रत्ययः । तद्वहितमद्वैत स्मर एकाद्वैतमद्वितीय  
वस्तु तस्य मुदमन्वभवत् । अत्र ब्रह्मानन्दात् स्मरानन्दाधिक इति विवक्षितम् ।  
तथा रोमाग्रि रोमाग्रादधिक, तत्र यथाप्यदर्थनादप्यानन्दः, अधिकदर्शनाद-  
पिहानन्द इतियथा तथा—दार्ढ्यं , इत्यर्माचिती कारणानुक्त्य कार्यजनोचित-  
मेवेत्यर्थम् । अत्र ब्रह्मानन्दस्मरानन्दयोरेकस्मिन्नेव जमेय वृत्तिकथनात् 'एक-  
स्मिन्तथवानेकम्' इत्युक्तजगो द्वितीयः पर्यायालङ्कारभेद ॥ ३ ॥

अन्वय—असौ अस्या रोमाग्रे एव अग्रनिरीक्षिते ब्रह्माद्वयस्य प्रमोदम्  
अन्वभवत्, अथ इत्य तद्वेपदृष्टौ यथा औचिती तथा स्मराद्वैतमुम् ।

हिन्दी—इस ( नर ) ने उस ( दमयन्ती ) के रोमाग्र को ही प्रथम देखने  
पर ब्रह्म-एकता के आनन्द का अनुभव किया, तत्पश्चात् उसी क्रम में उस  
( दमयन्ती ) को सङ्ग्राह देखने पर यथोचित प्रकार से मुदम ऐव का  
अनुभव किया ।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती को योश सा भी देखते ही, रोमाग्र-  
मात्र निहायते नर को ऐसे आनन्द का अनुभव हुआ, जैसा कि योगिजन ब्रह्म से  
अद्वैतभाव होने पर—ब्रह्म से अनिन्ता स्थापित होने पर अनुभव करते हैं ।  
तदनन्तर जब नर ने अग्रेष-पूर्व दमयन्ती से दत्ता तब मदनानन्द का अनुभव  
पाया । दमयन्ती को सङ्ग भाव से देखने पर नर मदनानन्द में निमग्नित  
हो गया । योश-ना भाग देखने पर ब्रह्मानन्द मिला, पूरा देखने पर मदन-  
नन्द । इसमें धोखित होता है कि ब्रह्मानन्द को अपेक्षा मदनानन्द बृहत् है ।  
मन्थिनाथ ने तृतीय-चतुर्थ चरण का अन्वयातर करके अर्थ किया है कि रोमाग्र  
देखने पर ब्रह्मानन्द का अनुभव किया अग्रेष ( दमयन्ती ) का देख कर स्मरा-  
नन्द का । इस प्रकार उचित हुआ—धारण के अनुक्त्य काय ना जम । यहाँ

इहानन्द और मनोरमा—दोनों की एक ने ही इन से विद्वान्ता नहीं गयी है, अतः मन्दिनाप के अनुसार द्वितीय प्रकार का पर्यायकार है। विद्वान्तर के अनुसार विषय और वस्तुकार। उपरान्ति छंद ॥ ३ ॥

वेणुमन्त्रिक्यं चिरं मुकुन्दोराग्रेष्पोदुषमेन तस्याः ।

नम्य रागान्मुनिषी विवृढे तुङ्गी कृषावाधयति स्म दृष्टिः ॥ ४ ॥

जोषानु—वेणुमन्त्रि । नम्य दृष्टि तस्या मुकुन्दोराग्रेष्पोदुषमेन ।

‘आनेनी ददंनोती’ इत्यनन्तः । अ एषीपुषममृत तस्य रसेन स्वादेन, राग-  
मुनिषी अनुपातदूरे पृथु महती वेणु काष्ठ मर्मांश च । ‘वेणु काष्ठमर्मांशपोरि’  
इति विश्व । अत्रिक्रम्य विवृढे प्रवृद्धे सति तुङ्गी कृषावाधयति स्म । मुकुन्दा  
दृष्टि रागवशात्पुत्रस्य परांतन्मयं । अत्र दृष्टिदिग्दर्शनाभावात्तन्मयं सन्तु-  
ष्टो प्रमदमन्मदादुष्पेधाधमदनप्रतीते समासीद्विद्वद्भारः । नेन चाप्यि-  
मन्मदनमपादिषेत्तुर्लसा मन्मद इत्यन्वयार्थमाहवाग्धनि ॥ ४ ॥

अन्वयः—नम्य दृष्टि तस्या मुकुन्दो आलोक्षणीपुष्पमेन रागान्मुनिषी  
चिर वेणुम् अत्रिक्रम्य विवृढे तुङ्गी कृषी वाधयति स्म ।

हिन्दी—नल की दृष्टि ने कव ( दमयंती ) के मुखचन्द्र के ददंनमृत रस  
के कारण वही मर्मांश का अत्रिक्रम्य रूप अनुपाद-भावात् के प्रवृद्ध हो जाने  
पर उत्पन्न कृषी का वाधन किया ।

टिप्पणी—दमयंती के प्रपन्न का निरीक्षण करती नल की दृष्टि स्वाभाविक  
रूप में उसके उत्तुंग कृष्णमुखों पर उत्पन्न होती और नल प्रिया के अनुपात में  
और भी मग्न होन लगी । इसी भाव पर कवि ने कल्पना की है उस व्यक्ति  
की, जो मन्दिर में स्नान कर रहा है कि पूर्ण शरीर स्नान के कारण समुद्र में  
ज्वार का बढ़ना है और समुद्र का जल हमकी दिशाएँ लटकी की धारा का  
उत्पन्न रूप का बढ़ने लगा है । मुख की दृष्टि में वह व्यक्ति जैसे मन्दिर का  
वाधन में लगी है । यही दमयंती का मुख चन्द्र है, जिसके दर्शन में नल ने  
अनुपात का भाव में ज्वार का बढ़ना और वह इतना प्रवृद्ध हुआ कि नल  
इस मन्दिर का भी उत्पन्न रूप बन गया कि वह दमयंती के पास एक अनुपात  
के कारण नहीं, उत्तुंग के रूप में है । दमयंती का का निहायने इसके नेत्र-

जैसे डूबने से बचने के लिए ऊँचे स्थान ऊँचे कुच्चों को आश्रय लेने लग गये । मल्लिनाथ ने निर्देश किया है कि इस श्लोक में दृष्टि के विशेषण की सम्पन्न के कारण चन्द्रोदय से समुद्र में वृद्धि हो जाने पर डूब जाने से बचने के लिए ( कुच रूप ) ऊँचे स्थान की प्रतीति होती है जो समामोक्ति अलंकार है । उनमें इस उत्प्रेक्षा की व्यवस्था होती है कि दृष्टि समुद्र में डूबने के डर से भाग कर ऊँचे स्थान पर पहुँच गयी है । इस प्रकार अलंकार दशनि है । विद्याधर के अनुसार श्लेषरूपकातिशयोक्ति अलंकार है ॥ ४ ॥

मग्ना सुधाया किमु तन्मुखेन्दोऽनग्ना न्यिता तत्कुचया किमन्त ।

चिरेण तन्मध्यममुच्चतान्य दृष्टिः कशीयः स्तब्धनाद्भिया नु ॥ ५ ॥

जीवानु—मग्नेति । अस्य नलस्य दृष्टिस्तस्या भेद्या मुखे दोस्सुधाया मग्ना किमु, तत्कुचयोरन्तरमन्तरे च लग्ना न्यिता किम् । उभयत्राप्ययथा कथं तावान् विलम्ब इति भावः । किंच कशीयः कृशतरं तन्मध्यं कर्म स्तब्धनाद्भिया नु मयेन किम् । चिरेणामुच्चत । रज्जुमन्धारिवदिति भावः । उत्प्रेक्षाप्रयत्नं सजातीयस्य समृष्टिः ॥ ५ ॥

अन्वयः—अस्य दृष्टिः तन्मुखेन्दो सुधाया मग्ना, तत्कुचयो अन्तः लग्ना किमु, ( मग् ) कशीयः तन्मध्यं स्तब्धनाद् भिया नु चिरेण अमुच्चत ।

हिन्दी—इस ( नल ) की दृष्टि उस ( दमयती ) के मुखचन्द्र के अमृत में मग्न हो गयी थी क्या ? ( अथवा उसके मुखचन्द्र की सुधा में मीग कर ) उस ( दमयती ) के कुछ युगल में बिपक गयी थी क्या कि उस ( दमयती ) के पतले मध्य भाग को मानी गिरने के डर से विलम्ब से छोड़ा ?

टिप्पणी—नल दमयती के मुख, कृच युगल और मध्यभाग ( कटि ) के सौन्दर्य से अभिभूत हो देर तक देखते रहे । इन पर ये कल्पनाएँ हैं कि नल की दृष्टि मुखचन्द्रमुखा में मग्न हो गयी, कुच्चों पर ठहर गयी, और कटि पर देर तक टिकी रही कि कहीं पतली, सँकरी ढंगर से फिसल कर गिर न जाय ? मल्लिनाथ के अनुसार तीन सजातीय उत्प्रेक्षाओं की समृष्टि है, विद्याधर ने उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है ॥ ५ ॥

प्रियाङ्गुपान्या कुचयोनिवृत्य निवृत्य लोला नलदृग्भ्रमन्ती ।

बभौतमा त मृगनाभिलेपनमसमामादिनदिग्भ्रमेव ॥ ६ ॥

टिप्पणी—वसस्थल, नितम्ब और लघु युगल को देखकर क्रमशः नल की दृष्टि दमयती के चरणों की देखने लगी। 'नेत्र' शब्द अनेकार्थ है। यहाँ उसके दो अर्थ अभिप्रेत हैं—(१) वस्त्र, (२) नयन। इसी आधार पर चमत्कार लाया गया है। नल की वक्ष, नितम्ब, ऊरु और तदनन्तर चरणों पर पड़ती दृष्टि जैसे दमयती के चरणों पर गिर कर प्रार्थना कर रही है कि 'वास' ( वस्त्र ) को ही 'नेत्र' नहीं कहा जाता, 'दृष्टि' को भी 'नेत्र' कहा जाता है। ऐसा भी क्या पक्षपात कि एक 'नेत्र' ( वस्त्र ) पर दो ऐसी दया कि उसे वस्त्र, नितम्ब और ऊरुयुगल पर आलिंगित कर दिया गया है ( दमयती स्वभावतः अपने अंगों को दुकूल आदि वस्त्रों से ढके थी ) और दूसरे 'नेत्र' ( दृष्टि ) का ऐसा तिरस्कार कि उसे दूर किये हो ? जब एक 'नेत्र' को इन अवबोधों का आलिंगन दिये हुए हो, तो दूसरे को मत तरसाओ, कृपया उसे भी आलिंगन के कृतार्थ करो। उत्प्रेक्षा नलहार ॥ ८ ॥

दृशोऽशकाममथोपहृत्य ॥ प्रेयसीमालिकुलं च तस्याः ।

इदं प्रमोदाद्भुतमम्भूतेन महामहन्द्वा मनसा जगाद ॥ ९ ॥

जीवान्-इतिरिति । अथ महीमहेन्द्रस्य मलो रसो स्वाक्ष्णी प्रेयसी भैमी, तस्या आलिकुलं सखीवर्गं च यथाकाममुपवृत्त्योपहारीकृत्य यथेच्छं हृद्देवत्यं । प्रमोदाद्भुताभ्यामानन्दविस्मयाभ्यां संभृतेन पूर्णेन मनसा इदं वक्ष्यमाणं जगाद स्वगतमुवाचेत्यर्थः ॥ ९ ॥

अन्वयः—अथ स महीमहेन्द्र प्रेयसी तस्या आलिकुलं च दृष्ट्वा यथा-  
कामम् उपहृत्य प्रमोदाद्भुतसंभृतेन मनसा इदं जगाद ।

हिन्दी—इसके पश्चात् वह पृथ्वी का इन्द्र ( नल ) प्रिया ( दमयती ) और उसके सखी समूह को जी भर कर नेत्रों का उपहार बना आनन्द और विस्मय से पूर्ण हो मन ही मन यह कहने लगा ।

टिप्पणी—भाव यह कि नल ने यथेच्छ रूप से दमयती और उसकी सखियों को जी भर कर देखा। उस अद्भुत सौन्दर्य-भावर को निहार कर न केवल नल की प्रचुर हृत्पुष्पा, प्रत्युत आश्चर्य भी हुआ। ऐसा जगद्-विस्मयकारी सौन्दर्य एकत्र। वह मन में तरह तरह से विचार करने लगा ॥ ९ ॥

पदे विधानुयंदि मन्मथो वा ममानिपिच्येन मनोरथो वा ।

तदा घटेतापि न वा नदेनप्रतिप्रगीकाद्रुतकृपित्यम् ॥ १० ॥

जीवातु-पद इति । विधानु पदे द्रष्टाः स्थाने, मन्मथो वा मम मनोरथो वा अनिपिच्येत यदि तदा तत्रनिद्रम् एतत् पुनरेति प्रतिप्रगीत प्रदवपवम् अद्भुत कृपित्यम् आकारनिर्मात घटेतापि न वा घटेत, तामननानि निर्मातु-मगत्रय किमुन दह्यतेत्यर्थः । अत्र नैमीकरिण्यस्य प्रसिद्धब्रह्मन्वर्षेऽप्यसम्भ-वो-कतेस्तथा ममयासनम्ब घेऽपि सम्भावनया तन्मन्वर्षाक्रेष्टन, स्मृतानिस्मो-त्तिभेदो ॥ १० ॥

अन्वयः—यदि विधानु पदे मन्मथ मम मनोरथ वा अनिपिच्येत, तदा यदि तत् एतत् प्रतिप्रगीकाद्रुतकृपित्य घटेत न वा ।

हिन्दी— यदि मृष्टिकर्ता ( ब्रह्मा ) के पद पर काम अवका मेरे मनोरथ का अनियेक हो जाय तो भी वह ( अद्भुत ) वह ( समुत्प्लवित ) प्रत्येक जग के विम्वपकारी रूप-भाव-से युक्त दिव्य रचा वा मर्क अवका न भी रचा जा सके ?

टिप्पणी—अद्भुत और मन्मथोन्मोहम रूपराशि को देखकर हृदयस्वर्ग से पूर्ण नष्ट विचारने लगा कि ऐसा रूप क्या ब्रह्मा रच सकता है, जिसने मूर्त मृष्टि बनायी है ? समझ है कि मृष्टिकर्ता स्वयं काम बन जाय अवका मेरा मनोरथ ही ऐसा स्थान या मर्क हो ऐसी मन्मथमुन्दर रचना हो मर्क, कदाचित् तब भी न हो सके ? ऐसा सोच्यं तो बनी दया नहीं गया । ऐसे दिव्य को रचना न तो ब्रह्मा से ही समभव है, न तो ब्रह्मा से ही समभव है, न मनोमव मे, न मनोरथ से । इस लोक में नैमी का दिव्य के प्रसिद्ध ब्रह्मा से मन्मथ होने पर भी प्रसन्नप कहा गया और मन्मथ आदि मे अवका होने पर भी सम-वना के द्वारा मन्मथ बनाया गया, अतः मन्मथायके अतिशयोक्ति के दो नेद हैं । छन्द उपेन्द्रवयः है ॥ १० ॥

तरङ्गिणी भूमिभूत प्रभूता जानामि शृगाररम्य सेतुम् ।

लावण्यपूरज्जनि योवनेन यस्या तयोच्चैस्तनत्रावनेन ॥ ११ ॥

जीवातु—तरङ्गिणीति । सेतुं दमयन्ती भूमिभूतो भीमभूतवृक्ष भूत-दिति शिष्टम् । नुव प्रभव इत्यतस्तनत्रावत्यर्थः । प्रभूता मन्भूता ।

जीवानु—पुरेति । विधातु स्रष्टु, पुराकृति पूर्वसृष्टि तत्र स्तंभ स्त्री समूह पूर्वा स्त्रीसृष्टिरित्यर्थः । इमा भूमी विधातु स्रष्टु हस्तलेख अभूत् सत् । लेखनाभ्यासिभिर्हस्तकौशलार्थमेव यत्लिख्यते स हस्तलेख, तादृशीयमिति निर्णयः । नानुप्राणिता पूर्वसृष्टिभूमीनिर्माणार्थम्यासरूपत्वोत्प्रेक्षा । किं च येय भाविनीना पुरन्ध्रीणामृष्टि सा अस्य भूम्यंतासा पुरन्ध्रीणा जयेन जात तज्जयजयशो प्रदातुमिति फलोत्प्रेक्षा ॥ १५ ॥

अन्वयः—पुराकृति स्तंभम् इमा विधातु विधातु हस्तलेख अभूत् सत्, या इय भवद्भावपुरन्ध्रसृष्टि सा अस्य तज्जयजय यत् प्रदातुम् ।

हिन्दी—पहिले रचा हुआ स्त्री समूह इस ( दमयन्ती ) की रचना के निमित्त विधाता का निश्चयतः प्रथम अभ्यास था, और जो यह विद्यमान और भविष्य में रची जानी नारियों की रचना है, वह इस ( दमयन्ती ) की उन ( सुन्दरियों ) को जीतने से उत्पन्न कीति देने के निमित्त है ।

टिप्पणी—साव यह है कि दमयन्ती के समान न तो पहिले ही कही कोई सुन्दरी रची गयी और न दमयन्ती के समय में ही और न भविष्यत् में होगी । पहिले जो उर्वशी, रम्भा आदि की विधाता ने अपनी पत्नी को निखारने के प्रथम प्रयास के लिए रचा था और वह जो वर्तमान-भविष्यत् की नागरिकाओं की रचना है वह इसलिए है कि यह प्रचारित हो सके कि दमयन्ती का सौन्दर्य अप्रतिम है, विशाल न थी, और विधाता की यह सदा-सर्वदा की उत्कृष्ट कृति है । मल्लिनाथ ने फलोत्प्रेक्षा का उल्लेख किया है और विधातर ने उत्प्रेक्षा का ॥

भव्यानि हानोरगुरेनदङ्गात् यथा यथानति तथा तथा तै ।

कस्याधिकम्योपमयोपमाता दाता प्रतिष्ठां स्वतु तेभ्य एव ॥ १६ ॥

जीवानु—भव्यानीनि । भव्यानि रम्याणि चन्द्राद्युपमातवन्तूनि, एतस्या भूम्या, अङ्गात् मुलादेयया यथा हानीरूपवर्णम् 'ग्लाङ्गाजहानिम्यो निर्बन्धय' इति जहाते स्त्रिया मिप्रत्यय वितनाऽऽवाद । अगुरयमम्, 'इणो गा सुटि' इति गादेरे 'गाति स्या' इत्यादिना तिष्ठो लुट् । 'आत' इति ङेरुसादेशः । तथा तथा तैश्चन्द्राद्युपमानैरुति ह्यर्पितृत्य कृतमित्यर्थः । नन्वपवर्णे कथं हर्षं ? तथाह—उपमाता कवि 'मातेर्माहि वा तून्' । अधिकम्योत्कृष्टस्यास्य भूम्यङ्ग-स्योपमया उपमानीकरणेन । अथ वा गत्व तत्राभावात् तत्र सुलनया तपामेनोप-



मानीकरणेनेत्यर्थः । तेन्यञ्जनादिभ्य एव प्रतिष्ठा दाता इत्यति । ददातेल्लुट् ।  
तथा च यथा कथञ्चित् प्रतिष्ठाच्छुद्धिरे उभेयत्वेन वा, उभययामुपमानत्वेन वा  
कविप्रसादाच्चन्द्रादीना पुन प्रतिष्ठा भविष्यति इत्यनर्थात्यर्थः ॥ १८ ॥

अन्वय—एतदङ्गान् नव्यानि मया यथा हानी अभु तथा तथा तं बनति,  
अधिकस्य अथ उपमया उपमाता तेभ्य एव प्रतिष्ठा दाता खलु ।

हिन्दी—इन ( दमयन्ती ) के अग ( मृच्छादि ) से रमणीय ( चन्द्रनादि  
उपमान ) जैसे-जैसे हानि ( अरुण ) पाते गये वैसे वैसे वे नाचने लगे  
( प्रमत्त हुए ), क्योंकि विशिष्ट इस ( दमयन्ती-आ ) की उपमा से उपमा  
देने वाला ( रचयिता ) उन्हें ( उपमानों को ) ही प्रतिष्ठा निश्चयपूर्वक देगा ।

टिप्पणी—दमयन्ती के अग की उपमा देने में यद्यपि कविसमयसिद्ध  
उपमान हीन होने से उचित प्रमाणित नहीं हुए, तथापि अन्य उपमान कहाँ  
में लाये जायें ? और स्पष्टीकरण के लिए उपमा तो देनी होगी ही । इस  
दृष्टि से नले ही हीन प्रमाणित हों, नले ही असीति, अपमान और अवहेलना  
प्राप्त हो, उपमान तो वे प्रसिद्ध चन्द्रादि हो रहेंगे । सो इन चन्द्रादि उपमानों  
को दमयन्ती-अगों से उपमित होते हुए अग्रही ही मिला, फिर भी वे अत्यन्त  
प्रमत्त हुए । उन्हें लगा कि वे घब हुए कि कम से कम उन्हें अगने से अच्छा  
प्रतियोगी तो मिला । किसी न किसी रूप में अगने से अच्छे का उपमान बनने  
का सौभाग्य तो मिला अब तक तो हीन का ही उपमान बनने का दुर्भाग्य  
आता था । विद्याधर के अनुसार यही हानि-गमन-नर्तन-क्रिया-विरोध अलंकार  
है । चन्द्रकलाकार ने असंभव में संभव का वर्णन होने के आधार पर अति-  
शयोक्ति का उल्लेख किया है ॥ १९ ॥

नास्ति दृष्टावि विमोहिनेय दोषैरमेयै स्वभिनेति मन्ये ।

जन्मेनुनैराकुलिनस्तदस्या वस यसानल्यमुक्षी गुणीय ॥ १७ ॥

जीवानु-नेति । स्थानि विमोहिका दशनभावेनापि व्यामोहिनेय दमयन्ती  
अपेक्षार्थं स्वनिगा उन्माननिमोहियन्तीत्यामीयनयेनैव नास्ति न स्पृष्टेति  
मन्ये । उन्नेसा । मोरको हि भवहेतुन् स्पृष्टमेव विम्यतीति भावः । ततस्मात्  
दोषस्पर्शनावात् । अयेषु स्मन्तरेषु तैर्दोषैराकुलित पीडितो गुणोपोऽस्या

भैम्याममापत्येन अवष्टकत्वेन सुखी मन् वसति 'प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानामि'त्यपवादोऽस्यामेव दृष्ट इति भावः ॥ १७ ॥

अन्वय — दृष्टा अपि इय विमोहिता अक्षेयं दोषं, स्वप्नियान् न अस्याऽपि इति मन्ये, तद् अन्येषु सं आकुलिताः गुणोप- अस्याम् असापत्यसुखं वसति ।

हिन्दी—देखने मात्र से इस विमोहित ( आह्वित, बेसुध ) करनेवाली ( दमयन्ती ) को समस्त दोषों ने अपने ( बेसुध हो जाने के ) ही डर से नहीं छुआ—( मैं नल ) ऐसा मानता हूँ,—सो अन्य ( सुन्दरियों ) में उन ( दोषों ) से व्याकुल गुणसमूह इस ( दमयन्ती ) में अवैरिभाव का सुखानुभव करता बसता है ।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती के स्वरूप में, शरीर सौन्दर्य में एक भी दोष नहीं है और समस्त गुण हैं । दोषों की डर है कि दमयन्ती के पास पहुँचते ही वे बेसुध हो जायेंगे, क्योंकि उसकी तो देखते ही लोग विमोहित हो जाते हैं, छूने की तो बात क्या ? दोषाभाव ही गुण है—एसा एक विषय स्तव्या गुण । सो जब दोष पास तक नहीं फकटते, तो गुण दमयन्ती देह में निष्कटक भाव से प्रगटना-पूर्वक टिक गये । अन्यत्र तो दोष जब-तब उनकी सीमा में प्रविष्ट हो कट देते रहते थे—कसकित करते रहते थे । विद्याधर के अनुसार उपप्रेक्षा ॥ १७ ॥

ओजिष्ठ प्रियाङ्गुर्धूणयैव रुक्षा न वारिदुर्गात्तु वराटकस्य ।

न कण्टकैरावरणान्व वाग्निधूर्लीमृता काञ्चनकेतकस्य ॥ १८ ॥

जीवातु—ओज्जीति । प्रियाङ्गुर्ममीनात्र वराटकस्य बीजकोशस्य कमल-कणिवाया इत्ययं । 'बीजकोशो वराटक' इत्यमरः । रुक्षा पक्ष्वा कान्ति-घृणयैव रीक्ष्यजुगुप्तयैव ओजिष्ठ विमृष्टा । उज्ज विस्मये कर्मणि लुङ् । वारिदुर्गा-द्वारिदुर्गस्थत्वात् न । नि च काञ्चनकेतकस्य धूर्लीमिभृता पूर्णा वातिरोजिष्ठ रज कीर्णत्वादेवोज्जिता कण्टकैरावरणात् न । रीक्ष्यादिदोषदूषितत्वात् न ममी वायकान्तिसाम्यमहन्ति । महती तत्कायवातिरित्यर्थः ॥ १८ ॥

अन्वय — प्रियाङ्गु वराटकस्य रुक्षा कान्ति घृणया एव ओजिष्ठ वारि-दुर्गात् न, काञ्चनकेतकस्य च धूर्लीमृता कान्ति ( ओजिष्ठ ) कण्टकै-रावरणात् न ।

हिन्दी—प्रिया ( दमयन्ती ) के अर्गों ने कमलकनिका की रूखी काँति घृणा से ही छोड़ी, इसलिए नहीं कि वह जल के दुर्ग में रहती है, और सुवर्ण केतकी की काँति भूलि-भूरा होने से छोड़ी, कुछ काँटों के घेरे में घिरी रहने के कारण नहीं ।

टिप्पणी—कमलकनिका और केतकी का सुन्दर रंग शरीर-वर्ण के लिए अच्छा माना जाता है, किंतु दमयन्ती का शरीर-वर्ण कमलकनिका और केतक के रंग जैसा नहीं है । सब प्रश्न होता है कि क्यों दमयन्ती के शरीर ने ऐसा किया ? क्या इसलिए कि वह कमल की कनिका जल-दुर्ग में रहने से गूथीत नहीं हो सकती, और क्या केतकी पुष्प काँटों की बाढ़ में रक्षित है, इससे नहीं पाला जा सकता ? ऐसा नहीं है । कमलकनिका को जान-बूत कर, शक्ति होने पर भी इसलिए छोड़ दिया गया कि वह रूखी और कठोर है और केतकपुष्प की काँति पर भूल बन जाती है । ये दोनों इन-दोनों से अप्राप्त रहे । भाव यह है कि दमयन्ती की देहकाँति के समुच्च कमल-कनिका और केतकपुष्प—दोनों की, हीन अथवा अप्राप्त हैं । दमयन्ती की देहकाँति इन दोनों से अधिक लाभ्यक वर्ण की और स्निग्ध चिकनी थी । विचार के अनुसार उन्मेषा-दीपक अलंकार ॥ १८ ॥

प्रत्यङ्गमस्याममिकेन रसा कर्तुं मघोनेव निजास्त्रमस्ति ।

वज्रञ्च भूयामणिमूर्तिधारि नियोजित तत् द्युतिकामुं च ॥ १९ ॥

जीवानु-प्रत्यङ्गमिति । अस्या भूम्याम् । अमिकामयत इत्यमिकेन कामु-केन 'कमल कामनीऽनिक' इत्यमर । 'अनुकामिकामीक' कमपिता' इति निपातनात्साधु । मघोना इन्द्रेण प्रत्यङ्ग रसा कर्तुं नियोजित नियमित भूया-मणीना वज्रमणीना मूर्तिमाकार धारयतीति तद्वारि निजास्त्र वज्रं च तेषां मणीना द्युतय एव कामुकमपि धनुस्त्वन्तीव इन्द्रनियोगात् भूयामणितत्प्रभा-व्याजेन अवरोधरसायं वज्रायुध धनुश्च प्रत्यङ्गमावृत्य तिट्ठतीवेत्युन्मेषा ॥ १९ ॥

उन्मेष—अमिकेन मघोना प्रत्यङ्ग रसा कर्तुं भूयामणिमूर्तिधारि निजास्त्र वज्र तद्द्युतिकामुं च अस्या नियोजितम् इव अस्ति ।

हिन्दी—कामुक इन्द्र ने ( दमयन्ती ) के अण-अण की रसा करने के निमित्त आनूपर्णों में जड़ी मणियों ( वज्र-हीरा ) का रूप धारण किये अपने

अस्त्र वज्र और उस ( वज्रमणि ) की दमक रूप धनुष् ( वर्षा से सबध रखने वाले इन्द्र धनुष् ) को इस ( दमयन्ती ) के प्रति नियुक्त सा किया है ।

टिप्पणी—दमयन्ती हीरा ( वज्र ) आदि मणियों ॥ जड़े आभूषण पहिने है, जिनमें दमक और चमक है । कवि-कल्पना है ( नल ने विचार किया ) देवराज इन्द्र दमयन्ती का अमिलायी है, अतएव कहीं कुछ ऐसा न हो कि दमयन्ती का कोई अण दूषित हो जाय, इससे उसने मणियों के रूप में वज्र और उन मणियों से निकलती काति के रूप में सुरबाय को प्रहरी बना दिया है । मत्किनाय ने इस श्लोक में उद्वेग, नारायण ने वज्र शब्दश्रुति के द्वारा सहेतुकोरेशा और विद्याधर ने सापह्नुशोरेशा का निर्देश किया है ॥ १९ ॥

अभ्या. सपक्षैकविधो कचोघ स्याने मुखस्योपरि वासमाप ।

पक्षस्थतावद्बहुचन्द्रकोऽपि कलापिना येन जिन कलाप ॥ २० ॥

जीवानु—अयासगतमाप्तेदेवयत्थाश्चिह्नुरादिशदनखान्नवर्गनमारमने—  
अस्या इत्यादि । अस्या भ्रम्या कचोघ केशराज सपक्ष सस्य सुहृद्भूतसर्वैक एव विधुश्चन्द्रो यस्य तस्य सपक्षैकविधो 'तृतीयादिषु भाषितपुस्तक पुबद्गालव-  
स्य' इति वैकल्पिक पुबद्भाव । मुखस्योपरि वास स्थितिमाप, स्याने युक्तम् ।  
कृत येन कचोघेन पक्षस्या गदग्निरा स्ववर्ग्याश्च तावन्तो बहुवचन-द्रका ।  
मेवका चन्द्राश्च यस्य सोऽपि । 'समी चन्द्रकमेवकी' इत्यमर । चन्द्रपक्षे 'क्षेपा-  
द्विभाषा' इति कप् । कलापिना वट्टिणा कटापो वह्निं जित अनेकचन्द्रसहाय  
विजयिन एकचन्द्रविजयस्तदुपर्यवस्थान च किं चित्रमित्यर्थ ॥ २० ॥

अन्यथ—अस्या सपक्षैकविधो मुखस्य उपरि कचोघ स्याने वासम्  
आप, येन पक्षस्थतावद्बहुचन्द्रक कलापिना कलाप अपि जित ।

हिन्दी—इस ( दमयन्ती ) के—जिसका पक्षधर एकमात्र चन्द्रमा ही है  
( चन्द्रमा ), ऐसे मुख के ऊपर केशों के समूह ने उचित ही स्थिति प्राप्त की,  
जिसने पक्षों में लगे उतने बहुत से चन्द्रका में युक्त मयूरों के विच्छमार को  
जीत लिया है ।

टिप्पणी—दमयन्ती के मुख की तुलना यदि की जा सकती है, तो चन्द्र  
से ही । उसका अनेक आभूषणों से मण्डित केश बाल अनेक चन्द्रका से युक्त  
प्रगीत होता है, जिसने समस्त मयूरों के अनेकचन्द्रक मुख विच्छमार भी

नहीं ठहरते। केय धने हैं, उनसे कि बिजने मयुरनिच्छ नो नहीं हैं और चन्द्रकयुति अनेक आभूषण उनमें धुंये हैं, अतः वे मयुरनिच्छों से अधिक आकर्षक हैं। इस प्रकार जब अनेक चन्द्रकों को दमयन्ती-केशवमार ने पराजित कर रखा है, तो एक बंचारे चन्द्र (छुत्ताद्योतनार्थं चन्द्रक) की क्या गिनती? इसी कारण मुद्ररत्न में पराजित चन्द्र के ऊपर, सचम्पान शीर्ष पर विजयी केशवमारों को स्थान देकर विषाज्ञा ने युक्तियुक्त कार्य ही किया है। इस श्लोक से आरम्भ कर जन्मिन १०९ वें श्लोक तक दमयन्ती के केय से लेकर धरमनखों तक का वर्णन किया गया है—'इति स विदुषादारम्यंता नवावधि वर्णयत्' १' २०, २१, २२ वें श्लोकों में केशों का वर्णन है ॥ २० ॥

अन्या यदास्येन पुरस्मिरख निरम्बुनं शीतस्वान्धकारम् ।

स्फुटस्फुरद्भङ्गकचच्छलेन तदेव पश्चादिदमन्ति बद्धम् ॥ २१ ॥

जीवानु—अस्या इति । अन्या नैम्या आन्देनैव शीतस्वा मुखचन्द्रेण यदन्यकार तन । 'जम्बकारोमग्निरा ध्वान्तम्' इत्यमरः । पुरो अग्ने त्रिच्छ पार्श्वमोश्च त्रिरस्फुट तदङ्गकारमेवेद स्फुट स्फुरन् भङ्ग कौटिल्यं परावपस्व चेया तेषा क्चाना छलेन पश्चाद्बद्धमन्तीत्युन्नेक्षा । निरम्बुतो हि मन्तोत्ताहः क्वचिन्मृष्टमाने बद्धस्तिष्ठतीति भावः ॥ २१ ॥

अन्वयः—अस्या आन्देन शीतस्वा यद् अक्षकारं पुर त्रिः च त्रिरस्फुटम् तत् एव स्फुटस्फुरद्भङ्गकचच्छलेन इद पश्चात् बद्धम् ।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) मुख रूप शीत किरण (चन्द्र) ने जो जम्बकार आगे और इतर-उपर पार्श्वों में अन्तर्गमित किया, वही प्रकट विस्फुटित मन्तिना-मुक्त केशों के व्याघ्र से यह पीठे बांध दिया ।

टिप्पणी—दमयन्ती का केशवमार जन्मन्त इनाम और मन्तिनामुक्त (धुंधलाने) है बिजे पीठे जुड़े के रूप में समेट कर बांध दिया गया है और उसका मुख शीतकिरण चन्द्र के समान सुन्दर और शक्ति-मुक्तदायी है । कवि-कल्पना है कि मुख के रूप में चन्द्रना ने समुत्तमान और पार्श्वभागों से अक्षकार को हटाकर अन्तर्गमित और पराजित किया केशवमार रूप में उनी पराजित अक्षकार को पीछे बांध लिया गया है । त्रिरस्फुट और हस्तोत्ताह

वेचारा अन्धकार-वेशपाशरूप मे पीछे-बँधा पड़ा हुआ है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा है और विद्याधर के अनुसार रूपकापह्नुति। चन्द्रकलाकार ने रूपक नैतकापह्नुति-प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के अगागिभाव सकर का निर्देश किया है ॥ २१ ॥

अस्या कचाना शिखिनाञ्च किन्नु विधि कलापो विमतेरगाताम् ।

तेनायमेभिः किमपूजि पुष्पैरभस्ति दत्त्वा स किमर्धचन्द्रम् ॥२२॥

जीवातु-अस्या इति । अस्या भैम्या कचाना केशाना शिखिना बर्हिणश्च कलापो केशपाशवहंभारो । 'कलापो भूषणे बहूँ सूणीरे सहती कचे' इत्यमर । विमतेमियो विवादाद्विधिमगाता स्वतारतम्य प्रष्टुमगमता किं न । 'इणो गा लुङि' इति गादेच । तेन विधिना अय केशपाश एभिः पुष्पैरिति हस्तेन पुरोवर्तनिर्देश अपूजि किम् । महत् पूज्यत्वादिति भावः । स शिखिकलाप अर्धचन्द्र चन्द्रकलहस्त च दत्त्वा अभस्ति भस्ति स किं महाजनद्वेषिणो नीचस्य दास्यत्वादिति भावः । अर्धचन्द्रस्तु चन्द्रके कलहस्ते बाणभेदः इति विश्व । शिखिकलापस्य चन्द्रकवत्त्व केशपाशस्य तत्कुसुम ब्रह्मदत्त शाश्वतमिति भावः । अत्रोत्तरोत्प्रेक्षयोः प्रपमोत्प्रेक्षापेक्षत्वात् सजातीयसङ्करः ॥ २२ ॥

अन्वय —अस्या कचाना शिखिना च कलापो विमते विधिम् अगाता किन्तु, तेन अयम् एभिः पुष्पैः अपूजि किम्, स अर्धचन्द्र दत्त्वा अभस्ति किम् ?

हिन्दी—इस ( दमयन्ती ) के केश और मयूरों के पिच्छमार परस्पर विवाद होने से क्या ( निर्णय कराने को ) विधाता के निकट गये थे ? क्या उन ( ब्रह्मा ) ने इस ( केशपाश ) को इन ( केशों में गुंथे ) फूलों से पूजा है ? उस ( मयूरपिच्छ ) की क्या गरदनिया देकर भस्मना की है ?

टिप्पणी—दमयन्ती के केशपाश और मयूरपिच्छ में विवाद उठ खड़ा हुआ कि दोनों में कौन अच्छा—बड़ा है ? निर्णय के लिए ये विधाता की सेवा में पहुँचे । जैसा कि स्वामाविक था, विधाता ने दमयन्ती-केशपाश को उत्तम बताया और फूलों से—फूल खड़ाकर उसकी आराधना की और मयूरपिच्छ को गरदनिया देकर डाँट फटकार कर बाहर कर दिया । भाव यह कि फूल गुंथे केशपाश चन्द्रकलवत् मयूरपिच्छ से बहोँ मनोरम हैं । नारायण के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा प्रतीय और मल्लिनाथ के

अनुसार उत्तरवर्तिनी दो उत्प्रेक्षाओं के प्रयत्नेशसाधने होने के कारण सत्रातीय स्रकर है ॥ २२ ॥

केशान्धकारादय दृश्यफालस्थानार्धबन्दा स्फुटमप्रतीयम् ।

एता यशसाद्य जगज्जयाय मनोभुवा सिद्धिरसाधि साधु ॥ २३ ॥

जीवानु—केशेति । केश' केशाद्य एवान्यकारान्तस्मात् जयानन्तर द्यो  
दोनाहं फाल्गुन्य ललाटभाग एवाध्वंन्द्रो यस्यास्ता द्य दमयन्ती अष्टमी ।  
तत्राप्य'वकारानन्तरद्वयार्धबन्धत्वात्कृष्णाष्टमी शुक्लपक्षे विजययास्फुटमिस्तू-  
त्येक्षायाम् । कृत ? यद्यस्मान्मनोभुवा जगज्जयाय एतामासाद्य साधु सिद्धिः  
जगज्जयमिद्धि असाधि सारिता । कृष्णाष्टम्या जैनयात्राया जयसिद्धिरिति  
पयोशिबिद' । यथाह पितामह—'जयदा विजिगीषूणा यात्रायामसिताष्टमी ।  
श्रवणेनाय रोहिण्या जययोगो युता यदि ॥' इति ॥ २३ ॥

अन्वयः—केशान्यकारात् अय दृश्यफालस्थानार्धबन्दा इय स्फुटम् अष्टमी,  
यद् मनोभुवा जगज्जयाय एताम् आसाद्य साधु सिद्धिः असाधि ।

हिन्दी—केशों के अधिपारे के पश्चात् ( नीचे ) दर्शनीय ललाटपट्ट रूप  
आधा चन्द्रमा धारण करती यह ( दमयन्ती ) प्रत्यक्ष अष्टमी है, कि' मनोजन्मा  
( काम ) ने जगत् विजय के निमित्त इसे प्राप्त कर ठीक ही सिद्धि साधी है ।

टिप्पणी—इस श्लोक में आधे चन्द्रमा के समान ललाट अथवा अध्वंन्द्रा-  
कार तिलक रूपे ललाट का वर्णन है । इसी आधार पर दमयन्ती को अध्वं-  
चन्द्रधारती कृष्णपक्ष की अष्टमी माना गया है, जिस रात को जगत् को वश में  
करने के लिए गुटिकादि सिद्धि साधी जाती है । प्यातिशास्त्र के अनुसार  
कृष्णाष्टमी को आरम्भ जययात्रा सफल होती है, यदि वह श्रवण और रोहिणी  
नक्षत्र में युक्त है । काम ने इसी अष्टमीरूपी दमयन्ती को प्राप्त कर स्वयंवर में  
जगत् विजय के लिए यात्रा करने का उचित ही निर्णय किया है ।  
उत्प्रेक्षाकार ॥ २३ ॥

पुष्प धनु कि मदनस्य दाहे श्यामीभवत्केसरशेषमासीत् ।

व्यधाद्विधेयान्नदपि क्रुधा कि भैमीभ्रुवौ येन विधिव्यंघ्रत ॥ २४ ॥

जीवानु—पुष्पमिति । मदनस्य दाहे दाहकाले, पुष्पमेव धनु श्यामीभवन्तः  
केसरा' क्रिञ्चत्ता एव शेषो यस्य तदासीत् किम् । किञ्च ईदो हरः तदपि

कृपा क्रोधेन द्विधा व्यधात् द्वेषा व्यभजत् किम् । येन द्विधा विभक्तेन पुष्पेण विधिवेधा भैम्या भ्रूवो व्यघत्त असृजदित्युत्प्रेसा ॥ २४ ॥

अन्वय —मदनस्य दाहे पुष्प धनुः श्यामीभवत्केसरशेषम् आसीत् किम्, ईदृ तत् अपि कृपा द्विधा व्यधात् किम्, येन विधि भैम्या भ्रूवो व्यघत्त ?

हिन्दी—काम के ( शिव द्वारा ) दण्ड किये जाने पर ' इसका ) कुसुम-चाप श्याम केसरमात्रावशेष रह गया था क्या, और शिव ने उस ( धनुष् ) को भी क्रोध से दो सड़कर डाला था क्या, जिससे विधाता ने भीमपुत्री का भ्रूयुगल बनाया ?

टिप्पणी—दमयन्ती का भ्रूयुगल अत्यन्त श्याम, धनुष् के दो सड़ो के आकार का अतएव इतना मनोहर है कि काम-धनुष् की भाँति वह जगत् को मोहने में समर्थ है । ऐसा प्रतीत होता है कि विधाता ने उसी काम-चाप से दमयन्ती की दोनों भौहें बनायी हैं, जो शिवद्वारा मदमदाह होते जलकर डाले पड़ गया था और क्रोध में भरे शिव ने उस धनु अस्त्र के दो सड़ कर डाले थे । उससे ही विधि ने ये दो काली भौहे बनायी हैं, सभी सो ये श्याम और विश्वजय सामर्थ्य से पूर्ण हैं । मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेसा और विघाघर के अनुसार उत्प्रेसातिघघोषित ॥ २४ ॥

• भ्रूम्हा प्रियाया भवता मनोभूचापेन चापे धनसारभाव ।

निजा यदप्लोपदशामपेक्ष्य सप्रत्यनेनाधिकवीर्यताजि ॥ २५ ॥

जीवात्—भ्रूम्यामिति । विश्व प्रियाया भैम्या भ्रूम्या भवता भ्रूयुगलत्वेन परिणमता मनोभूवत्चापेन धनसारभावी इदस्थिराशक्तवर्धरत्व च । 'सारी बले स्थिराती च । अय वर्धरमस्त्रियाम् । धनसार' इति चामर । चापे प्राप्त । आप्नोते कर्मणि लिट् । यद्यस्मात्, निजामप्लोपदशामपेक्ष्य अदाहादस्यात् इत्यर्थ । सप्रत्यनेन मनोभूचापेन अधिकवीर्यता अधिकपराक्रमीऽपि अजि प्रापि । कर्मणि लुट् । 'वीर्य पराक्रमे रेतसि' इति वैजयन्ती । दण्डस्यापि स्मरचापस्य तद्भ्रूभूतस्य पूर्वाम्यधिकपराक्रमदर्शनान्नुन धनसारभाव प्राप्त इत्युत्प्रेसा ॥

अन्वय —प्रियाया\* भ्रूम्यां भवता मनोभूचापेन धनसारभाव च आपे, यन् निजाम् अप्लोपदशाम् अपेक्ष्य सम्प्रति अनेन अधिकवीर्यता आजि ।

हिन्दी—प्रिया ( दमयन्ती ) का भ्रूयुगल बनते काम धनुष् ने धनसार-



भाव ( अतिथय बल और कर्पूरभाव ) प्राप्त कर लिया, जो कि अपनी बलने से पूर्व की रक्षा की अपेक्षा इस समय ( बल जाने पर ) अतिथय पराक्रम का दर्शन कर लिया ।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक और इस श्लोक तथा बमले (२६ वें) में दमयन्ती के अद्भुत का वर्णन है । इस प्रकार तीन श्लोकों में अद्भुत बन गया । इस श्लोक में प्रथम श्लोक के भाव के प्रथम में कवि-कल्पना है कि बलकर और टूटकर तो वस्तु प्रायः निःसार हो जाता करती है, परन्तु काम-बाप के सदर्शन में इसके विपरीत हुआ । दिवङ्गा जलाया और दो टूट दिया काम धनुष दमयन्ती का अद्भुत बनकर और श्री बलशाली और पराक्रमी बन गया । पहिले तो फूल का धा-निःसार, अब तो सारवान् बन गया । दमयन्ती-अद्भुत रूप में उसकी जगद्विभोरण समता वहीं अधिक हो गयी है—‘वनसारभाव’ उसे प्राप्त हो गया है । इतना ही नहीं, बल कर काटा पड़ा काम-बाप अब गौर हो गया कर्पूर के समान, जो जलकर ही अधिक ताप देता है । मन्त्रिनाय के अनुसार चतुरेखा और विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति-अनुमान ॥ २५ ॥

स्मारधनुषं द्विधुनोर्ज्जितास्या यास्तेन भूतेन च लक्ष्मरेखा ।

एतद् भ्रुवौ जन्म तदाप युग्मं लीलाचलत्वोचितवालभावम् ॥ २६ ॥

जीवातु-स्मारमिति । यत्स्मरस्येद स्मारधनुः । अस्या नैम्या यास्तेन भूतेन आस्यभावः यतेन विधुना चतुरेणोक्तिता, या लक्ष्मरेखा कलङ्कुरेखा च तद्वत् तदुभय कर्तुं । लीलाचलत्वोचितवालभावम् च तत्त्वोचितो मोयो बालभावः केशवर्णः बलधोरभेदान्तिशुत्वं च यस्मिन् जन्मनि तत्तयोक्तम् । एतस्या नैम्या भ्रुवौ अथ भ्रुवरूपेणोत्पत्तिमात्रम् । एतस्या मुखकलङ्कचन्द्रः भ्रुवौ च स्मारधनुश्चन्द्र-लक्ष्मणोरपरावतार इत्युपेक्षा ॥ २६ ॥

अन्वयः—एतद् स्मारं धनुः कर्मा यास्तेन भूतेन विधुना उक्तिता या लक्ष्मरेखा च तद् युग्मं लीलाचलत्वोचितवालभावम् जन एतद् भ्रुवौ वा ।

हिन्दी—काम के धनुष और इस ( दमयन्ती ) का मुख हुए चन्द्रमा द्वारा छोट दी गयी बलक-रेखा—इस युग्म ने चन्द्र चेष्टाओं से पूर्ण बचपन से मुक्त, विराट् लीलाओं में पूर्ण बेटों से सपना बन इस ( दमयन्ती ) के अद्भुत के रूप में पाया है ।

अस्सी भाग तक का निर्देश किया गया है—‘अशीतिभागो वृद्धि स्यात् ।’ ( हिन्दी-व्याख्याकार के विचार में यह ‘अशीतिभाग’ १।८० का योगक है। व्यवहार में कदाचित् एक मुद्रा ध्यान सहित १ + १।८० तक ली जाती होगी, जैसे कि आधुनिक युग में एक रुपये के एक सौ अस्सी पैसे तक मूल-ध्यान सहित असूल किये जायें । ) विद्याधर के अनुसार छेकानुशास उत्प्रेक्षा-समाप्ति अलंकार ॥ ३३ ॥

दृशौ किमस्याश्चपलस्वभावे न दूरमाक्रम्य मिथो मिलेताम् ।

न चेत्कृत स्यादनयो प्रयाणे विघ्न श्व कूपनिपातमीत्या ॥ ३४ ॥

जीवातु—दृशाविति । चपलस्वभावे चञ्चलशीले, अस्या भूम्याः दृशौ दूरमाक्रम्य अन्वुपर्यन्त गत्येवम् । मिथो न मिलेता न सङ्गच्छेयाताम्, काकु । मिलतेलिङ्गिततस्तामादेशः । किं त्वनयोर्दृशौ प्रयाणे दूरगमने श्ववती श्रोत्रे एव कूपाविति रूपम् । तयोनिपाताद्भीरया कर्ण्य विघ्न कृतो न स्यान्वेद् । अत्र दृशौ कर्णान्तिविधान्तयोः कूपपातमपहेतुकरवोत्प्रेक्षारूपकोऽजीवितेति सङ्करः ॥ ३४ ॥

अन्वय —अस्या चपलस्वभावे दृशौ दूरम् आक्रम्य किं मिथो न मिलेता चेत् अनया प्रयाणे श्व कूपनिपातमीत्या विघ्न न कृत स्यात् ।

हिन्दी—इस ( दमयती ) के चपल प्रकृति के नेत्र दूर तक दौड़ते जाकर क्या परस्पर मिल न जाते यदि इनके दूर जाने के मार्ग में कर्णकूपा रूप कूप में गिर जाने के डर से विघ्न न पड़े जाता ?

टिप्पणी—दमयती के दोनों नेत्र उन चपल और, आकर्षक बालकों के समान हैं, जो दूर-उधर भागते फिरते हैं किन्तु रास्ते में कूप, गढ़ा आदि में गिरने के भय से रुक जाते हैं, अर्थात् नेत्र अत्यन्त चपल और बड़े बड़े हैं—बालों तक फैले । मल्लिनाथ के अनुसार रूपकोऽजीविता उत्प्रेक्षा होने से सङ्कर अलंकार है, विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा-समाप्ति ॥ ३४ ॥

केदारभाजा शिशिरप्रवेशात्पुण्याय मन्ये मूनमुत्पलिन्या ।

जाता यतस्तत्कुमुभेक्षणाय यतश्च तत्कोरकदृक् चकोरः ॥ ३५ ॥

जीवातु—केदारेति । केदार क्षेत्रविशेष पर्वतविशेषश्च । त भजतीति तद्भावात् । ‘केदारः पर्वते शम्भो क्षेत्रभेदालवाज्यो’ इति विश्व । तपोत्पलिन्या

शिशिरप्रवेशात् शिशिरर्तुप्रवेशाद्धेतो पुण्याय धर्माय मृत मन्त्रे । भावे क' ।  
मन्य इत्युत्प्रेक्षायाम् । यतो यस्मात् केदारमरणादिय नैमी तस्या उत्पलिन्याः  
कुसुमे पुष्पे एव ईसणे मय्याः सा जाता । यतश्चकोरस्त्व तत्कोरकावेव दृशो  
मय्य स जात । केदारक्षेत्रमरणादुत्तमजन्मलाभ इत्यागम ॥ ३५ ॥

अन्वयः—केदारमाजा उत्पलिन्या शिशिरप्रवेशात् पुण्याय मृत मन्त्रे, यतः  
इय तन्कुमुमेक्षणा जाता, यत चकोर च तत्कोरहक् ।

हिन्दी—आलवाल ( चाला ) रूपी केदारनाथ शिव के समीप स्थित  
कमलिनी ने शिशिर ऋतु रूप धीत जल में प्रवेश करके पुष्प के निमित्त मृत्यु  
स्वीकारी, ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि यह ( दमयती ) उस ( कमलिनी के )  
नैत्रोंवाली हुई और चकोर उसकी कली के नैत्र वाला ।

टिप्पणी—द्योतित यह करना है कि दमयती के नैत्र कमलतुल्य हैं और  
चकोर के उसकी कली-जैसे । कलिका को अपेक्षा कुसुम घेष्ठ होता है—इस  
-क्रम से दमयती के कमलकुसुम नयन चकोर के कलिका नयनों की अपेक्षा  
मुन्दर हैं । पर कमलिनी को ऐसा सोमाग्य मिला कैसे कि यह दमयती और  
चकोर-नैत्र रूप में पुनर्जन्म पा सकी ? उसने पुष्प में जीवनात्सर्ग किया था  
केदारेश्वर में धीतजल में स्नान करके । केदार का अर्थ केदारनाथ शिव  
भी है और चाला भी, शिशिर प्रवेश का अर्थ शिशिर, ऋतु का आना भी  
है और धीतजल में प्रवेश भी । शिशिर के पाले में कमलिनी नष्ट हो  
जाती है । 'विश्व'कोष के अनुसार—'शिशिर, स्यादकोर्मदे तुषारे ।' मलिनाय  
के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ३५ ॥

नामादसीया तिलपुष्पतूणं, जगत्त्रयन्यस्तशरत्रयस्य ।

श्वामानिलामोदमरानुमेया दधद्द्वित्राणी कुमुमायुधस्य ॥ ३६ ॥

जीवातु-नासेति । जमु-या इयमदसीया, नामा नासिका, जगत्त्रये न्यस्त  
प्रयुक्त शरत्रय मस्य तस्य कुमुमायुधस्य सम्बन्धिनी निश्वासानिलस्य निदनास-  
मारतस्य आमोदमरेण सौरभानिशनेन अनुमेया द्विबाणी शिष्ट बाणद्वयम् । समा-  
हारे द्विगोटीय् । दधत् तिलपुष्पमेव तूणमिषुधिरित्युत्प्रेक्षा ॥ ३६ ॥

अन्वय —अदसीया नासा जगत्त्रय-यस्तशरत्रयस्य कुमुमायुधस्य श्वासा-  
निलामोदमरानुमेया द्विबाणी दधत् तिलपुष्पतूणम् ।

हिन्दी—इस ( दमयती ) की नासिका त्रिजगत् ( जय ) के निमित्त तीन बाणों का प्रयोग कर देने वाले वृषुमायुष ( काम ) के निश्वाप्त वायु की सुगंध सार से अनुमित, ( रोप ) दो बाणों की धारती तिल के फूलों से बना तूणीर है ।

टिप्पणी—अग वर्णन क्रम में नासिका का वर्णन, जिसे दो बाणों की धारते काम का तूणीर बताया गया । नासिका के दो छेदों में काम के तीन लोको के जय से बचे दो पुष्पबाण हैं, इसका अनुमान नासा रन्ध्रो से निकलती सुगंध से होता है । यदि पुष्प न होते तो सुगंध न होती । और सुगंध है, अतः फूल हैं, क्योंकि जहाँ सुगंध है, वहाँ फूल होते हैं । मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और काव्यलिंग ॥ ३६-॥

बन्धूकबन्धूमवदेतदस्या मुखेन्दुनानेन सहोज्जिह्वानम् ।

रागधिया शैशवयौवनीया स्वमाह सन्ध्यामधरोष्ठलेखा ॥ ३७ ॥

जीवातु—बन्धूकेति । अस्या भैम्या अधरोष्ठलेखा अनेन मुखेन्दुना सहो-  
ज्जिह्वानमुद्यत् । बन्धूकबन्धूमवत् । बन्धुजीवकुसुमसमीभवत् एतत्पुरोवर्ति  
स्वमात्मानम् । 'अस्मिन्नि स्वम् इत्यमरः । रागधिया आरुण्यसम्पदा, शैशव-  
यौवनयोरेतत्सम्बन्धिनी सन्ध्यामाह । अहोरात्रसन्धाविव कथं संधी भवा सन्ध्या  
स्वयमेवेति स्वरागसमुद्भवा कथमिति इवेत्युत्प्रेक्षात्यञ्जनाप्रयोगादुगम्या ॥ ३७ ॥

अन्वय — अस्याः अधरोष्ठलेखा अनेन मुखेन्दुना सह उज्जिह्वान बन्धूक-  
बन्धू भवत् एतत् स्व रागधिया शैशवयौवनीया सन्ध्याम् आह ।

हिन्दी—इस ( दमयती ) के निचले ओठ की लेखा ( अधर ) इस ( दमयती के ) मुख चद्र के साथ उत्पन्न होते, बन्धूक ( दुपहरिया के फूल ) के बंधु ( सटण ) बनते इस अपने की अरण शोभा के कारण वात्स्यावस्था और यौवन की संध्या ( संधि ) कर रही थी ।

टिप्पणी—इस २७ वें से ४२ वें ( छ दलों में ) दलोक तक दमयती के अधरोष्ठ का वर्णन है । इस दलोक में दमयती की वय संधिका चमत्कारपूर्ण चित्रण हुआ है । दुपहरिया के फूल के समान लाल अधर की लाली के कारण वयासंधि का शीतल बताया गया है, जो चद्र के समान गुलाबी मुख के साथ इस अरणरागमयी थी की प्राप्त हुआ है । कल्पना की गयी है कि लाल अधर-

लेखा करने को ही संसद-सदन की सड़ि घोषित कर रही है। दिन-रात का नम्यकाष्ठ—सम्यासनन लाउ होता है और उदित होता चद्र भी गुाधी। संसद-सदन दिन-रात है, जनों की लाली उनकी सम्या की लाली है। सम्या उदित होते छाल चद्रमा की नाति नान होती है। इस श्लोक में दिन-रात की सम्या के दृश्य बदनसुधि में होने वाली सम्या ने अपनी राग-मनृद्धि के कारण जैसे करने को ही सम्या कहा, कष्ट-व नन्दिनाय के अनुशा अङ्क-द्वन्द का प्रयोग न होने से सम्बोद्धता है। विद्याधर के अनुसार अतिरूपोक्ति-रूपक अङ्कार हैं ॥ ३३ ॥

अस्या मुहेन्दोरधरः सुधान्विम्बस्य दृष्टः प्रतिविम्ब एषः ।

तस्याय वा श्रीहृन्मनाजि देश समान्यनानान्य तु विद्रुमे सा ॥ ३८ ॥

लौकानु—अस्या इति । अस्या नस्या एयोधर अरोहः मुहेन्दो मुषा-  
पाननृते नवम्पाविनंबतीति सुधान्व विम्बस्य विम्बस्य प्रतिविम्ब सद्रुपो  
मुक्त । न तु च विम्बस्योक्तविचित्रित्येयोऽप्यीत्यर्थः । तस्य विम्बस्य वा  
शोनाद्रुमनाजि द्रुमवति देशे समान्यनानान्य । अस्याधरस्य त्वजो श्री विद्रुमे  
प्रवाले विपतद्रुमे च समान्यत इत्यर्थः । 'विद्रुम' पृति प्रवाल पुनपुनकम्  
इत्यनर । विद्रुमसमर्थारित्यर्थः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—अस्याः मुहेन्दो सुधान्व एषा अधर विम्बस्य प्रतिविम्बः दृष्टः,  
अप तस्य श्री द्रुमनाजि देशे समान्यनानान्य, अस्या तु सा विद्रुमे ।

हिन्दी—इस ( दमयन्ती ) का मुख-चन्द्र के अनृत में उत्पन्न यह अधर  
विम्बस्य के सदृश है, परतु ( विरोधता यह है ) तस्य ( विम्बस्य ) की शोना  
वृक्षों वाली स्थान ( वन-उपवन ) में जनक है, इस ( अधर ) की वह ( शोना )  
तो प्रवाल में अथवा 'विद्रुम' ( द्रुमरहित, दृषरहित ) प्रदेश ( नगर ) में  
समाविष्ट है ।

टिप्पणी—दमयन्ती के चन्द्रानृतवात, रागादम अधर की शोना विम्बस्य  
में विभिन्न द्योतित करना कवि का उद्देश्य है, इसी कारण 'विद्रुमरहित' प्रदेश  
में उसकी मनावना की गयी है, अर्थात् 'विम्बस्य' तो जगली पदार्थ है, अधर  
तो नागरयो से सज्ज है। अथवा 'काटु' के आधार पर यह अर्थ भी किया  
जाता है कि क्या इस 'मुहेन्दुसुधान्व' अधर का प्रतिविम्ब विम्बस्य है ?  
जवाब नहीं है, क्योंकि विम्बस्य जगली है—द्रुमनाक्ष देश में उत्पन्न, अधर

की समावना तो द्रुमरहित प्रदेश में की जाती है। इसके अतिरिक्त अघर चन्द्र-सुधा से उत्पन्न है, जब कि बिम्बफल में यह वैशिष्ट्य नहीं होता। रससिक्त होने से और अरुण होने के कारण एक बार बिम्बफल को 'सुधाभू' अघर का प्रतिबिम्ब कहा भी जा सकता है, परन्तु अघर की 'विद्रुमदेश' में समावना तो सवधा ही बिम्बफल में नहीं है, अब अघर की तुलना बिम्बफल से करना ठीक नहीं। एक प्रकार से विद्रुम (जो अघर के साथ अरुण होने के आधार पर साम्य प्राप्त कर सकता है) भी अघर की तुलना में नहीं ठरहता, क्योंकि वह सरस 'सुधाभू' नहीं है। इस प्रकार दमयन्ती का अघर बिम्बफल और विद्रुम (मूँगा) — दोनों से श्रेष्ठ है। विद्याघर के अनुसार यहाँ रूपक अति-शयोक्ति अतिरेक-आक्षेप अलंकारों का सङ्कर है। चन्द्रकलाकार ने रूपक-उपमा श्लेष की सृष्टि का निर्देश किया है। इन्द्रवज्रा छंद है ॥ ३८ ॥

जानेऽतिरागादिदमेव बिम्ब बिम्बस्य च व्यक्तमितोऽधरत्वम् ।

द्वयोर्विशेषावगमाक्षमाणा नाम्नि भ्रमोऽभूदनयोजनानाम् ॥ ३९ ॥

जीवातु—जान इति । अतिरागादतिलोहितपादेतो इदं पुरोवर्त्यैव बिम्ब बिम्बनामाह बिम्बस्य च इतोऽस्मादधरत्वमपकृष्टत्वमोष्ठत्व च व्यक्त तदेवाधरनामाह प्रतीयत इत्यर्थः । एव स्थिते द्वयोरनयोरधरबिम्बयोरनाम्नो विषये विशेषावगमे इदमस्य नामेति निर्धारणे अक्षमाणामसमर्पणं जनानां भ्रमोऽभूत् । जाने जानामीत्युत्प्रेक्षा ॥ ३९ ॥

अन्वय—अतिरागात् इदम् एव बिम्ब बिम्बस्य च इतः अधरत्वं व्यक्तम् जाने अनयो द्वयोः विशेषावगमाक्षमाणा नाम्नि भ्रमः अभूत् ।

हिन्दी—प्रचुर लालिमा होने के कारण यह (अघर) ही बिम्ब है, बिम्बफल की तो इस (अघर) से अधरता (निम्नता) प्रकट है। प्रतीत होता है कि इन दोनों (दमयन्ती अघर और बिम्बफल) के तारतम्य (उच्चत्व-निम्नत्व) को न समझ सकने वालों को नाम में भ्रम हो गया ।

टिप्पणी—इस श्लोक में अन्य भगिमा से दमयन्ती-अघर की बिम्बफल से श्रेष्ठता प्रतिपादित है। कल्पना है कि अघर ही वास्तविक बिम्ब है, क्योंकि उसमें प्रचुर लाली है। जहाँ वह बिम्बफल का प्रश्न है, वह तो अघर से निम्न माना ही जाता है, क्योंकि उसे बिम्बनाम इसी कारण मिला है कि

वह दमयन्ती के अघर के तुल्य है। अघर उपमान है, बिम्बफल उपमेय। उपमान की अपेक्षा उपमेय निम्न होता ही है। लोगों में तारतम्य का विवेक नहीं था, सो उलटा-पलटा नामकरण हो गया। दमयन्ती के निचले ओष्ठ को अघर-मञ्जा दे दी और फल को बिम्ब-मञ्जा। होना चाहिए था दमयन्ती-ओष्ठ का नाम बिम्ब ( जो बाम्बविकृता हैं ) और फल का अघर। मन्त्रिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा रिताघर ने उन्मेष रूपक-कार्यलिङ्ग जलकार माने हैं ॥३९॥

मध्योपच्छाद्यगोष्ठभागी भात किमप्युच्छ्वसितौ यदस्या ।

तत्स्वप्नसम्भोगविनीर्णदन्तदशेन किं वा न मग्रापराद्धम् ॥ ४० ॥

जीवातु—मध्येति । यद्यस्मान्, अस्या सम्बन्धिनौ मध्यस्याघरमध्यप्रदेशस्य उपच्छाद्यौ सनिहिनी अघरोष्ठस्य भागी तदुभयपार्श्व इत्यर्थः । किमप्युच्छ्वसितौ किंचिदुच्छ्वसितौ भात स्फुरत् । नतस्मात् स्वप्नसम्भोगे विनीर्णो दन्तो दन्तदशेन दन्तक्षत येन तेन मया नापराद्ध किं वा । स्वप्ने स्वकृतदन्तक्षतमेता-विन्दुन्नेता ॥ ४० ॥

अन्वय—यत् अस्या मध्योपच्छाद्यौ अघरोष्ठभागी किमपि उच्छ्वसितौ भात सत् किं वा मया स्वप्नसम्भोगविनीर्णदन्तदशेन न अपराद्धम् ?

त्रिन्दो—किं इस ( दमयन्ती ) के मध्यस्थल के निकट अघर और ओष्ठ कुछ मजे-से सुप्तोन्नत हो रहे हैं, सो कहीं मैंने स्वप्नकृतसम्भोग में दन्त-क्षत करने का अपराध तो नहीं कर दिया है ?

टिप्पणी—ओष्ठ अघरों का कुछ फलापन ( उच्छ्वसितता ) सामुद्रिक शास्त्र की दृष्टि में गुण है। दमयन्ती के ओष्ठाघर वैसे हैं। इसके आधार पर यह भी घोषित कर दिया गया है कि रात्रानुरागी नल प्रत्येक रात्रि को दससे स्वप्न में मिलाता है। स्वप्न सम्भोगकृत दन्तक्षत के कारण उच्छ्वसितता को समावृत्ता यगी निर्देश करती है। विवेकी नर यह अपना अपराध मानता है कि एक कुमारी के साथ उसके द्वारा यह अनुचित हो गया। उत्प्रेक्षा ॥ ४० ॥

विद्या विदमैन्द्रमुनाधरोष्ठे नृत्यन्ति कथ्यन्तरभेदमात्र ।

इतोव रेखाभिरपथमन्ना मत्पातवान् कौतुकवान्विधाता ॥ ४१ ॥

जीवातु—विद्या इति । कौतुकवान् विनाशी विधाता विदमैन्द्रमुनाया अघरोष्ठे कति विद्या अन्तरम्भन्तरे अभेदनात्र भेदरहिता सत्यो नृत्यन्ति

टिप्पणी—दमयन्ती की मुसकान का हजारवाँ भाग भी यदि चाँदनी में पड़ जाये तो जैसा गंगाजल की एक बूँद प्रचुर जल में गिर कर उसका महत्व स्थापित कर देती है, वैसे ही चाँदनी में महत्व आजाय और इस प्रकार वह कृताथ हो अपना सत्ता सफल कर ले। भाव यह कि दमयन्ती की मुसकान का यत्किंचिद् अंश भी अनेक चाँदनिया से रमणीय और आनन्ददायक है। नारायण न 'निमित्त' के स्थान में 'निमित्त' पाठभेद मानकर अर्थ किया है कि चन्द्र कोमुदी समूह द्वारा पूजा करके—भारती करके उनका जन्म सकल करले। इस श्लोक में कोमुदी समूह का समावना-भाष द्वारा स्मितास से संबन्ध नहीं है, तथापि उसका संबन्ध कथन है, अतः महिलाय और विद्यापद के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ॥ ४३ ॥

चन्द्राधक्तेभ्यश्चैषस्त्रिकाणा दरायत तत्किरणाद्वनानाम् ।

पुर पार्थिवस्तपुष्वद्वितीयः ॥ रुदावलिद्वन्द्वति विन्दुवन्दम् ॥ ४४ ॥

जीवाश्चन्द्रमिति । तस्य चन्द्रस्य चरणादस्मै चन्द्रकान्ते, घनानां साक्षात्  
तन्मुखस्य तापिकत्वाच्चन्द्रिकेणामपि ततोऽधिकमिति भावः । अत एवाह-  
चन्द्राधिकतन्मुखस्य चन्द्रिकाणां समुच्चये दरायतमीपहीथं पुर परिल्लस्तानि  
प्रथममृतातिगुप्तिं विवर्षयस्य तद्वितीयं बिन्दुबृन्दं रवावलिद्वन्द्वं तद्वि  
भाचरति 'सर्वं विवर्षयस्य' किवप' इत्यभारस्विन-ताल्लट् । प्रथमनिर्गुता  
बिन्दुपङ्क्तिरस्य तद्वितीयं उत्तरानुबन्धे जातेत्यपेक्षा ॥ ४४ ॥

अन्वय — तस्मिन् पुरातनं धर्मानाम् एषः शिवश्चन्द्रिकाणां दशपत्त पुर परि-  
सस्तृप्तद्वितीय विन्दु रदावल्लङ्घति

हिन्दो—उस (बन्दी) की निन्दा से घनी, इस (दमयन्ती) के मुख (मुख चद्र) की वादितियों की कुछ बड़ी, पहिले ओर दूसरी बार गिरी बूंदों का समूह (दमयन्ती) की रदपनितया के मुग्ध का आचरण कर रहा है।

टिप्पणी—तीन ( ४४-४६ ) श्लोकों में दमयती की दत्तपत्रिका का वर्णन है। यह सिद्ध ही हो चुका है कि दमयती का मुसचद्र और उसकी स्मिता कौमुदी सामान्य चद्र-चद्रिका से श्रेष्ठ हैं। यहाँ कल्पना है कि सामान्य चद्र की चाँदनी की अपेक्षा यनी और बड़ी बूढ़ मुसचद्र की चाँदनी की है। दे धीरे धीरे जब टपकी तो उनकी पहिले गिरी राशि नीचे की ओर दूसरी वार



गिरी राशि त्पर की दतपविट बन गयी । भाव यह कि दमयन्ती की दशावलि कुछ घन और मृदम है । सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार यह गुण है कि नीचे के दाँत मृदम हो और ऊपर के कुछ आघन और घने । दमयन्ती की दशावलि ऐसी ही है । मन्त्रिणां के अनुसार उत्प्रेषण और मिष्टान्न के अनुसार गडिगयोविज-उपमा रूपक वक्तव्य है ॥ ४४ ॥

सेय ममेतद्विरहानिमूर्च्छानमीविभातस्य विभानि सङ्ख्या ।

महेन्द्रकाद्यागतरागवर्त्ती द्विजैरमीभिः समुपास्यमाना ॥ ४५ ॥

जीवानु—सेति । महेन्द्रस्य काद्यामुत्कर्षं यतोऽनुरागं अथवा पूषदिगतो रागो लीहितम् । 'काष्ठोत्कर्षे स्थितो दिशि' इत्यमरः । 'रागोऽनुरागे लीहित्ये' इति विश्वः । तस्य वर्त्ती जनयित्री अमीनिद्विजैर्दत्तं विप्रैश्च । 'दन्तविप्रान्धजा द्विजाः' इत्यमरः । समुपास्यमाना सेव्यमाना सेय दमयन्ती मम एतस्या भङ्ग्या विरहायां विभोगवीडया या मूर्च्छां संव तमी रजनी । 'रजनी यामिनी तमी' इत्यमरः । तस्या विभातस्य सवर्षिणी सङ्ख्या प्रातः सङ्ख्या विभाति । सङ्ख्या-धर्मसम्बन्धात्सङ्ख्या त्वमुत्प्रेष्यते ॥ ४५ ॥

अन्वय—महेन्द्रकाद्यागतरागवर्त्ती अमीनि द्विजैः समुपास्यमाना सा इय मम एतद्विरहादिमूर्च्छानमीविभातस्य सङ्ख्या विभाति ।

हिन्दी—महेन्द्र ( स्वर्गराज ) के परमात्मापदुक्कत अनुरक्ति उत्पन्न करने वाली, महेन्द्र की काष्ठा ( पूर्ण दिशा ) के राग ( लाली ) उत्पन्न करनेवाली ( के तुल्य ) इन द्विज ( ब्राह्मण रूप ) दाँतो से सेवित वह यह ( दमयन्ती ) मेरे इसके विभोग की पीडाजनित मूर्च्छा रूप रात्रि के प्रभात की सङ्ख्या-सम घाना दे रही है ।

टिप्पणी—रमणीय दशावलि से शोभित दमयन्ती को इस श्लोक में नल की विरहव्यथीदायात-मूर्च्छा को दूर करनेवाली बताया गया है । उसको तुलना रात्रि के परवात् मानवाली प्रमान-मृच्छा से की गयी है, जिसकी स्थिति में इद्र की दिशा ( प्राची ) में लालिमा छा जाती है और ब्रह्मण सन्तोषासना किया जात है । दमयन्ती ने इद्र में परमकोटि को अनुरक्ति जनवायी है, इस प्रकार वह महेन्द्रदिग् में लालिमा उत्पन्न करनेवाली प्रभात सङ्ख्या है, विरहव्यथ मूर्च्छा रूपी रात्रि को वह समाप्त करनेवाली है और द्विज ( दशावलि )



जवदात हो जाते हैं, उसी प्रकार वैकुण्ठ रात्रौपादि-रहित ब्राह्मण भी कालुष्यहीन हो जाते हैं। जैसे स्थूल दाँत मोती की उपमा पाते हैं, वैसे ही श्रेष्ठ ब्राह्मण जोवन्मुक्त कहने हैं। नात्र यह कि इनयन्ती के दाँत बड़े ही आकर्षक हैं और उनके बीच ये चार राजदन्त तो और भी आकर्षक। मल्लि-  
नात्र के अनुसार उत्प्रेक्षा, विशाघर ने छेकानुग्रान्नमामोक्ति के सङ्कर का निर्देश किया है ॥ ४६ ॥

शिरोपकोशादपि कोमलाया वेत्रा त्रिधायाङ्गनशेषमन्या ।

प्राप्तप्रसर्प मुकुमारसर्गे मनापयद्वाचि मृदुत्वमुद्राम् ॥ ४७ ॥

जीवातु—शिरोपेति । वेत्रा विराता शिरोपस्य कौशात्कुङ्कुमलादपि कोमलाया जस्या नम्या, अशेषमङ्ग विराज मुकुमारसर्गे कोमलमृद्वी प्राप्त-  
प्रसर्पों लोके लब्धोत्कर्षः सन् मृदुत्वमुद्रा मार्दवनङ्गो वाचि मैत्रीवाण्या मनापयत्  
मनापितवान् । सर्वातिशायस्य वाङ्नाघुर्यमिति भावः ॥ ४७ ॥

अन्वय—शिरोपकोपात् अपि कोमलायाः अस्या अशेषम् अङ्ग विधाय  
मुकुमारसर्गे प्राप्तोत्कर्षं वेदा मृदुत्वमुद्रा वाचि मनापयत् ।

हिन्दी—सिरन के फूल में भी कोमल हम ( दमयन्ती ) के मपूर्ण अंगों  
को बनाकर मुकुमार रचना में उत्कर्ष को पाये विधाता ने मृदुता (मुकुमारता)  
की मर्यादा को ( दमयन्ती की ) वाणी ( की रचना ) में समाप्त कर दिया ।

टिप्पणी—चार ( ४७-५० ) में दमयन्ती की वाणी का वर्णन है । यहाँ  
भाव यह है कि दमयन्ती की वाणी अत्यन्त मृदु है । अतश्चित् विधाता ऐसी  
मौठी, कोमल वाणी की रचना बड़े अभ्यास के पश्चात् ही कर पाया होगा,  
क्योंकि दमयन्ती की वाणी में तो मृदुता की परकाष्ठा है । लगता है वह  
अभ्यास विराता ने दमयन्ती के मुकुमार अंगों की रचना से ही प्राप्त किया है,  
तभी तो ऐसी मृदु, मुकुमार वाणी बना सका । दमयन्ती की वाणी सर्वाति-  
शायिनी है । विशाघर के अनुसार जतिशयोक्ति-परिच्छेदा का सङ्कर ॥ ४७ ॥

प्रसूनवाणाद्वयवादिनां मा कापि द्विजैतोपनिपत्यिकेन ।

जस्या किमान्यद्विजराजतो वा नाधीयेत भैक्षभुजा तन्मयः ॥ ४८ ॥

जीवातु—नन्विनापि मयुरा कौकिलवाणी, नेत्याह—प्रसूनेति । प्रसून-  
वाणमेवाद्वयनद्वितीय वस्तु तद्वतीति तत्प्रतिपादिका कापि उपनिपत् पिकरा-

शृणु मया उक्तं ब्रह्मणः । निजानामुक्तेष्वेकम् । 'नैव निजा ब्रह्मणः  
इत्यन्तर । 'निजादिभ्योऽङ्' । उक्तं ब्रह्मणः उक्तं ब्रह्मणः निजादिभ्यो  
इत्यन्तरादिति नास्ति । निजेन निजादिभ्यो द्विजेन निजादिभ्यो विभेदः स कस्या मन्त्रा  
आत्मनेव द्विजराजस्यो ब्रह्मणेन्द्रस्य । उक्तं ब्रह्मणः निजादिभ्यो वा किम् ?  
अस्मिन् एव । अस्मिन्वादिभ्योऽन्तरादिति नास्ति । उक्तेषां ॥ ४८ ॥

अन्वयः—शृणु मया उक्तं निजेन द्विजेन प्रकृत्यादिभ्यो वा वा  
अस्मिन् अस्मिन् अस्मिन् अस्मिन् अस्मिन् अस्मिन् अस्मिन् अस्मिन् अस्मिन् अस्मिन्  
अस्मिन् अस्मिन् अस्मिन् अस्मिन् अस्मिन् अस्मिन् अस्मिन् अस्मिन् अस्मिन् अस्मिन्  
अस्मिन् अस्मिन् अस्मिन् अस्मिन् अस्मिन् अस्मिन् अस्मिन् अस्मिन् अस्मिन् अस्मिन्

हिन्दी—बुझो ये नीच छंदर खाने वाला कौबिल्ले का ब्राह्मण पुत्रवाम  
( वाम ) का अर्थ प्रतिपादन करनेवाली वह ( दमयन्ती का ) अपूर्व इति  
विषय इति ( दमयन्ती ) के मुख-वद-का ब्राह्मण श्रेष्ठ से क्या नहीं पढ़ता है ?  
( पढ़ता ही है ) ।

हिन्दी—ब्राह्मण वाट में गुरुकुल में रहकर ब्राह्मणों की विद्याओं और  
गुरु से वेदादि का अध्ययन करता था और निष्ठावृत्ति से जीवन यापन करता  
था । उस वृत्ति में निज को ऐसा ही ब्राह्मणविद्यार्थी बताया गया है,  
जो शालाह वृत्ति से मजरी आदि की निष्ठा पाकर जीवन यापन करता है  
और दमयन्ती के चंद्रमुख रूप द्विजराज से 'एकमेवाद्वितीय ब्रह्म' के समान  
'एक एव, द्वितीय वामः—इस कामाद्वैतवाद का पाठ पढ़ता है । वापाय  
शुभ और आक्रमजरी आदि के भक्षण से कौबिल का स्वर मधुर होता है,  
वह पक्षम स्वर में बोलता है । कहा गया है—'पुष्पमाधारणे काले कौबिल्ल  
पञ्चमा वदेत्' । ( मठ, बृहद्देशी, त्रिवेद्रम् सूक्तं पृ० १२-१३ ), ऐसा  
कौबिल भी भीमपुत्री के मधुरतम स्वर का अभ्यास कर रहा है । इसने सोचा  
होता है कि दमयन्ती की वाणी कौबिल्ल-वाणी से श्रेष्ठ है । कौबिल्ल स्वर से  
श्रेष्ठ दमयन्ती स्वर का अवलम्बन से यह प्रतीति होन लगती है कि जगत् में  
पुष्पमा ही सत्य है, येय मिथ्या है । उसने प्रकृत्या ही अन्वय है ।  
मल्लिनाथ के अनुसार उपेक्षा विद्याधर ने समासोक्ति-रूपक-व्यतिरेक अलंकारों  
के सफल का निर्देश किया है ॥ ४८ ॥

पद्माक्षसप्तानमवेक्ष्य तदमीमेकम्य विष्णोः श्रवणान्सपत्नीम् ।

आत्मेन्द्रमस्या भजनं जिताब्ज सरस्वती तद्विजिगोपया किम् ॥ ४९ ॥

जीवात्-पद्याद्धेति । सरस्वती वाग्दवता एकस्य विष्णोः पत्न्युरिति शेषः ।  
 श्रयणादाश्रयणाद्धता । समान एव पतिवत्त्वात् सा सपत्नी । नित्यं सपत्न्या-  
 दिप्' इति डीप् नकारश्च, एतस्मादेव निर्देशात्समानशब्दस्य सभावः । ता लक्ष्मीः  
 पद्याद्धुमघान पद्मो वङ्गनिकेतनामवेक्ष्य तया लक्ष्म्या विजयीपया जिताञ्ज-  
 यविजयिनमस्या जास्यन्दुमानेन्दुमानेन्दु किं भजत इत्युपप्रेक्षा । दुवलाङ्घि  
 वीरनिर्गतनार्या प्रकल्माश्रयत इति भावः । सरस्वत्या विष्णुपत्नीत्वं पुराण-  
 प्रसिद्धम् । तदार्चास्वपि दृश्यते यथा पुराणोक्तमस्य जगन्नायस्य पार्श्वे लक्ष्मी-  
 सरस्वत्या तयोः मुरतबाधोपचारश्च ॥ ४९ ॥

अन्वयः—सरस्वती एकस्य विष्णोः श्रयणात् सपत्नी लक्ष्मी पद्याद्धुमघा-  
 नम् अवश्यं तद्विजयीपया । कम् जिताञ्जम् अस्या जास्यन्दु भजत ?

हिन्दी—सरस्वती एक विष्णु के आश्रय के कारण सोत लक्ष्मी का कमला-  
 स्निग्ध आवास देखकर उस जीवन की आकांक्षा से क्या कमलजयी इस (दमयन्ती)  
 के मुखचद्र का आश्रय लिये हुए है ?

टिप्पणी—इकतालासबे इलाक में कहा गया है—विद्या विदमन्द्रमुठाव-  
 रोठे नृत्यन्ति—इस प्रकार दमयन्ती का मुखचद्र सरस्वती का निवास है ।  
 उस पर कल्पना है कि सरस्वती ने अपनी सोत लक्ष्मी की अपेक्षा श्रेष्ठ आवास  
 पाने की स्वभाविक आकांक्षा से दमयन्ती के मुखचद्र को अपना आवास बनाया  
 है । सरस्वती और लक्ष्मी—दोनों विष्णु पत्नी हैं । लक्ष्मी ने तो कमल-झाड़  
 को अपना आवास बना लिया ( इसीलिए लक्ष्मी को पद्मासना कहा जाता है ) ।  
 अब सीतियाहाह के कारण सरस्वती की आकांक्षा कमलावास से उत्तम आवास  
 पाने की हुई । उन्होंने देखा कि कमल चद्र को देखकर सन्तुष्ट हो जाता है,  
 अतः चद्र कमलजयी है । चद्र दमयन्ती के मुख से हार चुका है, अतः दमयन्ती  
 का मुख चद्रजयी होने के कारण कमल से तो कहीं उत्तम ठहरा । यह विचार  
 कर सरस्वती ने कमलविजयी चद्र के जेठा दमयन्ती-मुख को अपना आवास  
 बना लिया । अथवा कमलजयी दमयन्ती-मुखचद्र को अपना आवास बना  
 लिया । 'प्रकाश'-कार के अनुसार वक्तोक्ति-वातुयं इस ( दमयन्ती ) में ही है—  
 यह भाव है । सरस्वती-लक्ष्मी का सपत्नीत्व पुराण प्रसिद्ध है । पुराणोक्तम्  
 जगन्नाय के पार्श्व में लक्ष्मी सरस्वती—दोनों हैं । मत्तिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा,  
 विद्याधर ने काव्य-ममासोक्ति-उत्प्रेक्षा अलंकारों का संकर माना है ॥ ४९ ॥

अन्वय — पद्मचन्द्रो तातात् जलात् मित्रात् मुकुरात् च अस्या मुखयो-  
प्रतिबिम्बम् एव याचितक विभूषण कदाचित् अभ्यर्च्यं घत्त खलु ।

हिन्दी—कमल और चन्द्रमा ( क्रम से ) पिता जल और मित्र दर्पण से  
इस ( दमयती ) के मुख की शोभा की परछाँही ही माँग का आभूषण नभो  
माँग कर निश्चयत धारण कर लेते हैं ।

टिप्पणी—एक अथ भगिमा से मुख की अपेक्षा चन्द्र कमल की 'मूनता,  
जो हिन्दी व्याख्याकार के पूर्वकथन के पक्ष में जाती हैं । वेधारे चन्द्र और  
कमल पर तो अपने आभूषण भी नहीं है । कमल अपने जनक जल से और  
चन्द्र अपने मित्र दर्पण से माँगकर जब तब अपना साज सिंगार पटाते हैं ।  
कभी आभूषण मिलता है, कभी नहीं । इसी कारण उनका आभूषण-धारण  
'कादाचित्क' है जब कि अपना ही होने से दमयन्ती मुख का 'अकादाचित्क' ।  
जल में उत्पन्न होने से पद्म का पिता जल है और 'समानशील व्यसनेषु  
सख्यम्' के अनुसार वृत्ताकारिता, उज्ज्वलतादि युक्त होने से चन्द्र-दर्पण में  
मित्रता है । 'माँग' के विषय में प्रकाशकार का स्पष्टीकरण है कि जल में जब  
भैमीमुख प्रतिबिम्बित होता है, तब तात जल से वह प्रतिबिम्ब पद्म माँग लेता  
है और मुकुर में जब प्रतिबिम्बित होता है तो मित्र मुकुर से चन्द्र माँग लेता  
है । इस प्रकार तात और मित्र भी सदा माँग पूरी करने में समर्थ नहीं रहते ।  
भाव यह कि चन्द्र और पद्म तो दमयन्ती की परछाँही के समान भी नहीं हैं,  
मुख की तो बात क्या ? मल्लिनाथ के अनुसार माँग के आभूषण' उत्प्रेक्षा है,  
विद्याधर के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति यथामत्य समाप्ति-उत्प्रेक्षा  
अलंकार हैं ॥ ५६ ॥

अर्काय पत्ये खलु तिष्ठमाना भृङ्गेमितामक्षिभिरम्बुकेलौ ।

भमी मुखस्य श्रियमम्बुजिन्यो याचन्ति विस्तारितपद्महस्ता ॥ ५७ ॥

जीवानु—अकमिति । पत्ये भर्त्रे, अर्काय तिष्ठमाना स्वामिलाप प्रकाशयन्त्य  
कामुष्यः सत्य इत्यर्थ । 'दलाधल्लूङ्' इत्यादिना चतुर्थी 'प्रकाशनस्येवाख्ययाश्च'  
इत्यात्मनेपदम् । अम्बुजिन्य पचिन्व अम्बुकेलौ जलक्रीडाकाले भृङ्गेरेवाक्षिभि-  
मितामुपलब्धा मुखस्य श्रिय मुखशोभा विस्तारिता प्रसारिता पद्मा एव हस्ता  
याता ता, सत्यो भर्त्री याचति खलु स्वस्तिस्वावाचेदमयपदित्वम् । दुहादित्वाद्

द्विकर्तृत्वम् । अत्र पवित्रीणां मैत्रीमुख्यानाञ्चोत्प्रेक्षा मुख्य पञ्चादिक-  
व्यतिरेकं प्रतीयते ॥ ५७ ॥

अन्वय — अयं अर्कः तिष्ठमाना जम्बुविषः जम्बुकेन्द्री नृत्तं जसिमि  
निता मुखस्य द्विज विस्तारित्यहम्ना मैत्री सन्माचन्ति ।

हिन्दी-पवित्र मूल के लिए सद्यः ( प्रतीक्षा करती ) कमलिनिर्मा अन्धोटा  
में नौरे रूप जाँचो द्वारा ज्ञान मुख को शान्त को पत्र रानी हाथ फैला कर  
निश्चयतः मैत्री से मागतो हैं ।

टिप्पणी—कमलिनिर्मा रूप नादिकारं नायक प्रिय मूल के साथ जम्बुके  
की प्रतीक्षा में खड़ी हैं । वे चाहती हैं कि जब उनका प्रिय मूल साथे उस  
मनन वे जीर उनका मुख शृंगारजन हो, मुग्ध हो । एतदर्थ वे अनुराग-  
के स्फूर्ति से पद्महस्त फैलाकर दनयनों से घोंसा की माचना कर रही हैं ।  
भाव यह कि कमलिनी और दनयनी मुख में साम्य नहीं है । पहिली माचक,  
हमरा दाता । माचक-दाता में क्या मनना ? कमलिनाय के अनुसार इन श्लोक  
में मैत्रीमुख-श्री-माध्यम उत्प्रेक्षा द्वारा मुख का पञ्चादिक व्यतिरेक प्रतीत  
होता है । इन पर चद्र कलाकार के अनुसार उत्प्रेक्षा-व्यतिरेक का महा जा-  
मिनाव सफर है । विद्याकर के अनुसार स्वयं-उत्प्रेक्षा सनाभोक्ति जङ्कार  
है । इत्यव्या उद है ॥ ५७ ॥

अस्या मुखेनैव विजिग्य निन्दन्मयीं निन्दुः कुङ्कुमरोपमासा ।

प्रमह्य चन्द्र सन् नह्यमान स्यादेव निष्ठु परिवेषनाज ॥ ५८ ॥

जीवानु—अस्या इति । निन्द्य स्पर्शन इति निन्दन्मयीं चन्द्र निन्दनी  
व्याप्तुवती कुङ्कुमनेव रोपना क्रोधप्रभा सन् तेन । अस्या मुखेनैव विजिग्य  
प्रमह्य वनाभृत् नह्यमानो बध्यमान निष्ठु परिवेष एव पाशो बन्धनप्रदो  
यस्य स स्यादेवमुत्प्रेक्षा ॥ ५८ ॥

अन्वय — निन्दुः कुङ्कुमरोपमासा । अस्या मुखेन एव निन्दन्मयीं चन्द्र  
मनु विजिग्य जमस्य नह्यमान एव निष्ठु परिवेषनाज स्यात् ।

हिन्दी—श्री कुङ्कुम रूप केंद्र की लाजिना ने मुक्त रश्मि (दनयनी)  
के मुख से ही महा स्पर्श करनेवाला चद्रमा निश्चय ही जाकर हृत्पूर्वक

बाँधा हुआ रहता ही परिवेष ( चतुर्दिक् आवृत गोलाकार घेरा ) रूप पाश में बद्ध रहता है ।

टिप्पणी—दमयती के मुख पर कुकुम लगा है, जिससे वह लाल है । चंद्रमा ऐसे भ्रमीमुख की समानता नहीं कर सकता । कल्पना है कि चंद्रमा दमयती के मुख से स्पर्धा करने की घृष्टता प्राय विद्या करता है ( प्राय चंद्रमुख कहा ही जाता है ) यह अपराध है । इस पर क्रुद्ध हो मुख अपराधी चंद्र को दंड देता है और उसे रस्सी में बाँध कर डाल देता है । मुख पर लगे कुकुम को लाली रोप का प्रतीक है और चंद्रमा के चारों ओर जो घेरा सा बन जाया करता है, वही जैसे पाश है, जिसमें बाँधकर अनुचित स्पर्धा करने का दंड मुचने चंद्रमा को दिया है । मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार रूपक-उत्प्रेक्षा समासोक्ति ॥ ५८ ॥

विधोर्विधिविम्बशतानि लोप लोप कुहूरात्रिषु मासि मासि ।

अभङ्गुरश्रीकमम् किमस्या मुखेन्दुमस्थापयदेशेपम् ॥ ५९ ॥

जीवातु—विधोरिति । विधिविधाता विधोश्चन्द्रस्य विम्बशतानि मासि मासि मासे मासे 'पहन' इत्यादिना मासशब्दस्य मासित्यामादेश । कुहूरात्रिषु नष्टचन्द्रात्रिषु लोप लोप लुप्ता लुप्ता आभीक्ष्ये 'णमुल् च' इति णमुल्प्रत्यय आभीक्ष्ये द्वे भवत इति वक्तव्यम् । 'आभीक्ष्य पौन पुन्यम्' इति वाचिका । अभङ्गुरश्रीकमनश्चरशीभ, 'शेषाद्रिमाया' इति कप् । अमुमस्या मुखेन्दुम् । एकशेषमेकमेव क्षिप्यमाणमस्थापयत् स्थापितवात् । किमिदमुत्प्रेक्षा । व्याकरणे मरूपाणामेकशेषवदिति भाव ॥ ५९ ॥

अन्वय—विधि मासि मासि कुहूरात्रिषु विधो विम्बशतानि लोप लोपम् किम् अभङ्गुरश्रीकम् अमुम् अस्या एकशेषम् मुखेन्दुम् अस्थापयत् ?

हिन्दी—विधाता ने प्रतिमाम अमावस्या की रातों में चंद्रमा के बहुत से मण्डलों का बराबर लोप कर के क्या अनश्वर शोभाशील इस ( दमयन्ती ) के एक माग शेष मुखचंद्र की स्थापना की है ?

टिप्पणी—विधाता ने चन्द्र की रचना की, किंतु वह अपनी इस रचना से सतुष्ट न हुआ । असतुष्ट नित्यी विधाता प्रतिमास चंद्र को गड़ता, पर यतोय न होने पर ( प्रति अमावस्या को ) मिटा देता । ऐसे ही उसने अनेक



चन्द्र बनाये, फिर रचे, फिर नष्ट किये। अतः मैं उसने दमयंती के मुख रूप चन्द्र की रचना की। इसने विविध शिल्पी को सतोष हुआ कि अब मनचाही रचना उसने की। उनसे दमयंती मुख-चन्द्र को अनन्तर शोभा शाली बनाकर फिर नहीं मिटाया। भाव यह कि सैकड़ों क्षयी चन्द्रों में अक्षय शोभा शाली दमयंती-मुखचन्द्र की समानता करने की समता नहीं है। विद्यासा की यह अनुपम चन्द्रकृति न जाने कितने अय्याम के पश्चात् बन सकी है। व्याकरण का नियम है कि समान रूप वाले शब्दों में एक ही शेष रहता है। यही एक शेष है—संख्यानामेकशेष एक विनक्तौ। (अष्टाध्यायी, १।१।२४)। मल्लिनाथ ने 'किम्' के आधार पर उत्प्रेक्षा मानी है, नारायण ने जमावस्या को सर्वथा चद्रदर्शन न होने के आधार पर—जमावस्या सर्वथा चन्द्रादर्शनादियमुत्प्रेक्षा। विद्याधर ने यही अतिशयोक्ति-व्यतिरेक उत्प्रेक्षा का निर्देश दिया है। चद्र-कलाकार ने भङ्गुरदलोक चद्रविंशों का लोप करके अमङ्गुरदलोक भैमी मुखचन्द्र की स्थापना को उत्प्रेक्षा कहा है और चद्र को क्षयी और दमयंती-मुख को अक्षयशील बड़े जाने के आधार पर व्यतिरेक अलंकार को व्यञ्जना मानी है ॥ ५९ ॥

कपोलपद्मान्मकरान्सकेतुर्भ्रूम्याञ्जिगीपुष्पनुषा जगन्नि ।

इहावलम्ब्यास्मि रतिं मनोभू रज्यद्वयस्यो मधुनाधरेण ॥ ६० ॥

जीवातु—कपोलेति । मनोभू कपोलपद्मात् पत्रमङ्गादेव मकरादेतोः सकेतु केतुमान् मकरध्वज इत्यर्थः । भ्रूम्यामेव धनुषा जगन्ति जिगीषु जेनुमिच्छु अधरेणैव मधुना क्षीरेण वसन्तेन च रज्यद्वयस्योऽनुरक्तमस्य इहास्या रतिं प्रीतिं स्वदेवीं चावलम्ब्यास्ति । जगज्जिगीषोः कापस्य सर्वापि साधन-सम्पत्तिरस्यामेवास्तीत्यर्थः । अत्र पत्रमङ्गादावारोप्यमाणस्य केत्वादेस्ता-दात्म्येन प्रकृतजगज्जयोपयोगित्वात् परिणामालङ्कारः । 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणाम' इति लक्षणात् ॥ ६० ॥

अन्वय —कपोलपद्मात् मकरात् सकेतुः भ्रूम्या धनुषा जगन्ति जिगीषु अधरेण मधुना रज्यद्वयस्य मनोभू रतिम् अवलम्ब्य इह अस्ति ।

हिन्दी—कपोल पर लिखी पत्रावली रूप मकर का झंडा लिये भीहा के धनुष से जिगीषु को जीतने का आकांक्षी, मधु अधर के रूप में अनुरागी

मित्र मधु ( वसत ) के साथ मनोजन्मा ( काम ) रति ( प्रीति ) सहित ( अपनी पत्नी रति के सहित ) यहाँ ( भैमीमुख में ) बसता है ।

टिप्पणी—कपोलो की पत्रावली मकर-ध्वज, भ्रूयुग्म घनुप, मधु अघर मित्र वसत—ये सब कामचिह्न प्रकट करते हैं कि काम अपनी पत्नी रति सहित दमयन्ती के मुख को अपना आवास बनाये है । भाव यह है कि ये सब चिह्न यह अनुमान कराते हैं कि काम सपरिवार भैमी मुख का वासी है, अर्थात् दमयन्ती का मुख देखकर सब में कोमोत्पत्ति हो जाती है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ परिणामालङ्कार है, क्योंकि कपोलपत्रादि में आरोप्यमाण वस्तु आदि के तादात्म्य से प्रस्तुत जगज्जयोपयोगिता बताया गयी है । विद्याचरण अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति और रूपक अलङ्कार हैं ॥ ६० ॥

वियोगवाष्पाञ्चितनेत्रपद्मच्छद्मान्वितोत्सर्गपय प्रसूनौ ।

कर्णौ किमस्या रतितत्पतिभ्या निवेद्यपूषी विधिशिल्पमीदृक् ॥ ६१ ॥

जीवातु—वियोगेति । इत्यपूर्वं विधिशिल्प ब्रह्मनिर्माणमस्या कर्णौ वियोगेन हेतुना बाष्पाञ्चितमोरधुयुक्तयो नेत्रपद्मयो । छद्मेत्यपह्नवभेद । तेन छद्मनान्विते मिलिते उत्सर्गपय प्रसूने दानोदकमिश्रकुसुमे ययोस्ती रतितत्पतिभ्या सम्प्रदाने चतुर्थी । निवेद्यावर्णनीयो पूषावपूषो किम् । 'पूषोऽपूष पिष्टक स्यात्' इत्यमर । निवेद्यसमर्पणेन पुष्पाञ्जलिमुत्सृजन्ती साधुनेत्र योगात्तत्कर्णयोस्ताद्वपुष्पमुत्तरतिस्मरन्निवेद्यापूषततोत्प्रेषया सापह्नवया कर्णान्त विद्यान्त लोचनत्व वस्तु व्यज्यते ॥ ६१ ॥

अन्वयः—वियोगवाष्पाञ्चितनेत्रपद्मच्छद्मान्वितोत्सर्गपय प्रसूनौ रति-तत्पतिभ्या निवेद्यपूषी अस्या कर्णौ—ईदृक् किं विधिशिल्पम् ?

हिन्दी—विरह जनित आँसुगो से पूजित नेत्र कमलों के व्याज से दान के निमित्त जल और फूलों से युक्त, और उसके पति ( काम ) के निमित्त उपहार के अपूप ( पुष्ट ) जैसे इस ( दमयन्ती ) के दोनों कान इस प्रकार की क्या विधाता की भारीमयी है ।

टिप्पणी—पाँच ( ६१-६५ ) में कानों का वर्णन है । नल वियोगिनी दमयन्ती के दोनों नेत्रों में आँसू अरे हैं । ऐसा लगता है कि कामिनी दमयन्ती ने रति और काम को प्रसन्न करने के लिए निवेदनार्थ ये जल और फूल

सजाये हैं और उसके कान ( जिन् तक विशाल नेत्र फैले हैं ) अर्पित करने के लिए अपूप ( मिष्टपक्वान्न ) हैं । इस प्रकार दमयन्ती जल, फूल और मिष्टान्न अर्पित कर रति काम की आराधना कर रही है । इन आकर्ण नेत्रों को देखकर कामोत्पत्ति हो जाती है और ऐसे उत्तम शिल्प के रचनाकार विधाता की प्रशंसा में मुँह से निकल पड़ता है—‘बाहू रे विधाता, क्या तेरी कारीगरी है ।’ मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ सापह्नुवा उत्प्रेक्षा द्वारा कर्ण पर्यंत फैले लोचन होना-वस्तु ध्वनित है, क्योंकि सहाय्य नेत्रों की जड़-फूल और उनसे मुक्त कर्णों को अपूप कहा गया है । विद्याधर के अनुसार छैकानुप्रास-रूपक-अपह्नुवृत्ति उत्प्रेक्षा अलंकार है ॥ ६१ ॥

इहाविशद् येन पयातिवक्रं शास्त्रोपनिष्यन्दमुधाप्रवाहः ।

मोऽन्या अब पत्रयुगे प्रणाली रेखेत्र धावत्यभिकर्णकूपम् ॥ ६२ ॥

जीवन्तु—इहेति । अतिवक्रं शास्त्रोपनिष्यन्दमुधाप्रवाहः एव सुराप्रवाहो येन पया वरमंता यया प्रणाल्या इहास्या भूम्यामविशत् प्रविष्टः, अस्या, अबसी पत्रे दले इव अब पत्रे तयोर्मुने मुग्धे या रेखा वक्रप्रणाली सुधाप्रवाहपदपीव । ‘द्वयो प्रणाली पयस पठभ्याम्’ इत्यमरः । अभिकर्णकूप धावति कर्णर-धममिगच्छति । यथा कुतश्चिन्निभृतजल वक्रगत्या क्वाचित्प्रणाल्या कश्चिन्निम्नदेश गच्छति तद्वदिति भावः । अत्र कर्णस्य रेखाया सुधाप्रणालीत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ ६२ ॥

अन्वय — अतिवक्रः शास्त्रोपनिष्यन्दमुधाप्रवाहः येन पया इह अविशद्, अस्या अब पत्रयुगे रेखा प्रणाली इव अभिकर्णकूप धावति ।

हिन्दी—अत्यन्त टेढ़ा ( जटिल ) शास्त्र समूह का सारस्व अमृत-प्रवाह जिस मार्ग से यहाँ ( दमयन्ती के कंठ में ) प्रविष्ट हुआ, वह इस ( दमयन्ती ) के कर्णोत्पत्ति-युगल में रेखा प्रणालिका ( जल-प्रवाह की नाली की भाँति कर्णरध की ओर जाती है ।

टिप्पणी—दमयन्ती शास्त्रपटिना है, उसमें शास्त्रामृत-प्रवाह विद्यमान है । शास्त्र-सार बड़ा जटिल है, सूत्रार्थ, दुर्बोध । वह कैसे दमयन्ती तक पहुँचा ? प्रवाह किसी मार्ग—प्रणालिका में होकर ही बहता है । वह शास्त्रामृत प्रवाह वक्र कर्ण रेखारूपप्रणाली में बहकर कानों में प्रविष्ट हुआ । प्रणाली वक्र है,

अतः प्रवाह भी बड़ा है । भाव यह है कि कान सुन्दर है और दमयन्ती मुधासम वक्रोक्ति, शास्त्रादि के भर्म को जाननेवाली सकलकला प्रवीणा है । मन्त्रिनाथ के अनुसार यहाँ कान की रेखा में सुधा प्रणालीत्व की उत्प्रेक्षा की गयी है, विद्याधर के अनुसार अपह्नुति-उपमा ॥ ६२ ॥

अस्या यदष्टादश सविमज्य विद्या श्रुती दध्नतुरधर्मधम् ।

कर्णान्तरहत्कीर्णगभीरलेख किं तस्य मन्वेव न वा नवाङ्ग ॥ ६३ ॥

जीवातु—अस्या इति । अस्या श्रुती कर्णी अष्टादश विद्या वेदवेदाङ्गादिकानि वेदास्थानानि सविमज्य द्विजाकृत्य यदधर्मधर्म दध्नतु विन्नतु । कर्णस्यान्तरर्धे उत्कीर्ण उत्पादित गभीरो दूरगतो लेखोऽयमविद्या तस्यायस्य सहस्र्यैव मूर्ता नवसङ्ख्यैव न विम् । यद्वा नवानामङ्गो नवाङ्गो बालमङ्गल्याभिह्व वा न भवति किम् । मवरयेवेत्यर्थः । उत्प्रेक्षा ॥ ६३ ॥

अन्वय —अस्या श्रुती अष्टादश विद्या सविमज्य यत् अर्थम् अथ दध्नतु, किं तस्य कर्णान्तरहत्कीर्णगभीरलेख नवाङ्ग एव सख्या न वा ?

हिन्दी इस ( दमयन्ती ) के दोनों कान अठारह विद्याओं को बराबर-बराबर बाँटकर आ आधा-आधा धारते हैं, क्या उसका कानों के भीतर उद्घूत ( उकेरा ) गहरा लेख नया अमिट अंकित नो अंक ही सचचा ही है ? ( है ही ) ।

टिप्पणी—किणुपुराण के अनुसार अष्टादश विद्या इस प्रकार हैं—अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायनिस्तरः । धर्मशास्त्र पुराण च विद्या होताश्चतुर्दश ॥ आयुर्वेदो धनुर्वेदो नाथवद्वेति ते त्रयः । अर्थशास्त्र चतुर्थं तु विद्या अष्टादशैव ह ॥ ऋक्, यजु, साम और अथर्व—४ वेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द—६ वेदांग, मीमांसा, न्याय, धर्म-शास्त्र, पुराण—४, आयुर्वेद, धनुर्वेद, नाथव—४, और अथर्वशास्त्र—१=१८ । दमयन्ती के दोनों कानों कि मध्य नो के सत्य चिह्न हैं, सामुद्रिक विद्या के अनुसार शुभचिह्न । कल्पना है कि परमविदुषी दमयन्ती के पूर्वोक्त श्लोक के अनुसार) एक-एक कान में ये ही अठारह विद्या आधी-आधी, नो नो करके प्रविष्ट हुई हैं । नो की सख्या का चोत्पन्न अथर्व विद्याता ने यही गणना करने के निमित्त दमयन्ती के दोनों कानों में अंकित कर दिया है । भाव यह कि

दमयन्ती के कानों की रेखा नी बक के सदृश है और मुन लक्ष्म है ।  
मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्यावर के अनुसार छैकानुग्राम और  
उत्प्रेक्षा ॥ ६३ ॥

मन्येऽमुना कर्णलतानयेन पाशद्वयेन च्छिदुरेतरेग ।

एकाकिपाशं वरुण विधिम्येऽनङ्गीकृताऽन्मनती रतीशः ॥ ६४ ॥

जोवातु—मन्य इति । रतीशो रतिपति अमुना कर्णलतानयेन कर्णपाश-  
रूपेण च्छिदुरेदितेन च्छिदुरेतरेगानङ्गुरेग । 'विदिनिदिच्छिदे' वृच्  
इति कर्मकर्तरि कुरच् । पाशद्वयेन पाशानुग्रहमेन । 'पाशो बन्धनमन्त्रयो'  
इत्यमर । एकाकी अद्वितीयः पाशो मन्य तनेकाकिपाशम् । वन्यमननेङ्गीकृता  
परिहृता, आमानननि प्रयाम्परम्परा येन मांज्जायाम सन् विजिये  
जिाय । मन्य इत्युत्प्रेक्षायाम् । 'विपरान्मा जे' इत्यात्मनेपदम् । अधिकनाशने-  
नाल्पनाशनं मुजय इति भावः ॥ ६४ ॥

अन्वय—मन्ये अनङ्गीकृतायाममती रतीशः, अमुना कर्णलतानयेन  
छिदुरेतरेन पाशद्वयेन एकाकिपाश वरुण विजिये ।

हिन्दी—प्रतीत होता है कि बिना अधिक परिश्रम किये रतिपति (काम)  
ने इन ( दमयन्ती के ) कर्णजाल रूप हस्तपर पाशयुग्म से एक पाशवाले वरुण  
को जीत लिया ।

टिप्पणी—काम को दो पाश मिल गये दमयन्ती के कर्णों के रूप में ।  
इस प्रकार सगलता से ही उनने एक पाशधारी वरुण को जीत लिया । एक  
अन्वधारी को दो अन्वधारी महब में जीत ही सकता है । भाव यह कि  
वरुणादि देव भी दमयन्ती-कर्म देव कामवश हो जाते हैं । 'मन्ये' को उत्प्रेक्षा-  
छोटक मानकर मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्यावर के अनुसार छैकानु-  
ग्राम-अपहनुति-उत्प्रेक्षा । आमकन वरुण के दमयन्ती-स्वयवर में मुनिलित  
होने का नाटकीय पूर्वानान ॥ ६४ ॥

श्रातमेव तात्तम्य चतुर्मुख्यं जातश्चतुर्दोर्गचिरः स्मरोऽपि ।

तच्चापयोः कर्णलते भ्रुवोर्ज्यं वज्रत्वाशी चिपिटे किमन्याः ॥ ६५ ॥

जोवातु—आत्मेति । चतुर्मुख्यं चतुर्दोर्गः तात्तम्य स्वजनकस्य विन्योरात्मा  
स्वरूपमेव जातः । 'आत्मा वै पुत्रनामात्रि' इति श्रुतेः स्मरोऽपि चतुर्दोर्गः

चतुर्बाहुभि रश्चिर तस्य चतुर्बाहो स्मरस्य चापयोरस्या भ्रूवो अस्या एव  
 कणो लतेव वक्षस्य त्वक्सारस्य त्वगशो त्वग्भागमयो विपिटे अनते शृजु  
 इत्यमर । 'इनचिपटच्चिकचिच' इति ने पिटच्प्रत्ययी नेदिचरादेश ।  
 नासान्तवाचिना तत्त्वमात्र लक्ष्यते । ज्ये मीन्मो किम् । 'मीर्वी ज्या शिञ्जिनी  
 गुण' इत्यमर । अत्र स्मरस्य चतुर्भुजत्व ततो भौमीभ्रूवोस्तच्चापयुगत्व  
 तत्कर्णयोरेव ज्यात्व च उपप्रेक्ष्यते ॥ ६५ ॥

अन्वय — चतुर्भुजस्य तातस्य आत्मा एव जात. स्मर अपि चतुर्दोश्चरि,  
 त्रि तच्चापयो अस्या भ्रूवो कर्णलते वक्षस्वगशो विपिटे ज्ये ?

हिन्दी—चारभुजा वाले ( कृष्णरूप विष्णु ) चिता के आत्मा रूप में  
 उत्पन्न काम भी चतुर्बाहु सुन्दर है । क्या उसके दो धनुष रूप इस ( दमयन्ती )  
 के भ्रू युगल की कर्णलता रूप बस के ऊपरी अक्ष से निमित्त, शृजु (अनत,  
 विस्तृत) दो प्रत्यचा है ? ( हैं ही ) ।

टिप्पणी—इस श्लोक में दम्पती के भ्रूयुगल के काम के दो चाप  
 ( क्योंकि चतुर्भुज का धेटा—आत्मज ( आत्मा वं जायते पुत्र ) भी चतुर्भुज  
 है, चतुर्भुज होने से काम दो धनुष धारण करता है ) और उसकी कर्णलताओं  
 की उन चापा की प्रत्यचा बनाया गया है—'वक्षस्वगश' से रचित, अतएव  
 कमनीय । वे सीधी रखी हैं, क्योंकि काम धनुषों की चढ़ाकर प्रहार नहीं कर  
 रहा है । प्रहार की आवश्यकता ही नहीं है, दमयन्ती की मोह जात ( धनुष-  
 प्रत्यचा ) देखकर ही सब कामाधीन हो जाते हैं । इस श्लोक में काम का  
 चतुर्भुज होना और उससे ही भीमपुत्री के भ्रूयुगल का दो धनुष होना तथा  
 कानों का उनकी दो प्रत्यचा होना उपप्रेक्षित है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार  
 उपप्रेक्षालकार, विधाधर के अनुसार काव्यलिङ्ग और उपप्रेक्षा ॥ ६५ ॥

ग्रीवादभुतैवावटुशोमितापि प्रसाधिता माणवकेन सेयम् ।

आलिङ्ग्यतामप्यवलम्बमाना सरूपताभागविलोर्ध्वकाया ॥ ६६ ॥

जीवातु—ग्रीवेति । या ग्रीवा वटुना माणवकेन शोमिता अलङ्कृता न  
 भवतीत्यवटुशोमिता । तथापि माणवकेन वटुना प्रसाधितेति विरोधः ।  
 'अपि विरोधे' । अवटुशोमिता वृषाष्टिकालङ्कृता । 'अवटुर्पाटा कृकाटिका'  
 इत्यमर । 'माणवकेन विधातिसरेण मुक्ताहारेण प्रसाधितेति विरोधः ।

विद्यति सरा मानवकोऽपत्यात्' इति दीरस्वामी । 'अवेन्मानवको हारभेदे बाले कुपूस्त्रे' इत्यभिधेय । विञ्च, आलिङ्गयतामालिङ्गनीयात्वमलम्बमाना-  
प्याश्रयत्यपि सरूपतामाक् सारूप्ययोगी अखिलोऽन्यून ऊर्ध्वं आलिङ्गयत्यम्  
इति भावप्रयानो निर्देश । यस्या सा । 'अद्भुत्पालिङ्ग्योर्ध्वं काश्च' इत्यमर ।  
'हरीतनयादृतिस्त्र्यङ्गुषो यवमध्यस्तयोर्ध्वं' । आलिङ्गयत्येव गोपुच्छा  
मध्यप्रतिगतामगा ॥ इति च । आलिङ्ग्योऽन्यूध्वं इति विरोध । आलिङ्गयता-  
मालिङ्गनीयत्वमूयं ऊर्ध्वमाग इत्यविरोध । सेय ग्रीवाद्भुजं बोधविरोधा-  
दुक्तलक्षणयोगित्याच्चेति भावः । अत्र निरोधमासयो ससर्गात् सजातीय-  
समृष्टि ॥ ५९ ॥

अन्वयः—सा इय ग्रीवा अद्भुता एव, या अद्भुतोमिता अपि मानवकेन  
प्रमाथिता, आलिङ्गयताम् अलम्बयमाना अपि सरूपतामागन्त्रिचोर्ध्वं कामा ।

हिन्दी—वह सह ( दमयन्ती की ) ग्रीवा भी विचित्र ही है, जो कि  
'अद्भुतोमिता' ( आत्मा से अद्भुत होकर ) भी 'मानवक' ( बालक ) से  
अलङ्घ्य है ( विरोध ), अद्भुतोमिता ( गरदन के पुरोभाग 'हृत्पाटिका' से  
घोमित होकर ) भी मानवक ( बीसलडो मोती माला, 'प्रकाश'कार के  
धनुमार छोटी माला-अर्धहार से अलङ्घ्य है ( परिहार ) । जो 'आलिङ्गयता'  
( गोद में रखकर बचाये जाने वाला गोपुच्छाकार मृदग भाव ) धारण करती  
भी 'सरूपतामागन्त्रिचोर्ध्वं कामा' ( सर्वथा समरूप वाले ऊर्ध्व-ऊपर रखकर  
बचाये जाने वाले मृदग के तुल्य यशस्वर ) है, अथवा आलिंगन-योग्य होने  
पर भी 'असरूपतामागन्त्रिचोर्ध्वं कामा' ( अमुद्धर ऊपरी देहांधवती अथवा  
'सरूपतामाक्'—अर्थात् सपाट ऊपरी देहांधवाली अतः आलिंगन के अयोग्य )  
है ( विरोध ), आलिंगन योग्य होने पर भी समान अर्थात् उपमुक्त ऊपरी  
भागवती—जहाँ जैसी ऊँचाई नीचाई, घुमाव फिराव उचित हो, वैसी ऊर्ध्व देहांत  
भारिणी है ( परिहार ) ।

टिप्पणी—ग्रीवा-यन्त्रं । भाव यह कि दमयन्ती की ग्रीवा में मुक्ताहार है  
और वह सम ( उचित ) आकार की है । अनेकार्थ 'अद्भुत', 'मानवक' आदि  
शब्दों के आधार पर पूर्वाद्ध और पराद्ध में दो विरोधामासों को मल्लिनाथ ने  
अनुसार सजातीय समृष्टि, विद्याधर के अनुसार विरोधामास ॥ ५९ ॥

कवित्वगानप्रियवादसत्यान्यस्या विधाता न्यधिताभिकण्ठे ।

रेखात्रयन्यासमिषादमीषा वासाय मोऽय विबभाज सीमा ॥ ६५ ॥

जीवातु—कवित्वेति । विधाता अस्या अधिकण्ठ कण्ठे । विभक्तयर्थेऽप्यमी भावः । कवित्वं च गानं च प्रियवादश्च सत्यं च तानि चत्वारि न्यधितं निहितवान् । सोऽयं विधाता अमीषा कवित्वादीनां चतुर्णां वासाय कण्ठे अग्रद्वीपं स्थितये रेखात्रयन्यासमिषात् कम्बुग्रीवा त्रिरेखा सती लक्ष्मसम्पत्तिरिति भावः । सीमा मर्यादा विबभाज मध्यरेखात्रयविन्यासेन चतुर्णां विभक्तवान्, भविष्यदयेति भावः । अत्र ग्रीवागतमान्यरेखात्रये सीमाविभागविहृत्यमुत्प्रेक्ष्यते ॥६७॥

अन्वयः—विधाता अस्या अभिकण्ठे कवित्वगानप्रियवादसत्यानि न्यधितं, स अयम् अमीषा वासाय रेखात्रयन्यासमिषात् सीमा विबभाज ।

हिन्दी—विधि ने इस ( दमयन्ती ) के कंठ में कवित्व, गान, प्रियवचन और सत्य रख दिये, उस विधाता ने ही इन ( चारों ) के वासाय तीन कंठ रेखाओं द्वारा ने ( चार ) सीमाएँ विभक्त कर दी ।

टिप्पणी—भाव यह कि दमयन्ती काव्यरसिका, समीतप्रिया, प्रिय और सत्य बोलने वाली है ( सामान्यतः प्रिय और सत्य बोलना कठिन है ) । ये चार हैं, अतः इनके वासाय चार कक्ष अपेक्षित हैं । प्रतीत होता है कि विधाता ने यही ध्यान में रखकर दमयन्ती कंठरूप विशालकक्ष में तीन कंठरेखाओं को खींच कर तीन विभाजक दीवारें ( पार्टीशन वाल ) बना दी और एक बड़े कक्ष को चार निवासयोग्य कक्षों में बदल दिया । एक 'हाल' के चार बेडरूम बना दिये तीन 'विभाजक' डालकर । तीन 'विभाजकों' से चार स्थान ही हो जायेंगे । दमयन्ती कवित्व आदि कलाओं में प्रवीण और 'कम्बुग्रीवा' है । कम्बुग्रीवा तीन रेखाओं में अंकित ग्रीवा होती है—रेखात्रयाद्धिता कम्बुग्रीवेति कथ्यते । ऐसी ग्रीवा श्रेष्ठ मानी जाती है । मल्लिनाथ के अनुसार उपदेक्षा, क्योंकि ग्रीवा के रेखात्रय में सीमाविभागविहृत्य की समावना की गयी है । विधातार के अनुसार छेकानुप्रास-अपह्नुति ॥ ६७ ॥

वाहू प्रियाया जयता मृणालं दृन्द्रे जयो नाम न विस्मयोऽस्मिन् ।

उच्चैस्तु तच्चित्रममुष्य भग्नस्यालोक्यते निर्व्ययनं यदन्त ॥ ६८ ॥

जीवातु—वाहू इति । प्रियाया वाहू मृणालं जयता नाम । जयतेर्लोपि



तसस्तामादेशः । अस्मिन् द्वन्द्वे युग्मे बलहे च । 'द्वन्द्व कलहयुग्मयो' इत्यमरः । जयो नाम विस्मयोऽद्भुतो न, किंतु भग्नस्य जितम्यामुप्य मृणालस्य अन्तर्गते अन्तःकरणे च व्ययनस्माभावो निर्व्ययनमव्यय छिद्रं च 'छिद्रं निर्व्ययनं रोकम्' इत्यमरः । अर्थाभावे अव्ययीभावः । यद्विलोक्यते तदुच्चैर्महत्त्वित्रं भग्नोऽप्यव्यय इति विरोधात् । छिद्रं विलोक्यत इत्यविरोधः । मृणालस्यान्तश्छिद्रत्वात् । विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ६८ ॥

अन्वयः—प्रियाया बाहु मृणाल जयताम्, अस्मिन् द्वन्द्वे जयः नाम न विस्मयः, उच्चैः तु चित्रं तद् यद् भग्नस्य अमुप्य अन्तः निर्व्ययनम् आलोक्यते ।

हिन्दी—प्रिया ( दमयन्ती ) की मुजाएँ कमलनाल को जीत ले, इस द्वन्द्व में ( मुजाओं की जीत आश्चर्य नहीं है, अत्यधिक विचित्र तो यह है कि भग्न ( पराजित, टूटे ) इस ( कमलनाल ) का अन्तःकरण निर्व्ययन ( पीड़ा रहित, सच्छिद्र ) दीखता है ।

टिप्पणी—श्री ( ६८, ६९ ) श्लोकों में बाहुयुग्म का वर्णन । दमयन्ती का बाहुयुग्म मृणालों की अपेक्षा मोटा और कोमल है । इस तथ्य को भगिमा विशेष प्रतिपादित किया गया है । दो प्रतिद्वन्द्वी हैं, बाहुयुग्म और मृणाल । बाहुयुग्म की विशिष्टता स्वतः सिद्ध है, वे जीतते हैं । इसमें किसी को विचित्र नहीं लगता, बाहुयुग्म को जीतना ही था । विचित्र यह है कि हारने पर भी मृणालों का अन्तः 'निर्व्ययन' अर्थात् व्यथारहित है । यह विरोध है, क्योंकि पराजित व्यथारहित नहीं होता । परिहार है कि मृणालों का अन्तःकरण ( मय ) 'निर्व्ययन' अर्थात् छिद्र युक्त है । 'निर्व्ययन' से प्रसृत ही 'भग्न' के भी दो अर्थ हैं—( १ ) पराजित, ( २ ) टूटा । मृणाल खनु । 'मुकु' छिद्र होते ही हैं, टूटने पर वे स्पष्ट दीख गये । मल्लिनाथ के भाव । 'प्रियाभास' है और विद्याधर के अनुसार समासोक्ति और श्लेष ॥ ६८ ॥

अजोयतावर्तं शुभयुनाभ्या दोभ्यां मृणालं किमु कोमलाभ्याम् ।

निस्सूत्रमाले धनपङ्कमृत्सु मूर्त्तासु नाकीर्तिषु तन्निभमग्नम् ॥ ६९ ॥

जीवान्—अजोयतेति । आवर्तः भ्रमः स इव शुभयुः शुभवती नानिर्यस्या सा । तथा भैम्या । 'शुभयुस्तु शुभान्वितः' इत्यमरः । 'अहशुभ-योर्धुम्' इति शुभमिति मकारान्ताव्ययान्मत्वर्थो यो युस्तुप्रत्ययः । कोमलाभ्या

मृदुम्या दोम्या भुजाम्या मृणालमजीयत किमु भादवगुणेन जित किमित्युत्प्रेसा ।  
कुत , घनासु साद्रासु पङ्ककस्यासु मृत्स्वेव मूर्तासु मूर्तिमतीष्वकीर्तिषु तन्मृणाल  
निमग्न निस्सूत्र निर्व्यवस्थ निर्भयादि नास्ते किं कानु अपराजितत्वे कथमकीर्ति  
पङ्कपात इति भाव ॥ ६९ ॥

अन्वय —आवर्तशुभयुनाम्या कोमलाम्या दोम्या मृणालम् अजीयत  
नि सूत्र तस् किमु घनपङ्कमृत्सु मूर्तासु अकीर्तिषु निमग्न न आस्ते ?

हिन्दी—दक्षिणावर्त शल के समान और युक्त शुभ नामि वाली इस  
( दमयन्ती ) के कोमल बाहुओं ने मृणाल को जीत लिया ( इसी से ) नि सूत्र  
( निरुपाय, तनुहीन ) वह ( मृणाल ) क्या घनी कीचड़ मिट्टी ( रूप ) में  
देहधारिणी अकीर्तियों के बीच निमग्न नहीं है ?

टिप्पणी—भाव वही है कि दमयन्ती के बाहु मृणाल की अपेक्षा आरूपक  
हैं, कोमल मृणाल भी उनकी समता नहीं कर सकता, जो स्वभावतः 'नि सूत्र'  
( तनुरहित ) होता है । इसी अनेकार्थ 'नि सूत्र' का 'निरुपाय' अर्थ लेकर  
मृणाल की विवशता प्रतीत करायी गयी है । मृणाल काली कीचड़ में होता  
ही है । यहाँ कहना है कि पराजित और निरुपाय मृणाल अवश की काली  
कीचड़ में फँसा पड़ा है । अकीर्ति की कविसमयसिद्ध श्यामता के आघार पर  
कीचड़ मिट्टी के रूप में उसे भूत कहा गया है । मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेसा  
और काकुवक्रोक्ति । विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास समासोक्ति रूपक इत्ये  
व्यकार ह ॥ ६९ ॥

रज्यन्नलस्याङ्गुलिपञ्चकस्य मिषादमी हैङ्गुलपद्मतूणे ।

हैमैकपुद्गलविशुद्धपर्वा प्रियाकरे पञ्चशरी स्मरस्य ॥ ७० ॥

जीन दमयन्ती का रज्यन्त स्वभाववरता नक्षा यस्य तस्य । कुपिरजो  
प्राचा ध्यन्ते । अङ्गुलिपञ्चकस्य मिषात् असौ पुरोवतिनी हैमा  
सौवर्णा एके वेंवला असाधारणा पुष्पा वर्तयित्वा मूलप्रदेशा यस्या सा ।  
'वर्तरी पुद्ग' इति यादव । विशुद्धपर्वा निवर्णग्रन्थि सरलग्रन्थिरित्यर्थ ।  
स्मरस्य पञ्चशरी शरपञ्चकम् । समाहारे द्विगोर्द्विप् । प्रियाकरे भैमीपाणावेव  
हिङ्गुलेन रपत हैङ्गुल तस्मिन्नेव पद्मतूणे अस्ति वर्तत इत्युत्प्रेसा ॥ ७० ॥

अन्वय —रज्यप्रसस्य अङ्गुलिपञ्चकस्य मिषात् हैमैकपुद्गल विशुद्धपर्वा  
यसो स्मरस्य पञ्चशरी हैङ्गुलपद्मतूणे प्रियाकरे अस्ति ।

हिन्दी—प्रकृति से छाल नखोंवाली पाँच अंगुलियों के व्याज से धेड़ मुवों पुख ( कगनाम ) वाली, ऋजु ग्रन्थि ( जोड़ ) से मुकत यह ( प्रत्यक्ष समुद्र ) काम की पचगरी ( पाँच कुमुमवाण ) हिगुल से रंगे पद्म तूगीर-से प्रिया ( दमयन्ती ) के हाथ में है ।

टिप्पणी—तीन ( ७०-७२ ) में हाथ का वर्णन है । इस श्लोक में स्वभावतः छाल नखोंवाली अंगुलियों को स्वर्णमुक्कमय काम के पाँच कुमुमवाण बताया गया है, नख उन अंगुलिबाणों के पंख हैं तथा अंगुलियों के पार उनकी नरत गाँठें हैं । हिगुल से रजित दमयन्ती का हाथ उन अंगुलि कुमुमशरों का तूगीर है । काम के पुष्प बाग हैं, अब उनका तूगीर नी पुष्पमय होना चाहिए । इसी दृष्टि से रक्तामय से साम्य रखनेवाले दमयन्ती-कर को 'पद्मनूप' कहा गया । पचगरी अंगुलियाँ हैं, जो 'हैमैकपुत्रा' है, क्योंकि नख लाल हैं । अयुक्तन मुवपं रक्त होता है । विद्युद पर्व ( पोर और गाँठें ) दोनों में हैं । भाव यह है कि भीममुत्रा का हाथ और अंगुलियों के देखनेमात्र से कामप्रादुर्भाव हो जाता है । मस्तिनाथ के अनुसार उपप्रेक्षा और विद्याधर के अनुसार अपहृनुति ॥ ७० ॥

अस्या इत्यप्यनगविश्वद्विर्वाल्वापम्बलु पल्लवो य ।

मूयोऽपिनामात्रसाम्यगर्वं कुर्वन् कथं वाऽस्तु स न प्रवालः ॥ ७१ ॥

जावानु-अस्या इति । य पल्लव इति अस्या करेण स्पर्शनं गृह्णातीति तद्वर्गिनी श्वद्वि कान्तिर्यस्य स कृतस्पर्शं सन्तित्यर्थः । 'श्वद्वि' इति प्रकृतिभावः । बालन्व शिशुश्च प्रयश्च मूर्खन् चोपलब्धुः । 'मूर्खोऽनंकेऽपि बालः स्यात्' इत्यनरः । अयोऽपिनामात्रं मूर्खो भवतीति भावः । मूयोऽपि नाम पुनरपि किल मूर्खन्व प्राप्त्यतीत्यर्थः । यदस्माभ्येन गर्वं कुर्वन् यदस्माभ्यामिमानं कुर्वन् सपल्लवः प्रवालः प्रवालशब्दाच्च वयवोरभेदात् प्रयोगे बालश्च यथ वा नाम्नु न स्यात् ? स्यादेवेत्यनं । अयोऽपिनामात्रस्य त्वतिमूर्ख इति भावः । यदिकतश्च करादधररतिमवस्वत्वात् । तथा चावरोनाम्य तावदास्ताम् । पल्लवस्य वरसाम्यमपि दूरापास्तमित्यर्थः । ततश्च प्रवालशब्दस्य पल्लवप्रवृत्तिनिमित्तमप्येतदेवेति भावः ॥ ७१ ॥

अन्वय —य पल्लवः अस्या करस्पर्शनगर्धनश्रद्धि बालत्व सलु आपत्, भूय अपि नाम अधरसाम्यगर्वं भुवन् स प्रवाल कय वा न अस्तु ?

हिन्दी—जो पल्लव ( नया पत्ता ) इस ( दमयन्ती ) के हाथ को छूने की अत्यधिक आकांक्षा रखता हुआ 'बालता' ( बचपन, नवीनता, मूर्खता ) को प्राप्त हो गया था, फिर भी ( दमयन्ती ) के अधर की समानता करता हुआ वह 'प्रवाह' ( मूंगा, 'व' 'ब' के अभेद से मूर्ख ) क्यों न हो जाय ? ( होना ही उचित है ) ।

टिप्पणी—दमयन्ती-कर पल्लव की अपेक्षा अधिक मनोरम है वैसे ही, जैसे कि मूंगा ( प्रवाल ) से उसका अधर । दमयन्ती के कर नव पल्लव से भी अधिक लाल हैं । अधर का प्रसंगत उल्लेख हो गया है । 'बाल' और 'प्रवाल' के प्रयोग से यहाँ चमत्कार धारत्व आयी है । पक्ष ने एक बालता' अर्थात् मूर्खता की—बचपना दिखाया, अभी 'नया' ही जो था, अनुभवहीन कि दमयन्ती के कर से स्पर्धा करने चला, फलत उसे 'बाल' ( मूर्ख, बच्चा, अनुभवहीन ) कहा गया । पुनः उसने मूर्खता को कि 'प्रवाल' ( मूंगा ) बन कर अधर-साम्य करने चला । इस प्रतिस्पर्धा में वह और भी मूर्ख ( प्रवाल ) सिद्ध हुआ, और अधिक अनुभवहीन बच्चा । पल्लव कर तक तो हो नहीं पाया, अधर से होड़ करने पर उसे अत्यधिक मूर्ख 'प्रवाल' तो बनना ही पड़ता । 'अधर' को 'रतिसर्वस्व' माना जाता है, अतः कर की अपेक्षा वह श्रेष्ठ है । प्रथम चरण में पाठांतर है—'करस्पर्धनगर्धनश्रद्धि' करस्पर्धनस्य गर्धनेन श्रद्धि यस्य । मल्लिनाथ को 'करस्पर्शनगर्धनश्रद्धि' पाठ समत है । उन्होंने 'श्रुत्यक' से ( अष्टा० ६।१।१२८ ) द्वारा गर्ध+श्रद्धि में प्रकृतिभाव का निर्देश किया है । विद्याधर के अनुसार उत्प्रेसा और समासोक्ति ॥ ७१ ॥

अस्यैव सर्गाय भवत्करस्य सरोजसृष्टिर्मम हस्तलेखः ।

इत्याह धाता हरिणेल्लणाया किं हस्तलेखीकृतया तथास्याम् ॥ ७२ ॥

जीवातु—अस्येति । अस्य भवत्करस्य भवत्या पाणे सर्गायैव सरोजसृष्टि मम हस्तलेखी रेताभ्यास इति विधाता अस्यां हरिणेल्लणायै भूम्या हस्तलेखी-कृतया अभ्यासीकृतया हस्तकृतपद्मरेखीकृतया च तथा सरोजसृष्टिधा करणेनाह किम् ? भूम्यं वक्ष्यति किमित्युत्प्रेसा ॥ ७२ ॥

अन्वय—घाता हस्या हरिषेक्षणीया हस्तलेखीकृतया तथा किम् इति  
 बाह—अस्य भदत्करस्य सार्थि एव सरोजमृष्टि मम हस्तलेख ?

हिन्दी—विधाता ने उठ ( दमयन्ती ) हरिषनयना के हाथ में लिखी उस  
 ( कमलरेखा ) से क्या यह कहा—‘इस बाप ( दमयन्ती ) ने हाथ की रचना  
 के निमित्त ही कमल-सज्जना मेरा हाथ का अन्वय है ?

टिप्पणी—दमयन्ती कर में दुर्भटक्षण कमलरेखा है और वे कमलों की  
 अपेक्षा अधिक उमर्याद हैं। इस तथ्य को इस प्रकार स्पष्ट किया गया कि  
 जैसे ‘सरोजनहार’ विधाता दमयन्ती के कर से यह निवेदन कर रहे हैं कि उस  
 रमणीयतर रचना के निमित्त हाथ में उपाई लाने के लिए अनेक ‘सरोजमृष्टि’  
 करके उन्होंने असीम कष्टास किया है, तब आकर दे हाथ बन पाये। मल्लिनाथ  
 के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति ॥७२॥

कि नर्मदाया मम सेयमस्या दृग्प्राप्तमतो बाहुलता मृणाली ।

कुक्षी किमुत्स्यतुरन्तरीपे स्मरोष्मशुष्यत्तरवात्यवार ॥ ७३ ॥

जीवातु—किमिति । स्मरोष्मणा स्मरसत्तापेन शुष्यत्तरमतिशुष्यत् । बाल्य-  
 मेव वा वारि दस्यास्तस्या नैम्या एव नर्मदाया त्रीढाप्रदाया रेवापाश्च  
 सम्बन्धिनी । ‘रेवा तु नर्मदा’ इत्यमर । अनित उन्नयतो ह्या सेय बाहुलता  
 मृणाली विसलता किम् ? जव नर्मदाया विषेयप्राधान्यात् मृणात्या साक्षात्  
 सम्बन्धात् ‘अमित पत्ति’ दस्यादिना द्वितीया नास्ति । कुक्षावेवान्तरीपे  
 अपामतस्तटे ‘द्विषोऽस्त्रियामन्तरीप मशन्तर्वारिणस्तटम्’ इत्यमर । ‘शुष्पुषा’  
 इति समास । ‘शृङ्ग-पू’ इत्यादिना समासान्तोऽकार । ‘द्वयन्तदपसर्गेभ्योऽन  
 ईत्’ उत्तस्यतुस्त्यती किम् ? कर्त्तव्यमन्त्वात् परस्मैपद रूपकोऽजीविता  
 उत्प्रेक्षा ॥ ७३ ॥

अन्वय—स्मरोष्मशुष्यत्तरवात्यवार मम नर्मदाया अस्याः अमिता  
 ह्या सा इय कि बाहुलता मृणाली, कुक्षी किम् अन्तरीपे उत्तस्यतु ?

हिन्दी—काम ताप रूप कम्पा ( घृण ) से जिसका बालापन-रूप अल  
 खूब मूष गया है, ऐसी भुझे नर्म अर्थात् त्रीढानन्द-दायिनी इस ( भैमीरूप )  
 नर्मदा ( रेवा नदी ) के दोनों तटों पर देखने योग्य वह यह भुजलता रूप  
 क्या कमलनाल है, क्या ( ये ) स्तनयुगल दो द्वीप ( टापू ) उठ आये हैं ?

टिप्पणी—आठ ( ७३-८० ) श्लोको में कुचों का वर्णन किया गया है। बाल्यावस्था व्यतीत होकर तारुण्य आ जाने से दमयन्ती की दोनों बाहु मृणालवल्लरी जैसी रमणीय और दर्शनीय हो गयी हैं और उसका चुचयुग्म उन्नत होकर आकर्षक हो गया है। नल को वह नर्म ( आनद ) देती है, नर्मदा नदी के समान। कल्पना है कि दमयन्ती उस नर्मदा नदी के तुल्य है, जिसके दोनों तट सुख गये हैं, बाल्यावस्थारूप जल गर्मी से पूर्णतया शुष्क हो गया है। तटरूप बाहुयुग्म मृणालों के समान है और स्तनयुग्म जल-मूलने से उठ आये दो टापुओं जैसे प्रतीत हो रहे हैं। महिलाय के अनुसार वहाँ रूपकोज्जीविता उत्प्रेक्षा है, जिसका चन्द्रकलाकार ने एक उत्प्रेक्षा के अगाधिभाव सकर के रूप में निर्देश किया है, विद्यावर के अनुसार छेतानुप्रास उत्प्रेक्षा अलंकार हैं ॥ ७३ ॥

ताल प्रभु स्यादनुकर्तुमेतावुत्थानमुस्यो पतित न तावत् ।

पर च नाश्रित्य तस्मै महान्त कुचौ कृशाङ्गया स्वत एव तुङ्गी ॥७४॥

जीवातु—तालमिति । तावत् पतित च्युत तालफलं कर्तुं उत्थानेन ऊर्ध्वावस्थानेन सुस्थौ सुप्रतिष्ठौ अपतितौविरत्यम् । एतौ कुचौ अनुकर्तुं न प्रभु समर्थ न स्यात्, पतिताऽपतितयोः कृतं साम्यमिति भावः । परपतितं च महान्त-मतिवृद्धतवमाश्रित्य, सदिति शेषः । स्वत एव तुङ्गी कृशाङ्गया कुचौ अनुकर्तुं न प्रभुः । कृतं स्वाभाविकौ सदित्यर्थः । अस्वाभाविकौभ्रत्ययो कथं साम्यमिति भावः ॥ ७४ ॥

अन्वयः—पतित तावत् तालम् एतौ उत्थानमुस्यो अनुकर्तुं प्रभु न स्यात्, पर च महान्त तस्मै आश्रित्य स्वत एव तुङ्गी कृशाङ्गया कुचौ न ।

हिन्दी—( घरती पर ) गिरा ताड़ फल इन उभार के कारण सुखवस्थित (उन्नत, अपने स्थान पर प्रतिष्ठित कुचा) के अनुकरण में समर्थ न होगा और दूसरा ( पेड़ पर लगा फल ) ऊँचे बड़े पेड़ का आश्रय लेकर अपने आप ही ऊँचे सन्वगी ( दमयन्ती ) के कुचों का अनुकरण नहीं कर सकता ।

टिप्पणी—भाव यह कि दमयन्ती के कुच ताड़फल की थोड़ा अधिक मुडोल, गोल और उन्नत हैं। ताड़फल की दो स्थितियाँ सम्यक् हैं—( १ ) वह पेड़ से घरती पर गिर गया हो, ( २ ) पेड़ पर ही ऊँचे लगा हो। पहिला

इस लिए कृपागो नैनी कुचों के समान नहीं है, क्योंकि कुच उन्नत हैं, अपने म्यान पर हैं, जब कि फल नीचे गिरा पड़ा है और स्थान च्युत है। दूसरी स्थिति में तादृक इस कारण समानता नहीं कर सकता क्योंकि वह स्वयम् स्वयामन्य के कारण उन्नत नहीं, वृक्ष के ज्वलवन से उसे उच्चता प्राप्त हुई है, जब कि कुच स्वयामन्य से स्वभावतः उन्नत हैं। पहिली स्थिति में पतित होने से फल असम है, दूसरी स्थिति में वह पतितता के कारण समान नहीं है। विद्याधर के अनुसार यहाँ काव्याङ्गा-विरोधानाश-समाप्तोक्ति बलकार है ॥ ७४ ॥

एतन्नुवस्यधितया घटस्य स्यात्स्य शास्त्रं निदर्शनत्वम् ।

तस्माच्च शिल्पान्मणिकादिकारो प्रसिद्धनामाजनि कुम्भकारः ॥ ७५ ॥

जोवानु—एतदिति । एतन्नुवस्यधितया स्यात्स्य लाके प्रसिद्धस्य घटस्य कुम्भस्य शास्त्रेषु निदर्शनत्व तत्र तत्र स्थानान्वनजनि । किं मणिकादिकारो अलिङ्गजरादिमहाभाण्डनिर्माता कुलाल 'अलिङ्गजरा स्यान्मणिक' इत्यमरः । तस्मादेव शिन्नात् घटनिर्माणात् कुम्भकार इत्येव प्रसिद्धनामाजनि । महत्सर्गा इव तत्सङ्घर्षोऽपि स्यात्किं इति भावः ॥ ७५ ॥

अन्वयः—एतन्नुवस्यधितया स्यात्स्य घटस्य शास्त्रेषु निदर्शनत्वम् अजनि, मणिकादिकारो तस्मात् शिन्नात् कुम्भकारः प्रसिद्धनामा ।

हिन्दी—दस ( दमयन्ती ) के स्तन की रसदा के कारण प्रसिद्ध घट का शास्त्र में दृष्टात बनाया, मटका आदि ( बड़े भाँड़ों ) का निर्माता उसी शिष्य से कुम्भकार नाम से प्रसिद्ध हो गया ।

टिप्पणी—दमयन्ती के कुच घड़े-जैसे हैं । कथना है कि नैनी-स्तनों की रसदा के कारण ही म्यायशास्त्रादि में घट का दृष्टात बना है—'पञ्चतन्त्रं तदन्वय यथा घटः, मन्विष्य न तदङ्गुलमपि न यथा घटः' ( या बनावटी है, यह अन्वित है जैसे घड़ा, जो निष्य है, वह अङ्गुलि भी नहीं है जैसे घड़ा ) । इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से घट-दृष्टात दिया गया है । यह दृष्टात घट को नैनीकुच-रसदा से ही मिला और उसी शिष्य-कुचरसदा से बड़े-बड़े मटका आदि बनाने से निर्माता कुम्भकार नाम से विदित हो गया । बड़ा के शब्द विरोध से अर्थ होता है—यह विरोध से अर्थ नहीं है ( तादृक-

किरातार्जुनीय ) । विद्याधर के अनुसार यहाँ असम्बन्ध में भी सम्बन्ध बधन है, इस प्रकार रूपकातिशयोक्ति-काव्यलिङ्ग अपह्नुति अलङ्कार हैं ॥७५॥

गुच्छालयस्वच्छतमोदविन्दुवृन्दाभमुक्ताफलफेनिलादौ ।

माणिक्यहारस्य विदभंसुभ्रूपयोधरे रोहति रोहितश्रीः ॥ ७६ ॥

गुच्छेति' । माणिक्यमयस्य हारस्य रोहितश्री लोहिता काति । विदभंसुभ्रूपयोधरे भैमीकुचे रोहति प्रादुर्भवति । किम्भूते गुच्छो हारविशेष आलस्य आश्रयो येषा तानि स्वच्छतमानि निर्मलतरा ( मा ) नि उदविन्दु-वृन्दवज्जलविन्दुसमूहवदामा येषा तानि मुक्ताफलानि तै फेनिल फेनमुक्ता सज्ज्वलतरोऽङ्को मध्यो यस्य । मुक्ताहारमाणिक्यहाराम्या भैमीकुचो दाभेते इति भावः । अथ च पयोधरे मेघे रोहितश्री अजुस्रघनु सोमा प्रादुर्भवती-त्युक्तिः । 'हारभेदा यष्टिभेदाद् गच्छगुच्छार्द्धगोस्तना' इन्द्रायुध स्रघनुरतदेव-अजुरोहितम्' 'रोहिते लोहितो रजत' इत्यमरः । फेनिल, मत्स्यं 'फेनादिलञ्च' इतीलच् ॥ ७६ ॥

अन्वय —माणिक्यहारस्य रोहितश्री गुच्छालयस्वच्छतमोदविन्दुवृन्दाभ-मुक्ताफलफेनिलादौ विदभंसुभ्रूपयोधरे रोहति ।

हिन्दी—माणिक के हार की लाल काति 'गुच्छ' नामक हार में जगे अत्यंत सज्ज्वल उल विन्दुओं की आभावाले मोतियों से फेनिल ( मेघपदा में—जल-विन्दुरूप मोतियों से फेनिल ) मध्य भागवाले विदभं की सुभ्रू ( दमयंती ) के पयोधर- ( कुच ) रूप पयोधर ( बादल ) पर सुशोभित हो रही है ।

टिप्पणी—दमयंती के पक्ष पर 'गुच्छ' ( वृत्तिसलडा या सत्तरलडा ) नामक हार सुशोभित है, जो माणिक्य और मोतियों से बना है । लाल काति माणिक्य की है और शुभ्र मोतियों की । 'रोहित' का एक अर्थ अजु ( सरल ) इन्द्रधनुस् भी होता है । माणिक्य की लाल काति मोतियों पर पड़ती, स्तन रूप फेनिल घन पर सुशोभित लच्छीहे इन्द्रधनुस्-सी प्रतीत हो रही है । विद्याधर के अनुसार छेकानुशास उत्प्रेक्षा-दत्तेय अलङ्कार । अद्रक्लाङ्कार के अनुसार दलेप-उपमा की ससृष्टि ॥ ७६ ॥

१ इस दलोक की मल्लिनाथकृत 'बीबातु'-व्याख्या अनुपलब्ध है, अतः चारामणी प्रकाश ( ससृष्ट ) टीका दी गयी है ।



नि शङ्खपक्षोचिनपक्षोऽयमस्यामुदीतो मुखमिन्दुविम्बः ।

चित्र तयापि स्तनकोकगुम्भः स्तोकमप्यञ्चति विप्रयोगम् ॥ ७७ ॥

जीवानु—निःशङ्खेति । निःशङ्ख यथा तथा शङ्खावितानि मुकुलितानि पङ्कजानि येन सोऽयं मुखनेत्रेन्दुविन्दोऽस्या भूम्यामुदीत उदितस्तयापीन्दुदगेऽपि स्तनावेव कोको चक्रवाकी । 'कोकश्चक्रश्चक्रवाक' इत्यनरः । तयोर्गुम्भं स्तोक्मप्यपि विप्रयोग नाञ्चति न मञ्चति विप्र मुखेन्दुदगेऽपि कुचकोकयोर्विप्रयोग इति ह्यकोत्थापितो विरोधाभास इति सङ्करः ॥ ७७ ॥

अन्वय —मुखम् अस्याम् उदीत अयं नि शङ्खपक्षोचिनपक्ष इन्दुविम्बः, तयापि स्तनकोकगुम्भः स्तोकम् अपि विप्रयोग न मञ्चति—इति चित्रम् ।

हिन्दी—( दमयन्ती का ) मुख इस ( दमयन्ती ) में उदित यह शकाहीन हो कमलों को सजुचित करनेवाला ( कमलशयी ) चन्द्रविम्ब है, तयापि स्तनरूप चक्रवाक युग कुठ देर को भी विप्रयोग नहीं प्राप्त करता—यह आश्चर्य है ।

टिप्पणी—चन्द्र-विम्ब-दर्शन से कमल मुँद जाते हैं और चक्रवाकदम्पती विपुञ्ज हा जाते हैं, पर यहाँ ( दमयन्ती में ) विचित्र यह है कि मुखरूप में कमलों का लज्जानेवाला ( मुँदनेवाला ) चन्द्र भी है, तयापि चक्रवाकदम्पती रूप स्तन सहचारी ही हैं । भाव यह है कि चन्द्र मुख कमलशयी है और स्तन इतने सजिले हैं कि सयोगस्थिति में दृश्यमान चक्रवाकयुगल से लगते हैं, विशाल और सघनकुच । एक कल्पना यह भी है ( जिसका आधार 'निःशङ्ख'—प्रयोग है ) कि चन्द्र पूर्णतया शका रहित हो कमलों का सकोच कर रहा है, रात में नहीं, दिन में भी । यह सामान्यचन्द्र नहीं है, जो सूर्य से शक्ति हो, दिन में निस्तेज हो जाय । यह दमयन्ती का विशिष्ट मुखचन्द्र है, जो न रात में म्लान होता है, न दिन में, अतः हर समय रात-दिन इसके समुल्लस पङ्कज सजुचित रहते हैं । इन प्रकार हर समय सजुचित कमल रहने से चक्रवाकगुम्भ (स्तनयुगल) को दिन-रात का भान हो नहीं होना । वे दमयन्ती-मुख को ऐसा चन्द्र मानते हैं, जो सूर्य से भी निःशङ्ख हैं । चन्द्र तो सूर्य के समुल्लस ही निस्तेज रहता है, यह मुखचन्द्र तो सूर्य को भी निस्तेज रखता है, इसी से तो निःशङ्ख हो, सदा कमल को सजुचित रखता है । इसके समुल्लस कपठविरासी

‘मित्र’ सूर्य भी आकर कोई सहायता नहीं कर पाता । चन्दा बेचारा क्या समुझ पड़ेगा ? सो चन्दा नहीं तो रात नहीं, फलस्वरूप चक्रवाक्युग्म ( स्तन-युग्म ) में पल भर को भी वियोग नहीं होता, क्योंकि मुखेन्दु के उदय पर कुचकोकयुग्म में वियोग नहीं होता, इस आधार पर मल्लिनाथ ने यहाँ रूपकोत्थापित विरोधाभास मानकर मकर का निर्देश किया है, अर्थात् रूपक विरोधाभास का अनागिमाव सकर । विद्याधर ने विरोधोक्ति और रूपक अलंकार माने हैं ॥ ७७ ॥

आभ्या कुचाभ्यामिभकुम्भयो श्रीरादीयतेऽभावनयो\* क्व ताभ्याम् ।

भयेन गोपायित मोक्तिकौ तौ प्रव्यक्तमुक्ताभरणाविमौ यत् ॥ ७८ ॥

जीवातु—आभ्यामिति । आभ्या कुचाभ्यामिभकुम्भयो श्री गोमा-सम्पन्न, आदीयते गृह्यते ताभ्यामिभकुम्भाभ्यामनयो कुचयो\* असौ श्री क्वादीयते ? न क्वापि इत्यर्थः । यत् यस्मात् तौ इभकुम्भौ भयेन कुचभीत्या गोपायितमोक्तिकौ अन्तर्गुप्तमुक्ताफलो । गोपायते कर्षणि स्त । इमौ कुचकुम्भौ प्रव्यक्त प्रकाशित मुक्ताभरण याम्या तौ । यथा राज्ञा हृतधनो मयाद्धनशेष गोपायति राजा तु प्रकाशयति तद्वदित्यर्थः । इभकुम्भयिष आदानादखण्डितस्व-धीवत्वाच्च ताभ्यामप्यधिकौ कुचकुम्भाविति भावः ॥ ७८ ॥

अन्वयः—आभ्या कुचाभ्याम् इभकुम्भयो श्री क्व आदीयते, ताभ्याम् अनयो असौ न, यत् तौ भयेन गोपायित मोक्तिकौ, इमौ प्रव्यक्तपुष्पाभरणी ।

हिन्दी—इन ( दमयन्ती के ) दोनों कुचों ने गज के मस्तकों को गोमा-सपदा की छीन लिया है, उन ( इभकुम्भों ) ने इन ( कुचों ) की यह ( गोमा-सपदा ) नहीं छीनी है, क्योंकि उन दोनों ( गजमस्तकों ) ने मोती छिपा रहे हैं, इन दोनों ने मोतियों के आभूषण प्रकट कर रहे हैं ।

टिप्पणी—दमयन्ती के कुच गजकुम्भों से अधिक रमणीय हैं । स्पष्ट है कि वे इन से हार गये हैं, और अपनी श्री-सपदा सो बँटे हैं । कारण कि अपनी जेब सपत्ति मोती छिपाये रखे हुए हैं, डरे हारे, कुचयुगल तो प्रत्यन्तः मुक्ताभूषण धारण किये हैं । हाग डरा सपत्ति छिपाता है विजयी प्रत्यक्षा रहता है । विद्याधर के अनुसार यानयलिङ्ग अलंकार । चन्द्रकलाकार ने व्यतिरेक माना है ॥ ७८ ॥

कराग्रजाग्रच्छतकोटिरर्थी ययोरिमौ तौ तुलयेत् कुचौ चेत् ।

सर्वं तदा श्रीफलमुन्मदिष्णु जात वटीमप्यधुना न लब्धुम् ॥ ७९ ॥

जीवातु—कराग्रेति । कराग्रे हस्तस्याग्रे जाग्रत् प्रकाशमान शतकोटि वज्र उत्सङ्गय धन च यस्य स महेन्द्रो दयो कुचयो नर्मणोरर्थी ताविमौ महेन्द्राभ्ययितौ कृचौ नर्म वटी सुद्रक्वदिकामपि 'वट कपदे न्यग्रोध' इति विश्व । अपचयविवक्षाया स्त्री लिङ्गप्रयोगः । 'स्त्री स्यात्काचिन्मृणात्स्यादिविवक्षापचये यदि' इत्यमरानिघानात् । लब्धु न जात न सक्न निःस्वमिरयम् । सर्वं श्रीफल वित्त्वफल कर्तुं । 'विन्वे द्याणिह्न्यशैलूषी मानूरश्रीफलावपि' इत्यमरः । तुलये-सात्मनो न चिनुमाच्चेत् तदा उन्मदिष्णु उन्मादि स्यादित्यर्थः । 'अलङ्कृतम्' इत्यादिना इष्णुच् । उपमातीते वस्तुनि उपमात्वमिमान । तथा धनिकैकान्ये वस्तुनि निःस्वस्य लिप्सा चोन्माद एवेत्यर्थः ॥ ७९ ॥

अन्वय — कराग्रजाग्रच्छतकोटि पयो अर्थी उन्मदिष्णु सर्वं श्रीफल तौ इमौ कृचौ तुलयेत् चेत् तदा अधुना वटीम् अपि लब्ध न जातम् ।

हिन्दी—( १ ) जिसके हाथ में वज्रविद्यमान है, ऐसा इन्द्र भी जिन ( दोनों ) का वाचक है, उन्मद होता ( पड़ा ) सपूर्ण विन्वफल उन इन स्तनों की यदि समता करेगा तब इस काल उसे कौड़ी भी हाथ न लगेगी । ( २ ) जिसके हाथों में सौ करोड़ धनराशि भी आती-जाती है, ऐसा धनपति जिसका अर्थी है, वह अपना यदि सपूर्ण लक्ष्मी के फल की इन दोनों कृचों से समता करेगा तो उसे कौड़ी भी हाथ न लगेगी । अन्वयावर करके मन्त्रिनाथ ने अर्थ दिया है कि स्वतः कार्य करने वाला बेलफल कौड़ी बराबर ( क्षुद्र ) है और वह दमघटी कृचों की समता करेगा तो उन्मादी होगा ।

टिप्पणी—भाव यह है कि रमादि अप्सरियों के सौंदर्य का भोगी इन्द्र भी जिनका अमितापी है, उनकी तुलना विन्वफल से करना समतता—पागल्पन है । बड़े-से बड़ा धनपति भी संपूर्ण संपदा यदि इन कृचों का मूल्य लगायेगा तो उससे हाथ कानी कौड़ी भी न लगेगी और वह पागल समया जायेगा । न रमादि त्रैलोक्यसुन्दरियों के यौवन की दमघटी कृचों से तुलना सचित है, न ससार की संपूर्ण संपत्ति-शोभा ही इनके बराबर है । जो ऐसा विचारते हैं, वे उन्मद हैं, कुछ भी न पाने योग्य, कौड़ी-बराबर, क्षुद्र ।

ये तो उपमातीत हैं। विद्याधर के अनुसार श्लेष-समासाक्षि, चन्द्रलाकार केवल श्लेष माना है ॥ ७९ ॥

स्नानाट्टे चदनपङ्क्तिरेज्या जातस्य यावदुपवमानसानाम् ।

हारावलीरत्नमयूखधाराकारा स्फुरन्ति स्मलनस्य रेखा ॥ ८० ॥

जावानु—स्तनेति । चन्दनेन पङ्क्तिरे पङ्कति । 'पिच्छादित्वादित्थ' अस्या स्तनयो अतटे प्रपाते 'प्रपातस्त्वत्तो नृनु' इत्यमरः । जातस्य यावन्ति उपवमानसानि तेषा सर्वेषा सम्बन्धिन साङ्ख्यायंम्य यावच्छब्दस्य विशेषण-समासः । स्मलनस्य रेखा गमनमार्गं हारावलीरत्नाना मयूखधारा रश्मि-पङ्क्तय एवाकारायासाता सत्य स्फुरन्ति रत्नमयूखधारासु उपवमानसम्बन्धन-रेखाङ्कत्वमुत्प्रेदयते ॥ ८० ॥

अन्वय—अस्या चन्दनपङ्क्तिरे स्तनाट्टे जातस्य यावदुपवमानसाना स्मलनस्य रेखा हारावलीरत्नमयूखधाराकारा स्फुरन्ति ।

हिन्दी—इस ( दमयन्ती ) के चन्दन की पङ्क्ति से युक्त स्तनाट्ट ( स्तन-अट्ट धर्मात् स्तन-प्रपात-भागे ) में ( 'स्तनावट' पाठांतर में स्तनों के मध्यवर्ती गडहे में ) पङ्क्ति गयी जिनकी तट्टा मनो के फिसलने की रेखाएँ ( फिसलने के चिह्न ) हैं, वे हारों में बड़े रत्नों की शिखराएँ-जैसी प्रतिपासित हो रही हैं ।

टिप्पणी—चन्दन लगे दमयन्ती की कुचतटी पर रत्नजटित हार हैं, जिनकी चमक उन पर पड़ रही है । कल्पना है कि ये रत्न मयूख-धाराएँ नहीं हैं, उन उदामानसों की फिसलन के चिह्न हैं, जो इस स्तनाट्ट पर उतरे और ( चन्दन की ) कीचड़ में फिसल गये । 'स्तनाट्ट' अथवा 'स्तनावट' को देखकर सनी मोहित हो जाते हैं, यहाँ रत्नमयूखधाराओं में उपमान-सम्बन्धनरेखाओं की समावना की गयी है, अतः मञ्जिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा है, विद्याधर के अनुसार समासोक्ति और अरहन्ति अन्वय है ॥ ८० ॥

शोभेन मध्येऽपि सतोदरेण यत् प्राप्यते नाक्रम्य वज्रिभ्यः ।

नर्वाङ्गनुद्धो तदनङ्गगजे विजृम्भित भीममुदीह चित्रम् ॥ ८१ ॥

जावानु—शीघ्रेणेति । इहाम्या भीमनुवि ज्ञेया मयद्वारस्थाने च शोभेन शोभेन दुर्बलेन च मध्ये अवलम्बे प्रवत्तनुमध्ये च सता वसतापि उदरेण त्रिव-

स्वकोनायेन जत एव दक्षिण्यं त्रिवर्त्म्यः । ववरोरभेशन् वक्षिण्यो दक्ष-  
वङ्गमन्व सङ्काशात् आङ्गनामनिन्ध्यातिरनिनदत्त न प्राप्यते इति यत् तदना-  
ङ्गनं चित्र, दक्षिणोने दुर्वङ्गानाङ्गना चित्रनिन्द्यम् । किञ्च सर्वेशाननाना  
शरवरनाशोना स्वात्मना राशोना च शुद्धी नान्यामङ्गमन्व जङ्गहीनस्य कामस्य  
च राज्ये दिङ्मन्त्र तदिदमन्वचित्रनित्यम् । अत्र बाह्यप्रतीयमानमोरभेदा-  
ध्यवसानाद्विरोधानात् ॥ ८१ ॥

अन्वयः—मन्त्रे मध्ये सङ्काशानि सौम्येन उदरेण दक्षिण्यं यत् आङ्गना न  
प्राप्यते तत् सर्वङ्गशुद्धो इह मौनमुक्ति चित्रम् जनङ्गराज्यं दिङ्मन्त्रम् ।

हिन्दी—( १ ) मन्त्र में रहते हुए भी कुछ उदर द्वारा त्रिवर्त्मियों से जो  
अनिन्ध्याति नहीं पायी जाती, संतुलने सुन्दर-पुन जाँचाने इस मौनराज की  
‘पुत्री’ ( दम्पती ) में आरक्ष्यजनक जनहीन ( काम ) का विचार है ।  
( २ ) जो के मन्त्र पड़े दुर्वङ्ग ( उदर ) द्वारा बन्वान् व्यक्तियों से जो  
पराजय नहीं पाया जाता, वह उदा ( छ-करो—राजा, अनायादि पदों )  
जाँच से पुनं शुद्धो द्वारा इस दुर्गम भूमि में वसते अगहीन दुर्वङ्ग का विचित्र  
कार्य है ।

टिप्पणी—दम्पती के उदर, त्रिवर्त्ति, कटि आदि सन्तान मुरविष जोर  
सानुसात है । इस प्रकार मौन मुखा अनप राज्य की एक अतिविधन कार्यकारी-  
सी, प्रतीत हो देखनेवाले का मन हर लेती है । विशेषतः उनका कुछ उदर  
तो बड़ा ही जानुसातक है, अपने निकटस्थ अंगों के सीमं के समुच्च वह  
फोका नहीं पड़ता । इस वैविध्य को इस रूप में देखा गया है कि एक दुर्वङ्ग,  
राज्य के पदों से रहित राजा सब राज्यांगों से पूर्ण प्रवक्त शत्रुओं के पक्षों में  
नदानक भूमि में रहते हुए भी पराजय नहीं पाता, वह उक्त दुर्वङ्ग जनहीन का  
आरक्ष्यजनक कार्य है । प्रकाशकार ने कुछ और भाव भी व्यक्त किये हैं—  
( १ ) मौन राजा की भू-धरती पर, नदी-नुद्ध धरती पर अनप राजा का  
राज्य आरक्ष्य की दम्पु भी है, वशोक्ति धरती किन्ती को और राज्य हिमों का-  
यत् आरक्ष्य ही है । ( २ ) मौन महादेव की धरती पर अनप-काम का राज्य  
आरक्ष्य ही है । ( ३ ) मौन अर्थात् शत्रुओं द्वारा अधिकार न पा सके जाने के  
श्रेष्ठ धरती पर अतिविधन भूमि पर जो जाहीन-दुर्वङ्ग को पराजय नहीं

मिलता इसमें क्या कोई आश्चर्य है ? नहीं ही है । यहाँ वाच्य और प्रतीयमा<sup>१</sup> में अभेदाध्यवसाय है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार विरोधाभास है, विद्याधर के अनुसार समासोक्ति और विरोधाभास ॥ ८१ ॥

मध्य तनूकृत्य यदीदमीयं वेधा न दध्यात् कमनीयमशम् ।

केन स्तनौ सप्रति यौवनेऽस्या सृजेदनन्यप्रतिमाङ्गदीप्ते ॥ ८२ ॥

जीवातु—मध्यमिति । वेधा इदमीयमेतदीय मध्यमवलम्बे तनूकृत्य निर्माण-  
काले ह्लासयित्वा कमनीयमशमुद्धृत भाष न दध्यात् यदि क्वचिन्न स्थापयेद्यदि  
सप्रति यौवने अनन्यप्रतिमाङ्गन्योपमाङ्गदीप्तिर्यस्यास्तस्या भंग्या स्तनौ केन  
सृजेत ? नूनमुद्धरोद्धृतसारेण अस्या स्तनौ निमित्तवानित्युत्प्रेक्षा ॥ ८२ ॥

अन्वयः—वेधा यदि इदमीय मध्य तनूकृत्य कमनीयम् अश न दध्यात्  
सप्रति यौवने अनन्यप्रतिमाङ्गदीप्ते अस्या स्तनौ केन सृजेत् ?

हिन्दी—विधाता यदि इस ( दमयन्ती ) के मध्य ( कटि ) को पतला  
करके रमणीय भाग बचा न रखते तो अब यौवन में अप्रतिम अंग-कान्तिवाली  
इस ( दमयन्ती ) के स्तन किस ( सामग्री ) से बनाते ?

टिप्पणी—दमयन्ती की कटि कृपा है और स्तन पीन । इसी पर वस्त्रना  
है कि विधाता दूरदर्शी थे, जो उन्होंने आरम्भ में ही ध्यान रख कर दमयन्ती  
की कटि में छोड़ी सामग्री का प्रयोग किया और पतली बनाया, अन्यथा  
सारूप्य जानेपर कुछ किस सामग्री से बनाते ? अब सामग्री से तो रोप अर्गों  
के अनुरूप रमणीय बन न पाते । दमयन्ती के अतिमुद्धर कटिभाग-निर्माण में  
से बचाकर उसीके रोपांश से कुर्छों की सरचना की । मल्लिनाथ के अनुसार  
उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार अनुमान ॥ ८२ ॥

गौरीव पत्या सुमगा वदाचित् कर्त्रायमप्यर्धननूतमस्याम् ।

इतीव मध्ये निदधे विधाता रोमावलीमेवकसूत्रमस्या ॥ ८३ ॥

जीवातु—गौरीति । सुमगा भर्तृवत्त्वमा इय दमयन्ती वदाचित् गौरीव  
पत्या भर्ता सह अपर्धननूतमस्याम्, अर्धाङ्गसङ्घट्टना कर्त्री परिध्यतीति मत्वति  
रोप । विधाता अस्या मध्ये अर्धाङ्गमध्ये रोमावलीमेव मेवकसूत्रसीमानिषयायं  
नीलसूत्र निदधे इव निहितवान् किमित्युत्प्रेक्षा ॥ ८३ ॥

अन्वयः—इय सुमगा वदाचित् गौरी इव पत्या अपर्धननूतमस्या कर्त्री—  
इति विधाता अस्या मध्ये रोमावलीमेवकसूत्र निदधे इव ।

हिन्दी—यह सोनाम्प शालिनी ( दमयन्ती ) कभी पार्वती के समान पति के साथ शरीराद्वैत रूप करेगी—यह विचार कर विधाता ने इसके मध्य में रोमावलीरूप नीला मृग चिह्न बना दिया ।

टिप्पणी—दमयन्ती नीलकण्ठि, मध्यस्थिता रोमावली की सोमारखा-रूप में कल्पना की गयी है, जिसे विधाता ने इस लिए रचा कि कभी दमयन्ती श्री गौरी के समान अपने पति का बर्षा करेगी तब यह रेखा पहिचान का कार्य करेगी । नावी पति प्रियता का संकेत । मन्त्रिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा-रूप-छैकानुप्रास उत्पत्ति है ॥ ८३ ॥

रोमावलीरज्जुमुरोज्जुम्मी गम्भीरनामस्य च नामिकूपम् ।

मद्दृष्टिर्नृणा विरमेद्यदि स्यान्मया वनेषा सिचयेन गुप्तिः ॥ ८४ ॥

जीवानु—रोमावलीति । मद्दृष्टेस्तृणा पिनासापि रोमावलीमेव रज्जु-सरोजावेव कुम्भी तथा गम्भीर नामिमेव कुर्यात्साद्य लज्जया तदा विरमेत्-शाम्भेत् । अमीनिग्रहार्थं सावप्यामृतमुद्बुध मुष्टु पीत्वेत्यर्थः । एषा सायना-नामिना सिचयेन वनेषु 'दक्षन्तु सिचय' पठ्य इति हन्यायुः । गुनिरज्ञादन न स्याद्यदि । बतैति हेतुः । स्फुटान्द्वार ॥ ८४ ॥

अन्वयः—मद्दृष्टि तृणा रोमावलीरज्जुम् उगेज्जुम्मी गम्भीर नामि-रूपम् कामाद्य विरमेत् यदि बत एषाम् एषा सिचयेन गुप्ति न स्यात् ।

हिन्दी—मेरी दृष्टि की व्यास रोमावली रूप रज्जु, स्तन रूप घड़े और गहरे नामि-रूप कुप को पाकर छुट हो जाती, खेद कि यदि इनकी यह वस्त्र से गुप्ति ( टहन, छिनादन ) न होती ।

टिप्पणी—गरादन की कल्पना है कि राजकन्या दमयन्ती के उरमुक्त रूप उरमुक्त रज्जु, कुन और रूप के समान हैं । राजकीय सनति है, इसलिये 'सिचय' ( खड्गधारिजनों ) से गुप्त कर्पात् रक्षित है, इस लिए दग्ग-जल नहीं प्राप्त होता, व्यास नहीं मिलती । यों इस रम्य का भी संकेत है कि आवृत रूप ही उत्कृष्ट और अनुपम में वृद्धि करते हैं, अनावृत दर्शन से तो विराग उत्पन्न है । गो० तुलसीदास के अनुसार—'वसनहीन नहि सोह मुरारी । सब रूपन मूर्धितवर नारी ॥' ( रामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड २३।४ ) । नामि आदि अत्यन्त सुन्दर हैं, बार-बार देखकर भी देखने की तृप्ति नह

अस्या खलुग्रन्थनिबद्धकेशमल्लीकदम्बप्रतिबिम्बवेशात् ।

स्मरप्रशस्तीरजताक्षरेय पृष्ठस्थली हाटकपट्टिकायाम् ॥ ८७ ॥

जीवानु—अस्या इति । अस्या भंम्या पृष्ठस्थली कावपश्चाद्भाग । 'पृष्ठ तु धरम तनो' इत्यमर । सर्व हाटकपट्टिका 'हेमफलक तस्या ग्रन्थिना वन्धेन निबद्धेषु सयतेषु शेषेषु मल्लीकदम्ब मल्लीकुसुमनिकुरम्ब तत्प्रतिबिम्बस्य वेशात् प्रवेशाद्धेतोः इय रजताक्षरा रजतमयवर्णा स्मरप्रशस्ति स्मरवर्णना खनु नैमस्यात् पृष्ठफलप्रतिबिम्बितानि धम्मिल्लमल्लिकाकुसुमानि हेमफलकविम्बस्ता राजती मदमप्रशस्तवर्णावलीव भातीत्युत्प्रेक्षा ॥ ८७ ॥

अन्वय — अस्या ग्रन्थिनिबद्धकेशमल्लीकदम्बप्रतिबिम्बवेशात् पृष्ठस्थली हाटकपट्टिकायाम् इय खलु रजताक्षरा स्मरप्रशस्ति ।

हिन्दी—इस ( दमयन्ती ) के गुथे केशों में गुथे हुए मल्लिका फूलों की प्रतिच्छाया के आज़ से पीठ रुपी सुवर्ण की पट्टिका पर यह ( प्रत्यक्ष होती ) निश्चय ही चाँदी के अक्षरों में लिखी काम की प्रशस्ति ( प्रशंसा ) है ।

टिप्पणी—दमयन्ती की चोटी में गुथे मल्लिका कुसुमों की परछाहीं उसकी स्वर्णगौर पीठ पर पड़ रही है । इसी पर सभावना की गयी है कि यह फूलों की रजत छाया रजताक्षर हैं, जिनमें काम का प्रशंसागान पीठ की स्वर्णपट्टिका पर लिखा गया है । कामरूप महापुरुष पधारें हैं, सो उनके स्वागत में इस प्रकार प्रशस्ति उपस्थित की गयी है । निर्मलता के कारण पृष्ठफलक पर प्रतिबिम्बित धम्मिल्लमल्लिकाकुसुम स्वर्णफलक पर लिखी काम-प्रशस्ति जैसी है, अब मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार है, विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-उत्प्रेक्षा-अपह्नुति-रूपक अलंकार हैं ॥ ८७ ॥

चक्रेण विद्व यदि मत्स्यकेतु पितुर्जित वीक्ष्य सुदर्शनेन ।

जगज्जिगीपत्यमुना नितम्बद्वयेन किं दुर्लभदशनेन ॥ ८८ ॥

जीवानु—चक्रं जेत । मत्स्यकेतु याम सुदर्शनेन सुदर्शनारूपेण सुलभदर्शनेन च पितु विष्णो चक्रेण विद्व जित वीक्ष्य यदि वीक्ष्य त्वि अमुना दुर्लभ-दशनेन नितम्बद्वयेन वटीफलरूपेण चक्रेण जगज्जिगीपति जेतुमिच्छति विमित्युत्प्रेक्षा ॥ ८८ ॥

अन्वय—मत्स्यकेतु पितु सुदर्शनेन चक्रेण विद्व जित वीक्ष्य यदि किम् अमुना दुर्लभदर्शनेन नितम्बद्वयेन अगत् जिगीपति ?



हिन्दी—मीनकेतन ( काम ) पिता ( श्रीकृष्ण ) के मुदर्यन ( मुदर्यन नामक नन्दीमाँटि प्रच्छन्न और निम्बवृक्ष में मुन्दर ) चक्र द्वारा सत्कार को विव्रित देखकर क्या उस जिसका दर्शन दुर्लभ है (दम्बान्छादि), ऐन ( प्रति-मुन्दर वृक्ष ) निम्बवृक्ष से सत्कार को जीतना चाहता है ?

टिप्पणी—दो ( ८८-८९ ) श्लोकों में निम्बवृक्ष-वर्णन । दमयन्ती के चक्र-कार—गोल निम्ब अथवा आकृष्ट हैं । वृक्षों के जौने आवरण में टके वे और भी आकृष्ट हो जाते हैं काम-आदुर्भाव का देते हैं और जगत् प्रवीण और विव्रित हो जाता है । पिता श्रीकृष्ण ने मुदर्यन चक्र से सत्कार जीता, बेटा काम ( प्रद्युम्नावतारों ) दमयन्ती के निम्बवृक्ष से सत्कार जीतने का उच्छुक है । बेटे में पिता से वैशिष्ट्य यह है कि पिता का चक्र मुदर्यन अर्थात् प्रत्यक्ष था, पुत्र का चक्र ऐसा है कि उसके दर्शन ही दुर्लभ हैं । पुत्र अत्यन्त शत्रु से ही जगत् जीतना चाहता है, जब कि पिता ने सुप्रत्यक्ष शत्रु द्वारा आक्रमण किया था । 'दुर्लभ' शब्द का विकसित—विहृत रूप 'दून्हा' है; दून्हा अर्थात् पनि । इस प्रकार निम्ब 'दुर्लभदर्शन' अर्थात् पति द्वारा दृष्ट है । सब कोई उसे देख ले, मुदर्यन—'सुखेन दर्शनं यस्य' नहीं है, प्रत्युत 'दुर्लभेन वरेण दर्शनं यस्य' है । मल्लिनाथ के अनुसार उन्मेषा, विद्याधर के अनुसार उन्मेषा-व्यतिरेक ॥ ८८ ॥

रोमावलोदण्डनितम्बचक्रे गुग्गुलु लावण्यजलञ्च बाला ।

साक्ष्यमूर्तेः कुचकुम्भकर्तृविनिर्गता शङ्के सहकारिचक्रम् ॥ ८९ ॥

जीवानु—रोमावलीति । बाला दमयन्ती साक्ष्यमूर्तेः मूर्तिः स्वरूपं यस्य तस्य यौवनाभ्युदयं । कुचादेव कुम्भौ तयो कर्तृ-निर्मातुः कुम्भकारण्य रोमा-वत्येव शङ्कः । न च नितम्ब एव चक्रञ्च ते गुता सौन्दर्यादि तनेव गुता मूत्र-ञ्चेति निष्ठव्यकम् । लावण्यमिव जलञ्च सहकारिकारचक्रं सहकारिकारण-कलां विनिर्गता शङ्के । स्तनयोऽयानिपनुप्रेक्षेति सङ्कटम् ॥ ८९ ॥

वन्द्यः—गङ्गे बाला साक्ष्यमूर्तेः कुचकुम्भकर्तृ रोमावलीदण्डनितम्ब-चक्रे गुता लावण्यजल सहकारिचक्रं च विनिर्गता ।

हिन्दी—जाना है कि बाला ( दमयन्ती ) यौवन स्वरूप कुचों की कुम्भों के कर्ता ( कुम्भकार-कुम्भार ) के रोमावली रूप ( चक्र धारण का )

रमयती देव लिया और अधिक तृप्ति पा ली। यहाँ एक दमयन्ती की अनेकनात्मता के कारण विरोध का आभास होता है, और वह इत्येवमूलक है अतः मल्लिनाथ के अनुमास इत्येवमूलक विरोधाभास का सङ्कर है। विद्यापर के अनुसार ऋक, इत्येव, अतिशयोक्ति है ॥ ९१ ॥

रम्भापि किं चिह्नयति प्रकाण्ड न चात्मन स्वेन न चैतद्रूपे ।

मनस्येव येनोपरि सा दधाना पत्राणि जागर्त्यनयोभ्रमेण ॥ ९२ ॥

जीवानु—रम्भेति । रम्भा कदल्पपि आत्मन प्रकाण्ड स्वैव स्वेन स्वात्मना स्वमित्यर्थं । प्रवृत्त्यादिभ्य उपमह्वधानात् तृतीया । न चिह्नयति किमेतस्या ऊरु च न चिह्नयति किं मियो व्यत्यासपरिहाराय द्वयोरन्यतरस्यापि चिह्न न चकार किमित्युत्प्रेक्षा । कुन येन कारणेन भा रम्भा अनयो-र्बोभ्रमेणोक्तान्नाग्येत्यर्थं । स्वम्यैव स्वकीयस्व-घस्यैव उपरि पत्राणि दलानि प्रतियसोपरिधेयानि साक्षरपत्राणि च दधाना जागर्ति । अत्र सौन्दर्ये सङ्घट्टिणी रम्भापि स्वस्मिन्नेव ऊरुभ्रात्या पत्राव-भ्वनकरणात् आतिमदलद्वारात् । तामूना चोक्तोत्प्रेक्षेति तयोरङ्गान्निभावेन सङ्कट ॥ ९२ ॥

अचय—किम् रम्भा अति न आत्मन प्रकाण्ड स्वेन, एतद्रूपं च न चिह्नयति येन सा अनयो भ्रमेण स्वस्य एव उपरि पत्राणि दधाना जागर्ति ?

हिन्दी—क्या कदली भी न अपने तने को अपने आप चोहूँती है और न इस ( दमयन्ती ) की जथा को, जिससे वह इन दोनों ( तना और जथा ) में भ्रम के कारण अपने ही ऊपर पत्रा को ढकती हुई रहे है ?

टिप्पणी—पूर्वश्लोक में प्रसंगत ऊरु-वर्णन करके चार ( ९३-९६ ) श्लोकों में पुनः ऊरुवर्णन है। दमयन्ती के ऊरुसुग्म पूर्णतया कदलीसुग्म ( कंठे का तना ) के समान हैं। इस भाव को प्रतिपादित करने के लिए एक मणिविशेष का प्रयोग किया गया है। कदली के स्तम्भ और दमयन्ती के ऊरु में सौंदर्य-सुषुप्त है, सो कदली अपने प्रतिद्वन्द्वी के विरुद्ध अभियोग-पत्र (सम्भन) देना चाहती है, पर वह समझ ही न पा रही है कि कौन-सा उसका तना है, कौन दमयन्ती ऊरु ? इस भ्रम में पड़ी कदली पत्रों के रूप में पत्र ( अभियोग ) अपने पर ही रखने लगी है। भ्रम के कारण ऐसा हो ही जाता है। कदली ही नहीं, इस भ्रम में सारा सारा पड़ जाता है कि कदली स्तम्भ कौन-सा है

और दमयन्ती-ऊँह कौन-सा है ? ऐसा साम्य है दोनों में । मस्तिनाथ के अनुसार आतिमाय और उन्नेशा का जगाधिनाथ मकर है, क्योंकि सौन्दर्यप्रतिद्वन्द्वता में सत्य-शीला रम्ना-ऊँहप्राप्ति के कारण अपने पर ही पत्रावन्धन कर लेती है, तन्मूला उन्नेशा है । विद्याधर के अनुसार अतिसयोक्ति-आतिमद-उन्नेशा बलकार है ॥ ९० ॥

विद्याय मूर्धानम्वक्षरञ्ज्वेन्नुज्जेननामि न्वमसाग्भावम् ।

जाडयञ्च नाञ्ज्वेन् कदली बलीनस्तदा यदि न्यादिदमूच्चाह ॥ ९१ ॥

जीवानु—विद्यायेति । कदली रम्ना तपोमि तपश्चर्यामि मूर्धानमपत्त-  
रननोवर्तिन विद्याय गिरोबुज्ज्योस्त-धरनाववैपरीत्यञ्च नञ्चैत्यर्थ । न्व  
स्वकीयनमारमाव नि सारन्वञ्च मुञ्ज्वेन्वेत् बलीयां जाडयनं दान्तसंनञ्च  
नाञ्ज्वेत् न गच्छेत् । तदानीम्, दमूच्चाह जम्मा ऊँह इव जाग शोभना  
स्याद्यदि स्यादेवेत्यर्थ । अतः कदम्बा जब गिरस्त्वादिमार्गसम्बन्धेपि सन्वय-  
सम्भावना सन्व-शोक्तेरतिशयोक्तिभेद इति सर्वस्वकार ॥ ९१ ॥

जन्वय—कदली तदा दमूच्चाह स्यात् यदि चेश तपोमि मूर्धानम्  
कदम्बर विनाय स्वम् असाग्भावम् मुञ्ज्वेत्, बलीयः जाडय च न अञ्ज्वेत् ।

हिन्दी—कदली तब इस ( दमयन्ती ' के ऊँह के समान सुन्दर होगी,  
यदि तन द्वारा गिर को नीचे की ओर करके अपनी निःसारता को छोड़ दे  
और सार्वकालिक जड़ता ( सीटन्ता ) को न प्राप्त करे ।

टिप्पणी—वस्तुतः सभी एक दमयन्ती-ऊँह अनुपम हैं । कदली दमयन्ती-  
ऊँह के समान है नहीं, क्योंकि ऊँह ऊपर स्थूल और नीचे की ओर सूक्ष्म और  
सुन्दर है, जब कि कदली इसके विपरीत है—नीचे मोटी, ऊपर पतली ।  
कदली ऐसा सौन्दर्य तभी प्राप्त कर सकती है, जब उल्टी हो जाय । ऐसे ही  
गिर नीचे करके तपस्या के रूप में कह गया है । तप करके ही कोई सिद्धि  
मिलती है । ऐसे रूप से ही कदली को ऊँह के समान सौन्दर्य प्राप्त हो सकेगा ।  
अनो तो वह सुन्दर नहीं है । इसके अतिरिक्त सार्वकालिक सीटलता ( ठडा-  
पन ) भी समान है । कोई व्यक्ति गिर नीचा कर तप द्वारा अपनी जड़ता  
( मूखता और जन्मता ) को त्याग कर उद्यम के तुल्य हो पाता है । जाडय  
का अर्थ मूर्खता और सीटलता—शून्य होता है—'मुयोमा यिगिरो जह ' ।

दमयन्ती ऊरुयुगल का समालिगन किये हुए हैं। भृगु, नारद और व्यास सत्स  
धुरिप्रतिष्ठित महामुनि भी जब दमयन्ती की ओर आकृष्ट हैं, तो अन्य की  
तो बिसात क्या ? मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ श्लेष भूला मुनिमोहोत्प्रेक्षा द्वारा  
यह वस्तु व्यञ्जना है कि मुनिजन दमयन्ती पर आहित है, ओरो की तो  
गणना क्या ? विद्याधर ने भी उत्प्रेक्षा श्लेष का निर्देश किया है ॥ ९५ ॥

क्रमाद्गता पीवरनाधिजङ्घ वृक्षाधिरुद्धि विदुषी किमस्या ।

अपि भ्रमीभङ्गिभिरावृताङ्ग वासो लतावेष्टितकप्रवीणम् ॥ ९६ ॥

जीवातु—कमेति । अस्या भैम्या अधिजङ्घ जङ्घयो विभक्त्यर्थेऽप्यपी-  
भाव । कमेणानुपूर्व्यात् उद्गता उदिता पीवरता पीनत्व वृक्षाधिरुद्धमारलेय-  
विशेष विदुषी किं ज्ञात्रा किम् ? 'न लोक' इत्यादिना पृष्टीप्रतिषेध । किञ्च  
भ्रमीभङ्गिमिवैष्टनविशेष आधृताङ्गमाच्छादितगान वासो वस्त्रमपि लता  
वेष्टितके आलिङ्गनविशेषे प्रवीण किम् ? उभयत्राप्यन्यथा कथमित्यमाश्लिष्ये-  
दिति भाव । अनयोर्लक्षणमुक्त रतिरहस्ये—'रमणचरणमेकेनाङ्घ्रिणाकम्प-  
मिन्न श्रुतिसत्परपादेनाश्रयन्ती सद्गमम् । निजमय भुजमेक पृष्ठतोऽस्याप्यती  
पुनरपरभुजेन प्राञ्चयन्ती तदङ्गम् । तस्मिन् वामितार धुम्बनापाधिस्ता  
पवमिलपतरागात् तच्च वृक्षादिरुद्धम् । प्रियमनुकृतवल्लीविभ्रमा वेष्टयती,  
द्रुममिव सरलाङ्गी मदसीत्का तदीयम् ॥ वदनमुचितखेदा कम्पमाधुम्बनार्प-  
नमपति विनदन्ती तन्लातावेष्टित स्यात् ।' इति ॥ ९६ ॥

अन्वय—अस्या अधिजङ्घ क्रमाद्गता पीवरता किं वृक्षाधिरुद्ध विदुषी,  
भ्रमीभङ्गिभि आधृताङ्ग वासो अपि लतावेष्टितकप्रवीणम् ?

हिन्दी—इस ( दमयन्ती ) के जघायुगल में कम से ऊपर उठती स्थूलता  
( मोटाई ) क्या वृक्ष पर चढ़ने की रीति ( अथवा वृक्षाधिरुद्ध प्रकार का  
आलिगन ) जानती है और स्पष्टन—आवत करने की भविष्यतो से घरी  
ढकनेवाला वस्त्र लता के समान लपेटन में (अथवा लतावेष्टितक आलिगन में)  
प्रवीण है ?

टिप्पणी—दमयन्ती का जघायुग्म हमेश नीचे से ऊपर की ओर मोटा होता  
चला है, जैसे कि वृक्ष ऊपर को बढ़ता जा रहा हो । घरीर पर सुन्दर वस्त्र  
( दुपट्टा आदि ) पड़ा है, जो देह का और आचरण बना रहा है । घन्द-  
विषय पातुम से दो आलिगन-विशेषों में प्रवीणता भी सूचित है—

( १ ) दृग्गच्छिष्ट जिसने कामिनी दोनों बाहुओं से कठ का आलिंगन करती है, ऐसा करती वह छोटे प्रिय की गोद में चढ़ जाती है—‘बाहुभ्या ण्ड-  
मार्द्ध्य कामिनी कान्त उत्थिते । अद्भुतागृहे तस्य वशास्तु स उच्यते ॥’

( २ ) ललावेष्टिक, जिसमें कामिनी लला की नाँव प्रिय के अंगों में लिपट जाती है,—‘सन्नायसथयोगेन ललावपरिवेष्टनं । यत्र प्रत्यङ्गमाश्लिष्ट लला-  
वेष्टिक तु सः ॥’ अथवा बैठे प्रियका लेटी कामिनी जब आलिङ्गन करती है, तब नी ललावेष्टिक कहा जाता है—‘उपदिष्ट प्रिय कान्ता सुप्ता वेष्टयते यदि ।  
ललावेष्टित ज्ञेय कामानुभववेदिनि ॥’ विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा इन्हीं  
धलकार हैं ॥ ९६ ॥

अरुन्धतीकामपुरन्ध्रिन्धमीजम्भद्विपद्मारनवान्बिकानाम् ।

चतुर्दशी तदिहोचितैव गुल्फद्वयाभा यददृश्यसिद्धिः ॥ ९७ ॥

जीवातु—अरुन्धतीति । इयं दमयन्ती अरुन्धती वसिष्ठपत्नी च कामपुरन्ध्री  
रतिञ्च लक्ष्मी पद्मा च जम्भद्विपद्मारा शची च नवान्बिका ब्राह्मीप्रभृतयो  
नवमातरश्च यासामध्यत्वसिद्धिरस्तीति प्रसिद्धिरिति भावः । तासां त्रयोदशानां  
चतुर्दशी इयमिति तदन्तःपातिनीत्युत्प्रेक्षा । तत् तस्मात् तदन्तःपातित्वात्  
इहास्या दमयत्या गुल्फी पादग्रन्थी । ‘तद्ग्रन्थिघुटिके गुल्फी’ इत्यमरः । तयो-  
र्द्वयेनासां प्राप्ता या च सा अदृश्यनिद्रिश्च यददृश्यसिद्धिः येय गुल्फनोरध्वरव-  
सिद्धिरित्यर्थः । सतीति शेषः । पक्षदोनित्यसम्बन्धात्ता उचितैव तत् सम्बन्धि-  
नोऽपि तद्वत् सिद्धिर्युक्तैवेत्यर्थः । गूढगुणत्वं स्त्रीरूपं तदस्यामस्तीति भावः ॥

अन्वयः—अरुन्धतीकामपुरन्ध्रिन्धमीजम्भद्विपद्मारनवान्बिकानाम् \* इयम्  
चतुर्दशी इह गुल्फद्वयाभा यत्र अद्भुतसिद्धिः सः उच्यते एव ।

हिन्दी—अरुन्धती ( वसिष्ठपत्नी ), कामपत्नी ( रति ), लक्ष्मी, जम्भ  
पद्म ( दम्पती ) की पत्नी ( इन्द्राणी शची ) और श्री लक्ष्माताप्रा की यह  
चतुर्दशी ( दमयन्ती ) है । इस ( दमयन्ती ) में गुल्फद्वय ( दोनों टखनों ) का  
जो अदृश्यनिद्रि प्राप्त हुई, वह उचित ही है ।

टिप्पणी—दस श्लोक में दमयन्ती के गुल्फगुण ( दोनों टखनों ) का  
वर्णन है । दमयन्ती के गुल्फ में हड्डियाँ नहीं दीखती, यही उनकी अदृश्यता  
है । सामुद्रिक के अनुसार ऐसे गुल्फ शुभ माने जाते हैं । भाव यह है कि

दमयन्ती ऊरुयुगल का समालिगन किये हुए हैं। मृगु, नारद और व्यास सहस्र धुरिप्रतिष्ठित महामुनि भी जब दमयन्ती की ओर आकृष्ट हैं, तो अन्य की तो बिसात क्या? मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ श्लेष मूला मुनिमोहोत्प्रेक्षा द्वारा यह वस्तु व्यजना है कि मुनिजन दमयन्ती पर माहित है, औरों की तो गणना क्या? विद्याधर ने भी उत्प्रेक्षा श्लेष का निर्देश किया है ॥ ९५ ॥

क्रमाद्गता पीवरताधिजङ्घ वृक्षाधिरूढ विदुषी किमस्या ।

अपि भ्रमीभङ्गिभिरावृताङ्ग वासो लतावेष्टितकप्रवीणम् ॥ ९६ ॥

जीवातु—कमेति । अस्या भ्रम्या अधिजङ्घ जङ्घयो विभक्त्यर्थेऽप्यमी-  
भाव । क्रमेणानुपूर्व्यात् उद्गता उदिता पीवरता पीनत्व वृक्षाधिरूढमारलेप-  
विशेष विदुषी किं ज्ञात्रा किम् ? 'न लोक्' इत्यादिना पट्टीप्रतिषेध । किञ्च  
भ्रमीभङ्गिभिरवेष्टनविशेषे आवृताङ्गमाच्छादितगान् वासो वस्त्रमपि लता  
वेष्टितके आलिङ्गनविशेषे प्रवीण किम् ? उभयत्राप्यन्यथा कथमित्यमाहिलश्ले-  
षित्ति भाव । अनयोर्लक्षणमुक्त रतिरहस्ये—'रमणवरणमेवेनाद्भिणाकम्प  
मिन्न श्रुतितपरपादेनावयन्ती तदहम् । निजमय भुजमेक पृष्ठतोऽप्यारप्यती  
पुनरपरभुजेन प्राञ्चयन्ती तदङ्गम् । तदमिव कामितार बुम्बनाद्योपिट्टा  
यदमिलपतरागात् तच्च वृक्षादिरूढम् । प्रियमनुकृतवल्लीविभ्रमा वेष्टयन्ती,  
द्रुममिव सरलाङ्गी मन्दसीरका तदीयम् ॥ वदनभुजियच्छेदा कम्पमाधुम्बनार्थं  
नमयति विनदन्ती तल्लातावेष्टित स्यात् ।' इति ॥ ९६ ॥

अन्वय—अस्या अधिजङ्घ क्रमाद्गता पीवरता किं वृक्षाधिरूढ विदुषी,  
भ्रमीभङ्गिभि आवृताङ्ग वासो अपि लतावेष्टितकप्रवीणम् ?

हिन्दी—इस ( दमयन्ती ) के जघायुगल में क्रम से ऊपर उठती स्पृलता  
( मोटार्ई ) क्या वृक्ष पर चढ़ने की रीति ( अथवा वृक्षाधिरूढ प्रकार का  
आलिगन ) जानती है और लपटन—आवृत करने की अभिमात्रो से धारी  
ढकनेवाला वस्त्र लता के समान लपेटन में (अथवा लतावेष्टितव आलिगन में)  
प्रवीण है ?

टिप्पणी—दमयन्ती का जघायुगल ब्रमश नीचे से ऊपर की ओर मोटा होता  
बला है, जैसे कि वृक्ष ऊपर को बढ़ता जा रहा हो । धारी पर सुन्दर वस्त्र  
( दुपट्टा आदि ) पड़ा है, जो देह की ओर आवर्णक बना रहा है । रुद्र-  
विद्यास चातुय से दो आलिगन-विशेषों में प्रवीणता भी सूचित है—

( १ ) दुर्गाद्विष्ट त्रिभुवे कामिनी दोनों बाहुओं से कठ का आश्रित करती है, ऐसा बरती वह छोड़े प्रिय की गोद में चढ़ जाती है—बाहुन्मा कण्ठ-माश्रित्य कामिनी काम उच्यते । अहमागहते तस्य वशात् स उच्यते ॥

( २ ) लज्जावेष्टित, त्रिभुवे कामिनी लज्जा की भाँति प्रिय के अंगों में छिप जाती है,—‘सव्याससव्योनेन लज्जादन्तरिवेष्टनं । यत्र प्रत्यङ्गमास्तिष्ट लज्जा-वेष्टितक तु तत् ॥’ अथवा बैठे निपटा लेती कामिनी जब आश्रित करती है, तब भी लज्जावेष्टित कहा जाता है—‘उपविष्ट प्रिय काम्ना मुक्ता वेष्टयते यदि । उल्लज्जावेष्टित मयं कानानुभववेदिनि ॥’ विद्याधर के अनुसार उल्लेखा रूप लक्षार है ॥ ९६ ॥

अरुण्यनीकामपुरन्ध्रिज्जन्मद्विपद्धारनवान्बिकानाम् ।

चतुर्दंशो तद्विज्ञोचितैव गुल्फद्वयासा यद्व्यभिदिः ॥ ९७ ॥

जोवातु-अरुण्यतीति । इय दमयती अरुण्यती वसिष्ठरत्नी च कामपुरन्ध्री रतिश्च लज्जा पद्मा च जन्मद्विपद्धार शशी च त्वाम्बिका शाहीप्रभृतयो मयमातल्लयासामद्वयचसिद्धिरन्तीति प्रविद्धिरिति भाव । तासा मयोदयाना चतुर्दंशी इयमपि तदन्तपातिनीत्युन्नेषा । तद् तन्मात् तदन्तपातित्वाद् इहाम्ना दमयत्या गुल्फी पादग्रन्थी । ‘तद्व्यभिष्टुटिके गुल्फी’ इत्यमर । तयो द्वयेनासा प्राप्ता या च सा अद्वयसिद्धिरच मद्व्यभिदिः येय गुल्फोरद्वयत्व-सिद्धिरित्यर्थ । कतीति शेष । तत्तदोन्मित्यसम्बन्धान्ता उचितैव तद् सन्वधि-नोऽपि तद् तद् विद्विर्द्वैतैवेत्यर्थ । गुल्फुल्फश्च खोलक्षप तद्व्यभिदमस्तीति भाव ॥

अन्वय—अरुण्यतीकामपुरन्ध्रिज्जन्मद्विपद्धारनवान्बिकानाम् ‘इयम् चतुर्दंशी इह गुल्फद्वयासा चतुर्दंशमिति तद् उचिता एव ।

हिन्दी—अरुण्यती ( वसिष्ठरत्नी ), कामरत्नी ( रति ), लज्जा, जन्म-द्विपद् ( इन्द्र ) की पत्नी ( इन्द्राणी शशी ) और भी लक्ष्माणाशा की यह चतुर्दंशी ( दमयन्ती ) है । इस ( दमयन्ती ) में गुल्फद्वय ( दोनों टखनों ) का जो अद्वयनिधि प्राप्त हुई, वह उचित ही है ।

टिप्पणी—दस श्लोक में दमयन्ती के गुल्फद्वय ( दोनों टखनों ) का वान है । दमयन्ती के गुल्फों में हड्डियाँ नहीं दीखती, यही उनकी अद्वयता है । सामुद्रिक के अनुसार ऐसे गुल्फ शुभ माने जाते हैं । भाव यह है कि

दमयन्ती उन तेरहो देवियों से विशिष्ट है, जिन्हें अदृश्यसिद्धि प्राप्त है। यह चौदहवीं उनकी विषम सख्या को नम बनाकर पूर्ण करती है, अतः यह उनकी पूरण है, यो विशिष्ट है। वे तेरह है, यह उनसे अगली चौदहवीं—विशिष्ट है। देवियों को जो अदृश्यसिद्धि प्राप्त है, वह इसके चरणाग-गुल्फ में है, जो उह प्राप्त है, वह दमयन्ती के चरणाग को ही सिद्ध है। यह भी वैशिष्ट्य। इसके अतिरिक्त दमयन्ती में यह मिद्धि 'आप्त'—अव्यभिचरित, नित्य है। सभी दूर नहीं होती। इस प्रकार दमयन्ती उन तेरह देवियों के समान ही नहीं, विशिष्ट भी है। अरन्धती, रति, लक्ष्मी और सची (चार) और नौ मातृकाएँ—(१) शैलपुत्री, (२) ब्रह्मचारिणी, (३) विप्रधृष्टा, (४) कूष्माण्डा, (५) स्कन्दमाता, (६) कात्यायनी, (७) कालरात्रि, (८) महागौरी और (९) सिद्धिदात्री—योग तेरह, चौदहवीं दमयन्ती। दुर्गा-सप्तशती (कवच—३, ४, ५) के अनुसार—प्रथम शैलपुत्री च द्वितीय ब्रह्मचारिणी। तृतीय विप्रधृष्टेति कूष्माण्डेति चतुर्थकम् ॥ पञ्चम स्कन्दमातेति षष्ठ कात्यायनी च। सप्तम कालरात्रेति महागौरीति चाष्टम् ॥ नवम सिद्धिदात्री च नवदुर्गा प्रकीर्तिता ॥ आगम के अनुसार—ब्रह्माणी चैव माहेशी कौमारी वैष्णवी तथा। वाराहो नारसिंहो च माहेन्द्री षष्ठिका तथा ॥ महालक्ष्मीरिति प्रोक्ता क्रमेणैता नवाम्बिका ॥ जिस प्रकार साधका को चतुर्वशी को अदृश्य-करण विद्या की सिद्धि प्राप्त होती है उसी प्रकार दमयन्तीरूप चतुर्वशी में गुल्फद्वय को जो यह अदृश्यसिद्धि हुई, वह उचित ही है। विद्याधर के अनुसार रूपकालकार ॥ ९७ ॥

अस्या पदी चारुनया महान्तावपेक्ष्य सौदम्याल्लवभावभाजः ।

जाता प्रवालस्य महोरुहाणा जानीमहे पल्लवशब्दलब्धि ॥ ९८ ॥

जीवानु-अस्या इति। चारुनया सौन्दर्यगुणेन महान्तो अस्या पदी पादो अवश्य। 'पाद पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। सौदम्यात् सदपेक्षयाऽप-  
रिवादिति भावः। लवभावभाजोऽल्पतरुभाजो महीरुहाणा प्रवालस्य किसलयस्य  
पल्लवशब्दलब्धिः पद्मस्था लवोऽल्प इति व्युत्पत्त्या पल्लवसजा प्राप्तिर्जाता जानी-  
महे इत्युत्प्रेषामहे इत्यर्थः। 'अस्मदोद्गयोश्च' इति विवक्षादेकस्मिन्नेव बहु-  
वचनम् ॥ ९८ ॥



अन्वय — जानीमहे ( यत् ) अस्या चारुया महान्ती पदो अवश्य  
सौम्यात् लवभावमात्र महीरुहापा प्रवाल्गव पल्लवशब्दलब्धि जाता ।

हिन्दी—रगता है कि इस ( दमयन्ती ) के सौंदर्य के कारण उत्तम चरण  
देखकर अन्यता से ( पैरों की मोटा की ) अनियूनता ( अत्याश ) प्राप्त करते  
वृक्षों के बाल किसलय को 'पल्लव' ( पद्म-लव = पैर से अन्य ) नाम प्राप्त  
हुआ है ।

टिप्पणी—चार ( श्लोक म० ९८-१०१ ) में दमयन्ती के चरणों का  
वर्णन है । इस श्लोक में दमयन्ती-चरण को नवपल्लव में चारुतर मित्र किया  
गया है । समावना की गयी है कि पल्लव को पल्लव नाम इसीलिए मिला है कि  
वह 'पद्म्या लव' ( पैरों में छोटा ) अथवा 'पदो लव मय्याश्च-जसम्बन्धी  
लवो लेशो यस्य' ( नीमनुता के पद का न्यूनाश्राही ) अथवा 'पदो लवकः'  
( पैर लव-कल्प रूप ) है । सब प्रकार से कहना यही है कि दमयन्ती के चरण  
'प्रवाल' ( नवपल्लव ) से अधिक रमणीय हैं । 'जानीमहे' के आधार पर  
यहाँ मन्त्रिनाथ ने उल्लेख का निर्देश किया है । विधाकर के अनुसार उत्प्रेक्षा-  
अतिशयोक्ति ॥ ९८ ॥

जगद्वधूमूर्धनु रूपदर्पाद् यदेतयाऽधायि पदारविन्दम् ।

तन्मान्द्रमिन्दूरपरामगमंघ्रिं प्रवालप्रवलारुण तत् ॥ ९९ ॥

जोवातु—जगदिति । यत् यस्मात्, एतया त्रैम्या रूपदर्पात् सौन्दर्यगर्वात्,  
द्रवमुनय पदारविन्द द्वे अपि पदारविदे इत्यर्थः । जगद्वधूमूर्धनु अधायि निहित,  
घात्र कर्मणि लुङ् । 'आतो युक्चिह्नौ' इति गुणायन । तत् तस्मात्, तेषु  
मूर्धनु ये सान्द्रा मिन्दूरपरामगगा तै प्रवालाद्रिद्रुमादपि प्रवालारुणमधिकारण  
ध्रुवमित्युत्प्रेक्षा ॥ ९९ ॥

अन्वय — एतया यत् रूपदर्पात् पदारविन्द जगद्वधूमूर्धनु अधायि;  
ध्रुव तत् तस्माद्रिमिन्दूरपरामं प्रवालप्रवलारुणम् ।

हिन्दी—इस ( दमयन्ती ) ने जो सौंदर्य के गर्व से चरण-कमल त्रिलोक  
को मुन्दरियों के मूर्धाओं पर घटा, निश्चयपूर्वक वह ( दमयन्ती का चरण )  
उन ( जगत्-वधुओं ) के ( मस्तकों पर लगे ) गाढ़े सिन्दूर की लाली से  
प्रवाल ( मूँगे या नवपल्लव ) से अधिक गुलाबी हो गया है ।

टिप्पणी—भगिमातर से पूर्वोक्त का समर्थन । दमयन्ती के चरण भूगा धीर नवकिसलय से भी अधिक लाल हैं । दमयन्ती की उत्तमता के कारण जगत् की सुदूरियाँ उसके चरणों में अपना सिन्दूरपूर्ण मस्तक रखती हैं, उसी सिन्दूर की लालिमा से वह चरण प्रबालाधिक जरुण है । उत्तम के चरणों में निम्न स्थित रहते ही है । 'ध्रुवम्' के आधार पर यहाँ मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार ऐकाग्रप्राप्त और असम्बन्ध में सम्बन्धरूपा अतिशयोक्ति । चन्द्रालाकार ने उपमा, अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षा का अनापि-भाव सकार माना है ॥ ९९ ॥

स्वारुण सर्वगुणैर्जयन्त्या भैम्या पदं श्री स्म विधेर्वृणीते ।

ध्रुवः स तामच्छलययत् सा भृशारुणैतत्पदमाग्विभाति ॥ १०० ॥

जीवातु—इति । श्री. लक्ष्मी इषा पराजयश्रोत्रेण अरुणा सती सर्वगुणैर्जयन्त्या आत्मानमतिक्रामन्त्या भैम्या पदं स्थानं विधेः सकाशात् वृणीते स्म वदति । स विधेस्ता धियमच्छलयत् प्रतारितवान् ध्रुवः स्थानार्थे विषयमा पद-प्रार्थनायामङ्घ्रिदानादिति भाव । 'पदं स्थितस्यानस्थानरुदम्यङ्घ्रिबस्तुषु' इत्यमर । अतः सा श्रीरत्नत्पदमाग्रेण स्म्या भैम्या तदङ्घ्रिमाक् सती शोभाहरे-णेति भाव । भृशारुणा विभाति आरुण्यप्रत्यभिज्ञानात् तदङ्घ्रिरेवैतत्स्थानमिति जानीय इत्यर्थः ॥ १०० ॥

अन्वयः—इषा अरुणा श्री सर्वगुणैर्जयन्त्या भैम्या पदं विधेः वृणीते स्म स ता ध्रुवम् अच्छलयत्, यत् भृशारुणा सा एतत्पदमाक् विभाति ।

हिन्दी—क्रोध से लाल लक्ष्मी ने सब गुणों के कारण जयिनी भीमसुता के पद ( पैर की अंगुली स्थान ) की विधाता से माँगा था, उस ( विधाता ) ने उसे ( लक्ष्मी की ) निश्चयत घोसा दिया, क्योंकि और भी अधिक ( क्रोध और अपमान से ) लाल वह ( लक्ष्मी ) इस ( दमयन्ती के ) पद ( चरण ) को प्राप्त कर शोभित हो रही है ।

टिप्पणी—भाव यह कि दमयन्ती की चरण-शोभा लोकोत्तर है और लक्ष्मी भी दमयन्ती के समान नहीं है । दमयन्ती के सभी गुणों से पराजित लक्ष्मी क्रोध और ईर्ष्या से लाल हो गयी और विधाता से माँगने लगी कि वे लक्ष्मी को दमयन्ती का पद ( स्थान ) दें, अर्थात् दमयन्ती की अपेक्षा लक्ष्मी

को उच्चरित किया सके। विद्याना ने 'पद' तो दिया, पर 'पद' शब्द की अनेकार्थता के कारण पर 'पद'—'म्यान' नहीं दिया, 'पद'—'चरण' दिया कि लो दमयन्ती का पद, और कर्णी रहो पद-मेवा। इस प्रकार 'पद' शब्द से विद्याना ने लक्ष्मी की प्रशंसा की। वह बेचारी अपमान और क्रोध से भीरु भी सात होनी दमयन्ती का चरण लिये बैठी मेवा कर रही है। नारायण ने 'मृगाक्षी' शब्द का एक शब्द मानकर यह अर्थ भी संकेतित किया कि 'अन्यन्त अर्थ दमयन्ती का पैर पानेवाली' लक्ष्मी (और भी अर्थ होती) सुशोभित होनी है। विद्याना ने लक्ष्मी का चरण ही दिया, स्वरूपादि नहीं। इस प्रकार प्रशंसित किया कि दमयन्ती का पद (चरण) ही लक्ष्मी का 'पद' (उचित स्थान) है। विद्याना के अनुसार उत्प्रेक्षाकार ॥ १०० ॥

यानेन तन्मया जितदम्पिनायो पदाब्जराजी परिमुदुपाणी ।

जाने न शुश्रूषयितु स्वमिच्छ नतेन मूर्ध्ना कतरस्य राजः ॥ १०१ ॥

जोवानु-यानेनेति । यानेन गत्या दण्ड्यात्रया च जितो दन्तिनायो गजधेष्टो गजनिदध याम्या तो परिमुदु निदोयो बर्माहृतरस पाणि पश्चाद्भाग पाणि-ग्राहक योम्यो तन्मया पदाब्जे एव राजानो पदाब्जराजी कतरस्य राजः प्रनुः परिपयितर नतेन मानशान्तये रीद्रशान्तये च नत्रेण मूर्ध्ना स्वमात्मान सेन्य शुश्रूषयितु सेवयितुमिच्छ अभिप्रायुकी न जाने। अत्र पदाब्जराजादिति रूपकस्य स्तेपेमाद्भाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ १०१ ॥

तन्वय—यानेन जितदम्पिनायो परिमुदुपाणी तन्मया पदाब्जराजी न जाने कतरस्य राजः नतेन मूर्ध्ना म्व शुश्रूषयितुम् इच्छ ?

हिन्दी—गति अथवा विषय मात्रा में गजराज अथवा गजसेना के स्वामी राजा के जयी, रमणीय (चरण का) पृष्ठ भागवाले अथवा जितका पाणिग्राह (पीठे में आक्रमण करने वाला सैन्यदल) परिमुदु अर्थात् निदोष है, ऐसे (दमयन्ती के) चरण-कमल रूप राजा न जाने किस राजा के विनत नम्रक ॥ अपनी सेवा कराने के दृष्टिक है ?

टिप्पणी—न के इस विचार में एक तो यह उत्कठा है कि न जाने कौन राजा ऐसा भाग्यशाली होगा, जो इस दमयन्ती के गजविनिदितकालि और रमणीय टाँगों वाले चरणकमलों के प्राय-कण्ड में प्रसन्न करने के लिए अपना

‘मस्तक रलेगा ? दूसरे यहाँ चरण-कमलों को ऐसे राजाओं के रूप में चित्रित किया गया है, जो विजयमात्रा में गजसेनाधीश राजा ( नररायण के अनुसार गौडाधिप ) को पराजित करते हैं और जिनका पृष्ठसंश्लेष-पाणिग्राह-अत्यन्त समर्थ है। इसी राजार्थ के कारण ‘न जाने’ और सार्वक है। गूढमन्त्र राजा किससे सेवा लेगा, यह नहीं जाना जाता। मल्लिनाथ के अनुसार ‘पदाद्वजराजो’ में रूपक का श्लेष से अगागिमाव सकर है। विद्याधर ने यहाँ रूपक और श्लेष मानने हुए यह टिप्पणी भी की है कि यहाँ अर्थांतर की प्रतीति रूपक द्वारा ही होती है, इससे समासोक्ति नहीं हो सकती ॥ १०१ ॥

कर्णाक्षिदन्तच्छदबाहुपाणिपदादिन स्वाखिलतुल्यजेतु ।

उद्वेगमागद्वयताभिमानादिहैव वेधा ध्यधित द्वितीयम् ॥ १०२ ॥

जीवातु-कर्णेति । स्वस्या या-यखिलानि तुल्यानि शङ्कुलीकमन्त्राद्युपमान-वस्तूनि तेषां जेतु भाषितपुस्करत्वात् पुवद्भावः । कर्णञ्चाक्षि च दन्तच्छदश्च बाहुश्च पाणिश्च पदश्च कर्णाक्षिदन्तच्छदबाहुपाणिपदम् । प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः । तदादिर्मस्य तत् आदिसंवादात् कुचादिसंग्रहः । तदादिनोऽवयवज तस्य अद्वयता-भिमानात् अद्वितीयत्वगर्वात् उद्वेगमाक् रोपभाक् वेधा इहास्यामेव भैम्या द्वितीय कर्णादिक ध्यधित विहितवान् । तदवयवानामप्रतिषेधतया परस्परमेवौ पम्पमासीत् । यथा कर्णस्येतरकर्णेन नरस्येतरकरेणेत्यर्थः ॥ १०२ ॥

अन्वय — स्वाखिलतुल्यजेतु कर्णाक्षिदन्तच्छदबाहुपाणिपदादिन अद्वय-ताभिमानात् उद्वेगमाक् विधाता इह एव द्वितीय ध्यधित ।

हिन्दी—अपने समान समग्र ( वस्तुओं ) के जेता कान, धात, ओठ, बाहु, हाथ, पैर आदि की अद्वयता ( अनुपमता ) के अभिमान से उद्विग्न हुए विधाता ने इस ( दम्पयन्ती ) में ही दूसरा ( जोड़े का ) बना दिया ।

टिप्पणी—भाव यह है कि दम्पयन्ती के कान आदि समस्त अंग अनुपम, अद्वितीय हैं। कर्ण आदि के जो प्रसिद्ध उपमान हैं—पाश, कमल, बिम्ब, लता, कमल ( कर-चरण )—वे सब दम्पयन्ती के अंगों के समान अप्रमाणित हुए। इस प्रकार में अंग अपनी अद्वितीयता के अत्यभिमानो हो गये। विधाता ने उद्वेग और क्रोध में भरकर दम्पयन्ती के अंग के समान उसका जोड़ा बना डाला। पहिले कान के ओठ में दूसरा कान, पहिले नेत्र के जोड़े में दूसरा नेत्र—

इसी प्रकार दूसरा बाहु, दूसरा हाथ और दूसरा पैर । अब कोई अंग अकेला—  
 अङ्ग नहीं रहा, उनकी अद्वितीयता समाप्त हो गयी । होडा भी नहीं है, कूड़ा  
 रचनाकार अनिमान मिटाने के लिए प्रतिद्वन्द्वी को रच ही देता है । कर्पादि  
 की गणना करते-करते कवि ने जो अंत में 'जादि' शब्द जाड़ा है—'पदादि',  
 मन्त्रिणां की उचित मादता है कि इस 'जादि' से अभिप्राय समजना चाहिए  
 अन्य 'कुचादि' अंग । नारायण का स्पष्टीकरण है कि आदि शब्द से अङ्गुलि  
 आदि अवयव मानना चाहिए । इन अंगों को अभिमान हो गया था कि मरे  
 सदा सुन्दर कोई अन्य नहीं है, मैं ही अकेला सुन्दर हूँ । इसी गर्व पर उद्भिन्,  
 क्रोधयुक्त विधाता ने उसके ही जोड़ के दूसरे अंग की रचना नैमी न ही  
 कर दी—'आदिशब्दादङ्गुल्यादेरवयवस्य प्रत्येकमङ्ग्यतामिमानान् मत्सदृश  
 सुन्दरान्यन्नास्तीति अहमेवैव सुन्दरमिदं तन्वादिदुर्गुणात् क्रोधयुक्त वेधा  
 इहेवास्या नैम्यामेव द्वितीय द्वयो पुरण कर्पादि कृतवान् ।' विद्यापति के  
 अनुसार यहाँ अनवयवोपमालंकार हैं । चन्द्रकलाकर के अनुसार 'इस पद्य में  
 धनन्वय अलंकार से दमयन्ती के ओत्र आदि इन्द्रिय लोकोत्तर ये, ऐसी  
 वस्तुएँ हैं' ॥ १०२ ॥

तुषारनिशेषितमञ्जसर्गं विधातुकामस्य पुनर्विधानुः ।

पञ्चस्विहास्याङ्घ्रिकरेष्वभिस्त्याभिक्षाऽधुना माधुकरीसदृशा ॥ १०३ ॥

जोवानु-तुषारेति । तुषारेण नि शेषितं नास्ति नन्वस्य पदमनृष्टि पुनर्वि-  
 धातुकामस्य सप्टकामस्य विधातुरधुना इहाम्या नैम्या पञ्चसु आस्य चाङ्घ्री  
 च करो च तेषु अधिकरणतावत्वे चेत्येकवङ्गावप्रतिषेध इहाधिकरण समाना-  
 धारत्वाद्वातिप्रदर्शः । तस्यैतावत्त्व पञ्चत्वमभिस्त्याभिक्षा घोभावाच्चा । 'जमिस्त्या  
 नामघोमयो' इत्यमरः । माधुकरी नाम पञ्चभिक्षा तथा सदृशा सदृशी 'द्वे  
 वसरश्च वस्तुभ्यः' इति वसप्रत्ययः । वर्तत इति शेषः । एतदास्यादिपञ्चके  
 मादन्तावत् तावत् पदमेष्ट नास्तीत्यर्थः ॥ १०३ ॥

अन्वयः—तुषारनिशेषितम् अञ्जसर्गं पुन विधातुकामस्य विधातुः अधुना  
 इह पञ्चसु आस्याङ्घ्रिकरेषु अभिस्त्याभिक्षा माधुकरी सदृशा ।

हिन्दी—माले से पूर्ण विनष्ट कमलों की पुनारचना की कामना करते

विधाता की इस काल इस ( दमयन्ती ) के पाँच मुख, चरण और कर्णों से योना की याचना सन्यासी की भिक्षा ( मधुकरी ) जैसी है ।

टिप्पणी—एक मुख, दो हाथ, दो पैर का योग हुआ पाँच (  $1 + 2 + 2 = 5$  ) । दमयन्ती के इन पाँच अंगों से पाले के कारण सफल नष्ट हुए कमला की पुनः सृष्टि के निमित्त सृष्टिरत्ता जो थोड़ी-थोड़ी सुदरता की याचना करता है, वह उस भीख के समान है, जो घर-घर यति—सन्यासी माँग माँग कर एकत्र करता है, एक मधुकर ( भ्रमर ) के तुल्य फूल फूल से मधु माँगकर पेट भरता—‘मधुकरी’ पाँच अंग से माँगी भीख । दमयन्ती के मुख, कर्ण, चरण से थोड़ी-थोड़ी चारुता मिल जाय ‘बाबा’ को तो भिलारी जाबा का काम चल जाय और पेट पल जाय । सिरजमहार भी भितमगा हो गया जिनसे सौन्दर्ययाचना करता । भाव यह है कि भुजादि के उपमान रूपम प्रसिद्ध कमल दमयन्ती के भुजादि की अपेक्षा नगण्य हैं—असरय । १०३।

एष्यन्ति यावद्गणनादिगन्तान् नृपाः स्मरार्ताः क्षरणे प्रवेष्टुम् ।

इमे पदाब्जे विधिनापि सृष्टास्तावत् एवाङ्गुल्योऽत्र रेखाः ॥१०४॥

जीवातु—एष्यन्तीति । स्मरार्ता नृपा इमे पदाब्जे क्षरणे प्रवेष्टुं यावन्ती गणना यस्य तस्मात् यावद्गणनात् यावत्सरयाकात् दिगतात् यावत् सङ्ख्या-केभ्य दिग्भेदेभ्य इत्यर्थः । जातमेकवचनम्, एष्यन्ति, अत्रानयो पदाब्जयो तावत् एव तत्सङ्ख्या एवाङ्गुल्य एव रेखा सृष्टा, स्वयवरायमागामिना राक्षामपादानदिष्वङ्गुयासूचकरेखा इव दशाङ्गुल्य सृष्टा इत्युपेक्षा ॥१०४॥

अन्वय—स्मरार्ता नृपा इमे पदाब्जे क्षरणे प्रवेष्टुं यावद्गणनात् दिगतात् एष्यन्ति, विधिना तावत् एव अङ्गुल्य रेखा सृष्टा ।

हिन्दी—काम पीड़ित राजा ( दमयन्ती के ) इन चरण कमलों में क्षरण-प्राप्तय जितनी सरया के दिगतो ( दश, अर्थात् संपूर्ण दिशा-या ) से आयेगे, विधाता ने उतनी ही ( दश ) अंगुलियाँ रूप रेखाएँ इस ( दमयन्ती ) में बना दी ।

टिप्पणी—भाव यह है कि दशों दिशाओं के राजा दमयन्ती के अभिलाषी हैं । वे हमारे चरणों में प्रणय याचना करने क्षरण लेने आयेगे । विधि ने

रहिते से ही सनकी पाया हो सकने के लिए, दोनों पैरों में इन जंठुणियों बना दी, जिससे सुविधा हो, उत्प्रेक्षा उत्पन्न कर ॥ १०४ ॥

प्रियासखीनूतवतो मृदेव व्यववृत्तिभिः सानुदनन्वमिन्दोः ।

एतत्पदच्छदसरागपत्रसौभाग्यनान्य कथमन्यथा स्यात् ॥ १०५ ॥

जीवानु-प्रियेति । दिनिदिवाता प्रियाया नैन्या सखीनूतवत मुहुर्दुनूतस्य जमूतद्वारावे चि, नवतेः सदनुरूपपरच । इन्दोरिदं सङ्गदशव सनीचो-  
नावस्यस्य सम्पद् दद्याता परिपाक मुदा सन्दोषेण व्यनार् विहितवानितरयम् ।  
अन्यथाज्येन्दो एतस्या पदस्य च्छदच्छदस्य तस्य सरा पदस्य सौभाग्ये  
सौन्दर्ये भाग्य कथम् ? एतत्स्वरस्योत्तरेणसास्वर व्यनितपर्य ॥ १०५ ॥

अन्वय—विधि मुदा प्रियासखीनूतवत इन्दो इदं सङ्गदशव ( अथवा  
'दशव साधु' ) व्यनित, अथवा एतत्पदच्छदसरागपत्रसौभाग्यनान्य कथ  
स्यात् ?

हिन्दी—प्रियाता ने प्रसन्नतापूर्वक प्रिया ( दमयन्ती ) के रखा हो यों  
चन्द्र का ( चरणसहचरनें ) यह मुखर दगभाव ठीक ही बनाया, अन्यथा  
इस ( दमयन्ती ) चरण-ध्यात्र से अराकनच की सुमगता ( सौन्दर्य ) पाने  
का ( चन्द्र का ) भाग्य कैसे होगा ?

टिप्पणी—दमयन्ती के पैरों के इस गुलाबी नख बरत चन्द्र जोर पप  
की गोमा बाने हैं । चन्द्र तो एक है, उसे दस नखों की समता देने के  
लिए उसके दस रूप उचित हैं—'साधुस्य' जसात् मजी अवस्था जोर उचित  
दगभावनात् । इससे चन्द्र की यह छान हुआ कि दमयन्ती चरण-ध्यान से  
उसे 'अरण-मन्' सौभाग्य लान हो गया । चन्द्र-मन्-विरोध माना जाता है ।  
इस समनव की सम्भावना दमयन्ती-चरण-ध्यात्र से ही चन्द्र को हुई । विद्या-  
धर के अनुसार यहाँ द्वैकानुमाद द्वैक-अनुमान-अद्वैतमुक्ति-अन्वय है ॥ १०५ ॥

यद्य पदाट्मुच्छनखौ मुत्तञ्च विमर्ति पूनन्तुचनुष्टय या ।

कथा वतुयष्टिरूपेणु वाम तस्या कथं मुञ्चुवि नाम नान्यात् ॥ १०६ ॥

लोवातु—यद्य इति । या मुञ्चुयंश कीति- पदाट्मुच्छनखौ मुत्तञ्चविति  
पूनेतुवन्तुश्च विमर्ति । तस्यामस्या मुञ्चुवि सुन्दरी काना पोटसनापाना  
विद्याना च वतुस्तथा पष्टि वतुयष्टि वास निवास कथ नाम मोरेतु उपेवे-

वेत्यर्थः । चन्द्रचतुष्टये प्रतिचन्द्र पौडसकल्त्वाच्चतु पष्टिकलासम्पत्तिरित्यर्थः ।  
द्वयीनामपि कलानामभेदाध्यावसायेन अयं निर्देशः ॥ १०६ ॥

अन्वयः—या यत्नः पदाङ्गमुपनखौ मुखं च पूर्णं दुचतुष्टयं विभक्तिं, तस्याम्  
अस्यां सुभ्रूवि कलाचतुष्टयं कथं नाम वासः न उपैतुः ?

हिन्दी—जो ( दमयन्ती ) यश, पैर के अंगूठों के दो नख और मुख  
( १ + २ + १ = ४ )—इस प्रकार चार पूरा चन्द्र धारण करती है, उस इस  
सुन्दर सौहवाली में चौसठ कलाएँ क्यों न निवास प्राप्त करें ? ( करना ही  
उचित है । )

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती गीत-वाद्यादि चौसठ कलाओं में  
प्रवीणा है और उसके यश ( १ ) पैर के अंगूठे, ( २ ) और मुख ( १ )—  
ये चार-चार पूर्ण चन्द्रों के तुल्य हैं । इस प्रकार दमयन्ती में चार चन्द्रों का  
वास है । एक चन्द्र में सोलह कलाएँ होती हैं,  $१६ \times ४ = ६४$  । इस प्रकार  
दमयन्ती में चौसठ कलाओं की स्थिति ठीक-ठीक हो गयी । विद्याधर के  
अनुसार अतिशयोक्ति श्लेष अलंकार । कामशास्त्र के अनुसार चौसठ कलाएँ  
हैं—१ गीत, २ वाद्य, ३ नृत्य, ४ नाट्य, ५ चित्रकारी, ६ तिलकरचना,  
७ चावल फूलों से चौक बनाना, ८ फूलों की सेन विठाना, ९ दाँत, धूल  
और अंगों का रँगना, १० गृहसज्जा, ११ धयनरचना, १२ अलतरंग  
बजाना, १३ गुलाबजल आदि छिड़कना १४ बिनायोग ( तरण को बृद्ध,  
बृद्ध को तरण बनाना ), १५ माला गूँथना, १६ सिर पर फूल सजाना,  
१७ नेपथ्ययोग ( वस्त्रभूषणादिसज्जा ), १८ कर्णफूलादिरचना, १९ इन-  
फुल्ल बनाना, २० भूषण योजना, २१ इद्रजाल, २२ प्रसाधन-सामग्री  
बनाना—कीचुमार योग, २३ हस्तलाषव, २४ धाक-पक्वान आदि बनाना,  
२५ शरवत आसवादि पेय निर्माण, २६ सिलाई, २७ बेलबूटे काटना, २८  
पहेली-बुझाना, २९ अत्याक्षरी, ३० कठिन पदों का अर्थ करना, ३१-  
पुस्तकवाचन, ३२ नाटकदेखना दिखाना, ३३ समस्यापूर्ति, ३४ छाट चुनना,  
३५ तर्ककर्म ( कातना ), ३६ तर्क, ३७ वास्तुविद्या, ३८ रत्नपरीक्षा,  
३९ धातुवाद ( कीमियगरी ), ४० मणिराम ज्ञान, ४१ खाना की विद्या,  
४२ वृक्षायुर्वेदयोग, ४३ मेघ कुक्कुट लावन-शुद्ध-विधि, ४४ मुक्तारिका-



प्राप्तपन ज्ञान, ४५ उत्तादन ( उबटन ) स्नाना, ४६ देशनाज्जनकोशल,  
४७ अगुलि सकेत से ज्ञयन, ४८ विद्वशी भाषा-ज्ञान, ४९ देशभाषाज्ञान,  
५० देवीलक्षणों के आधार पर भविष्यत्वचन, ५१ मन्त्रमातृका ( निर्माण ),  
५२ स्मरणमातृका, ५३ सपाटन, ५४ मानसी काञ्चक्रिया, ५५ त्रिग-  
विष्णु, ५६ छलितक योग ( ऐयारी ), ५७ जनिधान कोपच्छन्दो ज्ञान,  
५८ ब्रह्मोपा, ५९ छूतविशेष, ६० पांमा-वेल्ना ६१ बच्चे खिलाना,  
६२ बैनापकी विद्या ( टिशाचार ), ६३ वैजयित्री विद्याज्ञान, और ६४  
बैतालिकी विद्या ॥ १०६ ॥

सृष्टि विद्वद्वा विधिनेव तावन्नन्यापि नानोपरि यौवनेन ।

वैदग्ध्यमध्याप्य मनोभुवेऽमवापिना वाक्पथपारमेव ॥ १०७ ॥

जीवानु-मृष्टेति । इय तावत् विधिनेव अतिविश्वा विश्वमतिक्रान्ता विश्वा-  
तिशामिनीत्यर्थ । 'अस्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयये'ति समास । सृष्टा निमिता  
अय यौवनेन तस्य विधिङ्गनातिशयस्याप्युपरि नीता ततोऽप्यतिशय प्रानिते  
त्यर्थ । अय मनोभुवा वैदग्ध्यम् अध्याप्य वाक्पथस्य वाङ्मागम्य  
पारम्परतीरमवाङ्मनसगोचरत्वमेवाशानिता अत्र श्रेयैकस्यानेक्यमसम्बन्ध-  
क्यनान् एकस्मिन्नर्थवानेकमिन्पुक्तलक्षणपर्यायभेद ॥ १०७ ॥

अन्ययः—विधिना एव इय तावत् जनिदिखा सृष्टा, यौवनेन तस्य अपि  
उपरि नीता, मनोभुवा वैदग्ध्यम् अध्याप्य वाक्पथपारम् एव अवापिता ।

हिन्दी—विधाता ने ही इसे ( दमयन्ती को ) पहिले विद्वत्विद्यामिनी  
( जगज्जयिनी ) रचा, तदुपाई द्वारा उसके भी ऊपर ले जायी गयी और  
मनोज्ञ ( काम ) ने तो विदग्धता सिखाकर वागमोचरत्व ( वर्णनाशक्यता )  
को ही पहुँचा दिया ।

टिप्पणी—दमयन्ती जन्मकाल से ही त्रिलोकसुन्दरियों को अपेक्षा सुन्दर  
थी, तदुपरा आने पर वह अत्यधिक सुन्दर हो गयी और जब हृदय में  
कामनाएँ जगने लगीं तो समस्त व्यापार-चातुर्यं सीखकर तदुही कामिनी  
दमयन्ती का सौन्दर्य वर्णनातीत स्थिति को प्राप्त हो गया । भाव है कि  
दमयन्ती के त्रिलोकजयी सौन्दर्य का वर्णन सभव नहीं है । मन्त्रिनाथ के

अनुसार तम से एक का जनेक धर्मों में सबष-कथन होने के कारण पर्याप्त अलङ्कार है, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ १०७ ॥

इति स चिकुरादारभ्येता नखावधि वर्णयन्  
हरिणरमणीनेत्रा चित्राम्बुधौ तदनन्तर ।  
हृदयभरणोद्वेलानन्दं सखीवृतभीमजा-  
नयनविषयीभावे भाव दधार धराधिप ॥ १०८ ॥

जीवातु—इतीति । इतीत्य स धराधिपो नलो हरिणरमणीनेत्रामेता भ्रमी चिकुरात् केसपाशादारभ्य नखावधि पदाङ्गुष्ठान्तान्त वर्णयन्चित्राम्बुधौ आश्रयसागरे तदनन्तर प्लवमानान्तरङ्गस्तथा हृदये भरणात् पूरणात् उद्वेलो नि सीम आनन्दो यस्य स सखीवृताया भीमजाया भैम्या नयनविषयीभावे रमणीकरत्वे भावमभिप्राय दधार, तस्या प्रत्यक्षीभवितुमैच्छदित्यर्थ ॥ १०८ ॥

अन्वय—इति स धराधिप हरिणरमणीनेत्राम् एता चिकुरात् आरभ्य नखावधि वर्णयन् चित्राम्बुधौ तदनन्तर हृदयभरणोद्वेलानन्दं सखीवृतभीम-जानयनविषयीभावे भाव दधार ।

हिन्दी—इस प्रकार उस घरती के स्वामी ( राजा नल ) ने हरिण की रमणी ( हिरनी ) के समान नयनवाली इस ( दमयन्ती ) का केसपाश से आरम्भ करके नखपयन्त वर्णन करते हुए आश्रय सागर में तिरते अतस्तु वाला हो, हृदय के परिपूर्ण हो जाने से तट की अतिश्रांत करते आनन्द से मुक्त होकर सखियों से घिरी भीमसुता ( दमयन्ती ) के नेत्रों का विषय होने ( प्रकट हो जाने ) की इच्छा धारण की ।

टिप्पणी—उपर्युक्त प्रकार से दमयन्ती के नख-शिख का विस्तृत वर्णन करते हुए सम्मुख दमयन्ती के त्रिलोकातीन सौन्दर्य को निहार कर राजा नल का हृदय आश्चर्यमय आनन्द से इतना परिपूर्ण हो गया कि वह जब उसके सम्मुख प्रकट होने की विवश हो गया । जैसे उबार आने पर सागर तट का अतिरमण करने बहने लगता है, आश्चर्य-आनन्द से परिध्यात नल का अतः कारण भी उसी स्थिति में हो गया । अत्यन्त हर्ष हुआ उसे । और वह दमयन्ती के सम्मुख प्रकट हो गया । विद्याधर के अनुसार यहाँ उपमा, अतिशयोक्ति, द्येयानुप्रास अलङ्कार हैं, च द्रवलाकार ने रूपरूप उपमा की

समृद्धि को मान्यता दी है। यह हरिणी छन्द है—नमस्तस्मात् न पद्मेदं हं  
हरिणी मता । जयात् जिसके चारों तरफों में सबहु-सबहु वाराँ इस क्रम से  
होते हैं—१ नाप (III), १ मग्रा (II), १ मग्रा (SSS), १ रागा (SIS),  
१ गाना (IIS), एक लघु (I), १ गुरु (S)—१७। हरिणी छंद के प्रत्येक  
चरण में ६, ४, ७, पर यति होती है ॥ १०८ ॥

यो ह्यं विगङ्गादिमुकुटाङ्गाङ्गीर सुत  
 आहोरे सुपुत्रे जिह्मिन्द्रियत्रय मामल्लदेवो च यत् ।  
 गौडोर्वीशुल्लङ्गस्तिभगिनि भ्रान्त्यं तन्नहा-  
 काथ्ये वाह्नि नैपद्योऽपरितं नोऽजामन्तुष्टम ॥१०९॥

जीवानु—ग्रीह्यमित्यादि । गौहोर्वाग्गुलुप्रशस्तिनगितिर्नामास्य कृत्  
प्रदन् वदन्नादरि तन्ममानकर्तृक इत्यर्थः ॥ १०९ ॥

इति भस्मिनायनूरिविरचिते 'जीवातु'नमाह्वाने  
समस्तं सर्वं समाप्तं ॥ ७ ॥

— • —

अन्वयः—श्री हयं च यम्, गौडोर्वीचकृत्प्रशस्तिमिति आठरि  
 चारणि तन्महाकाव्ये नैपथीयचरिते सप्तमं सर्गं ब्रजन्तु ।

हिन्दो—शे चरणों का पूर्ववत् अर्थ । 'गीठोर्वोऽङ्गुष्ठमस्तिमगिति' के सहोदर भाई, चाद उनु महाकाव्य नैयमीयचरित मे सतन सों पूर्ण हमा ।

टिप्पणी—इस श्लोक में यह मन्त्र दिया गया कि नैपथ्यकार श्रीहर्ष ने 'गौडोर्वोऽसकृन्मृगस्तिमपिनि' नामक प्रशस्तिग्रन्थ भी रचा था। नैपथ्यचरित का आता, एक कवि की ही कृति। तृतीयधरण में 'नैपथ्यचरिते' का पाठांतर 'वैरहचरिते' भी है ॥ १०९ ॥

श्रोतृपरचित्त 'नैषधीयचरित्' का समन सुं सनाह ।

— 2 —



# नपैवीयचरितम्

## अष्टमः सर्गः

अपाङ्मुतेनास्तनिनेयमुद्रमुद्रिद्रोमाग्नम् पुवानम् ।

दृष्टा पनुस्ता सुदृष्ट समन्ताः पुता च भीमस्य महोन्मथोन ॥ १ ॥

जीवानु—अयेति । अयं नन्वाङ्नांवात्तरनद्रुतेन इनयन्तीताज्ञात्कार-  
जन्मविस्मयवशेन अस्ता निनेयमुद्रा निनीन्वजो यस्य त निनिनेयमित्यर्थः ।  
उन्निद्रोमाय दृष्टोमाग्नमिति च विस्मयानुभावोक्तिः । पुवानममु नन्मन्म-  
नाङ्मुतेन नन्वनसाक्षात्कारविस्मयेन अस्तनिनेयमुद्रा उन्निद्रोमागो पुवउय  
इति परिणामः कार्यः । ता अमो नासद सनस्ता सुदृष्टा स्त्रिय इया पपु-  
रन्तिद्रुमा ददुतिरित्यर्थः । तथा महोन्मथोने ददेवेत्यर्थः भीमस्य सुता भीमी  
च पूर्वोक्तविस्मयानुभववती यवतिरिच्येति भावः । त इया पपावित्यर्थः । मन्म-  
दृष्टानादानदंनित्यनुष्ठानपूर्वकन्वन्ताविद्येयद्योतनार्थः ॥ १ ॥

जन्मव —अयं जङ्मुतेन जन्तनिनेयमुद्रम् उन्निद्रोमाग पुवानम् अनु ता-  
सनस्ता सुदृष्टा महीमथोन भीमस्य सुता च इया पपु ।

विन्दी—नदनतर (मरु के प्रत्यय हो जाने का पञ्चत्) अङ्मुत (दमयनी-  
का इति) से पलक मनाता त्यागे, रोमाञ्चित तथा इन ( नन् ) को वे सब  
मुनयनार्थ ( सतिषां ) और घरती के इद्र मीन की पुत्री ( दमयती ) इति से  
( जैसे ) पीने लगा ।

टिप्पणी—अङ्मुत दमयती और उनके अङ्मुत मनाज की देख कर नन्  
तो अनिनेय और रोमाञ्चित हो ही रहे थे, उन मूढ-दय्याली तथा आकर्षक  
नल को देख कर दमयती और सभी समूह भी अभिन्त हो उठा और नन्  
को अत्यन्त निहारने लगा । 'उन्निद्रोमन्व' मान्त्रिक भाव का द्योतक है ।  
विद्वान्तर के अनुसार छेदानुशास और नावोदय जन्मद्वार हैं । इत मर्त्य मर्ग  
में प्रायः उदयानिद्रुन का प्रयोग किया गया है ॥ १ ॥

कियच्चिर दैवतभाषितानि निहोतुमेन प्रभवतु नाम ।

पलालजालं पिहित स्वयं हि प्रकाशमासादयतीक्षुडिम्भ ॥ २ ॥

जोवातु—नन्वयमिन्द्रादिवाक्यानिन्मेष कथमासा प्रादुरासीदित्यप्रोत्तर-  
माह—कियदिति । दैवतभाषितानि आहत्य एव दूत्यमाचरत्वेवेषाणीन्द्र-  
वाक्यादि कियच्चिर कियन्न बहुकालमित्यर्थं । जत्यतसयोगे द्वितीया अव्यय  
विशेषणत्वात् किमिति नपुसकलिङ्गनिर्देश । क्रियाध्ययाना भेदकान्येकत्वेऽपि  
इति नपुसकलिङ्गसेवेष्टमर । एव नल निहोतुमाच्छादयितु प्रभवन्तु यवन्तु  
नामानि यवन्तु खल्वित्यर्थं । सम्भावनाया लोट् । तथाहि—पलालजालं  
प्रीत्यादितृणपूर्णं पिहित सरक्षणार्थमाच्छादित इक्षुडिम्भ इक्षुप्ररोह स्वयं  
स्वत एव प्रकाश प्रादुर्भावमासादयति इक्ष्वङ्कुरस्येव कामिनोऽप्यतिप्रौढरागस्य  
दुर्वारो विकार इति भावः । अत्र नलेक्षुडिम्भयोर्विम्बप्रतिविम्बभावेन समान-  
धर्मनिर्देशाद् दृष्टान्तालङ्कारः ॥ २ ॥

अन्वयाः—दैवतभाषितानि कियच्चिरम् एव निहोतु प्रभवतु नाम, हि  
पलालजालं पिहित इक्षुडिम्भ स्वयं प्रकाशम् आसादयति ।

हिन्दी—देवताओं के कथन कितने समय तक इस ( नल ) को छिपा  
रहने देने में समर्थ होते, कारण कि तिनको से दका ईल का अकुर अपन आप  
ही प्रादुर्भूत हो जाता है ।

टिप्पणी—दमयती के प्रति दुर्वार अनुराग से पूर्ण नल कब तक अपने  
को छिपाये रखता ? देवा ने जो उसे अतृषि सिद्धि दी थी, कब तक वह  
उससे छिपा रह जाता ? अनुराग वैश ने नल को स्वयं प्रत्यक्ष कर दिया ।  
वह ईल के पीछे के समान सब आवरणों को उतार कर प्रत्यक्ष हो ही गया ।  
सूखे तिनको का जात कब तक इक्षुडिम्भ को अच्छादित रख सकता है ? प्रणय  
छिपामे नहीं छिपता । उसकी दूवारता अप्रतिहत होती है । मल्लिनाथ के  
अनुसार यहाँ दृष्टांत अलवार है, क्योंकि नल और इक्षुडिम्भ में विम्ब-  
प्रतिविम्ब भाव से समान धर्म का निर्देश है । विद्याधर के अनुसार अयानर  
न्यास है ॥ २ ॥

अपाङ्गमप्याप दृशोर्न रश्मिर्नलस्य भेमोमभिलष्य यावत् ।

स्मराणुग सुभ्रुवि तावदस्या प्रत्यङ्गमापुद्गलशिर भमज्ज ॥ ३ ॥

जीवानु—अपाङ्गमिति । अस्य नलस्य दृशो रश्मिः भैमीमनिप्य काम-  
यित्वा दावदपाङ्गन्तस्या अपाङ्गदेनपि नाप भैमी तु नापति किमु वक्तव्य  
तावदेव स्मरागुणोऽस्या सुभ्रुवि भैम्या प्रत्यङ्गमापुङ्खच्छि समूलाग्रमिन्धर्यं ।  
अग्निविश्रावय्यपीनाव । ममज्जेत्यद्योऽनरातोक्तिः । अत्र दृष्टिगतस्मरणान्नो  
कारणयो पौर्वापर्यमङ्गोक्तिरित्यतिशयोक्तिभेदः ॥ ३ ॥

जन्वय —अस्य दृशो रश्मि भैमीम् जमिलप्य दावत् अनाङ्गम् अपि न  
आप तावत् एव स्मरागुण अस्या सुभ्रुवि प्रत्यङ्गम् अपुङ्खच्छि ममज्ज ।

हिन्दी—इस ( नल ) के नयना की किरण भौमसुता की कामना करके  
दृग्गत तक भी न पहुँच पायी थी ( नेत्रा की प्रतिनिकट कोट तक भी न  
पहुँची थी ) कि तब तक ही काम का शीघ्रगामी बाण इस सुन्दर भ्रुकुटिवती  
( दमयती ) के अग-अग के पुच्छ से छिवा तक ( कोट से पूछ तक, सपूर्ण )  
पूरी तरह घुस गया ।

टिप्पणी—नाह यह है कि नल के सामान्त्व्य देखने ही, अनुरागमयो  
दृष्टि पड़ने ही दमयती उसके प्रति पूर्णतया जादृष्ट हो कामाधीना हो गयी ।  
मयन किरण की अपेक्षा काम-बाण अधिक तीव्रगामी प्रभावित हुआ । मल्लि-  
नाथ के अनुसार यहाँ दृष्टिपान और स्वरपात कारणों की पौर्वापर्यमङ्गोक्तिरुप  
अतिशयोक्तिभेद है, विद्याधर ने भी अग्निवोक्ति का उल्लेख किया है ॥३॥

यदक्रम विक्रमशक्तिमाम्नादुपाचरद् द्वावपि पञ्चबाण ।

धत्ते न वैमत्यममुष्य कस्माद् बाणैरनर्द्धाद्भविभागनाग्नि ॥ ४ ॥

जीवानु—पुनरप्ययोऽस्यापुरामेवाह—यदिति । पञ्चबाणो विषमेषु  
हानपि भैमीनल अक्रममविद्यनानक्रम युगदिन्धर्यं दित्रमेण या शक्तिस्तस्या  
ताम्यात् ताम्यमाभ्य त्वालोपे पञ्चमी । उपाचरत् उपावचार विषमं दानं  
युगपत् उभावप्यवैषम्येण प्रहृतवानिति । अमुष्य समोत्तरणस्य अर्वावशो  
विभागमाजो न भवतीति तयोक्तं विषमसङ्ख्यं अक्षरसमविभागैरित्यर्थः ।  
दानं शरं कर्तुमि. पञ्चनिरिति भावः । वैमत्यममन्मति कस्मात् कथं न चक्रे  
कृ= महच्चित्रमिति भावः । अत्र विषमैर्युगपदुनयत्र समप्रहारविरोधस्य स्मर-  
महिम्ना समाधानाद्विरोधानासोऽद्भुतः ॥ ४ ॥

अन्वय — पञ्चबाण द्वौ अपि अक्रम विजयशक्तिसाम्यात् यत् उपाचरत् तत् अमुष्य अनर्हाद्वैविभागमाग्निं वाणं वैमत्यं कस्मात् न चक्रे ?

हिन्दी—पाँच बाणों वाले ( काम ) ने दोनों ( नल-दमयती ) को ही जो बिना प्रमके—एक साथ विक्रम ( उत्साह ) और शक्ति ( बल ) की तुल्यता से जो ( वश में ) कर लिया, उसमें इस ( काम ) के आधे-आधे भागों ( दो-दो ) में न बँट जाते बाणों ने असहमति क्या नहीं ( प्रकट ) की ?

टिप्पणी—काम के बाण पाँच हैं। उचित तो यह होता कि नल दमयती दोनों को एक साथ वश में करने के लिए दोनों पर एक समय एक समान सन्या के अस्त्रों से प्रहार होता। परन्तु यह सम्भव नहीं था, क्योंकि काम-बाणों की सख्या विषम है, सम नहीं। पाँच को पूर्णतया दो भागों में नहीं बाँटा जा सकता, उसमें एक बाण को दो भाग में करना पड़ेगा। इस प्रकार काम ने रीति विरुद्ध दोनों को एक साथ वश में करके अद्भुत कार्य किया। ऐसा परिपाटीरहित कार्य काम इसलिए कर सका कि उसके मन में विजय ( उत्साह ) था और तन में शक्ति ( बल )। ऐसा भी सम्भव था कि काम पहिले पाँचों बाण छोड़कर नल को वश में करता, तदनन्तर उसी प्रकार दमयती को। पर ऐसा करने पर समानुरागी नल दमयती का एक साथ अनुराग दर्शन न हो पाता। पौर्वापर्य हो जाता। दाईं-बाईं बाणों का उपयोग भी उचित नहीं था, क्योंकि उसमें एक बाण तोड़ना पड़ता। एक पर दो, दूसरे पर तीन का प्रहार भी तुल्यानुराग में बाधा देता। हमने अतिरिक्त बाणों में 'वैमत्य' अर्थात् असहमति भी उत्पन्न हो जाती। जिसे तोड़ा जाना, वही असहमति प्रकट करता। अतः काम ने अपने विक्रम और शक्ति की तुल्यता—मन के उत्साह और तन की शक्ति का समानता से उपयोग कर नल-दमयती को वश में किया। कोई अधिकारी व्यक्ति भी अपने कार्य-कर्ताओं में वैमत्य की आशंका करके इसी प्रकार उपायात्तर से कार्य मिट करता है, अतः काम ने बाणों में 'वैमत्य' न आने दिया। भाव यह है कि नल-दमयती का समानुराग था, एक साथ संघटित। न किसी का अनुराग कम था, न अधिक। सम, एक समय में उत्पन्न। 'विजयशक्तिसाम्यात्' के अर्थ अर्थ भी विवेच्य हैं—'वे पणिण क्रम आजयन् ग्रहणं तत्र या शक्ति



सामर्थ्यं तेन नाम्नात्तुल्यत्वात् । 'वल्लेष्पोतन्यादेन' इति यावत् । ( प्रकाश-  
टीका ) । पक्षियों के एक साथ अनाज चुगने की शक्ति के समान काम ने भी  
स्वशक्ति दिखायी । जैसे कबूतर खल्लिगन में पड़े अन्नकणों को एक साथ  
चोंच से पकड़ता है वैसे ही पचवाप-काम ने दोनों को एक साथ स्ववश कर  
लिया । इसी कारण बाणों के अमम होने पर भी विरोध नहीं हुआ । अथवा  
पक्षियों के एक साथ मिल कर दाना-चुमने के समान पाँचों बाणों ने मिलकर  
एक साथ नल दमयन्ती को वश में कर लिया । अथवा नल है विक्रम-तुल्य  
और दमयन्ती है शक्तिमत्ता । पाँच पुष्पां ( बाणों ) ने काम ने एक साथ  
विक्रम-शक्ति की पूजा की । जाग्य यही है कि प्रत्येक दृष्टि से—काल,  
परिमाण्यादि को ध्यान में रखने हुए नल-दमयन्ती का परस्परानुराग तुल्य था ।  
मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ विरोधान्नास अलङ्कार है, क्योंकि विपक्षसम्यक्  
बाणों द्वारा एक साथ दो स्थानों पर एकसा प्रहार करने में विरोध है,  
विमका मम-दान कान के अप्रतिष्ठ घटित करने की क्षमता के आधार पर  
किया गया है । विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और अतिशयोक्ति अलङ्कार है ।

नन्मिन्नलोष्माविनि साञ्जरज्जन् क्षण क्षां क्वेह स इत्युदान्त ।

पुरः स्म तस्या वल्लेष्म्य चित्तं दूत्यादनेनाप पुनर्न्यवति ॥ ५ ॥

जीवान्—नन्मिन्निति । सा भैमी तस्मिन् पुनि अनौ नल इति हस्तादि-  
मुखमूर्तकृतमुवादानं इति मत्वा सा क्षणमन्त्रजालमत्यन्तनयोमे द्वितीया ।  
अन्वरज्जदमुरत्ताञ्जवत् । एतेन रूपं सूचित । पुरे म नल क्वेहेष्यमन्माविन-  
मिति मन्त्रैत्यर्थ । इतिर्नैश्वर्यार्थवादप्रयोग । ज्ञानमुदास्त उदासीना स्थिता ।  
जाते कर्तरि लट् । एतेन विषाद सूचित , तथा आस्था भावनग्निरासी-  
दित्यर्थ । अथ नलस्य तस्या भाविमुन्निभाह—अस्य नलस्य चेन पुर प्रथम  
तस्या दमयत्या वल्लेष्म चित्तं दूत्यादनेन कर्त्रा नलेव  
न्यवति नीचकृते स्थितस्य इममनुचिन्मिनि बन्धात्कारेण निवर्तितमिति  
विषादोक्ति , समग्रश्च एवानयोस्ति माव ॥ ५ ॥

अन्वय —सा तस्मिन् अनौ नल इति क्षणम् अन्वरज्जन्, पुन स इह  
क्व इति क्षणम् उदास्त, अथ अस्य चित्तं पुर तस्या वल्लेष्म, अनेन पुन-  
दूत्याद् न्यवति ।

हिन्दी—वह ( दमयन्ती ) उसमें 'यह नल है'—ऐसी धारणा करके शण भर अनुरक्त हुई, फिर यह विचार कर शण भर उदासीन हुई कि वह (नल) यहाँ ( कुडिनपुरी ) में कहीं से आ सकता है? और इस ( नल ) का मन दमयन्ती के प्रति विचलित हुआ, परन्तु उसने दूत होने के कारण उसे लौटा दिया ।

टिप्पणी—नल दमयन्ती के समानुराग की एकप्रकारता का सबेते । दमयन्ती का मन पहिले नल की ओर चला, फिर उदासीन हुआ । इसी प्रकार नल का मन भी पहिले दमयन्ती की ओर चषल हुआ, पुन लौट आया । दोनों के हृषे-विषाद का सूचन यहाँ हुआ है, अत मल्लिनाथ के अनुसार भावसन्धि ॥ ५ ॥

क्याचिदालोक्य नल ललज्जे क्यापि तद्भासि हृदा ममज्जे ।

त कापि मेने स्मरमेव कन्या भेजे मनोभूवशभूयमन्या ॥ ६ ॥

जीवातु—अथ तत्सखीनामपि तदा शृङ्गारभावा बभूवुरित्याह—क्येति ॥ क्याचित्कन्याया नलमालोक्य ललज्जे लज्जित, भावे लिट् । क्यापि तद्भासित स्लाक्ष्ये हृदा ममज्जे हृदि तमयत्वं भावितमित्यर्थ । एतेन तरप्राप्तिसङ्कल्पो गम्यते, भावे लिट् । कापि कन्या त नल स्मरमेव मेने, इति विस्मयोक्ति अया कन्या मनोभूवो वशभूय वशत्वं 'भूवो भावे' इति कथम् । भेजे । एतेन अतीसुख्य गम्यते ॥ ६ ॥

अन्वय —नलम् अलोक्य क्याचित् लज्जजे, क्या अपि तद्भासि हृदा ममज्जे, का थपि कन्या त स्मरम् एव मेने, अन्या मनोभूवशभूय भेजे ।

हिन्दी—नल को देखकर कोई ( सखी ) लज्जित हो गयी, कोई उस ( नल ) की सौन्दर्य प्रभा में हृदय ने मग्न हो गयी, कोई कन्या उसे काम ही मानने लगी और कोई अन्य मनोभव ( काम ) के वश ही हो गयी ।

टिप्पणी—नल के प्रभावशाली व्यक्तित्व का वर्णन । समूचा सखी समाज नल से प्रभावित हो गया । विद्याधर के अनुसार भावोदयजाति अन्वार ।

वस्त्व कुतो वेति न जानु शेकुस्तं प्रष्टुमप्यप्रतिमाति भारात् ।

उत्तस्युरभ्युत्थिनिवाञ्छयेव निजासनान्निकरसा वृत्ताद्वयम् ॥ ७ ॥

जीवातु—अन्वमिति । दृष्टाद्वयं स्त्रिय एकरसा जानन्दस्मिरवशां  
सत्यं इत्यर्थः । अत एवाप्रतिभासा जप्रतिभानेर्लक्षणादतिनिरुद्धादिति कर्मव्युत्पत्तिः  
मोहान्निवेशादित्यर्थः । न ननु अन्व कृतो वा जायते इति प्रष्टुमिति जानु  
श्रुतिरिति न श्रेयः । किञ्च अन्वुत्पत्तिवाञ्छया प्रत्युत्पत्तिवाञ्छया विजा-  
सनान् मोहयन्, तन्म तेजो विनेषाद्वात्मानमवबोधयन् । न तु वदुषा र-  
पावदवधारितं भावः ॥ ७ ॥

शब्दार्थः—दृष्टाद्वय एकरसा अप्रतिभासिनारात् त कः ख कृत वा इति  
प्रष्टुम् अति जानु न श्रेयः, अन्वुत्पत्तिवाञ्छया इव निजासनात् न वदन्त्यु ।

हिन्दी—तकली सखिया एकरस ( लज्जा, जय, जनुराय, जानन्द यदि  
से परवग ) हो अप्रान्नता की बहून्ता के कारण उससे यह पूछने में भी  
समर्थ न हो सकी कि तुम ( नल ) कौन हो अथवा कहां से जाते हो ? और  
( स्वात्मार्य ) मानी उठने की इच्छा से अपने आसन में न बैठ पायीं ।

टिप्पणी—दमयन्ती की मन्त्रियां नल को देखकर अनेक भावी से इतनी  
अभिभूत हो गयीं कि वे सामान्य सिद्धान्त के अनुसार यह भी न पूछ सकीं  
कि वह कौन है, कहां से जाया है, किन्तु कारण से आया है—जदि ?  
स्वागतार्थ उठ भी न पायी, यद्यपि इच्छा थी । दो दो बोले सनपर ये, किन्तु  
वे कुछ भी न कर पायीं—( १ ) अप्रान्नता का अविचार ( सखियां बालाएँ  
थीं, बाक्चतुरा प्रान्ना नहीं ), ( २ ) उठने की इच्छा का भार ( स्वात्मार्य  
उठने की इच्छा तो बहुत थी, पर वह भी बोझ बन गयी ) । नारवाही  
मैंसे कुछ कर सकता है ? 'नैकरसा अन्वुत्पत्तिवाञ्छया इव उत्तस्यु' भी  
पाठांतर है । अर्थ हांगा—जनेकरसा ( भावशक्तता ) से अभिभूत हो, कुछ  
बोल् तो न पायी, पर आसन पर खड़ी हो गयीं । विद्याधर के अनुसार  
उत्प्रेमा जन्कार ॥ ७ ॥

स्वाच्छन्दमानन्दपरम्पराया नैमी तमालोक्य किनप्यवाप ।

महारय नितरिगीव वारामासाद्य धाराधरवेत्कालम् ॥ ८ ॥

जीवातु—स्वाच्छन्दमिति । नैमी त नलनालोक्य किनप्यनिर्वाच्यमानन्द-  
परम्पराया स्वाच्छन्दमुच्छृङ्खलम् । 'स्वच्छन्दो निरवग्रह' इत्यमरः ।

निचरिणी गिरनदी धाराधरकेलिकाल मेघविहारकाल वर्षाकालमासाह वारा  
वारीणाम् । 'आप स्त्रीभूमि वारारि' इत्यमर । महारयमिवाप ॥८॥

अन्वय — तम् आलोक्य भैमी किम् अपि आनन्दपरम्पराणां स्वाच्छद्य  
निचरिणी धाराधरकेलिकालम् आसाह वारा महारयम् इव अवाप ।

हिन्दी—उस ( नल ) को देख कर भीमसुता कुछ ऐसी अनिर्वर्तनीय  
आनन्द की परंपराओं की स्वच्छदता को प्राप्त हो गयी, जैसा कि निचरिणी  
( पगड़ी नदी ) मेघों के झीड़ा काल ( वर्षाकाल ) को प्राप्त कर जल के  
महान् वेग को प्राप्त कर लेती है ।

टिप्पणी—नल को देख कर दमयंती लोकोत्तर आनन्द और हर्ष को प्राप्त  
हो गयी । कवि ने उसकी तुलना उस पर्वतीय नदी से की, जो वर्षाकाल में  
जलवेग से उमड़ उठती है । विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और उपमा ॥८॥

तत्रैव मग्ना यदपश्यदग्रे नास्या दृगस्याङ्गमयास्यदन्यत् ।

नादास्यदस्यै यदि बुद्धिधारा विच्छिद्य विच्छिद्य चिरान्निमेय ॥ ९ ॥

जीवातु—तत्रेति । अस्या भैम्या इक् इष्टिरस्य नलस्य यत् अङ्गमये प्रथम-  
मपश्यत् तत्रैव मग्ना सती जयदस्याङ्ग नायास्यत् नागमिष्यत्, यदिनिमेय  
पक्षपात चिराद्विच्छिद्य विच्छिद्य विरमय्य विरमय्य बुद्धिधारां ज्ञानपरम्पराम्  
अस्यै इति नादास्यत् न दद्यात् । क्रियातिपत्तौ लृङ् । निमेयद्वतबुद्धिविच्छेदा-  
दङ्गान्तरप्राप्ति, न तु तृष्णयेति भाव ॥ ९ ॥

अन्यथा—अस्या इक् अस्य यत् अङ्गम् अग्रे अपश्यत् तत्र एव मग्ना अन्यत् न  
अयास्यत् यदि निमेय चिरात् विच्छिद्य विच्छिद्य बुद्धिधाराम् अस्यै न अदास्यत् ।

हिन्दी—उस ( दमयंती ) की दृष्टि ने जग ( नल ) के जिस अंग को  
पहिले देखा, उसी पर मग्न हुई वह दूसरे ( अंग ) पर न जाती यदि नेत्र-  
संश्लेष ( पलक झपटना ) बार बार ( दृष्टि का पूर्व दृष्टि अंग से ) विच्छेद  
करके इसे बुद्धि की धारा ( ज्ञान परंपरा, दर्शनेच्छा प्रवाह ) न दे देती ।

टिप्पणी—नल का प्रत्येक अंग इतना आकर्षक था कि दमयंती की  
दृष्टि को उसी में निमग्न हो जाना चाहिए था, परन्तु जैसे दूबते को  
धारा प्रवाह बहाकर अग्र ले जाता है, ऐसे ही नेत्र निमीलन के कारण  
पूर्वदृष्ट अंग से हटकर दमयंती की दृष्टि अन्य अंग को देखने लगती थी ।

यदि पलक न क्षम्यते तो क्षम्यन्ती के नयन जिस अंग को पहिले देख लेते, उसे ही निहारते रहते । हमारे अंग से विरक्ति नहीं थी, वह तो पलक-क्षम्य जाने से विच्छेद हो जाता था और हटी दृष्टि दूसरे पर चली जाती थी । इस श्लोक में विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अङ्कार है ॥९॥

दृशापि सालिङ्गितमङ्गमस्य जग्राह नाग्रावगताङ्गहर्षं ।

अङ्गान्तरेऽनन्तरमीक्षिते तु निवृत्य सस्मार न पूर्वदृष्टम् ॥ १० ॥

जीवानु—इति । सा भैमी स्या सालिङ्गित प्राप्तमस्य नत्स्याङ्गा-  
मङ्गातर अग्रावगताङ्गहर्षं पूर्वदृष्टीताङ्गजनितानन्दं तत्परावस्थेनेत्यर्थं । न  
जग्राह नाशामीत् । अयं कश्चिदनन्तर अङ्गान्तरे ईक्षिते दृष्टीते तु निवृत्य  
पूर्वदृष्टमङ्गं न सस्मार । तस्य तस्य लोकोत्तरत्वादिति नाथ ॥ १० ॥

अन्वय—सा दृशा सालिङ्गितम् अस्य अङ्गम् अग्रावगताङ्गहर्षं न  
जग्राह, अनन्तरम् अङ्गान्तरे ईक्षिते तु निवृत्य पूर्वदृष्टम् अङ्गं न सस्मार ।

हिन्दी—उम ( दमयन्ती ) ने दृष्टि द्वारा सालिङ्गित इस ( नल ) के  
अंग को पूर्वदृष्ट अंगों से ज्ञात हर्ष परम्परा के कारण नहीं ग्रहण किया  
( देखा ), तत्पश्चात् अगातः ( अयं अंग ) देखने पर पुन परावृत्त हो  
पूर्वदृष्ट अंग का स्मरण नहीं किया ।

टिप्पणी—मङ्ग का प्रत्येक अंग आकर्षक था । दमयन्ती जिस अंग को  
देखती, हर्ष विभोर हो जाती और पहिले अंग को भूल जाती । कवि का  
कथन है कि हममे यह कारण नहीं है कि पूर्वदृष्ट अंग सुन्दर नहीं था,  
ऐसा भी नहीं था कि अन्य अंग से उत्पन्न हर्ष के कारण वह अयं अंग को  
देखती हो । वस्तुतः नल का प्रत्येक अंग ऐसा रमणीय था कि दमयन्ती जिसे  
देखती, उसका आनन्द त्रिगुणित हो जाता और आनन्दतिरेक में अन्य  
पूर्वदृष्ट अंग का स्मरण ही न हो पाता । इस श्लोक में अंग के दृष्टि द्वारा  
आङ्गित होने कारण होने पर भी उसका ग्रहण कार्य नहीं कहा गया और  
उसमे हेतु कहा गया पूर्वदृष्ट अंग इस कारण विद्याधर के अनुसार उक्ति-  
निमित्त विशेषोक्ति और अतिशयोक्ति अङ्कार है ॥ १० ॥

हित्वैकमस्यापथन विशन्ती तद्दृष्टिरङ्गान्तरभुक्तिसोमाम् ।

चिर चकारोभयलाम्भोभात् स्वभावलोला गतमागतञ्च ॥ ११ ॥

जीवातु—हि वेति । स्वभावलोला अभिमतविषयलाभे किमु वक्तव्यमिति भावः । तददृष्टिर्भेदीर्ष्यस्य नलस्य एवमपघनमवयवम् । 'अपघनोऽङ्ग'-मित्यदन्तो निपातः । हित्वा अङ्गान्तरभुक्तितीक्ष्णमवयवान्तरदेशविशन्ती चिरमुभयोः लाभे लोभाद्वर्धनात् । 'उभादुदात्तो नित्यम्' इत्यत्र पृथक्सूत्रकरणादेव नित्यमजादेशो सिद्धे पुनर्नित्यग्रहणमुभयसदस्य वृत्तावप्ययज्यमिति कैषटः । गतमागतञ्च चकाराः । उभयोरपि तथा रमणीयत्वादि भावः ॥११॥

अन्वयः—स्वभावलोला तद्दृष्टिः अस्य एकम् अपघनं हित्वा अङ्गान्तरभुक्तिमीमांसां विशन्ती उभयलाभलोलात् चिरं गतम् आगतं च चकार ।

हिन्दी—स्वभावतः चंचल उस ( दमयन्ती ) की दृष्टि इस ( नल ) के एक भग को छोड़ कर अन्य भग को देखने की सीमा में प्रविष्ट होती हुई दोनों ( पूर्वदृष्ट जीर पश्चाद्दृष्ट ) अवयवों ( को देखने ) के लोभ के कारण चिर काल तक गमनागमन करती रही ।

टिप्पणी—नल का प्रत्येक अङ्ग सुन्दर था । जब एक अङ्ग से हट कर दमयन्ती की दृष्टि नल ले अन्य अङ्ग पर पड़ती तो पहिले से कठिनता से हट पाती । सब ही तो अङ्ग भले लगते थे । 'किससे नयन हटें, किस पर स्थिर रहे ?' एक तो नयन प्रकृत्या चंचल, उस पर यह स्थिति । एक आपारी भी तो देशांतर जाते हुए अपनी वस्तु बेचने और नयी वस्तु खरीदने में ऐसे ही गमनागमन किया करता है । क्या बेचे, क्या खरीदे ? ॥ ११ ॥

निरीक्षितञ्चाङ्गमवोक्षितञ्च दृशा पिबन्ती रभसेन तस्य ।

समानमानन्दमिय दधाना विवेद भेद न विदभंसुभ्रुः ॥ १२ ॥

जीवातु—निरीक्षितमिति । इयं विदभंसुभ्रुर्वेदभी तस्य नलस्य सदग्निं निरीक्षितं च अविक्षितं चाङ्गं दृशा रभसेन पिबन्ती तृप्ण्या पश्यन्ती समानमानन्दं दधाना भेदमिदं दृष्टपूर्वमिदमदृष्टपूर्वमिति विवेकं न विवेद । उभे अप्यनवद्यया अपूर्ववदेव पीते इत्यर्थः ॥ १२ ॥

अन्वयः—इयं विदभंसुभ्रुः तस्य निरीक्षितम् अविक्षितं च अङ्गं दृशा रभसेन पिबन्ती समानम् आनन्दं दधाना भेदं न विवेद ।

हिन्दी—यह विदभं की सुन्दर भ्रुकुटिकाती ( दमयन्ती ) उन ( नल )

के सादर देखे और विशेष कारण से अदेने जङ्ग को दृष्टि से अतीतुक्त, हर्ष-  
तृष्णापूर्वक पीती हुई एक ही प्रमत्तता प्राप्त करती ( दोनों—देने-अदेने )  
अङ्गों में भेद ( तारतम्य ) न जान पायी ।

टिप्पणी—सभी जङ्ग सुन्दर थे । सो दमयन्ती को देखे और अदेने  
अङ्गों के बीच कुछ भेद, किसी प्रकार का भेद ही न जान होता था । उसका  
हृदय सम्पुक्ता, प्रमत्तता और जङ्गों को देखने की तृष्णा से ऐसा पूर्ण हो  
रहा था कि वह जैसे अत्यन्त अङ्ग को दृष्टि से पी जाना चाह रही थी ।  
उसे देखे अदेने अङ्ग में यह ज्ञात ही न हो पा रहा था कि जयिक् सुन्दर  
कौन है ? यह भी पता नहीं चल रहा था कि क्या देखा, क्या न देखा ?  
किस अङ्ग को पूर्णतया देखा, किसे अपूरा देखा ? किसीको सादर देख लिया,  
किसको कारण विशेष से न देख पाया ? भावभावता और आनन्दानिरेक में  
दमयन्ती की दशा उस योगिनी के समान हो रही थी, जो सर्वत्र ब्रह्म ही  
को देखती है । देखे घट आदि और जदृष्ट, वागगोचर, श्रुतिगम्य ब्रह्म-  
स्वरूप में क्या नि मार है, क्या सारबान्, यह सादर विचार करती आनन्द  
स्वरूप ब्रह्मसाक्षात्कार में परमानन्द का अनुभव करती है । लोक जीवन में  
देखे के प्रति अवज्ञा और अदेने के प्रति जो उत्साह होता है, वह दमयन्ती में  
नहीं था । सभी तो-रमणीय था । उसे समान आनन्द हो रहा था । विद्याधर  
के अनुसार अविग्रयोक्ति और काव्यालिंग अलंकार ॥ १२ ॥

सूक्ष्मे घने नैपथ्यकेशपाशे निपत्य निपण्डनरीनवद्भुजाम् ।

तस्यानुवर्धं न विमोच्य गन्तुमपारि तल्लोचनवज्जनाम्याम् ॥ १३ ॥

जीवानु—मूकन इति । सूक्ष्मे तनीयसि घने सात्रे दृढे च नैपथ्य नलस्य  
केशपाशे केशजाले केशपावर्धने च । 'घन सात्रे दृढे हाथे पाश पश्यादि-  
ब'धनं' इति विश्व । निपत्य निपण्डनरीनवद्भुजामेकत्र विष्मदादयत्र धन्त्र-  
लनाच्च निष्पत्तीभवद्भुजा तस्या मम्या लोचने एव अङ्गुली नेशोपमान-  
पटिणी । 'तज्जरीटस्तु खजन, दत्यमर' । ताम्या तस्य केशपाशस्य सम्बधिन-  
मनुवर्ध तत्र सञ्चित वन्यनञ्च विमोच्य मोचयित्वा गन्तु मपारि न देके ।  
पारमनेभावे लुङ् । दिष्टविशेषण स्वकम् ॥ १३ ॥

अन्य—सूक्ष्मे घने नैपथ्यकेशपाशे निपत्य निपण्डनरीनवद्भुजा  
तल्लोचनवज्जनाम्या तस्य अनुवर्ध विमोच्य गन्तु न अपारि ।

हिन्दी—महीन और घने निपधराज के बेश जाल में पडकर पल्ल-  
झपकना छोड़ निपध हुए उस ( दमयन्ती ) के नयन रूप खजन उस ( बेश-  
पाश का अनुबन्ध ( बन्धन, केशावलोकन-मोह ) ताडकर जाने में समर्थ न  
हो पाये ।

टिप्पणी—दमयन्ती के खजन-पक्षी जैसे नयन निपधाधिपके केशों पर  
ऐसे मुग्ध हो गये कि बस देखते ही रह गये, हट ही न पाये । बेशों के  
जाल में कैसे पक्षी खजन-नयन बन्धन तोडकर कैसे उड़ जाते ? कठिन  
बन्धन काट पक्षी उड़ ही नहीं सकते । भला आदमी अनुबन्ध ( मुहापरा,  
काटू बट ) तोड ही कैसे सकता है ? भाव यही है कि दमयन्ती के लोचन  
मल के सूक्ष्म घुत्त-केशजाल में उलझ कर रह गये । सामुद्रिक के अनुसार  
हाथ, दाँत, अंगुलि और और के सूक्ष्म और घन ही शुभ होते हैं—'सूक्ष्मास्तु  
पाणिदधानाङ्गुलिपर्वकेशा ये मलिनोन्मूले' अनुसार विलटविशेषण रूपक है,  
विद्याधरे ने श्लेष और रूपक अलंकारों का निदेश किया है ॥ १३ ॥

भूलोकभर्तुर्मुखपाणिपादपद्मे परिरम्भमावाप्य तस्य ।

दमस्वसु दृष्टिस्तरोजराजि तस्य भूलोकभर्तु मुखपाणिपाद-  
पद्मे परिरम्भमावाप्य तस्य ॥ १४ ॥

जीवातु—भूलोकभर्तु दमस्वसु दृष्टिस्तरोजराजि त्रियोभेदाद्बहुत्व तेषां  
राजि भूलोकभर्तुस्तस्य मुखपाणिपाद-  
प्राप्यङ्गत्वादेवकवद्भावेन तेषां पदानि तैर्ह परिरम्भमाश्लेषमावाप्य समाना  
बन्धव सम्बन्धव । 'जातिजनपद' आदिना आदीनशब्दस्य 'स' भाव । तेषु  
बन्धमाश्रित चिर न तस्याञ्ज । स्निग्धा हि बन्धव चिरमनादिलप्य न  
मुञ्चन्तीति भाव । पद्यत्वसजातित्वात् सवन्धुत्वम् ॥ १४ ॥

अन्वय — दमस्वसु दृष्टिस्तरोजराजि तस्य भूलोकभर्तु मुखपाणिपाद-  
पद्मे परिरम्भम् अवाप्य सवन्धुबन्ध चिर न तस्याञ्ज ।

हिन्दी—दम की बहिन ( दमयन्ती ) की दृष्टिरूपा कमलावलि उस  
पृथ्वीलोक के भर्ता ( नल ) के मुख, कर, चरण-रूप कमला का आलिंगन  
प्राप्त कर ( भलीभाँति देखकर ) अपने सम्बन्धी ( सयोत्री ) का बन्धन  
( दशनलोभ ) चिरकाल तक न छोड़ पायी ।

टिप्पणी—बहुत समय तक दमयन्ती नल के मुख, हाथ, पैरों को



वनुराग पूर्वक, टकटकी बाँधे निहारती रही। नयनों का उपमान भी कमजूर है, और मुँह, कर, चरण का भी। तो दमयन्ती के कमल-नयन और नख के मुख, कर, चरण—कमल क्या मिले, दो बन्धु, दो संगोष्ठी मिले। वे संगोष्ठी चिरकाल तक बैठते रहे। ऐसा होना ही है। विद्याधर के अनुसार यहाँ धैर्यानुग्रह रूपक-समाशक्ति उत्तकार है ॥ १४ ॥

तत्कालमानन्दमयी भवन्ती भवत्तरानिर्वचनीयमोहा।

सा मुक्तमत्तारिदशारसान्या द्विस्वादमुल्कासममुद्धृष्ट मृष्टम् ॥ १५ ॥

जीवातु—तत्कालमिति। तस्मिन् काले तत्कालम् अत्यन्तसयोगे द्वितीया।

आनन्दमयी भवती जानन्दारिमिका मती दित्वाहुमयन डीर। तथा च भवन-रोजितशयेन भवन् अनिर्वचनीयो निर्वक्तुमशक्यो मोह अत्रतिरस्तिर्यस्या सा आनन्दमनेत्यर्थः। सा भोमी विमुक्तसमारिणोदंशे जवस्ये तपोवी रत्नी स्वादौ तान्या द्वौ स्वादौ यस्य तद्द्विस्वादस्तादृक् स्वादमित्यर्थः। मृष्ट शुद्धमुल्का-समुल्कातमममुद्धृष्टे मुक्तवती। 'नुओज्जन' इति मुद् मुद्। आनन्दारव-तमानैव किञ्चिद्विदेत्यर्थः ॥ १५ ॥

अन्वय—तत्कालम् आनन्दमयी भवती भवत्तरानिर्वचनीयमोहा सा मुक्तमत्तारिदशारसान्या द्विस्वाद मृष्टम् मुल्कासम् अनुद्धृत।

हिन्दी—उस समय आनन्दस्वरूपा होती अत्यन्त लोकोत्तर ( जवर्णनीय ) मोह में पड़ी उस ( दमयन्ती ) ने मुक्त और ससारी—दो प्रकार की दशाओं के दो प्रकार के रस से दो-स्वाद वाले स्वादिष्ट मुल्कास का भोग किया।

टिप्पणी—उस समय दो प्रकार का अद्भुत, लोकोत्तर आनन्द मिला दमयन्ती को। ससारमुक्त योगियों के परमानन्द—जैसा और लोक-जीवन के आनन्द जैसा। दो स्वाद, दो रस, दो गुणा हृष्यन्ति। यह नल है, यह जान कर दमयन्ती आनन्दमयी हुई। यह आनन्दरूपता हुई मुक्तदशा। इस नुरसित अन्त पुर में नल कैसे हो सकते हैं? यह हुआ मोह अथवा भ्रम, मूर्च्छा। यह अनिर्वचनीय मोहता हुई संसारिदशा। इस प्रकार एक ही समय दमयन्ती ने मुक्त और ससारी—दोनों दशाओं का अनुभव किया। विद्याधर के अनुसार भावोदय और अतिशयोक्ति उत्तकार ॥ १५ ॥

दूने नलश्रीभूति भाविभावा कलङ्किनीय जनितेति नूनम् ।

न स व्ययान्नेपथकायमाय विधिः स्वयं दूतमिमा प्रतीन्द्रम् ॥१६॥

जीयातु—जय भैमीदूतसम्भाषण विवद्युर्नलैकवदप्राणाया तस्यास्पदमनो-  
चित्य दाम्या परिहरति—दूत इत्यादि । नलम् श्रियमिय श्रिय विभर्तीति  
नलश्रीभूत् तत्सदृश इत्यर्थः । निदघनालङ्कारः । तस्मिन् दूने भाविभावा  
भविष्यदनुरागा इय भैमी कलङ्किनी भग्नव्रता जनिता भविष्यतीति मत्वा  
जनिपातोर्लुट् । विधिविधाता इमा भैमी प्रति नैपथस्य काय एव माया कपट  
वत्स्य त नलरूपधारिण स्वयं मायादिद्रमेव दूत न मय्यथात् न कल्पितवात्  
उक्तशेषपरिहारार्थेन्द्रस्य तादृशो बुद्धि नाजीजनदिर्यर्थः । नूनमिति वितर्क  
बन्तुविचारत्वाप्रायमुपेक्षालकारः । दूतभावतिरोहितस्यापि तस्य वस्तुनो  
नलत्वाप्राप्त कलक इति भावः ॥ १६ ॥

अन्वयः—नलश्रीभूति दूते भाविभावा इय कलङ्किनी जनिता—इति  
नून विधि इमा प्रति नैपथकायमाय स्वयम् इन्द्र दूत न सञ्चयात् ।

हिन्दी—नल को कान्ति धारण करने वाले दूत में अनुरागिणी हो  
या ( दमयन्ती ) कलकिनी हो जायेगी, लगता है—यही ( विचारकर )  
विधाता ने हम ( दमयन्ती ) के प्रति निपथरात्र का शरीर धारण करने  
वाले ( कपटनलरूपधारी ) स्वयम् इन्द्र को दून नहीं कल्पित किया ।

टिप्पणी—इन्द्र का कपट प्रसिद्ध ही है । इन्द्र के मन में यह भी आ  
सकता था कि वह नल का कपटवेष्ट बना ले और नल रूप में स्वयं दूत  
बन कर दमयन्ती के निकट धावना करने जा पहुँचे । ऐसी स्थिति में नल  
के रूप में इन्द्र को देखकर, उसे नल मानकर दमयन्ती उसकी अनुरागिणी  
हो जाती । मले ही अनजाने में सही, नल-बुद्धि से, नल के भ्रम से ही  
मही, दमयन्ती का यह इन्द्रानुराग हो जाता और उसका पातिव्रत कलजित  
हो जाता । कवि-कल्पना है कि विधाता ने इन्द्र को नलरूप बना स्वयं दून  
बनने की इसी आकांक्षा से बुद्धि ही नहीं दी । वह स्वयं नहीं गया, उसने नल  
को ही दून बनाकर भेजा । परिणामतः दमयन्ती पर बलक लाने का अवसर  
नहीं आया । अनौचित्य नहीं हुआ । द्वितीय चरण में 'जनितेति' के स्थान में  
'जनि मेनि' पाठान्तर भी है । अर्थ हुआ—'यह कहीं कलकिनी न हो

जाम ” ।’ विद्याधर ने यहाँ उत्प्रेक्षाकार माना है, परन्तु इसके विपरीत मन्त्रिनाथ यहाँ उत्प्रेक्षा का निषेध करते हैं, क्योंकि उनके अनुसार यहाँ ‘नूनम्’ का प्रयोग वस्तुविचारण के कारण वितर्क में हुआ है । दूतभाव-निरोहित भी उस ‘वस्तु’ के नल होने में यह कलक नहीं है, यह आशय है । मन्त्रिनाथ ने यहाँ निदर्शनालकार का विधान किया है । चन्द्रकलाकार ‘नूनम्’ को उत्प्रेक्षा द्योतक ही मानने हैं ॥ १६ ॥

पुण्ये मन कस्य मुनेरपि स्थान्प्रमाणमास्ते यदधेऽपि वावत् ।

तच्चिन्ति चित्त परमेश्वरम् नु भक्तस्य हृष्यत्कणो म्पाद्वि ॥१७॥

जीवातु—नविद्वेऽपि समागते तदनिलापेनोक्तोपावकाश कुन इत्या-  
शङ्क्य चित्तवृत्तीना क्षणिकत्वात् तथा शब्देयमित्याह—पुण्य इति । मुनेर्मतेरपि  
किमुनान्यस्येति भाव । कस्य मन पुण्ये स्यात् पुण्य एव प्रमाण न कस्यापी-  
त्ययं । कुत, यद्यस्मादधे पापेऽपि धावदुश्चूङ्खल प्रवर्तमान तमन एव प्रमाण  
निश्चायकमास्ते । किंतु हृष्यत्कण उद्यत्कृप परमेश्वर एव तच्चिन्ति पाप-  
चिन्तक भक्तस्य चित्त दगद्वि निवारयति । तस्मात् विविचिन्तितमेवैतदिन्द्र-  
चेष्टितमिति भाव ॥ १७ ॥

अन्वय—कस्य मुने अपि मन पुण्ये स्यात्, यत् अथे अपि धावत्  
प्रमाणम् आस्ते ? तु हृष्यत्कण परमेश्वर तच्चिन्ति भक्तस्य चित्त दगद्वि ।

हिन्दो—किम् मुनि का भी मन पुण्य में ( छीन ) रहेगा ( किमी का  
नहीं ), क्योंकि पाप के प्रति दौडना ( मन ही ) प्रमाण होता है । ( ऐसा  
भी अन्वय किया जाता है—कस्य अपि मुने मन पुण्ये प्रमाण स्यात् ( अपि  
तु न स्यात् ), यत् अथे अपि धावत् जास्ते अर्थात् किम् मुनि का भी मन  
पुण्य के विषय में प्रमाण ( निश्चिन्त ) होगा—किमी का नहीं, क्योंकि  
( वह मन तो ) पाप के प्रति दौडना रहता रहता है । ) किन्तु कृष्णपरायण  
परमेश्वर पाप का चिन्तन करते भक्त के ( बल्लवा परमेश्वर का चिन्तन  
करन वाले भक्त के ) चित्त को ( पापामुख होने में ) रोकते हैं ।

टिप्पणी—मन चचल है, प्रकृत्या पापामुख । बड़े में बड़ा मुनि भी  
मन को इन चञ्चला के कारण कलङ्की हो सकता है, बेचारी समयन्ती तो  
एक समारिणी बाला ही थी । वह नञ्छम्भारी इन्द्र के प्रति अनुरागिणी हो

सक्तो यी । भक्त पर कृष्णपरायण भगवान् दया करते हैं, वे सदा भक्त को पाप में पड़ने से बचाया करते हैं । कृष्णपर परमेश्वर ने दमयन्ती की भी रक्षा की । उन्होंने इन्द्र को नलकपटरूप धारण करने की बुद्धि नहीं दी । जिन पर भगवान् की कृपा होती है, वे पाप में प्रवृत्त कभी नहीं होते । विद्याधर के अनुसार अर्थान्तरन्यास ॥ १७ ॥

सालोकदृष्टे मदनोन्मदिष्णुयंयाप शालीनतया न मौनम् ।

तथैव तस्येऽपि नले न लेभे मुग्धेषु क सत्यमूपाविवेकः ॥ १८ ॥

जीवातु—सम्प्रति बाह्यदोष परिहरति—सेति । मदनोन्मदिष्णु उन्मद-शीला 'अलङ्कृन्' इत्यादिना इष्णुश्च । सा भौमी यथा अलीकष्टे मिथ्यादृष्टे शालीनतया अधृष्टतया । 'शालीनकीर्षीने अधृष्टाकार्ययो' इति निपात । मौन नाप तदैव तस्येऽपि नले न लेभे । एतत्सत्येऽनुवितमित्याशङ्क्य अर्थान्तरन्यासेन परिहरति । मुग्धेषु मदनोन्मादेषु सत्यमूपा सत्यासत्ययोविवेको विवेचना नास्तीत्यर्थः । अत एव न बाह्यदोषोऽपीति भावः ॥ १८ ॥

अन्वयः—मदनोन्मदिष्णु सा यथा अलीकष्टे शालीनतया मौन न भाप तथा एव तस्ये अपि नले मौन न लेभे, मुग्धेषु सत्यमूपाविवेकः क ?

हिन्दो—काम से उन्माद युक्त वह ( दमयन्ती ) जैसे मिथ्यादृष्ट ( नल ) के प्रति ( अपनी स्वाभाविक ) शालीनतया के कारण ( भी ) चुप न रह सकी, वैसे यथार्थ भी नल के प्रति चुप न रही, मूढ़ हुए व्यक्तियों में सत्यासत्य का विवेक कहाँ ?

टिप्पणी—दमयन्ती स्वभावतः शालीन थी, घृष्टा-प्रगल्भा न थी । ऐसी नारियाँ प्रिय के वास्तविक रूप में समुख होने पर लज्जा के कारण चुप रह जाया करती हैं—मले ही स्वप्न-वित्रादि में मिथ्यादृष्ट प्रिय से जो चाहे कह बोल लें । दमयन्ती क्योंकि मदनोन्मादिनी होर ही थी, अतः वह प्रिय के वास्तविक रूप में समुख होने पर भी चुप न रह पायी । वस्तुतः मुग्ध, मोहग्रस्त जनों में विवेक रह ही नहीं जाता । सत्य-असत्य, वृत्त-व्यवृत्त का विचार वे कर नहीं पाते । द्वितीय चरण में 'शालीनतया' का पाठांतर 'शालीनतया' भी है । वहाँ 'शालीनतया' को 'सा' का विशेषण मान कर अर्थ करना चाहिए—'अतिमलज्जा' । अर्थान्तरन्यास अलंकार ॥ १८ ॥

व्यर्थोभवद्भावविधानयन्ता स्वरेण नात्र इत्यादौगदेन ।

सखीजने साध्वसमन्तवाचि स्वयं तन्मूचे नमदाननेन्दु ॥१५॥

जीवानु—व्यर्थोभवदिति । अथ द्विस्वादिनामानन्तर व्यर्थोभवन् भावविधाने  
आकारणोपने यतो मत्वा सा गोप्सुनयस्तेभ्यः । सा मैनी सखीजने साध्व-  
सेन सन्तवाचि कुन्तिनमो कुन्तिने स्नि, अन्यथा मन्वीमुनेनैव वृथादिति भावः ।  
नमदाननेन्दुं ज्ञानत्रनुवी सुती इत्यादौगदेन स्थलितेन स्वरेण न न स्वयमूचे  
कर्तरि लिङ् 'ब्रूवो वचि' ॥ १५ ॥

अन्वयः—अथ व्यर्थोभवद्भावविधानयन्ता सा साध्वसमन्तवाचि सखीजने  
नमदाननेन्दु त स्वय इत्यादौगदेन स्वरेण ऊचे ।

हिन्दी—तत्पश्चात् सात्विक नात्र को छिनाने में त्रिवक्ता प्रयास व्यर्थ  
हो गया है, ऐसी वह ( दमपती परतुल्य के अत्रपुर में मृदुता प्रविष्ट हो जाने  
से ) नय के कारण सखियों के अवाक् रह जाने पर मुख-चन्द्र को नीचा किये  
दात ( नष्ट ) से स्वयं विरल—छिन्न स्वर में बोली ।

टिप्पणी—दमपती के नष्ट से प्रति मौन न रह पाने का एक और  
कारण । परतुल्य को अत्रपुर में देख सखी-नमूह जातकृति हो कुठित जोर  
अवाक् रह गया, जब दमपती को स्वयम् अतिथि से बोल्ता पडा । इत्य-  
गदात् स्वर जोर चित्त-आनन स्वाभाविक लज्जा का द्योतक । विद्याकर के  
अनुसार भावोदय और स्पर्क अलंकार ॥ १५ ॥

न्त्वा गिरोरन्तस्त्वाणि पापु सम्पाद्यमाचारविदानीयिभ्यः ।

त्रिदाशगलीन्मन्त्रारत्राणि वैरी विपेया मनुचकं नृप्ति ॥ २० ॥

जीवानु—अनाम्नानिभ्य विदोर्भुञ्जिनिस्तत्कर्तव्यनामाह—नन्वेत्यादि ।  
आचारविदा नृहृदयेन अतिथिभ्यो नन्त्वा पदयोनिवय गिरोरन्तस्य त्वा  
कान्त्यानि पापु पदार्थवत् 'नादार्थान्ता च' इति यद्वचन । सम्पाद्य, किञ्च  
त्रिदाशगल्या त्रिदाशकन्दम्बकेन वा रजधारा आनन्दहृगे तदानी वैरी  
विनिद्रामनमुचकं वा तृनि स विपेयाकम्पादा मुत्पानुन्त्योन्ननुत्तेव इति  
भावः ॥ २० ॥

अन्वयः—आचारविदा नवा गिरोरन्तस्त्वा अति अतिथिभ्य पापुम्  
सम्पाद्यन् त्रिदाशगलीन्मन्त्रारत्राणि अति वैरी मनुचकं नृप्ति विपेया ।

हिन्दी—आचार के ज्ञानी ( गृहस्थ ) को झुक्कर शिरोरत्न (चूड़ामणि) की दीप्ति में भी अतिथियों को पाद्य ( चरण क्षालनार्थ जल ) समर्पित करना चाहिए और प्रिय—मीठे वचनों की रसधारा से भी विधियुक्त मधुपर्क से ( प्राप्त होनेवाली ) तृप्ति देनी चाहिए ।

टिप्पणी—उचित साधन सामग्री के अभाव में भी अतिथि का सद्वृत्ति सत्कार सदगृहस्थ का कर्तव्य है । जल न हो तो शिर झुका कर विनय रूप पाद्य समर्पित कर दे और मधुपर्क ( दधि, घृत और मधु मिश्रित त्राद्य ) न हो तो मधु जैसे मीठे वचन बोलकर ही अतिथि को तृप्त करे । भाव यह कि अतिथि सत्कार तो प्रत्येक दशा में सदगृहस्थ का कर्तव्य है । उत्तरार्द्ध का पाठांतर 'उक्त्यापि मुक्ता मधुपर्कतृप्तिर्न तदगिरस्त्वार्हति घृष्टता मे' भी पाठांतर है । सुखावबोध ( जिनराज ) और साहित्यविद्याधरी में व्याख्या है—'त्वाश्चि नवत्सहस्रे प्राधूर्णे के मे मम वाचो घृष्टता घाष्ट्यं दूषण न भवति'—आप जैसे अतिथि के प्रति मेरे बोलने की घृष्टता दोष नहीं है, ( क्योंकि मधुपर्क तृप्ति वाणी से तो देनी ही चाहिए । ) प्राधूर्णक अर्थात् अतिथि ( घुमक्कड़, रमते राम ) । इस प्रकार उभयती ने स्वयम् मरु से वार्तालाप करने की घृष्टता का एक और उचित कारण उपस्थित कर दिया । छेकानुप्रास और वाक्य-लिंग अलंकार साहित्य विद्याधरी समत ॥ २० ॥

स्वात्मापि क्षीलेन तृण विधेयं देया विहायासनभूमिजापि ।

आनन्दबाष्पैरपि कल्प्यमम्भ पृच्छा विधेया मधुभिर्वचोभि ॥ २१ ॥

जीवातु—स्वात्मापीति । किञ्च क्षीलेनाधारप्रमाणेन स्वदेहोऽपि । 'आत्मा जीवधृती देह' इति वैजयंती । तृण विधेयं तृणवशर्पणीयम् निजापि आसन-मूलपवेशनस्यान विहाय स्वयं तत उत्थाय देया, आनन्दबाष्पैरप्यम्भ पादादक कल्प्यम्, मधुभिर्मधुप्राप्यं वचोभि पृच्छा मुञ्चतप्रश्नः । 'प्रश्नोऽनुमोहः पृच्छा च' इत्यमरः । मिदादित्वादङ् प्रत्ययः । विधेया कर्तव्या । 'तृणानि भूमिरदक वाक् चतुर्था च सूत्रता । अप्रणयोऽतिथिं सायमपि वाग्भूतुणोदकै' इति स्मरणात् तृणाद्यसम्भवे तत्स्थाने स्वचरीरादिकमपि देयम् अशक्तस्यानुवर्त्येनापि सास्त्रार्थ-सिद्धेरिति भावः ॥ २१ ॥

अन्वय — क्षीलेन स्वात्मा अपि तृण विधेयम् निजा अपि आसनभू-

विहाय देना आनन्दबाणै जनि वन्नः वल्यन् नयुनि वचोनि पृच्छा विनेया ।

हिन्दी—शोक ( सदाचार ) के जनी ( गृहस्थ द्वारा ) अपना शरीर भी ( अतिनि निमित्त ) दृग-दृग्य ( जपित ) कर देना चाहिए, अपने बैठने का भी स्थान छोड़कर देना चाहिए, जानदाश्रुजन् ने भी पाद्य कल्पित करना चाहिए और मोठे वचनों से भी कृपण प्रत्य पूछना चाहिए ।

टिप्पणी—याद यही है कि साधनामात्र जयवा सामग्री के अभाव में अतिथि की सेवा उचित और आवश्यक है । जो भी समर्थ हो, उसी से अतिथि-सत्कार सदाचारी गृहस्थ वा कर्तव्य है । उनके भी न हों तो अपना शरीर तो है और जामन नहीं तो अपने बैठने की बरती तो है । जानदा-श्रुजन् का पाद्य, मोठे वचनों वा मधुरकें तो सम्व हो है । स्मृति-वचन यही है । विद्याधर के अनुसार अतिथयोक्ति और रूपक अलंकार ॥ २१ ॥

पदोपहारेऽनुनम्रतापि मग्नाच्चनेया त्वस्यापराधः ।

तत्कर्तुमर्होऽञ्जलिञ्जनेन स्वमनूतिप्राञ्जलतापि तावत् ॥ २२ ॥

जीवानु-पदेति । पदोपहारे पादोपचार्यन्तावे त्वस्या अपराधेन अनुनम्रता असन्निहितत्वनपराधः अनचार सम्माध्यते अपराधत्वेन गृह्यत इत्यर्थः । तद्, तस्मात् अञ्जलिञ्जनेनाञ्जलिद्वयेन तत्पूर्वकत्वनित्यर्थः । स्वस्यामनः समृद्धा सम्मरेण सन्निधानेन प्राञ्जलता जानं विवेचनिति यावत् सापि तावत्कर्तुमर्हा जातिव्यक्रियासामर्थ्ये विनमाचरणेनापि तन्निमित्तोपाजं कर्तव्यम् । अन्यथा प्रत्ययमादिति शब्दः ॥ २२ ॥

अन्वयः—पदोपहारे त्वस्या अपात्रं अनुनम्रता अपि अपराधः सम्माध्यते तद् अञ्जलिञ्जनेन स्वमनूतिप्राञ्जलता अपि तावत् कर्तुम् अर्हः ।

हिन्दी—चरण धोने के लिए अन्न में जल न डालना भी अपराध माना जाता है, सो अञ्जलि जोड़ कर अपनी जातिव्य स्या विनम्रता प्रकट करना उचित है ।

टिप्पणी—यह सम्व है कि अतिथि के चरणप्रक्षालनार्थ पाद्य उपस्थित करने में कुछ विनय हो । लोफर्दी के अनुसार यह भी दोष है, अतएव उचित यह है कि अतिथि के समुख हाथ जोड़ कर अपना विनय प्रकट करने

ही आनिध्य सत्कार किया जाय । भाव यह है कि इस प्रकार विनम्रभाव प्रकट करके भी अतिथि सत्कार हो जाता है । विद्याधर के अनुसार नाव्य गिग अलङ्कार ॥ २२ ॥

पुरा परित्यज्य मयात्यसजि स्वमामन तत्किमिति क्षणन्न ।

अनर्हमप्येतदलङ्क्रियेन प्रयातुमीहा यदि चान्यतोऽपि ॥ २३ ॥

जीवातु-पुरेति । मया स्वामात्मीयमासन पुरा पूर्वं त्वद्दर्शनक्षण एव परित्यज्य तत् उत्थायेत्यर्थः । अत्यसजि अदायि तदेतदशसनमनर्हमत्यश्लाघ्यमपि यदि वा भयतः कुतः प्रयातुमीहा वा तथापि किमिति क्षणं नालङ्क्रियेत । भवतजना नुकम्पया क्षणमात्रमत्रोपवेष्टव्यमिति भावः ॥ २३ ॥

अन्वयः--मया स्वम् आसन पुरा परित्यज्य अत्यसजि, यदि वा एतद् अनर्हम् भयतः प्रयातुम् अपि ईहा किम् इति क्षणं न अलङ्क्रियेत ।

हिन्दी--मैंने ( दमयंती ने ) अपना आसन पहिले ही छोड़कर अपित कर दिया है, और यदि यह ( आसन ) अव्याजनीय मान अन्यत्र जाने की भी इच्छा है तो क्षण भर को क्यों न इसे सुखोभित करें ।

टिप्पणी--विनय प्रकट करती दमयंती ने स्वागतार्थ उठकर अपने द्वारा रिक्त आसन पर क्षण भर तो अवश्य बैठने की नल से प्रार्थना की । उसने यह आश्चर्य प्रकट की कि आप जैसे ध्येय पुरुष को कदाचित् नारी के आसन पर बैठना उपयुक्त न लगे और उसकी अन्यत्र जाने की इच्छा हो । ऐसी स्थिति में भी कुछ क्षण को तो उसे इन आसन को अलङ्कृत करना उचित ही होगा । यह प्रार्थना मानना अनुचित न होगा । विद्याधर के अनुसार विभावना ॥ २३ ॥

निवेद्यता हन्त समापयन्ती शिरीषकोपम्रदिमाभिमानम् ।

पादो वियद्दूरमिमी प्रयासे निधित्सते तुच्छदय मनस्ते ॥ २४ ॥

जीवातु-निवेद्यतामिति । शिरीषकोपस्य म्रदिमाभिमानं मार्दवगर्भं समापयन्ती निवर्तयन्ती इमी पादौ । 'पादः पदङ्घ्रिभ्रमरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । तुच्छदयं निष्कृपं ते मनः ( वरुं ) वियद्दूरं वियन्निचरमित्यर्थः । प्रयासे निधित्सते निधातुमिच्छति । दधाते सप्रसारलटि लङ् । 'सनिमीमा' इत्यादिना इत्ता-देशः । अत्र 'लोपोऽभ्यासस्य' इति अभ्यासत्रोपः । निवेद्यतां ज्ञाप्यतां वाक्याप ( वरुं ) । हन्तेत्यनुकम्पायाम् ॥ २४ ॥



अन्वय — हन्त, निवेद्यनाम्—शिरीषकोपत्रदिभ्यानिमान ममापयन्तो इमो पदो तुच्छदय ते मन विषद्वर प्रणामे निरिच्छते ?

हिन्दी—कृपया बनायें—निरिम-फूला की कोमलता के अनिमान को ममाप्त करने इन चरणों को कृपामूर्त्य आपका मन कितनी दूर तक आपास ( धन ) में रचना चाहता है ?

टिप्पणी—शिष्ट-व्यवहारोचित वचनों की एक शैली । आपका गतव्य क्या है ? इन कौनसे चरणों को चना-चना कर और कितना कष्ट देने ? जब तो श्या कीजिए, इन निरिमकुमुनों से भी कोमल चरणों को कुछ तो विधाम कीजिए । उपेद्रवत्ता छद । विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-उन्मेषा उपमा अलंकार ॥ २४ ॥

अनामि देशः वनन्त्वप्यद्य वनन्मुक्तस्य दशा वनस्य ।

त्वदात्ममह्येतया कृतायां श्रद्धयापि नानेन जनेन मज्ञा ॥ २५ ॥

जीवानु-अनायीति । अद्य त्वया कृतो देशो वनन्तमुक्तस्य वनस्य दशाम-नापि नीनो शिक्वीकृत इत्यर्थः । नयनेद्विकर्मकत्वात् प्रधाने कर्मणि लुङ् । किञ्च त्वदात्मकैतया त्वयि लब्धमङ्गलितयया कृताया सफला सज्ञा नामानेन जनेन आत्मना श्रद्धानि श्योतुमर्हापि न किमिति काकु कश्च अचोदयत्, कुत आगत, किञ्च ते नामनेय सन्निवेदनेनाप्यनुग्राह्योऽयं जन इति भावः ॥ २५ ॥

अन्वय—रवया अद्य कतम देश वनन्तमुक्तस्य वनस्य दशाम् अनामि ? जनेन जनेन त्वदात्ममह्येतया कृतायां सज्ञा श्रद्धया अपि न ?

हिन्दी—आपने आज किस देश को वनन ऋतु से परित्यक्त बन की स्थिति को पहुँचा दिया है ? यह जन ( दमनती ) आपका संकेत करने से कृतार्थ सज्ञा ( आपका नाम ) क्या मुनने योग्य भी नहीं है ?

टिप्पणी—आप किस देश के वासी हैं और आपका गुप्त नाम क्या है ? पूछने की शिष्ट शैली । आपके चले जाने से कौन-सा देश उजड़ गया है, वनत के चले जाने से शी-हीन वन के समान ? क्या मैं ऐसी अशुद्ध हूँ कि आपके गुप्त नामवेद से अशुद्ध हो कृतकाम जज्ञरा को भी नहीं जान सकती ? मन्मिनाथ के द्वारा काकुवर्जोक्ति का संकेत, विद्याधर के अनुसार निदर्शना और काव्यत्रय अलंकार ॥ २५ ॥

तीर्णं किमर्णोनिधिरेव नैव सुरक्षितेऽभूदित् यत्प्रवेशः ।

फलं किमेतन्म तु साहसस्य न तावदद्यापि विनिश्चिनोमि ॥ २६ ॥

जीवातु—तीर्णं इति । सुरक्षिते साधुगुप्ते अत्यन्तदुष्प्रवेश इत्यर्थः । इहान्त-  
पुरे प्रवेशोऽभूदिति यत् एष प्रवेश अर्णोनिधिरणव एव तीर्णो न विम् ! अर्ण-  
स्तरणतुल्य न किमिदमर्थः । किन्तु एतस्य साहसस्य फलं किमद्यापि धिर विमृश्या-  
दीत्यर्थः । तावत् विनिश्चिनोमि निश्चेतु न शक्नोमीत्यर्थः । अत्रान्त पुरप्रवेशा  
र्णवस्तरणलक्षणवाक्यार्थयोर्निर्दिष्टसामान्याधिकरणान्यथाऽनुपपत्त्या तत्तुल्यमिति  
साध्यभाक्षेपाऽसम्भवद्वस्तुसम्बन्धो वाक्यार्थनिष्ठनिदर्शनाभेदः ॥ २६ ॥

अन्वयः—इह सुरक्षिते यत् प्रवेश अभूत् किम् एष अर्णोनिधिः । एव  
न तीर्णः ? एतस्य साहसस्य तु फलं किम्, अद्य अपि तावत् न विनिश्चिनोमि ?

हिन्दी—यहाँ सुरक्षित ( रनिवास ) में जो ( आपका ) प्रवेश हुआ,  
क्या यह सागर स्तरण ही न हो गया ? इस साहस का तो फल क्या है—  
मैं आज भी निश्चय नहीं कर पा रहा ?

टिप्पणी—अप्रवेश्य अथवा दुष्प्रवेश्य अतः पुर में मल का प्रविष्ट हो  
जाना एक दुष्कर कर्म करना हो गया, जैसे समुद्र को तैर कर पारना ।  
प्रश्न यह है कि इस दुष्कर कर्म का उद्देश्य क्या है ? शिष्ट भाषा में जाने के  
प्रकार और उद्देश्य की पूछता । इस श्लोक में महिनाथ के अनुसार  
वाक्यार्थनिष्ठ निदर्शनाभेद है, क्योंकि अतः पुर-प्रवेश और अर्णवस्तरण  
वाक्यार्थों में निर्दिष्ट सामान्याधिकरण की अन्यथानुपपत्ति होने के कारण  
साध्य के आक्षेप से असम्भव वस्तु सबध कहा गया है । विद्याधर के अनुसार  
निदर्शना और काव्यलिङ्ग ॥ २६ ॥

तव प्रवेशे मुहूर्तानि हेतु मन्ये मदक्षोरपि तावदत्र ।

नलक्षितो रक्षिमटैर्बदाम्या पीतोऽसि तन्वा जितपुष्पधन्वा ॥ २७ ॥

जीवातु—एवेति । अथवा अत्रान्त पुरे तव प्रवेशे मदक्षो मुहूर्तान्यपि  
तावत् यावदन्वोऽपि हेतु श्रोतव्य इति भावः । हेतु कारण मन्ये कुत, यद्य-  
स्मात् तवा भूर्या, जितपुष्पधन्वा जितशाम तव रक्षिमटै रक्षकयोर्धनं लक्षितं  
अलक्षितं सन् । नत्रयस्य नत्रयस्य 'मुप् सुप्' इति समासः । आम्ना मदक्षिम्या  
पीतोऽतितृष्ण्या दृष्टोऽसि । मुहूर्तविधेयं विना कथमीदृशभूतरूपसाक्षात्कारलाभ  
इति भावः ॥ २७ ॥

अन्वय — तब अत्र प्रवेशे मरुप्तो मुकुतानि अत्र तावत् हेतु मये, यत्  
रक्षिन्ते न रक्षितं तन्वा जितपुण्यत्वा दाम्ना पीतं अस्ति ।

हिन्दो—आहारे यहाँ प्रविष्ट होने में मेरे ( दम्पती के ) दोनों नयनों  
के सुचरित ( पुण्य ) भी कारण है—ऐसा माननी हूँ, क्योंकि रखवाले  
मोदाओंद्वारा जन्तित शरीर से पुण्यत्वा ( काम ) के जेता को इन्होंने  
( नेत्रों ने ) पी लिया है ( नली जानि देख लिया है ) ।

टिप्पणी—नल सुरक्षित अतः पुर में पहण्यों को दीखे बिना प्रविष्ट हो  
गये । वे दर्शनीय थे, कामाधिक रमणीय । पहरेदार देख भी न पाये पर  
दम्पती ने नली जानि मृम हो निहार । इस अचमल की समाधना का  
कारण दम्पती नयनों का पुण्य ही हों सकता है, ज्यया असाध्यसिद्धि  
कैसे होती ? विद्यानर के अनुसार जतिगयोक्ति-काव्यलिङ्ग-उपमाद्यकार । २७ ।

यथाकृतिः काचन ते यथा वा दीवारिकाग्रद्वारणी च शक्तिः ।

रुच्यो रुचीर्मिज्जितकाचनोनिस्तयामि पीयूषभुजा सनामि ॥ २८ ॥

जीवानु—यथेति । यथा यतस्तं तव आकृतिर्भूति काचन अमानुषीत्यर्थं ।  
यथा वा यतश्च द्वारि निमुक्ता दीवारिका तत्र निमुक्त इति ठक् । 'द्वारादीनां  
च' इयंजागम । तेषाम् जन्वीज्जिते अनयेति अग्रद्वारणी इष्टिप्रतिवम्बिका  
'आटपनुना' इत्यादिना कृत्र करणार्थं स्युन्त्यत्य । 'अग्रद्वार' इत्यादिना  
मुमागम, स्युन्त्यत्वात् ङीप् । शक्तिश्च काचनेत्यनुयग्यते । किञ्च जितकाच-  
नीर्मिज्जितद्वारिणि । 'निग्राह्या काचनी पीता हरिद्रा वरवर्णिनी' इत्यनर ।  
समासान्तविधेरनिरन्वात् । नद्युतश्च' इति वदन्वा । टावन्तपाठे जितकन-  
कानिरित्यर्थ । रुचीर्निर्दीप्तिनि, कृदिकारादक्षितनो वा वक्तव्य, रोचत इति  
रुच्यो देदीप्यमानोऽस्ति 'राजभूयस्य' इत्यादिना कर्त्रि वदन्तो निपात । तथा  
ततो मूर्तिप्रभावतेजोनि पीयूषभुजा देवानां समाना नामिर्नूल मस्य सनामिर्न-  
ग्धुरसि कञ्चिद्द्विपुण्य उत्प्रेष इत्यर्थे । 'ज्योतिर्जेनपद' इत्यादिना उमान-  
द्यस्य सनाम ॥ २८ ॥

अन्वय — यथा ते काचन आकृति यथा वा दीवारिकाग्रद्वारणी शक्ति-  
जितकाचनीनि रुचीनि रुच्य च अस्ति तथा पीयूषभुजा सनामि अस्ति ।

हिन्दो—देखी तुम्हारी चोई ( लोकोत्तर ) आकृति है और देखी द्वार

भूयोऽपि बाला नलमुन्दर त मत्वाऽमर रक्षिजनाक्षिब्धधात् ।

आतिथ्यचाटून्यपदिश्य तत्स्था धिय प्रियस्यास्तुत वस्तुत मा ॥३१॥

जीवातु—इत्य नलमेव मत्वैतावदुक्त्वा पुनर्नलमस्त्वमन्य मत्वाऽयया व्याह-  
रतीत्याह—भूयोऽपीति । भूय पुनरपि सा बाला भैमी त पुरुष रक्षिजनस्याजि-  
ज्ज्वादनधीकरणादमानुषत्वाद्देतोर्नलमुन्दरममर कश्चिद्देव मत्वा आतिथ्याय  
तिथ्यति 'अतिथेय्यं' । चाटूनि प्रियवाक्यानि अपदिश्य व्याजीकृत्य तस्मिन्  
पुष्टये तिष्ठतीति तत्स्था तन्निष्ठा 'मुपि स्थः' इति क । प्रियस्य नलस्य धिय  
शोभा वस्तुत परमायतो दृष्ट्वैव अस्तुत स्तुतवती । स्तोतेल्लि तद् । अत्राप्य  
धर्मस्यायसम्बन्धान्भवेन प्रियमिति साक्ष्याक्षेपादिदर्शनाभेद । न चैव पर  
पुरुषगुणस्तुतिप्रसङ्ग, वस्तुतस्तथात्वेऽपि तस्यास्तथाभिमानाभावादिति ॥३१॥

अन्वय—सा बाला भूय अपि रक्षिजनाक्षिब्धधात् त नलमुन्दरम् अमर  
मत्वा आतिथ्यचाटूनि अपदिश्य तत्स्था प्रियस्य धिय वस्तुत अस्तुत ।

हिन्दी—उस बाला ( दमयन्ती ) ने पुनरपि प्रहरियो के नेत्र बाँध देने  
के कारण ( अदृष्ट रहजाने से ) उस ( नल ) को नल के समान सुन्दर देवता  
मान कर अतिथि मत्कार-योग्य प्रिय वचनों के व्याज से उसमें विद्यमान  
प्रिय ( नल ) के स्तोत्रों की तत्त्वतः स्तुति ( वर्णना ) की ।

टिप्पणी—नल प्रहरियो के नेत्रों से अदृष्ट रहकर अतः पुर में आ गया  
था । यह मानुषी वाय नहीं है । नल ने भी देवदर के बल पर ऐसा किया  
था । इस कारण दमयन्ती उसे मानव—नल न मान सकती । उसने समझा  
कि यह नल के सशर रक्षणयोग्य कोई देव है । उसने आतिथ्य के सत्कारयोग्य  
प्रिय वचनों में जो स्तुति की, वह वस्तुतः नल की ही हुई, क्योंकि वह नल  
ही था—भले ही दमयन्ती उसे 'अमर' समझ बैठी थी । इस प्रकार यह  
परपुरुषगुणस्तवन भी न हुआ । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ अन्य धर्म का  
अन्य-संग्रह असम्भव होने से प्रिय साक्ष्याक्षेप के कारण निदर्शनाभेद है,  
विद्याधर के अनुसार दलेप रूपक-उपमालकार हैं ॥ ३१ ॥

वाजन्मवैकन्यमसह्यशत्य गुणाधिके वस्तुनि मौनिता चेत् ।

खल्वनमत्प्रोयमि जल्पितेऽपि तदस्तु वन्दिभ्रमभूमिनेव ॥ ३२ ॥

जीवातु—अथ यद्यपि स्तुतिकरणे कारणमाह—वागिति । वृत्तेरुक्तं

जपिके स्तुत्यहं इत्यर्थे । बन्धुनि विषये मोहिता तृणीनादरचेत् जसह्यस्य  
 दुस्सह्यस्यप्राय वाग्द्वयनो दावसत्ताया वंद्यस्य स्यात् । जयंत्यपरिहारमाह—  
 ज्योतिरसि जलिते बलपन्थवचनेऽपि । भावे कत । सन्त्य दौर्जन्यमसहिष्णुत्व  
 म्यादित्यर्थे । तत्तन्माद्वन्दी स्तुतिपाठकोऽग्रमिति भ्रमस्य भूनिता विषयित्व-  
 मेवास्तु । 'दन्दिनः स्तुतिपाठका' इत्यमर । दन्दिपु बन्दिभ्रम धोतृदोषो  
 न दाव्येष्टस्य स्रष्ट्वे एव श्रोतृदोष । प्रत्युत मुतास्तुतिमन्त्य गुण एवेति  
 तदङ्गीकरणीति भाव ॥ ३२ ॥

अन्वयः—गुणादनुते वस्तुनि मोहिता चेत् जसह्यस्य वाग्वन्मवैरस्यम्,  
 ज्योतिमसे जल्यति अपि स्रष्ट्वम्, तत् बन्दिभ्रमभूमिता एव बन्धु ।

हिन्दी—गुणों के कारण आश्चर्यजनक बन्धु के संबंध में यदि भीतरारण  
 हो, तो असहनीय बटक के समान बाणों के जननी विफलता होगी, और  
 यदि बन्धु कहा जाय तो सल्ला (दुर्जनता), सो (यही अच्छा है) स्तुतिकर्ता  
 (भाट चारण) होने के भ्रम का स्थान बनना ही हो ।

टिप्पणी—मज्जनता यही है जिं जो वर्णनीय है, उन्का वर्णन मनी भावि  
 किया जाय । कुप रगा जाना बधवा घोडा सा कह देने का उपचार दुर्जनता  
 मानी जाती है । नन् ही समार विमिश्र स्तुति करने के कारण सुशामदी,  
 स्तुतिकर्ता चारण भाट मान ले, परन्तु प्रशसनीय की प्रशसा मुक्तकठ हो  
 करनी ही चाहिए । नीतिवचन यही है—'परगुणपरमाभूत् पर्वतीकृत्य नित्य  
 निजहृदि विकसन्त सन्ति सन्त' ।' विराता ने बाणी दी ही प्रशसनीय की  
 प्रशसा के निमित्त है । इस श्लोक को दममन्ती की उक्ति भी माना जा सकता  
 है, कविवचन भी । विद्याधर के अनुसार काव्यति ॥ ३२ ॥

कन्दर्प एवेदमविन्दत्र त्वा पुण्येन मन्ये पुनरन्यन्म ।

चण्डीशचण्डाक्षितामृष्टे जुहाव यन्मन्दिरमिन्द्रियाणाम् ॥ ३३ ॥

जीवातु—अथ स्तौति—कन्दर्प इत्यादि । कन्दर्प एव पुण्येन मुहुतवजेन  
 इदं त्वा त्वद्वपमन्यजन्म जन्मान्तर पुनरविन्दतेति मन्ये इत्युत्प्रेक्षा । अन्यथा  
 कयमीदृशमिति भाव । किं तन्मुन तदाह—चण्डीस्य हरस्य चण्ड क्रूरमसि  
 तृतीयनेत्र तदेव कृताशस्तन्य कृत्स्नमाधवन तन्मिनिन्द्रियाणां मन्दिरमिन्द्रि-  
 याणामाश्रय शरीरमिति यावत् । तज्जुहाव तेन पुण्येनेति पूर्वोक्त सम्बन्ध ॥ ३३ ॥

जीवातु—भवदिति । कुसुमायुधेन कामेन भवतु पदाङ्गुष्ठं भ्रिता  
धीरपि न लब्धा न प्राप्ता ध्रुवम् ? भवच्छ्रिता धीस्तु दूषपास्तेति भावः ।  
तथा हि—न काम जेतु स्मरहरस्य तृधन्तत्वात् 'न लोक' इत्यादिना  
पट्टोपनिषेधः । तज्जेतुरिति समासपाठे तृधन्तेन पट्टोपमास साधुश्रापमेव पाठः ।  
तृनयस्य ताच्छीत्यस्यानुपयोगात् रतीजजेतुरिति देशातरपाठस्त्वयुक्त एव ।  
प्रहृतायस्य सर्वनामोपादेयस्य स्वशब्दोपादाने योनिरक्यदोपादिति । हस्तेन  
निदिशन्त्याह—एतद्वेन्दुम्प चित्त्वमस्मिन्नङ्गुष्ठे नखकनवेनास्ते च त्वित्य  
पल्लवभेदः । अर्धेन्दुचित्त्वगारपादयमपि कामजेता । यदा सचिच्चित्तभारणाद्  
तस्यापि स्मरस्य जेतुत्तुनययापि कथमेतच्छीलान्न कामदेजस्येति भावः ॥३६॥

अन्वयः—कुसुमायुधेन भवन्पदाङ्गुष्ठं भ्रिता धी अपि ध्रुव न लब्धा, खलु  
अस्मिन् त जेतु नखवेपथारि एतत् अर्धेन्दुचित्त्वम् आस्ते ।

हिन्दी—पृष्ठपञ्चा ( काम ) ने आपके पैर के अँगूठे की रोमा भी  
निश्चयतः नहीं पायी, क्योंकि इस ( अँगूठे ) में उस ( काम ) के जेता ( शिव )  
का नख वा वेप थारे यह आघे चन्द्रमा का चिह्न विद्यमान है ।

टिप्पणी—नख काम की अपेक्षा वही अधिक सुन्दर है, काम तो उसके  
पैर के अँगूठे के समान भी नहीं है । इस दृष्टि में शौन्दर्य-प्रतियोगिता में अँगूठे  
न काम की जीत लिया है और वह कामजयी शिव के तुल्य वन उन्ही के  
समान अर्धेन्दुचिह्न धारण करने लगा है, नख के रूप में । चन्द्राकार नख  
सुन्दर और धुन माने गये हैं । लगता है, नख के पैर के अँगूठे के पास तक  
फटकने का साहस काम में नहीं है । वह चन्द्राकार नख के अँगूठे का शिव  
समन्ता है और डर जाता है । नारायण के अनुसार अनुमान से प्रमाणित  
रूप—'त्वदङ्गुष्ठं कामस्य जेता, अर्धचन्द्राङ्गुष्ठतया यथा शिवः ।' नख  
का अँगूठा काम का जेता है, अर्धचन्द्र चिह्न होने व कारण, जैसा शिव ।  
तृतीय चरण का पाठांतर 'रतीजजेतुः खलु चित्त्वमस्मिन्' जो है—'कामजयी  
का चिह्न इस ( अङ्गुष्ठ ) में है ।' यत्किनाय ने 'तृनय' के ताच्छीन्दानुपयोगी  
होने के कारण यह पाठांतर अयुक्त माना है । इससे योनिरक्य दोष होगा ।  
सर्वनामोपादेय प्रहृताय का स्वशब्द से कथन उचित नहीं हाता । सुखावबोध  
और साहित्य विद्यापरी टीकाओं में 'नखवेपथारि' की अपेक्षा 'नखकनवेन'

पाठान्तर को माना गया है। मल्लिनाथ इस 'कैतवेन' के आधार पर यहाँ अपह्नुति का निर्देश करते हैं। विद्याधर के अनुसार अपह्नुति और उत्प्रेषालकार हैं ॥ ३६ ॥

राजा द्विजानामनुमामभिन्नः पूर्णा ननुदृश्य तनु तपोमि ।

कुहपु दृश्येतरता किमेव सायुज्यमाप्नोति भवन्मुखस्य ॥ ३७ ॥

जीवानु—राजेन् । द्विजाना राजा चन्द्रो ब्राह्मणोनमश्च अनुमास प्रति-  
माम निरोक्ष्य सन अर्धेदुरन्ययंकस्य प्रतिकुहपु मुखसायुज्याभावादिति भाव ।  
एतां राकास्त्विति भाव । तनु शरीर तपोमि प्रत्यङ् देवनाम्न कलासमर्पण-  
करीरिति भाव । तनुदृश्य कुहपु अभावाम्यामु दृश्येतरतामदृश्यतामेत्य भव-मुखस्य  
सायुज्यमैक्य प्राप्नोति किमप्युपेक्षा । यथा कश्चिद् ब्राह्मण नीत्रेण तपमा  
ब्रह्मसायुज्यमाप्नोति तद्वदित्यर्थ अन्यथा क्य कुहपु न दृश्यत इति भावः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—द्विजाना राजा पूर्णा तनु तपोमि तनुदृश्य अनुमासभिन्न कुहपु  
दृश्येतरताम् एतत् किं मन्त्रनुष्ठानस्य सायुज्यम् आप्नोति ?

हिन्दो—द्विजराज ( ब्राह्मण श्रेष्ठ ) के सदृश द्विजराज ( चन्द्र ) पूर्ण  
शरीर को तपस्वर्या से क्षीण करके, प्रतिमाम क्षीण दुर्बल हों, अभावस्याश्रो  
को अदृश्यत्व प्राप्त कर क्या आप ( नल ) के मुख में सायुज्य ( ऐक्य )  
चाहता है ?

टिप्पणी—ब्राह्मण श्रेष्ठ तपस्वर्या द्वारा क्षीणातिक्षीण हो जैसे ब्रह्म-सायुज्य  
प्राप्त कर लेता है कदाचित् चन्द्र भी प्रतिमास अपने पूर्ण शरीर को अभा-  
वाम्याश्रो में क्षय करके नल मुख सायुज्य पाना चाहता है । चन्द्र नलमुख सदृश  
नहीं है ( वह वैसा होना चाहता है ) क्योंकि वह पूर्णिमा को तो पूर्ण रहना  
है पर धीरे-धीरे क्षीण होता वमा को अदृश्य हो जाता है । नलमुख तो सदा  
पूर्ण विकसित है । 'अनुमानमन्न' का प्रतिमाम और प्रकार का—नवीन मी  
अर्थ किया गया है । जैसे द्विजराज का अर्थ ब्रह्म हो । अनेक जन्म भीत  
गये चन्द्र को शरीर गलाने दूर पर अभी तक वह नलमुख सायुज्य न पा सका ।  
मल्लिनाथ के अनुसार 'किम्' के जागर पर उत्प्रेषा । विद्याधर के अनुसार  
अभिप्योक्ति और अपह्नुति जलकार ॥ ३७ ॥

तृत्वा दृष्टो ने बहुवचने किं कृष्णमारम्य तपोमृगम्य ।

अङ्गनायदेदराग श्रीरखामयच्छद्विधिर्ध्वचन्द्रम् ॥ ३८ ॥

मृगस्यैव तदीयमेवेत्यर्थः । किञ्च एष तव कचपाशवेश केशपाशसन्निवेश  
तस्यैव मृगस्य पुच्छे वालघो स्फुरच्चामरगुच्छ इत्युत्प्रेक्षा । अन्यथा वचन  
घोरीदृशी घोभेति भावः ॥ ४० ॥

अन्वयः—त्वदास्य विधौ दृश्य नेत्रद्वितय विधुत्वानुमितस्य मृगस्य, तस्य  
एव च पुच्छे स्फुरच्चामरगुच्छ एष स्वकचपाशवेशः ।

हिन्दी—तुम्हारे मुख चन्द्र में दीखता नयनयुगल ( मुख के ) चन्द्र हान  
के कारण अनुमित मृग का ( नयनयुगल ) है, उसी ( मृग ) की पूछ में  
विललित चमर का गुच्छा तुम्हारे केश समूह के बीच में है ।

टिप्पणी—भाव यह है कि नल का मुख चन्द्र के समान है, नयन चन्द्रों  
में स्थित मृग के नेत्र सदृश हैं और नल के केश उसी मृग के चामरगुच्छ तुल्य  
हैं । अनुमान का आधार है मुख का चन्द्र हाना । जहाँ-जहाँ विधुत्व होगा,  
वही-वही मृगत्व । नारायण के अनुसार—'गवास्ये विधौ मुखरूपे चन्द्रे 'विमनो  
मृगवाग्, चन्द्रवाग्, समतवग्' इति हेतुनानुमितस्यानुमानतम्यस्य मृगस्य नेत्रद्वय  
दृश्यम् ।' भक्तिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, नारायण के अनुसार रूपक और  
अपह्नुति । चन्द्रकलाकार ने रूपक-उत्प्रेक्षा की निरपक्षतया स्थिति होन से  
ससृष्टि मानी है ॥ ४० ॥

आस्तामनज्जीकरणाद्भवेन दृश्यं स्मरो नेति पुराणवाणी ।

तवैव देहधितया श्रियेति नवस्तु वस्तु प्रतिभाति वादः ॥ ४१ ॥

जीवातु—आस्तामिति । स्मरो भवेनेश्वरेणानज्जीकरणादसारीरीकरणा-  
द्धेतोर्दृश्यो नेति पुराणवाणी पुरातनवादस्तावदास्ताम् । तवैव देह धितया  
'द्वितीयाश्रितातीति'त्यादिना समास श्रिया सौन्दर्येण न दृश्य इति नवी नूतनो  
वादस्तु परमाय प्रतिभाति । तदेतिह्यमात्रमिदं तु प्रत्यक्षमित्ययम् । अन  
पराजयलज्जानिमित्तमस्यादृश्यत्वमित्युत्प्रेक्षा ॥ ४१ ॥

अन्वयः—स्मर भवेन अनज्जीकरणात् दृश्यं न—इति पुराणवाणी आस्ताम्,  
अथ एत देहधितया श्रिया—इति नव वाद तु वस्तु प्रतिभाति ।

हिन्दी—काम महादेव द्वारा देहहीन कर दिये जाने के कारण नयनगाचर  
नहीं—यह पुराणों की (सही गली पुरानी) वाणी (मान्यता वचन) रहे (ठीक



नहीं है), हाँ, मुझाहीं ही क्षीर मुदयिनो जीन के कारण (काम दशमीय नहीं रह जा) है—यह नवीन कथन (मान्यता) तो सारमुक्त लाता है ।

टिप्पणी—कल्पना यह है कि यह जो शिव द्वारा काम दहन और उसके अन्त हो जाने का कथन है, वह पुराण-कथन-मात्र है—एक 'निन्दक' एक प्रतीति-कथनमात्र । साम्प्रतिकता यह है कि अपने से अधिक सुन्दर मूल के समुच्च ललित होने की आशुका से काम प्रसन्न होकर रहता है । 'द्योगिर मुनीना प्रानाम्यम्' के अनुसार नव-बाद सारवाद है, पुराण-कथन तो पुराना पक्कर अमान्य हो गया है । नर काम से मुक्त है । बायीं तो पुरानी (पुरानी), बायीं स्त्री है, बाद नव प्रमान् है, अतः वही चाह है । नारायण ने 'अनपीकार' का रूप 'अन्वीहृति' भी किया है । नर की देहाश्रित्य ही ने काम को अन्वीहृति दी, मान्यता नहीं दी, इसी से वह अक्षय है । यह भी संकेत हो सकता है कि—'पुराणे नौ काम को चर्चा योग्य न माने, नव ( सुधार ) उसे अनपीकार (अस्वीकार) दे, नवीन वन तो देहाश्रित्य काम को मान्यता देते भले ही उद्यम को न दें ।' नवीन प्रत्यक्ष काम को मान्यता देते हैं, इसका प्रमाण 'नैवनीयचरित' का अष्टादशसर्ग है । मल्लिनाथ के अनुसार उद्देश्या, नारायण के अनुसार अति-उपयोगिता ॥ ४१ ॥

त्वया जगन्मुच्चिषकान्तिनारे यदिन्दुनाङ्गीलि जिलोच्छ्वसिः ।

आगेपि तन्मागवजोऽपि मीली म मज्जगग्नेपि महेस्वरेण ॥ ४० ॥

जीवानु—त्वयेति । त्वया जगति उच्चिषकान्तिनारे दृहीतलावन्महर्षये सति इन्दुना जिलोच्छ्वसिद वृत्ति जीविका 'इन्दुना धान्यरत्नादान कणिका धार्यनं जिलम् इति वादक' । असीति हीनेति यत् तत्तन्मादेतो मनोरथय पुनान् मानव 'तन्मागवजम्' इन्द्रजयने धनम् । 'जगते कुत्तिते मूढे मनोरो-त्सर्गिक स्मृत । नकारस्य तु मूर्खयन्नेन सिद्धयति भावः ॥' तेन सोऽप्यो मानवक । बालोऽपि स इन्दुनेह्वरेण महादेवेन महाशयेन च मीली शिरसि तथा मज्जराजने द्विजरायन्नेभ्यारोणि आरोरित इत्युद्देशः । प्रकृष्टमं कर्म पन्नाय न मदतीति भावः, प्रैवचनाह्वदकम्प्रीति तन्मागवजसे एवेति तात्पर्यम् ॥ ४२ ॥

गन्धर्व — क्या उच्चितकान्तितारे जगति यद् इन्दुना शिलोञ्छवृत्तिः  
अजीलि तत् माणवक अपि स महेश्वरेण मौली यज्वराज्ये अपि आरोपि ।

हिन्दी—तुम्हारे द्वारा चीमा का तत्त्व भाग ले लिये जाने पर अणु में जो  
चन्द्र ने शिलोञ्छवृत्ति (खेतों में पड़े रह जाने वाले दानों के कण चुनकर जीवन-  
यापन करना—'कषाद'-वृत्ति) स्वीकारी, अन्तः बाल (छोटा द्वितीया सम्बन्धी)  
होने पर भी उसे महादेव ने मस्तक पर यासिको के राज्य पर (यज्ञकर्त्ता श्रेष्ठ  
रूप में) स्थापित कर दिया ।

टिप्पणी—नल को सत्कार का समस्त सौंदर्य प्राप्त हो गया तो बेवारा  
चन्द्रमा क्या करना ? जैसे खेत से अनाज उठाये जाने पर कुछ दाने पड़े रह जाते  
हैं, वैसे ही कुछ सौन्दर्य कण पड़े रह गये । चन्द्र ने वही कण लिये और अपने  
को सजा लिया । अर्थात् सौंदर्य का सहसाय भी वह न पा सका । चन्द्र नल के  
समुत्त अत्यन्त तुच्छ है । परन्तु किसी कारण सही, चन्द्र बना तो कषाजीवी  
उपस्थी, फल स्वरूप उसे महादेव ने श्रेष्ठ यागिक रूप में भाग्यता दे अपने  
मस्तक पर स्थापित कर दिया । शिलोञ्छवृत्ति अर्थात् 'ऋत' के सेवी को  
उचित सत्कार मिला । ब्राह्मण के लिए यही वृत्ति उपयुक्त मानी गयी है । मनु  
स्मृति (४।४) के अनुसार—'ऋतामृताभ्या जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा । सत्यानृता-  
भ्यामपि वा न श्रमृत्या कदाचन ।' ऋत अर्थात् शिलोञ्छवृत्ति, अमृत अर्थात्  
अपाचित, मृत (पाचित), अमृत अर्थात् खेती, सत्यानृत अर्थात् वाणिज्य तथा  
मेवा—इन प्रकारों से जीवन यापन कर ले, कृते की भाँति कभी नहीं । इन में  
उत्कृष्ट वृत्ति प्रथम अर्थात् ऋत (शिलोञ्छवृत्ति) है । इसी वृत्ति को स्वीकारने  
से शिव ने चन्द्र को भाग्यता दी, वह डिजराज (ब्राह्मणोत्तम) कहाया । ऋत  
जीवी बालैन्दुरूप ब्रह्मचारी 'माणवक' को 'महेश्वर' महाराजाधिराज ने शिरोधार्य  
किया । महाधनी ने माणवक अर्थात् वीसलड़ी माला को गले में न पहन मस्तक  
पर पहना । अचरज की बात । कदाचित् धनी ने बड़ी कठिनाता से माणवक  
हार सजोया होगा । मस्मिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विज्ञाथर के अनुसार  
वतिशयोक्ति ॥ ४२ ॥

आदेहदाह कुमुमानुधस्य विधाय सौन्दर्यकथादरिद्रम् ।

त्वदङ्गशिलास्तुनरीश्वरेण चिरेण जाने जगदन्ववन्मि ॥ ४३ ॥

जीवानु—आदेहेति । ईश्वरेण सम्पुता कुसुमायुधस्य कामस्य देहाहा-  
दारम्भ आदेहाह मर्यादाभानन्ययीभाव । जगन्लोक सौन्दर्यकथादरिद्र  
सौन्दर्यवार्ताशूय विधाय चिरेण त्वदङ्गस्य गित्याग्निर्माणात् त्रिदश पुनरन्वकम्पि  
अनुकम्पित त्वया पुन सौन्दर्यमरित कृतमिति जान इत्युपदेश । तव मूर्तिमतः  
कामात् को भेद इति भाव ॥ ४३ ॥

अन्वय—जाने कुसुमायुधस्य, आदेहाह जगत् सौन्दर्यकथादरिद्र विनाय  
त्वदङ्गशिर्यात् ईश्वरेण पुन चिरेण अनुकम्पि ।

हिन्दी—सतीत होना है कि पुनः (काम) के देहाह से प्रारम्भ कर  
सत्कार को सौन्दर्य-कथा से दरिद्र करके तुम्हारे शरीरार्थी की रचना द्वारा ईश्वर  
(शिव) ने कि से बहुत काल पदचाप कृपा की है ।

टिप्पणी—भाव है कि नञ कामाधिक सुन्दर हैं । महादेव ने काम को जज्ञ-  
कर सत्कार से सौन्दर्य वार्ता ही समाप्त कर दी थी । उनके मन में जान को दुखी  
देख दया जननी, सो महादेव ने पुन कामाधिक सुन्दर नञ की रचना कर दी ।  
अन्वयः ॥ ४३ ॥

महो कृतार्था यदि मानवोऽसि जित दिवा यद्यमरेषु कोऽपि ।

कुल त्वगालङ्कृतमौरगञ्चेन्नाथोऽपि कस्योपरि नागलोक ॥ ४४ ॥

जीवानु—महीति । मनोरथ मानवो मनुष्योऽसि यदि 'तत्स्येदम्' इत्यण्-  
प्रत्यय । मही कृतार्था । अनरेषु कोऽप्यसि यदि दिवा सुप्तोऽपि जित सर्वान्कर्षेण  
न्यत नपुनके भावे क्त । त्वया औरग कुल नागकुलमङ्कृत चेत् नागोऽसि  
चेदित्यर्थ । अथ सर्वाणि स्थितोऽपि नागलोक कस्य लोकोपरि न । सर्वस्या-  
प्युपरि वर्तते इत्यर्थ । 'उपसृपपरिष्ठात्' इति निपात ॥ ४४ ॥

अन्वय—यदि मानव अथ मही कृतार्था, यदि अमरेषु क अपि, दिवा  
जितम्, त्वया औरग कुलम् अलङ्कृत चेत्, अथ अपि नागलोक कस्य उपरि न ?

हिन्दी—यदि (तुम नन्) मनुष्य हो, तो यह घरती (मृत) कृतार्थ है,  
यदि देवों में कोई हो, तो सुप्तो (स्वा) ने ऊपर को जीत लिया, और यदि  
नागवध को मुशोभित करने हो, तो नीचे स्थित नी नागलोक (पाताल) किस  
(तल) के ऊपर नहीं है ? ( जर्षायं सर्वोपरि है ) ।

टिप्पणी—भावना यह है कि दमयती के अनुसार उपस्थित व्यक्ति (नल)

इतना गरिमाय है कि वह जिस लोक का वासी है, वही लोक श्रेष्ठ है। इच्छा-प्राप्ति से दमयती यह जानना चाहती है कि वह (नल) मानव है, देव है या नाग है ? किस लोक का वासी है वह ? दमयती स्वयं मानवी है और वह उपस्थित व्यक्ति में अभिलाष होने के कारण उसमें नल की समावना कर रही है, अतः पहिले मानव का उल्लेख किया। 'न गच्छन्तीत्यगा, न अगा नागास्तेषां लोकः—अप्रतिहत्यति नागो का लोकः सब के ऊपर होने योग्य है, यदि नल वहाँ का वासी है तो। इसी प्रकार 'महो' का विग्रहार्थ पूज्य—'महते पूज्यते सा महो' भी सायक होगा और 'दीप्यति विजिगीषते इति धी' (विजय शील) नाम भी नल के लडासी होने से ही सार्थक हो सकेगा। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ ४४ ॥

सेय न धत्तेऽनुपपत्तिमुच्चैर्मच्चित्तवृत्तिस्त्वयि चिन्त्यमाने ।

ममो स भद्रं चतुर्के समुद्रस्त्वयात्तगाम्भीर्यमहत्त्वमुद्रं ॥ ४५ ॥

जीवानु—सेयमिति । त्वयि चिन्त्यमाने स्वरूपको गुणतरङ्ग विभाव्यमाने सति सेय विभावयन्ती मच्चित्तवृत्ति उच्चैर्महतीमनुपपत्ति न धत्ते समुद्रस्याग-  
स्त्यचतुर्के अनुपपन्नतावुद्धि न करोतीत्यर्थः । तत्र हेतुमुत्प्रेक्षते स समुद्र त्वया आत्ता गृहीता गाम्भीर्यमहत्त्वे एव मुद्रा चित्तं यस्य स सन् । अत एव चतुर्के भुविमुष्टिगते ममो भद्रं युक्तमित्यर्थः । अन्यथा कथं तथा महतो गम्भीरस्य तस्य मुनिचतुर्केति भावः । अत्र मानहेतोरसत्त्व्यादिविशेषणगत्या निर्देष्टात्वदार्थ-  
हेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः । तत्सङ्कीर्णमुत्प्रेक्षा भद्रमिति व्यञ्जकप्रयोगा-  
द्वाच्या ॥ ४५ ॥

अन्वयः—सा इय मच्चित्तवृत्ति त्वयि चिन्त्यमाने उच्चैः अनुपपत्ति न धत्ते, भद्रं त्वया प्राप्तगाम्भीर्यमहत्त्वमुद्रं स समुद्रं चतुर्के ममो ।

हिन्दी—वह ( विश्वास न करने वाली ) यह मेरे मन की वृत्ति तुम्हारा विचार करने पर (उस) बड़ी अविश्वसनीयता का (अब) धारण नहीं करनी, यह ठीक ही लगता है कि तुम्हारे द्वारा गम्भीरता और महत्ता को मुद्रा (मर्यादा) से ली जाने पर वह समुद्र ( अगस्त्य द्वारा ) चतुर्के में ली लिया गया ।

टिप्पणी—दमयन्ती के कथन का आशय है कि नल सागर से भी अधिक गम्भीर और महात्त्व है। सामा यत् इस पर अब तक विश्वास करना कठिन है

रहा था कि महामुनि आस्त्य समुद्र को एक चुल्लू में पी गये होंगे, समस्त मे  
 यही आता था कि यह कवन लाक्षणिक है, आस्त्य न समुद्र सम्बन्धी कोई ऐसा  
 काय किया होगा, - जिससे यह कहा जाने लगा एक मुहावरे के रूप में कि  
 अस्त्य चुल्लू में सागर पी गये। अब नल देखने पर यह लगता है कि सबकुछ  
 ऐसा अघटित घटा होगा, क्यों कि समुद्र की गहराई और विद्यालता नल के  
 समुच्च छोटी पक्ष गयी है। छोटा पक्ष सागर मृनि के चुल्लू में समा गया होगा।  
 इस श्लोक में महर्षिऋष के अनुसार मानहेतु का निर्देश 'आत्तगाम्भीर्यमहत्त्वमुद्र'  
 इस विद्वेषण की मति से होने के कारण पदार्थ हेतुक काव्यलिंग अलंकार है  
 और उससे सूक्ष्म उत्प्रेक्षा की गयी है, जो 'मद्रम' व्यञ्जक के प्रयोग के कारण  
 वाच्य है, अर्थात् काव्यलिंग उत्प्रेक्षा का सूकर। विद्याधर के अनुसार विरोधा-  
 तिथयोक्ति ॥ ४५ ॥

ससारसिन्धावनुबिम्बमत्र जागति जाने तव वैरसेनि ।

बिम्बानुबिम्बो हि विहाय धानुनं जातु दृष्टातिसरूपमृष्टिः ॥ ४६ ॥

जोवातु—ससारेति । बिम्बावास्मिन् ससारसिन्धौ वैरसेनि नलस्तवानु-  
 बिम्ब जागति स्फूर्तीति जाने सक्यामीत्यय । कुत, हि तस्माद्विम्बानुबिम्बौ  
 विहाय ब्रजयित्वा धातु अतिसरूपमृष्टि जातु कदाचिदपि न दृष्टा । अन्यथा  
 कथमेतदप्यतसाद्वयमित्यर्थ । भवान् नल एवेति मे प्रतिभातीति भाव ॥ ४६ ॥

अन्वय—अत्र ससारसिन्धौ जाने वैरसेनि तव अनुबिम्ब जागति, हि  
 धातु अतिसरूपमृष्टि बिम्बानुबिम्ब विहाय जातु न दृष्टा ।

हिन्दी—इस ससार रूप सागर में प्रतीत होता है कि बीरसेन के पुत्र (नल)  
 तुम्हारे प्रतिबिम्ब रूप में विद्यमान है, क्योंकि विधाता को अतीत समान रूप  
 वाली मृष्टि बिम्ब प्रतिबिम्ब को छोड़कर कहीं नहीं देखी गयी ।

टिप्पणी—विधाता की मृष्टि का यह नियम है कि बिम्ब के सदृश प्रति  
 बिम्ब ही होता है, इस से यह प्रतीति हो रही है कि उपस्थित व्यक्ति नल का  
 प्रतिबिम्ब है । अत्यन्त सुन्दर नल का ही ऐसा प्रतिबिम्ब संभव है । भाव यह  
 कि उपस्थित व्यक्ति पूर्णतः नल ही लगता है । विद्याधर के अनुसार अर्थान्तर  
 न्यास, उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकार हैं ॥ ४६ ॥

की जाय । मल्लिनाथ के अनुसार काकुवक्रोक्ति, विद्याधर के अनुसार अतिशय-  
याक्ति अलंकार ॥४९॥

इत्थ मधूत्थ रसमुद्गिरन्ती तदोच्छ्रयधूकधनुर्विसृष्टा ।

कर्णात्प्रसूनाशुगण्धवाणी वाणीमिषेणास्य मनो विवेश ॥ ५० ॥

जीवातु—इत्थमिति । इत्थ मधून सौद्राद्रुत्थमुत्पन्नम् । ‘आतत्रोपसर्गे’  
इति कप्रत्यय । रस तत्सदृश रसमुद्गिरन्ती स्रवती तस्या ओष्ठ एव बन्धूक  
बन्धुजीवकुसुमम् । ‘बन्धूको बन्धुजीव’ इत्यमर । तदेव धनुः सेन विमृष्टा  
मुक्ता प्रसूनाशुगन्धस्य कुसुमेपो पञ्चाना वाणाना समाहार पञ्चवाणी ।  
‘तद्विज्ञाप्ये’ इत्यादिना समाहारे द्विगु । अकारान्तोत्तरपदत्वात्स्त्रिया ‘द्विगो’  
इति ङीप् वाणीमिषेण वाग्व्याजेनास्य कर्णात् कर्णं प्रविश्य हृदयोपे पञ्चमी ।  
अस्य तस्य मनो विवेश कर्णद्वारा प्रविवेशेत्यर्थः ॥ ५० ॥

अन्वय — इत्थ मधूत्थ रसम् उद्गिरन्ती तदोच्छ्रयधूकधनुर्विसृष्टा प्रसूना-  
शुगण्धवाणी वाणीमिषेण कर्णात् अस्य मन विवेश ।

हिन्दी—इस प्रकार अमृत मधु-रस सरती उस ( दमयन्ती ) के ओठ रूप  
बन्धूक पुष्प ( दोपहरी का फूल गुलेदुपहरी ) रूप धनुस् से छोड़ी कुसुम वाण  
(काम) की पञ्चवाणी ( पाँचो वाण ) ( दमयन्ती ) के बचनों के व्याज से कान के  
मार्ग से इस ( मल ) के मन में प्रविष्ट हो गयी ।

टिप्पणी—दमयन्ती के कहे गये इतने शिष्ट और मधुर बचन—अमृतमधु-  
मयी वाणी )—सुन कर नल पूर्ण मुग्ध हो गया और दमयन्ती को पाने को इतना  
उत्कण्ठित हो गया कि विलम्ब-व्यथा उसे ऐसी पीड़ित करने लगी, जैसे कि  
काम के एक साथ पाँचो वाण दमयन्ती की वाणी के व्याज से उसके अतस् में  
धुस गये हो । आश्चर्य कि मधुमयी वाणी और व्यथा । भाव यह कि बचनमात्र  
सुनकर नल कामना से उद्दीप्त हो गया । विद्याधर के अनुसार छेष्टानुप्रास रूपक  
और अपह्नुति अलंकार हैं ॥५०॥

अमज्जदालज्जमसौ सुधासु प्रिय प्रियाया वदनान्निपीय ।

द्विपन्मुखेऽपि स्वदने स्तुतिर्या तन्मिष्टता नेष्टमुखेत्यमेया ॥ ५१ ॥

जीवातु—अमज्जदिति । असौ नल प्रियाया वदनात् प्रिय प्रियवाक्य  
निपीय सुषाम् आमज्ज मज्जान पानुमभिष्याप्येत्यर्थः । अमिषिवाक्यमपीभावः ।

‘जनश्च’ इति समामान्तष्टच् । अमञ्जदमृताम्बादनुत्तमन्वभूदित्यर्थः । तथा हि—द्वि पन्मुखेऽपि तन्मुखतश्चेदित्यर्थः । या स्तुति स्वदत्ते स्वादून्भवति इष्टमुखे प्रियजनमुखे तु तस्या स्तुतेर्मिष्टता स्वादुता अमेया अपरिच्छेद्या न किमिति काकु ? अपि तु परिच्छेत्तुमशक्यवेत्यर्थः । अत्रेष्टनुषम्बुने द्विपन्मुखस्तुत्य-पेक्षया कंमुत्येन स्वादुत्वोत्कर्षप्रतिपादनादर्थाप्यन्वङ्कारः । तस्य वाक्यभूतस्य आमञ्ज मुदामञ्जनहेतुत्वाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमिति सूक्ष्मम् ॥ ५१ ॥

अन्वयः—प्रियायाः वचनात् प्रिय निषीय जसौ मुघानु आमञ्जम् अमञ्जद, या स्तुति द्विपन्मुखे अपि स्वदत्ते, इष्टमुखे तु तस्मिन्मिष्टता अमेया न ?

हिन्दी—प्रिया (दमयन्ती) के मुख से (निःसृत) प्रिय (वचनामृत) का सादर पान कर वह ( नल ) अमृत प्रवाह में मग्नापर्यंत ( भीतर तक, पूर्णतः ) मग्न हो गया । जो प्रशसावचन शत्रु के मुख में भी (शत्रु कपित होने पर भी) स्वाद देते हैं ( अच्छे लगते हैं ), प्रिय मुखोक्त होने पर तो उनकी मिठास क्या छपरिमेय—परिमाणातीत न होगी ? होगी ही ।

टिप्पणी—दमयन्ती द्वारा कहे गये प्रशसा भरे मुखवचन सुन कर नल को परमानन्द प्राप्त होना एक स्वाभाविक स्थिति थी । प्रशसा तो शत्रु भी करे तो भली लगती है और प्रियजन के प्रिय मुख से प्रशसा सुनना तो अत्यधिक आनन्ददायी होता है । ‘आमञ्जम्’ के स्थान में पाठांतर ‘आवृणम्’ भी है—अर्थात् ‘गले तक अमृत प्रवाह में डूब गया ।’ मल्लिनाथ ने काकु के साथ साथ अर्थापत्ति और वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग के स्वर का निर्देश किया है, क्योंकि शत्रुमुख स्तुति की अपेक्षा प्रियमुखस्तुति में स्वादुतात्कर्ष का उपपादन हुआ है और वह वाक्यभूत आमञ्जमुदामञ्जन के हेतु रूप में कथित है । विद्याधर ने अर्थान्तरग्यास का उल्लेख किया है ॥ ५१ ॥

पौरुष्यशैल जननीपनीता गृह्णन् यथाहर्षतिरर्घ्यपूजाम् ।

तयातिथेयोमथ नप्रतीच्छन्नम्या वयम्यासनमासमाश्च ॥ ५२ ॥

जीवानु—पौरुष्येति । अयं नल अहं एति अहंपति मयं ‘अहंराशेनां पन्थादिपञ्चद्वयानम्’ इति रेफादेशः । यथा जनानां समूहो जनता । ‘ग्रामज-नवन्द्यमहायेभ्यस्तत्’ । तथा उपनीता समर्पिताम् अर्घ्यं जलनर्घ्यं ‘पाशार्घाभ्याञ्च’ इति यत्प्रत्ययः । तदेव पूजा वा गृह्णन् स्वीकृवं पुरो भव पौरस्त्यः

परिसङ्ख्या निगद्यते ॥' इति लक्षणात् तस्योत्तरार्धे सामान्येन समयनात्  
सामान्येन विशेषसमर्चनरूपोऽर्थांतरायास इति सङ्ख्य ॥ ५४ ॥

अन्वय —अथ तद्वागुपवीणित अपि स धैर्यात् स्मराज्ज्ञाम् अवधीय ऊचे,  
वाम विवेकपाराशतघोत सताम् अन्तः कनुपोकरोति ।

हिन्दो—उत्पश्चात् उस ( दमयन्ती ) की वाणी-वीणा द्वारा प्रशंसा प्राप्त  
करके भी वह ( नल ) धैर्य से काम के आदेश को अवज्ञा करके बोला । विवेक-  
जल को धाराओं से शतवार धोकर उजले किये सज्जनों के अतः करण को  
काम काला ( विकृत ) नहीं करता ।

टिप्पणी—यद्यपि दमयन्ती की प्रशंसामयी वीणा के समान मधुर वाणी  
सुनकर नल कामनाओं के ज्वार में बहा जा रहा था, तथापि—जैसा कि  
पूर्व श्लोक में कहा जा चुका है, उसके धैर्य ने उसकी उद्दीप्ति पर विजय पायी  
और वह सयत् हो दमयन्ती को प्रत्युत्तर देने लगा । विवेकी और धैर्यवान्  
साधु जनों के निर्मल अन्तःकरण काम से विकृत नहीं हुआ करते । धीर होने  
ही वे हैं, जिनके मानस विकार के कारण होने पर भी विकृत नहीं होते—  
'विकारहेतावपि विव्रियन्ते येषां न चेतासि स एव धीराः ।' मल्लिनाथ के  
अनुसार इस पद्य में परिसंख्या और अर्थांतरायास का सङ्कर है । पूर्वाह्न में  
काम और धैर्य—इन दो के द्वारा आक्रान्त चित्त का धैर्य से नियमन है और  
उत्तराह्न में सामान्य के द्वारा विशेष का समर्चन । विद्याधर ने विशेषोक्ति  
और अर्थांतरायास का निर्देश किया है ॥ ५४ ॥

हरित्पत्नीना सदसं प्रतीहि त्वदीयमेवातिथिमागत माम् ।

बहन्तमन्तगुण्णादरेण प्राणानिव स्वप्रभुवाचिकानि ॥ ५५ ॥

जोवानु—हरिदिति । मा गुरुणा आदरेण अतिप्रयत्नेन स्व प्रभूणामिन्द्रा-  
वीना व्याहृतार्था वाचो वाचिकानि सन्देशवाक्यानि 'सन्देशवाक्याचिक स्यात्'  
इत्यमरः । 'वाचो व्याहृतार्थायाम्' इति ठक् । प्राणानिव त्वदीयानित्यर्थः ।  
अन्तरतरात्मनि वर्तत हरित्पत्नीनामिन्द्रादिविद्यालाना सदस आस्थानादागत  
त्वदीयमेवातिथि प्रतीहि त्वामवोद्दिद्यागन् विद्दीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

अन्वय—मा गुरुणा आदरेण स्व प्रभुवाचिकानि प्राणान् इव अन्त बहन्त  
हरित्पत्नीना सदस आगतत्वदीयम् एव अतिथि प्रतीहि ।



हिन्दी—( नल ने कहा )—मुझे ( नट की ) अत्यन्त आदर के साथ अपने स्वामियों के दावियों ( मदेगवचनों ) को प्राणों के तुल्य अन्त करण में धारण करता हुआ, दिक्पालों ( ईश्वरों ) की मुद्रा में धारा अपना ही अतिथि समझे ।

टिप्पणी—नट न बड़े ही सिद्धवचनों ने दमयन्ती को सूचित किया कि वह इन्द्रादि दिक्पालों का मदेगवचक बनकर दमयन्ती के समीप ही आया है । इस प्रकार उम्मे दा प्रती का उत्तर दिया कि वह कहा में आया है और किन्हे निकट आया है ? मदेगवचना को प्राणतुल्य धारण करता कहकर स्वामी के प्रति आदर प्रकट किया और दूतधर्म का गान्न किया । विद्याधर के अनुवाक्य समा ॥ ५५ ॥

विरम्यता भूवती सन्ध्या निविरम्यतामाननमुग्धित किन् ।

या दूतना न फलिना विनेना मवानियेनो पृथुर्दुर्भवित्री ॥ ५६ ॥

जीवानु—विरम्यतामिति । सन्ध्या पूजा भूवती भूव । भवने लब्ध-प्रदाने होन् । विरम्यतानवनीनता भावे लोड् । निविरम्यता सन्निविरम्यता किं नियन्तासनमुग्धित तन्मम् । फलिना फलवती, फलवर्हान्मानिन्व-कल्प । विनेना कर्तव्या नोत्पन्ना वा दूतता इव संव पृथुर्दुर्हो आवियेनो अतिथिपूजा उद्गावित्री भाविनी ॥ ५६ ॥

अन्वय—विरम्यता, सन्ध्या भूवती, निविरम्यताम्, आपन किम् उन्मि-तम् ? या न । दूतता फलिना विनेना, सा एव पृथु-आतिथेयी उद्भवित्री ।

हिन्दी—वच कीविर, पूजा हो गयी, बैठ जाइए, सामन क्यों छोड़ दिया ? जो हमारा दूतकारन सट्ट होना, वही बड़ा अतिथि-कार होगा ।

टिप्पणी—दमयन्ती ने जो कुछ अतिथि के आदरार्थ किया—प्राप्तनादि में उठकर खड़ा हो जाना आदि नल ने निवेदन किया कि अब ऐसा कुछ न कीजिए । उपचार—मिष्टाचार भी पर्वत हो गया । दूतकार्य यदि सफल बनायेगी तो बड़े अतिथि-कार होगा । विद्याधर के अनुसार काव्यजि अन्वय ॥ ५६ ॥

कल्याणि । कल्याणि तवाङ्गकानि कञ्चित्तना चिनमनादित्ते ।

अत्र विरम्येन विर मदीयानाकर्तानाकनैतदानादि ॥ ५७ ॥

जीवातु—कत्याणीति । हे कत्यापि । भद्रे ! तवाङ्गवानि कोमलाङ्ग-  
ज्ज्ञानि कत्यानि पटूनि कच्चित्तमा ? कच्चिदिति प्रश्नार्थमव्ययम् । 'कच्चित्काम-  
प्रवेदने' इत्यमरः । तस्मात् 'अतिशयने तमविष्ठनौ' इति तमम् । 'किमे-  
तितद्व्यधात्' इत्यामुप्रत्ययः । किञ्च ते चित्तमनाविलम्बकतुष कच्चित्त-  
माम् । आकर्णतटात्कर्णतटपर्यन्तं मर्यादायामव्ययीभावः । तत 'बुभुषा'  
इति समासे आकर्णतटायते अलिपी यस्या सेति 'बहुवीही सकृद्यङ्गो  
स्वाङ्गाद् पच्,' 'पिद्गोरादिभ्यश्च' इति छीप् । 'अभ्वार्यनघोर्ह्रस्व' हे  
आकर्णतटायताक्षि ! विलम्बेनाल मदीया गिरमाकर्णय ॥ २७ ॥

अन्वयः—कत्यापि, तव अङ्गवानि कत्यानि कच्चित्तमाम्, ते बित्तम्  
अनाविलम् ? आकर्णतटायताक्षि, विलम्बेन अल, मदीया गिरम् आकर्ण ।

हिन्दी—भद्रे, तेरे कोमल अंग नो रोग हैं ? तेरा बित्त निमल है ? (स्वल्प  
है ? ) हे कानों तक फैले नयनों वाली, बिलंब न करो, मेरा कपन सुनो ।

टिप्पणी—सामान्य शिक्षाचार के अनुसार स्वस्पताविषयक प्रश्न और  
क्षतिनि मूल बात पर आ जाने का प्रस्ताव, बिस्वसे संवेद्यवाक्य पुरतः कहा  
जा सके । विद्याघर के अनुसार उल्लेखनीय अलंकार छेकानुप्रास ॥ २७ ॥

कीमारमारभ्य गणा गुणाना हरन्ति ते दिक्षु घृताधिपत्यम् ।

सुराधिराज सलिलाधिपश्च हुताशनन्धार्यमनन्दनञ्च ॥ ५८ ॥

जीवातु—कीमारमिति । हे भैमि ! कीमार नव कुमारवयम् आरभ्य  
'प्राणमृज्जातिवयोवचनोद्गामादिभ्योऽङ्' । ते तव गुणाना गणाः दिक्षु घृताधि-  
पत्यम् दिशामधीशम् सुराधिराजमिन्द्र सलिलाधिप वरणञ्च हुताशनमग्निञ्च  
अर्थमनन्दनं सूर्यतनयं यमञ्च हरन्ति आकर्षयन्ति ॥ ५८ ॥

अन्वयः—कीमारम् आरभ्य ते गुणाना गणा दिक्षु घृताधिराज  
सलिलाधिप च हुताशनम् च अर्थमनन्दनं च हरन्ति ।

हिन्दी—कीमार्य अवस्था से लेकर तुम्हारे गुणों का समूह दिशाओं का  
अधिपतित्व धारण करने वाले ( दिक्पाल ) देवराज ( इन्द्र ), जलों के स्वामी  
( वरुण ), आहुत के भोजी ( अग्नि ) और अर्थमा ( सूर्य ) के नन्दन ( यम )  
को आहूत कर रहूँ है ।

टिप्पणी—नल ने इन्द्र, वरुण, अग्नि और यम—चारों के चिरकाल से

दनपन्ती पर अनुरक्त होने की बात बतायी । हूँ ( वीर्यवादि ) हूँ मृग ( रज्जु ) ने चारों दिशाओं को खींच रखा है । विषेयभावघोरेण विषेयों से दोनों के दोनों का भी आकर्षण हो गया—दूर हूँ के रास्ते 'सुखानाम् अधिगच्छ' तो हैं ही 'मुखाया अधिगच्छ' मन्त्र के रास्ते भी हैं—घोर मन्त्रों, बहान मन्त्रादि हैं—चारों ओर घनी हो गयी, एकदम उड़, कर्म तो जो भी हूँ हो, निकट हो उभरे या जाना है और धन तो बर्धना ( धर्म, दत्त करने वाले ) का बेटा है । विद्वान् के अनुगम्य अनन्तर उक्तानुगम ॥ ५८ ॥

धरन्विरं शैवदधीवनीयद्वैराग्यभावि त्वमि खेदनेति ।

तेषां स्वस्वीकरोति चित्तं पञ्चेन्द्रिया तुष्टिर्नैर्नवित्तम् ॥ ५९ ॥

जीवानु—धरदिति । शैवदधीवनीयद्वैराग्यभावि त्वमि खेदनेति । तेषां स्वस्वीकरोति चित्तं पञ्चेन्द्रिया तुष्टिर्नैर्नवित्तम् ॥ ५९ ॥  
नञ्च तद् द्वैराग्य इत्येव रागो ( धर्म ) वास्तविकत्वात् पञ्चन्द्रियम् । तद्भावि शैवदधीवनीयद्वैराग्यभाविनाम्ना निमित्तम् । एतेनास्या धर्ममन्त्रिकत्वं, तस्या त्वमि विर धरन्तं त्वमि तेषामिन्द्रादीनां चित्तं ( कर्तुं ) स्व कावेन्द्रादौरेण विहितेनोद्धारितेन । पञ्चेन्द्रिया तुष्टिर्नैर्नवित्तम् अनन्तरधर्मन नद्वैराग्यनि द्वैराग्ये प्रदाना चोरवाधा जायते इति भावः । वयोद्वयैवमेव पञ्चेन्द्रिया चोरेण तेषां धर्मविनि हृत्तमिति रुचम् । तद्वैराग्यत्वात् त्वमि वास्तविकत्वात् वास्तविकमिति मन्त्रम् ॥ ५९ ॥

अन्वयः—शैवदधीवनीयद्वैराग्यभावि त्वमि विर चरन् तेषां स्व चोरद्वैराग्ये पञ्चेन्द्रिया तुष्टिर्नैर्नवित्तं चित्तं खेदम् एति ।

हिन्दी—वास्तविकत्वात् और मोक्ष-इन दो उक्तों में स्पष्ट रूप पर बहुत समय में वास्तविक ( इन्द्रादि ) का वास्तविक के महाचोर पचवान् ( काम ) द्वारा शिवका धर्म रूप धन हूँ निम्न भा है ऐना—चित्तं चित्तता की प्राप्त हो रहा है ।

टिप्पणी—जो दो उक्तों के मध्य विवरण करता है, मोक्ष पर किसी रास्ते का वास्तविक न होने के कारण, ऐसे मोक्षों को मोक्ष धर्मचोर चोर हूँ कहता है । दनपन्ती इस समय दो रास्ते की भीमम्ति है—शैव की, मोक्ष की । हूँ अनन्तर शिव का नहीं है । इन्द्रादि दत्त भूमि पर विवरण

अटनि, डोरो बांधने के लिए घनुप् के किनारे पर बना गड़्ढा ) पर पहुँच गयी है ।

टिप्पणी—साठवें श्लोक तक सामूहिक रूप से देवदूतता संपादन करके स्वमठों में सत्तरवें श्लोक तक इन्द्र का दूतत्व-प्रतिपादन है । भाव यह है कि जैसे-जैसे दमयन्ती का जीवन उत्कर्ष को प्राप्त हो पराकाष्ठा को पहुँचा, इन्द्र का डम पर अनुराग भी परा कोटि को पहुँच गया और पुष्पधन्वा काम ने भी अणु को घसीझूत करने के लिए अपने घनुप् की प्रत्यक्षा याग छोड़ने के लिए लौच ली । इन्द्रादि को पामय इन के लिए काम ने भी घनुप् पर डोरी चढ़ा दी । मल्लिनार्थ के अनुसार 'स पद्य मे तुल्ययोगिता और सहोक्ति का संकेत है' क्योंकि 'येह प्रकृत्यु ( प्रस्तुत ) प्रेम और गुण में-विशेषण समानता से और अर्थ के उपगम के कारण केवलप्रवृत्तविषया तुल्ययोगिता है और उन प्रेम-गुण में 'परा कौटुम्बिक'—इति उन्नेषाघृत अभेदाध्यवसाय रूप अतिशयोक्ति मूक ( 'युक्तेन सीधम्' ) ( 'यौवन के साथ' )—यह सहाय्य सवध-कमन होने से महत्त्व के विचारों के अनुसार, सिद्धांति श्रेय-तुल्ययोगिता अलंकार है ॥६१॥

प्रती प्रयाते विरह प्रथम । तृपाच्च रूपाच्च शशाङ्कुशङ्की ।  
परापराधेनिदेवाति । जीवात् । रूपाच्च लोचनवृन्दमिन्द्र ॥ ६२ ॥  
जीवात् प्राचीमिन्द्र । इन्द्र विरह दधत् दधान सन् अत एव प्राची दित प्रयाते प्राची, मायादिकृता तावाच्चद्रस्यापि विरहितापकारत्वादिति भाव । रूपाच्च उदयनाले उमयोरपि रक्तत्वादिति भाव । शशाङ्कु-शङ्की चन्द्र इति प्राच्या परापराधेन्द्रशेषस्तापादिमि हेतुमि रूपाच्च लोचनवृन्द निदधाति शेषाद्विन्द्र अतिमहत्त्वापीक्षत इत्यर्थ । प्रोधाध्यस्य कृत मापराधानपराधजिवे इति भाव । अत्र कविसम्पन्नमाश्रयेन मानी शशाङ्कुभमाद् भ्रान्तिमदलङ्कार ॥ ६२ ॥

अन्वय—इन्द्र से विरह दधत् प्राची प्रयाते मानी तावात् रूपात् च शशाङ्कुशङ्की परापराध रूपा अरण लोचनवृन्द निदधाति ।

हिन्दी—इन्द्र तेरे विरह को धारण करता, पूर्व में स्थित मूय पर ताप दायक होने और ( माय्य ) होने के कारण ( सूर्य में ) चंद्रमा को भ्राति करता दूसरे के अपराधों के कारण रोज से साठ आठ नेत्र कर देता है ।

टिप्पणी—दमयन्ती के विरह में पीड़ित इन्द्र को रात्रि में तो चन्द्रमा व्याप्त होती ही है, प्रभात में जब सापदायक लाल सूर्य पूर्व दिशा में उदित होता है, तब ह्य-साम्य और सजापदायक होने से सूर्य में चन्द्रमा के भ्रम से उस पर ही क्रुद्ध हो वह अपने लाल नेत्रों से क्रोध दिखाता है। इस प्रकार जैसे रात में बने ही दिन में भी इन्द्र दमयन्ती के विरह में कष्ट पाता रहता है। 'अग्नि-ज्वाला' करते इन्द्र की आँखें लाल होनी ही उचित है और क्रोध में-कष्ट में विवेकशून्य होने में भ्रम में पड़ा इन्द्र चन्द्र के अपराध पर सूर्य से क्रुद्ध हो ही सकता है। अन्य का अपराध, अन्य पर रोष। इस पद्य में मन्त्रिनाथ के अनुसार कविमत्तसादृश्य से सूर्य में चन्द्रमा का भ्रम होने से भ्रातिमत्त जल्कार है ॥ ६२ ॥

त्रिनेत्रमात्रेण स्या कृत यन्तरेव योज्यापि न सक्नोति ।

न वेद दृष्टेऽथ सहस्रनेत्रे गन्ता स कामं स्वप्न कामवम्यान् ॥ ६३ ॥

अन्वय — त्रिनेत्रेति । त्रिनेत्र एव त्रिनेत्रमात्र । 'मात्र कामस्यैवधारणे' इत्यन्तर । तेन तमात्रेण स्या यद्वृत्तमनङ्गत्वमिति भावः । तदेव य कामोऽद्यापि न सक्नोति नाच्छादयितुं शक्नोतीत्यर्थः । स कामोऽथ सहस्रनेत्रे इदं दृष्टं क्रुद्धं नति कामवस्या दशा यत्ता गमिष्यति । गमेर्लुट् । न वेद न जाने सक्नु । वाक्यार्थः कर्म । 'विदो लटो वा' इति मितो षष्ठ्यदेशः । त्रिनेत्र-मात्रेण नष्ट काम सहस्रनेत्रे कथं ज्ञेयतीत्यर्थः । कामस्त्वत्कृते निराकु-मिन्द्र दुःखाकरोतीति तात्पर्यम् ॥ ६३ ॥

अन्वय - त्रिनेत्रमात्रेण स्या यत् कृतं तत् एव य अथ अपि न सक्नोति सः कामः अथ सहस्रनेत्रे दृष्टं कामं अवम्या सक्नु गन्ता—न वेद ।

हिन्दी—तीन नेत्र मात्र धारण करने ( शिव ) ने क्रोध में भी किया, वह ( देहराह ) ही जो आज भी संभाल नहीं पा रहा, वह काम आज सहस्रनेत्र ( इन्द्र ) के दृष्ट हो जाने पर किस अवस्था को प्राप्त होने वाला है—मैं ( नल ) वह समझ नहीं पा रहा ।

टिप्पणी—केवल तीन नेत्र वाले शिव ने ही काम दाह करके उसे जना बना दिया । काम इस हानि की पूर्ति आज तक न कर पाया । अब सहस्र नेत्र धारी इन्द्र को पीडा देकर काम किस दशा को प्राप्त होगा—यह नल समझ

नही पाता । स्वभाविक है कि तीन नेत्रधारी की अपेक्षा सहस्र नेत्र धारी का क्रोध अधिक भयानक होगा और अधिक कष्टकर, परन्तु शरीर भस्म होने से अधिक और बड़ा दह हो ही नया सकता है ? भाव यही है कि निश्चय काम इन्द्र को अत्यन्त कष्ट दे रहा है, काम को और बटे दह से यदि दमयन्ती बचावा चाहती है तो इन्द्र का अनुराग उसे स्वीकार्य होना उचित है । विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ६३ ॥

पिकस्य बाङ्मात्रकृताद्व्यलीकान्न स प्रभुनन्दति नन्दनेऽपि ।

बालस्य चूडाशशिनोऽपराधान्नाराधनं शीलति शूलिनोऽपि ॥ ६४ ॥

जीवातु—पिकस्येति । स प्रभुरिन्द्र पिकस्य कोकिलस्य बाङ्मात्रकृतादे न तु कामवत् कायकृतादिति भाव । व्यलीकादप्रियाश्रनन्दने नन्दनात्मे आनन्दकरेऽपीति गम्यते । वने न नन्दति किमुतान्यत्रेति भाव । किञ्च बालस्य कृद्यस्य चूडाशशिनोऽपराधात् अपकारात् सन्तापस्थात् किमुत पूर्णेन्दोरिति भाव । शूलिनः शिवस्याप्याराधनं पूजा न शीलति नाचरति । 'शीलसमाधौ' इति भीमादिकास्तद् । इन्द्रो विरहपारवश्यादावश्यम् किमपि कर्म न करोतीत्यर्थः । अनानन्दविचारधनसम्बन्धेऽयत्तम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिर्भेदः ॥ ६४ ॥

अन्वय—प्रभु स पिकस्य बाङ्मात्रकृतात् व्यलीकात् नन्दने अपि न नन्दति, बालस्य चूडाशशिनः अपराधात् शूलिनः अपि आराधनं न शीलति ।

हिन्दी—सामर्थ्यात् वह ( इन्द्र ) कोकिल के वचन ( बाल ) मात्र द्वारा कुछ अप्रिय (कार्य) में नन्दन (आनन्दित करनेवाले) में भी आनन्दित नहीं होता और बालक ( एक बाल्यात् ), चूडा में स्थित चन्द्र के अपराध के कारण शूलधारी शिव भी आराधना नहीं करता ।

टिप्पणी—दमयन्ती के विरह में सत्रसामर्थ्यशाली स्वर्गराज इन्द्र आनन्ददायक नन्दन जानन ( नन्दयतीति नन्दन ) में भी काकिल स्वर होने के कारण आनन्द नहीं पाता और यद्यपि शिव शूलि हैं, तथापि वे कष्टकारक ( बाल ही सही ) चन्द्र को चूडा में धारे हैं, अतः इन्द्र उनकी पूजा भी नहीं करता । कोकिलरव और चन्द्र—दोनों ही विरहिजनो को पीड़ा देने हैं, अतः इन्द्र इनकी छाया मात्र से कष्ट पाता है । न उसे नन्दन में आनन्द है और न शूलि के पूजनाभाव में क्रुद्ध हो जान का भय । इन्द्र दमयन्ती के वियोग में

ज्ज्ञान भन- नीर पूजापाठ-मह्य ईन्द्रि, निरन काये छोडे देडा है । न बड  
उमे नन्दन ( पुत्रमम नदिन करनेवाले ) का ध्यान है और न छिद रेप का  
मय । मन्त्रिनाथ के अनुसार यहाँ आनन्द और सिवाराधन में सबध होने पर  
भी उमबध अथन हन मे अनिशयोक्ति है, विद्याधर के अनुसार हनु और  
मनावाविउ ॥ ६४ ॥

तमोमयीहृय दिश पगनं स्मरेपय सद्धृगा दितानि ।

कूहगिर चञ्चुपुटं द्विजस्य राकारजत्वामपि सत्यवाचम् ६० ॥

जीवानु-तमोमयीनि । स्मरेपय कुमुमेपुबाना परानं रतोमि करनं-  
दित सद्धृगा मन्त्रये तमोमयीहृय तन्महत्तवचने मयडतादमूननझाज  
चि । मन एव विम्वननोरनम्बन्धे तसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्ति । कूह  
कूहाम्या नी, कूजिन मम् । अथचकु कूहमानास्येति गीर्धचन मय । 'कूह  
स्याकानिनापाननछेदुनकमोरनि' इति विश्व । तस्य द्विजस्याङ्गस्य  
कोविन्देयं । अथच विम्वय 'दन्विप्राङ्गश द्विजा' इति ।  
चञ्चुपुटं मुन राकारजता पूर्णिमापामपि मयवाच दितस्वादितानि मय-  
यतीपयं । राकारामपि कूहामिड तमोमयीहृयनीपयं । अथ दिष्टो  
पातयोद्धपोरनि कूहोद्धपोद्धाभेदास्त्वमापमुक्त्वा कूहजममवादिमय  
विम्वयानि पूर्वोक्तातिशयोक्तिहेतुना निवेदनीत्यायंहेतुक कावलिङ्ग म  
स्त्रेशानिगोक्तेरिरोर्धरत्नं सतीरने । तेन चक्ये राकारा कूहभान्या  
भानिमदकारो व्यग्यन इमूहम् ॥ ६५ ॥

अन्यथ-स्मरेपय परानं दिश सद्धृगा तमोमयीहृय कूहगिर द्विजस्य  
चञ्चुपुट राकारजत्वाम् अवि मयवाच दितानि ।

हिंदी-काम के ( पुत्र ) बाप मकरदों से दिशाभा को इन्द्र की दृष्टि में  
अपहारपूर्ण करके 'कूह' छन्द बोलने वाले द्विज ( कोविन्द, बाल्य ) के चञ्चु-  
पुट ( चोंच, मुँह ) की राकार रजनी ( पूर्णिमा निशा ) में भी तथ्यवचपुक्त  
बताने हैं ।

टिप्पणी-काम के पुत्र बनाना में साइकर उडे पराग ने इन्द्र की दृष्टि को  
धपी बना दिया है । वह कोविल के चञ्चुपुट से बोले जाने वाले 'कूह कूह'  
छन्द के कारण पूर्णिमा की रातों की भी अमावस्या की रातों मान लेना है,

जैसे कोई अथा द्राह्मण ( द्विज ) के कथन मात्र पर यह विश्वास करते कि पूर्णिमा की रात नहीं, अभावस्या है। भाव यह है कि काम से अति पीड़ित इन्द्र की पूर्णिमा की आनन्ददायिनी रातें अभावस्या की काली रातों-नी मयानक लगती हैं। कामाग्र हो जाता है इन्द्र राक्वराजनी में कीर्तिना स्तुनकर। इस श्लोक में श्लेष के आधार पर 'कुहू-कुहू' और द्विज में अभेद्यवसाय कह कर विरुद्ध भी कुहूत्व सत्यवादिता के पूर्वोक्त अतिशयोक्ति हेतु द्वारा सिद्ध होने से बाधार्थ हेतुक कान्वयिग्य पूर्वक श्लेषातिशयोक्ति का विरोधागो से सकर है, उससे इन्द्र को राका में कुहू की भाँति हो जाने के कारण भातिमस् अलज्जर व्यजित होता है। विद्यावर के अनुनार विरोध और अतिशयोक्ति अलकार हैं ॥ ६५ ॥

शरीः प्रसूनैस्तुदतः स्मरस्य स्मर्तुं स किं नाशनिना करोति ।

अभेद्यमस्याहू\* । धर्मं न स्यादनङ्गता चेदिगिरिसप्रसादः ॥ ६६ ॥

जीवातु—शरीरिति । स इन्द्रः प्रसूनैरेव शरीस्तुदत आत्मानं विध्वस्त स्मरस्य स्मरमित्यर्थः । 'प्रयोगर्थ'—इत्यादिना धर्मणि शेषे पठ्यो । अशनिना व्यर्थेण स्मर्तुं न करोति किं स्मृतिमात्रशेष-कुर्यादेव । किन्तु तस्य स्मरस्य गिरिसस्य प्रसाद प्रसादलभ्यमित्यर्थः । कार्यकारणयोरभेदोपचार सोऽस्तुण्ड-चैतन्यज्ञता अभेद्य धर्मति रूपकम् न स्याच्चेत् अहहेत्यङ्गुने छेदे वा साङ्गत्वे पुनर्व्यञ्जयलानादेन हन्यादेवेत्यर्थः । तथा पीडयत्येनमनङ्गोऽपीति भावः ॥ ६६ ॥

अन्वयः—अहू, सः प्रसूनै शरी तुदतः स्मरस्य अशनिना स्मर्तु न करोति किम् चेत् अस्य गिरिसप्रसादत अनङ्गता अभेद्य धर्मं न स्यात् ।

हिन्दी—जरे, वह ( इन्द्र ) पुष्प शरी से पीड़ित करते काम को व्यर्थ से क्या स्मृति शेष न कर देता यदि इस ( काम ) का कैलासपर्वतशायी (गिरि) के प्रसाद से अनङ्ग ( शरीर रहित ) हो जाना-रूप अङ्गुल कवच न होता ?

टिप्पणी—जैसा कि पूर्व श्लोक में कहा गया है कि काम पुष्पबाणों से इन्द्र को अत्यन्त व्यथित करता रहता है, ऐसी स्थिति में प्रसन्न हो सकता है कि इन्द्र तो बसपायी है, वह पुष्पानुष काम को व्यर्थ से मार क्या नहीं चालता, जिससे वह व्यथित करने को रह ही न जाय ? कल्पना है कि इन्द्र



ब्रह्म होकर अपने पर प्रहार कर दिया; देने वाले काम को दञ्ज मार कर स्मृति-  
रूप अक्षय बना देता, पर इन्द्र प्रहार किस पर करे ? काम तो देहरहित है ।  
भगवान् शिव ने उसे भस्म करके नष्ट नहीं किया, अपितु अनग कर सब प्रकार  
के प्रहारों से रक्षित बना दिया । अनगता उसका अभेद्य कवच बन गयी ।  
शिव का शोध तो काम को प्रसाद बन गया । हानि से लाभ मिला । मलिन-  
ताय के अनुसार यहाँ रूपक है, क्योंकि कार्य-कारण में अभेदोपचार है, इस  
प्रकार कारण अनगता और कार्य अभेद्य बर्म ( कवच ) में अभेद है, आरोप है ।  
विद्याधर के अनुसार ऐकानुपास-अतिशयोक्ति-काव्यलिङ्ग उल्लङ्घन है ॥ ६६ ॥

धृताधृतेस्तस्य भवद्वियोगान्नानाद्रक्ष्यारचनाय लूनै ।

अभ्यन्यदारिद्र्यहरा प्रवालैर्जाता दरिद्रास्तरवोऽमराणाम् ॥ ६७ ॥

जीवानु—धृतेति । अभ्येपा दारिद्र्य हरन्तीत्यन्यदारिद्र्यहरा अपि ।  
हरतेरनुधमनोऽव् । जमराणा तरव कल्पद्रुमा भवत्या वियोगात् । सर्वान्मनो  
वृत्तिमान्ने पुदङ्गावो वक्षतव्य । धृताधृतिररतिर्येन तस्येन्द्रस्य नानाविधाना-  
माद्रक्ष्याना सिधिरक्षयनाना रचनाय लूनै प्रवालै दरिद्रा रचना जाता,  
तापस्तु तथापि नापत् इति भाव । सुखदुःखाणा प्रवालदारिद्र्यासम्बन्धेऽपि  
तत्सम्बन्धोक्तेरतिसायोक्तिभेद ॥ ६७ ॥

अन्वय —अन्यदारिद्र्यहरा अपि जमराणा तरव भवद्वियोगात् धृताधृते-  
तस्य नानाद्रक्ष्यारचनाय लूनै प्रवालै दरिद्रा जाता ।

हिन्दी—दूसरों की दरिद्रता दूर कर देने वाले भी देवों के ( कल्प आदि )  
वृक्ष, आप ( दमयन्ती ) के वियोग में घीर्य लगे उस ( इन्द्र ) की अनेक गीली  
शय्याओं की रचना के निमित्त, तोड़ लिये गये नव पल्लवों के कारण दरिद्र  
हो गये हैं ।

टिप्पणी—देवतह कल्पवृक्ष आदि यद्यपि श्रमजनों की दरिद्रता मिटाने के  
लिए विख्यात हैं, परन्तु आजकल वे वृक्ष स्वयं दरिद्र हो गये हैं, क्योंकि इन्द्र  
दमयन्ती के विमोग में इतना दग्ग हो रहा है कि उसका वियोग जय दाह दूर  
करने के लिए अनेक बार अनेक गीले नव पल्लवों की अनेक शय्या रची जाती  
है । बार बार ऐसा होने से देववृक्षों के सब पत्ते तोड़ लिये गये और वे पनहीन  
हो दरिद्र हो गये । दूसरों की दरिद्रता मिटाने वाले स्वयं दरिद्र बन गये,—कैसा

लुचरज है ! ऐसी भयन्तर है इन्द्र की काम व्यथा ! मत्पवृक्षों के सब पत्ते ममाप्त हो गये, पर व्यथा न गयी ! देववृक्षों का प्रवाल दारिद्र्य असबद्ध है, तथापि उसका यही मन्त्रध्वनन है, अतः मन्त्रिनाथ के अनुसार अतिशयोक्ति है । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और विराघ अलङ्कार ॥ ६७ ॥

रत्नगुणास्फालभवे स्मरस्य स्वर्णायकणा बधिरावभूताम् ।

गुरोः शृणोतु स्मरमोहनिद्राप्रबोधदक्षाणि किमक्षराणि ॥६८॥

जीवानु—रत्नैरिति । स्वर्णायस्य स्वर्गनाथस्येन्द्रस्य 'पूवपदात्तज्ञायामग' इति पञ्चम् । कणौ स्मरस्य गुणास्फालभवे उदाघट्टनप्रभवै रत्नै बधिरावभूताम् । एव बाधिते मति गुरोर्बृहस्पते मकाद्यास् स्मरमोह एव निद्रा तस्या प्रबोधे दक्षायक्षराणि विवेकज्ञानोपदेगवाक्यानि शृणोतु शृणुयात् किम् ? न शृणोयवेत्यर्थ । त्वद्विरहमोहायमेव बृहस्पतिरपि बोधयितु न प्रभवतीति भावः ॥ ६८ ॥

अन्वय — स्वर्णायकणौ स्मरस्य गुणास्फालभवे रत्नै बधिरौ अभूताम्, गुरो स्मरमोहनिद्राप्रबोधदक्षाणि अक्षराणि किं शृणोतु ?

हिन्दी—स्वर्णाय (स्वर्ग के स्वामी इन्द्र) के दोनों कान काम द्वारा प्रत्यक्षा सीधे जाने में उत्पन्न शब्दों से बहिरे हो गये हैं, गुरु (बृहस्पति) के काम की मोह निद्रा दूर करने में समथ अक्षरों (शब्दों) को (वह) कैसे सुने ?

टिप्पणी—शका हो सकती है कि इन्द्र के गुरु तो महाज्ञानी बृहस्पति महाराज हैं, उनके उपदेश सुन कर इन्द्र का कामजनित व्यामोह क्या नहीं मिटता ? कल्पना है कि इन्द्र के कान सुनने की शक्ति ही खो बैठे हैं । काम ने अपने धनुष की डोरी इतनी बार प्रहारमें लीची कि उससे उत्पन्न शब्द में काम श्रवणसामर्थ्य खो बैठे और इन्द्र बहिरा हो गया । बहिरा कैसे कुछ सुने ? भाव यह है कि वसयती विरह में इन्द्र इतना काम मोहग्र हो गया है कि वह गुरु बृहस्पति भी उसे नहीं समझा सकते । विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और अतिशयोक्ति अलङ्कार ॥ ६८ ॥

अनन्तनापप्रगमाय तस्य कदर्थ्यमाना मुहुरामुणात्म् ।

मघो मयी नाञ्जनदीनलियो धर वहन्ता गिगिरेऽनुरागम् ॥ ६९ ॥

जीवानु—अनन्तंति नाञ्जना स्वर्णया नलिया मघो मयी वमन्त

वन्ते तस्येन्द्रस्यानङ्गनापश्यन्नाम मुहुरामृतात् नृपाल्ययेनम्, जनिविषाव-  
योमाव । कश्यो कुलिनवस्ति, 'को वनत्सुखेऽचि' इति को वशादेश ।  
न्दर्या त्रिपदायाः कश्येनाना उन्नीहयनाना नर्य इन्दर्ये । तत्करोतीति  
'दन्ताम्कर्मणि लट् शानबादेन । निगिरेऽनुराग वरम् । वग्निति मनाक्  
प्रिये । वहन्ता जगन्ति कापचारता ताम् तत्र पूर्वकितोद्भवमगादिति भाव ।  
वहे स्वरितेन्वादान्मनेन्दम् ॥ ६९ ॥

अन्वयः—नाकनदीनलिन्य यषो मषो नर्य अनङ्गनाग्रयनाय मुह-  
रामृतात् कश्येनाना निगिरे वरम् अनुराग वहन्ताम् ।

हिन्दी—स्वयम्भवी ( मदास्त्रिनी ) को कमजिनियाँ प्रतिशमंत में उस  
( इन्द्र ) के काम-ताप को शांति के निमित्त बार-बार मृगाल तक उखाड़ी  
जाती पीड़ित हो सिधिर ऋतु में कुछ अनुराग रखने लगी है ।

टिप्पणी—जब जब वन्त जाता है, इन्द्र की मदन-व्यथा और बढ़ जाती  
है । उस काम दाह के उपशमायें मदास्त्रिनी में उत्पन्न कमजिनियाँ पुष्पों से  
लेकर मृगालदह तक बार-बार उखाड़ डाली जाती हैं, फल स्वयम्भू अब उन्हें  
वमन की अपेक्षा सिधिर ही भला लगन लगा है । सिधिर में तो वे केवल  
एक पुनर्हीन होती हैं—तुपारहुता होकर, किन्तु वमन में तो उनके मृगाल तक  
उखाड़ डाले जाते हैं । अब वमन से तो थोड़ी हानि पहुँचाने वाला सिधिर  
ही अच्छा । एक पुष्प तो फिर आ जाते हैं, मृगाल तो फिर नहीं उपजता ।  
भाव यह कि वमन में इन्द्र की काम पीडा असह्य हो जाती है । विद्याधर के  
चतुष्टय अतिशयोक्ति और काव्यश्रम बलकार ॥ ६९ ॥

दमन्वन्तु सेवमुपनि तृणा जिष्णोर्जगन्वशिमन्नेह्यन्ममीम् ।

दृशा मदन्विन्नव नाम दृष्टिभिर्मागलोमानिमसो विभति ॥ ७० ॥

जीवानु—इमेति । हे दमस्वन्तु । दमयन्ति । जिष्णा मन्त्रम् 'जिष्णु-  
ल्लेखनेन यक.' दमयन् । मेव तृणा वाया जाति जरे भवनशिमम्, 'अगादि-  
पश्चाद्विभक्त्यं यकन्य' तच्च तल्लेख्य च तस्य लक्ष्मीनप्रवयनानुपति भूत्वं-  
त्वादिति भाव । कुत यदयस्मादुत्सामद्विराकरोमाविन्मन्त्र दृष्टेन्निर्माग-  
स्तृणायाः मन्त्रायाम्ब्रह्म वृत्तिविषये पूरायत्वाङ्गीकारात् । तत्र लोभेन  
दृष्ट्या जातिमात्रं विनोति नाम घने खनु । तदेवशादयन्तस्य कतिक्कलो-

भवच्चित्रीयन इत्यर्थः । तत्त्वज्ञानम् एव स्वर्वादिष्यम्पत्तेः फलमित्यभिमानस्त  
स्येति भावः ॥ ७० ॥

अन्वयः—दमयन्तः, सा इयं जिष्णो तृष्णा जयति अग्रिमत्वेत्यलङ्करीम्  
घपेति यत् दृष्टाम् अच्यि नाम असौ तव दृष्टिर्निनागलोभाति विभक्तिः ।

हिन्दी—हे दम की मणिनि, वह अत्यन्त स्यात् इन्द्र की तृष्णा ससार में  
सर्वप्रथम गणनीय पदार्थ की सोभा को प्राप्त हो रही है कि नेत्रों का समुद्र भी  
वह ( इन्द्र ) तुम्हारी ( दमयन्ती की ) दृष्टि ( नेत्र ) के तीसरे भाग ( कटाक्ष )  
के अमिलाप में उत्पन्न पीडा को धारण कर रहा है ।

टिप्पणी—इस पद्य का भाव तो यही है कि इन्द्र जैसा सामर्थ्यशाली  
दमयन्ती के कटाक्ष विशेष का आकाशी है, तिरछे खज्जन नयन-कटाक्ष में देख  
लेती दमयन्ती उसको । इस भाव को एक विशिष्ट भगिमा के साथ कहा गया  
है । बताया गया है कि दमयन्ती-विषयक इन्द्र की तृष्णा सबसे अधिक उत्तरेत्य  
है । किन्तु विविध है कि जिस इन्द्र के पास सहस्र नेत्र हैं, वह दमयन्ती के  
नेत्र का तीसरा भाग पाने के लिए उत्सुक है । सहस्रधारी की तृतीयाद्य के  
निमित्त इतनी उत्कट आकांक्षा ! है न अद्भुततम । कोट्यधीश की तृष्णा  
वानी कौड़ी के लिए । दमयन्ती का एक कटाक्ष लाभ सहस्र नेत्र धारण करने  
का फल लाभ है इन्द्र का । विद्याधर के अनुसार विषम और अनुप्रास ॥७०॥

अग्न्याहिता नित्यमुपासते या देदीप्यमाना तनुमष्टमूर्ते ।

आशापतिस्त्वं दमयन्ति । सोऽपि स्मरेण दासीमवितु न्यदेशि ॥ ७१ ॥

जीवातु—अथ भगवतोऽग्नेरवकृषा वर्णयति—अग्नीति । अग्न्याहिता  
आहिताग्नयः, 'वाहिताग्न्यादिषु' इति निष्ठायाः परनिपातः । या देदीप्यमाना  
आज्व-यमाना दीप्यमाना दीप्यतेर्षट्-तात्पर्यं लिट् । घानजादेशः । अष्ट-  
मूर्तेरीश्वरस्य तनु नित्यमुपासते, हे दमयन्ति । आशापतिर्दिव्यति सोऽग्निरपि  
स्मरेण कथां तव दासीमवितु न्यदेशि दासो भवेत्यादिष्ट इत्यर्थः ॥ ७१ ॥

अन्वयः—दमयन्ति, अग्न्याहिता या देदीप्यमाना अष्टमूर्ते तनु नित्यम्,  
या अपि आशापति स्मरण ते दासीमवितु न्यदेशि ।

हिन्दी—हे दमयन्ति, अग्निहोत्र में दीक्षित जन ( अग्निहोत्री ) जिस

देशीयमान अष्टभूति ईश्वर ( शिव ) के तनु को नियं उपासना करने हैं, वह भी दिक्पाल ( अग्नि ) कान द्वारा तुम्हारा दास बनने को आदिष्ट है ।

टिप्पणी—श्लोक संख्या ७१ से ७६ तक अग्नि का द्रुतत्व-प्रतिपादन है । अष्टभूति शिव को एक भूति अग्नि है—तेजस्वी भूति । वह इतना पावन है कि समस्त अग्निहोत्री उनकी निरन्तर अराधना किया करते हैं । शिव न कान को मन्य कर दिया था, वे कामजरी हैं । कितनी विचित्र बात है कि उन्हीं की एक भूति अब दमयन्ती के कारण कानाचीन हो गयी है जो उसका आना का पावन करने में तन्पर है । भाव यह है इन्द्र ही नहीं, अन्य दिक्पाल अग्नि भी दमयन्ती पाणिप्रायी हैं ॥ ७१ ॥

त्वद्गोचरम्न क्षन्तु पञ्चबाणः कर्गं विनन्ताप्य तथा विनीतम् ।

स्वयं यथान्वादिनसमूहः परं न सन्तापयिता स मूयः ॥ ७२ ॥

जीवातु—त्वदिति । पञ्चबाणः कामत्त्वद्गोचरत्वात्मेव लक्ष्मीकृत्य इत्यर्थः । तनग्निं सन्ताप्य तथा तेन प्रकारेण विनीतं शिञ्चितं करोति क्षन्तु । यथा तेन प्रकारेण स्वयं स्वादितमनुभूतं तप्तमूयं तत्स्व येन स मनु । 'मूयो भावे' क्यप् । मूयः पुनः परमन्यं सन्तापयिता न सन्तापयिष्यति स्वयमनुभूतदुःखः स्वात्मच्छान्तेन परं तथा न दुःखाकरोतीति भावः ॥ ७२ ॥

अन्वयः—त्वद्गोचरः पञ्चबाणः तं सन्ताप्य तथा विनीतं करोति क्षन्तु यथा स्वयं स्वादितमनुभूतः परं न सन्तापयिता ।

हिन्दो—तुम ( दमयन्ती ) से सबकुछ पाव बाणों वाला ( कान ) उस ( अग्नि ) को सतप्त करके उतना विनयी ( निष्पन्न ) बना रहा है कि स्वयं सप्त होने का अनुभव प्राप्त करके वह अन्य को सशप न देगा ।

टिप्पणी—अग्नि सब को जग देता है । किसी को कितना कष्ट होता है जलने में—यह अग्नि अभी तक नहीं जानता था । अब कान दमयन्ती का आचार बना कर उसे बलविक्रि तप्त दे रहा है । अब उसे जलने की व्यथा का अनुभव हो गया है, अतः पुनः वह किसी को नहीं जलायेगा । भाव वही है कि दमयन्ती के कारण ज्वलनशील अग्नि भी काम-मंत्त हो रहा है ॥ ७२ ॥

अदाहि यन्तेन दशार्धबाणः पुरा पुरारेण्यनाल्येन ।

स निदहस्त भवदक्षिवाप्ती न वैरशुद्धेरक्षुणावन्नर्गः ॥ ७३ ॥

११ नं० अष्ट०

जीवातु—अदाहीति । यो दशानवाण पञ्चेषु पुरा पुरारेनयनालयेन नयनाश्रयेण नेत्राग्निना अदाहि दग्ध स पञ्चपुरधुना नवदक्षिवासी त्वमेव-  
निष्ठ सन तमग्निं निर्देहन् वैरमुद्धेर्वैरनिर्यातनाश्रमर्षं ऋणी न अनुषो-  
भूदित्यय । यो यथा मस्यापकरोति स तस्य तर्पेव प्रतिकृत्य निर्वैरो भवतीति  
भावः ॥ ७३ ॥

अन्वयः—पुरा पुरारे नयनालयेन य दशानवाण अदाहि अधुना नव  
दक्षिवासी स त निर्देहन् वैरमुद्धे अघमर्षं न ।

हिन्दी—पहिले त्रिपुरारि ( शिव ) के नेत्राग्नि द्वारा जो दश के आधे  
( पाँच ) बाण वाला ( पचबाण काम ) दग्ध कर दिया गया था, अब आप  
( दमयन्ती ) के नेत्रों में निवास करने वह ( काम ) उस ( अग्नि ) को दग्ध  
करता हुआ वैर की मुक्ति करके ऋणी नहीं रह गया है ।

टिप्पणी—अग्नि दमयन्ती के वियोग में काम दग्ध हो रहा है—यह अन्य  
महिमा से श्रुत किया गया । शिव की नेत्र ज्वाला ने पूर्व काल में काम को  
जला दिया था । इस प्रकार काम पर अग्नि का वैर अणु बड़ा । इस समय  
दमयन्ती के कटास में बस कर काम अग्नि को दग्ध करता हुआ अपना पुराने  
वैर का प्रतिसोध लेकर अणुमुक्त हो रहा है । नारायण पंडित के अनुसार  
काम अग्नि की अपेक्षा अधिक नम्र सिद्ध हो रहा है । अग्नि ने शिव अर्थात्  
एक पुरुष—महादेव का आश्रय लेकर काम को जलाया था, स्वयं तो वह  
'अकिञ्चित्कर' था, अग्न्याश्रय लेकर ही वह कुछ कर सका । काम ने तो एक  
नारी के ही नेत्र-स्थित होकर अपनी सामर्थ्य क्षीलता सूचित कर दी—'पुरुष  
प्रितस्य बह्वै स्वतोऽकिञ्चित्करत्वम्, अहूनातामपाद्ध्येषु कामो वसतीति  
इत्या त्विय श्रितस्य कामस्य महत्प्रभुत्व सूचिनम् ।' विद्याधर के अनुसार  
व्यापाय अलंकार । मम्मट के अनुसार—'यद्यथा साक्षित केनाध्यवरेण  
तदग्न्या । तर्पेव यद्विधीयेत स व्यापाय इति स्मृतः ॥' ( वाध्यप्रकाश, १०।  
१३८ ) । उपेक्षवञ्जा वृत्त ॥ ७३ ॥

सोमाय कृप्यान्नद विप्रयुक्तं न सोममाचामनि हृयधानम् ।

नामापि जागर्ति हि यत्र ज्ञातोस्तजस्विनस्त वनमे महन्ते ॥ ७४ ॥

जीवानु—सोमायेति । विप्रयुक्तस्तजस्विनस्तजोऽग्नि सोमाय चन्द्राय

कुन्निव विजगन्निवेत्यर्थः । 'ब्रुधदृष्ट' इत्यादिना सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी ।  
 दृष्टवान् यने दीयमान सोम सोनरनमाचामनि पिबति । तथा हि यत्र पुष्टे  
 दन्तानामानि जायन्ति प्रकाशने त शशुनामवारिष तेजस्विन परावमाना-  
 न्हित्वा, 'अप्रिक्षेपाद्यमहन तेज प्राणात्ययेष्वनि' इति लक्षणात् । कतमे  
 महन्ते न केजोत्थं । तेजस्विना दन्तनामाप्यमह्यमिति भावः । सामान्येन  
 विशेषमर्थं न रूपाद्यान्तरन्यास ॥ ७४ ॥

अन्वय—विप्रयुक्त न सोमोऽयं कुप्यन् इव दृष्टवान् मामम् आचामति,  
 हि यत्र दन्ता नाम जनि जायन्ति त कतमे तेजस्विन महन्ते ?

हिन्दी—बिरही वह ( जग्मि ) चद्र पर कोप करता हुआ मामो आहुति  
 ने दिन गये सोम ( चद्र ) के रक्त का जाचमन किया करता है, कारण कि  
 जिसमे दन्त नाम भी प्रकट होता है, उसे कौन तेजस्वी जन महन्ते हैं ?  
 ( कोई नहीं सहने ) ।

टिप्पणी—बिरही को चद्रमा व्यथादायी होता है । अग्नि दमपन्ती विपोगी  
 है, चद्र इसलिए उसे पीटिन करनेवाला प्रतीत होता है, वह उसका दन्त  
 हुआ । चद्र को सोम भी कहा जाता है । अग्निहोत्र में सोमल्ला का रस भी  
 यजमान द्वारा आहुति में दिया जाता है । इस पर कल्पना है कि सोमरस में  
 'सोम'-दन्त चद्र का एक नाम पाकर वैर के कारण अग्नि उसका नश्व  
 ( पात ) किया करता है । कोई तेजस्वी व्यक्ति दन्त नाम को नहीं सहता—  
 यह जगत् रीति है । भाव यह कि चद्र अग्नि को व्यथा देता है । मल्लिनाथ  
 के अनुसार मामाम द्वारा विशेषमर्थं न रूपाद्यान्तरन्यास श्लकार है,  
 विद्याधर के अनुसार अर्धांतरन्यास उपेक्षा इत्ये श्लकार ॥ ७४ ॥

गरेरजस्र कुमुमायुस्य कदर्थ्यमानस्तव कारणाय ।

जम्बर्चन्द्रिमात्रिवेप्रमानादप्येष मन्ये कुमुमाद्विभेति ॥ ७५ ॥

जानानु—गरेरिति । हे तदग्नि ! तव कारणाय त्वदर्थं त्वन्वृते, तादर्थ्ये  
 चतुर्थी । कुमुमायुस्य गरे कुमुमवानेरजस्र कदर्थ्यमान पीड्यमान  
 एषोऽग्नि जम्बर्चन्द्रिमात्रिवेप्रमानान्नमप्यमाणादपि कुमुमाद्  
 विभेति मयं । उपेक्षा ॥ ७५ ॥

अन्वय—तव कारणाय ( पाताउर-तदग्नि, त्वदर्थं ) कुमुमायुस्य गरे-

अजस्र वदन्त्यमान एष, मग्ये अभ्यर्चयद्भि विनिवेद्यमानात् अपि कुसुमाद्य-  
बिभेति ।

हिन्दी—( हे यौवनवती ) तेरे कारण पुष्पायुष ( काम ) के बाणों द्वारा  
निरन्तर पीड़ित होता यह ( अग्नि ), लगता है कि अर्चना करने वालों द्वारा  
निवेदित किये गये ( चढ़ाये ) भी फूल से डरता है ।

टिप्पणी—अग्नि दमयन्ती के कारण काम के कुसुमधरों से इतना पीड़ित  
है कि पूजन करते समय आराधक जो पूजा का फूल अग्नि पर चढ़ाता है, वह  
उससे भी डरता है । फूल मात्र को कुसुमधर समझ कर अग्नि को भय लगने  
लगता है । मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ।

स्मरेन्धने वक्षसि तेन दत्ता सवतिका शैवलवल्गिचित्रा ।

शकास्ति चेतोभवपावकस्य धूमाविला कीलपरम्परेव ॥ ७६ ॥

जोवातु—स्मरेन्धन इति । तेनाग्निना स्मरेन्धने कामाग्निदाहो वक्षसि  
दत्ता तापशान्तये न्यस्ता शैवलवल्गिचित्रा कर्बुरा सवतिका नवदलम् ।  
'सवतिका, नवदल बीजकोशो मुराटव' इत्यमरः । चेतोभवपावकस्य कामा-  
ग्नेर्धूमाविला कीलपरम्परा ज्वालावलिरेव शकास्ति दीप्यते । 'वह्नेर्द्वयो-  
र्ज्वालकीली' इत्यमरः ॥ ७६ ॥

अन्वय—तेन स्मरेन्धने वक्षसि दत्ता शैवलवल्गिचित्रा सवतिका चेतोभव-  
पावकस्य धूमाविला कीलपरम्परा इव शकास्ति ।

हिन्दी—उस ( अग्नि ) द्वारा काम के ईषन ( काम द्वारा दाह ) स्वयं  
पर शैवाल लता से चितकबरी ( आश्चर्यदायक भी ) नवकमलपत्रिका मनोभव  
( काम ) के अग्नि की धुएँ से भरी ज्वालावलि जैसी घोषित होती है ।

टिप्पणी—भाव यही है कि अग्नि ने हृदय में निरन्तर काम-दाह होता  
रहता है । काम उसको जला रहा है, जब अग्नि का वक्ष हुआ कामाग्नि  
में जलनेवाला इषन, जलते वक्ष पर उपघम के लिए उसने शैवाल-वल्गरी  
से युक्त चितकबरी, विचित्र लगती नव कमल की पत्ती रखी । गीली पत्ती  
जलकर धुँधुआने लगी । ऐसी प्रतीति हुई कि यह पिगलवर्णा, धूमाग्निना  
कमलावलि मन में प्रज्वलित कामाग्नि की धूमाविता ज्वालमाल है । विद्या-  
धर के अनुसार यहाँ छेकानुप्रास और उत्प्रेक्षा बलवार हैं ॥ ७६ ॥



पुत्रा मुहुर्द्येन सरोरुहाणा यत्प्रेमयो चन्दनवासिना दिक् ।

धैर्यं विभु साज्जिप तवैव हेतोः स्मरप्रतापज्वलने जुहाव ॥ ७७ ॥

जीवातु—अथ यमस्य विरहावस्था वर्णयति—पुत्रीति । येन सरोरुहाणा मुहुत्सूय पुत्री पुत्रवान् एतेनाभिन्न उक्त । चन्दनैर्मन्त्र्यव द्रुमैर्वामिता सुरमिता दिक् दक्षिणा यत्प्रेमयो यन्म प्रियतया एतेन भोगमभ्यर्त्तिरस्ता । स दिभूर्वैषस्वतोऽपि तवैव हेतोस्त्वग्निनितादेव । 'यष्टी हेतुप्रयोगे' इति पृथी । धैर्यं स्मरस्य प्रतापज्वलने प्रतापान्नी जुहाव । परवसा वर्जत इत्यर्थः ॥ ७७ ॥

अन्वय—येन सरोरुहाणा मुहुत् पुत्री चन्दनवासिना दिक् यत्प्रेमयो स विभु भवि तव एव हेता धैर्यं स्मरप्रतापज्वलने जुहाव ।

हिन्दी—जिसके कारण कमलों का मित्र ( सूर्य ) पुत्रवान् है और चन्दन से सुवासित दिशा ( दक्षिणादिक् ) जिसकी प्रिया है, उस नामधेयशाली (यम) ने भी तारे ( दमयन्ती क ) ही कारण से धैर्य की काम के प्रतापानि में आहुति दे डाली है ।

टिप्पणी - ७८-७९ श्लोकों में यम की विरहदशा का विवरण कर उसका दूतत्व सनादन है । सब के प्राणों का स्वामी, सूर्यपुत्र यम भी दमयन्ती के निमित्त कामाग्नि में जग रहा है, न तो पिता सूर्य की अपार जलज सपदा सस्रका उपशम कर पानी है, न प्रिया दक्षिण दिशा की चकूच चन्दन-राशि । न कमलों की कमी है, न चन्दन लैप की, पर विदोषाग्नि की दाहकता इतनी प्रबल है कि यम की पीडा का पार नहीं । यम का धैर्य जैसे उस आग में जल गया है । कामवीडित यम में जब धीरज नहीं रह गया है कि वह दमयन्ती-विरह सह सके ॥ ७७ ॥

न दह्यमानैरपि मग्मयैष हन्तेस्पान्ते मल्लः प्रवालैः ।

वृच्छेऽप्यमो नोज्जति तस्य सेवा मदायदाशामवलम्बनेयः ॥ ७८ ॥

जीवातु—वर्णित । मल्लो मल्लान्नि मग्मयैष कामाग्नीभवनम् । 'काष्ठ दाविन्धनन्वेय' इत्यमरः । य यम दह्यमानैस्तदङ्गसङ्गात्पञ्चबाहिरपि प्रवालैः पल्लवैरेव हन्तेस्पान्ते तस्य शीतोपचारमाचरतीति भावः । युक्तञ्चेत् दिवाह—यो जन सदा यस्याद्या देशम् अनुरागञ्चावरम्बने । असी जन वृच्छे आपद्यपि तस्य सेवा नोज्जति न त्यजति । यो यदुपजीवी तस्य तत्सेवा विपत्तेश्चि कर्तुमुचितेष्टम् । कर्णालरक्षा ॥ ७८ ॥

अन्वय — मलय मन्मथैव च दह्यमानं, अपि प्रजालं हस्ते उपास्ते, य सदा यदाशाम् अवलम्बते, असौ कृच्छ्रे अपि तस्य सेवां न उज्जति ।

हिन्दी—मलयाचल काम के ईश्वर ( काम से जलते ) उस ( यम ) की जलते हुए भी प्रवाल ( पल्लव )-करा से सेवा करता है । जो सदा जिसकी आशा करता है ( जिस आशा अर्थात् दक्षिणादिक् में आश्रित है ), वह सदा में भी उस ( आश्रयदाता, भरोसे वाले ) की सेवा नहीं छोड़ता ।

टिप्पणी—यम प्रचंड कामाग्नि में जल रहा है । मलयाचल अपने पल्लव करों से उनके झुकसने की चिंता न करके भी यम की सुधूपा करता है, इसका लोकसमत कारण यह लगता है कि मलयाचल है दक्षिण में, उसी का स्वामी है यम । दक्षिण दिशा का आश्रित होने के कारण मलय का यह कल्प है कि वह अपने आश्रयदाता की विपदा में काम आवे । सा मलय बेचारा अपने हाथों को झुलसाता भी यम की प्रचंड कामाग्नि के उपशमन में लगान है । मल्लिनाथ के अनुसार अर्थात्तरन्यास, विद्याधर ने एक और इलेपादिह अर्थात्तरन्यास का निर्देश किया है । आशा के दो अर्थ हैं—( १ ) भरोसा, ( २ ) दक्षिणा दिक् ॥ ७८ ॥

स्मरस्य कीर्त्यैव सितीकृतानि तद्दो प्रतापैरिव तापितानि ।

अङ्गानि घत्तं स भवद्वियोगान् पाण्डूनि चण्डज्वरजर्जराणि ॥ ७९ ॥

जीवातु—स्मरस्येति । स यमो भवद्वियोगात्पाण्डूनि चण्डेन तीक्ष्ण ज्वरेण जर्जराणि अत एव क्रमात् स्मरस्य कीर्त्या सितीकृतानि भवलीकृतानीव तस्य स्मरस्य दो प्रतापैस्तापितानीव स्थितानीत्युभयत्राप्युत्प्रेक्षा । अङ्गानि घत्तं । अत्र यथासङ्ख्योत्प्रेक्षयोः सङ्कट ॥ ७९ ॥

अन्वय—स भवद्वियोगात् पाण्डूनि चण्डज्वरज्वराणि स्मरस्य कीर्त्या सितीकृतानि इव तद्दो प्रतापैः तापितानि इव अङ्गानि घत्तं ।

हिन्दी—वह ( यम ) आप ( दमयन्ती ) के वियोग से पाण्डुर, प्रचंड ( काम ) ज्वर से जर्जरीभूत, ( अतएव ) काम के यश से सुध्र हुए जैसे, उसे ( काम ) के भुज प्रताप से उस जैसे अंगों की धारण कर रहा है ।

टिप्पणी—यम दमयन्ती के वियोग में अत्यन्त पीड़ित है । उसके अंग पाण्डुर पड़ गये हैं कामाग्नि में जल रहे हैं । कल्पना है कि कामज्वर में

जल्ने वियोग में पाड़ुर यम के अंग देख कर लगता है कि काम ने अपने मुज प्रताप में यम का पराभूत कर दिया है और उसके यश की इवेतिमा हो जैसे यम के जगो पर छा गया है। हाग व्यक्ति भीतर ही भीतर अपमान से जाला रहता है और चिन्ता से उनके रंग पाड़ुर हो जाते हैं। यम के अंग स्मरकीति ने ही तीव्रत हैं और नूज प्रताप में सञ्जापित है—यं दो उ-प्रेक्षाएँ यथासम्भ हैं, अतः मन्त्रिनाथ के अनुमान यथामुख्य और उपेक्षाद्वय का सत्कर है। विद्यापत ने उपेक्षा का निर्देश किया है ॥ ७१ ॥

यन्तन्वि । भर्ता घुमृणेन साय दिशः समालम्भनकौतुकिन्या ।

तदा स चेन प्रजिघाय तुम्य यदा गतो नैनि निवृत्त्य पान्य ॥८०॥

जीवातु—अथ वरुणस्य विरह वर्णयति—य इत्यादि । हे तन्वि । इत्यादि । यो देव साय घुमृणेन कुङ्कुमेन समालम्भने अनुलेपने कौतुकिन्या कुतूहलवत्या आतपादभ्यात् कुङ्कुमल्लिखद्भासमानाया इत्यर्थ । दिशः प्रतीक्षा भर्ता प्रातः प्राच्या अपि तथावात्तद्व्यावृत्त्यर्थं स्वयं ग्रहणम् । स वरुण तदा तस्मिन् काले तुम्यन्वेन प्रजिघाय प्रहिनवान् । 'हे स्वर्दि' इति कुत्वम् । यदा तस्मिन् काले गत प्रयात् नित्य पन्थान गच्छतीति पान्यां निवृत्त्य नैनि नायाति अपुनरावृत्तिर्निर्झानुन चिरात्स्वात्स्यो प्रहितवानि तमुपेक्षा । 'नन्दति न निवर्तन्ते चिरात्स्वात्स्योपेक्षा नर' इति वचनात् । अत एवात्र कवे पायपादप्रयोग 'पयो न निरयम्' इति नित्याध्वगनने पदिन् शब्दात् पश्यमपान्यादेशयोर्विज्ञानात् । अत एव 'नित्यग्रहण प्रत्ययाथं विशेषणम्' इति काशिकायाम् । तन्वित्त त्वम्येव सानन्द विरहति न निवर्तन् इति तात्पर्यम् ॥ ८० ॥

अवन्त्र—तन्वि, त साय घुमृणेन समालम्भनकौतुकिन्या, दिशः भर्ता स गता तुम्य चेन प्रजिघाय यदा गतो पान्य निवृत्त्य न एति ।

हिन्दी—हे इत्यादि, जो सध्याकाळ में कुङ्कुम से अंगराग लगाने वाली दिशा ( प्रतीची दिक् ) का म्यामी है, उस ( वरुण ) ने उस समय तुम्हारे प्रति चिन्नेज दिया है, जिस समय गया पथिक लौटकर नहीं आता ।

टिप्पणी—श्लोक स ८०—८२ तक वरुण का दूतत्व संपादन किया जाता है । इस श्लोक में वरुण का रूप है कि वरुण उस पश्चिमदिशा का स्वामी है,

जो पति सध्या को ( छिपने सूयं की गंगी से लाल हो ) अपने शरीर पर वृकुम का धमराग-लेपन कर, शृंगार कर, अपने स्वामी के प्रति स्वानुराग प्रकट करती है, परन्तु ऐसा वरुण भी उस घड़ी अपना मन दमयन्ती को दे बैठा है, जिस घड़ी में परदेस गया पथिक लौट कर नहीं जाता । चित्रः और स्वाति नक्षत्रों में गया पथिक लौटता नहीं, ऐसा मान्यता है । सो वरुण को देखकर ऐसी प्रतीति होती है कि उसने भी ऐसी ही घड़ी में दमयन्ती को मन दिया है कि वह गया मन लौट नहीं रहा, अर्थात् वरुण दमयन्ती के प्रति आसक्ति हो, अपनी आसक्ति को हटा नहीं पाता । दमयन्ती को दिया गया वरुण का चित्त अब दमयन्ती पर पूर्ण अनुरक्त है, वही सानन्द विहार करता है, लौटता नहीं । विद्यापर के अनुसार ओज गुण ॥ ८४ ॥

तथा न तापाय पयोनिधीनामश्वामुखोत्थ क्षुधिन शिखावान् ।

निज पति सप्रति वारिपोऽपि यथा हृदिस्थ स्मरतापदु स्य ॥८१॥

जीवात्—तथेति । तथा क्षुधितं बुभुक्षितं । 'वसतिक्षुयो' इति तिग्रा-  
मामिडागमः । अश्वामुखोत्थ शिखावान् बह्वग्नि पयोनिधीना तापाय न  
भवति यथासौ स्मरदाहेन दुःख तिष्ठतीति दुःस्थोऽस्वस्थो निज पतिवशग  
हृदि तिष्ठतीति हृदिस्थ स्मर्यमाण एव वारीणि पातीति वारिपो वारि  
रक्षकोऽपि सन् तापाय भवति तथा साक्षात्क्षुक्षिस्थोऽपि बह्वग्निर्न तापय-  
तीत्यर्थः । ईक्ष्तापासम्बन्धेऽपि, सम्बन्धोक्तैरतिशयोक्तिभेदः ॥ ८१ ॥

अन्वयः—यथा स्मरतापदु स्य वारिप अपि हृदिस्थ निज पति पयो-  
निधीना तापाय तथा क्षुधित अश्वामुखोत्थ शिखावान् न ।

हिन्दी—जैसा काम ताप से अस्वस्थ जलो का रक्षक ( स्वामी ) भी  
हृदयस्थित ( मध्य में विराजमान, स्मरणीय ) इन्दीय स्वामी ( वरुण ) जलो  
के आगारों ( समुद्रों ) को सतप्त कर रहा है, वैसा भूला बह्वग्नि से उत्पन्न  
शिखी ( यहवानल ) नहीं करता ।

टिप्पणी—दमयन्ती के वियोग में वरुण का काम-सनाप इतना बढ़ गया  
कि उसके समुख बह्वग्नि भी कुछ नहीं । यद्यपि वरुण 'वारिप' अर्थात्  
जलो का स्वामी है, उसे तापोपशम के लिए जल की क्षया करी, तपारि ताप  
क्षना कि समुद्र—जलनिधि भी उसमें उतने उतस रहते हैं, जितने कि

मध्य में बसने बड़वानल में भी उत्पन्न नहीं हो पाते । दहल के अश्वत्थ रहने में उसके रश्मि समुद्र भी मत्त हैं । श्वामी—रश्मि के अश्वत्थ से रश्मिों को व्याप दहती ही है । 'हृदिस्थ' और 'वारिष' बरुण और 'शिखावात' दोनों के विन्यास हैं । 'हृदिस्थ' अर्थात् हृदय में विराजित स्वामी बरुण तथा 'हृदिस्थ' अर्थात् मध्य में रहना बड़वानल । बरुण 'वारिष गभीरिणि' है, अर्थात् जम्बुद्वीप । बड़वानल 'वारिष पित्रनीति वारिष' है—जल का भावनेवाला अन्तः । बरुण और बड़वानल दाया में विशेषतः समान हैं—वारिष और हृदिस्थ दोनों हैं, अर्थात् बरुण 'हामतापदुःस्थ' होने से अधिक तापदायक ३ । बड़वानल स्मरतापदुःस्थ नहीं है । इसी कारण बरुण बड़वानल में अधिक तापदायक बन गया ४ । उतना बड़ा है बरुण का सन्तान कि समुद्र भी डमस्त बन रहे हैं । वारिरक्षक होने भी बरुण उनका ताप दे रहा है, जिसका वारि पीने वाला बड़वानल नहीं । रश्मि मत्त से ब्रत गया है । इस प्रकार के ताप में जलबद्ध रहने पर भी मत्त कथन के कारण मन्त्रिनाथ के अन्तर्गत उन्मिश्रित अलंकार ॥ ८१ ॥

यन्मदुन स्वम्भृशह्दस्त्रीम्मनिन्नज गुम्फति दुविनीना ।

ननो विधनेऽपि मेव ताप तं श्रिता शैत्यगुणा नृजाली ॥ ८२ ॥

जीनानु-यदिनि । तेन बलोन विना सन्तापना नये सेविता धैर्यमेव  
मुनो यस्या सा नैनमुगा गीतं स्वनावेदय । तत्रापि दुर्बिनीना प्रति-  
हन्वाग्नि मृगागी वा मृगात् । जय-विविक्षाया श्रीतिहृता 'श्री-  
म्याताविमृगा'दिविक्षावचन यदि' इत्यमर । 'त्रातेरश्रीविषमादयोप-  
पात्' इति टीप् । यद्यस्यात्तत्र मृदुवाह रम्याविव तयो स्मृतीना शत्र नाग  
मुनति रक्षति अजस्र स्मारयतीत्यर्थं तदस्वद्व्याहृत्स्मारकवादेनो प्रपुन  
वैदरीत्येन । प्रपुनै मुनैर्वगोष्य इति यत्नाभ्यासानम् । अयिक्त तयमेव  
दियमे विद्यमते एतेनाय्य जगवस्याम्ना । जय मृगाया कविपद्मत्र-  
माधनादवापुवन्मोस्मारकवादेनो स्मरणाद्धार । ननु शीघ्रेण तस्यास्याप-  
द्यानिहृदोन्मिषीतताकर्मोन्मिषयनादिदृढकर्मोन्मिषयतो विषमाज-  
कुरभेद इत्यनयोर्द्वादिनामेन सहृद ॥ ८३ ॥

अदय—तैलमुपा तेन शिख मृणाली यत् त्वन्मृदुबाहुवल्लीस्मृतिस्तद  
गुम्फति ततः प्रत्युत अधिकम् एव ताप विधत्ते ( अतएव ) दुर्विनीता ।

हिन्दी—शीतलता जिनका गुण ( नित्यधम ) है, उस ( वरुण ) के द्वारा  
( तापोरक्षम के निमित्त ) धारण की गयी बाल मृणाली, क्यों कि तेरी शीतल  
भुजलताओ की स्मरणमाला भूषती है ( सादृश्य के कारण भुजाली का स्मरण  
दिलाती है ) उस कारण, अपने गुण के विपरीत अधिक ही सम्पाद दिया करती  
है । सो वह मृणाली दुष्ट है ।

टिप्पणी—कामोपशांति के निमित्त वरुण शीतगुणा मृणाली का प्रयोग  
करता है, परन्तु मृणाललता देखकर सह्यता के कारण उसे दमयन्ती की  
बालमृणाली समान बाहो का स्मरण हो जाता है और उसका सम्पाद घट  
हीने के स्थान पर और बढ़ जाता है । इस प्रकार मृणाली का गुण दोष बन  
जाता है और वह गुणवती के स्थान पर सदोषा प्रमाणित होती है । तात्पर्य  
यह कि वरुण का कामोपशाप अब घननयोग्य भी नहीं रह गया है । ऐसा  
बढ़ गया है उसका कामज्वर । कविसमस्त सादृश्य के कारण मृणाली की  
बाहुवल्ली का स्मरण कराने वाली कहा गया, अतः स्मरणालंकार है । मृणाली  
साप-शांति का हेतु है, किन्तु उससे ताप और बढ़ रहा है, सो विरुद्ध कार्य  
की उत्पत्ति हो रही है । इस कथन के कारण विस्मयार्थोपपत्ति रूप विषमा-  
लंकार का भेद हुआ । इस प्रकार मस्तिनाथ के अनुसार स्मरण और विषम  
का अगागिमाव सकर है, विद्याधर ने भी छेकानुप्रास के साथ ही, स्मरण और  
विरोध का निर्देश किया है ॥ ८२ ॥

न्यस्तं ततस्तेन मृणालदण्डखण्डं बभासे हृदि नापभाजि ।

तच्चित्तमग्नैर्मदनस्य बाणै कृतं शतच्छिद्रमिष क्षणेन । ८३ ॥

जीवानु—न्यस्तमिति । ततस्तदनन्तरमपि तेन वरुणेन तापभाजि हृदये  
न्यस्त मृणालदण्डस्य विसकाण्डस्य खण्डं शकल तस्य वरुणस्य चित्ते मार्ग-  
मदनस्य बाणै क्षणेन घन छिद्राणि यस्य तत्तथा कृतमिव प्रतिकूलाचरण-  
रोषाच्छतभा प्रणीतमिव बभासे । उत्प्रेक्षा ॥ ८३ ॥

अन्वय—नत तेन तापभाजि हृदि न्यस्त मृणालदण्डखण्डं तच्चित्तमग्नै  
मदनस्य बाणै क्षणेन शतच्छिद्रं कृतम् इव बभासे ।

हिन्दी—दृष्ट एन ( वरुण ) के द्वारा सताप पाते ( सृष्ट ) हृदय पर रखा मृगत-दण्ड का खड्ग उठा ( वरुण ) के चित्त में घड़े काम के दागों में उस क्षण मनु एन छिद्रों में दूक्त बैठा गोमित्र हुआ ।

टिप्पणी—काम के दागों में वरुण का हृदय अजंर हो रहा है । वरुण के सत्त्व हृदय पर रत्ने मृगतदण्ड में अक्षित अनेक छिद्र ऐसे प्रनीत होते हैं, जैसे कामवालों के प्रविष्ट होने से हृदय में बने छिद्र । मृगाणी ने उपरम देने के स्थान पर और ताप देकर प्रतिकूल पावस्य हुआ, दहस्वरुण उसमें सँकड़ा छिद्र कर दिसे गये । उच्छ्वासा ॥ ८३ ॥

इति त्रिलोकीनिलकेषु तेषु मनोमुबो विक्रमकामचारः ।

अमोघमन्त्र भवतीमवाप्य मदान्धतानर्गलचापस्त्य ॥ ८४ ॥

औवानु—इतीति । हे नैमि ! भवतीमैवामोघमन्त्रमवाप्य मदान्धतया अनर्गलचापस्त्य उच्छृङ्खलकेष्टिस्त्य मनोमुब कामस्त्य त्रिलोकीनिलकेषु त्रिमुवनमूपोषु तेष्विन्द्रादिषु विपने इतीय विक्रमस्य कामचार स्वाच्छन्द-वृत्तिर्वर्तते इति शेषः ॥ ८४ ॥

अन्वय—इति भवतांम् अमोघम् अस्त्रम् अवाप्य मदान्धतानर्गलचापस्त्य मनोमुब तेषु त्रिलोकीनिलकेषु कामचारः ।

हिन्दी—इस प्रकार आप ( दमयन्ती ) को अग्न्यं अस्त्ररूप में प्राप्त करने के अभिप्राय से अब होने के कारण उच्छृङ्खल अवाप्य कारण करते मनोज ( काम ) का एन ( इन्द्रादि ) तीनों लोकों के तिनक-स्वरूप देवों के प्रति पराक्रम का स्वेच्छाचार चला रहा है ।

टिप्पणी—चारों दलों के दुतकार्य-संपादन का समाहार करते हुए नल ने यह बताया कि दमयन्ती के रूप में कामदेव को अब ऐसा अमोघ अस्त्र मिल गया है कि अब वह बड़े बड़े त्रिलोकी के शूर्यार इन्द्र, यम, अग्नि, वरुण जैसे दिव्यनायकों की भी अवमानना कर रहा है । काम अब मदान्ध, उच्छृङ्खल-निमर्षाद और स्वेच्छाचारी हो गया है । अब वह दुर्विषय हो गया है । अन्वय यह कि दमयन्ती का क्लेश सौन्दर्यं जात-विमोहन है । नारायण के अनुसार काम दमयन्ती को अस्त्ररूप में पाकर मतवाले, मदान्ध गज के सदृश सबको घुसत कर रहा है—'मदान्धतेन्यनेन कामस्य द्विरदत्तं नृचितम् ।' विद्याधर के अनुसार ऐशानुप्रास और श्लेष अलंकार हैं ॥ ८४ ॥

माणेऽप्य घारेव मुधारमस्य स्वयवर इवो भविता भवेति ।

मन्त्रपयन्ती दमयन्ति । तेषां श्रुतिः श्रुती नाक्जुषामपामीत् ॥ ८५ ॥

जीवानु—सार इति । अध्यानन्तरमप्ये हे दमयन्ति । तत्र स्वयवर श्च परेऽर्हन्ति भविता भविष्यन्तीति श्रुतिर्वाता । 'श्रुति श्रोत्रेऽप्ययाम्नावे वागीणां श्रोत्रकमणि' इति विश्व । सुचारमस्य सार सारभूता घोरेव सन्त्रपयन्ती नामजुषामिन्द्रादीनां श्रुती श्रोत्र अयामीत् प्राप । 'मारोत्ते'ति पाठे सारप्रमत्तेत्यर्थः ॥ ८५ ॥

अन्वयः—अथ दमयन्ति, तत्र स्वयवर श्च भविता—इति श्रुति मुषा यमस्य सार घारा इव सन्त्रपयन्ती नाक्जुषा श्रुती अयामीत् ।

हिंसी—अत्र हे दमयन्ति, तुम्हारा स्वयवर कत्र होने वाला है—यह समाचार पीपूरस की मारमूत घारा के तुम्हें मलीनांति नृप करती स्वर्ण-वामिका के कानों में पहुँची है ।

टिप्पणी—दमयन्ती का स्वयवर जीत लिया, यह समाचार जब से कद्रादि ने सुना है, सबे प्रमत्त हैं,—इतने कि मित्रन पीपूरसमघारापान से सन्तुष्ट होते । "उन्हें लग रहा है कि जब उनके विद्योग की भविता समाप्त होगी ॥ ८५ ॥

मम सप्तनोभक्दुःखनांश्चैव स्वदाग्नामापयिर्मेमहदिभ ।

अनङ्गगीयान्नानादुःखैरथ प्रतप्त्ये हृदिता मरुदिभः ॥ ८६ ॥

जीवानु—सममिति । मम स्वयवरवार्ताधवगानन्तरमनङ्गस्य दौर्घ्यात्तल्लेन प्रचाराग्निना यस्तापस्तेन दुःखैरथ स्वस्वैर्हृदिता दिग्वा सम्बन्धिनिर्मरुद्भिर्दे-  
वैरिन्द्रादिभिः स्वस्वामिभावसंबन्धे पट्टीसमाप्त । समान पतिपंस्या सा सप्तनी । 'नित्य सप्तयादिषु' इति छोप् नकारश्च । तद्भवेन दुःखेन सौदाम्यैर्हृदि स्वदाराणां नाशानु पयान गच्छन्तीति पयिर्वा पार्थयैर्हृदि मम वायुनि सह 'मदो पवनामरो' इत्यमरः । प्रतप्त्ये प्रसित्ये भावे णिच् । अन्वादिभि-  
रिन्द्रादिभिरागामिषापत्त्यदुःखादीर्घमुपाश्व निश्चिन्तितमित्यर्थः । अत्र पवनामरप्रस्थानयोः कार्यकारणभावात्तदङ्गत्वात्विशेषोक्त्युपायिन सहो-  
क्तापलकारः । 'सहार्थेनान्वयो यत्र भवेदतिप्रयोजितः । कश्चित्तोपम्यर्थेता-  
सा सहोक्तिरिहोच्यते ॥' इति लक्षणात् ॥ ८६ ॥



अन्वयः—अथ अनङ्गसोमनिलतापदु स्यं हृग्नि मरुद्भिः सपत्नीभव-  
दु सतीशं स्वदानासायिकं मरुद्भिः सम प्रतन्वे ।

हिन्दी—तत्पश्चात् । स्वयंवर समाचा-अवगानतर ) कामदेव के प्रता-  
पान्निसत्ताप से अस्वस्थ दिशाओं के स्वामियों ( इन्द्रादि दिक्पालों ) ने  
सपत्नीहंतुक ( मोड़ के कारण उत्पन्न ) दुःख से तीक्ष्ण ( अत्यन्त उष्ण )  
अपनी पत्नियों की नासिका के पथिक वायु ( श्वास-अग्नि ) के साथ  
प्रस्थान किया ।

टिप्पणी—काम के वशीभूत, कामपीडित इन्द्रादि दिक्पाल दमयन्ती के  
स्वयंवर का समाचार सुनकर स्वयंवर में सम्मिलित होने चले पड़े । उनकी  
पत्नियों ने उनके इस कार्य को देखकर दुःखमय उच्छ्वास लिया, क्योंकि  
उन्हें लगा कि दमयन्ती के रूप में उनकी एक और सौत आ जायेगी । सौत के  
कारण जिनों की पीडा होती ही है । दिक्पालों ने अपने दारमहल के बह  
पर कोई ध्यान नहीं दिया और दुःख के कारण उष्ण उच्छ्वास छोड़नी अपनी  
पत्नियों की ओर ध्यान न देकर वे उसी प्रकार प्रस्थान कर पड़े, जैसे पथिक  
को यात्रा पर जाने देख अन्य पथिक भी चले उठता है । इस देवदाराओं की  
नासिका के पथिक उच्छ्वास चले, उन्पर दिक्पाल देवगण चले पड़े । नारायण  
की टिप्पणी के अनुसार मात्रासमय में देवदाराओं के नासिका सब उष्ण वायु  
अद्यतन मृषक हुए—'अग्निवायुभिः साधमित्यनेनाद्यतन मृचितम् ।' पवन  
और देव प्रस्थान में कार्यकारण भाव होने में मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक  
में अतिशयोक्त्युत्पन्न सहोक्ति अलङ्कार है, विद्याधर के अनुसार अनुप्रास  
और सहोक्ति । उपेन्द्रव्यास छन्द ॥ ८६ ॥

अपाम्तपाथेयमुधोपयोगेस्त्वन्बुम्बिनेव स्वमनोरयेन ।

क्षुप्तश्च निर्वापयता तृपश्च स्वादीयमाध्वागमित-सुप्त ते ॥ ८७ ॥

जीवातु—अपास्तेति । पयि साधु पाथेयम् । 'पाथेय सबल स्मृतम्' इति  
यादव । 'पथ्यतिषिवसतिम्बपतेर्दृ' । तन्वामी सुधा च तस्या उपसायो-  
प्लास्ता र्थरिन्द्रादिभिः क्षुप्तं तृपश्च स्वादीयमाध्वागमित-सुप्त ते ।  
स्वादीयता अमृतादपि स्वादुतरेण त्वन्बुम्बिना भवद्गोचरेण स्वय मनोरये-

जैवाणां सुखं गमितो नील, समूतमप्युत्सृज्य त्वद्ध्यानमात्रमन्दरा प्राप्ता  
दम्पते ॥ ८७ ॥

अन्वय — अपास्तवादेः सुधापयोर्गौ तौ शुष नृष च निर्वासयता स्वादीयता  
श्चक्षुस्त्रिणा स्वमनोरथेन एव बध्ना सुखं गमित ।

हिन्दी—पाथेय ( माँ का भोजन सुदल ) रूप समूत का उपयोग छोड़े  
वे ( दिक्पाल ) भूख और प्यास को दूर कर अतिस्वादिल्ल तेरा ( दम्पती )  
बुझान करते ( दम्पती-विषयक ) अभिलाष ( मनोरथ रूपरूप ) से ही  
माँ सुखपूर्वक पार कर गिये ।

टिप्पणी—दम्पती को पाने के निमित्त इतने उत्कण्ठित हैं दिक्पाल कि  
उन्होंने न तो अपने प्रिय पाथेय अनृत का ही उपयोग किया, न माँ से  
उपयोगार्थ साथ लिया । उन्होंने न भूख की चिन्ता की और न प्यास  
की । वे माँ से यही सोचते-विचारते मन मोड़क खाते चले आये कि कैसे  
उन्हें दम्पती प्राप्त होगी और जब प्राप्त होगी तब किस-किस प्रकार से उसके  
सोप आनन्द विहार करेंगे ? यही सोचते विचारते भक्ति भाँति माँति के अभिलाष  
करते देवगण बिना किसी पाथेय के ही सुखपूर्वक यात्रा पूरी कर आये ।  
दम्पती के विषय में विचारते वे भूख-प्यास की चिन्ता से मुक्त हो गये, न  
कोई पाथेय साथ लिया, प्रिय, स्वादु अमृत भी छोड़ा, बस जैसे मनोरथ के  
शीघ्रगामी रथ पर हो चले आये । दम्पती की प्राप्ति के आगे उन्हें सब नगण्य  
लगा । विद्याधर के अनुनाम अतिशयोक्ति अलङ्कार ॥ ८७ ॥

प्रिया मनोमृगारदावदाहे देवीस्त्वदर्थेन निमज्जयद्भिः ।

सुरेपु सारं क्रियतेऽधुना ते पादार्पणः नुग्रहभूरिय भू ॥ ८८ ॥

जीवातु-प्रिया इति । त्वमेवाय प्रयोजन तेन निमित्तेन प्रिया दयिता  
देवी शक्त्यादिवारा मनोमृग कामस्य शरा एव दावो दावाग्निस्तस्य दाहे  
विरहानले निमज्जयद्भिः सुरेपु सारं थैठेरिन्द्रादिमिरधुना इय भूविदमंदेश  
पादार्पणमेवानुग्रहस्तस्य भू स्यात् क्रियते । कुण्डिनोपकण्ठ एव तिष्ठन्तीत्यर्थः ॥

अन्वय—त्वदर्थेन प्रिया देवी मनोमृगारदावदाहे निमज्जयद्भिः सुरेपु  
सारं ॥ अधुना इय भू पादार्पणानुग्रहम् क्रियते ।

हिन्दी—बुझार ( दम्पती के ) निमित्त प्रिय देवियों ( शक्तो धा. ८

पत्निया ) को मनोत्रय ( काम ) के बाणानल के दाह में निमग्न करते देवों में नारमुन ( श्वेत ) वे ( इन्द्रादि ) इस समय इस घरती ( कुण्डिनपुरी प्रदेश ) को ( स्व ) चरण रखने का कृपापात्र बना रहे हैं ।

टिप्पणी—दमयन्ती को पारों के इन्तुक इन्द्रादि बगनी-अपनी त्रिप एन्निदा को विरह पीड़िता, काम-बाण-क्षया ब्राने इस समय कुण्डिननगरी के प्रदेश में स्थित हैं और स्वचरण निशेर की कृपा कर रहे हैं । दमयन्ती के लिए दिक्काल यहाँ आ गये हैं और उनकी देवियाँ उनका ब्रह्म में दग्ध हो रही हैं । विद्याधर के अनुसार अनिशयोक्ति ॥ ८८ ॥

अलङ्कृतामन्नमहीविभागैरय जनन्तैरमरैर्मवन्ताम् ।

अवापिनो जङ्गमलेख्यलक्ष्मीं निक्षिप्य मन्देशमप्राक्षराणि । ८९ ॥

जीवानु—अलङ्कृतेति । अलङ्कृत श्यामन्नमहीविभागो भूप्रदेशो दैर्घ्य-समीप गर्तन्तैरमरैरय जन स्वयमित्यर्थः । भवत्या विपये त्वा प्रणीत्यर्थः । सन्देशमप्राक्षराणि सन्देशरूपाणि वाक्यानि निक्षिप्य अर्पयित्वा जङ्गमलेख्यस्य च लेख्यस्य लक्ष्मीमवापिन तेषामहं मन्देशहृत् इत्यर्थः ॥ ८९ ॥

अन्वय—अलङ्कृतामन्नमहीविभागैः तैः अमरैः भवत्या सन्देशमप्राक्षराणि निक्षिप्य अयं जनः जङ्गमलेख्यलक्ष्मीम् अवापिन ।

हिन्दी—निकटस्थ घरती के विभाग ( कुण्डिनपुर प्रदेश ) को मुशोमिड काते उन अमरों ( इन्द्रादि ) ने आप ( दमयन्ती ) में सबद सदेश से पूर्ण अक्षर ( सदेश-वाक्य ) देकर इस जन ( नल ) को चन्दन्य आलेख की घोमा को प्राप्त करा दिया है ।

टिप्पणी—शिशया में नल ने दमयन्ती को सूचित किया कि वे देवगण कुण्डिनपुरी के निकट उपस्थित हैं और नल का उन्होंने अपना सदेशवाक्य बनाकर भेजा है । कोई लिखित सदेश भेजने की अपेक्षा उन्होंने मौखिक सदेश भेजना अधिक उपयुक्त समझा । नल क्या है, देवों की चन्दन्य, जोषित, चरती-फिरती मन्देशयिका है । विद्याधर के अनुसार रूपक अलंकार ॥ ८९ ॥

एकैकमेते परिरम्य पीनस्तमापपीड त्वयि मन्दिशन्ति ।

इव मूर्च्छमान् स्मरन्मिल्लशान्यमुदे विशल्पीयत्रिवन्तिरेव ॥ ९० ॥

जीवानु—एकैकमिति । एते देवा एकैकं प्रत्येकमेवेत्यर्थः । वीप्साया

टिप्पणी—देवों की इच्छा है कि जैसे सूर्य के चारों ओर मंडल बनता है, वैसे ही देवों को अपनी बाँह के घेरे में लेकर दमयन्ती उन्हें अकपाली ( अँकवार—गले में बाँह डालकर ) देकर भेंटें और इस प्रकार काम की लीलायित लहरियों से युक्त अतएव शीतल अपने अंगों के स्पर्श से देवों का काम ताप दूर करे । अनग की लीला का ताप अपने अंग सस्पर्श से मिटाए । देवगण मूर्ख के सदृश कामताप से तप रहे हैं, 'लहरीतुषार अंगों' का शीतल सग उस ताप को दूर कर मकेगा । सकाम अंगस्पर्श से देवों का कामभर शांति को प्राप्त हो जायेगा । जब इसमें विलम्ब बहृकारक बन रहा है । विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलकार छेकानुप्रास ॥ ९२ ॥

दयस्व नो घातय नैवमस्माननङ्गचाण्डालक्षरैरदृश्यैः ।

भिन्नावर तीक्ष्णकटाक्षवाणे प्रेमस्तव प्रेमरसात्पवित्रे ॥ ९३ ॥

जीवानु-~~दयस्व नो घातय~~ हे भँमि । नोऽस्माक दयस्व अस्माननुकम्पस्वेत्यर्थ । 'अधीर्यैर्येसा कमणि' इति श्रुति । अदृश्यैरलक्ष्यैरनङ्ग एव चाण्डालस्तस्य शरैरेवमस्मान् न घातयेत् न मरेत् । किन्तु प्रेमैव रसोऽनुरागो जल च तस्मान्निविनै लुब्धस्तव तीक्ष्ण-~~कटाक्षैरेव~~ वाणैभिरा विदारिता सन्त प्रेम-~~प्रियाम्~~ प्रपूर्णादिणो लुब्धतमबहुवचनम् । वर मनाक् प्रियम् । जीवना-~~मममेव~~ मममेव च चाण्डालहस्तमरणात्तीर्थमरणमिति भाव ॥ ९३ ॥

अन्वयः—~~नो दयस्व, अदृश्यैः, अनुकम्प~~ चाण्डालशरै एवम् अस्मान् न घातय, प्रेमरसात्, पवित्रैः तव तीक्ष्णकटाक्ष प्रेम-~~प्रियाम्~~—वरम् ।

हिन्दी—हम पर न दया करो । अदृश्य अदृष्ट-~~( काम )~~ रूप चाण्डाल के बाणा द्वारा इस प्रकार हमें न मारो, प्रेम के रस से पवित्र तेरे तीक्ष्ण कटाक्षों ( बाणों ) से मरें—यह अच्छा है ।

टिप्पणी—निच चाण्डाल के बाणा से मरना उचित नहीं माना जाता, उसकी अपेक्षा किसी प्रवित्र गुद्धाचारो व्यक्ति द्वारा वध अच्छा है । देवों की भी यही कामना है कि चाण्डालसम काम-बाणों से उनकी हत्या न हो, दमयन्ती के प्रेमरससनात ( परिपूण ) कटाक्षों की बलि भले ही वे बन जायें । भाव वही है कि दमयन्ती क्या देवों को कामपीडा का आशेट बनवा रही है, उनका वरण कर अपने प्रेमभरे कटाक्षा से उन्हें कृतार्थ करे । और

जब मरना ही है तो चाडाल के हाथों क्यों मरा जाय, ( प्रेमरसपूर्ण ) तीर्थस्थल पर क्यों न प्राण दिये जायें ? विद्याधर के अनुसार रूपक और अनिशाक्ति अलंकार हैं ॥ ९३ ॥

त्वदयिन मन्तु परस्मैहस्त्रा प्राणान्तु नस्त्वच्चरणप्रसाद ।

विशङ्कुमे कैतवनतिनखे दन्तश्चर पञ्चशर प्रमाणम् ॥ ९४ ॥

जीवानु—स्वदिति । ह मैमि । त्वामयंयत् इति त्वदयिन त्वत्कामुका महत्तात् परे परस्मैहस्त्रा नह्स्त्रात्रिकमह्स्त्राका इत्यर्थः । 'परशताद्यास्तं येषा परा सङ्ख्या शतात्रिका' इत्यमरः । पञ्चमीति योगविभागात् ममाम्, रात्रदतादित्वादुपमजनस्य सहस्रशब्दस्य परनिपातः । पारस्करादित्वात् मुहागमः । म तु, नोऽस्माक प्राणान्तु त्वच्चरणयोः प्रमादोऽनुग्रहो वय त्वदेका-यतत्रीविना इत्यर्थः । अयं कैतवनतिन कपटनाटक विशङ्कुमे चेत् अतश्चरो हृदयान्तर्वर्ती पञ्चशर प्रमाणम् काम एवान साक्षी । म हि महतो देवतेति भावः ॥ ९४ ॥

अन्वयः—त्वदयिन परस्मैहस्त्रा मन्तु न प्राणाः तु त्वच्चरणप्रमाद, कैतवनतिन चेत् विशङ्कुमे, अन्तश्चर पञ्चशर, प्रमाणम् ।

हिन्दो—नेरे चात्रनेवाळे महत्प्राणिक हो, परन्तु हमारे ( देवों के ) प्राण तो तेरे ( दमयन्ती के ) चरणों की प्रमत्तता है । यदि तुम्हें आगका है कि हमारा कपटनृत्य ( झूठा कथन ) है, तो इसका साक्षी अन्तम् मे सचरण करता पञ्चबाण ( काम ) है ।

टिप्पणी—देवा का कथन है कि, लोक में अनेक व्यक्ति दमयन्ती के प्रार्थी हो मरने हैं परन्तु उनकी अपेक्षा देवों का प्रणय अधिक ध्यान देने योग्य है, क्योंकि यदि देवा को दमयन्ती के चरणों का प्रसाद न मिला तो उनके प्राण निकल जायेंगे । मर्त्यलोकवासियों के प्राण भी दमयन्ती के बिना निकल सकते हैं, परन्तु इसमें विशेष हानि न होगी । मर्त्य तो मरणप्रर्मा है ही, उनके प्राण निकले, वे मर गये । इसमें नवीन क्या है ? आपत्ति की बात तब होगी, जब जनर देव निष्प्राण हो, श्वर-उत्तर प्रस्मरमूर्तिया जैस पड़े मिलने जनर हान के कारण वे मरेंगे तो नहीं, निष्प्राण हो जायेंगे । यह निश्चय ही आपत्तिजनक होगा । देवों का यह कथन मिथ्या भी नहीं है,

इसका साक्षी हूँ सबके हृदय में वास करता मनोज, महादेवता वाम । वाम अन्तर्धर्ती होने से सब जानता है । अतः दमयन्ती का अनुग्रह देवों को ही मिलना उचित है । विद्याधर ने अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ॥ ९४ ॥

अस्माकमध्यासितमेतदन्तस्तावद्भवत्या हृदय चिराय ।

वहिम्स्वयालङ्क्रियतामिदानीमुरो मुर विद्विपत श्रियेव ॥९५॥

जीवातु—अस्माकमिति । भवत्या पूज्यमा । भवतेर्भवतुप्रत्ययः । 'उगितम्' इति ङीप् । त्वयाऽस्माकमेतदन्तर्भवति हृदय स्वान्त चिराय चिरात्प्रवृत्ति अध्यासित तावदधिष्ठितमेव । अवधारणे तावच्छब्दः । निरन्तरचिन्तयेति भावः किं त्विदानीं बहिर्वाह्यमपि हृदय वक्षः 'हृदय वक्षसि स्वान्तम्' इति विश्वः । मुर मुरस्य विद्विपतो विष्णोश्चरो हृदय 'द्विपोऽग्निने' इति घातुप्रत्ययः । 'द्विप श्वतुर्वा' इति विकल्पात् 'न लोके' इत्यादिना पट्टीप्रतिषेधः । श्रियेवालङ्क्रियताम् ॥ ९५ ॥

अन्वयः—भवत्या अस्माकम् एतत् हृदयम् तावत् चिराय अतः अध्यासितम्, इदानीम् मुर विद्विपत उरा श्रिया इव त्वया बहिः अलङ्क्रियताम् ।

हिन्दी—आप ( दमयन्ती ) ने हमारा (देवा का) यह हृदय बहुत समय तक भीतर रखा, अब मुरारि ( विष्णु ) के हृदय को ( अलङ्कृत करती ) तेरे ( दमयन्ती के ) द्वारा बाहर सुशोभित किया जाय ।

टिप्पणी—देवी का निवेदन है कि उनका हृदयस्थित प्रणय बहुत समय तक दमयन्ती द्वारा अप्रकट रहा, अब वह उसे प्रकट करे । इसके लिए उपमान है विष्णु के अंतर्धर्ती प्रकट वक्ष पर आवाम करती लक्ष्मी । जैसे विष्णु के हृदय में वास करती लक्ष्मी उनके वक्ष पर भी प्रकट है, वैसे ही देवा का प्रणय भी आभ्यन्तर और बाह्य—दोना रूपों में रहना चाहिए, बहुत दिनों तक देवा का हृदय दमयन्ती के अन्तर्धर्ती में रह आया—देवी ने अपना हृदय चिरकाल से दमयन्ती का दे रखा है,—अब दमयन्ती को उचित है कि यह उह वरे और हृदयालिंगन दे, कृतकाम बनाये । विद्याधर ने अनुसार अनुश्रवण और उपमालंकार ॥ ९५ ॥

दयोदयश्चेतसि चेतवान्दलङ्कुरु द्यां विष्णो विष्ण्व ।

भुवः स्वरादेशमाचरामो भूमौ धृतिं यानि यदि भवन्भूमौ ॥२६॥

जीवानु—इति । तव चेतसि दयोदयं चेत् अङ्गुलं द्याम् अङ्गुलं, विष्ण्वः । स्वानङ्गुलं विष्ण्वो विष्णु इत्यर्थः । 'भुवन्य सीधम्' इति न्यायादिति भावः । अथापवा स्वभूमौ स्वभवनस्याने भूमौ भूतो धृतिं सन्तोषं यानि यदि तर्हि भुवो भूने स्वरादेशं स्वीयमानाचरामः अथ धारैव न्याम्यान् इत्यर्थः । स्वाधिष्ठित एव स्वां इति भावः ॥ २६ ॥

अथवा—तव चेतसि दयोदयं चेत् अङ्गुलं द्याम् अङ्गुलं, विष्ण्वः । अथ स्वभूमौ भूमौ धृतिं यानि, भुवः स्वरादेशम् आचरामः ।

हिन्दी—तेरे ( दयान्ती के ) चित्त में यदि दया उदित हो तो स्वर्ग की सुशोभित शर, विजय द्यय है । जो यदि अपनी भगवन्तो भूमि पर प्रीति करती हो तो भू का ही स्वरादेश शर दें ( धरती का ही स्वर्ग बना दें ) ।

टिप्पणी—देव-प्रस्ताव है कि यदि दयान्ती उनके साथ स्वर्गभुव का अनुभव करना चाहती है तो अर्थ विष्ण्व न करके, उनके साथ तुरन्त स्वर्ग चले । तन्ममूनि भव की प्रिय होती है, जो दयान्ती को भी प्रिय हो सकती है । यदि वह धरती पर ही रहने की इच्छा हो तो वैसा प्रवच भी हो सकेगा । देवान् भुवों स्वर्गभुव धरती पर ही उपस्थित करके उन धरती को ही स्वर्ग बना दो जो यहीं चले जायेंगे । 'भुवः स्वरादेशमाचरामः' में विद्येय भगवन्तर है । 'भू' का 'स्वरादेश' कर दें, अर्थात् 'भू' में जो 'व्यजन भू' है, उसके स्थान में 'स्वर' कर दें । व्यजन स्वर के द्वारा व्यञ्जित होता उसके उच्चारण में प्राणवायु में अवरोध होता है । इस प्रकार उसमें निषेधता, स्वतन्त्रता नहीं है । इसके विपरीत 'स्वर' होता है स्वयं राजित—'स्वयं गच्छति इति स्वराः' ( पातञ्जल महान्यास-१।१।२९ ) । स्वर के उच्चारण में प्राणवायु अवरोधित रहती है, अतः वह निषेध, भवन है । भूतोऽथ ओर स्वां में भी यही अवरोध है व्यजन-स्वर का । भू ने दाया है, स्थान स्थान पर दाया । स्वर्ग-भू है स्वतन्त्र, बाधरहित । देव का यही प्रस्ताव है कि दयान्ती की इच्छा होने पर भूतोऽथ को भी स्वर्गभुव स्वच्छन्द कीडाम्यन्ती

बनाया जा सकता है। जहाँ दमयन्ती होगी, वही देव रहेगे, वही स्वर्ग बन जायेगा। विद्यावर के अनुसार अनुप्रास और काव्यलिंग अलंकार ॥ ९६ ॥

धिनोति नास्मान् जलजेन पूजा त्वयान्वह तन्वि । वितन्यमाना ।

तव प्रसादाय नते तु मौली पूजास्तु नस्त्वत्पदपङ्कजाभ्याम् ॥ ९७ ॥

जीवानु—धिनोतीति । तन्वि । त्वया अवहमनुदिन वीप्सायामव्ययीभावे 'अनञ्च, नपुसन्वाद्यतरस्याम्' इति समासान्तः, 'अल्लुल्लोरेव' इति टिलोपः । वितन्यमाना क्रियमाणा जलजेन जातावेकवचनम् । जलजं पूजा अस्मान् न धिनोति न प्रीणयति । किन्तु तव प्रसादाय प्रसादार्थं नते नम्रं मौली मौलिनस्त्वत्पदपङ्कजाभ्यामोऽस्माकं पूजा अस्तु । प्रणयापराधेषु त्वत्पादताडनादिनो वयमिति भावः ॥ ९७ ॥

अन्वय—तन्वि, त्वया अवह वितन्यमाना जलजेन पूजा अस्मान् न धिनोति, तव प्रसादाय तु नते मौली त्वत्पादपङ्कजाभ्यां न. पूजा अस्तु ।

हिन्दी—हे कृष्णागि, तेरे ( दमयन्ती के ) द्वारा प्रतिदिन की जाती कमल द्वारा पूजा हमें प्रसन्न नहीं करती, तुझे प्रसन्न करने के लिए झुके सिरों में तिरि चरण-कमलों द्वारा हमारी पूजा हो ।

टिप्पणी—देवों का प्रणय निवेदन है कि दमयन्ती ही देवपूज्या है, देव दमयन्तीपूज्य नहीं । देवों को यह नहीं इच्छता कि अपने हाथ से कमल चढ़ा कर दमयन्ती देवों को पूजती है । व सो यह चाहते हैं कि सामान्य कमल निवेदन करने के स्थान में अपने चरणों में मनाने के लिए झुके देवों के सिर पर दमयन्ती अपने चरण कमल चढ़ाये । देवप्रिया दमयन्ती उन्हें चरणों के पदपाद कभी प्रणयकोप करे, देव उसके चरणों में अपने सिर रखकर उसे प्रसन्न करें—मनायें । यह सब प्रणय-विलास देवों का काम्य है । इसी में उन्हें प्रसन्नता होगी, इस सामान्य पूजा से उन्हें तोष नहीं । देवों की इच्छा है कि प्रणय अपराधों में दमयन्ती उनके सिर पर चरण प्रहार करे । कमला से दमयन्ती के चरण अधिक अच्छे हैं । विद्यावर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ॥ ९७ ॥

स्वर्णवितीर्णः करवाम वामनेत्रे । भवत्या किमुपासनायु ।

अञ्ज । त्वदङ्गानि निर्पोतपोतादर्पाणि पाणि सखु याचते न ॥ ९८ ॥



जोमानु—स्वर्गैरिति । हे वामनेत्रे । चाग्रनेत्रे । भवत्या त्वया निजो-  
पमानासु पूजामु विनीर्त्तुं समर्पितै र्वर्गै र्वननकमलादिभि र्नि करवाम न  
क्षिप्रगीत्यये । यत्न स्वर्गावल्गवामिनोवयमिति भाव । नि तु जल्लोचामप्रणे,  
निरीतो गृहीत पीताना हरिद्राया दन् नातिगर्भो यैस्तानि, 'निताभ्या  
काश्वनो पीता हरिद्रा वरवर्गिनो' इत्यनर । त्वदङ्गानि नोऽस्माक पाणिर्पा-  
विन क्षत्तु । पीतदर्पाणीति पुन्निङ्गनाटे पीताना स्वर्गादिद्रव्याणा दपमिति  
व्याख्येयम् । स्वर्गादुद्गृह्यस्तुमन्मन्त्रे अपहृत्स्वर्गंस्वीकारो न युक्त इति भाव ।  
साधुदचायमेव पाठ । अथवा स्वयनश्चारिणा त्वदङ्गेषु स्वर्गादुत्तरपे वत्तये  
हरिद्रामात्रादुत्तरपेव्यनोचिमादिति ॥ १८ ॥

अन्वय—वामनेत्रे, भवता उपमानासु विनीर्त्तुं स्वर्गै र्नि करवाम ?  
अङ्ग, न पाणि निरीतपीतादर्पाणि त्वदङ्गानि क्षत्तु याचते ।

हिन्दी—हे बाँके नयनवाली, आँके द्वारा पूजाओं में समर्पित स्वर्ग  
( कमलादि ) या हम क्या करें ? ( वह सब हमारे उपयोग का नहीं ) ।  
निम्ने, हमारा हाथ हन्दी का कातिदर्प ( अथवा 'पीत' पाठांतर में—पीले  
सुवर्गादि का गर्भ ) पान करनेवाले ( अग्निमान निटानेवाले ) तुम्हारे अंगों  
की निश्चयन याचना करता है ।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक के मर्म में ही नञ ने दमयन्ती से निवेदन किया  
कि देवगण दमयन्ती द्वारा पूजा उपासनाओं में अतिरिक्त किये जाते स्वर्गादिद्रव्य  
की कामना नहीं करते हैं । उन्हें स्वर्गादि की क्या आवश्यकता है ? वे तो  
स्वर्गपरत सुमेह के वासी ही हैं । उ हें वर्ग और भ्रामा की दृष्टि से स्वर्ग की  
अनेका कमतीय दमयन्ती के अंगों के स्वर्ग की कामना है । देव स्वर्ग नहीं,  
उपमे उद्गृह्य दमयन्ती के जग चाहते हैं । देवों का वरण कर दमयन्ती उनकी  
इच्छा पूरा करे । मन्त्रिनाथ न उत्तराख का पाठ 'पीतादर्पाणि' की अपवा  
'पीतदर्पाणि' ही उचित माना है । नारायण ने भी यही स्वीकारा है । 'पीता  
अर्थात् हन्दी का रंग ही पीला है, पर वह कोई उद्गृह्य पदार्थ नहीं है, अतः  
दमयन्ती के अंगों की तुलना में उसकी देवों द्वारा अप्राप्तता कोई उल्लेख्य बात  
नहीं है । 'पीत' अर्थात् पीला स्वर्ग दमक और चमक—दोनों की दृष्टि से मूल्य-  
वान् है । दमयन्ती के अंग उसका भी काति दर्प मिटाने वाले हैं । वे स्वर्ग

से भी उत्कृष्ट हैं । स्वर्ण का त्याग करके देवता उससे उत्कृष्ट दमयन्ती-अगो के कामी है—यही भाव यहाँ अपेक्षित है । विद्यावर के अनुसार छेकानुग्राम और अतिप्रयोक्ति ॥ ९८ ॥

वय कलादा इव दुविदग्धं त्वद्गौरिमम्भवि दहेम हेम ।

प्रसूननाराचशरासनेन सहैकवशप्रभवभ्रु । वभ्रु ॥ ९९ ॥

जीवातु—वयमिति । प्रसूननाराचशरासनेन कामचापेन सह एकवशप्रभवे एककारणोत्पन्ने अत्यन्ततत्सत्त्वे इति यावत् । भ्रुवी तस्या स तद्भ्रुरित्यु-  
ङन्तीत्तरपदो बहुव्रीहि । अन्यथा अनुङन्तस्य भ्रूश्चन्द्रस्योवद्स्थानस्यानदीत्वात् सम्बुद्धावम्भार्यमादिना नदीह्रस्वो न स्यात् । तनु ऊङन्त इत्युक्त कथमकारा-  
दिति चेत्, सप्तम्य, अप्राणिजातेश्चारणवादीनामित्यत्र 'अलाबू' कर्क'भू' इति भाष्यकारेणोदाहरणादकारादप्युङ्गस्त्येवेति ज्ञायते । अत एव यामन—'ऊकारा दप्युङ्गप्रवृत्ते' इति । तदेतत् सम्यग्विवेचिनमस्माभि कुमारगम्भवसञ्जीविन्या,  
'विमानना मुभ्रु' । कुत पितृष्टह' इत्यत्र । तस्या गम्बुद्धि एकवशप्रभवभ्रु ।  
वय कला स्वर्णखण्डान घटित खण्डयन्तीति कलाश स्वर्णकारा इव । 'कलादा रक्मकारका' इत्यमर । तव गौरिम्भा सह स्पर्धत इति तत्स्पर्धि अत एव प्रबलविरोधितया दुविदग्धमविदग्ध बुद्धिश्च य न वभ्रु पिङ्गलम् । 'वभ्रु स्यात् पिङ्गले त्रिपु' इत्यमर । हेम सुवर्णं दहेम । त्वदङ्गस्पर्धापराधादविशुद्धेत्वा स्माक दाह्यस्वर्णसमर्पणात् सर्वानवद्याङ्गसमर्पणमेव सतर्पणमिति भाव ॥ ९९ ॥

अन्वय — प्रसूननाराचशरासनेन सह एकवशप्रभवभ्रु, वय कलादा इव त्वद्गौरिमस्पर्धि दुविदग्ध वभ्रु हेम दहेम ।

हिन्दी—हे कुसुमबाण ( काम ) के धनुस् के साथ एक वश (बाँस, कुल) में उड़ान भोहों वाली, ( कामधन्यासदश भोहा वाली ) हम ( देवगण ) स्वर्ण-खण्डों को तोड़ने वाले ( अथवा 'कलाम् स्वर्णखण्डम् अस्ति खादति गृह्णातीत्यर्थं सा कलादा ते' स्वर्णखण्ड को मार देने वाले ) स्वर्णकारों के सदृश तुम्हारी ( दमयन्ती की ) गौरिमा ( गोरेपन ) में स्पर्धा करनेवाले ( अतएव ) मूर्ख, पीले स्वर्ण को आग में फूकते हैं ।

टिप्पणी—भाव यह कि देवों को स्वर्ण की कोई आवश्यकता नहीं, व ता उसे जला डालते हैं अर्थात् निरर्थक वस्तु की भाँति फेंक देते हैं । उह

तो आवश्यकता है उससे कर्त्तव्यतर दनयन्त्री देह की। इसी को भगिमा-  
दिदेय से व्यक्त किया गया। स्वांकार जैसे आग में (आनुषा बनाने के  
लिए) नौले को आग में डालते हैं, वैसे ही देवता भी स्वां को आग में  
झोंक देते हैं। व स्वां जो उसकी घृष्टता और मृष्टता का यह दह देते हैं कि  
क्यों वह दनयन्त्री के ज्यों से स्वर्ग करने की घृष्टता करता है? विद्याधर के  
अनुसार दनया और देवानुप्रास ॥ ९९ ॥

मुनामरमु त्वदनङ्गताप शान्तो न न कि पुनरप्सरस्यु ।

निर्वर्तिन न त्वन्ननवापरेण मृताशुगेयोर्मधुशीकरेण ॥ १०० ॥

जीवानु—मृतेति । हे मैत्रि 'मुनामरसु' जट्टनङ्गनीदु तोज्ज्माक त्वत्त-  
तानङ्गतापो न शान्त अनरन्वरा सरसु लवंग्यादिबेस्यासु वा कि पुन  
जिनुत? किन्तु मृताशुगेयो कान्डीनस्य मधुशीकरेण मकरन्दविन्दुता  
तत्त्वज्ञानेन्यर्थ । तव मनतापरेण नमशाव्यञ्जकवाक्येन मदीया पूरनिदेव-  
करो निर्वर्ति शान्तति । मदिरहादन शान सत नङ्गनकसाध्या मोनायान्तर-  
नान्य इत्यर्थ ॥ १०० ॥

अन्वय—न त्वदनङ्गताप मुनामरसु न शान्त अप्सरासु कि पुन ?  
मृताशुगेयो मधुशीकरेण त्वन्ननवापरेण तु निर्वर्ति ।

हिन्दी—हमारा भरे ( दमयन्त्री ) अनङ्गव का ताप ( दमयन्त्री के वियोग  
के कारण उत्पन्न कामप्रताप अपवा दनयन्त्री के 'अनङ्गव' अर्थात् जा प्राप्त  
न होने के कारण उत्पन्न ताप ) जट्टन-परोक्षरी में भी शांत नहीं होता,  
अप्सरसों ( रत्नादि देवानाओं के प्रथम वान अपवा 'अनाम मर मु' अर्थात्  
सानाय प्रपाद्यों ) में क्या शांत हो? हनुमन्तान ( काम ) के पुष्प के प्रभु  
मकरन्द बिंदु के तुल्य भरे ( दमयन्त्री के ) मनता भरे अपसर ( प्रणयवचन )  
से भी शांत हो जाता है ।

टिप्पणी—दमयन्त्री के अंगों की प्राप्ति न होने से वेद को ऐसा काम-  
ताप सता रहा है कि वह मुनामरों में डूब जाने से भी शांत नहीं होता,  
मानस्य जगत्तों और जलविद्या का सान्निध्य तो उसे शांत कर ही नहीं  
सकता, परन्तु दमयन्त्री एक प्रेममता, मयताओं पर उद उच्चार दे ता उनका  
सुख प्राप्त हो जाता है । जो अपने उद्योग से नहीं निजता, वह काम-

सताप एक वचन मान से निट जाता है । वितना आवश्यक है ! भाव वही है, देवों का धरण कर ले दमयन्ती, विलम्ब न करे । विरहजन्य सताप सयोग से ही शांत होगा । कार्य कारण में विरोध होने से विचार के धनुसार विषम अलंकार ॥ १०० ॥

खण्ड किमुत्वद्गिर एव खण्ड किं शर्करातत्त्वयत्कर्करेव ।

कृशाङ्गि ! तद्भङ्गिरसोत्यक्च्छतृणं दिक्षु प्रधितं तदिधु ॥१०१॥

जीवातु-खण्ड इति । ये कृशाङ्गि ! खण्ड खण्डशर्करात्वद्गिर एव त्वद्भवत एव खण्ड शर्करा किम् ? 'स्यात्खण्ड' शब्दले क्षेप्तुविकारमणि-दोषयो' इति विद्वत् । 'तथा शर्करा मिताह्वयशर्करा तस्या गिर पन्थास्तत्त्वय तस्मिन् मार्गे शर्करा सितशर्कराप्रचुरमृदेव किम् ? शर्करा खण्डविकृतानुपल कर्कराशयो' इत्युभयत्रापि विश्व । दिक्षु प्रधितं प्रस्थातमिधुरिदवात् तत् तृण तव गिर त्वद्गिर भङ्गी भङ्गवान् तरङ्गितो रत्न शृङ्गारो दृढक च तदुत्पन्नं कच्छे अनुपे तृणं नु ? उत्तेति पाठे रसोत्सो रमप्रवाह तस्य कच्छतृण किमित्यर्थः । 'जलप्रायमनुर स्यात् पुति कच्छस्तथाविध' इत्यमरः । सर्वत्रान्यथा रूप खण्डादीनामोद्भूताधुपमिति भावः । विवादयस्तूत्रेणायामनोत्रेणानयस्य सधृष्टवात्सजातीयसधृष्ट । अत्र द्वये वैशेषिककारः— मन्स्यद्विजा खण्डसिता क्रमेण गुणवत्तमा । यथा यथा हि नैर्मल्य मधुरत्व तथा तथा ॥ घीतत्वाग्नि-मलत्वाच्च तथा सिततमव्रमात् । वातुकेव भृशं सूक्ष्मा सुस्निग्धा मितपिण्वा ॥ मत्स्याण्डावृति सादृश्ययोगान्मत्स्यन्दिका स्मृता । स्फटिकोपलखण्डाम् खण्डस्त-च्छर्करा समा ॥ शर्करा निर्मला संव सिता तु सितशर्करा निर्मलैव सिता सा तु राजराज इतीरिता' ॥ इति ॥ १०१ ॥

अन्वयः—कृशाङ्गि, त्वद्गिर खण्ड एव खण्ड किम्, नत्पयःकर एव शर्करा किम्, तद्भङ्गिरसोत्यक्च्छतृणं दिक्षु इधु प्रधितं नु ?

हिन्दी—हे लवंगि, तुम्हारी ( दमयन्ती की ) बाणी का लेश ही क्या खाड़ है ? उस ( दमयन्ती की बाणी ) के मार्ग की कबडो ही क्या शर्करा ( चीनी ) है ? उस ( बाणी ) की भद्रिमा ( उत्तिवैचित्र्य ) के रस से उत्पन्न, कच्छ ( तट ) का तिनका ही क्या चारों दिशाओं में गन्ने के नाम से नहीं प्रसिद्ध है ? ( निश्चयन ऐसा ही है ) ।

टिप्पणी—भाव यह कि दमयन्ती की वाणी श्रुति के रस से भी मधुर है। वाणी की मर्मिता अर्थात् उत्तिर्वैश्वस्य का रस शृंगारादि ही न अर्थात् तरल-मय ( मङ्गल ) अम्यास्तीति मङ्गल ) रस अर्थात् रस है, उसी से उपमा लट का कृता जयात् रसदुःखवचन लड नम्रार में इच्छा ( रत्ना ) रूप में प्रतिद्ध है। दमयन्ती के वचनछाँड खाँड, शरकर और श्रुति से भी मधुर हैं। विद्याधर के अनुसार उन्नेक्षा और श्रुति। मन्त्रिनाय न तीन उन्नेक्षाओं के कारण यहाँ उन्नेक्षाओं की सत्रातीय सृष्टि का निर्देश किया है ॥ १०१ ॥

ददाम कि ते सुधराधरेण त्वदान्य एव स्वयमास्पते दतः।

विष्णु विजित्य स्वयमेव भावि त्वदानन तन्मस्तभागमोजि ॥ १०२ ॥

जीवानु—किञ्च नेष्टदानेन त्वदाराधने शक्ता वयं किन्तु स्वत्वस्वैकसारण इत्याद्येनाह—ददामेति। ते तुभ्य कि ददाम कि वितराम दातव्य किमपि नास्तीत्यर्थः। अमृतमस्तीति चेत् त्वैवास्तीत्याह। कुत अतो यस्मात् कारणात् सुधरा अधरेणाधरत्वेण त्वदास्य एव स्वयं साक्षादास्पते स्वीयते भावे इत्। दक्षनागोऽस्तीति चेत् साक्षात् ते जयन्त्य इत्याह—त्वदानन कर्तुं विष्णु स्वयमेव परानपक्ष विजित्य तस्य विजोमंखे दागे भागमथ भोक्तु शीलमस्तेति तद्भोवि भावि भविष्यत् तत्स्यानाधिपत्यादय धर्मलाभ इति भावः ॥ १०२ ॥

अन्वय—वे कि ददाम, हि सुधरा अधरेण त्वदास्य स्वयम् एव आस्पते, त्वदानन विष्णु विजित्य स्वयम् एव तन्मस्तभागमोजि भावि ?

हिंदो—तुम ( दमयन्ती ) को ( देव ) क्या दें, क्योंकि मुझ ( अमृत ) को अधर ( अधरामृत ) के साथ स्वयमेव तेरे ( दमयन्ती के ) मुँह में स्थित है, तैसा मुझ चन्द्र को जीत कर स्वयं ही उस ( चन्द्र ) के मन-मान का भोक्ता हो पायेगा ?

टिप्पणी—दमयन्ती समस्त भौतिक ऐश्वर्य से तपन्न है। धन धान्य, वस्त्र, महल, दास, दासी—सब है उसके पास। समावना यही थी कि देवता दो वस्तुएँ और दमयन्ती को दे सकेंगे ये, क्योंकि वे मर्त्यलोक के प्राणी को उपलब्ध नहीं होंगे। एक तो अमृत और दूसरा यज्ञों में यजमान होताओं द्वारा अर्पित मन भोज्य। पर दमयन्ती पर ये दोनों भी हैं। अमृत उसके अधर में वास करता है और चन्द्रमा को भी पराजित करनेवाला दमयन्ती का

मुख तो जब चाहे चन्द्र को यज्ञार्पित हुआ भोग ले सकता है । भाव यह है कि दमयन्ती का अथररस अमृत की अपेक्षा श्रेष्ठ है और मुख चन्द्र की अपेक्षा । इस चातुर्यपूर्ण उक्ति से देवों का छिष्टाचार भी प्रतीत होता है अर्थात् उनका विनय, परन्तु यह भी संकेत हो जाता है कि देवों के पास स्वर्ग में भी दमयन्ती जिसकी इच्छा कर सके, ऐसा कुछ है नहीं । उपेन्द्रवज्रा वृत्त और विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास रूपकान्तिसाधोक्ति अलंकार ॥ १०२ ॥

प्रिये ! वृणीष्वामरभावमस्मदिनि त्रपोदञ्चि वचो न किन्नः ।

त्वत्पादपद्मे शरणं प्रविश्य स्वयं वयं येन जिजीविषाम ॥ १०३ ॥

जीवातु—त्वदायत्तमेवेत्याह—प्रिय इति हे प्रिये ! दमयन्ति ! अस्मद्भस्मत्त अमरभावममरत्वमविनाशित्वं च वृणीष्वेत्येव रूपं शोभस्माकं वचं त्रपामुदञ्च-सीति त्रपोदञ्चि लज्जावद् न भवति किम् ? भवत्येवेत्यर्थं कुत, येन कारणेन पादादेव पद्मं ते एव शरणं प्रविश्य रक्षकं प्राप्य वयं स्वयमनामयं जिजीविषामो जीवितुमिच्छाम । स्वयं क्षुधितस्याप्रयत्नस्तुदातु शुद्भैरज्यप्रतिज्ञावत् परि-हासास्पदमेवेति भावः ॥ १०३ ॥

अन्वय — प्रिये, अस्मत् अमरभाव वृणीष्व, येन त्वत्पादपद्मे शरणं प्रविश्य वयं स्वयं जिजीविषाम — इति न वचः किं त्रपोदञ्चि न ?

हिन्दी—हे प्रिये, हमसे अमरता ले लो ( हमारा अमरभाव भर लो ), जिससे तेरे ( दमयन्ती के ) शरणभ्रमलो में शरण पाकर हम स्वयं जीना चाहते हैं—ऐसे हमारे वचन क्या लज्जावद् न होंगे ? ( हमें ही ) ।

टिप्पणी—देव पूर्वश्लोक के अनुसार दमयन्ती को और कुछ तो दे नहीं सकते, एक अमरता और रह जाती है । पर चूंकि दमयन्ती में उनके प्राण अटके हैं, उमें जिना पाये वे अमर भी मृतममान हो रहे हैं, उसे वे अमरता देने का प्रस्ताव करें, 'अमरता ले लो हमसे'—ऐसा कहे, यह तो लज्जास्पद ही होगा । सो ऐसा करने में भी देवों को सकोच हो रहा है । विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग और अतिसाधोक्ति अलंकार है ॥ १०३ ॥

अमरभावमस्मान्नदनापमृत्योस्त्राणाय पीयूषरमोऽपि नासी ।

प्रपाद तस्मादधिकं निजन्तु प्रयच्छन्तु पानु रदनच्छदन्तु ॥ १०४ ॥

जीवानु—न चामृतसेविना व कुतो मरणप्रसक्तिरिति वाच्यमित्याह—  
अस्माकमिति । हे दमयन्ति ! अस्मान्मदनादेवापमृत्या स्वाशादस्माकं त्रापाय  
रक्षताप असौ पीयूषरसोऽपि नालम्, किं तु तस्मात् पीयूषरसादधिकं निज  
त्वदीय रदनच्छदमोष्ठ पातु नोऽस्मभ्य प्रयच्छ देहि प्रसीद प्रसता मय ॥१०४॥

अन्वय—अस्मात् मदनापमृत्योः अस्माकं त्रापाय असौ पीयूषरस अपि  
न, तस्मात् तु प्रसीद, न पानुम् अधिकं निज रदनच्छद प्रयच्छ ।

हिन्दी—इस काम द्वारा प्राप्त होती अपमृत्यु से हमें बचाने में यह अमृत  
रस भी ( समर्थ ) नहीं है, इससे ( हे दमयन्ति, ) प्रसन्न हो, हमें बचाने को  
( अमृत से ) अधिक करना अघरोष्ठ दे ।

टिप्पणी—अमृत मृत्यु में बचाऊ है, किंतु कामसदृश निर्मम देव ही  
देवों को अपमरण दे रहा है, तब अमृत से क्या होगा ? देव वंसी सामान्य  
मृत्यु से ग्रस्त तो हो नहीं सकते, अपमरण को प्राप्त हो रहे हैं । इस अपमृत्यु  
से अमृत नहीं, इससे भी अधिक प्रभावशाली दमयन्ती का अघराजमृत बचा सकता  
है । देव दमयन्ती से उसी की याचना कर रहे हैं । सामान्य औपम्य से काम  
न चलने पर विशेष औपम्य ही अपेक्षित होती है—रसायन । नाव यही है कि  
दमयन्ती देव-भरण करले, जिससे उनकी दुःसह काम-पीड़ा का उपशम हो  
सके । विद्यापर वे अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार । 'रदनच्छद पातु न-  
प्रयच्छ' अवयव भी किया जाता है, अर्थात् अघरोष्ठपानार्थं हम ( देवों )  
को दो ।'

'निर्जयसागर प्रेस, बर्बई' से महामहोपाध्याय प० शिवदत्त शास्त्री के  
संपादन में प्रकाशित 'नं० च०' में पद्यानवें श्लोक की पद-टिप्पणी में निम्ना-  
लिखित श्लोक भी इस टिप्पणी के साथ दिया गया है कि वही-वही यह भी प्राप्त  
होता है—'अचिन्मूलोऽस्मात् प्राक् पठित उपलभ्यते'—

अस्माकमस्या मदनापमृत्योस्त्रापाय पीयूषरसायनानि ।

सुषारसादप्यधिकं प्रयच्छ प्रसीद वंदामि निजाघर न ॥

यह श्लोक इसी ( १०४ वें ) श्लोक का पाठांतर प्रतीत होता है । अर्थात्  
हे विदमं कुमारी, मदन द्वारा होती अपमृत्यु से हमें त्राप दिलाने के लिए पीयूष  
रसायन, अमृत से भी अधिक उपयोगी अपना अघर हमें दो, प्रसन्न हो जानो ॥

नारायण ने भी पूर्वार्द्ध का पाठांतर जो माना है—‘नास्त्वाकमस्मान्नदनामृत्यो-  
स्त्राणाम् दीर्घरसायनानि ।’ जहाँ हने मदनानुरूप से श्राप दिलाने में  
अनुरम व्यर्थ नहीं है— ॥ १०४ ॥

‘प्लुष्टायेन रोपैरपि नह मकरेणाममू केनुनाऽमू-

इत्ता नम्यत्प्रसादाय मनसिजता मानसो नन्दन सन् ।

अभ्यां ते तन्वि । धन्वी भवन्नु सत्र नितर्ज्ज्वलन् स्मिनेन्ता-

दन्तु त्वन्नेत्रवच्चत्तरक्षफरसुगाधीनमीनध्वज्राट् ॥ १०५ ॥

जीवान्—प्लुष्ट इति । हे तन्वि । दन्वयन्ति । आत्मना स्वपदेव भवती

‘आत्मनू काम स्वं स्वशरीरं चापेन रोपैर्वापै’, ‘पत्नी रोप इषुदयो’ इत्यमर-  
मकरैर्वापै वेनुना च सह प्लुष्टो दन्तोऽमूत् । ॥ आत्मनुरपेदानो तत्र प्रमादशब्दो-  
नोन्मान तत्र च सम्भूदेष्यं । ‘त्वदादीनि सर्वानित्यम्’ इति युष्मदस्मदोरेकशेषे  
परशेषः । मानसो मनः सवधी नन्दनः पुत्रः मानसविता च सन् । ‘नन्दनो  
हृदये भूते’ इति विश्व । मनसि जातो मनसिजस्तस्य भावस्तत्ता ता ‘समभ्या  
जनेडं’ । ‘हृदन्तात्मिमया सज्ञादाम्’ इत्यनुर् घना दधातु ‘तुल्योस्तातद्वा-  
धिम्यत्तरस्याम्’ । प्लुष्ट दन्त आत्मनुरभक्त्यस्तु मनसोऽप्यात्मत्वादिभ्यं ।  
‘आत्मनेहमनो, ब्रह्मन्भावधृतिबुद्धिषु’ इति विश्व । त्वस्यस्मासु च कामस्तुन्य-  
वृत्तिरस्तिवति भावः । किञ्च ते श्व भ्रूया घादी चापवान् भवन्तु । धन्वन्-  
गवाद्ब्रीह्यादिपाठादिनि । एव मितनिर्मलं स्मिनेहंसितं जैत्रा मन्त्रा यस्य  
म जिह्वरेषु स्नाद्भवन्तु अस्नेर्लोठि तस्मात्प्रसादेन । तत्र नेत्रे एव चञ्चलरा-  
वनिवच्चाली शङ्करी तयोर्मुनि तदधीनस्तत्त्वस्यो मीनरूपो ध्वज एवाद्यो  
राज्येन यस्य सोऽस्तु त्वन्नेत्राभ्या मीनध्वजवानन्वित्यर्थः । अत्र यथावत्  
सङ्कीर्णो रूपकालङ्कारः । सम्परा वृत्तम् ॥ १०५ ॥

अन्वयः—चापेन रोपै मकरेण केनुना च सह आत्मनू प्लुष्ट अनुर,  
अप स्वत्प्रसादात् न मानस नन्दन सन् मनसिजता घत्ताम्, तन्वि, ते भ्रूया  
घादी भवन्तु, तत्र नितं स्मितं जैत्रमन्त्रा स्तात्, त्वन्नेत्रवच्चत्तरक्षफरसुगाधीन-  
मीनध्वज्राट् अस्तु ।

हिन्दी—प्लुष्ट, चाप और मकरध्वज के साथ मनसिज ( काम ) वृत्त  
यथा, अत्र तत्र ( दन्वन्ती के ) प्रसाद से हम ( देवों ) का मानस-नन्दन



( मन को स्थानदित करने वाला, मानसुत ) होता हुआ ( वह ) ( मनसि जात तस्य भाव गाम् ) मन में उत्पन्न होने की भावनाकला ( मान-रूप ) को धारण करे । हे मुकुमारि, ( वह ) नेरी ( दमदन्ती की ) मैंहीं से धनु-धारी हो, तेरी यश्र मुसकानों से नयनादक बागवान् हों और तेरे नेत्र रज्य अतिशय नचल ( मुसोमित ) मोनपु से मोनज्यवचित्तुमारी बने ।

टिप्पणी—जो एक बार नष्ट हो पुनर्वाञ्छन प्रस करता है, वह त्रिगुणशक्ति-मय हो जाता है—यह मानान्य नियम है । जिस की नेत्र-जवाला में एक बार वह 'स्वप्न' का न धनुष-बाण और मकरन्दज संहित मय हो गया और अब बन्ना है और उसे 'मनसि' नाम निम्नाया है । कन्तु यह नाम कथन मात्र है, अभी यदि देखों पर दमदन्ती की कृता हो गये और वह उन्हें बर सके तो सबमुख काम का देव मानन में पुनर्वाञ्छन हो जायेगा ( हे दमदन्ती के नाथ स्वच्छन्द काम-विहार करों ) और 'मनसि जात' होकर उसका 'मनसि' नाम सार्थक हो जायेगा । वह पहिले की अज्ञेता नये जन्म में अधिक शक्तिशाली होगा, क्योंकि उसे अधिक प्रमाणी नये उत्तरा प्रस होने । दमदन्ती का अनुपल उसका चार बनेगा और चाँदनी को भी लगाती शुभ मद मुमकान उसके अनोप जयी बाण । यउन्तियों से भी अधिक खचन, मोननतम दमदन्ती के दोनों नयन उसकी मोन-स्वता बनेगी । इस प्रकार वह देव मानस-जदन-देवों का मानसुत रूप त्रिगुणशक्तिशाली होकर पुनर्वाञ्छित होगा । दमदन्ती की देव वरण में वह पुन और निनेगा कि एक मृत को पुनर्वाञ्छन मिल जानेगा । इस श्लोक में मन्त्र उद् है । विद्याधर के अनुसार छेकानुग्रह संहोस्ति-अतिशयोक्ति पत्रकार है । मन्त्रिनाथ ने मया-मन्त्रकीर्ण स्वप्नकार का निर्देश किया है अर्थात् स्वप्न-रूप का सहर ॥ १०५ ॥

मद्वेन प्राप्तिनाया प्रतिरवनि नव श्रीपु मन्त्रः कथाध.

ओने गीतानुनाय्या त्वापि ननु तनूनक्षरोपोकुमार्ये ।

नासा स्वनाधिवालेनरनधुनि रुता चरित्रेषु चित्तं

तमस्तन्वद्भि । कैश्चिन्न करणहरिर्नैवागुरा नन्मितासि ॥ १०६ ॥

जोगानु-स्वप्नेनेति । हे तन्वद्भि । तनुन्वद्भिनि मन्त्रान्तम्या कन्तुभिः ।

‘अङ्गगात्रकण्ठेभ्य’ इति छीप् । कृशाङ्गि । प्रतिरजनि रजन्या रजन्या, वीष्पायामव्ययीभाव । स्वप्नेन ( कर्त्रा ) प्रापिताया स्वप्नदृष्टाया तव श्रीपु मीन्द्रयं—हरीपु नोऽस्माकं कटाक्षो मग्न गीत एवामृताब्धी सुधासमुद्रे श्रोत्रे मग्ने, तनु मूर्तिरेव मञ्जरी कुमुभणुच्छ तस्या सौकुमार्ये भार्दवे त्वगपि मग्ना । ननु स्वासाधिवासे निश्वासमारुतसौरभे नासा मग्ना अधरमधुन्यधरा-मृते रसज्ञा रसना मग्ना चरित्रेषु चेष्टामु चित्त मग्न तत् तस्मात् कैश्चित् करणैरिन्द्रिरीरव हरिणैस्त्व वायुरा मृगवयिनी रज्जु न लम्बिता न प्राप्तासि सर्वैरपि प्रापितेभ्यः । अस्माकं सर्वेन्द्रियसम्माह्न ते रूपधित्पमिति भाव । अत्र चतुषपादाशयस्य पूर्वपदवाक्यार्थहेतुत्वाद्वाक्यार्थहेतुक वाच्यलिङ्ग तच्च करणहरिणैरित्यादिरूपेण सङ्कीर्यत । पूर्वोक्तमव यत्तम् ॥ १०६ ॥

अन्वय —ननु कटाक्ष प्रतिरजनि स्वप्नेन प्रापिताया तव श्रीपु मग्न, श्रोत्रे गीतामृताब्धी, त्वक् अपि तनूमञ्जरीसौकुमार्ये, नासा स्वासाधिवासे, रसज्ञा अधरमधुनि, चित्त चरित्रेषु, तत् तवलिङ्ग, न कैश्चित् करणहरिणै वायुरा न लम्बिता ( पाठांतर ‘लङ्घिता’ ) अस्ति ।

हिन्दी—निश्चयत ( हम देवों का ) कटाक्ष ( नेत्र ) प्रतिरात्रि को स्वप्न में प्राप्त ठेरी ( दमयन्ती की ) अपार शोभा में डूब गये हैं, कान ( तैरे ) गीता के अमृतरस के सागर में, त्वचा भी ( तैरे ) शरीर रूपी मञ्जरी की मुकुमारता में, नासिका ( तैरे ) निश्वास सुगन्ध में, रसना ( जीभ ) अधर-मुधामधु में और चित्त ( तैरे ) चरित्रों ( दैनंदिन विलासादि व्यापारों ) में, सी है मुकुमारि, हमारे किन इन्द्रियरूप हरिणों ने ( तैरे रूप में ) बघनरज्जु नहीं प्राप्त करती है ? ( सभी इन्द्रिय रूप हरिण तेर सम्मना में बढ हैं । ) अथवा किसी इन्द्रिय-हरिण न वायुरा रूप तुझ दमयन्ती का लघन नहीं किया है—सब तेरे वश में हैं ।

टिप्पणी—भाव यह है कि देवगण दिन-रात दमयन्ती का ही विचार करते हैं । स्वप्न में भी प्रतिरात्रि उसे ही देखते हैं, क्योंकि बिरही देव गान् निद्रा लीन हा नहीं पात । उनकी पाँचो इन्द्रियाँ दमयन्ती की शोभा आदि के वश में पाशबद्ध हरिणों जैसी हैं । नारायण न यह आश्चर्य उठायो है कि देवों का स्वप्न कैसा ? उसके कई समाधान भी उपस्थित किए हैं । ( १ ) तन्मृत देवों को स्वप्न नहीं आते, नरद्वैत ने यह स्वानुभववाच्य पर कहा । ( २ ) बिरह

मैं रजनी चित्तके प्रतिभूल है, ऐसी दमयन्ती स्वप्न अर्थात् विनय्य ज्ञान बन गयी है । ( ३ ) उन्मादावस्था के कारण दमयन्ती ही देवों को सर्वत्र व्याप्त दीखती है । ( ४ ) रजनी अर्थात् हृदिदा के प्रतिभूल, चित्तहृदि दमयन्ती । भाव यही है कि दमयन्ती का रूप देवों की समग्र इन्द्रियों का मोहक है । आम्परा छन्द । विदाधर के अनुसार छेकानुप्राण-रूपक-दीपक अलंकार हैं । मल्लिनाथ के अनुसार चतुर्थ चरण का अर्थ पूर्व ■ वाक्यों के अर्थ का हेतु होने के कारण वाक्यायहेतुक काव्यलिङ्ग है औ- वह 'करणहरिणी' हृन्दादि रूपक से सूचीन है, अर्थात् काव्यलिङ्ग रूपक का सूकर ॥ १०६ ॥

इति ध्वनिसुरसायंवाचिकत्रयनिजरसनात्तत्प्रहारकस्य ।

सफल्य मम दूतना वृणोष्व स्वयमवधार्यदिगोशमेकमेव ॥ १०७ ॥

जीवानु- इतीति । इतीत्य धृता मुरजार्थस्येन्द्रादिवृन्दस्य वाचिबलक  
 सन्दर्शनावपरम्परया येन तस्य निब्रस्य रसनातलस्यैव पत्रस्य लेखस्य यो  
 हारकस्तस्य मनः कूतता मुफल्य सकला कुरु, एषु मध्ये एक दिगीय स्वयमान्न-  
 नंवावधार्यं निदिधित्य धूणीष्व धूणीया । वाचिरी व्याख्यात । अत्र नत्तून्य-  
 साकल्यस्य वरणवाक्यार्थहेतुत्वात् पूर्ववदङ्गार । न च रसनातलपत्रस्य यो  
 हारकस्तस्येति ह्यकेन सङ्कीर्णने । पुनितारा वामम् ॥ १०७ ॥

अन्वय—एषु एक दमीय स्वयम् अवधार्ये वृणीष्व—इति धृतमुरताय-  
वाचिकसङ्गिनिरसनान्तिपत्रहारस्य मम इतता सङ्गस्य ।

हिन्दी—इन ( वर्णित ) में से एक दिक्पाल का स्वयम् विचार करते (हे दमयन्ति, ) वरण कर लो, और इस प्रकार देवपण की सदृशाला का धारण करते अपने जिह्वा रूप यत्र की लाने वाले मेरा (नरका) दूतन्व सन्ना बनाओ ।

हिण्णी—इन्द्रादि चारों दिक्पालों की विरहदशा, उनको उत्कट कामना छात्रि का प्रमथ विस्तृत विवरण उपस्थित कर नल ने उपसहार में दमदमी से निवेदन किया कि इन्द्र, अग्नि, वरुण, यम में से अपने आप विचार करके जो उसे रचे, उसको वह बर ले और नल का दूतत्व सफल बनाये। मन्त्रिनाथ के अनुसार इस श्लोक में नल की दूतता के सफल होने में वरुण के वाक्यार्थहेतुक होने के कारण काव्यलिङ्ग है और उसका 'रसनातल्पन' रूपक से सुकर है,

अतः पूवः श्लोकवत् सकरः अलकारः है । विद्याधर ने रूपक का निर्देश किया है ।  
पुष्पाशया छन्दः है ॥ १०७ ॥

आनन्दयेन्द्रमयः मन्मथमग्नमग्निः केलीभिर्द्वरः तनूदरः । नूतनाभिः ।  
आसादपोदितदयः शमने मनो वा नो वा यदोत्थमयः तद्वरुणः वृणीया ॥

जीवातु—आनन्दयेति । हे तनूदरः । कुक्षोदरः । नूतनाभिरभिनवानि  
केलीभिः क्रीडाभिः मन्मथमग्नमिन्द्रमानन्दय अथवा तारुण्यमेव अग्निं तामिद्वरः,  
अथवा शमने यमे उदितदयः जातानुकम्प्य मनः आसादयः निवेशय । इत्थं नो  
वा यदि अथ तत्तर्हि मन्मथमग्नं वरुणं वृणीया वृणीष्व ॥ १०८ ॥

अन्वयः—तनूदरः, नूतनाभिः केलीभिः मन्मथमग्नम् इन्द्रम् आनन्दय अथ  
अग्निं उदरः वा शमने उदितदयः मनः आसादयः अथ यदि इत्थं नो वा तद् वरुणं  
वृणीया ।

हिन्दी—हे कुक्ष उदर वाली ( दमयन्ति ), ( वरुण करने के पश्चात् )  
नयी नयी विलास क्रीडाओं द्वारा शममग्न इन्द्र को आनन्दित करो अथवा  
अग्नि का उदर करो अथवा यम पर दयापूर्ण मन करो और यदि ऐसा न  
कर सकी तो वरुण का वरुण कर लो ।

टिप्पणी—अतः में पृथक् पृथक् नामोत्प्लेख करते हुए मल भं पुनः दमयन्ती  
से इन्द्राग्निमयवरुण भे से किसी एक का वरुण करके उसे कुतार्थ करने की  
प्रार्थना की । सभी काम के सागर में आपादमस्तक डूबे हैं, अप्रियत-पीडित हैं ।  
चारों में किसी एक पर अनुग्रह दिखानी दमयन्ती मल की दूतवा सफल बनाये ।  
वसन्तविलका छन्दः ॥ १०८ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीर सुत  
श्रीहीर सुपुत्रे जितेन्द्रियचयः मामल्लदेवी च यम् ।

तत्समागादयमष्टमः कविकुलादृष्टाध्वपान्ये महा-

काव्ये चारुणि वैरसेनचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥ १०९ ॥

जीवातु—श्रीहर्षमित्यादि । कवीनां कुत्रेण समूहेन अष्टमे अध्वनि  
मत्पाद्य नित्यपथिक तस्मिन् चारुणि शोभने वैरसेनेनैतस्य चरिते तस्य श्रीहर्षस्य  
महाकाव्ये निसर्गोज्ज्वलोऽयमष्टमः सर्गः आगात् सम्पूर्णः इति भावः ॥ १०९ ॥

इति मल्लिनाथमूरविरचिते 'जीवानु' समाख्याने अष्टमः सर्गः समाप्तः ॥ ८ ॥

अन्वय—कविराजगतिमुकुटालङ्कारहीनः सुपुत्रे तस्य कविकुला-  
दृष्टाऽन्वये चागतिं वैरमेनिचरिते महाकाव्ये निमग्नोऽभवत् जयम् अष्टमं सर्गं  
ब्यात् ।

हिन्दी—दो चरणों का अर्थ पूर्ववत् । उसके कविकुल ( कालिदासादि  
प्राचीन कविमण्डल ) द्वारा उल्लेख्य के पथिक ( अपूर्वप्रमेयनगिपुष्ट, अपूर्व ),  
मनोरम वैरसेनि ( नल ) चरित महाकाव्य में निमग्नोऽभवत् यह आठवाँ सर्ग  
पूर्ण हुआ ।

टिप्पणी—कविकुलादृष्टाऽन्वये का विग्रह 'कविकुलेन आदृष्टोऽन्वा-  
तम्य पान्ये भी जिया जा सकता है । इस प्रकार अर्थ होया पूर्वकवियों द्वारा  
मनो मीति अवलोकित पथ का पथिक । ऐसा ही विनय 'मपी वयममुत्कीर्णो  
मृत्रम्येवाम्ति में गति ' कहकर महाकवि कालिदास ने प्रदर्शित किया था । पर  
कदाचित् टीकाकारों ने 'आट्टाष्टव' की अपेक्षा 'अट्टाष्टव' ही पाठ अधिक  
रुचिर प्रतीत होता है । सभव है, आह्वय की गवोक्तियों के अनुरूप यही हो,  
प्रस्तु यदि आह्वय में कुछ विनय दीख सके तो बनाव नहीं होता चाहिए ।

नैयधीयचरित का अष्टम सर्ग समाप्त ।

# नैषधीयचरितम्

## नवमः सर्गः

इतीयमक्षिभ्रुवविभ्रमेङ्गितै स्फुटामनिच्छा विवरोनुमुत्सुका ।

तदुक्तिमाश्रयवपेच्छयाञ्मृगोद्विगोसन्देहगिरौ न गौरवात् ॥ १ ॥

जीवानु—अथ दमयन्तीवृत्तान् वक्तुं विवरोनुमुत्सुकाश्च वादयिता-  
मिन्द्राद्यनुरागशृङ्गा तावदाख्यति—इतीति । इयं दमयन्ती अक्षिणो च भ्रुवी  
च अक्षिभ्रूव इन्द्रं कवञ्जाव । 'अचतुर' इत्यादिना ममासां तादिनिपातनात्  
साधु । तस्य विभ्रमो विकारः स एव इङ्गित चेष्टा तैरेव स्फुटा व्यक्तम-  
निच्छामिन्द्रादिविषयमिति शेषः । तथा विवरोनु वाचा निपेक्षुमुत्सुका  
उद्युक्ता मती । 'इष्टार्थोद्युक्त उन्मुक्त' इत्यमरः । निपेक्षस्य ज्ञानपूर्वकत्वात्  
सज्जानार्थममृगोद्विगयः । किञ्च तदुक्तिमाश्रयवपेच्छया नलवागमुवपिपासया  
चेत्यर्थः । द्विगीशसन्देहगिरि जम्बूगोत् । मानपदव्याख्यं माह—गौरवादिनि ।  
न तु द्विगीशादीनां गौरवात् । अस्मिन् नो वशम्यदुत्तमम् । अज्ञाननूतनना-  
दिमर्तो ॥ १ ॥

अन्वयः—अक्षिभ्रुवविभ्रमेङ्गितै स्फुटाम् अनिच्छा विवरोनुम् उत्सुका  
इयं तदुक्तिमाश्रयवपेच्छया द्विगीशसन्देहगिरि जम्बूगोत्, गौरवात् न ।

हिन्दी—नेत्र और भ्रुवटि के विकार-संकेतों द्वारा स्पष्ट अनिच्छा प्रकाशित  
करने की उत्सुक यह ( दमयन्ती ) उस ( नल ) के वचनमात्र सुनने की इच्छा  
से दिक्पालों के संदेश वचन सुनती रही, ( उन देशों के प्रति ) जादर से नहीं ।

टिप्पणी—दमयन्ती क्योंकि नलानुरागिणी थी जत उतने दिक्पालों के  
संदेश को सुनकर भी अननुना कर दिया । वह सुनती भी इसलिए रही कि  
उसे नल की वाणी अमृत सुख लाती थी ( नै० च० ८।४९ ) । उसने देशों  
के प्रति अपनी विरक्ति अपने नेत्र भ्रू आदि विकारों ने स्पष्ट कर दी । विद्याधर  
के अनुसार इस पत्र में अविशयोक्ति भाषोदय-काव्यिणी अलङ्कार हैं । सर्ग में  
श्लोक मत्वा १—१५५ तक वक्ष्य्य उद है ॥ १ ॥

तदर्पितामश्रुतवद्विधाय ता दिगीशसन्देशमयी सरस्वतीम् ।

इदं तमुर्वीतलशीतलद्युतिं जगद वैदर्भनरेन्द्रनन्दिनी ॥ २ ॥

जीवातु—तदिति । वैदर्भनरेन्द्रनन्दिनी दमयन्ती तेनानलेनार्पिता प्रयुक्ता दिगीशसन्देशमयी तद्रूपा सरस्वती वाचमश्रुतवद्विधायाम्श्रुतामिव कृत्वा । 'तेन हुत्प क्रिया चेद्वति' । उर्वीतलशीतलद्युतिं भूलोकचन्द्र तं नलमिदं वक्ष्यमाणं जगदं गदितवती ॥ २ ॥

अन्वय — वैदर्भनरेन्द्रनन्दिनी तदर्पिता दिगीशसन्देशमयी ता सरस्वतीम् अश्रुतवत् विधाय उर्वीतलशीतलद्युतिं तम् इदं जगद ।

हिन्दी—विदर्भराज को नदित करने वाली (पुत्री दमयन्ती) उस (दूत नल) द्वारा कथित दिक्पाली के संदेश से युक्त उस वाणी को अनसुनी जैसी करके मृतल के चन्द्र उसे ( नल ) से यह बोली ।

टिप्पणी—दमयन्ती को संदेश के प्रति अनादर होने से उसमें कारुं रवि नहीं थी, सो दिक्पाली के वरण-संबद्ध संदेश-वचनों को अनुसना करती हुई पृथ्वीतल को चन्द्रतुल्य आह्लादित करनेवाले नल से आगे कहे वचन कहने लगी । प्रत्युत्तर न देकर अपना मनोरथ व्यक्त किया दमयन्ती ने । आकाश के देवों की अपेक्षा पृथ्वी का राजा अधिक उपयुक्त अगता ही चाहिए । आकाश का सत्य कल्पना का होता है, धरती का वास्तविक । विद्याधर के अनुसार उपमान-रूपक अलंकार ॥ २ ॥

मयाङ्ग । पृष्ठं कुलनामनी भवानमू विमुच्यं विमन्यदुक्तवान् ।

न मह्यमन्तर्धारयस्य किं हितेऽपि सेयं भवतोऽधमर्णता ॥ १ ॥

जीवातु—मयेति । हे अङ्ग । भो धीमन् । मया भवान् कुलनामनी पृष्ठं सन् पृच्छतेदुं हादित्वादप्रधाने कमणि वत, 'अप्रधाने दुहादीना'मिति वचनात् । किं किमर्पणम् कुलनामनी विमुच्य अम्यदुक्तवान् किमप्यसङ्गतमिव प्रलपसीति भावः । तदवचने को दोषस्तत्राह—नेति । अलं कुलनामप्रदानं मह्यमुत्तमर्णयि इति शेषः । 'धारेरुत्तमर्णे' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्योः । धारयतीति धारय 'अनुपसर्गात्तिष्पविदधारि' इत्यादिना धारत्यम् । उत्तरत्य धारय तस्य भवत तव सेयमधमं ऋणेन अधमणः । मयुरव्यसकादित्वात् तत्पुरुषः । तस्य भावरतता सा हितेऽपि न किम् ? लोके उत्तमर्णेन याच्यमानस्याधर्मस्य उदप्रदानं रुज्जामै भवत्येव, भवतस्तु सापि नास्तीति भावः ॥ १ ॥

अन्वय — अहम्, मया कृत्नामनी पृष्ठं भवान् अमुं विमुच्य किम् प्रयत्नं सन्दात् । अत्र मह्यम् उत्तरधारण्यं भवत सा इयम् जन्ममार्गा किं हिन्दे क्वि न ?

हिन्दी—प्रिय महाशय, मेरे ( दमयन्ती के ) द्वारा कृत्ल और नाम पूरे जाने पर आप ( नल ) ने इन्हें ( कृत्ल-नाम को ) जोड़कर क्या और सब कह डाला । इस विषय में मेरे निमित्त उत्तर ( हर श्रृंग ) के धारक आपका वह यह अप्रमत्तभाव ( गूढ़ी रहना ) क्या राजा के निमित्त भी नहीं है ? ( है ही ) ।

टिप्पणी—दमयन्तीने नल के नाम-कृत्ल को जिज्ञासा की थी, परन्तु नलने वह न बता कर देववरण का प्रभाव रख दिया । यह शिक्षाचार विरुद्ध है । अपना नाम घाम परिधय बता कर सब किनी कुमारी के समुख ऐसा आत्मीय प्रभाव रखा जाता है । इस पर दमयन्ती ने उचित रूप में ही नल को लज्जित होने को कहा । जिस प्रकार श्रृंगदाता का श्रृंग न चुकाना अवमर्ण के लिए राजा का विषय होता है, ऐसे ही उचित उत्तर न देकर इपर-उपर को दूसरी बात छेड़ना भी लज्जास्पद और असम्य व्यवहार है । एक सामान्य व्यक्ति भी ऐसे अनुचित व्यवहार पर लज्जित होता है, नल जैसे श्रेष्ठ व्यक्ति को तो और भी लज्जित होना चाहिए । विद्यापद के अनुसार काव्यलिंग अलंकार ॥ ३ ॥

अदृश्यमाना क्वचित्प्रीतिता क्वचिन्ममानुयोगे भवनं मग्ध्वती ।

क्वचित्प्रकाशा क्वचिदम्पुटार्पणं सरस्वती जेतुमना मग्ध्वतीम् ॥८॥

जीवानु—अदृश्यमानेति । मनानुयोगे प्रश्ने विद्यते । 'प्रश्नोऽनुयाय पृच्छ । च' इत्यमर । क्वचित् कृत्नामविषये अदृश्यमाना अप्रकाशितेऽप्यर्थः । क्वचित् कुत नागतं कस्य त्वमिदं ईक्षिता दृष्टा प्रकाशितार्येति यावन् ईदृशी भवत सरस्वती क्वचित् प्रकाशोदका क्वचिदम्पुटार्पणमप्रकाशोदका सरस्वती वाच सरस्वती नदी च । 'सरस्वती नदीभेदे गीर्वाणदेवतयोगि' । स्त्रीरूपे चाप-गायत्रि' इति विश्व । जेतुं मनो यस्या सा जेतुमना 'तु ज्ञानमनसोरपि' इति मकारणोप । जत्र न वाच सरस्वतीनदीयमनम्ब घातज्विषीयोत्प्रेसा व्यङ्ग्यप्रयोगादगम्या । तथा चापमा व्यज्यत इत्यङ्गारेणालङ्कारव्यति । ४।

अन्वय — नम अनुयोगे क्वचित् अदृश्यमाना क्वचित् ईक्षिता भवत सरस्वती क्वचित् प्रकाशा क्वचित् अम्पुटार्पणं सरस्वती सरस्वती च जेतुमना ।



हिन्दी—मेरे (दमयन्ती के) अनुयोग ( प्रश्न के विषय ) में कही अहम्भ  
( उत्तर न देती ) और कही दृश्यमान ( उत्तर देती ) आपकी सरस्वती ( वाणी )  
कही प्रकाशित ( जल प्रकट करती ) और कहीं जल न प्रकट करती सरस्वती  
नदी और सरस्वती ( वाग्देवता ) को जीतने की इच्छुक प्रतीत होती है ।

टिप्पणी—दमयन्ती के कुछ प्रश्नों का उत्तर तो नल ने दिया—जैसे कहीं  
से आये हो, इस प्रश्न का उत्तर दिया—‘हरित्यतीना सदस प्रतीहि त्वदीय-  
मेवातिथिमागमाम् ।’ ( दिग्गर्लों द्वारा भेजा गया मैं आपका ही अतिथि  
हूँ । नं० ७० ८।१५ ) । कुल नाम के विषय में उत्तर नहीं दिया । इस  
प्रकार कही तो नल की सरस्वती ( वाणी ) प्रकट रही, कहीं अप्रकट । यही  
स्थिति सरस्वती नदी की मानी जाती है । कही उसका जल पीछता है, कही  
नहीं । दमयन्ती का ध्येय है कि कदाचित् नल की सरस्वती बैसा ही आचरण  
करके सरस्वती नदी और साथ ही मूडागुट रहती वाग्देवता सरस्वती को भी  
जीतने की इच्छुक है । भाव यह है कि यह व्यवहार छोड़कर कुल नाम  
वताना नल का कुतूहल है । विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा । मल्लिनाथ के  
द्वारा अलङ्कार से अलङ्कार ध्वनि है, क्योंकि यहाँ सरस्वती नदी के धर्म सवय  
से नल की वाणी के जीतने की उत्प्रेक्षा का प्रयोग न होने से गम्या उत्प्रेक्षा  
है, जिसमें उपमा व्यजित होती है ॥ ५ ॥

गिर धृता एव तव श्रवःसुधा भवन्नाम्नि तु न श्रुतिस्पृहा ।  
पिपामुक्ता शान्तिमुपैति वारिणा न तु दुग्धा मधुनोऽधिकादपि ॥  
जीवानुं गिर इति । श्रवःसुधा कर्णमृतानि तव गिर धृता एव,  
किन्तु भवन्नाम्नि विद्वद्विश्रुतिस्पृहा न इच्छा न निवृत्ता । न च  
मुरम-देशयवपादेन निवृत्तिरित्याह । न च पिपामुक्ता पिपासेत्यर्थः । वारिणा  
वारिपानेनैव शान्तिमुपैति अधिकान्तरात् । दुग्धात् क्षीरात् मधुना क्षीराद्वा,  
जातु कदापि न शाम्यति, अन्वयः । शान्तालङ्कार ॥ ५ ॥

अन्वय—श्रव सुधा तव गिर धृता एव ॥ भवन्नाम्नि श्रुतिस्पृहा न  
इच्छा, पिपामुक्ता वारिणा शान्तिम् उपैति, अधिकात् दुग्धात् मधुना अपि  
जातु न ।

हिन्दी—कर्णमृत रूप तुम्हारी ( नल की ) वाणी ( वचन ) तो सुन ही

सी किन्तु धार ( नल ) के नाम के विषय में श्रुति (नुनने की अथवा कानों) की आवाजा शिथिल नहीं हुई। निपासा (प्यास) जल से शांति को प्राप्त होती है, अधिक दूध अथवा मधु से भी शांत नहीं होता।

टिप्पणी—दमयन्ती ने कहा कि नल के वचन तो पर्याप्त मात्रा में सुनने को मिल गये। ये कानों को अमृत के समान प्रिय लगे, किन्तु नाम कुल नहीं जानने का मिला। उनके विषय में उत्कृष्ट श्रेय है। तो जिस वस्तु की इच्छा—आवश्यकता होगी वही वस्तु प्राप्त होने पर सन्तुष्टि होती है, अन्य पूर्वप्राप्त अथवा अप्राप्त—मन्त्र ही वह अधिक मूल्यवान् हो—वस्तु प्राप्य की इच्छा पूर्ण नहीं कर सकती। उदाहरणार्थ प्यासे की प्यास जल से ही बुझेगी, पर्याप्तमात्रा में बहुमूल्य दूध या मधु प्राप्त हो जाने से प्यास नहीं बुझ सकती। जैसे निपामु की जल अंतर्जित होता है, वैसे ही दमयन्ती की इच्छा नल का कुल नाम जान कर ही पूरा होगी, देखभरण प्रत्याश अंतर्जित नहीं। नल को कुल-नाम ही बनाना चाहिए। मल्लिनाथ के अनुसार दशत और विद्याधर के अनुसार रुक्म और जयान्तरम्मास ॥ ५ ॥

विमर्ति वरा कनमन्ममोऽह भवाद्दृश नायकरत्नमोदृगम् ।

तमन्यमामान्यधिपाज्वमानित त्वया महान्त बहु मन्तुमुत्तरे ॥ ५ ॥

जीवानु—विमर्ति। तमोऽह भवाद्दृशमोदृश नायकरत्न राजश्रेष्ठ हारमण्य-  
मर्ति च 'नायको नेतरि श्रेष्ठे हारमन्ममोदृश' इति विश्व । कनमो वरा  
कूल वेत्तु च । 'वरो वरो कृते वर' इति विश्व । विमर्ति ? किमर्थमिति चेत्  
अन्यमामान्यधिपा पूर्व सर्वसाधारणबुद्ध्या अवमानित दृष्ट त्वयाप्यद्य त्वया  
महान्त तमन्मममात्र वरा वत् मन्तु बहुकर्तुमुमहे, नवींति हि वयो मान्यं  
पुरुषधौरेयैव प्रकाशने न स्वरूपत इति नाव । जत्र मध्यमगिरूपार्थान्तर-  
प्रतीतिर्वनिरेव । अत्र वेपोन्वैकायोनिव्ये प्रमाणम् । 'करी द्रवीमूतवराह-  
शङ्खनन्पाग्निशुक्लपुद्गववेगुजानि । मुक्ताफलानि शिवानि लोके तेषां तु  
शुक्लपुद्गवमेव मरि' ॥ इति ॥ ५ ॥

अन्वय —तमोऽह भवाद्दृशमोदृश नायकरत्न कनमो वरा विमर्ति, अन्य-  
मामान्यधिपा अवमानित त्वया महान्त न बहु मन्तुम् उत्तरे ।

हिन्दी—अन्धकार को दूर करने वाले आनन्द इस ऐसे नायक रूप रत्न को  
कोन सा वरा—( मूर्तकुल, चन्द्रकुल ) रूप वरा ( वीर ) धारण करता है ?

अथ हाथाय बुद्धि से तिरस्कृत ( श्रुति ) आपसे महान् स्वीकृत उस ( कुल-बाँस ) को मैं ( दमयन्ती ) अत्यन्त समान देने को उत्साहित हूँ ।

टिप्पणी—दमयन्ती यह जानना चाहती है कि समुख उपस्थित व्यक्ति सूर्यकुल में जन्मा है अथवा चद्रकुल में ? नल-जैसे श्रेष्ठ, नायक गुणा से युक्त व्यक्ति के उत्पन्न होने से ही वह वध धन्य कहाया है, उसमें पूर्व नहीं था, जैसे कि बाँस अच्छा रत्न उत्पन्न होने से ही समान पाता है, अथवा कौन बाँस को पूछे ? रत्न देखकर ही बाँस का समान होता है । ऐस ही नल से वध समानित है, वैसे नहीं । महापुरुषा के कारण ही वध महान् होता है । विद्याधर के अनुसार श्लेष अलङ्कार । मस्तिनाथ के अनुसार नायक के मध्य मणिरूप अर्थान्तर प्रतीति ध्वनि ही है । नायक अर्थात् श्रेष्ठ, नेता, हार के मध्य की मणि ॥ ६ ॥

इतीरयित्वा विरता पुन म ता गिरानुजग्राहतरा नराधिप ।

विरत्य विश्रान्तवती तपात्यये धनाघनशघातकमण्डलीमिव ॥ ७ ॥

जीवातु—इतीति । इतीरयित्वा इत्य ष्याहृत्य विरता तूष्णीभूता ता भैमी स नराधिप नल तपात्यये ग्रीष्मात्ते विरत्य विपामया आश्रय विधातवती विरता चातकाना मण्डली समूह धनाघनो वर्षाशब्द इव । 'वर्षाशब्दो घनाघना' इत्यमर । पुनगिरा वचनेन मजितेन चानुजग्राहतरामतिशयेनानुगृहीतवान् आदरात् प्रत्युवाचेत्यय । 'किमेतिङ्' इत्यादिना अम्प्रत्यय ॥ ७ ॥

अन्वय—इति ईरयित्वा विरता ता तपात्यये विरत्य विश्रान्तवती चातक-मण्डली घनाघन इव स नराधिप गिरा पुन अनुजग्राहतराम् ।

हिन्दी—यह कहकर उस ( दमयन्ती ) के विरत ( चुर ) हो जाने पर जैसे ग्रीष्म की समाप्ति पर प्यास से चिन्ताने चातको के समूह पर धरसार घादल कृपा करता है, वैसे ही वह राजा ( नल अपने ) वचनो से ( दमयन्ती को ) पुनः अतिशय अनुगृहीत करने लगा ।

टिप्पणी—जैसा कि दमयन्ती वचन से प्रकट हुआ, दमयन्ती नल की मधुरा वाणी से अत्यन्त प्रसन्न थी और वह नल का कुछ नाम जानना चाहती थी । नल द्वारा अपने वचन का प्रत्युत्तर दमयन्ती को वैसा ही प्रतीत हुआ,

जैसा ग्रीष्मकात् के शत में प्यास से व्याकृत चातका ( पपीहो ) को बादल-

बगुने पर होता है। वचनवाणि की धासी हूँ दमयंती और 'धन' धन' है राजा नल। उपमा बलकार। विद्याधर के अनुसार दम्पत्य अलङ्कार उक्तानुप्रासः।

अरे ! मनोदासिनमेव जिह्वया द्वयेऽपि तस्मिन्ननतिप्रयोजने ।

गरी गिर, पल्लवनायंलाघवे मितञ्च मारुच्च वचो हि वाग्मिता ॥८॥

जोवानु—जयं इति । अरे ! दमयंति ! न विदितं अतिप्रयोजनमनति-  
प्रयोजनं यस्मिन् तस्मिन् द्वयेऽपि कुलनाम्नोद्युत्तेजनि मम जिह्वया उदासित  
माध्यम्येन स्तित, 'नपुंसके भावे वत' । तथा हि—पल्लवन विस्तरण वृत्ता-  
शब्दप्रत्ययनमिति दावत् । तत्त्वार्थलाघवे च वक्तव्यायंसङ्कोचनञ्च गिर,  
वाच गरावित्र त्रिप्रायाबुभाविन्दयं । मितमन्यासर सार महायञ्च वचो  
वाक्य वाग्मिता वक्तृत्वम्, जयया वाषाण्ठा स्यादिति भावः । 'वाचो  
मिति' । नामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ८ ॥

अन्वयः—अरे, मम जिह्वया अनतिप्रयोजने तस्मिन् द्वये अपि उदासित  
एव, हि पल्लवनायंलाघवे गिर गरी, मित सार च वच वाग्मिता ।

हिन्दी—अरे, मेरी जीभ द्वारा द्विषु प्रयोजन से शून्य उन दोनों ( कुल-  
नाम ) के विषय में उपासीनता का ही व्यवहार हुआ, क्योंकि ( ध्वर्य )  
विस्तार और कथन मकोच—दोनों वाणी के विष ( रूप ) हैं और सीधा सिद्ध  
सारपूर्ण ( कथन ) वचनों का पाठ्य है ।

टिप्पणी—नल ने कुलनाम न बताने का कारण स्पष्ट किया कि उसने  
ये दोनों बातें निरर्थक समझी, जिनके बताने से कोई विशेष लाभ नहीं ।  
जिस विषय में अधिक कहना अवशित न हो, उसे बड़ा-बड़ा कर कहा वाच  
और उपशित को सुनेर में कहा वाच, यह बोलने की कला के दुर्गुण हैं—  
विष-शून्य हानिकारक । वचन के ही पाठ्यपूर्ण समझे जाते हैं, जो सक्षिप्त  
हों, पर तत्त्वपूर्ण हों । इसी आधार पर बोलने वाले की योग्यता निर्धारित  
होती है । इसी कारण नल ने निरर्थक कुलनाम बताने बात नहीं बहायी ।  
विद्याधर के अनुसार यहाँ काव्यलिङ्ग और अर्थान्तरन्यास अलङ्कार हैं, मन्त्रि-  
नाय ने सामान्य द्वारा द्विषु समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास का निर्देश किया है ।

वृथा कथेय मयि वार्पद्धति कथानुपूर्व्यां समवेति वेति च ।

शमे समस्तान्ववहारनावयो पदे विधानु खलु युष्मदन्मदी ॥ ९ ॥

जीवातु—कुलनामकथन वृथेत्युक्त, तत्र नामकथनस्य वैयर्थ्यमाह—  
वृथेति । का वर्णपद्धतिरक्षरपङ्क्तिः । कथानुपूर्व्यानुक्रमेण मयि समकेति  
गतात्वेन सकेतितेतीय कथा प्रश्नोक्तिश्च वृथा । किमुतोत्तरमिति भावः ।  
नामरूपापरिज्ञाने कथमावयोमिथ सवादस्तत्राह—आवयोस्तव मम वेत्यर्थः ।  
त्यदायेकशेषे यत्पर तदिति वचनादस्मद शेषता । अक्षणे समीपे ममस्य  
सम्मुखेन । समीपार्थेऽध्ययीभावे शरत्प्रभृतित्वात् समासात् । व्यवहार  
मिथ सकथा विधातु युष्मच्चास्मच्च युष्मदस्मदी पदे स्वमहमित्येतां शब्दा-  
वित्यर्थः । क्षमे समर्थे खलु ॥ ९ ॥

अन्वयः—मयि का वर्णपद्धति कथा आनुपूर्व्या समका—इति इयं च कथा  
इति वृथा, खलु आवयो समक्षव्यवहार विधातु युष्मदस्मदी पदे क्षमे ।

हिन्दी—मुझ ( नल ) मे कौन से अक्षरों का क्रम किस क्रम से ( सजा-  
रूप मे ) सकेतित है—यह और इस प्रकार का प्रश्न—दोनों व्यर्थ हैं । निश्चयतः  
हमारे ( दमयन्ती नल के ) समुल्ल-व्यवहार ( सवाद ) के प्रतिपादन मे 'तुम'  
और 'मैं' पद पर्याप्त हैं ।

टिप्पणी—नल ने कहा कि यही पर्याप्त है कि दमयन्ती और नल परस्पर  
नाम से नहीं, सर्वनाम से ही परिचित हैं । 'युष्मद्-अस्मद्' ( मैं-तु ) का  
व्यवहार समुल्ल वार्तालाप के लिए पर्याप्त होता है । अतः दमयन्ती की कुल-  
नाम-जिज्ञासा व्यर्थ है । विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलङ्कार ॥ ९ ॥

यदि स्वभावान्मम नोज्ज्वल कुल ततस्तदुद्भावनमौचित्यं कुतः ।  
अथावदात तदहो विडम्बना यथा तथा प्रेक्ष्यतयोपसेदुप ॥१०॥

जीवातु—अकथने च कारणमाह—यदीति । मम कुल स्वभावाद्गुज्ज्वल-  
मकलङ्क न यदि, ततस्तद्वि तस्य कुलस्थोद्भावन प्रकटनं कुत औचित्यं  
औचित्यं नोचितमित्यर्थः । धर्मधर्मिणोभेदोपचारात् औचित्यं व्याख्यातव्या ।  
अथावदातमुज्ज्वलं तथापि यथा तथा कथञ्चिदपि प्रेक्ष्यतया किङ्करतया  
उपसेदुप प्राप्तस्य मम तत् कुलोद्भावनं विडम्बना परिहासः । अहो ॥ १० ॥

अन्वयः—यदि मम कुल स्वभावात् उज्ज्वलं न, ततः तदुद्भावनं कुतः  
औचित्यं अहो, अथ अवदातं तत् यथा तथा प्रेक्ष्यतया मम विडम्बना ।

हिन्दी—यदि मेरा कुल स्वभावतः ( प्रकृत्या ) निर्मल नहीं है, तब उसका

प्रकाशन ( बताना ) किस प्रकार औचित्य है ? ( नहीं है ) । और यदि सज्ज्वल है, तो जैसे तैमै मेरी प्रेष्यता ( दूत होकर भेजा जाना ) के कारण ( कूल-प्रवाशन ) महान् उपहास ही है ।

टिप्पणी—नाम कथन इसलिए व्यर्थ है कि प्रत्यक्ष-व्यवहार में सर्वनाम से काम चल जाना है और कूल बताना इसलिए उचित नहीं है कि वश के मलिन होने पर उसका प्रकट न होना ही नष्ट होता है, और कूल निमल हो तो दूत-कार्य में आने के कारण कूल का उपहास होगा । वत न बताना ही औपेक्षिक है । विद्याधर के अनुसार हेतु अलंकार ॥ १० ॥

इति प्रतीत्यैव मयावधीरिते तथापि निर्वन्धरसो न शोभते ।

हरित्यतीना प्रतिवाचिक प्रति श्रमो गिरा ते घटते हि सम्प्रति ॥ ११ ॥

जीवातु—इतीति । इतीत्य प्रतीत्य कुलनामकथन व्यर्थेति निदिष्टत्वं मयावधीरिते उपेक्षिते सति तदापि निर्वन्धरमा निर्वन्धेच्छा न शोभते । किंतु सम्प्रति हरित्यतीनामिन्द्रादीना प्रतिवाचिक प्रतिसादनं प्रयुत्तर प्रतीत्यर्थं । ते तव गिरा श्रम प्रयत्नं वाग्व्यापारो घटते युग्यते हि ॥ ११ ॥

अन्वय —इति प्रतीत्य एव मया अवधीरिते तव अपि निर्वन्धरस न शोभते, हि सम्प्रति हरित्यतीना प्रतिवाचिक प्रति ते गिरा श्रम घटते ।

हिन्दू—यह ( श्लोक सं० ८-१० के अनुसार ) विचार करके ही मेरे द्वारा उपेक्षित ( कूल नामकथन-विषयक प्रश्न ) के प्रति तुम्हारे ( दमपती ) द्वारा आग्रह करना अच्छा नहीं लगता, क्योंकि इस काल दिक्पाल के प्रयुत्तर के प्रति तुम्हारी वाणी का श्रम उचित है ।

टिप्पणी—मात्र यह कि निरर्थक कूल-नाम-विषयक जिज्ञासा का त्याग कर दमपती की श्रद्धादि दिक्पालों के प्रस्ताव पर विचार करके समुचित उत्तर देना ही कार्योचित और उपयुक्त है । विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग अलंकार ॥ ११ ॥

तथापि निर्वन्धति । तेज्यवा स्पृहामिहानुसन्धे मितया न किं गिरा ।

हिमाशुवशस्य कगेरमेव मा निशम्य किं नामि फलेग्रहिग्रहा ॥ १२ ॥

जीवानु—तथापीति । तथापि वैयर्थ्येऽपि निर्वन्धति ! निर्वन्धकारिणि !

बध्नाते शत्रन्ताद्गुणितश्चेति क्षीयतात् सम्बुद्धिः । इहाद्ये ते तव स्पृहा वाञ्छा

मितया गिरा नानुराघे नानुवर्ते किम् ? अनुरोत्स्यायेवेत्यर्थः । कुलस्वरूपमात्रं ज्ञायामीत्यर्थः । रघ्वेष्टि तद् । मा हिमाशुवशस्म करीर सोमकुलाकुरमेव निशम्य फलं गृह्णातीति फलेग्रहि सफलं ग्रहं आग्रहो यस्या सा सफलाभि-  
निवेशा नास्ति किम् ? सावता न तुष्यमि किमित्यर्थः । 'फलेग्रहिरात्मभूमिरिषे'  
ति निपातनात् साधु ॥ १२ ॥

अन्वयः—अथवा तथापि निर्वर्ज्यन्ति, इह ते स्पृहा मितया गिरया किं न अनुगन्धे ? मा हिमाशुवशस्य करीरम् निशम्य एव किं फलेग्रहिग्रहा न भसि ?

हिन्दी—अथवा अपने पर भी हे आग्रहवाले, इस ( कुल नाम ) के विषय में तेरी जिज्ञासा को घोषा बहकर ही क्यों न समाप्त कर दूँ ? मुम ( नल ) को शीतकिरण ( चन्द्र ) के वश का करीर ( अकुर, बालक ) सुनकर ही क्या तुम्हारा आग्रह फलित ( सफल ) नहीं है ?

टिप्पणी—अपने को चन्द्रवश का करीर ( एक सामान्य बालक ) बना कर नल ने कुल परिचय भी दे दिया और अपने को छिपा भी लिया । अपने को सामान्य कहना शिक्षाचार भी है, पर राजा सामान्य नहीं, असामान्य होता है, और नल तो विश्वविख्यात—पुण्य श्लोक था । इस प्रकार 'करीर' पद से इसका छिपाव भी हो गया । विद्याधर के अनुसार छेत्तानुप्रास और रूपक अलंकार ॥ १२ ॥

महाजनाचारपरम्परेदृशी स्वनाम नामाददते न साधवः ।

अतोऽभिधातु न तदुत्सहे पुनर्जनं किलाचारमुच्च विगायति ॥ १३ ॥

जीवानु—कुलमुक्तं नाम तु बाष्पमित्याह—महाजनेति । महाजनानां सत्तामाचारस्य परम्परा सम्प्रदाय ईदृशी । तामेवाह—साधवः सः स्वनाम नामाददते न गृह्णन्ति नाम । तामेति प्रसिद्धो—'नामानुकीर्तनं पुं सामात्मनश्च गुरो त्रिया' । दिनमेव हस्त्यायु'रिति निषेधादिति भावः । अतो निषेधात् सत् पुनस्तन्नाम तु अभिधातु नोत्सहे न शक्नोमि । 'शक्येषु' इत्यादिना तुमुन्प्रत्ययः । तथा हि—जनो लोक आचारमुचमारत्यज विगायति किल गृह्णते खलु ॥ १३ ॥

अन्वयः—साधवः स्वनाम न आददते, महाजनाचारपरम्परा ईदृशी, अतः तत् अभिधातु न जगह पुनः जनं किल आचारपुत्रं विगायति ।

हिन्दी—सञ्जन अपना नाम नहीं लेवे—महापुरुषों के आचार व्यवहार की परम्परा ऐसी ही है, इसलिये वह ( नाम ) कहने को उल्लाहित नहीं हो पा रहा है, क्योंकि फिर ( नाम बताने पर ) लोग निश्चयत आचार छोड़ देने वाले की निन्दा करता है ।

टिप्पणी—‘अप्यनान गुरोर्नाम मानानिहृताभ्यः च । आनृकामो न गृह्योपायः ज्येष्ठापत्यकम्प्रयो’—इस परम्परा के अनुसार अपना नाम बताना आचरण-विरुद्ध है, अतः लोगनिन्दा का ध्यान रखते हुए नम्र ने स्वनामोच्चारण न करने का कारण प्रस्तुत कर दिया । विष्णुधर के अनुसार काव्यार्थिग और अर्थान्तरत्यास अलङ्कार ॥ १३ ॥

जदोऽयमागम्य निस्त्रोच शारदो बभूव तूणीमहितापचारकः ।

अयागम्य रागम्य दद्या पदे पदे वचासि हसीव विदमंजाददे ॥१४॥

जीवातु—अद इति । अहितानामरीणामपचारकः अपञ्चर्त्ता अयनाहीना तारकारकोऽतिहिमाकरः । अय नञ् शरदि भव शारद, ‘सन्निवेलाद्युत्पन्नज्ञानेभ्योऽङ्’ । शिन्वी केकीव अद इद वचनमालम्ब्य व्याहृत्य तूणीं बभूव । जयान्तरमस्य वाक्यस्य मन्त्रन्विनि पदे सुसिद्धस्वरूपे पदे विषये रागस्य श्रवणेच्छया दद्यातीति दद्या धरित्री प्रत्यक्षर सुधास्रावित्वादविच्छिन्नतृप्नोत्स्ये । ‘ददातिदद्यातोविनाया’ इति दद्यातेरप्रत्यये इलाविति द्विर्भाव, ‘जजापट्टाप’ । अयन पदे पदे शरणद्वये आस्ये चन्बुपुटे रागस्य लीहित्यस्य दद्या । ‘रात्रहसास्तु ते चम्बुचरणैर्नोहिर्नं सिता’ इत्यमरः । विदमंजा वंदनीं हसीव वचास्याददे वचावेभ्यः । शरदि नि-श-दा शिन्विन रात्रहसा शब्दापन्ते तद्वदिति भावः ॥ १४ ॥

अन्वय—अहितानकारक अय शारद शिन्वी इव अद आगम्य तूणीं बभूव अथ अस्य पदे पदे रागम्य दद्या विदमंजा (आगम्य रागम्य पदे पदे दद्या) हसी इव वचासि आददे ?

हिन्दी—अहितों ( मनुजों ) का अपचार करने वाला, शारद ( श्रुतिग ) यह ( नल ) अहि ( सर्प ) को ताप ( कष्ट ) देनेवाले शरद्वान में उत्पन्न शारद ( हिंसक ) मयूर के समान यह ( पूर्वोक्त ) आलपन क- ( दोहर ) चुप हो गया, तदनन्तर इस ( नल ) के शब्द-शब्द पर अनुराग धारण करती



( मुग्ध होती ) विदमसुता ( दमयन्ती ) आस्यराग अर्थात् मुख लालिमा को प्रत्येक चरण पर धारण करती हूँ की समान वचन बोली ।

टिप्पणी—नल के वचन पर प्रतिशब्द मुग्ध हुई दमयन्ती मन लगाये उसकी बात सुनती रही और जबवह अपनी बात कहकर चुप हो गया, तब आगे आने वाले वचन बोली । यहाँ नल की तुलना वर्षाकाल में बोलकर शरत् काल में चुप हो जाने वाले मयूर से की गयी है । 'अहितापकारक' और 'शारद' नल-मयूर—दोनों का सामान्यधिकरण्य है । दमयन्ती की तुलना शरत् काल में मधुर बोलनेवाली हूँ से की गयी है, दमयन्ती 'अस्य पदे पदे रागस्य दद्या' ( नल के प्रतिशब्द पर मुग्धा ) है और हमी है 'आस्यरागस्य पदे पदे दद्या' ( लाल चोंच और चरणों वाली ) यह दमयन्ती हूँ की समानता है । कहा जाता है कि वर्षाऋतु में बोलता बोलता मयूर शरद् में चुप हो जाता है, क्योंकि उसके स्वर में कुछ विरसता आ जाती है । नल के वचन में कुछ रुक ये ही । शरत् काल में राजहूँ मधुरालाप करती है । इस प्रकार मधुरा वाणी बोलनी दमयन्ती की तुलना शारदीया हूँ से उचित ही है । रसास्वर मयूर-नल चुप हुआ, तदनन्तर मधुरस्वरा शारदीया हूँ-दमयन्ती बोली । विद्याधर के अनुसार श्लेषोपमात्कार जिसे चन्द्रालाकार ने श्लेष और उपमा का सुकर कहा है । १४।

सुधाशुवशाभरण भवानिति श्रुतेऽपि नापैति विशेषसशय ।

कियत्सु मीन वितता कियत्सु बाङ्महत्पहो वञ्चनचातुरी तव ॥१५॥

जोवातु—सुधाश्रिति । भवान् सुधाशुवशाभरणमिति श्रुतेऽपि विशेष विषये सशयस्तत्रापि क इति सन्देहो नापैति अतो विशेषो वक्तव्य इति भाव । अथावाभ्यस्तान्मोच्यते तर्हि कियद्वाच्य तदेव विविच्यतामित्याह—कियत्स्वयंपु मीन कियत्सु विषयेषु वावितता विस्तृता न किञ्चिदत्र नियामकमस्तीति भाव । किंतु तव वञ्चनचातुरी प्रतारणाच्चातुर्यं महती । अहो ! ओचितीव चचातुरी व्याख्येया ॥ १५ ॥

अन्वय —भवान् सुधाशुवशाभरणम् इति श्रुते अपि विशेषसशयः ॥ अपैति, कियत्सु मीन, कियत्सु वितता, अहो, तव वञ्चनचातुरी महती ।

हिन्दी—( दमयन्ती ने कहा ) आप ( नल ) अमृतकिरण (चंद्र) के पुल के आभूषण हैं—यह सुनकर भी विचित्र (व्यक्ति नल) होने का सदेह दूर नहीं

होता । किन्हीं ( प्रश्नों के उत्तर में ) मौन किन्हीं ने विस्तार । बहुत बड़ी है आश्चर्य कारिणी अपनी प्रतारपाचानुरी ( ठगने में कुशलता ) ।

टिप्पणी—नल ने कहा कि वह 'चन्द्रवदन काही' है, पर नाम नहीं बताया । दमयन्ती इससे संदेह में पड़ गयी कि यह चन्द्रवदनीत्यन राजा नल है ज्यवा काद भय ? इस पर उसने नल को 'वचनचतुर' कहा । कुछ प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया, कुछ का दे दिया । आश्चर्यजनक प्रतारपाचानुरी दिखाया उसने भाव यह है कि नल जैसा प्रतारक तो दमयन्ती ने नहीं देखा । जिसके दूत है, किस कान में आये हैं—तो विष्णार से बताया, पर कुलनाम एक शब्द में कह दिया । शेष परिचय में पूर्णतः मौन साध लिया । विद्याधर के अनुसारा हेतु कलकार ॥ १५ ॥

मयापि देय प्रतिवाचिक न ते स्वनाम मत्कर्णमुषामकुर्वते ।

परेण पुसा हि मयापि सङ्ख्या कुलावलाचारसहासनासहा ॥ १६ ॥

जीवानु—अथ यदुक्त नामकथन निषिद्धमिति तत्र प्रतिवन्दी गृह्णाति—मयापीति । स्वनाम मम कर्णमुषा कर्णामृतमकुर्वते जथावयने इत्यर्थं ते तुभ्य मयापि प्रतिवाचिक प्रतिसन्देशन न देय, कुत, हि यस्मात्मयापि परेण पुसा सङ्ख्या सम्भाषण कुलावलाजना कुलाङ्गनानामाचारस्य सहासन सहवासस्तस्य न सहन इत्यसहा वक्षमा । 'पचाद्यच्' । कुलस्त्रीमनाचारविरुद्धे त्यर्थ ॥ १६ ॥

अन्वय —स्वनाम मत्कर्णमुषाम् अकुर्वते ते अपि प्रतिवाचिक न देयम्, हि मम अपि परेण पुसा सङ्ख्या कुलावलाचारसहासना ।

हिन्दी—अपने नाम को मेरे कानों का पीयूष बनाते ( न बताते हुए ) तुम्हें मेरे ( दमयन्ती के ) द्वारा भी प्रत्युत्तर देना उचित नहीं है, क्योंकि मेरा भी परपुरुष के साथ सलाह कुलनारियों के आचार के साथ एकासीनता को सहने आना नहीं है ।

टिप्पणी—नल ने स्वनामाकथन में जिस लोकाचार की दुहाई दी थी, दमयन्ती ने भी उसी आधार पर कहा कि अज्ञातकुलनामा परपुरुष के साथ बान-बोज करना कुलनारियों के लिए अच्छा नहीं माना जाता, अतएव नल द्वारा उपस्थित किये गये दिक्पालों के संदेश का उत्तर देने में दमयन्ती अनुमर्ष

है । कुलस्त्री समाचार-विच्छेद कार्य वह नहीं कर सकती । विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास पाठ्यलिख अलङ्कार ॥ १६ ॥

हृदयाभिनन्द्य प्रतिबन्धनुत्तर प्रियागिरि मस्मितमाह स स्म ताम् ।  
वदामि वामाक्षि । परेषु माक्षिप स्वमीदृश माक्षिन्माक्षिपद्वच ॥१७॥

जीवातु—हृदेति । स नल प्रियाया गिरी वामयानि हृदा हृदयेन अभिनन्द्यानुमोद्य प्रतिबन्ध्या पूर्वश्लोकोक्तया अनुत्तर ता प्रिया मस्मितमाह स्म वक्तवान् । 'लट् स्म' इति भूने लट् । हे वामाक्षि ! बाह्यलोचने । वदामि । माक्षिकाभि कृत माक्षिकम् । 'मधुभेदो मधु सौद्र माक्षिकादि' इत्यमर । तेन कृतमित्यर्थे सज्ञायामित्यप्रत्ययः । तदाक्षिपत् निराकुवद् तत्संज्ञामित्यर्थः । ईदृश लोकोत्तर स्व वच परेषु परपुरुषेषु मा क्षिप मा निषेहि सत्य कुलस्त्रीणा परपुरुषसम्भाषणमनुचितमङ्गीकृत च स्वयं तु न परपुरुष इति भावः ॥ १७ ॥

अन्वय—प्रियागिरि हृदा अभिनन्द्य प्रतिबन्धनुत्तर स ता मस्मितम् आह स्म—वामाक्षि, वदामि, ईदृश माक्षिकम् आक्षिपत् स्व वच परेषु मा क्षिप ।

हिन्दी—प्रिया ( दमयन्ती ) की धाणी का हृदय से अभिनन्दन (स्तुति) करके ( दमयन्ती की ) पूर्वश्लोकोक्ति द्वारा निरुत्तर वह ( नल ) उस (दमयन्ती) से मन्दस्मित के साथ बोला—हे वचनयने, निवेदन है कि ऐसे मधु को तिरस्कृत बनाने ( मधु से भी मधुर ) अपने वचन (मेरे जैसे) परपुरुष पर मत फेंको ।

टिप्पणी—दमयन्ती ने अज्ञातकुलनामा व्यक्ति से सलाप असवीकार कर दिया, क्योंकि परपुरुष से वार्तालाप कुललक्ष्णों के आचरण के विरुद्ध है । नल ने दमयन्ती की इस वचन चातुरी की मन ही मन प्रशंसा की । इस उक्ति का उत्तर उसने पाता नहीं था, जिस आचारपालन के आधार पर नलने नाम बताना अनुचित कहा था, उसी युक्ति का सहारा लेकर दमयन्तीने भी उसे निरुत्तर कर दिया । अब नल ने प्रशंसा-मूचक मुमकान सार्य उससे निवेदन किया कि उसका वचन ठीक है । दमयन्ती अज्ञातकुलनामा व्यक्ति से सलाप न करे । अपने मधु से भी मधुर वचनों से इन्द्रादि दिक्पालों से ही सलाप करना मान कर उनके सदेव का उत्तर देने की कृपा करे । इन्द्रादि तो अज्ञातकुलनाम नहीं हैं सो दमयन्ती का दिया प्रत्युत्तर दिक्पालों के प्रति ही समझा जायेगा,

अज्ञानकुलनामा दूत ( नर ) के प्रति नहीं। अतः दमयन्ती की इस प्रकार की 'प्रतिवर्दी' का परिहारा कर ज्ञानकुलशीलगाम दिक्षपालों को ऋजुमार्ग से उतर देना चाहिए।

'प्रकाश' कार ने अन्वयांतर करके और भी अर्थ विशेष किये हैं। 'सस्मिन् मासिकम् आश्रितत् वच आहम्भ ईसा स्व परेषु मा श्रिय'—अर्थात् स्मिन् के साथ मधु को दृष्टिमान करते वचन नर ने दमयन्ती से कहे—ऐसे अपने ( मुक्त नर ) को 'यों' 'परायो' में मत टकेलो। भाव यह कि इन्द्रादि के इन रूप में उपस्थित 'पर' नहीं है, जिससे संप्राप हुआ चार-विग्रह हो। दिक्षपालान् में परिचित होने पर अत्र परता कहीं रही? इन्द्रादि के इन रूप में वह उनके समान ही दमयन्ती का अपना है। 'मासिकम् आश्रितत् वच परेषु मा श्रिय' किंतु मयि श्रियेति वा।' जयवा मधु को जवमानित करते वचन परायों से मत कहो, किंतु मुझ से कहो। मुझमें पर बुद्धि न करके यह मानो कि मैं नर ही हूँ। इस प्रकार मान बताया ही समझो। अथवा 'वशमि' अर्थात् नाम बताया हूँ, 'परेषु मा श्रिय', परायों में मत गिनो अर्थात् उपस्थित नर से अन्य है—ऐसा मत मानो। भाव यही है कि उपस्थित व्यक्ति को किसी तर्क के आधार पर परपुरुष न मान, अपना मान कर ही दिक्षपालों के संदेश का उत्तर देना ही दमयन्ती को उचित है। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और रूपक ॥ १७ ॥

करोपि नेम फलिन मम श्रम दिगोऽनुगृह्णासि न कञ्चन प्रभुम्।

त्वमिष्यमर्हामि मुरानुवासिनु रमामुनम्नानपवित्रया गिरा ॥१८॥

जीवानु—करोपि ॥ हे ममि। श्रीमदे 'मम इम श्रम मुक्तार्थप्रयास फलिन फलित 'फलवान् फलित फली' इत्यमर 'फलवर्हाम्यामिन-ज्वकतय'।' न करोपि कथं, कञ्चनैकमपि दिशं प्रभुं दिगो नानुगृह्णासि, त्वमिष्य रसो मातुर्मैवामृतं तत्र स्नानेनावगाहेन पवित्रया पूतया गिरा मुरानुवादिनुमर्हामि स्नाताधिकारत्वाद्देवपूजाया इति भावः ॥१८॥

अन्वय—मम इम श्रम फलिन न करोपि, कचन दिशं प्रभुं न अनुगृह्णासि त्वम इष्य रमामुनम्नानपवित्रया गिरा मुरान् उवाचिनुम् अर्हामि।

हिन्दो—क्या ( तुम ) इस मेरे परिश्रम को सफल नहीं करोगी? क्या

अन्वय — द्यच्चिरस्य मत्पथे अवदधन्ति इद्रेनेत्राणि अक्षानि न निममो विम् ? सत्वरपार्यमन्थर मो धिक् अस्तु, यत्र परप्रेष्यगुण अपि न द्रियत ।

हिन्दी—इतने समय तक मेरे ( नलदूत के ) मार्ग में अवहित ( प्रतीक्षा करते ) इन्द्र के नेत्रों को क्या वज्र ने नहीं बनाया है ? ( बनाया ही है, अन्यथा इतने समय बाट कैसे जोहने रहते इन्द्र-नेत्र ? ) क्षीघ्रता से क्रिये जाने वाले कार्य में विलम्ब लगाने वाले मुझ ( दूत ) को धिक्कार है, जिसमें अन्य का दूत ( अथवा 'पर' अर्थात् उत्कृष्ट दूत ) बनने का गुण भी नहीं है ।

टिप्पणी—सबमुच इन्द्र की आँखें वज्र से ही बनी हैं, तभी इतनी कठोर और दृढ़ रहकर दूत के लौटने की बाट जोह रही हैं । विलम्ब अत्यधिक हो गया है । कार्य क्षीघ्रता से संपन्न हो, यह दास का गुण होता है । पर नल क्षीघ्रतया पार्यं न कर सका, अतः वह उपयुक्त दूत भी प्रमाणित न हुआ, यह कितना खेदजनक है ? चाकरी निकृष्ट कही जाती है, पुण्यश्लोक नल उसके योग्य भी सिद्ध नहीं हो रहा है—यह कितना धिक्कारणीय है ! भाव मही है कि देवों के उत्तर की प्रतीक्षा करते करते अत्यधिक विलम्ब हो गया है, अतः अब तुरन्त उत्तर मिलना ही उचित है । 'अक्षानि'—कथन से इन्द्र के क्रोध का भी संकेत है और उसके माध्यम से अन्य दिक्पाला के कूट हो जाने का भी । इन्द्र की आँखों में वज्र है, दंडा कठोर है वह । उसके क्रोध करने पर अपराधी का विस्तार नहीं । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलङ्कार ॥ २१ ॥

इद निगद्य क्षितिभर्तरि स्थिते तयाऽभ्यधापि स्वगतं विदग्धया ।

अधिलिख स दूतयता भुवः स्मर मनो दधत्या नयनेपुणव्यये ॥ २२ ॥

जीवानु—इदमिति । क्षितिभर्तरि भूये इदं निगद्य स्थिते तूष्णीं भूतैः सति स्त्रीष्वधिलिखि विभक्त्यर्थेऽप्ययीभावे नपुसकल्लस्य । भुवः स्मर भूलोक-ममप त पुरुष दूतयता दूतकृत्ये निषिद्धमत्यतिमुदरमेव दूत कुर्वतामित्यर्थः । यथा भरत—'नोऽग्ग्वल रूपवन्तं च नाथवन्तं न चातुरम् । दूतं वापि हि दूतो वा बुधं बुय्यात्कदाचन ॥' इति । नयनेपुणव्यये नीतिचातुर्यं पत्ये मनो दधत्या निदधत्या एते नीतिभूत्या इति जानन्त्येवेत्यर्थः । अत एव विदग्धया कुशलया दमयन्त्या स्वगतमप्रवासं यथा तथा आत्म-प्रेषाम्यधापि

वमिहित 'सर्वशान प्रज्ञा न्यादध्याय स्वान मृतम्' इति दशरथे  
लज्जात् । अहो बुद्धिमान्दमेया यदेन ज्ञान द्वये निपुनवत इति भावः ॥२०॥

अन्वयः—क्षितिमर्तार इदं निज्य स्थिते नृव स्मरत दूतयता अत्रिम्नि  
नयनैरुपानये मनो दशरथा विद्वज्ज्ञा तना स्वानम् अभ्यासि ।

हिन्दा—धरती के स्वामी ( राजा नर ) के इस प्रकार ( श्लोक २०  
१७-२१ ) कहकर उठर जाने ( चुप हो जाने ) पर स्त्रियों के विषय में  
मूर्खों के काम ( अतिमुद्गर ) उम ( मर ) को दूत बनाने ( देवों का )  
स्त्रियों के विषय में नीति निपुणता का अभाव मन में धरती नीति-चतुरा  
रुत ( दमयन्ती ) ने स्वगत कहा ।

टिप्पणी—नरमुग्धा दमयन्ती ने दूत नर का चानुर्यार्थ कथन सुन कर  
मन-ही-मन विचार किया—स्वगत भाषण अर्थात् अप्रकाश कथन । वह  
सोचने लगी कि देव नारी मनोविज्ञान में जारिचित हैं । कहीं ऐसे कामदेव  
के समान सुन्दर व्यक्ति को प्रणय सदेववाही दूत बनाया जाता है ? ऐसे  
सुन्दर रूप को देखकर कौन नारी जय पुण्य का विचार कर सकती है ?  
इतीति नीतिशास्त्र में कहा गया है—ऐसे स्त्री जयवा पुण्य को दूतकार्य नहीं  
सौना जाना चाहिए, जिसका उग्ग्वल रूप हो, जो अत्यन्त चतुर हो अथवा  
रोगी हो । स्त्रियों के निकट अनव्य, मामान्य दून भेजना उचित है । इत्यादि  
ने इस विषय में ऐसे सुन्दरतन व्यक्ति को दूरर में भेज कर नीति विपश्य  
धनने ज्ञान का परिचय दिया है । विद्याधर के अनुसार अतिरेक अलंकार ।  
जलाधिपस्त्वामिदानीमपि ध्रुव परेतगज प्रजिघ्राय स स्फुटम् ।

मन्वन्वैव प्रहितोर्जिन निश्चिन नियोजितमूर्ध्वमुखेन तेजसा ॥ २१ ॥

प्रीयानु—स्वगतवाक्यमेव ह—अनेति । जलाधिपो बरुण लङ्घोरभेदात्  
लङ्घनीश्च मयि विपये मा प्रतीत्यर्थ । त्वामिदमिति मृष्टवान् ध्रुवन् ?  
स प्रजिघ्र परेतगजो यम प्रेतमुन्यश्च त्वा प्रजिघ्राय प्रहितवान् स्फुटम्-  
सदिगम् । मग्तो देवा उद्धता मरुन्वता इन्द्रेण दातुत्तेन च । 'मस्तो  
पाशनामरो' इत्यनर । प्रहितोर्जिन निश्चितमूर्ध्वमुखेन तेजसा अग्निना  
स्फुटगा च नियोजित प्रेषितोर्जिस्त । ते च प्रेषितवन्त त्वञ्च प्रेषित सत्य-  
मेवैतत् निष्फतोऽप्यमारग्न इति स्वगतमुवाचेत्यर्थ ॥ २१ ॥

अन्वय—जलाधिप मयि त्वा घृवम् अदिशत्, स परेतराज स्फुट प्रजिघास, मरुत्वता प्रहित एव ऊर्ध्वमुखेन तेजसा च निश्चत नियोजित अस्ति ।

हिन्दी—( दमयन्ती ने सोचा ) जल के स्वामी वरुण ने निश्चय ही मेरे पास आने का तुम्हे आदेश दिया है, उस प्रेतप्रमुख ने प्रकट है कि भेजा है, पवन के मित्र इन्द्र ने तो भेजा ही है और जिसका मुख ऊपर को रहता है, उस अग्नि ने तो निश्चित ही ( तुम्हे ) नियुक्त किया है !

टिप्पणी—दमयन्ती ने इशान् की नयनिपुणरहित माना, क्योंकि उन्होंने मल जैसे सुन्दरतम व्यक्ति को दूत बनाकर नीतिविरुद्ध कार्य किया था । उसी मूर्खता का यहाँ उपहास किया गया है, अर्थात् ये सब तो मूर्ख हैं ही, मूर्खता उनकी सज्ञा से ही प्रकट हो जाती है । वरुण जलाधिप है—जड़ जल का स्वामी, जड़राज । यम परेतराज है—सबसे बड़ा प्रेत, मृतकों का राजा अर्थात् मृतका—अज्ञेयता, जड़ों में धुरिप्रतिष्ठित । क्या कहना इन्द्र का ? वह है ही मरुत्वान्—वातूल, बकवादी, ऐसी बकवाद सदा किया करता है । और तेजोमय अग्नि वह तो 'ऊर्ध्वमुख' है, पिशाच, अप्रतिभ । सो इन सब ने परमसुन्दरी दमयन्ती के निकट परमसुन्दर दूत मल को भेजा, अपनी मूर्खता प्रकट कर दी । वे क्या विचार कर पाते ? विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा अलङ्कार । चन्द्रस्लाकार के अनुसार उत्प्रेक्षा-इत्येव का अगातिभाव से सकर ॥ २३ ॥

अथ प्रकाश निभृन्स्मिता मनी मनीकुलम्याभरण तिमप्यमी ।

पुनस्तदाभापणविभ्रमोन्मुख मुख विदभीधिपसम्भवादधे ॥ २४ ॥

जीवानु—अथेति । अथ स्वगतोक्त्यनन्तर सतीकुलस्य पतिव्रतावर्गस्य किमप्यतिर्वाच्यमाभरणमलङ्कारमूला असौ विदभीधिपसम्भवा वैदभी निभृन्स्मिता गम्भीरस्मिता सती प्रकाश यथा पुनस्तेन महाभापणमेव विभ्रमो विनोद तत्रोन्मुखमुत्सुक मुत्तमास्यमादधे आबभाषे इत्यर्थ ॥ २४ ॥

अन्वय—अथ सतीकुलस्य किम आभरणम् अगो विदभीधिपसम्भवा निभृत्स्मिता सती पुन प्रकाश तदाभापणविभ्रमोन्मुख मुखम् आदधे ।

हिन्दी—इसके पश्चात् सतीकुल ( पतिव्रतासमूह ) की लोकोत्तर आभूषण ( सतीधेय ) इस विदमराज की पुत्री ( दमयन्ती ) ने गुप्त भद्र हास्य करने

दुःख पुनः प्रकाश्यमान ने उस ( नर ) ने आभाषणरूप विज्ञान में उन्मुख अपने मुख को किया ।

टिप्पणी—मन ही-मन देवों की भूर्भुव पर विचार करती और हठती उत्तीर्ण, परममुद्रती दनयनी प्रकाश्य रूप से नर के प्रति वार्तालाप के निमित्त उन्मुख हुई । नारायण के अनुसार 'तदनायाविभ्रमोन्मुखम्' यह सूचित होता है कि मनी दनयनी रूप को नर मानने हुए स्वप्न मुद्र में उभरते वार्तालाप ही करने को उद्यत हुई नन्देश का उत्तर प्राणविक रहा । आभाषणमुद्र ही दनयनी का लक्ष्य था, उत्तरदान नहीं । विद्याभर के अनुसार ऐकानुमान और रूपक बलभार ॥ २४ ॥

वृथा परे ह्यस इति प्राप्नोता ननेति च त्वादृशि आम्बिहंणा ।

भवन्प्रवृत्ता च प्रवन्त्यनुनराश्च, प्रदिक्षु प्रतिवाचमस्मि ते ॥ २५ ॥

जीवानु-वृत्तेति । भवति एते त्वादृशि विषये वृथा परीहान इति वाक् । 'वपन्त्य धन्यमनुनराश्च' इति परेर्वाच । प्रवन्त्य प्राप्नोत्य शोपादहेत्यर्थ । कार्यकारणनोरभेदोपचार । भवति च वान्प्रवन्त्यनिरपेक्षोक्तिश्च, जानीष्ये द्विर्वाच । विगृहंणा गृहोक्ति न्यादिशेष । अनुत्तरात् उत्तरप्रदानात् अवज्ञा जनादरदोषो भवति । अतो हेतोः तुल्य प्रतिवाच प्रत्युत्तर प्रदिक्षु प्रशान्तिमिदुरस्मि । परमार्थनन्तु प्रत्युत्तरानहमेव दाक्षिण्यते वदामीति तात्पर्यम् । २५ ॥

अन्वयः—भवति त्वादृशि वृथा परीहाम—इति प्रवन्मता, नन—इति वाक्-विगृहंणा, अनुत्तरात् अवज्ञा भवति, अतः ते प्रतिवाच प्रदिक्षु जन्मि ।

हिन्दी—प्रवृत्तीय अत्र सदा ध्यक्ति ने व्यर्थ परित्याग करना—यह घृष्टता है, 'नन' ( निदेशान्मक उत्तर )—ये वचन विरोध निम्न हैं और उत्तर न देने से अवज्ञा (जनादर) होती है, वनएव प्रत्युत्तर देने को उद्यत हैं ।

टिप्पणी—नर के प्रति भवान् विशेषण ने जोरित होता है कि यह सब बादर भाव नर के प्रति ही प्रकट करना दनयनी का न्देश्य था उसी की प्रतिष्ठा स्वीकार कर वह उत्तर देने को तैयार हुई, इन्द्रादि के ध्यान या माहात्म्य की स्वीकृति के कारण नहीं । अन्य किसी रूप से वह बात भी नहीं करती, उत्तर देना तो दूर । जरिचन से उगहास घृष्टता होती है, सो दनयनी



पर 'प्रतिपद्यादि' रूप श्रीहावाद करने का आरोप उचित नहीं। श्रेष्ठ, आदरणीय पुरुष के प्रति निषेधवाक्य निंदा का कारण होता है, भय व्यक्ति के प्रति निरुपपत्तिक वक्तव्य विगर्हणा है, मोपपत्तिक ही कहना चाहिए। चुन रहने में भी अनादर प्रकट होता है, अतः दमयन्ती ने गव विचार कर उत्तर देने का निर्णय किया। विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग अलंकार ॥ २५ ॥

कथं नु तेषां कृपयापि वागमावसानं मानुष्यकगच्छने जने ।

स्वभावभक्तिप्रवण प्रतीद्वरा कया न वाचा मुदमुद्गिरन्ति वा ॥ २६ ॥

जीवातु—कथमिति । तेषामिन्द्रादीनां कृपयापि ( कथं ) मानुष्यस्य भावो मानुष्यकम् । 'योपधाद् गुरूतोत्तमाद्भुम्' । तदेव लाञ्छनं कलङ्को यस्य तस्मिन्निर्दोषजनविषयेऽस्मिन्नित्ययम् । अस्मी वागस्मान् वृणीष्वेति वचनं कथमसावि सूता अनुचितमित्यर्थं मूले कर्मणि लुट् । वा अथवा ईश्वरा स्वामिनः स्वभावभक्तिप्रवण जन प्रति कया वाचा मुद नोद्गिरन्ति भक्तवात्सल्यात् मीचमपि भक्तजनमप्युष्णयापि वाचा बहु कुर्वन्ति कृपादिव स्वामिन इत्ययम् । तथा च तद्वचनमुपचारत्वेन गृह्यते । न तु कर्तव्यतयेति भावः ॥ २६ ॥

अन्वयः—मानुष्यकगच्छने जन अस्मी वाक् तेषां कृपया अपि कथं नु असावि ? वा ईश्वरा स्वभावभक्तिप्रवण प्रति कया वाचा मुद न उद्गिरन्ति ?

टिप्पणी—मानुष्य होने के लाञ्छन में युक्त व्यक्ति ( दमयन्ती ) के प्रति यह वाणी ( वरुण परलोक—यह वचन ) उन ( दिग्पालों ) की कृपा से भी कैसे उत्पन्न हुई ? अथवा समय अन अपन भाव और भक्ति में तीन ( भक्त ) के प्रति किस वाणी से प्रसन्नता नहीं व्यक्त करते हैं ?

टिप्पणी—दमयन्ती ने कहा—देवा ने जो उसने निकट धरण सन्देश भेजा, उसकी तो सम्भावना ही कठिन है। कहीं मानुषी के प्रति अमरा की ऐसी इच्छा हो सकती है, भले ही वे कृपातु क्यों न हों ? मानुष्यत्व का लाञ्छन जिस पर लगा है, देव उसे पत्नी भाव से स्वीकारने की कृपा क्या करेंगे ? कदाचित् उनकी यह अपने भक्त के प्रति कृपा है। समय व्यक्त भक्तों के प्रति अपना अनुग्रह किसी प्रकार प्रकट कर सकन हैं। इसीसे देवोंने दमयन्ती के भक्ति-भाव पर प्रसन्न होकर यह सन्देश भेजा है। भाव यह कि देवा की वास्तविक इच्छा यह नहीं है कि दमयन्ती उनकी पत्नी हो उन्होंने

दमयन्ती को स्निग्ध पर अपनी प्रमत्तता इस प्रकार व्यक्त की है। वे तो पूजनीय हैं, वरपाय नहीं। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और उत्प्रेक्षा ॥२६॥

अहो महेंद्रस्य कथं मयीचिन्ता सुराङ्गनामङ्गमशोभिताभूत् ।

हृदस्य ह्मावलिमागर्लाश्रया बलाकयेव प्रयत्ना विडम्बना ॥ २७ ॥

जोवानु—अहो इति । सुराङ्गनामङ्गमेव शोभत इति लब्धोभितस्य भावस्तथा ता विनतीति तद्भूता महेंद्रस्य ह्मावल्या मासला मासवती सात्र तरेति भावत् । मिथ्यादिशाल्बत् । सा श्रीयम्य तस्य हृदस्य सरसी बलाकयेव मया निमित्तेन प्रयत्ने महती विडम्बना परिहास कथमाचिन्ता न कथञ्चिदित्यर्थः । अहो, सति सुराङ्गनामनुसरतां महेंद्रस्यामृतमप्यवधीर्योदनपान-प्रवृत्तिरिति सम्भाव्य एवेति भावः ॥ २७ ॥

अन्तर—अहो, सुराङ्गनामङ्गमशोभिताभूत महेंद्रस्य ह्मावलिमागर्लाश्रयः हृदस्य बलाकया इव मया अवला विडम्बना कथम् औचिनी ?

हिन्दी—दरमगिया ( अप्सराओं ) के सगम से शोभाशीलता धारण करते महेंद्र ( स्वराज ) की, हम वक्रिया से गाढ़ शामा सपन्न सरोवर की बगुनी समान मृत्त से इतनी बड़ी विडम्बना कैसे उचित है ? ( किसी प्रकार नहीं । )

टिप्पणी—दमयन्ती ने स्पष्ट किया कि उसके साथ परिणय मन्त्र करके स्वर्गाधिपति महाभारत महेंद्रनिधित और उपहामास्पद वन जायेंगे, ठीक वैसे ही जैसे ह्मावलि से भरपूर, मुशोभित सरोवर किमी निहृष्ट बगुनी के धान से दूषित हो जाये। इन्द्र शामाशाली जलाशय के तुल्य है, जिनकी सगति में उर्वरी, रमा, मनका आदि अप्सरियाँ ह्मावलिसिद्धा। ऐसी ह्मावलि—मध्य मानुषी दमयन्ती एक बगुनीनी लगकर इन्द्रस्य सरोवर के दीप और उपहास का कारण ही बनेगी। इन्द्र महाराज हम सब का ध्यान भी नहीं रख पा रहे और ऐसा अनुचित प्रस्ताव कर रहे हैं—यह महान् आश्चर्य है। गूढ़ भाव यह कि दिन-रात अप्सराओं के साथ रमा रहनेवाला विद्याधीन्द्र स्वर्गाधिपति होने पर भी दमयन्ती के उपयुक्त नहीं है। अमृत पायी को गामान्य जल का तुल्य ही आश्चर्य है। विद्याधरके अनुसार अनुप्रास और उपमा अलंकार ॥ २७ ॥

तया दमयन्त्या धृतो आत्रे लगित्वा आमना भूत्वामिहिता कपिता आलिः  
मखी आलपत् जापितरती । निमित्त्यत आह—इय दमयन्ती ह्रिया लज्जया  
मे मम हृदय प्रविश्य यद्वच आह ब्रूते । मम मुखेनैवाध्वना विनियद्विनिगच्छत्  
तद्वच आवर्णय शृणु ॥ ३० ॥

अन्वय —उद निगद्य एव नतास्यया तया धृतो लगित्वा भमिहिता  
जापि आलिपत्—इय ह्रिया मे हृदय प्रविश्य यत् आह, मन्मुखाध्वना  
विनियंत् तन् आवर्णय ।

हिन्दी—इतना बचकर ही नीचे को मुख कर उन ( दमयन्ती ) के  
झारा कानो मे कहे जाने पर ( दमयन्ती की ) सखी ने कहा—इस (दमयन्ती)  
ने लज्जा के कारण मेरे हृदय मे प्रविष्ट होकर जो कहा, मेरे मुख मार्ग से  
निकलने उसे ( मतव्य ) को सुनिए ।

टिप्पणी—दिक्पाला के प्रति अरुचि का मुख्य कारण था दमयन्ती का  
नर के प्रति दृष्ट अनुराग । दमयन्ती किसी पुरुष—और उस पुरुष के समुख,  
जिमसे उसे नलत्व का सदेह हो—अपने अनुराग की बात कैसे कहती ?  
उसका कारण थी नारीजनोचित स्वाभाविक लज्जा । यह बात दमयन्ती ने  
अपनी एक सखी के कान मे कह दी और वह सखी नल को बताने लगी ।  
विद्यापद के अनुसार उत्कृष्ट अलंकार छेकानुप्रास ॥ ३० ॥

विभेति चिन्तामपि कर्तुंभीदृशी चिराय चित्तापितनैपधेश्वरा ।

मृगात्तनुच्छिदुरा मनीस्यतिलंवाशपि नुटपति चापलान् विल ॥ ३१ ॥

जीवानु—विभेतीति । चिराय चिरात्प्रभृति चित्तैर्भूत स्यापितो  
नैपधेश्वरो नलो यया मा खी ईदृशी परविषया चित्तामपि कर्तुं विभेति ।  
कुत्र इत्यत आह मृगात्तनुच्छिदुरा श्वेदधीना, 'विदिमिदिच्छिदे'  
इत्यादिना कमहनरि कुरच् सत्या पतिव्रताया या स्थिति मर्यादा सा  
लवात्प्यादिषि चापन्यात्सोयादेः नुटपति विल नुटति वलु । 'वा भ्राते'  
त्यादिना इयप्रत्यय ॥ ३१ ॥

अन्वय —चिराय चित्तापितनैपधेश्वरा ईदृशी चिन्ताम् अपि कर्तुं  
विभेति, मृगात्तनुच्छिदुरा सतीत्यति लवात् अपि चापलात् किञ्च नुटपति ।

हिन्दी—चिरात मे चित्त मे निपधराज ( नर ) को स्थापित किये  
( दमयन्ती ) इस प्रकार ( अववरण ) की चिन्ता ( विचार ) को करने मे

डरती है, मृणाल ( कमण्डल ) के सूत्र से स्वयमेव टूट जानेवाली पतिव्रता की मर्यादा अत्यन्त भी चपलता से निश्चयरूपेण टूट जाती है।

टिप्पणी—नल के प्रति दमयन्ती का चिरह्यानुराग बताने हुए उसकी सखी ने सूचित किया कि यह दमयन्ती तो जब मन से भी अग्न्य वरण का विचार नहीं कर सकती, शरीर से अग्न्य को स्वीकारने की बात क्या ? पतिव्रता की स्थिति बड़ी कोमल होती है बिसतनु दुःख, क्षा की चपलता में मर्यादा भंग हो सकता है, जो दमयन्ती ऐसा न मोच सकती है, न सुन सकती है। जब एक को मनसा बर लिया, सब जग के विषय में विचार भी असंगत है। विद्याधर के अनुसार हेनूमालशार ॥ ३१ ॥

ममाग्नय स्वप्नदशाज्ञयापि वा नल विलङ्घ्येतरमस्पृशद्यदि ।

कुत पुनस्तत्र समस्तसाक्षिणी निजैव बुद्धिविवुधैर्न पृच्छयते ॥ ३२ ॥

जीवानु—ममेति । अथवा ममाग्नयश्चित्तवृत्ति स्वप्नदशाया स्वप्नावस्थाया जागृतायापि वा नल विलङ्घ्य इतरपुरुष यदि अस्पृशत् प्राप्तवान् । तर्हि समस्तस्य साक्षिणी निजा स्वकीया बुद्धिरेव तत्र विषये कुत पुनर्विवुधैश्चादिभिर्न पृच्छयते नानुयुज्यते । सर्वसाक्षिण स्वयं किं न जानन्तीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

अन्वय —वा यदि मम आग्नय स्वप्नदशाज्ञया अपि नल विलङ्घ्य इतरम् अस्पृशत्, पुनः समस्तसाक्षिणी निजा बुद्धि एव तत्र कुत, विबुधैर्न पृच्छयते ?

हिन्दी—अथवा यदि मेरी ( दमयन्ती की ) मनोवृत्ति ने स्वप्नावस्था की अज्ञता से भी नल को छोड़ अग्न्य का स्पर्श किया हो तो फिर समग्र संसार को साक्षात्करती अपनी ( देवी की ) बुद्धि से ही उस विषय में देव क्यों नहीं पूछने ?

टिप्पणी—देव अनन्यामी हैं, सब की बात समझ सकते हैं। वे भली भाँति जानते हैं कि दमयन्ती स्वप्न में, अनजाने में भी नलातिरिक्त किसी का विचार नहीं करती। ऐसी स्थिति में अच्छा यही होया कि वे अपनी 'समस्तसाक्षिणी बुद्धि' से ही यह जानने का कष्ट करें कि दमयन्ती का नलानुराग कैसा है ? तदनन्तर वे स्वयं जान जायेंगे कि उनका प्रस्ताव कितना असंगत है ? विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और हेतु अलंकार।

मन्त्रिनाथ ने 'स्वप्नदशाया आज्ञया' विग्रह किया है, अथ हृदा कि स्वप्न में प्राप्त आज्ञा से भी । यह अर्थ उतना सगत नहीं लगता, त्रितना 'स्वप्नदशाया अज्ञया जपि' छेद करके 'सपने में जनजाने' अर्थ । नारायण ने दोनों प्रकार के अर्थों का संकेत दिया है ॥ ३० ॥

अपि स्वमम्बन्धनममूपपन्नमो परस्य दाराननवेतुमेन माम् ।  
स्वय दुरध्वान्धनाविवा कथ स्पृशन् विज्ञाय हृदापि सादृशीम् ॥ ३१ ॥

जीवानु-अपीति । अमी इन्द्रादय देव अस्वप्न स्वप्नवर्जित स्वमात्मान मा परस्य दाराननवेतुमज्ञातुमेव अमूपपन् स्नापितवन्त । स्वापेणो चङि 'द्युतिस्वाप्नो'रिति सम्प्रसारणम् । अन्यथा सर्वज्ञाना तेषामस्मिन्नेवाने कथमज्ञानमित्यय । तदेवोपपादयति-स्वय दुष्टोऽध्वा दुरध्वं, 'उपसर्गादध्वन' इति समासान्तोऽच् । स एवाणवस्तस्य नावा तरन्तीति नाविका कर्णपादा सत 'नी द्वपचष्टुन्' इति छन्प्रत्यय कथ साध्यां मा हृदा विज्ञायापि स्पृशन्तु स्पृशेयु । स्वयममामनिवारकाणा उत्पत्तिरनर्हति भाव ॥ ३१ ॥

अन्वय —अमी मा पदस्य दारानु अनवेतुम् एव स्वम् अस्वप्नम् अपि अमूपपन्, स्वय दुरध्वान्धनाविवा अपि सादृशीं वा विज्ञाय कथ हृदा स्पृशन्तु ?

हिन्दी—जगता है, ये ( देवगण ) मुझ ( दमयन्ती ) को अन्य ( नल ) की परनी न समझने के लिए ही अपने को स्वप्न रहित सुलाते रहे, (अथवा) स्वयम् दुराचार-मार्ग-रूप समुद्र के नाविक ( होकर ) भी वैसे ( नलपत्नी ) मुझे जानकर कैसे व हृदय से ( नी ) छूत ?

टिप्पणी—पूर्व श्लोक में मत्सी न बताया कि दमयन्ती नल की दानुरा-गिणी है, वह स्वप्न में भी अन्य की बरने की बात सोच भी नहीं सकती, देवा को स्वय यह समझना चाहिए । यही वह कहती है कि कदाचित् इसी तप्य से अनजान बने रहने के लिए देवगण स्वप्नरहित, गाढ़ निद्रा लेन रहे कि ससार में जा हाता है, उससे अनभिज्ञ बन रह । यदि ऐसा न होता तो परदार वरग के दुराचार के विषय में दिग्भ्रम साचते भी नहीं, क्योंकि वे ही तो दुराचार के समुद्र में डूबते व्यक्तियों के कणधार हैं अर्थात् दुरा-चारियों को सदाचार के मार्ग पर चरने वाले उद्धारकर्ता है । वे सदाचार के

बादलों द्वारा चरम के विषय में विचार भी नहीं कर सकेंगे। इस प्रकार दमयन्ती ने दिक्गुणों के लहासास्त्र होने का भी संकेत कर दिया। जो अन्य वनों के लक्ष्य हैं, वे स्वयं दुराचारमार्ग पर चलने की प्रवृत्त हैं, ऐसे रुढ़ानियों से विवाह करना कौन बुद्धिमती ठीक समझेगी? भाव यह कि देवों की ऐसा कदम विचार भी नहीं करना चाहिए। विद्याधर के अनुसार विरोध-रूपक-हेतु अकारण है ॥ ३३ ॥

अनुग्रह-केवल एष मादृशे मनुष्यजन्मन्यपि यन्मते जने ।

स चेद्विधेयस्तदमी तमेव मे प्रन्य निज्ञा वितरीनुमोगतम् ॥ ३४ ॥

जीवानु-अनुग्रह इति । मनुष्येषु जन्म यस्य तस्मिन्नपि मादृशे जने यन्मते जने एष केवलोऽनुग्रहो विधेयः कर्तव्यत्वेत्तत्तर्हि अमी इन्द्रादमो देवा प्रसन्ना भूत्वा मे मह्यं तत्त्वेन निज्ञा वितरीनु दातुम्, 'ऋतो वा' इति दीयं । ईशतामीश्वरा एव नवन्तु । नृपसङ्घट्टनेर्नवानुग्राह्योऽयं जनो मायया मन्तव्य इति भावः ॥ ३४ ॥

अन्वय — एष केवल अनुग्रह यत् मादृशे मनुष्यजन्मनि अपि जने मनः, स विधेय चेत् तत् अमी प्रसन्न तम् एव मे निज्ञा वितरीनुम् ईशताम् ।

हिन्दी—यह केवल ( देवों की ) कृपा है कि मुक्त जैलों ( दमयन्ती-सी ) मनुष्य योनि में जनमी भी स्त्री पर ( उत्तम ) मन है। यदि उन्हें हानि ही करनी हो तो वे प्रसन्न होकर उस ( नर ) की ही मुक्ति निज्ञा में देने के लिए समर्थ हो ।

टिप्पणी—सखी ने बताया कि दमयन्ती का निवेदन है कि किसी ठक से देवों और मानुषों का परिपक्व संबंध नहीं निबड होता। और दमयन्ती तो परवारा है। देव जो यह प्रस्ताव रख रहे हैं, उसका कारण यही लाता है कि वे दमयन्ती की भक्ति से प्रसन्न हो अनुग्रह करना चाहते हैं, तत्त्वतः अनुरक्त नहीं हैं। जो यदि देव दमयन्ती पर कृपा करना ही चाहते हैं तो यह करें कि प्रसन्न होकर ऐसी स्थिति ला देने की कृपा करें, जिससे नर दमयन्ती को प्राप्त हो जाय। वे ईश हैं—समर्थ। दमयन्ती यही चाहती है, और कुछ नहीं। इन्हीं से अनुगृहीत होंगी। विद्याधर के अनुसार हेतु अकारण ॥ ३४ ॥

अपि द्रढीय शृणु मे प्रतिश्रुतं स पीडयेत् पाणिमिमं न चेन्नृप ।  
हुताशनोद्बन्धनवारिवारिता निजायुपस्तत्करवै स्ववैरिताम् ॥ ३५ ॥

जीवानु—अपीति । घोर ! द्रढीय दृढतर मम प्रतिश्रुत प्रतिज्ञामपि शृणु । तामेव प्रतिज्ञामाह—स नृप नल इमं मदीयं पाणिं न पीडयेत् न गृह्णीयाच्चेत्तर्हि निजस्यायुषः स्वेनात्मना वैरिता क्षात्रव हुताशनश्च उद्बन्धनञ्च वारि च तैः वारिता निर्वृत्तिं करवै करवाणि ॥ ३५ ॥

अन्वय—मे द्रढीय प्रतिश्रुतम् अपि शृणु—स नृप इमं पाणिं न पीडयेत् चेत्, हुताशनोद्बन्धनवारिवारिता ( वारिताम् ) निजायुषः स्ववैरितां करवै ।

हिन्दी—मेरी दृढ़ प्रतिज्ञा भी सुन लो—वह राजा ( नल ) इस ( मेरे ) पाणि को यदि पीड़ित नहीं करेगा ( पाणिपीडन—बिवाह नहीं करेगा ) तो जग्नि में जल, पेड़ आदि में लटक जयबा जल में डूब कर निपिड़ रीति से ( भी ) अपनी आयु को स्वयं वैरित हो जाऊँगी ।

टिप्पणी—सखी ने दमयन्ती का निश्चय भी प्रकट कर दिया कि यदि देवी की अकृपा अथवा अन्य किसी कारण से यदि राजा नल उसका पाणि-ग्रहण न करेगा तो वह आग में जल, फाँटी लगा अथवा डूब डूब कर अपना जीवन स्वयं समाप्त कर देगी, अपनी आयु की क्षत्रु स्वयं ही बनेगी । इतना दृढ़ अनुराग है नल पर दमयन्ती का कि उसे न पाने पर वह आत्महत्या—जैसा कदाचार भी करने में न हिचकेंगी । अग्नि आदि में जल कर आत्महत्या निपिड़ है । भाव यह कि चाहे जो हो, पर नलातिरिक्त किसी का वरण दमयन्ती नहीं करेगी ॥ ३५ ॥

निपिद्धमप्याचरणीयमापदि क्रिया सती नावति यत्र सर्वथा ।

धनाम्बुना राजपथेऽतिपिच्छिन्ने क्वचिद्वुधेरप्यपथेन गम्यते ॥ ३६ ॥

जीवानु—न चात्मनो व्यापादनमयुक्तमित्यत्राह—निपिद्धमिति । यत्रापि यदि सती घम्या क्रिया सर्वथा सर्वप्रकारेण नावति न रसति । तत्र निपिद्धमप्याचरणीयम् । तथा हि राजपथे राजवीर्यामपि धनाम्बुना सान्द्रादवेन मेघजलेनातिपिच्छिन्ने पङ्क्तिले सति बुधे विद्वद्भिः अपथेनामार्गेणापि क्वचि-त्प्रदेशे गम्यते । 'यथो विभाषा' इति समासान्तः । 'अपथं नपुंसकम् ।' सर्वथा श्रेणा प्राणत्यागेनापि पातिव्रत्यं रक्षणीयमिति भावः । दृष्टांतालद्वार ॥ ३६ ॥

अन्वय—यन आदि सती क्रिया सर्वदा न जवति, निषिद्धम् अपि आचरन्तीदम्, धर्माभ्यानां अतिनिष्ठे राजस्ये बुधे अर्थेन अपि क्वचित् सम्भवे ।

हिन्दी—बिड़ विरति में धर्मननन आचरण संबंध रक्षा नहीं कर पाता, वही निषिद्ध ( धर्माचरण विन्ष्ट ) भी आचरण उचित है । क्या अल से अयन जीव नग, रसना राजनां ही जाने पर समतदा व्यक्ति अय ( मननागनानां न मार्ग ) में भी जही-जही चग करते है ।

टिप्पणी—आत्महत्या जैसे कदाचार के जोषिण को इन रण में सिद्ध किया गया । जब प्राण देने से ही मर्मांश की रक्षा ही तो आत्महत्या भी पार नहीं । जब निर्धारित मार्ग पर स्थित हो जाय तो बिड़-किनी मार्ग पर जाना ही पड़ता है । समतदा भी ऐसा ही कर लेते हैं । जब सीने रान्ते से चक्कर काम न बने तो टेरा ही जनाना पड़ता है । यह आनन्दमें होता है । नलिताय के अनुहार दृष्टात अकार, विद्याधर और नारायण ने जपौतर-ग्याम का निर्देश किया है ॥ २६ ॥

मित्रा मया वाग्मिषु तेषु शक्यते न जानु मय्यग्विदगीनुत्तरम् ।  
नदत्र मद्भाषितमूत्ररदती प्रबन्धनाम्तु प्रतिबन्धना न ते ॥ २७ ॥

जीवानु-स्त्रियेति । वाग्मिषु वाक्कक्षेषु तेष्विन्द्रादिषु विषयेषु मित्रा मया उत्तर सम्बद्ध मया अवगति तथा विवरीनु प्रश्नप्रतिपत्ति जानु कदाचिदपि न शक्यते । तत् तस्मात् कारणात् अत्र मद्भाषितता वचनानानेव मृदाणा पड़ती मार्ग विषये ते तत्र प्रबन्धना प्रबन्धकृतृत्वमन्तु, प्रतिबन्धना प्रतिबन्ध-कर्तृत्व नास्तु । उमननापि नृजन्ताद्वधेन्तु । अस्मिन्निषेधोत्तरे ममानुकूलो नत्र, न प्रतिकूल इत्यर्थ ॥ २७ ॥

अन्वय—मया मित्रा तेषु वाग्मिषु सम्बद्ध उत्तर विवरीनु जातु न शक्यते तत् अत्र मद्भाषितमूत्ररदती ते प्रबन्धना न ।

हिन्दी—युन स्त्री ( दमयंती ) द्वारा उन पंडितों ( देवों ) को सत्ताप-जनक उत्तर देना किसी प्रकार शक्य नहीं है, नो इस विषय में मेरे ( दमयंती के ) जहे ही रूप प्रगल्भी ( नसेन कनन-नदति ) में तुम्हारी भाष्यप्रतिता हो, प्रतिबन्धना न हो ।



टिप्पणी—सखी ने दमयन्ती बचनो को अपने मुख से कहकर अत मे दूत नल से यह भी निवेदन किया कि दिक्पालगण बाग्मी पण्डित है, एक दमयन्ती-जैसी अनुभवहीन बालिका उनको सतुष्ट करने वाला उचित उत्तर किसी प्रकार नहीं दे सकती, अत दूत से प्रार्थना है कि इस थोड़े, अस्पष्ट, सक्षिप्त कथन की व्याख्या करके वह देवों को दमयन्ती की भावना भलीभाँति समझाने की कृपा करे, ऐसा नहीं कि कुछ विरुद्ध रीति से उलटा-पुलटा कहकर और स्थिति बिगाड़ दे। जैसे भाष्यकार अथवा वाक्पकार सूत्र की व्याख्या कर उसके भाव को स्पष्ट कर देता है, वैसे ही दूत भी दमयन्ती के कथन को पूर्ण स्पष्ट करके देवों को सतोष देने की कृपा करे। दमयन्ती के अनुकूल रहना, विरुद्ध प्रतिकूल मत हो जाना—यह भाव। विद्याभर के अनुसार रूपक अलंकार ॥ ३७ ॥

निरस्य दूतः स्म तथा विसर्जित प्रियोक्तिरप्याह कदुष्णमक्षरम् ।

कुतूहलेनैव मुहुः कुहूरव विडम्ब्य विम्भेन पिक प्रकोपित ॥ ३८ ॥

जीवातु—निरस्थिति। न दूत यथा तेन प्रकारेण निरस्य न्यक्कृत्य विसर्जित सन् कुतूहलेन हेतुना विम्भेन विमुना मुहुः कुहूरव विडम्ब्य अनुकृत्य प्रकोपित पिक कोविल इव प्रिया उक्ति बचन यस्य स तादृशोऽपि कदुष्ण-भीषत्पत्तर 'बद बोष्णे' इति को कदादेश। अक्षर वाच्यमाह ॥ ३८ ॥

अन्वय—तथा निरस्य विसर्जित दूत कुतूहलेन विम्भेन मुहुः कुहूरव विडम्ब्य प्रकोपित प्रियोक्ति अपि पिक इव कदुष्णम् अक्षरम् आह ।

हिन्दी—उस प्रकार (सखी द्वारा दमयन्ती निणय सुनाकर) निराकरण करके छोड़ दिया गया दूत (नल)—कौतुक से अज्ञान बालक द्वारा बारबार 'कुहू कुहू' शब्द कर अनुकरण करके क्रुद्ध कर दिये गये, प्रहस्या मधुरभाषी भी, काविल के सदृश-सतापकारी वचन बोला ।

टिप्पणी—यद्यपि नल स्वभावतः परुषवादी नहीं था और इसने अतिरिक्त वह दमयन्ती-अनुरागी भी था, तथापि दमयन्ती का निर्णय—वह भी सखीमुख से—सुनकर कुछ उपेक्षित हो ऐसे वचन बोला, जो दमयन्ती को भले लगने वाले नहीं थे—कष्टकर थे। नल ने पुनः यह समझाने का प्रयत्न किया कि दमयन्ती का निर्णय किसी प्रकार उचित नहीं, देवों की

बनामना ठीक नहीं। इस प्रकार मताधिकारी वचन बोलने स्वभावतः प्रिय-  
भाषी नर की तुलना उस प्रकृत्या नधुरभाषी कोकिल से की गयी है, जो  
किसी वृक्षान छोकरे द्वारा अपने स्व—“टूट टूट” की जनृहति से बिड़ कर  
कठोर शब्द करने—ता है। कोकिल जैसे बबना ने कृतिन हो पक्ष्य बोलने  
लगा है, ऐसे ही जवनाश्रम इन—“” भी बोलता। नाग्यना है कि बालक  
द्वारा विश्वमित्र कोकिल बूढ़ हो पक्ष्य बोलने लगा है। शरायना ने इसी  
प्रकार पर यहाँ ‘आति’ शब्दका का नकेन किया है। विश्वघर ने उल्लेख्य  
शब्दकार ऐकानुदास का निर्देश किया है और चन्द्रशेखर ने अपना ॥३८॥

उहो मनस्वामनु तेषि तन्वने त्वमप्यमोन्यो विमुन्वीनि कौतुकम् ।

क्व वा विप्रतिर्जनमेति किञ्च न स वा क्वाट घटयन्तिरस्यति ॥३९॥

जीवानु—उहो इति । ते इन्द्रादप्यपि स्वामनु त्वामुद्दिश मनस्वने  
बुद्धन्ति उहो आश्चर्यं स्वमपि अमोन्य इन्द्रादिभ्य विमुन्वी पराङ्मुवीनि  
यन्वीनृक विप्रतिर्जनं । किञ्च क्व वा कोके विप्रतिर्जनमेति, क्व वा स  
निद्रा कदाचिद्वयोपाशातमनि त निप्रि वा क्वाट घटयन्तिरस्यति द्वार  
निपाय निपेक्षतीत्यर्थः । ईदम दद्वेष्टितमिति शृष्टात्तात्पर्यम् ॥ ३९ ॥

अन्वयः—अहो, ते अपि त्वाम् अनु मन तन्वने, त्वम् अपि अमीन्य  
विमुन्वी इति कौतुकम्, क्व वा निर्जनम् एति, कि च वा स क्वाट घटयन्  
तिरस्यति ?

हिन्दी—आश्चर्य है कि वे (उत्तम देव) भी तुम (मानवी) पर  
मन फेंकाये हैं (अनुरक्त हैं), और तू (इन्द्रादी) भी इन (देवों) से  
पराङ्मुख है—यह महान् आश्चर्य है। यहाँ सप्रति निर्जन के पाठ जाती है  
और कहीं बह (दरिद्र) द्वार बन्द कर उनका विरुद्ध कर रहा है ?

टिप्पणी—नर ने कूट परम शक्तों ने कहा कि वे उन्मृष्ट दिक्पाल  
इन्द्रादी जैसी मानवी पर इतने अनुरक्त हो गये हैं कि उनकी बुद्धि पर  
आश्चर्य होता है और उनमें भी बड़ा आश्चर्य यह है कि एक मानुषी देवों के  
अनुराग ने जयत पराङ्मुख है। यह तो बड़ा ही है कि महान् निधि स्वयं  
दरिद्र के पान पहुँचे और वह दरिद्र द्वार बन्द कर महारथादि निधि की  
व्यवस्था करे। भाव यह है कि जैसे दरिद्र का निधि निराकरण अनुचित

है, वैसे ही इन्द्रजि की देवदुरा-निरन्तर बन्धनित्वा तो यह है कि  
दिक्पाल का भी मानवी के प्रति ऐसा अनुराग स्वल्प नहीं है और मनुष्य  
द्वारा उत्पन्न अवहेतना तो और भी अनुचित है। ऐसा नहीं मंजूर करना  
है, न मना। मणिनाथ के अनुसार हमें अवसर ॥ ३९ ॥

महाविष्णुस्वोऽवहेतुना महेन्द्रादुत्पन्नान् त्वयि ।  
त्वमोदनी धेनुमि समुत्प्रेक्षि न पराङ्मुखी चन्द्रमुखी । नवीकृत ॥४०॥  
जानानु—हेति । हे चन्द्रमुखी । महेन्द्रात् उगदंती । त्वमिदं  
महान्तिनादरमस्तिस्त्वोऽवहेतु विषये अवहेतना कर्तव्यं सः सः त्वत्पारमार्थ्य-  
स्वनादर व इहानि त्वानेव मान्यन्ती नन्ववश्यं । बहोः स्वरितेन्वादात्त-  
पद सहोक्तिरङ्कुर । इहो धेनुमि समुत्प्रेक्षि अनिमुञ्च स्वप्ति त्वं नपुं-  
स्त्री सती, तं पूर्वोक्तमानं नवीकृतं निर्वर्तितव्यमिति । मनुष्यी चरि निर्वि-  
रूपम् । 'उपति'त्पकार सन्तुष्टावे चाम्पावेकार ॥ ४० ॥

अन्वय—महेन्द्रपराइ अवहेतुस्वोऽवहेतुना सह त्वमिदं दुरम् जानर  
बहो, चन्द्रमुखी, इहो धेनुमि समुत्प्रेक्षि अनि पराङ्मुखी त्वं तं नवीकृतम् ।

हिन्दी—महेन्द्र ( इन्द्रदेव ) के अनुपम के कारण समुत्प्रेक्षि ( इन्द्राणी  
बादि ) के प्रति अवज्ञा के साथ ( मैं नन्व-कृत ) तुम्हारे प्रति महान् आदर  
धारण करता हूँ हे चन्द्रमुखी ऐसे कल्याण ( इन्द्रादि की स्वामित्व प्राप्ति ) के  
समुत्प्रेक्ष होने पर विमुक्त हो नू ने उस ( आदर ) को नष्ट कर दिया ।

टिप्पणी—मनु ने कहा कि मैं इतना समय तक वह इन्द्रजि की  
बड़ा आदर करता था और अन्य इन्द्रादि आदि ब्रह्मजनों की कन्या मानने  
का था क्योंकि उनके प्रति स्वर्ग के महाराज इन्द्र अनुरक्त हैं । पर अन्य को  
प्रकाश देकर सब कुछ स्पष्ट करने वाले चन्द्र देवता उत्पन्न हुए हैं  
और चन्द्रमुखी समस्तों की आत्मा हो जो अपने कल्याणकारक इन्द्रादि की अवहेतना  
कर रही है, उनसे उनके प्रति नन्व का वह महान् आदर समाप्त हो गया । ऐसी  
मूर्खों का आदर कौन करे, जो चन्द्रा का गुरु होने पर भी कुछ देख नहीं  
सकते । निदानर ७ अनुसार कल्याण और सहोक्ति अवसर,  
मणिनाथ ने भी पूर्वोक्त के आधार पर सहोक्ति का निर्देश किया है ॥ ४० ॥

दिवीकन कामधेनु न मानवी नवीनमप्रादि त्वाननादिदम् ।

कथं न वा दुर्हंशोऽप्यते हिंसेन सम्बन्धुनापि शान्ति ॥ ४१ ॥

नीनात्—दिवीकनमिति । मानवी मानुषी, दिवीकन देव न कामयन्ते  
नानेन इति दद नवीनमश्रुत्वं वचन्मननादश्चादि धृम् हन्त, एष ते  
तत्र दुरग्रहोऽयं नृपांनिग्रहोऽयम् । 'जयाकादिन्दग्रहा' इति वचयन्ती ।  
हिनेनातेनानुहन्ते च मुक्ता निवादिना निगन्ति च । 'मुक्तांनिनिवाद्यो'  
दम्पनः । कथं वा नम्यक् न शाम्यन्ते न निवन्त्ये । धनेर्धनोत्कर्मणि लृट् ।  
पुराणमन्त्रा शान्ता 'किं कुर्वन्ति ग्रहा नवो केन्द्रस्थाने बृहस्पति' इति  
वचनाश्रम्यमाने ग्रहान्तरनिरामे च पुराणैरवाधिकारादिति भावः । जया-  
मिषाणां प्रकृतार्थेति यन्नादग्रहानां प्रतीतिर्बनिरिव न इत्येव ॥ ४१ ॥

अन्वयः—मानवी दिवीकन न कामयन्ते—इदं तत्र आननात् नवीनम्  
अश्नाति, एषः ते दुरग्रहोऽयं नम्यक् हिनेन मुक्ता अति वा कथं न शाम्यन्ते ?

हिन्दी—'मानुषी स्वांनिवासी ( देव ) की जानना नहीं करती'—यह  
तेरे ( दमयन्ती के ) मुख से 'नया' सुना । अथवा यह तेरा दुराग्रह दोष  
( दुष्ट अनिचर आदि जनित कष्ट ) 'अपन्य हिनकारी ( तेरे ) पिता  
( देवगुरु बृहस्पति, धुन ग्रह ) द्वारा भी क्यों दूर नहीं किया जाता ?

टिप्पणी—मानव्यन देवों की कृपा सभी भयंकरवासियों चाहा करने ॥  
और कोई नारी यदि देवयन्ती का सके तो उसका बड़ा मौमाय्य माना  
जायेगा । किन्तु इनके विपरीत दमयन्ती ने देव-वरण के प्रति घोर अनिच्छा  
प्रकट की । दून नर इनके एक नवीन श्री नहीं, पूर्वतः अश्रुत और किन्ही दुष्ट  
ग्रन्थजन जनिन दोष मानता है, जो दमयन्ती के दुराग्रह-रूप में प्रकट हो  
रहा है । आश्चर्य तो यह है कि जैसे दुष्ट ग्रह के दोष को कोई श्रेष्ठ ग्रह  
बृहस्पति जादि दूर न कर सके, उनी प्रकार दमयन्ती के दुराग्रह दोष को  
उनके पिता भी दूर नहीं कर पा रहे । 'मुट' शब्द अनेकार्थक है—पिता और  
बृहस्पति । माना जाता है कि अनकुष्टों के केन्द्रस्थान में यदि गुरु बृहस्पति  
हो तो अन्य कोई दुष्टग्रह प्रभावों नहीं रहता और कष्ट नहीं पहुँचा सकता ।  
यह भी अर्थ है कि कितनी विविध बात है कि देवों का आग्रह है कि दमयन्ती  
उनमें से किसी का वरण करे और गुरु अर्थात् देवगुरु बृहस्पति, जो इन्द्र के  
मन्त्री हैं, वे भी देवों के इस आग्रह को शान्त नहीं कर पा रहे । न दमयन्ती  
अपना दुराग्रह छोड़ रही है, न देवता । न उसे समझे पिता समझा पा रहे

हैं और न देवों को उनके मन्त्री गुरु बृहस्पति । मामागत पिता सतान का दुराग्रह दूर कर सकते हैं, पर दमयन्ती के सम्बन्ध में ऐसा नहीं हो रहा, और न देवों को वृहस्पति ही ममना या रह है । किन्ना आश्चर्यजनक है यह मन्त्र । विद्याधर के अनुसार छेकानुग्राम हेतुक श्लेषालकार । मतिग्राम के अनुसार यहाँ श्लेष नहीं है, किन्तु अभिधा के प्रवृत्तार्थ नियन्त्रण से अप्रवृत्तापत्ति प्रतीति हो रही है, जा ध्वनि है ॥ ४१ ॥

अनुग्रहादेव शिवोक्ता नरो निरस्य मानुष्यकमेति दिव्यनाम् ।

अयोधिकारे स्वर्गित्वमिष्यते कुतोऽप्यस्य सिद्धरमस्पृशामपि ॥ ४२ ॥

जीवातु—जय मानुषी देवा न ग्रहीष्यतीति यदि तदपि नेत्याह—अनुग्रहादिति । शिवमोको येषा घोरोको येषामिति यदि वा पृषोदरादित्वात्माधु । तेषा दिवीकृता देवानामनुग्रहादेव नरो मानुष्यभाव निरस्य 'योपधादुपुत्पात-माधुत्वं' इति वुजि 'यम्वे'ति लोपे 'ग्रहत्वाङ्के राजयमनुप्ययुवान' इति प्रवृत्तिभावा 'दप्यस्य च तद्धिनेजानी'नि यलोपामात्र । दिव्यनामेति तन्मनि ग्रहादेवभूयमपि ते भवितेति भावः । तथाहि—रम पारद । 'देहघात्वम्बुपारद' इति रसशब्दाद्येषु विश्व । स हि सस्कारवन्मालोहान्तरमुवर्णीकरणे ममर्थं मिद्धरन उच्यते । तस्मृष्टाभयमामपि तस्पर्शास्त्वर्णभूतायसामपीत्यर्थः । अयोधिकारे अय प्रस्तावे स्वर्गित्वमधिकृतत्वं तेषु परिगणनेति पाठः । 'स्वर्गित्वाधिकार' इति वैयाकरणपरिभाषाधमणादेव व्यपदेशः । स्पृ शब्दो-पतापयोरेति घाग्रीर्देवादिकात् क्त । कुत इष्यते नेष्यत एवेत्यर्थः । रसस्पृष्टा-यम स्वर्णीभाव इव तथापि तस्मृष्टाया देवत्वमेव न मानुषत्वमित्यर्थः । अत्र शब्दात्कारण स्पष्ट ॥ ४२ ॥

जन्वय —नर दिवीकृतम् अनुग्रहात् एव मानुष्यक निरस्य दिव्यनाम् एति, मिद्धरसस्पृष्टाम् अयसाम् अपि अयोधिकारे स्वर्गित्वं कुतः इष्यते ?

हिन्दी—मनुष्य देवों की कृपा से ही मनुष्यभाव को त्यागकर देवत्व को प्राप्त होता है, सिद्धरस ( जड़ी-बूटियां माधित पारद ) का स्पर्श कर लेने वाले लोहपदार्थ का भी लोहाधिकार ( लोहपदार्थों ) में स्वर्गित्व ( परिगणन ) कहाँ होता है ?

टिप्पणी—दमयन्ती के कथन कि 'देव-मानुषी सम्बन्ध अनुचित है' का



तद् । न तु करम करमागविशेष तद्गुरु यस्या इति व्युत्पत्त्येत्यर्थः । 'करमो मणिबन्धादिक्निष्ठान्तर सप्तक' इत्युभयत्रापि विश्व । 'अथसम्बोधनायं वा - स्मृ पाट् प्याडङ्ग हे रे भो' इत्ययमेवमर । चादिपात्राक्षिपातसनायाम् 'श्रोत्' इति प्रगृह्यत्वात् प्रवृत्तिसन्धिः । अनव्ययपक्षेऽपि भवच्छब्दतत्कारस्य दत्त्वादिकार्यं यत्नोपस्थासिद्धत्वादवादेऽनिवृत्तिं भो इत्यमेव सन्धिः, कित्त्वत्र स्त्रीसम्बोधने स्थित्याम् 'उगितस्व' इति डीप्प्रत्यये भवतीति सम्बुद्धिः स्यात् । न तु भो इति । करमोवित्यत्र करम इवोरु यस्या इति 'उत्तरपदादौपम्य' इत्युद्प्रत्ययः । करमादुर करमोह इति पक्षे मनुष्यजातिविवक्षाया ब्रह्म- बन्धूरित्यादिबत् । 'ऊङुत' इत्युद्प्रत्यये नदीह्रस्वः । यथाह वामन - 'मनुष्य जातेविवक्षाविवक्षे' इति । अहो कष्टमुद्गृचेष्टितवत् स्वर्च्वेष्टिहा हास्यास्तरद जातमिति भावः ॥ ४३ ॥

अन्वय — हरि परित्यज्य नलामिलापुका विदुषिब्रुवा कथं वा न लज्जते ? भो करमोह, त्वाम् उपेक्षितेशो शमीरतात् करमात् उह बदे ।

हिन्दी—अथवा इन्द्र को छोड़कर नल का अभिलाष करने वाली ( नल नामक क्षुद्रधाम की अभिलाषुका ) अपने को विदुषी ( पण्डिता ) कहती तुम लज्जित क्यों नहीं होती ? ( होना चाहिए । ) हे करमोह ( कनिष्ठा मणिबन्ध मध्यप्रदेश सम कोमल ऊरवाली ), तुम्ह ( अब मैं ) ईश्वरस की उपेक्षा करनेवाले, ( कटु ) शमी ( कटकलना ) में रत ( भक्षक ) करम ( ऊँट ) से उच्छृष्ट कहता है ।

टिप्पणी—नल ने दमयन्ती से कहा कि दमयन्ती 'नलामिलापुका' अपने को कहती है, वह इन्द्र की अनिच्छा है । यह वैसा ही है, जैसे कोई नल अर्थात् क्षुद्र वृष का अभिलाष करे स्वर्ग सपना छोड़कर । ऐसी नातमसी की बात सोचती हुई भी दमयन्ती अपने को पण्डिता मानने में लज्जित क्यों नहीं होती ? ऐसी मूर्खता करके खरने को पण्डितब्रुवा मानना लज्जास्पद ही है । इस मूर्खता के कारण आज नल की दृष्टि में दमयन्ती करमोह अर्थात् कोमल ऊरवाली नहीं रही, वह 'करमोह' इस अर्थ में है कि उसका तारतम्य ज्ञान ऊँट से भी कम है । मूर्खता में वह ऊँट से भी बड़ी है । वह मधु घुरम छोड़ काटे खाता है, दमयन्ती इन्द्र को छोड़ नल प्राप्त से नल की

इच्छुः है। जो अन्तर इच्छुरन और समी में है, वही इन्द्र और नलतृप्तम्  
सुद्र नल में है। चन्द्रकलाकार ने इस पद्य में निरक्त नामक काव्यलक्षण का  
निर्देश किया है ॥ ४३ ॥

विहाय हा स्वमुपवर्नायक त्वयादृतः किं नरमाधिमभ्रमः ।

मुख विमुच्य स्वमिनन्य धारया वृथैव नामापयधावनश्रमः ॥ ४४ ॥

जोशानु—विहायेति । किञ्च हा वत ! त्वया सर्वमुपवर्नायक देवेन्द्रं  
विहाय नरे मनुष्ये साधिमभ्रम माप्नुत्वन्नान्ति । पृथ्वादिपाठात् साधोरिम  
निष्क्रमस । किं किमर्थमाह्व ? अथवा नियति केन लङ्घयत इत्याशयेनाह—  
स्वसितस्म धारया निश्वासपरम्परया ( कथ्या ) मुख मुक्तद्वार विपुल विमुच्य  
वृथैव नासापयेन नासारन्ध्रेणातिविन्देन धावनश्रम जाह्व क्षत्विति शेष ।  
सद्वत्तथापि ईदृशी भदितव्येति भावः । दृष्टान्तालङ्कार ॥ ४४ ॥

अन्वय -- हा, त्वया सर्वमुपवर्नायक विहाय किं नरमाधिमभ्रम आहत ।  
स्वसितस्य नासापय मुक्त विमुच्य नामापयधावनश्रम वृथा एव ।

हिन्दी—हाय, तुमने सब देवों के नायक ( देवेन्द्र ) को छोड़कर क्या  
मनुष्य में श्रेष्ठता के भ्रम को आदर दिया । निश्वासधारा द्वारा मुख को छोड़  
नाक के मार्ग से आना जाना व्यर्थ ही है ।

टिप्पणी—नल ने कहा—सीधी सच्ची बात थी दमयन्ती इन्द्र को बर  
लेंती । उसने क्या मूर्खता की कि देवेन्द्र के स्थान में नर को आदर दिया,  
जो पूर्णतः भ्रम है । 'नरसाधिमभ्रम' का अर्थ 'रन्ध्रोरभ्रम' के आधार पर  
'नर' का अर्थ 'नर' भी हो सकता है—देवेन्द्र को छोड़ नल को आदर दिया ।  
'किन्तु नरमाधिमभ्रम'—किन्तु जर्थात् देवों से हीन जाति भी हो सकता है और  
'कृतित नर' निश्चित मनुष्य भी, अर्थात् देवेन्द्र के स्थान पर निम्न देव-  
जानीय अथवा कृत्स्ननर को वरेष्यता दी । यह ऐसे ही व्यर्थ है, जैसे कि  
श्वासधारा का मुख छोड़ नासिका मार्ग से गमन । मुख की अपेक्षा नासिका-  
मार्ग से श्वास लेना आवासजनक होता है । भाव यह है नल या नर की श्रेष्ठता  
भ्रम है, दमयन्ती को चाहिए कि वह इन्द्र वरष करे । मन्दिनाय के अनु-  
दृष्टात अलंकार, विद्याधर के अनुसार छेकानुवाच ॥ ४४ ॥



तपोऽनले जुह्वति सूर्यमनूदिवे फलायान्यजनुर्मविष्णवे ।

करे पुन कर्पेन सैव विह्वला बलादिव त्वा वल्ले न बालिगे । ॥४५॥

जीवातु—तप इति । किञ्च सूर्य सन्त अन्यस्मिन् अनुपि जन्मादरे भविष्ये भाविन्ये । 'भूष्णुर्मविष्णुविता' इत्यमर । 'भुञ्ज' इति इष्णु-प्रत्यय । 'भाषायामपीष्यते' भाषितपुस्तत्वात् पुबङ्गाव । दिवे स्वर्गायैव फलाय तनू शरीराणि तपोऽनले जुह्वति त्यजन्ति । 'अदभ्यस्ता' इत्यदादेश । त्वा पुन मा प्राणातिव्रतप साध्या धौरेव विह्वला उत्सुका सती बला द्बलात्कारादिव करे कर्पति हे बालिगे । मूढे ! 'सिंघावले व बालिग' इत्यमर । न बल्ले न बलसि नेच्छसीत्यर्थ । अहं ते दुर्वृद्धिरिति भाव ॥ ४५ ॥

अन्वय—सूर्य अन्यजनुर्मविष्णवे दिवे फलाय तनू तपोऽनले जुह्वति, विह्वला सा एव पुन त्वा बलात् इव करे कर्पति, बालिगे, न बल्ले ।

हिन्दी—विद्वज्जन ( सत ) जमातर में होने वाले स्वर्ग फल के निमित्त शरीरों का तपानि न हवन किया करते हैं, और ध्यातुल हो वह ( स्वर्ग ) ही तुम्हें जैसे बलपूर्वक हाथ पकड़ लीबरहा है । अरी मूर्ख, तू टप से मत नहीं होवी ।

टिप्पणी—नल बलाता है कि स्वर्ग प्राप्ति के निमित्त बड़े मत भी अनेक्य सदस्या द्वारा अपने शरीर को त्याग दिया करते हैं । वह स्वर्ग जैसे दमघाती को निवेदित हो रहा है । इन्द्रादि पायला के समान उन्हें सदह स्वर्ग ले जाता चाह रहे हैं । पर दमघाती ऐसी पार मूर्ख है कि थोड़ी भी विचलित नहीं होती । ऐसा समझ रही है, जैसे उस पर यह बलात्कार होने वाला हो । विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग और उभेक्षालकार ॥ ४५ ॥

यदि म्यमुदक्युमना विना नल भवेर्भवन्नो हरिरन्नरिक्षगाम् ।

दिविस्थितानां प्रणि पतिस्ततो हरिष्यति न्याय्यमुपेक्षने हि व ॥४६॥

जीवातु—अथ यदुक्तं नालाभे हृताशनीद्वयनादिना मरिष्यामीति तत्रोत्तरमाह—यदीत्यादिना चतुष्टयेन । हे मुग्धे ! नल विना नलालाभे स्वमात्मानमुदक्युमना मनो यस्या सा उदक्युमना पात्रेन मर्तुं कामा । 'तुं नाममन-पाररि' इति मकारलोप । अत्रेयदि म्यान्वेत् सतोऽतरिक्षया भवन्ती दुर्मण-पोषादनरिष्यता मनी त्वामिति शेष । दिविस्थितानामतरिष्यतानां स्वर्ग-

ताना च प्रसितं पतिं प्रसिद्धं स्वामीं हरिरिन्द्रो हरिष्यति प्रहीन्यति जन्म-  
न्तरेण त्वा न त्वस्मिन्तीत्ययं । तथा हि—न्याय्यं न्यायप्राप्तं वस्तु क उनेष्टं ?  
न कोनोत्पत्तिरन्तर्यामि । अन्वानिकद्रव्यस्य राजगानिन्द्र न्याय्यमिति भावः ।

तन्मय—यदि नञ् विना स्वम् उद्बभूवन् नवे नत अन्तरिक्षात्  
नवन्तीं विवि न्दिताना प्रसितः पति हरि हरिष्यति, हि न्याय्यं क उनेष्टं ?

हिन्दो—यदि तु न नञ् के विना करने को फाँसी लगाना चाहती हो, तब  
अन्तरिक्ष जावो ( अन्तराष्ट्रम् ) आपको अन्तरिक्ष में करने वालों का विख्यात  
स्वामी इन्द्र हर लेगा, कारण कि न्याय से प्राप्त वस्तु की कौन उनेष्टा करता  
है ? ( कोई नहीं । )

रिष्यति—दमयन्ती ने कहा था कि यदि नञ् उसका पारिव्रह्म न करेगा  
तो वह जलकर, फाँसी लगाकर बधवा बूबकर प्राण दे देगी—‘तृतामनो-  
बधनवारिवारिता निबामुपस्तत्कारवं स्वर्वरिताम् ।’ ( नै० व० १।३५ ) ।  
इसकी व्ययंता का प्रतिपादन मन्त्र द्वारा चार श्लोकों ( ४६-४९ ) में किया  
जा रहा है । इस श्लोक में बताया गया कि यन्त्र में बधन लगाकर नर जाने से  
जब भग्न कर जाती दमयन्ती अन्तरिक्ष भाग में होती, तो वहाँ अन्तरिक्षियों का  
स्वामी अपने आप प्राप्त हुई उसका ग्रहण प्रसन्नतापूर्वक कर ही लेता । सत्कार में  
सभी ग्यानत प्राप्त पदार्थ का ग्रहण कर ही लेते हैं । यह स्वाभाविक है ।  
कहा जिनसे डरकर दमयन्ती भरना चाहती है, नरकर उन्हें ही प्राप्त होती,  
अत व्यर्थ है ग्राम देना । दमयन्ती के कथन में प्राण स्थानों के लपारों का  
इन इस प्रकार का—( १ ) बाण में जन्मा, ( २ ) उद्बभूवन, ( ३ ) बूबन्मा ।  
इस स्थिति में दूसरे उपाय की व्ययता पहिले, तदनन्तर प्रपन्न की, तत्परवात्  
तृतीय उपाय की क्रम-व्यवस्था स्पष्ट है । सुखावशेष’ टीका के प्रमेता  
जिनराव ने इस प्रश्न पर विचार करते हुए लिखा है—‘प्रतिज्ञावृत्ते उद्बभूवन-  
प्रतिज्ञा द्वितीया तथानि अन्तरिक्षस्येन्द्रस्वानिकन्वादिद्रव्यं च प्राधान्यात्प्रपन्न  
दूषिता ।’ अर्थात् दमयन्ती की प्रतिज्ञा में फाँसी से प्राण देने का उल्लेख  
द्वितीय है, परन्तु इसका निराकरण प्रपन्न दो कारणों से किया गया—  
( १ ) प्राणप्राप्त कर सबको अन्तरिक्षस्य से ही जाना होता है, वहाँ का इन्द्र  
स्वामी है, अतः पहिले उसे ही दमयन्ती-ग्रहण का व्यवहार मिलेगा । ( २ ) इन्द्र

मत्र दिक्पात्रो मे प्रमुख माना जाता है। मल्लिनाथ ने बताया है कि अमृत-  
दोष से मृतक का अन्तर्निष्ठा होना पड़ता है। उसके अनुसार यहाँ अर्धान्तर-  
न्यास है। विद्याधर ने छेकानुप्रास साव्यलिंग-अर्धान्तरन्यास का निर्देश  
किया है ॥ ४६ ॥

निवेक्ष्यसे यद्यनले नलोज्जिता सुरे तदस्मिन्महती दयादृता ।

चिरादनेनाथंनयापि दुलभं स्वयं त्वदेवाङ्ग । यदङ्गमप्यन ॥ ४७ ॥

जीवातु—निवेक्ष्यसे इति । हे मुग्धे ! नलेनोज्जिता सती अनले निवेक्ष्यसे  
यदि जीवितनस्मृष्ट्यादिति मवेदयसि चेदित्यर्थ । जाधारत्वविवक्षया सप्तमी  
'निविश' इत्यामनेपदम् । एतत् तर्हि अस्मिन्ननले अनन्तारये सुरेऽपि तदधिष्ठात्रि  
देवे च भूतमात्र इति भावः महती दया आस्ता कृता स्वीकृत्येत्यर्थ । कुत्र  
यद्यस्मादननानलेन चिरादयनया यत्नयापि दुर्लभमङ्गं शरीरम्, अङ्ग ।  
अपि । स्वयं त्वदेवमात्मनैव अप्यते तया सा स्मृतममेव जीवन्नाह ग्रहीष्यतीति  
भावः । अत्र प्रतीत्यर्थे जीवितजिहासोरन्यत्र ह्यङ्गुलिस्पर्शानयोक्तेर्विषममेव ।  
'विरट्कार्यस्तोत्रं प्रवेष्टुं नमस्य वा नवेत्' । मुक्ताङ्गना बासी विषमालङ्-  
कृतिरिति चेति लक्षणात् ॥ ४७ ॥

अन्वयः—यदि नल से अगृहीता होने पर अग्नि में प्रवेश करोगी तो इस  
दया आस्ता, यह अनेक चिरान् अर्थनया अपि दुर्लभम् अङ्गम् अङ्ग, त्वया  
एव अप्यते ।

हिन्दी—यदि नल से अगृहीता होने पर अग्नि में प्रवेश करोगी तो इस  
देव ( अग्नि देव ) पर बड़ी दया स्वीकारोगी, क्योंकि इस ( अग्निदेव ) के  
द्वारा चिरकाल से प्रायना करने पर भी दुर्लभ ( दमयन्ती का ) अंग है अंग,  
( सुन्दरि दमयन्ती, ) तेरे द्वारा ही ( उसे ) अधिष्ठ होगा ।

टिप्पणी—जलकर मरना भी व्यर्थ है, क्योंकि उससे तो दमयन्ती अग्नि  
की अपने आप ही मिल जायेगी । अग्निदेव चिरकाल से दमयन्ती-अंग-स्पर्श के  
निमित्त उसकी याचना कर रहे हैं । वह शरीर जलने के लिए अग्नि-प्रवेश  
करते ही अग्निदेव को अनायास मिल जायेगी । यह तो दमयन्ती की अग्नि  
पर बड़ी दया हुई । अग' संबोधन द्वारा दमयन्ती के अज्ञान का उपहास  
सूचित किया गया । मल्लिनाथ के अनुसार इस पद्य में नल के न मिलने पर

प्राणवायु करती दमयन्ती का जगति द्वारा सञ्चरीय भ्रम हो जायेगा—इस मनर्षोक्ति के कारण विषम अञ्जकार है, विद्याधर के अनुसार उक्तानुप्रास जोर काव्यनिष्ठ है ॥ ४३ ॥

जित जित तन्मलु पाशपाणिना विना नल वारि यदि प्रवेक्ष्यमि ।

तदा त्वदाख्यान बहिरप्यसूननो पयपतिर्वरपोऽपि वक्ष्यतेतराम् ॥ ४८ ॥

जोवातु—जितमिति । हे मुझे । नर विना वारि प्रवेक्ष्यमि यदि मरणा-  
र्थमिति हेय । अथेदानीं पाश पापी यन्मतेन पाशपाणिना बहोऽन प्रहरणार्थेन  
परे निवृत्तस्यो भवत । जित जितमनोक्षण जित खनु । भावे क्त ।  
'नित्यवीप्स्योरिति' नित्याये द्विर्भाव 'नित्यमानीष्ये' इति काशिका । तद  
वाग्निप्रवेक्षकात् जमी पयपतिर्वरपोऽपि त्वदाख्यानं स्वनामकान् । बहिरप्यसून  
बहिर्वर्तिन प्रागान् वक्षसि वक्ष्यतेतराम् । वहे स्वरितेत्वात् लटि तदि  
तरप्यामुपपद्य । सोऽपि त्वा जीवशाद् ग्रहीष्यतीत्यर्थ । अत एव पूर्व एवा-  
लङ्कार ॥ ४८ ॥

अन्वय—यदि नल विना वारि प्रवेक्ष्यमि, तदा पाशपाणिना खलु जि-  
जितम्, तदा जनी पय पति त्वदाख्यानं असून बहि अरि वक्षसि वक्ष्यतेतराम्

हिन्दो—यदि नल के बिना जल में प्रवेश करोगी, तो पाशपाणि ( वरुण  
ने निश्चयन विजय प्राप्त कर लिया, तब यह जल का स्वामी ( वरुण ) तेरे  
नाम के ( तेरे ) प्राणों को बाहर भी हृदय पर धारण कर लेगा ।

टिप्पणी—दूबने के लिए जल-प्रवेश करना होगा । जल का स्वामी वरुण  
है । दमयन्ती की तो उसे बिरकाल से कामना है । जैसे ही दूबने को जल में  
दमयन्ती डुबगी, वरुण, पाश हाथ में लिये वरुण उद्यत बैठा ही है । उसे सींच  
कर तुरन्त छाती में लगा लेगा । अभी तो वह दमयन्ती को मन-ही मन धाद  
करता है, अउम् में ही चिपकाये हैं, जल में पहुँचते ही वह दमयन्ती के प्राणों  
को बाहर हृदय से लगा लेगा । वरुण की आकांक्षा पूरी हो जायगी । इस  
प्रकार दूबकर जान देना भी व्यर्थ है । मन्त्रिनाथ के अनुसार विषम अञ्जकार,  
विद्याधर के अनुसार उक्तानुप्रास और उक्तानुप्रास ॥ ४८ ॥

वर्गिष्यते यद्यत्र एव दूयतादुपासमन्य विदुषो स्वमृष्ये ।

प्रिनातिथि स्त्रेन मनामृतात् कथन धर्मगन चागितयेकिमि

जीवातु—करिष्यस इति । अथ विदुषी पण्डिता विदग्धा त्व यदि तु अत एव दूषणादेतस्मादेवोद्बन्धनादिना स्वमृत्यवे स्वमरणाय अन्यमुपायमनघनादि करिष्यसे, तदा प्रियातिथिप्रिया त्व स्वेन स्वत एव गृहान् धमराजगेह गता सती धर्मराजैव स्वतमतिथिसत्तममिति भाव । कथं न चरितायमिष्यति न इतार्यं करिष्यसि । कृतव्यमेवेद कृतयुगधर्मत्वात् स्वयं गत्वातिथिमनोरथ पूरणस्येति भाव ॥ ४९ ॥

अन्वय — यदि विदुषी ( स्वम् ) अतएव दूषणात् स्वमृत्यवे अन्यम् उपाय करिष्यसे, स्वेन गृहम् गता प्रियातिथि धमराज कथं न चरितायमिष्यति ?

हिन्दी—यदि पंडिता ( तू दमयन्ती ) इन्ही कारणों से ( जलना, फाँसी, दूषणा ) दोषपूर्ण होन से अपनी मृत्यु के लिए अन्य उपाय करेगी तो स्वयं ( यमराज के ) चर-चरुषी प्रिय अतिथि ( जिसके जाने की तिथि निश्चित हो, अनपेक्षित ) धर्मराज को कृतार्थ क्यों न करेगी ? ( करेगी ) ।

टिप्पणी—नल ने सिद्ध कर दिया कि फाँसी लगाकर इन्द्र का, जलकर, अग्नि की और दुबकर बरुण को अन्तर्वास ही दमयन्ती प्राप्त हो जायेगी, अतः इन तीनों उपायों द्वारा श्रेष्ठ उपाय चुना होगा । इस स्थिति में दमयन्ती अन्य उपाय से प्राणत्याग का विचार कर चुकी है, पर इसमें भी अपेक्षा हा प्राप्त होगी । यमराज ( यमराज ) पर पहुँचना पड़ता है । वे धर्मराज तो उत्कठा हैं साथ दमयन्ती के 'काम' हैं । जब अनपेक्षित अतिथि के रूप में प्रिया दमयन्ती उनके घर पहुँचती है तो तो कृतार्थ हो उठेंगे । इस प्रकार प्राणत्यागमात्र व्यर्थ है । उससे इन्द्र, अग्नि, बरुण, यम में से किसी-न किसी की इच्छा पूरी होगी ही, और दमयन्ती का काम्य नहीं है । 'विदुषी' विदोषण द्वारा यह संकेतित है कि दमयन्ती को है ही कि वह नल के तक्यों की समझ सके । 'विदुषी स्वमृत्यवे' के स्थान पर विद्याधर ने 'विदुषीति मृत्यवे' पाठ की उचित माना है । इस स्थिति में 'विदुषी-इति' पदच्छेद करके 'विदुषि' संबोधन हो जाता है । ऐसी स्थिति में 'स्वम्' का अपवाह न करना होगा, अतः पाठांतर अधिक समीचीन प्रतीत होता है । इस प्रकार किसी भी प्रकार से प्राणत्याग करने में दमयन्ती का अमीह सिद्ध न होगा— यह दूत नल ने प्रमाणित कर दिया । विद्याधर के अनुसार वाच्यलिङ्ग ॥ ४९ ॥

निपेयवेनो विधिरेव तेज्यवा तत्रैव युक्ता खलु वाचि वक्ता ।

विब्रूमिन्त यस्य किल ध्वनेरिदं विदग्धनारीवदन तदाकरः ॥ ५० ॥

जीवातु—निपेयवेति । हे विदग्धे ? अथवा तत्र एव इन्द्रादिनिपेयों निपेय-  
वेनो निपेयवक्त्रो विधिरङ्गीकार एव । तथा हि वाचि वचने वक्ता वक्त्रोन्मि-  
षानुरी व्यङ्ग्योक्तिवातुरीति यावत् । सा तत्रैव युक्ता खलु । कुत्र इदं वक्त्रं  
वाच्यं वक्त्रनावातुं यस्य ध्वनेर्यज्वकवृत्तिविब्रूमिन्त विब्रूमन्त ननुन्दनान  
क्तः । विदग्धनारीवदन नूत्नि चतुरङ्गीमुख तदाकरन्तस्य ध्वनेर्यज्वनिम्यान्  
निपयान्तरस्याम् । तत्र न्यूनान्वितनन्मानेन विधिरैव द्रष्टव्यमन्तनिपेय-  
नाटकमिति निपेयवेन विधिरैव व्यञ्जन इति भावः ॥ ५० ॥

अन्वयः—अथवा ते एव निपेयवेन विधि एव तत्र एव वाचि वक्त्रा  
युक्ता, खलु इदं यस्य विधे किल विब्रूमिन्त तदाकरः विदग्धनारीवदनम् ।

हिन्दी—अथवा तैरा ( दमयन्ती ) यह निपेय के रूप में स्वीकार ही है  
तैरी ही वाणी में व्यङ्ग्योक्ति-वातुं उपयुक्त है, क्योंकि यह शिष्ट ध्वनि अर्थात्  
व्यञ्जनावृत्ति का प्रसिद्ध विवास है, उसका उद्भवस्थान विद्युती नारी का  
मुख ही है ।

टिप्पणी—पूर्व श्लोक में दमयन्ती का 'विद्युती' कह दिया गया, इस श्लोक  
में भी यमदम को लेकर कहा गया कि कदाचित् नन् ही को दमयन्ती की  
विदग्धवाणी—'विदग्धनारीवदनमिति' को समझने में भूल ही गया । दमयन्ती ने  
देव-विरम जम्बीकारा नहीं है, स्वीकारा है । यह स्वीकृति अनिवाच्यता नहीं  
है, व्यञ्जनान्विता है । यह निपेय के रूप में विधि है । 'नही' से 'ही' व्यञ्जन  
है । विदग्ध वाणी का जन्म होता ही विद्युती के मुख से है । सो नन् यह दमयन्ती  
की स्वीकृति ही मानता है । वाच्य और प्रतीयमानार्थ की भिन्नता के हेतु  
यनाति हूय आनन्दवर्द्धनाचार्य ने कहा है—'य हि क्वचिद् वाच्ये प्रतियेकहमे  
विधिरस्या यना-वक्ता एव निमज्जति एव जह विदग्ध पलोएहि । मा पहिन्न  
रतिप्रधन नेञ्जाए मह निमज्जति ।' ( ध्वन्यालोक—११४ की वृत्ति ) ।  
यहाँ नादिका घर आये नायक ने कह रही है कि 'तु दिन में ही देख सकत लं,  
क्योंकि रात रज्जियों के कारण तुने मूयता नहीं । यहाँ मेरी नास सीटी है औ-  
यहाँ मैं । यही रात में मेरी धम्या घर न गिर जाता । इस उदाहरण से शय्या  
१६ नं० २४०

पर न गिर जाने का अर्थ 'गिर जाना' ही है। अर्थात् रात को चुपचाप शयन पर आ जाना। यह निपेक्षरूप में विधि है, जो व्यर्थ है। यह ध्वनि है, वज्रपदरचना। तो दमयन्ती का भी कुछ ऐसा ही अमिप्राय लगता है, वह 'न' में 'हं' कह रही है। वदाचित् इसका कारण नारीजनोचित लज्जा हो। विद्याधर के अनुसार हेत्वाक्षेपालकार ॥ ५० ॥

भ्रमामि ते भ्रमि ! सरस्वतीरसप्रवाहचक्रेषु निपत्य कत्यद ।

अपामपाकृत्य मनाक्कुह स्फुट कृतार्थनीय कतम' सुरोत्तम ॥ ५१ ॥

जीवातु—एव सुरस्वीकारपक्षमेव सिद्धवत्कृत्य निर्वन्ध्य पृच्छति—भ्रमा-  
मीति । हे भ्रमि ! ते तव सरस्वती वाक् नदीभेदश्च तस्या रस शृङ्गारो  
जलञ्च तस्य प्रवाहस्तस्य चक्रेष्विति पाठेऽप्ययमेवायं । 'चक्राणि पुटभेदा  
स्युरित्यत्र' 'वक्राणीति' पाठस्यापि स्वामिनाङ्गीकारात् । कति विम-त्यमूनि  
चक्राणि यस्मिन् कमणि तद्यथा निपत्य भ्रमामि मुह्याम्यावर्ते च । अत्र वाच्य-  
प्रतीयमानयोरभेदाध्यवसायान्निपातनादिक्रियानिर्वाहः । अल वक्रोक्तेति  
तात्पर्यं किं तु कतम सुरोत्तम कृतार्थनीयो वरणीय ? एतदेव अपा मना-  
गपाकृत्य शिविलीकृत्य स्फुट कुह व्यक्त ब्रूहीत्यर्थः । नात्र लज्जितव्यम् 'आहारे  
व्यवहारे च त्यक्तलज्ज सुखी भवेदिति' न्यायादिति भावः ॥ ५१ ॥

अन्यथ — भ्रमि, ते सरस्वतीरसप्रवाहचक्रेषु निपत्य कति भ्रमामि, कतम।  
सुरोत्तम कृतार्थनीय ? अपा मनाक् अपाकृत्य अद स्फुट कुह ।

हिन्दी—हे भीमपुत्रि, तेरी सरस्वती ( वाणी ) रूप सरस्वती नदी के  
शृङ्गारादिरसप्रवाह ( वक्रोक्ति )—रूप जलप्रवाह के चक्र अर्थात् मण्डल ( समूह )  
रूप आवर्तों में पड़कर कितना चक्कर खाऊँ ? ( इन्द्रादि दिक्पालों में से )  
कौन में देवोत्तम का तुम कृतार्थ करोगी ? लज्जा को थोड़ा दूर हटाकर यह  
स्पष्ट करो ।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक में नल ने दमयन्ती से कहा था कि उसके निपथ का  
तात्पर्य विधि ( 'न' का अर्थ 'हं' ) ही लगता है, जो वदाचित् विदुषी  
दमयन्ती ने वक्रोक्ति—वैदग्ध्यमयीमजिति का आश्रय लेते हुए कहा है । इस श्लोक  
में नल ने विनयपूर्वक दमयन्ती से निवेदन किया कि वह इस उत्तिर्वचिष्य से  
आत होकर वैसे ही चकरा रहा है, जैसे कि कोई नदी जल के आवर्तों में पड़कर

चक्कर खाता है। नल जानना चाहता है कि दमयन्ती इन्द्राग्निवल्गायम मे से किमवा वरण करेगी, क्योंकि यह दमयन्ती के कथन से स्पष्ट नहीं हो पा रहा है। वह सज्जा छोटकर, वक्रोक्ति चक्र मे न फँसा कर स्पष्ट उस दिक्पाल का नाम लेने की कृपा करे, जिसे वह वरना चाहेगी। 'मनाक्' का अन्वय 'कुट कुट' से करके यह भी किया जा सकता है कि दमयन्ती वरणीय मुरोत्तम के विषय मे राडा-सा ही स्रष्ट कर दे - सकेतमात्र। मल्लिनाथ 'कत्यद' को एक शब्द मानकर उसका अन्वय 'कत्यद निपय भ्रमामि'—इस प्रकार करते हैं यर्थात् 'जितने चक्कर पड़कर खाऊँ'—कति कियन्ममूनि चक्राणि यस्मिन् वमनि तद्। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और श्लेषालङ्कार ॥ ५१ ॥

मनः किमेरावतकुम्भकैतवप्रगल्भपोनस्तनदिग्धवस्तव ।

सहस्रनेत्रात्त पृथक् मते मम त्वदङ्गलक्ष्मीमवगाहितु क्षमः ॥ ५२ ॥

श्रीवातु—अथैकस्मिन्नेव नामग्राहमनुरागमष्टमि पृच्छति—मत् इत्यादि। हे मैमि ! ऐरावतकुम्भयोः कंतुवेन निषेणेत्यपह्नवभेदः । प्रगल्भी कठोरी पीनौ च स्तनौ यस्यास्तस्या दिशः प्राच्या धवः पतिरिन्द्रस्तव मत् सम्मत किम् ? किञ्च प्रश्ने । 'मतिबुद्धी'त्यादिना वर्तमाने क । 'तस्य च वर्तमाने' इति तद्योगात्तेति पठ्यते । युक्तञ्च तदित्याह—मम मते मत्पक्षे त्वदङ्गस्य लक्ष्मीं छावन्त्यसम्पदमवगाहितु सम्पद्गहीनु सहस्रनेत्रात् सहस्राक्षात् पृथगन्योऽपि इत्यर्थः । 'पृथग्विने'त्यादिना पक्षे पञ्चमी । क्षमो न । अत्रोत्तरवाक्यार्थेन पूर्ववाक्यार्थसमर्थनाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् । 'हेतोर्वाक्यार्थहेतुत्वात् काव्यलिङ्गमुदाहृतम्' इति लपणात् । तस्य पूर्वोक्तापह्नवेन समृद्धिः ॥ ५२ ॥

अन्वयः—ऐरावतकुम्भकैतवप्रगल्भपीनस्तनदिग्धवस्तव सव किं मत् ? मम मते त्वदङ्गलक्ष्मीम् अवगाहितु सहस्रनेत्रात् पृथक् क्षमः न ।

हिन्दी—ऐरावत ( मुरगत्र ) कुम्भस्थल के व्याज से कठोर और पीन ( मासल ) स्तनों-वाली दिशा ( पूर्वदिशा ) का पति ( इन्द्र ) क्या तेरा अभीष्ट है ? मेरी समति में तेरे शरीर की शोभा के अवगाहन ( मन्त्री मति ग्रहण ) में सहस्रनयन ( इन्द्र ) के अतिरिक्त अन्य समर्थ नहीं है ।

—टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती का बुचबुल ऐरावत हाथी के मस्तकस्थित मासल—कुम्भस्थल की मति कठोर और मासल है। इन्द्र



ऐरावत का स्वामी है । इस दृष्टि से जैसे ऐरावत पर उसका अधिकार है, ऐसे ही दमयन्ती का अधिकारी भी वही होना चाहिए । इसके अतिरिक्त दमयन्ती के अङ्गों की शोभा इतनी व्यापक और जसीम है कि दो नेत्रवाला उसका भली भाँति ईक्षण कर ही नहीं सकता, उसके लिए दो नहीं, सहस्र नेत्र अपेक्षित हैं । इन्द्र सहस्रनेत्र है । इस प्रकार उसी में इस शरीर शोभा के अवगाहन की क्षमता है । विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में अपह्नुति और समाप्ति अलंकार हैं । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ काव्यालिंग और अपह्नुति की सृष्टि है, क्योंकि पूर्वाद्ध में 'कंसव' शब्द अपह्नुति का चोतक है और उत्तरवाक्यार्थ द्वारा पूर्ववाक्य का समर्थन होने से वाक्यार्थहेतुक काव्यालिंग है ।

प्रसीद तस्मिन् दमयन्ति । सन्तत स्वदङ्गसङ्गप्रभवेर्जगत्प्रभु ।

पुलोमजालोचनतीक्ष्णकण्टकैस्तनु घनाभातनुता ॥ कण्टकै ॥ ५३ ॥

जीवातु—प्रसीदेति । हे दमयन्ति । तस्मै इदं प्रसीद प्रसन्ना भव ।

क्रियाग्रहणाच्चतुर्थी । जगत्प्रभु स इन्द्र सन्तत तनु निजाङ्ग निजाङ्गप्रभवैरत एव पुलोमजाया शय्या लोचनयोस्तीक्ष्णकण्टकैर्निशितवर्वरादिद्रुमावयवविशेषैस्तथा व्यपाकरै सपत्नीमाविरित्यर्थः । कण्टकैः पुलकैः 'वेणी द्रुमाङ्गे रोमाञ्चे क्षुद्रात्री च कण्टक' इति उभयत्रापि वीजयन्ती घना सा द्रुमाभातनुता करोतु, शय्या सपत्नी भवेत्यर्थः । अत्र पुलकेषु कण्टकत्वारोपाद्रपकालङ्कारः ॥ ५३ ॥

अन्वय — दमयन्ति, तस्मै प्रसीद, स जगत्प्रभु तनु स्वदङ्गसङ्गप्रभवै-पुलोमजालोचनतीक्ष्णकण्टकैः कण्टकैः सन्तत घनाम् आतनुताम् ।

हिन्दी—हे दमयन्ती, तू उस ( इन्द्र ) पर प्रसन्न हो जाओ ( वरण करो ) । वह लोकपाल ( अपने ) शरीर को तेरे ( दमयन्ती के ) अंगों के सग से उत्पन्न, पुलोमा की पुत्री ( दाची, इन्द्राणी ) के नेत्रों के निमित्त तीछे काँटों जैसे रोमाँचों द्वारा निरन्तर परिपूर्ण रहे ।

टिप्पणी—भाव यही है कि दमयन्ती इन्द्र का वरण करले, तब उसके अंगों के स्पर्श से इन्द्र के शरीर में रोमांच होगा, वह इन्द्र की पत्नी की आँखा में तीक्ष्ण काँटों से समान खटका करेगा । दमयन्ती दाची की सपत्नी हो जायेगी, जिसके वश में इन्द्र रहेगा । दाची पति को सपत्नी सग से रोमांचित देल 'अ-य-सयोगदुःखिता' हो जायेगी । मल्लिनाथ के अनुसार पुलकों में कटकत्व का

मारोप होने से रूपक है, विद्याधर ने भी अनुप्रास और रूपक का निर्देश किया है ॥ ५३ ॥

अबोधि तत्त्व दहनेऽनुरज्यमे स्वयं खलु क्षत्रियगोत्रजन्मन ।

विना तमोजस्विनमन्यन् कथं मनोरथन्ने वल्लभ विलासिनि ॥ ५४ ॥

जीवानु—अबोधिनि । विलामिनि । विलासिनीले । वां कथं सख्य-  
जन्म' इति विनुप्रत्यय । तत्त्व स्वम्मनोरथस्वम्मनबोधि बुद्धम् । कर्मणि  
कुट् । तदेवाह—अथ स्वमित्यर्थं दहने जागवेदधि अग्निदेवे अनुरज्यमे अनु-  
रक्तानि सन्तु । रज्जेर्देवादिवाह स्वरितेन कर्त्तरि णट् । 'अनिदिताम्' इत्या-  
दिना अनुनासिकडोष । कुत, क्षत्रियगोत्रे जन्म यस्यास्तस्यास्ते ओजस्वि-  
वराया इत्यर्थः । मनोरथ ओजस्विन तमग्निं विनाऽन्यतोऽन्यत्र सार्व-  
विभक्तिकन्तति । कथं वल्लभे प्रयत्ने न कथमपीत्यर्थः । एतेनोभयोरोजस्वि-  
त्वेन मनागमानुरूप्याह्वनाभिरागित्व ते युक्तमिति मर्मर्यनाद्वाक्यायहेतुक  
काव्यजिज्ञा व्यक्तमेव ॥ ५४ ॥

अन्वय—तत्त्वम् अबोधि, स्वयं दहने अनुरज्यसे खलु । विलासिनि, क्षत्रिय-  
गोत्रजन्मन से मनोरथ तम ओजस्विन विना अन्यतः कथं वल्लभे ?

हिन्दी—( अथवा मैंने ) तत्त्व ( ठीक बात ) समझ लिया, तुम स्वयम्  
अग्नि में निश्चयन अनुरक्त हो । हे विलासमयी ( विलामिले ), क्षत्रिय कुल  
में जनमनेवाली तेरा मनोरथ उस तेजस्वी ( अग्नि ) को छोड़ और किसी  
में कैसे प्रवृत्त होगा ?

टिप्पणी - इन्द्रविषयक अनुराग की कल्पना करके दा ( ५४-५५ ) श्लोकों  
में दमयन्ती के अग्नि के प्रति अनुराग की समावना की गयी है । दमयन्ती  
क्योंकि तेजस्वी क्षत्रियकुल में उत्पन्न हुई है, अतः उसका तपोमय अग्नि की  
इच्छा करना उचित और स्वाभाविक ही है । दमयन्ती का मन रथ के समान  
है, वह तेजस्वी की ओर ही प्रवृत्त होगा । विद्याधर ने हेतु और समासोक्ति  
का निर्देश किया है, किंतु मल्लिनाथ का मत है कि यहाँ वाक्यायहेतुक  
काव्यसिद्धि यल्लकार व्यक्त है, क्योंकि दोनों ( दमयन्ती-अग्नि ) के ओजस्वी  
होने से समान की अनुरूपता होने के कारण अग्नि में दमयन्ती के अनुराग  
की उचितता का समर्थन हुआ है ॥ ५४ ॥

त्वयैव पत्न्या तनुतापशङ्कया ततो निवर्त्य न मन कथञ्चन ।

हिमोपमा तस्य परीक्षणक्षणे सतीषु वृत्ति शतशो निरूपिता ॥ ५५ ॥

जोवात्—न च दाहाद्भूतव्यमित्याह—त्वयेति । एकपत्न्या मुख्यपतिव्रता, अत एव त्वया तनुतापशङ्कया देहदाहसम्भावनया वा ततोऽग्नेर्मन कथञ्चन कथञ्चिदपि न निवर्त्य न निवर्तयितव्य, वृत्तेष्वन्ता'दन्तो यदि'ति प्रत्या । कुतस्तस्याग्ने परीक्षणक्षणे अग्निदेवेन पातिव्रत्यपरीक्षावसरे सतीषु विप्रे हिमनोपमा साम्य यस्यास्ता वृत्ति । अतश्च शतशो निरूपिता निर्घोषिता, न तु घुणाक्षरवत् सकृदित्यर्थ । तस्मात् त्वया न भेतव्य प्रत्युत स एव साक्षा एवा दग्धु बिभेतीति भाव । अत्र पूर्ववाक्यस्यैकपत्नीपदार्थहेतुवत्त्वात्तरदार्थ हेतुकमेक काव्यलिङ्गम् तस्याप्युत्तरवाक्यार्थहेतुकत्वाद्वाक्यार्थहेतुकञ्चेत्यनयो सङ्कर ॥ ५५ ॥

अन्वय—एकपत्न्या त्वया तनुतापशङ्कया तव मन कथञ्चन १ निवर्त्यम् परीक्षणक्षणे तस्य सतीषु हिमोपमा वृत्ति शतशो निरूपिता ।

हिन्दी—एक ही पतिवाली ( पतिव्रता ) तू ( दमयन्ती ) शरीर के सत्पत् होने की आकांक्षा से उस ( अग्नि ) की ओर से मन किसी प्रकार न हटाना, क्योंकि परीक्षा के समय ( पातिव्रत्य-परीक्षा के अवसरे पर ) उस ( अग्नि ) का सतियों के प्रति हिम के समान शीतल व्यवहार सैकड़ों बार देखा गया है ।

टिप्पणी—यह आशंका यदि दमयन्ती के मन में हो कि अग्नि ज्वलनशील है, उसका सत्तम दाह का कारण बनेगा तो इससे डरना ठीक नहीं, क्योंकि सीता आदि पतिव्रताओं का ससज जब उससे हुआ तो वह बर्फ के समान ठंडा पाया गया । दमयन्ती भी पतिव्रताओं में मुख्य है ही । पातिव्रत की परीक्षा के लिए 'दिव्य' की योजना की जाती है, दिव्य अर्थात् अग्नि में प्रविष्ट होकर परीक्षण, जिसमें पतिव्रता होने पर स्त्री सन्तुल रहती है, न होने पर जल जाती है, जैसे सीता की अग्नि-परीक्षा ( वाल्मीकिरामायण, मुद्रकाण्ड ११६-११८ सर्ग ) । विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग अलंकार, मल्लिनाथ ने पदार्थ हेतुक और वाक्यार्थहेतुक दो काव्यलिङ्गों का संकर माना है, पूर्ववाक्य के एकपत्नी पदापहेतुक होने से पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग है तथा उसके वाक्यार्थ हेतुक होने से अर्थहेतुक हान से वाक्यार्थहेतुक ॥ ५५ ॥

स धर्मराजं यत्तु धर्मशील्या त्वयाम्नि चित्तातिथितामवापिन ।

ममापि माधु प्रतिभान्त्रय क्रमश्चकान्त योग्येन हि योग्यमङ्गम ॥५६॥

जीवानु-म इति । अथवा स प्रसिद्धो धर्मराजो यमः धर्म शीलमतीति ।

धर्मशीला धमचारिणी । 'शीञ्चामिमङ्गावन्म्यो प' । तथा त्वया चित्ता-

तिथिता चित्तगोचररूपमवापिनोऽस्ति यत्तु ? कामित । किमित्यर्थः । सन्तु-

मन्तो विज्ञायामासु । 'नियेनवाक्यालङ्कारविज्ञासानुनये सन्तु' इत्यमर ।

यथा चेद्वरनिष्पाद-ममाप्यय यमः क्रमण प्रवृत्ति साधु यथा तथा प्रतिभाति

पश्चिद्वरति । तथा हि—योग्येन सह योग्यस्य समागम सम्बन्धश्चकास्ति

द्योमते, उमयोषामिवरवादिनि भाव । अर्थात्तरस्यामोऽलङ्कार ॥ ५६ ॥

अन्वयः—धर्मशील्या त्वया स धर्मराजं यत्तु चित्तातिथिताम् अवापित

अस्ति—अत्र क्रम मम अपि माधु प्रतिभानि, हि योग्येन योग्यमङ्गम चकास्ति ।

हिन्दी—धर्माचारिणी तेरे ( धर्मयन्त्री के ) द्वारा वह ( प्रसिद्ध ) धर्मराज

( यमराज ) कदाचित् चित्त का अतिथि ( मनोगोचर ) बनाया गया है,—

यन् परिपाटी मुझे ( दूत नेत्र को ) भी मन्त्री प्रज्ञेत होनी है, क्योंकि योग्य से

योग्य ( उन्नत से उत्तम ) का ममम सुशोभित होता है ।

टिप्पणी— दो ( ५६ ५७ ) श्लोकों में धर्मराज के वरण का औचित्य

प्रतिपादन किया गया है । धर्मयन्त्री धर्मशीला है, अतः धर्मशीला के चित्त

में यदि धर्मराज बना है तो उचित ही है । नियम ही है कि 'योग्य योग्येन

योजयेत्' । समानशील जनो का मन शोभित होता है—'समानशीलस्य सनेपु

सहजम् ।' मन्त्रिणाथ के अनुसार अर्थान्तरभ्यास, विद्याधर ने छेकानुप्रास और

अर्थात्तरस्याम का निर्देश किया है ॥ ५६ ॥

अज्ञानविन्देददत्रै स्मरोन्मयेगम्गभासादिनि निर्मलन्त्रिपि ।

धनार्नि लात्तमन्मृगुशङ्किता निमेषवत्तेन नयन्व केलिभि ॥५७॥

जीवानु—अज्ञानेति । हे ममि । अथत्यमासा नियन्त्रिपि दिशि

दक्षिणाय दिशोऽयम् । तेन धर्मराजेन सह । 'बुद्धी मृते'ति ज्ञापकात्

सहाप्रमोहेऽपि सहायै तृतीया । अविद्यमान मृत्युशङ्किता मरणशङ्का यस्या सा

सती अतस्त्वयैवात्मदासत्वादिति भाव । अत्रातो विच्छेदलवो विच्छेदो

येषु तै, स्मरोत्तरै, सम्प्रोक्तेषु के-निर्दिशेदे धृतोऽवर्गारतो यस्य तदनन्त-

काल निमेषवत् निमेषतुल्य नयस्य यापय । वरान्तरस्वीकारे दुर्लभमिदं  
सौभाग्यमिति भाव ॥ ५७ ॥

अन्वय — जगत्स्यमासा निर्मलत्वविधिं दिशि तेन अमृत्युसङ्कृता अमात-  
विच्छेदलवैः स्मरोत्सवैः केचिन्नि धुनावधि काल निमेषवत् नयस्व ।

हिन्दा—अगस्त्य ( मुनिनामक नक्षत्र ) के प्रकाश से निर्मलकांतियुता  
( दक्षिण ) दिशा में उस ( धर्मराज ) के साथ मृत्यु की घटा से रहित होकर  
वियाह के क्षण से हीन कामोत्सव झौड़ाजों द्वारा असीम काल को क्षणसम  
व्यतीत करो ।

टिप्पणी—जिस दिशा में विद्याचल पारकर अगस्त्यमुनि जा वसे थे  
और जो ठग्ली के नामधारी नक्षत्र के आलोक से निर्मल है, उस दक्षिणा  
दिक् का स्वामी धर्मराज है । उससे विवाहित होने पर दमयन्ती को एक  
अपन अगम्य लाभ यह होगा कि मृत्यु और तरसमव वियोग की आशंका ही  
मिट जायेगी और अमर्यादित समय तक दमयन्ती काम कीड़ाएँ करती  
आनन्द उठा सकेगी, क्योंकि धर्मराज तो मृत्यु के अग्रिपति ही ठहरे । ऐसा  
अवसर और से विवाह करने में प्राप्त न होगा । विद्याधर के अनुसार उपमा ।

शिरीषमृद्वो वरुण किमोहमे पयःप्रवृत्त्या मृदुवर्गवासवम् ।

विहाय सर्वान् वृणुते स्म किन्तु मा निशापिशीतागुमनेन हेतुना ॥ ५८ ॥

जीवातु—शिरीषेति । अथवा शिरीषमृद्वी त्व पयःप्रवृत्त्या जलस्वभावेन  
वरुणशीरीरस्य तपात्त्वान् कारणगुणशेनेत्यर्थः । मृदुवर्गं वासवमिन्द्र श्रेष्ठ  
वरुणमोहमे किमिच्छति वा ? तदपि योग्यमेवेति शेषः । तथा हि सा मृदु-  
स्वभावा निशापि अनेनैव मृदुस्वभावस्त्वेन हेतुना कारणेन । 'सर्वनाम्नस्तृतीया  
च इति तृतीया । सर्वास्तीक्ष्णान् मूर्धादीन् विहाय शीतान् न वृणुते स्म  
किम् ? वृणुत एव । दृष्टान्तात्कार ॥ ५८ ॥

अन्वय—शिरीषमृद्वी किं पयःप्रवृत्त्या मृदुवर्गवासव वरुणम् ओहमे ? सा  
निशा अपि अनेन हेतुना सर्वान् विहाय हि शीतान् न वृणुते स्म ?

हिन्दी—शिरीष कुण्डलों के तुल्य कोमलामी ( तू दमयन्ती ) क्या जल  
स्वभाव के कारण कोमल पत्तियों के इन्द्र ( स्वामी ) वरुण की दृष्टा करती  
है ? उस रात्रि ने भी हमी कारण से मृदु को छोड़ क्या शीतकर ( चन्द्र ) को  
नहीं बर है ? ( इसी कारण बर है ) ।

टिप्पणी—( दो ५८-५९ ) इन्होंने मे वरुण वरुण का औचित्य प्रति-  
पादित है। दमयन्ती कोन्यागी है, अतः इसकी पूर्ण मनाइना है कि वह  
कोन्य पति की ही इच्छा करे। इसने यह मनाइना भी मान ही है कि वह  
वरा-वर्ण करे। दमयन्ती भी कोमल और अल्प-प्रवृत्ति होने से वरुण का  
स्वामी वर्ण भी कोन्य। रात्रि डाग चन्द्र-वर्ण के दृष्टांत से इन औचित्य को  
पुष्ट किया गया। रात्रि भी नीचतम स्वभाव, मृदु होती है, इसी कारण  
इसने शीतविरज चन्द्र का उद्गम किया। ऐसी ही दमयन्ती का वरा-वरमेच्छा  
भी मान ही है। इन्द्राविन्दन से अज्ञात वरुण पर प्रवृत्ति होने से कहीं कोन्य  
है। यहाँ 'योष्य योष्यन योष्यन्' पश्चिमादी 'स्तू' होती है। मल्लिनाथ के  
अनुसार दृष्टान्त अन्तर्गत, विष्णुवर ने दृष्ट की परिभाषा 'भयानान्यावधौ  
स्फुटतुननाया स्वल्पद्रापनौ निदिग्धेन यस्मिन्नुपन्यायः स विज्ञेयः' के अनुसार  
यहाँ उभयपक्ष अलङ्कार का निर्देश किया है ॥ ५८ ॥

अमेवि यन्मल्लदिवी दिवानिज श्रियः प्रियेमानुगमनीयकः।

सहानुरा तत्र पयःपयोनिषी कृशोदरि । क्रीड ययाननारयम् ॥५९॥

औदन्—अमेवीति । हे कृशोदरि । अननु महद्भयाननीयक रमणीयत्वं यस्य  
मौजिरमणीयो यः पयःपयोनिषी त्यक्ता ह्यै येन तेन श्रियः प्रियेय लक्ष्मी-  
पत्निका दिवा च निशा च दिवानिजमहोरात्रयोरित्यर्थः । इन्द्रैकवद्भावे  
अप्यन्तस्तरने द्वितीया । अमेवि मेवित् । तत्र पयःपयोनिषी क्षीराब्जौ अनुता  
वर्षेण सह ययाननारय यत्रैव क्रीड, लक्ष्मीनारायणवदिति भावः ॥ ५९ ॥

अन्वय—कृशोदरि, अनुगमनीयक यः त्यक्तदिवी श्रियः प्रियेय दिवा-  
निशम् अमेवि, तत्र पयःपयोनिषी अनुता सह ययाननारय क्रीड ।

हिन्दो—१ तृतीय ( दमयन्ति ), नात्यन्वमतीत ( अत्यन्त मनोरम )  
जिनका स्वर्गोत्पत्ती लक्ष्मीकल्प ( विष्णु ) ने क्षिरात मेवन किया, उन  
क्षीरमातर में इस ( वरुण ) के साथ अमिल्लषात्पुनर जेनि करो ।

टिप्पणी—वरुण वरुण का एक और औचित्य । उसने विवाह कर क्षीर-  
मातर में यथेच्छ विहार का अवसर प्राप्त होगा । यह बात जान है, क्योंकि  
क्षीरमाता स्वर्ग में भी रमणीय है । इसका प्रमाण यह है कि स्वयम् लक्ष्मी के  
विष्णुन विष्णु ने लक्ष्मी के साथ वही विहार किया । यदि क्षीरमातर-विहार

जीवातु—ततः किमन आह—तदिति । तत्तस्मात् औन्मुख्यादद्य विधम्य मे मम दयालुरेधि भव, अद्यास्मद्गेहे निवासेन मामनुग्रहाणेत्यर्थः । अस्तेनोदिमिपि 'दृष्टत्स्यो हेधि', 'ध्वसोरेद्धावन्मासतोपश्चे'त्येकारः । तन्निवातस्य पत्न्याह—भवत विलोकत इति नवद्विलोकिनी सती दिनं निनीषामि, त्वद्विलोकेन दिनं नेतुमिच्छामीत्यर्थः । भर्त्सनात् कथं ते कालपापनमित्याशङ्क्याह—न मत्प्रियो नलः पञ्जिणा दूतहृत्सेन नखैर्विलिख्य तर्ष्वैव रूपेणाकारेण समः सहस्र आख्यायि किल, आख्यात खलु । ख्यातं कर्मणि लुङ् । विणौ युगागमः । अतस्त्वर्धशनात् दिनं नेष्यामि । सदृशदर्शनादिना कालविनोदनं साधनत्वाद्विपोगिनामिति प्रायेवोक्तमनुसन्धेयम् ॥ ६६ ॥

अन्वयः—तत् अद्य विधम्य मे दयालुः एधि, नवद्विलोकिनी दिनं निनीषामि, पञ्जिणा नखैर्विलिख्य सः मत्प्रियः तथा एव रूपेण समः आख्यायि किल ।

हिन्दी—तो आज विधाम करके मुझ पर दयालु हो जाइए, आप (समुख स्थित नल) को देखती दिन व्यतीत करना चाहती हूँ, (कारण कि) पक्षी हंस ने नखों द्वारा अकित करके वह मेरा (दमयन्ती का) प्रिय (नल) बंसा ही आकार में (आपके) सहस्र ही बताया था ।

टिप्पणी—सखी बताया कि नल अब ऐसी बातें न करे, जो दमयन्ती का व्यथित करती हैं । यह उनकी बड़ी दया होगी । दमयन्ती की इच्छा यह है कि समुख उपस्थित नल (नल) को देख-देख कर ही यह पहाड़-सा दिन व्यतीत कर लें । दमयन्ती जान गयी हैं कि दून नल ही हैं, क्योंकि स्वर्णहंस ने नखों से जो चित्र बनाया था, वह पूर्णतया ऐसा ही था । विद्यापद के अनुनार उपमा और काव्यलिंग ॥ ६६ ॥

दृशोदयो ते विधिनास्ति वञ्चिता मुखेन्दुलक्ष्मी तव यत्र योऽन्ते ।

अनावपि अस्तदिमा नलानने विनीक्य माफन्यमुपेतु जन्मनः ॥६७॥

जीवातु—अद्येह विधामे न केवलं ममैव साफल्यं किन्तु तवापीत्याह—दृशोरिति । सोम्य 'विधिना सदा ते दृशोदयो वञ्चितास्ति विनीक्यता पतने । यत् यस्मात् एव मुखेन्दुलक्ष्मी न योऽन्ते स्वमुखस्य स्वचक्षुरा द्रष्टुमशक्यत्वादिति भावः । तत्तस्मादसौ ते दृग्मुख्यपि अः परेऽहनि इमां त्वमुख-

लक्ष्मीं नलानने विलोक्य समग्रनिष्ठत्वात् समानवर्गम्येति भावः । जन्मन  
साधन्यमुपेतु । अत्र दूते सुरबुद्ध्या दूतनलमुखलक्ष्मीभेदीकनेरतिश-  
योक्तिभेदः ॥ ६७ ॥

अन्वयः—विपिना ते दृश्यो द्वयी वक्षिता अस्ति यत् तव मुखेन्दुलक्ष्मी न  
वोपेत, तद् अत्र असौ अपि इमा नलानने विलोक्य जन्ममाप्स्यम् उपेतु ।

हिन्दी— बिघाता ने तेरे ( दूत के ) नेत्र युगल को विफलना दी है, क्योंकि  
वह ( नेत्रयुगल ) तुम्हारे मुखचंद्र की छोमा को नहीं देख पा रहा है, सो बल  
यह ( नेत्र युगल ) भी इस ( छोमा ) को नल के मुख में देखकर जन्म की  
सफलता को प्राप्त करे ।

टिप्पणी—दमयन्ती के आकृष्ट होने का कारण नल की असामान्य रूपश्री  
है । मन्त्री ने बताया कि अब तक उपस्थित व्यक्ति के नेत्र विफल हैं, योद्धा  
प्रतीति बल तक कर रहे, बल स्वयंवर में अब नल की उस मुखचंद्रश्री को  
देखेंगे, तब सफल होंगे । भाव यह कि नल को देखकर ही इस उत्कृष्ट  
आकर्षण का कारण जाना जा सकेगा । तात्पर्य यह है कि उपस्थित व्यक्ति  
नल है, उसके नेत्रों ने तो स्वयम् उसका रूप देखा न होगा, क्योंकि स्वयम्  
अपने नेत्रों से अपने को नहीं देखा जा सकता । यहाँ यह भी मन्त्री ने स्पष्ट  
कर दिया कि अब यह अग्रकट नहीं रह गया है कि दूत नल ही है । विद्याधर  
ने हेतुविशयोक्ति का निर्देश किया है और मन्त्रिणाप ने अभेद कथन रूपा  
वर्तिलोचि का, क्योंकि दूत में सुरबुद्धि के कारण दूत और नल की मुख-  
लक्ष्मी में भेद है ॥ ६७ ॥

ममैव पाणोकरणेऽग्निसाक्षिक प्रसङ्गसम्पादितमङ्गः सङ्गतम् ।

न हा । सहाधीतिघृत स्पृहा कथं तवायंपुत्रीयमजयमर्जितुम् ॥ ६८ ॥

जीवान्—ममैवेति । किञ्च अङ्गः । मो । मम पाणोकरणे पाणिग्रहण  
एव 'नित्यं हस्ते पाण्यवृत्तयमने' इति पाणी शब्दस्य गतित्वात् 'कुगतिसादय'  
इति समासः । अग्निसाक्षिक मथा तथा विवाहाग्निसन्निधावेत्यर्थः । प्रसंगात्  
स्वयंवरप्रसंगात् सम्पादित सगनमूर्खयोऽनुसम्पाद्युक्तम् । आयंयोः श्वशुरयोः  
पुत्र आयंपुत्रो भर्ता नल तदीयमायंपुत्रीयः, 'बृद्धाच्छ' न जीर्णदीत्यजय सगन  
राममुषीवयोऽरि स्थिरसंख्यमित्यर्थः । 'जयय सगन'मिति यत्प्रत्ययान्तो,



निपात । अर्जितु सम्पादयितु सहाधीति सग्रहाचारिता वा धारयतीति पूर्व  
सारूप्यभूदित्यर्थः । घृष्टातो विवप् । तस्य तव स्पृहा कथं नास्ति । हेति  
विपादे । सर्वथा स्पृहणीया तत्सगतिरित्यर्थः ॥ ६८ ॥

अन्वयः—अङ्ग, मम पाणीकरणे एव अग्निसाक्षिक प्रसङ्गसंपादित सगत्तम्,  
हा, सहाधीतिघृत तव आर्यपुत्रीयम् अजयम् अर्जयितु स्पृहा कथं न ?

हिन्दी—हे सौम्यदूत, मेरे ( दमयन्ती के ) विवाह समय में ही अग्नि का  
साक्षित्व अमंगल संपन्न होकर ( नल के साथ ) सगत ( हट मैत्री ) हो  
जायेगा, खेद है कि कुलशील रूप में समान तुम्हारी ( दूत की ) आर्यपुत्र  
( नल ) की मैत्री पा लेने की आशादा क्यों नहीं है ?

टिप्पणी—भाव यह है कि अग्नि आदि का दूतकार्य करने आया व्यक्ति  
स्वयंवर समय उपस्थित रहने से नल की मैत्री—सगति भी पा जायेगा । वह  
कुलशील रूप में नल के समान है, अतः उसके मन में नल-मैत्री की आकांक्षा  
होनी ही चाहिए, क्योंकि 'समानशीलव्यसनेषु सख्यम् ।' खेद यही है कि ऐसी  
इच्छा होने में उपस्थित व्यक्ति को संकोच क्यों है ? संकोच यह भी है कि एक-  
एक विद्या के स्वामी इन्द्रादि की मैत्री प्राप्त करने के लिए जब ऐसा कार्य  
उपस्थित व्यक्ति कर रहा है तो अष्टलोकपालाद्य राजा नल के लिए वह कार्य  
क्यों नहीं करता ? एक विद्या के स्वामी की तुलना में आठ विद्याओं के स्वामी  
की मैत्री अधिक काम्य होनी चाहिए । यह तार्क्य भी है कि कल स्वयंवर  
होते ही त्रिम अग्नि का दूतत्व उपस्थित व्यक्ति कर रहा है, उसी अग्नि की  
साक्षी में दमयन्ती-नल का उचित संबंध सम्पन्न हो जायगा, उपस्थित व्यक्ति  
को भी रूप कुलशील में सम होने के कारण नल से मैत्री कर लेनी चाहिए ।  
विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास ॥ ६८ ॥

दिगीश्वरार्यं न कथञ्चन त्वया कदर्यनीयास्मि कृतोऽयमञ्जलि ।

प्रसद्यता नाद्य निगाद्यमीदृश दधे दृशौ वाण्यरयास्पदे भृशम् ॥६९॥

जीवातु—दिगीश्वरेति । किञ्चाह त्वया दिगीश्वरार्यं कथञ्चनापि कदर्य-  
नीया निबन्धनीया नास्मि, अयमञ्जलि कृत प्राणये त्वामित्यर्थः । प्रसद्यतां  
प्रमत्तेन भ्रूयता, मावे लोट् । अद्य ईदृश दिगीश्वरदेयरूप न निगाद्य न  
वाच्यम्, 'शृद्धलोप्यत्' 'नदमदे'त्यादिनानुपसर्गादेव यतो विधानात् । कि

बहुना—मृग वाष्पस्यात्मदे प्रयुवेणाश्रयो ह्यौ दधे क्षरयानि रोदिनीत्यर्थ ।  
नैव दुःखकर्तृमुचिदनिनि नाव ॥ ६९ ॥

अन्वय—जबसा द्वितीक्ष्वरार्थे कथन न कथ्यनीया अस्मि, अयम् अङ्गलि  
कृत, प्रसन्नताम्, अद्य ईदृश न निगद्यन् मृग वाष्पस्यात्मदे ह्यौ दधे ।

हिन्दी—गुन ( दूत ) दिक्ष्वाणो के निमित्त किसी प्रकार मृत ( दमयन्ती )  
को पीहित मत करो, हाथ जोड़ती है, प्रसन्न होओ, आर एसा न कहो, मैं  
अनिरुद्ध आनुओं के आह से पूर्ण नेत्र धारण किये है ।

टिप्पणी—इसी में कहा कि दूत, अब गुन दया करके ऐसी अप्रिय बातें  
न करो, दमयन्ती हाथ जोड़े, आनू भरे विनय कर रही है । पाणिग्रहण को  
मगलवेष्टा में ऐसी रुताने बाँटी, अप्रिय, अशुभ बातें कहना किसी प्रकार  
उचित नहीं है । शुभसमय में अशुभ कथन अच्छा नहीं होना । विद्यापद के  
अनुसार ईश्वर भाषादन जकार ॥ ६९ ॥

वृणे द्वितीक्ष्वानिति का कथा तथा त्वयीति नेष्टे ननुभामपीहना ।

मनीव्रतेऽग्नौ तृणयामि जीविन स्मरन्तु कि वस्तु नदन्तु भस्म यः ॥७०॥

जीवानु—वृणे इति । किञ्च द्वितीक्ष्वान् वृणे इति का कथा, जन्मना-  
सन्नावितमित्यर्थ । तथा हि—जन्म ना कान्तिमपि त्वन्निष्ठानिति शेष ।  
त्वयीति त्वयि परतुल्ये स्थिते इति हेतो उच्यते वाङ्मनुरागो नेष्टे । इह  
त्वयि या ननुमा ता नन्मानिति केचित् योजयन्ति । नन्वेव भुवःधीरने  
वन्विरोध इत्यादिदुषाह—उतीव्रते पातिद्वये एवाग्नौ जीवितं तृणयामि  
तृणीकरोमि, जीवितान्मृशपा पतिव्रताना न कृतञ्चिद्वयमिति भावः । स्मर-  
नन्तु दूषणास्तनिष्ठाह—स्मरन्तु तन्प्रसिद्ध कि वस्तुवस्तुः पदार्थो नवेत् न  
कोऽपीत्यर्थ । कुत यः स्मरो मत्तम मन्नीभूतं वतीकजीविना भोग्यं तुच्छं कि  
करिष्यतीत्यर्थ । चारित्र्यनिरासना सन्धो न किञ्चिदुपगच्छतीति भावः ॥

अन्वय—द्वितीक्ष्वान् वृणे इति का कथा, ननु नाम् अनि त्वयि इति  
ईदृश न ईश्वर, उतीव्रते अग्नौ जीवितं तृणयामि, स्मर तु कि वस्तु, या नन्म ।

हिन्दी—दिक्ष्वाणो को बर्ण—इसको तो क्या ( कहती ) ही करा, ननु  
की आनावाले त्व को भी मैं वैसी दृष्टा ( अनुराग ) से नहीं देखती । उती-

व्रत-पालन में मैं आग में जीवन को तृप्त समान होक सकता हूँ, काम ( 'स्मर' अर्थात् स्मरणशेष—मृत ) क्या पदार्थ है, जो भस्ममात्र है ।

टिप्पणी—सखी ने कहा कि दमयन्ती तो नल समान उपस्थित व्यक्ति के प्रति भी अनुराग दृष्टि नहीं रखती, दिव्याशों के वरण की तो वाश हो असम्भव है । पातिव्रत की रक्षा में वह तृप्त-समान जीवन होम देगी, काम भय उन्हें नहीं है । काम तो स्वयं मृत है, भस्ममात्रावशेष । उससे बचने का तो कोई कारण ही नहीं है । जो आग में घुस सकता है, वह भस्म से क्या डरेगा ? विद्याधर के अनुसार रूपक और छेकानुप्रास ॥ ७० ॥

न्यवेदि रत्नत्रिनये जिनेन य स धर्मचिन्तामणिर्जित्ता यया ।

कपालिकोपानलमस्मनः कृते तदेव भस्म स्वकुले स्मृतं तथा ॥७१॥

जोवानु—न्यवेद्योति । हे सौम्य । यो धर्मस्य चिन्तामणिर्जितेन देवेन अर्हता रत्नत्रितये जैनपरिभाषया सद्दर्शज्ञानवृत्ताख्ये रत्नत्रये न्यवेदि निवे-  
ष्टित 'सद्दर्शज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुरिति वीरसत्तवाद् । विद्येर्ष्यन्तात् कर्मणि लुङ् । स धर्मचिन्तामणि यया खिया कपालि' हर तत्कोपानलमस्मन-  
स्तद्रूपस्य कामस्य कृते, कृत इति तादर्थ्येऽप्ययम् । उज्जितम्यक्त तथा खिया तदेव भस्म स्वकुले स्मृतं विस्तृतम् । कामाख्यमस्माख्यतया चरित्रत्यागि-या  
खिया स्वकुलमेव भस्ममात् कृतं नवेदित्यर्थः । अतो नलैकप्रताया ममाग्रे महन्दादिनामग्रहणमपि न काममिति भावः ॥ ७१ ॥

अन्वय — जिनेन रत्नत्रिनय य धर्मचिन्तामणि न्यवेदि, स यया कपालिकोपानलमस्मनः कृते उज्जित, तथा तत् एव भस्म स्वकुले स्मृतम् ।

हिन्दी—जिन ( अर्हत् ) ने तीन रत्ना ( सद्दर्श, सद्-ज्ञान, सद्बुद्धि ) में जिस धर्म पर चिन्तामणि का निवेद्य किया है, उसे जिस ( स्त्री ) ने कपालधारण करने वाले ( शिव ) के क्रापाग्नि की भस्म ( काम ) के निमित्त छाड़ दिया, उस ( स्त्री ) ने वही भस्म अपने कुल पर ढाल दी ।

टिप्पणी—जिस प्रकार कोई नारी श्रेष्ठ चिन्तामणि ( विष्णु के वन स्थल पर स्थितमणि ) को एक सामान्य मृण्डवारी के ढर से छोड़कर भस्म का प्रयोग दे, वह निन्दनीय होती है, उसी प्रकार वह नारी भी कुलकलिकी है जो कामरूप शिवशोभाग्नि की भस्म के लिए चिन्तामणि तुल्य सज्जन

अर्थात् सञ्चारित्र का त्याग कर देती है। ओई उन्मादी ही राख के लिए मणि का त्याग करता है। यह एक प्रकार में उज्ज्वल वस्तु पर ही मम्म फेंक कर उसे कलङ्कित करना है। दमयन्ती मदनमोहिनि में चिन्तामणि तुल्य पातिव्रत का त्याग नहीं कर सकती। 'कपालिकोपानयनम्' का अर्थ काम तो है ही, साथ ही 'कपाली' का प्रयोग अकिंचन भिक्षु का भवेत्त देना है। एक अकिंचन ही मम्म के लिए रत्नराग महामूर्खता ही है। नारायण पण्डित ने 'जिन' का अर्थ बुद्ध किया है। सामान्यतः 'बुद्ध' और 'जिन' दो धर्मन्यायार्थ हैं, जिनके धर्म क्रमशः बौद्धधर्म और जैनधर्म कहते हैं। बौद्धधर्म के अनुसार 'रत्नत्रितय' अर्थात् 'त्रिरत्न' हैं—( १ ) बुद्ध ( २ ) धर्म और ( ३ ) स्रष्टा। सद्बुद्धि, सत्ज्ञान और सद्बुद्धि जैनपरिभाषा के अनुसार रत्नत्रितय हैं। श्लोक का भाव यह है लौकनिष्ठा दमयन्ती दिक्षुपालों को थोड़ा भी प्रसन्न न देगी। विद्याधर के अनुसार अनुग्राम ॥ ७१ ॥

निपीय पीयूषमौग्मीरमौ गिरः स्वकन्दर्पद्वृताद्यनाहुनी ।

कृतान्तदूत न तथा ययोदिनं कृतान्तमेव स्वममन्यनादयम् ॥ ७२ ॥

जीवानु—निपीयेति । अमौ नलः पीयूषरसस्यामृतरसस्य उरमा निर्मिता औरमौ धामजा सुखीरियम् । 'उरमोऽन्तु चे'त्यग्रन्थः । मन्नाधिकारादभिप्रेयनियम इति काशिका । स्वकन्दर्पद्वृताद्यनस्य निजकामान्तेराहुतीरहीपमीरितो मैनीवाक्यानि निपीय स्वनात्मानं तथा मैम्या ययोदिनं ययोक्तु तदनतिक्रान्तेत्यर्थः । 'ययासादुदरे' इत्यभ्ययीभावः । कृतान्तदूतं नामयत्त किन्त्वदयं निर्दयं यया तथा स्व कृतान्तमेवामन्यत । दूतधर्मत्वात् निर्दोक्षिण्य वदामीत्यनन्तरित्यर्थः ॥ ७२ ॥

जवन्य—असौ पीयूषरमौरनीः स्वकन्दर्पद्वृताद्यनाहुतीः गिरः निपीय स्व तथा यया उदित कृतान्तदूत न तदयं कृतान्तम् एव जमन्यत ।

हिन्दी—इस ( नल ) ने अमृतरस की पुत्रियों और अपने काम रूप अग्नि की आहुतिप्रार्थना ( दमयन्ती ) की बाणी का पान कर ( मधुर और उद्दोष करने वाले घवन मुनकर ) अपने ओ ( नल को ) उस ( दमयन्ती ) के कदन के अनुसार दमराज का दूत नहीं, दयाहीन यम ही माना ।

स्वविग्रहेषु आहवनीयादिषु स्वयमेव हुत स्वाद्य स्वदेवताक हविर्येन स सार्व  
 कामिक सर्वकामिक सर्वकामप्रयोजनक, 'प्रयोजनमि'ति ठक् । अतु विद्यते  
 यदि तदा स वैदिको वेदावगतो विधिरनुष्ठान कथं तु मिथ्यास्तु निष्फल  
 स्यात् । अत्र स्वशब्दत्रयेण क्रमादग्नेरेव कर्तृदेवताहवनीयादिरूपताप्रतिपादनात्  
 कर्मणि प्रमादानवकाश सूचित । तस्माद्वेदप्रामाण्यादनलसादसीति सिद्धमिति  
 भाव ॥ ७५ ॥

अन्वय —सिद्धी त्वदवाप्तिकामना विनाय स्वमूर्तिषु स्वयं हुतस्वाद्यहवि  
 यदि सार्वकामिक अतु विद्यते, ॥ वैदिकः विधि कथं मिथ्या अस्तु ?

हिन्दी—अग्नि तुम ( दमयन्ती ) को प्राप्त करने की कामना करके अपनी  
 मूर्तियों ( आहवनीय स्वावयवों ) में स्वयं ही अपनी अद्यभूत हवि होम कर  
 यदि समस्त कामना पूर्ण करने वाला यज्ञ करे, तो वह वेद विहित विधि कैसे  
 झूठी पड़ेगी ?

टिप्पणी—अग्नि क हीन श्रोत रूप माने गये हैं—दक्षिणाग्नि, गार्हपत्याग्नि  
 और आहवनीयाग्नि । ये अग्नि की मूर्तियाँ हैं । 'सार्वकामिक यज्ञ' में अपना  
 अद्य प्राप्त कर अग्नि यजमान को अभीष्ट फल देता है । यह वेदोक्त विधि है,  
 जिसको अप्रमाणित नहीं किया जा सकता । नल दमयन्ती के समुक्त ठक् रखता  
 है कि यदि स्वयम् अग्नि ही यजमान, देव और आहवनीय होकर दमयन्ती के  
 निमित्त सार्वकामिक यज्ञ करेगा तो उसे प्राप्त कर लेगा, उसे कोई रोक नहीं  
 सकेगा । अच्छा है कि दमयन्ती अग्नि का वरण स्वेच्छया कर ले । जो दूसरे  
 को देता है, वह स्वयं यज्ञ फल और सरलता से प्राप्त कर लेगा । विद्याधर के  
 अनुसार काव्यन्ति ॥ ७५ ॥

सदा तदाशामधितिष्ठन् कर वर प्रदानु वलिनाडूलादपि ।

मुनेरगम्याद् वृणुते स धर्मराड् यदित्वदाप्तिं भणका तदा गति' ॥७६॥

जीवातु—सदेति । ॥ धर्मराड् सदा सर्वदा तस्य धर्मराजस्याश  
 दिशम्, दक्षिणामधितिष्ठन्निधिवत्त । अत एव बलादपि वरमेव कर वलि  
 प्रदातु वलितात् प्रवृत्तादगम्यामुनेस्त्वदाप्तिं त्वत्प्राप्तिं वृणुते यदि, तदा का  
 गति ? भण । वाक्यार्थं कर्म ॥ ७६ ॥

अन्वय —सः धर्मराट् यदि सदा तदाशाम् जयतिष्ठत् बलात् अपि वर करं प्रदातुं दक्षिताद् मुने भ्रान्त्यात् स्वशक्तिं वृणुते, न—तदा का गति ?

हिन्दी—वह धर्मराज ( यम ) यदि सदा उसकी दिशा ( दक्षिण दिशा ) में वास करते बलपूर्वक ( नारायण के अनुसार 'स्वेच्छया' ) भी वर (दमयन्ती-प्राप्ति) कर ( राज नाय ) देने को प्रवृत्त मुनि अगस्त्य से तेरी (दमयन्ती की) प्राप्ति माँगा है, वरना, तब क्या गति ( परिणाम ) होगी ?

टिप्पणी—यमराज के हाथों पड़ने में भी दमयन्ती विवश है, क्योंकि यम की दक्षिण दिशा में मुनि अगस्त्य वास करते हैं। इस दृष्टि से यम के प्रदेश में रहने के कारण मुनि राजदाय कर अवश्य देते होंगे। यदि उस कर के रूप में यम ने दमयन्ती को माँगा तो मुनि जगत्स्य वह वर-कर देते ही। और अगस्त्य को रोकनेवाला कोई है नहीं, अतः दमयन्ती को धर्मराज की पत्नी बनना ही होगा। इस आधार पर नल का तर्क समस्त मत मंती है कि दमयन्ती स्वेच्छया यम वरण कर ले। विद्याधर के अनुसार रूपक अलंकार ॥ ७६ ॥

अतो कृते जाग्रति वेत्ति क कति प्रभोरपा वेदमनि कामधेनवः ।

त्वदयमेकामपि याचने स चेत् प्रचेतन पाणिगर्भं वर्तते ॥७७॥

जीवाम्—कतोरिति । किञ्च कतो कृते इत्यर्थमपा प्रभो वरुणस्य वेदमनि कति कामधेनवो जाग्रति वर्तन्ते को वेत्ति असह्ययाका सन्तीत्यर्थः । स वदन्स्त्वदयं त्वत्सिद्धयं तत्रैकामपि या याचते चेत्, दमयन्तीं देहीति प्रार्थयते चेत् सहि प्रचेतमो वदन्स्व पाणिगर्भं वर्तते । उदा कस्त्वा मोक्ष-पिप्यतीति भावः ॥ ७७ ॥

अन्वय —अग प्रभो वेदमनि कतो कृते इति कामधेनव जाग्रति—क वेत्ति ? न त्वदयम् एकाम् अपि याचते चेत् प्रचेतसः पाणिगर्भा एव वर्तते ।

हिन्दी—वरुण के स्वामी ( वरुण ) के गृह में यज्ञ के निमित्त कितनी कामधेनुरें हैं—कौन जानता है ? वह (वरुण) तेरे निमित्त यदि एक (कामधेनु) में भी याचना करे तो तू प्रचेता ( वरुण ) के हाथों में ही होगी ।

टिप्पणी—यज्ञ निमित्त जावाय में स्थित अनेक कामधेनुओं में से एक से भी वरुण ने दमयन्ती के निमित्त याचना की तो उसे वरुण का पाणिग्रहण करना ही होगा, क्योंकि कामधेनु का दिना वर अमोघ है। कोई नहीं रोक

सकेगा उस स्थिति में वरुण कर गता होने में दमयन्ती को । अच्छा है, वह स्वयं ही वरुण को स्वीकार ले । इस प्रकार एक एक श्लोक में नल ने एक एक दिक्पाल की शक्ति का वर्णन कर यह सिद्ध कर दिया कि दमयन्ती को ये सब बलात् ले सकते हैं । उससे पूर्व की ऐसी स्थिति उत्पन्न हो, उचित यही है कि दमयन्ती इन्द्र, अग्नि, यम, वरुण में से किसी एक का स्वेच्छया वरुण कर ले । दूसरा कोई उपाय नहीं है । विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलङ्कार अनुप्रास ॥७७॥

न सन्निधात्री यदि विघ्नसिद्धये पतिव्रता पर्युरनिच्छया शची ।

स एव राजव्रजवैशसात् कुतः परस्परस्पर्द्धिवरः स्वयवरः ॥७८॥

जीवातु—नेति । विरुद्ध पतिव्रता शची पर्युरिन्द्रस्यानिच्छया असम्मरणा कारणेन विघ्नसिद्धये स्वयवरविधातार्यं सन्निहिता न यदि न स्यात् चेत् । विघ्नसति हिनस्तीति विघ्नसो हिसव, पचाद्यच् । तस्य कर्म वैशस, मुवादि स्वादणु प्रत्यय । राजव्रजस्य राजन्यकस्य वैशसानियो विरोधाद्धेतो परस्पर-स्पर्धिनोऽन्योन्यसङ्घर्षिणो वरा बोदारो यस्मिन् स तथोक्त स्वयवर एव कुतः कुतस्तदा नलवरणमिति भावः । स्वयवरे शचीसन्निधानादविघ्नसिद्धिरिति शास्त्रम् । तथा च रघुवशे—‘सानिध्ययोगात् किल तत्र शच्या स्वयवरक्षोभ-कृतमभावः’ इति ॥ ७८ ॥

अन्वयः—पतिव्रता शची पर्युर निच्छया विघ्नसिद्धये न सन्निधात्री, राजव्रजवैशसात् परस्परस्पर्द्धिवरः स स्वयवर एव कुतः ?

हिन्दी—पतिव्रता शची ( इन्द्राणी ) पति की अनिच्छा से यदि विघ्न उपस्थित करने के लिए ( स्वयवर में उपस्थित होने को ) उद्यत न हो तो राजाओं की बलह जनित हिंसा के कारण अन्योन्य की स्पर्धा करते वरों से मुक्त वह स्वयवर ही कहाँ होगा ?

टिप्पणी—( ७४-७७ ) चार श्लोकों में भेदनीति का प्रयोग कर नल इस श्लोक में दण्डनीति का भय दिखाता है । यह माना जाता है कि स्वयवर में शची की उपस्थिति से विघ्न घाति होती है । इन्द्र का दमयन्ती द्वारा अनादर हुआ है, यह जान कर शची यदि स्वयवर में उपस्थित हो न होगी तो विघ्न पड़ेगा । स्वयवर में एका राजा परस्पर स्पर्धा में लड़ मरेगे । हत्या-मारकाट-ध्वंस हो जायेगा । दमयन्ती को स्वयं करने का अवसर ही न मिलेगा ।

स्वयंवर हो ही न सकेगा, नन् का स्वेच्छया वरप तो दर की बात है जैसा कि ६१-६६ श्लोकों में इच्छा प्रकट हुई है। विवाह में तैरी और स्वयंवर में शची का चान्निभ्य प्रार्थन परम्परा है। कान्दिशत ने 'रघुवत' ( ७३ ) में लिखा है कि शची के चान्निभ्य से स्वयंवर क्षेमकावियों का वहाँ जमाव रहा। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और हेनु कलकार ॥ ७८ ॥

निजस्य वृत्तान्तमजानता मियो मूत्रस्य रोपात् पर्याणि जल्पन् ।

मूत्र किमन्त्यत्रकदण्डनाण्डव भुजामुजि क्षोणिमुजा दिदृक्षसे ॥७९॥

जौवानु—निजस्वेति । मियो रोपात् पर्याणि जल्पन्तो निजस्य मूत्रस्य वदनस्य वृत्तान्तमजानता रोपाध्यात्स्वोक्तनम्यविजानता क्षोणिमुजा सम्बन्धि अल्लभका क्षामुनमज्ज्ञेनापनीतच्छत्रा ये दण्डास्तेषा ताप्यत्र तरेव मूत्र मुद दण्डादन्दीन्दयः । तथा तेषामपि भङ्गं मुजाम्या मुजाम्या प्रवृत्त मुद मुजामुजि मुद च तस्यमनार्थत्वात् च-शब्दाप्रयोग 'तत्र तेनेदमिति सख्ये' इति बहु-व्रीहादिषु वनं व्यतिहारे इतीन्द्रमयः । तिष्ठदुपुगाडादव्ययीभावसज्ञा । दिदृक्षसे द्रष्टुमिच्छसि 'ज्ञासुस्मृदृष्टा सन्' इत्या मनेपदम् ॥ ७९ ॥

अन्वय — कि रोपात् मिय पर्याणि जल्पन्ता निजस्य मूत्रस्य वृत्तान्तम् अजानता क्षोणिमुजाम् अल्लभकदण्डनाण्डव भुजामुजि मूत्र दिदृक्षसे ?

हिन्दी—जना क्रोध से परस्पर कटोर बाक्य करते, अपने मुँहों से क्या कहा जा रहा है—यह न जानते पृथ्वीगर्भों ( राजाओं ) का छत्रों के दण्डों के ताड़व से परिपूर्ण बाहुमुद देखने की इच्छा कर रही हो ?

टिप्पणी—शची के न जाने से ऐसा विषय और कन्हा उपस्थित होगा कि स्वयंवर सम्पन्न न रह कर मुद भूमि बन जायेगा, जिसमें राजाओं क्रोध में गालियाँ बकें, टूटे छत्रों के दण्डों से और भुजाओं से परस्पर लड़ मरेंगे। उस स्थिति में नर को मरने का अवसर ही न मिलेगा। नर ने दमयन्ती के अनुष्ठान सिद्ध कर दिया कि क्या वह ऐसा चाहती है ? क्या वह राजाओं का मुद देखने की इच्छुक है, स्वयंवर की नहीं ? विद्याधर के अनुसार उत्तरेत्य कलकार छेकानुप्रास ॥ ७९ ॥

जनार्णयन् मातृवपूजतिधर्म ज्वलेद्रूपा चेदुपुया तु नानल ।

अनन्त कर्तुमनग्निनाक्षिको विधि विवाहे तव सारसाक्षि ! किम् ॥८०॥



जोवातु-अपार्थयन्निति । हे सारसाक्षि ! सरोरहाक्षि ! 'सारस सरमीरहम्' इत्यमर । तव विवाहे अनलोऽग्निं याज्ञिकस्य फूत्कृतिश्रमं याजकफूत्कृतिश्रमं सनिघनप्रयासमपार्थयन् व्यर्थयन् रुपा रोपेणैव ज्वलेत् वपुषा स्वरूपेण तु न ज्वलेच्छेत् तदा नल अग्न्यभावाद्ग्निसाक्षिको न भवतीत्यनग्निसाक्षिकस्तु क विधिमनुष्ठानं कर्तुंमल शक्तं न वञ्चिदित्यर्थः ॥ ८० ॥

अन्वय — याज्ञिकफूत्कृतिश्रमम् अपार्थयन् अनलं चेत् रुपा ज्वलेत् वपुषा तु न, हे सारसाक्षि, अनग्निसाक्षिकं नलं क विधिं कर्तुम् अलम् ?

हिन्दी—यज्ञकर्त्ताओ के फूँक मार कर प्रज्वलित करने के परिश्रम को व्यर्थ करता अग्नि यदि रोप से जलने लगे, शरीर से नहीं तो हे कमलनयने, अग्नि की साक्षी से रहित नल किस विधि के संपादन में समर्थ होगा ?

टिप्पणी—पूर्वश्लोक में इन्द्र के क्रुद्ध होने से समावित दण्ड का रूप उपस्थित कर नल यहाँ अग्नि के क्रुद्ध होने पर समावित दण्ड का मय उपस्थित कर रहा है । 'विवाह अग्निसाक्षिक'—विवाह अग्नि की साक्षी में होता है, घूम की साक्षी में नहीं । यदि अनाहत अग्निदेव क्रोध में जलकर ज्वाला रूप में प्रकट हों ही नहीं तो होमादि विधि हो ही नहीं सकेगी, येचार नल विवाह में किस रीति का आश्रय लेगा ? अग्नि के क्रुद्ध होने पर विवाह-विधि ही न हो सकेगी । विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और उपमालंकार ॥ ८० ॥

पतिवराया कुलज वरस्य वा यमं कम्प्याचरितार्तिथिं यदि ।

कथं न गन्ता विफलीभविष्णुतास्वयंवर साध्वि । समृद्धिमानपि ॥ ८१ ॥

जोवातु-पतिवराया इति । किञ्च यमोऽन्तर्गते पतिं वृणीत इति पतिवरा वधू । 'मन्नामा भृतुवू' इत्यादिना खच् 'अरुद्विपदजन्तस्य भुम्' । तस्या वरस्य चोदुर्वा कुलजं कम्पि । अनमतिविमम्भागतमाचरिता यदि मारयिष्यति चेदित्यर्थः । 'अनद्यतने सुट्' । हे साध्वि ! समृद्धिमान् सर्वसाधनसम्पन्नोऽपि स्वयं प्रियते अस्मिन्निति स्वयंवरं स्वयंवरकर्म । 'ग्रहवदुनिश्रिगमश्चे'त्यप्रत्ययः । विफलीभविष्णुता 'मुबध्' इति इष्णुप्रत्ययः । कथं न गन्ता, गमिष्यत्येवेत्यर्थः । गमेलुट् । वृथा नलैवासन्निरहतासीति भावः ॥ ८१ ॥

अन्वय — यदि यम पतिवराया वरस्य वा कम्प्यापि कुलजम् अतिविम्ब्याचरिता साध्वि, समृद्धिमान् अपि स्वयंवरं कथं विफलीभविष्णुतां न गन्ता ?

हिन्दी—यदि हम पति का वरण करनेवाली ( दुल्हन-दमयन्ती ) अथवा वर ( दुल्हा-नर ) के कुछ ( वध ) के किसी व्यक्ति को ( अपना ) अतिथि बना लेंगे ( भार देंगे ) तो हे पतिव्रत, समृद्धिपूर्ण ( संपन्न ) भी स्वयंवर क्यों निष्फल न हो जायेगा ?

टिप्पणी—हम मृत्यु के स्वामी हैं, उनके अनादर का फल दमयन्ती को यह प्राप्त हो सकता है कि स्वयंवर होने-होने नर अथवा दमयन्ती का कोई पारिवारिक जन हम को इच्छा से मृत्यु को प्राप्त हो जाय । ऐसी स्थिति में स्वयंवर निष्फल रह जायेगा । अतः उचित है कि दमयन्ती हम का ही वरण करे । क्यों किसी आत्मीय की मृत्यु चाहती है । विद्यावर के अनुत्तर हेतु अलंकार ॥ ८१ ॥

अथ पतिः स्वामिनया परः सुर स ता निपेयेद्यदि नैपथक्यथा ।

नलान लोभायनपापयेत्पि नत् पिता कथ त्वा वद मप्रदाम्यते ॥ ८२ ॥

जीवातु—अपामिति । हे सावित्री ! अथ पति स प्रसिद्ध परः सुर स्वामिनया अप्यतित्वान्नैपथ्ये नत् कृता श्रोत्रेण ता असौ निपेयेत् प्रतिवन्नीयात् यदि ततहि लोभेन जायतपापये प्रसारितहस्तायापि लौभ्याञ्जल विना विभूषतेऽपीत्यर्थः । नलान पिता भीनत्वा कथ सम्प्रदास्यते न कथञ्चिदित्यर्थः । वद । वाक्यार्थः कर्त्तव्यः ॥ ८२ ॥

अन्वय —स पर ( स्वामिनया-भार-विच्छेद में अपर ) सुर अपा पति। स्वामिनया यदि नैपथक्यथा ता निपेयेत् तत् वद, लोभायनपापये (लोभात् दत्तापये) अनि नलान पिता ( ते पिता ) त्वा कथ सम्प्रदास्यते ।

हिन्दी—वह जन देव जल स्वामी (वरा) स्वामी होने के कारण (अधिकारी होने से ) यदि निपथराज ( नर ) पर क्रोध होने से उन ( वर ) का मित्र कर दे तो बोलो, लोभ से हाथ फैलाये भी नर को तुम्हारे पिता तुम ( दमयन्ती ) को कैसे दोगे ?

टिप्पणी—अनादर से क्रुद्ध हो जल के अधिकारी वरज जल को रोक सकते हैं । तब भीनराज नर को अपनी कन्या का दान ही कैसे कर सके, क्योंकि बिना जल के कन्यादान तो शास्त्रसमज होता नहीं । अतः उचित है कि वरज का अनादर न करके दमयन्ती उसका ही वरण कर ले । नारायण ने एक शका

उत्तमो है कि उस के जनाव में गांधर्वादि विवाहों का स्मृति में निषेध नहीं है, इस स्थिति में दम्पती-जल का गन्धर्व विवाह हो सकता था, फिर यह जाम्बवा व्यर्थ हो जाती है। समाधान में उन्होंने बताया है कि नाने ऐसा दम्पती को चक्कर में डालने के लिए—दराने के लिए ही कह दिया—‘गांधर्वादि विवाहेषु’ का समाधान अष्टपूर्वों के स्मृत्या निषिद्धं कल्पयि तैमो प्रतार-लायमेव नक्षत्रम् ।’ विद्वान्तर के अनुसार अनुप्रास और काव्यार्थ ॥ ८२ ॥

इदं महत्तेजमिहितं हि त्वं मया विहाय भोह दययन्ति । चिन्तय ।

नैरु विनैकपरेषु वो नरु कर्ण्यमर्यमवाप्तमोश्वर ॥८३॥

जीवायु—उभयत्र हि द्वायं पृथग्दृष्ट्वा रिक्ता माह—इदमिति । हे दमयन्ति !

नरा इव महद्वितं तं नव नृत्यं वानिहितं, मोहं मोदयति विद्यामपि चित्तमपि विमुक्तम् ।  
नदा हि—मुनेषु विष्णु एवैकं परं प्रमानं येषां तेषु विष्णुतत्त्वेषु मन्त्रं को नरा  
कर्मभयं न भवति वापुनीयं चक्षुः, तं कोऽतीतार्थान्तरमाय । तस्मादख  
इत्येव वदितोऽनेति नाह ॥ ८३ ॥

दन्त्य — दन्त्यन्ति, मन्त्र ह्य ते महत् हिम् अमिहिम्, मोह विहाय  
चिन्तन, मृत्यु विनीकृत्य करम्यम् अति अयं क नृ. अवाप्नुम् ईदवर ?

हिन्दी—हे सम्यक्ति, मैंने ( न-ने ) यह ठीक बड़े हिज की बात कही है, मोह की छोड़कर विचार ! दोनों के एकत्रित विचारों ही आने पर हाथ में आमी नी बन्धु की कील मनुष्य प्राण करने में समर्थ है ? ( काँट नहीं ) ।

हिमाली—न० ने उपर्युक्त प्रकार से दशमोति का प्रयोग कतिपय दशमोति का समझना कि देवी के विरह हो जाने पर वह मल का वरण नहीं कर सकती । दो ( ७८, ७९ ) श्लोकों में इन्द्र के, एक ( ८० ) में अग्नि के, एक ( ८१ ) में शम के और एक ( ८२ ) में वरुण के दण्ड का भय वर्णित करके दिव्यरथ का में दशमोति को समझा दी गयी कि न० को पात्रा समझ नहीं है, अतः उचित है कि इन्द्रादि में से किसी का वरण दशमोति का है । इसी में कल्याण है । विद्यापद के अनुसार लंकानुग्रह और अर्धाङ्ग-न्याय प्रकार ॥ ८३ ॥

इमा निरुप्यन्त्य द्विविन्त्य चेतना तयेति सम्प्रत्ययमासनाद मा ।

निशान्निभद्भनोरनिनरे मनोननम्यवम्यमनयद् दृष्टो ॥८४॥

जीवानु—इमा इति । सा दमयन्ती इमानस्य दूतस्य गिरचेतसा विचित्र्य पर्वाञ्चोच्य तथेति सम्प्रत्यय विश्वामनामनाद । कथं निवारितावग्रहो निष्प्रतिबिम्बो नीरनिजरे ययोम्ये दृशौ लोचने नमोनमस्यन्व थावणमाद-  
पदत्वम् । 'नमा थावणिकश्च स, स्फुटं नमस्यग्रीष्मदनादपदा समा' इत्यमरः ।  
अलम्भयत् प्रापयदित्युपमातिशयोक्ती । तत्र लभे प्राप्ययन्त्रेऽपि तदुपसर्जन-  
गन्धयंत्रिकाया 'गतिबुद्धौ'त्यादिना जगितुं कर्मत्व, गतदुःखजनप्राप्ययन्त्रे  
तु कर्मत्व नास्तेव । यथा भाषे 'सितं सितिन्ने'त्यत्र यदाह वानन -- 'लभेर्ग-  
त्यर्थत्वात्तिच्छर्णा कर्तुं कर्मत्वाकर्मत्वे' इति । स्मरेद्वेति नुमायम् ॥ ८४ ॥

अन्वयः—तस्य इमाः गिर चेतसा विचित्र्य सा नया इति सम्प्रत्ययम्  
आसत्ताद, निवारितावग्रहनीरनिजरे दृशौ नमोनमस्यन्वम् अलम्भयत् ।

हिन्दी—उन ( नल ) के उपर्युक्त ( ७४-८२ ) वचनों का मन में विचार  
करके उसे ( दमयन्ती को ) बैसा छोड़ विस्वास हो गया और जितने जल-  
हरने का प्रतिबन्ध हट गया है, ऐसे दोनों ( दमयन्ती के ) नयन 'सावन-  
नाश्री' बन गये ।

टिप्पणी—नल के साम-दाम-दण्ड नेत्र की नीति से पुष्ट वचन सुनकर  
दमयन्ती की समय में जा गया कि सबभूष देवों की दृष्टा के विरुद्ध वह नल को  
नहीं पा सकती । इससे उसे इतना क्षोभ और दुःख हुआ कि उसने नेत्रों से  
धारा प्रवाह अश्रु-वर्षा होने लगी, ऐसी कि जैसे सावन-नाश्री मास में आकाश से  
अवज वर्षा होती है । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ ८४ ॥

स्फुटोत्पलाम्यामलिदम्पतीव तद्विलोचनाभ्यां कुचकुड्मलाभ्याम् ।

निपत्य बिन्दु हृदि कञ्जलेनाविलो मणीव नीली तरली विलेमतु ॥ ८५ ॥

जीवानु—स्फुटेति । यथ कञ्जलेनाञ्जनेनाविलो मलिनो बिन्दू अश्रुबिन्दू  
तद्विलोचनाभ्यामेव स्फुटोत्पलाम्यामलिदम्पतीव नृज्जमियुनमिव कुचकुड्मल-  
योरारुणा लोभ्येन हृदि वसति निपत्य तरली चञ्चलो हारमध्यगी नीली  
मणी इव इन्द्रनीलरत्ने इव । 'ईवादीनां प्रगृह्यन्ते मणीवादीनां प्रतिपेक्षो  
धनत्रय' इत्युपमयापि 'प्रगृह्यत्वनिपेयात् नवपदीधं । विलेमतु । विरेजतु ।  
'अत्र एव हन्मन्नेन्द्रादेशादेर्लिटी'तेत्याभ्यायलोपी ॥ ८५ ॥

अन्वय — वज्रलावली बिन्दू स्फुटोत्पत्त्याभ्याम् अलिदम्पती इव कुचकुह-  
मलाशया तद्विलोचनाभ्यां हृदि निपत्य तरलो नीली मणी इव विलेपन् ।

हिन्दी—वाजल से वलुपित दो अश्रुबिंदु खिले दो कमला से भ्रमरदपती के तुल्य कुच रूप कलिका के अमित्रास से उस ( दमयन्ती ) के दोनों नेत्रों से वक्ष स्थल पर गिर कर दो तरल ( वचल ) नीलमणियों जैसे सुशोभित हुए ।

टिप्पणी—वाजल से काले, वलुल और विरसित दो कमलों जैसे दो मयनों से निकल कर कुचकलिकाओं पर पड़े दो अश्रुओं का साम्य भ्रमर-  
दपती से किया गया और वक्ष स्थित नीलमणि माला के सान्निध्य के कारण वे दो नीलमणियों के सदृश लहे गये । नेत्रों की खिले कमला और कुचों की कलिया से सदृशता अत्यन्त स्वामाबिध है । भ्रमरदपती खिले कमलों का उपभोग कर खिलती बन्ती के समिलायी होती ही हैं । तात्पर्य यह कि भ्रमर मिथुन के तुल्य दो अश्रु छाती पर गिर कर विलसित होने लगे । विद्याधर के अनुसार चन्द्रोदय-रूपक-उमालकार । चतुर्थ चरण के 'मणीव' का पदच्छेद दो प्रकार से किया जाता है—( १ ) मणी + इव, ( २ ) मणी + व । मल्लिनाथ और मारायण ने मणी + इव को मान्यता दी है । सामायत 'दीर्घदेवद्विवचन प्रगृह्यम्' ( अष्टा० १।१।११ ) नियम से प्रगृह्य सज्ञा होने के कारण दीर्घसंधि नहीं होती, अतः 'ईदादीना प्रगृह्यत्वे मणीवादीना प्रतिषेधो वक्तव्य' के आधार पर दीर्घसंधि का औचित्य दोनों टीकाकारों ने स्वीकार किया है । न० च० के निर्णयसागरीय संस्करण की पद टिप्पणी में इस समाधान की अनावश्यक बताया गया है । टिप्पणीकार की भावना है कि यहाँ मणी + व से ही कार्य चल जाता है, फिर ऐसी कल्पना व्यर्थ है । 'व' भी 'इव' के अर्थ का द्योतक है । ऐसे प्रयोग हैं—जैसे 'वादम्बसङ्घितदन्ति व पद्मजानि ।' महाकवि ने 'मणी इव' प्रयोग को ही अत्यन्त अच्छा माना है—'मणी इवोद्भिन्नमनोहर-  
त्वपी ।' इस प्रकार प्रकृति भाव को भाव्यता दी है । 'मणी इवोद्भिन्न मनोहरत्वपी' इति महाकविप्रयोगे प्रकृतिभावदर्शनात् 'वादम्बसङ्घितदन्ति व पद्मजानि' इत्यादि प्रयोगेषु इवावयवकारदर्शनात् 'मणीव' इत्यादी तेन वकारणैव निवृद्धि अस्य भाषानुक्तवातिशयोपपत्तये मुख्यं ॥ ८५ ॥

धृता पत्रपुष्पशिलीमुखाद्गुणे शुचेस्तदासीत् सरसी रम्य मा ।

रमाय बद्धादरयाधुधारया सनालनीलैरुत्पलोललोचना ॥ ८६ ॥

जीवानु—धुवेति । पतङ्गिः पुष्पशिलीमुखाधुनं । पुष्पवाग्विशिखरगन्धः  
 पतत पुष्पाणि शिलीमुखा अन्धस्वयेया तैराधुनैर्वाधुनि । धुता कम्पिता ।  
 'अन्दिमानो शिलीमुखो वाधुनो वाधुविशिखां' इति चामरः । रयाय बद्धादरया  
 रयमुक्तया अधुधारया निमित्तेन सनात्नीलोत्पलस्य नीलेव लीला ययोन्ने  
 लोचने जम्बा सा नैमी तदा धुवे रसस्य शृङ्गारस्य सम्बन्धिनि ज्येष्ठ  
 धुवेर्गोमस्य रुम्बन्धिनि, काश्यादिति भावः । प्रीत्यशृङ्गारयोः शुचिरित्य  
 निदानात् रसस्य जस्य सरसी सरमासीत् । अत्र नैम्बा शृङ्गारसरसीत्वेन  
 ग्रीष्माभुसरसीत्वेन च रूपपादूपकाङ्क्षारः । तस्य स्नेहोपमान्यामङ्गान्या  
 सङ्कर स्पष्टः ॥ ८६ ॥

अन्वयः—पतत्पुष्पशिलीमुखाधुनं ध्रुता रयाय बद्धादरया अनुधारया  
 सनात्नीलोत्पललीलोचना सा तदा धुवे रसस्य सरसी आसीत् ।

हिन्दी—जागिरते पुष्प-बाग ( बाग ) के बागों से कान्ती ( पीड़िता ),  
 निरतर बहती अधुधारा के कारण नाजसहित नीलकमलों की लीला करते  
 नदनों वाली बह ( दमयन्ती ) उस समय झारसादि पक्षियों, फूलों पर बैठे  
 झमरों और बायु से चबल ( जल जम्प होने के कारण ) दीखते नाज वाले  
 नीलकमल-हल छीलायुक्त नदनों वाली निमल जल की प्रीत्यकालीन सरसी के  
 समान धुवि रस अर्थात् विमोगशृङ्गार अथवा शुचिरस अर्थात् छोकरस की  
 सरसी हो गयी ।

टिप्पणी—भाव यह है कि नल के बदन सुतर निराश, अजस्र अधु-  
 प्रवाह करती हुई, कामपीडा से व्यथित दमयन्ती ने बहुत रोदन किया । उस  
 समय वह निराश की उस सरसी के सुख प्रतीत हुई, जल की ग्लानता के  
 कारण नाजसहित नीलकमल जिसमें प्रयत्न हो, जो आते-जाते मागवादि  
 पक्षियों और फूलों पर बैठे नोरो जीर बायु के कारण हिल रहे हों । इस  
 समय के निमित्त अनेकार्थ 'धुता रसस्य सा' इत्यादि का उपयोग किया  
 गया है । नेत्र नीलोत्पल हैं और अधुधारा नाज । इस प्रकार प्रायः बहाती,  
 विमोहिनी, निराशा से व्यथित दमयन्ती की तुलना प्रीत्यकालीन अल्पशेषा  
 सरसी से की गयी । 'विश्र' शब्द के अनुसार धुवि का अर्थ शुद्ध, अनुपदृत,  
 शृङ्गार, आशा, प्रीत्य और अलि है—'धुवि-धुवेन्नुपहवे शृङ्गाराशयो

स्मृतं । ग्रीष्मे हृतवहे वापि ।' मल्लिनाथ के अनुसार दमयन्ती का शृङ्गार-  
नरसी और ग्रीष्माम्बुसरसी रूप में रूपण होने के कारण इस श्लोक में रस  
बलकार है, जिसके अगमूढ हैं, श्लेष और उपमा, अतः रूपक श्लेष-उपमा का  
स्पष्ट मकर है ॥ ८६ ॥

अथोद्भ्रमन्ती रुदती गतक्षमा ससम्भ्रमा सुसरतिः स्वल्पमिति ।

व्यधात्प्रियावाप्तिविधातनिश्चयान्मृदूनि दूना परिदेवितानि सा ॥ ८७ ॥

जोवानु—अथेति । अथ स्मरविकारोदयानन्तर प्रियावाप्तिविधातस्य  
प्रियप्राप्तिप्रतिबन्धस्य निश्चयात् दूना परितप्ता 'स्वादय ओदित' इत्यौदित्वा  
तिदेद्यात् 'ओदितश्च' इति दूङो निष्ठानत्वम् । अत एव सा दमयन्ती उद्भ्रमन्ती  
उमाद्यती रुदति अमूणि मुञ्चती गतक्षमा नष्टवैर्या ससम्भ्रमा सत्वरं दृष्टा  
रतिविषयान्तरस्पृहा यस्या सा स्वल्पमिति मतिस्तत्त्वावधारणशक्तिर्यस्या सा  
सती मृदूनि परहृदयद्रावणानि परिदेवितानि विलापवचनानि व्यधात् । अथ  
प्रियावाप्तिविधातप्रयुक्तविन्ताविषादभावा उद्भ्रमादय इत्यनुसन्धेयम् ॥ ८७ ॥

अन्वय —अथ प्रियावाप्तिविधातनिश्चयात् दूना उद्भ्रमन्ती रुदती गतक्षमा  
ससम्भ्रमा सुसरति स्वल्पमिति सा मृदूनि परिदेवितानि व्यधात् ।

हिन्दी—सहनतर प्रिय ( मल ) की प्राप्ति में प्रतिबन्ध के निश्चय से  
दुःखिता, उन्मादिनी, रोती, सहनशक्ति से रहित, बबरायी, स्नेहहीन तथा कि  
कर्तव्यविमूढ वह ( दमयन्ती ) श्रोताओं में कष्टना जगा देने वाले विलाप  
करने लगी ।

टिप्पणी—जब दमयन्ती को यह निश्चय हो गया कि मल की प्राप्ति  
सम्भव नहीं है और वह कुछ कर भी नहीं सकती, तब वह अत्यन्त दुःखित हुई ।  
रोती रोती, उमाद से भरी दमयन्ती का धैर्य, सहनशक्ति और बुद्धि सब  
जवाब दे गये । फलस्वरूप वह ऐसे विलापवचन कहने लगी, जिसे सुनकर  
किसी के हृदय में कष्टना जग जठे । विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य बलकार  
अनुशास ॥ ८७ ॥

त्वरस्व पञ्चेपुद्गताज्ञात्मनस्तनुष्व मद्भ्रमचय यशश्चयम् ।

विधे । परेहाकलमक्षणवती पनाद्य तृप्यन्नसुभिर्ममाफजे ॥ ८८ ॥

जीवानु—अथ त्रयोदशमि श्लोके परिदेवितान्वेवाह—स्वरस्वेत्यादि ।  
हे पञ्चपुङ्गवाद्यन ! कामाग्ने ! त्वरस्व त्वरितो भव । मद्गुम्भनाच्चय राशि-  
मैवान्ननस्ते यद्यश्चय यद्योराशि तदुच्य विस्तारय स्त्रीवधश्चाति सम्पादये-  
न्नयं । हे विधे ! विनात ! परेषामीहाकलस्य क्रियाफलस्य भक्षणं व्रती  
निद्रमो सन् न तु तपस्यन्तरवद्वन्यफलमक्षणव्रतीन्नयं । अद्यापल्लर्नलानवाप्या  
निष्कर्ममपानुमि प्रापं तृप्यन् तृप्त सन् पठ पठितो भव । स्त्रीवधपानकी  
नवेन्नयं ॥ ८८ ॥

अन्वय—पञ्चपुङ्गवाद्यन, त्वरस्व मद्गुम्भनाच्चय यद्यश्चय तदुच्य, विधे,  
परेहाकलमक्षणव्रती अथ अफलं मम अमुमि तृप्यन् पठ ।

हिन्दी—हे पञ्चबाण ( काम )-अग्नि, धीप्रना करो, मेरे गुम्भ के ढेर  
का ( अग्नी ) कौतुहुज के छत्र में प्रसार करो । हे अन्व की इच्छा के फल-  
न्यागशील विनाता, आज निष्कल मेरे प्राणा से तृप्त हो-अपठित होओ ।

टिप्पणी—विनात कत्ती दमयन्ती विविध प्रकार के आहोशवचन कहने  
लगी । पीडित करतें कामदेव को सुखोन्नत करते हुए वह इच्छा करने लगी कि  
कामाग्नि उसे अत्रिलव जलाकर राख कर डाले और इस प्रकार अपना यद्य  
फलये । विनाता बड़ी कठिनता से किसी व्यक्ति को अभीष्ट देता है, प्राप-  
दुच्छा-पूर्ति नहीं करता, दमयन्ती को भी अपनी इच्छा पूरी होती न प्रतीत हो  
रही थी, अतः विनाता पर क्रोध प्रकट करती वह उसके अथ पठित होने—  
नरकगामी होने की कामना करने लगी । स्त्रीवध के पातक से विधि को  
नरकगामी होना ही चाहिए । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और  
समासाक्ति अलंकार ॥ ८८ ॥

भूय वियोगानलप्यमान । किं विनीयसे न त्वमयोमय यदि ।

स्मरेषुमिर्मथ । न वक्ष्यमप्यसि व्रतीपि न स्वास्त । कथं न दीयसे ॥ ८९ ॥

जीवानु—भृशमिति । हे भृश वियोगानलेन तप्यमान ! दह्यमान ! हे  
स्वान्त ! हृदय ! त्वमयोमय यदि किं न विनीयसे अयोधनस्यासि तापात्  
विलयनादर्शनादयोमयमपि नासीति भाव । हे स्मरेषुमिर्मथ । अत एव  
वक्ष्यमपि नामि वक्ष्य लोहेहेत्यत्नामावादिति भाव । किंतु कथं न दीयसे न  
विदन्ति वक्ष्यादित्यस्य लोहेहेत्यत्नामावादिति भाव । न वक्षीयीति काकु ।  
किमिति न वृत्ते त्वत्स्वमित्यर्थः ॥ ८९ ॥



अन्वय — मृषा वियोगानलतप्यमान स्वान्त, यदि त्वम् अयोमय किं न विदीर्यसे ? स्मरेषुमि भेष, वज्रम् अपि न असि, कथं न दीर्यसे—न ब्रवीषि ?

हिन्दी—वियोगान्नि मे अत्यन्त तप्त होते मेरे हृदय, यदि तू लोहा नहीं है तो विदीर्य क्यों नहीं हो जाता ? हे काम-बाणों से भेदनीय, तू वज्र भी नहीं है, तो क्यों नहीं फट जाता—यह बताता क्यों नहीं ?

टिप्पणी—अपने नल वियोग में तप्त होते हृदय को संबोधित करते हुए दमयन्ती ने उसे लौह और वज्र से भी कठोर माना, क्योंकि इतना कष्ट उठाते हुए भी वह कट नहीं रहा है। अत्यन्त गर्म होने पर लोहा भी द्रवीभूत हो जाता है। काम बाणों से विदीर्य न होने वाला दमयन्ती का हृदय वज्र से भी कठोर प्रमाणित होता है। मस्तिनाय ने 'न ब्रवीषि' में 'काकु' माना है। विद्याधर के अनुसार यहाँ निदधयगर्भ संदेहात्कार है ॥ ८९ ॥

विलम्बसे जीविन । किं द्रव द्रुत ज्वलत्यदस्ते हृदय निक्केतनम् ।

जहामि नाद्यापि मृषा सुखासिकामपूर्वमालस्यमहो तवेदुशम् ॥ ९० ॥

जीवानु—विलम्बस इति । हे जीवित । प्राणवायो । किं विलम्बसे द्रुत द्रव घीघ्र गच्छ । द्रुत, यतस्ते तव अहो निक्केतनमावासग्रह हृदय ज्वलति प्रज्वलति । अद्यापीदानीमपि मृषा वृषा सुखासिका सुखासन धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल् वक्तव्य । न जहासि । दह्यमाने गेहे न वस्तुव्यभिरयम् । तथा तव जीवनस्य ईदृमालस्यमपूर्वं नूतनमहो ॥ ९० ॥

अन्वय — जीवित, किं विलम्बसे, द्रुत द्रव, यतः ते अहो निक्केतन हृदय ज्वलति ? अद्य अपि मृषा सुखासिका न जहासि, अहो, तव ईदृमं आलस्यम् अपुत्रम् ।

हिन्दी—हे जीवन, तू विलम्ब क्यों लगा रहा है, छोड़ भाग जा, क्योंकि तेरा यह घर-हृदय जल रहा है ? यात्र भी निश्चित हो सुखपूर्वक बैठना नहीं छोड़ता, अरे तेरा ऐसा आलस्य तो अपूर्व है ।

टिप्पणी—जहामि से दमयन्ती का हृदय जल रहा है, यह हृदय ही जीवन का आवास है। जब घर जलता है, तो गृही बाहर भागता है। इसी लिए दमयन्ती अपने जीवन से हृदय-आवास का छोड़ भाग जाने का आग्रह कर रही है। वह आश्चर्य प्रकट करती है कि जीवन जलते हृदयावास का

परिचा। क्यों नहीं करता ? अपूर्व है यह समझ आनन्दस्य । ऐसा तो देखा नहीं गया । विद्याधर के अनुसार व्यतिरेकालङ्कार ॥ ९० ॥

दशौ । मृगापातकिनो मनोरथा कर्जं पृथू वामपि विप्रलम्बिरे ।

प्रियप्रिय प्रेक्षगवाति पातक स्वमश्रुमि क्षान्चते मन ममा ॥९१॥

जीवानु—दशाविति । हे दशौ । मृगापातकिनोऽनृतपातकिनो मनोरथा नन्दिभारुया पृथू महयो विप्रलम्बमानहं इत्यर्थः । वा युवामपि कय विप्रलम्बिरे वक्ष्यामामु । माहसिका किन कुमुदित्वर्थः । मनोरथा वा विफला इत्यर्थः । किञ्च प्रियप्रियो नल्लक्ष्मणस्य प्रेक्षपवाति दर्शनपातक स्व स्वकीय पातक जगन्मातृकृतमिति नाव । अश्रुमि मनं समा । वत्सरान् । उत्पन्त-सर्जोने द्वितीया । क्षान्चते गुरुपाप गुरुप्रायश्चित्तापनोद्यमि-त्यर्थः । जहो मे दर्शनापानि निरस्तंति नावः ॥ ९१ ॥

जन्वन्—दशौ, मृगापातकिन मनोरथा. पृथू वाम् अनि कय विप्रलम्बिरे ? प्रियप्रिय प्रेक्षगवाति पातकम् अश्रुमि यत्तु समा क्षान्चते ।

हिन्दी—जरे नेत्रों, झूठे और पापी मनोरथों ने बड़े तुम दोनों को, नी छिप्त प्रकार ठग लिया ? प्रिय ( नल ) की सोमा के दर्शन के विघात रूप पाप को जासुओं से सँकड़ो बर्षों तक धोते रहो ।

टिप्पणी—दमयन्ती के नेत्र विशाल हैं—और अश्रुसम मनोरथ लघु । छोट, झूठे और पापी मनोरथों ने नलदर्शन की झूठी आशा दिला कर बड़े-बड़े नेत्रों की धोखा कैसे दे दिया, यह अक्षरज की बात है यह कैसे हुआ—दमयन्ती की इसी पर आश्चर्य है । नेत्रों से यह पाप हुआ कि नलदर्शन-विघात उन्होंने किया अतः उन्हें मही उचित है कि वे बहते पशुजल से उस पातक का प्रमानन अनन्तकाल तक करते रहें । यही पाप का प्रायश्चित्त होगा । विद्याधर के अनुसार छेकानुगम्य और समावोक्ति अलङ्कार ॥ ९१ ॥

प्रिय न नृत्युन रुमे त्वदोष्पित तदेव न स्यान्मम यत्त्वमिच्छसि ।

वियोगमेवेच्छ मनः । प्रियेण मे तव प्रसादान्न भवत्यमो मम ॥९२॥

जीवानु—प्रियनिति । हे मन ! तव ईप्सितमाप्नुमिष्ट प्रिय न लभे तदलाने ईप्सित मृग्य भरात् न रुमे तस्मात् त्व मम यदिच्छसि तन्न स्यादि-त्यन्वयव्यतिरेकदर्शनादिति नाव । अनो मे विनेन वियोगमेवेच्छ तव प्रसादा-

वसी वियोगो मे मम न भवति नलप्राप्त्यभावे परपनेन मे शरणमित्यर्थः ।  
अत्र सयोगार्थं वियोगप्रार्थनाद्विचित्रालङ्कारः । 'विचित्र स्वविरहस्य पल-  
स्याप्त्यर्थमुद्यमः' इति लक्षणात् ॥ ९२ ॥

अन्वयः—मन, त्वदीप्सित न प्रिय न मृत्यु लभे, यत् त्वम् मम इच्छति,  
तत् एव न स्यात्, प्रियेण मे वियोगम एव इच्छ, वसी अपि तव प्रसादान् मे  
न भवति ।

हिन्दी—रे मन, न तो तेरे अभीष्ट प्रिय ( नल ) को पाती हूँ, न अभीष्ट  
मृत्यु को । जो तू चाहता है, वही नहीं होता । प्रिय से मेरे वियोग ही की  
इच्छा कर, वह भी तेरी कृपा से मेरा नहीं होगा ।

टिप्पणी—दमयन्ती का कोई मन चीता पूरा नहीं होता । उसने नल को  
चाहा, वह नहीं मिल रहा । उसके अभाव में मौत चाही, वह भी नहीं मिली ।  
तो जब मनचीता पूरा ही नहीं होता, तो उचित यही है कि मन दमयन्ती से  
नल के वियोग की ही कामना करे । वह भी नहीं होगा और इस प्रकार  
दमयन्ती को नल मिल जायेगा । क्योंकि यहाँ सयोग के निमित्त वियोग की  
प्रार्थना की गयी, अतः मस्तिनाथ के अनुसार विचित्र अलङ्कार है । ( फल  
प्राप्ति के निमित्त उसके विरह के लिए उद्यम विचित्र है । ), विद्याधर के  
अनुसार हेतु अलङ्कार ॥ ९२ ॥

न काकुवाक्यैरतिवाममङ्गज द्विषत्सु याचे पवनन्तु दक्षिणम् ।

दिशापि मद्भस्म किरत्वय तथा प्रियो यया वैरविधिर्वेषावधि ॥ ९३ ॥

जीवातु—नेति । द्विषत्सु चन्द्रादिवैरिमध्ये अतिवाममतिवक्त्रमङ्गज काम  
काकुवाक्यैः कश्चनोक्तिमि । न याचे न प्रापये, किन्तु दक्षिण दक्षिणदिग्भव  
दक्षिण्यवन्त च पवन याचे, किमिति ? अयं पवनो यया हिंसा प्रियो नल  
सञ्चरेत् तथा दिशा तद्दिग्भागेनापि मद्भस्म किरतु क्षिपतु । प्रार्थनाया लोट् ।  
ननु दक्षिणोऽपि दानुपड्य क्यमुपकरिष्यति तत्राह वैरविधिर्वेषावधि वेषाव-  
धिभरणात् 'भरणान्तानि वैराणी'ति न्यायादित्यर्थः ॥ ९३ ॥

अन्वयः—द्विषत्सु अतिवामम् अङ्गज काकुवाक्यं न याचेतु दक्षिण पवनम्  
( याचे ), यया दिशा प्रियः सञ्चरते तथा अयं मद्भस्म किरतु, वैरविधि-  
वेषावधि ।

हिंदी—( वियोगियों के ) शत्रुओं में अतिवाम ( उत्तमसुन्दर, उत्तम प्रतिभूत और नारी के वचनों को न करने वाले - अविज्ञानता वाला ) देन दम्, अथवा 'रतिवामम्' अर्थात् रति जिसकी पत्नी है, उसको, अथवा 'रती प्रीति वन दम्' अर्थात् प्रेम में वन ) अथ ( अर्थात् काम ) की दीन वचनों से भावना नहीं करती किन्तु दक्षिण-पवन ( मलयानिल ) से प्रार्थना करती है कि जिस दिशा में होकर प्रिय ( नन् ) सचरम करे, उस दिशा में यह ( दक्षिण-पवन ) मेरी राख बिखरावे । वर मृत्युपर्यन्त ही किया जाता है ।

टिप्पणी—वियोगियों को संतुष्ट करने के कारण काम, ब्रह्मा, मलयपवन कोविन्द, वसुध आदि उनके ऊँचे शत्रु माने गये हैं । इनमें सबसे दृढ़ और प्रमुख है काम । इस स्थिति में यदि दीनता दिखानी ही हो और दावता करनी ही हो तो उसी प्रमुख काम से करनी चाहिए, किन्तु दमपन्ती का कथन है कि वह काम दावता के निमित्त उन्मुख नहीं है, क्योंकि वह अतिवाम है - बड़ा देहा और स्थियों की बाध न मूँदने वाला । वह अतिसुन्दर अवश्य है, किन्तु दावता का पात्र होने का आधार सुन्दरता नहीं है, वह तो अप्रतिभूतता अर्थात् दाक्षिण्य ( उदारता ) है । काम दक्षिण नहीं है । वह रतिनाथ तो 'रतिवाम' अर्थात् प्रीतिविमुख है ( नारायण ने 'कानुबाक्यं रतिवामम्'—यह भी पदच्छेद किया है ) । काम के पश्चात् शत्रुओं में दूसरा प्रथम शत्रु है दक्षिणपवन मलयानिल । इसका विरोध 'चूँकि 'दक्षिण' है, अतः उल्टे दाक्षिण्य होना चाहिए, अतः उसे ही उपयुक्त मानती दमपन्ती सबसे प्रार्थना करती है कि हे दक्षिणपवन, जिस पथ पर त्रिप नन् के चरण पड़ते हों, भर जाने के पश्चात् नत्मीनूत मेरी राख उसी मार्ग पर उड़ाकर बिखरा देना । भरने के पश्चात् मेरी नन्म तो त्रिप-चरण स्पर्श पात्रवेगी, नन् ही मुझे वह अवसर जीवित रहते न मिल सके हो । यहाँ शङ्का हो सकती है कि दमपती की प्रार्थना दक्षिणपवन को स्वोत्कारेण, जब कि वह शत्रु है, परन्तु शिष्टवनों में यह माना जाता है कि वर जीवित वरों से किया जाता है, मृत्यु के पश्चात् वर निमाना उचित नहीं है । राधा का वध करके श्रीरामचन्द्र ने कहा था—'अरपान्ताति वैरणि' ( शम्भोकि-रामायण, मुद्रकांड, ११।१।१०० ), अर्थात् वर मरने तक ही रहता है, पश्चात् नहीं । मलय पवन का प्रवाह दक्षिण से उत्तर की ओर होता है ।

बुद्धिनगरी से नल की राजधानी निषधदेश उत्तर में है, अतः 'भरणान्तानि वैराणि'—इस सामान्य आचार को जानता दक्षिण का उदार पवन मार्ग में बिखरी मरु को प्रिय की दिशा में पहुँचाने की याचना तो मान ही लेगा, जाना तो उस दिशा में पवन को है ही। एक कार्य यह भी सही। 'विश्व' कोष के अनुसार अङ्गज रुधिरैऽङ्गवेत्तपुत्रमदेऽङ्गज । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और अर्थान्तरन्यास ॥ ९३ ॥

अमूनि गच्छन्ति युगानि न क्षणं कियन् सहिष्ये न हि मृत्युरस्ति मे ।  
स मा न कान्तः स्फुटमन्तरुज्जिता न त मनस्तच्च न कायवायवः ॥९४॥

जीवातु—अमूनि । गच्छन्ति विपरिवर्तमानान्यमूनि युगानि न क्षणं एकोऽप्यय क्षणो युगसहस्रायत इत्यर्थः । कियन् सहिष्ये, मृत्युर्मरणञ्च मे नास्ति हि स कान्तस्तु जगत् अन्तरात्मनि मा नोज्जिता नोज्जिष्यति, स्फुटं त कान्तं मनश्च नोज्जिता तन्मनश्च कायवायव प्राणा नोज्जितारः । हन्त का गतिरिति भावः ॥ ९४ ॥

अन्वयः—अमूनि युगानि गच्छन्ति, क्षणं न, कियन् सहिष्ये, हि मे मृत्युः न अस्ति, स्फुट—स कान्त अतः मा न उज्जिता, त च न मन त च न कायवायव ।

हिन्दी—ये युग बीत रहे हैं, क्षण नहीं ( प्रिय-वियोग में बीतता क्षण युग-सा है ) अथवा ये युग अर्थात् दुःखरूप बीत रहे हैं, क्षण अर्थात् उत्सवरूप नहीं, कितना सदैवी, क्योंकि मुझे मीठ भी नहीं आती । यह स्पष्ट है कि बहू प्रिय ( नल ) स्थूल शरीर के मध्य स्थित 'अहं' अर्थात् 'मैं' शब्द से प्रतिपादित मेरा ( दमयन्ती ) का त्याग नहीं करेगा और मन उस ( नल ) का त्याग नहीं करेगा और प्राणवायु उस ( मन ) को नहीं छोड़ेगा ।

टिप्पणी—दमयन्ती के कथन का भाव यह है कि वियोग के ये क्षण युगों के समान दुःख हैं । यदि मृत्यु आ जाती तो इस पीड़ा से छुटकारा मिलता, पर वह आयेगी नहीं । न प्रिय नल इस स्थूल शरीर के मध्य जो 'मैं' शब्द से अभिहित दमयन्ती है, उसे छोड़ेगा, मन उसे नहीं छोड़ेगा और प्राणवायु मन को नहीं छोड़ेगा । लिंग शरीर का उपलक्षक मन होता है—'बुद्धोद्भवाणि सत्तु पञ्च तथाऽपराणि कर्मेन्द्रियाणि मन आदिचतुष्टय च । प्राणादिपञ्चकमयो

विषदादिकं च ज्ञानश्च कर्म च तमः पुनरुभौ पू ।' इस प्रकार जब तक ज्ञान शरीर है तब तक कर्म शरीर है । जीव के उत्थान करने पर इन्द्रिया उत्थान कर देती है और ज्ञान के उत्थान करने पर मयू शरीर प्राकृतिक होकर विच्छिन्न हो जाता है । श्रुति के अनुसार—'तनुत्क्रमतः प्रापोऽनुत्थामति, प्राप्नुश्चान्त सर्वे प्राप्ता दन्धमति ।' सो इस प्रकार क्षेत्रज्ञ का उत्थान न होने पर जिनो का उत्थान न होने से मरण नहीं होगा । नारायण ने उत्तरार्द्ध का यह तात्पर्य भी माना है कि जन्म मरण में विद्यमान काय मुने नहीं छोड़ता और अन्त काल उसे नहीं छोड़ता । भाव यही है कि जीव रहते मृत का जमिनाप मिटंगा नहीं और नष्ट मिट्टा नहीं, जो क्षण भी दमयन्ती के बाटे नहीं बटता । मृग्य जाती नहीं, क्योंकि यह परम्परा बनी है कि अन्तस्स को नष्ट नहीं छोड़ेगा, मन नष्ट को न छोड़ेगा और शरीरस्य बाधु अर्थात् प्राणवासु मन को न छोड़ सकेगा । विद्याधर के अनुसार जहन्मुनि-हेतु-वीरक प्रकार ॥९४॥

मदुप्रतापव्ययमत्तलोकरः सुराः । मु व केन पने कृपापव ।

उदेति कोटिर्न मुदे मदुस्तया किमानु मङ्कुल्यकणधमेज च ॥ ९५ ॥

जीवानु—मदिति । हे सुरा ! मदुप्रतापव्यये मदतितीव्रप्रतापसन्तौ सक्ता व्यापृता. भीरवा मस्य स प्रसिद्धो यो युष्माकं कृपापव केन पने पीतः । अगम्येन प्रसिद्धापव इवेति भावः । स्वलोभेनैव पीत इत्यत्राह—मङ्कुल्यकणधमेज यमेज यमिध्यानलेप्रयानेन मनोऽप्युभया कोटि इत्यन्तरिमययं । यो युष्माकं मुदे नामु नोदेति किमु सच्यादिवदिति भावः । तस्मादनुदम्यनीये जने विपरीतावरणमनुविनमिति तात्पर्यम् ॥ ९५ ॥

अन्वयः—सुरा, मदुप्रताप-मनस्तशीकर स. व कृपापव केन पने, वा मङ्कुल्यकणधमेज मदुनमा कोटि मुदे किम् जागु न उदेति ?

हिन्दी— हे देवों, मेरे ( नल-विहङ्ग्य ) तीक्ष्ण तान के नाच में जिस का एक दिन्दुका पवास है, उस तुम्हारे कृपा के अनुद को किसने पी लिया ? तुम्हारे ( इन्द्रादि के ) इच्छान्तेज मात्र श्रम ने मूढ से अच्छी कोटि ( दमयन्ती से अधिक मनोप ) की मारी तुम्हारी प्रसन्नता के निमित्त करा अविश्व नहीं उन्नत होवे ?

टिप्पणी—दमयन्ती को नष्ट की वशाति का कारण यही है कि देव उसे

कुट्टिननगरी से नल की राजधानी निषधदेश उत्तर में है, अतः 'भरणान्ता-  
वैराणि'—इस सामान्य आधार को जानता दक्षिण का उर्दार पवन भाग  
बिखरी मरुत की प्रिय की दिशा में पहुँचाने की याचना तो मान ही ले  
जाता तो उस दिशा में पवन को है ही। एक कार्य यह भी सही। 'विश्व-  
के अनुसार अङ्गल दधिरेऽनङ्गवेद्यपुत्रमदेऽङ्गल'। विद्याधर के अनु-  
श्रुतिश्रयोक्ति और अर्थान्तरन्यास ॥ ९३ ॥

अमूनि गच्छन्ति युगानि न क्षणं कियन् सहिष्ये न हि मृत्युरस्ति मे ।  
स मा न कान्तः स्फुटमन्तरज्जित्ना न तं मनस्तच्च न कायवायव\* ॥

जीवातु—अमूनीति । गच्छन्ति विपरिद्वर्तमानान्यमूनि युगानि न ।  
एकोऽप्यक्षणे युगसहस्रावत इत्यर्थः । कियत् सहिष्ये, मृत्युर्मरण-  
नास्ति हि स कान्तस्तु अन्तः अन्तरात्मनि मा नोज्जिता नोज्जिप्सति, स्फु-  
टान्त मनश्च नोज्जिता तन्मनश्च कायवायव प्राणा नोज्जितारः । ए-  
व गतिरिति भावः ॥ ९४ ॥

अन्वयः—अमूनि युगानि गच्छन्ति, क्षणं न, कियत् सहिष्ये, हि म-  
न अस्ति, स्फुट—स कान्तः अन्तः मा न उज्जिता, तच्च न मनः स-  
कायवायव ।

हिन्दी—ये युग बीत रहे हैं, क्षण नहीं ( प्रिय-वियोग में बीतता क-  
सा है ) अथवा ये युग अर्थात् दुःखरूप बीत रहे हैं, क्षण अर्थात् -  
नहीं, कितना सहूँगी, क्योंकि मुझे मौत भी नहीं आती । यह स्पष्ट है  
प्रिय ( नल ) स्थूल शरीर के मध्य स्थित 'अह' अर्थात् 'मैं' शब्द से प्र-  
मेरा ( दमयंती ) का त्याग नहीं करेगा और मन उस ( नल ) का ले-  
करेगा और प्राणवामु उस ( मन ) को नहीं छोड़ेगा ।

टिप्पणी—दमयंती के कथन का भाव यह है कि वियोग के उ-  
पे समान दुःख है । यदि मृत्यु आ जाती तो इस पीडा से छुटकारा  
पर वह धारणी नहीं । न प्रिय नल इस स्थूल शरीर के मध्य भा-  
ग से अभिहित दमयंती है, उसे छोड़ेगा, मन उसे नहीं छोड़ेगा जो  
मन को नहीं छोड़ेगा । लिंग शरीर का उपलक्षण मन होता है—'म-  
नः पञ्च उपाध्वराणि कर्मेन्द्रियाणि मन आदिषुष्टय च । प्राणाणि

टिप्पणी—प्राथम्य पर देवों का ध्यान न जाने को एक सम्भावना यह भी है कि विराट्पत्नी दमयन्ती के नेत्रों में निरंतर जलुओं की वर्षा हो रही है । देवों ने कदाचित् इससे वर्षा ऋतु का आगमन समझ लिया है और देव रों गये हैं । मोये देव प्राथम्य सुन ही नहीं पाते और दमयन्ती का कहा मुना व्यर्थ हो रहा है जगल में रोने के समान । भाव यह है कि संपूर्ण अपराध दमयन्ती का ही है । न वह निरंतर गेड़ी रहती, न देवों को वर्षा का भ्रम होता । वे जागे रहते और दमयन्ती को प्राथम्य पर ध्यान देते । विद्याधर के अनुनाद अतिशयोक्ति और निदर्शना । मन्त्रिनाथ के अनुनाद भी उस काल के वर्षा होने और देव उद्यम के असम्बद्ध होने पर भी जो उसका स्वयम्भूत है, वह अतिशयोक्तिरूप है और दमयन्ती का कथन अरुणरोदन समझ न होने से सादृश्य का आक्षेप जिया जाकर निदर्शना है, अतः अतिशयोक्ति-निदर्शना का संकर है ॥ १६ ॥

इय न ते नैयध । दूदयानिधिस्त्वदेकानस्य अनस्य यातना ।

हृदे हृदे हा न किमद्गवेदिन म वेधमागोपि सखगोऽपि वक्ति य ॥१७॥

जीवान्—इयमिति । हे नैयध । इय त्वदेकानस्य त्वत्परस्य 'एकानो-  
ऽनस्यवृत्ति' इत्यमरः । अनस्य स्वस्मैवेत्यर्थः । यातना तीक्ष्णवेदना ते तव दूदयानिधिर्न दृगोबरो न देशविप्रस्थादिति भावः । किञ्च य सखो हसो वक्ति नन्वाय मयातना निवेदयेत् सखगोऽपि वेधसा जगोपि क्वापि गृह्णत । हृत्-  
हृदे हृदे नर्वेषु अनास्येचित्यर्थः । बीष्माया द्विवक्तिः । किमद्गवेदितो नान्विष्टः । ना वरेत्यर्थः ॥ १७ ॥

अन्वयः—नैयध, त्वदेकानस्य अनस्य इय यातना ते दूदयानिधि न, या सप वक्ति, वेधसा स अवि जगोपि, हा, हृदे हृदे अपि किम् न गवेदित ?

हिन्दी— हे निषधराज, तेरे प्रति एकनिष्ठ जन (दमयन्ती) की यह (दारुण) वेदना तेरे ( नल के ) कपल पथ की अतिथि नहीं बनती ( नल को मोड़ा नहीं दोखती ), जो पत्नी ( हस ) बनाता, विषाता ने उसे भी छिपा दिया । हाय, तारों तारों में उसे किन्ना न खोजा गया ? ( बहुत बार खोजा ) ।

टिप्पणी—चार श्लोकों ( १७-१०० ) में विलाप करती दमयन्ती नल को संबोधित कर कहने लगी कि वह इसनी दारुण व्यथा भोग रही है कि यदि नल अपने नेत्रों से उसे देख लेता, तो अवश्य दमन को चेष्टा करता, पर उसे



चाहते हैं, वे दमयन्ती की इच्छा पर ध्यान देने की कृपा भी नहीं करते । ऐसा लगता है कि अगस्त्य के समान कोई और समुद्रपायी उत्पन्न हो गया है, जिसने सहज कृपासु देवी के कृपासमुद्र को पी डाला है, अन्यथा वे अवश्य दमयन्ती पर थोड़ी सी कृपा तो कर ही देते, जिससे उसका करमाण हो जाता । देव तो इच्छामात्र से ऐसी नारी बना सकते हैं, जो अद्वितीय सुन्दरी हो, पर वे कृपा-सागर के दुष्क हो जाने से दमयन्ती से अच्छी नारी रचना भी नहीं करते और दमयन्ती के उग्रताप का कारण बने हैं । दमयन्ती का देवी को यह उपालम है कि क्यों एक नारी के लोभ में उसे पीड़ित कर रहे हैं ? विद्याधर के अनुसार अनुप्रास रूपक हेतु अलंकार ॥ ९५ ॥

ममैव बह्मदिवमश्रुदुर्दिने प्रसह्य वर्षासु ऋतौ प्रमज्जते ।

कथं नु शृण्वन्तु सुपुष्य देवता भवत्वरण्यं हृदितं न मे गिर ॥ ९६ ॥

जोब्रानु—अथ मदीयमातंघोष देवा नाकर्णयन्तीत्यत्राह—ममैवेति । वा अथवा अक्षि च दिवा च बह्मदिवमहरहरित्यर्थं । ममैवाश्रुदुर्दिनेरश्रुवैरित्यर्थं । प्रसह्य बलाद्वर्षासु ऋतौ वर्षतो 'स्त्रिमा प्रावृट् स्त्रिमा भूमि वर्षा' इत्यमर । 'ऋत्यक्' इति प्रकृतिभाव । प्रसज्जिते प्रवर्तिते इति देवता सुपुष्ट सुप्त्वा सुपुष्य । 'वाचित्स्वपी'त्यादिना सम्प्रसारणम् । 'वृत्तिनिर्मुक्त्यं सुपितृतिस्त्रिमा' इति पत्वम् । मे गिर कथं नु शृण्वन्तु सुपुष्यस्य तदमीगादत एव मे गिर कथमरण्ये हृदितम् । 'क्षेप' इति समास । 'तत्पुण्ये' इति बहुलम् इति सप्तम्या अलुक् । न भवतु । विषेयप्राधान्यादेकवचनम् । सम्भावनाया लौट् । निष्कल प्रचनमरण्यहृदितप्रायमित्यर्थं । वर्षासु भगवतो हरे स्वापादन्यत्रापि देवतास्व-सामान्यादानोप्यन्यपदेश । अथ तत्कालस्य वर्षात्वेन देवताना स्वायेन आसम्बन्धेऽपि सम्बन्धोवतेरतिशयोक्तिद्वयम्, तथा सतिगरामरण्यहृदिता-सम्भवेन सादृश्याक्षेपाभिदत्तानाभेद तेन सन्धीर्णं ॥ ९६ ॥

अन्वय—वा अह्मदिव मय एव अर्घ्यामि दुर्दिने प्रसह्य वर्षासु ऋतौ प्रसज्जिते देवता सुपुष्य मे गिर कथं नु शृण्वन्तु, अरण्ये हृदितं न भवतु ?

हिन्दी—अथवा ( प्रतीत होता है ) दिन-दिन मेरे ही मौसूरूप वर्षा दिवसों के बल से वर्षा की ऋतु हो जाने के कारण देवगण सोकर मेरे घबन कैसे सुन पावें ? ( नहीं सुन पाते । ) मेरी प्रार्थना और विलाप वचन 'अरण्य-रोदन' क्यों न हो ? ( हो ही रहा है ) ।

टिप्पणी—प्रार्थना पर देवों का ध्यान न जाने की एक समझना यह भी है कि विरहिणी दमयन्ती के नेत्रों से निरन्तर जामुञ्जो की वर्षा हो रही है, देवों ने कहा कि इससे वर्षा ऋतु का आगमन समझ लिया है और देव सो गये हैं। मोये देव प्रार्थना सुन ही नहीं पाते और दमयन्ती का कहा मुता व्यर्थ हो रहा है जगत् में रोने के समान। भाव यह है कि संपूर्ण अपराध दमयन्ती का ही है। न वह निरन्तर रोती रहती, न देवों की वर्षा का भ्रम होता। वे जागे रहते जो दमयन्ती की प्रार्थना पर ध्यान देते। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और निदर्शना। मन्त्रिनाथ के अनुसार भी उस काल के वर्षा होने और देव उग्र के अनम्वद होने पर भी जो उसका सव्यकथन है, वह अतिशयोक्तिरूप है और दमयन्ती का कथन अरण्यारोदन समझ न होने से साहस्य का आक्षेप किया जाकर निदर्शना है, अतः अतिशयोक्ति-निदर्शना का संकर है ॥ ९६ ॥

इय न ते नैषध ! दृक्षयातिधिस्त्वदेकतानस्य जनस्य यातना ।

हृदे हृदे हा न कियद्गवेयिन म वेधसागोपि खगोऽपि वक्ति य ॥९७॥

जीवानु—इयमिति । हे नैषध ! इय त्वदेकतानस्य त्वत्परस्य 'एकतानो-जनस्य वक्ति' इत्यमर । जनस्य स्वस्यैवेत्यर्थः । यातना तीव्रवेदना ते तव दृक्षयातिधिर्न दृगोपरो न देशविप्रख्यादिति भावः । किञ्च य खगो हमो वक्ति नलाय मघानना निवेदयेत् स खगोऽपि वेधसा अगोपि क्वापि गुम । कुत हृदे हृदे सर्वेषु जलाशयेष्वित्यर्थः । वीष्माया द्विरक्तिः । कियन्न गवेयितो नान्विष्ट । ना बलेत्यर्थः ॥ ९७ ॥

अन्वयः—नैषध, त्वदेकतानस्य जनस्य इय यातना ते दृक्षयातिधि न, य खगो वक्ति, वेधसा त अपि अगोपि, हा, हृदे हृदे अपि कियन् न गवेयित ।

हिन्दी - हे निषधराज, तेरे प्रति एकनिष्ठ जन (दमयन्ती) की यह (दाह्य) वेदना तेरे ( नल के ) मज्ज पथ की अतिथि नहीं बनती ( नल को पीटा नहीं दीखती ), जो पत्नी ( हस ) बताता, विद्याता ने उसे भी छिपा दिया । हाय, तालों तालावों में उसे किन्ना न खोजा गया ? ( बहुत बार खोजा ) ।

टिप्पणी—चार दलों की ( ९७-१०० ) में विलाप करती दमयन्ती नल को संबोधित कर कहने लगी कि वह इतनी दाह्य व्यापा भोग रही है कि यदि नल अपने नेत्रों से उसे देख लेता, तो अवश्य शमन की चेष्टा करता, पर उसे

ज्ञात ही नहीं है । एक सदेशवाहक स्वर्णहस्त कदाचित् दमयन्ती की व्याख्या-  
कथा मूल को जा सुनाता, पर वाम विधि इतना निर्दय हो गया है कि उसने  
उसे भी कहीं छिपा डाला । अनेक सरोवर अनेक बार खोज डाले, पर वह हस्त  
वही न मिला । कैसे मिटे यह दारुण पीडा ? विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य  
अलंकार छेकानुप्रास ॥ ९७ ॥

ममापि किं नो दयमे दयाधन । त्वदङ्घ्रिमग्न यदि वेत्थ मे मन ।

निमज्जयन् सन्तमसे पराशय विधिस्तु वाच्य क्व तवागस कथा ॥९८॥

जीवातु—ममापीति । हे दयाधन ! कृपानिधे ! मम मनस्त्वदङ्घ्रिमग्न  
स्वच्छरणशरण वेत्थ यदि वेत्सि चेत् 'विदो लटो वा' इति सिपस्यलादेश ।  
ममापि किं न दयसे ममापि किं नानुकम्पसे, 'अधीगर्यदयेसा कर्मणि' इति षष्ठी ।  
अथवा परस्पाशय हृदय सन्तमसे महामोहाघकारे । 'विष्वक्सन्तमसम्' इत्य-  
भर । 'अवसमन्धेभ्यस्तमस' इति समासान्तोऽच्प्रत्यय । निमज्जयन् विधिस्तु  
वाच्य उपालम्भ, तवागसोऽपराधस्य कथा क्व । विविता व्यामोहितो मामिमा  
न वेत्थ, न तु निर्दयत्वादित्यर्थ ॥ ९८ ॥

अन्वय — दयाधन, त्वदङ्घ्रिमग्न मे मन यदि वेत्थ, मम अपि किं नो  
दयसे ? पराधर्म सन्तमसे निमज्जयन् विधि तु वाच्य तव आगसा कथा क्व ?

हिन्दी—हे दयानिधे ( नल ), अपने चरणों में मग्न मेरे मन को यदि  
जानते हो तो मुझ ( दमयन्ती ) पर भी क्यों दया नहीं करते ? अन्ध के अन्त-  
करण को अज्ञानाघकार में डूबाता दैव तो उपालभयोग्य है, किन्तु तुम्हारे ( नलके  
ऐसे ) अपराध की बात तो कहीं सुनी नहीं गयी ।

टिप्पणी—नल तो परम कृपालु है, दमयन्ती पूवसद्वर्ग में कहें लगी कि  
परम कृपालु नल दमयन्ती की व्याख्या जानता है तो दयालु होने पर भी वह  
दया क्यों नहीं करता ? भाग्य को तो निर्भय और भटकाने वाला कहा जाता  
है, वहना उचित भी है, पर नल को निन्दा तो कहीं सुनी नहीं जाती ? फिर  
नल दया करके दमयन्ती की दारुण यातना क्यों नहीं समाप्त करता ? दयालु  
को दयालुता दिखानी चाहिए, अन्यथा वह भी उपालम्भ का पात्र बन जायेगा ।  
विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और सम अलंकार ॥ ९८ ॥

कथावशेष तव सा नृते गतेत्युपैष्यति श्रोत्रपथ कथ न ते ।

दयाणुना भा समनुग्रहीष्यमे तदापि तावद्यदि नाथ ! नाघुना ॥ ९९ ॥

जीवातु—कथेति । हे नाथ ! तव कृते त्वदर्थं सा दमयन्ती कथंवावशेषोऽवसानं न गतेति तव श्रोत्रपथं कथं नोर्षयति उपैष्यत्येवेत्यर्थः । तदपि तच्छ्रवणकारेणपि दयाधुना कृपालेनेन मा समनुग्रहीष्यसे तावदनुग्रहीष्यस्येवेत्यर्थः । ग्रहोऽन्दि' तीतो दीर्घः । अधुना न यदि न चेत् मास्तु पश्चादनुशोचनमपि महानुग्रह इति भावः ॥ ९९ ॥

अन्वयः—तव कृते सा कथावशेषं गता इति ते श्रोत्रपथं कथं न उपैष्यति ? नाथ, यदि अधुना न तदा अपि तावत् दयाधुना मा समनुग्रहीष्यसे ।

हिन्दो—तेरे ( नल के ) लिए वह ( दमयन्ती ) कथाक्षेप हो गयी ( मर गयी )—यह तेरे कर्णों मार्गों को क्यों न प्राप्त होगा ? ( कान में पड़ेगा ही । ) हे स्वामी, यदि इस काल दया नहीं दिखा रहे हो तो तब तो ( मरने पर ) दया के एक अणु से मुझ पर अनुग्रह करोगे ही ।

टिप्पणी—दमयन्ती ने आगे कहा कि वह नल के न मिटने पर मर जायेगी । जब नल को यह समाचार प्राप्त होगा ( और यह समझ ही नहीं है कि यह समाचार नल तक न पहुँचे । ) तो जैसे स्वामी सेवक के मर जाने पर उस पर दया दिखाता ही है, भले ही जीते जी न दिखाता हो, वैसे ही कथाक्षेप दमयन्ती पर तो नल कृपा करेगा ही । दमयन्ती मरकर भी यदि नल का कृपालेख पा सकी तो घन्य हो जायेगी ? विद्याधर के अनुसार ऐकानुप्रास अलङ्कार ॥ ९९ ॥

ममादरोद विदरीनुमान्तर तदधिकल्पद्रुम ! किञ्चिदर्थये ।

मिदा हृदि द्वारमवाप्य मेव मे हृतासुनि प्राणममः समङ्गम् ॥ १०० ॥

जीवातु—ममेति । हे नाथ ! ममेदमान्तर हृदय विदरीतु, 'वृत्तो वा' इति दीर्घः । आदरि आदरवत्, तत्तस्माद्विदारणाद्वेतो हे अधिकल्पद्रुम ! किञ्चिदर्थये भावे । किमिति ? प्राणसम प्राणतुल्य त्वं हृदि मिदा भेदमेव । 'पिङ्गिदादिभ्योऽङ्' । द्वारमवाप्य मार्गं लब्ध्वा मे मम हृतेस्त्वदप्राप्त्या विदलीरसुनि सममेव मा मम. मा निर्गच्छ गमेलुङ् । 'पुपादी' त्यादिना ज्ञेयत्वादेशः । 'न माहयोग' इत्यङ्गमाभावः । प्राणोत्क्रमणकाले त्वया जमान्तरेणपि त्वत्प्राप्तिकाभावा मे हृदयात्रापयातव्यम् । 'य न वापि स्मरन् भाव त्यजत्यन्ते कलेवरम् । न तमेवेति कौत्सेय' सदा तद्भावभावित' इति भगवद्भवनान्निति भावः ॥ १०० ॥

अन्वय—मम इदम् आन्तर विदरीतुम् आदरि तत् अविक्ल्पद्रुम, किञ्चित् अप्ये हृदि मिश्र द्वारम् जवाप्य प्राणसम मे हतासुमि समम् एव मा गम् ।

हिन्दी—मेरा यह अतस् विदीर्ण होना चाह रहा है, उसे है याचको के निमित्त कल्पद्रुम ( नल ), कुछ ( थोड़ी सी ) याचना कर रही हूँ—हृदय मे विदीर्ण स्थल-रूप द्वार प्राप्त कर प्राणतुल्य ( तुम नल ) मेरे अभागे प्राणों के साथ ही मत चले जाना ।

टिप्पणी—दमयन्ती ने नल से अन्तिम प्रार्थना की कि उसका हृदय अब प्राणप्रिय नल के अभाव में फट जायेगा । नल से यही उसकी याचना है कि हृदय के फट जाने से बने मार्ग से प्राण तो चले ही जायेंगे, पर ऐसा नल न करे कि प्राणों के साथ वह भी हृदय से निश्चल जाय, क्योंकि प्राणप्यारा नल भी 'प्राणसम' ( प्राण जैसा ) है । प्राणतुल्य होने से प्राणों के साथ चले जाने की सम्भावना हो सकती है, परन्तु नल मृत की अन्तिम प्रार्थना मान कर दमयन्ती के अतस् में बना ही रहे, जाये नहीं । इससे दमयन्ती को यह लाभ होगा कि नल उसे अथ जन्म में प्राप्त हो जायेगा, मले ही इस जन्म में दमयन्ती की यह इच्छा पूर्ण न हो सकी, क्योंकि कहा जाता है कि प्राणी जिस भाव का स्मरण करता घरीर त्याग करता है, सदा उस भाव से भावित होने के कारण उसे वही प्राप्त होता है । ( श्रीमद्भगवद्गीता, ८।९ ) ॥ १०० ॥

इति प्रियाकाकुम्भिरुन्मिषन् नृप दिगीशदूत्येन हृदि स्थिरीकृत ।

नृप स योगेऽपि वियोगमन्मथ क्षण तमुद्भ्रान्तमजीजनत् पुनः ॥१०१॥

जीवातु—इतीति । दिगीशदूत्येन हृदि स्थिरीकृतो नियुद्ध स वियोग-मन्मथो विप्रलम्भशृङ्गार इतीत्य प्रियाया काकुम्भि कर्णोक्तिमि उन्मिषन्नु-द्बुद्ध सन् स नृप योगे सन्निधाने सत्यपि क्षण पुनरुद्भ्रान्तमुद्भ्रान्तचित्तमुन्मत्त-चित्तमिति पावत् । अजीजनदकार्षीदित्यर्थः । उन्मत्तचित्तविभ्रम सन्निधिविप्रयोग नर्तया विकरोतीति भावः ॥ १०१ ॥

अन्वय—दिगीशदूत्येन हृदि स्थिरीकृत स वियोगमन्मथ इति प्रिया-काकुम्भि शृणुम् उन्मिषन् ॥ नृप योगे अपि क्षणम् पुन उद्भ्रान्तम् अजीजनत् ।

हिन्दी—'इत्यादि' दिक्पालों का दूत होने से हृदय में (इस समय तक) स्थिर (चाँत) बिचे हुए उस वियोगरूप मनोमथन करने वाले काम में (उपमृक्त)

ऐसे ( बदमाश ) प्रिया ( दमयन्ती ) के दोन बचना द्वारा ज़ीव उद्बुद्ध हो उस राजा ( नल ) को योग ( सयोग ) होते हुए नी जा नर पुन उद्भात ( उन्मदचित ) बना दिया ।

टिप्पणी—राजा नल 'धैर्यवन' था, वह बन्न इन्द्रजित का निर्वाह करता हुआ, अपनी वियोगपीडा का मन में दबाये बैठा था, पर अब दमयन्ती ऐसे अत्यन्त कष्ट विलाप करने लगी तो वह वियोग दवा न रह सका और— यद्यपि दमयन्ती समुख थी तथापि—नल का मन पीडा से भर उठा और वह अन्त-सा हो गया । योगसाधना करते योगी का हृदय स्थिर होता है, पर अन्त कष्ट की स्थिति उसके चित्त को भी उद्भात कर सकती है, जैसे शैवविहारी के कष्ट विलाप से शृपिगुण बाल्मीकि का भी अतस् विचल हो उठा था और वे शाप दे बैठे थे । ऐसे ही नल यद्यपि अत्यन्त धैर्यवान् और कर्तव्यनिष्ठ था और दमयन्ती उसके निकट भी थी, तथापि इस कष्ट स्थिति ने उसे भी विचलित कर दिया । विद्याधर के अनुसार हेतु और रूपक अनुसार ॥ १०१ ॥

महेन्द्रदूत्यादि समन्तमात्मनस्ततः स विन्मृत्य मनोरथस्थितैः ।

क्रिया प्रियाया ललितैः करम्बिता विकल्पयन्निन्मलीकमात्रपत् ॥ १०२ ॥

जीवानु—अयोमादानुभाव प्रणय प्रवृत्त इत्याह—महेन्द्रेति । तत् उन्मादोदयान्तर स नल आत्मनो महेन्द्रदूत्यादि समस्त सर्वहृत्य विन्मृत्य मनोरथस्थितैः सकल्पविकल्पितैर्विगतैः करम्बिता मिश्रिताः प्रियाया । क्रिया-शृङ्गारवृत्ता विकल्पयनालोचयन्नित्य वक्ष्यमाणप्रकारेणालोकनबुद्धिपूर्वक-मालपत् ॥ १०२ ॥

अन्वय—तत् स आत्मन समस्त महेन्द्रदूत्यादि विन्मृत्य मनोरथस्थितैः ललितैः करम्बिता प्रियाया क्रिया विकल्पयन् इत्यम् अलोकम् ज्ञापत् ।

हिन्दी—तदनन्तर वह ( नल ) अपने समस्त इन्द्रादि दिक्पालों के दूतादि भाव को भूतकर स्वेच्छाकल्पित विलासों से मिश्रित प्रिया ( दमयन्ती ) की क्रियाओं ( शृङ्गार अथवा विलाप की चेष्टाओं ) को नानाविध सभावना करता इस प्रकार ( भावे वर्णित ) अबुद्धिपूर्वक कहने लगा ।

टिप्पणी—धैर्यवन भी नल उद्भात हो उठा और दूर बैठे जलना सम्पूर्ण

कतव्य कि वह इन्द्रादि का दूत है और उन्मादी के तुल्य, जैसे कोई बुद्धिहीन मनुष्य व्यवहार करता हो, वैसे ही प्रिया की भाँति-भाँति शृंगार चेष्टाओं और विलाप-प्रलापों की तक्रिया करता कहने लगा । नारायण के अनुसार उन्मादवश प्रणयचलहादि की सम्भावना करता दमयन्ती के प्रति प्रलाप-सा करता बोला । विद्याधर के अनुसार विरोधाभास ॥ १०२ ॥

अयि ! प्रिये ! कस्य कृते विलप्यते विलप्यते हा मुखमश्रुबिन्दुभिः ।  
पुरस्त्वयालोकं नमन्मयन्न किं तिरश्चललोचनलीलया नल ॥ १०३ ॥

जीवात्—अय प्रलापमेवाष्टादशभिर्वाह—श्रुतीत्यादि । अयि प्रिये ! मैंमी ! कस्य कृते क प्रति विलप्यते । भावे लड़े, मुखम्, अश्रुबिन्दुभिर्विलप्यते । प्रदूष्यते । कर्मणि लट् हेति छेदे । पुरोऽपि नमन् प्रणमन् अय नलस्त्वया तिरश्चलत तिमक् प्रसरतो लोचनकय लीलया विलसन् प्रपथीकृतदृष्टचेत्ययः । नालोकि न दृष्ट किम् ? अपरोक्षे परोक्षवद्वेषालम्बा न युक्त इत्ययम् ॥ १०३ ॥

अन्वय — अयि प्रिये, मैं कृते विलप्यते, मुखमे अश्रुबिन्दुभिर्विलप्यते ? हा, पुर नमन् अय नल किं तिरश्चललोचनलीलया त्वया न आलोकि ?

हिन्दी—अरी प्यारी, किसके, निमित्त विलाप कर रही हो और मुख को आँसुओं की मृन्दों से परिपूर्ण किया दे रही हो ? हा, समुख मुरता यह नल क्या तिरछे आर चंचल नयनों की विलासलील से त्वया प्रसार करती तुम ( दमयन्ती के ) द्वारा नहीं देखा जा रहा ।

टिप्पणी—नल उद्भात हा दमयन्ती की व्याधा दूर करने के लिए उसके समुख विनम्र हो गया, माना चरण-विनिपात कर रहा हो छठी प्रिया को मनाने के लिए । वह उससे कहने लगा कि क्या व्यथ विलाप कर रही है और सुन्दर मुखों का आँसुओं से विरूप बना कर अवगल कर रही है । जिसके लिए तू व्यथित है, वह तो तेरे समुख प्रतीक्षा कर रहा है कि कब तू अपने चंचल, तिरछे बटाक्षों से उसे निहारे ? लगता है, आँसुओं से दृष्टि पूर्ण होने के कारण दमयन्ती को सामने खड़ा प्रिय नहीं दीप्त पा रहा । रोना छोड़ कर दमयन्ती को उचित है कि प्रणय-चलह समाप्त कर प्रेम से प्रिय को निहार कर हृत्ताथ बनाये । विद्याधर के अनुसार छेवानुभास और हेतु ॥ १०३ ॥

चकान्ति बिन्दुच्युतकातिचातुरी घनाश्रुबिन्दुस्तु निवैनवात्तव ।

मसारसाराक्षि । मसारमात्मना तनोयि मसारमसृजय यतः ॥१०४॥

जीवानु—चक्रास्तीति । मसारसाराक्षि । घनाश्रुबिन्दुस्तु ताविवाक्षिणी यस्यास्तस्या सम्बुद्धिः । हे मसारसाराक्षि ! घनाश्रुबिन्दुस्तु सान्द्राश्रुबिन्दु-  
च्युते । कैतवात्तव बिन्दोरनुस्वारस्य च्युतमेव च्युतक बिन्दुच्युतक विचित्र-  
दाकरभेद तत्रातिचातुरी चकास्ति जाति, ततस्तच्चातुपदिव ससार नव  
मसारशब्दश्चात्मना स्वनामधेयं च मसारसारवन् च्युतानुस्वारश्च तनोयि ।  
जसृजय सृजयो नास्तीत्यर्थः । अर्थाभावेऽर्थाभावः । त्वया मे मसारसाराक्ष्य  
मिति भावः । अत्र कैतवशब्देनाश्रुबिन्दुच्युतस्ताद्रूप्यापह्नवेन वर्णात्मकबिन्दुच्युत-  
श्चात्रोपादपह्नवभेदः, तदुपजीवनेन मसारमिति दिष्टपदोपासनागुक्त्या  
द्वयाभेदाध्यवसायेन बिन्दुच्युतकाख्यकाव्यकरपाठ्यश्रवणात् श्लेषशून्या सापह्नवा-  
त्प्रेक्षा सा चासृजयमिति व्यञ्जकप्रयोगाद्वाच्येति ॥ १०४ ॥

अन्वयः—घनाश्रुबिन्दुस्तुतिर्कैतवात् तव बिन्दुच्युतकातिचातुरी चकास्ति  
यत मसारसाराक्षि, जसृजय ससारम् आत्मनः ससार तनोयि ।

हिन्दी—घनी आँसू की बून्दों के गिरने के ब्याज से तुम्हारी बिन्दुच्युतक  
नानक शब्दालंकार विशेष में अत्यन्त चतुरता व्यक्त हो रही है, क्योंकि हे  
इन्द्र नील मणि के सृजय नयनों वाली ( दमयन्ती ), तुम निःसन्देह 'ससार'  
( ममस्त ) को ( बिन्दु हटाकर ) 'ससार' ( सारवान् ) बना रही हो ।

टिप्पणी—नल कहने लगा कि दमयन्ती का रुदन भी मनोहर है,  
उमसे उमकी श्रेष्ठ इन्द्रनीलमणि सज्ज आँखें मसार को मनोहर बना रहीं हैं ।  
वह जो ये आँसू-बूँदें गिरा रही है—'बिन्दुच्युत' कर रही है, उससे प्रतीत  
होता है कि वह 'बिन्दुच्युतक' अलंकार की विशेषज्ञा है, क्योंकि अश्रुबिन्दु-  
श्च बिन्दु हटाकर वह 'ससार' को 'सार' अर्थात् अपने मनो के विलास  
से रमणीय बना दे रही है । 'बिन्दुच्युतक' चित्रकाव्य का एक प्रकार है,  
जिससे 'बिन्दु' अर्थात् अनुस्वार हटा देने से अर्थ बदल जाता है—'अनुस्वार-  
च्यवनासत्रार्पांतरप्रतीतिस्तद्बिन्दुच्युतकम् ।' जैसे 'ससार' ( जात् ) का  
अनुस्वार हटा दिया तो बन गया 'सार' ( सारवान् ) । भाव यह कि यह  
समार' दमयन्ती के लोचनों से ही 'सार' है । मन्त्रिनाथ के अनुसार यहाँ



वैतव शब्द द्वारा अधुविदुष्यतिका उस रूप में अपहृत्य करके उसमें वर्णात्मक विदुष्युतक का आरोप किया गया है, अतः अपहृनुति है। उसके उपजीवा द्वारा 'समार' इस श्लिष्ट पदोपात्त पद के अर्थद्वय में अभेदाध्यवसाय से विदुष्युतक की उत्प्रेक्षा हुई है, अतः श्लेषभूत सापहृत्य उत्प्रेक्षा हुई, जो 'असशयम्' इस व्यञ्जक के प्रयोग से वाच्या है। इसे चन्द्रकलाकार ने श्लेष-अपहृनुति और उत्प्रेक्षा की समृष्टि कहा है। विद्याधर के अनुसार यहाँ अनुप्रास-अपहृनुति और श्लेष हैं ॥ १०४ ॥

अपास्तपाथोरुहि शायित करे करोपि लीलानलिनं किमाननम् ।

सनोपि हार कियदश्रुण स्रवैरदोपनिर्वासितभूषणे हृदि ॥ १०५ ॥

जीवातु—अपास्तेति । हे प्रिये ! किं किमि-यपास्त त्वक्त पथोरद् लीला-पथोरह येन तस्मिन् करे शायित स्थापितमारोपितमाननमेव लीलानलिन करोपि, लीलाकमलपरिहारेण करकपोलकरणे किं कारणमित्यर्थः । अदोपाप्येव निर्वामितामि परित्यक्तानि भूषणानि येन तस्मिन् हृदि अश्रुण स्रवैरधुधारा-भिरेव हार कियत्सनोपि ? किमर्थं रोदिपीत्यर्थः ॥ १०५ ॥

अन्वय—अपास्तपाथोरुहि करे शायितम् आनन लीलानलिन किं करोपि, अदोपनिर्वासितभूषणे हृदि अश्रुण कियत् हार सनोपि ?

हिन्दी—जिस हाथ ने लीलाकमल त्याग दिया है, उस पर स्थापित मुख को लीलाकमल क्यों बना रही हो और बिन अपराध ही जिसके आभूषण हटा दिये हैं, उस हृदय पर अधुधाराओं से कितना अथवा कबतक हार बनानी रहोगी ?

टिप्पणी—विरहिणी दमयंती ने अपने हाथ से लीलाकमल हटा दिया था और दुःख और चिन्ता से मुख हथेली पर टिकाये धारा प्रवाह अभूषण कर रही थी। हथेली पर रखा मुख ऐसा लगता था कि लीलाकमल हो और हृदय पर गिरती आँसु की बूँदें जैसे मुक्ताहार प्रतीत हो रही थी। नल दमयंती को दुःख चिन्ता छोड़ स्वामाधिक स्थिति में आने को कहता है कि यह पुनः लीलाकमल ग्रहण करे और रुदन का परित्याग कर आभूषणादि पहिन ले। भक्तिभावविशेष से मुख को लीलाकमल और अधु-विन्दुओं को मुक्ताहार कहकर उनकी मनोहरता व्यक्त की गयी। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और श्लेष ॥ १०६ ॥

दृशोरमङ्गलमिद मिलज्जल करेण तावन् परिमार्जयामि ते ।

अथापराधं भवदङ्घ्रिपङ्कजद्वयोरजोभिः सममात्ममौलिना ॥ १०६ ॥

जीवानु—स्योरिति । इदं ते दृशोरक्षोमिलदुःखमात्ममङ्गलकारि  
जन्मयु तावत् करेण परिमार्जयामि परिमार्ज्जिन, मृजेञ्चौरादिकालत् । अथाथु-  
मार्जनात्तरम्, अत्रात्रमा भवञ्चनदोषं भवदङ्घ्रिपङ्कजद्वयोरजोभिः सम  
त्वच्चरणरश्मिभिरुभिः महेति सहोत्पलङ्कार । आमतो मौलिना मुकुटेन  
प्रणामेनेत्यर्थः । परिमार्जयामि ॥ १०६ ॥

अन्वयः—तावत् करेण इदं ते दृशो मिश्रु अमङ्गल्य जल परिमार्जयामि  
अथ भवदङ्घ्रिपङ्कजद्वयोरजोभिः समम् जनराधम् जन्ममौलिना ।

हिन्दी—मैं ( नल ) पहिले हाथ से इस तरे ( दमयन्ती के ) नेत्रों में  
लगे अमंगलकारी ( अशुभ ) जल ( जामुजों ) का परिमार्जन करता हूँ  
( आँसू पोंछता हूँ ), तत्पश्चात् तुम्हारे चरणरश्मिद्वय में लगी धूलि के साथ  
अपने ( नल के जब तक दुःख पहुँचाने के ) अपराध को अपने मुकुट से ।

टिप्पणी—नल ने दमयन्ती को प्रमद रखने के निमित्त अपने हाथ से  
समझे आँसू पोंछने और कोढ़ दूर करने के लिए चरणा में प्रणत हो अपने  
मुकुट में चरण धूलि स्वच्छ करने का निवेदन किया और इस प्रकार अब  
तक दमयन्ती का प्रवचन कर दूत कर्तव्य पालन करते व्यथित करने वाले  
वचन कहने का अपराध दूर करने का प्रस्ताव रखा । भाव यही है कि  
नल ने दुःख छोड़ प्रसन्न हो जाने का आग्रह दमयन्ती से किया । मल्लिनाथ  
के अनुसार सहोक्ति, विद्याकर ने सहोक्ति-तुल्ययोगिता का निर्देश किया है ।

मम त्वदच्छाद्घ्निनन्तामृतद्युते किरीटमाणिक्यमयूखमञ्जरी ।

सपाननामन्य कगेनु रोहिणी त्यज त्यजाकारणरोषणे । एवम् ॥ १०७ ॥

जीवानु—ममेति । हे अकारणमेव रोषणे ! कोने ! 'क्रुम-दार्पेभ्यश्च'  
इति मुच्यन्त्य । रोहिणी लोहितवर्णा 'वर्णादिनुशक्तोद्योतात्तो न' इति ङीप्  
नकारश्च । मम किरीटमाणिक्यमयूखाना मञ्जरी सैव रोहिणी चन्द्रप्रिया सैव  
तारा अन्यपुर स्थितस्य तवाच्छाद्घ्निनखन्यवानृतद्युतेश्च द्रस्तोपासना करोतु,  
रोहिणश्च द्रव्यैर्वादिवा इति भावः । एव रोषं त्यज जनीत्यान्यत्रेयम् ।

‘नित्यवोध्यो’ इति नित्याये द्विर्वाच । नित्यमभोदयम् । ‘प्रणिपातप्रसीकार-  
सम्भा हि महात्मना’ इति भावः । रूपकालङ्कारः ॥ १०७ ॥

अन्वयः—मम रोहिणी निरीटभाणिक्यमयूखमञ्जरी अस्य त्वदच्छाङ्गि-  
नस्मान्मृतसूते. उपासनां करोतु, अकारणरोपणे, रूप त्यज, त्यज ।

हिन्दा—मेरी चन्द्रप्रिया रोहिणी ( रक्तवर्णा ) मुकुट ■ भाणिक्यरत्ना  
की किरणा की दीप्ति इस तेरे ( दमयन्ती के ) स्वच्छ चरण-नख रूप अमृत-  
सूति ( चन्द्र ) को उपासना करे । हे व्यथ ही रोप करने वाली, रोप को  
पूर्णतया छोड़ दे ।

टिप्पणी—नल दमयन्ती के चरणों में झुक कर उसे मनाने का प्रयत्न  
किया, जिससे नल के मुकुट में लगे भाणिक्य की लाल किराँत दमयन्ती के  
चरण नखा की शक्ति करने लगी । ‘भाणिक्यमयूखमञ्जरी’ ‘रोहिणी’ ( रक्त-  
वर्णा ) होने से उसकी तुलना चन्द्रपत्नी रोहिणी ( तारा ) से की गयी, जो  
दमयन्ती के चरणनख रूप प्रिय चन्द्र का रजन कर रही है । जैसे चन्द्र प्रिया  
रोहिणी समीपस्था हो चन्द्र की सेवा करती है, वैसे ही मुकुट भाणिक्य की  
दीप्ति दमयन्ती के चरण नखों को समीपवर्तिनी हो उसका रजन करने लगी ।  
मल्लिनाथ के अनुसार रूपक अलंकार, विद्याधर ने अनुप्रास रूपक-रूप का  
निर्देश किया है ॥ १०७ ॥

तनोपि मान मयि चेन्मनामपि त्वयि श्रये तद्गृह्णमानमानत ।  
विनम्य वक्त्र यदि वर्तसे कियन्ममामि ते चण्डि ! तदा पदावधि ॥ १०८ ॥

जीवातु—तनोपीति । हे चण्डि ! अतिवापन मनायीपदपि मान मयि  
रोपमपि तनोपि चेत् । तत्तद्दि त्वयि विषये आनत सन् बहुमान श्रये सम्मान  
शुर्व, प्रतिकोपाशक्तेरिति भावः । अतिक्रान्ति चेति गम्यन् । किञ्च वक्त्र कियत्  
किञ्चिद्दिनम्य विनमयेत्यर्थः । अन्तर्भावितो निजयं । वतसे तदा ते पदावधि  
पादपर्यन्त नमामि । पूर्वोक्त एवामिप्रायः ॥ १०८ ॥

अन्वयः—ममि मनाम् अपि मान तनोपि चेत् तत् आनत त्वयि  
बहुमान श्रये, चण्डि, यदि वक्त्र कियन् विनम्य वर्तसे तदा ते पदावधि नमामि ।

हिन्दी—यदि मुझ पर बाढ़ा भी मान ( प्रणयनाय ) करती हो तो  
विनत हाँ तेरे प्रति अपना अत्यन्त ‘मनीवत’ प्रस्तुत करता हूँ । हे चण्डि

( अत्यन्त दृष्ट ) यदि मुक्त को ( मान में ) झुका रही हो तो मैं तेरे चरणों तक विनत हूँ ।

टिप्पणी—मानिनी दमयन्ती का रोप दूर करने के निमित्त नल चरणों तक नत होकर दमयन्ती 'मनोबल' करने लगा । दमयन्ती के 'मनाह् मान' ( थोड़े मान ) को अपने 'बहुमान' ( खूब मनाना सम्मान ) में और 'कियत् 'वक्त्रत्रिनमन' ( थोड़े मुख को झुकाने ) को 'पदावधि नमन' ( अत्यन्त झुकने ) से दूर करने का प्रयास । भाव यही कि दमयन्ती प्रसन्न हो । विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और विरोध ॥ १०८ ॥

प्रभुत्वभूमनानुगृहाण वा न वा प्रणाममात्राधिगमेऽपि कश्चिदश्रमः ।  
क्व याचना कल्पलतासि मा प्रति क्व दृष्टिदाने तत्र बद्धमुष्टिता ॥ १०९ ॥

जीवानु—प्रभुत्वेति । हे नैनि ! प्रभुत्वभूमना प्रभुत्वप्रदुक्तगौरवेणानुगृहाण वा न वा, किन्तु प्रणाममात्रस्याधिगमे स्वीकारेऽपि कश्चिदश्रमः को भार इत्यर्थः । अथ सोऽपि मामृत दर्शनमानेऽपि किं नानुगृह्णासीत्याह—क्वेति । याचना मयिना कल्पलतासि, क्व ? त्वं कदेत्यर्थः । अतीति त्वमर्पणकालाद्दूरगतायुष्मदयानुवादेऽपीति—आख्यायनात् । मा प्रति दृष्टिदाने बद्धमुष्टिता लुपता क्व ? 'स्याद्वद्धमुष्टि कृतो दृष्ट्यादिषु वेपथुः' इति विश्वः । विरूपघटनाम्नो विजमालङ्कारः ॥ १०९ ॥

अन्वय—प्रभुत्वभूमना अनुगृहाण वा न वा प्रणाममात्राधिगमे अपि कश्चिदश्रमः ? क्व याचना कल्पलतासि, नव मा प्रति दृष्टिदाने अपि तव बद्धमुष्टिता ?

हिन्दी—पूर्वास्वामित्व के अधिकार के तुम मुन पर अनुग्रह करो या न करो किन्तु ( मेरी ) प्रणतिमान स्वीकारने में भी तुम्हें क्या श्रम पड़ता है ? कहाँ तो तुम याचकों के निमित्त कल्पवृक्ष ही—यह प्रसिद्धि और कहाँ मेरे प्रति निमित्त जल्लोकन में भी यह मूठ्ठी बाँट लेना ( दृष्टता ) ?

टिप्पणी—नल के कथन का अनिप्राय है कि उसने अपने को सखी मात्र में दमयन्ती के अधीन कर दिया है और उतका पूर्ण अधिकार—प्रभुता अपने पर मानता है, सो दमयन्ती का अधिकार है कि वह नल पर कृपा करे या न करे । प्रभु को दास पर कृपा करने या न करने का अधिकार है । प्रभु चाहे जैसा भाव रहे, दास तो विनत रहेगा ही । नल को अत्यन्त इसी में है

कि नल की प्रणति भी दमयन्ती नहीं स्वीकार रही। ऐसी भी क्या निमग्नता? प्रणाम स्वीकार ने मे तो कुछ परिश्रम भी नहीं होता। इसके अनिरिक्त प्रसिद्धि तो यह भी कि दमयन्ती याचनो की इच्छा उसी प्रकार पूरी करती थी, जिस प्रकार कि कल्पवृक्ष की लता, परन्तु वही दमयन्ती नल के प्रति इतनी कृपणता क्यों दिखा रही है कि क्षण भर को उससे दृष्टि भी नहीं मिलती? भाव यह कि एक बार तो नल को दमयन्ती निहारने की कृपा करे। मन्त्रिनाथ के अनुसार विष्पद्यनाम्न त्रिपन्न बलकार, विद्याधर ने विषमरूपकालकार का निर्देश किया है ॥ १०९ ॥

स्मरेषु बाधा सहसे मृदु कथं हृदि द्रवीयकुचसवृते तव ।

निपत्य वैमारिणकेतनस्य वा व्रजति वाणा विमुखोऽपनिष्णुताम् ॥११०॥

जीवातु—स्मरेति । हे मैत्री ! मृदु मृदु स्मरेषु बाधा कामवाण-  
व्यया कथं गृहसे ? अथवा विभरतीति विमारी म एव वैमारिणो मत्स्य  
'विमारिणो मत्स्ये' इति स्वार्थेऽप्रत्यय । तत्केतनस्य कामस्य वाणा द्रवी-  
योम्या दृढतराम्या कुचाभ्या सवृते तव हृदि निपत्य विमुक्ता कुचप्रतिहया  
पराङ्मुखा । अत एवोत्पतिष्णव उत्पतनपीता, 'जलङ्गनि'त्यादिना  
इष्णुप्रत्यय । उक्ता व्रजति वा, अथवा कथमुपेक्ष इति भाव ॥ ११० ॥

अन्वय—मृदु स्मरेषु बाधा कथं सहसे, वा वैमारिणकेतनस्य वाणा-  
द्रवीय कुचसवृते तव हृदि निपत्य विमुखोत्पनिष्णुता व्रजति ?

हिन्दी—कोमल ( दमयन्ती ) काम वाणा की पीडा को कैसे सह रही  
हो, जयवा ( प्रतीत होता है कि ) मकरध्वज ( नाम ) के दृढतर कुचों से  
आच्छादित तेरे ( दमयन्ती के ) हृदय पर टकरा उलटकर उलट जाने हैं ?

टिप्पणी—नल का तर्क है कि जब दमयन्ती नल के कारण काम पीडित  
है तो वह अब क्यों व्यय कष्ट उठा रही है ? इस पर दो समाधान हैं—  
या तो कोमल होकर भी दमयन्ती की महनशक्ति अपूर्व है कि प्रहार चुनचाप  
सह ले रही है अथवा ये कामवाण उसके हृदय तक पहुँच ही नहीं पाते,  
उसके कठोर, पीन पयाधरा से टकरा उछल कर लक्ष्य छूट हो जात हैं।  
'विमारी' अथवा 'वैमारी'—मछली जो विमरण करे। अमरकोष के  
अनुसार—'मीनो वैमारिणोऽङ्गव ।' विद्याधर के अनुसार विरोध और  
आक्षेपान्कार ॥ ११० ॥

स्मितस्य मनावय मृक्वगी कणान् विधेहि लीलाचलमखत भ्रुवोः ।

अपाङ्गुरध्यापयिकीं च हेल्या प्रसह्य सन्देहि दृश मनोपरि ॥१११॥

जीवानु—स्मितमेति । स्मितस्य । कणान्मन्दहासलेशान् मृक्वगी जोष्ट-  
प्रान्तेन । प्राताकोट्यन्व मृक्वगी' इत्यनर । मनावय भ्रुवोरख्यमन लील्या  
च चञ्चल विधेहि । तथा अपाङ्गुरध्या कटाक्षमार्गं । तत्र पन्थान गच्छतीति  
पयिकीं सञ्चारिणीं 'पय दृक्' इति प्लव्गप्रत्यये 'विद्भीरादिभ्यश्च' इति  
ङोप् । इदं मनोन्मुरिरिष्टत्, 'पठ्यतस्येप्रत्ययेने'ति षष्ठी । हेल्या प्रसह्य  
बलात् सधेहि प्रसारयेयम् । 'ध्वसोरेद्धावभ्यासोपरश्चेत्येकार ॥१११॥

अन्वय—मृक्वगी स्मितस्य कणान् मनावय, भ्रुवो यञ्चल लीलाचल  
विधेहि अपाङ्गुरध्यापयिकीं दृश च मन उत्तरि हेल्या प्रसह्य सन्देहि ।

हिन्दी—जोष्ट प्रात मे मन्दहास्य के कणों को धन्य करो ( जोड़ों पर  
मुग्धान गयो ), भ्रुवुओं के प्रवेश को लीला विलास से चञ्चल बनाओ  
( झूलने करो ) और नेत्रप्रातम्प रथ्या ( दली, छोटा मार्ग ) की निम्न-  
मात्रिणी दृष्टि का मुँह पर हेल ( विलासावोहन ) के साथ बन्दुर्वक  
प्रसार करो ( लीलाचटाशो से केरी-नल की-जोर निहारो ) ।

टिप्पणी—नाब यही है कि प्रसन्न हो दम्पयन्ती मन्दस्मित सहित नख  
को प्रणयनार्थं दृष्टि से निहारो । नाब, हाव और हेरा—सभी सन्द की  
देहानक म्पिति के परिणाम हैं । ये सत्त्वभेद से देह में प्रकृतिस्य हैं और  
परस्पर नमुनियत भी होते हैं । सामान्यत इनका क्रम है—पहिले नाब, तब  
हाव तदनन्तर हेरा ( नाट्यशास्त्र २०।१-३ ) । निर्विकारामक मत्व में  
बाँटि विवृति नाब है ( दण्डन २।३२, साहित्यदर्पण ३।१०३ ), नाब से  
हाव की उत्पत्ति होती है । हाव अर्थात् रसि, भ्रू, श्रोत्र की भ्रिमाओ से  
गुह्यार का नृच सत्त्वोन्मिषित विकार ( ना० शा० २२।१० ) । हाव की  
अपन्नता ही हेरा है, हाव की अनेसा इसने विकार अधिक लक्ष्य होता है  
( ना० शा० २२।११ ) । नारायण ने चतुर्थ चरण के 'प्रसह्य की अनेसा  
'प्रन्द' पाठांतर को माना है, जिसका अर्थ हुआ—'प्रसन्न होकर' । यह पाठांतर  
अधिक उपयुक्त है । विद्याधर के अनुसार अनुप्रास-स्वकन्दमालका ॥१११॥

समापय प्रावृषमश्रुविप्रुषा स्मितेन विश्राणय कौमुदीमुद ।

दृशावित खेळतु खञ्जनद्वयी विकासि पङ्केरुहमस्तु ते मुखम् ॥११२॥

जीवातु—समापयेति । विश्रान्ताश्रुविप्रुषा प्रावृष वर्षतुं वृष्टिमित्यर्थ । समापय मा रोदीरित्यर्थ । प्रावृष्टसमाप्ते फलमाह—स्मितेन मन्दहासेन कौमुदीमुदो विश्राणय वितर । अथ दान इति चोरादिकाल्लोट् । दृशावेव खञ्जनद्वयी खञ्जनपक्षियुगमितो भयि नेलतु प्रसरतु, ते मुख विकासि पङ्केरुह मस्तु, प्रसन्न भवत्वित्यर्थ ॥ ११२ ॥

अन्वय — अश्रुविप्रुषा प्रावृष समापय, स्मितेन कौमुदमुद विश्राणय, खञ्जनद्वयी दृशो दत्त खेळतु, ते मुख विकासिपङ्केरुहम् अस्तु ।

हिन्दी—अश्रु विन्दुओ की बरसात समाप्त करो ( न रोओ ), मन्दहास्य से चाँदनी की प्रसन्नता फैलाओ ( मुसक़ाओ ), खजनयुगल से नेत्र इस ओर ( नल की ओर ) छेलेँ ( नल की ओर प्रेम से निहारो ) और तेरा ( दमयंती का ) मुख गिरलते कमल मा हो जाय ।

टिप्पणी—नल ने दमयंती की समझाया कि वह रोना बंद छोड़ प्रसन्नतासे मुसकुराये और प्रसन्नमुखी हो नल की ओर अपने खजन पक्षी से नयनों से निहारे । इसे वर्षा की समाप्ति और शरदागम के उपमान से कहा गया है । वर्षा समाप्त हो और शरदागम हो, जिसमे निर्मल चाँदनी का प्रसार हो, खजनपक्षी कल्लोल करे और कमल विकसित हो । दमयंती के आँसू वर्षा प्रवाह है, जिसके समाप्त होने पर उसके मन्दहास्यरूप चाँदनी का प्रसार होगा, खजन से नेत्र प्रसन्नता से नाच उठेंगे और मुख विकसित कमल-श्री का प्राप्त करगा । भाव है कि रोना छोड़, प्रसन्न हो स्मितपूर्वकदाश-विशेषन के साथ कुछ वीले दमयंती । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और रूपक ॥ ११२ ॥

मुधारसोद्वेलनकैलिमक्षरस्रजा सृजान्तर्मम वर्णकूपयो ।

दृशो मदीये मदिराक्षि । कारय म्मिनश्रिया पायसपारणाविधिम् ॥११३॥

जीवातु—मुषेति । हे मदिराक्षि । मदकराक्षि । 'द्विपदी'त्यादिना औणादिन निरुपप्रत्यय अक्षरस्रजा वर्णाश्रया वाग्युम्फेन वर्णकूपयोरत मुधारस्योद्वेलनकैलिमु-मञ्जनतीला सृज । आलपेत्यर्थ । विश्व मदीये दृशो

स्मितश्रिता करणेन पायसपारणाविनि पायसमोन्ननविधिमपि कारय । 'पर-  
माश्रन्तु पायसम्' इत्यमरः । 'हृत्कारन्यतरस्याम्' इति विकल्पादपि कर्तु-  
कमेतन्म ॥ ११३ ॥

अन्वयः—मम कर्णकूपयो जत जस्रस्त्रवा मृगारसोद्वेगनेति मृज,  
मदिराक्षि, मदीने ह्यौ स्मितश्रिता पायसपारणाविनि कारय ।

हिन्दी—मेरे ( नन् के ) कानों रूप कृशों ( कर्णछिद्रों ) के भीतर  
वर्णमालाद्वारा अमृतरस जो उछलने को शीछा करो । हे मदमरे नयनों  
वाली ( मदिर नयने ), मेरे नेत्रों को मदहास्य की शोभा द्वारा क्षीर-  
मोचन से पारणा ( उपवासानन्तर मोचन ) कराओ ।

टिप्पणी—नन् के कथन का भाव यही है कि दमयन्ती कुछ प्रसन्न हो  
बोले, जिससे नन् के कानों में अमृतरस जैसा उछलित होने लगे और वह  
जपने मदमरे नयनों में नन् को निहारती अपनी मुसकान द्वारा उसके नेत्रों  
को सुख और सतीत देने की कृपा करे । ऐसे मधुर, प्रेमपूर्ण वचन दमयन्ती  
के मुख में निकलें कि जिस प्रकार कोई केलिप्रिया बालिका कूप बावड़ी में  
पानी उछाल-उछाल कर परिवेश को जलसिक्त कर देती है, उसी प्रकार  
दमयन्ती के मुख से उद्गृत वर्णमाला रूप बालिका अमृतरसोद्वेगने केलिद्वारा  
नन् के कर्णकूपयुग्म को पण्डित कर दे । दमयन्ती के मदमरे नयन हैं,  
नन् का निवेदन है कि नन् के नेत्र न जाने कब से दमयन्ती की मुसकान के  
लिए तरल रहें हैं, उपवास करने ध्वनि के सुन्न हो उन उपोषित नयनों की  
पारणा के निमित्त दमयन्ती जपने स्मित का क्षीरमोचन देकर कृपायें करे ।  
सदृश शोक में जलाशय में जलकैलि करती, मदहास्य-शोभा का प्रसार  
करती केलिपरायण बालिका का विषय उभरता है, जो दर्शन को हृष से  
बाष्पापित कर देती है । मधुर वाक्य रचना अमृत तुल्य है और कवि समय  
के अनुसार शुभ्र स्मित की समता 'पायस' ( क्षीर ) से की गयी है । विशाखर  
के अनुसार अतिशयोक्ति और श्लेष ॥ ११३ ॥

ममाननायै भव मग्धन नन प्रिये महुसङ्गविभूषण भव ।

अनाद् अनादात्पमङ्ग । मृपता विना ममीर कतरनवासनम् ॥ ११४ ॥



जीवातु—ममेति हे प्रिये । ममासनाद्ये मण्डनं भव । तत्रोपविशेत्यर्थः । नन । अत्यनुचितमेतदित्यर्थः । किन्तु मनुत्सङ्गविभूषणं भव, अक्षुमारोहेत्यर्थः । तदपि नेत्याह—भ्रमाद्भ्रमादाल्पं भ्रमादाल्पं भ्रमादाल्पमित्यर्थः । लपेलेंडः । अङ्गं भो ! मृप्यता क्षम्यता, किन्तु ममोरो वक्षो विना तवासनं कतरत् किमस्ति ? 'चापले द्वे भवत इति वक्तव्यमि'ति ननेत्यादौ चापले द्विर्भावः । चापलं सभ्रमाग्निवृत्तिं सम्भ्रमश्चानौचित्यभयादिति । अनं भूम्या क्रमेणाधार-हृत्प्रतिक्षणनात्ययालङ्कारः । 'एकमनेकस्मिन्ननेकस्मिन् वा क्रमेण पर्यायः' इति सर्वस्वकारलक्षणात् ॥ ११४ ॥

अन्वयः—प्रिये, मम आसनाद्धनं मण्डनं भव, नन, मनुत्सङ्गविभूषणं भव, अङ्ग, भ्रमात् भ्रमात् आलपम्, मृप्यताम्, मम उरं विना तव आसनं कतरत् ?

हिन्दी—प्यारी, मेरे आसन के आगे भाग की सोमा बनो, नहीं-नहीं, मेरी गोद का आभूषण बनो ! हे अग ( हे सुन्दरि, हे मेरे अवयव तुल्य ), (जो कुछ मैंने कहा) भ्रम—केवल भ्रम से कहा, क्षमा करो ! मेरे हृदय को छोड़कर और तेरा आसन कौन सा है ?

टिप्पणी—प्रणयी नल अपनी प्रिया को मनाता कहने लगा कि दमयंती उसके साथ उसके राज्यासन के अर्द्धभाग पर आ विराजे, जैसी कि परम्परा है—रानी के साथ सिंहासन पर विराजती है । फिर उसे लगा कि यह समान तो है पर प्रणयी का समान नहीं, अतः 'न-न' कह कर उसने दूसरा प्रस्ताव किया कि दमयंती उसकी गोद में विराजे, परन्तु तुरन्त ही उसे बोध हुआ कि प्रिया के लिए इतना भी पर्याप्त नहीं है, वह तो उसकी अग है, उससे अमिनः । तो उसका सबसे अच्छा स्थान हां सकता है प्रिय ( नल ) का हृदय, अतः अतः म उसने अपनी भूत मानते हुए दमयंती को हृदय में स्थित हो जाने का निवेदन किया । नारायण ने तृतीय चरण का पाठांतर दिया है—'अहं भ्रमादाल्पमङ्गं मृप्यताम्'—अर्थात् मैंने यह सब भ्रम से बोल दिया, तू समाकर । हृदय ही तेरा उचित आसन है, उसके अतिरिक्त और कोई अग तेरा आसन हो ही नहीं सकता । कोमल आत्मप्रणालम्बक 'अङ्ग' अवयव का भी सूचक है । मल्लिनाथ ने अनुसार यहाँ पर्यायालंकार है,

क्योकि ध्रुममे नैमी की आघातदृष्टिसे का कथन हुआ है। विद्याधर ने अतिशयोक्ति का निर्देश किया है ॥ ११४ ॥

अर्धोपपञ्चाशुगवाणवञ्चने । स्थिता मदन्तर्वहरेपि चेदुर ।

स्मराशुगेभ्यो हृदय विभेतु न प्रविश्य तत्त्वन्मयमपुटे मम ॥११५॥

जीवातु—विञ्चोर स्वलाघवस्यानेषु ममापि कामादनयमित्याह—अर्धो-  
तेति । जघोना अन्धस्ता पञ्चाशुगस्य पञ्चेशोर्बाणाना वञ्चना प्रतारणादिद्या  
यमा सा तथोक्ता तस्या सम्बुद्धिः । प्रायेण मनस्विना लज्जावशवदतया  
मदनवञ्चनताच्छीन्यादित्य सम्बोध्यते स्वहृदयप्राणसामर्थ्यमूचनार्थं हे नैमि ।  
त्वमदन्तर्ममान्यतरे स्थिता जवस्थिता । अथ बहिरदर्वपि प्राप्नोषि चेत्  
तत्तर्हि मम हृदय (कर्तुं) त्वमये त्वदात्मके सपुटे पेटिकाया प्रविश्य स्मराशुगेभ्य-  
स्मरशरेभ्यो न विभेतु । त्वया शुभस्य मे कुत कामास्त्रमयमित्यर्थः ॥११५॥

अन्वय—जघोतपञ्चाशुगवाणवञ्चने, मदन्त स्थिता बहि उर एपि  
चेत् तत् मम हृदय त्वमयमपुटे प्रविश्य स्मराशुगेभ्य न विभेतु ।

हिंदी—हे पञ्चबाण ( काम ) के बाणों की वचना का अध्ययन बिजे  
हुई ( दमयंती ), तुम यदि मेरे जन्म मे दमती बाहर वक्ष स्थल पर रहो तो  
मेरा हृदय त्वद्रूप ( दमयंती रूप ) संपुट ( सङ्कट ) मे प्रविष्ट हो काम  
बाणों से न डरे ।

टिप्पणी—नल कामव्यथित है । उसे इस कामदत्त व्यथा से दमयंती ही  
छुटकारा दिला सकती है । दमयंती मे ऐसी क्षमता है, क्योकि वह काम-  
बाणा की भी प्रतारणा कर सकती है, जैसा कि श्लाक सन्धा ११० मे कहा  
गया है कि उसके वक्षपर गिर कर कामबाण भी विमुक्त हो जाते हैं । इस  
लिए कामबाण वचना की पारंगता दमयंती से नल का निवेदन है कि वह  
नल के जतस में, भीतर भी विराज और बाहर 'उर' पर भी । इन दोनों  
के बीच जैसे सङ्कट मे टिपा नल का हृदय कामबाणा से निर्भय रहेगा । भाव  
है कि मन मे टिपी प्रिया उनके वक्ष से जा लौं, जिससे नल की वामपीडा  
दूर हो जाय । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ ११५ ॥

पण्डितजन्वानवकाशवाणना स्मरस्य लग्ने हृदयद्वयेऽन्तु नौ ।

दृष्ट मम त्वन्मुच्यो कठोरयोरुस्मिटीय परिचारिकोचिना ॥११६॥

जीवानु—परिष्वजस्वेति । हे प्रिये ! परिष्वजस्व आलिङ्ग । तथा सती लगे मिथोपटिते नौ आवयोहृदयद्वये स्मरस्यानवकाशा नीरुध्रत्वाभिरवकाशा वाणा यस्य तस्य भावस्तत्ता अस्तु । इत्यमालिङ्गन स्मरशरप्रवेशानवकाश-कारकमिति भावः । किञ्च दृष्टा कठोरा ममेयमुरस्तटी कठोरयोस्त्वत्कुचयो परिचारिका उचिता युक्ता । समानगुणयो सम्बन्धो युक्त इत्यर्थः । अत्र समा-लङ्कारः । 'सा समालङ्कृतियमि वस्तुनोरनुरूपयो' इति लक्षणात् ॥११६॥

अन्वयः—परिष्वजम्ब, नौ हृदयद्वये लगे स्मरस्य अनवकाशवाणता अस्तु, मम दृष्टा इवम् उरस्तटीय कठोरयो त्वत्कुचयो परिचारिका उचिता ।

हिन्दी—( हे प्रिये ! ) आलिङ्गन कर, हम दोनों के दोनों हृदय मिल जाने पर काम के बाणों की अवकाश ही न रहे । मेरी यह कठोर वक्षस्थली का तेरे ( दमयन्ती ) के कुचों की सेविका होना अत्यन्त उपयुक्त है ।

टिप्पणी—भाव है कि नल दमयन्ती आलिंगन बढ हो जायें, जिससे दोनों की काम व्यापार मिट सके । जब दोनों के हृदय मिल जायेंगे, तब काम-वाणों के प्रवेश का स्थान ही नहीं रहेगा, स्थानाभाव के कारण काम बाण अर्थ हो जायेंगे । नल का विशाल वक्षस्थल दमयन्ती के पीनपयोधरो से आश्रित होने का औचित्य रखता है, कुछ कठोर है, तो वक्षस्तटी भी दृढ़—अत्यन्त कठोर है । समानशीलता है, तो सख्य उचित है । उचित स्वामी का सेवक भी उपयुक्त होना ही चाहिए । कठोरकुचों की उचित 'दृष्टा उरस्तटी' ही हो सकती है । मल्लिनाथ के अनुसार सम अलङ्कार ॥११६॥

शुभाष्टवर्गस्त्वदनङ्गजन्मनस्तवाधरेऽलिरूपत यत्र लेखया ।

मदीयदन्तक्षतराभिरञ्जन स भूर्जतामर्जंतु बिम्बपाटलः ॥११७॥

जीवानु—शुभेति । यत्र यस्मिन्न तवाधरे रेखया रेखाभिरित्यर्थः । जाता-वेकाचनम् । त्वदनङ्गजन्मन त्वदीयममयोदयस्य सम्बन्धी शुभाष्टवर्गं शुभ-सूचकाष्टवर्गं ज्योतिःशास्त्रप्रसिद्धा अलिरूपत रेखा रूपेण लिखितः । रेखा रूपस्यैव शुभावेदकत्वात् त्रिदुर्गस्य वैपरीत्याच्चेति भावः । मदीयदन्तक्षतराभिरञ्जना राज्या रञ्जनं त्रिम्बकपलवत् पाटल सोऽपर भूजता भूजपत्रत्वमर्जंतु मज्जतु । अर्जो मौवा-दनाल्लोट् । अत्राधररेखाणामष्टवर्गरेखात्वमधरस्य भूजपत्रत्व चोत्प्रेष्यते ।

तेन च कामोदयस्य शुभोदकत्व व्यस्यते । जन्मकालप्रहासानभाविशुभादेदको  
रेखात्रिदुर्लभ्यचक्रविशेषाद्वार्यो ग्रहन्निवेशविशेषोऽष्टवां ॥ ११७ ॥

अन्वयः—स्वदनञ्जजन्मन शुभाष्टवर्ग रेखाया यत्र तत्र अक्षरे अलिख्यत-  
दिम्बपाटल स मदीयदन्तसतराजिरञ्जनं भूर्जन्ताम् जवंतु ।

हिन्दी—तुम्हारे ( दमयन्ती के ) अंग ( काम ) के जन्म का शुभ-  
सूचक अष्टवां ( कुण्डली चक्र ) ( ज्योतिर्विद् विपाठा की ) रेखा द्वारा जिस  
स्याम में तेरे अंग पर लिखा गया है, बिम्बफल-रुम गुलाबी बह ( अक्षर )  
मेरे ( नर ) दन्तज्ञों से रचित हो भूर्जपत्रनाव का अर्जन करे ।

टिप्पणी—ज्योतिर्विद् द्वारा जन्मकाल के ग्रहविचार के निमित्त शुभ का  
सूचक चक्र रेखा द्वारा लिखा जाता है, जिसमें सूर्य, चंद्र, मङ्गल, बुध,  
बृहस्पति, शुक्र, शनिश्चर और राहु—इन ग्रहों का शुभाष्टक बनता है । यहाँ  
दमयन्ती के लाल अंग को ( कामोदीयक होने के कारण ) भोजपत्र बनाया  
गया है जिस पर यह शुभाष्टक लिखा जाता है । इसका उपमी दन्तज्ञ  
देकर नर को अपेक्षित है । शाल दन्तसत से रचित होकर ही लिखे जाने  
योग्य भोजपत्र के बाँ का हो सकता है । नाव यह है कि तेरा काम शुभकाल  
में उत्पन्न हुआ है, जो सफलता को प्राप्त होगा । तेरा गुलाबी अंग प्रियरस-  
पानजनित दन्तसत से चिह्नित हो भोजपत्र के रंग को प्राप्त करेगा ।  
मन्त्रिनाथ ने अक्षर के भूर्जपत्रत्व की समावेदन के आधार पर यहाँ उल्लेखा  
उल्लेख किया है जिससे काम का शुभत्व व्यक्त होता है । नारायण ने  
टिप्पणी की है—‘स्वशोष्ठोदरेखावान् दन्तसतसुन्दरो भूर्जपत्रेणोपमीयते ।’  
( आठ रेखाओं से युक्त दमयन्ती का अक्षर दन्तसत से सुन्दर हो भोजपत्र से  
उपनिमित्त होगा । ) नारायण ने इस उल्लेख का क्रमांक ११९ माना है ॥११७॥

तवाधराय स्पृह्यामि यन्मधुसूतवा श्रवणाजिज्ञासाक्षिका गिरः ।

अधिकासु स्तनयोन्तनोनु ते भनेन्दुरेखान्मुदयाद्भुत नख ॥११८॥

जीवानु—उवेति । किञ्च तवाधराय स्पृह्यामि । अक्षर पातुनिष्ठा-  
मीत्यर्थः । ‘स्पृह्येरोन्वित’ इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्यी । कृत इति चेतु—दत्त्या-  
धरम्य मधुसूतवे माशिकद्रवे तव गिरो वचनानि श्रवसा श्रोत्रे साक्षिणी यन्म  
तत्पुत्र साक्षिक माशिक यासु ता । श्रोत्रपेया इति भावः नवतीति संप्र ।

विच ते स्तनयोरवित्यकासुर्ध्वभागेषु 'उत्पत्त्याद्वेरासन्ना भूमिरुर्ध्वमधित्यका'  
इत्यमर । 'उपाधिभ्या त्यकन्तारुद्धयो' इति त्यकप्रत्यय । एतेन स्तनयोरट्टि-  
रूपेण गम्यते । मम नख इन्दुरेखाम्बुदयाद्भुत चन्द्रकलोदय चित्र तनोतु ।  
कुचकुम्भयोर्नखस्तत्त्वं कर्तुमिच्छामीत्यर्थं ॥ ११८ ॥

अन्वय — तव अवराय स्पृहयामि तव गिर यन्मधुनवै श्रव साक्षिक-  
माक्षिका, ते स्तनयो अवित्यकामु मम नख इन्दुरेखाम्बुदयाद्भुत तनोतु ।

हिन्दी—तेरे अघर की स्पृहा करता हूँ (अघरपानेच्छुक हूँ), तेरी वाणी  
जिन (अघर) के मधु निक्षेरा के कारण कर्णों की साक्षीभूत मधु हैं । तेरे  
स्तनो की अधित्यकाभा ( ऊर्ध्व प्रदेशों ) में मेरा नख चन्द्रकला के उदय के  
आश्चर्य का कारण बने ।

टिप्पणी—पूर्वदलोकोक्त अघर रम पान की लालसा और उस अघर के  
सम्बन्ध से मधुमम मधुर वचन सुनने की इच्छा । इन्हीं कारण अघर से  
प्रसवित मधुधाराओं से सम्बद्ध वचनों का 'माक्षिक' ( मधु ) कहा गया ।  
इसके साथ ही नख ने स्तनोन्मोष की लालसा भी प्रकट की । उच्च स्तन  
पर्वत का ऊर्ध्व प्रदेश है जिस पर लगा नख-क्षत बिह्व उगती चन्द्रकला-सा  
आश्चर्यजनक है । मल्लिनाथ के अनुसार स्तनयुगल के अधित्यका-वचन से  
स्तनो का पर्वतरव गम्य हुआ है । विद्याधर ने छेकानुप्रास त्रिशयोक्ति-  
उपमा आक्षेप अलंकारों का निर्देश किया है ॥ ११८ ॥

न वतसे मन्मथनाटिका कथ प्रकाशरोमावतिसूत्रधारिणी ।

तत्राङ्गहारे रुचिमेति नायक शिखामणिश्च द्विजराइविदूषक ॥११९॥

जीवानु—नेति । हे भैमि । त्व ममयेन कविना कृता नाटिका रूपक  
विशेषो मन्मथनाटिका सती कथ न वतसे एवेत्युत्प्रेक्षा । 'ममयोदीपनेति च  
प्रतीयते । उभय शिष्टविशेषणरूपपादयति—प्रकाश स्फुट रोमावति सूत्रमिव  
रोमावतिसूत्र तट्टारिणी अन्यत्र सूत्रधार कथाप्रस्तावक तट्टनी सूत्रधारणी  
तत्र अङ्गहारे मुक्ताहारे नायको मध्यमागिवय रुचि शोभामेति अन्यत्र नायक-  
कथानायकोऽङ्गहारे अङ्गविशेषे रुचि प्रीतिमेति । शिखामणि चिरोरत्नञ्च  
द्विजराजद्वयस्य विशेषणो विदूषको निन्दको निदृष्यतागोऽपि रमणीय  
। अन्यत्र द्विजगट् बाह्यगो विदूषको नायकस्य हास्यप्रायो नमनचिव

शिक्षामगिरादग्नीम इत्यर्थं । एव मूत्रधारदियोगत् कथं नाटिकानीत्यर्थं । अन्यत्र यौवनार्जकारादिमुक्ता कथं न ममयोद्दीपनेत्यर्थं । 'आन्ध्रनगुणस्त्वं तच्चेष्टा तदङ्गुति । तदस्यस्वेति विज्ञेयश्चतुर्गोदीपनकन' । इति लक्षणात् ।

अन्वय — प्रकाशरोनाश्चिन्मूत्रधारिणी कथं नमनाटिका न वर्तते ? नायकं तत्र जङ्गहारे हविम् एति, द्विवराद्विदूषकः च शिक्षामपि ।

हिन्दी—मुग्धोन्मत्त रोमाञ्जलि मूत्रधार से निर्देशित काम की नाटिका क्यों नहीं हो—( अतिवृत्ति हो ही ), तुम्हारे वस्त्र पर स्थित हार में (अथवा 'अङ्ग + हारे' पदच्छेद मानने पर हे मुन्दरि, तुम्हारे हार में ) मध्यमणि रुद्र नायक हवि ( दीप्ति-नायक पक्ष में प्रीति प्रदर्शना ) को प्रीति होता है और द्विवराट् ( चन्द्र ) का विदूषक ( उपहासक ) बुद्धामणि ब्राह्मण श्रेष्ठ विदूषक है ।

टिप्पणी—नल ने हम पत्रों में दमयन्ती को काम की नाटिका कहा, अर्थात् वह कामोन्मादिनी है, उसी प्रकार, जिन प्रकार कि एक नाटिका, काम अर्थात् हर्ष का कारण होनी है । इसके निमित्त रोमाञ्जलि को मूत्रधार, 'अङ्गहार' ( वस्त्रस्थित मुक्ताहार ) में दीप्ति पाते नायक जयात् मध्यमणि को प्रसन्न नायक ( प्रमुख पात्र ) और शिक्षामणि को विदूषक कहा गया है । नारायण ने 'अङ्गहारे हविर्मेति नायक' का अर्थ यह भी किया है कि अङ्गहार अर्थात् नृत्य में सनापति हवि ( प्रीति ) को प्राप्त होता है । नृत्य नानाकरण मयुक्त अङ्गहारों में विभूषित होता है । कर, चरण, कटि, पार्श्व, उदर, उदर आदि स्थल से स्रवण धारी तथा नृत्यहस्त मानुषा है । मानुषाओं के योग से करण होता है । नृत्य, मुद्र, निमुद्र, गति, परिक्रम, गति-प्रचार में पैर, जघन, उर तथा कटि के सनानकरण की चेष्टा धारी है । 'करण' सामान्यतः 'हस्त-पाद-समायोग' होता है । नलकुम्भमुद्र आदि एक सौ आठ करण होते हैं, जिनमें स्थिर हस्तादि बत्तीस अङ्गहार निम्न होते हैं—जङ्गहार अर्थात् विशिष्ट अङ्गविभेद । ( नाट्यशास्त्र चतुर्थ अध्याय ) । नाटिका प्रमाण उपलब्ध है । यह श्री बटु, गृह्यार प्रधान उपन्यास है, चार अङ्क का, जिसमें नृत्य-गीतादि की पर्याप्त योजना होनी है । इसे 'नाटी' को कहा जाता है, क्योंकि यह मन को व्युत्पन्न बनाकर नचा देती है—

‘नाटयति नर्तयति व्युत्पाद्य मनांसि’ । ( नाटयदर्पण २।५ ६ ) दमयन्ती नाटिका के समान ही नल के मन को हृषविभोर करने वाली है । नायक कहते हैं—कथा शरीर के फल से प्रधान रूप में सबद्ध पात्र को—‘कथाशरीर-फलेन प्रधानतया सम्बद्धमानो नायक उच्यते ।’ ( अभिनव गुप्त, ना० शा० १८ अध्याय ) । नायक का सहचर ‘हास्यकृत्’—कर्म, शरीर, वेष, भाषा आदि से हास्य उत्पन्न करने वाला पात्र विद्रूपक होता है । ( साहित्यदर्पण ३।५० ) । विद्याधर के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति-रूपक-श्लेष अलंकार हैं । गिरानुकम्पस्व दयस्व चुम्बनै प्रसीद शुश्रूषयितु मया कुचौ ।

निशेव चान्द्रस्य करोत्करस्य यन्ममत्वमेकांसि नलस्य जीवितम् ॥१२०॥

जीवातु—गिरा इति । गिरा सम्भाषणेनानुकम्पस्व चुम्बनैर्दयस्व दया कुरु, मया कुचौ शुश्रूषयितु प्रसीद, अन्यथा कथमह जीवेयमित्याशयेनाह—यत् यस्मात् चान्द्रस्य करोत्करस्य किरणसमूहस्य निशेव नलस्य मम त्वमेका जीवितमसि चान्द्रस्य दिवापि जीवनसम्भवात् वरग्रहण तस्य निशेकधारणत्वादिति द्रष्टव्यम् ॥ १२० ॥

अन्वय—गिरा अनुकम्पस्व, चुम्बनै दयस्व, मया कुचौ शुश्रूषयितु प्रसीद, यत् चान्द्रस्य करोत्करस्य निशा इव त्वम् मम एका नलस्य जीवितम् भवति ।

हिन्दी—बाणी द्वारा ( बोलकर ) अनुकम्पा करो, चुम्बनो द्वारा दया करो और मेरे द्वारा स्तनो की शुश्रूषा ( चन्दनलेप, पत्ररचनादि करने का अवसर देकर ) कराने को प्रसन्न हो जाओ, क्योंकि चन्द्रा की किरणों के लिए रात्रि के तुल्य तुम ( दमयन्ती ) एक ही मुझ नल का जीवन हो ।

टिप्पणी—कामोत्पीडित नल ने दमयन्ती से विविध विलास-कैलि निमित्त प्रस्ताव किया, क्योंकि एक वही उरुकी प्राणहार प्रिया थी, चन्द्र-किरणों का जीवन जैसे निशा होती है, वैसे ही । यदि रात्रि न हो तो चन्द्र किरणों का जीवन—अस्तित्व ही न प्रकाशित हो । ऐसे नल चन्द्र का किरण समूह ( इच्छा-आकांक्षाएं ) दमयन्ती-निशा पर ही अवलम्बित है । नारायण के अनुसार नल ने कहा—‘मेरा जीवन तेरे ही अधीन है, चुम्बनादि द्वारा मुझे अनुगृहीत करो, अन्यथा मेरा जीवन ही न रहेगा ।’ विद्याधर के अनुसार यहाँ उपमा-अतिशयोक्ति हेतु है ॥ १२० ॥

मुनिर्यथात्मानमथ प्रबोधवान् प्रबोधयन् स्वमनोवदुध्यत ।  
अपि प्रपन्ना प्रकृति विलोक्य तामवाप्तमत्कारतयाऽनृजदिग्गः ॥१०१॥

जीवानु—मुनिरिति । कथैव ब्रह्मण्यनन्तरमग्रे नलो मुनिरंश मुनिरिव  
प्रबोधवानुत्पन्नतत्त्वावबोधः सन्नात्मानं स्व स्वरूपं प्रकाशयन् सन्तनुबुध्यत,  
मन्त्रपता प्रकाशितेऽनुबुद्धेत्यर्थः । अथ प्रपन्ना प्राप्ता सा प्रकृति स्वभाव विलो-  
क्यापि ज्ञात्वापि जवाम उद्बुद्ध सत्कारो निजद्वन्द्वम्यारक्त्वासना येन तस्य  
मात्रस्तत्ता तथा गिरो दूष्यानुगुणान्द्वेव वाक्यान्मृदवोचदित्यर्थः । यदा  
मुनिर्योऽन्तर्यामनतन्वावबोधोऽपि दामनावगात् बाह्यननुसन्वते तथा नद्योर्गो  
प्रकृतिताम्ना पुन सत्त्वास्वधान् दूषनेवानुसरन्नुवाचेत्यर्थः ॥ १०१ ॥

अन्वय—अथ यदा मुनि प्रबोधवान् अतो आरम्भान प्रकाशयन्त स्वम्  
अबुध्यत, ता प्रकृति प्रपन्ना विलोक्य अवाप्तमत्कारतया गिर अपि अनृजत् ।

हिन्दी—उत्पन्नात् जैसे मुनि प्रबुद्ध हो जाता है, वैसे ही प्रबोध को  
प्राप्त ( गतपन्न ) यह ( न ) करने को प्रकाशित करते हुए ( 'मम नलस्य'  
कहकर अपने को प्रकट करते हुए ) स्वयं को जान गया ( फिर नलस्य  
प्रकाशित हो जाने मात्र से ) उसे ( दमयन्ती को ) प्रकृतिस्य देखकर सम्कार  
प्राप्त होने के कारण ( दूत होकर स्वयं को प्रकट करना उचित नहीं था,  
यह बोध हो जाने से ) तदनुकूल वचन बोला ।

टिप्पणी—नल ने 'मम नलस्य' कहकर एक झूठ कर दी । दूत होने के  
कारण उसे भ्रम-मोह में आकर अपने को प्रकट कर दूतधर्म की अवहेलना  
नहीं करनी थी । नल का अन्तित्व जानकर ही दमयन्ती की पीड़ा जैसे  
समाप्त हो गयी और वह रोना पीना छोड़ प्रकृतिस्य हो गयी । नल को भी  
अब बोध हुआ कि उनसे झूठ हुई, किन्तु वह सत्कारी पुरुष था, अतः बात  
संभालकर पुन समबोधित वचन कहने लगा । यहाँ नल की तुलना एक  
मुनि से की गयी है, जो वेदाताम्नाय जीर शम-दमादि द्वारा प्रबोध प्राप्त  
कर 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं ही सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्मस्वरूप हूँ, ऐसा  
ज्ञान प्राप्त कर लेता है । और मन्त्रार की उपादिका सत्त्वरजस्तम की  
नाम्मावन्त्याम्ना प्रकृति को एव से पृथक् मानता हुआ विवेकपूर्वक मुक्त हो  
वादिभ्यन्वहार करता है । नारायण ने जन्वयांतर करके एक और स्पष्ट अर्थ



किया है जैसे भूल करके ज्ञानी मुनि पुन प्रबोध प्राप्त कर लेता है (आत्मज्ञान प्राप्त कर लेता है), वैसे ही प्रबुद्ध नल भी अपने से हुई भूल को समझ गया और सत्कार उद्बुद्ध हो जाने से पुन प्रकृति को प्राप्त कर (मतमोह हो) दूतधम के अनुसार उचित विचार करने लगा। भाव यही है कि नल समझ गया कि अपना नामोन्चार करके उसने भूल कर दी और फिर उसने उचित विचार किया। आगे के श्लोकों में नल के एतत्प्रबुद्ध विचार हैं। विद्याधर के अनुसार उपमा अलंकार ॥ १२१ ॥

अये मयात्मा किमनिह्नुतीकृतं किमत्र मन्ता स, तु मा शतक्रतु ।  
 पुर स्वभक्त्याध नमन् ह्रियाविलो विलोकिताहे न सदिङ्गितान्यपि ॥ १२१ ॥  
 जीवातु—अये इति । अये इति विपादे । ‘अये विपादे क्रोधे च’ इति विश्व । मया आत्मा स्वरूप किं किमर्थमनिह्नुतीकृतं प्रकाशित, अत्रात्म-  
 प्रनाशनं स शतक्रतुरिन्द्रस्तु मा किं मन्ता मस्यते । अथ पुरोऽग्रे स्वमन्त्या  
 नमन् प्रणमन् ह्रिया आविल वलुप सन् तस्येन्द्रस्येङ्गितानि चेष्टितान्यपि न  
 विलोकिताहे न विलोकमिष्यामि । लुटीद् । तन्मुखमवलोकितुमपि नोत्सहे  
 इत्यर्थः ॥ १२२ ॥

जन्वय—अये, मया आत्मा किम् अनिह्नुतीकृतं, अत्र स शतक्रतु तु  
 मा किं मन्ता ? पुर स्वभक्त्या नमन् अथ ह्रिया आविल तदिङ्गितानि  
 अपि न विलोकितामहे ।

हिन्दी—अरे, मैंने अपने को क्यों प्रकट कर दिया, इस विषय में वह  
 शतमूर्खी ( इन्द्र ) मुझे क्या समझेगा ? पहिले अपनी भक्ति से नमन करता,  
 तत्पश्चात् लज्जा से कसुपित ( मैं नल ) उस ( कोपाविष्ट इन्द्र ) के भ्रूभगादि  
 मूर्तेत भी न देख सकूँगा ( प्रसन्नता लाभ तो दूर की बात है ) ।

टिप्पणी—अपने को अपराधी मान नल ने सोचा कि वह शतक्रतु इन्द्र  
 के कोप का भाजन अवश्य बनेगा । उसको यह दिखाने योग्य भी नल नहीं  
 रहा । वर्तव्यअष्टता की ग्लानि । विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार  
 छेदानुप्रास ॥ १२२ ॥

म्बनाम यन्नाम मुष्माभ्यधामह महेन्द्रकार्यं महदेतदुज्जितम् ।

हनूमदाघेयंशसा मया पुनर्दिपा हसेद्वैतपथ सितोदृत ॥ १२३ ॥

जीवानु—स्वेति । यद्यस्मात् मुया वृष्यैव स्वनाम अन्यथाग्राम ? अबोध  
बलु ? तन्महेतन्महेन्द्रकार्यमुज्जितं त्यक्तम् । अहो हनुमदाद्यै दूतपयो यशसा  
मितीकृतो घवन्नीकृतो मया पुनर्द्विषा हर्षोर्हास्यै, 'स्वनहसोर्वा' इत्यप्रत्यय ।  
मितीकृतो घवन्नीकृतः । यशोदद्वामस्यापि घवत्त्वादिति नाव । विश्वेश्वरीये  
सु हासस्य घवन्नेऽपि शत्रुहासस्य मान्निन्यानादकत्वादित्याशयेन मेचकीकृत-  
मिति व्याख्यातम् । 'मिती घवन्नेचरौ' इत्यमरः । तत्र हनुमदग्रहणं पूर्व-  
कन्यामिप्रायमस्या कृतप्रेनावतारपुरुषयो पौर्वापर्यवित्तेनादिति ॥ १२३ ॥

अन्वय — नाम सह यत् मुया स्वनाम जन्मधाम्, एतन् महत् महेन्द्रकार्यम्  
उग्गिनम्, हनुमदाद्यै यशसा सिजोकृतं दूतपय मया पुन द्विषा हर्षः  
( मितीकृत ) ।

हिन्दी—खेद है, मैंने जो व्यर्थ हो अपना नाम कह दिया और यह महेन्द्र  
का वधा ( दूत ) कार्य छोड़ दिया । हनुमान् आदि द्वारा यश से युद्ध किया  
गया दूत का पय मैंने पुन शत्रुओं के उपहासों से युद्ध कर दिया ।

टिप्पणी—यश का वां भी कविसमयानुसार युद्ध है और हास्य का भी ।  
यहाँ नल का अमिप्राय यह है कि हनुमान् आदि ने समुद्रमंथन और लंकादाह  
करके श्रीरामचन्द्र को सीता का पता बताया था, इस प्रकार योगोविस्तार कर  
दूतकर्म की उच्च मर्यादा स्थापित की थी, नल वैसा न कर सका । इसके  
विरोध क्षम्यन्ती के समुल्ल अपने को प्रकट करके उसने देशों का कार्य ही  
बिगाड़ डाला । अब नल के शत्रु उसकी हसी उड़ायेगे । इस प्रकार जो दूतपय  
पहिले यशयुद्ध था, अब उपहासयुद्ध बन जायेगा । नल को अपय मिलेगा ।  
मन्त्रिनाय का आशय है कि नल राम के पूर्ववर्ती थे । नल कृतयुग में थे,  
राम त्रैता में । इस प्रकार यह पीडापर्यं विरोध हुआ, ऐतिहासिक क्रम में  
भूत हुई । हनुमान् का उदाहरण उनके पूर्ववर्ती नल के द्वारा दिया जाना  
इतिहासक्रम-विरोध है । विद्याधर के अनुसार अनुशास और व्यतिरेक  
अन्कार ॥ १२३ ॥

धियात्मनन्नावदवार नाचर परन्तु यद्वेद म तद्वदिष्यति ।

जनावनायोद्यमिन जनार्दन क्षये जगज्जीवपित्र वदन् शिवम् ॥१२४॥

जीवानु—धियेति । अथवा तावदात्मनो जिया बुद्धिपूर्वकमित्यर्थः । अचावं-

साधु नाचर एव हिप्पने परोऽयो जनो यदचा वदिष्यति तत्तु जनानामवनाय रक्षणायोद्यमिनमुद्योगिन विष्णुमिति शेष, जनानामर्दयतीत्यर्देन सहर्तारम् । न-द्यादित्वात् ल्युट् प्रत्यय । अथ क्षये कल्पान्ते जगज्जीवानां पिवतीति पिव सहर्तार रुद्रमिति शेष । 'पाघ्रादिना' सप्रत्यय । शिव शान्त वदन्, शिवम-शिवमशिव शिवश्च वदन्नित्यर्थ । स पर एव वेद । अनर्गलो लोकस्तावदास्ता समानपराधित्वमन्तर्यामिसाक्षिकमिति भाव ॥ १२४ ॥

अन्वय—आत्मन विद्या तावत् अचारन आचरम् तु जनावनाय उद्यमिन जनार्देन क्षये जगज्जीवपिव शिव वदन् स पर यत् वदिष्यति तद् वेद ।

हिन्दो—( अथवा मैंने ) अपनी बुद्धि से ( ज्ञान वृक्षकर ) तो असुन्दर आचरण ( इन्द्रादि के प्रतिकूल व्यवहार ) किया नहीं, किंतु लोक पालन के उद्यमी ( विष्णु ) को 'जनादन' ( जनात् अर्दयति पीडयति जनार्देन—लोक पीडक ) और प्रलयकाक मे जगत् के जीवन पायी ( प्राणहर्ता ) को 'शिव' ( मगत ) कहनेवाला वह ससारी दुर्जन जो कहेगा, वह ( मैं ) समझता हूँ । ( अथवा 'यत् वेद तद् वदिष्यति—ऐसा अन्वय करने पर अर्थ होगा—'लोक का समपता है, वह कहता है ।' )

टिप्पणी—एक ती तेईसवें पूर्वश्लोक मे स्वनाम-प्रकट कर देने के कारण नल ने अपने को दोषी माना था वहाँ वह विचारता है कि उसने इन्द्रादि के कार्य के प्रतिकूल व्यवहार ज्ञान वृक्षकर तो नहीं किया, वह परिस्थितियों के कारण अथवा भावावेश मे हो गया । दमयन्ती का दुःख उससे न देखा गया और वह अपने को प्रकट कर बैठा । पर नल ने सोचा कि यह ससार—ये ससारी जन वहाँ ठीक-ठीक विचार पाते हैं । वे सदा अनर्गल ही कहा करते हैं । जैसा ऊपर-ऊपर मे लगा, वही कह डालते हैं । उदाहरण के लिए जो ससार की स्थिति-पालन के विधाना हैं, उन विष्णु को कहता है—'जनार्देन'—जनो को कष्ट देने वाला और जगत्सहृदर रुद्र को कहता है—'शिव'—शुभ मंगलस्वरूप । ऐसे ही नल के भाव पर उचित विचार न करने ऐसा अनर्गलवादप्रिय ससारी तो नल को अपराधी कहेगा ही । लोक कथन का निवारण बड़ा कठिन है, उसका कोई प्रतीकार नहीं है । विद्याधर क अनुसार छेकानुप्रास और हनु धलहार । चन्द्रकलाकार ने इस श्लोक से 'निष्क'-नामक काव्यलक्षण का निर्देश किया है ॥ १२४ ॥

स्फुटतदं किं हृदय त्रपामरात् यदस्य शुद्धिविबुधैर्विवृध्यताम् ।  
विदन्तु ये तत्त्वमिदं नु दन्तुरञ्जनानने कः करमपिष्यति ॥१२५॥

जीवानु—स्फुटतीति । अदो हृदय त्रपामरात् स्फुटति  
किम् ? स्फुटिष्यति किम् ? 'आशयाया भूतवच्च' इति चकारादाशयाया  
नविष्यदये वतमानवन्त्यस्य । यद्यस्मात् स्फुटनादस्य हृदयस्य शुद्धिविबुधैर्देवै-  
र्विवृध्यता ज्ञायताम् । जन स्फुटनभागास्यमित्यर्थः । अन्तु न विबुधास्तत्त्व  
हृदयशुद्धिं विदन्तु तथारि दन्तुरमतिविश्रमन्तदेवाह—जनानने कः करमपि  
निष्यति न कोऽपीयम् । कश्चिद्देवताप्रत्यायनेऽपि जनप्रत्यायनं दुष्करमिति  
सात्वयार्थः ॥ १२५ ॥

अन्वयः—किम् अहं हृदय त्रपामरात् स्फुटति, यत् यस्य शुद्धिं विबुधै-  
र्विवृध्यताम् ? ते तु हृदय दन्तुर तत्त्व विदन्तु, जनानने कः करम् अपि निष्यति ?

हिन्दी—क्या ( मेरा-नर का ) यह हृदय लज्जा-भार से फटा जा रहा  
है कि जन ( हृदय ) का निरपराध होना देव समान हैं ? वे ( देव ) तो हम  
जन्म-विषय ( कठिनता में समझ में आनेवाला ) तत्त्व को समझ लें, ससारी  
जनों के भूँड़ पर कौन जान पायेगा ? ( लोगों का भूँड़ कौन बन्द करेगा ) ?

टिप्पणी—जनजाने अपराध-बोध में भी जनमयकृति नल का अभ्यन्त  
आनन्दगति हो रही थी । वह चान्ते गया कि उसका हृदय फटकर बाहर  
जा जाय जिससे उनकी शुद्धि—निरपराधता सर्वत्र देव तो जान लेते, जिनका  
नल अग्रगणी है । वे 'विवृध'—विशेष शुद्धिमान् बूढ़े जाते हैं—उन्हें तो 'विवोध'  
हो जाना चाहिये । वे ससारी जन तो जगत् का कर्ता ही करते हैं, उनकी निन्दा-  
स्फुटि की चिन्ता व्यर्थ है । न कोई लोगों का झूठ भी कहने से रोक पाया  
है न रोक सकता है । भाव यह है कि देव सर्वज्ञ हैं, वे तो नल को समझ  
ही लेंगे कि नल का हृदय शुद्ध है, लोग जो चाहें, बनें । उनकी क्या चिन्ता ?  
'जनानने कः करमपिष्यति'—लोकोक्ति का प्रयोग । विद्यापद के अनुसार  
अवगोचर ॥ १२५ ॥

मम धमस्त्वेनान्यायया फली बलीयताऽऽनेति च मैत्र वेदसा ।

न वन्तु देवम्बरनाद्विनम्बर सुरेश्वरैर्जि प्रविशन्मोक्षर ॥१२६॥

जोवातु—ममेति । मम श्रमो दूतयप्रयास अनया चेतनया स्वरूपनिगूहन-  
बुद्ध्या फली सफल स्यात् बलीयसा बलवत्तरेण वेधसा दैवेन सा चेतनैवालोपि  
नाशिता च । तथा हि—दैवस्य स्वरसात् स्वेच्छातो विनश्वर वस्तुवर्थं सुरेश्वर  
शक्तोऽपि प्रतिकर्तुं नेश्वरो न शक्त इत्यर्थात्तरन्यास । ईदृशी भवितव्यतेति  
भाव ॥ १२६ ॥

अन्वय —अनया चेतनया मम श्रम फली, बलीयसा वेधसा च सा एक  
अलोपि, दैवस्वरसात् विनश्वर वस्तु सुरेश्वर अपि प्रतिकर्तुं न ईश्वर ।

हिन्दी—इस चेतना से कि 'मैं नल इस समय दूत हूँ', मेरा श्रम सफल  
होता, किन्तु बली विघाता ने उसका ही लोप कर दिया । दैवेच्छा ने विनाशित  
वस्तु की रक्षा करने में देवराज भी समर्थ नहीं है ।

टिप्पणी—नल का भाव यह है कि जो भी अपराध हुआ, उसकी इच्छा  
से नहीं हुआ । बलवान् दैव ने उसको चेड़ना—समझ ही समाप्त कर डाली ।  
दैवेच्छा का प्रतिकार तो इन्द्र से भी सम्भव नहीं, नल—एक मनुष्य की सी  
क्षमता ही क्या ? उसका कोई अपराध नहीं है । मस्तिन्नाय और विद्याधर ने  
अर्थात्तरन्यास अलंकार का निर्देश किया है ॥ १२६ ॥

इति स्वय मोहमयोमिनिमित्त प्रकाशन शोचति नैपथे निजम् ।

तया व्यथामग्नतदुद्दिघोर्पया दयालुरागाल्लघु हेमहसराद् ॥१२७॥

जोवातु—इतीति । इतीत्य नैपथे नले मोहमयोमिणा अज्ञानविलसितेन  
निमित्त निजमात्मीय स्वय प्रकाशन स्वस्वरूपप्रकटित प्रति शोचति व्यथमाने  
सति दयालुर्हेमहसराद् सुवर्णराजहस तथा व्यथामग्नस्य तस्य नलस्योद्दिघोर्पया  
उद्धर्तुमिच्छया, धरतस्तूर्वात् सन्नग्तात् त्रियामग्रन्यये टाप् । लघु क्षिप्रमाणा  
दागत् ॥ १२७ ॥

अन्वय —नैपथे इति मोहमयोमिनिमित्त निज स्वय प्रकाशन शोचति  
दयालु हेमहसराद् तयाव्यथामग्नतदुद्दिघोर्पया लघु आगात् ।

हिन्दी—निपथराज नल ने मोह ( अज्ञान ) की तरफों के कारण हुए  
अपने स्वयप्रकाशन ( अपना 'नल नाम' स्वय कह देने ) पर 'शोच' ( निंदा )  
करने पर दयालु स्वर्णहना का राजा उस अनिर्वचनीय पीड़ा में मग्न उस  
( नल ) का उद्धार करने की इच्छा में ( स्वनिन्दा से विरत करने के लिए )  
शीघ्र आ पहुँचा ।

टिप्पणी—स्वर्गहृत् ने ही दम्पती को नल संदेश पहुँचाकर नल का कार्य किया था, इस समय भी पश्चात्तान करते—पछताते नल नल की पीड़ा दूर करने बहू का गया । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति बी० छेकानुशास १२७।

नल न नलस्य बोधोर्वीक्षितः स एव पश्यति भग्नमनस्ययात् ।

नयादनामनि मा निराशनाममून् विहायैवमत्तः पर पन् ॥१६८॥

जीत्रानु—निति । स रात्रहृत् तस्य हृत्स्य पश्यत्वा निमित्तोत्तरे वीक्षण इति बोध्यं तथा एव स सर्वोपकारी पशति भग्नमेव नलमनस्ययात् जनिहितवान् । हे अदभ्य ! निर्दय ! एता दम्पतीमतिनिराशता नैराश्य मा नय प्रापय । कुत जन विरमिय पर केवलममून् प्रागान् विहाता विशम्भति । जहातेर्दुः । सदेतन्नामनाकाङ्क्षिणा स्वया नैवनाशाच्छेद कार्य इत्यर्थः ॥

अन्वय—तत्पक्षबोधोर्वीक्षितः एव स पश्यति—इति भग्न नल सः भग्नमनसः—पश्य, एताम् जतिनिराशता मा वय, कत पश्य इय परम् अमून् निहाता ।

हिन्दी—इस ( स्वर्गहृत् ) के पक्षों के शब्दों से ( जाहूँ हो ) ऊपर ( आनाथ की जोर ) देखने जोर 'यही वह पक्षी है'—ऐसा कहते नल से बहू ( स्वर्गहृत् ) बोला—अर निर्दयी, इने ( दम्पती ) को बहुत निराश मन बना । इसके अनन्तर ( जोर अधिक निष्कटन अनिय कहने पर ) यह प्राण भी टूट बेगी ।

टिप्पणी—नाथ यह है कि स्वर्गहृत् ने कहा कि नल अब सीमा से जागे जा रहा है । इतना निमित्त होना ठीक नहीं । ऐसी निवेदता यदि नल तो त्रिपद निमित्तों की दम्पती प्राप्ति दे दती । इस प्रकार न केवल नल को नल ही होगा, वह स्वयम् एक ऐसी रमणीय का हृत्ता का नारायण भी बनेगा, जो सदाय से उत्पन्न है । श्रीवत्स का पावनक नल पर शीला, उत्तम जन वह नैमित्त व्यवहार अधिक नदी रमना चाहिए । तृतीय वरप के अति मा निराशता प्रती पर आपत्ति करते हुए पूर्वपक्ष के हृत्ता से नारायण ने यह वाक्य उक्त व्याकरण विरुद्ध बनाया है कि 'ते प्राप्तातो' ( २४ १।४८० ) निमित्त के अनुसार 'निराशता मा जतिनय वाक्य होना चाहिए । समाधान में उसने कहा है कि महाकवि द्वारा प्रयुक्त होने पर, ऐसा व्यवहित प्रती भी

माधु है—‘महाकविप्रयोगादध्यतहितानामपि प्रयोग साधु’ ।’ पदच्छेदांतर से इस वाक्य के अन्वय भी उन्होंने किये हैं—( १ ) ‘अतिमानिराशताम्’—अतिशयिता मा शोभा राजलक्ष्मीर्वा यस्या सा अतिमा इयमित्यस्य विशेषणम् । एनामनिराशता नयेत्यन्वय । अर्थात् जिनकी शोभा या राजलक्ष्मी अतिशय है, ऐसी दमयंती को अनिराशता को प्राप्त करा ( २ ) ‘अतिम + अनिराशता नय’—हे अतिम ( अतिसुन्दर—अतिशयिता मा यस्य स ), इसे अनिराशता को प्राप्त करा । ( ३ ) इससे यह सूचित किया गया है कि अतिसुन्दर होने के कारण नल ही दमयंती के योग्य है, अन्य कोई नहीं । ( ४ ) ‘अत पर निराशताम् एतां नय, अतिमा परम असुखं विहाता’—इससे अधिक निराशता पर इस पहुँचाना कि यह ‘अतिमा’ ( अतिसुन्दरी दमयंती ) प्राण भी छोड़ देगी और ऐसी सुन्दर वस्तु बुरा चली जायेगी । वस्तुतः लौकिक सत्सुत में उपसर्गादि धातुआदि के पूर्ण प्रयुक्त होने लगे, वैदिक सत्सुत में यह मायता नहीं थी । विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलकार अनुप्रास है ॥१२८॥

सुरेषु पश्यन्निजनापराधनामित्यप्रयस्यापि यदर्थसिद्धये ।

न कूटसाक्षीभवनोचितो भवान् मता हि चेत् शुचितात्मसाक्षिका ॥१२९॥

जीवातु—सुरेन्द्रियति । हे मन्त्र ! भवान् तदर्थस्य सुरकार्यस्य सिद्धये इय-  
देतावत् प्रयस्याप्यायस्यापि, यस्तु प्रयत्न इति धातो समासे क्तवो त्यबादेश ।  
सुरेषु विषये निजा सापराधतामेव पश्यन् उत्प्रेक्षमाण सन् कूटसाक्षीभवनस्य  
कूटसाक्षीभावस्य । अभूततद्भावे चिन् । उचितो य अनपराधि-यात्मपराधो-  
त्प्रक्षिप्तमेव कूटसाक्षित्वं तत्ते अनुचितमित्यर्थ । मता हि—सता चेत् शुचिता  
चित्तशुद्धि आत्मसाक्षिका स्वप्रमाणिका हि स्वयं प्रतिपेक्ष्य किं विचारणये-  
त्यर्थ ॥ १२९ ॥

अन्वय —भवान् तदर्थसिद्धये इयत् प्रयस्य अपि सुरेषु सापराधता पश्यन्  
कूटसाक्षीभवनोचित न, हि सता चेत् शुचिता जात्मसाक्षिका ।

हिन्दी—आप ( नल ) को उन ( देवों ) को नायसिद्धि के निमित्त  
दण्डना ( अत्यधिक ) प्रयत्न करके भी देवों के प्रति अपने को सापराध देह  
कूटमासी ( झूठा गवाह, जो अथ के निमित्त झूठ बोलता है ) होना उचित

नहीं, क्योंकि मन्त्रों की चित्त-शुद्धि स्वतः प्रमाण (अन्तरी साक्षी स्वयम्) होती है।

टिप्पणी—कान्दिश ने कहा है—‘मृता हि मन्देह्यदेष्टु वन्तुः प्रनामन्त-  
करणप्रवृत्तम् ।’ (अनेकानां प्रवृत्तम्) । मन्देह्यनक स्थितियों में मन्त्रों का  
कृता बिना ही प्रमाण होता है । हम ने भी ऐसी ही नीति का अनुकरण करके  
नम को बोध दिया कि वह निर्दोष है । वह स्वयं जब ऐसा मानता है, तो और  
जिनों के कर्मों पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं । क्या वह दूसरे के लिए  
अच्छाकाम्यता के इतनी अन्यायानि कर रहा है और स्वयं को और दमयन्ती  
को व्यर्थ कर रहा है ? नम ने निश्चय भाव में यथासम्भव दृष्टिकोण प्रस्तुत  
दिया । वह इस मन्त्र का स्वयं साक्षात् है । देख नी यह स्वीकारेंगे, भले ही  
मानान्य में न मानें । उसको क्या चिन्ता ? विद्यार के अनुसार अर्थांतर-  
न्याय अलम् ॥ १२९ ॥

इतीरिणानुष्ठय नल विदमंशमपि प्रयत्नेन खगेन सान्निधनः ।

मृदुवभाषे भगिनी दमन्य स प्राम्य चित्तेन हरिणीनूपः ॥१३०॥

जीवानु—इति । इतीरिणा इत्येवादिना नल विदमंशमपि भैमी वायु-  
चक्षुषामन्वयप्रयत्नेन प्रयागप्रवृत्तेन खगेन हनेन सान्निधनो बोधित स नृनरिच-  
त्तेन हरिणीनिद्रादीन् प्राम्य मृदुरात्रिभित्त सन् दमन्य भगिनी वभाषे ॥१३०॥

जन्मप — इति इतिरिणा नल विदमंशम् यदि वायुचक्षुः प्रयत्नेन खगेन  
सान्निधन स नृनरि चित्तेन हरिणीन् प्राम्य मृदु दमन्य भगिनी वभाषे ।

हिन्दी—इस प्रकार कह नम और विदमंशुकी ( दमयन्ती ) से भी  
जमुना केर गये पक्षी ( हम ) से सम्बन्ध प्राप्त कर वह राजा ( नम ) मन  
ही मन दिवसों को प्रमाण करने को स्वयं में इन को बहिन ( दमयन्ती )  
से बोध ।

टिप्पणी—हम के दाप देने पर नम आवश्यक हुआ और उनसे करने को  
अनुरोध-बोध से मुक्त माना और वह निर्ममता छोड़ दमयन्ती ने कहने लगा ।

देदेपि तुन्य न्यिनी कदर्यना सुरेषु रागप्रवृत्तकेशिनी ।

रुदमन्त्रेन मज्जतु वा दत्ता दिग्गन्तु वा दष्टममो नमागता ॥१३१॥

जीवानु—इद इति । हे प्रिये सुरेषु विद्यते सान्निधनं अनुरागजनने अव-



केशिनी बन्ध्या अममर्या इत्यर्थ । 'बन्ध्याऽफलोऽवकेषी च' इत्यमर । विद्यती-  
रियत्तारहिता इत्यर्थ , कदर्यना कुत्सना । अश्लीलप्रयोगानिति यावत् । तुभ्य  
केवल प्रियाहंयै इति भाव । ददेऽपि ददाम्यपि अतिगर्हितमाचरामीत्यर्थ । अपि  
गर्हयाम् । 'अपि सम्भावनाप्रश्नश्चागर्हासमुच्चये' इति विश्व । किञ्चैद  
सति अमी देवा अदम्भेनाकपटेन दूत्येन दूतकर्मणा 'कपटोऽस्त्री ध्याजदम्भोप-  
धमदष्टप्रवैतवे' इत्यमर । दया वा मजन्तु आगसा अपराधेन मम दण्ड दण्डा  
या विशन्तु, इत परमिमा तु न कदर्ययामीति भाव ॥ १३१ ॥

अन्वय — तुभ्यम् अपि सुरेषु रागप्रसवावकेशिनी कियती कदयना  
ददे, अमी अदम्भदूत्येन दया वा मजन्तु, आगसा मम दण्ड वा दिशन्तु ।

हिन्दी—तुम ( दमयन्ती ) को भी देवों में अनुराग उत्पन्न करने में  
विफल किन्ती पीडाएँ दूँ, ये ( देव ) निष्कपट ( मेरे ) दूत-कार्य संपादन के  
कारण चाहे दया करें, चाहे ( स्व नाम प्रकाशन रूप ) अपराध के कारण  
मुझे दण्ड दें ।

टिप्पणी—नल ने मयाशक्ति प्रयत्न किया कि दमयन्ती दिक्पानामिमुख  
हो सके, किन्तु वह विफल हुआ । इसके विपरीत दमयन्ती को इस मन्त्र में इतनी  
व्यथा हुई कि नल ने भ्रातृ होकर स्वनाम-प्रकाशन कर दिया । उसने समझ  
लिया कि इस विषय में और कुछ कहना करना दम्पती की असह्य व्यथा  
का ही कारण बनेगा, देवों के प्रति अनुरागिणी वह नहीं हो सकेगी । अब  
उसने अतृप्तोत्साह यह निषय प्रकट कर दिया कि इस विषय में और कुछ  
कहकर यह दमयन्ती को पीडा देना अनुचित मानता है । इससे स्वयम् नल को  
भी दुःख होता है । क्योंकि वह प्रिया की वेदना सह नहीं सकता । उसने  
निष्कपट मात्र में कर्तव्य निवाह कर दिया । यह देवों की इच्छा है कि वे  
नल पर दया करें या अपराधी मानकर दण्डित करें । नल अब इसकी विन्ता  
नहीं करता । वह दण्ड सह लेगा, दमयन्ती को दुःखो नहीं देय पायेगा ।  
विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति वल्लकार ॥ १३१ ॥

अयोगजामन्वभव न वेदना हिताय मेऽमूदियमुन्मदिष्णुता ।

उदेति दोषादपि दोषलाघव कृशत्वमज्ञानवशादिवेनम ॥ १३२ ॥

जीवातु—अयोगजामिति । इयमुन्मदिष्णुता उन्मत्तता । 'अलङ्कृ' इत्या-

विना इच्छन्त्यम् । मे हितायोगशारावानूत् । कृत्, अयोगजा विदो गे पा  
वेदना नान्वनवम् । तथा हि—अज्ञानवशात् अज्ञानवशादेनस पापस्य कृत्  
ज्ञानवृत्तापेक्षयान्त्रिमिव दोषादुन्माददोषादपि दोषस्य विमोघदुःखस्य लाघव-  
नन्पत्वमुदेति तस्माद्दोषोऽपि कदाचिदुपक्रमेतीति भावः ॥ १३२ ॥

अन्वयः—इयम् उच्यते हिताय अन्वत्, अयोगजा वेदना न  
अन्वमवम् अज्ञानवशात् एतस्य कृत्त्वम् इव दोषात् अपि दोषलाघवम् दर्शयति ।

हिन्दी—यह उन्माद मेरे ( भड के ) हित का निमित्त हुआ, क्योंकि  
( इसमें ) विमोघजन्य व्यापा का अनुभव न हो पाया । अज्ञान में हुए पाप की  
अन्यता के शुभ्य दोष से भी दोष की अन्यता उभय होती है ।

टिप्पणी—नरु को उन्माद की अवस्था में रहा, उसे भी उसने गुण माना,  
क्योंकि उस स्थिति में उसे दमयन्ती के विरोग की व्यापा का अनुभव नहीं  
हो सका । कभी-कभी दोष भी दोष को छोटा बना देता है और इस प्रकार  
गुण बन जाता है । अज्ञान भी दोष है और पाप करना भी, परन्तु अज्ञान =  
किया पाप उतना बड़ा नहीं माना जाता, जितना कि ज्ञान रहते किया जाय ।  
इस प्रकार अज्ञान-दोष पाप-दोष को छोटा बनाने वाला हुआ और गुण बन  
गया । ऐसे ही उन्माद-दोष विरह-वेदना दोष को छोटा बनाने वाला प्रमाण  
हो, गुण बन गया । विद्यापार के अनुसार उन्मादकार ॥ १३० ॥

तन्व्ययोगस्मरमावकोऽपि मे कदर्यनात्यर्थतयागमद्वयम् ।

प्रज्ञानमुन्माद्य यदद्य कारग्रन्थमात्मनो मामनुकम्पते स्म स ॥१३१॥

जीवानु—उच्यते । हे प्रिये ! शरीर्य तव कदर्यनामा मदीयाप्रियोक्तिर-  
कृत्मानानामन्यर्थतया अयात्रिवेदे हेतुना मे नम सम्बन्धि जययोगो य स्मरमावक-  
कानाग्नि मोर्ति दयाममनश्च दयातुरभूदित्यर्थः । यद्यस्मादद्य स कानाग्नि  
( प्रयोक्त्रकर्ता ) उन्मात् मानुमन कृत्वा मया प्रयोग्येन आत्मनो मत्स्वदनस्य  
प्रकाश प्रकाशन कारयन् त्वामनुकम्पते स्म । तस्मात् कामाग्नेरपि दयान्ते-  
त्युपदेशः । किं कृत्वा उन्मादप्रसादात् उन्मादप्राया कृतार्थो स इति तात्पर्य-  
मर्थः ॥ १३३ ॥

अन्वयः—इति तव कदर्यनात्यर्थतया मे अयोगस्मरमावक अपि दयाम्

लगमत्, यत् अथ उन्माद्य मया आत्मनः प्रकाशं वारयन् सः माम्, अनु-  
कम्पते स्म ।

हिन्दी—इस प्रकार ( पूर्वश्लोकोक्त कारण से ) तुम्हारी ( दमयन्ती की )  
पीडा की अतिशयता से मेरे वियोगकामानल ने भी दया की, जो आज उन्मत्त  
परके मेरे द्वारा आत्म प्रकाश कराते उस ( वियोगस्मरपावक ) ने भी मुझ  
पर कृपा की ।

टिप्पणी—दोष के गुण होने का एक और उदाहरण नल ने दिया ।  
दमयन्ती की अधिशय पीडा, दमयन्ती नल का बहना वियोग कामानल, नल  
द्वारा आत्म नाम प्रकाशन—ये सब दोष हैं, किन्तु ये भी गुण बन गये ।  
दमयन्ती के पीडाधिक्य के कारण, उत्पन्न विरहकामानि ने नल को उन्मादी  
बना दिया, जिससे भाविन हुआ उसने स्व नाम प्रकाशन किया, जिससे नल को  
पहचान कर दमयन्ती के प्राणों की रक्षा हुई और नल को भी । दमयन्ती के  
न रहने पर नल की मृत्यु भी हो जाती । इस प्रकार ये सब दोष परस्पर कारण-  
भूत होने हुए दमयन्ती नल को आत्मरक्षा-रूप गुण बन गये । महर्षिनाथ के  
अनुसार उन्मत्ता, विद्याधर के अनुसार अतिशयान्ति अलङ्कार ॥ १३१ ॥

अमा समीहैकपरास्तवामरा. स्वकिङ्कर मामपि कर्तुमीक्षिपे ।  
विचार्य कार्यं सृज मा विधान्मुखा कृतानुतापस्त्वयि पाणिविग्रहम् ॥

जोदानु—अमी इति । अमी अमरास्तवसमीटाया त्वत्कृतानुरागे एवंपरा  
एकाग्रास्ते च त्वामपेक्ष ते इत्यर्थः । त्वच्च मामपि स्वकिङ्कर निजदास कर्तु-  
मीक्षिपे शक्नोषि अपि शब्दात्तानपीत्यर्थः । 'ईदं ते' इतीडागमः । किंतु  
विचार्य विमृश्य कार्यं सृज उत्पादय । अतः अनुताप पश्चात्ताप कृत सर्व  
स्वयि पाणिविग्रह पाणिग्राहककृत्य मुखा माविधात् माकार्षीत् । अविमृश्य-  
करणात्पश्चात्तापस्ते मा भूदित्यर्थः । विपूर्वाद्घातेर्लुङि 'न माङ्घोष' इत्यङ-  
भावः ॥ १३४ ॥

अन्वय —अमी अमरा सब समीहैकपरा, माम् अपि स्वकिङ्कर कर्तुम्  
क्षिपे, विचार्य कार्यं सृज, कृतानुताप त्वयि पाणिविग्रह मुखा मा विधात् ।  
हिन्दी—ये देव तुम्हारी ही आवाजा कर रहे हैं, ( तुम दमयन्ती ) मुझे

भी अपना दास बनाना चाहती हो, ( सो ) बिना कच्चे व्या करो, पश्चात्ताप तुम पर बीठेसे प्रहार करने वाले शत्रु के समान ब्रूया विरोध न करे।

टिप्पणी—नल ने बताया कि समझा कुछ कठिन है। देव दमयन्ती की इच्छा के विरुद्ध उसके अग्रिमतापी हैं, वह नल को बरना चाहती है, नल ने भगिमा से अपनी अभीप्सा भी प्रकट कर दी। देवों के क्रुद्ध हो जाने पर अनिष्ट समझ है। उचित यही है कि कार्य करने के पूर्व अच्छी तरह परिणाम पर विचार कर लिया जाय, अन्यथा पड़ना पड़ सकता है। पश्चात्ताप 'पारिष्वाह' अर्थात् पीठे रहकर बार करने वाले शत्रु के तुल्य है, उससे सावधान रहना चाहिए। भाव यही है कि बिना विचारे निर्णय मत लो, इससे पश्चात्ताप होगा। विद्याधर के अनुसार टंकानुशास अतिशयोक्ति ॥ १३४ ॥

उदासितेनेव मयेदमुद्यम मिया न तेन्य स्मरतानवान्वा ।

हितं यदि स्यान्मदमुद्यमेन ते तदा तव प्रेमणि शुद्धिलब्धये ॥१३५॥

जीवानु—एतच्च माध्यस्थेनैवोच्यते न तु पक्षपातेनत्याह—उदासितेति । उदासितेनीदासीयेन माध्यस्थेनैवोच्यते, नावे सत् कर्तारि वा । उदासितेन मध्यस्थेनैव मया इदं पूर्वोक्तमुद्यमे । बवे कर्मणि नति यदि 'वचस्विपी' त्यादिना सम्प्रसारणम् । तेन्य सुरेन्य मिया वा स्मरतानवात् कामप्रयुक्तकास्यान्ना न । युवादिवाद्यप्रत्यय । स्याद्विमृश्य कृत्विति भाव । जय विमृश्यैव कुर्वे त्वद्वरणमेवेति निश्चयस्तथाह—मदमुद्यमेन मत्प्राप्तसमर्पणेन ते तव हितं पश्य प्रिय यदि स्यात् । यदा मत्प्राप्तसमर्पणमिति शेष । तव प्रेमणि विषये शुद्धिलब्धये जानृम्यल्लभाय नवति । त्वत्तुतानुरागोपकारस्य प्राप्तसमर्पणमेव प्रत्युपकार इति भाव ॥ १३५ ॥

अन्वय—उदासितेन इव मया इदम् उद्यमे, तेन्य मिया न, स्मरतानवात् वा न, यदि मदमुद्यमेन ते हितं स्यात् तदा तव प्रेमणि शुद्धिलब्धये ।

हिन्दी—मैं जो कह रहा हूँ ( पूर्वोक्त श्लोक में ), वह एक तटस्थ ( मध्यस्थ ) व्यक्ति की दृष्टि से, उन ( देवों ) से डरकर शयवा कामदेव तनुता ( कृतता ) के कारण नहीं ( अथवा देवों के अथवा स्मरतनुता के मय से नहीं ) । यदि मेरे प्राणों के ध्वय से तेरा ( दमयन्ती ) का कल्याण हो सके तो वह तेरे प्रेम में शुद्धि ( सत्यभाव अथवा अनृणता ) की प्राप्ति के निमित्त ।

टिप्पणी—नल ने स्पष्ट कर दिया कि उसने दमयन्ती के समुख जो देवों के बग्ने अथवा स्वयम् नल को ही बरने में विचारपूर्वक निर्णय लेने का प्रस्ताव ला है, वह एक सदस्य की समिति है, जिसका किसी पक्ष के प्रति बल नहीं होता—एक निष्पक्षपाती की समिति। इससे यह न समझा जाय कि नल देवों से अथवा कामपीडा से आतंकित हा ऐसा कह रहा है। दमयन्ती के प्रति अनुराग भी उसका कम नहीं है। पर नल दमयन्ती का हित चाहता है। उसका कल्याण जिसमें हो, वह करे। नल का प्रेम स्वार्थी नहीं है, नल दमयन्ती के कल्याणार्थ अपने प्राण देकर अपने प्रेम की शुद्धता प्रतिपादित करेगा, उससे उसका प्रणय ही अणुमुक्त हो जाय। मन्वा प्रेमी अपने प्रेमाश्रय के हित के लिए प्राण देने में नहीं चूकता, इससे विस्तृत उसे प्रेम में बलि देकर प्रसन्नता ही होती है। नल की भी यही स्थिति है, वह दमयन्ती के हितार्थ सबस्व त्याग सकता है—कम समिति भी, प्राण भी। दमयन्ती ने असूख्य दुर्लभ प्रणय देकर जो नल पर प्रेम फैला दिया है, उसको अणु प्राण देकर भी चुकाने को, गौरव और हर्ष के समान, नल सचत हो। विद्यापति के अनुसार ऐकानुप्रास-अतिशयोक्ति-उपमाश्रय ॥ ३३० ॥

इतीरितैर्नैपथसूनुतामृतं विदमं जन्मा भूयमुल्लास सा ।  
 शृतीरविश्री शिशिरानुजन्मन पिकस्वरैरुद्विग्वरैर्यया ॥ ३३१ ॥  
 जीवातु—इतीति । इतीत्यमीरितैर्नैपथसूनुतामृतं सृजितं सरयप्रिय-  
 आर्ष्यरेवामृतं सा विदमं जन्मा वंदर्भी शिशिरमनु जन्म यस्य तस्य शिशिरानु-  
 जन्मन शिशिरानुतरमाविन शृतीर्वसन्ततोरधिका धीदूरविकस्वरैरतिश्लाघ्यं  
 पिकस्वरैर्यया कोविलकूजितैरिव भृशमुल्लास जहर्ष । अथ सूनृतानामुपमान  
 भूयकोविलालापवत्तादात्मिकत्वेनातिश्राव्यस्थोतनार्थं वसन्तस्य शिशिरानुजन्म-  
 रत्नेन व्यपदेश ॥ ३३१ ॥

अन्वय—शिशिरानुजन्मन शृती अविश्री यथा दूरविकस्वरं पिकस्वरं  
 ( तथा ) सा विदमं जन्मा इति ईरितं नैपथसूनुतामृतं भृशम् उल्लास ।

हिन्दी—शिशिर के अनन्तर उत्पन्न होने वाले शृती ( वसन्त ) की प्रचुर-  
 यामा दूर तक फैलित होने कोविल के स्वरों से जिस प्रकार विशेष उल्लसित  
 होती है, उसी प्रकार वह वंदर्भी ( विदमोप्यन्ना दमयन्ती ) इस प्रकार

( १३१-१३५ लोकोक्त ) कहे निषधराज ( नल ) के सत्यवचनानुत से अत्यन्त सन्तुष्ट को प्राप्त हुई।

टिप्पणी—वसन्तश्री की विशिष्टता कोविन्स्वर से पृष्ठ होती है, इसी प्रकार दमयन्ती को प्रिय के सत्य और दृढ प्रेम से मुक्त वचन मुधाधारात्मक आनन्दशायक लगे और वह प्रसन्नता से बैठे नाच उठी। विद्याधर ने छेछा-मुद्रासु और उरमा का निर्देश किया है। मन्त्रिनाथ की टिप्पणी है कि इस श्लोक में मृग ( सद्बचनों ) को कोकिलालाप के सदृश कहा गया है, इस तादात्म्य के द्वारा उनकी अत्यन्त श्रवणीयता प्रतिपादनाय शिशिर के अनुग्रहमा-लन में वसन्त का निर्देश किया गया है। शिशिराच्छादित प्रकृति वसन्त में रमणीयतर हो जाती है। शिशिर का मृगारण, तदनन्तर वसन्तश्री। नारायण का कथन है कि पिकम्बर से समानता बताकर नल के वचनों का कामोद्दीपक होना सूचित किया गया है। भाव यही है कि तुषाराच्छादित नलिनी की भाँति मुरझायी दमयन्ती नल-वचनानुतवाचनों को पाकर उत्लसित हो गयी ॥

नल तदावेत्य तमाशये निजे घृणा विमानच्च मुमोच भीमजा ।

जुगुप्समाना हि मनो द्रुत तदा सतीषिया दैवतद्रुतधावि सा ॥१३७॥

जीवानु—नलनिति । तदा नलस्य स्वरूपगोपनकाले दैवतद्रुत धावति प्रवर्तत इति दैवतद्रुतधावि यथा तथा द्रुत मनः सतीषिया पतिव्रतात्वामिमानेन हेतुना जुगुप्समाना भीमत्समाना भीमजा तदा नलस्य स्वरूपकथनकाले त द्रुत नलमवेत्य बुद्ध्या निजे आशये घृणा परपुरुष इति जुगुप्सा विमानमात्मनिन्दा च मुमोच ॥ १३७ ॥

अन्वय—तदा त नल निजे आशये अवस्थ तदा दैवतद्रुतधावि द्रुत मनः सतीषिया जुगुप्समाना सा भीमसुता घृणा विमान च मुमोच ।

हिन्दी—तब ( नल के प्रकट हो जाने पर ) उस नल को अपने मन में समझकर उस समय ( नल के स्वरूप प्रकट न होने पर ) देवा के द्रुत के प्रति दौड़ने वाले चञ्चल मन को सती ( प्रतिव्रता नारी ) की दृष्टि ने घृणित मानती उस भीमपुत्री ( दमयन्ती ) ने ( मन के प्रति ) घृणा और निंदा की भावना का प्रकट्याग कर दिया ।

टिप्पणी—जब तक दमयन्ती को यह ज्ञान न हुआ था कि देवद्रुत के रुन

क्योंकि दम्पन्ती अग को कदव कहा गया । विद्याधर ने अतिशयोक्ति और भावोदय अलंकार का निर्देश किया है ॥ १३९ ॥

मयेव सत्रोध्य नल व्यलापि यत्स्वमाह मद्वुद्धमिद विमृश्य तत् ।

असाविनि भ्रान्तिमसाददमस्वमु स्वभाषितस्वोद्भ्रमविभ्रमक्रम ॥१४०॥

जोवातु—मयेति । मया नलमेव सत्रोध्य व्यलापीति यत् तदिदं मद्विलपित विमृश्यालोच्यासौ नल मद्वुद्ध स्वसम्बोधनलिङ्गेन मया ज्ञातमेव स्वमात्मानमाह । 'स्वो ज्ञातावात्मनि स्वम्' इत्यमर । अनया ज्ञातस्य मे किं गोपमनेति मत्वा नलोद्भृमिति कथितवानित्यर्थः । आहेति भूते गल्न्तभ्रमादिति वामन । अत्र तु वर्तमानतामीप्याह गतिरिति । दमस्वसु या भ्रान्तिस्ता भ्रान्तिमसौ नल स्वेन भाषित कथित स्वोद्भ्रमविभ्रमाणां स्वोन्मादविलमितानां क्रम 'अये प्रिये' इत्यादिस्लोकोक्तप्रकारो येन स सद् असाद् असासीद् अचछैत्मीदित्यर्थः । स्पनेलुङि 'विभाषा घ्रावेदशाच्छास' इति वा मिचो लुक् । उमादादात्मप्रकाशनमिति नलवाक्यादेवावगमात् स्वेन ज्ञात्वा दूतभ्रान्तिनि वसोत्यर्थः ॥ १४० ॥

अन्यथ—मया एव नल सत्रोध्य यत् व्यलापि तद् इदं विमृश्य असौ मद्वुद्ध स्वम् आह स्वभाषितस्वोद्भ्रमविभ्रमक्रम दमस्वसु इति भ्रान्तिम् असाद् ।

हिन्दी—मैंने ( दम्पन्ती ने ) ही नल को संबोधन करके जो विलाप किया, उसका विचार करके इस ( नल ) ने मेरे द्वारा ज्ञात अपने को प्रकट किया,—स्वकथित को अपने उमाद की विलासलीला बताकर दम की नगिनी ( दम्पन्ती ) के इस भ्रम को नल ने दूर किया ।

टिप्पणी—नल ने आत्मप्रकाशन किया । दम्पन्ती ने समझा कि उसने जो विलाप ( १।८८ १०० ) किया, उससे द्रवीभूत हो उस नल ने अपने को प्रकट कर दिया ( १।१०१ ) । नल ने कहा कि यह भी समय लिया या कि जब दम्पन्ती उसे पहिचान ही गयी तो छिपाने से लाभ भी क्या ? और अपना नाम बता दिया—'पुरस्वयालोकि नमन्नय न कि नल ?' पर नल ने यह कहकर कि उसने आत्म प्रकाशन करने अच्छा नहीं किया, यह सब मोहमयोनिर्मित ( मोह में पड़कर ) हुआ ( १।१२२-१२७ ), दम्पन्ती ने

उत्पुङ्गव भ्रम को दूर कर दिया । नल ने स्पष्ट कर दिया कि उसने दमयन्ती के समुक्त वात्सल्यकाज आत होकर किया, और इन्से दमयन्ती को तुष्टि हुई कि उसके अमिनायकनित भ्रम के कारण नल ने अपना नाम कह डाला । विद्याधर, के अनुसार उल्लेख्य अलंकार छंदानुप्रास ॥ १६० ॥

विदमरा प्रमदा ततः पर त्रपामञ्जी वक्तुमन् न सा नलम् ।

नुरम्भमूचेर्जमिन्नु यदत्रपा भमग्ज तेनैव महाहृदे ह्रियः ॥१६१॥

जोशानु—विदमंति । सा विदमराजप्रमदा वैदमी तत पर नलोप्यमिति ज्ञानानन्तर त्रपाया मती रुज्जिता सती नल वक्तु साक्षात् सम्भाषितु नाल न शक्य । श्रुत, पुर पूर्वमत्रपा निष्पत्ता सती त मलममिमुख यथा तथा कथं नति यत् तेनैव हेतुना ह्रियो महाहृदे महति रुज्जाहृद इत्यर्थ । घटस्य रूपमिति वत् कथञ्चिद्भेदनिर्देश । ममग्ज मग्ना ॥ १४१ ॥

अन्वयः—तत पर सा विदमराजप्रमदा त्रपासखी नल वक्तुम् अल न, पुर अत्रपा यत् तम् अमिमुखम् कथं तेन तव ह्रिय महाहृदे ममग्ज ।

हिन्दी—तत्पश्चात् ( नल-निश्चय के अनंतर ) वह विदमराज की पुत्री ( दमयन्ती ) लज्जा की मित्र ( रुज्जित ) हो नल से वार्तालाप करने में समर्थ न हो सकी, पहिले ( मल ज्ञान न होने पर ) लज्जाहीन हो जो उस ( नल ) के समक्ष कह गयी थी, उससे ही लज्जा के विचार लालाव में डूब गयी ।

टिप्पणी—जब तक दमयन्ती को यह निश्चय नहीं था कि यह दूत नल है, तब तक दमयन्ती उसे दूत समझ प्रायः, रोष आदि से सबद्ध ऐश्वरी अनेक बातें कह गयी थी, जिन्हें एक कुमारी बाला सामान्यतः न कह पाती । अब जब यह निश्चय हो गया कि यह नल ही समुक्त है, तब उसे उस सबका विचार कर बड़ी लाज लगी कि वह क्या क्या बक गयी ? अब रुज्जित हो वह नल से कुछ बोल ही न पायी । थोड़ी लज्जा होने पर तो कदाचित् कुछ कह नो पाती पर वह तो लज्जासागर में ही डूब गयी थी । कुछ न बोल पायी । लज्जा दमयन्ती की समी जो थी, वह पल भर की श्रीकण्ठ उसे छोडती ? विद्याधर के अनुसार विरोधानास अलंकार ॥१४१॥

नदापनार्यापि न दातुमुत्तरं शशाक मत्या धवसि प्रियाय सा ।

विहस्य सत्येव समन्वोत्तदा हिपाघुना मौनघना भवत्प्रिया ॥१४२॥



जीवानु—यदेति । सा नैमी, यदा अपवार्यं व्यवधायानि सख्या धदसि  
 धोत्रे प्रियायौत्तर दातु न शक्याक तदा सख्येव विहस्य त नलम्बवतीत् । किमिति  
 अधुना भवन्प्रिया नैमी ह्रिया मौनधना बद्धमोना, न तु बैराग्याद्द्वेषाद्देति  
 भावः ॥ १४२ ॥

अन्वय—सा यदा अपवार्यं अत्रि सख्या धदसि प्रियाम उत्तर दातु न  
 शक्याक तदा सखी एव विहस्य तम् अद्भवीत्—अधुना भवन्प्रिया ह्रिया मौनधना ।

हिन्दी—वह ( दमयती ) जब बाढ का सहारा लेकर भी अपवा मूँह को  
 कुछ तिरछें करके सखी के कान में भी प्रिय ( नल ) को उत्तर देने में समर्थ  
 न हो पायी, तब सखी हो हसकर उस ( नल ) से बोली कि अब धारकी  
 प्रिया लज्जा से मौन हो गयी है ।

टिप्पणी—सामान्यतया अभिजात नारिया—रानिया, राजकुमारियाँ  
 आदि अपनी दासियों और सखियों के भाष्यम द्वारा पुरुषों से वार्तालाप किया  
 करती थीं, किन्तु लज्जाविक्रम के कारण दमयती उस समय ऐसा भी न कर सकी  
 जैसा कि वह पहिले कर चुकी थी ( नै० व० १।३० ) । तब उसकी सखी ने  
 स्पष्ट कर दिया कि नल की प्रिया दमयन्ती किसी विराट् अपवा द्वेष के कारण  
 नहीं, अपितु लज्जा के कारण चुपची साध बैठी है । यह सखी का परिहास भी  
 है कि पहिले तो दमयन्ती इतना सब कह गयी, अब विचित्रलिखित जैसी—  
 अपवा पुस्तिका जैसी चुप बैठी है । 'अश्वाम कथन' अर्थात् 'अपवारित'  
 एक प्रकार की विचित्र घेली की नाट्योक्ति होती है, जिसे 'गूडभावसुक्त  
 वचन' कहा गया है । धनञ्जय ने (दशरूपक १।६३-६६) अपवारित को 'नियत-  
 आत्म', अर्थात् विचित्र व्यक्तियों के द्वारा सुनी जाने योग्य उक्ति का एक  
 भेद माना है । अपवारित अर्थात् मूँह फेर कर कहना । दमयती ने ऐसी घेली  
 का भी उपयोग न किया, इतनी अधिक लज्जा रही थी वह । विद्याधर के  
 अनुसार अतिशयोक्ति बलकोर ॥ १४२ ॥

पदातिषेर्माँल्लिखितस्य ते स्वय वितन्वती लोचननिर्लसामियम् ।

जगाद या सैव मुखान्मम त्वया प्रसूनबाणोपनिषन्निशम्यताम् ॥१४३॥

जीवानु—यदेति । इय भवन्प्रिया लिखितस्य चित्रमतस्य ते पश्योरात्रि  
 मयानतिषिपु छावन् पाद्यभूतानि-यम् । 'पश्यतिषिवसतिस्वपतेर्द्रु' । लोचन-

निर्नरां बाष्पपूरान् वितन्वती या प्रनूनवापोननिपद कानरहस्य जगद  
त्वदागमात् प्राणिति क्षेप सुद प्रनूनवापोननिपन्न मुञ्जात् त्वया स्वयं  
निशम्यता श्रूयताम् ॥ १४३ ॥

अन्वयः—इय लिखितस्य ते पदाश्वेदान् जेदननिर्नरान् वितन्वती या  
जगद, मा एव प्रनूनवापोननिपद त्वया मम मुञ्जात् निशम्यतान् ।

हिन्दी—यह ( दमयती ) चित्र में अग्नि तुम्हारे ( नर के ) चरणों के  
आनिदेय ( अतिपि-मत्कार के निमित्त पाद्य-चरणोदक ) नैनों के निर्तरों  
( आँसुओं ) का प्रसार करती जिसे बोली थी, वहाँ वृन्मुमवाण ( काम ) की  
उपनिपत् ( कामरहस्य ) तुम मेरे ( सखी के ) नज़ ने सुनी ।

टिप्पणी—दमयन्ती के एकदम चुन्नी साज लंने पर उसकी क्षतरण सखी  
ने समयोचितता को ध्यान में रखकर नष्ट से कहा कि इस समय दमयन्ती तो  
हुछ बोलेगी नहीं, किन्तु पहिले नर के चित्र के समुच्च अधुषारा बहारी  
कानाहुँत की प्रशयिका जिस उपनिपत् अर्थात् कामरहस्य का वह उद्घाटन  
दिया करती थी, वही अब यह उसकी क्षतरण सखी बजाती है । नर को उसे  
ही सुनना चाहिए । उपनिपद जयति बहारहस्य प्रतिपादक ग्रन्थविशेष ।  
यहाँ काम-ब्रह्म के रहस्य प्रतिपादक ज्ञाताप को उपनिपद कहा गया । यह भी  
भाव है कि दमयन्ती ने यह, जो भी कहा था, कानपीडित होने से कहा था ।  
विषाघर के अनुनार अतिशयोक्ति ॥ १४३ ॥

अनात्र स त्वयि हस एव मा शमम न त्वद्विहान्मशयाम् ।

क्व नन्दवशस्य वनन ! मृदयान्नुशसना ममविनी भवादृगे ॥ १४४ ॥

जीवान्—अशयमिति । हे चन्द्रवशस्य वनसावतम् । 'वष्टि वातुरिरल्लो-  
पनवापोधनसर्वायो' इत्यकारलोप । स हस त्वद्विरहेऽपातनशया प्राप्तप्राय-  
सदृहा मा त्वयि विषये न शययैव अशययम् । जयया भवारथे त्वद्विधे  
'त्यशदिषु' इत्यादिना कञ्प्रत्ययः । 'आ सर्वनाम्न' इत्याकारादेशः । मृदयाद्धे-  
तानृशमता घातुकत्व स्त्रीवधपातकित्वमिति यावत् । 'नृशयो घातुक' कूर'  
इत्यमरः । क्व सम्मविनी सम्मवति न क्वापि नम्मविनेत्यर्थः । मज्जनस्य  
दयानिधेश्च नेत्यकार्यं युक्तमिति भावः ॥ १४४ ॥

अन्वयः—स हस एव त्वद्विरहाप्तसद्यया मा त्वयि असशय न दाशस चन्द्रवदस्य अवनस, भवाद्यो मदघात नृशसता क्व समविनी ?

हिन्दी—उस हस (स्वर्णहम) ने ही तुम्हारे (नल) के वियोग के कारण जिसका जीवन सदायास्य हो उठा है, ऐसी भुञ्जको तुम (नल) ने मि मदेह नहीं कहा, अन्यथा हे चन्द्रकुल के अलवार (नल), आप जैसे (श्रेष्ठपुरुष) में मेरे (नारी दमयती के) वध की निदयता कहा सम्भव है ?

टिप्पणी—दमयती जो जो कहा करती थी, उसे सखी ने तेरह श्लोका (१४४-१५६) में बताया। उसने बताया कि विरह-पीडिता दमयती कहा करती थी कि जो स्वर्णहस नल दूत के रूप में दमयती के पास आया था, उसने मि सन्देह नल के पास लौटकर उन्हें नहीं बताया होगा कि उसके विरह में सत्तस दमयती के प्राणों का भी सशय हो गया है, ऐसी दुःसह व्याधा है उसकी। यदि हस ने नल को बताया होता तो चन्द्र जैसे अमृतकिरण बर पा अवतस नल क्या कभी प्रिया की रक्षा करने न आता ? पुष्पश्लोक नल तो निर्दोष पुरुष का वध भी नहीं कर सकता, वह यदि सूचित होता तो व्यर्थ स्त्रीहत्या का कारण क्यों बनता ? निश्चय ही दमयती की पीडा हतदूत ने नल को नहीं बताया। वह ऐसा निर्दय हो ही नहीं सकता। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और हेतु अलवार ॥ १४४ ॥

जितस्त्वयास्येन विधु स्मर श्रिया कृत्प्रतिज्ञी मम तौ वधे कुत ।

तवेति कृत्वा यदि तज्जित मया न मोघसङ्कल्पधरा किलामरा ॥१४५॥

जीवातु—जित इति । विधुश्चन्द्रस्त्वया आस्येन जित । स्मर. श्रिया सौन्दर्येण जित । कुत कारणात् तौ विधुस्मरौ मम वधे कृतप्रतिज्ञौ त्वयि जेतारि स्थिते निरपराधा मा किमिति मारयत इत्यर्थः । अथ तवेति त्वदीयेति कृता यदि तत्तर्हि मया जित त्वा विना जीवनाभावात् भरणमेव मे प्रियमित्यर्थः । सेत्स्यति चेत्तदित्याह अमरा मोघसङ्कल्पस्य धरन्तीति धरा, 'पचाद्यच्' । किल । सत्यसङ्कल्पा सन्तु देवा, देवी च विधुस्मराविति भावः । अत्र नलाद-कारासमर्थयोर्विधुस्मरणास्तदीयजनापकारकचनात् प्रत्यनीकालङ्कारः । 'वलिन प्रतिपक्षस्य प्रतीकारे मुहुर्करे । अस्तद्दोषतिरस्कार प्रत्यनीक तदुच्यते ।' इति लक्षणात् ॥ १४५ ॥

अन्वयः—तथा ज्ञात्वेन विदुः प्रिया स्मरति, कुत तौ नन वने  
कृतमिदं ? यदि इति त्वं कृत्वा तत् मया वित्तम्, जनस्य मोक्षद्वन्द्वना  
किं न ।

हिन्दो—तुम ( नन ) ने मृषा में चन्द्र को जो सोना से काम को जान  
लिया है, किम कारण वे दोनों ( चन्द्र-काम ) मेरे वन के लिए प्राप्ति  
बैठे हैं ? यदि ऐसा ( प्रा ) तुमको करके ( मृषा को प्रिया होने के मन्त्र से )  
है, तो मैं जीत गयी क्योंकि देव दिष्ट्य सक्त्य-धारण ता निश्चयन गरी  
करने ।

टिप्पणी—विरहिणी दमयन्ती का चन्द्र और काम दोनों कह रहे हैं,  
जैसे वे उमर्का हाना करना चाहते हैं । मन्त्र ने दोनों को पराजित किया है ।  
मुझ सोना से चन्द्र को जीत करीर मननना मे काम को । वे जो दमयन्ती के  
प्राप्तिवा धनु हा रहे हैं, वह इस कारण कि मन्त्र पर तो उनका वन काम  
नहीं बर उसकी प्रिया दमयन्ती के प्राप्ति लेकर उसका प्रतीकार लें । दमयन्ती  
सोचती थी कि यदि यह मन्त्रावना ठीक है तो दमयन्ती की जीत सुनलिये, क्योंकि  
देवों का सक्त्य—मानस-विवार मूढा हा गरी सकता । उन्होंने दमयन्ती का  
मन्त्र प्रिया मान लिया ता यह मूढा हो ही गरी सकता । दमयन्ती मन्त्र-प्रिया  
होगी ही । दमयन्ती की जीत गरी कि वह मन्त्र-प्रिया बने । यह भी मन्त्र  
है कि मन्त्र ने वित्त चन्द्र-काम को जने उदरवा से ही जीत लिया, ता  
उसको धर्माग्नि, ता जीत गरी लेगी । मन्त्रिणाप के अनुसार यही प्रतीकार  
बलकार है, वना कि मन्त्र के अनुसार मे असमय चन्द्र-काम का कथन उस मन्त्र  
की प्रिया के अनकारक रूप में हुआ है । प्रतीकार का लक्षण है, कि कि मन्त्र  
मन्त्रिणी का प्रतीकार मुकुट हा पर उनसे सबद का विस्तार । विद्वान्  
के अनुसार प्रतिपद्य-के-प्रतीकार-क-प्रतीकार प्रतीकार ॥ १५५ ॥

विवाग्निद्वन्द्वद्वन्द्वमन्त्रिणी विप्रवाग्नि लब्धनोन्वयम् ।

त्वदाम्यना कान्यनि नात्रानि कि वधूवनेन पुनः क्लृप्तम् ॥ १५६ ॥

जीवान्—निवेदि । विप्रवाग्नि विप्रवाग्नि निर्दम्य मन्त्रिणी-  
रन्ध्र मन्त्रिणी-लब्धनोन्वय त्वद्वन्द्वनोन्वय 'विप्रवाग्नि' । मुक्त  
वधूव वाग्नि, नन्मुक्तान्मार्थनि शेष । तथा हि-हे प्रिये ! वधूवने

मद्वधपातकेनैव पुन कलङ्कितं सन् तावतापि मदङ्गमस्मनोन्मार्जनेनापि  
स्वदास्पता त्वत्तुल्यतामित्यर्थः । यास्यति प्राप्स्यति किम् ? न यास्यत्येवेत्यर्थः ।  
अत्र विद्योर्नन्तास्यताम्याय भैरव्यङ्गमस्मनि स्वकलङ्कमार्जनाद्वधवधकलकप्राप्ति-  
कथनादनर्थोत्पत्तिरूपो विषमालङ्कारः ॥ १४६ ॥

अन्वयः—विष्णु निजानुनिर्दग्धमदङ्गमस्मिन् लाञ्छनोन्मूर्जां मुखा वाञ्छति,  
वधूदधेन पुनः कलङ्कितं किं तावता अपि स्वदास्पता यास्यति ?

हिन्दी—चन्द्रना अपनी किरणों में जला डाले मेरे अंगों की भस्म से  
अपने कलक का मार्जन क्यों चाहता है, नारी हृन्पा से फिर कलकित हो  
बया उतने से भी तुम्हारे ( नल के ) मुख के साम्य को प्राप्त कर सकेगा ?  
( नहीं कर सकेगा ) ।

टिप्पणी—भाव यह है कि चन्द्र दमयन्ती को अत्यंत पीड़ित करता है ।  
चन्द्रना है कि वह दमयन्ती को देह जलाकर उसकी राख से माँझ-रगड़ कर  
अपना कलक साफ करना चाहता है । पर, चन्द्र का यह प्रयत्न झूठा और  
बूढ़ा है, क्योंकि राख से मजि तो चन्द्र-कलक मिटेगा नहीं, जिस पर वह  
सोचना है कि कलक हट जाने से नल के मुख की समता प्राप्त कर लेता  
उलटे स्त्री हत्या के पाप से और द्विगुण कण्ठी वह हो जायेगा । मल्लि-  
नाथ के अनुसार इस श्लोक में विषम अलङ्कार है क्योंकि चन्द्र को नलमुख-  
साम्य की प्राप्ति के निमित्त दमयन्ती के अंगों की भस्म से अपने कलक का  
मार्जन करवे नारी वध कलक की प्राप्ति का कथन हुआ है, जो अनर्थोत्पत्ति-  
कर ॥ । विद्याधर न छेकानुप्रास और गतिशयाक्ति का निर्देन दिया है ॥ १४६ ॥

प्रसीद यच्छ स्वशरान् मनोभुवे स हन्तु मा तैर्मुतकौसुमाशुग ।

त्वदेकचित्ताहमस्मिन् विमुख्यती त्वमेव भूत्वा तृणवज्रयामि तम् ॥ १४७ ॥

जीवानु—प्रसीदेति । हे प्रिय । प्रसीद स्वशरान्मनोभुवे कालाय यच्छ  
देहि । 'पाप्मा'—दिना दापी यच्छादय स कामो घृतकौसुमाशुग त्यक्तदुसुम-  
दाणैस्तैस्वच्छंभां हन्तु हिनन्तु । तस्योपयोगमाह अहं त्वय्येकस्मिन्निति यस्या  
ना मती असून् प्रपान् विमुख्यती त्यजन्ती, 'आच्छेदनीयान्' इति विकल्पा-  
न्नुममाव । अत एव त्वमेव भूत्वा, 'य य वापि स्मरन् नावम्' इत्यादिपीना-  
प्रामाण्यादिति भावः । त काम तृणवज्रयामि जेष्यामीत्यर्थः । आश  
साया वर्तमानवत्प्रत्यय ॥ १४७ ॥

अन्वय—प्रतीद, स्वयसार् मनोनुदे यच्छ, धुतवीमुनागुम म तं या हन्तु, त्वदेकचित्ता जम्न् विमुञ्चनी अह त्वम् एव भूवा त तृावत् जयानि ।

हिन्दी—प्रपन्न हो जाओ, अपने ( नल के ) बापों को मनोभू ( काम ) को दे दो, वे कुमुद-बाग छोड़ना वह ( काम ) उन ( बापों ) से मुझे मार डाले, तुम ( नल ) में मन लगाकर प्राण छोड़ती में ( तुम में विलीन हो ) तेरा ही रूप प्राप्त कर लूँ ( काम को ) नृनवत्—बिना श्रम के जीत लूँगी ।

टिप्पणी—पौष्टित्त दमयन्ती चाहती है कि काम उनके प्राण ले ले, पर अपनी बापों से नहीं, नल के हाथ प्रदत्त बापों से । नल के बापों से नल का ही ध्यान करती दमयन्ती यदि मृत्यु को प्राप्त होगी, तो तद्दूर ही हो जाएगी, क्यों कि मरते समय जिसकी भावना जैसी होगी, उसे वैसा ही रूप प्राप्त होगा । नल रूप से पुनर्जन्म प्राप्त करके दमयन्ती काम को जीत ही लेगी अनायास, क्योंकि नल से तो काम नदा पराजित है । यह भी कथना है कि काम के बाग पूरों के हैं जो कोमल होने से वे घातक नहीं हैं, केवल पीड़ा देते हैं । यदि नल लौह बाण उसे दे दे तो उनके प्रहार से घीघ्र मर कर दमयन्ती को व्यथा से मुक्ति मिलेगी और पुनर्जन्म में नल रूप में उत्पन्न हो वह काम-जय करेगी । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और उपमालकार ॥ १४७ ॥

श्रुतिः सुगणा गुणायनी यदि त्वदङ्घ्रिमग्नस्य जनस्य किं तत् ।

स्त्रवे रवेरप्सु कृताप्लवं कृते न मुदनी जातु भवेत् कुमुदनी ॥१४८॥

जीवानु—ननु श्रुतयोगि देवानेव गायत किमिति तत्तेषु वेदवेद्येषु विगानमन आह—श्रुतिरिति । श्रुतिर्वेदोऽपि मुराणा गुणायनी गुणान्तोऽप्येव यदि, कर्तरि लुट्, टिन्वाद् जीप् । त्वदङ्घ्री मग्नस्य स्वस्वरङ्गशरास्य जनस्य स्वस्वेत्यर्थः । तत्र किं तद्वै कोऽयं शल्यः । तथा हि—अप्सु कृताप्लवं कृतावगाहं जनं रवेरवस्थस्तत्रे स्तोत्रे कृतेऽपि कुमुदायस्या सतीति कुमुदती कुमुदिनी, 'कुमुदतड्वेतसेभ्यो इन्नतु' टिन्वे जीप् । जातु कदापि मुदस्यातीति मुदती भौदवती विक्रावती न भवेत्, कथमपीति शेषः । दृष्टान्तालकारो रसगन्तुकम् । १४८॥

अन्वय—श्रुति यदि मुराणा गुणायनी, त्वदङ्घ्रिमग्नस्य जनस्य तत् किम् ? अप्सु कृताप्लवं रवे स्त्रवे कृते कुमुदती जातु मुदती न भवेत् ।

हिन्दी—वेद यदि देवा के गुणों के गायक ( स्तुतिर्त्ता ) हैं, तो तुम्हारे ( नल के ) चरणों में अनुरागी इस जन ( दमयन्ती ) को उससे ( श्रुति देव-गुण गायन से ) क्या प्रयोजन ? ( कुछ भी नहीं । ) । जल में स्नान किये व्यक्तियों द्वारा सूर्य को स्तुति किये जाने पर कुमुदिनी कभी प्रसन्न नहीं होती ।

टिप्पणी—नल ने विविध तर्क देते हुए दमयन्ती द्वारा देववरण को उचित ठहराया था, उसका ही निराकरण दमयन्ती का भाव प्रकट करती दमयन्ती की सखी ने बताया कि देव चाहे जितने श्रेष्ठ हों, दमयन्ती तो नल की एकनिष्ठ अनुरागिणी है, देवों से और उनकी गुण-परवरा से उसे कोई प्रयोजन नहीं । वेदों में अग्नि, इन्द्र आदि देवों की स्तुतियाँ हैं । ऋग्वेद स्तुति प्रधान है । उसकी प्रथम ऋचा 'अग्निमीडे ' इत्यादि अग्नि की स्तुति है । तो यदि यह कल्पमा की जाय कि श्रुतिस्तुत देवों की अवहलना उचित नहीं, तो ठीक नहीं । सूर्य और कुमुदिनी के उदाहरण द्वारा इस स्पष्ट किया गया । सूर्य श्रेष्ठ है, आदि देव है । प्रातः जलाशयों में स्नान कर भक्त उसी की स्तुति किया करते हैं, किंतु चन्द्र की एकनिष्ठ अनुरागिणी कुमुदिनी उन स्तवों की सुनकर सूर्यानुरागिणी नहीं हो जाती । ऐसी ही दमयन्ती की स्थिति है । वह नलानुरागिणी है, उसे वर वर ही प्रसन्न होगी । वस्तुतः बड़ी बात है एकनिष्ठ अनुराग, किसी का अनुराग नहीं, भले ही वह वेद—जगत्पूज्य क्या न हो । किसी के द्वारा किसी का गुणगान सुनकर अन्यानुरक्त जन पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता । मल्लिनाथ-विद्याधर के अनुसार इति अलंकार ॥ १४८ ॥

कथासु शिष्ये वरमद्य न ध्रिमे ममावनन्तासि न भावमन्यथा ।

त्वदगमुत्तामुनयाशु नाथ मा प्रतोपि जीवाभ्यधिक । त्वदेकियाम् ॥

जीवात्—कथास्विति । हे नाथ । शिष्य कथामात्रशेषा सवामि मरिच्य-भीत्यर्थ । शिष्य असर्वोपयोग इति घातोर्द्धवादिकात् प्राप्तकाले कतरि एट् । वर मनाक् प्रियम् अद्य न ध्रिमे न स्यास्ये न जिविष्याभीत्यर्थ । घृष्ट अवस्थाने इति घातोर्द्धवादिकात् प्राप्तकाले कतरि एट् । 'रिङ्श्याम्लिङ्शु' इति रिटा-देश । अथवा जीवेन परीक्षणं मम भावमाशय नावगतासि नावगमिष्यसि, गमेलुंति सिप् । त्वदये शुभ्य मुक्तामुतया त्यक्तप्राणतया आमु मा हे जीवाभ्य-

दिक् । अत एव त्वमेवैको मुक्तो यस्यास्ता त्वदेविका त्वदेव्युरागमित्यर्थं  
शेषिके कपि वायुवत्येकार । प्रतीहि जानीहि ॥ १४९ ॥

अन्वय — कथासु शिष्ये वरम, अष्ट त्रिये न, कथया मम नाव न क्व-  
गन्तानि, नाथ, जीवात्मधिक आमु त्वदर्थमुत्तामुतया मा त्वदेविका प्रतीहि ।

हिन्दी—मैं ( दमयती ) कथाओं में शेष रह जाऊँ ( मर जाऊँ )—यह  
श्रुता है, आज रक्षणी नहीं ( मर जाऊँगी ), अथवा मेरा ( दमयती का )  
आप्य तुम ( नल ) न समझ पाओगे । हे स्वामी, हे जीवितधिक ( प्राणादि-  
शिव नल ), शीघ्र अपने ( नल के ) निमित्त प्राण त्याग करने से मुझे तुम  
स्वैकनिष्ठा ( एक नानुगामिणी ) मानो ।

टिप्पणी—दमयती का आग्रह है कि यदि नल अब भी यह नहीं समझ  
रहा है—नहीं मान रहा है कि दमयती नल की ही अनुरामिणी है, अन्त-  
अपनी निष्ठा नल को उताने के लिए शीघ्र प्राण देने की बात करती है,  
जिससे नल को विश्वास हो सके कि कहीं उसका एक मात्र स्वामी है, प्राणों से  
और जीवन से भी अधिक महत्वपूर्ण है । सभी तों दमयती उनके लिए प्राण  
भी दे देना चाहती है । तृतीय चरण का पाठांतर है—‘त्वदर्थमुत्तामुतया मुनाय ।  
नागयग ने ‘मुनाय का एक अर्थ शोभनस्वामी किया है और ‘मुतया—  
अमुनाय’ पदच्छेद करके अमुनाय अर्थात् प्राणों का स्वामी भी । नाथ यह है  
कि शोभन स्वामी और प्राणों के नाथ का विश्वास प्राप्त करने के लिए एक-  
के समान दमयती भी प्राण देना उचित समझती है । ‘अमुनाय’ का ‘न  
मुनाय’ अमुनाय’ विग्रह करके बुरास्वामी’ भी जय लिया गया है, अर्थात्  
नल अच्छा स्वामी नहीं है । मुनाय तो किसी काय से सेवक का स्वानुराग  
जान लेता है, पर अमुनाय ( बुरास्वामी ) अथवा अमु अर्थात् प्राणों का नाथ  
बिना अनुग्रह के इस एकनिष्ठानुराग की नहीं समझ पावे । सो दमयती अब  
नल के निमित्त प्राण दे देना उचित समझती है । विशाखर के अनुसार  
अद्वितीयोक्ति अन्कार ॥ १४९ ॥

महेन्द्रहेतरेपि रक्षण भयाद्यदयिसाधारणमन्त्रमूद्रतम् ।

प्रभूनवाणादपि नाभरधन क्षप तदुन्धैरवकीर्णिनस्तव ॥ १५० ॥

जीशतु—महेन्द्रेति । महेन्द्रहेतव्यायुषादपि यद्भय तस्माद्रक्षण, ‘भीषा-  
याना भयहेतु’ इति अमादुनयत्रापादानत्वात् पञ्चमी । अयिस्वदिमात्रेष्ट



द्रुमकाण्डानां वृक्षस्त्वानाद्य मण्डल समूहं तृजेद्वि हिनस्ति दहति खल्वित्यर्थः ।  
तृहि हिनाया लट् 'रुधादिभ्यश्च शनम्' 'तृमह इम्' गुणट्त्वादिकार्यम् । विशेषेण  
सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १५२ ॥

अन्वय — बुध लघो लघो एव परे पुर आत्मनेपद उत्तेजन विधेयम्,  
ज्वलन् तृणे ज्वलन् क्रमात् खनु करोषद्द्रुमकाण्डमण्डलं तृणेति ।

हिन्दी—पण्डितों को छोटे-से-छोटे ही शत्रु के प्रति पहिले अपने तेज  
की उत्तेजना करनी चाहिए, अग्नि ( पहिले ) तिनके में जलता हुआ धीरे-  
धीरे ( क्रम में ) निश्चयत सुखे गोबर ( उपले ) और बूझों के लट्ठों को  
जला देना है ।

टिप्पणी—यह समझ कर कि काम पुष्पबाण—सुकुमार अस्त्रधारी  
छोटा, नगण्य बण्डाल है, उसकी उपेक्षा करनी उचित नहीं । ममत्तदार व्यक्ति  
पहिले अपना तेजोमय रूप—बल छोटे शत्रुओं पर ही प्रकट करते हैं, इसी  
क्रम से वे बड़े शत्रुओं का भी नाश कर डालते हैं । उदाहरण है अग्नि का,  
जो पहिले तिरका घास जला, नमरा बण्डे, लकड़ियाँ, मोटे मोटे बूझों के  
रूप-कुण्डे लट्ठे भी नष्ट कर देता है । अतः होने होने से काम की अव-  
गणना ठीक नहीं । मल्लिनाथ के अनुसार विशेष से सामान्य समन्यरूप  
अर्थान्तरन्यास, विद्याधर ने छेकानुप्रास अर्थान्तरन्यास का निर्देश किया है ।

सुरापराधस्तव वा क्रियानय स्वयवरायामनुकम्प्रता मयि ।

गिरापि वक्ष्यन्ति मुखेषु तर्पणादिदं न देवा मुखलज्जयैव ते ॥ १५३ ॥

जीवातु—सुरेति । तव स्वयमेव वृणोतीति स्वयवरा 'वचाद्यच्' । तस्या  
मयि अनुकम्प्रता अनुकम्पित्व 'नमिक्मि' इत्यादिना ताच्छीत्ये गितिप्रत्ययः ।  
मावाधौ तल् प्रत्ययः । अयं क्रियान् सुरापराधं तत्प्रेषितस्यापि भया वृत्तत्वात्  
कोऽपराध इत्यर्थः । अथापराद्धत्वेऽपि मुखेषु तर्पणात् प्रीणनात् देवास्ते मुख-  
लज्जयैव मुखदाक्षिण्येनैव इदमपराधघत्वं गिरापि न वक्ष्यन्ति । अविग्रहात्मन-  
सापि न स्मरिष्यन्तीत्यर्थः ॥ १५३ ॥

अन्वय — वा स्वयवराया मयि तव अनुकम्प्रता अयं क्रियान् सुरापराधः ?

मतेषु तर्पणात् ते देवा मुखलज्जया एव इदं गिरा अपि न वक्ष्यन्ति ।

हिन्दी—अथवा स्वयवरण में सलभना भुक्त ( दमयन्ती ) पर तुम्हारी  
( नल की ) दयालुता—यह चितना-सा देवों के प्रति अपराध है ? ( नहीं

है)। यज्ञों में तर्पण मिलने से वे देव समुत्पन्न होने की लम्बा से ही इसे ( जलराश को ) दाती से भी न कहेंगे ।

टिप्पणी—नन् ने सुनावना की यो कि स्वान्नप्रकाशन कर वह देवा-पराशो बन गया है (१।१०-१२) दमयन्ती की भावना प्रकट करती दमयन्ती की नसी इस कल्पना को निर्मूल बताती है । नन् स्वयवर में पधारें, यह देवा-पराश नहीं है । यदि है भी तो नान्न, जिमका उल्लेख वचनों में भी देव नहीं करेंगे । प्रतिदिन नल द्वारा यज्ञों में तर्पण से नृम हाते देवों को समुत्पन्न होने की सज्जा तो होगी ही, अतः मन में रखना क्या वे तो हम नान्नपराश का मुख से उच्चारण भी न करेंगे । स्वेच्छावन्त अपराध नहीं है, और जब दमयन्ती स्वेच्छया नल का वचन करती है, तो नल का क्या अपराध ? विद्याधर के अनुसार काव्यम् ॥ १५३ ॥

व्रजन्तु ते तेजसि वर स्वयवर प्रसाद्य तानेव मया वरिष्यमे ।

न सर्वया तानपि न स्पृगेद्दया न तेजसि तावन्मदनस्त्वमेव वा ॥१५॥

जीवानु—व्रजन्विनि । अथवा हे नन् ! तें देवा अपि ते तव सम्बन्धिन स्वयवर व्रजन्तु वर साध्वैवैतदित्यर्थ । कुत, मया तानेव प्रसाद्य प्रमुम्नान् कृत्या वरिष्यमे । न च ते दुराधर्पा इत्याह—सर्वया तान् देवानपि दया न स्पृगेदिति न । किं तु स्पृगेदेवमर्थः । सम्भवस्य निषेधनिवर्तने ही नञ्प्रति-पेदी स्तः । तेजसि तावन्मदनस्त्वमेव वा न । छोटे स्वा मदन च बिना न कोऽपि निष्कृप इति भावः ॥ १५४ ॥

अन्वय —तें अपि स्वयवर व्रजन्तु, वरम्, मया तान् एव प्रसाद्य वरिष्यमे, तान् अपि सर्वया दया न स्पृगेत्—न, तें अपि तावत् न मदन वा त्वम् एव ।

हिन्दी—वे ( देव ) भी स्वयवर में पहुँचें, ठीक है, मैं ( दमयन्ती ) उन्हें ( देवों को ) ही प्रसन्न करके ( तुम्हारा-नन् का ) वरण करूँगी । ऐसा नहीं है कि उन्हें किसी प्रकार दया जावे ही नहीं, वे ( देवता ) भी न मदन ( काम ) हैं और न तूम ( नल ) ही ।

टिप्पणी—देवान भी जल्दा है कि स्वयवर में सम्मिलित हो । दमयन्ती कहती है कि उन्हें प्रसन्न और संतुष्ट करके ही वह स्वेच्छया नल का वरण करेगी । देवता संपूर्णतया निर्दय नहीं हैं कि प्रसन्न ही न हों । ऐसा कार्य संसार

के प्राण हर रहा है ( उसी प्रकार कि जिस प्रकार चण्डाल मधु अर्थात् मद्य ( घराबी ) को । मित्र बनाकर और स्वयं भी मधुपान कर घर के बीच घुस जाये और किसी के प्राण हरे ) । उससे तुम्हारी कीर्ति दिग्गत में व्याप्त हो ।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक ( १५१ ) में काम को अनङ्ग चण्डाल और मधु-सखा कहा गया था, उसी को और पुष्ट करती हुई दमयन्ती की सखी ने कहा कि नलानुरागजन्य अतएव नल सम्बन्धी काम निश्चय ही क्रूरबाणो वाला, प्रचण्डबाणवर्षी, छिनागुलि होने से अनङ्ग चण्डाल ही है, इसीसे न तो वह दीखता है, न स्पर्श में आता है । नल से पराभूत है, अनः अगुलि कटायें चण्डाल बन गया है कि अपराध करके भी बर्च जाय कि अगुलि कट कर इसे अपराध का दण्ड मिल गया है । वह काम चण्डाल एक घराबी की भाँति अन्तस् ( हृदय, घर ) में प्रवेश कर वसन्त ऋतु में दमयन्ती की हत्या अवश्य कर डालेगा और नल का घरा अपयश बन चारों ओर फैलेगा कि इसके दास ने एक निरपराधिनी रमणीरत्न की हत्या की है । भाव यह है कि नल सम्बन्धी काम उसकी अनुरागिणी दमयन्ती को प्राणातक पीडा दे रहा है, जिससे उसकी मृत्यु हो जायेगी और नल को अयश मिलेगा, सो नल को ऐसा कार्य करना चाहिए कि दमयन्ती की पीडा का दमन हो और नल को अयश न मिले । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ गम्भीर उत्प्रेक्षा है, क्योंकि चण्डाल-घर्म-दोग्य होने के कारण काम की चण्डालभाव से समावना की गयी है, और व्यङ्ग्य पद का प्रयोग नहीं है । विद्याधर ने अतिशयोक्ति का निर्देश किया है । चन्द्रकलाकार ने अदिवनस्थान और अन्तस् में रूपक, काम-चण्डाल में उत्प्रेक्षा मानकर दोनों का अगामिभाव स्वरूप माना है । मदाक्राता छन्द है, जिसके प्रत्येक चरण में सत्रहवर्ष इस क्रम से होते हैं—१ मगण ( ५५५ ), १ मगण ( ५५१ ), १ नगण ( ॥१ ), २ तगण ( ५५१ ) २ गुह ( ५५ )—मन्दाक्रान्ताम्बुचिरसनसंभो भनी सो यमुग्यम् ॥ १२६ ॥

अथ भीममुवेव रहोऽभिहिता नतमौलिरपत्रपया स निजाम् ।

अमरे ' सह राजसमाजगति जगतीपतिरभ्युपगम्य ययौ ॥१५७॥

जीवातु—अपेति । अथ भीमीवाक्यश्रवणानन्तर जगतीपतिर्नल भीममुवेव

नैम्यैव रहो रहस्यनिहिता निजामात्मनोयाममरं सह राजसमाजस्य राजतभाया  
गतिं प्रातिमनत्रयया स्ववरणलज्जया नतमौलिर्नभ्रमुखा सन् अम्बुपगम्याङ्गीकृत्य  
ययौ । तोटकवृत्तम् । 'इह तोटकमम्बुपिर्न कथित' मिति लक्षणात् ॥१५७॥

अन्तर —अथ स जगतीवति भीमनुवा एव रह अमिहिता निजाम्  
अमरं सह राजसमाजगतिम् अपत्रयया नलनौलि अम्बुपगम्य ययौ ।

हिन्दी—इस ( सब कथन ) के अनन्तर वह जगत्पति ( राजा नल )  
भीमनुवी द्वारा ही एकात में कथित करने देवों के साथ राजनमा में पहुँचने  
को ( इन्द्रादि का कार्य न कर पाने की ) लज्जा से सिर झुका, स्वीकार  
करके चल पड़ा ।

टिप्पणी—अब नल विवश था । उसने स्वीकार लिया कि अमरों के  
साथ उनके प्रतिद्वन्द्वी के रूप में वह भी स्वयंवर-सभा में उपस्थित होगा ।  
इन्द्रादि दिक्पालों का दूतत्व वह सफलता सपना न कर सका, अतः लज्जा  
से सिर झुकाये वह वहाँ से चल पड़ा । विद्याधर के अनुसार सहोक्ति  
अनकार । तोटक छन्द है, जिसके प्रत्येक चरण में बारह वर्ण होते हैं—चार  
सगण ( ॥५७॥ ) ॥१५७॥

श्वन्तम्याः प्रियमाप्तमुद्धरयिषो धाराः सृजन्धारया-

नन्नाल्लभ्रकपीलपालिपुष्कैर्वेनस्वनोरश्रुग ।

चत्वारः प्रहराः स्मरानिभिरमूर्त् सा मद् क्षपा दुःक्षपा

तत्तम्या कृपयात्रिंशे विधिना रात्रिस्त्रियामा कृता ॥१५८॥

जीवानु—श्व इति । श्व परेऽहनि प्रिय नलमाप्तमुद्धरयिष सन्तद्वबुद्धे ।  
अत एव स्याद् प्रवाहवेगान्नन्नाल्लभ्रकपीलपालिपुष्कैर्वेनस्वनोरश्रु-  
गण्डमित्यो पुष्कैरौमाञ्चैर्वेनस्वती वेतसुन्तावली, 'कुमुदतवेतसेम्यो  
दमनुर्, मादुनयायादये' त्वादिना मकारस्य वकार । अधुना धारा आनन्द-  
वाप्यप्रवाहाद् मृजत्वा जनयन्त्यास्तम्य मम्या यद् यस्माद् कारणाद् चत्वार  
प्रहरा अपि चतुर्धाममात्रापीत्यर्थ । सा क्षपा स्मरानिभि स्मरपीडानिर्दु क्षपा  
दुर्निवाहानूत्, तत् तत्सादस्या नम्या कृपया कृपयैवेत्यर्थ । विधिना वेधसा  
अखिलैव सर्वापि रात्रिस्त्रियामा यामत्रयवत्येव कृता । सत्यमिति शेषः । गम्यो-  
त्प्रेक्षा ॥१५८॥

जीवातु—श्रीहृषंमिति । सन्दर्भ ग्रथितमणववर्णनमणदवर्णनास्याप्रबन्धो  
येन तस्येत्यय । 'ग्रथित ग्रथित द्बन्धम्' इत्यमर ॥ १६० ॥

इति मल्लिनाथसूरिविरचिते 'जीवातु' समाख्याने नवम सर्गं समाप्तः ॥९॥

— ० —

अन्वय—प्रथम दो चरणो का पूर्ववत् । सन्दर्भानववर्णनस्य तस्य  
चावणि महाकाव्ये नैषधीयचरिते नित्यर्णज्वल नवम सर्गः व्यरसीत् ।

हिन्दो—दो चरणो का अर्थ पूर्ववत् । 'अर्णववर्णन' नामक ग्रन्थ के प्रणेता  
उस ( श्रीहृषं ) के चार महाकाव्य नैषधीयचरित में प्रकृतया उज्ज्वल नवम  
सर्ग समाप्त ।

टिप्पणी—श्रीहृषं द्वारा 'अर्णववर्णन'—ग्रन्थन का सकेत ॥ १६० ॥

नैषधीयचरित का नवम सर्ग समाप्त ।

— ० —



# पद्यानुक्रमणिका

( ६-६ सर्गा. )

श्लोका.	सर्ग श्लो०	श्लोका	सर्ग श्लो०	श्लोका	सर्ग श्लो०
अ		अग्नेन साधं तव	८ ६१	अलीकभैमी	६ १६
अग्नेयाहिना	८ ७१	अग्नपुराम्	६ १३	अश्रौपमिन्द्राद	६ ६६
अग्नेन केनापि	७ ६१	अग्निपुरे	६ १३	असशय स	॥ १४४
अज्ञानविन्दे	६ ६६	अन्योन्यमन्यत्र	६ २१	अलेखि यस्त्यक्त	६ २६
अजीयतावर्त	७ ६६	अपां पवि	६ ८२	अस्माकमप्या	८ ६८
अथ प्रकाशम्	६ २४	अपाङ्गमप्याप	८ ३	अस्माकमस्मात्	८ १०४
अथ शिवात्ताडन	७ १	अपार्षधन्	६ ४०	अस्या वपुर्ग्रह	७ १२
अथ मीममुवैव	६ १२७	अपास्तपायेय	८ ८७	अस्या कषाणा	७ २७
अथ स्मराजामय	८ २४	अपास्तपायोरहि	६ १०६	अस्या करस्य	७ ७१
अथाद्मुतेनास्	८ १	अपि ब्रह्मीय ऋग्	६ ३६	अस्या मरु	७ ८७
अयोद्भ्रमन्ती	६ ८७	अरि स्वमस्वप्न	६ ३३	अस्या पर्श	७ ६८
अयोपक्राममम	६ ११	अबोधि	६ २४	अस्या सप्तैक	७ २
अदाहि पस्तेन	८ ७३	अमञ्जरीकण्ठ	८ २१	अस्या मुखध्री	७ २६
अद्वयमाना	६ ४	अमी समीहिक	६ १६४	अस्या मुग्धस्थास्तु	७ २३
अदोऽपमालम्ब	६ १४	अमूनि गच्छन्ति	६ ६७	अस्या मुखेनैव	७ २८
अदो निगद्यैव	६ ३०	अम्बा प्रणत्योप	६ ४८	अस्या मुखेन्धोर	७ ३८
अधीतपद्माभुग	६ ११६	अर्ष क इत्यभ्य	६ १२	अस्या यदप्यादरा	७ ६३
अध्वाम	६ १०७	अयि प्रिये कस्य	६ १०३	अस्या यदास्येम	७ २१
अनङ्गतावप्रशभा	८ ६६	अये समोऽगमित	६ ८	अस्यैव सर्गाय	७ ७७
अनादिधावि	६ १०२	अये मयात्मा	६ १२२	अदो यनस्त्वा मनु	६ ३६
अनादिमर्गक्षत्रि	६ १४	अयोगजामन्य	६ १३२	अदो महेन्द्रस्य	॥ २७
अनापि देवा	८ २६	अयोधि तद्वैयं	८ ६३	आ	
अनाग्रवा व	६ ८८	अरन्धतीकाम	७ ६८	आकीटमाकटेम	६ १०६
अनुग्रह	६ ३४	अकांय पत्ये खलु	७ २७	आधूर्तिर्न पदमल	७ २६
अनुग्रहादेव	६ ४२	अलकृतासद्य	८ ८६	आज्ञा तदीयामनु	६ २२

नैवधोयचरितम्

श्लोका	सर्ग श्लो०	श्लोका	सर्ग श्लो०	श्लोका	सर्ग श्लो०
आदेहदाह कुसुमा	८ ४३	इयच्चिरस्याव	६ २१	कथावशेष तव	६ ६६
आनन्दयेन्द्रमथ	८ १०८	इयत्कृत वेन	८ ४०	कथासु शिष्ये	६ १४६
आभ्या कृचाम्या	७ ७८	इपुत्रयेनव	७ २७	कपोलपत्रान्मक	७ ६०
आर्ये विचार्याल	६ ८७	इहाविशयेन	७ ६२	कथाविदालोक्य	८ ६
आलिय सख्या	६ ६६	इ		करामनाप्रवृत्त	७ ७६
आलोकवृत्तीकृत	८ ३०	इषत्किमतपालित	६ २०	करिष्यसे	६ ४६
आन्तामननीकर	८ ४१	उ		करोपि नेम कलि	६ १८
इ		उदासितेनैव	६ १३६	कर्णादिदन्तवृद्ध	७ १०३
इति त्रिलोकी	८ ८४	उद्गतयन्त्या कुर्ये	६ २२	कर्णोत्पलेनापि	७ ३०
इति धृतसुरसार्य	८ १०७	उन्मूलिताग्नान	७ ८६	कल्याणि कल्या	८ २७
इति प्रतीत्येव	६ १११	उल्लास्यताम्	६ ३४	कवित्वगातप्रिय	७ ६७
इति प्रियाका	६ १०१	उहितरय हसेन	६ ३७	कस्य कुतो घेति	८ ७
इति सचिदाकु	७ १०८	उ		कि नमंशामा मम	७ ७३
इति शकुट तद्वध	६ ६०	ऊ		नियचिवर दैवत	८ २
इति स्वय मोहम	६ १२७	ऊरप्रकाण्ड	७ ६४	कृत्वा हृष्टौ ते	८ ३८
इतीन्द्रदत्त्या प्रति	६ १०१	आ		केदारभाजा	७ ३६
इतीयमभिभव	६ १	आणीकृता	७ ३३	केशान्धकारादय	७ २३
इतीयमालेखयत	६ १६६	ए		कौमारगन्धीनि	६ ३८
इतीरयित्वा	६ ७	एकैकमेते	८ ६०	कौमारमारभ्य	८ २८
इतीरिणागृह्य	६ १३०	एत नल तम्	६ ६०	कृतो कृते जाग्र	६ ७७
इतीरितेनैपथ	६ १३६	एतत्कुदस्पर्धि	७ ७६	कमेत्कं मिन्दति	६ १०४
इत्थ पुनरांगव	६ १११	एत्यन्ति	७ १०४	कमोदगता	७ ६६
इत्थ प्रतीपोक्तिम	६ १०८	औ		कीर्णेन सप्येऽपि	७ ८१
इत्थं मधूयम	८ २०	औगिष्ठ	७ ८८	खण्ड किमु	८ १०१
इत्युक्तवाराया	६ ८६	क		गुच्छान्यस्त्रय	७ ७६
इद निगद्य चिति	६ २२	कदर्प एवेदम्	८ ३३	गुणा हरन्तोऽपि	६ १०६
इद महोऽभि	६ ८३	कण्ठ किमस्या	६ २६	गौरीय परया	७ ८३
इमा गिरस्तस्य	६ ८४	कण्ठे वसन्ती	७ २०	प्रीवाद्भुतैवावटु	७ ८४
इयं न ते नैपथ	६ ६७	कथं नु तेपाय	६ २६		

नैपथीयचरितम्

श्लोकाः	सर्ग श्लो०	श्लोकाः	सर्ग श्लो०	श्लोकाः	सर्ग श्लो०
घ		तद्विहितमिह	६ १२६	त्वद्गोचरस्त	८ ७२
चकास्ति बिन्दु	६ १०४	तदद्य विश्रम्य	६ ६६	त्वया जगन्मुत्ति	८ ४२
चक्षोरनेत्रेण	७ ३०	तदर्पितामधुत	६ २	त्वयैकरन्या	६ २६
चक्षेण विश्रवं	७ ८८	तनोषि मानम्	६ १०८	त्वयैव पञ्चेषु	६ ८८
चण्डालस्ते	६ १२६	तन्वीमुखम्	६ ७६	द	
चतुर्पदे त विनि	६ २७	तपःफलत्वेन	६ २३	यदाम किं ते	८ १०२
चन्द्राधिकैर्ननुष	७ ४४	तपोनले जुह्वति	६ ४६	यदेऽपि तुभ्यम्	६ १३१
चन्द्राममभ्रं	६ ६७	तमर्चिषुम्	६ ६७	तमस्वस्त	८ ७०
चरत्चर शैशव	८ २६	तमानिरुद्धेऽय	६ ६४	त्रयस्व	८ ६३
चित्रं तदा	६ ८	तमोमयीकृत	८ ६६	दुषोदयश्चेतमि	८ ६६
दिरादनप्याय	६ ६१	तरङ्गिणी भूमि	७ ११	द्वलोदरे	६ ६३
छ		तव प्रवेशे	८ २७	दिगीभरायं न	६ ६६
छायामय प्रवि	६ ३०	तवाधराध	६ ११८	दिवारजन्यो	७ २६
ज		तवास्मि	६ १२१	दिवो धवस्वाम्	६ ७४
जगद्भूमूर्धसु	७ ६६	तवेत्ययोगस्मर	६ १३३	दिवौकर्म कानपते	६ ५१
जनैर्विदुर्नैव	६ ६	तस्माद्दृष्टयादपि	६ ३०	दृते नलश्रीमृति	८ १६
जम्बालजालान्	७ १३	तस्मिन्लोऽमा	८ ६	दृत्वाय दैत्यारि	६ १
जलाधिपस्वाम	६ ७६	तस्मिन्निव सेति	६ ७३	दृशापि	८ १०
जागर्ति तृणाय	६ १३	तस्मिन्विश्वयैव	६ ६६	दृशोरमङ्गल्य	६ १०६
जानेनिरागादि	७ ३६	तस्मिन्विपज्याय	६ ४२	दृशोर्दृष्टी ते	६ ६७
जितं जित तस्मिन्	६ ४८	ता कुण्डिनाल्या	६ ४	दृशोर्ययाकाम	७ ६
जितस्वायत्येन	६ १४८	तामेव मा यत्र	६ ७०	दृशौ किनस्या	७ ३४
ठ		ताभ्य	६ ४०	दृशौ कृपा	६ ६१
त दक्षमानैरपि	८ ७८	ताल प्रमु	७ ७४	दोमूर्त्तमालोक्य	६ २०
तृणायमौन्दर्य	६ ३१	तीर्ण	८ ७६	ध	
तत्कालमानन्दम	८ १६	तुषारनिशेषित	७ १०३	धिनोति नास्मान्	८ ६७
तत्रैव मग्ना	८ ६	तेषामिदानीम्	८ ६०	धियात्मनस्ताव	६ ११४
तथा न तापाय	८ ८१	त्रिनेत्रमात्रेण स्या	८ ६३	धुनायतधुना	६ ८६
तथापि निर्वर्जति	६ १०	त्वयं ममुत्तार्य	७ ३१	धृताष्टोमस्तस्य	८ ६७
		त्वन्कान्तिमग्ना	८ ६१		
		त्वदर्थिन सन्तु	८ ६४		
		त्वदास्यनिर्यन्मद्	६ ६३		



श्लोका	मार्ग श्लो०	श्लोका	मार्ग श्लो०	श्लोका	मार्ग श्लो०
न		पदे विद्यानुयंदि	७ १०	प्रिया विकल्पोप	६ १७
न काकुवाक्यैरति	१ १३	पदोपहारस्तुप	८ २०	प्रियाप्रधान्या	७ ६
नवा शिरोरत्न	८ २०	पद्मा नृप मचर	१७	प्रियाममोभूत	७ १०१
न मन्मथम्वम्	८ २१	पद्मा	७ ४१	प्रियामनोभूत	८ ८८
नल तदावेय	१ १३७	परम्परस्पर्श	६ २४	प्रियानुर्वाभूय	७ २२
नल म नरपथ	१ १७८	परिष्वज्जगानव	१ ११६	प्रिये वृणीष्वामर	८ १०३
नलप्रणा नी	१ २	परेत्रमनुर्भनमैव	६ १०३	ज्युष्ट्यापेन	८ १०६
न वर्तते मन्मथ	१ ११६	पश्यन् स नमि	६ १८		
न सनिघात्री	१ ७८	पद्मा	६ २६		
नामा स्मर	६ ६६	रिक्तम्य वाह	८ ६४	चन्द्रक	७ २७
नामादमीया	७ २६	पु मि स्वमर्त्य	६ ४३	याह	७ ६८
नास्पर्शि हृष्टायि	७ १७	पुण्ये मन कस्य	८ १७	विमवि वग	१ ६
निःशङ्कमहोषि	७ ७७	पुनी सुहृद्येन	८ ७७	विमोति चिन्ताम	१ २१
निःशङ्क	१ ७६	पुमानिवापनि	६ ४७	वनीति	८ ४८
मित्राशुनिर्गन्ध	१ १४६	पुत्र मुरीगाम्	१ ७८	महाद्वयस्यान्व	७ ३
निने मृत्राम्भामु	८ ३२	पुराकृति	७ १६		
निम्य निम्या	१ १०३	पुरा परिम्यज्य	८ २३		
निनीय पीपूष	१ ७७	पुप धनु	७ ७४	मवन्दाहगुहम	८ ३६
निनीलनम्यष्ट	६ ७७	परिम्पशंन्	८ २७	मवप्रहस्य	६ ४६
निरम्भ दूत स्म	१ ३८	प्रणीत प्रवामुपि	६ १००	मद्यानि	७ १६
निरिदित चाह	८ १२	प्रतिप्रतीकम्	७ २	मयोऽपि बाहा	८ ३१
निर्वेद्यसे यद्यम	१ ४७	प्रत्यङ्गमस्या	७ १३	मयोऽर्थमेनम्	६ ११०
निर्वचना हम्भ	८ ७४	प्रनुवमृम्भानु	१ १०३	मृगेकमनुर्भु	८ १४
निगिदमप्यादर	१ ३६	प्रमीड तस्मै	१ २३	मृश विधोगा न	१ ८३
निपेक्षणेन विधि	१ ६०	प्रमीड यच्छ	१ १२७	मैमा च दूष्य य	१ ८१
नैनं त्यज क्षीरधि	६ ८०	प्रमूनवाणाद्वय	७ ४८	मैमोनिराधे हृदि	१ १६
न्यवेक्षि रान्नितये	७ ७१	प्रमूनमिन्देव	१ १३६	मैमापदम्पश्य	६ ४
न्यस्तं तवस्तन	८ ८३	प्रमूनमादाधिग	६ ४६	मैमापुपात्रीणय	६ ६७
पञ्चवरापा	१ ८१	प्राचीं प्रयाते	८ ६२	मैमाविनोदाय	६ ७४
पद् शतेनाय	६ ८७	प्राचीं तावत्तव	८ ४६	मैमापुमापि	६ ७७
पञ्चविधेर्पाण्डित्य	१ १४३	प्रियं न सूर्य न	१ ३७	मैम्या	१ ७

नैषधीमचरितम्

श्लोकाः	सर्गः श्लो०	श्लोकाः	सर्गः श्लो०	श्लोकाः	सर्गः श्लो०
अनघनुद्यानुर	६ २६	मुनिर्यथात्मान	६ १२१	रोमाञ्चिताङ्गमनु	६ २३
अनामि ते मैमि	६ २१	सुगम्य	८ ४०	रोमावलीदग्ध	७ ८२
अभ्यां प्रियाया	७ २८	व		रोमावलीभू	७ ८६
अश्रित्रगेना	७ ३१	व प्रियमागोऽपि	६ ७३	रोमावलीरज्जु	७ ८८
म		यत्प्रत्युत	८ ८७	ल	
मनाः	७ २	यत्रावडचानति	६ ६८	लवौ लवावेव	६ १७७
मत् किमैरावन	६ २७	यत्रैकपालीकन	६ ६१	लिपिर्न देवी मुन	६ ७७
मनुप्रतापन्यय	६ ३२	यदाकृतिः काच	८ ७८	लीनस्वर्गमूर्ति	६ १७
मर्षं तनूकम्य	७ ८०	यया तया भाम	६ ७३	लोकमत्रि घौर्दि	६ ८१
मर्षीरकम्पादध	७ ८७	यदा ययेह	६ ७७	व	
मनोमुवम्भं भवि	६ १३८	तदक्रमं विक्रम	८ २	वर्ष कलाता इव	८ ६६
मन्त्राकिनी	६ ८३	यदाववाप्यपि	६ १४७	वर्षेण यद्भारत	६ ६७
मन्येऽमुना कर्ण	७ ६४	यदि प्रमादोऽकुल्ले	७ ४३	वाग्जन्म	८ ३७
मम स्ववृडा	६ १७७	यदि स्वमावाग्मनर	१०	वामः	७ ८
मम अमश्चेत	६ १७६	यदि मनुद्वन्द्व	६ ४६	विजतिमन्त्र	६ ७६
ममादरीर्द्धं विद्	६ १००	यज पडाड गुट	७ १०६	विजर्मराजमवा	६ १४१
ममापि कि नो	६ ६८	यत्तन्वि मर्ता	८ ८०	विश विजर्मेन्द्र	७ ४१
ममागम स्वप्न	६ ३७	यस्मिञ्चल	६ ३८	विशय	७ ६३
ममामनार्धं भव	६ ११४	यानेन तन्म्या	७ १०१	विशोर्विधिविम्ब	७ २६
ममैव पागौह	६ ६८	यानेव देवान्	६ ८६	विनिम्बना दुष्कृ	६ ६७
ममैव वाहर्दि	६ ६६	र		विश्रम्य तच्चान	७ ७
मगच्छ ५४	६ ३	रज्यश्चमम्या	७ ७०	विश्रमवापाञ्चित	७ ६१
मगपि देव	६ १३	रज्यस्व राज्ये	६ ८४	विरम्यदां मृत	८ ४६
मयैव संरोध्य	६ १४०	रयाद्रमौ सारयि	६ ७	विलम्बये	६ ८०
महाजनाचार	६ १३	रम्भापि	७ ६७	विलेबिनु मीम	६ ६४
मही कृतार्था	८ ४४	रवैर्गुणाम्बल	८ ६८	त्रिलोकिनाम्याः	७ ८१
महेन्द्रदृष्यादि	६ १०२	राजा द्विजाना	८ ३७	त्रिलोक्य	६ ४४
महेन्द्रहेतेरपि	६ १२०	राजौ द्विजाना	७ ४६	विहाय हा मर्व	६ ४४
मोहव	६ २१	रणात्म	७ १००	वृगे दिगीशानि	६ ७०
मुग्ध म मोहान्	८ ३६	रूपं प्रति	६ ४७	वृथा कथयं मयि	६ ६

श्लोका	सर्ग श्लो०	श्लोका	सर्ग श्लो०	श्लोका	सर्ग श्लो०
वृथापरीहास	६ २६	सत्येव साम्ये	७ १४	स्पर्श तमस्या	६ २२
वेलामतिक्रम्य	७ ४	सदा तदाशामाधि	६ ७६	स्पर्शातिहर्षा	६ २३
वेश्माप सा धैर्यं	६ २६	स घर्मराज स्वलु	६ २६	स्फुटत्यद	६ १२६
व्यधत्त धाता	७ २४	स भिन्नमर्मापि	६ ७३	स्फुटोपलाभ्या	६ ८६
व्यर्थं भवद्भाव	८ १६	सम सपत्नीमव	८ ८६	स्मरस्य की र्वेव	८ ७६
व्यग्न्यु से तेऽपि	६ १२४	समापय	६ ११२	स्मरशुगीभूय	६ ६७
श		सर्वत्र	६ २४	स्मरेन्धने वदसि	८ ७६
शरै प्रमूमेस्तुदत	८ ६६	सन्तीन्माजिज्ञ	६ ७८	स्मरेपुत्राधा सह	६ ११०
शरैरजस्र कुमु	८ ७६	सहाग्लिस्त्रीपु	६ ४०	स्मार धनुर्यद्विधु	७ २६
शरीं चरन्ती	६ ७१	साधोरपि स्व	६ २६	स्मितस्य समाव	६ १११
शिखी विधाय	६ ७२	सारोत्थधारेव	८ ८६	श्रवासनादृष्ट	६ २०
शिरीषकोपावपि	७ ४०	सालीकष्टे	८ १८	श्रुनाम यन्नाम	६ १२३
शिरीषसूद्री	६ २८	सुधाशयनाभर	६ १६	स्वप्नेन प्रापिता	८ १०६
शृङ्गाष्टगस्तवद	६ ११७	सुधास्सोद्वेलन	६ ११३	स्वर्गे सता शर्म	६ ८८
शृङ्गपिताह	६ ६४	सुधासर सु	८ १००	स्वर्गे विंतीर्णे कर	८ ६८
शोभायशोभि	८ ३४	सुरापराधस्तन	६ १२३	स्वाच्छन्धमानन्द	८ ८
श्रवणपुटयुगेन	६ ११२	सुरेषु पदयनिज	६ १२६	स्वात्मापि प्रीलेन	८ २१
श्रीहर्ष करिराज	६ ११३	सुरेषु सदेशयसी	६ १६	स्विद्यप्रमोदाधु	६ ६
७ ११०, ८ १०६, ६ १६०		सूक्ष्मे घने नैपथ	८ १३	ह	
श्रुति सुराणाम्	६ १४८	सृष्टातिविश्वा	७ १०७	हन कयाचित्पथि	६ २६
श्वस्तस्या प्रिय	६ १६८	सेय न	८ ४६	हरि परित्यज्य	६ ४३
स		सेय ममैतद्वि	७ ४६	हरिस्पर्तीना	८ २६
सघट्टपन्थास्त	६ ७८	सेय शूद्र कौसु	७ २८	हितैकमस्याप	८ ११
समुज्यमानाद्य	७ ४२	सोमया कुप्यन्नि	८ ७४	हितैव	६ २४
ससारसिन्धावलु	८ ४६	स्तनातटे चन्दन	७ ८०	हुताशकीनाश	६ ७६
मखीशताना	६ २८	स्तुतौ	६ ६१	हृदमिनन्द	६ १०
		स्त्रिया मया	६ ३७		

# नैपथ-कथासार

( पष्ठे सर्ग )

मुञ्जानिर्मुवनेकदृश्यतनुरप्युच्चैरदृश्यस्तदा

कथा सप्त वगाह्य भीमदुहितु प्रासादनासादयन् ।

ता तत्र प्रमनोक्ष्य खण्डनरा तीर्थाद्दुर्तीगिरा

द्वुरादुच्छसिति स्म चेतसि मूय दूनोर्ऽपि दौत्येन स ॥

—श्रीहृणारामकवि

देवशैल्य मपादन के निमित्त राजा नल कु डिनपुर पहुँचे और स्वेच्छया अदृश्य होकर उन्होंने राजमन्दिर में प्रवेश कर सात खण्ड पार करते हुए अन्त में प्रवेश किया । त्रिपेन्द्रिय नल ने वहाँ अनेक प्रकार के रमणीय शिवा-कलाप देखे, परन्तु उनमें बिड़ुति न आयी । वे वहाँ से चौराहे पर पहुँचे । मार्ग में माँ को प्रणाम करती दमयन्ती को उन्होंने देखा, पर भ्रम ने कारण वे उसे पहिचान न सके, अदृश्य रहने के कारण दमयन्ती तो नल को देख सकती ही नहीं थी । धूमने-फिगने नल दमयन्ती के प्रासाद में पहुँचे और सखी समुदाय के मध्य स्थित बैठा दमयन्ती को उन्होंने देखा और पहिचाना । अदृश्य रूप में वहाँ स्थित नल ने देवदूतियों का आगमन देखा । अग्नि, यम और वरुण की दूतियों ने अपने-अपने प्रस्ताव दमयन्ती के समुच्च रखे किन्तु दमयन्ती के द्वारा वे स्वीकृत न हुए । इसमें नल को आशा बैठी कि दमयन्ती की प्राप्ति इन्हें सम्व है । तभी इन्द्र का विशेष संदेश लेकर उसकी दूर्ती आयी, जिसने इन्द्र के महत्त्व का वर्णन कर दमयन्ती को पारिजात की माला भेंट की और इन्द्र को वरने की समति दी । दमयन्ती ने 'मयवत्प्रसाद'-ग्रहण किया, सखियों ने भी दमयन्ती को इन्द्र-वरण की मलाह दी, इससे नल की आशा सिधित भी हुई, परन्तु दमयन्ती ने इन्द्रदूतों को इन्द्र के चरणों की ही शपथ दी कि वह ऐसा प्रस्ताव पुन न करे । दमयन्ती ने बताया कि वह मन ही मन नल का वरण कर चुकी है । नल को क्षीणाय पुन लोटो, नल के प्राण पुन वापस आये, जैसे उन्मत्त को बोध आ गया हो ।

## लोपध-कथासार ८

(सप्तम सर्ग)

अग्रान्त तरदन्तरोद्गमोत्सवपारपरान्तरे

प्रत्यारभ्य मुञ्चान्तसारविषयनेत्रे प्रादुराहस्तुवन् ।

सा तु व्यववतमम् समीक्ष्य चकिता तद्रूपलुब्धा सखी—

एवाश्चर्यंस्तिमिवासु कोऽसि किमिह प्राप्तोऽयमृच्छत्स्वयम् ॥

—श्रीकृष्णरामकवि

इन्द्रादि की दूतियों के निराश होकर चले जानेपर नल को यह विश्वास हो गया कि दमयंती का उसके प्रति हृदय अनुराग है और उसे यह प्रतीत होने लगा कि दमयंती अब उसे प्राप्त हो सकेगी । नल का अंग-अंग दमयंती को निरख-निरख कर तुष्ट और आनन्दमग्न होने लगा और मन प्रसन्नता से परिपूर्ण हो गया । उसने मन-ही-मन दमयंती का पर्यवेक्षण किया और विस्तार के साथ शिक्षा से लेकर नखपर्यन्त उसके रूप का वर्णन-विवेचन किया । अतः मे दमयंती पर मुग्ध वह इस निर्णय पर पहुँचा कि दमयंती विधाता की अनुपम कृति है, यौवन ने उसके आकर्षण को द्विगुणित कर दिया है और मनोभुव ने तो उसे वणनूतीत बना दिया है । उसका हृदय आश्चर्य और हर्ष में निमग्न हो गया और उसने विचार किया कि अब अदृश्य रहता धर्म है और उचित होगा कि अत्र सखी समझ के मध्यस्थित दमयंती के समुख प्रकट हो लिया जाय ।

## नैषध-कथासार

( अष्टम सर्ग )

दमयन्ती और उसके सभी समूह के समूह जब निषधराज प्रकट हुए तब वे सभी आश्चर्यचकित हो मृग मय से उनकी ओर देखने लगीं । दमयन्ती नल को सूर्य मुखमात्र से निहारने लगी और अमिन्न हो गयी । बड़ी कठिनाई से वह आश्रय छोड़कर उठी और स्वागत करने हुए नल में उसने वीर का अनुरोध किया और अविन और सुमयानुहूत वातावरण किया—ज्ञान कौन है, कहां से पधार है, कहा जाता है—पादि ? जिन प्रकार वशांश में निक्षिप्तो जल-वेग से पूरा हो जाता है, उसी प्रकार दमयन्ती आनन्द-परस्परों से पूर्ण हो उठी और उसकी नलनिमग्नता दृष्टि जैसे नल का आलोक करने लगी । बड़ी प्रसन्नता हुई दमयन्ती को, ऐसी, वैसी कि मुक्तता में होती है । नल स्व मुग्धा दमयन्ती ने बड़ी छातीतता के साथ नल से समयोचित वातावरण दिया । दमयन्ती ने जब नल के कुछ भादि का परिचय जाना तो उसे सता कि हो न हो, यह नल ही है । आसन ग्रहण कर नल ने निवेदन किया कि वह इन्द्रादि देवों का दूत है । वे दमयन्ती के विषय में व्यक्त हैं और उसका पामिप्रहमार्थी हैं । सम्मत् सामर्थ्य से मयल देव आज दमयन्ती के समुख पावक हैं । आज तो देव यह समझने लगे हैं कि उनके पास दमयन्ती को देने योग्य कुछ नहीं है—जमूत भी नहीं । मुखा तो दमयन्ती के जयों में ही है । आज तो वे अपना अमरत्व देकर भी दमयन्ती के पादभङ्गन की शरण में जीने की इच्छा करते हैं । इस लिए दमयन्ती से उनका निवेदन है कि वह इन्द्र, जग्नि, यम, वरुण में से किसी का वरण करे और नल का दूतकर्म सफल बनाय । नल ने निष्कर्षत अंत में कहा—‘हे भूमि, वरण करके तू या तो इन्द्र को आनदिन कर अपना मन्मथमन्त्र अग्नि का नूतन मुरत-श्रीडाओं द्वारा उधार कर । यम पर दना कर अथवा वरुण का ही वरण कर ।’

# नैषध-कथासार

४५५५५

(नवम सर्ग)

नल ने यद्यपि बड़ी तत्परता के साथ अपना दूतकार्य संपादन करते हुए इन्द्र, अग्नि, यम और वरुण में से किसी एक दिक्पाल को पतिरूप में स्वीकारन का निवेदन किया, पर दमयन्ती ने उस ओर अपनी अनिच्छा प्रकट की और नल से कहा कि—‘महोदय, मैंने तो आपसे आपका कुल नाम जानना चाहा था, पर आपने तो वह न बता कर यह सब अनपेक्षित कह डाला ? क्या यह लज्जास्पद नहीं है ? तो कृपा करके आप वही बताइए ।’ नल ने उत्तर दिया—‘आपका जिज्ञासा व्यर्थ है । मैं हूँ, ‘तुम’ हो—क्या वास्तविकता में ये ‘मैं’ तू सब नाम ही पर्याप्त नहीं है ? इसके अतिरिक्त मेरा कुल यदि कमिन्मल है, तो बताना अनुचित ही होगा । और यदि उच्च है तो यह दूतकर्म ? जहाँ तक नाम का प्रश्न है स्वयम् अपना नाम लेना शिष्टव्यवहार नहीं है । सो अच्छा यही है कि आप मेरे पूर्वोक्त निवेदन पर ही विचार करें । आपका कल्याण उभीमे है । पर दमयन्ती ने अज्ञात कुल नामा व्यक्ति के साथ बात करने में ही असमयता प्रकट की और प्रस्ताव का उत्तर देने में भी अपने की असमय बताया । तब दमयन्ती की एक सखी ने बताया कि राजनदिग्ग नल में अनुरक्त है, नल के बिना वे जीवित नहीं रहेंगी । पर नल ने पुन अपने प्रस्ताव पर ही दमयन्ती से विचार करने का अनुरोध किया । नल की इस पर दमयन्ती ने मृत्युदूत कहा । पुन जब सखी ने दमयन्ती के नल के प्रति दुष्टानुराग की बात कही तो नल ने समझाया कि देवों के विरुद्ध रहने पर नल दमयन्ती-परिणय असम्भव है । दमयन्ती इस पर कृपा पूर्ण विलाप करने लगी, जिसे सुनकर नल अपनी स्थिति भूलकर दमयन्ती की अनेक विध आश्रस्त करने लगा और उसे पछतावा लगा कि क्यों वह देवदूत बना ? इतने में ही वहाँ स्वयं हंस आ गया और उसने नल से अनुरोध किया कि वह दमयन्ती को निराश न करे । तब नल ने दमयन्ती को विचारपूर्वक व्यवहार करने को कहा और निवेदन किया कि वह देवों जयवा नल के मध्य किसी का वरण करे । नल को सखुख देख और प्रस्ताव सुन दमयन्ती प्रसन्न हुई और लजा गयी, पर सखी ने दमयन्ती का दृढ़ निश्चय नल की बता दिया । नल स्वयं देवा के साथ अपने उपस्थित रहने की बात कहकर सारा समाचार कहने के लिए देवों के पास चला पड़ा ।